अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागो पञ्चमं प्रसूनम् ।

ॐ



पं० श्रीचण्डीप्रसादशुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका-संस्कृतमहाविद्यालय,

तथा

पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री साहित्याचार्य

द्वारा

सम्पादित

प्रकाशनस्थान—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,

काशी ।

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।

मुद्रक
ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस ।

महर्षिश्रीवेदव्यासप्रणीतं

ब्रह्मसूत्रम्

तच्च

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादविरचित-

शारीरकमीमांसाभाष्येण,

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-

श्रीरामानन्दभगवत्पादविरचितरत्नप्रभया

तथा

यतिवरश्रीभोलेबाबाविरचितेन भाष्यरत्नप्रभाभाषानुवादेन च

समलङ्कृतम्

द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयाध्यायस्याद्यं पादद्वयञ्च

संवत्

१९९२

शाङ्करभाष्यरत्नप्रभाभाषानुवादसहित

ब्रह्मसूत्र

के द्वितीयाध्याय एवं तृतीयाध्यायके द्वितीयपाद तककी

विषय-सूची—

विषय	पृष्ठ	पं०
स्मृत्यधिकरण २।१।१।१-२ [पृ० ९२१—९३९]		
द्वितीय अध्यायके प्रथम पादके प्रथम अधिकरणका सार ...	९२१	९
प्रथम अध्यायके विषयका अनुवादपूर्वक द्वितीय अध्यायके ... आरम्भका कारणकथन	९२२	२
सूत्र—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग० २।१।१।१	९२४	२
कापिल आदि स्मृतियोंके निरवकाश होनेके कारण उनके अविरोधसे श्रुतियोंका व्याख्यान करना चाहिए [पूर्वपक्ष]	९२५	७
मनु आदि स्मृतियाँ निरवकाश हो जायँगी, अतः स्मृतिके अनुसार श्रुतिका व्याख्यान नहीं किया जा सकता ...	९२८	६
श्रुत्यनुसारी स्मृतियाँ ही प्रमाण हैं, अन्य स्मृतियाँ प्रमाण नहीं हैं	९३०	५
मनु सर्वात्मत्वदर्शनकी प्रशंसा करते हैं ...	९३४	३
महाभारतमें भी सर्वात्मत्वदर्शन कहा गया है ...	९३४	८
कापिलतन्त्र सर्वथा वेदविरुद्ध है	९३६	६
सूत्र—इतरेषां चानुपलब्धेः २।१।१।२	९३८	१
कपिलोक्त प्रधानभिन्न महत् आदि अन्यत्र अप्रसिद्ध हैं, अतः कापिलस्मृति अप्रमाण है	९३८	९
योगप्रत्युक्त्यधिकरण २।१।२।३ [पृ० ९४०—९४६]		
द्वितीय अधिकरणका सार	९४०	६
सूत्र—एतेन योगः प्रत्युक्तः २।१।२।३	९४१	१
योग श्रुतिप्रतिपादित है, अतः योगस्मृतिके अनुसार श्रुतिका व्याख्यान करना चाहिए [पूर्वपक्ष] ...	९४१	१२
उक्त पूर्वपक्षका निरसन [सिद्धान्त]	९४३	३
तत्त्वज्ञान वेदान्तवाक्योंसे ही होता है	९४५	८

विलक्षणत्वाधिकरण २।१।३।४–११ [पृ० १४७–१८१]

विषय	पृष्ठ	पं०
तृतीय अधिकरणका सार	१४७	६
सूत्र—न विलक्षणत्वादस्य० २।१।३।४	१४८	१
वेदसमन्वयपर तर्कसे आक्षेप हो सकता है	१४८	१४
चेतन ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता है ...	१५०	६
जगत् अचेतन है	१५२	५
जगत्को चेतन कहनेवाले एकदेशीका मत	१५३	८
श्रुति जगत्को अचेतन कहती है	१५५	४
भूत और इन्द्रियाँ श्रुतिमें चेतनरूपसे प्रतिपादित हैं ...	१५६	२
सूत्र—अभिमानिव्यपदेशस्तु० २।१।३।५	१५७	१
श्रुतिमें भूत और इन्द्रियोंके अभिमानी देवता प्रतिपादित हैं ...	१५७	१८
सर्वत्र तदभिमानी देवता अनुगत हैं	१५८	८
सूत्र—दृश्यते तु २।१।३।६	१६०	१४
पूर्वपक्षका सयुक्तिक खण्डन	१६०	२३
विलक्षणताका विकल्पपूर्वक खण्डन	१६२	६
ब्रह्ममें प्रमाणान्तरोंका असम्भव	१६३	७
सांख्यमतमें विभागश्रवणकी अनुपपत्ति	१६७	६
सूत्र—असदिति चेन्न० २।१।३।७	१६८	१६
शंकापूर्वक असत्कार्यवादका संक्षेपसे निराकरण ...	१६९	२
सूत्र—अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गा० २।१।३।८ ...	१७०	२१
कारणमें कार्यका लय नहीं हो सकता, इसलिए औपनिषद दर्शन असमञ्जस है	१७१	२
सूत्र—न तु दृष्टान्तभावात् २।१।३।९	१७२	२४
उक्त असामञ्जस्यका निराकरण	१७३	२
'अपीतौ' विशेषणका वैयर्थ्यप्रतिपादन	१७४	४
प्रलयके अनन्तर सृष्टिमें नियमकारणका प्रतिपादन ...	१७६	८
प्रलयमें ब्रह्माभेदसे जगत्स्थितिका निराकरण ...	१७८	३
सूत्र—स्वपक्षदोषाच्च २।१।३।१०	१७८	२४
कारणमें कार्यधर्मसंक्रमणरूप दोषका सांख्यमतमें उद्भावन ...	१७९	७
सूत्र—तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथा० २।१।३।११	१८१	१
तर्कके अप्रतिष्ठित होनेसे शास्त्रप्रतिपाद्य अर्थका केवल तर्कसे विरोध नहीं किया जा सकता	१८१	१८

विषय	पृष्ठ पं०
कुछ तर्क प्रतिष्ठित हैं, इसलिए तर्काप्रतिष्ठान दोष नहीं है ...	९८२ – ७
मनु भी कुछ तर्कोंको प्रतिष्ठित मानते हैं	९८४ – ३
जगत्कारणके विषयमें तर्क अप्रतिष्ठित ही हैं ...	९८५ – ३
वस्तुतन्त्र होनेसे सम्यग्ज्ञान एकरूप है	९८५ – ८
सब तार्किकोंका एकरूप ज्ञान नहीं हो सकता है ...	९८६ – २

शिष्टापरिग्रहाधिकरण २।१।४।१२ [पृ० ९८८–९९१]

चतुर्थ अधिकरणका सार	९८८ – ६
सूत्र—एतेन शिष्टापरिग्रहा० २।१।४।१२	९८९ – १
अतिदेशसे काणाद आदि मतोंका निराकरण	९८९ – १०

भोक्त्रापत्त्यधिकरण २।१।५।१३ [पृ० ९९२–९९८]

सूत्र—भोक्त्रापत्तेरविभाग० २।१।५।१३	९९२ – १
पञ्चम अधिकरणका सार	९९२ – १७
यदि भोक्ता और भोग्य ब्रह्मसे अभिन्न हों, तो वे परस्पर भी अभिन्न हो जायंगे [पूर्वपक्ष]	९९४ – ५
भोक्ता और भोग्यके ब्रह्मसे अभेदका तथा परस्पर भेदका प्रतिपादन [सिद्धान्त]	९९६ – ५

आरम्भणाधिकरण २।१।६।१४–२० [पृ० ९९९–१०५४]

षष्ठ अधिकरणका सार	९९९ – ६
सूत्र—तदनन्यत्वमारम्भण० २।१।६।१४	१००० – १
कार्य और कारणके अभिन्न होनेसे भोक्तृभोग्यविभाग पारमार्थिक नहीं है	१००० – १३
आरम्भणशब्द आदिसे कार्यकारणके अभेदका प्रदर्शन ...	१००१ – ५
ब्रह्ममें भेदाभेदप्रदर्शक मतका निरूपण	१००४ – ३
उक्त मतका श्रुति द्वारा निराकरण	१००४ – ९
नानात्वको मिथ्या माननेपर प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और लौकिक व्यवहारोंकी अनुपपत्तिशङ्का	१००८ – ५
उक्त शंकानिराकरणपूर्वक प्रमाणोंके व्यावहारिकप्रामाण्यका कथन	१००९ – ५
असत्यसे सत्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस शंकाका खण्डनपूर्वक अनेक दृष्टान्तों द्वारा असत्यसे सत्योत्पत्तिका प्रदर्शन	१०१० – ६
आत्मैकत्वज्ञानसे बढ़कर अन्य कुछ भी आकांक्ष्य नहीं है ...	१०१५ – २

विषय	पृष्ठ पं०
श्रुतिप्रमाणप्रदर्शनपूर्वक परिणामवादका निराकरण ...	१०१७ – ५
अद्वितीय ब्रह्मको माननेपर संभावित ईश्वरकारणप्रतिज्ञाके विरोधका निराकरण	१०२० – २
अविद्यादि-उपाधिकृत ईश्वरत्व आदि व्यावहारिक है, परमार्थिक नहीं है	१०२२ – ५
उक्त विषयमें श्रुतिप्रदर्शन	१०२३ – ४
उक्त विषयमें गीताप्रदर्शन	१०२३ – ७
व्यवहारावस्थामें ईश्वरत्व आदि व्यवहार श्रुतिमें और गीतामें भी कहे गये हैं	१०२४ – ४
सूत्रकारने भी व्यवहाराभिप्रायसे पूर्वसूत्र और परमार्थाभिप्रायसे यह सूत्र कहा है	१०२४ – ९
सूत्र—भावे चोपलब्धेः २।१।६।१५ ...	१०२५ – १५
कारणकी सत्तामें ही कार्यकी उपलब्धि होती है, अतः कार्य कारणसे अभिन्न है	१०२५ – २२
सूत्रके पाठान्तरप्रदर्शनसे अन्य अर्थका कथन ...	१०२८ – ३
सूत्र—सत्त्वाच्चावरस्य २।१।६।१६	१०३० – १
श्रुतिप्रतिपादित होनेसे भी कार्य कारणसे अभिन्न है ...	१०३० – ९
सूत्र—असद्व्यपदेशान्नेति० २।१।६।१७	१०३२ – १
श्रुतिमें असत् कहे जानेके कारण कार्यकी उत्पत्तिके पूर्व सत् नहीं है	१०३२ – १४
श्रुत्युक्त असत्शब्द अव्याकृतार्थक है	१०३३ – ३
उक्त विषय वाक्यशेषसे प्रतीत होता है	१०३३ – ६
सूत्र—युक्तेः शब्दान्तराच्च २।१।६।१८	१०३४ – २०
कार्य-कारणके अभेदका युक्तिसे समर्थन	१०३५ – २
समवायका निराकरण	१०३८ – २
कारणमें कार्यकी वृत्तिका असम्भवप्रदर्शन	१०४० – ३
उत्पत्तिका सकर्तृकत्वकथन	१०४३ – ४
सत्को ही सम्बद्धता तथा मर्यादाका कथन	१०४५ – २
शंकापूर्वक कारकव्यापारका सार्थकत्वकथन	१०४६ – ८
असत्कार्यवादीके मतमें कारकव्यापारका निरर्थकत्वप्रतिपादन ..	१०४९ – ६
सत्कार्यवादका फलितकथन	१०५० – ७
शब्दान्तरसे कार्य-कारणके अभेदका स्थापन ...	१०५१ – ४
सूत्र-पटवच्च २।१।६।१९	१०५२ – १

विषय	पृष्ठ पं०
कारणोपलब्धि होनेपर भी कार्योपलब्धि न होनेसे संभावित वस्तुभेदका निराकरण कर कार्य-कारणके अभेदका स्थापन	१०५२ – ९
सूत्र-यथा च प्राणादिः २।१।६।२०	१०५३ – १०
क्रियाभेदसे संभावित वस्तुभेदका निराकरण कर कार्यकारणके भेदका प्रतिपादन	१०५३ – २०
अधिकरणार्थका उपसंहार	१०५४ – २

इतरव्यपदेशाधिकरण २।१।७।२१–२३ [पृ० १०५५—१०६३]

सप्तम अधिकरणका सार	१०५५ – ६
सूत्र—इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः २।१।७।२१ ...	१०५५ – १४
चेतनसे जगत्की सृष्टि माननेपर अपना हित न करना आदि दोष प्राप्त होते हैं [पूर्वपक्ष]	१०५६ – २
सूत्र—अधिकं तु भेदनिर्देशात् २।१।७।२२	१०५८ – १२
अपना हित न करना आदि दोषोंका समाधानपूर्वक चेतन ब्रह्म जगत्का कारण है [सिद्धान्त] ...	१०५९ – २
सूत्र—अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः २।१।७।२३	१०६२ – १
दृष्टान्तपूर्वक एक ही ब्रह्म का जीव-प्राज्ञरूपसे भेद और कार्यवैचित्र्यका कथन ...	१०६२ – १०

उपसंहारदर्शनाधिकरण २।१।८।२४–२५ [पृ० १०६४–१०७१]

अष्टम अधिकरणका सार	१०६४ – ६
सूत्र-उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि २।१।८।२४ ...	१०६४ – ११
अद्वितीय ब्रह्मसे विचित्र रचना नहीं हो सकती [पूर्वपक्ष] ...	१०६५ – २
जैसे दूध स्वयं दधिके रूपमें परिणत होता है वैसे ही ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि होती है [सिद्धान्त] ...	१०६६ – ३
सूत्र-देवादिवदपि लोके २।१।८।२५	१०६८ – १
चेतनविशिष्ट असहाय ब्रह्म जगत्का निर्माण कैसे कर सकता है ? [पूर्वपक्ष]	१०६८ – १२
देवता, मकड़ी, पद्मिनी आदि दृष्टान्तोंसे उसका परिहार ...	१०६८ – १५

कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण २।१।९।२६–२९ [पृ० १०७२–१०८७]

नवम अधिकरणका सार	१०७२ – ६
सूत्र-कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा २।१।९।२६ ...	१०७२ – १२

विषय	पृष्ठ पं०
ब्रह्मको निरवयव माननेमें समस्तका परिणाम और सावयव माननेमें श्रुतिविरोध होगा [पूर्वपक्ष] ...	१०७३ – २
सूत्र–श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् २।१।९।२७	१०७५ – २०
ब्रह्मके सर्वथा परिणामका अभाव और निरवयवत्व श्रुतिमूलक हैं [सिद्धान्त]	१०७६ – २
आशयको ठीक-ठीक न समझकर, शब्द विरुद्ध अर्थका बोध कैसे करा सकता है, इस पूर्वपक्षका उत्थापन ...	१०७९ – ७
विवर्त्तवादके अनुसार उसका परिहार	१०८० – ६
सूत्र–आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि २।१।९।२८	१०८२ – १५
स्वप्नदृष्टान्तसे ब्रह्मवादका स्पष्टीकरण	१०८३ – २
सूत्र–स्वपक्षदोषाच्च २।१।९।२९	१०८४ – १
दूसरोंके पक्षमें भी दोषकी समानताका प्रदर्शन ...	१०८४ – ९

सर्वोपेताधिकरण २।१।१०।३०–३१ [पृ० १०८८–१०९१]

विषय	पृष्ठ पं०
दशम अधिकरणका सार	१०८८ – ६
सूत्र–सर्वोपेता च तद्दर्शनात् २।१।१०।३०	१०८८ – १३
सहायरहित ब्रह्ममें विचित्रसामर्थ्ययोगका श्रुतिवाक्योंसे समर्थन	१०८९ – २
सूत्र–विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् २।१।१०।३१	१०९० – १
नेत्र आदि करणरहित ब्रह्ममें कार्यसामर्थ्य नहीं है [पूर्वपक्ष] ...	१०९० – १०
उक्त पूर्वपक्षका समाधान	१०९१ – २

प्रयोजनवत्त्वाधिकरण २।१।११।३२–३३ [पृ० १०९२–१०९७]

विषय	पृष्ठ पं०
एकादशवें अधिकरणका सार	१०९२ – ६
सूत्र–न प्रयोजनवत्त्वात् २।१।११।३२	१०९२ – १३
जगत्-निर्माणका कोई प्रयोजन न होनेसे परमात्मा जगत्‌का निर्माता नहीं हो सकता [पूर्वपक्ष]	१०९३ – २
सूत्र–लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् २।१।११।३३	१०९५ – १
प्रयोजनके विना भी तृप्त परमात्मा जगत्सृष्टि करता है [सिद्धान्त]	१०९५ – १३

वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण २।१।१२।३४–३६ [पृ० १०९८–११०८]

विषय	पृष्ठ पं०
द्वादशवें अधिकरणका सार	१०९८ – ६
सूत्र–वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति २।१।१२।३४ ...	१०९९ – १
विषम सृष्टि करने, दुःख देने और सबका संहार करनेसे पक्षपाती और निर्दय परमेश्वर जगत्कारण नहीं है [पूर्वपक्ष] ...	१०९९ – १३

विषय	पृष्ठ पं०
प्राणियोंके कर्मके अनुसार सृष्टि करनेवाले परमेश्वरमें उक्त दोष नहीं हैं [सिद्धान्त]	११०० — ७
सूत्र—न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् २।१।१२।३५ ...	११०३ — १
सृष्टिके पहले कर्म ही नहीं था, इस आक्षेपका संसारकी अनादिता मानकर परिहार	११०३ — १५
सूत्र—उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च २।१।१२।३६ ...	११०५ — १
संसारकी अनादिताका श्रुति और स्मृतिसे समर्थन ...	११०५ — १६

सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण २।१।१३।३७ [पृ० ११०९–११११]

त्रयोदशवें अधिकरणका सार	११०९ — ६
सूत्र—सर्वधर्मोपपत्तेश्च २।१।१३।३७	११०९ — १२
निर्गुण ब्रह्ममें सब धर्मोंकी उपपत्ति होनेसे वह जगत्‌का उपादानकारण है	१११० — ४

रचनानुपपत्त्यधिकरण २।२।१।१–१० [पृ० १११२–११५७]

द्वितीयाध्यायके द्वितीयपादके प्रथम अधिकरणका सार ...	१११२ — ९
सूत्र—रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् २।२।१।१	१११३ — १
वेदान्तवाक्योंके तात्पर्यका निरूपण करनेवाले शास्त्रमें विपक्षभूत सांख्य आदि मतोंकी समीक्षा संगत है ...	१११३ — १५
परपक्षके निराकरणसे स्वपक्षस्थापनमें श्रेष्ठताका प्रदर्शन ...	१११४ — ३
मुमुक्षुओंकी ज्ञानचर्चामें भी परपक्षके खण्डनका औचित्यप्रदर्शन	१११५ — ५
पहले प्रधानकी श्रुतिमूलताका निषेध किया था अब युक्तिमत्ताका निषेध करते हैं, अतः पुनरुक्ति नहीं है ...	१११६ — २
सभी पदार्थोंके सुख-दुःख-मोहात्मक होनेसे त्रिगुणात्मक प्रधान जगत्‌का कारण है [पूर्वपक्ष]	१११७ — २
अचेतन प्रधान विचित्र जगत्‌की रचना नहीं कर सकता, अतः चेतन ब्रह्म जगत्‌का कारण है [सिद्धान्त] ...	१११९ — २
सूत्र—प्रवृत्तेश्च २।२।१।२	११२५ — २३
प्रवृत्तिकी उपपत्ति न होनेसे भी प्रधान जगत्कारण नहीं है ...	११२६ — २
केवल चेतनमें प्रवृत्तिकी अनुपपत्ति होनेसे अचेतनमें प्रवृत्ति है [पूर्वपक्ष]	११२८ — ५
अचेतनकी प्रवृत्ति चेतनसे होती है [सिद्धान्त] ...	११३० — ४
प्रवृत्तिरहित आत्माके प्रवर्तकत्वका अयस्कान्त, रूप आदिके दृष्टान्तसे समर्थन	११३१ — ३

विषय	पृष्ठ	पं०
सूत्र—पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि २।२।१।३	११३२	१७
दूध और जलका दृष्टान्त देकर प्रधानकी स्वयंप्रवृत्तिकी आशंका	११३३	२
दूध और जल भी चेतनसे ही अधिष्ठित होकर प्रवृत्त होते हैं ..	११३३	५
सूत्र—व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् २।२।१।४ ...	११३५	१
प्रवर्त्तकके अभावसे प्रधानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ...	११३५	११
सूत्र—अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् २।२।१।५ ...	११३६	३
तृण आदि जैसे प्रयत्नके विना दूधरूपमें परिणत होते हैं, वैसे ही प्रधानका परिणाम होगा [पूर्वपक्ष] ...	११३६	१९
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन	११३७	६
सूत्र—अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् २।२।१।६	११३८	१६
प्रधानकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका 'तुष्यतु दुर्जनन्यायसे' स्वीकार-पूर्वक खण्डन	११३९	२
सूत्र-पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि २।२।१।७	११४२	१
दृष्टान्तबलसे पुरुष प्रवर्त्तक है [शंका]	११४२	१५
उक्त शंकाका निराकरण	११४३	२
सूत्र—अङ्गित्वानुपपत्तेश्च २।२।१।८	११४५	१
गुणोंकी साम्यावस्थामें परस्पर अङ्गाङ्गिभावकी अनुपपत्तिसे प्रधानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती	११४५	८
सूत्र—अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् २।२।१।९ ...	११४६	१
'गुण परस्पर सापेक्ष हैं' इस अनुमानकी आशंका करके खण्डन	११४६	१४
सूत्र—विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् २।२।१।१०	११४८	१
परस्पर विरोध होने और श्रुति-स्मृतिसे विरोध होनेसे सांख्य-सिद्धान्त संगत नहीं है	११४८	१३
तप्यतापकभावकी एक ब्रह्ममें अनुपपत्ति होनेसे वेदान्तसिद्धान्त भी असंगत है [पूर्वपक्ष]	११४९	४
तप्यतापकभाव परमार्थिक नहीं है [सिद्धान्त] ...	११५३	२
असंगपुरुषवादी सांख्य भी तप्यतापकभावको अपारमार्थिक ही मानते हैं, ऐसा उक्तिप्रत्युक्तिसे निरूपण करके अपने मतमें दोषाभावका समर्थन	११५४	८
तप्यतापकभावको पारमार्थिक माननेमें सांख्योंकी अपवर्गकथा व्यर्थ ही है, ऐसा दिखलाकर औपनिषद। मतका औचित्य-प्रदर्शन	११५७	४

विषय	पृष्ठ पं०
महद्दीर्घाधिकरण २।२।२।११ [पृ० ११५८–११६९]	
द्वितीय अधिकरणका सार	११५८ – ६
'कारणद्रव्यमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले गुण कार्यद्रव्यमें सजातीय अन्य गुणोंको उत्पन्न करते हैं' इस प्रकारके वैशेषिकोंके नियमसे चेतनकारणवादके विरोधका उद्भावन	११५९ – २
सूत्र—महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् २।२।२।११ ...	११६० – १
वैशेषिकोंकी प्रक्रियाका प्रदर्शन	११६१ – २
परमाणुगुणविशेष-पारिमाण्डल्य द्व्यणुकमें अन्य पारिमाण्डल्यका आरम्भक न होनेसे उक्त प्रक्रियामें व्यभिचार है ...	११६२ – ३
'अणुपरिमाण दो द्व्यणुकोंके स्थूल कार्यका आरम्भक होनेसे वैशेषिकोंकी परिभाषा अप्रयोजक है' इसका विस्तारपूर्वक निरूपण	११६३ – ३
कार्यद्रव्य विरोधी परिमाणसे आक्रान्त है, अतः कारणगत पारिमाण्डल्य आदि आरम्भक नहीं हैं [शङ्का] ...	११६४ – ४
उक्त शङ्काका परिहार	११६५ – ४
संयोग आदिका उदाहरण देकर सजातीयोत्पत्ति-नियममें व्यभिचारका प्रपञ्चन	११६८ – २
न विलक्षणत्वाधिकरण और शिष्टापरिग्रहाधिकरणसे यह अधिकरण गतार्थ नहीं है	११६९ – ६
परमाणुजगदकारणत्वाधिकरण २।२।३।१२–१७ [पृ० ११७०–१२०८]	
तृतीय अधिकरणका सार	११७० – ६
सूत्र—उभयथापि न कर्मातस्तदभावः २।२।३।१२ ...	११७० – १२
परमाणुकारणवादका उत्थापन	११७१ – २
परमाणुओंके आद्यकर्मके निमित्तको न माननेपर कर्म नहीं होगा और माननेपर भी उस समयमें कारणरूपसे दृष्ट प्रयत्न आदिके अभावसे कर्म नहीं होगा, इस प्रकार परमाणुकारणवादका निरसन	११७४ – ८
आत्मा अथवा अणुसमवायी निमित्तकर्मके अभावसे अदृष्ट आद्यकर्मका निमित्त नहीं है	११७५ – ८
संयोगका अभाव	११७७ – ५

विषय — पृष्ठ पं०

महाप्रलयमें भी विभागकी उत्पत्तिके लिए परमाणुओंके कर्मका असम्भव ... ... ११७८ – ७

सूत्र—समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः २।२।३।१३ ... ११८० – १

समवाय-निराकरणपूर्वक परमाणुकारणवादका निराकरण ... ११८० – १५

'वहाँपर' इस प्रतीतिसे प्राप्त समवाय समवायीमें नित्यसम्बद्ध ही है, अतः अनवस्था नहीं है, इस संभावनाका निराकरण ११८१ – ६

सूत्र—नित्यमेव च भावात् २।२।३।१४ ... ... ११८३ – १

परमाणुओंके प्रवृत्तिस्वभावत्व आदिसे चार प्रकारका विकल्प करके उनमें दोषका प्रदर्शन ... ... ११८३ – १०

सूत्र—रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् २।२।३।१५ ... ११८४ – १२

परमाणुओंके रूपादियुक्त होनेसे उनमें स्थूलता और अनित्यताकी प्राप्ति होगी ... ... ११८५ – ४

परमाणुओंको नित्य सिद्ध करनेके लिए कणादसूचित प्रथम हेतुका खण्डन ... ... ११८६ – ४

द्वितीय हेतुका खण्डन ... ... ११८६ – ६

तृतीय हेतुका खण्डन ... ... ११८७ – ६

सूत्र—उभयथा च दोषात् २।२।३।१६ ... ... ११९१ – १

परमाणु अधिक गुणवाले और न्यूनगुणवाले माने जाते हैं अथवा नहीं, इस प्रकार विकल्प कर दोनोंमें दोषका प्रदर्शन ... ११९२ – २

सूत्र—अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा २।२।३।१७ ... ... ११९३ – २५

किसी अंशमें शिष्टोंसे स्वीकृत न होनेके कारण परमाणुकारणवाद प्रधानकारणवादके समान अत्यन्त अनादरणीय है ११९४ – ३

गुणादिकी द्रव्याधीनता अत्यन्त भेद माननेसे विरुद्ध होती हुई गुणोंकी द्रव्यरूपतामें पर्यवसित होती है ... ११९४ – ७

अयुतसिद्धत्व अपृथग्देशत्व है या अपृथक्कालत्व है अथवा अपृथक्स्वभावत्व है ? इस प्रकार तीन विकल्पोंका खण्डन ११९७ – ६

युतसिद्धोंका सम्बन्ध संयोग है और अयुतसिद्धोंका सम्बन्ध समवाय है, इस अभ्युपगमका खण्डन ... ११९९ – २

सम्बन्धीसे अतिरिक्त सम्बन्धका खण्डन ... ... १२०० – ७

निरवयव होनेसे अणु, आत्मा और मनका संयोग नहीं हो सकता है ... ... १२०२ – ३

निरवयव परमाणुओंसे सावयव द्व्यणुकका संयोग नहीं हो सकता १२०३ – ९

विषय	पृष्ठ पं०
परिच्छिन्न परमाणु सावयव होनेसे नित्य नहीं हो सकते ...	१२०५ – ३
सूत्रवाक्यशेषपूरणपूर्वक अधिकरणका उपसंहार ...	१२०८ – ३
समुदायाधिकरण २।२।४।१८—२७ [पृ० १२०९-१२४८]	
चतुर्थ अधिकरणका सार	१२०९ – ६
सूत्र—समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः २।२।४।१८ ...	१२१० – १
पूर्वोत्तरसङ्गतिका निरूपण	१२१० – १२
बौद्धमतोंका विभाग	१२११ – २
वैभाषिक और सौत्रान्तिकके मतमें स्वीकृत सर्वास्तित्वका निरूपण	१२११ – ५
उक्त मतका खण्डन	१२१३ – ४
सूत्र—इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्ति० २।२।४।१९ ...	१२१६ – १
संघातकर्त्ताके अभावमें भी अविद्या आदिके परस्पर कारण होनेसे लोकयात्रा हो सकती है, इस प्रकार पूर्वपक्ष और उसका खण्डन	१२१६ – १५
अविद्या आदिसे संघातके आक्षिप्त होनेपर भी निमित्त न होनेसे संघातकी सिद्धि नहीं होती ...	१२१८ – ६
संघातकी अनादिता विचारसह नहीं है	१२२० – ४
भोक्ताके अभावसे भी भोक्तार्थ संघातकी असिद्धि है ...	१२२१ – ३
सूत्र—उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् २।२।४।२० ...	१२२२ – १
बौद्धों द्वारा स्वीकृत अविद्या आदि अन्योन्यकी उत्पत्तिमें निमित्त हैं, इस प्रकार इस नियमका खण्डन ...	१२२२ – ९
सूत्र—असति प्रतिज्ञोपरोधो यौग० २।२।४।२१ ...	१२२६ – १
हेतुके न रहनेपर भी फलोत्पत्ति माननेसे प्रतिज्ञाकी हानि होगी	१२२६ – १५
सूत्र—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधा० २।२।४।२२ ...	१२२८ – १
पदार्थोंके बुद्धिपूर्वक निरोधका प्रत्याख्यान ...	१२२८ – ११
सूत्र—उभयथा च दोषात् २।२।४।२३	१२३१ – १
अविद्यादिके निरोधका प्रत्याख्यान	१२३१ – ११
सूत्र—आकाशे चाविशेषात् २।२।४।२४	१२३२ – १
आकाश असद्रूप है, इसका खण्डन	१२३२ – ११
सूत्र—अनुस्मृतेश्च २।२।४।२५	१२३५ – १
अनुभव और स्मरण इन दोनोंका एक कर्ता होनेसे ज्ञाता क्षणिक नहीं हो सकता	१२३५ – ८
सूत्र—नासतोऽदृष्टत्वात् २।२।४।२६	१२४२ – १९

विषय	पृष्ठ पं०
अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती	१२४३ – २
सूत्र—उदासीनानामपि० २।२।४।२७	१२४८ – १
अभावसे भावोत्पत्तिका खण्डन	१२४८ – १०

अभावाधिकरण २।२।५।२८—३२ [पृ० १२४९–१२७८]

पञ्चम अधिकरणका सार	१२४९ – ६
सूत्र—नाभाव उपलब्धेः २।२।५।२८	१२४९ – १४
'क्षणिकविज्ञान ही तत्त्व है' ऐसा बौद्धवादसे पूर्वपक्ष ...	१२५० – ५
विज्ञानमात्रवादकी पुष्टिके लिए बाह्यवस्तुका युक्तिपूर्वक खण्डन	१२५१ – २
क्षणिकविज्ञान तत्त्व नहीं है [सिद्धान्त] ...	१२५५ – ६
सूत्र—वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् २।२।५।२९	१२६७ – १३
'बाह्य अर्थके विना ज्ञान होता है' इस विज्ञानवादीकी उक्तिका विस्तारसे खण्डन	१२६८ – २
सूत्र—न भावोऽनुपलब्धेः २।२।५।३०	१२७१ – १४
विज्ञानवादीके मतमें वासनाओंका सद्भाव नहीं हो सकता, इसका उपपादन	१२७२ – २
सूत्र—क्षणिकत्वाच्च २।२।५।३१	१२७४ – १६
आलयविज्ञानमें क्षणिकत्वका खण्डन	१२७४ – २३
सूत्र—सर्वथानुपपत्तेश्च २।२।५।३२	१२७८ – १
बौद्धवादमें परस्पर विरोधप्रदर्शन	१२७८ – ११

एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण २।२।६।३३–३६ [पृ० १२७९–१३००]

षष्ठ अधिकरणका सार	१२७९ – ६
सूत्र—नैकस्मिन्नसम्भवात् २।२।६।३३	१२८० – १
जैनमतके निरासके लिए संक्षेपतः उनके जीवादि पदार्थोंका और सप्तभङ्गीनयका कथन [पूर्वपक्ष] ...	१२८० – ८
जैन स्वीकृत अभ्युपगमका खण्डन [सिद्धान्त] ...	१२८५ – ३
सूत्र—एवञ्चात्माऽकार्त्स्न्यम् २।२।६।३४	१२९१ – १
जीवको परिच्छिन्न माननेमें दोषका उद्भावन, ...	१२९१ – ११
सूत्र—न च पर्यायादप्य० २।२।६।३५	१२९४ – १
जीवके देहपरिमाणत्वका खण्डन	१२९४ – १४
सूत्र—अन्त्यावस्थितेश्चो० २।२।६।३६	१२९८ – २३
आद्य, मध्यम और अन्त्य परिमाणोंकी समताका कथन ...	१२९९ – ३

विषय	पृष्ठ	पं०
पत्यधिकरण २।२।७।३७—४१ [पृ० १३०१–१३१९]		
सप्तम अधिकरणका सार	१३०१	६
सूत्र—पत्युरसामञ्जस्यात् २।२।७।३७	१३०१	१०
केवल ईश्वर अधिष्ठातृकारणवादका निषेध	१३०२	२
सूत्र—सम्बन्धानुपपत्तेश्च २।२।७।३८	१३०९	१
प्रधानादिके साथ ईश्वरका सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इसका प्रतिपादन	१३०९	८
सूत्र—अधिष्ठानानुपपत्तेश्च २।२।७।३९	१३१२	१
तार्किकपरिकल्पित ईश्वरकी अनुपपत्तिका प्रदर्शन ...	१३१२	८
सूत्र—करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः २।२।७।४०	१३१३	१
ईश्वरको अधिष्ठाता माननेपर उसके भोगादिका प्रसङ्ग ...	१३१३	१२
सूत्र—अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा २।२।७।४१	१३१६	१३
अन्य हेतुसे पुनः तार्किककल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति ...	१३१७	२
उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण २।२।८।४२–४५ [पृ० १३२०–१३३०]		
अष्टम अधिकरणका सार	१३२०	६
सूत्र—उत्पत्त्यसम्भवात् २।२।८।४२	१३२०	१३
खण्डनीय अंशको बतलाते हुए भागवतमतका संक्षेपसे प्रदर्शन	१३२१	२
असम्मत अंशका खण्डन	१३२३	९
सूत्र—न च कर्तुः करणम् २।२।८।४३	१३२४	२२
कर्तासे करणकी अनुत्पत्तिका कथन	१३२५	२
सूत्र—विज्ञानादिभावे वा० २।२।८।४४	१३२६	१
प्रकारान्तरसे उत्पत्त्यसम्भवका प्रतिपादन	१३२६	११
सूत्र—विप्रतिषेधाच्च २।२।८।४५	१३२९	१
पाञ्चरात्रशास्त्रमें परस्पर विरोधका प्रदर्शन ...	१३२९	१०
द्वितीयाध्यायका तृतीयपाद १३३१		
वियदधिकरण २।३।१।१–७ [पृ० १३३१–१३७०]		
प्रथम अधिकरणका सार	१३३१	९
सूत्र—न वियदश्रुतेः २।३।१।१	१३३२	१
आकाशोत्पत्तिके विषयमें पूर्वपक्ष	१३३२	८
सूत्र—अस्ति तु २।३।१।२	१३३५	१
तैत्तिरीयश्रुतिमें आकाशकी उत्पत्तिके श्रुत होनेपर भी छान्दोग्य श्रुतिके साथ उसकी एकवाक्यता नहीं है ...	१३३५	९

विषय	पृष्ठ पं०
सूत्र—गौण्यसम्भवात् २।३।१।३	१३३७ – २४
आकाशोत्पत्तिश्रुति गौणी है	१३३८ – २
सूत्र—शब्दाच्च २।३।१।४	१३४१ – १
श्रुतिसे आकाश अजन्मा है ऐसा प्रतीत होता है ...	१३४१ – ९
सूत्र—स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् २।३।१।५	१३४२ – १०
सम्भूतशब्दमें गौण और मुख्यत्वकी आशङ्का ...	१३४३ – २
पूर्वपक्षीके मतसे सर्वविज्ञानकी उपपत्ति	१३४४ – ३
सूत्र—प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेका० २।३।१।६	१३४७ – १
सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाके उपपादनके लिए सम्पूर्ण वस्तुओंकी ब्रह्मसे उत्पत्तिकथन द्वारा गगनकी उत्पत्तिका प्रतिपादन...	१३४८ – ६
'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इस वाक्यको शमविधानार्थ मानकर सृष्टि-वाक्यका खण्डन [पूर्वपक्ष]	१३५३ – ६
उक्त शङ्काका सयुक्तिक खण्डन	१३५४ – ३
क्षीरोदकन्यायसे पूर्वपक्षी द्वारा स्वीकृत सर्वविज्ञानके निरसन द्वारा सिद्धान्तमें प्रकृति-विकृतिन्यायसे उस सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञाका उपपादन	१३५६ – ४
सूत्र—यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् २।३।१।७ ...	१३५८ – १
विभक्तत्व हेतुका उपपादन करते हुए आकाशमें विकारत्व—कार्यत्वका प्रतिपादन	१३५९ – २
आकाशमें विभक्तत्व हेतुसे कार्यत्वकी आशङ्का [पूर्वपक्ष] ...	१३५९ – ४
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन	१३५९ – ५
'समानजातीय कारणद्रव्य कार्यद्रव्यका आरम्भक है' इस नियमका खण्डन	१३६४ – २
आकाशकी उत्पत्तिमें पूर्वोत्तरकालप्रयुक्त विशेषका कथन ...	१३६७ – २
'शब्दाच्च' सूत्रमें किये गये पूर्वपक्षका खण्डन ...	१३६८ – ६

मातरिश्वाधिकरण २।३।२।८ [पृ० १३७१–१३७५]

द्वितीय अधिकरणका सार	१३७१ – ६
सूत्र—एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः २।३।२।८	१३७२ – १
वायु उत्पन्न नहीं होता है [पूर्वपक्ष]	१३७२ – ५
वायु उत्पन्न होता है [सिद्धान्त]	१३७४ – ३

असम्भवाधिकरण २।३।३।९ [पृ० १३७५–१३७९]

तृतीय अधिकरणका सार	१३७५ – १८

विषय	पृष्ठ पं०
सूत्र—असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः २।३।३।९	१३७६ – १
ब्रह्मकी उत्पत्तिकी आशङ्का	१३७७ – २
उक्त आशङ्काका निराकरण	१३७७ – ५

तेजोऽधिकरण २।३।४।१० [पृ० १३८०–१३८६]

चतुर्थ अधिकरणका सार	१३८० – ६
सूत्र—तेजोऽतस्तथा ह्याह २।३।४।१०	१३८० – १२
तेजमें साक्षात् ब्रह्मजन्यत्वकी शङ्का	१३८१ – ३
उक्त शङ्काका निराकरण	१३८२ – ७

अबधिकरण २।३।५।११ [पृ० १३८७–१३८९]

पञ्चम अधिकरणका सार	१३८७ – ६
सूत्र—आपः २।३।५।११	१३८७ – १३
तेजसे जल उत्पन्न होता है	१३८८ – २

पृथिव्यधिकाराधिकरण २।३।६।१२ [पृ० १३८९–१३९४]

षष्ठ अधिकरणका सार	१३८९ – १८
सूत्र—पृथिव्यधिकार० २।३।६।१२	१३९० – १
अन्नशब्दके विषयमें संशयका प्रदर्शन	१३९० – १५
अन्नशब्दसे पृथिवी ही लेना [सिद्धान्त]	१३९१ – ६
क्रमशः पृथ्वीके बोधक अधिकारादिका निरूपण	१३९१ – ७

तदभिध्यानाधिकरण २।३।७।१३ [पृ० १३९५–१४००]

सप्तम अधिकरणका सार	१३९५ – ६
सूत्र—तदभिध्यानादेव० २।३।७।१३	१३९५ – १४
आकाश आदि महाभूत स्वयं ही अपने विकारोंको उत्पन्न करते हैं [पूर्वपक्ष]	१३९६ – ४
कथित पूर्वपक्षका खण्डनपूर्वक सिद्धान्त	१३९८ – २

विपर्ययाधिकरण २।३।८।१४ [पृ० १४००–१४०४]

अष्टम अधिकरणका सार	१४०० – १८
सूत्र—विपर्ययेण तु० २।३।८।१४	१४०१ – १
अनियमसे या उत्पत्तिके क्रमसे प्रलयका कथन [पूर्वपक्ष]	१४०१ – ११
प्रलयक्रम उत्पत्तिक्रमसे विपरीत है, इसका सयुक्तिक मण्डन [सिद्धान्त]	१४०२ – ५

विषय पृष्ठ पं०

अन्तराविज्ञानाधिकरण २।३।९।१५ [पृ० १४०५–१४११]

नवम अधिकरणका सार ... ... १४०५ – ६
सूत्र—अन्तरा विज्ञानमनसी० २।३।९।१५ ... ... १४०६ – १
बुद्धि आदि करणोंकी सर्वत्र प्रसिद्धि होनेसे उनकी उत्पत्ति द्वारा पूर्वमें प्रतिपादित उत्पत्ति आदि क्रमके विरोधका कथन [पूर्वपक्ष] ... ... १४०८ – ४
उक्त विरोधका परिहारपूर्वक खण्डन [सिद्धान्त] ... १४०८ – ५

चराचरव्यपाश्रयाधिकरण २।३।१०।१६ [पृ० १४१२–१४१६]

दशम अधिकरणका सार ... ... १४१२ – ६
सूत्र—चराचरव्यपाश्रयस्तु० २।३।१०।१६ ... ... १४१३ – १
'जीव उत्पन्न हुआ और मर गया' इस व्यवहारसे होनेवाली जीवके जन्म-मरणकी भ्रान्तिका निरसन ... १४१४ – ३

आत्माधिकरण २।३।११।१७ [पृ० १४१७–१४२६]

एकादशवें अधिकरणका सार ... ... १४१७ – ६
सूत्र—नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः २।३।११।१७ ... १४१८ – १
'जीव उत्पन्न होता है' इस पूर्वपक्षका सविस्तर उपपादन करते हुए विकारत्व हेतुसे उसकी उत्पत्तिका कथन [पूर्वपक्ष] ... १४२० – ४
जीवकी उत्पत्ति माननेवाले वादियोंका उत्तम रीतिसे परिहार [सिद्धान्त] ... . १४२१ – ६
यत्र तत्र श्रुतियोंमें उक्त जीवकी उपपत्तिको गौण माननेमें अनेक दृष्टान्तोंका प्रदर्शन ... ... १४२२ – ३

ज्ञाधिकरण २।३।१२।१८ [पृ० १४२७–१४३२]

द्वादशवें अधिकरणका सार ... ... १४२७ – ६
सूत्र—ज्ञोऽत एव २।३।१२।१८ ... ... १४२८ – १
आत्माका आगन्तुक चैतन्य माननेवालोंका पूर्वपक्ष ... १४२८ – ७
उक्त पूर्वपक्षका विस्तृत खण्डन ... ... १४२९ – ५

उत्क्रान्तिगत्यधिकरण २।३।१३।१९—३२ [पृ० १४३३–१४७१]

त्रयोदशवें अधिकरणका सार ... ... १४३३ – ६
सूत्र—उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् २।३।१३।१९ ... ... १४३४ – १
जीवके इतर परिमाणोंका निषेध करते हुए अणुपरिमाणका प्रतिपादन [पूर्वपक्ष] ... ... १४३५ – ४

विषय			पृष्ठ पं०
सूत्र—स्वात्मना चोत्तरयोः २।३।१३।२०	...	...	१४३६ – २०
उक्त पूर्वपक्षका ही पुनः अन्य रीतिसे उपपादन		...	१४३७ – २
सूत्र—नाणुरतच्छ्रुतेरिति० २।३।१३।२१	...	...	१४३९ – १
अन्य हेतुसे पुनः जीवके अणुत्वका कथन ...		...	१४३९ – १६
सूत्र—स्वशब्दोन्मानाभ्यां च २।३।१३।२२	...	...	१४४१ – १
अणुत्वका भिन्न रीतिसे उपपादन	...	...	१४४१ – १०
सूत्र—अविरोधश्चन्दनवत् २।३।१३।२३	...	...	१४४२ – १९
जीवके अणु होनेपर भी सर्वशरीर-व्यापी ज्ञानकी उपपत्ति ...			१४४३ – २
सूत्र—अवस्थितिवैशेष्यादिति० २।३।१३।२४ ...		...	१४४३ – २३
दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें समानता	...	...	१४४५ – ३
सूत्र—गुणाद्वा लोकवत् २।३।१३।२५	...	...	१४४६ – १
मणि आदिके दृष्टान्तसे सर्वदेहव्यापी कार्यका कथन		...	१४४६ – १२
सूत्र—व्यतिरेको गन्धवत् २।३।१३।२६	...	...	१४४७ – १९
चैतन्य-गुणके व्यतिरेककी आशङ्का और उसका समाधान		...	१४४८ – २
सूत्र—तथा च दर्शयति २।३।१३।२७	...	...	१४५० – २३
अणु जीवके व्यापित्वमें प्रमाणरूपसे श्रुतिका कथन		...	१४५१ – २
सूत्र—पृथगुपदेशात् २।३।१३।२८	...	...	१४५१ – १५
चैतन्य-गुणके योगसे शरीरव्यापित्वका प्रतिपादन		...	१४५१ – २३
सूत्र—तद्गुणसारत्वात्तु० २।३।१३।२९	...	...	१४५२ – २०
आत्माके अणुत्वका खण्डन [सिद्धान्त]	...	...	१४५३ – २
जीवके अणु होनेपर सर्वशरीरव्यापिनी वेदनाका असम्भव ...			१४५४ – २
यत्र तत्र प्रतिपादित अणुत्वकी उपाधि द्वारा व्यवस्था		...	१४६० – ७
सूत्र—यावदात्मभावित्वाच्च० २।३।१३।३०	...	...	१४६१ – १७
आत्मामें असंसारित्वका खण्डन	...	...	१४६२ – २
मिथ्याज्ञानमूलक उपाधिका सम्बन्ध	...	...	१४६३ – १०
सूत्र—पुंस्त्वादिवत्त्वस्य० २।३।१३।३१	...	...	१४६५ – १
विद्यमान ही का आविर्भाव होता है	...	...	१४६५ – ११
सूत्र—नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि० २।३।१३।३२ ...		...	१४६७ – १
अन्तःकरणकी स्वीकृतिमें युक्तिका कथन	...	...	१४६८ – ४
कामादि अन्तःकरणकी वृत्तियाँ हैं, इसमें श्रुतिका उपन्यास ...			१४७१ – २

कर्त्रधिकरण २।३।१४।३३—३९ [पृ० १४७२–१४८२]

चतुर्दशवें अधिकरणका सार	...	...	१४७२ – ६
सूत्र—कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् २।३।१४।३३	...	...	१४७२ – १३

विषय	पृष्ठ पं०
जीवमें कर्तृत्वका साधन [सिद्धान्त]	१४७३ – २
सूत्र—विहारोपदेशात् २।३।१४।३४	१४७४ – २३
अन्य प्रकारसे जीवमें कर्तृत्वका साधन	१४७५ – २
सूत्र—उपादानात् २।३।१४।३५	१४७५ – १६
जीवमें कर्तृत्वका पुनः साधन	१४७५ – २३
सूत्र—व्यपदेशाच्च क्रियायाम्० २।३।१४।३६	१४७६ – १४
शास्त्रप्रामाण्यसे कर्तृत्वका प्रतिपादन	१४७७ – ३
सूत्र—उपलब्धिवदनियमः २।३।१४।३७	१४७८ – ११
उपलब्धिमें आत्माके स्वातन्त्र्यका कथन	१४७९ – ३
सूत्र—शक्तिविपर्ययात् २।३।१४।३८	१४८० – १४
विज्ञानशब्दसे जीव ही विवक्षित है यदि बुद्धि विवक्षित हो, तो शक्तिका विपर्यय होगा	१४८१ – ३
सूत्र—समाध्यभावाच्च २।३।१४।३९	१४८२ – १
आत्माकी प्रतिपत्तिके लिए कही गई समाधि भी आत्माके कर्तृत्वमें प्रमाण है	१४८२ – १०

तक्षाधिकरण २।३।१५।४० [पृ० १४८३–१४९७]

पन्द्रहवें अधिकरणका सार	१४८३ – ६
सूत्र—यथा च तक्षोभयथा २।३।१५।४०	१४८३ – १२
पूर्वोक्त कर्तृत्व स्वाभाविक है [पूर्वपक्ष]	१४८४ – ३
कर्तृत्वकी स्वाभाविकताका खण्डन [सिद्धान्त] ...	१४८४ – ५
शास्त्रके बलसे कर्तृत्वादि अविद्या-निमित्त हैं ...	१४८७ – ४
सूत्रका विवरण	१४८९ – ४
विधिशास्त्रकी प्रवृत्ति अविद्याप्रयुक्त कर्तृत्वसे भी हो सकती है ..	१४९१ – ६
बुद्धिमें कर्तृत्व माननेपर शक्ति-विपर्यय नहीं हो सकता है ...	१४९५ – ४

परायत्ताधिकरण २।३।१६।४१–४२ [पृ० १४९८–१५०६]

सोलहवें अधिकरणका सार	१४९८ – ६
सूत्र—परात्तु तच्छ्रुतेः २।३।१६।४१	१४९९ – १
जीव अपने कर्तृत्वमें ईश्वरकी अपेक्षा नहीं करता है [पूर्वपक्ष]	१४९९ – १२
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन [सिद्धान्त]	१५०१ – ६
सूत्र—कृतप्रयत्नापेक्षस्तु० २।३।१६।४२	१५०३ – ७
ईश्वरके प्रेरकत्वमें वैषम्य आदि दोषोंका परिहार ...	१५०४ – २
जीव द्वारा किये गये प्रयत्नकी ईश्वर अपेक्षा रखता है ...	१५०५ – ६

विषय | पृष्ठ पं०

अंशाधिकरण २।३।१७।४३–५३ [पृ० १५०७–१५४०]

सत्रहवें अधिकरणका सार ... ... १५०७ – ६
सूत्र—अंशो नानाव्यपदेशा० २।३।१७।४३ ... ... १५०८ – १
जीव ईश्वरका अंश है [सिद्धान्त] ... ... १५०९ – ६
सूत्र—मन्त्रवर्णाच्च २।३।१७।४४ ... ... १५१२ – १६
श्रुतिसे भी प्रतीत होता है कि जीव ईश्वरका अंश है ... १५१३ – २
सूत्र—अपि च स्मर्यते २।३।१७।४५ ... ... १५१४ – १
भगवद्गीतामें भी जीव ईश्वरका अंश कहा गया है ... १५१४ – ८
सूत्र—प्रकाशादिवन्नैवं परः २।३।१७।४६ ... ... १५१६ – १
परमात्माको देहादिका अभिमान नहीं है, अतः जीवदुःखसे वह दुःखी नहीं होता ... ... १५१६ – १४
सूत्र—स्मरन्ति च २।३।१७।४७ ... ... १५१९ – २३
जीवदुःखसे परमात्मा दुःखी नहीं होता है, इस विषयमें व्यासादिकी स्मृति ... ... १५२० – २
सूत्र—अनुज्ञापरिहारौ० २।३।१७।४८ ... ... १५२२ – २०
सब प्राणियोंमें जीवभावसे एक ही परमात्माके स्थित रहनेपर भी देहसम्बन्धसे विधि और निषेधकी अनुपपत्ति नहीं है १५२३ – २
सूत्र—असन्ततेश्चाव्यतिकरः २।३।१७।४९ ... ... १५२६ – २६
उपाधिके सन्तत न होनेसे कर्मफलोंकी संकीर्णता नहीं होती है १५२७ – ३
सूत्र—आभास एव च २।३।१७।५० ... ... १५२८ – १
जीव परमात्माका प्रतिबिम्ब है, इससे भी कर्मफलका संकर नहीं है १५२८ – ११
सूत्र—अदृष्टानियमात् २।३।१७।५१ ... ... १५३२ – २०
अदृष्ट नियामक नहीं है ... ... १५३३ – २
सूत्र—अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् २।३।१७।५२ ... ... १५३४ – १
संकल्प आदि नियामक नहीं हो सकते हैं ... ... १५३४ – ८
सूत्र—प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् २।३।१७।५३ ... १५३५ – १
प्रदेशकृत व्यवस्थाका खण्डन ... ... १५३५ – १५
आकाश आदिके विभुत्वका खण्डन ... ... १५३९ – ३

प्राणोत्पत्त्यधिकरण २।४।१।१–४ [पृ० १५४१–१५५५]

चतुर्थपादके प्रथम अधिकरणका सार ... ... १५४१ – ८
सूत्र—तथा प्राणाः २।४।१।१ ... ... १५४२ – १
'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियोंमें प्राणकी उत्पत्तिका श्रवण न होनेसे प्राण नित्य हैं [पूर्वपक्ष] ... ... १५४२ – १०

विषय			पृष्ठ पं०
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन [सिद्धान्त]	...	...	१५४४ – ५
प्रकृत उपमानके न रहनेसे तथाशब्द असम्बद्ध है		...	१५४४ – ५
उदाहरणमें गृहीत उपमानसे तथाशब्दकी उपपत्ति		...	१५४५ – ६
व्यवहित उपमानके साथ सम्बन्ध भी तन्त्रसम्मत है		...	१५४६ – ४
सूत्र—गौण्यसम्भवात् २।४।१।२	...	...	१५४९ – १
गौणी उत्पत्तिश्रुतिके असम्भवका कथन [सिद्धान्त]		...	१५४९ – ९
वियदधिकरण और प्राणोत्पत्त्यधिकरणमें पठित 'गौण्यसम्भवात्' सूत्रका पृथक्‌रूपसे व्याख्यान	...	...	१५५१ – ४
सूत्र—तत्प्राक्श्रुतेश्च २।४।१।३	...	...	१५५२ – १५
आकाश और प्राणकी जन्मश्रुति मुख्य है ...		...	१५५२ – २२
सूत्र—तत्पूर्वकत्वाद्वाचः २।४।१।४	...	...	१५५४ – १
प्राण ब्रह्मजन्य है, इसमें श्रुतियोंका प्रामाण्यरूपसे उपादान		...	१५५४ – ९

सप्तगत्यधिकरण २।४।२।५–६ [पृ० १५५६–१५६७]

द्वितीय अधिकरणका सार ...	...	...	१५५६ – ६
सूत्र—सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च २।४।२।५	...	...	१५५६ – १२
प्राणकी संख्याके विषयमें श्रुतिद्वारा संशयका प्रदर्शन		...	१५५७ – ४
प्राण सात हैं [पूर्वपक्ष]	...	...	१५५८ – ५
सूत्र—हस्तादयस्तु—२।४।२।६	...	...	१५६० – १
उक्त शङ्काके परिहारद्वारा एकादश प्राण—इन्द्रियोंका स्थापन [सिद्धान्त] ...	...	...	१५६० – १२
एकादशसे अधिक कहे गये प्राणोंका उन्हींमें अन्तर्भाव होता है ...			१५६१ – ७
पञ्चम और षष्ठ सूत्रकी अन्य व्याख्या ...		...	१५६४ – २

प्राणाणुत्वाधिकरण २।४।३।७ [पृ० १५६८–१५७०]

तृतीय अधिकरणका सार	...	...	१५६८ – ६
सूत्र—अणवश्च २।४।३।७	...	...	१५६८ – १३
प्राणोंमें अणुत्व—परिच्छिन्नत्वका कथन ...		...	१५६९ – ३

प्राणश्रैष्ठ्याधिकरण २।४।४।८ [पृ० १५७१—१५७४]

चतुर्थ अधिकरणका सार	...	...	१५७१ – ६
सूत्र—श्रेष्ठश्च २।४।४।८	...	...	१५७१ – १३
मुख्य प्राण भी इन्द्रियोंके समान ब्रह्मका विकार है [सिद्धान्त]			१५७२ – २

विषय	पृष्ठ	पं०
वायुक्रियाधिकरण २।४।५।९-१२ [पृ० १५७५-१५८७]		
पञ्चम अधिकरणका सार	१५७५	६
सूत्र—न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् २।४।५।९	१५७६	१
मुख्य प्राण वायुरूप या क्रियारूप है [पूर्वपक्ष] ...	१५७६	१३
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन [सिद्धान्त]	१५७७	५
सम्पूर्ण करणका व्यापार भी प्राण नहीं है	१५७८	५
'यः प्राणः स वायुः' इस श्रुतिकी सिद्धान्तमें व्यवस्था ...	१५७९	७
सूत्र—चक्षुरादिवत्तु० २।४।५।१०	१५८१	१
प्राण जीवका उपकरण है	१५८१	११
सूत्र—अकरणत्वाच्च० २।४।५।११	१५८३	१
प्राणमें विषयान्तरका प्रसङ्ग नहीं है	१५८३	१२
मुख्य प्राणके विशेष कार्यका प्रदर्शन	१५८४	२
सूत्र—पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते २।४।५।१२	१५८५	२१
मुख्य प्राणका अन्य भी कार्य है	१५८६	२
प्राण आदिके स्वरूपका कथन	१५८६	४
श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण २।४।६।१३ [पृ० १५८८-१५९०]		
षष्ठ अधिकरणका सार	१५८८	६
सूत्र—अणुश्च २।४।६।१३	१५८८	१२
मुख्य प्राण भी अणु है	१५८९	२
श्रुतिमें कथित प्राणके विभुत्वकी व्यवस्था	१५९०	२
ज्योतिराद्यधिकरण २।४।७।१४-१६ [पृ० १५९१-१५९९]		
सप्तम अधिकरणका सार	१५९१	६
सूत्र—ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु० २।४।७।१४	१५९१	१३
प्राण—इन्द्रियाँ अपने सामर्थ्यसे ही प्रवृत्त होते हैं [पूर्वपक्ष]	१५९१	४
अग्नि आदि देवताओंसे अधिष्ठित प्राण प्रवृत्त होते हैं [सिद्धान्त]	१५९३	४
इसी सिद्धान्तमें अनेक श्रुति और स्मृतियोंका प्रमाणरूपसे उपन्यास	१५९३	७
सूत्र—प्राणवता शब्दात् २।४।७।१५	१५९६	१
'जीवके ही साथ प्राणोंका सम्बन्ध है' अतः भोक्ता जीव है, अधिष्ठात्री देवता नहीं है ...	१५९६	१०
सूत्र—तस्य च नित्यत्वात् २।४।७।१६	१५९७	२१
अन्य रीतिसे देवताओंमें भोक्तृत्वका निरसन ...	१५९८	२

विषय			पृष्ठ पं०
इन्द्रियाधिकरण २।४।८।१७-१९ [पृ० १६००-१६०८]			
अष्टम अधिकरणका सार	...	...	१६०० - ६
सूत्र—त इन्द्रियाणि० २।४।८।१७	...	...	१६०१ - १
इन्द्रियाँ मुख्य प्राणकी वृत्तियाँ हैं [पूर्वपक्ष]		...	१६०१ - १२
इन्द्रियाँ मुख्य प्राणसे अन्य तत्त्व हैं [सिद्धान्त]		...	१६०२ - ६
प्राणमें इन्द्रियत्वका खण्डन	...	...	१६०४ - २
सूत्र—भेदश्रुतेः २।४।८।१८	...	...	१६०५ - १
मुख्य प्राणसे अन्य प्राण—इन्द्रियाँ अन्य तत्त्व हैं, उसमें अन्य श्रुतिरूप प्रमाणका कथन	...	...	१६०५ - ९
सूत्र—वैलक्षण्याच्च २।४।८।१९	...	...	१६०६ - १९
प्राण और इन्द्रियोंमें वैलक्षण्यका कथन	...	...	१६०७ - २
'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' इस श्रुतिसे पूर्वपक्षी द्वारा प्रतिपादित मुख्य प्राण और अमुख्य प्राणके अभेदका खण्डन		...	१६०७ - ६
संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण २।४।९।२०-२२ [पृ० १६०९-१६२०]			
नवम अधिकरणका सार	...	...	१६०९ - ६
सूत्र—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु—२।४।९।२०	...	...	१६०९ - १४
नाम और रूपकी व्याक्रिया जीवकर्तृक है [पूर्वपक्ष]		...	१६१० - ६
'जीवेन' इस पदका 'अनुप्रविश्य' इसके साथ सम्बन्ध है 'व्याकरवाणि' इसके साथ नहीं	...	...	१६१३ - ७
सूत्र—मांसादि भौमम्० २।४।९।२१	...	...	१६१७ - १
मांस आदि भूमिकार्य है	...	...	१६१७ - १२
सूत्र—वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः २।४।९।२२	...	...	१६१९ - १
पृथ्वी आदिके आधिक्यसे पृथ्वी, जल आदिका व्यवहार होता है			१६१९ - १०

इति द्वितीयाध्यायः

विषय पृष्ठ पं०

तृतीय अध्यायका आरम्भ ... ... १६२१ – १

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण ३।१।१।१–७ [पृ० १६२१–१६४६]

तृतीय अध्यायके प्रथमपादके प्रथम अधिकरणका सार ... १६२१ – ८

सूत्र—तदन्तरप्रतिपत्तौ० ३।१।१।१ ... ... १६२२ – १

द्वितीय अध्यायके वृत्तका अनुवाद कर तृतीय अध्यायके विषयका संक्षेपतः कथन ... ... १६२२ – १५

देहके बीजभूत भूतसूक्ष्मोंसे जीव अपरिवेष्टित जाता है [पूर्वपक्ष] १६२४ – ६

भूतसूक्ष्मोंसे परिवेष्टित ही जीव जाता है [सिद्धान्त] ... १६२६ – २

सूत्र—त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ३।१।१।२ ... ... १६२९ – १७

जल त्र्यात्मक है ... ... १६३० – २

सूत्र—प्राणगतेश्च ३।१।१।३ ... ... १६३१ – २२

प्राणकी गति आश्रयके बिना नहीं होती ... ... १६३२ – ४

सूत्र—अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति० ३।१।१।४ ... ... १६३२ – २१

देहान्तरकी प्राप्तिमें प्राण जीवके साथ नहीं जाते हैं [पूर्वपक्ष] १६३३ – २

उक्त पूर्वपक्षका खण्डन [सिद्धान्त] ... ... १६३३ – ५

सूत्र—प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न० ३।१।१।५ ... ... १६३४ – १५

'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इसका निर्धारण किस प्रकार है ? [पूर्वपक्ष] ... ... १६३५ – २

उक्त शङ्काका खण्डन ... ... १६३६ – २

वैदिकप्रयोग दर्शनसे श्रद्धाशब्द जलका वाचक है ... १६३७ – ६

सूत्र—अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादि० ३।१।१।६ ... ... १६३८ – २०

जीव परिवेष्टित नहीं जाता है [अन्य पूर्वपक्ष] ... १६३९ – २

उक्त पूर्वपक्षका खण्डन ... ... १६३९ – ५

सूत्र—भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ३।१।१।७ ... १६४२ – २०

'ते चन्द्रं प्राप्य अन्नं भवन्ति' इस श्रुतिसे प्रतिपादित इष्टादिकारियोंमें जो अन्नत्व है वह भाक्त है ... १६४३ – २

'अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति' इसकी अन्य व्याख्या ... १६४५ – २

कृतात्ययाधिकरण ३।१।२।८–११ [पृ० १६४७–१६६९]

द्वितीय अधिकरणका सार ... ... १६४७ – ६

सूत्र—कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्याम्० ३।१।२।८ ... १६४७ – १२

इष्टादिकारियोंका चन्द्रमण्डलसे प्रत्यवरोह दिखलाकर वे निरनुशय आते हैं या सानुशय आते हैं इस प्रकार संशयका कथन १६४८ – २

विषय	पृष्ठ	पं०
निरनुशय चन्द्रमण्डलसे आते हैं [पूर्वपक्ष] ...	१६४९ –	३
सानुशय आते हैं, इस सिद्धान्तका कथन ...	१६५१ –	२
इष्टादिकारी सानुशय आते हैं, इसमें श्रुति और स्मृतियोंका प्रमाणतया कथन	१६५१ –	७
अनुशयसे अर्थके प्रदर्शनमें मतमतान्तर	१६५३ –	२
मरण अनारब्ध सब कर्मोंका अभिव्यञ्जक है, इस मतका खण्डन	१६५७ –	२
धर्म और अधर्मके स्वरूपके ज्ञानमें शास्त्र ही प्रमाण है ...	१६६० –	३
अवरोह करनेवाले जिस मार्गसे जाते हैं, उसी मार्गसे अथवा उससे विपरीत मार्गसे आते हैं	१६६२ –	२
सूत्र–चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ३।१।२।९ ...	१६६३ –	१५
चरणसे योन्यापत्ति है, अनुशयसे नहीं [पूर्वपक्ष] ...	१६६४ –	३
चरणश्रुतिके उपलक्षण होनेसे दोष नहीं है ...	१६६५ –	२
सूत्र—आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ३।१।२।१० ...	१६६५ –	१६
शीलार्थक चरणसे भी शुभाशुभयोनि प्राप्त होगी ...	१६६६ –	३
उक्त मतका प्रतिषेध	१६६६ –	६
कर्म सर्वार्थकारी है	१६६७ –	२
सूत्र—सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ३।१।२।११ ...	१६६८ –	१
चरणशब्दसे सुकृत और दुष्कृत ही विवक्षित हैं, बादरिके मतका कथन	१६६८ –	१२

अनिष्टादिकार्यधिकरण ३।१।३।१२–२१ [पृ० १६७०–१६८५]

विषय	पृष्ठ	पं०
तृतीय अधिकरणका सार	१६७० –	६
सूत्र—अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ३।१।३।१२ ...	१६७० –	१३
इष्टादि करनेवाले ही चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है, प्रत्युत अनिष्टादिकारी भी जाते हैं [पूर्वपक्ष] ...	१६७१ –	२
सूत्र—संयमने त्वनुभूयेतरेषाम्–३।१।३।१३	१६७२ –	२२
सब चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है [सिद्धान्त] ...	१६७३ –	२
सूत्र—स्मरन्ति च ३।१।३।१४	१६७३ –	२३
पाप कर्म करनेवाले यमाधीन यातना भोगते हैं ...	१६७४ –	२
सूत्र—अपि च सप्त ३।१।३।१५	१६७५ –	७
रौरवादि पापकर्मके फलकी उपभोगभूमि हैं ...	१६७५ –	१५
सूत्र—तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ३।१।३।१६ ...	१६७६ –	१
रौरव आदिमें यमप्रयुक्त ही चित्रगुप्त आदिमें अधिष्ठातृत्व है	१६७६ –	१२

विषय	पृष्ठ पं०
सूत्र—विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ३।१।३।१७ ...	१६७७ – १
'एतयोः पथोः' इसमें 'एतयोः' शब्दसे विद्या और कर्मका ग्रहण करना चाहिए	१६७८ – २
अनिष्टादिकारी चन्द्रबिम्बमें चढ़कर पुनः क्षुद्र योनिको प्राप्त करे, यह भी असङ्गत है	१६७९ – ३
सूत्र—न तृतीये तथोपलब्धेः ३।१।३।१८	१६८० – २३
तृतीय स्थानमें देहके लाभके लिए आहुतिका पञ्चसंख्यानियम नहीं है	१६८१ – २
सूत्र—स्मर्यतेऽपि च लोके ३।१।३।१९	१६८२ – १५
द्रोण, सीता आदि अयोनिज सुने जाते हैं	१६८३ – २
सूत्र—दर्शनाच्च ३।१।३।२०	१६८३ – २१
आहुति संख्याके अनादरमें पुनः दृष्टान्तका कथन ...	१६८४ – २
सूत्र—तृतीयशब्दावरोधः० ३।१।३।२१	१६८५ – १
उद्भिज्जशब्दसे स्वेदजका संग्रह होता है ...	१६८५ – १३

साभाव्यापत्त्यधिकरण ३।१।४।२२ [पृ० १६८६—१६८९]

४र्थ अधिकरणका सार	१६८६ – ६
सूत्र—साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ३।१।४।२२ ...	१६८६ – १२
इष्टादिकारी आकाशादि स्वरूप ही होते हैं [पूर्वपक्ष]	१६८८ – ३
उक्त पूर्वपक्षका खण्डन	१६८८ – ७

नातिचिराधिकरण ३।१।५।२३ [पृ० १६९०–१६९२]

५म अधिकरणका सार	१६९० – ६
सूत्र—नातिचिरेण विशेषात् ३।१।५।२३	१६९० – १२
अनुशयी अल्पकाल आकाशादिभावमें रहकर वृष्टि द्वारा इस भूमिमें आते हैं	१६९१ – ५

अन्याधिष्ठिताधिकरण ३।१।६।२४–२७ [पृ० १६९३–१७०४]

६ष्ठ अधिकरणका सार	१६९३ – ६
सूत्र—अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ३।१।६।२४ ...	१६९३ – १२
'त इह व्रीहियवाः' इत्यादि श्रुतिसे अनुशयी स्थावरजात्यापन्न होते हैं [पूर्वपक्ष]	१६९४ – ६
कथित पूर्वपक्षका खण्डन	१६९६ – २
व्रीह्यादिभावसे संश्लेषमात्र विवक्षित है, इसमें हेतुका कथन ...	१६९६ – ५
यदि व्रीह्यादिमें मुख्य जन्म माना जाय, तो दोष होगा ...	१६९७ – २
सूत्र—अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ३।१।६।२५	१६९८ – १६

विषय	पृष्ठ पं०
अग्निष्टोमसे पशुहिंसा अधर्म नहीं है	१६९९ – २
सूत्र—रेतःसिग्योगोऽथ ३।१।६।२६	१७०१ – २३
व्रीह्यादिभावसे व्रीहि आदि के साथ संश्लेपमात्र ही विवक्षित है	१७०२ – २
सूत्र—योनेः शरीरम् ३।१।६।२७	१७०३ – १
व्रीह्यादिभावसे व्रीह्यादिसंश्लेष ही लेना, इसमें अन्य रीतिका कथन	१७०३ – १२
तृतीय अध्यायके द्वितीय पादका आरम्भ	१७०५ – १

सन्ध्याधिकरण ३।२।१।१–६ [पृ० १७०५–१७२६]

विषय	पृष्ठ पं०
तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके प्रथम अधिकरणका सार ...	१७०५ – ८
सूत्र—सन्ध्ये सृष्टिराह हि ३।२।१।१	१७०६ – १
स्वप्नकी सृष्टि सत्य है [पूर्वपक्ष]	१७०७ – ४
सूत्र—निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ३।२।१।२	१७०९ – १
स्वाप्नप्रपञ्चका निर्माता ईश्वर है [पूर्वपक्ष]	१७०९ – १४
सूत्र—मायामात्रन्तु० ३।२।१।३	१७११ – १४
स्वाप्नप्रपञ्च पारमार्थिक नहीं है [सिद्धान्त]	१७११ – २४
कात्स्न्र्यपदका विवेचन	१७१२ – ४
सुप्त पुरुषका क्षणमात्रमें सैकड़ों मील गमन नहीं हो सकता है	१७१३ – ५
सूत्र—सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ३।२।१।४ ...	१७१६ – ११
स्वप्नके मायामात्र होनेपर भी वह भविष्यके शुभाशुभका सूचक है	१७१७ – ३
स्वप्नमें रथादिसृष्टिकी प्रतिपादिका श्रुति स्वार्थमें गौण है ...	१०१९ – २
'स्वयं विहत्य' इत्यादि श्रुतिके अनुसार जीव ही स्वप्नसृष्टिका निर्माता है	१७१९ – ६
सूत्र—पराभिध्यानात्तु० ३।२।१।५	१७२१ – २०
अग्नि के विस्फुलिङ्गके समान जीव भी परमात्माका अंश है, अतः जीवके ज्ञान और ऐश्वर्यसे स्वप्नमें सांकल्पिकी सृष्टि हो ? [प्रश्न]	१७२२ – २
कथित प्रश्नका खण्डन	१७२२ – ५
सूत्र—देहयोगाद्वा सोऽपि ३।२।१।६	१७२४ – १५
परमात्माका अंश होनेपर भी तिरस्कृतज्ञानैश्वर्य जीव क्यों है ?	१७२४ – २२
जीवका ज्ञानैश्वर्यतिरोभाव देहादि उपाधिके योगसे हुआ है ...	१७२५ – २

तदभावाधिकरण ३।२।२।७–८ [पृ० १७२७–१७४२]

विषय	पृष्ठ पं०
२य अधिकरणका सार	१७२७ – ६
सूत्र—तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ३।२।२।७ ...	२७२८ – १

विषय	पृष्ठ पं०
सुषुप्ति अवस्थाका परीक्षण	१७२८ – १४
सुषुप्तिके नाडी आदि परस्पर निरपेक्ष पृथक् २ स्थान हैं अथवा परस्पर सापेक्ष एक सुषुप्तिस्थान है ? ...	१७३० – ६
नाडी आदि पृथक् स्थान हैं [पूर्वपक्ष]	१७३० – ९
कथित पूर्वपक्षका खण्डन अर्थात् समुच्चयसे नाडी आदि सुषुप्तिके स्थान हैं [सिद्धान्त]	१७३२ – २
एकार्थक होनेसे व्रीहि आदिके समान नाडी आदिका विकल्प क्यों न हो ?	१७३२ – ६
नाडी आदि भिन्नार्थक हैं और भिन्नार्थक शब्दोंमें भी एक विभक्तिका निर्देश होता है—प्रासादे शेते, पर्यङ्के शेते, इत्यादिमें	१७३३ – २
'सर्वे पाप्मानः' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मसम्पत्ति पापके स्पर्शाभावमें हेतु है	१७३५ – ३
उपाधिके सम्बन्धके विना जीवका कोई आधार नहीं हो सकता है	१७३७ – २
नाडी आदिमें सुषुप्त जीवके अज्ञानमें कारण नहीं जाना जा सकता	१७३९ – २
सूत्र—अतः प्रबोधोऽस्मात् ३।२।२।८	१७४१ – १
प्रधानतया आत्मा ही सुप्तिका स्थान है, अतः जीवके प्रबोधका स्वापाधिकारमें उपदेश है	१७४१ – ९

✓कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण ३।२।३।९ [पृ० १७४३–१७४९]

३य अधिकरणका सार	१७४३ – ६
सूत्र—स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ३।२।३।९ ...	१७४४ – १
सुषुप्त पुरुष ही उठता है, इसमें अनियम है [पूर्वपक्ष] ...	१७४५ – २
सुप्त जीव ही जागता है [सिद्धान्त]	१७४६ – २
श्रुतियोंसे भी उसीका उत्थान प्रतीत होता है ...	१७४७ – २
जैसे जलराशिमें प्रक्षिप्त जलबिन्दुका उद्धरण नहीं हो सकता वैसे ही सुषुप्तिमें सत्के साथ सम्पन्न जीवका उद्धरण नहीं हो सकता है—इस प्रकार कथित पूर्वपक्षका खण्डन ...	१७४८ – ९

✓मुग्धेऽर्धसम्पत्त्यधिकरण ३।२।४।१० [पृ० १७५०–१७५७]

४र्थ अधिकरणका सार	१७५० – ६
सूत्र—मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ३।२।४।१० ...	१७५१ – १
मुग्धकी अवस्था कौन है ?	१७५१ – १५

विषय	पृष्ठ पं०
मुग्धका जाग्रदादिमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, इसका प्रौढ विचार करते हुए अतिरिक्त—मूर्च्छा अवस्थामें उसका अन्तर्भाव	१७५२ – ५
परिशेषसे मुग्धता अर्धसम्पत्ति है	१७५५ – ३
✓उभयलिङ्गाधिकरण ३।२।५।११–२१ [पृ० १७५८–१७९४]	
५म अधिकरणका सार	१७५८ – ६
सूत्र—न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ३।२।५।११ ...	१७५९ – १
सुषुप्ति आदिमें जीव जिस ब्रह्मके साथ उपाधिके उपशमसे सम्पन्न होता है उसके स्वरूपका परीक्षण ...	१७५९ – १६
सविशेष और निर्विशेष श्रुतिके बलसे ब्रह्म उभयरूप है अर्थात् सविशेष और निर्विशेषरूप है	१७६० – २
ब्रह्म स्वतः उभयरूप नहीं है	१७६० – ८
उपाधिके योगसे भी उभयलिङ्ग नहीं है	१७६१ – २
सूत्र—न भेदादिति० ३।२।५।१२ ..	१७६२ – १३
स्वतः या उपाधिसे ब्रह्म उभयलिङ्ग नहीं होता है,यह अनुपपन्न है	१७६३ – २
उक्त शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि शास्त्रसे प्रतिउपाधि ब्रह्मका अभेद ही श्रुत है	१७६३ – ८
सूत्र—अपि चैवमेके ३।२।५।१३ ...	१७६४ – २१
भेदकी निन्दा करके अभेद ही कोई शाखापाठी कहते हैं ...	१७६५ – २
सूत्र—अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ३।२।५।१४ ...	१७६६ – १
रूपादि आकार रहित ही ब्रह्मको जानना चाहिए ...	१७६६ – १०
आकारवद् ब्रह्मके बोधक श्रुतिवाक्य उपासनापरक हैं	१७६७ – ६
सूत्र—प्रकाशवच्चाऽवैयर्थ्यम् ३।२।५।१५ ...	१७६८ – १
प्रकाशके समान उपाधिसे ब्रह्म भी उस-उस आकारको प्राप्त होता है	१७६८ – १४
सूत्र—आह च तन्मात्रम् ३।२।५।१६ ...	१७७० – १
विलक्षणरूपसे रहित निर्विशेष चैतन्यमात्र ब्रह्मका श्रुति प्रतिपादन करती है	१७७० – ८
सूत्र—दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ३।२।५।१७... ...	१७७१ – १
रूपके प्रतिषेध द्वारा श्रुति ब्रह्मको कहती है... ...	१७७१ – १०
सूत्र—अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ३।२।५।१८ ..	१७७३ – १
परमात्माकी औपाधिक अपारमार्थिकी अवस्थाको लेकर जल सूर्यकादिवत्-यह उपमा दी जाती है ...	१७७३ – १२

विषय	पृष्ठ	पं०
सूत्र—अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ३।२।५।१९ ...	१७७४	२३
जलसूर्यकादिवत् दृष्टान्त नहीं घट सकता ...	१७७५	२
सूत्र—वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावा० ३।२।५।२०	१७७६	१
जलसूर्यकादिवत् दृष्टान्त युक्त है	१७७६	१६
सारूप्य कैसा विवक्षित है ?	१७७७	२
सूत्र—दर्शनाच्च ३।२।५।२१	१७७८	९
श्रुति दिखलाती है कि देहादि उपाधियोंमें परब्रह्मका अनुप्रवेश है	१७७८	९
यहाँ कोई दो अधिकरणोंकी कल्पना करते हैं ...	१७७९	४
परन्तु अधिकरणान्तरका आरम्भ सर्वथा व्यर्थ है ...	१७८०	१
उभयलक्षण ब्रह्म भी नहीं कह सकते	१७८१	२
आकारवादिनी श्रुतियाँ प्रपञ्चविलयमुखेन अनाकार ब्रह्मकी सूचिका हैं	१७८३	३
प्रपञ्चविलय क्या है ?	१७८७	३
अविद्याध्यस्त सकल प्रपञ्चका स्वप्नप्रपञ्चके समान विलय होता है	१७८८	६
द्रष्टव्यादिशब्द विधिपरक नहीं हैं	१७९०	२
प्रमाणजन्य ज्ञान नियोगसे नहीं कर सकते हैं ...	१७९१	५
ब्रह्मवाक्योंमें नियोगके होनेपर भी एकवाक्यता नहीं हो सकती है	१७९२	७

प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण ३।२।६।२२–३० [पृ०१७९५–१८१८]

विषय	पृष्ठ	पं०
६ठ अधिकरणका सार	१७९५	६
सूत्र—प्रकृतैतावत्त्वं हि० ३।२।६।२२	१७९६	१
'नेति नेति' शब्दसे किसका निषेध होता है ? ...	१७९७	४
कुछ विशेष न होनेसे रूप और रूपवत् दोनोंका निषेध होता है [पूर्वपक्ष]	१७९८	८
दोनोंका निषेध नहीं है [सिद्धान्त]	१७९९	५
ब्रह्मका प्रतिषेध उपपन्न भी नहीं होता है	१८००	६
प्रकृत जो मूर्त और अमूर्त है उसका प्रतिषेध करता है ...	१८०२	५
'नेति नेति' में पूर्व भूतराशिका प्रतिषेध करता है और दूसरा... वासनाराशिका	१८०५	३
अन्य हेतुसे भी रूपद्वयका ही निषेध होता है ...	१८०६	३
'नेति नेति' इस शब्दके अर्थका कथन	१८०७	६
सूत्र—तदव्यक्तमाह हि ३।२।६।२३	१८०७	१६
प्रतिषिद्धसे अन्य ब्रह्मका ग्रहण क्यों नहीं होता है ...	१८०८	२

विषय	पृष्ठ पं०
सर्वदृश्यका साक्षी होनेसे वह अनिन्द्रियग्राह्य है ...	**१८०८ – ३**
सूत्र—अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ३।२।६।२४ ...	१८०९ – १
अव्यक्त निरस्तसमस्तप्रपञ्च ब्रह्मको समाधिकालमें योगी लोग ग्रहण करते हैं	**१८०९ – १०**
सूत्र—प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्० ३।२।६।२५	१८११ – १६
सूर्यके प्रकाशके समान औपाधिक आत्माका भेद है ...	**१८१२ – २**
सूत्र—अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ३।२।६।२६	१८१२ – २१
अभेद स्वाभाविक है और भेद अविद्याकृत है, इसलिए विद्यासे अविद्याका विधूनन करके जीव परके साथ एकता प्राप्त करता है	**१८१३ – २**
सूत्र—उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ३।२।६।२७ ...	१८१३ – १८
स्वमतकी परिशुद्धिके लिए मतान्तरका उपन्यास ...	**१८१४ – २**
सूत्र—प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ३।२।६।२८	१८१५ – १९
प्रकाशके आश्रयके समान भेदाभेदव्यपदेश समझना चाहिए ...	**१८१६ – २**
सूत्र—पूर्ववद्वा ३।२।६।२९	१८१६ – १०
पारमार्थिक बन्धका स्वीकार करनेमें मोक्षशास्त्र व्यर्थ होगा	**१८१६ – २०**
सूत्र—प्रतिषेधाच्च ३।२।६।३०	१८१७ – २३
शास्त्र परमात्मासे अन्य चेतनका प्रतिषेध करता है, अतः 'अभेद ही है' यह पूर्वोक्त सिद्धान्त ही युक्त है ...	**१८१८ – २**

पराधिकरण ३।२।७।३१—३७ [पृ० १८१९–१८३५]

७म अधिकरणका सार	१८१९ – ६
सूत्र—परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ३।२।७।३१ ...	१८२० – १
परब्रह्मसे अन्य वस्तु है, क्योंकि सेतु आदिका व्यपदेश है [पूर्वपक्ष]	**१८२० – १६**
भेदका साधक जो सेतुव्यपदेश है, उसका उपपादन ...	**१८२१ – ३**
उन्मानव्यपदेशका कथन	**१८२२ – ३**
सम्बन्धव्यपदेशका श्रुतिमें प्रदर्शन	**१८२२ – ६**
'अथ य एषोऽन्तरा' इत्यादि भेदव्यपदेश भी पूर्वपक्षीके मतकी परिपुष्टि करता है	**१८२३ – ३**
सूत्र—सामान्यात्तु ३।२।७।३२	१८२४ – २०
प्रमाणके अभावसे ब्रह्मसे अन्य वस्तु नहीं हो सकती है [सिद्धान्त]	**१८२५ – २**
सेतु आदिका व्यपदेश जो ब्रह्मसे अन्य वस्तुके साधनके लिए पूर्वपक्षी द्वारा उपन्यस्त है, उनमेंसे सेतुव्यपदेशका निरसन	**१८२५ – ६**

विषय			पृष्ठ पं०
सूत्र—बुद्ध्यर्थः पादवत् ३।२।७।३३	...	...	१८२७ – १७
उन्मानव्यपदेशका खण्डन	...	...	**१८२८ – २**
सूत्र—स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ३।२।७।३४ ...		...	१८२९ – १५
सम्बन्धव्यपदेश और भेदव्यपदेशका खण्डन		...	**१८३० – २**
सूत्र—उपपत्तेश्च ३।२।७।३५	...	...	१८३१ – १४
उपाधिप्रयुक्त सम्बन्धव्यपदेश घटता है	...	...	**१८३१ – २३**
सूत्र—तथान्यप्रतिषेधात् ३।२।७।३६	...	...	१८३२ – १९
सेतु आदि पक्षका उन्मथन करके स्वपक्षका उपसंहार करते हैं			**१८३३ – २**
सूत्र—अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ३।२।७।३७		...	१८३४ – १
सेतु आदि व्यपदेशके निराकरणसे आत्माका सर्वगतत्व सिद्ध हुआ			**१८३५ – १२**

✓ फलाधिकरण ३।२।८।३८—४१ [पृ० १८३६–१८४४]

८म अधिकरणका सार	...	...	१८३६ – ६
सूत्र—फलमत उपपत्तेः ३।२।८।३८	...	...	१८३६ – १२
इष्टादिलक्षण फल ईश्वरसे होता है	...	...	**१८३७ – ५**
कर्म क्षणिक होनेसे कालान्तरभावी फलका जनक नहीं हो सकता है	...	...	**१८३८ – ३**
कर्म अपूर्व द्वारा भी फलोत्पादक नहीं हो सकता है		...	**१८३९ – २**
सूत्र—श्रुतत्वाच्च ३।२।८।३९	...	...	१८४० – १
ईश्वर ही फलदाता है, इसमें श्रुतिका प्रमाणतया उपन्यास		...	**१८४० – ८**
सूत्र—धर्मं जैमिनिरत एव ३।२।८।४०	...	...	१८४१ – १
जैमिनि नामक आचार्य धर्मको ही फलदाता मानते हैं		...	**१८४१ – १०**
सूत्र—पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ३।२।८।४१		...	१८४३ – १
बादरायणाचार्य पूर्वोक्त ईश्वरको फलदाता मानकर केवल कर्म या अपूर्व द्वारा कर्ममें फलदातृत्वका खण्डन करते हैं		...	**१८४३ – १२**

द्वितीयाध्याय और तृतीयाध्यायके द्वितीय पाद तककी विषय-सूची समाप्त।



ॐ

ब्रह्मसूत्र

[शाङ्करभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित]

द्वितीयोऽध्यायः ।

(द्वितीये अविरोधाख्याध्याये प्रथमपादे साङ्ख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः साङ्ख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च वेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारः)

[१ स्मृत्यधिकरण सू० १—२]

साङ्ख्यस्मृत्याऽस्ति संकोचो न वा वेदसमन्वये । धर्मे वेदः सावकाशः संकोचोनवकाशया ॥
प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिर्मन्वादिस्मृतिभिः स्मृतिः । अमूला कापिली बाध्या न संकोचोनया ततः ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—वेदसमन्वयका सांख्यस्मृतिसे संकोच होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—वेद धर्ममें सावकाश है, अतः निरवकाश सांख्यस्मृतिसे वेदका संकोच होना युक्त है ।

सिद्धान्त—प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक मनु आदि स्मृतियोंसे मूलश्रुतिरहित कापिल स्मृतिका बाध होता है, इसलिए सांख्यस्मृतिसे वेदका संकोच युक्त नहीं है ।

तात्पर्य यह है कि इस पादके सब अधिकरणोंका पूर्वाध्यायमें वर्णित समन्वय विषय है । यहांपर सन्देह किया जाता है कि उक्त वेदसमन्वयका सांख्यस्मृतिसे संकोच होता है या नहीं ?

पूर्वपक्षी कहता है कि संकोच होना युक्त है, क्योंकि सांख्यस्मृति निरवकाश होनेसे प्रबल है । सांख्यस्मृति केवल वस्तुतत्त्वका निरूपण करनेके लिए ही प्रवृत्त हुई है, कहींपर भी अनुष्ठेय धर्मका प्रतिपादन नहीं करती है । यदि वह वस्तुतत्त्व प्रतिपादनमें भी बाधित हो जाय तो निरवकाश हो जायगी । वेद धर्म और ब्रह्म दोनोंका निरूपण करता है । ब्रह्मके विषयमें बाधित होनेपर भी धर्ममें वह सावकाश है । इसलिए निरवकाश स्मृतिसे सावकाश वेदका संकोच होना ठीक है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि सांख्यस्मृति ब्रह्मको जगत्कारण माननेवाली मनु आदि स्मृतियोंसे बाधित है । मनु आदि स्मृतियाँ प्रत्यक्षवेदमूलक होनेसे प्रबल हैं । प्रधानको जगत्का कारण माननेवाली सांख्यस्मृतिकी मूलभूत कोई श्रुति नहीं दिखाई देती है, क्योंकि परिदृश्यमान वेदवाक्य ब्रह्मपरक हैं, ऐसा पहले ही निर्णय किया जा चुका है । इसलिए सांख्यस्मृतिसे वेदका संकोच होना ठीक नहीं है ।

भाष्य

प्रथमेऽध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणं मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम्, उत्पन्नस्य जगतो नियन्तृत्वेन स्थितिकारणम्,

भाष्यका अनुवाद

जैसे मृत्तिका सुवर्ण आदि घट, रुचक आदिके कारण हैं, वैसे ही सर्वज्ञ, सर्वेश्वर जगत् की उत्पत्तिका कारण है, जैसे मायावी मायाका नियन्तारूपसे स्थितिकारण है, वैसे ही सर्वज्ञ सर्वेश्वर नियन्तारूपसे उत्पन्न हुए जगत्का

रत्नप्रभा

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाऽक्लिष्टकारिणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥ १ ॥
साङ्ख्यादिस्मृतियुक्तिभिर्न चलितो वेदान्तसिद्धान्तगो
निर्मूलैर्विविधागमैरविदितो व्योमादिजन्माप्ययः ।
उत्पत्त्यन्तविवर्जितश्चितिवपुर्व्यापी च कर्तांशको
लिङ्गेन प्रथितोऽपि नामतनुकृत् तं जानकीशं भजे ॥ २ ॥

"नामरूपे व्याकरवाणि" इति श्रुतेः नामतनुकृदपि संज्ञामूर्तिव्याकर्ताऽपि लिङ्गशरीरोपाधिना कर्तेति अंश इति च प्रथितः प्रसिद्धो यः तं प्रत्यगभिन्नं परमात्मानं मूलप्रकृतिनियन्तारं भजे इत्यर्थः । स्मृतिप्रसङ्गात् पूर्वोत्तराध्याययोः विषयविषयिभावसङ्गतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—**प्रथमेऽध्याय** इति । जन्मादिसूत्रमारभ्य जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्मेति प्रतिपादितम्, "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्"

रत्नप्रभाका अनुवाद

केवल उपनिषदोंसे ज्ञात होनेवाले, बुद्धिके साक्षी, सुखदायक, अन्धकारनिवर्तक, सच्चिदानन्दस्वरूप कृष्णके लिए प्रणाम है ॥१॥

सांख्य आदि स्मृतियाँ और युक्तियाँ जिसके स्वरूपको अन्यथा नहीं कर सकतीं, जो केवल वेदान्तसिद्धान्तसे ज्ञात होता है, अनेक प्रकारके अवैदिक शास्त्र जिसका प्रतिपादन नहीं कर सकते, आकाश आदि जगत्के जन्म और नाशका हेतु, जन्म-मरणरहित, ज्ञानस्वरूप, व्यापक, 'नामरूपे व्याकरणवाणि' इस श्रुतिके अनुसार स्वयं नाम और रूपका स्पष्टीकरण करनेवाला होनेपर भी लिङ्गशरीररूप उपाधिसे कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिसे विशिष्ट और परमात्माके अंशके समान भासनेवाले, मूलप्रकृतिके नियन्ता प्रत्यगभिन्न उस परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥
पूर्व और उत्तर अध्यायका विषयविषयिभाव संबन्ध दिखलानेके लिए पूर्वोक्तका अनुवाद करते हैं—"प्रथमेऽध्याये" इत्यादिसे । जन्मादि सूत्रसे लेकर ब्रह्म जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण है, ऐसा प्रतिपादन किया जा चुका है, 'शास्त्र-दृष्ट्या०' इत्यादि सूत्रोंसे वही अद्वितीय ब्रह्म

भाष्य

मायावीव मायायाः । प्रसारितस्य जगतः पुनः स्वात्मन्येवोपसंहारकारणम् अवनिरिव चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य । स एव च सर्वेषां न आत्मेत्येतद् वेदान्तवाक्यसमन्वयप्रतिपादनेन प्रतिपादितम् । प्रधानादिकारणवादाश्चाऽशब्दत्वेन निराकृताः । इदानीं स्वपक्षे स्मृतिन्यायविरोधपरिहारः,

भाष्यका अनुवाद

स्थितिकारण है और जैसे पृथिवी जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणियोंका अपनेमें उपसंहार कर लेती है, वैसे ही सर्वज्ञ सर्वेश्वर विस्तृत जगत्का अपनेमें उपसंहार कर लेता है, इसलिए उपसंहारकारण है। वही (सर्वज्ञ सर्वेश्वर) हम सबका आत्मा है, ऐसा प्रथम अध्यायमें वेदान्तवाक्योंके समन्वय-प्रतिपादनद्वारा कहा जा चुका है और प्रधान आदिको जगत्कारण माननेवालोंके मतका, श्रुतिमें प्रतिपादन न होनेसे, खण्डन किया गया है। अब अपने पक्षमें स्मृति और

रत्नप्रभा

(ब्र० सू० १।१।३१) इत्यादिसूत्रेषु, स एव अद्वितीयः सर्वात्मा इत्युक्तम्, "आनुमानिकमप्येकेषाम्" (ब्र० सू० १।४।१) इत्यादिना कारणान्तरस्य अश्रौतत्वं दर्शितमित्यर्थः। एवं प्रथमाध्यायस्य अर्थमनूद्य तस्मिन् विषये विरोधपरिहारविषयिणं द्वितीयाध्यायस्य अर्थं पादशः संक्षिप्य कथयति—इदानीमिति। अत्र प्रथमपादे समन्वयस्य साङ्ख्यादिस्मृतियुक्तिभिः विरोधपरिहारः क्रियते। द्वितीयपादे सांख्याद्यागमानां भ्रान्तिमूलत्वम् अविरोधाय कथ्यते। तृतीये पादे प्रतिवेदान्तं सृष्टिश्रुतीनां जीवात्मश्रुतीनां च व्योमादिमहाभूतानां जन्मलयक्रमादिकथनेन अविरोधः प्रतिपाद्यते। चतुर्थपादे लिङ्गशरीरश्रुतीनाम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

सबका आत्मा है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है और 'आनुमानिक०' इत्यादिसे ब्रह्मभिन्न कारण श्रुतिप्रतिपादित नहीं हैं, ऐसा दिखलाया गया है। इस प्रकार प्रथम अध्यायके अर्थका अनुवाद करके उसी अर्थके विरोधका परिहार करनेवाले द्वितीय अध्यायके अर्थका पादके क्रमानुसार संक्षेपसे वर्णन करते हैं—"इदानीम्" इत्यादिसे। श्रुतियोंका जो ब्रह्ममें समन्वय किया गया है उसमें सांख्य आदि स्मृतियों और युक्तियोंसे जो विरोध उपस्थित होता है, उसका इस अध्यायके प्रथम पादमें परिहार करते हैं। द्वितीय पादमें अविरोध दिखलानेके लिए सांख्य आदि शास्त्र भ्रान्तिमूलक है, ऐसा प्रतिपादन किया है। तृतीय पादमें प्रतिवेदान्तमें सृष्टिश्रुतियाँ और जीवात्मश्रुतियाँ व्योम आदि भूतोंका जन्म, लयक्रम आदि कहती हैं, इससे उनका अविरोध है, ऐसा दिखलाया है। इसके चतुर्थ पादमें लिङ्गशरीरश्रुतियोंका अविरोध प्रतिपादन किया है।

भाष्य

प्रधानादिवादानां च न्यायाभासोपबृंहितत्वम्, प्रतिवेदान्तं च सृष्ट्यादिप्रक्रियाया अविगीतत्वमित्यस्याऽर्थजातस्य प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते। तत्र प्रथमं तावत् स्मृतिविरोधमुपन्यस्य परिहरति—

भाष्यका अनुवाद

न्यायके विरोधका परिहार, प्रधान आदि कारणवादोंकी भ्रान्तिमूलकता और उपनिषदोंमें उक्त सृष्टि आदि प्रक्रियाका अविरोध इत्यादि विषयोंका प्रतिपादन करनेके लिये दूसरा अध्याय आरंभ किया जाता है। इनमेंसे सबसे पहले स्मृतिविरोधका उपन्यास करके परिहार करते हैं—

रत्नप्रभा

अविरोध इत्यर्थः। अयमेवार्थः सुखबोधार्थं श्लोकेन संगृहीतः—

'द्वितीये स्मृतितर्काभ्यामविरोधोऽन्यदुष्टता।
भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता ॥ १ ॥' इति।

तत्र अज्ञाते विषये विरोधशङ्कासमाध्ययोगात् समन्वयाध्यायानन्तर्यम् अविरोधाध्यायस्य युक्तम्। तत्र प्रथमाधिकरणस्य तात्पर्यमाह—**तत्र प्रथममिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यही विषय सुखपूर्वक ज्ञात होनेके लिए 'द्वितीये स्मृतितर्काभ्या०' (द्वितीय अध्यायमें स्मृति और तर्कसे श्रुतिका अविरोध, अन्य मतोंकी असाधुता, सृष्टिश्रुति, जीवश्रुति और लिङ्गशरीरश्रुतियोंका अविरोध कहा गया है) इस श्लोकमें संगृहीत है। अज्ञात अर्थमें विरोधकी शंका या समाधान युक्त नहीं है, इसलिए समन्वयाध्यायके अनन्तर अविरोधाध्यायका कथन युक्त है। इसमें प्रथम अधिकरणका तात्पर्य कहते हैं—"तत्र प्रथमम्" इत्यादिसे।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

पदच्छेद—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः, इति, चेत्, न, अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्।

पदार्थोक्ति—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः—महर्षिप्रणीतप्रधानकारणवादस्मृतीनामनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात् समन्वयो विरुध्यते, इति चेत्, न—न समन्वयो विरुध्यते, [कुतः] अन्यस्मृत्यनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात्—चेतनकारणवादिनीनामन्यासां स्मृतीनामनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात् [श्रुत्यविरुद्धस्मृतिविरुद्धत्वात् साङ्ख्यस्मृतिरप्रमाणम्]।

भाषार्थ—महर्षिद्वारा रचित प्रधानको जगत्कारण कहनेवाली स्मृतियाँ व्यर्थ हो जायँगी, अतः वेदान्तोंका ब्रह्ममें समन्वय नहीं हो सकता है, ऐसा यदि कहो, तो ब्रह्ममें वेदान्तोंका समन्वय होनेमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि अचेतन प्रधानको कारण माननेपर चेतनको जगत्कारण कहनेवाली स्मृतियाँ निरर्थक हो जायँगी, अतः श्रुतिमूलक स्मृतियोंसे विरुद्ध होनेके कारण सांख्यस्मृति अप्रमाण है।

भाष्य

यदुक्तम्—ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणम् इति, तदयुक्तम्। कुतः? स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्। स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता शिष्टपरिगृहीता, अन्याश्च तदनुसारिण्यः स्मृतयः, ता एवं सत्यनवकाशाः

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह युक्त नहीं है। किससे? स्मृतिके अनवकाशरूप दोषके प्रसङ्गसे। ऐसी अवस्थामें परम ऋषि द्वारा निर्मित और शिष्ट पुरुषों द्वारा स्वीकृत कपिलस्मृति

रत्नप्रभा

श्रौते समन्वये विरोधनिरासार्थत्वादस्य पादस्य श्रुतिशास्त्राध्यायसङ्गतयः। स्वमतस्थापनात्मकत्वात् सर्वेषामधिकरणानामेतत्पादसङ्गतिः। अत्र पूर्वपक्षे स्मृतिविरोधाद् उक्तसमन्वयासिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः। तत्र ब्रह्मणि उक्तवेदान्तसमन्वयो विषयः। स किं सांख्यस्मृत्या विरुध्यते न वेति स्मृतिप्रामाण्याप्रामाण्याभ्यां सन्देहे पूर्वपक्षमाह—**यदुक्तमिति**। तन्त्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते तत्त्वानि अनेनेति तन्त्रम्—शास्त्रं कपिलोक्तम्, अन्याश्च पञ्चशिखादिभिः प्रोक्ताः, एवं सति वेदान्तानामद्वयब्रह्मसमन्वये निरर्थकाः स्युरित्यर्थः। तासामपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतियोंके समन्वयमें होनेवाले विरोधका इस पादमें परिहार किया जाता है, अतः श्रुतिसंगति, शास्त्रसंगति और अध्यायसंगतियाँ हैं। इस पादके सब अधिकरणोंसे अपने मतकी स्थापना की गई है, इसलिए सब अधिकरणोंमें पादसंगति है। यहाँ पूर्वपक्षमें स्मृतिविरोधसे पूर्वाध्यायोक्त समन्वयकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें समन्वयकी सिद्धि फल है, ऐसा समझना चाहिए। यहाँ ब्रह्ममें उक्त वेदान्तोंका जो समन्वय है, वह विषय है। वह सांख्यस्मृतिसे विरुद्ध होता है या नहीं, ऐसा स्मृतिके प्रामाण्य और अप्रामाण्यमें संशय होनेपर पूर्वपक्ष करते हैं—"यदुक्तम्" इत्यादिसे। जिसके द्वारा तत्त्वोंकी व्युत्पत्ति दिखलाई जाय, वह तन्त्र—कपिलका रचा हुआ शास्त्र। अन्य—आसुरि, पञ्चशिख आदिसे रची गई स्मृतियाँ। 'एवं सति' अर्थात् वेदान्तोंका अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वय हो, तो निरर्थक हो जायँगी। यदि

भाष्य

प्रसज्येरन् । तासु ह्यचेतनं प्रधानं स्वतन्त्रं जगतः कारणमुपनिबध्यते । मन्वादिस्मृतयस्तावच्चोदनालक्षणेनाऽग्निहोत्रादिना धर्मजातेनाऽपेक्षितमर्थं समर्पयन्त्यः सावकाशा भवन्ति । अस्य वर्णस्याऽस्मिन् कालेऽनेन विधानेनोपनयनम्, ईदृशश्चाऽऽचारः इत्थं वेदाध्ययनम्, इत्थं समावर्तनम्, इत्थं सहधर्मचारिणीसंयोग इति । तथा पुरुषार्थांश्चतुर्वर्णाश्रमधर्मान् नानाविधान् विदधति । नैवं कपिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति । मोक्षसाधनमेव हि सम्यग्दर्शनमधिकृत्य ताः प्रणीताः । यदि तत्राप्य-

भाष्यका अनुवाद

और तदनुसारिणी दूसरी स्मृतियाँ निरर्थक हो जायँगी, क्योंकि उनमें अचेतन प्रधान जगत् का स्वतंत्ररूपसे कारण कहा गया है । चोदनालक्षण[1] अग्निहोत्र आदि धर्मसमूहसे अपेक्षित अर्थका बोध करानेवाली मनु आदि स्मृतियाँ तो सार्थक हैं, क्योंकि वे अमुक वर्णका अमुक कालमें अमुक विधानसे उपनयन होता है, अमुक वर्णका अमुक आचार, अमुक रीतिसे वेदका अध्ययन, समावर्तन, विवाह होता है, ऐसा [बोध कराती हैं] । उसी प्रकार पुरुषार्थभूत नाना प्रकारके वर्णाश्रम धर्मका विधान करती हैं । कपिल आदि स्मृतियाँ इस प्रकार अनुष्ठानयोग्य विषयमें सावकाश नहीं हैं, क्योंकि मोक्षके साधन तत्त्वज्ञानके उद्देशसे ही उनकी रचना हुई है । यदि उसमें भी वे अवकाशरहित

रत्नप्रभा

ब्रह्मार्थकत्वम् अस्तीति अविरोध इत्यत आह—तासु हीति । ननु सांख्यस्मृतिप्रामाण्याय प्रधानवादग्रहे मन्वादिस्मृतीनाम् अप्रामाण्यं स्यादित्याशङ्क्य तासां धर्मे सावकाशत्वात् प्रामाण्यं स्यादित्याह—मन्वादीति । तर्हि सांख्यादिस्मृतीनामपि धर्मे तात्पर्येण प्रामाण्यमस्तु, तत्त्वं तु ब्रह्मैवेति अविरोध इत्यत आह—नैवमिति । तत्त्वे विकल्पनानुपपत्तेः निरवकाशस्मृत्यनुसारेण श्रुतिव्याख्यानम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

कोई कहे कि उन स्मृतियोंमें भी ब्रह्म ही प्रतिपादित है, इसलिए विरोध नहीं है, तो इसपर कहते हैं—"तासु हि" इत्यादि । सांख्यस्मृतिको प्रमाण माननेके लिए यदि प्रधानकारणवादका स्वीकार करें तो मनु आदि स्मृतियाँ अप्रमाण हो जायँगी, ऐसी आशंका करके वे स्मृतियाँ धर्मका प्रतिपादन करती हैं, इसलिए सावकाश होनेके कारण प्रमाण हैं, ऐसा कहते हैं—"मन्वादि" इत्यादिसे । तब सांख्यस्मृतिका भी धर्ममें तात्पर्य मानकर प्रमाण मानो, तत्त्व तो ब्रह्म ही है, इसलिए कोई विरोध नहीं है, इसपर कहते हैं—"नैवम्" इत्यादि । तत्त्वमें विकल्प नहीं हो

(१) प्रेरणा जिनका लक्षण है ।

भाष्य

नवकाशाः स्युः, अनर्थक्यमेवासां प्रसज्येत । तस्मात् तदविरोधेन वेदान्ता व्याख्यातव्याः । कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमित्यवधारितः श्रुत्यर्थः स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेन पुनराक्षिप्यते ? भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्रप्रज्ञानाम् । परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकासु स्मृतिष्ववलम्बेरन् । तद्बलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन् । अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्बहुमानात् स्मृतीनां प्रणेतृषु । कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं

भाष्यका अनुवाद

हों, तो वे निरर्थक ही हो जायँगी ? इसलिए जैसे उनके साथ विरोध न हो, उस प्रकार वेदान्तोंका व्याख्यान करना चाहिए। परन्तु ईक्षण आदि हेतुओंसे सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है, इस प्रकार सुनिर्णीत श्रतिके अर्थका स्मृतिके अनवकाशरूप दोषके प्रसंगसे फिर क्यों आक्षेप किया जाता है ? जिनकी बुद्धि स्वतंत्र है, उनके लिए यह आक्षेप नहीं है, परन्तु प्रायः मनुष्य परतंत्रबुद्धि होते हैं, इसलिए वे स्वतंत्रतासे श्रुतिके अर्थका निर्णय नहीं कर सकते, अतः प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा रचित स्मृतियोंका अवलम्बन करेंगे और उन्हींके बलसे श्रुतिका अर्थ जानना चाहेंगे। स्मृतियोंके रचयिताओंपर आदर होनेके कारण हमारे व्याख्यानपर विश्वास न करेंगे। स्मृति कहती है कि कपिल आदिका ज्ञान आर्ष और अप्रतिहत है।

रत्नप्रभा

उचितम्, सावकाशनिरवकाशयोः निरवकाशं बलीय इति न्यायादित्याह—तस्मादिति। श्रुतिविरोधे स्मृत्यप्रामाण्यस्य इष्टत्वात् पूर्वपक्षो न युक्त इति शङ्कते—कथमिति। ये स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थं ज्ञातुं शक्नुवन्ति, तेषामयं पूर्वपक्षो न भवेत्, साङ्ख्यवृद्धेषु श्रद्धालूनां तु भवेदित्याह—भवेदिति। तेषाम् अतीन्द्रियार्थज्ञान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकता है, इसलिए निरवकाश स्मृतिके अनुसार श्रुतिका व्याख्यान करना युक्त है, क्योंकि सावकाश[1] और निरवकाशोंमें निरवकाश विशेष बलवान् होता है, ऐसा न्याय है, ऐसा कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। श्रुतिके साथ विरोध हो, तो स्मृतिको अप्रमाण मानना इष्ट है, इसलिए पूर्वपक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। जो लोग स्वतन्त्र रीतिसे श्रुतिके अर्थको जाननेमें समर्थ हैं, उनके लिए यह पूर्वपक्ष नहीं, परन्तु सांख्यवृद्धोंमें जिनकी श्रद्धा है, उनके लिए तो यह पूर्वपक्ष हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"भवेत्" इत्यादिसे।

(१) अवकाशवाली।

भाष्य

स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५।२) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं सम्भावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन च तेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति। तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः।

तस्य समाधिः नाऽन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः

भाष्यका अनुवाद

'ऋषिं प्रसूतं कपिलं०' (जिसने आरम्भमें उत्पन्न किये हुए कपिल ऋषिको उत्पन्न होनेके अनन्तर स्थिति कालमें ज्ञान देकर पुष्ट किया, उस ईश्वरका दर्शन करना चाहिए) ऐसी श्रुति भी है। इसलिए उनके मतको अयथार्थ कहना युक्त नहीं है। और ये तर्कके अवलम्बनसे अपना अर्थ स्थापन करते हैं, इसलिए भी स्मृतिके बलसे वेदान्तोंका व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा फिर आक्षेप होता है।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अन्य स्मृतियाँ निरर्थक हो जायँगी। यदि सांख्यस्मृतिकी निरर्थकताके भयसे ईश्वर कारणवादका

रत्नप्रभा

वत्त्वाच्च तत्र श्रद्धा स्यादित्याह—कपिलप्रभृतीनां चेति।

'आदौ यो जायमानं च कपिलं जनयेदृषिम्।

प्रसूतं बिभृयाज्ज्ञानैस्तं पश्येत् परमेश्वरम् ॥१॥' इति श्रुतियोजना।

यथा साङ्ख्यस्मृतिविरोधाद् ब्रह्मवादस्त्याज्य इति त्वया उच्यते, तथा स्मृत्यन्तरविरोधात् प्रधानवादः त्याज्य इति मया उच्यते इति सिद्धान्तयति—तस्य समाधिरिति। तस्मात्—ब्रह्मणः सकाशाद् अव्यक्तम्—मायया लीनम्, सूक्ष्मा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कपिल आदिको अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान होता है, इसलिए उनमें श्रद्धा हो सकती है, ऐसा कहते हैं—"कपिलप्रभृतीनां च" इत्यादिसे। 'आदौ यो········परमेश्वरम्' (जिसने आरम्भमें उत्पन्न किये हुए कपिल ऋषिको उत्पन्न होनेके अनन्तर ज्ञान देकर पुष्ट किया, उस परमात्माका दर्शन करना चाहिए) 'ऋषिं प्रसूतं०' इत्यादि श्रुतिकी ऐसी योजना करनी चाहिए।

जैसे तुम सांख्य स्मृतिके विरोधसे ब्रह्मवाद को त्याज्य बतलाते हो, उसी प्रकार हम भी अन्य स्मृतियोंके विरोधसे प्रधानवादको त्याज्य कहते हैं, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"तस्य समाधिः" इत्यादिसे। तस्माद्—ब्रह्मसे, अव्यक्तम्—मायामें लीन सूक्ष्मरूप जगत्।

भाष्य

स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन् । ता उदाहरिष्यामः—'यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्' इति परं ब्रह्म प्रकृत्य 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह । तथाऽन्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे संप्रलीयते' इत्याह ।

'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः ।
स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥'

इति पुराणे । भगवद्गीतासु च—

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।'

(भ०गी०७।६) इति । परमात्मानमेव च प्रकृत्याऽऽपस्तम्बः पठति—

'तस्मात् कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः ।

भाष्यका अनुवाद

आक्षेप किया जाय तो ईश्वर जगत् का कारण है, ऐसा कहनेवाली दूसरी स्मृतियाँ निरर्थक हो जायँगी। उनको उद्धृत करते हैं—'यत्तत्सूक्ष्म०' (जो सूक्ष्म अविज्ञेय है) इस प्रकार परब्रह्मको प्रस्तुत करके 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां०' (वह निश्चय प्राणियोंका अन्तरात्मा और क्षेत्रज्ञ कहलाता है) ऐसा कहकर 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं' (हे द्विजश्रेष्ठ ! उससे तीन गुणवाला अव्यक्त उत्पन्न हुआ) ऐसा कहते हैं। उसी प्रकार दूसरे स्थलोंमें भी 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्०' (हे ब्रह्मन् ! निर्गुण पुरुषमें अव्यक्त लीन होता है) ऐसा निरूपण किया गया है। पुराणमें भी 'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं०' (इसलिए तुम यह संक्षेपसे सुनो यह सम्पूर्ण प्रपंच पुराण पुरुष नारायणरूप है। वह सृष्टिकालमें सबको उत्पन्न करता है और संहार कालमें सबका विनाश करता है) ऐसा कहा है। 'अहं कृत्स्नस्य जगतः०' (मैं सम्पूर्ण जगत्का निर्माता और संहारकर्ता हूँ) ऐसा भगवद्गीतामें भी है। परमात्माको प्रस्तुत करके ही आपस्तम्ब कहते हैं—'तस्मात् कायाः प्रभवन्ति

रत्नप्रभा

त्मकं जगत् इति यावत् । इतिहासवाक्यानि उक्त्वा पुराणसम्मतिमाह—**अतश्चेति** । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः—जन्महेतुः । प्रलीयतेऽस्मिन्निति प्रलयः—लयाधिष्ठानम् । तस्मात्—कर्तुरीश्वरात्, कायाः—ब्रह्मादयः प्रभवन्ति स एव मूल-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इतिहास वाक्योंको कहकर पुराण सम्मति कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। प्रभवः—उत्पत्तिका कारण। प्रलयः—लयका अधिष्ठान। तस्मात्—कर्ता ईश्वरसे, कायाः—ब्रह्मासे

भाष्य

(ध०सू०१।८।२३।२) इति एवमनेकशः स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते। स्मृतिबलेन प्रत्यवतिष्ठमानस्य स्मृतिबलेनैवोत्तरं प्रवक्ष्यामीत्यतोऽयमन्यस्मृत्यनवकाशदोषोपन्यासः। दर्शितं तु श्रुतीनामीश्वरकारणवादं प्रति तात्पर्यम्। विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम्, अनपेक्ष्या इतराः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'

भाष्यका अनुवाद

सर्वे०' (उस ईश्वरसे सब शरीर उत्पन्न होते हैं, वह उपादान है, कूटस्थ है और नित्य है)। इस प्रकार अनेक रीतिसे स्मृतियोंमें ईश्वर निमित्त और उपादानरूपसे वर्णित है। स्मृतिबलसे विरोध करनेवालेको स्मृतिबलसे ही उत्तर दूँगा, ऐसा सोचकर अन्य स्मृतिके अनवकाशरूप दोषका उपन्यास किया है। श्रुतियोंका तात्पर्य ईश्वर कारणवादमें है, ऐसा दिखलाया गया है। और स्मृतियोंके विरोधमें एकका ग्रहण और अन्यका त्याग अवश्य कर्तव्य होनेसे श्रुतिका अनुसरण करनेवाली स्मृतियाँ प्रमाण हैं और अन्य स्मृतियाँ अप्रमाण हैं, क्योंकि प्रमाण लक्षणमें कहा है—'विरोधे त्वनपेक्षं०' (श्रुतिके साथ विरोध हो, तो स्मृतिका प्रामाण्य त्याज्य है, विरोध न हो, तो श्रुतिका अनुमान

रत्नप्रभा

मुपादानम्। किं परिणामी? न, शाश्वतिकः कूटस्थः। अतः स नित्य इत्यर्थः। ननु श्रुतिविरोधः किमिति नोक्त इत्यत आह—स्मृतिबलेनेति। स्मृतीनां मिथो विरोधे कथं तत्त्वनिर्णयस्तत्राऽऽह—दर्शितन्त्विति। श्रुतिभिरेव तत्त्वनिर्णय इत्यर्थः। स्मृतीनां का गतिरित्यत आह—विप्रतिपत्तौ चेति। वस्तुतत्त्वे स्मृतीनां मिथो विरोधे वस्तुनि विकल्पायोगात् क्लृप्तश्रुतिमूलाः स्मृतयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

लेकर स्तम्बपर्यन्त देह उत्पन्न होते हैं, वही मूल—उपादानकारण है। क्या परमात्मा परिणामी है? नहीं, कूटस्थ है इसलिए वह नित्य है। यदि कोई कहे कि सांख्यस्मृतिसे श्रुतिका विरोध है, ऐसा क्यों नहीं कहा, इसपर कहते हैं—"स्मृतिबलेन" इत्यादि। स्मृतियोंमें परस्पर विरोध हो, तो निर्णय किस प्रकार करना चाहिए, इसपर कहते हैं—"दर्शितं तु" इत्यादि। श्रुतियोंसे ही तत्त्वका निर्णय करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। तब स्मृतियोंकी क्या गति है, इसपर कहते हैं—"विप्रतिपत्तौ च" इत्यादि। आशय यह कि यदि पदार्थकी यथार्थतामें स्मृतियोंका परस्पर विरोध हो, तो वस्तुका विकल्प तो नहीं हो सकता, इसलिए

भाष्य

(जै०सू० १।३।३) इति। न चाऽतीन्द्रियानर्थान् श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभत इति शक्यं संभावयितुम्, निमित्ताभावात्। शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वादिति चेत्, न; सिद्धेरपि सापेक्षत्वात्। धर्मा-

भाष्यका अनुवाद

होता है)। श्रुति प्रमाणको छोड़कर अन्य प्रमाणोंसे किसीको अतीन्द्रिय अर्थका ज्ञान होता है, ऐसी संभावना नहीं की जा सकती, क्योंकि कोई निमित्त नहीं है। अप्रतिहत ज्ञान होनेके कारण कपिल आदि सिद्धोंको अतीन्द्रियार्थका ज्ञान होता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि सिद्धि भी सापेक्ष है। सिद्धिको धर्मके अनुष्ठानकी

रत्नप्रभा

प्रमाणम्, इतरास्तु कल्प्यश्रुतिमूला न प्रमाणमित्यर्थः। क्लृप्तश्रुतिविरोधे स्मृतिर्न प्रमाणमित्यत्र जैमिनीयन्यायमाह—**तदुक्तमिति**। "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेद्" इति प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धा "सा सर्वा वेष्टयितव्या" इति स्मृतिर्मानं न वेति सन्देहे मूलश्रुत्यनुमानाद् मानमिति प्राप्ते, सिद्धान्तः—क्लृप्तश्रुतिविरोधे स्मृतिप्रामाण्यम् अनपेक्षम्—अपेक्षाशून्यम्, हेयमिति यावत्। हि यतः असति विरोधे श्रुत्यनुमानं भवति, अत्र तु विरोधे सति श्रुत्यनुमानायोगाद् मूलाभावात् सर्ववेष्टनस्मृतिरप्रमाणमित्यर्थः। अस्तु साङ्ख्यस्मृतिः प्रत्यक्षमूला इत्यत आह—**न चेति**। योगिनां सिद्धिमहिम्नाऽतीन्द्रियज्ञानं सम्भावयितुं शक्यमिति शङ्कते—**शक्यमिति**। कपिलादिभिः किलाऽऽदौ वेदप्रामाण्यं निश्चित्य तदर्थस्य धर्मस्याऽ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपलब्ध श्रुति जिनका मूल है, वे स्मृतियाँ ही प्रमाण हैं, अनुमेय श्रुति जिनका मूल है, वे प्रमाण नहीं है। उपलब्ध श्रुतिसे विरोध हो, तो स्मृति प्रमाण नहीं हो सकती, इसमें जैमिनिका न्याय कहते हैं—"तदुक्तम्" इत्यादिसे। 'औदुम्बरीं०' (उद्गाता गूलर वृक्षकी शाखाको स्पर्श करके सामवेद गावे) इस प्रत्यक्ष श्रुतिसे विरुद्ध 'सा सर्वा०' (उसका पूर्ण वेष्टन करना चाहिए) यह स्मृति प्रमाण है या नहीं ऐसा संशय होनेपर मूल श्रुतिका अनुमान होनेसे स्मृति प्रमाण है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहते हैं—उपलब्ध श्रुतिके साथ स्मृतिका विरोध हो, तो वह स्मृति प्रमाण नहीं है, किन्तु त्याज्य है, क्योंकि विरोध न हो तो श्रुतिका अनुमान होता है, यहाँ प्रत्यक्ष श्रुतिसे विरोध होनेके कारण श्रुतिका अनुमान नहीं हो सकता है, इसलिए मूल न होनेसे सर्ववेष्टन स्मृति अप्रमाण है, ऐसा अर्थ है। तब सांख्यस्मृति प्रत्यक्षमूलक हो, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। योगियोंकी सिद्धिमहिमासे अतीन्द्रियपदार्थके ज्ञानकी संभावना कर सकते हैं, ऐसी शंका करते हैं—"शक्यम्" इत्यादिसे। कपिल आदि ऋषियोंने

भाष्य

नुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः। स च धर्मश्चोदनालक्षणः। ततश्च पूर्वसिद्धायाश्चोदनाया अर्थो न पश्चिमसिद्धपुरुषवचनवशेनाऽतिशङ्कितुं शक्यते। सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात् सिद्धानां प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृतिविप्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुतिव्यपाश्रयादन्यन्निर्णयकारणमस्ति। परतन्त्रप्रज्ञ-

भाष्यका अनुवाद

अपेक्षा है और वह धर्म प्रेरणालक्षण है। इसलिए पूर्वसिद्ध प्रेरणाके अर्थका अनन्तरसिद्ध पुरुषके वचनबलसे आक्षेप नहीं किया जा सकता। सिद्धोंके वचनका आश्रय करके वेदार्थकी कल्पनामें भी सिद्ध बहुत होनेसे उक्त रीतिसे स्मृतियोंका विरोध होनेपर श्रुतिके सिवा दूसरा निर्णायक कोई नहीं है। परतंत्र-

रत्नप्रभा

नुष्ठानेन सिद्धिः सम्पादिता, तया सिद्धया प्रणीतस्मृत्यनुसारेणाऽनादिश्रुतिपीडा न युक्ता उपजीव्यविरोधादिति परिहरति—**न सिद्धेरपीति। अतिशङ्कितुमिति।** श्रुतीनां मुख्यार्थमतिक्रम्य उपचरितार्थत्वं शङ्कितुं न शक्यते इत्यर्थः। स्वतः सिद्धेर्वेदो नोपजीव्य इति चेत्, न, अनीश्वरस्य स्वतःसिद्धौ मानाभावात्। अङ्गीकृत्याऽप्याह—**सिद्धेति।** सिद्धानां वचनमाश्रित्य वेदार्थकल्पनायामपि सिद्धोक्तीनां मिथो विरोधे श्रुत्याश्रितमन्वाद्युक्तिभिः एव वेदार्थनिर्णयो युक्त इत्यर्थः। श्रुतिरूपाश्रयं विना सिद्धोक्तिमात्रं न तत्त्वनिर्णयकारणमिति अक्षरार्थः। ननु मन्दमतेः सांख्यस्मृतौ श्रद्धा भवति, तस्य मतिः वेदान्तमार्गे कथमानेया

रत्नप्रभाका अनुवाद

आरंभमें वेदका प्रमाण्य निश्चय करके वेदके अर्थ धर्मके अनुष्ठानसे सिद्धि प्राप्त की, उस सिद्धिसे रचित स्मृतिके अनुसार अनादि सिद्ध श्रुतिका बाध करना युक्त नहीं है, क्योंकि उपजीव्यका विरोध होता है, ऐसा परिहार करते हैं—"न सिद्धेरपि" इत्यादिसे। "अतिशङ्कितुम्" इत्यादि। श्रुतियोंके मुख्य अर्थका अतिक्रमण करके गौण अर्थकी शंका करना युक्त नहीं है, ऐसा अर्थ है। परन्तु कपिल आदि स्वयंसिद्ध हैं, उनकी सिद्धिके प्रति वेद आधारभूत नहीं है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि ईश्वरके सिवा और किसीके स्वतःसिद्ध होनेमें प्रमाण नहीं है। कपिल आदिको स्वतःसिद्ध अंगीकार करके भी कहते हैं—"सिद्ध" इत्यादि। सिद्धोंकी उक्तियोंके अनुसार श्रुतिके अर्थकी कल्पना करें, तो सिद्धोंकी उक्तियोंमें परस्पर विरोध होनेपर श्रुतिमूलक मनु आदिका उक्तियोंसे ही वेदके अर्थका निर्णय करना युक्त है, ऐसा अर्थ है। श्रुतिरूप आश्रयके बिना सिद्धोक्तिमात्र तत्त्वके निर्णयका कारण नहीं है, ऐसा अक्षरार्थ है। परन्तु सांख्यस्मृतियोंमें श्रद्धा रखनेवाले मन्दमतिकी वेदान्तमार्गमें प्रवृत्ति किस प्रकार करानी

भाष्य

स्याऽपि नाऽकस्मात् स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः। कस्यचित् क्वचित् पक्षपाते सति पुरुषमतिवैश्वरूप्येण तत्त्वाव्यवस्थानप्रसङ्गात्। तस्मात् तस्यापि स्मृतिविप्रतिपत्त्युपन्यासेन श्रुत्यनुसारानुसारविषयविवेचनेन च सन्मार्गे प्रज्ञा संग्रहणीया। या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्याऽसाध-

भाष्यका अनुवाद

बुद्धि पुरुषोंका भी अकस्मात् किसी विशेष स्मृतिके ऊपर पक्षपात होना युक्त नहीं है, क्योंकि किसी एकका किसीमें पक्षपात होनेपर पुरुषबुद्धिवैचित्र्यसे तत्त्वकी अव्यवस्था हो जायगी। इसलिए स्मृतियोंके विरोधका उपन्यास करके यह स्मृति श्रुतिका अनुसरण करती है, यह श्रुतिका अनुसरण नहीं करती इस प्रकार विवेचन करके उसकी भी बुद्धि सन्मार्गमें लानी चाहिए। कपिलका अतिशय ज्ञान दिखानेवाली जो श्रुति कही गई है, उससे श्रुतिविरुद्ध कपिल मतमें श्रद्धा नहीं की जा सकती, क्योंकि सांख्य प्रणेता कपिल और श्रुत्युक्त कपिलमें केवल शब्दसादृश्य है। और सगरके पुत्रोंको जलानेवाला वासुदेव नामक अन्य कपिल भी स्मृतिमें प्रसिद्ध है। अन्य प्रमाणसे प्राप्त न होनेवाले अन्यार्थ जो

रत्नप्रभा

इत्यत आह—**परतन्त्रेत्यादिना**। ननु श्रुत्या कपिलस्य सर्वज्ञत्वोक्तेः तन्मते श्रद्धा दुर्वारा इत्यत आह—**या त्विति**। कपिलशब्दमात्रेण सांख्यकर्ता श्रौत इति भ्रान्तिः अयुक्ता, तस्य द्वैतवादिनः सर्वज्ञत्वायोगाद्। अत्र च सर्वज्ञानसम्भृतत्वेन श्रुतः कपिलो वासुदेवांश एव। स हि सर्वात्मत्वज्ञानं वैदिकं सांख्यम् उपदिशतीति सर्वज्ञ इति भावः। प्रतप्तुः—प्रदाहकस्य। किञ्च, यः कपिलं

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए, इसपर कहते हैं—'परतन्त्र' इत्यादिसे। परन्तु श्रुतिमें कपिल सर्वज्ञ कहा गया है, इसलिए उसके मतमें श्रद्धा होना दुर्वार है, इसपर कहते हैं—''या तु'' इत्यादि। कपिल इस शब्दमात्रसे सांख्यकर्ता कपिल श्रुतिप्रतिपादित है, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि द्वैतवादी कपिलका सर्वज्ञ होना संभव नहीं है। श्रुतिमें प्रतिपादित, सर्वज्ञानसे परिपूर्ण कपिल वासुदेवका अंश ही है। वह सर्वात्मत्वज्ञानरूप वैदिक सांख्यका उपदेश करता है, इसलिए वह सर्वज्ञ है, ऐसा समझना चाहिए। प्रतप्ता—दाहक। और जो ईश्वर ज्ञानसे कपिलका

भाष्य

कत्वात्। भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद् भेषजम्' (तै० सं० २।२।१०।२) इति। मनुना च—

'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥' (१२।९१)

इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्द्यत इति गम्यते। कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते, आत्मभेदाभ्युपगमात्। महाभारतेऽपि च 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' इति विचार्य

भाष्यका अनुवाद

अनुवाद है, वह स्वार्थसाधक नहीं हो सकता। और 'यद्वै किञ्च मनु०' (जो कुछ मनुने कहा है, वह औषध है) ऐसा मनुका माहात्म्य बतलानेवाली दूसरी श्रुति है। 'सर्वभूतेषु चात्मानं०' (सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखनेवाला आत्मयाजी[1] स्वराज्यको[2] प्राप्त करता है) इस प्रकार आत्माको सर्वस्वरूप समझनेवालेकी ही प्रशंसा करते हुए मनुने कपिलके मतकी निन्दा की है, ऐसा प्रतीत होता है। आत्मा सर्वस्वरूप है, इस दर्शनमें कपिलकी अनुमति नहीं है, क्योंकि वह आत्माका भेद स्वीकार करता है। महाभारतमें भी 'बहवः

रत्नप्रभा

ज्ञानैः बिभर्ति तमीश्वरं पश्येदिति विधीयते, तथा चाऽन्यार्थस्य ईश्वरप्रतिपत्तिशेषस्य कपिलसर्वज्ञत्वस्य दर्शनमनुवादः तस्य मानान्तरेण प्राप्तिशून्यस्य स्वार्थसाधकत्वायोगात् न अनुवादमात्रात् सर्वज्ञत्वसिद्धिरित्याह—अन्यार्थेति। द्वैतवादिनः कपिलस्य श्रौतत्वं निरस्य ब्रह्मवादिनो मनोः श्रौतत्वमाह—भवति चेति। इतिहासेऽपि कापिलमतनिन्दापूर्वकम् अद्वैतं दर्शितमित्याह—महाभारतेऽपीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पोषण करता है, उसके दर्शनका विधान है। वहाँ ईश्वरज्ञानके अंगभूत जो कपिलका सर्वज्ञत्व है, उसका दर्शन अर्थात् अनुवाद है। इस प्रकार यह सर्वज्ञत्व अन्यार्थक—ईश्वरज्ञानका अंग है और वह किसी अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं होता, इसलिए वह स्वार्थ साधक हो, यह युक्त नहीं है, इसलिए अनुवादमात्रसे सर्वज्ञत्वसिद्धि नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अन्यार्थ" इत्यादिसे। द्वैतवादी कपिलके मतमें श्रुतिमूलकताका निराकरण करके अद्वैतवादी मनुके मतको श्रुतिमूलक कहते हैं—"भवति च" इत्यादिसे। इतिहासमें भी कपिलमतकी निन्दापूर्वक अद्वैत दिखलाया

(१) ब्रह्मार्पणन्यायसे ज्योतिष्टोम आदि करनेवाला।
(२) ब्रह्मत्व, 'स्वेन राजते इति स्वराट् तस्य भावस्तत्ता'।

भाष्य

'बहवः पुरुषा राजन् सांख्ययोगविचारिणाम्' इति परपक्षमुपन्यस्य तद्व्युदासेन—

'बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते।
तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम्।'

इत्युपक्रम्य—

'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित्॥
विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः।

भाष्यका अनुवाद

पुरुषा०' (हे ब्रह्मन्! आत्मा बहुत हैं या एक ही है) ऐसा विचार कर 'बहवः पुरुषा राजन्०' (हे राजन्! सांख्य और योग दर्शनवालोंके मतमें आत्मा बहुत हैं) ऐसा परपक्षका उपन्यास करके उसका निरूपण करते हुए 'बहूनां पुरुषाणां हि यथैका०' (जैसे बहुत पुरुषाकार देहोंकी एक पृथिवी उपादान कहलाती है, वैसे ही जो उपादान होनेसे सर्वात्मक और सर्वगुणसम्पन्न उस आत्माको कहूँगा) ऐसा उपक्रम करके 'ममान्तरात्मा तव च०' (मेरा और तुम्हारा जो अन्तरात्मा है और जो अन्य आत्माएँ हैं, उन सबका वह साक्षिभूत है। कहीं भी कोई भी उसका ग्रहण नहीं कर सकता। सब सिर उसीके हैं, सब भुजाएँ उसीकी हैं, सब पाद उसके ही हैं,

रत्नप्रभा

पुरुषाः आत्मानः किं वस्तुतो भिन्नाः उत सर्वदृश्यानां प्रत्यगात्मा एक इति विमर्शार्थः। बहूनां पुरुषाकाराणां देहानां यथैका योनिः उपादानं पृथ्वी, तथा तं पुरुषम् आत्मानं विश्वं सर्वोपादानत्वेन सर्वात्मकं सर्वज्ञत्वादिगुणैः सम्पन्नं कथयिष्यामि। विश्वे सर्वे लोकप्रसिद्धा देवतिर्यङ्मनुष्यादीनां मूर्धानोऽस्यैवेति विश्वमूर्धा, एकस्यैव सर्वक्षेत्रेषु प्रतिबिम्बभावेन प्रविष्टत्वात्। एवं विश्वभुजत्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

गया है, ऐसा कहते हैं—"महाभारतेऽपि" इत्यादिसे। पुरुष अर्थात् आत्मा क्या वस्तुतः भिन्न है या सब दृश्य पदार्थोंका प्रत्यगात्मा एक ही है, यह संशयका अर्थ है। जैसे बहुत पुरुषाकार देहोंकी एक पृथिवी उपादान है, वैसे ही जो सबका उपादान होनेसे सर्वात्मक है और सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे संपन्न है उस आत्माको आगे कहेंगे। विश्व—सब लोकप्रसिद्ध देव, पशु, मनुष्य आदिके मस्तक जिसके हैं, वह 'विश्वमूर्धा' है, क्योंकि एक ही सब क्षेत्रोंमें प्रतिबिम्बभावसे प्रविष्ट है। उसी प्रकार 'विश्वभुजः' इत्यादिका अर्थ है। सब भूतोंमें एक ही चरता—जानता

भाष्य

एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥'
इति सर्वात्मतैव निर्धारिता। श्रुतिश्च सर्वात्मतायां भवति—
'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥'
(ई० ७) इत्येवंविधा। अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कापिलस्य तन्त्रस्य वेदविरुद्धत्वं वेदानुसारिमनुवचनविरुद्धत्वं च, न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति। वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूप-

भाष्यका अनुवाद

आंखें और नासिकाएँ उसीकी हैं। अकेला स्वैरचारी—स्वतंत्र, सुखस्वरूप भूतोंमें विचरता है अर्थात् उनको जानता है) इससे सर्वात्मता ही निर्धारित की गई है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवा०' (ज्ञानकालमें सब भूत आत्मा ही हैं, ऐसा जाननेवाले, एवं एकत्वदर्शीके लिए क्या मोह और क्या शोक है) इस प्रकारकी श्रुति भी सर्वात्मता दिखलाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि केवल स्वतंत्र प्रधानकी कल्पनासे ही नहीं किन्तु आत्मभेदकी कल्पनासे भी कापिलतंत्र वेदविरुद्ध है, और वेदानुसारी मनुवचनसे भी विरुद्ध है, क्योंकि जैसे रविका रूपके विषयमें

रत्नप्रभा

दियोजना। सर्वभूतेषु एकः चरति—अवगच्छति—सर्वज्ञ इत्यर्थः। स्वैरचारी-स्वतन्त्रः। नाऽस्य नियन्ता कश्चिदस्ति। सर्वेश्वर इत्यर्थः। यथासुखमिति। विशोकानन्दस्वरूप इति यावत्। कापिलतन्त्रस्य वेदमूलस्मृतिविरोधमुक्त्वा साक्षाद् वेदविरोधमाह—श्रुतिश्चेति। यस्मिन्—ज्ञानकाले। केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैव वेदविरुद्धं न, किन्तु आत्मभेदकल्पनयाऽपीति सिद्धमिति सम्बन्धः। स्मृतिविरोधे वेदस्यैव अप्रामाण्यं किं न स्यादित्यत आह—वेदस्य हीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है अर्थात् सर्वज्ञ है। स्वैरचारी—स्वतंत्र, जिसका कोई नियन्ता नहीं है अर्थात् सर्वेश्वर। ''यथासुखम्''—शोकरहित आनन्दस्वरूप। कपिलस्मृति वेदमूलक स्मृतियोंसे विरुद्ध है, ऐसा कहकर साक्षात् वेदसे भी विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं—''श्रुतिश्च'' इत्यादिसे। 'यस्मिन्'—जिस ज्ञानकालमें। सांख्य स्मृति केवल स्वतन्त्र प्रकृतिकी कल्पनासे ही वेदविरुद्ध नहीं है, किन्तु आत्मभेदकल्पनासे भी उसकी वेदविरुद्धता सिद्ध होती है, ऐसा संबन्ध है। स्मृतिके साथ विरोध होनेपर वेद ही अप्रमाण क्यों न मान लिया जाय, इसपर कहते हैं—''वेदस्य हि'' इत्यादि। वेदका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, क्योंकि वह अपौरुषेय है।

भाष्य

विषये । पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृस्मृतिव्यवहितं चेति विप्रकर्षः । तस्माद् वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गो न दोषः ॥ १ ॥

कुतश्च स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गो न दोषः—

भाष्यका अनुवाद

निरपेक्ष प्रामाण्य है, वैसे ही अपने अर्थमें वेदका प्रामाण्य निरपेक्ष है। और पुरुषवचनोंका प्रामाण्य अन्य मूलकी अपेक्षा रखता है और उसमें वक्ताकी अर्थ स्मृतिका व्यवधान है, इस प्रकार दोनोंमें बहुत भेद है। इसलिए वेदविरुद्ध विषयमें स्मृतिका अनवकाशप्रसंग दोष नहीं है ॥१॥

और किस कारण स्मृत्यनवकाशप्रसङ्ग दोष नहीं है?

रत्नप्रभा

वेदस्य प्रामाण्यं स्वतःसिद्धम्, अपौरुषेयत्वात् । पौरुषेयवाक्यानां स्वार्थस्मृतितन्मूलानुभवयोः कल्पनया प्रामाण्यं ज्ञेयमिति व्यवहितं परतः प्रामाण्यमिति विप्रकर्षः । श्रुतिस्मृत्योः विशेष इत्यक्षरार्थः । समयोः विरोधे हि निरवकाशेन सावकाशं बाध्यम् । इह स्वतःपरतःप्रामाण्ययोः वैषम्याद् झटिति निश्चितप्रामाण्येन चाऽनुपसंजातविरोधिना वेदवाक्येन विरुद्धस्मृतेः एव बाध इति भावः । **तस्मादिति** । विशेषादित्यर्थः । भ्रान्तिमूलत्वसम्भवादिति भावः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और पौरुषेयवाक्योंका प्रामाण्य तो उनके अर्थकी स्मृति और उस स्मृतिका मूल जो अनुभव इन दोनोंकी कल्पनासे समझा जाता है, इसलिए यह परतः प्रामाण्य है[1] और व्यवहित है अर्थात् स्मृति और अनुभवका व्यवधान है, इस प्रकार श्रुति और स्मृतिमें महान् अन्तर है, यह अक्षरार्थ है। तुल्य बलवालोंके विरोधमें निरवकाशसे सावकाशका बाध होता है। यहाँ तो स्वतःप्रामाण्य (वेदका) और परतः प्रामाण्य (स्मृतिका) ये दोनों विषम हैं, अतः जिसका प्रामाण्य निश्चित है और जिसका कोई विरोधी नहीं है, उस वेदवाक्यसे तद्विरुद्ध स्मृतिका ही बाध होता है। 'तस्माद्'—विशेष-भेद है इसलिए अर्थात् स्मृतिमें भ्रान्तिमूलकत्वका संभव है इसलिए ॥१॥

(१) जिन वाक्योंकी रचना अर्थज्ञानपूर्वक होती, वे वाक्य पौरुषेय कहलाते हैं। वेद यद्यपि ईश्वरोच्चारित है, तो भी अर्थज्ञानपूर्वक रचित नहीं है, इसलिए स्वतः प्रमाण है। सांख्य आदि स्मृतियाँ तो अर्थज्ञानपूर्वक रचित हैं। कपिल आदिने अर्थका स्मरण करके ही तदनुसार वाक्यकी रचना की है। स्मरण अनुभवपूर्वक होता है। अतः पूर्वानुभव और उस अनुभवसे उत्पन्न संस्कारसे संभूत स्मरणद्वारा कल्पित होनेके कारण स्मृतियाँ परतः प्रमाण हैं। स्मृतिके प्रामाण्यके निश्चयके लिए स्मृति और अनुभवकी कल्पना होनेके समय ही स्वतः प्रमाण श्रुतिके अर्थका निश्चय हो जाता है, इसलिए श्रुतिसे स्मृति बाधित हो जाती है।

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

पदच्छेद—इतरेषां, च, अनुपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—इतरेषां—साङ्ख्यस्मृतिप्रसिद्धानामितरेषां महदादितत्त्वानाम्, अनुपलब्धेश्च—लोके वेदे चानुपलब्धेश्च [न साङ्ख्यस्मृतेरप्रामाण्यं दोषः] ।

भाषार्थ—सांख्यस्मृतिमें प्रसिद्ध प्रधानसे भिन्न महत् आदि तत्त्वोंके लोकमें और वेदमें प्रसिद्ध न होनेके कारण सांख्यस्मृतिको अप्रमाण माननेमें कोई दोष नहीं है ।

भाष्य

प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके वोपलभ्यन्ते । भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम् । अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवे-

भाष्यका अनुवाद

प्रधानसे भिन्न महत् आदि तत्त्व जिनकी प्रधानके परिणामरूपसे स्मृतिमें कल्पना की गई है, वे वेदमें या लोकमें उपलब्ध नहीं होते । लोक और वेदमें प्रसिद्ध होनेके कारण भूत और इन्द्रियोंका स्मृतिमें प्रतिपादन हो सकता है, परन्तु लोक और वेदमें प्रसिद्ध न होनेके कारण छठे इन्द्रियार्थके[1] समान महद् आदिका

रत्नप्रभा

महदहङ्कारौ तावदप्रसिद्धौ, अहङ्कारप्रकृतिकत्वेन तन्मात्राण्यपि अप्रसिद्धानि स्मर्तुं न शक्यन्ते इत्याह—**इतरेषाश्चेति** । ननु महतः परमव्यक्तमिति श्रुति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

महत् और अहङ्कार अप्रसिद्ध हैं और अहङ्कारका विकार होनेसे तन्मात्राएँ भी अप्रसिद्ध हैं, इसलिए उनका भी स्मृतिमें प्रतिपादन नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—''इतरेषां च'' इत्यादिसे । परन्तु 'महतः परमव्यक्तम्' इत्यादि श्रुतियोंमें महदादि प्रसिद्ध हैं, इस शङ्काका

---

(१) चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् और श्रोत्र, ये पांच ही इन्द्रियाँ हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांच इन्द्रियोंके विषय हैं, न छठी इन्द्रिय है और न छठा विषय ही है, इसी प्रकार महत् आदि छठी इन्द्रिय आदिकी तरह न लोकमें प्रसिद्ध हैं, न वेदमें ही प्रसिद्ध हैं, अतः वे हैं ही नहीं । स्मृति तो प्रमाणमूलक है, महदादि स्मृतिके विषयमें जब न श्रुति मूल है, न प्रत्यक्ष मूल है, तब वह स्मृति भी अप्रमाण ही है । आर्षज्ञान ही स्मृतिका मूल है, यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वह ज्ञान भी प्रत्यक्षविषयक अथवा शब्दविषयक होगा, महदादिका, लोक और वेदमें प्रसिद्ध न होनेके कारण, ज्ञान ही नहीं हो सकता ।

भाष्य

न्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते। यदपि क्वचित् तत्परमिव श्रवणमवभासते तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र०१।४।१) इत्यत्र। कार्यस्मृतेरप्रामाण्यात् कारणस्मृतेरप्यप्रामाण्यं युक्तमित्यभिप्रायः। तस्मादपि न स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गो दोषः। तर्कावष्टम्भं तु 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र० २।१।४) इत्यारभ्योन्मथिष्यति ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

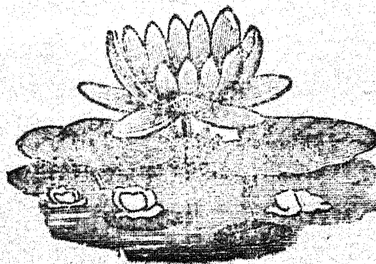
स्मृतिमें प्रतिपादन संभव नहीं है। कहीं कहीं श्रुति महद् आदिका प्रतिपादन करती हुई-सी जो भासती है, उसका भी 'आनुमानिक०' सूत्रमें 'श्रुति महद् आदिका प्रतिपादन नहीं करती' ऐसा व्याख्यान किया गया है। कार्य-महद् आदिकी स्मृतिके अप्रमाण होनेसे कारण-प्रधानकी स्मृति भी अप्रमाण है, यह युक्त है, ऐसा अभिप्राय है। इसलिए भी स्मृत्यनवकाशप्रसंग दोष नहीं है। तर्कके अव लम्बनका तो सूत्रकार 'न विलक्षणत्वात्' इस सूत्रसे लेकर खण्डन करेंगे ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

प्रसिद्धानि महादादीनि इत्यत आह—**यदपीति**। सूत्रतात्पर्यमाह—**कार्येति**। साङ्ख्यस्मृतेः महदादिष्विव प्रधानेऽपि प्रामाण्यं नेति निश्चीयते इत्यर्थः। सांख्यस्मृति-बाधेऽपि तदुक्तयुक्तीनां कथं बाध इत्यत आह—**तर्केति** ॥ २ ॥ (१) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरण करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। सूत्रका तात्पर्य कहते हैं—"कार्य" इत्यादिसे। सांख्यस्मृति जैसे महदादिमें प्रमाण नहीं है, वैसे ही प्रधानमें भी प्रमाण नहीं है, ऐसा निश्चय होता है, यह अर्थ है। परन्तु सांख्यस्मृतिका बाध होनेपर भी उसमें कही हुई युक्तियोंका बाध किस प्रकार होता है? इसपर कहते हैं—"तर्क" इत्यादि ॥२॥



[२ योगप्रत्युक्त्यधिकरण सू० ३]

योगस्मृत्याऽस्ति संकोचो न वा योगो हि वैदिकः।
तत्त्वज्ञानोपयुक्तश्च ततः संकुच्यते तया ॥१॥
प्रमापि योगे तात्पर्यादतात्पर्यान्न सा प्रमा।
अवैदिके प्रधानादावसंकोचस्तयाऽप्यतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—वेदसमन्वयका योगस्मृतिसे संकोच होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—योग श्रुतिप्रतिपादित है और तत्त्वज्ञानमें उपयोगी है, इसलिए योगशास्त्रसे वेदका संकोच होना युक्त है।

सिद्धान्त—योगस्मृति अष्टाङ्गयोगमें तात्पर्य रखती है अतः उस विषयमें प्रमाण होनेपर भी अवैदिक प्रधान आदिमें तात्पर्य न होनेके कारण प्रमाण नहीं है। इसलिए योगस्मृतिसे भी वेदका संकोच होना युक्त नहीं है।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है कि योगस्मृति—पतञ्जलि मुनिप्रणीत योगशास्त्रमें कथित अष्टाङ्गयोग प्रत्यक्ष वेदमें भी उपलब्ध होता है, क्योंकि श्वेताश्वतर आदि शाखाओंमें योगका विस्ताररूपसे वर्णन है। और योग तत्त्वज्ञानका उपयोगी है, क्योंकि 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' (एकाग्र बुद्धिसे देखा जाता है) इस प्रकार श्रुतिमें योगसे साध्य चित्तैकाग्रता ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति कारण कही गई है। इसलिए योगशास्त्र प्रमाणभूत है। वह योगशास्त्र प्रधानको जगत्कारण कहता है, इसलिए योगशास्त्रसे वेदका संकोच होना युक्त है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि योगशास्त्रका अष्टाङ्गयोगमें तात्पर्य है इसलिए योगमें प्रमाणभूत है, तो भी अवैदिक प्रधानमें प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रधान प्रतिपादनमें योगशास्त्रका तात्पर्य नहीं है। योगशास्त्रमें 'अथ योगानुशासनम्' (योगका शासन आरम्भ होता है) ऐसी प्रतिज्ञा करके योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करनेवाला अवस्थाविशेष योग है) इस प्रकार योगका ही लक्षण कह कर उसी योगका सम्पूर्ण शास्त्रमें विस्ताररूपसे प्रतिपादन किया गया है, इसलिए वह योगमें प्रमाण है। प्रधान आदिके प्रतिपादनमें प्रतिज्ञा नहीं है, किन्तु यम, नियम आदि साधनोंके प्रतिपादक दूसरे पादमें त्याज्य और त्याज्यके कारण एवं दुःख और दुःखके कारणोंके प्रतिपादनके अवसरमें प्रसंगात् सांख्यस्मृतिमें प्रसिद्ध प्रधान आदि कहे गये हैं, इसलिए प्रधान आदिमें योगशास्त्रका तात्पर्य नहीं है। इस कारण योगस्मृतिसे वेदका संकोच होना युक्त नहीं है।

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

पदच्छेद—एतेन, योगः, प्रत्युक्तः ।

पदार्थोक्ति—एतेन—साङ्ख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगः—योगस्मृतिरपि, प्रत्युक्तः—प्रत्याख्याता द्रष्टव्या ।

भाषार्थ—सांख्यस्मृतिके निराकरणसे योगस्मृतिका भी निराकरण समझना चाहिए ।

भाष्य

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति । तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणम्, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते । नन्वेवं सति समानन्यायात्वात् पूर्वेणैवैतद्गतं किमर्थं पुनरतिदिश्यते । अस्ति ह्यत्राभ्यधिकाऽऽशङ्का । सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो

भाष्यका अनुवाद

इस सांख्यस्मृतिके निराकरणसे योगस्मृति भी निराकृत हुई, ऐसा समझना चाहिए इस प्रकार सूत्रकार इस सूत्रमें पूर्वन्यायका अतिदेश करते हैं। योगमें भी प्रधान ही स्वतंत्र कारण है, एवं लोक और वेदमें अप्रसिद्ध महत् आदि कार्य हैं, ऐसी श्रुतिविरुद्ध कल्पना की गई है। यदि ऐसा हो, तो एक ही न्याय होनेसे पूर्व अधिकरणमें ही यह आ गया, पुनः इसका अतिदेश क्यों किया जाता है? इसलिए कि यहां अधिक शंका है, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो०'

रत्नप्रभा

ब्रह्मणि उक्तसमन्वयः प्रधानवादियोगस्मृत्या विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वन्यायम् अतिदिशति—**एतेन योगः प्रत्युक्तः** इति । अतिदेशत्वात् पूर्ववत् सङ्गत्यादिकं द्रष्टव्यम् । पूर्वत्र अनुक्तनिरासं पूर्वपक्षमाह—**अस्ति ह्यत्रेति ।**

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्ममें जो समन्वय कहा है, उसका प्रधानको जगत्कारण माननेवाली योगस्मृतिसे विरोध है या नहीं, ऐसा संशय होनेपर पूर्वन्यायका अतिदेश करते हैं—"एतेन योगः प्रत्युक्तः"। यह अतिदेश सूत्र है, इसलिए इस अधिकरणकी अध्याय आदि संगतियाँ पूर्व अधिकरणके समान ही समझनी चाहिएँ। पूर्व अधिकरणमें जिसका निराकरण नहीं

भाष्य

निदिध्यासितव्यः' (बृ०२।४।५) इति । 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे०२।८) इत्यादिना चाऽऽसनादिकल्पनापुरःसरं बहुप्रपञ्चं योगविधानं श्वेताश्वतरोपनिषदि दृश्यते । लिङ्गानि च वैदिकानि योगविषयाणि सहस्रश उपलभ्यन्ते 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' (का०२।६।११) इति । 'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् (का०२।६।१८) इति चैवमादीनि । योगशास्त्रेऽपि 'अथ तत्त्वदर्शनाभ्युपायो योगः' इति

भाष्यका अनुवाद

(आत्माका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) इस प्रकार वेदमें साक्षात्कारके साधनरूपसे योगका विधान किया है । 'त्रिरुन्नतं०' (तीन—वक्षःस्थल, ग्रीवा और सिर जिसमें ऊँचे हैं, ऐसे शरीरको समान रखकर योग करे) इत्यादिसे आसन आदिकी कल्पनापूर्वक विस्ताररूपसे योगका विधान श्वेताश्वतर उपनिषद्में किया गया है । और 'तां योगमिति मन्यन्ते०' (उस स्थिर इन्द्रिय धारणाको योग कहते हैं) 'विद्यामेतां०' (इस ब्रह्मविद्या और अखिल योगविधिको मृत्युके प्रसादसे प्राप्त करके नचिकेताने ब्रह्मको प्राप्त किया) इत्यादिमें योगके वैदिक लिंग हजारों दिखाई देते हैं । योगशास्त्रमें भी 'अथ तत्त्वदर्शनाभ्युपायो०' (योग तत्त्वदर्शनका उपाय है) इस प्रकार योग

रत्नप्रभा

निदिध्यासनम्—योगः । त्रीणि उरोग्रीवाशिरांसि उन्नतानि यस्मिन् शरीरे तत् त्र्युन्नतम् । त्रिरुन्नतमिति पाठश्चेच्छान्दसः । युञ्जीतेति शेषः । न केवलं योगे विधिः, किन्तु योगस्य ज्ञापकानि अर्थवादवाक्यान्यपि सन्तीत्याह—**लिङ्गानि चेति** । तां पूर्वोक्तां धारणां योगविदो योगं परमं तप इति मन्यन्ते । उक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं ध्यानप्रकारं च मृत्युप्रसादात् नचिकेता लब्ध्वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

किया, ऐसा पूर्वपक्ष कहते हैं—"अस्ति ह्यत्र" इत्यादिसे । निदिध्यासन—योग । तीन—वक्षःस्थल, ग्रीवा और सिर जिसमें उन्नत हैं, ऐसा शरीर 'त्र्युन्नत' है । यदि 'त्रिरुन्नतम्' पाठ हो, तो उसे छान्दस समझना चाहिए । श्वेताश्वतर उपनिषद्के मंत्रमें 'युञ्जीत' इतना शेष समझना चाहिए । वेदमें योग विषयक केवल विधिवाक्य ही नहीं है, किन्तु योगके ज्ञापक अर्थवादवाक्य भी हैं, ऐसा कहते हैं—"लिङ्गानि च" इत्यादिसे । उस पूर्वोक्त धारणाको योगवेत्ता परम तप कहते हैं । पूर्वोक्त इस ब्रह्मविद्या और योगविधि—ध्यान प्रकारको मृत्युके प्रसादसे

भाष्य

सम्यग्दर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते। अतः संप्रतिपन्नार्थैकदेश-त्वादष्टकादिस्मृतिवद् योगस्मृतिरप्यनपवदनीया भविष्यतीति। इयमप्य-धिका शङ्काऽतिदेशेन निवर्त्यते, अर्थैकदेशसम्प्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्तेः पूर्वोक्ताया दर्शनात्। सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु साङ्ख्य-योगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः। साङ्ख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधन-

भाष्यका अनुवाद

सम्यग्दर्शनका उपाय माना गया है। इसलिए योगस्मृतिके अर्थकी एकदेशमें संप्रतिपत्ति होनेसे अष्टका आदि स्मृतियोंके समान योगस्मृति भी अनिराकरणीय सिद्ध होगी। यह भी अधिक शंका अतिदेशसे निवृत्त की जाती है, क्योंकि अर्थके एकदेशमें संप्रतिपत्ति होनेपर भी अर्थके एकदेशमें पूर्वोक्त विप्रतिपत्ति दिखाई देती है। अध्यात्मविषयक बहुत स्मृतियाँ हैं, तो भी सांख्य स्मृति और योगस्मृतिके निराकरणमें ही यत्न किया है, क्योंकि सांख्य और योग परम-

---

रत्नप्रभा

ब्रह्म प्राप्त इति सम्बन्धः। योगस्मृतिः प्रधानादितत्त्वांशेऽपि प्रमाणत्वेन स्वीकार्या, सम्प्रतिपन्नः—प्रामाणिकोऽर्थैकदेशो योगरूपो यस्याः तत्त्वादित्यर्थः। "अष्टकाः कर्तव्याः" "गुरुरनुगन्तव्यः" इत्यादिस्मृतीनां वेदाविरुद्धार्थकत्वाद् मूलश्रुत्य-नुमानेन प्रामाण्यमुक्तं प्रमाणलक्षणे। एवं योगस्मृतेर्योगे प्रामाण्यात् तत्त्वांशेऽपि प्रामाण्यम् इति पूर्वपक्षम् अनूद्य सिद्धान्तयति—**इयमपीति**। ननु बौद्धादि-स्मृतयोऽत्र किमिति न निराकृता इत्यत आह—**सतीष्वपीति**। तासां प्रतारकत्वेन प्रसिद्धत्वाद् अशिष्टैः पशुप्रायैः गृहीतत्वाद् वेदबाह्यत्वाच्च अत्रोपेक्षा इति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जान कर नचिकेताने ब्रह्मको प्राप्त किया, ऐसा संबन्ध है। योगस्मृतिको प्रधान आदि तत्त्वोंके अंशमें भी प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि उसका अर्थैकदेश योग प्रामाणिक है ऐसा अर्थ है। 'अष्टकाः' (अष्टका श्राद्ध करना चाहिए) 'गुरुरनुगन्तव्यः' (गुरुका अनुसरण करना चाहिए) इत्यादि स्मृतियाँ वेदसे अविरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करती हैं, इसलिए प्रमाण-लक्षणमें मूलश्रुतिके अनुमानसे उन स्मृतियोंका प्रामाण्य कहा गया है। इसी प्रकार योगस्मृति भी योगमें प्रमाण होनेसे तत्त्वांशमें भी प्रमाण है, इस पूर्वपक्षका अनुवाद करके सिद्धान्त करते हैं—"इयमपि" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि यहां बौद्ध आदि स्मृतियोंका निराकरण क्यों नहीं किया गया है, इसपर कहते हैं—"सतीष्वपि" इत्यादि। आशय यह है कि बौद्ध आदि स्मृतियाँ वंचकरूपसे प्रसिद्ध हैं, वेदका प्रमाण न माननेवाले पशुप्राय नरोंसे

भाष्य

त्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेनोपबृंहितौ—'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे० ६।१३) इति। निराकरणं तु न सांख्यस्मृतिज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेयसमधिगम्यत इति। श्रुतिर्हि वैदिकादात्मैकत्वविज्ञानादन्यन्निःश्रेयससाधनं वारयति 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) इति। द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च नाऽऽत्मैकत्वदर्शिनः। यत्तु दर्शनमुक्तम्—तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम् इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्येते प्रत्यासत्ते-

भाष्यका अनुवाद

पुरुषार्थके साधनरूपसे लोकमें प्रख्यात हैं, शिष्टों द्वारा परिगृहीत हैं और 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं०' (उन कर्मोंके कारण सांख्य और योगसे प्राप्त हुए देवको जानकर पुरुष सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है) इत्यादि श्रौतलिङ्गसे पुष्ट हैं। वेदनिरपेक्ष सांख्यज्ञानसे या योगमार्गसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता, इस हेतुसे निराकरण किया गया है। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति०' (उसीको जानकर मृत्युसे छुटकारा पाता है, मोक्षके लिए अन्य मार्ग नहीं है) यह श्रुति वैदिक आत्मैकत्वविज्ञानको छोड़कर दूसरा मोक्षका साधन नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करती है। इसमें सन्देह नहीं है कि सांख्य और पातञ्जल द्वैतमार्गी हैं, आत्माको एक माननेवाले नहीं हैं। 'तत्कारणं साङ्ख्ययोगाभिपन्नम्' इत्यादि जो दर्शन कहा गया है, उसमें सांख्य और योगशब्दोंसे सान्निध्यके कारण

रत्नप्रभा

तत्कारणमिति। तेषां प्रकृतानां कामानां कारणं सांख्ययोगाभ्यां विवेकध्यानाभ्याम् अभिपन्नं प्रत्यक्तया प्राप्तं देवं ज्ञात्वा सर्वपाशैः अविद्यादिभिः मुच्यते इत्यर्थः। समूलत्वे स्मृतिद्वयस्य निरासः किमिति कृत इत्यत आह—निराकरणन्त्विति। इति हेतोः कृतमिति शेषः। प्रत्यासत्तेरिति। श्रुतिस्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वीकृत हैं और वेदबाह्य हैं, इसलिये यहाँ उनकी उपेक्षा की गई है। "तत्कारणम्" इत्यादि। उनका अर्थात् प्रकृत कामनाओंके कारण, विवेक और ध्यानसे प्रत्यग्रूपसे प्राप्त देवको जान कर अविद्या आदि पाशोंसे मुक्त हो जाता है, यह 'तत्कारणम्' इत्यादि श्रुतिका अर्थ है। यदि सांख्यस्मृति और योगस्मृति श्रुतिमूलक हैं, तो उनका निराकरण क्यों किया गया, इस पर कहते हैं—"निराकरणं तु" इत्यादि। 'इति' के बाद 'हेतोः कृतम्' (कारणसे किया गया)

भाष्य

रित्यवगन्तव्यम् । येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम् । तद्यथा—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१६) इत्येवमादिश्रुतिप्रसिद्धमेव पुरुषस्य विशुद्धत्वं निर्गुणपुरुषनिरूपणेन सांख्यैरभ्युपगम्यते । तथा च योगैरपि 'अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः' (जाबा० ५) इत्येवमादि श्रुतिप्रसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं प्रव्रज्याद्युपदेशेनाऽनुगम्यते । एतेन सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि । तान्यपि तर्कोपपत्तिभ्यां तत्त्वज्ञानायोपकुर्वन्तीति चेदुपकुर्वन्तु नाम । तत्त्वज्ञानं तु वेदान्तवाक्येभ्य एव भवति 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'

भाष्यका अनुवाद

वैदिक ज्ञान और ध्यान ही कहे गये हैं, ऐसा समझना चाहिए। जितने अंशमें सांख्य और योगस्मृतिका श्रुतिसे विरोध नहीं है, उतने अंशमें उनका प्रामाण्य इष्ट ही है। जैसे 'असङ्गो०' (यह आत्मा निश्चय असङ्ग है) इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध ही आत्माके विशुद्धत्वका निर्गुण आत्माके निरूपणसे सांख्य स्वीकार करते हैं। उसी प्रकार योगदर्शनवाले भी 'अथ परिव्राड्०' (परिव्राजकको काषाय वस्त्र पहनना चाहिए, सिर मुण्डित रखना चाहिए, किसीका परिग्रह नहीं करना चाहिए) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध निवृत्तिमार्गका ही प्रव्रज्या आदिके उपदेशसे अनुसरण करते हैं। इससे सब तर्कस्मृतियों का निराकरण करना चाहिए। वे भी तर्क और युक्तिसे तत्त्वज्ञानके उपकारक होते हैं, यदि ऐसा कहो, तो भले उपकारक हों। परन्तु 'नावेदविन्मनुते०' (अवेदज्ञ उस ब्रह्मको नहीं जानता)

रत्नप्रभा

सांख्ययोगशब्दयोः सजातीयश्रुत्यर्थग्राहित्वादिति यावत् । किं सर्वांशेषु स्मृत्यप्रामाण्यम् ? नेत्याह—**येन त्वंशेनेति**। ब्रह्मवादस्य कणभक्षादिस्मृतिभिः विरोधमाशङ्क्याऽतिदिशति—**एतेनेति**। श्रुतिविरोधेन इत्यर्थः । उपकारकबाधो न युक्त इत्याशङ्क्य यः अंश उपकारकः स न बाध्यः किन्तु तत्त्वांश इत्याह—**तान्यपीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इतना शेष समझना चाहिए। "प्रत्यासत्तेः" अर्थात् श्रुतिस्थ सांख्य और योग शब्द सजातीय श्रुत्यर्थका ग्रहण कराते हैं। तब क्या स्मृति सभी अंशोंमें अप्रमाण है? नहीं, ऐसा कहते हैं—"येन त्वंशेन" इत्यादिसे। ब्रह्मवादका वैशेषिक आदि मतोंके साथ विरोध है, ऐसी आशंका करके पूर्व न्यायका अतिदेश करते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। एतेन—श्रुतिविरोधसे। उपकारकका बाध करना युक्त नहीं है, ऐसी आशंका करके जो अंश

भाष्य

(तै० ब्रा० ३।१२।९।७) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३।९।२६) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ॥३॥

भाष्यका अनुवाद

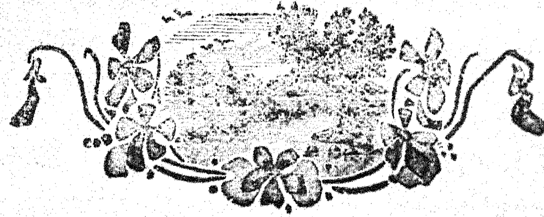
'तं त्वौपनिषदं०' (मैं उस उपनिषद्गम्य आत्माको पूछता हूँ) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञान तो वेदान्तवाक्योंसे ही होता है ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

तर्कः—अनुमानम् । तदनुग्राहिका युक्तिः—उपपत्तिः, स्मृतीनाम् अप्रामाण्यात् ताभिः समन्वयस्य न विरोध इति सिद्धम् ॥ ३ ॥ (२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपकारक है, वह बाध्य नहीं है, किन्तु तत्त्वांश बाध्य है, ऐसा कहते हैं—"तान्यपि" इत्यादिसे । तर्क—अनुमान । उपपत्ति—तर्ककी अनुग्राहिका युक्ति, स्मृतियोंके अप्रमाण होनेसे पूर्वोक्त समन्वयका उनसे विरोध नहीं है ॥३॥



[३ विलक्षणत्वाधिकरण सू० ४—१२]

वैलक्षण्याख्यतर्केण बाध्यतेऽथ न बाध्यते ।
बाध्यते साम्यनियमात् कार्यकारणवस्तुनोः ॥१॥
मृद्घटादौ समत्वेऽपि दृष्टं वृश्चिककेशयोः ।
स्वकारणेन वैषम्यं तर्काभासो न बाधकः ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—वेदसमन्वयका वैलक्षण्यरूप तर्कसे बाध होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—यह नियम है कि कार्य और कारणकी समानता होनी चाहिए, इसलिए समन्वय बाधित होता है ।

सिद्धान्त—घटरूप कार्य यद्यपि अपने कारणभूत मृत्के समान देखा जाता है, तथापि वृश्चिक और केशरूप कार्य अपने कारणसे विषम देखे जाते हैं, इसलिए वैलक्षण्य तर्काभास है बाधक नहीं है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—ब्रह्ममें जो वेदान्तोंका समन्वय कहा गया है, उसमें तर्क बाधक है । अचेतन जगत् चेतन ब्रह्मसे उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् ब्रह्मसे विलक्षण है। जो जिससे विलक्षण होता है, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे गौसे महिष, इस तर्कसे समन्वय बाधित होता है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि कार्य और कारण समानस्वरूपवाले होते हैं, इस व्याप्तिका वृश्चिक आदिमें व्यभिचार देखा जाता है, क्योंकि अचेतन गोमयसे चेतन वृश्चिक उत्पन्न होता है और चेतन मनुष्यसे अचेतन केश, नख आदि उत्पन्न होते हैं, इसलिए वेदनिरपेक्ष शुष्क तर्क कहीं प्रतिष्ठित नहीं है । आचार्य कहते हैं—

"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥"

अर्थात् अनुमान करनेवाले कुशल पुरुषोंसे प्रयत्नपूर्वक जो अर्थ अनुमान द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे भी और अधिक तीक्ष्णबुद्धिवाले अन्यथा कर देते हैं । इसलिए वैलक्षण्यरूप हेतु तर्काभास होनेसे समन्वयका बाधक नहीं है ।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥४॥

पदच्छेद—न, विलक्षणत्वात्, अस्य, तथात्वम्, च, शब्दात्।

पदार्थोक्ति—न–न जगत् चेतनप्रकृतिकम् [कुतः] अस्य—अचेतनस्य जगतः, विलक्षणत्वात्—चेतनाद्विलक्षणत्वात्। तथात्वं च—वैलक्षण्यं च, शब्दात्—'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इत्यादिश्रूतितोऽवगम्यते।

भाषार्थ—यह जगत् चेतनप्रकृतिक अर्थात् चेतन जिसका उपादानकारण है, ऐसा नहीं है, क्योंकि अचेतन जगत् चेतन ब्रह्मसे विलक्षण है। ब्रह्म और जगत्का वैलक्षण्य तो 'विज्ञानं०' (चेतन और अचेतन) इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है।

भाष्य

ब्रह्माऽस्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्याऽऽक्षेपः स्मृतिनिमित्तः परिहृतः। तर्कनिमित्त इदानीमाक्षेपः परिह्रियते। कुतः पुनरस्मिन्नवधारित आगमार्थे तर्कनिमित्तस्याऽऽक्षेपस्याऽवकाशः। ननु धर्म इव ब्रह्मण्यप्यनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति। भवेदयमवष्टम्भो यदि प्रमा-

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म इस जगत्का निमित्तकारण और उपादानकरण है, इस पक्षमें सांख्य आदि स्मृतियोंसे होनेवाले आक्षेपका परिहार किया जा चुका है। अब तर्कसे आक्षेपका परिहार करते हैं। परन्तु निश्चित वेदार्थमें तर्कसे होनेवाले आक्षेपका अवसर ही कहां है? क्योंकि वेद जैसे धर्ममें स्वतःप्रमाण है, वैसे ही

रत्नप्रभा

न विलक्षणत्वाद्। वृत्तानुवादेनाऽस्याऽधिकरणस्य तात्पर्यमाह—**ब्रह्माऽस्येति।** पूर्वपक्षमाक्षिपति—**कुतः पुनरिति।** अनवकाशे हेतुमाह—**ननु धर्म इवेति।** मानान्तरानपेक्षे वेदैकसमधिगम्ये ब्रह्मणि अनुमानात्मकतर्कस्याऽप्रवेशः, तेन आक्षेपस्य अनवकाशः भिन्नविषयत्वात् तर्कवेदयोः इत्यर्थः। सिद्धस्य माना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"विलक्षणत्वात्"। वृत्तका अनुवाद करके इस अधिकरणका तात्पर्य कहते हैं—"ब्रह्माऽस्य" इत्यादिसे। पूर्वपक्षपर आक्षेप करते हैं—"कुतः पुनः" इत्यादिसे। अनवकाशमें हेतु कहते हैं—"ननु धर्म इव" इत्यादिसे। अन्य प्रमाणकी अपेक्षा जिसमें नहीं है और केवल वेदसे

भाष्य

णान्तरानवगाह्य आगममात्रप्रमेयोऽयमर्थः स्यादनुष्ठेयरूप इव धर्मः। परिनिष्पन्नरूपं तु ब्रह्माऽवगम्यते। परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणामस्त्यवकाशो यथा पृथिव्यादिषु। यथा च श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते, एवं प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयेत। दृष्टसाम्येन चाऽदृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते। विप्र-

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्ममें भी स्वतःप्रमाण है। यह दृष्टान्त तभी घट सकता है यदि अनुष्ठेय धर्मके समान ब्रह्म भी प्रमाणान्तरसे अज्ञेय और केवल वेदसे ज्ञेय हो। ब्रह्म तो सिद्ध वेदसे समझा जाता है। पृथिवी आदिके समान सिद्ध वस्तुमें अन्य प्रमाणोंका अवकाश है। और जैसे श्रुतियोंमें परस्पर विरोध उपस्थित होनेपर एक श्रुतिके अनुसार अन्य श्रुतियोंका अर्थ किया जाता है, वैसे अन्य प्रमाणोंके साथ श्रुतिका विरोध होनेपर उनके अनुसार ही

रत्नप्रभा

न्तरगम्यत्वाद् एकविषयत्वाद् विरोध इति पूर्वपक्षं समर्थयते—**भवेदयमिति**। अवष्टम्भः—दृष्टान्तः। ननु एकविषयत्वेन विरोधेऽपि श्रुतिविरोधाद् मानान्तरमेव बाध्यतामित्यत आह—**यथा चेति**। प्रबलश्रुत्या दुर्बलश्रुतिबाधवत् निरवकाश-मानान्तरेण लक्षणावृत्त्या सावकाशश्रुतिनयनं युक्तमित्यर्थः। किञ्च, ब्रह्मसाक्षा-त्कारस्य मोक्षहेतुत्वेन प्रधानस्य अन्तरङ्गं तर्कः तस्य अपरोक्षदृष्टान्तगोचरत्वेन प्रधानवत् अपरोक्षार्थविषयत्वात्, शब्दस्तु परोक्षार्थकत्वाद् बहिरङ्गम् अतः तर्केण बाध्य इत्याह—**दृष्टेति**। ऐतिह्यमात्रेण—परोक्षतयेति यावत्। अनुभवस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञात होनेवाले ब्रह्ममें अनुमानरूप तर्कका प्रवेश नहीं है, इसलिए आक्षेपका अवसर नहीं है क्योंकि तर्क और वेदके विषय भिन्न हैं। जो सिद्ध वस्तु है, वह अन्य प्रमाणसे गम्य है, इसलिए तर्क और वेदका विषय एक होनेसे विरोध संभव है, इस प्रकार पूर्वपक्षका समर्थन करते हैं—"भवेदयम्" इत्यादि। अवष्टम्भ—दृष्टान्त। दोनोंका विषय एक होनेसे विरोध होनेपर भी श्रुतिका विरोध हो, तो अन्य प्रमाणका ही बाध होना चाहिए, इसपर कहते हैं—"यथा च" इत्यादि। जैसे प्रबल श्रुतिसे दुर्बल श्रुतिका बाध होता है, वैसे ही निरवकाश अन्य प्रमाणसे लक्षणावृत्ति द्वारा सावकाश श्रुतिका अर्थ करना ही युक्त है, ऐसा अर्थ है। ब्रह्मसाक्षात्कार मोक्षका साधन होनेसे प्रधान है और तर्क उसका अन्तरङ्ग है, क्योंकि वह अपरोक्ष—प्रत्यक्षभूत दृष्टान्तविषयक होता है अर्थात् प्रत्यक्ष दृष्टान्तकी अपेक्षा रखता है, अतः प्रधानभूत ब्रह्मसाक्षात्कारके समान अपरोक्षार्थ विषयक है, श्रुति तो परोक्षार्थविषयक

भाष्य

कृष्यते तु श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात् । अनुभवावसानं च ब्रह्म-विज्ञानमविद्याया निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयेष्यते । श्रुतिरपि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्कमप्यत्राऽऽदर्तव्यं दर्शयति । अतस्तर्कनिमित्तः पुनराक्षेपः क्रियते 'न विलक्षणत्वादस्य' इति । यदुक्तम्—चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिः इति । तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः । इदं हि

भाष्यका अनुवाद

श्रुतिका अर्थ करना उचित है । अनुभूत अर्थके सादृश्यसे अदृष्ट अर्थका समर्थन करनेवाली युक्ति अनुभवसे संनिकृष्ट है । श्रुति तो ऐतिह्यमात्रसे स्वार्थका अभिधान करती है, इसलिए अनुभवसे दूर है और दृष्टफलक होनेके कारण अविद्या निवर्तक और मोक्षसाधन ब्रह्मविज्ञानका अन्तिम फल अनुभव ही माना गया है । श्रोतव्यो०' (श्रवण और मनन करना चाहिए) इस प्रकार श्रवणसे भिन्न मननका विधान करनेवाली श्रुति भी तर्कका आदर करना युक्त है, ऐसा दिखलाती है । इसलिए 'न विलक्षणत्वादस्य' इस सूत्रसे तर्क-

रत्नप्रभा

प्रधान्यं दर्शयति—**अनुभवावसानञ्चेति** । नैषा तर्केण मतिरित्यर्थवादेन तर्कस्य निषेधमाशङ्क्य विधिविरोधाद् मैवमित्याह—**श्रुतिरपीति** । एवं पूर्वपक्षं सम्भाव्य चेतनब्रह्मकारणवादिवेदान्तसमन्वयः, क्षित्यादिकं न चेतनप्रकृतिकम्, कार्यद्रव्यत्वाद्, घटवदिति सांख्ययोगन्यायेन विरुध्यते न वा इति सन्देहे स्मृतेः मूलाभावाद् दुर्बलत्वेऽपि अनुमानस्य व्याप्तिमूलत्वेन प्राबल्यात् तेन विरुध्यते इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—**न विलक्षणत्वादिति** । पूर्वोत्तरपक्षयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है, ऐसा कहते हैं—"दृष्ट" इत्यादिसे । ऐतिह्यमात्रसे—परोक्ष रीतिसे, प्रवाहपरंपरा मात्रसे । अनुभवका प्राधान्य दिखलाते हैं—"अनुभवावसानं च" इत्यादि । 'नैषा तर्केण०' इस अर्थवादसे तर्कके निषेधकी आशंका करके "श्रुतिरपि" इत्यादिसे कहते हैं कि अर्थवाद विधिसे विरुद्ध है, अतः यह आशंका युक्त नहीं है । इस प्रकार पूर्वपक्षकी संभावना करके चेतनब्रह्मकारणवादीका वेदान्तसमन्वय सांख्य, योग सिद्धान्तसे विरुद्ध है या नहीं, ऐसा संशय होनेपर स्मृतिकी मूलभूत श्रुतिके न होनेसे उसके दुर्बल होनेपर भी 'क्षिति आदि चेतनप्रकृतिक नहीं है, कार्य द्रव्य होनेसे, घटके समान' इस अनुमानके व्याप्तिमूलक

(१) जिसका वक्ता अनिर्दिष्ट है, ऐसा परम्परागत वाक्य ।

भाष्य

ब्रह्मकार्यत्वेनाऽभिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते। ब्रह्म च जगद्विलक्षणं चेतनं शुद्धं च श्रूयते। न च विलक्षणत्वे प्रकृतिविकारभावो दृष्टः। नहि रुचकादयो विकारा मृत्प्रकृतिका भवन्ति शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतिकाः। मृदैव तु मृदन्विता विकाराः क्रियन्ते सुवर्णेन च सुवर्णान्विताः। तथेदमपि जगद-चेतनं सुखदुःखमोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य

भाष्यका अनुवाद

निमित्तक फिर आक्षेप किया जाता है। चेतन ब्रह्म जगत्का कारण—प्रकृति है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि यह विकार प्रकृतिसे विलक्षण है। ब्रह्मके कार्यरूपसे माना गया यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण, अचेतन और अशुद्ध दिखता है और ब्रह्म जगत्से विलक्षण, चेतन और शुद्ध है, ऐसा श्रुति कहती है। विलक्षण पदार्थोंमें परस्पर कार्यकारणभाव नहीं दिखाई देता है, क्योंकि मिट्टी रुचक आदि कार्योंकी उपादानकारण नहीं हो सकती है और शराव आदिका कारण सुवर्ण नहीं हो सकता। घट आदि मिट्टीके पदार्थ मिट्टीसे ही बनाए जाते हैं और रुचक आदि सुवर्णके पदार्थ सुवर्णसे ही बनाये जाते हैं। उसी प्रकार यह जगत् भी अचेतन एवं सुख, दुःख और मोहसे युक्त होनेके कारण अचेतन और सुख-दुःखमोहात्मक कारणका ही कार्य होना चाहिए, विलक्षण ब्रह्मका कार्य हो, यह युक्त नहीं

रत्नप्रभा

समन्वयासिद्धिः तत्सिद्धिश्चेति पूर्ववत् फलम्। जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकम्, तद्वि-लक्षणत्वाद्, यद्यद्विलक्षणं तन्न तत्प्रकृतिकं यथा मृद्विलक्षणा रुचकादय इत्यर्थः। सुखदुःखमोहाः—सत्त्वरजस्तमांसि, तथा च जगत् सुखदुःखमोहात्मकसामान्य-प्रकृतिकम्, तदन्वितत्वाद्, यदित्थं तत्तथा यथा मृदन्विता घटादय इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे प्रबल होनेके कारण उससे विरुद्ध है, इस प्रकार प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष करते हैं—"न विलक्षणत्वात्" इत्यादिसे। पूर्व अधिकरणके समान इस अधिकरणमें भी पूर्वपक्षमें समन्वयकी असिद्धि और सिद्धान्तमें समन्वयकी सिद्धि फल हैं। जगत् ब्रह्मप्रकृतिक नहीं है, उससे विलक्षण होनेसे, जो जिससे विलक्षण होता है, वह उससे उत्पन्न नहीं कहा जाता, जैसे कि मृत्तिकासे विलक्षण रुचक आदि मृत्प्रकृतिवाले नहीं हैं। सुखदुःखमोह—सत्त्व, रज और तम। जगत् सुखदुःखमोहरूप एक उपादान कारणसे उत्पन्न है, क्योंकि सुख, दुःख आदिसे युक्त है, जो जिससे अन्वित होता है, वह उससे उत्पन्न होता है, जैसे मृतिकासे

भाष्य

कार्यं भवितुमर्हति, न विलक्षणस्य ब्रह्मणः। ब्रह्मविलक्षणत्वं चाऽस्य जगतोऽशुद्ध्यचेतनत्वदर्शनादवगन्तव्यम्। अशुद्धं हीदं जगत् सुखदुःखमोहात्मकतया प्रतीयते, प्रीतिपरितापविषादादिहेतुत्वात् स्वर्गनरकाद्युच्चावचप्रपञ्चत्वाच्च। अचेतनं चेदं जगत्, चेतनं प्रति कार्यकरणभावेनोपकरणभावोपगमात्। नहि साम्ये सत्युपकार्योपकारकभावो भवति, नहि प्रदीपौ परस्परस्योपकुरुतः। ननु चेतनमपि कार्यकरणं स्वामिभृत्यन्यायेन भोक्तुरुप-

भाष्यका अनुवाद

है। और यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण है, यह बात इसमें अशुद्धि, अचेतनत्व आदि देखनेसे प्रतीत होती है। इसमें सन्देह नहीं है कि यह जगत् अशुद्ध है, क्योंकि सुखदुःखमोहात्मक होनेसे प्रीति, परिताप, विपाद आदिका हेतु है और स्वर्ग, नरक आदि अनेक प्रकारके प्रपञ्चोंसे भरा है। और जगत् अचेतन है, क्योंकि शरीर, इन्द्रिय आदि रूपसे चेतनका उपकारक है। यदि साम्य—सादृश्य हो, तो उपकार्योपकारकभाव[1] ही नहीं बन सकता। दो दीपक परस्पर उपकारक नहीं होते। परन्तु जैसे सेवक स्वामीका उपकारक होता है, वैसे चेतनभूत देह, इन्द्रिय, आदि भी भोक्ताके उपकारक हो सकते हैं, नहीं, क्योंकि स्वामी और सेवकमें भी अचेतन अंश ही चेतनके प्रति उपकारक

रत्नप्रभा

मृदैवेति। जगतः ब्रह्मविलक्षणत्वं साधयति—ब्रह्मविलक्षणत्वञ्चेति। यथा हि एक एव स्त्रीपिण्डः पतिसपत्न्युपपतीनां प्रीतिपरितापविषादादीन् करोति, एवमन्येऽपि भावा द्रष्टव्याः। तत्र प्रीतिः—सुखम्, परितापः—शोकः, विषादः—भ्रमः। आदिपदाद् रागादिग्रहः। उभयोः चेतनत्वेन साम्याद् उपकार्योपकारकभावो न स्यादिति अयुक्तम्, स्वामिभृत्ययोः व्यभिचारादिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्वित घट मृत्तिकासे उत्पन्न होता है, ऐसा कहते हैं—"मृदैव" इत्यादिसे। जगत्को ब्रह्मसे विलक्षण सिद्ध करते हैं—"ब्रह्मविलक्षणत्वं च" इत्यादिसे। जैसे एक ही स्त्रीपिंड पति, सपत्नी और उपपतिके प्रेम, परिताप और विषादका हेतु होता है, उसी प्रकार अन्य पदार्थोंमें भी समझना चाहिए। प्रीति—सुख, परिताप—शोक, विषाद—भ्रम। आदि पदसे राग आदिका ग्रहण करना चाहिए। दोनों चेतन होनेसे उपकार्य-उपकारकभाव नहीं होता, यह अयुक्त है, क्योंकि स्वामी सेवकमें उक्त नियमका भंग

(१) एक उपकार्य और दूसरा उपकारक हो, ऐसी स्थिति।

भाष्य

करिष्यति । न, स्वामिभृत्ययोरप्यचेतनांशस्यैव चेतनं प्रत्युपकारकत्वात् । यो ह्येकस्य चेतनस्य परिग्रहो बुद्ध्यादिरचेतनभागः स एवाऽन्यस्य चेतनस्योपकरोति न तु स्वयमेव चेतनश्चेतनान्तरस्योपकरोत्यपकरोति वा । निरतिशया ह्यकर्तारश्चेतना इति साङ्ख्या मन्यन्ते । तस्मादचेतनं कार्यकरणम् । न च काष्ठलोष्टादीनां चेतनत्वे किंचित् प्रमाणमस्ति । प्रसिद्धश्चायं चेतनाचेतनविभागो लोके । तस्माद् ब्रह्मविलक्षणत्वान्नेदं जगत् तत्प्रकृतिकम् ।

योऽपि कश्चिदाचक्षीत श्रुत्वा जगतश्चेतनप्रकृतिकतां तद्बलेनैव समस्तं जगच्चेतनमवगमयिष्यामि, प्रकृतिरूपस्य विकारेऽन्वयदर्शनात् । अभिभावनं

भाष्यका अनुवाद

होता है । एक चेतनका परिग्रह—उपकारक बुद्धि आदि जो अचेतन भाग हैं, वे ही अन्य चेतनके उपकारक होते हैं, परन्तु स्वयं चेतन अन्य चेतनका उपकारक या अपकारक नहीं होता, क्योंकि चेतन अतिशय रहित और अकर्ता है, ऐसा सांख्य मानते हैं । इसलिए देह, इन्द्रिय आदि अचेतन हैं । लकड़ी और ढेले आदिके चेतन होनेमें कोई प्रमाण नहीं है । लोकमें चेतन और अचेतनका विभाग प्रसिद्ध है । इसलिए ब्रह्मसे विलक्षण होनेसे इस जगत्की प्रकृति ब्रह्म नहीं है ।

जगत्की प्रकृति चेतन है, ऐसा श्रुतिद्वारा जानकर उसके ही बलसे समस्त जगत्को चेतन सिद्ध करूँगा, क्योंकि प्रकृतिस्वरूपकी विकारमें अनुवृत्ति

रत्नप्रभा

शङ्कते—**ननु चेतनमपीति** । भृत्यदेहस्यैव स्वामिचेतनोपकारकत्वात् न व्यभिचार इत्याह—**नेत्यादिना** । उत्कर्षापकर्षशून्यत्वाच्चेतनानां मिथो न उपकारकत्वमित्याह–**निरतिशया इति** । तस्माद्—उपकारकत्वात् ।

श्रुतचेतनप्रकृतिकत्वबलेन जगच्चेतनमेव इत्येकदेशिमतम् उत्थापयति–**योऽपीति** । घटादेश्चेतनत्वमनुपलब्धिबाधितमित्यत आह—**अविभावनन्त्विति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिखाई देता है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु चेतनमपि" इत्यादिसे । सेवकका देह ही स्वामीके चेतन आत्माका उपकारक होता है, इससे व्यभिचार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे । चेतन आत्मामें उत्कर्ष या अपकर्ष न होनेसे वे परस्पर उपकारक नहीं होते, ऐसा कहते हैं—"निरतिशया" इत्यादिसे । तस्माद्—उपकारक होनेसे ।

जगत् चेतनसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा श्रुति कहती है, उस कथनके बलसे जगत् चेतन ही है ऐसा एकदेशीका मत उठाते हैं—"योऽपि" इत्यादिसे। परन्तु घट आदिका चेतनत्व

भाष्य

तु चैतन्यस्य परिणामविशेषाद् भविष्यति। यथा स्पष्टचैतन्यानामप्यात्मनां स्वापमूर्छाद्यवस्थासु चैतन्यं न विभाव्यत एवं काष्ठलोष्टादीनामपि चैतन्यं न विभावयिष्यते। एतस्मादेव च विभावितत्वाविभावितत्वकृताद् विशेषाद् रूपादिभावाभावाभ्यां च कार्यकरणानामात्मनां च चेतनत्वाविशेषेऽपि गुणप्रधानभावो न विरोत्स्यते। यथा च पार्थिवत्वाविशेषेऽपि मांससूपौदनादीनां प्रत्यात्मवर्तिनो विशेषात् परस्परोपकारित्वं भवत्येवमिहापि भविष्यति। प्रविभागप्रसिद्धिरप्यत एव न विरोत्स्यत इति।

भाष्यका अनुवाद

देखी जाती है और विशेष परिणामके कारण चैतन्य अभिव्यक्त नहीं होता, जैसे स्पष्टतया जिनकी चेतनतामें किसीको सन्देह नहीं है, ऐसे आत्माओंका भी चैतन्य निद्रा, मूर्छा आदि अवस्थाओंमें प्रतीत नहीं होता, वैसे ही लकड़ी, पत्थर आदिका चैतन्य भी प्रतीत नहीं होता है। और इसी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिजन्य विशेषसे और रूप आदिके अस्तित्व और अभावके कारण देह, इन्द्रिय और आत्माओंमें चेतनत्वका विशेष नहीं है, तो भी गुण और प्रधानभावका निवारण कौन कर सकता है? जैसे मांस, सूप, ओदन आदि सामान्यरूपसे पृथिवीविकार होनेपर भी प्रत्यगात्मामें रहनेवाले विशेषसे परस्पर उपकारक होते हैं, वैसे ही यहां भी होगा। और इसीसे विभागकी प्रसिद्धिमें भी कोई विरोध नहीं है, ऐसा जो कोई कहे।

रत्नप्रभा

अन्तःकरणान्यपरिणामत्वात् सतोऽपि चैतन्यस्य अनुपलब्धिरित्यर्थः। अन्तःकरणाद् अन्यस्य वृत्त्युपरागदशायामेव चैतन्याभिव्यक्तिः नाऽन्यदा इति भावः। वृत्त्यभावे चैतन्यानभिव्यक्तौ दृष्टान्तः—**यथेति**। आत्मानात्मनोः चेतनत्वे स्वस्वामिभावः कुतः इत्यत आह—**एतस्मादेवेति**। साम्येऽपि प्रातिस्विकस्वरूपविशेषात् शेषशेषित्वे दृष्टान्तः—**यथा चेति**। चेतनाचेतनभेदः कथम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपलब्ध नहीं होता, इस अनुपलब्धिसे बाधित है, इसपर कहते हैं—"अविभावनं तु" इत्यादि। घटादिरूप परिणाम अन्तःकरणसे भिन्न है, अतएव उसमें चैतन्य रहनेपर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती है। अन्तःकरणसे भिन्न परिणाममें वृत्तिसंबन्धसमयमें ही चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है, अन्य समयमें नहीं होती है, इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। आत्मा और अनात्मा दोनों चेतन हों, तो उनका स्वस्वामिभावसंबन्ध कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं—"एतस्मादेव" इत्यादि। सादृश्य रहनेपर भी अपने अपने स्वरूपके वैलक्षण्यसे अंगांगिभाव होता है, इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा

भाष्य

तेनाऽपि कथंचिच्चेतनत्वाचेतनत्वलक्षणं विलक्षणत्वं परिह्रियेत। शुद्ध्यशुद्धित्वलक्षणं तु विलक्षणत्वं नैव परिह्रियते न चेतरदपि विलक्षणत्वं परिहर्तुं शक्यत इत्याह—तथात्वं च शब्दादिति। अनवगम्यमानमेव हीदं लोके समस्तस्य वस्तुनश्चेतनत्वं चेतनप्रकृतिकत्वश्रवणाच्छब्दशरणतया केवलयोत्प्रेक्ष्येत, तच्च शब्देनैव विरुध्यते। यतः शब्दादपि तथात्वमवगम्यते। तथात्वमिति प्रकृतिविलक्षणत्वं कथयति। शब्द एव 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' (तै० २।६) इति कस्यचिद्विभागस्याऽचेतनतां श्रावयंश्चेतनाद् ब्रह्मणो विलक्षणमचेतनं जगच्छ्रावयति ॥४॥

भाष्यका अनुवाद

तो उस कथनसे भी किसी प्रकार चेतनत्व और अचेतनत्वरूप वैलक्षण्यका परिहार हो सकता है, परन्तु शुद्धि और अशुद्धिरूप वैलक्षण्यका परिहार तो हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार दूसरी विलक्षणताका भी परिहार नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'तथात्वं च शब्दात्'। लोकमें समस्त पदार्थ चेतन नहीं प्रतीत होते हैं, श्रुतिमें चेतनसे उत्पत्ति कहनेके कारण यदि केवल श्रुति-प्रमाणसे उनमें चेतनताकी कल्पना की जाय, तो वह चेतनत्वकी कल्पना श्रुतिसे ही विरुद्ध होती है, क्योंकि श्रुतिसे भी तथात्व—वैसा स्वरूप जाननेमें आता है। तथात्वपदसे प्रकृतिसे विलक्षणताको सूत्रकार कहते हैं। 'विज्ञानं०' (विज्ञान और अविज्ञान) इस प्रकार किसी एक विभागकी अचेतनताका प्रति-पादन करनेवाली श्रुति ही चेतन ब्रह्मसे जगत् विलक्षण—अचेतन है, ऐसा प्रतिपादन करती है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

इत्यत आह—**प्रविभागेति**। चैतन्याभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिभ्यामित्यर्थः।

सर्वस्य चेतनत्वम् एकदेश्युक्तम् अङ्गीकृत्य सांख्यः परिहरति—**तेनापि कथञ्चिदिति**। अङ्गीकारं त्यक्त्वा सूत्रशेषेण परिहरति—**न चेत्यादिना**। इतरत्—चेतनाचेतनत्वरूपम्। वैलक्षण्यम्—तथात्वशब्दार्थः। श्रुतार्थापत्तिः शब्देन बाध्या इति भावः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

च" इत्यादिसे। चेतन और अचेतनका भेद किस प्रकार है? इसपर कहते हैं—"प्रविभाग" इत्यादि। इससे—चैतन्यकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिसे।

एकदेशी द्वारा कथित सबकी चेतनताका अंगीकार करके सांख्य उसका परिहार करते हैं—"तेनापि कथंचित्" इत्यादिसे। अंगीकारका त्याग करके सूत्रके शेष भागसे उसका परिहार

भाष्य

ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते, यथा 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' (श० ब्रा० ६।१।३।२,४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६।२।३,४) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः, इन्द्रियविषयाऽपि 'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः' (बृ० ६।१।७) इति, 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति' (बृ० १।३।२) इत्येवमाद्येन्द्रियविषयेति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

परन्तु अचेतनरूपसे माने हुए भूत और इन्द्रियोंमें भी कहीं कहीं श्रुतिमें चेतनत्व दिखाई देता है, जैसे 'मृदब्रवीत्' (मृत्तिका बोली) 'आपोब्रुवन्०' (जल बोले) इस प्रकार और 'तत्तेज०' (उस तेजने देखा) 'ता आप०' (उन जलोंने देखा) इत्यादि प्रकारसे भूतोंके लिए चेतनत्वश्रुति है। इन्द्रियोंके लिए भी है, जैसे कि 'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे०' (निश्चय ये प्राण अपनी अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद करते हुए ब्रह्माके पास गये) 'ते ह वाचमूचुस्त्वं०' (उन देवोंने वाणीसे कहा कि तुम हमारे लिए उद्गाताका कर्म करो) इत्यादि इन्द्रियोंके लिए चेतनत्वश्रुति है । इसलिए उत्तर सूत्र पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

श्रुतिसाहाय्यात् न बाध्या इत्युत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते—**नन्विति**। मृदादीनां वक्तृत्वादिश्रुतेः तदभिमानिविषयत्वात् तया "विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च" (तै०२।५।१) इति चेतनाचेतनविभागशब्दस्य उपचरितार्थत्वं न युक्तमिति सांख्यः समाधत्ते—

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते है—"न च" इत्यादिसे । इतरत्—चेतनाचेतनत्वरूप । तथात्वशब्दका वैलक्षण्य अर्थ है । श्रुतार्थापत्ति शब्दसे बाध्य है, ऐसा भाव है ॥ ४ ॥

श्रुति सहायक है, इसलिए अर्थापत्तिका बाध नहीं होता है, इस प्रकार अग्रिम सूत्रसे निरसनीय शंका कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे । मृत्तिका आदिको वक्ता कहनेवाली श्रुति उनके अधिष्ठाता देवताओंका प्रतिपादन करती है, इसलिए 'विज्ञानं चा०' (विज्ञान और अविज्ञान) इस प्रकार चेतन और अचेतनके विभागके वाचक शब्दोंका लक्ष्यार्थ युक्त नहीं है, ऐसा सांख्य समाधान करते हैं—



अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥

पदच्छेद—अभिमानिव्यपदेशः, तु, विशेषानुगतिभ्याम् ।

पदार्थोक्ति—अभिमानिव्यपदेशस्तु—'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना' इत्यादौ न प्राणादिमात्रस्य व्यपदेशः, किन्तु प्राणाद्यभिमानिनीनां देवतानां व्यपदेशः [भवति, कुतः] विशेषानुगतिभ्याम्—'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति प्राणानां चेतनवाचिना देवताशब्देन विशेषितत्वात्, 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादिमन्त्रार्थवादादिषु सर्वत्र तदभिमानिदेवतानामनुगतिश्रवणाच्च [तस्मादचेतनस्य जगतो वैलक्षण्यान्न चेतनप्रकृतिकत्वम्] ।

भाषार्थ—'ते हेमे प्राणा०' (ये प्राण अपनी अपनी श्रेष्ठताके बारेमें विवाद करते हुए) इत्यादि श्रुतिमें केवल प्राणका कथन नहीं है, किन्तु प्राणाद्यभिमानी देवताओंका कथन है, क्योंकि 'एता ह वै देवता०' (ये देवता अपनी अपनी श्रेष्ठताके बारेमें विवाद करते हुए) इस प्रकार चेतनवाचक देवताशब्दसे प्राण विशेषित हैं और 'अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्निने वाक् होकर मुखमें प्रवेश किया) इत्यादि मंत्र और अर्थवादोंमें सब जगह प्राणाद्यभिमानी देवताओंका अनुगमन कहा गया है । इससे प्रतीत होता है कि अचेतन जगत् चेतनसे विलक्षण होनेके कारण चेतनप्रकृतिक नहीं है ।

भाष्य

तुशब्द आशङ्कामपनुदति । न खलु मृदब्रवीदित्येवंजातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वमाशङ्कनीयम्, यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः । मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनविसंवदनादिषु चेत-

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द आशंकाका निराकरण करता है । 'मृदब्रवीत्' (मृत्तिका बोली) इस प्रकारकी श्रुतिसे भूत और इन्द्रियाँ चेतन हैं, यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह कथन उनके अभिमानी देवताओंका है । मृत्तिका आदिके और वाणी आदिके अभिमानी चेतन देवताओंका वाद-विवाद आदि चेतनोचित

रत्नप्रभा

अभिमानीति । विसंवदनम्—विवादः, न भूतमात्रम् इन्द्रियमात्रं वा चेतनत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अभिमानि" इत्यादिसे । विसंवदन—विवाद । केवल भूतोंका या इन्द्रियोंक

भाष्य

नोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते न भूतेन्द्रियमात्रम् । कस्मात् ? विशेषानुगतिभ्याम् । विशेषो हि भोक्तॄणां भूतेन्द्रियाणां च चेतनाचेतनप्रविभागलक्षणः प्रागभिहितः । सर्वचेतनतायां चाऽसौ नोपपद्येत । अपि च कौषीतकिनः प्राणसंवादे करणमात्राशङ्काविनिवृत्तयेऽधिष्ठातृचेतनपरिग्रहाय देवताशब्देन विशिंषन्ति—'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति । 'ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' (कौ० २।१४) इति च । अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽ-

भाष्यका अनुवाद

व्यवहारमें अभिधान है, केवल भूत और इन्द्रियोंका अभिधान नहीं है। किससे ? विशेष और अनुगतिसे। भोक्ताओं एवं भूत और इन्द्रियोंमें चेतन और अचेतन विभागरूप विशेष पहले कहा जा चुका है। और सबके चेतन होनेपर यह भेद उपपन्न नहीं होगा। और कौषीतकि शाखावाले प्राणसंवादमें केवल इन्द्रियोंकी आशंका निवृत्त करनेके लिए और चेतन अधिष्ठाताका स्वीकार करनेके लिए 'एता ह वै देवताः०' (ये प्रसिद्ध देवता अपनी अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद करते हुए) और 'ता वा एताः सर्वा देवताः०' (ये सब देवता प्राणमें श्रेष्ठता जानकर) इस प्रकार इन्द्रियोंके लिए 'देवताः' यह विशेषण देते हैं। अभिमानी देवता सर्वत्र अनुगत हैं, यह मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण आदिसे

रत्नप्रभा

व्यपदिश्यते, लोकवेदप्रसिद्धविभागबाधायोगादित्यर्थः । विशेषपदस्याऽर्थान्तरमाह—**अपि चेति** । अहंश्रेयसे स्वस्वश्रेष्ठत्वाय प्राणाः विवदमाना इत्युक्तप्राणानां चेतनवाचिदेवतापदेन विशेषितत्वात् प्राणादिपदैः अभिमानिव्यपदेश इत्यर्थः । प्राणे निश्श्रेयसं श्रैष्ठ्यं विदित्वा प्राणाधीना जाता इत्यर्थः । अनुगतिं बहुधा व्याचष्टे—**अनुगताश्चेति** । तस्मै—प्राणाय, बलिहरणम्—वागादिभिः स्वीयवसिष्ठत्वादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

चेतनरूपसे व्यपदेश नहीं है, क्योंकि लोक और वेदमें प्रसिद्ध जो विभाग है, उसका बाध हो, यह युक्त नहीं है। विशेषपदका अन्य अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अपनी अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद करनेवाले प्राण चेतनवाची देवताशब्दसे विशिष्ट हुए हैं, इसलिए प्राण आदि पदोंसे अधिष्ठाता देवताओंका व्यपदेश है, ऐसा अर्थ है। 'प्राणे निःश्रेयसं०'—प्राणमें श्रेष्ठता जानकर प्राणके अधीन हुए, ऐसा अर्थ है। अनुगतिका अनेक व्याख्यान करते हैं—"अनुगताश्च" इत्यादिसे। 'तस्मै बलिहरणम्'—प्राणके

भाष्य

वगम्यन्ते। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२।४) इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां दर्शयति। प्राणसंवादवाक्यशेषे च 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' (छा० ५।१।७) इति श्रेष्ठत्वनिर्धारणाय प्रजापतिगमनम्, तद्वचनाच्चैकैकोत्क्रमणेनाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रैष्ठ्यप्रतिपत्तिः, तस्मै बलिहरणम् [बृ० ६।१।१३] इति चैवंजातीयकोऽस्मदादिष्विव व्यवहारोऽनुगम्यमानोऽभिमानिव्यपदेशं द्रढयति। 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यपदिश्यत इति द्रष्टव्यम्।

भाष्यका अनुवाद

जाना जाता है। 'अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्निने वाणी होकर मुखमें प्रवेश किया) इत्यादि श्रुति इन्द्रियोंके अनुग्राहक एवं इन्द्रियोंमें अनुगत देवताओंको दिखलाती है। और प्राणसंवादके वाक्यशेषमें 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं०' (उन प्राणोंने पिता प्रजापतिके पास जाकर कहा) इस प्रकार श्रेष्ठत्व निश्चय करनेके लिए प्रजापतिके पास जाना और उनके वचनसे एक एक के उत्क्रमणसे अन्वयव्यतिरेकद्वारा प्राणकी श्रेष्ठत्वप्रतीति और उसके लिए बलि ले जाना इस प्रकारका हमारे समान जो व्यवहार देखा जाता है, वह अधिष्ठाताके व्यपदेशको दृढ़ करता है। 'तत्तेज ऐक्षत' (उस तेजने देखा) यह भी अपने विकारोंमें अनुगत हुए अन्य अधिष्ठाता देवताके ईक्षणका ही

रत्नप्रभा

गुणसमर्पणं कृतम्। तेजआदीनाम् ईक्षणं त्वयैव ईक्षत्यधिकरणे [ब्र०सू० १।१।५]

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिए वाणी आदिने अपने वसिष्ठत्व आदि गुणका समर्पण किया है। तेज आदिका ईक्षण

(१) श्रेष्ठताका निश्चय करनेके लिए प्रजापतिके पास गये हुए प्राणोंके प्रति प्रजापतिने कहा कि तुममेंसे जिसके निकल जानेपर शरीर चेतनाशून्य होकर गिर जाय, वह श्रेष्ठ है। तब चक्षु आदि एक एक इन्द्रियके निकलनेपर अन्धत्व आदि प्राप्त हुए, परन्तु शरीरपात नहीं हुआ। जब मुख्य प्राण निकलने लगा, तब इन्द्रियां भी विकल हो गईं, शरीर भी गिरने लगा। तब सबने यह निर्णय किया कि मुख्य प्राण श्रेष्ठ है। अनन्तर चक्षु आदि इन्द्रियों ने मुख्य प्राणके लिए अपने अपने असाधारण गुणोंका समर्पण किया। यह प्राणसंवादका उपाख्यान है।

भाष्य

तस्माद् विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत्, विलक्षणत्वाच्च न ब्रह्मप्रकृतिकम् ॥५॥

इत्याक्षिप्ते प्रतिविधत्ते—

भाष्यका अनुवाद

अभिधान है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण ही है और विलक्षण होनेसे ही ब्रह्म उसकी प्रकृति नहीं है ॥ ५ ॥

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

चेतननिष्ठतया व्याख्यातं द्रष्टव्यम् इत्यर्थः। यस्मात् नास्ति जगतः चेतनत्वं तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

चेतननिष्ठ है, ऐसा तुमने (वेदान्तीने) ही ईक्षत्यधिकरणमें व्याख्यान किया है। चूँकि जगत् चेतन नहीं है, इसलिए [चेतन प्रकृतिक नहीं है] ऐसा पूर्वपक्षका उपसंहार है ॥५॥

दृश्यते तु ॥६॥

पदच्छेद—दृश्यते, तु।

पदार्थोक्ति—तु–किन्तु चेतनात् तद्विलक्षणानामचेतनानाम्, तथा अचेतनात् तद्विलक्षणानां चेतनानाञ्चोत्पत्तिः, दृश्यते, [अतः अचेतनं जगत् चेतनप्रकृतिकं भवितुमर्हति]।

भाषार्थ—चेतनसे चेतनविलक्षण अचेतन पदार्थोंकी एवं अचेतनसे तद्विलक्षण चेतन पदार्थोंकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए अचेतन जगत् चेतन-प्रकृतिक हो सकता है।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृति-

भाष्यका अनुवाद

'तु' शब्द पूर्वपक्षके निराकरणका द्योतक है। विलक्षण होनेसे यह

रत्नप्रभा

किं यत्किंचिद् वैलक्षण्यं हेतुः बहुवैलक्षण्यं वा। आद्ये व्यभिचारमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैलक्षण्यरूप जो हेतु कहा गया है, वह क्या यत्किंचित् विलक्षणता है अथवा बहु विलक्षणता

भाष्य

कम् इति । नाऽयमेकान्तः । दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम् । नन्वचेतनान्येव पुरुषादिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि, अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्याणीति ? उच्यते—एवमपि किञ्चिदचेतनं चेतनस्याऽऽयतनभावमुपगच्छति किञ्चिन्नेत्यस्त्येव वैलक्षण्यम् । महांश्चायं पारिणामिकः स्वभावविप्रकर्षः पुरुषादीनां केशनखादीनां च स्वरूपादि-

भाष्यका अनुवाद

जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ नहीं है, ऐसा जो कहा है, वह नियम सार्वत्रिक नहीं है, क्योंकि लोकमें चेतनरूपसे प्रसिद्ध पुरुष आदिसे विलक्षण केश, नख आदिकी उत्पत्ति दिखाई देती है और अचेतनरूपसे प्रसिद्ध गोमय आदिसे वृश्चिक आदिकी उत्पत्ति दिखाई देती है। परन्तु पुरुष आदिके अचेतन शरीर ही अचेतन केश, नख आदिके कारण हैं और अचेतन गोमय आदि वृश्चिक आदिके अचेतन शरीरके ही कारण हैं ? कहते हैं— इस प्रकार भी कुछ अचेतन चेतनके आश्रय होते हैं और कुछ नहीं होते, ऐसी विलक्षणता है ही। और यह परिणामात्मक स्वभावकी विलक्षणता बहुत बड़ी है, क्योंकि पुरुष आदि और केश, नख आदिके स्वरूप आदिमें भेद है। उसी

रत्नप्रभा

नाऽयमेकान्तः। दृश्यते हीति। हेतोरसत्त्वात् न व्यभिचार इति शङ्कते—**नन्विति**। यत्किञ्चिद् वैलक्षण्यम् अस्तीति व्यभिचार इत्याह—**उच्यते इति**। शरीरस्य केशादीनाञ्च प्राणित्वाप्राणित्वरूपं वैलक्षण्यमस्तीत्यर्थः। द्वितीयेऽपि तत्रैव व्यभिचारमाह—**महानिति**। पारिणामिकः—केशादीनां स्वगतपरिणामात्मक इत्यर्थः। किञ्च ययोः प्रकृतिविकारभावः तयोः सादृश्यं वदता वक्तव्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

है ? प्रथम पक्षमें हेतुका व्यभिचार कहते है—"नायमेकान्तः"। "दृश्यते हि" इत्यादिसे। हेतुके न होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। थोड़ीसी विलक्षणता है, इसलिए व्यभिचार होता है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। शरीर प्राणयुक्त है, केश आदि प्राणयुक्त नहीं है, इस प्रकार शरीर और केश आदिमें प्राणित्व, अप्राणित्व रूप विलक्षणता है, ऐसा समझना चाहिए। दूसरे पक्षमें भी उसी स्थलमें हेतुका व्यभिचार दिखलाते हैं—"महान्" इत्यादिसे। पारिणामिक—केश आदिका स्वगत परिणामात्मक। और जिन दो पदार्थोंमें प्रकृति-विकारभाव है, उन पदार्थोंका सादृश्य कहनेवालेसे

भाष्य

भेदात् । तथा गोमयादीनां वृश्चिकादीनां च । अत्यन्तसारूप्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत । अथोच्येत—अस्ति कश्चित् पार्थिवत्वादिस्वभावः पुरुषादीनां केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां च वृश्चिकादिषु इति ? ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते । विलक्षणत्वेन च कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता किमशेषस्य ब्रह्मस्वभावस्याऽननुवर्तनं विलक्षणत्वमभिप्रेयत उत यस्य कस्यचिदथ चैतन्यस्येति वक्तव्यम् । प्रथमे विकल्पे समस्तप्रकृतिविकारभावो-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार गोमय आदि और वृश्चिक आदिकी परिणामात्मक विलक्षणता भी बहुत बड़ी है । अत्यन्त सादृश्य होनेपर तो कार्यकारणभाव ही नष्ट हो जायगा । यदि कोई कहे कि पुरुष आदिके कुछ पार्थिवत्व आदि स्वभाव केश, नख आदिमें अनुवर्तमान हैं और गोमय आदिके भी पार्थिवत्व आदि स्वभाव वृश्चिक आदिमें अनुवर्तमान हैं ? तब तो ब्रह्मका भी सत्तात्मक स्वभाव आकाश आदिमें अनुवर्तमान दिखाई देता है । और विलक्षणत्वरूप कारणसे जगत्के ब्रह्मप्रकृतिकत्वमें दोष कहनेवालेको कहना चाहिए कि अशेष ब्रह्मस्वभावकी अनुवृत्तिका अभाव विलक्षणत्वरूपसे अभीष्ट है या चाहे किसी स्वभावकी अनुवृत्तिका अभाव या चैतन्यकी अनुवृत्तिका अभाव अभिप्रेत है । प्रथम पक्षमें समस्त प्रकृतिविकृति-

रत्नप्रभा

किम् आत्यन्तिकं यत्किञ्चिद् वा इति, आद्ये दोषमाह—**अत्यन्तेति** । द्वितीयम् आशङ्क्य ब्रह्मजगतोरपि तत्सत्त्वात् प्रकृतिविकृतित्वसिद्धिरित्याह—**अथेत्यादिना** । विलक्षणत्वं विकल्प्य दूषणान्तरमाह—**विलक्षणत्वेनेत्यादिना** । जगति समस्तस्य ब्रह्मस्वभावस्य चेतनत्वादेरननुवर्तनात् न ब्रह्मकार्यत्वमिति पक्षे सर्वसाम्ये प्रकृतिविकारत्वमित्युक्तं स्यात् तदसङ्गतमित्याह—**प्रथमे इति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह पूछना चाहिए कि क्या सादृश्य आत्यन्तिक—सर्वांशमें पूर्ण है अथवा यत्किञ्चित् है । प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं—"अत्यन्त" इत्यादिसे । द्वितीय पक्षकी आशंका करके ब्रह्म और जगत्में भी यत्किञ्चित् सादृश्य होनेसे प्रकृतिविकारभाव सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । विलक्षणतामें विकल्प करके दूसरा दोष बतलाते हैं—"विलक्षणत्वेन" इत्यादिसे । ब्रह्मके चेतनत्व आदि सब स्वभावोंकी जगत्में अनुवृत्ति नहीं होती है, इसलिए जगत् ब्रह्मकार्य नहीं है, इस पक्षमें पूर्ण समानता होनेसे ही प्रकृतिविकारभाव होता है, ऐसा कहा

भाष्य

च्छेदप्रसङ्गः। नह्यसत्यतिशये प्रकृतिविकारभाव इति भवति। द्वितीये चाऽसिद्धत्वम्, दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमान इत्युक्तम्। तृतीये तु दृष्टान्ताभावः, किं हि यच्चैतन्येनाऽनन्वितं तद्ब्रह्म-प्रकृतिकं दृष्टमिति ब्रह्मकरणवादिनं प्रत्युदाह्रियेत, समस्तस्याऽस्य वस्तुजात-स्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वाभ्युपगमात्। आगमविरोधस्तु प्रसिद्ध एव, चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यागमतात्पर्यस्य प्रसाधितत्वात्। यत्तूक्तम्—

भाष्यका अनुवाद

भावका उच्छेद हो जायगा। प्रकृति और विकारमें अतिशय न होनेपर यह प्रकृति है, यह विकार है, ऐसा भेद ही नहीं रह जायगा। द्वितीय पक्षमें असिद्धि है, क्योंकि सत्तारूप ब्रह्मस्वभावकी आकाश आदिमें अनुवृत्ति देखी जाती है, ऐसा कहा गया है। तृतीय पक्षमें तो कोई दृष्टान्त ही नहीं है। जो चैतन्यसे युक्त नहीं है, वह ब्रह्मप्रकृतिक नहीं देखा जाता, ऐसा कौन-सा उदाहरण ब्रह्मवादीके प्रति देंगे? क्योंकि समस्त वस्तुसमूह ब्रह्मप्रकृतिक माना गया है। शास्त्रविरोध तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि चेतन ब्रह्म जगत्का कारण और प्रकृति है, यह आगमका तात्पर्य है, ऐसा सिद्ध किया है। ब्रह्म सिद्ध

रत्नप्रभा

तृतीये तु दृष्टान्ताभाव इति। न च जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकम्, अचेतनत्वाद्, अविद्यावदिति दृष्टान्तोऽस्तीति वाच्यम्, अनादित्वस्य उपाधित्वात्। न च ध्वंसे साध्याव्यापकता, तस्याऽपि कार्यसंस्कारात्मकस्य भावत्वेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वाद् अभावत्वाग्रहे च अनादिभावत्वस्य उपाधित्वादिति। सम्प्रति कल्पत्रयसाधारणं दोषमाह—**आगमेति**। पूर्वोक्तमनूद्य ब्रह्मणः शुष्कतर्कविषयत्वासम्भवात् न

रत्नप्रभाका अनुवाद

गया है, वह असंगत है, ऐसा कहते हैं—"प्रथमे" इत्यादिसे। "तृतीये तु दृष्टान्ताभावः" इत्यादि। जगत् ब्रह्मप्रकृतिक नहीं है, अचेतन होनेसे, अविद्याके समान, यह दृष्टान्त है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमानमें अनादित्व उपाधि है। ध्वंसमें साध्यव्यापकता नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ध्वंस भी कार्यसंस्काररूप होनेसे भाव है, अतः ब्रह्मप्रकृतिक है, यदि यह आग्रह हो कि ध्वंस भाव नहीं है, अभाव ही है, तो अनादिभावत्वको उपाधि समझना चाहिए। अब तीनों पक्षोंमें रहनेवाला दोष कहते हैं—"आगम" इत्यादिसे। पूर्वोक्तका अनुवाद करके ब्रह्म शुष्क तर्कका विषय नहीं हो सकता है,

भाष्य

परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुः इति, तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि नाऽयमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च नाऽनुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत्। तथा च श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (का० १।२।९) इति। 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' 'इयं विसृष्टिर्यत

भाष्यका अनुवाद

वस्तु होनेसे उसमें अन्य प्रमाण संभव हों, ऐसा जो कहा है, वह भी मनोरथमात्र ही है, क्योंकि रूप आदिका अभाव होनेसे ब्रह्मवस्तु प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है और लिंग आदिके अभावसे अनुमान आदिका विषय नहीं है। यह अर्थ तो धर्मके समान आगममात्रसे ज्ञातव्य है। इस विषयमें 'नैषा तर्केण मतिरापनेया०' (हे प्रियतम! यह मति तर्कसे प्राप्त की जा सके, या दूर की जा सके, ऐसी नहीं है, कुतार्किकसे अन्यकी कही हुई मति सुज्ञानके लिए होती है) इत्यादि श्रुति है। 'को अद्धा वेद०' (कौन साक्षात् उसे जानता है और कौन उसे ठीक-ठीक समझा सकता) 'इयं विसृष्टिर्यत०' (यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न

रत्नप्रभा

तर्केण आक्षेप इत्याह—**यच्चूक्तमित्यादिना**। लिङ्गसादृश्यपदप्रवृत्तिनिमित्तानाम् अभावात् अनुमानोपमानशब्दानाम् अगोचरः, ब्रह्म लक्षणया वेदैकवेद्यमित्यर्थः। एषा ब्रह्मणि मतिः तर्केण स्वतन्त्रेण नाऽपनेया न संपादनीया। यद्वा, कुतर्केण न बाधनीया कुतार्किकाद् अन्येनैव वेदविदाऽऽचार्येण प्रोक्ता मतिः सुज्ञानाय—अनुभवाय फलाय भवति। हे प्रेष्ठ प्रियतम! इति नचिकेतसं प्रति मृत्योर्वचनम्। इयं विविधा सृष्टिर्यतः आ समन्ताद् बभूव तं को वा अद्धा साक्षाद् वेद, तिष्ठतु वेदनम्, क इह लोके तं प्रवोचत् प्रावोचत्, छान्दसो

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए तर्कसे आक्षेप नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"यच्चूक्तम्" इत्यादिसे। आशय यह कि हेतु न होनेसे ब्रह्म अनुमानका विषय नहीं है, सादृश्य न होनेसे उपमानका एवं पद न होनेसे शब्दप्रमाणका विषय नहीं है, परन्तु लक्षणासे केवल वेदसे ही उसका ज्ञान होता है। [नैषा तर्केण०—] ब्रह्मबुद्धि स्वतंत्र तर्कसे प्राप्त नहीं की जा सकती। अथवा कुतर्कसे बाधित नहीं हो सकती, कुतार्किकसे अन्य वेदज्ञ आचार्यसे कथित बुद्धि ही अनुभवरूप फलदायक होती है। हे प्रेष्ठ! (हे प्रियतम!) यह नचिकेताके प्रति मृत्युका वचन है। यह विविध सृष्टि जिससे हुई है, उसको कौन साक्षात् जानता है, उसको जानना तो दूर रहा, इस लोकमें उसका यथार्थ स्वरूप कौन कह सकता है अर्थात् उसका यथार्थ रूपसे उपदेश देनेवाला भी कोई नहीं है। 'प्रवोचत्' यहां दीर्घका लोप छान्दस

भाष्य

आबभूव' (ऋ० सं० १।३०।६) इति चैते ऋचौ सिद्धानामपीश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः। स्मृतिरपि भवति—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति। 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (गी० २।२५) इति च।

'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥' (गी० १०।२)

इति चैवंजातीयका। यदपि—श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयति इत्युक्तम्। नाऽनेन मिषेण शुष्कतर्कस्याऽत्राऽऽत्मलाभः संभवति, श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाऽऽश्रीयते। स्वप्नान्तबुद्धान्तयोरुभयोरितरेतरव्यभिचारादात्मनोऽनन्वागतत्वम्, सं-

भाष्यका अनुवाद

हुई) ये दोनों ऋचाएँ जगत्‌का कारण सिद्ध ब्रह्म योगियोंके लिए भी दुर्बोध है, ऐसा दिखलाती हैं। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा०' (जो पदार्थ अचिंत्य हैं, उन्हें तर्करूप कसौटीसे कसना उचित नहीं है) और 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्यो०' (यह अव्यक्त है, यह अचिन्त्य है और यह अविकार्य कहलाता है) 'न मे विदुः सुरगणाः०' (देवगण या महर्षि मेरे जन्मको नहीं जानते, मैं सब देवों और महर्षियोंका आदि हूँ) इत्यादि स्मृतियाँ भी हैं। श्रवणसे भिन्न मननका विधान करती हुई श्रुति ही तर्कका भी आदर करना चाहिए, ऐसा दिखलाती है, यह जो पीछे कहा गया है, उस कथनसे यहां शुष्क तर्क अवकाश नहीं पा सकता, यहां श्रुतिसे अनुगृहीत तर्कका अनुभवके सहायकरूपसे स्वीकार किया जा सकता है। स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था इन दोनोंमें परस्पर व्यभिचार होनेसे

रत्नप्रभा

दीर्घलोपः, यथावद् वक्तापि नास्तीत्यर्थः। प्रभवम्—जन्म न विदुः, मम सर्वादित्वेन जन्माभावात्। मिषेण—मननविधिव्याजेन, शुष्कः—श्रुत्यनपेक्षः। श्रुत्या तत्त्वे निश्चिते सति अनु—पश्चात् पुरुषदोषस्य असम्भावनादेः निरासाय

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं। मेरे प्रभव—उत्पत्तिको नहीं जानते हैं, सबका कारण होनेसे मेरा जन्म ही नहीं है। मिषेण—मननविधिके बहानेसे, शुष्क-श्रुतिकी अपेक्षा न रखनेवाला। श्रुतिसे तत्त्वका निश्चय करनेके अनन्तर असंभावना आदि पुरुषदोषोंका निरास करनेके लिए स्वीकृत तर्क श्रुत्यनुगृहीत कहलाता है,

भाष्य

प्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना सम्पत्तेर्निष्प्रपञ्चसदात्मकत्वम्, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात् कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इत्येवंजाती-

भाष्यका अनुवाद

आत्मा इनसे संस्पृष्ट नहीं है, सुषुप्तिमें प्रपञ्चका परित्याग होनेसे आत्मा सत्स्वरूप आत्माके साथ एक होकर निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, और प्रपञ्च ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, इसलिए कारण कार्यसे अभिन्न है, इस न्यायसे ब्रह्मसे प्रपञ्च

रत्नप्रभा

गृहीतः श्रुत्यनुगृहीतः, तमाह—**स्वप्नान्तेति**। जीवस्य अवस्थावतो देहादिप्रपञ्चयुक्तस्य निष्प्रपञ्चब्रह्मैक्यम् असम्भवि, द्वैतग्राहिप्रमाणविरोधाद् ब्रह्मणश्च अद्वितीयत्वमयुक्तम् इत्येवं श्रौतार्थासम्भावनायां तन्निरासाय सर्वासु अवस्थासु आत्मन अनुगतस्य व्यभिचारिणीभिः अवस्थाभिः अनन्वागतत्वम्—असंस्पृष्टत्वम् अवस्थानां स्वाभाविकत्वे वह्न्यौष्ण्यवद् आत्मव्यभिचारायोगात्, सुषुप्तौ प्रपञ्चभ्रान्त्यभावे "सता सोम्य" [छा० ६।८।१] इत्युक्ताभेददर्शनात् निष्प्रपञ्चब्रह्मैक्यसम्भवः, यथा घटादयो मृदभिन्नाः, तथा जगद् ब्रह्माभिन्नम् तज्जत्वाद्, इत्यादिः तर्कः आश्रीयते इत्यर्थः। इतोऽन्यादृशस्य तर्कस्याऽत्र ब्रह्मणि अप्रवेशात् अस्य चाऽनुकूलत्वात् न तर्केण आक्षेपावकाश इति भावः। ब्रह्मणि शुष्कतर्कस्याऽप्रवेशः सूत्रसम्मत

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसको कहते हैं—"स्वप्नान्त" इत्यादिसे। जीव अवस्थावाला और देह आदि प्रपंचसे युक्त है, इसलिए निष्प्रपंच ब्रह्मके साथ उसका ऐक्य नहीं हो सकता और द्वैतके ग्राहक प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेसे ब्रह्मको अद्वितीय मानना उचित नहीं है, इस प्रकार श्रुतिप्रतिपादित अर्थका असंभव प्राप्त होनेपर उसके निराकरणके लिए सब अवस्थाओंसे अनुगत आत्मा परस्पर व्यभिचरित अवस्थाओंसे अस्पृष्ट है, अवस्थाएँ यदि स्वाभाविक हों तो वह्निगत उष्णताके समान उनका व्यभिचार नहीं हो सकता, सुषुप्तिमें प्रपंचभ्रान्ति न होनेसे 'सता सोम्य' (हे प्रियदर्शन ! सुषुप्त्यवस्थामें जीव ब्रह्मके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है) इस श्रुतिसे कथित अभेद दिखाई देता है, इसलिए निष्प्रपंच ब्रह्मके साथ एकताका संभव है, जैसे मृत्तिकासे उत्पन्न होनेसे घट आदि मृत्तिकासे अभिन्न हैं, उसी प्रकार ब्रह्मजन्य होनेसे जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है, इत्यादि तर्क स्वीकृत होते हैं, ऐसा अर्थ है। इससे भिन्न प्रकारके तर्कका ब्रह्ममें प्रवेश न होनेसे और उक्त प्रकारके तर्क सिद्धान्तानुकूल होनेसे तर्कसे आक्षेपका अवकाश ही नहीं है, यह आशय है। ब्रह्ममें शुष्क तर्कका प्रवेश नहीं है, यह बात सूत्रसंमत है, ऐसा कहते हैं—

भाष्य

यकः। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २।१।११) इति च केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति। योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षेत तस्यापि 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतन-विभागश्रवणं विभावनाविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम्। परस्यैव त्विदमपि विभागश्रवणं न युज्यते। कथम्? परमकारणस्य ह्यत्र समस्तजगदात्मना समवस्थानं श्राव्यते 'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' इति। तत्र यथा चेतनस्याचेतनभावो नोपपद्यते विलक्षणत्वात्, एवम-

भाष्यका अनुवाद

अभिन्न है, इस प्रकारके तर्कका स्वीकार किया जाता है। और "तर्काप्रतिष्ठानात्" इस सूत्रमें केवल तर्क प्रमापक नहीं है, ऐसा दिखलाया जायगा। जो कोई चेतनको कारण कहनेवाली श्रुतिके बलसे ही समस्त जगत् चेतन है, ऐसी उत्प्रेक्षा करता है, उसके मतमें भी 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' (विज्ञान और अविज्ञान) इस प्रकार चेतन और अचेतनका विभाग करनेवाली श्रुतिकी योजना चैतन्यकी अभि-व्यक्ति और अनभिव्यक्तिसे की जा सकती है। परन्तु परके (सांख्यके) मतमें ही इस विभागश्रुतिकी योजना नहीं हो सकती। किस प्रकार? क्योंकि 'विज्ञानं चावि०' (विज्ञान और अविज्ञान हुआ) यह श्रुति परम कारणकी

रत्नप्रभा

इत्याह—**तर्काप्रतिष्ठानादिति**। विप्रलम्भकत्वम्—अप्रमापकत्वम्। यदुक्तम् एकदेशिना सर्वस्य जगतः चेतनत्वोक्तौ विभागश्रुत्यनुपपत्तिः इति दूषणं सांख्येन। तत् न, तत्र तेन एकदेशिना विभागश्रुतेः चैतन्याभिव्यक्त्यनभिव्यक्ति-भ्यां योजयितुं शक्यत्वात्। सांख्यस्य त्विदं दूषणं वज्रलेपायते, प्रधानकार्यत्वे सर्वस्याऽचेतनत्वेन चेतनाचेतनकार्यविभागासम्भवाद् इत्याह—**योऽपीत्यादिना**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तर्काप्रतिष्ठानात्" इत्यादिसे। विप्रलम्भकत्व—यथार्थ-ज्ञानको उत्पन्न न करना। सांख्यने जो यह दूषण दिखलाया है कि एकदेशीसे कथित सारे जगत्की चेतनता माननेपर प्रविभाग-श्रुति उपपन्न नहीं होगी, वह ठीक नहीं है, क्योंकि एकदेशी तो चैतन्यकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिसे विभागश्रुतिकी योजना कर सकता है। परन्तु सांख्यके मतमें तो यह दूषण वज्रलेपसा है, क्योंकि जगत्को प्रधानका कार्य माननेपर सम्पूर्ण जगत्के अचेतन होनेसे चेतन कार्य और अचेतन कार्यका विभाग हो ही नहीं सकेगा, ऐसा कहते हैं—"योऽपि" इत्यादिसे।

भाष्य

चेतनस्यापि चेतनभावो नोपपद्यते। प्रत्युक्तत्वात्तु विलक्षणत्वस्य यथाश्रुत्येव चेतनं कारणं ग्रहीतव्यं भवति ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

समस्त जगत्स्वरूपसे स्थिति है, ऐसा दिखलाती है। उसमें जैसे विलक्षणतासे चेतनका अचेतनभाव नहीं बन सकता, वैसे ही अचेतनका भी चेतनभाव उपपन्न नहीं होता। परन्तु विलक्षणताका निराकरण किया है, इसलिए श्रुतिके अनुसार ही चेतन कारणका ग्रहण करना चाहिए ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

सिद्धान्ते चेतनाचेतनवैलक्षण्याङ्गीकारे कथं ब्रह्मणः प्रकृतित्वमित्यत आह—प्रत्युक्तत्वादिति। अप्रयोजकत्वव्यभिचाराभ्यां निरस्तत्वाद् इत्यर्थः ॥६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगत्में चेतनाचेतन वैलक्षण्य माननेसे सिद्धान्तमें ब्रह्म जगदुपादान कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं—"प्रत्युक्तत्वात्" इत्यादि। अर्थात् अप्रयोजकत्व और व्यभिचारसे निराकरण करनेके कारण ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—असत्, इति, चेत्, न, प्रतिषेधमात्रत्वात्।

पदार्थोक्ति—असत्—उत्पत्तेः प्राक् जगत् असत् स्यात्, इति चेत्, न, प्रतिषेधमात्रत्वात्—'असत् स्यात्' इति प्रतिषेधमात्रत्वात् [कार्यसत्तायाः कारणाव्यतिरेकात् स्थितिदशायामिवोत्पत्तेः पूर्वमपि ब्रह्मात्मकमेवेदं जगत्, नासत् इति भावः]।

भाषार्थ—उत्पत्तिके पहले यह जगत् असत् हो जायगा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'असत् होगा' यह केवल प्रतिषेध ही है अर्थात् प्रतिषेध्य न होनेसे यह निरर्थक है, क्योंकि कार्य-सत्ता कारण-सत्तासे भिन्न नहीं है, इसलिए स्थितिकालके समान उत्पत्तिके पहले यह जगत् ब्रह्मरूप ही था, असत् नहीं था।

भाष्य

यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याऽचेतनस्याऽशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येत, असत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत। अनिष्टं चैतत् सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत्। नैष दोषः। प्रतिषेधमात्रत्वात्। प्रतिषेधमात्रं हीदं नाऽस्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति, नह्ययं प्रतिषेधः प्रागुत्पत्तेः सत्त्वं कार्यस्य प्रतिषेद्धुं शक्नोति। कथम्? यथैव हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सदेवं प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते। नहीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रमेवास्ति, 'सर्वं तं परादाद्योऽ-

भाष्यका अनुवाद

यदि चेतन, शुद्ध, शब्दादिरहित ब्रह्म अपनेसे विपरीत अचेतन, अशुद्ध, शब्दादियुक्त कार्यका कारण माना जाय, तो उत्पत्तिसे पूर्व कार्य नहीं था, ऐसा मानना पड़ेगा। और सत्कार्यवादको माननेवाले तुम्हारे लिए यह अनिष्ट होगा, ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रतिषेधमात्र है। निस्सन्देह यह प्रतिषेध ही है, इस प्रतिषेधका प्रतिषेध्य[1] कोई पदार्थ नहीं है। यह प्रतिषेध उत्पत्तिके पूर्व कार्यके सत्त्व[2]का प्रतिषेध नहीं कर सकता। किस प्रकार? क्योंकि जिस प्रकार अब भी यह कार्य कारणरूपसे विद्यमान है, उसी प्रकार उत्पत्तिके पूर्व भी विद्यमान था, ऐसा समझा जाता है। अब भी कार्य कारणस्वरूपके बिना स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि 'सर्वं तं परादा०' (जो आत्मासे भिन्न सबको

रत्नप्रभा

कार्यम् उत्पत्तेः प्राग् असदेव स्यात् स्वविरुद्धकारणात्मना सत्त्वायोगाद् इत्यपसिद्धान्तापत्तिमाशङ्क्य मिथ्यात्वात् कार्यस्य कालत्रयेऽपि कारणात्मना सत्त्वम् अविरुद्धमिति समाधत्ते—**असदिति चेदित्यादिना**। असत् स्यादिति सत्त्वप्रतिषेधो निरर्थक इत्यर्थः। कार्यसत्यत्वाभावे श्रुतिमाह—**सर्वं तमिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिके पहले कार्य असत् ही होगा, क्योंकि अपनेसे विरुद्ध कारणरूपसे रह नहीं सकता, इस प्रकार अपसिद्धान्त होगा, ऐसी आशंका कर कार्य मिथ्या होनेसे तीनों कालोंमें भी कारणरूपसे उसका रहना अविरुद्ध है, ऐसा समाधान करते हैं—"असदिति चेत्" इत्यादिसे। असत् होगा, इस प्रकार सत्ताका निषेध व्यर्थ है, ऐसा अर्थ है। कार्य सत्य नहीं है, इस

(१) जिसका प्रतिषेध किया जा सके। (२) सत्ता।

भाष्य

न्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६) इत्यादिश्रवणात् । कारणात्मना तु सत्त्वं कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरविशिष्टम् । ननु शब्दादिहीनं ब्रह्म जगतः कारणम् । बाढम् । न तु शब्दादिमत्कार्यं कारणात्मना हीनं प्रागुत्पत्तेरिदानीं वाऽस्ति, तेन न शक्यते वक्तुं प्रागुत्पत्तेरसत् कार्यमिति । विस्तरेण चैतत् कार्यकारणानन्यत्ववादे वक्ष्यामः ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

जानता है, उसका सब पराकरण[1] करते हैं) ऐसी श्रुति है । उत्पत्तिसे पूर्व कार्यके कारणस्वरूपसे होनेमें तो स्थितिकालसे कोई विशेष नहीं है । परन्तु क्या शब्दादि रहित ब्रह्म जगत्‌का कारण है ? हाँ है, किन्तु शब्दादियुक्त कार्य कारणरूपसे रहित न उत्पत्तिके पूर्व था, न अब है, इसलिए उत्पत्तिके पहले कार्य विद्यमान नहीं था, ऐसा नहीं कह सकते । कार्यकारणके अभेदका प्रतिपादन करनेके अवसरपर इसका विस्ताररूपसे वर्णन करेंगे ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

मिथ्यात्वमजानतः शङ्काम् अनूद्य परिहरति—**नन्वित्यादिना** । **विस्तरेण चैतदिति** । मिथ्यात्वमित्यर्थः ॥७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विषयमें श्रुति कहते हैं—"सव तम्" इत्यादिसे । मिथ्यात्वको नहीं जाननेवालेकी आशंकाका अनुवाद कर उसका परिहार करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । "विस्तरेण चैतत्" । एतत्—मिथ्यात्व ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत्प्रसंगादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—अपीतौ, तद्वत्, प्रसङ्गात्, असमञ्जसम् ।

पदार्थोक्ति—अपीतौ—प्रलयसमये, तद्वत्—कार्यवत्, प्रसङ्गात्—कारणस्यापि ब्रह्मणोऽशुद्धत्वादिप्रसङ्गात्, असमञ्जसम्—शुद्धत्वादिगुणकं ब्रह्म जगदुपादानमित्ययुक्तम् ।

भाषार्थ—शुद्धत्व आदि गुणवाला ब्रह्म जगत्‌का उपादानकारण हो, यह अयुक्त है, क्योंकि प्रलयकालमें कार्यके समान कारण ब्रह्म भी अशुद्धि आदि धर्मवाला हो जायगा ।

---

(१) पुरुषार्थसे भ्रष्ट करते हैं ।

भाष्य

अत्राऽऽह—यदि स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्ध्यादिधर्मकं कार्यं ब्रह्मकारणकमभ्युपगम्येत तदपीतौ प्रलये प्रतिसंसृज्यमानं कार्यं कारणाविभागमापद्यमानं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यस्येवाऽशुद्ध्यादिरूपताप्रसङ्गात् सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्कारणमित्यसमञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम्। अपि च समस्तस्य विभागस्याऽविभागप्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद् भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसम्। अपि च भोक्तॄणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं

भाष्यका अनुवाद

यहां कहते हैं—स्थूलता, अवयवयोग, अचेतनत्व, परिच्छिन्नत्व, अशुद्धि आदि धर्मवाले कार्यका कारण ब्रह्म है, ऐसा यदि स्वीकार किया जाय, तो प्रलयमें लीन होता हुआ अर्थात् कारणसे पृथक् प्रतीत न होता हुआ कार्य कारणको अपने धर्मसे दूषित करेगा, इस प्रकार प्रलयमें कारण ब्रह्मकी भी कार्यके समान अशुद्धि आदि रूपका प्रसंग आनेसे सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है, यह उपनिषद्दर्शन अयुक्त हो जायगा। और समस्त विभागका अविभाग प्राप्त होनेपर पुनः उत्पत्तिमें नियम कारणका अभाव होनेसे भोक्ता, भोग्य आदि विभागसे उत्पत्ति प्राप्त न होगी, यह अयुक्त है। और परब्रह्मके साथ

रत्नप्रभा

सत्कार्यवादसिद्ध्यर्थं कार्याभेदे कारणस्यापि कार्यवदशुद्ध्यादिप्रसङ्ग इति शङ्कासूत्रं व्याचष्टे—**अत्राऽऽहेति**। प्रतिसंसृज्यमानपदस्य व्याख्या—**कारणाविभागेति**। यथा जले लीयमानं लवणद्रव्यं जलं दूषयति तद्वदित्यर्थः। सूत्रस्य योजनान्तरमाह—**अपि चेति**। सर्वस्य कार्यस्याऽपीतौ कारणवत् एकरूपत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। अर्थान्तरमाह—**अपि चेति**। कर्मादीनाम् उत्पत्तिनिमित्तानां प्रलयेऽपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्कार्यवादकी सिद्धिके लिए कार्यको कारणसे अभिन्न माननेपर कारण भी कार्यके समान अशुद्धि आदि गुणवाला हो जायगा, इस अर्थके प्रतिपादक शंकासूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अत्राऽऽह" इत्यादिसे। "कारणाविभाग" इत्यादि प्रतिसंसृज्यमान पदका व्याख्यान है। जैसे जलमें प्रलीन लवण जलको दूषित करता है, वैसे कार्य ब्रह्ममें लीन होकर अपने धर्मसे ब्रह्मको दूषित करेगा यह अर्थ है। सूत्रकी दूसरी योजना कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अर्थात् सब कार्योंका प्रलयमें कारणके समान एक रूप होनेका प्रसंग हो जायगा। सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे।

भाष्य

गतानां कर्मादिनिमित्तप्रलयेऽपि पुनरुत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम्। अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणाऽवतिष्ठेत, एवमप्यपीतिश्च न संभवति, कारणाव्यतिरिक्तं च कार्यं न संभवतीत्यसमञ्जसमेवेति ॥ ८ ॥

अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

अभेदको प्राप्त हुए भोक्ताओंकी, कर्म आदि निमित्तका प्रलय होनेपर भी, पुनरुत्पत्ति मानी जाय, तो मुक्तोंकी भी पुनरुत्पत्ति माननी पड़ेगी यह अनुचित है। यदि यह जगत् प्रलयमें भी परब्रह्मसे विभक्त ही अवस्थित रहे, तो इस प्रकार प्रलयका ही संभव नहीं होगा और कारणसे अभिन्न कार्यका संभव नहीं होगा, इसलिए यह औपनिषद दर्शन अयुक्त ही हो जायगा ॥ ८ ॥

इस पर कहते हैं—

रत्नप्रभा

भोक्तृणाम् उत्पत्तौ तद्वदेव मुक्तानाम् अपि उत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः। शङ्कापूर्वकं व्याख्यान्तरमाह—**अथेति**। यदि लयकालेऽपि कार्यं कारणाद् विभक्तं तर्हि स्थितिकालवत् लयाभावप्रसङ्गात् कार्येण द्वैतापत्तेश्च असमञ्जसमिदं दर्शनमित्यर्थः ॥८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिके कारणभूत कर्म आदिका प्रलय होनेपर भी भोक्ता जीवात्माओंकी उत्पत्ति माननेसे उसी प्रकार मुक्त आत्माओंकी भी उत्पत्ति माननी होगी, ऐसा अर्थ है। शंकापूर्वक अन्य व्याख्यान कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। यदि प्रलय कालमें भी कार्य कारणसे भिन्न हो, तो स्थिति कालके समान कभी लय ही नहीं होगा और कारणसे कार्य भिन्न हो, तो द्वैतकी आपत्ति होगी, इसलिए यह दर्शन असंगत हो जायगा, ऐसा अर्थ है ॥८॥

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—न, तु, दृष्टान्तभावात्।

पदार्थोक्ति—न तु—असमञ्जसं नास्त्येव [कुतः] दृष्टान्तभावात्—कारणे लीयमानं कार्यं कारणं न दूषयतीत्यर्थे शतशो दृष्टान्तानां सत्त्वात्।

भाषार्थ—पूर्वोक्त असामञ्जस्य है नहीं, क्योंकि कारणमें लीन कार्य अपने कारणको दूषित नहीं करता है, इस विषयमें सैकड़ों दृष्टान्त हैं।

भाष्य

नैवाऽस्मदीये दर्शने किञ्चिदसामञ्जस्यमस्ति। यत्तावदभिहितं कारणमपिगच्छत् कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेत् इति, तददूषणम्। कस्मात्? दृष्टान्तभावात्। सन्ति हि दृष्टान्ता यथा कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण न दूषयति। तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थायामुच्चावचमध्यमप्रभेदाः सन्तः पुनः प्रकृतिमपिगच्छन्तो न तामात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतौ न पुनः सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। पृथिवीविकारश्चतुर्विधो भूतग्रामो न पृथिवीमपीतावात्मीयेन धर्मेण संसृजति। त्वत्पक्षस्य तु न कश्चिद् दृष्टान्तोऽस्ति। अपीतिरेव हि न संभवेद्यदि कारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत।

भाष्यका अनुवाद

हमारे दर्शनमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है। कारणमें लीन होता हुआ कार्य अपने धर्मसे कारणको दूषित करे, ऐसा जो कहा है, वह दूषण नहीं है। किससे? दृष्टान्तके अस्तित्वसे। कारणमें लीन हुआ कार्य कारणको अपने धर्मसे दूषित नहीं करता, इस विषयमें दृष्टान्त हैं। जैसे मिट्टीसे बने हुए शरावादि स्थितिकालमें छोटे, बड़े और मझले आकारके होकर पुनः प्रकृतिमें लीन होते हुए उसको अपने धर्मसे मिश्रित नहीं करते। और रुचक आदि सुवर्ण विकार प्रलयमें सुवर्णको अपने धर्मसे संसृष्ट नहीं करते। उसी प्रकार चार प्रकारके पृथिवीके विकार भूतसमुदाय पृथिवीको प्रलयमें अपने धर्मसे संसृष्ट नहीं करते। तुम्हारे पक्षमें तो कोई दृष्टान्त नहीं है। यदि कारणमें

रत्नप्रभा

अपीतौ जगत् स्वकारणं न दूषयति कारणे लीनत्वाद् मृदादिषु लीनघटादिवदिति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—**नैवेत्यादिना**। अपिगच्छत्—लीयमानम्, विभागावस्था—स्थितिकालः। **त्वत्पक्षस्येति**। मधुरजलं लवणस्य अकारणम् इत्यदृष्टान्तः। किञ्च, दूषकत्वे कार्यस्य स्थितिः स्यात् लवणवद् इत्याह—**अपीतिरेवेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रलयमें जगत् अपने कारणको दूषित नहीं करता है, क्योंकि कारणमें लीन होता है, मृत् आदिमें लीन घट आदिके समान, इस प्रकार सिद्धान्त सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"नैव" इत्यादिसे। अपिगच्छत्—लीन होता हुआ। विभागावस्था स्थितिसमय। "त्वत्पक्षस्य" इत्यादि। मधुर जल लवणका कारण नहीं है, इसलिए वह दृष्टान्त नहीं हो सकता। और कार्य यदि अपने धर्मसे कारणको दूषित करे, तो लवणके समान सर्वदा कार्यकी स्थिति हो,

भाष्य

अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यत्र वक्ष्यामः (ब्र० सू० २।१।१४)। अत्यल्पं चेदमुच्यते—कार्यमपीतावात्मीयेन धर्मेण कारणं संसृजेत् इति। स्थितावपि हि समानोऽयं प्रसङ्गः, कार्यकारणयोरनन्यत्वाभ्युपगमात्। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इत्येवमाद्याभिर्हि

भाष्यका अनुवाद

कार्य अपने धर्मसे ही अवस्थित रहे तो प्रलय ही न हो। कार्य और कारण अनन्य हैं, तो भी कार्य कारणात्मक है, परन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है, ऐसा 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' में कहेंगे। और प्रलयमें कार्य अपने धर्मसे कारणको संसृष्ट करता है, यह कथन बहुत थोड़ा है, स्थितिमें भी यह प्रसंग समान ही है, क्योंकि कार्य और कारण अनन्य हैं, ऐसा स्वीकार है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (दृश्यमान सब पदार्थ यह आत्मा ही है), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (यह सब आत्मा ही है), 'ब्रह्मैवेदममृतं०' (यह अमृत ब्रह्म ही पूर्व दिशामें है) 'सर्वं खल्विदं०' (यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि श्रुतियां तीनों

रत्नप्रभा

असति कार्ये तद्धर्मेण कारणस्य योगो न सम्भवति धर्म्यसत्त्वे धर्माणामपि असत्त्वादिति भावः। ननु सत्कार्यवादे लयेऽपि कार्यस्य कारणाभेदेन सत्त्वाद् दूषकत्वं स्याद् इत्यत आह—**अनन्यत्वेऽपीति**। कल्पितस्य अधिष्ठानधर्मवत्त्वम् अभेदात् न त्वधिष्ठानस्य कल्पितकार्यधर्मवत्त्वम् तस्य कार्यात् पृथक् सत्त्वादित्यर्थः। किञ्च, अपीतौ इति विशेषणं व्यर्थमिति प्रतिबन्द्या समाधत्ते—**अत्यल्पं**

रत्नप्रभाका अनुवाद

लय ही न हो, ऐसा कहते हैं—"अपीतिरेव" इत्यादिसे। कार्य न हो, तो उसके धर्मके साथ कारणका संबन्ध ही न हो सकेगा, क्योंकि धर्मी ही न हो, तो उसके धर्म ही नहीं रह सकेंगे, ऐसा आशय है। परन्तु सत्कार्यवादमें प्रलयकालमें भी कार्य कारणाभिन्न रहता है, इसलिए कारणको दूषित कर सकता है, इसपर कहते हैं—"अनन्यत्वेऽपि" इत्यादि। कल्पित वस्तुमें अधिष्ठानके धर्म रहते हैं, क्योंकि वह उससे अभिन्न है, परन्तु अधिष्ठानमें कल्पित कार्यका कोई धर्म नहीं रहता है, क्योंकि वह कार्यसे भिन्न है, ऐसा अर्थ है। और 'अपीतौ' यह विशेषण व्यर्थ भी है, इस प्रकार प्रतिबन्दी उत्तर देकर समाधान करते हैं—**"अत्यल्पं**

भाष्य

श्रुतिभिरविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य कारणादनन्यत्वं श्राव्यते । तत्र यः परिहारः—कार्यस्य तद्धर्माणां चाऽविद्याध्यारोपितत्वान्न तैः कारणं संसृज्यते—इति, अपीतावपि स समानः । अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्माऽपि संसारमायया न संस्पृश्यत इति । यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शनमायया न संस्पृश्यते प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात्, एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न

भाष्यका अनुवाद

कालमें एकरूपसे कार्यका कारणसे अभेद प्रतिपादन करती हैं । उसमें कार्य और उसके धर्मोंका अविद्या द्वारा कारणमें अध्यारोप होनेसे उनके साथ कारण संस्पृष्ट नहीं होता, ऐसा जो परिहार है, वह प्रलयमें भी समान है । और यह दूसरा दृष्टान्त है कि जैसे अपनी फैलाई हुई मायासे तीनों कालमें मायावी संस्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि माया अवस्तु है, वैसे ही परमात्मा भी संसारकी मायासे स्पृष्ट नहीं होता । और जैसे एक स्वप्न देखनेवाला स्वप्नदर्शनकी मायासे संस्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि जाग्रत् और सुषुप्तिमें वह मायासे अनुगम्यमान नहीं है, इसी प्रकार तीनों अवस्थाओंका साक्षी, एक जो अव्यभिचारी है, वह तीनों व्यभिचारी

रत्नप्रभा

चेति । परिणामदृष्टान्तं व्याख्याय विवर्तदृष्टान्तं व्याचष्टे—अस्ति चेति । मायावी अनुपादानमिति अरुच्या दृष्टान्तान्तरमाह—यथा चेति । अस्त्येव स्वप्नकाले दृष्टः संसर्ग इत्यत आह—प्रबोधेति । जाग्रत्सुषुप्त्योः स्वप्नेनाऽऽत्मनः अस्पर्शात् तत्कालेऽपि अस्पर्श इत्यर्थः । यदा अज्ञस्य जीवस्य अवस्थाभिः असंसर्गः, तदा सर्वज्ञस्य किं वाच्यमिति दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति । यद्वा, जगज्जन्मस्थितिलया ईश्वरस्य अवस्थात्रयम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

च" इत्यादिसे । परिणाममें दृष्टान्तका व्याख्यान करके विवर्तमें दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—"अस्ति च" इत्यादिसे । प्रथम दृष्टान्तमें उक्त मायावी मायाका उपादान कारण नहीं है, इस अरुचिसे दूसरा दृष्टान्त कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे । स्वप्नकालमें तो आत्माका स्वप्नके साथ संसर्ग देखा जाता है, इसपर कहते हैं—"प्रबोध" इत्यादि । जाग्रत् और सुषुप्त्यवस्थामें स्वप्नके साथ आत्माका संसर्ग नहीं रहता, इसलिए स्वप्नावस्थामें भी स्वप्नके साथ आत्माका संसर्ग नहीं है, ऐसा अर्थ है । जब अज्ञ जीवका ही अवस्थाओंसे संबन्ध नहीं है, तब सर्वज्ञके बारेमें कहना ही क्या है, ऐसा दार्ष्टान्तिक कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । जगत्की उत्पत्ति,

भाष्य

संस्पृश्यते । मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनाऽवभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति । अत्रोक्तं वेदान्तार्थसंप्रदायविद्भिराचार्यैः—

'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥' (गौडपा० कारि० १।१६)

इति । यदुक्तम्—अपीतौ कारणस्याऽपि कार्यस्येव स्थौल्यादिदोषप्रसङ्ग इति, एतदयुक्तम् । यत्पुनरेतदुक्तम्—समस्तस्य विभागस्याऽविभागप्राप्तेः पुनर्विभागेनोत्पत्तौ नियमकारणं नोपपद्यत इति । अयमप्यदोषः । दृष्टान्तभावादेव । यथा हि सुषुप्तिसमाध्यादावपि सत्यां स्वाभाविक्यामविभाग-

भाष्यका अनुवाद

दशाओंसे संस्पृष्ट नहीं होता। जैसे रज्जुका सर्प आदि रूपमें अवभास है, वैसे परमात्माका तीनों अवस्थाओंके स्वरूपमें अवभास होना मायामात्र है । इस विषयमें वेदान्त संप्रदायको जाननेवाले आचार्योंने कहा है—'अनादिमायया सुप्तो०' (जब अनादिमायासे सोया हुआ जीव जागता है, तब जन्म, निद्रा, स्वप्न और द्वैतरहित परमात्माको जानता है) । प्रलयमें कार्यके समान कारणमें भी स्थूलता आदि दोष प्राप्त होंगे, ऐसा जो कहा है, वह अयुक्त है । उसी प्रकार समस्त विभागका प्रलयकालमें अविभाग होनेपर फिरसे विभागसे उत्पत्तिमें नियम कारण उपपन्न नहीं होता, ऐसा भी जो कहा है, यह भी दोष नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त है ही । जैसे सुषुप्ति, समाधि आदिमें भी

रत्नप्रभा

तदसङ्गित्वे वृद्धसम्मतिमाह—**अत्रोक्तमिति** । यदा—तत्त्वमसीति उपदेशकाले प्रबुध्यते—मायानिद्रां त्यजति तदा जन्मलयस्थित्यवस्थाशून्यम् अद्वैतमीश्वरम् आत्मत्वेनाऽनुभवति इत्यर्थः । फलितमाह—**तत्रेति** । द्वितीयम् असामञ्जस्यम् अनूद्य तेनैव सूत्रेण परिहरति—**यत्पुनरिति** । सुषुप्तौ अज्ञानसत्त्वे पुनर्विभागोत्पत्तौ च

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्थिति और लय ईश्वरकी तीन अवस्थाएँ हैं, ईश्वरका अवस्थाओंसे संबन्ध नहीं है, इस विषयमें वृद्धोंकी सम्मति कहते हैं—"अत्रोक्तम्" इत्यादिसे । जब जीव 'तत्त्वमसि' इस उपदेशके समय मायानिद्राको छोड़ देता है, तब उत्पत्ति, नाश, स्थिति रूप तीन अवस्थाओंसे शून्य अद्वितीय ईश्वरका स्वस्वरूपसे अनुभव करता है, ऐसा कारिकाका अर्थ है । "तत्र" इत्यादिसे फलित कहते हैं । दूसरे असामञ्जस्यका अनुवाद करके उसी सूत्रसे उसका परिहार करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे । सुषुप्तिमें अज्ञान रहता है और पुनः विभाग उत्पन्न होता

भाष्य

प्राप्तौ मिथ्याज्ञानस्याऽनपोदितत्वात् पूर्ववत् पुनः प्रबोधे विभागो भवत्येव-मिहापि भविष्यति । श्रुतिश्चाऽत्र भवति—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति' (छा० ६।९।२,३) इति । यथा ह्यविभागेऽपि परमात्मनि मिथ्याज्ञान-प्रतिबद्धो विभागव्यवहारः स्वप्नवदव्याहतः स्थितो दृश्यते, एवमपीतावपि

भाष्यका अनुवाद

स्वाभाविक अविभाग प्राप्त होनेपर भी मिथ्याज्ञान दूर न होनेसे पुनः प्रबोध होनेपर पूर्वके समान विभाग होता ही है, उसी प्रकार यहां भी होगा। इसमें श्रुति भी है—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य०' (ये सब जीव ब्रह्ममें एक होकर हम ब्रह्ममें एक हुए हैं, ऐसा नहीं जानते । यहां सुषुप्तिके पूर्व प्रबोध समयमें बाघ या सिंह या भेड़िया या शूकर या कीड़े या पतंगे या डांस या मच्छर आदि जो रहता है, सुषुप्तिसे उठनेके बाद वह वही होता है) । जैसे परमात्मामें अविभाग है, तो भी स्थितिकालमें मिथ्याज्ञानसे मिले हुए विभागका व्यवहार स्वप्नके समान अव्याहत देखनेमें आता है, वैसे प्रलयमें भी मिथ्याज्ञानसे

रत्नप्रभा

मानमाह—**श्रुतिश्चेति** । सति ब्रह्मणि एकीभूय न विदुः इत्यज्ञानोक्तिः, इह सुषुप्तेः प्राक् प्रबोधे येन येन जात्यादिना विभक्ता भवन्ति तदा पुनः उत्थान-काले तथैव भवन्तीति विभागोक्तिः । ननु सुषुप्तौ पुनर्विभागशक्त्यज्ञानसत्त्वेऽपि सर्वप्रलये तत्सत्त्वं कुत इत्यत आह—**यथा हीति** । यथा सुषुप्तौ परमात्मनि सर्वकार्याणाम् अविभागेऽपि पुनर्विभागहेत्वज्ञानशक्तिरस्ति, एवम् अपीतौ महा-प्रलयेऽपि मिथ्याभूताज्ञानसम्बद्धा पुनः सृष्टिविभागशक्तिः अनुमास्यते । यतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इस विषयमें प्रमाण कहते हैं—"श्रुतिश्च" इत्यादिसे । ब्रह्ममें एकता प्राप्त करके भी उसे नहीं जानते हैं, इस प्रकार अज्ञानका कथन है, सुषुप्तिके पहले जाग्रदवस्थामें जो जिस जाति आदिसे विभक्त रहते हैं, पुनः सुषुप्तिसे उत्थान कालमें भी वे उसी जाति आदिसे विभक्त होते हैं, इस प्रकार विभागका कथन है । यदि कोई कहे कि सुषुप्तिमें पुनर्विभागकी शक्ति अज्ञानके रहनेपर भी सर्वप्रलयमें वह विभगशक्ति रहती है, इसमें क्या प्रमाण है, इसपर कहते हैं—"यथा हि" इत्यादि । जैसे सुषुप्त्यवस्थामें ब्रह्ममें सब कार्योंका विभाग न रहनेपर भी पुनः विभागहेतु अज्ञान-शक्ति रहती है, उसी प्रकार महाप्रलयमें भी मिथ्याभूत अज्ञानसे संबन्ध रखनेवाली पुनः सृष्टिकी

भाष्य

मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धैव विभागशक्तिरनुमास्यते। एतेन मुक्तानां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्याऽपोदितत्वात् । यः पुनरयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षितः—अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणाऽवतिष्ठेत—इति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव प्रतिषिद्धः। तस्मात् समञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम् ॥९॥

भाष्यका अनुवाद

मिली हुई विभागशक्तिकी अनुमिति होती है। इससे मुक्तोंकी पुनरुत्पत्तिके प्रसंगका निराकरण हुआ समझना चाहिए, क्योंकि सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याज्ञानका नाश हो गया है। और अन्तमें जो दूसरे विकल्पकी उत्प्रेक्षा की है कि यह जगत् प्रलयमें भी परब्रह्मके साथ विभक्त ही रहेगा, इसका भी अस्वीकारसे ही प्रतिषेध हुआ है। इससे यह औपनिषद दर्शन समंजस है ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

स्थितौ इदानीं मिथ्याज्ञानकार्यो विभागव्यवहारः तत्त्वबोधाभावात् स्वप्नवद् अबाधितो दृश्यते, अतः कार्यदर्शनात् कारणसत्त्वसिद्धिः इत्यर्थः। अज्ञानां जीवानां महाप्रलयेऽपि अज्ञानशक्तिनियमात् पुनर्जन्मनियम इति भावः। **एतेनेति**। जन्मकारणाज्ञानशक्त्यभावेन इत्यर्थः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विभागशक्तिका अनुमान होता है। चूंकि इस स्थितिकालमें तत्त्वज्ञान न होनेसे मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न विभागव्यवहार स्वप्नके समान अबाधित प्रतीत होता है, इसलिए कार्यज्ञानसे कारणकी सत्ता सिद्ध होती है, ऐसा अर्थ है। अज्ञ जीवोंको महाप्रलयमें भी अज्ञानशक्ति रहती है, इसलिए उनकी पुनः उत्पत्ति होती है, ऐसा आशय है। "एतेन" अर्थात् उत्पत्तिके कारणभूत अज्ञानशक्तिके न होनेसे ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

पदच्छेद—स्वपक्षदोषात्, च।

पदार्थोक्ति—स्वपक्षदोषाच्च–साङ्ख्येनोद्भावितानां दोषाणां साङ्ख्यपक्षेऽपि सद्भावात् [दोषपरिहारोपायौ समानौ]।

भाषार्थ—सांख्य ने जो दोष कहे हैं, वे सांख्यमतमें भी हैं, अतः दोष एवं उसके परिहारका उपाय दोनों मतमें समान हैं।

भाष्य

स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः प्रादुःष्युः। कथमिति? उच्यते—यत्तावदभिहितं विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृतिकम् इति, प्रधानप्रकृतिकतायामपि समानमेतत्, शब्दादिहीनात् प्रधानाच्छब्दादिमतो जगत उत्पत्त्यभ्युपगमात्। अत एव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात् समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवादप्रसङ्गः। तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणविभागाभ्युपगमात् तद्वत् प्रसङ्गोऽपि समानः। तथा मृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावविभागात्मतां गतेष्विदमस्य पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक्

भाष्यका अनुवाद

प्रतिवादीके पक्षमें भी ये दोष साधारण हैं। किस प्रकार? कहते हैं—पीछे जो यह आक्षेप किया गया है कि विलक्षण होनेके कारण यह जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न नहीं हुआ है, वह आक्षेप प्रधानसे जगत्की उत्पत्ति माननेपर भी समान है, क्योंकि सांख्य शब्द आदिसे रहित प्रधानसे शब्दादियुक्त जगत्की उत्पत्ति मानते हैं। इसीसे—विलक्षण कार्यकी उत्पत्ति माननेसे उत्पत्तिके पूर्व असत्कार्यवादका प्रसंग समान है। उसी प्रकार प्रलयमें कार्यका कारणसे अभेद माना गया है, अतएव कार्यके धर्मोंका कारणके साथ संबद्ध होना भी समान है। उसी प्रकार जिनके सब विशेष नष्ट हो गये हैं, प्रलयमें कारणके साथ अभेदको प्राप्त हुए उन विकारोंको प्रलयके पूर्व प्रत्येक पुरुषके प्रति यह अमुकका उपादान है, यह

रत्नप्रभा

वैलक्षण्यादीनां सांख्यपक्षेऽपि दोषत्वात् न अस्माभिः तन्निरासप्रयासः कार्य इत्याह—**स्वपक्षेति**। सूत्रं व्याचष्टे—**स्वेति**। प्रादुःष्युः प्रादुर्भवेयुः। **अत एवेति**। सत्यकार्यस्य विरुद्धकारणात्मना सत्त्वायोगात् सांख्यस्यैव अयं दोषो न कार्यमिथ्यात्ववादिनः इति मन्तव्यम्। अपीतौ इति सूत्रोक्तदोषचतुष्टयम् आह—**तथापीताविति**। कार्यवत् प्रधानस्य रूपादिमत्त्वप्रसङ्गः। इदं कर्मादिकम् अस्य उपा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैलक्षण्य आदि दोष सांख्यमतमें भी होते हैं, अतः उनका निराकरण करनेके लिए हमको प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं—"स्वपक्ष" इत्यादिसे। "स्व" इत्यादिसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं। प्रादुःष्युः—उत्पन्न होंगे। "अत एव" इत्यादि। सत्य कार्य अपनेसे विरुद्ध कारणरूपसे नहीं रह सकता है, यह दोष सांख्यके मतमें ही है, कार्यको मिथ्या माननेवाले वेदान्तियोंके मतमें नहीं है। 'अपीतौ' सूत्रमें कथित चार दोषोंको कहते हैं—"तथापीतौ" इत्यादिसे। प्रलयमें कार्यको कारणाभिन्न माननेसे कार्यके समान

भाष्य

प्रलयात् प्रतिपुरुषं ये नियता भेदा न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते कारणाभावात् । विनैव च कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभाव-साम्यान्मुक्तानामपि पुनर्बन्धप्रसङ्गः। अथ केचिद्भेदा अपीतावविभागमापद्यन्ते केचिन्नेति चेत् । ये नापद्यन्ते तेषां प्रधानकार्यत्वं न प्राप्नोतीत्येवमेते दोषाः साधारणत्वान्नान्यतरस्मिन् पक्षे चोदयितव्या भवन्तीत्यदोषता-मेवैषां द्रढयति अवश्याश्रयितव्यत्वात् ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

अमुकका, इस प्रकार जो नियत भेद हैं, वे पुनरुत्पत्तिमें उसी प्रकार रहते हैं, ऐसा नियम नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा नियम करनेमें कोई कारण नहीं है। कारणके बिना नियम माना जाय, तो कारणके अभावके समान होनेसे मुक्त भी पुनः बद्ध हो जायंगे। कुछ भेद प्रलयमें अविभागको प्राप्त होते हैं और कुछ नहीं होते, ऐसा कहो, तो जो अविभागको प्राप्त नहीं होते, वे प्रधानके कार्य नहीं होंगे। इस प्रकार ये दोष साधारण होनेसे एक ही पक्षमें लागू नहीं हो सकते, इसलिए सूत्रकार दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि ये हमारे ही मतमें दोष नहीं हैं, क्योंकि वे अवश्य मन्तव्य हैं ॥१०॥

रत्नप्रभा

दानं भोग्यम् अस्य न इत्यनियमः । बद्धमुक्तव्यवस्था च । यदि व्यवस्थार्थं मुक्तानां भेदाः—सङ्घातविशेषाः प्रधाने लीयन्ते बद्धानां भेदास्तु न लीयन्ते इति उच्येत, तर्हि अलीनानां पुरुषवत् कार्यत्वव्याघात इत्यर्थः ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रधानको भी रूपादिसे युक्त मानना होगा। अमुक कर्म अमुकका उपादान है, अमुकका भोग्य है, और अमुकका नहीं है इत्यादि नियम नहीं रहेंगे। बद्ध और मुक्तकी व्यवस्था भी नहीं रहेगी। यदि उस व्यवस्थाके लिए मुक्तोंके भेद—समूहविशेष प्रधानमें लीन होते हैं, और बद्धोंके भेद नहीं लीन होते, ऐसा कहो तो अलीन भेदोंमें पुरुषोंके समान कार्यत्वका व्याघात होगा अर्थात् वे कार्य नहीं हो सकेंगे ॥ १० ॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

पदच्छेद—तर्काप्रतिष्ठानात्, अपि, अन्यथा, अनुमेयम्, इति, चेत्, एवम्, अपि, अविमोक्षप्रसङ्गः ।

पदार्थोक्ति—तर्काप्रतिष्ठानादपि—केवलस्य तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वाच्च, [न ब्रह्मणि वेदान्तसमन्वयविरोधः] कस्यचित् तर्कस्याऽप्रतिष्ठितत्वेऽपि, अन्यथा—अप्रतिष्ठिततर्कादन्येन प्रकारेण प्रतिष्ठिततर्केण, अनुमेयम्—समन्वयविरोधादिकम् [अनुमेयम्], इति चेत, एवमपि—कस्यचित् तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वेऽपि, अविमोक्षप्रसङ्गः—प्रकृतविषये तर्कस्य अप्रतिष्ठतत्वदोषादविमोक्षप्रसङ्गः । यद्वा, अविमोक्षप्रसङ्गः—कपिलकणभुगादीनां परस्परविप्रतिपन्नैस्तर्कैः तत्त्वनिर्णयाभावात् संसारादविमोक्षप्रसङ्गः ।

भाषार्थ—केवल तर्ककी प्रतिष्ठा न होनेसे भी ब्रह्ममें वेदान्तवाक्य-समन्वयका कोई विरोध नहीं है । किसी तर्कके अप्रतिष्ठित होनेपर भी अन्य रीतिसे अर्थात् प्रतिष्ठित तर्कसे वेदान्तसमन्वयके विरोधका अनुमान करना चाहिये, यदि ऐसा कहो, तो कुछ तर्कोंके प्रतिष्ठित होनेपर भी प्रकृत विषयमें तर्क अप्रतिष्ठितत्वरूप दोषसे मुक्त नहीं हो सकता । अथवा कपिल, कणाद आदिके परस्पर विरुद्ध तर्कोंसे तत्त्वनिर्णय ही नहीं हो सकता, इसलिए कभी संसारसे मुक्ति ही नहीं हो सकती ।

भाष्य

इतश्च नाऽऽगमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम् यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात् । तथा हि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यै-

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी केवल वेदसे जानने योग्य वस्तुमें वेदनिरपेक्ष तर्कसे विरोध करना उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रके प्रमाणसे रहित और पुरुष कल्पनामात्रमूलक तर्क अस्थिर होते हैं, क्योंकि कल्पना निरंकुश है । जैसे कि कुछ

रत्नप्रभा

किञ्च, तर्कस्य सम्भावितदोषत्वात् तेन निर्दोषवेदान्तसमन्वयो न बाध्य इत्याह—**तर्काप्रतिष्ठानादपीति** । पुरुषमतीनां विचित्रत्वेऽपि कपिलस्य सर्वज्ञ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

किञ्च, तर्कमें दोषोंकी संभावना है, इसलिए तर्कसे दोषरहित वेदान्तोंके समन्वयका बाध नहीं होता, ऐसा कहते हैं—"तर्काप्रतिष्ठानादपि" इत्यादिसे । पुरुषबुद्धियोंके विचित्र होनेपर

भाष्य

राभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्, पुरुषमतिवैरूप्यात्। अथ कस्यचित् प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चाऽन्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत, एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव। प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्। अथोच्येत अन्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाऽप्रतिष्ठादोषो भविष्यति, नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्, एतदपि हि तर्काणा-

भाष्यका अनुवाद

विद्वानोंसे यत्न द्वारा कल्पित तर्क उनसे विशेष विद्वानोंकी दृष्टिमें तर्काभाससे प्रतीत होते हैं, और उनके तर्क उनसे बढ़े चढ़े विद्वानोंकी दृष्टिमें तर्काभाससे प्रतीत होते हैं। इस कारण तर्कोंकी स्थिरता कदापि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि पुरुषमति विलक्षण है। यदि किसी प्रसिद्ध माहात्म्यवाले कपिल या किसी अन्यका तर्क प्रतिष्ठित कहो, [तो सो नहीं कह सकते] वह भी अप्रतिष्ठित ही है, क्योंकि जिनका माहात्म्य प्रसिद्ध समझा गया है, ऐसे शास्त्रकार कपिल, कणाद आदिमें भी परस्पर विप्रतिपत्ति देखी जाती है। यदि ऐसा कहा जाय कि जिस प्रकार अप्रतिष्ठादोष नहीं आवे, उस प्रकार अन्य रीतिसे हम अनुमान करेंगे, क्योंकि प्रतिष्ठित तर्क है ही नहीं, ऐसा नहीं कहा

रत्नप्रभा

त्वात् तदीयतर्के विश्वास इति शङ्कते—**अथेति**। 'कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा' इति न्यायेन परिहरति—**एवमपीति**। सूत्रमध्यस्थशङ्काभागं व्याचष्टे—**अथोच्येतेति**। विलक्षणत्वादितर्काणाम् अप्रतिष्ठितत्वेऽपि व्याप्तिपक्षधर्मतासम्पन्नः कश्चित् तर्कः प्रतिष्ठितो भविष्यति तेन प्रधानम् अनुमेयमित्यर्थः। ननु सोऽपि अप्रतिष्ठितः तर्कजातीयत्वाद् विलक्षणत्वादिवत् इत्यत आह—**नहीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी कपिलके सर्वज्ञ होनेसे उनके तर्कमें विश्वास रखना चाहिए, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। 'कपिलो यदि०' (यदि कपिल मुनि सर्वज्ञ हैं, तो कणाद मुनि सर्वज्ञ नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है) इस न्यायसे शंकाका परिहार करते हैं—"एवमपि" इत्यादिसे। सूत्रगत शंका भागका व्याख्यान करते हैं—"अथोच्येत" इत्यादिसे। विलक्षणत्व आदि तर्क अप्रतिष्ठित होनेपर भी व्याप्ति, पक्षधर्मता आदिसे संपन्न तर्क प्रतिष्ठित है, उससे प्रधानका अनुमान करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि वह तर्क भी अप्रतिष्ठित है, तर्क सजातीय होनेसे, विलक्षणत्व आदि तर्कके समान, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि।

भाष्य

मप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते । केषांचित् तर्काणामप्रतिष्ठितत्वदर्शने-नाऽन्येषामपि तज्जातीयकानां तर्काणामप्रतिष्ठितत्वकल्पनात् । सर्वतर्का-प्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । अतीतवर्तमानाध्वसाम्येन ह्यना-गतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तमानो लोको दृश्यते । श्रुत्यर्थ-

भाष्यका अनुवाद

जा सकता, तर्कका अप्रतिष्ठितत्व तर्कसे ही ठहराया जाता है, कुछ तर्कोंको अप्रतिष्ठित देखकर तज्जातीय अन्य तर्क भी अप्रतिष्ठित हैं, ऐसी कल्पनाकी जाती है । और सभी तर्कोंके अप्रतिष्ठित होनेपर लोकव्यवहार ही उच्छिन्न हो जायगा, क्योंकि भूत और वर्तमान विषयके सादृश्यसे भविष्यत् विषयमें भी सुख प्राप्त करने और दुःखका परिहार करनेमें प्रवृत्त होते हुए लोग देखे

रत्नप्रभा

तर्कजातीयत्वाद् इति तर्कः प्रतिष्ठितो न वा, आद्ये अत्रैव अप्रतिष्ठितत्वसाध्या-भावाद् व्यभिचारः । द्वितीयेऽपि न सर्वतर्काणाम् अप्रतिष्ठितत्वं हेत्वभावाद् इत्यभिसन्धिमान् आह—**एतदपीति** । किञ्च, अनागतपाकः इष्टसाधनम्, पाकत्वाद्, अतीतपाकवत्, इत्यादीष्टानिष्टसाधनानुमानात्मकतर्कस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहार-हेतुत्वात् न अप्रतिष्ठा इत्याह—**सर्वतर्केति** । अध्वा—विषयः, पाकभोजनादिः विषभक्षणादिश्च तत्सामान्येन पाकत्वादिना अनागतविषये पाकादौ सुखदुःख-हेतुत्वानुमित्या प्रवृत्त्यादिः इत्यर्थः । किञ्च, पूर्वोत्तरमीमांसयोः तर्केणैव वाक्य-तात्पर्यनिर्णयस्य क्रियमाणत्वात् तर्कः प्रतिष्ठित इत्याह—**श्रुत्यर्थेति** । मनुरपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

'तर्क सजातीय होनेसे' यह तर्क प्रतिष्ठित है या नहीं ? यदि अप्रतिष्ठित है तो इसीमें अप्रति-ष्ठितत्वरूप साध्य न होनेसे व्यभिचार होता है, यदि प्रतिष्ठित है, तो सब तर्कोंमें अप्रतिष्ठितत्वरूप हेतु नहीं है, इस अभिप्रायसे पूर्वपक्षी कहता है—"एतदपि" इत्यादि । और भविष्य पाक इष्ट साधन है, पाक होनेसे, अनुभूत पाकके समान, इत्यादि इष्ट-साधनानुमानरूप तर्क प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि व्यवहारका हेतु है, इसलिए तर्ककी अप्रतिष्ठा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"सर्वतर्क" इत्यादिसे । अध्वा—विषय—पाकभोजन, विषभक्षण आदि, पाक आदिमें स्थित पाकत्व आदि हेतुसे भविष्य पाकमें भी सुखहेतुत्व, दुःखहेतुत्व आदिकी अनुमिति होकर उससे प्रवृत्ति आदि होते हैं, ऐसा अर्थ है । और पूर्व-मीमांसा और उत्तरमीमांसाओंमें तर्कसे ही वाक्यके तात्पर्यका निर्णय किया जाता है, इसलिए तर्क प्रतिष्ठित है, ऐसा कहते हैं—"श्रुत्यर्थ" इत्यादिसे । मनु भी कुछ तर्कोंको प्रतिष्ठित मानते

भाष्य

विप्रतिपत्तौ चार्थाऽऽभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्केणैव वाक्यवृत्तिनिरूपणरूपेण क्रियते । मनुरपि चैवमेव मन्यते—

'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ इति ।
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥' (१२।१०५,१०६)

इति च ब्रुवन् । अयमेव च तर्कस्याऽलङ्कारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम । एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति । नहि पूर्वजो मूढ आसीदित्यात्मनाऽपि मूढेन भवितव्यमिति किंचिदस्ति प्रमा-

भाष्यका अनुवाद

जाते हैं । श्रुतिके अर्थमें विप्रतिपत्ति हो, तो अर्थाभासका निराकरण करके सत्य अर्थका निर्णय वाक्यतात्पर्यका निरूपण करनेवाले तर्कसे ही किया जाता है। 'प्रत्यक्षमनुमानं च०' (धर्मका अधर्मसे भेद जाननेकी इच्छा करनेवाले पुरुषको प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध संप्रदायोंसे युक्त शास्त्रका भली भाँति मनन करना चाहिए) और 'आर्षं धर्मोपदेशं च०' (ऋषिप्रणीत धर्मोपदेशका वेद और शास्त्रसे अविरुद्ध तर्क द्वारा जो विचार करता है, वह धर्मके यथार्थरूपको जानता है, अन्य नहीं जानता) ऐसा कहते हुए मनु भी कुछ तर्कोंको प्रतिष्ठित कहते हैं । अप्रतिष्ठित होना तर्कका भूषण है, क्योंकि इस प्रकारसे निन्द्य तर्कका परित्याग करके निर्दुष्ट तर्क स्वीकार किया जाता है। पूर्वजोंके मूढ होनेसे हमको भी मूढ होना चाहिए, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

रत्नप्रभा

केषाञ्चित् तर्काणां प्रतिष्ठां मन्यते इत्याह—**मनुरिति** । धर्मस्य शुद्धिः अधर्माद् भेदनिर्णयः । कस्यचित् तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वमङ्गीकरोति—**अयमेवेति** । सर्वतर्काणां प्रतिष्ठायां पूर्वपक्ष एव न स्यादिति भावः । पूर्वपक्षतर्कवत् सिद्धान्ततर्कोऽपि अप्रतिष्ठितः तर्कत्वाविशेषादिति वदन्तम् उपहसति—**नहीति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं, ऐसा कहते हैं—"मनुः" इत्यादिसे । धर्मकी शुद्धि—अधर्मसे भेदका निश्चय । कुछ तर्कोंको अप्रतिष्ठित मानते हैं—"अयमेव" इत्यादिसे । आशय यह है कि सब तर्कोंकी प्रतिष्ठा होनेपर पूर्वपक्ष ही न हो सकेगा । पूर्वपक्ष तर्कके समान सिद्धान्त तर्क भी अप्रतिष्ठित है, क्योंकि सब तर्कही हैं, ऐसा कहते हुए सिद्धान्तीका सांख्य उपहास करता है—"नहि" इत्यादिसे । कहींपर तर्कके

भाष्य

णम् । तस्मान्न तर्काप्रतिष्ठानं दोष इति चेत् । एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः । यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते तथापि प्रकृते तावद् विषये प्रसज्यत एवाऽप्रतिष्ठितत्वदोषादविमोक्षस्तर्कस्य । नहीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् । रूपाद्यभावाद्धि नाऽयमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नाऽनुमानादीनामिति चाऽवोचाम । अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः। तच्च सम्यग्ज्ञानमेकरूपं वस्तुतन्त्रत्वात् । एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः । लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते यथाग्निरुष्ण इति ।

भाष्यका अनुवाद

इसलिए तर्ककी अप्रतिष्ठा कोई दोष नहीं है, ऐसा कहो, तो तर्क दोषमुक्त नहीं हो सकता । यद्यपि किसी एक विषयमें तर्क प्रतिष्ठित दीखता है, तो भी प्रकृत विषयमें तर्क अप्रतिष्ठितत्व दोषसे विमुक्त नहीं हो सकता । इस अति गंभीर मुक्तिके हेतु कारणकी अद्वितीयताका अवधारण शास्त्रके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि रूपादिरहित होनेसे यह अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है और लिंग आदिके अभावसे अनुमान आदिका विषय नहीं है, ऐसा भी हम पीछे कह चुके हैं । और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा सब मोक्षवादी स्वीकार करते हैं । और वह सम्यग्ज्ञान एकरूप है, क्योंकि वह वस्तुके अधीन है । सदा एक रूपसे रहनेवाला पदार्थ परमार्थ है और उसका ज्ञान लोकमें सम्यग्ज्ञान कहलाता है, जैसे कि अग्नि उष्ण है, यह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।

रत्नप्रभा

क्वचित् तर्कस्य प्रतिष्ठायामपि जगत्कारणविशेषे तर्कस्य स्वातन्त्र्यं नास्तीति सूत्रशेषं व्याचष्टे—**यद्यपीत्यादिना** । अतिगम्भीरत्वं ब्रह्मणो वेदान्यमानागम्यत्वम् । भावस्य जगत्कारणस्य याथात्म्यम् अद्वयत्वं दर्शयति—**रूपादीति** । अविमोक्षो मुक्त्यभाव इत्यर्थान्तरमाह—**अपि चेत्यादिना** । एकरूपवस्तुज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वेऽपि तर्क-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिष्ठित होनेपर भी जगत्कारणके विषयमें वह स्वतंत्र नहीं है, इस प्रकार सूत्रशेषका व्याख्यान करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे । अतिगंभीरत्व—ब्रह्मका वेदभिन्न प्रमाणसे अज्ञेयत्व । भावयाथात्म्य—जगत्कारणकी अद्वितीयता । मुक्तिनिबन्धन—मुक्तिका आश्रय । ब्रह्म वेदभिन्न प्रमाणसे ज्ञेय नहीं है, इस बातको दिखलाते हैं—"रूपादि" इत्यादिसे । अविमोक्षपदका मुक्त्यभावरूप अन्य अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । एकरूपसे स्थित वस्तुका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होने-

भाष्य

तत्रैवं सति सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना । तर्कज्ञानानां त्वन्योन्यविरोधात् प्रसिद्धा विप्रतिपत्तिः । यद्धि केनचित् तार्किकेणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिष्ठापितं तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितं ततोऽपरेण व्युत्थाप्यत इति च प्रसिद्धं लोके। कथमेकरूपानवस्थित-विषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत् । न च प्रधानवादी तर्कविदामुत्तम इति सर्वैस्तार्किकैः परिगृहीतो येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि। न च शक्यन्तेऽतीतानागतवर्तमानास्तार्किका एकस्मिन् देशे काले च समाहर्तुं

भाष्यका अनुवाद

ऐसी अवस्थामें सम्यग्ज्ञानके विषयमें पुरुषोंकी विप्रतिपत्ति अयुक्त है। तर्कज्ञानोंमें तो अन्योन्य विरोध होनेसे विप्रतिपत्ति प्रसिद्ध है और यह लोकमें प्रसिद्ध है कि किसी एक तार्किक द्वारा सम्यग्ज्ञानरूपसे निर्णीत तर्कका दूसरा खण्डन कर देता है और दूसरेके द्वारा निर्णीत तर्कका तीसरा खण्डन कर देता है। इसलिए एक रूपसे जिसका विषय अवस्थित न हो, ऐसे तर्कसे उत्पन्न हुआ ज्ञान किस प्रकार सम्यग्ज्ञान हो सकता है। प्रधानवादी तर्कवेत्ताओंमें उत्तम है, ऐसा सब तार्किक नहीं कहते हैं जिससे कि हम उसके मतको सम्यग्ज्ञान मान सकें। और अतीत, अनागत और वर्तमान तार्किक एक देशमें और

रत्नप्रभा

जन्यत्वं किं न स्यात् इत्यत आह—**तत्रैवं सतीति** । तर्कोत्थज्ञानानां मिथो विप्रति-पत्तेः न सम्यग्ज्ञानत्वं सम्यग्ज्ञाने विप्रतिपत्त्ययोगादित्यर्थः । एकरूपेण अनवस्थितो विषयो यस्य तत् तर्कप्रभवम्, कथं सम्यग्ज्ञानं भवेदिति योजना। ननु सांख्यस्य श्रेष्ठत्वात् तज्ज्ञानं सम्यग् इत्याशङ्क्य हेत्वसिद्धिमाह—**न च प्रधानेति** । ननु सर्वतार्किकैः मिलित्वा निश्चिततर्कोत्था मतिः मुक्तिहेतुः इत्यत आह—**न च**

रत्नप्रभाका अनुवाद

पर भी वह तर्कजन्य क्यों नहीं होगा ? इसपर कहते हैं—"तत्रैवं सति" इत्यादि । तर्कसे उत्पन्न ज्ञानोंमें परस्पर विरोध है, इसलिए वे सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते हैं, सम्यग्ज्ञानमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं रहती अर्थात् सम्यग्ज्ञान हों, तो परस्पर विरोध नहीं रहेगा । जिस ज्ञानका विषय एकरूपसे अवस्थित नहीं रहता, वह तर्कजन्य ज्ञान सम्यग्ज्ञान कैसे हो सकता है, ऐसी योजना करनी चाहिए । परन्तु सांख्य सर्वापेक्षया श्रेष्ठ है, उसका ज्ञान तो यथार्थ है, ऐसी आशंका कर हेतुकी असिद्धि कहते हैं—"न च प्रधान" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि सब तार्किक मिलकर विचारपूर्वक जिस तर्कको निश्चित करेंगे, उस तर्कसे उत्पन्न ज्ञान मुक्तिका

भाष्य

येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात् । वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेस्तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम् । अतः सिद्धमस्यैवौपनिषदस्य ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम् । अतोऽन्यत्र सम्यग्ज्ञानत्वानुपपत्तेः संसाराविमोक्ष एव प्रसज्येत । अत आगमवशेनाऽऽगमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम् ॥११॥

भाष्यका अनुवाद

एक कालमें एकत्र नहीं किये जा सकते, जिससे कि एक अर्थमें उनकी मति एकसी होकर सम्यग्ज्ञान हो सके । वेद तो नित्य है और विज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु है, अतः वह व्यवस्थित अर्थका प्रतिपादक है, उससे उत्पन्न हुए ज्ञानकी यथार्थताका अतीत, अनागत और वर्तमानके किसी भी तार्किक द्वारा निषेध नहीं किया जा सकता । इससे यह सिद्ध हुआ कि यह उपनिषद्गम्य ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है । औपनिषद् ज्ञानको छोड़कर और ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते । इसलिए अन्य ज्ञानोंसे संसारसे मुक्ति नहीं हो सकेगी । इससे यह सिद्ध हुआ कि आगमके बलसे और आगमानुकूल तर्कके बलसे चेतन ब्रह्म जगत्का कारण और प्रकृति है ॥११॥

रत्नप्रभा

शक्यन्त इति । तस्मात् तर्कोत्थज्ञानात् मुक्त्योगात् तर्केण वेदान्तसमन्वयबाधो न युक्तः, तद्बाधे सम्यग्ज्ञानालाभेन अनिर्मोक्षप्रसङ्गाद् इति सूत्रांशार्थम् उपसंहरति—**अतोऽन्यत्रेति** । समन्वयस्य तर्केणाऽविरोधे फलितमधिकरणार्थमुपसंहरति—**अत आगमेति** ॥ ११ ॥ (३)

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतु हो, इसपर कहते हैं—"न च शक्यन्ते" इत्यादि । अतः तर्कजन्यज्ञानसे मुक्तिके न हो सकनेके कारण तर्कसे वेदान्तसमन्वयका बाध करना उचित नहीं है, क्योंकि वेदान्तसमन्वयका बाध होनेसे सम्यग्ज्ञान उपपन्न ही नहीं हो सकेगा, इसलिए संसारसे कभी छुटकारा नहीं हो सकेगा, इस प्रकार सूत्रांशके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अतोऽन्यत्र" इत्यादिसे । तर्कसे समन्वयका विरोध न होनेपर फलित अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अत आगम" इत्यादिसे ॥ ११ ॥

[४ शिष्टापरिग्रहाधिकरण सू० १२]

बाधोऽस्ति परमाण्वादिमतैर्नो वा यतः पटः ।
न्यूनतन्तुभिरारब्धो दृष्टोऽतो बाध्यते मतैः ॥
शिष्टेष्टापि स्मृतिस्त्यक्ता शिष्टत्यक्तमतं किमु ।
नातो बाधो विवर्ते तु न्यूनत्वनियमो नहि ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—काणाद आदि मतोंसे वेदसमन्वयका बाध होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—लोकमें देखा गया है कि पट अपनी अपेक्षा अल्प परिमाण तन्तुओंसे उत्पन्न होता है, अतः परममहत्परिमाणवाला ब्रह्म किसी कार्य द्रव्यका कारण नहीं हो सकता । इसलिए काणाद आदि मतोंसे ब्रह्ममें वेदसमन्वयका बाध होता है ।

सिद्धान्त—जब शिष्टसम्मत स्मृति ही निराकृत हो गई, तब शिष्टोंसे वर्जित मतके विषयमें कहना ही क्या है । और विवर्तवादमें यह नियम नहीं है कि कार्यसे कारण अल्प परिमाणवाला होना चाहिए । इसलिए काणाद आदि मतोंसे अद्वैत ब्रह्ममें वेदसमन्वयका बाध नहीं होता है ।

तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—सांख्य, योगस्मृतियोंसे और उनके तर्कोंसे वेदसमन्वयका बाध भले ही न हो, किन्तु काणाद आदि स्मृतियोंसे और उनके तर्कोंसे तो समन्वयका बाध होना चाहिए, क्योंकि कणाद महर्षि कहते हैं कि परमाणु जगत्कारण हैं, उस विषयमें 'द्व्यणुक आदि अपनी अपेक्षा अल्प परिमाणवाले द्रव्यसे उत्पन्न हैं, कार्यद्रव्य होनेसे, तन्तुओंसे उत्पन्न पटके समान' इत्यादि युक्तियाँ भी उपस्थित करते हैं । बुद्ध भगवान् विष्णुके अवतार हैं। वे अभावको जगत्का कारण मानते हैं । अपने मतकी पुष्टिके लिए 'भावरूप जगत् अभावसे उत्पन्न है, भावरूप होनेसे, सुषुप्तिपूर्वक स्वप्न प्रपंचके समान' इत्यादि युक्तियाँ भी उपस्थित करते हैं । इसलिए प्रबल काणाद आदि मतोंसे वेदसमन्वयका बाध होगा ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि जब वैदिकशिरोमणि पुराणकर्ताओंसे प्रसंगवशात् कहीं कहीं उदाहृत प्रकृति, पुरुष आदिका प्रतिपादन करनेवाली सांख्यस्मृति और योगस्मृति जगत्के कारणके प्रतिपादनमें दुर्बल होनेसे त्याग दी गई हैं, तब अखिल शिष्टोंसे उपेक्षित काणाद आदि मतोंके दौर्बल्यके बारेमें कहना ही क्या है ? ब्राह्म, पाद्म आदि पुराणोंमें कहींपर भी किसी प्रसंगवश भी द्व्यणुक आदि प्रक्रियाका उल्लेख नहीं है । किन्तु इसके विपरीत 'हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' (हेतुवादी और बकवृत्तिवालोंका केवल वाणीसे भी उपचार नहीं करना चाहिए) इत्यादि बहुतसे निन्दावचन मिलते हैं । यह जो कहा है कि कार्यद्रव्य अपनी अपेक्षा न्यून परिमाणवाले द्रव्यसे उत्पन्न होता है, यह नियम विवर्तवादमें नहीं है, क्योंकि पर्वतके अग्रभागमें रहनेवाले महान् वृक्षोंमें दूरस्थ पुरुषको दूर्वाग्रभागका भ्रम होता है । अभावपूर्वक जगदुत्पत्तिका अनुमान जो कहा गया है, उसमें दृष्टान्तमें साध्य ही नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति तो अवस्था है, अवस्थाओंमें अनुगत सद्रूप आत्माका स्वीकार किया गया है, अतः स्वप्न भी अभावपूर्वक नहीं है । इस कारण काणाद आदि मतोंसे भी वेदसमन्वयका बाध नहीं हो सकता है ।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

पदच्छेद—एतेन, शिष्टापरिग्रहाः, अपि, व्याख्याताः ।

पदार्थोक्ति—एतेन—देवलादिशिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतप्रधानवाद-निराकरणेन, शिष्टापरिग्रहाः अपि—शिष्टैः केनाऽप्यंशेनाऽपरिगृहीता अण्वादिकारण-वादा अपि, व्याख्याताः—निरस्ताः [वेदितव्याः] ।

भाषार्थ—देवल आदि शिष्टोंसे किसी अंशमें परिगृहीत प्रधानकारणवादके निराकरणसे शिष्टों द्वारा किसी भी अंशसे अपरिगृहीत अणु आदि कारणवादोंका भी निराकरण समझना चाहिए ।

भाष्य

वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद् गुरुतरतर्कबलोपेतत्वाद् वेदानु-

भाष्यका अनुवाद

वैदिकदर्शनके निकटवर्ती होनेसे, अनेक प्रबल तर्कोंसे युक्त होनेसे और

रत्नप्रभा

ब्रह्म जगदुपादानमिति ब्रुवन् वेदान्तसमन्वयो विषयः, स किं "यद्विभु तन्न द्रव्योपादानम्" इति वैशेषिकादिन्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे सांख्यवृद्धानां तर्काकुशलमतित्वेऽपि वैशेषिकादीनां तर्कमतिकुशलत्वप्रसिद्धेः तदीयन्यायस्य अबाधितत्वाद् विरुद्ध्यते इति प्रत्युदाहरणेन प्राप्तेऽतिदिशति—**एतेनेति** । फलं पूर्ववत् । ननु सांख्यमतस्य उपदेशः तार्किकमतस्य अतिदेशः किमिति कृतः, वैपरीत्यस्यापि सम्भवाद् इत्याशङ्क्य पूर्वोत्तरयोः उपदेशातिदेशभावे कारणमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण बतलानेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है । जो विभु—व्यापक है, वह किसी द्रव्यका समवायिकारण नहीं होता, इत्यादि वैशेषिक आदिके न्यायोंसे उस समन्वयका विरोध होता है या नहीं, ऐसा संशय होनेपर सांख्यवृद्धोंमें तर्ककी प्रवीणता न होनेपर भी वैशेषिक आदिका तर्कज्ञानमें नैपुण्य प्रसिद्ध है, अतः उनके न्याय अबाधित हैं, इसलिए उनके न्यायोंसे समन्वयका विरोध होता है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर अतिदेश करते हैं—"एतेन" इत्यादिसे । पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके फल पूर्वाधिकरणके समान हैं । परन्तु सांख्यमतका उपदेश और तार्किक मतका अतिदेश कैसे किया है, क्योंकि इसके विपरीतका भी संभव है । ऐसी आशंका करके पूर्वाधिकरणके उपदेश और इस अधिकरणके अतिदेशमें कारण कहते हैं—

भाष्य

सारिमिश्च कैश्चिच्छिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतत्वात् प्रधानकारणवादं तावद् व्यपाश्रित्य यस्तर्कनिमित्त आक्षेपो वेदान्तवाक्येषूद्भावितः स परिहृतः । इदानीमण्वादिवादव्यपाश्रयेणाऽपि कैश्चिन्मन्दमतिभिर्वेदान्तवाक्येषु पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप आशङ्क्येत इत्यतः प्रधानमल्लनिबर्हण-

भाष्यका अनुवाद

वेदके अनुसारी कुछ शिष्टोंसे किसी एक अंशसे स्वीकृत होनेसे प्रधानकारणवादके आधारपर जो तर्कनिमित्त आक्षेप वेदान्तवाक्योंमें उठाया गया था, उसका परिहार किया जा चुका है। अब अणुवाद आदिके आधारपर भी कुछ मन्दमति फिर भी वेदान्तवाक्यों पर आक्षेपकी आशंका कर सकते हैं, इसलिए

रत्नप्रभा

वैदिकस्येति । सत्कार्यत्वात्मासङ्गत्वस्वप्रकाशत्वाद्यंशैः वेदान्तशास्त्रस्य प्रत्यासन्नः प्रधानवादः शिष्टैः देवलादिभिः सत्कार्यत्वांशेन स्वीकृत इति प्रबलत्वाद् उपदेशः । अण्वादिवादानां निर्मूलत्वेन दुर्बलत्वाद् अतिदेश इति भावः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"वैदिकस्य" इत्यादिसे । आशय यह कि वेदान्तवादके समान प्रधानवाद भी सत्कार्यवादी है, आत्माको असंग और स्वप्रकाश कहता है इत्यादि कुछ अंशोंसे प्रधानवाद वेदान्तवादके समीप है और देवल आदि शिष्टोंने सत्कार्यत्वांशमें उसका स्वीकार भी किया है। इसलिए प्रबल होनेके कारण उसका उपदेश किया है, अणु आदि कारणवाद निर्मूल होनेके कारण

(१) वाद अर्थात् स्वाभिमत अर्थका कथन । यह दो प्रकारका है, सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद । सत्कार्यवाद भी दो प्रकारका है परिणामवाद और विवर्तवाद। सांख्य और रामानुजोंका परिणामवाद है । उनके मतमें कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है, इसलिए कार्य और कारण अभिन्न हैं और सत्य हैं। जैसे कि दूध दहीके रूपमें परिणत होता है, इसलिए दही कार्यान्तर है और दूधसे भिन्न नहीं है। ब्रह्मवादी वेदान्तियोंका विवर्तवाद है। उनके मतमें कारण ही कार्यरूपमें भासता है, इसलिए कारण ही सत्य है, कार्य सत्य नहीं है। जैसे शुक्तिमें 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान होनेके अनन्तर अधिष्ठानभूत शुक्तिका ज्ञान होनेसे पूर्वमें ज्ञात रजत निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मका ज्ञान होनेपर जगत् आदि भेदप्रपंच निवृत्त हो जाता है। नैयायिक और माध्वोंका असत्कार्यवाद है। उसको आरम्भवाद भी कहते हैं। उनके मतमें पूर्वमें असद् कार्य उत्पन्न होता है। जैसे कि पहले न रहनेवाले घट आदि कार्य दण्ड, चक्र, कुलाल आदि सामग्रियोंसे युक्त मृत् आदि कारणोंसे भिन्न उत्पन्न होते हैं, इसलिए कार्य और कारण भिन्न हैं। इसी प्रकार योगाचार बौद्धोंका क्षणिक विज्ञानवाद है, माध्यमिक बौद्धोंका शून्यवाद है, आर्हतोंका स्याद्वाद है इत्यादि समझने चाहिएँ।

भाष्य

न्यायेनातिदिशति । परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः, न परिग्रहा अपरिग्रहाः, शिष्टानामपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः, एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन, शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदप्यंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः । तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य नात्र पुनराशङ्कितव्यं किञ्चिदस्ति । तुल्यमत्रापि परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं तर्कस्य चाप्रतिष्ठितत्वमन्यथाऽनुमानेऽप्यविमोक्ष आगमविरोधश्चेत्येवंजातीयकं निराकरणकारणम् ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायसे अतिदेश करते हैं। जिनका परिग्रहण किया जाता है, वे परिग्रह कहलाते हैं, जो परिग्रहसे भिन्न हैं, वे अपारग्रह हैं, जिनका शिष्टों द्वारा परिग्रहण नहीं किया जाता, वे शिष्टापरिग्रह हैं। इससे अर्थात् प्रकृत प्रधानकारणवादके निराकरणके हेतुसे शिष्ट अर्थात् मनु, व्यास आदि द्वारा किसी एक अंशमें भी अस्वाकृत अणु आदि कारणवादोंका खण्डन किया गया, ऐसा समझना चाहिए। निराकरणका कारण समान होनेसे यहां समन्वयपर किसी प्रकारकी आशंका नहीं होती। यहां भी परम गंभीर जगत्कारणकी तर्कसे अगम्यता, तर्कका अप्रतिष्ठितपना, अन्यथा अनुमान करनेपर भी अविमोक्ष और आगमका विरोध, इत्यादि निराकरणके कारण समान हैं॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

किं निराकरणकारणमिति प्रष्टव्यं नास्ति इत्याह—तुल्यत्वादिति। कारणमेवाह—तुल्यमिति। यदुक्तं विभुत्वात् न द्रव्योपादानं ब्रह्मेति, तत्र पक्षसाधकत्वेन श्रुतेः उपजीव्यत्वात् तया बाधः। महापरिमाणवत्त्वस्य सर्वसंयोगित्वरूपविभुत्वस्य निर्गुणे ब्रह्मणि असिद्धेश्च इति द्रष्टव्यम्। अतः समन्वयस्य तार्किकन्यायेन न विरोध इति सिद्धम् ॥ १२ ॥ (४)

रत्नप्रभाका अनुवाद

दुर्बल हैं, अतः उनका अतिदेश है। निराकारणका कारण क्या है, यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तुल्यत्वात्" इत्यादिसे। कारण ही कहते हैं—"तुल्यम्" इत्यादिसे। विभु होनेके कारण ब्रह्म द्रव्यका उपादान कारण नहीं हो सकता है, यह जो कहा है, उसका पक्षका साधक होनेके कारण उपजीव्य श्रुतिसे बाध होता है। और परममहत्परिमाण, सर्वसंयोगित्वरूप विभुत्व निर्गुण ब्रह्ममें नहीं, है ऐसा समझना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि तार्किकन्यायसे समन्वयका विरोध नहीं होता है ॥१२॥

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—भोक्त्रापत्तेः, अविभागः, चेत, स्यात्, लोकवत् ।

पदार्थोक्ति—भोक्त्रापत्तेः–[अद्वितीयब्रह्मणो जगदुपादानत्वे सर्वस्य ब्रह्मानन्यत्वेन] भोग्यशब्दादीनां भोक्त्रात्मकत्वापत्तेः, अविभागश्चेत्–प्रत्यक्षसिद्धः परस्परविभागो न स्यात्, इति चेत्, लोकवत्–लोके मृदात्मनाऽभिन्नानां घटादीनां परस्परभेदवत् स्यात्—भोक्तृभोग्यप्रपञ्चस्यापि परस्परविभागः स्यात् ।

भाषार्थ—अद्वितीय ब्रह्म यदि जगत्‌का उपादान हो, तो सब पदार्थ ब्रह्माभिन्न होनेके कारण भोग्य—शब्द आदि विषय भी भोक्तासे अभिन्न हो जायंगे, इससे प्रत्यक्ष-सिद्ध भोक्ता, भोग्य आदि विभाग ही न रहेगा, ऐसा यदि कहो, तो जैसे व्यवहारमें घट आदि कार्य यद्यपि मृत्‌से अभिन्न हैं, तो भी परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार कारणसे अभेद होनेपर भी भोक्ता, भोग्य आदि प्रपञ्चका परस्पर विभाग रहेगा ।

[५ भोक्त्रापत्त्यधिकरण सू० १३]

अद्वैतं बाध्यते नो वा भोक्तृभोग्यविभेदतः ।
प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धो भेदोऽसावन्यबाधकः ॥१॥
तरङ्गफेनभेदेऽपि समुद्रेऽभेद इष्यते ।
भोक्तृभोग्यविभेदेऽपि ब्रह्माद्वैतं तथाऽस्तु तत् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—भोक्ता, भोग्य आदि भेदसे अद्वैत बाधित होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध भेद अद्वैतका बाधक है ।

सिद्धान्त—जैसे तरङ्ग, फेन आदिमें परस्पर भेद होनेपर भी उनके साथ समुद्रका भेद नहीं माना जाता, उसी प्रकार भोक्ता, भोग्य आदिमें परस्पर भेद होनेपर भी उनके साथ ब्रह्मका भेद नहीं है ।

---

*तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—वेदान्तसमन्वयसे प्रतीयमान अद्वैतका प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सिद्ध भोक्ता, भोग्य आदि भेदसे बाध होगा ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि एक ही जलका तरङ्ग, फेन आदि रूपसे भेद, समुद्ररूपसे अभेद देखा जाता है, इसलिए भेद और अभेदमें विरोध नहीं है । भेदाभेदविरोधव्यवहार तो आकारभेदसे रहित केवल एक वस्तुमें भी हो सकता है। इसलिए ब्रह्मरूपसे अद्वैत है और भोक्ता, भोग्य आदिरूपसे द्वैत है, इस प्रकार आकारभेदसे व्यवस्था हो सकती है, अतः बाध नहीं है ।

भाष्य

अन्यथा पुनर्ब्रह्मकारणवादस्तर्कबलेनैवाक्षिप्यते। यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति तथापि प्रमाणान्तरेण विषयापहारेऽन्यपरा भवितुमर्हति,

भाष्यका अनुवाद

पुनः अन्य प्रकारसे ब्रह्मकारणवादका तर्कबलसे ही आक्षेप किया जाता है। यद्यपि अपने विषयमें श्रुति प्रमाण है, तो भी जहां अन्य प्रमाणसे उसके विषयका बाध होता है, वहां अन्यविषयक होती है, जैसे कि मंत्र

रत्नप्रभा

अद्वितीयाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गादिवादी वेदान्तसमन्वयो विषयः। स किं यत् मिथो भिन्नं तत् न अद्वितीयकारणाभिन्नं यथा मृत्तन्तुजौ घटपटौ इति तर्कसहित-भेदप्रत्यक्षादिना विरुध्यते न वा इति सन्देहे ब्रह्मणि तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वेऽपि जगद्भेदे प्रतिष्ठितत्वाद् विरुध्यते इति पूर्वपक्षयति—**भोक्त्रापत्तेरिति**। विरोधाद् अद्वैतासिद्धिः पूर्वपक्षफलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः। अनपेक्ष-श्रुत्या स्वार्थनिर्णयात् तर्केण आक्षेपो न युक्त इत्युक्तम् इति शङ्कते—**यद्यपीति**। मानान्तरायोग्यश्रुत्यर्थे भवत्यनाक्षेपः। यस्तु अद्वितीयब्रह्माभेदाद् भूजलादीनाम-भेदो ब्रह्मोपादानकत्वश्रुतिविषयः, स "आदित्यो यूपः" इत्यर्थवादार्थवत् मानान्तरयोग्य एवेति द्वैतप्रमाणैः अपह्रियत इति समाधत्ते—**तथापीति**। अन्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अद्वितीय ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति कहनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है। जो परस्पर भिन्न हैं, वे अद्वितीय कारणसे अभिन्न नहीं होते हैं, जैसे मृत्तिकासे उत्पन्न घट और तन्तुसे उत्पन्न वस्त्र, इत्यादि तर्कसहित भेदप्रत्यक्ष आदिसे युक्त वेदान्तसमन्वयका विरोध होता है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर ब्रह्ममें तर्क अप्रतिष्ठित होनेपर भी जगत्के भेदमें प्रतिष्ठित होनेके कारण उससे विरोध होता है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"भोक्त्रापत्तेः" इत्यादिसे। समन्वयके विरोधसे अद्वैतकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है, अद्वैतकी सिद्धि सिद्धान्तमें फल है। अन्यानपेक्ष श्रुतिसे अपने अर्थका निर्णय होता है, इसलिए तर्कसे आक्षेप युक्त नहीं है, ऐसा पहले कहा गया है, ऐसी शंका करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। प्रमाणान्तरसे अज्ञेय श्रुत्यर्थके विषयमें आक्षेप नहीं होता है। परन्तु अद्वितीय ब्रह्मके अभेदसे भूमि, जल आदिका अभेद जो ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण कहनेवाली श्रुतियोंका विषय है, वह 'आदित्यो यूपः' (आदित्य यज्ञस्तम्भ है) इत्यादि अर्थवादके अर्थके समान प्रमाणान्तर योग्य ही है, इसलिए द्वैत प्रमाणोंसे अद्वैत श्रुतिका बाध होता है, इस प्रकार समाधान करते हैं—

भाष्य

यथा मन्त्रार्थवादौ। तर्कोऽपि हि स्वविषयादन्यत्राऽप्रतिष्ठितः स्यात् यथा धर्माधर्मयोः। किमतो यद्येवम्? अत इदमयुक्तं यत्प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थबाधनं श्रुतेः। कथं पुनः प्रमाणान्तरप्रसिद्धोऽर्थः श्रुत्या बाध्यत इति? अत्रोच्यते—प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके-भोक्ता चेतनः शारीरो भोग्याः शब्दादयो विषया इति, यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति। तस्य च विभागस्याऽभावः प्रसज्येत, यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत, भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत। तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद् ब्रह्म-

भाष्यका अनुवाद

और अर्थवाद अन्यविषयक होते हैं। तर्क भी स्वविषयसे अन्यत्र अप्रतिष्ठित होता है, जैसे धर्म और अधर्ममें। यदि ऐसा हो, तो इससे क्या? इससे यह अयुक्त है कि अन्य प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थका श्रुति बाध करे। अन्य प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थका श्रुति बाध करती है यह किस प्रकार कहते हो? इसपर कहते हैं—लोकमें यह भोक्तृभोग्यविभाग प्रसिद्ध है, भोक्ता चेतन शारीर है और भोग्य शब्द आदि विषय हैं। जैसे कि देवदत्त भोक्ता है और ओदन भोज्य है। यदि भोक्ता भोग्यभावको प्राप्त हो और भोग्य भोक्तृभावको प्राप्त हो, तो उस विभागका अभाव हो जायगा। और इन दोनोंके परमकारण ब्रह्मसे अभेद होनेके कारण आपसमें भी

रत्नप्रभा

परत्वं गौणार्थकत्वम्। स्वविषये जगद्भेदे तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वात् तेनाऽऽक्षेप इत्याह—**तर्कोऽपीति**। तर्कादेः द्वैते प्रामाण्येऽपि ततः समन्वयविरोधे किमायातम् इति शङ्कते—**किमत इति**। पूर्वपक्षी समाधत्ते—**अत इति**। तर्कादेः प्रामाण्याद् द्वैतबाधकत्वं श्रुतेरयुक्तम् इत्यद्वैतसमन्वयबाधो युक्त इत्यर्थः। इममर्थं शङ्कापूर्वकं स्पष्टयति—**कथमित्यादिना**। ननु भोक्तृभोग्ययोः मिथः एकत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तथापि" इत्यादिसे। अन्यपरत्व—गौणार्थक होना। अपने विषय जगत्के भेदमें तर्कके प्रतिष्ठित होनेसे उससे आक्षेप होता है, ऐसा कहते हैं—"तर्कोऽपि" इत्यादिसे। तर्क आदि द्वैतमें प्रमाण होनेपर भी उससे समन्वयविरोधमें क्या आया अर्थात् समन्वयका विरोध कैसे हो सकता है, ऐसी शंका करते हैं—"किमतः" इत्यादिसे। पूर्वपक्षी समाधान करता है—"अतः" इत्यादिसे। तर्क आदि प्रमाण होनेके कारण श्रुतिसे द्वैतका बाध करना उचित नहीं है, इसलिए अद्वैतसमन्वयका तर्कसे बाध युक्त है, ऐसा अर्थ है। इसी विषयको शंकापूर्वक स्पष्ट करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। परन्तु भोक्ता और भोग्यका परस्पर अभेद किसने

भाष्य

णोऽनन्यत्वात् प्रसज्येत । न चाऽस्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम् ।

भाष्यका अनुवाद

अभेद हो जायगा । इस प्रसिद्ध विभागका बाधित होना युक्त नहीं है । जिस

रत्नप्रभा

केनोक्तमित्याशङ्क्य श्रुतार्थापत्त्या इत्याह--तयोश्चेति । तयोः एकब्रह्माभेदश्रवणाद् एकत्वं कल्प्यते एकस्मादभिन्नयोः भेदे एकस्याऽपि भेदापत्तेः । ततश्च भेदो बाध्येत इत्यर्थः । इष्टापत्तिं वारयति--न चाऽस्येति । श्रुतेः गौणार्थत्वेन सावकाशत्वात् निरवकाशद्वैतमानबाधो न युक्त इत्यर्थः । ननु विभागस्य आधुनिकत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहा ? ऐसी आशंका कर यह बात श्रुतार्थापत्तिसे सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं—"तयोश्च" इत्यादिसे । भोक्ता और भोग्य एक ब्रह्मसे अभिन्न हैं अतः उनमें भी अभेदकी कल्पना होती है, एक पदार्थसे अभिन्न दो पदार्थोंमें यदि भेद हो, तो एक पदार्थका भी भेद हो जायगा, इसलिए भेदका बाध होता है, यह अर्थ है । इष्टापत्तिका निवारण करते हैं—"न चाऽस्य" इत्यादिसे । आशय यह है कि श्रुति गौणार्थक होनेसे सावकाश है, उससे निरवकाश द्वैतप्रमाणका बाध युक्त नहीं है । यदि कोई कहे कि विभाग तो आधुनिक है, इसलिए अनादि

१ उपपाद्यके ज्ञानसे उपपादककी कल्पना अर्थापत्ति है । जिसके विना जो अनुपपन्न होता है, वह उपपाद्य है, जैसे—रात्रि भोजनके विना दिनमें भोजन न करनेवालेका पीनत्व (मोटाई) अनुपपन्न है, इसलिए वह पीनत्व उपपाद्य है । जिसके न होनेसे जिसकी अनुपपत्ति होती है, वह उपपादक है, जैसे—रात्रिभोजन न होनेसे उस पीनत्वकी उपपत्ति नहीं होती, इसलिए रात्रिभोजन उस पीनत्वका उपपादक है । अर्थापत्ति दो प्रकारकी है, दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति । पुरोवर्ती पदार्थमें पहले ज्ञात होनेवाले रजतका 'यह रजत नहीं है' ऐसा जो उत्तर क्षणमें निषेध होता है, वह रजतकी सत्यतामें अनुपपन्न है, इसलिए उससे रजतके मिथ्यात्वकी कल्पना होती है, यह दृष्टार्थापत्ति है । श्रूयमाण वाक्यके स्वार्थकी अनुपपत्ति द्वारा अन्य अर्थकी जो कल्पना होती है वह श्रुतार्थापत्ति है, जैसे—'तरति शोकमात्मवित्' में श्रुत शोकपदवाच्य बन्धसमूह यदि वस्तुतः है तो उसका ज्ञानसे नाश होना असम्भव है, इसलिए श्रुतिके अर्थकी अनुपपत्ति होगी, इस अनुपपत्तिसे बन्धमें मिथ्यात्वकी कल्पना होती है । यह श्रुतार्थापत्ति भी दो प्रकारकी है—अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति । जहां वाक्यके एकदेशके श्रवणसे अन्वयाभिधान उपपन्न नहीं होता है, उससे अन्वयाभिधानके उपयोगी पदान्तरकी कल्पना होती है, वहां अभिधानानुपपत्ति होती है । जैसे—'द्वारम्' इस जगह 'पिधेहि' का अध्याहार होता है । जहां वाक्यसे अवगत अर्थ अनुपपन्न ज्ञात होकर अर्थान्तरकी कल्पना करता है, वहां अभिहितानुपपत्ति होती है । जैसे—'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यादिमें क्षणिक याग कालान्तरभावी स्वर्गका साधन हो, यह अनुपपन्न है, इसलिए मध्यमें अपूर्वकी कल्पना होती है ।

भाष्य

यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथाऽतीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः। तस्मात् प्रसिद्धस्याऽस्य भोक्तृभोग्यविभागस्याऽभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणम् ।

इति चेत् कश्चिच्चोदयेत् तं प्रति ब्रूयात्—स्याल्लोकवदिति । उप-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार वर्तमान कालमें भोक्ता और भोग्यका विभाग देखनेमें आता है, इसी प्रकार अतीत और अनागत कालमें भी कल्पना युक्त है। इसलिए इस प्रसिद्ध भोक्तृभोग्य-विभागका अभाव प्रसक्त होनेसे जगत्का ब्रह्म कारण है, यह निपट अयुक्त है।

ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उसके प्रति कहना चाहिए कि—'स्याल्लोकवत्' (लोकके समान विभाग होगा) हमारे पक्षमें विभाग उपपन्न

रत्नप्रभा

अनाद्यद्वैतश्रुत्या बाध इत्यत आह--यथेति । अतीतानागतकालौ भोक्त्रादिविभागाश्रयौ, कालत्वात्, वर्तमानकालवद्, इत्यनुमानाद् विभागोऽनाद्यनन्त इत्यर्थः[1]।

एवं प्राप्ते परिणामदृष्टान्तेन आपाततः सिद्धान्तमाह--स्याल्लोकवदिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अद्वैतश्रुतिसे बाध होता है, इसपर कहते हैं—"यथा" इत्यादि। तात्पर्य यह है कि अतीत और अनागत काल भोक्ता, भोग्य आदि विभागके आश्रय हैं, काल होनेसे, वर्तमान कालके समान, इस अनुमानसे विभाग भी अनादि एवं अनन्त है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर परिणाम दृष्टान्तसे साधारणरूपसे सिद्धान्त कहते हैं—"स्याल्लोकवत्" इत्यादिसे। दृष्टान्तमें

(१) सिद्धान्तीका आशय यह है---जैसे तार्किक उपादानकारण कपालरूप द्रव्यसे कार्य घट आदि द्रव्यको भिन्न मानते हैं एवं दोनोंका समवाय संबन्ध मानते हैं, उसी प्रकार सिद्धान्तमें उपादानोपादेयभावस्थलमें दो द्रव्य नहीं माने जाते हैं। किन्तु एक ही मृत्तिकारूप द्रव्य पिंडावस्थारूप धर्मका त्याग कर कम्बुग्रीवादि संस्थानवाला हो जाता है, ऐसा माना जाता है। इसीलिए मृत्पिण्ड ही घट हुआ ऐसी सामानाधिकरण्य प्रतीति होती है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि वाक्योंमें भी "अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । 'आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्" (सत्, प्रकाश, प्रिय, नाम और रूप, इस प्रकार पांच अंश हैं, इनमें प्रथम तीन ब्रह्मरूप हैं, अवशिष्ट दो जगद्रूप हैं) इस उक्तिके अनुसार जगद्रूपसे अनुप्रविष्ट ब्रह्मरूप धर्मीको लेकर ही अभेद उपपन्न होता है। नाम, रूप, इन अंशोंका ब्रह्मके साथ केवल तादात्म्य है, ऐक्य नहीं है। इसलिए ब्रह्म और जगत्में सांकर्य नहीं है। यदि कोई कहे कि नाम, रूप, इन अंशोंका स्वरूपके साथ ऐक्य न माननेपर भी जीव और ब्रह्मके स्वरूपैक्य माननेसे सांकर्य होगा, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दोनोंका परमार्थमें स्वरूपैक्य होनेपर भी औपाधिक भेद होनेके कारण सांकर्य नहीं होगा।

भाष्य

पद्यत एवाऽयमस्मत्पक्षेऽपि विभागः, एवं लोके दृष्टत्वात् । तथा हि—समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभागः इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते । न च समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति, न च तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति, एवमिहापि न च भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः न च परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति । यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकारः

भाष्यका अनुवाद

होता ही है, क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है। जैसे कि उदकस्वरूप समुद्रसे, झाग, बड़ी तरङ्ग, लहर, बुल्बुले आदि विकार अनन्य हैं, तो भी उनका अन्योन्य भेद और संश्लेष आदि व्यवहार उपलब्ध होता है। उदकस्वरूप समुद्रसे फेन, तरंग आदि उसके विकार अनन्य हैं, तो भी उनके अन्योन्यभाव होनेका प्रसंग नहीं होता। वे अन्योन्यभावको प्राप्त न होनेपर भी समुद्रस्वरूपसे अन्य नहीं होते। इसी प्रकार यहां भी भोक्ता और भोग्य अन्योन्यभाव नहीं पावेंगे और ब्रह्मसे अन्य भी नहीं होंगे। यद्यपि भोक्ता ब्रह्मका

रत्नप्रभा

दृष्टान्तेऽपि कथम् एकसमुद्राभिन्नानां परिणामानां मिथो भेदः कथं वा तेषां भेदे सति एकस्मादभिन्नत्वम् इत्याशङ्क्य नहि दृष्टेऽनुपपत्तिः इति न्यायेनाह—न चेति । एवं भोक्तृभोग्ययोः मिथो भेदो ब्रह्माभेदश्च इत्याह—एवमिहेति । जीवस्य ब्रह्मविकारत्वाभावाद् दृष्टान्तवैषम्यमिति शङ्कते—यद्यपीति । औपाधिकं जन्म

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी एक समुद्रसे अभिन्न परिणामोंका परस्पर भेद किस प्रकार है और वे परस्पर भिन्न हों, तो भी एक समुद्रसे अभिन्न कैसे हैं? ऐसी आशंका करके 'नहि दृष्टे०' न्यायसे कहते हैं—"न च" इत्यादि। इसी प्रकार भोक्ता और भोग्यमें परस्पर भेद है और ब्रह्माभेद भी है, ऐसा कहते हैं—"एवमिह" इत्यादिसे। जीव ब्रह्मका विकार नहीं है, इसलिए दृष्टान्तविषमता है, ऐसी

(१) प्रत्यक्षविषयमें प्रामाणान्तरके अन्वेषणकी आवश्यकता नहीं होती है, ऐसी विवक्षा जहां होती है, वहां यह न्याय प्रवृत्त होता है। प्रत्यक्ष अन्य सब प्रमाणोंका बाधक है। अनुपपत्ति अर्थापत्तिरूप या व्यतिरेकानुमितिरूप होनेसे प्रत्यक्षबाध्य है। इसलिए प्रत्यक्षविषयमें प्रत्यक्षविरोधिनी अनुपपत्तिका सम्भव नहीं है।

भाष्य

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाऽविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्याऽस्त्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद् ब्रह्मणाऽनन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरङ्गादिन्यायेनेत्युक्तम् ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

विकार नहीं है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा०' (उसको उत्पन्न करके उसमें ही अनुप्रवेश किया) इस प्रकार विकारको प्राप्त न हुए स्रष्टाका ही कार्यमें अनुप्रवेश होनेसे श्रुति उसे भोक्ता कहती है। सो भी जिसने कार्यमें अनुप्रवेश किया है, उसका उपाधिकृत विभाग है, जैसे कि घट आदि उपाधिकृत विभाग आकाशका है। इससे परम कारण ब्रह्मसे अनन्य होनेपर भी भोक्तृभोग्यलक्षण विभाग समुद्र-तरंगन्यायसे उपपन्न होता है, ऐसा कहा है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

अस्तीति तरङ्गादिसाम्यमाह--**तथापीति**। विभागः जन्म, यद्वा, तथापीतिशब्देनैव उक्तः परिहारः। ननु भोक्तुः प्रतिदेहं विभागः कथमित्यत आह--**कार्यमनुप्रविष्टस्येति**। औपाधिकविभागे फलितमुपसंहरति--**इत्यत इति**। एकब्रह्माभिन्नत्वेऽपि भोक्त्रादेः तरङ्गादिवद् भेदाङ्गीकारात् न द्वैतमानेन अद्वैतसमन्वयस्य विरोध इत्यर्थः ॥ १३ ॥ (५)

रत्नप्रभाका अनुवाद

शंका करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। उपाधिनिमित्तक जन्म है, इस विषयमें तरङ्ग आदि दृष्टान्त कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। विभाग—जन्म। अथवा 'तथापि' शब्दसे ही आक्षेपका परिहार कहा गया समझना चाहिए। यदि कोई कहे कि भोक्ता आत्माका प्रतिदेह विभाग कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं—"कार्यमनुप्रविष्टस्य" इत्यादि। उपाधिनिमित्तक विभाग माननेपर जो फल निकला, उसका उपसंहार करते हैं—"इत्यतः" इत्यादिसे। आशय यह है कि एक ब्रह्मसे अभिन्न होनेपर भी भोक्ता, भोग्य आदिमें तरङ्ग, फेन आदिके समान भेद स्वीकार किया गया है, इसलिए द्वैत प्रमाणसे अद्वैत समन्वयका विरोध नहीं है ॥१३॥

[६ आरम्भणाधिकरण सू० १४-२०]

भेदाभेदौ तात्त्विकौ स्तो यदि वा व्यावहारिकौ ।
समुद्रादाविव तयोर्बाधाभावेन तात्त्विकौ ॥१॥
बाधितौ श्रुतियुक्तिभ्यां तावेतौ व्यावहारिकौ ।
कार्यस्य कारणाभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—कार्य एवं कारणमें भेद और अभेद पारमार्थिक हैं अथवा व्यावहारिक हैं ?

पूर्वपक्ष—जैसे समुद्र, तरंग आदिके भेद और अभेदमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार उनका कहीं बाध नहीं होता है, अतः पारमार्थिक हैं ।

सिद्धान्त—भेद और अभेद श्रुति और युक्तियोंसे बाधित हैं, इसलिए व्यावहारिक हैं । कार्य कारणसे भिन्न नहीं हैं, इसलिए अद्वितीय ब्रह्म ही पारमार्थिक है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—लोकमें देखा जाता है कि जिसका बाध नहीं होता वह वस्तु पारमार्थिक होती है, जब एक ही वस्तुका ब्रह्मरूपसे अभेद है और भोक्ता आदि रूपसे भेद है, तो भेद और अभेदमें परस्पर विरोध नहीं है, एक ही वस्तुमें दोनों रह सकते हैं, अतः उनके बाधित न होनेके कारण दोनों पारमार्थिक हैं ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" (ब्रह्ममें कुछ भी भेद नहीं है) इस श्रुतिसे भेदका बाध होता है। परस्पर विरोधी भेद और अभेद एकत्र नहीं रह सकते हैं यह युक्ति भी है, क्योंकि एक चन्द्रमा कभी दो नहीं हो सकता । पूर्वाधिकारणमें जो यह कहा गया है कि आकारभेदसे भेद है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अद्वितीय पदार्थमें आकारभेद ही नहीं हो सकता । समुद्र आदिमें तो दोनों देखे जाते हैं, अतः 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इस न्यायसे वहाँ दोनोंका स्वीकार किया जाता है । यदि कहो कि अद्वितीय वस्तुमें भी ब्रह्माकार और जगदाकार देखे जाते हैं, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म शास्त्रैकवेद्य है, प्रत्यक्ष दृष्ट नहीं है। इस कारण भेद और अभेद श्रुति और युक्तियोंसे बाधित होनेसे पारमार्थिक नहीं हैं, किन्तु व्यावहारिक हैं । तब तत्त्व क्या है ? अद्वैत ही तत्त्व है, क्योंकि कार्य कारणसे भिन्न नहीं है, इसलिए केवल कारण ही परमार्थ सत् है । "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्, एवं सोम्य स आदेशः" इत्यादि श्रुति मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंसे कारणको ही सत्य कहती है । श्रुतिका अर्थ इस प्रकार है—मृत्पिण्ड कारण है, घट, शराव आदि उसके विकार हैं । यहां मृत्तिका भिन्न है और घट आदि पदार्थ भिन्न हैं, ऐसा तार्किक मानते हैं । घट आदि पृथक् पदार्थ नहीं है, ऐसा समझानेके लिए श्रुति विकार शब्दसे उनका ग्रहण करती है । देवदत्तसे भिन्न जैसे ही घट आदि मृत्तिकाके ही आकारविशेष हैं, मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं। जैसे देवदत्तकी बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाएँ हैं । ऐसी स्थितिमें घटादिके आकारसे प्रतीत होनेपर भी केवल मृत्तिका ही स्वतंत्र पदार्थ है, इसलिए मृत्तिकाके ज्ञान होनेपर उसके विकारभूत घट

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—तदनन्यत्वम्, आरम्भणशब्दादिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—तदनन्यत्वम्—कार्यस्य जगतः कारणाद् ब्रह्मणः पृथक्-सत्ताराहित्यम् [कुतः] आरम्भणशब्दादिभ्यः—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिशब्देभ्यः ।

भाषार्थ—कारण ब्रह्मसे कार्य जगत्की पृथक् सत्ता नहीं है, क्योंकि वाचारम्भणं विकारो० (विकार केवल वाचारम्भण मात्र है, मृत्तिका ही सत्य है अर्थात् कारण ही सत्य है), 'ऐतदात्म्यमिदं०' (यह सब सद्रूप है, वह सत् सत्य है, वह आत्मा है,) 'ब्रह्मैवेदं०' (यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि वचनोंसे ऐसा ही प्रतीत होता है ।

भाष्य

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकव-

भाष्यका अनुवाद

इस व्यावहारिक भोक्तृभोग्यलक्षण विभागका स्वीकार करके 'स्याल्लोकवत्'

रत्नप्रभा

पूर्वस्मिन्नेव पूर्वपक्षे विवर्तवादेन मुख्यं समाधानमाह- **तदनन्यत्वमिति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वाधिकरणमें उक्त पूर्वपक्षका विवर्तवादके आधारपर मुख्य समाधान करते हैं-"तदनन्यत्वम्"

आदिका पारमार्थिक स्वरूप ज्ञात हो जाता है। यदि कहो कि आकारविशेषका ज्ञान नहीं होता है, मत हो, हानि क्या है? आकार तो कोई पदार्थ नहीं है, इसलिए उसकी जिज्ञासा करना ही ठीक नहीं है। विकार यद्यपि चक्षुरिन्द्रियसे देखे जाते हैं, तो भी मृत्तिकासे अतिरिक्त उनका कुछ स्वरूप ही नहीं है। यह घट है, यह शराब है, इस प्रकार केवल वागिन्द्रियसे उच्चार्यमाण नाममात्र है। जो वास्तविक स्वरूपवाला न हो, और उपलभ्यमान हो, वह मिथ्या पदार्थ कहलाता है। यह लक्षण विकारोंमें भी है, अतः विकार मिथ्या हैं। मृत्तिकाका तो विकारके बिना भी स्वरूप है, इसलिए वह सत्य है। इसी प्रकार ब्रह्मके विषयमें भी समझना चाहिए, क्योंकि मृत्तिकान्यायकी ब्रह्ममें और घटादिन्यायकी जगत्में योजना हो सकती है। इसलिए जगत् ब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण अद्वितीय ब्रह्म ही पारमार्थिक है। इस प्रकारके विचारोंसे रहित पुरुषोंके लिए साधारण दृष्टिसे वेदमें प्रतिपादित अद्वितीय ब्रह्मका भी ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे भेद भी प्रतीत होता है, इसलिए समुद्रतरंगन्यायसे भेद और अभेद दोनों प्रतीत होते हैं, इसीलए वे केवल व्यावहारिक हैं ।

भाष्य

दिति परिहारोऽभिहितः, न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात् तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते । कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाऽभावः कार्यस्याऽवगम्यते । कुतः ? आरम्भणशब्दादिभ्यः । आरम्भणशब्दस्तावत्

भाष्यका अनुवाद

ऐसा परिहार किया गया है, परन्तु यह विभाग वास्तविक नहीं है, क्योंकि वे कार्य और कारण अभिन्न समझे जाते हैं। आकाश आदि बहुत विस्तार-वाला जगत् कार्य है और परब्रह्म कारण है। उस कारणसे वास्तवमें कार्यका अनन्यत्व—अभेद समझा जाता है। किससे ? आरम्भणशब्द आदिसे।

रत्नप्रभा

समानविषयत्वं सङ्गतिं वदन् उभयोः परिहारयोः परिणामविवर्ताश्रयत्वेन अर्थ-भेदमाह--**अभ्युगपम्येति** । प्रत्यक्षादीनाम् औत्सर्गिकप्रामाण्यमङ्गीकृत्य स्थूलबुद्धि-समाधानार्थं परिणामदृष्टान्तेन भेदाभेदौ उक्तौ। सम्प्रति अङ्गीकृतं प्रामाण्यं तत्त्वा-वेदकत्वात् प्रच्याव्य व्यावहारिकत्वे स्थाप्यते, तथा च मिथ्याद्वैतग्राहिप्रमाणैः अद्वैतश्रुतेः न बाधः, एकस्यां रज्ज्वां दण्डस्रगादिद्वैतदर्शनाद् इत्ययं मुख्यः परिहार इति भावः। एवम् अद्वैतसमन्वयस्य अविरोधार्थं द्वैतस्य मिथ्यात्वं साधयति—**यस्मात्तयोरिति** । स्वरूपैक्ये कार्यकारणत्वव्याघात इत्यत आह—**व्यतिरेकेणेति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । दोनों अधिकरणोंकी समानविषयत्वरूप संगति कहते हुए "अभ्युपगम्य" इत्यादिसे कहते हैं—पूर्वाधिकरणमें वर्णित समाधान परिणामवादके आधारपर और इस अधिकरणमें वर्णित समाधान विवर्तवादके आधारपर किया गया है । इस प्रकार दोनोंमें अर्थभेद है, तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष आदिका स्वाभाविक प्रामाण्य स्वीकार करके स्थूल बुद्धिवालोंकी शङ्काकी निवृत्तिके लिए परिणामदृष्टान्तसे भेद और अभेद कहे गये हैं। अब स्वीकृत प्रामाण्यको तत्त्वके प्रतिपादन करनेमें असमर्थ कहकर व्यावहारिक तत्त्वमें स्थापित करते हैं। इसलिए मिथ्याभूत द्वैतके ग्राहक प्रमाणोंसे अद्वैत श्रुतिका बाध नहीं है, क्योंकि एक ही रज्जुमें दंड, माला आदि द्वैतका दर्शन होता है, इसलिए यह मुख्य परिहार है। इस प्रकार अद्वैत समन्वयके अविरोधके लिए द्वैतका मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं—"यस्मात्तयोः" इत्यादिसे। स्वरूप एक ही हो, तो कार्यकारणभावका व्याघात हो जायगा, इसपर कहते हैं—"व्यतिरेकेण" इत्यादि ।

भाष्य

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।४) इति । एतदुक्तं भवति—एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद् विज्ञातं भवेत्, यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते—विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति, न तु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति, नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः । तत्र श्रुताद् वाचारम्भणशब्दाद् दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याऽभाव इति गम्यते । पुनश्च तेजोबन्नानां ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोबन्न-

भाष्यका अनुवाद

एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त की अपेक्षामें—'यथा सोम्यैकेन०' (हे सोम्य ! जैसे एक मृत्तिकापिण्डसे सब मृत्तिकाविकार ज्ञात हो जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीके अवलम्बनसे हैं और नाममात्र हैं, मृत्तिका ही सत्य है, इस प्रकार आरम्भण शब्द कहा है। तात्पर्य यह है कि मृत्तिकारूपसे ज्ञात एक मृत्तिकापिंडसे सब मृत्तिकानिर्मित घड़ा, सकोरा, डोल आदि, मृत्तिकास्वरूप होनेसे वस्तुतः विज्ञात होते हैं, क्योंकि वाचारम्भण विकार केवल नाममात्र है। विकार—घट, शराव और उदञ्चन। विकार वस्तुतः कुछ नहीं है। नामधेयमात्र ये सब असत्य हैं, मृत्तिका ही सत्य है। यह ब्रह्मका दृष्टान्त श्रुतिमें कहा गया है। उस श्रुतिमें कहे गये वाचारम्भणशब्दसे दार्ष्टान्तिकमें भी ब्रह्मसे व्यतिरिक्त कार्य नहीं है, ऐसा समझा जाता है और श्रुति तेज, जल और अन्न ब्रह्मके कार्य हैं, ऐसा कहकर

रत्नप्रभा

कारणात् पृथक् सत्त्वशून्यत्वं कार्यस्य साध्यते न ऐक्यमित्यर्थः। वागारभ्यं नाममात्रं विकारो न कारणात् पृथग् अस्ति इत्येवकारार्थ इति श्रुतिं योजयति—**एतदुक्तमिति**। आरम्भणशब्दार्थान्तरमाह—**पुनश्चेति**। अपागाद् अग्नित्वम् अप-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारणसे कार्यकी पृथक् सत्ता नहीं है, इसको सिद्ध करते हैं, दोनोंकी एकता सिद्ध नहीं करते ऐसा अर्थ है। केवल वाणीसे आरंभ किया जानेवाला विकार नाममात्र है, वह कारणसे पृथक् नहीं है, यह एवकारका अर्थ है, इस प्रकार श्रुतिकी योजना करते हैं—"एतदुक्तम्"

भाष्य

कार्याणां तेजोबन्नान्यतिरेकेणाभावं ब्रवीति—'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (छा० ६।४।१) इत्यादिना। आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।७), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मु० २।२।११), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९) इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनपरं वचनजातमुदाहर्तव्यम्। न चाऽन्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं संपद्यते। तस्माद् यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेणाऽनुपाख्यत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

तेज, जल और अन्नके कार्योंका तेज, जल और अन्नसे भेदाभाव कहती है—'अपागादग्नेरग्नित्वं० (अग्निसे अग्नित्व गया, क्योंकि उसका वाणीसे ही आरम्भ किया जाता है, विकार नाममात्र हैं, तीन रूप ही सत्य हैं) इत्यादिसे। 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इसमें आदि शब्दसे 'ऐतदात्म्यमिदं०' (यह सब सद्रूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब प्रपञ्च आत्मा—सद्रूप ही है) 'ब्रह्मैव इदं सर्वम्' यह सब आत्मा ही है), 'नेह नानास्ति किंचन' (ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं है), इत्यादि आत्मैकत्वका प्रतिपादन करनेवाले वचन भी उद्धृत करने चाहिएँ। नहीं तो एकविज्ञानसे सर्वज्ञान संपन्न नहीं होगा। इसलिए जैसे घटाकाश, करकाकाश आदि महाकाशसे अभिन्न हैं, जैसे जलसी भासनेवाली मृगतृष्णा ऊपरसे अभिन्न है, क्योंकि उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होकर नष्ट हो जाता

रत्नप्रभा

गतं कारणमात्रत्वात्, त्रीणि तेजोऽबन्नानां रूपाणि रूपतन्मात्रात्मकानि सत्यम्, तेषामपि सन्मात्रत्वात् सदेव शिष्यते इत्यभिप्रायः। जीवजगतोः ब्रह्मान्यत्वे प्रतिज्ञाबाधः। इत्याह--**न चाऽन्यथेति**। तयोः अनन्यत्वे क्रमेण दृष्टान्तौ आह--

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। आरम्भण शब्दका अन्य अर्थ कहते हैं—"पुनश्च" इत्यादिसे। अग्नित्व केवल कारण रूप होनेसे नष्ट हो गया। तेज, जल और अन्नके तीन रूप, रूपतन्मात्र स्वरूप होनेसे सत्य हैं। वे भी केवल सद्रूप हैं अतः सत् ही बाकी रह जाता है, ऐसा अभिप्राय है। जीव और जगत् यदि ब्रह्मसे भिन्न माने जायँ, तो प्रतिज्ञाका बाध होगा, ऐसा कहते हैं—"न चान्यथा" इत्यादिसे।

भाष्य

एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाऽभाव इति द्रष्टव्यम् ।

नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म, अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव । यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति च नानात्वम् । यथा च समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम् । यथा च मृदात्मनैकत्वम्, घटशरावाद्यात्मना नानात्वम् । तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति । नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति । एवञ्च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति । नैवं स्यात्, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति

भाष्यका अनुवाद

है और वे सत्तारहित हैं, उसी प्रकार यह भोक्तृ, भोग्य आदि प्रपंच ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ऐसा समझना चाहिए है ।

परन्तु ब्रह्म अनेक स्वरूप है जैसे वृक्ष अनेक शाखायुक्त है वैसेही ब्रह्म अनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्त है । अतः नानात्व अनेकत्व दोनों सत्य ही हैं । जैसे वृक्षस्वरूपसे वृक्ष एक है और शाखास्वरूपसे नाना है । जैसे समुद्र समुद्रस्वरूपसे एक है और फेन, तरंग आदिस्वरूपसे नाना है, जैसे मृत्तिका मृत्तिकास्वरूपसे एक है और घट, शराव आदि स्वरूपसे नाना है, वैसेही ब्रह्मकारण स्वरूपसे एक और कारण जगत् रूपसे अनेक है । उक्त दो अंशोंमें एकत्व अंशके ज्ञानसे मोक्षव्यवहार सिद्ध होगा और नानात्व अंशके ज्ञानसे कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखनेवाले लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध होंगे और इसी प्रकार मृत्तिका आदि दृष्टान्त अनुकूल होंगे । ऐसा

रत्नप्रभा

तस्माद्यथेति । प्रतिज्ञाबलाद् इत्यर्थः । दृष्टं प्रातीतिकं नष्टम् अनित्यं यत्स्वरूपं तद्रूपेण अनुपाख्यत्वात् सत्तास्फूर्तिशून्यत्वात् अनन्यत्वमिति सम्बन्धः ।

शुद्धाद्वैतं स्वमतम् उक्त्वा भेदाभेदमतम् उत्थापयति—**नन्विति** । अनेकाभिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव और जगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, इस विषयमें क्रमसे दृष्टान्त कहते हैं—"तस्माद्यथा" इत्यादिसे । तस्मात्—प्रतिज्ञाके बलसे । कार्यका स्वरूप केवल आभासित होता है और नश्वर है अर्थात् अनित्य है, उसके रूपयुक्त होने एवं सत्ता और स्फूर्ति रहित होनेके कारण कार्य कारणसे भिन्न नहीं है, ऐसा संबन्ध है ।

अपना मत—शुद्धाद्वैत कह कर भेदाभेद मतको उठाते हैं—"ननु" इत्यादिसे । अनेक

भाष्य

प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्। वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्याऽनृतत्वाभिधानात्। दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात्, 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात्। स्वयंप्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यम्। अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्व-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (मृत्तिका ही सत्य है) इस प्रकार दृष्टान्तमें आकृतिमात्रका सत्यरूपसे निर्णय किया है और वाचारम्भण शब्दसे विकारसमूह असत्य कहा गया है, दार्ष्टान्तिकमें भी 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' (यह सब आत्मस्वरूप है, वह सत्य है) इस प्रकार एक परम कारण ही सत्यरूपसे निश्चित किया गया है। 'स आत्मा०' (हे श्वेतकेतो! वह आत्मा है, वह तू है) इस प्रकार शारीर ब्रह्म है, ऐसा उपदेश है। इस जीवका स्वयंसिद्ध जो ब्रह्मात्मत्व है, उसीका उपदेश किया जाता है, अन्य यत्नसे साध्य ब्रह्मात्मत्वका उपदेश नहीं किया जाता। इससे जैसे रज्जु आदिबुद्धि सर्प आदिबुद्धि की

रत्नप्रभा

शक्तिभिः तदधीनप्रवृत्तिभिः—परिणामैः युक्तमित्यर्थः। भेदाभेदमते सर्वव्यवस्थासिद्धिः अत्यन्ताभेदे द्वैतमानबाध इत्यभिमानः। **नैवं स्यादिति**। एवकारवाचारम्भणशब्दाभ्यां विकारसत्तानिषेधात् परिणामवादः श्रुतिबाह्य इत्यर्थः। किञ्च, संसारस्य सत्यत्वे तद्विशिष्टस्य जीवस्य ब्रह्मैक्योपदेशो न स्याद् विरोधाद् इत्याह—**स आत्मेति**। एकत्वं ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यम् इत्युपदेशार्थम् इत्याशङ्क्य असीति पदविरोधात् मैवम् इत्याह—**स्वयमिति**। अतः तत्त्वज्ञानबाध्यत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

शक्तियोंसे और उसके अधीनमें रहनेवाली प्रवृत्ति अर्थात् परिणामोंसे युक्त है, ऐसा अर्थ है। भेदाभेदमतमें सब व्यवस्थाओंकी सिद्धि होती है, और अत्यन्त अभेद माननेसे द्वैत प्रमाणोंका बाध होता है, ऐसा समझकर भेदाभेद मतका खण्डन करते हैं—"नैवं स्यात्" इत्यादिसे। 'एवकार और 'वाचारम्भण' शब्दोंसे विकारकी सत्ताका निषेध होता है, इसलिए परिणामवाद श्रुतिबाह्य है, ऐसा तात्पर्य है। और संसार यदि सत्य हो, तो संसारयुक्त जीवका ब्रह्मके साथ अभेदोपदेश नहीं हो सकेगा, क्योंकि विरोध है, ऐसा कहते हैं—"स आत्मा" इत्यादिसे। एकत्व ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे साध्य है, ऐसा उपदेश करनेके लिए ऐक्यका कथन है, ऐसी आशंका कर 'असि' पदके विरोधसे यह बात नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—"स्वयम्" इत्यादिसे। इसलिए तत्त्वज्ञानसे बाधित होनेके कारण संसारित्व

भाष्य

मवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं संपद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम् । बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत । दर्शयति च—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याऽभावम् । न चाऽयं व्यवहाराभावोऽवस्था-

भाष्यका अनुवाद

बाधिका होती है, वैसे, यह जो शास्त्रीय ब्रह्मात्मत्व की अवगति होती है, वह स्वाभाविक शारीरात्मा की बाधिका है । शारीरात्मत्वका बाध होनेपर उसके आश्रित समस्त स्वाभाविक व्यवहार, जिनकी प्रसिद्धिके लिये एकत्वसे अन्य ब्रह्मके नानात्व अंशकी कल्पना करनी पड़े, बाधित हो जाते हैं । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (जिस ज्ञानावस्थामें इसकी सब आत्मा ही हो जाते हैं, वहां किस साधनसे किसको देखे) इत्यादिसे ब्रह्मको ही आत्मा समझनेवालेके प्रति श्रुति क्रिया, कारक और फलस्वरूप समस्त व्यवहारका अभाव दिखलाती है । विशिष्ट

रत्नप्रभा

संसारित्वं मिथ्या इत्याह--**अतश्चेति** । स्वतस्सिद्धोपदेशाद् इत्यर्थः । यदुक्तं व्यवहारार्थं नानात्वं सत्यमिति, तत् किं ज्ञानादूर्ध्वं प्राग्वा ? नाद्य इत्याह--**बाधिते चेति** । स्वभावोऽत्र अविद्या, तया कृतः स्वाभाविकः, ज्ञानादूर्ध्वं प्रमातृत्वादिव्यवहारस्य अभावात् नानात्वं न कल्प्यमित्यर्थः । न द्वितीयः--ज्ञानात् प्राक् कल्पितनानात्वेन व्यवहारोपपत्तौ नानात्वस्य सत्यत्वासिद्धेः । यत्तु प्रमातृत्वादिव्यवहारः सत्य एव मोक्षावस्थायां निवर्तते इति तन्न इत्याह--**न चाऽयमिति** । संसारसत्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

मिथ्या है, ऐसा कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे । अतः—स्वतःसिद्ध वस्तुके उपदेशसे । यह जो पीछे कहा गया है कि व्यवहारके लिए नानात्वको सत्य मानना चाहिए, वह क्या ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तरके व्यवहारके लिए है अथवा तत्पूर्वके व्यवहारके लिए ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"बाधिते च" इत्यादिसे । यहां स्वभावका अर्थ अविद्या है, स्वाभाविक—अविद्यासे कृत । ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तर प्रमातृत्व आदि व्यवहार नहीं होते हैं, इसलिए नानात्वकल्पनाकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा अर्थ है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानोत्पत्तिसे पहले कल्पित नानात्वसे ही व्यवहार उपपन्न हो सकता है, उससे नानात्वकी सत्यता सिद्ध नहीं होती । यह जो कथन है कि प्रमातृत्व आदि व्यवहार सत्य ही है, परन्तु मोक्षावस्थामें निवृत्त हो जाता है, वह ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चाऽयम्" इत्यादिसे । संसार यदि सत्य

भाष्य

विशेषनिबद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्याऽनवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात्। तस्करदृष्टान्तेन चाऽनृताभिसन्धस्य बन्धनं सत्याभिसन्धस्य च मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति [छा० ६।१६] मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्। उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसन्ध इत्युच्येत। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य

भाष्यका अनुवाद

अवस्थाके आधारपर यह व्यवहारका अभाव कहा गया है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार जीवका जो ब्रह्मभाव कहा गया है, वह अवस्थाविशेषके आधारपर नहीं कहा गया। और चोरके दृष्टान्तसे मिथ्या भाषण करनेवालेका बन्धन और सत्यभाषीका मोक्ष दिखलानेवाली श्रुति केवल एकत्व ही पारमार्थिक है और नानात्व मिथ्याज्ञानसे कल्पित है, ऐसा दिखलाती है। यदि भेद और अभेद ये दोनों सत्य हों, तो भेदव्यवहार करनेवाला पुरुष असत्यभाषी कैसे कहा जा सकेगा ? 'मृत्योः स०'

रत्नप्रभा

त्वे तदवस्थायां जीवस्य ब्रह्मत्वं न स्यात्, भेदाभेदयोः एकदा एकत्र विरोधात्। अतः असंसारिब्रह्माभेदस्य सदातनत्वावगमात् संसारोऽपि मिथ्यैव इत्यर्थः। किञ्च, यथा लोके कश्चित् तस्करबुद्ध्या भटैः गृहीतः अनृतवादी चेत् तप्तपरशुं गृह्णाति स दह्यते बध्यते च तथा नानात्ववादी बध्यते, सत्यवादी चेत् न दह्यते मुच्यते च। तथा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इत्येकत्वदर्शी मुच्यते इति श्रुतदृष्टान्तेन एकत्वं सत्यम्, नानात्वं मिथ्या इत्याह-**तस्करेति**। व्यवहारगोचरो नानात्वव्यवहा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो, तो संसारावस्थामें जीव ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि भेद और अभेद एक समयमें इकट्ठे नहीं रह सकते। इसलिए असंसारी ब्रह्मके साथ जीवका अभेद सदातन प्रतीत होता है अतः संसार भी मिथ्या है, ऐसा तात्पर्य है। और जैसे लोकमें किसी मनुष्यको चोर समझकर राजभट पकड़ लेते हैं, तब वह अपने छुटकारेके लिए तपाये हुए फरसेको हाथमें लेता है, वह यदि अनृतवादी होता है तो उससे जल जाता है और बन्दीगृहमें रक्खा जाता है, उसी प्रकार नानात्ववादी बद्ध होता है, यदि वह सत्यवादी होता है, तो जलता नहीं और मुक्त हो जाता है। उसी प्रकार यह सब सत्स्वरूप ही है, इस प्रकार एकत्व देखनेवाला मुक्त हो जाता है, श्रुतिमें वर्णित इस दृष्टान्तके अनुसार एकत्व सत्य है, नानात्व मिथ्या है, ऐसा कहते हैं—"तस्कर" इत्यादिसे। व्यवहारगोचर—नानात्व व्यवहारका आश्रय। श्रुतिमें नानात्वकी निन्दा की

भाष्य

इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इति च भेददृष्टिमपवदन्नेतदेव दर्शयति । न चाऽस्मिन् दर्शने ज्ञानान्मोक्ष इत्युपपद्यते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनाऽनभ्युपगमात् । उभयसत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते । नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात् प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्

भाष्यका अनुवाद

(जो ब्रह्ममें भेद-सा देखता है, वह जन्ममरणपरम्पराको प्राप्त होता है) इस प्रकार भेददृष्टिका निषेध करके श्रुति यही बात सिद्ध करती है । और इस दर्शनमें ज्ञानसे मोक्ष होता है, ऐसा उपपन्न नहीं होता, क्योंकि सम्यग् ज्ञानसे निषेध्य कोई मिथ्या ज्ञान संसारका कारण नहीं माना गया है, क्योंकि दोनोंके सत्य होनेपर यह कैसे कहा जा सकता है कि एकत्वज्ञानसे भेदज्ञान दूर होता है । परन्तु केवल एकत्वका ही स्वीकार करें तो भेदके अभावसे प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाण निर्विषयक होनेसे बाधित हो जायँगे । जैसे कि

रत्नप्रभा

राश्रयः । नानात्वनिन्दयाऽपि एकत्वमेव सत्यम् इत्याह—**मृत्योरिति** । किञ्च, अस्मिन् भेदाभेदमते जीवस्य ब्रह्माभेदज्ञानाद् भेदज्ञाननिवृत्तेः मुक्तिः इष्टा, सा न युक्ता, भेदज्ञानस्य भ्रमत्वानभ्युपगमात्, प्रमायाः प्रमान्तराबाध्यत्वाद् इत्याह—**न चाऽस्मिन्निति** । वैपरीत्यस्याऽपि सम्भवाद् इति भावः । इदानीं प्रत्यक्षादिप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या नानात्वस्य सत्यत्वमिति पूर्वपक्षबीजम् उद्घाटयति—**नन्वित्यादिना** । एकत्वस्य एकान्तः—कैवल्यम्, व्याहन्येरन्—न प्रमाणानि स्युः । उपजीव्यप्रत्यक्षादिप्रामाण्याय वेदान्तानां भेदाभेदपरत्वम् उचितमिति भावः । ननु

रत्नप्रभाका अनुवाद

गई है, इससे भी सिद्ध होता है कि एकत्व ही सत्य है, ऐसा कहते हैं—"मृत्योः" इत्यादिसे । और जीवका ब्रह्मके साथ अभेदज्ञान होनेसे अज्ञाननिवृत्ति द्वारा मुक्ति मानी गई है, वह भेदाभेदमतमें ठीक नहीं है, क्योंकि भेदज्ञानको भ्रम नहीं मानते हैं, एक प्रमाज्ञानका अन्य प्रमाज्ञानसे बाध नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"न चाऽस्मिन्" इत्यादिसे । विपरीत भी हो सकता है, ऐसा तात्पर्य है । अब प्रत्यक्ष आदिके प्रामाण्यकी अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए नानात्व सत्य है, इस प्रकार पूर्वपक्षबीजको प्रकाशित करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । एकत्वका एकान्त अर्थात् केवलता । व्याहन्येरन्—अप्रमाण हो जायंगे । उपजीव्य प्रत्यक्ष आदिके प्रामाण्यके लिए वेदान्तोंको भेदाभेदपरक मानना उचित है, ऐसा तात्पर्य है । परन्तु

भाष्य

निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि। तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि भेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याहन्येत। मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याघातः स्यात्। कथं चाऽनृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्याऽऽत्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति। अत्रोच्यते—नैष दोषः, सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत् प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते, विकारानेव

भाष्यका अनुवाद

स्थाणु आदिमें पुरुष आदिका ज्ञान बाधित हो जाता है। इसी प्रकार भेदकी अपेक्षा रखनेके कारण विधिप्रतिषेधशास्त्र भी भेदके अभावमें बाधित हो जायँगे। मोक्षशास्त्र भी गुरु, शिष्य आदि भेदकी अपेक्षा रखता है, अतः भेदके अभावमें वह बाधित हो जायगा और असत्य मोक्षशास्त्रसे प्रतिपादित आत्मैकत्व सत्य है, यह किस प्रकार उपपन्न हो सकेगा? इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है, जैसे जागनेके पूर्व सब स्वप्नव्यवहार सत्य होते हैं, वैसे ही ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानके पूर्व सभी व्यवहार सत्य हो सकते हैं। जब तक सत्य आत्मैकत्वप्रतीति नहीं होती, तब तक प्रमाण, प्रमेय और फलरूप विकार असत्य हैं, ऐसी बुद्धि किसीको भी नहीं

रत्नप्रभा

कर्मकारकाणां यजमानादीनां विद्याकारकाणां शिष्यादीनां च कल्पितभेदम् आश्रित्य कर्मज्ञानकाण्डयोः प्रवृत्तेः स्वप्रमेयस्य धर्मादेः अबाधात् प्रामाण्यम् अव्याहतमित्याशङ्क्य आह—**कथं चाऽनृतेनेति**। धूलिकल्पितधूमेन अनुमितस्य वह्नेरिव प्रमेयबाधापत्तेः इति भावः। तत्र द्वैतविषये प्रत्यक्षादीनां यावद्बाधं व्यावहारिकं प्रामाण्यम् उपपद्यते इत्याह—**अत्रोच्यत इत्यादिना**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यज्ञ आदि कर्म करनेवाले यजमान आदिके और विद्याका अध्ययन करनेवाले शिष्य आदिके कल्पित भेदसे कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डकी प्रवृत्ति है, इसलिए अपने प्रमेयभूत धर्म आदिका बाध न होनेसे वेदका प्रामाण्य अव्याहत है, ऐसी शंका करके कहते हैं—"कथं चाऽनृतेन" इत्यादि। आशय यह है कि धूलिमें कल्पित धूमसे अनुमित वह्निके समान प्रमेयका भी बाध हो जायगा। जब तक बाध नहीं होता तब तक प्रत्यक्ष आदिका द्वैतके विषयमें व्यावहारिक प्रामाण्य हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। सत्यत्व—बाधका अभाव।

भाष्य

त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा, तस्मात् प्राग् ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः। यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्ने उच्चावचान् भावान् पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक् प्रबोधात्, न च प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले भवति, तद्वत्। कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत ? नहि रज्जुसर्पेण

भाष्यका अनुवाद

होती। स्वाभाविक ब्रह्मात्मताका त्याग करके अविद्यासे सब जन्तु विकारोंमें ही 'मैं,' 'मेरा' इस प्रकार आत्मभाव और आत्मीयभाव रखते हैं, इसलिए ब्रह्मात्मताके ज्ञानके पूर्व सब लौकिक और वैदिक व्यवहार उपपन्न होते हैं। जैसे कि सोता हुआ साधारण मनुष्य स्वप्नमें भिन्न भिन्न पदार्थोंको देखता है और उनके प्रत्यक्ष ज्ञानको जागनेके पहिले निश्चित ही समझता है। उस समय उनके प्रत्यक्षको आभास नहीं समझता। परन्तु असत्य वेदान्तवाक्योंसे सत्य ब्रह्मात्मत्व ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि रज्जुरूप सर्पसे

रत्नप्रभा

सत्यत्वम्–बाधाभावः, बाधः—मिथ्यात्वनिश्चयः। वस्तुतो मिथ्यात्वेऽपि विकारेषु तन्निश्चयाभावेन प्रत्यक्षादिव्यवहारोपपत्तौ उक्तदृष्टान्तं विवृणोति—**यथा सुप्तस्य प्राकृतस्येति**। एवं द्वैतप्रमाणानां व्यवहारकाले बाधशून्यार्थबोधकत्वं व्यावहारिकं प्रामाण्यम् उपपाद्य अद्वैतप्रमाणानां वेदान्तानां सर्वकालेषु बाधशून्यब्रह्मबोधकत्वं तात्त्विकं प्रामाण्यम् उपपादयितुम् उक्तशङ्काम् अनुवदति–**कथं त्वसत्येनेति**। किम् असत्यात् सत्यं न जायते, किमुत सत्यस्य ज्ञानं न ? आद्य इष्ट एव, नहि

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाध—मिथ्यात्वका निश्चय। वस्तुतः मिथ्या होनेपर भी विकारोंमें मिथ्यात्वनिश्चय न होनेके कारण प्रत्यक्ष आदि व्यवहार हो सकता है, इस विषयमें उक्त दृष्टान्तका विवरण करते हैं—"यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य" इत्यादिसे। इस प्रकार व्यवहारकालमें बाधरहित अर्थबोधकतारूप द्वैतप्रमाणोंके व्यावहारिक प्रामाण्यका उपपादन करके अद्वैतप्रमाणभूत वेदान्तोंके सब कालोंमें बाधरहित ब्रह्मबोधकतारूप पारमार्थिक प्रामाण्यका उपपादन करनेके लिए पूर्वोक्त शंकाका अनुवाद करते हैं—"कथं त्वसत्येन" इत्यादिसे। क्या असत्यसे सत्य उत्पन्न नहीं होता है अथवा सत्यका ज्ञान नहीं होता है ? प्रथम पक्ष तो इष्ट ही है, क्योंकि

भाष्य

दष्टो म्रियते, नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादि प्रयोजनं क्रियत इति। नैष दोषः, शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः। स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात् तत्कार्यमप्यनृतमेवेति

भाष्यका अनुवाद

डँसा हुआ नहीं मरता और मृगतृष्णाके जलका पान तथा उससे स्नान आदि नहीं किये जाते। यह दोष नहीं है, क्योंकि विषकी शंका होनेपर मरण आदि कार्य देखे जाते हैं और जो स्वप्नावस्थामें सर्पद्वारा डँसा जाना, जलस्नान आदि कार्य

रत्नप्रभा

वयं वाक्योत्थज्ञानं सत्यमिति अङ्गीकुर्मः। अङ्गीकृत्याऽपि दृष्टान्तमाह—**नैष दोष इति**। सर्पेण अदष्टस्यापि दष्टत्वभ्रान्तिकल्पितविषात् सत्यमरणमूर्च्छादिदर्शनाद् असत्यात् सत्यं न जायत इति अनियम इत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह—**स्वप्नेति**। असत्यात् सर्पोदकादेः सत्यस्य दंशनस्नानादिज्ञानस्य कार्यस्य दर्शनाद् व्यभिचार

रत्नप्रभाका अनुवाद

हम वाक्योत्पन्न ज्ञानको सत्य नहीं मानते हैं। अङ्गीकार करके भी दृष्टान्त कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। आशय यह है कि सर्पके न काटनेपर भी सर्पने काटा है, इस भ्रान्तिसे कल्पित विषसे पुरुषके सत्य मरण, मूर्छा आदि देखे जाते हैं[1], इसलिए यह कोई नियम नहीं है कि असत्यसे सत्य उत्पन्न नहीं होता। अन्य दृष्टान्त कहते हैं—"स्वप्न" इत्यादिसे। असत्य सर्प, जल आदिसे सत्य दंशन, स्नान आदि ज्ञानरूप कार्य देखे जाते हैं, इसलिए

(१) यदि कोई कहे कि अनृतभूत शंकित विष मरणहेतु नहीं है, किन्तु शंका ही मरणहेतु है, शंका तो सत्य है; स्वाप्निक पदार्थका ज्ञान साक्षिरूप है, वह किसी असत्यका कार्य नहीं है, इसलिए अनृतसे सत्यकी उत्पत्ति होती है, इस विषयमें ये दृष्टान्त नहीं हो सकते, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि, विषशंका विषके बिना मरणहेतु नहीं हो सकती है, किन्तु विष-विशिष्ट होकर ही मरणहेतु होती है, अन्यथा किसी शंकासे भी मरण होनेका प्रसंग आ जायगा, और मन्द विषकी शंका होती है, तो कुछ भय होता है, तीव्र विषकी शंका होती है, तो तीव्र भय होता है, तीव्रतर विषकी शंका होती है, तो मरण होता है, इस प्रकार विषके उत्कर्ष और अपकर्षसे कार्यमें भी उत्कर्ष और अपकर्ष दिखाई देते हैं, इसलिए विषविशिष्ट शंका ही कारण है, वह तो असत्य है। यद्यपि स्वप्नमें जो साक्षिरूप ज्ञान होता है, वह नित्य है, तो भी चाक्षुष, स्पार्शन आदि ज्ञान नित्य नहीं हैं, इसलिए स्वप्नमें भी असत्य (स्वप्नमें कल्पित) चक्षु आदि ही कारण हैं। यदि कहो कि तो भी असत्यसे सत्यकी उत्पत्तिमें यह दृष्टान्त नहीं घट सकता, क्योंकि असत्य चक्षु आदिसे उत्पन्न होनेवाले चाक्षुष आदि ज्ञान भी असत्य ही हैं, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उस ज्ञानके चाक्षुषत्व आदि धर्मोंके आश्रय साक्षिरूप प्रतीतिका बाध नहीं होता है, इसलिए उस अंशको लेकर प्रतीतिकी सत्यता है ही। इस प्रकार दोनों दृष्टान्त युक्त हैं।

भाष्य

चेद् ब्रूयात्, तत्र ब्रूमः — यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम्, प्रतिबुद्धस्याऽप्यबाध्यमानत्वात्। नहि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मन्यमानस्तदवगतिमपि मिथ्येति मन्यते कश्चित्। एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधनेन देहमात्रात्मवादो दूषितो वेदितव्यः। तथा च श्रुतिः—

'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।

भाष्यका अनुवाद

देखे जाते हैं, वे कार्य भी असत्य ही हैं, ऐसा यदि कहो, तो उसपर कहते हैं—यद्यपि स्वप्नावस्थामें पुरुषके सर्पदंश, उदकस्नान आदि कार्य असत्य हैं, तथापि उनका ज्ञानरूप फल सत्य है, क्योंकि जागनेके बाद भी उसका बाध नहीं होता। स्वप्नसे उठा हुआ पुरुष जिन सर्पदंशन, उदकस्नान आदि कार्योंको मिथ्या मानता है, वह उनकी अवगतिको मिथ्या नहीं मानता। इससे अर्थात् स्वप्न देखनेवालेकी अवगतिका बाध न होनेसे, देहमात्र आत्मा है, इस मतका खण्डन हुआ समझना चाहिये। उसी प्रकार 'यदा कर्मसु काम्येषु०'

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। यथाश्रुतम् आदाय शङ्कते—**तत्कार्यमपीति**। उक्तमर्थं प्रकटयति—**तत्र ब्रूम इत्यादिना**। अवगतिः वृत्तिः घटादिवत् सत्यापि प्रातिभासिकस्वप्नदृष्टवस्तुनः फलम्, चैतन्यं वा वृत्त्यभिव्यक्तम् अवगतिशब्दार्थः। प्रसङ्गाद् देहात्मवादोऽपि निरस्तः इत्याह—**एतेनेति**। स्वप्नस्थावगतेः स्वप्नदेहधर्मत्वे उत्थितस्य "मया तादृशः स्वप्नोऽवगतः" इत्यबाधितावगतिप्रतिसन्धानं न स्यात्, अतो देहभेदेऽपि अनुसन्धानदर्शनाद् देहादन्यः अनुसन्धाता इत्यर्थः। असत्यात् सत्यस्य ज्ञानं न जायते इति द्वितीयनियमस्य श्रुत्या व्यभिचारमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यभिचार है, ऐसा अर्थ है। यथाश्रुत अर्थको लेकर शंका करते हैं—"तत्कार्यमपि" इत्यादिसे। उक्त अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं—"तत्र ब्रूमः इत्यादिसे। अवगति—अन्तःकरणकी वृत्ति, वह व्यवहार दशामें घटके तुल्य सत्य ही काल्पनिक स्वप्नमें दृष्ट वस्तुका फल है, अथवा वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्य ही सत्य फल अवगति शब्दका अर्थ है। प्रसंगसे देहात्मवाद—चार्वाक मतका भी निरास हो गया, ऐसा कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। स्वप्नमें होनेवाला ज्ञान यदि स्वप्नदेहका धर्म हो, तो उठनेके अनन्तर पुरुषको 'मुझे अमुक स्वप्न ज्ञात हुआ' इस प्रकार अबाधित ज्ञानका प्रतिसंधान नहीं होगा। इसलिए देहभेद होनेपर भी अनुसंधान दिखाई देनेके कारण देहसे अन्य अनुसंधाता है, ऐसा अर्थ है। असत्यसे सत्यका ज्ञान नहीं होता, इस द्वितीय नियमका व्यभिचार श्रुतिसे दिखलाते

भाष्य

समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥' (छा० ५।२।९) इत्यसत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति । तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा 'अथ स्वप्ने यः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेनाऽसत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति । प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यते ईदृशेनाऽसाध्वागमः इति । तथाऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा

भाष्यका अनुवाद

(जब किसी कामनाके लिए कर्म करता हुआ पुरुष स्वप्नमें स्त्रीको देखता है, तब यह समझना चाहिए कि उसके कर्ममें सफलता होगी) यह श्रुति असत्य स्वप्नदर्शनसे सत्य समृद्धिकी प्राप्ति दिखलाती है । इसी प्रकार कितने ही अरिष्ट पदार्थोंका प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर 'न चिरमिव०' (चिरकाल तक न जीएगा) ऐसा कहकर 'अथ यः स्वप्ने पुरुषं कृष्णं०' (जो स्वप्नमें कोई काले दांतवाले काले पुरुषको देखता है, तो वह इसको मारता है) इत्यादिसे श्रुति असत्य स्वप्न दर्शनसे ही सत्य मरणकी सूचना करती है । यह लोकमें प्रसिद्ध है कि अन्वय-व्यतिरेकमें कुशल पुरुषोंको—अमुक स्वप्नदर्शनसे शुभप्राप्तिकी सूचना होती है, अमुकसे अशुभ प्राप्तिकी सूचना होती है, ऐसा ज्ञान होता है । इसी प्रकार रेखाओंमें असत्य अक्षरोंके ज्ञानसे अकार आदि सत्य अक्षरोंका ज्ञान होता

रत्नप्रभा

तथा च श्रुतिरिति । न च स्त्रियो मिथ्यात्वेऽपि तद्दर्शनात् सत्यायाः समृद्धेः ज्ञानमिति वाच्यम्, विषयविशिष्टत्वेन दर्शनस्यापि मिथ्यात्वात्, प्रकृतेऽपि सत्ये ब्रह्मणि मिथ्यावेदानुगतचैतन्यात् ज्ञानसम्भवाच्च इति भावः । असत्यात् सत्यस्य इष्टस्य ज्ञानमुक्त्वा अनिष्टस्य ज्ञानमाह—तथेति । असत्यात सत्यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"तथा च श्रुतिः" इत्यादिसे । स्वप्नमें स्त्रीके मिथ्या होनेपर भी उसका दर्शन सत्य है, उस सत्य दर्शनसे ही सत्य समृद्धिका ज्ञान होता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विषयविशिष्ट दर्शन भी मिथ्या ही है, प्रकृतमें भी मिथ्याज्ञानमें अनुगत चैतन्यसे सत्य ब्रह्मका ज्ञान हो सकता है, यह तात्पर्य है । असत्यसे सत्यरूप इष्टका ज्ञान कहकर अनिष्टका ज्ञान कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । असत्यसे सत्यका ज्ञान होता है, इस विषयमें अन्य दृष्टान्त कहते

रत्नप्रभा

ज्ञाने दृष्टान्तान्तरम् आह—तथाऽकारादिति । रेखासु अकारत्वादिभ्रान्त्या सत्या अकारादयो ज्ञायन्ते इति प्रसिद्धम् इत्यर्थः । एवम् असत्यात् सत्यस्य जन्मोक्त्या यद् अर्थक्रियाकारि तत्सत्यम् इति नियमो भग्नः । अनृतात् सत्यस्य ज्ञानोक्त्या यद् अनृतकारणगम्यम्, तद् बाध्यम्, कूटलिङ्गानुमितवह्निवत् इति व्याप्तिः भग्ना । तथा च कल्पितानामपि वेदान्तानां सत्यब्रह्मबोधकत्वं सम्भवति इति तात्त्विकं प्रामाण्यमिति भावः । यदुक्तम् एकत्वनानात्वव्यवहारसिद्धये उभयं सत्यमिति । तन्न । भेदस्य लोकसिद्धस्य अपूर्वफलवदभेदविरोधेन सत्यत्वकल्पनायोगात् । किञ्च, यदि उभयोरेकदा व्यवहारः स्यात्, तदा स्यादपि सत्यत्वं नैवमस्ति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"तथाऽकारादि" इत्यादिसे । रेखाओंमें अकारत्व आदिके भ्रमसे सत्य अकार आदिका ज्ञान होता है, यह प्रसिद्ध है, ऐसा अर्थ है[2] । इस प्रकार असत्यसे सत्यकी उत्पत्ति कहनेसे जो अर्थक्रियाकारक है, वह सत्य है, इस नियमका उच्छेद होता है। असत्यसे सत्यका ज्ञान होता है, इस कथनसे जो असत्य करणोंसे ज्ञात होता है, वह बाध्य है, कूट लिंगोंसे अनुमित वह्निके समान, इस व्याप्तिका भंग होता है । इस प्रकार कल्पित वेदान्त भी सत्य ब्रह्मका बोध करा सकते हैं, इसलिए उनमें पारमार्थिक प्रामाण्य है, यह तात्पर्य है । यह जो कहा है कि एकत्व और नानात्व व्यवहारकी सिद्धिके लिए दोनों सत्य हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि लोकसिद्ध भेद अपूर्वफलके तुल्य अभेदसे विरुद्ध है, अतः वह सत्य नहीं माना जा सकता । और दोनोंका यदि एक ही समयमें व्यवहार हो, तो सत्य हो भी सकें, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्तके

---

(१) लिङ्गज्ञान ही अनुमितिकरण है, ज्ञायमान लिङ्ग अनुमितिकरण नहीं है, इस मतमें शुभाशुभ स्वप्न अनुमापक नहीं हैं । इसलिए स्वप्न भ्रमरूप होनेपर भी उसका ज्ञान प्रमा होनेसे असत्यसे सत्यके ज्ञानकी उत्पत्तिमें यह दृष्टान्त युक्त नहीं हो सकता है, इसलिए अन्य दृष्टान्त कहते हैं—"तथाकारादि" इत्यादिसे ।

(२) रेखासे अकार आदि अक्षरोंकी अभिव्यक्ति होती है, ऐसा ज्ञान होता है, रेखा ही अक्षर हैं, ऐसा भ्रम तो नहीं होता । यदि पामरोंको होनेवाली रेखा ही अक्षर है, इस प्रतीतिके अनुसार भ्रम माना जाय, तो रेखाक्षरसे अतिरिक्त रेखाक्षर ज्ञानसे जन्य किस सत्य अक्षरकी प्रतीति होगी ? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि पुस्तकको देखनेवाले पुरुषको रेखाक्षर ज्ञानके बाद रेखाको विषय न करनेवाली जो प्रमारूप पद और वाक्यकी प्रतीति होती है, वह उदाहरणरूपसे विवक्षित है।

वस्तुतस्तु धूलीपटलमें धूमभ्रम होनेके अनन्तर उत्पन्न परामर्शमें जायमान वह्निकी अनुमिति असन्दिग्ध परामर्शसे उत्पन्न होनेपर भी प्रमा होती है और कोई बाधक हो, तो सल्लिंग परामर्शसे उत्पन्न होनेपर भी कांचनमय पर्वत वह्निमान् है, इत्यादि अनुमिति अप्रमा होती है । इसलिए कारणगत प्रमात्व ज्ञानके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है, किन्तु बाध अप्रामाण्यका और बाधाभाव प्रामाण्यका प्रयोजक है ।

भाष्य

रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः। अपि चाऽन्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नाऽतः परं किञ्चिदाकाङ्क्ष्यमस्ति। यथा हि लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते नैवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्ते किञ्चिदन्यदाकाङ्क्ष्यमस्ति, सर्वात्मैकत्वविषयत्वावगतेः। सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेऽर्थे आकाङ्क्षा स्यात्, न त्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणाऽवशिष्यमाणोऽन्योऽर्थोऽस्ति य आकाङ्क्ष्येत। न चेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति शक्यं वक्तुम्, 'तद्धाऽस्य विजज्ञौ' (छा० ६।१६।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अवगतिसाधनानां च

भाष्यका अनुवाद

है। और आत्माके एकत्वका प्रतिपादन करनेवाला यह प्रमाण सब प्रमाणोंमें अन्तिम है, इस एकत्वज्ञानके बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता, जिसकी आकांक्षा हो। जैसे लोकमें 'यजेत' (यजन करे) ऐसा कहनेसे, किस फलके लिए, किससे और किस प्रकार ऐसी आकांक्षा होती है, इस प्रकार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा बोध होनेपर कोई आकांक्षा नहीं होती, क्योंकि सर्वात्मा एक ही है, वह इस अवगतिका विषय है। कोई अन्य पदार्थ अवशिष्ट रहे, तो उसकी आकांक्षा हो, किन्तु आत्मैकत्वसे भिन्न अन्य पदार्थ शेष नहीं रहता, जिसकी आकांक्षा की जाय। यह अवगति उत्पन्न नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'तद्धास्य०' (पिताके उपदेशसे श्वेतकेतुने आत्मतत्त्व-

रत्नप्रभा

एकत्वज्ञानेन चरमेण अनपेक्षेण नानात्वस्य निश्शेषं बाधात् शुक्तिज्ञानेनेव रजतस्य इत्याह—अपि चाऽन्त्यमिति। ननु उपजीव्यद्वैतप्रमाणविरोधात् एकत्वावगतिर्नोत्पद्यते इत्यत आह—न चेयमिति। तत् किल आत्मतत्त्वम् अस्य पितुः वाक्यात् श्वेतकेतुः विज्ञातवान् इति ज्ञानोत्पत्तेः श्रुतत्वात्, सामग्रीसत्त्वाच्च इत्यर्थः। व्यावहारिकगुरुशिष्यादिभेदम् उपजीव्य जायमानवाक्यार्थावगतेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

निरपेक्ष एकत्वज्ञानसे नानात्वका निःशेष बाध हो जाता है, जैसे कि शुक्तिज्ञानसे रजतका बाध होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि चान्त्यम्" इत्यादिसे। परन्तु उपजीव्य द्वैत प्रमाणसे विरोध होनेके कारण एकत्वज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है, इसपर कहते हैं—"न चेयम्" इत्यादि। अपने पिताके वाक्यसे श्वेतकेतुने आत्मतत्त्वको जाना, इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति श्रुतिमें कही गई है और ज्ञानोत्पत्तिकी सामग्रियाँ भी हैं, यह तात्पर्य है। व्यावहारिक गुरु,

भाष्य

श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात् । न चेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम्, अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तरा-

भाष्यका अनुवाद

को यथार्थरूपसे जाना) इत्यादि श्रुतियां हैं । और श्रवण आदि अवगति-के साधन एवं वेदके पठन आदिका विधान है । और यह अवगति प्रयोजन-रहित है या भ्रान्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका अविद्या-

रत्नप्रभा

प्रत्यक्षादिगतं व्यावहारिकं प्रामाण्यम् उपजीव्यम्, तच्च पारमार्थिकैकत्वावगत्या न विरुध्यते, किन्तु तया विरोधानुपजीव्यं प्रत्यक्षादेः तात्त्विकं प्रामाण्यं बाध्यते इति भावः । किञ्च, एकत्वावगतेः फलवत्प्रमात्वात् निष्फलो द्वैतभ्रमो बाध्य इत्याह— **न चेयमिति** । ननु सर्वस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वे स्वप्नो मिथ्या जाग्रत् सत्यमित्यादि-लौकिको व्यवहारः सत्यं चाऽनृतं च सत्यमभवत् इति वैदिकश्च कथम् इति आशङ्क्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

शिष्य आदि भेदका आश्रय करके होनेवाले वाक्यार्थज्ञानमें प्रत्यक्षादिगत व्यावहारिक प्रामाण्य उपजीव्य है, वह पारमार्थिक एकत्वज्ञानसे विरुद्ध नहीं है, किन्तु उससे विरोधका अनुपजीव्य प्रत्यक्षादिगत पारमार्थिक प्रामाण्यका बाध होता है, ऐसा आशय है। और एकत्वावगति सफल यथार्थज्ञान है, उससे निष्फल द्वैतभ्रमका बाध होता है, ऐसा कहते हैं— "न चेयम्" इत्यादिसे । यदि सब द्वैत मिथ्या हों, तो स्वप्न मिथ्या है, जाग्रत् सत्य है, इत्यादि लौकिक व्यवहार और 'सत्यं चानृतं च०' (सत्य और असत्य सब सत्य ब्रह्म ही है)

(१) यदि कोई कहे कि निष्प्रपंच, चैतन्यमात्र परमार्थ है, ऐसा जो वेदान्तोंमें प्रतिपादित है, उसका भी सर्वशून्यताप्रतिपादक अवैदिक आगमसे बाध-सा प्रतीत होता ही है । सर्व-शून्यताप्रतिपादक आगम पौरुषेय होनेसे दोषमूलक हो सकता है, इसलिए दुर्बल है, उससे निर्दोष, अपौरुषेय वेदप्रतिपाद्य अर्थका बाध नहीं होता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सब प्रपंच अविद्यात्मकदोषमूलक है, इस मतमें वेद भी प्रपंचान्तर्गत होनेके कारण दोषमूलक है, इस प्रकार दोनोंमें दोषमूलकत्व समान है, अतः बाधक ज्ञानान्तर है। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चैतन्यमात्र परमार्थ है, जड़समूह उस चैतन्यमें अध्यस्त है, एवं अनृत है, यह वेदान्तोंका अर्थ है। इस अर्थका उपपादक होनेसे ही प्रपञ्च अविद्यानामकदोषमूलक है, ऐसी कल्पना की जाती है, क्योंकि असत्य शुक्तिरजत आदि दोषमूलक देखे जाते हैं। वेदान्तार्थके ज्ञानके पहले ही प्रपंच दोषमूलक है, यह ज्ञान नहीं होता है। इसलिए वेदान्तार्थके प्रामाण्यके उपपादनके लिए कल्प्यमान दोषमूलताकी उस प्रकार कल्पना होगी, जैसे प्रामाण्यका बाध न हो, जैसे कि स्वर्ग और यागमें साध्यसाधनभावके निर्वाहके लिए कल्प्यमान अपूर्वकी व्यापारविधया कल्पना की जाती है। दोष

भाष्य

भावाच्च। प्राक्चाऽऽत्मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम। तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादिते आत्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनस्य भेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नाऽनेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति। ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात् परिणामवद् ब्रह्म शास्त्रस्याऽभिमतमिति गम्यते, परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति।

भाष्यका अनुवाद

निवृत्तिरूप फल देखा जाता है और अन्य कोई बाधक ज्ञान भी नहीं है। आत्मैकत्वकी अवगतिके पूर्व सत्य और अनृत, लौकिक और वैदिक सब व्यवहार ज्योंके त्यों रहते हैं ऐसा हम पीछे कह चुके हैं। सर्वोत्कृष्ट प्रमाणसे आत्मैकत्वका प्रतिपादन होनेपर पूर्वके समस्त भेदव्यवहार बाधित हो जाते हैं, अतः अनेकस्वरूपवाले ब्रह्मकी कल्पनाके लिए अवकाश नहीं है। परन्तु मृत्तिका आदि दृष्टान्त दिये हैं, उनसे परिणामयुक्त ब्रह्म शास्त्रका अभिमत है, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि लोकमें मृत्तिका आदि पदार्थ परि-

रत्नप्रभा

यथा स्वप्ने इदं सत्यम् इदम् अनृतमिति तात्कालिकबाधाबाधाभ्यां व्यवहारः, तथा दीर्घस्वप्नेऽपि इति उक्तस्वप्नदृष्टान्तं स्मारयति—**प्राक्चेति**। व्यवहारार्थं नानात्वं सत्यमिति कल्पनम् असङ्गतम् इत्युपसंहरति—**तस्मादिति**। नेदं कल्पितं किन्तु श्रुतम् इति शङ्कते—**नन्विति**। कार्यकारणयोः अनन्यत्वांशे अयं दृष्टान्तः, न परिणामित्वे ब्रह्मणः कूटस्थत्वश्रुतिविरोधाद् इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि वैदिक व्यवहार कैसे उपपन्न होते हैं, ऐसी आशंका कर जैसे स्वप्नमें यह सत्य है, यह असत्य है, इस प्रकार तत्कालजन्य बाध और बाधाभावसे व्यवहार होता है, उसी प्रकार दीर्घ स्वप्नमें भी है, ऐसा पूर्वकथित दृष्टान्तका स्मरण कराते हैं—"प्राक् च" इत्यादिसे। व्यवहारके लिए नानात्वके सत्यत्वकी कल्पना असंगत है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। यह कल्पित नहीं है, किन्तु श्रुत्युक्त है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। कार्य और कारण अभिन्न हैं, इस विषयमें यह दृष्टान्त है, परिणामित्वमें नहीं, क्योंकि ब्रह्मको

बहुविध हैं। उनमें अविद्याख्य दोष असंग चैतन्यमें प्रपंचका केवल आरोप करता है, वेदान्तजन्य ज्ञानमें बाधितार्थत्वका आपादन नहीं करता, क्योंकि उसकी उसी प्रकार कल्पना की जाती है। इसलिए अप्रमाणभूत शून्यवादसे प्रमाणभूत वेदान्तार्थका बाध नहीं होता।

भाष्य

नेत्युच्यते, 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।५।२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात् । नह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम् । स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत् । न । कूटस्थस्येति विशेषणात् । नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं सम्भवति । कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म

भाष्यका अनुवाद

णामयुक्त उपलब्ध होते हैं। नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि 'स वा एष महानज०' (यह आत्मा महान्, जन्मरहित, जरारहित, मरणरहित, अमृत, अभय ब्रह्म है) 'स एष नेति०' (यह नहीं, इस प्रकार अन्यके निषेध द्वारा मधुकांडमें आत्मा निर्दिष्ट है) 'अस्थूल०' (स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं) इत्यादि सब विक्रियाओंका प्रतिषेध करनेवाली श्रुतियोंसे ब्रह्म कूटस्थ है, ऐसा समझा जाता है। एक ही ब्रह्म परिणामी और परिणामरहित नहीं माना जा सकता। स्थिति और गतिके समान होगा, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'कूटस्थस्य' (कूटस्थका) ऐसा विशेषण है। कूटस्थ ब्रह्म स्थिति और गतिके समान अनेक धर्मोंका आश्रय हो, यह नहीं हो सकता, ब्रह्म कूटस्थ और नित्य है, क्योंकि सब विक्रियाओंका

रत्नप्रभा

नेत्युच्यत इति । सृष्टौ परिणामित्वम्, प्रलये तद्राहित्यं च क्रमेण अविरुद्धम् इति दृष्टान्तेन शङ्कते—**स्थितीति** । कूटस्थस्य कदाचिदपि विक्रिया न युक्ता, कूटस्थत्वव्याघाताद् इत्याह—**नेति** । कूटस्थत्वासिद्धिम् आशङ्क्य आह—**कूटस्थस्येति** । कूटस्थस्य निरवयवस्य पूर्वरूपत्यागेन अवस्थान्तरात्मकपरिणाम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कूटस्थ कहनेवाली श्रुतिसे विरोध होता है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"नेत्युच्यते" इत्यादिसे। सृष्टिकालमें ब्रह्म परिणामधर्मवाला है, प्रलयमें उस धर्मसे रहित है, इस प्रकार दोनों क्रमसे होनेके कारण अविरुद्ध हैं, दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक ऐसी शंका करते हैं—"स्थिति" इत्यादिसे। कूटस्थका कभी विकार नहीं हो सकता है, यदि हो जाय तो कूटस्थत्वका ही व्याघात हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। कूटस्थत्वकी असिद्धिकी आशंका करके कहते हैं—"कूटस्थस्य" इत्यादि। आशय यह कि अवयवरहित कूटस्थका पूर्वरूपके परित्यागसे रूपान्तर-प्राप्तिरूप परिणाम नहीं हो सकता है, इसलिए प्रपंच शुक्तिरजतके समान विवर्त ही है। और

भाष्य

सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम। न च यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनमेवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित् फलायाऽभिप्रेयते, प्रमाणाभावात्। कूटस्थब्रह्मात्मत्वविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्—'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्य 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इत्येवंजातीयकम्। तत्रैतत् सिद्धं भवति—ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत् तत्राऽफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद् ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिवत्, न तु स्वतन्त्रम् फलाय कल्प्यत इति। नहि परिणामवत्त्वविज्ञानात् परिणामवत्त्वमात्मनः फलं

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषेध है, ऐसा हमने कहा है। और जैसे ब्रह्म आत्मासे अभिन्न है यह ज्ञान मोक्षका साधन है, वैसे ब्रह्म जगद्रूपसे परिणत होता है, यह ज्ञान स्वतंत्र ही किसी भी फलके लिये अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि इसमें प्रमाण नहीं है। कूटस्थ ब्रह्म आत्मा है, इस विज्ञानसे ही 'स एष नेति नेत्यात्मा' (नहीं, नहीं, ऐसा जो [चतुर्थ मधुकांडमें निर्दिष्ट है] वह आत्मा है) ऐसा उपक्रम-करके 'अभयं वै' (हे जनक तुम ! अभयको प्राप्त हुए हो) इत्यादि शास्त्र फल दिखलाता है। यहां यह सिद्ध है—ब्रह्मप्रकरणमें सर्वधर्मविशेषरहित ब्रह्मके ज्ञान-से ही फलसिद्धि होती है, इसलिए वहां जो ब्रह्म जगद्रूपसे परिणत होता है, इत्यादि अफल रूपसे प्रतिपादित है, उसका ब्रह्मदर्शनके उपायरूपसे ही विनियोग है, जैसे कि फलवालेकी संनिधिमें अफल उसका अंग होता है, परन्तु स्वतंत्र रूपसे फल देनेके लिए उसकी कल्पना नहीं की जाती। निश्चय, ब्रह्म परिणामवाला है,

---

रत्नप्रभा

योगात् शुक्तिरजतवद् विवर्त एव प्रपञ्च इति भावः। किञ्च, निष्फलस्य जगतः फलवन्निष्प्रपञ्चब्रह्मधीशेषत्वेन अनुवादात् न सत्यता इत्याह—**न च यथेत्यादिना**। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः ब्रह्मणः परिणामित्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सफल प्रपंच रहित ब्रह्मज्ञानके अंगरूपसे निष्फल जगत्का अनुवाद है, इसलिए जगत् सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च यथा" इत्यादिसे। 'तं यथा यथोपासते०' (ब्रह्मकी जिस जिस रूपसे उपासना करता है, उसी रूपको प्राप्त करता है) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि ब्रह्म परिणामी है, अतः वह परिणाम ही विद्वानको फल प्राप्त होता है, ऐसी आशंका कर कहते हैं—

भाष्य

स्यादिति वक्तुं युक्तं, कूटस्थनित्यत्वान्मोक्षस्य। ननु ब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभावे ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत्, नः अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वराज्जगज्जनिस्थिति-प्रलयाः, नाऽचेतनात् प्रधानादन्यस्माद् वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः 'जन्मा-

भाष्यका अनुवाद

इस विज्ञानसे आत्मा परिणामवाला है, यह फल होगा, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि मोक्ष कूटस्थ नित्य है। कूटस्थ ब्रह्म आत्मा है, ऐसा जिसका मत है, उसके मतमें अव्यभिचरित एकत्व होनेसे ईशिता[1] और ईशितव्य[2]का अभाव होनेसे ईश्वर जगत्कारण है, इस प्रतिज्ञासे विरोध होगा, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वज्ञत्वको अविद्यात्मक नाम और रूप बीजके स्पष्टीकरण करनेकी अपेक्षा है, 'तस्माद्वा०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि वाक्योंसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त, ईश्वरसे जगत्के जन्म, स्थिति और प्रलय होते हैं, अचेतन प्रधानसे या अन्यसे नहीं, इस

रत्नप्रभा

विज्ञानात् तत्प्राप्तिः विदुषः फलम् इति आशङ्क्य आह—**नहि परिणामवत्त्वेति**। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० २।१।१) इति श्रुतकूटस्थनित्यमोक्षफलसंभवे दुःखानित्यपरिणामित्वफलकल्पनायोगाद् इति भावः। ननु पूर्वं "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १।१।२) इति ईश्वरकारणप्रतिज्ञा कृता अधुना "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्यन्ताभेदप्रतिपादने ईशित्रीशितव्यभेदाभावात् तद्विरोधः स्याद् इति शङ्कते—**कूटस्थेति**। कल्पितद्वैतम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नहि परिणामवत्त्व" इत्यादि। 'ब्रह्मविदाप्नोति०' (ब्रह्मवेत्ता पर ब्रह्मको प्राप्त करता है) इस श्रुतिसे कथित कूटस्थ, नित्य मोक्षरूप फलका संभव है तो दुःख, अनित्य, परिणामी रूप फलकी कल्पना उचित नहीं है, ऐसा आशय है। परन्तु पहले 'जन्माद्यस्य यतः' से ईश्वर कारण है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है, अब 'तदनन्यत्व०' सूत्रसे अत्यन्त अभेदका प्रतिपादन करनेसे ईशिता और ईशितव्यमें कोई भेद न होनेसे उस प्रतिज्ञाका विरोध होगा, ऐसी शंका करते हैं—"कूटस्थ" इत्यादिसे। कल्पित द्वैतकी अपेक्षासे ईश्वरत्व आदि कहे गये हैं, परमार्थतः अभेद है, इस प्रकार अविरोध कहते हैं—"न" इत्यादिसे। जीवात्मक,

[1] नियम में रखनेवाला। [2] नियम्य, जिसको नियममें रक्खा जाय।

भाष्य

द्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।४) इति। सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव न तद्विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते। कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता? शृणु यथा नोच्यते—सर्वज्ञस्येश्वरस्याऽऽत्मभूत इवाऽविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते, ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म'

भाष्यका अनुवाद

अर्थकी 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें प्रतिज्ञा की गई है। वह प्रतिज्ञा वैसी ही है, यहां उससे कुछ विरुद्ध नहीं कहा जाता। आत्मा अत्यन्त एक और अद्वितीय है, ऐसा तुम्हारे प्रतिपादन करनेसे यह कथन विरुद्ध क्यों नहीं है? ऐसा यदि कहो तो सुनो, सर्वज्ञ ईश्वरके आत्मभूतसे, अविद्यासे कल्पित, तत्त्व या अन्यत्वसे अनिर्वचनीय एवं संसाररूप प्रपंचके बीजभूत नाम और रूप सर्वज्ञ ईश्वरकी मायाशक्ति और प्रकृतिरूपसे श्रुति और स्मृतिमें कहे गये हैं। उन दोनोंसे भिन्न सर्वज्ञ ईश्वर है, क्योंकि 'आकाशो वै नाम०' (आकाश—आत्मा नाम और रूपका व्याकरण—निर्माण करनेवाला है, ये दोनों

रत्नप्रभा

अपेक्ष्य ईश्वरत्वादिकं परमार्थतः अनन्यत्वमिति अविरोधमाह—**नेत्यादिना**। अविद्यात्मके चिदात्मनि लीने नामरूपे एव बीजम्, तस्य व्याकरणं स्थूलात्मना सृष्टिः, तदपेक्षत्वाद् ईश्वरत्वादेः न विरोध इत्यर्थः। संगृहीतार्थं विवृणोति—**तस्मादित्यादिना**। **तत्त्वान्यत्वाभ्यामिति**। नामरूपयोः ईश्वरत्वं वक्तुमशक्यम्, जडत्वात्; नापि ईश्वराद् अन्यत्वम्, कल्पितस्य पृथक् सत्तास्फूर्त्योः अभावाद् इत्यर्थः। संस्कारात्मकनामरूपयोः अविद्यैक्यविवक्षया ब्रूते—**मायेति**। नामरूपे चेद् ईश्वरस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

चिदात्मामें लीन नाम और रूप ही बीज हैं, नाम और रूपका व्याकरण—स्थूलरूपसे सृष्टि, उसकी अपेक्षासे ईश्वरत्व आदि है, इसलिए विरोध नहीं है, ऐसा अर्थ है। संगृहीत अर्थका विवरण करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। "तत्त्वान्यत्वाभ्याम्" इत्यादि। नाम और रूपको ईश्वर नहीं कह सकते, क्योंकि वे जड़ हैं, ईश्वरसे भिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि कल्पित पदार्थकी अधिष्ठानसे पृथक् सत्ता और स्फूर्ति नहीं रहती, यह अर्थ है। संस्कारात्मक नाम और रूपको अविद्यासे अभिन्न कहते हैं—"माया" इत्यादिसे। यदि नाम और रूप ईश्वरके

भाष्य

(छा० ८।१४।१) इति श्रुतेः । नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७), 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' (श्वे० ६।१२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि । स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातानुरोधिनो जीवाख्यान् विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये । तदेवमविद्यात्मकोपाधिप-

भाष्यका अनुवाद

जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है) ऐसी श्रुति है, और 'नामरूपे व्याकरवाणि' (मैं नाम और रूपको व्यक्त करूँगा,) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य०' (धीर—परमात्मा ही सब रूपोंको उत्पन्न करके सबका नाम रखकर और उनमें प्रविष्ट होकर बोलना-चालना आदि व्यवहारोंको करता हुआ स्थित है। 'एकं बीजं बहुधा०' (एक बीजको जो बहुधा करता है) इत्यादि श्रुतियां हैं। इस प्रकार अविद्याजन्य नामरूप उपाधिका अनुरोधी ईश्वर होता है, जैसे कि घट करक आदि उपाधियोंका अनुरोधी आकाश होता है, और घटाकाशसदृश अविद्या द्वारा उत्थापित नाम और रूपसे किये हुये कार्यकारण संघातका अनुरोधी स्वात्मभूत जीवसंज्ञक विज्ञानात्माके ऊपर ही व्यवहारके विषयमें शासन करता है। इसलिये इस प्रकार अविद्यारूप उपाधिके परिच्छेदको

रत्नप्रभा

आत्मभूते, तर्हि ईश्वरो जड इत्यत आह—**ताभ्यामन्य इ त** । अन्यत्वे व्याकरणे च श्रुतिमाह—**आकाश इत्यादिना** । अविद्याद्युपाधिना कल्पितभेदेन बिम्बस्थानस्य ईश्वरत्वम्, प्रतिबिम्बभूतानां जीवानां नियम्यत्वम् इत्याह—**स च स्वात्मभूतानिति** । न चाऽत्र नानाजीवा भाष्योक्ता इति भ्रमितव्यम्, बुद्ध्यादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वरूप हों, तो ईश्वर जड है, इसपर कहते हैं—"ताभ्यामन्यः" इत्यादि। ईश्वर नाम और रूपसे भिन्न है, नाम और रूपकी सृष्टि होती है, इस विषयमें श्रुति कहते हैं—"आकाश" इत्यादिसे। अविद्या आदि उपाधि द्वारा कल्पित भेदसे बिम्बस्थानीय ईश्वर है, प्रतिबिम्बभूत जीव नियम्य हैं, ऐसा कहते हैं—"स च स्वात्मभूतान्" इत्यादिसे। यहां भाष्यमें नाना जीव कहे गये हैं, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए, क्योंकि बुद्धि आदिके समूहके भेदसे जीवोंका भेद कहा गया है, अविद्याप्रतिबिम्ब जीव तो एक ही है, यह कहा गया है। परमार्थमें तो ईश्वर आदि

भाष्य

रिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते। तथा चोक्तम्—'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७।२४।१) इति, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना च। एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे। तथेश्वरगीतास्वपि—

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।

भाष्यका अनुवाद

से ही ईश्वरका ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व है, परमार्थतः विद्या द्वारा सब उपाधियोंसे रहित आत्मामें ईशितृ, ईशितव्य, सर्वज्ञत्व आदि सब व्यवहार उपपन्न नहीं होते हैं। इसी प्रकार कहा है—'यत्र नान्यत् पश्यति' (जिसमें किसी दूसरेको नहीं देखता, किसी दूसरेको नहीं सुनता, किसी दूसरेको नहीं जानता, वह भूमा—ब्रह्म है) और 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' (जिस कालमें इसका सब आत्मा ही हो गया, उस कालमें किससे किसको देखे) इत्यादिसे। इस प्रकार पारमार्थ अवस्थामें सब वेदान्त सब व्यवहारोंका अभाव कहते हैं। इसी प्रकार भगवान् गीतामें भी—'न कर्तृत्वं न कर्माणि' (प्रभु लोकोंका कर्तृत्व या कर्म अथवा कर्मफलका संयोग उत्पन्न नहीं करता, परन्तु स्वभाव (माया) प्रवृत्त होता है। विभु किसीके पाप या पुण्यका

रत्नप्रभा

संघातभेदेन भेदोक्तेः, अविद्याप्रतिबिम्बस्तु एक एव जीव इत्युक्तम्। परमार्थत ईश्वरत्वादिद्वैताभावे श्रुतिमाह—**तथा चेति**। कथं तर्हि कर्तृत्वादिकम् इत्यत आह—**स्वभावस्त्विति**। अनाद्यविद्यैव कर्तृत्वादिरूपेण प्रवर्तते इत्यर्थः। भक्ताभक्तयोः पापसुकृतनाशकत्वाद् ईश्वरस्य वास्तवम् ईश्वरत्वम् इत्यत आह—**नाऽऽदत्त**

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्वैत नहीं है, इस विषयमें श्रुति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। तब ईश्वरमें कर्तृत्व आदि कैसे हैं, इसपर कहते हैं—"स्वभावस्तु" इत्यादि। अनादि अविद्या ही कर्तृत्व आदि रूपसे प्रवृत्त होती है, यह आशय है। ईश्वर भक्तोंके पापका नाश करता है और अभक्तोंके पुण्यका नाश करता है, इसलिए उसमें ईश्वरत्व वास्तविक है, इसपर कहते हैं—"नाऽऽदत्ते" इत्यादि।

भाष्य

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥' (गी० ५।१४।१५)

इति परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते । व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) । इति । तथा चेश्वरगीतास्वपि—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' (गी० १८।६१) इति ।

सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह । व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति । अप्र-

भाष्यका अनुवाद

नाश नहीं करता, अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है, उससे जन्तु मोहित होते हैं) इस प्रकार पारमार्थिक अवस्थामें ईशितृ, ईशितव्य आदि व्यवहारका अभाव दिखलाते हैं । व्यवहारावस्थामें तो श्रुतिमें भी ब्रह्मका ईश्वर आदि रूपसे व्यवहार कहा गया है—"एष सर्वेश्वर एष०" (यह सबका ईश्वर है, यह सब भूतोंका अधिपति है, यह भूतोंका पालक है। लोकोंकी मर्यादा असंभिन्न न होनेके लिये यह व्यवस्था करनेवाला सेतु है) । इसी प्रकार भगवद्गीतामें भी— 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (हे अर्जुन, यन्त्रारूढ जैसे सब प्राणियोंको मायासे घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतोंके हृदयस्थानमें रहता है) सूत्रकार भी परमार्थके अभिप्रायसे 'तदनन्यत्वम्'० (कार्यकारणका अनन्यत्व–अभेद) ऐसा सूत्रमें कहते हैं । व्यवहारके अभिप्रायसे 'स्याल्लोकवत्' (विभाग होगा लोकके समान) इस प्रकार ब्रह्मको महा समुद्र जैसा कहते हैं । और कार्य प्रपंचका

रत्नप्रभा

इति । न संहरति इत्यर्थः । तेन स्वरूपज्ञानावरणेन कर्ताऽहम् ईश्वरो मे नियन्ता इत्येवं भ्रमन्ति । उक्तार्थः सूत्रकारसम्मत इत्याह—**सूत्रकारोऽपीति** । न केवलं लौकिकव्यवहारार्थं परिणामप्रक्रियाश्रयणम्, किन्तु उपासनार्थं च इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

नादत्ते—नाश नहीं करता है । अपने स्वरूपज्ञानके आवृत होनेसे मैं कर्ता हूँ, ईश्वर मेरा नियन्ता है, इस प्रकार भ्रममें पड़े रहते हैं । पूर्वोक्त विषय सूत्रकारको भी सम्मत है, ऐसा कहते हैं—"सूत्रकारोऽपि" इत्यादिसे । केवल लौकिक व्यवहारके लिए ही परिणामप्रक्रिया नहीं

भाष्य

त्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाऽऽश्रयति सगुणेषूपासनेषूपयो-क्ष्यत इति ॥१४॥

भाष्यका अनुवाद

प्रत्याख्यान किये बिना सगुण उपासनामें उपयोगी हो सकेगा, ऐसा विचारकर परिणामप्रक्रियाका आश्रयण करते हैं ॥ १४ ॥

रत्नप्रभा

परिणामप्रक्रियां चेति । तदुक्तम्—"कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मष-धीस्तु विवर्तताम्" इति ॥१४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मानी गई, किन्तु उपासनाके लिए भी मानी गई है, ऐसा कहते हैं—"परिणामप्रक्रियां च" इत्यादिसे । उसी विषयको आचार्य कहते हैं—"कृपणधीः परिणाम०" (जिसकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है, वह इस जगत्को ब्रह्मका परिणामरूपसे देखता है, जिसके चित्तसे काळुष्य हट गया है, वह इस जगत्को ब्रह्मका विवर्त देखता है ॥१४॥

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

पदच्छेद—भावे, च, उपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—भावे च—कारणस्य सत्त्व एव उपलब्धेः—कार्यस्योप-लब्धेः [कार्यस्य कारणानन्यत्वम्] ।

भाषार्थ—कारणके रहनेसे ही कार्यकी उपलब्धि होती है, इससे भी सिद्ध होता है कि कार्य कारणसे भिन्न नहीं है ।

भाष्य

इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्य-

भाष्यका अनुवाद

इससे भी कारणसे कार्य अभिन्न है, क्योंकि कारणके अस्तित्वमें ही कार्य

रत्नप्रभा

एवं तदनन्यत्वे प्रत्यक्षादिविरोधं परिहृत्य अनुमानम् आह—भावे चेति । कारणस्य भावे—सत्त्वे उपलब्धौ च कार्यस्य सत्त्वादेः उपलब्धेः च अनन्यत्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार कार्य कारणसे अभिन्न है, इस विषयमें प्रत्यक्ष आदिके विरोधका परिहार करके अब अनुमान कहते हैं—"भावे च" इत्यादिसे । कारणके रहनेपर और कारणकी

भाष्य

मुपलभ्यते, नाऽभावे। तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते, सत्सु च तन्तुषु पटः। न च नियमेनाऽन्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा, नह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते। न च कुलालभाव एव घट उपलभ्यते, सत्यपि

भाष्यका अनुवाद

उपलब्ध होता है, कारणके अभावमें उपलब्ध नहीं होता। वह इस प्रकार है—मृत्तिकाके रहते घट उपलब्ध होता है और तन्तुओंके रहते पट उपलब्ध होता है। अन्य पदार्थकी सत्तामें अन्य पदार्थकी उपलब्धि नियमसे नहीं होती। अश्व गौसे भिन्न है, अतः गौके अस्तित्वमें ही अश्व उपलब्ध होता है, ऐसा नियम नहीं है। उसी प्रकार कुलालके अस्तित्वमें ही घट उपलब्ध होता है, ऐसा नियम

रत्नप्रभा

इति सूत्रार्थः। घटो मृदनन्यः, मृत्सत्त्वोपलब्धिक्षणनियतसत्त्वोपलब्धिमत्त्वात् मृद्वत्। अन्यत्वेऽपि अयं हेतुः किं न स्याद् इत्यप्रयोजकत्वम् आशङ्क्य निरस्यति—**न चेति**। मृद्घटयोः अन्यत्वे गवाश्वयोः इव हेतूच्छित्तिः स्याद् इत्यर्थः। गवाश्वयोः निमित्तनैमित्तिकत्वाभावाद् हेत्वभावः, अतो मृद्घटयोः तेन हेतुना निमित्तादिभावः सिध्यति, न अनन्यत्वम् इति अर्थान्तरताम् आशङ्क्य आह— **न च कुलालेति**। न च उपादानोपादेयभावेन अर्थान्तरता, मृद्दृष्टान्ते तद्भावाभावेऽपि हेतुसत्त्वाद् अन्यत्वे गवाश्ववत् तद्भावायोगाच्च इति भावः। कुलालघटयोः निमित्तादिभावे सत्यपि अन्यत्वात् कुलालसत्त्वनियतोपलब्धिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपलब्धि होनेपर ही कार्यकी सत्ता और उपलब्धि होती है, इसलिए कार्य कारणसे अभिन्न है, यह सूत्रका अर्थ है। घट मृत्तिकासे अभिन्न है, क्योंकि मृत्तिकाकी सत्ता और उपलब्धि क्षणमें ही रहता है और उपलब्ध होता है, मृत्के समान। घट मृत्तिकासे भिन्न है, इसमें भी यह हेतु क्यों नहीं होगा, इस प्रकार अप्रयोजकत्वकी आशंका कर उसका निराकरण करते हैं—"न च" इत्यादिसे। मृत्तिका और घट यदि भिन्न भिन्न हों, तो गाय और घोड़ेके समान उसमें हेतु ही नहीं रहेगा, यह अर्थ है। गाय और घोड़ेमें कार्यकारणभाव नहीं है, इसलिए हेतु नहीं है, इस कारण उस हेतुसे मृत्तिका और घटमें कार्यकारणभावकी सिद्धि होती है, अभेद तो सिद्ध नहीं होता, इस प्रकार अर्थान्तरत्वकी आशंका कर कहते हैं—"न च कुलाल" इत्यादिसे। आशय यह है कि उपादानोपादेयभावसे कार्यकारणभाव अर्थान्तर नहीं है, मृत्तिकारूप दृष्टान्तमें कार्यकारणभाव नहीं रहनेपर भी हेतु है, यदि कार्यकारण भिन्न हों, तो गाय और घोड़ेके समान कार्य और कारणमें कार्यकारणभाव ही नहीं रहेगा। घट और कुलालमें कार्यकारणभाव रहनेपर भी भिन्न भिन्न होनेके कारण नियमतः कुलालकी

भाष्य

निमित्तनैमित्तिकभावेऽन्यत्वात् । नन्वन्यस्य भावेऽप्यन्यस्योपलब्धिर्नियता दृश्यते, यथाग्निभावे धूमस्येति । नेत्युच्यते । उद्वापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटिकादिधारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात् । अथ धूमं कयाचिदवस्थया विशिंष्यादीदृशो धूमो नाऽसत्यग्नौ भवतीति । नैवमपि कश्चिद्दोषः, तद्भा-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है, क्योंकि कार्यकारणभाव रहनेपर भी दोनों परस्पर भिन्न हैं। परन्तु अन्यकी सत्तामें अन्यकी उपलब्धि नियमसे देखी जाती है, जैसे कि अग्निके रहते ही धूमकी उपलब्धि होती है। इसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि अग्नि बुझनेके पीछे भी गोपालघुटिका (घटिका) आदिमें धारण किया हुआ धूम देखनेमें आता है। यदि धूमको किसी विशेषणसे विशिष्ट कर दें कि ऐसा धूम अग्निके अभावमें नहीं होता, तो ऐसा निवेश करनेपर भी कोई दोष नहीं है,

---

रत्नप्रभा

घटस्य नैव इत्यक्षरार्थः । यथाश्रुतसूत्रस्थस्य हेतोः व्यभिचारं शङ्कते—**नन्विति** । अग्निभाव एव धूमोपलब्धिरिति नियमात्मको हेतुः तत्र नास्ति इत्याह—**नेति** । अविच्छिन्नमूलदीर्घरेखावस्थधूमे नियमोऽस्तीति व्यभिचार इति आशङ्कते—**अथेति** । तद्भावनियतभावत्वे सति तद्बुद्ध्यनुरक्तबुद्धिविषयत्वस्य हेतोः विवक्षितत्वात् न व्यभिचार इत्याह—**नैवमिति** । आलोकबुद्ध्यनुरक्तबुद्धिग्राह्ये रूपे व्यभिचारनिरासाय सत्यन्तम्, आलोकाभावेऽपि घटादिरूपसत्त्वात् न व्यभिचारः उक्तधूमविशेषस्य अग्निबुद्धिं विनापि उपलम्भात् न तत्र व्यभिचार इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्ता और उपलब्धिकालमें ही घटकी उपलब्धि नहीं होती है, यह अक्षरार्थ है। यथाश्रुत सूत्रमें रहनेवाले हेतुके व्यभिचारकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। अग्निके रहनेपर ही धूमकी उपलब्धि होती है, यह नियमरूप हेतु अग्निधूमस्थलमें नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। अविच्छिन्नमूल दीर्घरेखारूपसे रहनेवाले धूममें नियम है, इसलिए सूत्रोक्त हेतुका व्यभिचार है, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। कारणसत्तानियतसत्ताक होते हुए कारणबुद्धिसे अनुरक्त बुद्धिका विषय होना हेतु विवक्षित है, इसलिए व्यभिचार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैवम्" इत्यादिसे आलोकबुद्धिसे अनुरक्त बुद्धिसे ग्राह्य रूपमें व्यभिचारका निरास करनेके लिए हेतुमें 'तद्भावनियतभावत्वे सति' दिया गया है, आलोक न रहनेपर भी घट आदिमें रूप रहता है, इसलिए व्यभिचार नहीं है। उक्त धूम अग्निबुद्धिके

भाष्य

वानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे हेतुं वयं वदामः। न चाऽसावग्निधूमयोर्विद्यते। भावाच्चोपलब्धेरिति वा सूत्रम्। न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं, प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः। भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे। तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते केवलास्तु तन्तव आतान-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि कार्यकारणकी सत्तासे अनुरक्त बुद्धिको हम कार्यकारणके अभेदमें हेतु कहते हैं। और ऐसी बुद्धि अग्नि और धूममें नहीं है। अथवा 'भावाच्चोपलब्धेः' ऐसा सूत्र है। केवल शब्दसे ही कार्य और कारण अभिन्न नहीं हैं, किन्तु प्रत्यक्षसे भी उनका अभेद उपलब्ध होता है, ऐसा अर्थ है। कार्यकारणके अभेदकी प्रत्यक्षतः उपलब्धि होती है। वह इस प्रकार है—तन्तुरचनाविशेषरूप पटमें तन्तुसे व्यतिरिक्त पट नामका कार्य उपलब्ध होता ही नहीं, केवल आतान

रत्नप्रभा

तथा च तयोः कार्यकारणयोः भावेन सत्तया अनुरक्तां सहकृताम् इति भाष्यार्थः। यद्वा, तद्भावः सामानाधिकरण्यं तद्विषयकबुद्धिग्राह्यत्वं हेतुं वदामः। मृद्धट इति सामानाधिकरण्यबुद्धिदर्शनाद् अग्निर्धूम इति अदर्शनाद् इत्यर्थः। अनुमानार्थत्वेन सूत्रं व्याख्याय पाठान्तरेण प्रत्यक्षपरतया व्याचष्टे—भावाच्चेति। पूर्वसूत्रोक्तारम्भणशब्दसमुच्चयार्थः चकारः। न च एकः पट इति प्रत्यक्षं पटस्य तन्तुभ्यः पृथक् सत्त्वे प्रमाणम्, अपृथक्सत्ताकमिथ्याकार्यविषयत्वेनाऽपि उपपत्तेः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

बिना भी उपलब्ध होता है, इसलिए उसमें व्यभिचार नहीं है। कार्य और कारणकी सत्तासे सहकृत, यह भाष्यगत 'तद्भावानुरक्त' पदका अर्थ है। अथवा तद्भाव—सामानाधिकरण्य, तद्विषयक बुद्धिसे ग्राह्यत्व हेतु है, क्योंकि 'मृद्धटः' इस प्रकार सामानाधिकरण्यबुद्धि देखनेमें आती है, 'अग्निर्धूमः' इस प्रकार तो नहीं दिखाई देती है। अनुमानपरतया सूत्रका व्याख्यान करके पाठान्तरसे प्रत्यक्षपरतया व्याख्यान करते हैं—"भावाच्च" इत्यादिसे। पूर्व सूत्रमें कथित आरम्भण शब्दके समुच्चयके लिए सूत्रमें चकार है। यह एक पट है, यह प्रत्यक्ष ही तन्तुओंसे पृथक् पटके रहनेमें प्रमाण है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कारणसत्तापेक्षया अभिन्नसत्ताक मिथ्या कार्यको उक्त प्रत्यक्षका विषय माननेपर भी यह एक पट है, यह बुद्धि

भाष्य

वितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोंऽशुषु तदवयवाः। अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि ततो वायुमात्रमाकाशमात्रं चेत्यनुमेयम् [छा०६।४], ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं, तत्र सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

और वितानवाले तन्तु ही उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार तन्तुओंमें उनके अवयवभूत अंशु ही उपलब्ध होते हैं और अंशुओंमें उनके अवयव उपलब्ध होते हैं। इस प्रत्यक्ष उपलब्धिसे लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप हैं तदनन्तर वायु और उसके अनन्तर आकाशमात्र है, ऐसा अनुमान करना चाहिए। तदुपरान्त केवल अद्वितीय परब्रह्म ही शेष रह जाता है, उसमें सब प्रमाणोंकी परिसमाप्ति हमने कह दी है ॥१५॥

रत्नप्रभा

अतः आतानवितानसंयोगवन्तः तन्तवः एव पट इति प्रत्यक्षोपलब्धेः सत्त्वाद् अनन्यत्वमित्यर्थः। पटन्यायं तन्त्वादौ अतिदिशति—**तथेत्यादिना**। प्रत्यक्षोपलब्ध्या तत्तत्कार्ये कारणमात्रं परिशिष्यत इत्यर्थः। यत्र प्रत्यक्षं नास्ति तत्र कार्यं विमतं कारणादभिन्नं कार्यत्वात् पटवद् इत्यनुमेयम् इत्याह—**अनयेति**। कारणपरिशेषे प्रधानादिकं परिशिष्यताम् न ब्रह्म इत्यत आह—**तत्र सर्वेति**। ब्रह्मणि वेदान्तानां सर्वेषां तात्पर्यस्य उक्तत्वात् तदेव अद्वितीयं परिशिष्यते न कारणान्तरम् अप्रामाणिकत्वाद् इति भावः ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पन्न हो सकती है। आतानवितानरूपसे संयुक्त तन्तु ही पट है, ऐसा प्रत्यक्ष होता है, इसलिए कार्य कारणसे अभिन्न है। पटन्यायका तन्तु आदिमें अतिदेश कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। यह प्रत्यक्षज्ञानसे प्रतीत होता है कि सब कार्योंमें कारणमात्र ही अवशिष्ट रहता है, जहाँ प्रत्यक्षका अवकाश नहीं है, वहां सन्देहविषयीभूत कार्य कारणसे अभिन्न है, कार्य होनेसे पटके समान, ऐसा अनुमान करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"अनया" इत्यादिसे। यदि कारणका परिशेष हो, तो प्रधानादि ही परिशिष्ट हों, ब्रह्म न हो, इसपर कहते हैं—"तत्र सर्व" इत्यादिसे। सब वेदान्तोंका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है, ऐसा कहा गया है, इसलिए वह अद्वितीय ब्रह्म ही परिशिष्ट होता है, अन्य कारण नहीं, क्योंकि कारणान्तरकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है यह आशय है ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

पदच्छेद—सत्त्वात्, च, अवरस्य ।

पदार्थोक्ति—अवरस्य—कार्यस्य, सत्त्वाच्च—उत्पत्तेः प्राक् 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्यादौ सत्त्वश्रवणादपि [कार्यस्य कारणानन्यत्वम्] ।

भाषार्थ—'ब्रह्म वा०' (यह सारा जगत् उत्पत्तिके पहले ब्रह्मरूप ही था) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि उत्पत्तिके पहले कार्यकी सत्ता है, इससे भी सिद्ध होता है कि कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है ।

भाष्य

इतश्च कारणात् कार्यस्याऽनन्यत्वं यत्कारणं प्रागुत्पत्तेः कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ०आ०२।४।१।१) इत्यादाविदंशब्दगृहीतस्य कार्यस्य कारणेन सामानाधिकरण्यात् । यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम्,

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी कारणसे कार्य अभिन्न है, क्योंकि अर्वाचीन कार्य उत्पत्तिके पहले कारणरूपसे कारणमें ही विद्यमान था । कारण कि 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य ! सृष्टिसे पहले यह जगत् सत्स्वरूप ही था), 'आत्मा वा इदमेक०' (सृष्टिसे पूर्वमें यह जगत् केवल आत्मरूप ही था) इत्यादिमें 'इदम्' शब्दसे गृहीत कार्यका कारणके साथ सामानाधिकरण्य कहा गया है । जो जिस स्वरूपसे जिसमें नहीं होता, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे बालूसे तेल उत्पन्न नहीं

रत्नप्रभा

इदं जगत् सद्—आत्मैव इति सामानाधिकरण्यश्रुत्या सृष्टेः प्राक् कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वं श्रुतम् तदन्यथानुपपत्त्या उत्पन्नस्यापि जगतः कारणाद् अनन्यत्वम् इत्याह सूत्रकारः—**सत्त्वाच्चेति** । श्रुत्यर्थे युक्तिमप्याह—**यच्च यदात्मनेति** । घटादिकं प्राक् मृदाद्यात्मना वर्तते तत उत्पद्यमानत्वात् सामान्यतो

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह जगत् सद्रूप आत्मा ही है, इस प्रकार सामानाधिकरण्य श्रुतिसे सृष्टिके पहले कारणरूपसे कार्यकी सत्ता सुनी गई है, वह अन्यथा उपपन्न नहीं हो सकती है, इसलिए उत्पन्न जगत् भी कारणसे अभिन्न है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"सत्त्वाच्च" इत्यादिसे । श्रुतिप्रतिपादित अर्थमें युक्ति भी कहते हैं—"यच्च यदात्मना" इत्यादिसे । घट आदि

भाष्य

तस्मात् प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात् कार्यमित्यवगम्यते। यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति। एकं च पुनः सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्वं कारणात् कार्यस्य ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता। इसलिए उत्पत्तिके पूर्वमें अभिन्न होनेसे उत्पत्तिके अनन्तर भी कार्य कारणसे अभिन्न है, ऐसा समझा जाता है। जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालोंमें सत्तासे व्यभिचरित नहीं होता, उसी प्रकार कार्य जगत् भी तीनों कालोंमें सत्तासे व्यभिचरित नहीं होता है। सत्त्व तो एक है, इससे भी कार्य कारणसे अभिन्न है ॥ १६ ॥

रत्नप्रभा

व्यतिरेकेण सिकताभ्यः तैलवत् इत्यर्थः। कारणवत् कार्यस्यापि सत्त्वात् सत्त्वभेदे मानाभावात् कार्यस्य कारणात् अभिन्नसत्ताकत्वम् इति सूत्रस्यार्थान्तर-माह—**यथा चेति**। इदानीं सतः कार्यस्य प्रागुत्तरकालयोः असत्त्वायोगात् सत्त्वाव्यभिचारः, तच्च सत्त्वं सर्वानुस्यूतचिन्मात्रम् एकम् तदभेदेन सती मृत् सन् घट इति भासमानयोः कार्यकारणयोः अनन्यत्वम् इत्यर्थः। न चैवं घटपटयोरपि एकसत्त्वाभेदात् अनन्यत्वं स्यादिति वाच्यम्। वस्तुत एकसत्त्वा-त्मनाऽनन्यत्वस्य इष्टत्वात्। तर्हि मृद्घटयोः को विशेषः? तादात्म्यमिति ब्रूमः। वस्तुतः सर्वत्र सत्तैक्येऽपि घटपटयोः भेदेन सत्ताया भिन्नत्वात् न

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिसे पूर्व मृद् आदि कारणरूपसे रहते हैं, क्योंकि उससे उत्पन्न होते हैं, जो जिस रूपमें नहीं रहता, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे बालुओंसे तैल, यह अर्थ है। कारणके समान कार्य भी सत् है, क्योंकि सत्ताके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए कार्य कारणाभिन्नसत्ताक है, इस प्रकार सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं,—"यथा च" इत्यादिसे। वर्तमान समयमें रहनेवाले कार्यकी भूतकालमें और भविष्य कालमें सत्ता न हो, यह नहीं हो सकता है, इसलिए सत्ताका व्यभिचार नहीं है, वह सत्ता सब पदार्थोंमें अनुस्यूत एक चिन्मात्र है, उससे अभिन्न होनेके कारण मृत् सत् है, घट सत् है, इस प्रकार प्रतीयमान मृत्तिका, घट आदि कार्य, और कारणमें अभेद है। यदि ऐसा हो, तो घट और पट भी एक सत्तासे अभिन्न हैं, इसलिए दोनों अभिन्न हों, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुतः एक सत्तारूपसे दोनोंका अभेद इष्ट ही है। तब मृत्तिका और घटमें क्या विशेष है? उन दोनोंमें तादात्म्य है। वस्तुतः सर्वत्र सत्ता एक होनेपर भी घट और पट भिन्न होनेसे दोनोंकी सत्ता भी भिन्न है, इसलिए दोनोंमें तादात्म्य

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

पदच्छेद—असद्व्यपदेशात्, न, इति, चेत्, न, धर्मान्तरेण, वाक्यशेषात्।

पदार्थोक्ति—असद्व्यपदेशात्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादिना उत्पत्तेः प्राक् जगदसत्त्वकथनात् [न कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वम्] इति चेत्, न, धर्मान्तरेण—अव्याकृतत्वरूपान्यधर्मेण [अयमसत्त्वोपदेशः, कुतः] वाक्यशेषात्—'तत् सदासीत्' इत्यादिवाक्यशेषात् [अतः सिद्धं कार्यस्य कारणानन्यत्वम्]।

भाषार्थ—'असद्वा०' इत्यादिसे कहा गया है कि उत्पत्तिके पहले यह जगत् असत् था, इसलिए कार्यकी सत्ता कारणस्वरूपसे नहीं है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह असत्त्वकथन अव्याकृतत्व (नाम और रूपसे स्पष्ट न होना) रूप अन्य धर्मसे है, क्योंकि 'तत्सदासीत्' इत्यादि वाक्यशेषमें कहा गया है कि यह जगत् उत्पत्तिके पूर्वमें सत् था। इससे सिद्ध होता है कि कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है।

भाष्य

ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य व्यपदिशति श्रुतिः—'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१) इति, 'असद्वा इदमग्र आसीत्'

भाष्यका अनुवाद

परन्तु कहीं कहीं श्रुति उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यका असत्त्व भी कहती है, जैसे कि 'असदेवेदमग्र०' (सृष्टिसे पूर्वमें यह जगत् असत् ही था), 'असद्वा इद०'

रत्नप्रभा

तादात्म्यम् कार्यकारणयोः भेदस्य सत्ताभेदकत्वाभावाद् अभिन्नसत्ताकत्वं तादात्म्यमिति विशेषः ॥ १६ ॥

उक्तं कार्यस्य प्राक् कारणात्मना सत्त्वम् असिद्धमिति आशङ्क्य समाधत्ते—असदिति। "अक्ताः शर्करा उपदध्याद्" इत्युपक्रमे केन अक्ता इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, कार्य और कारणका भेद तो सत्ताका भेदक नहीं है, इसलिए कार्य और कारणमें अभिन्न सत्ताकत्वरूप तादात्म्य है, यह विशेष है ॥ १६ ॥

उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी कारणरूपसे सत्ता जो कही गई है, वह असिद्ध है, ऐसी शंका करके समाधान करते हैं—"असद्" इत्यादिसे। आशय यह कि 'अक्ताः शर्करा०' (भिगोई हुई

भाष्य

(तै०२।७।१) इति च। तस्मादसद्व्यपदेशान्न प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमिति चेत्। नेति ब्रूमः। न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्याऽसद्व्यपदेशः, किं तर्हि? व्याकृतनामरूपत्वाद् धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणाऽयमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणाऽनन्यस्य। कथमेतदवगम्यते? वाक्यशेषात्, यदुपक्रमे संदिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते। इह च तावत् 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत् तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि 'तत् सदासीत्' इति। असतश्च पूर्वापरकालासम्बन्धादासीच्छब्दानुप-

भाष्यका अनुवाद

(सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् असत् ही था)। इसलिए असत्का अभिधान होनेसे उत्पत्तिके पहले कार्यकी सत्ता नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यका यह जो असद्रूपसे अभिधान है, वह अत्यन्त असत्त्वके अभिप्रायसे नहीं है। तब किस अभिप्रायसे है? व्याकृतनामरूपत्वरूप धर्मसे अव्याकृतनामरूपत्व धर्म भिन्न है, उस भिन्न धर्मसे उत्पत्तिके पूर्व कारणस्वरूपसे अभिन्न सत् कार्य असत् कहा गया है। यह किस प्रकार समझा जाता है? वाक्यशेषसे। उपक्रममें जिस वाक्यका अर्थ सन्दिग्ध हो, उसका वाक्यशेषसे निश्चय किया जाता है। यहां 'असदेवेदमग्र आसीत्' इस उपक्रममें 'असत्' शब्दसे जो निर्दिष्ट है उसीका पीछे 'तत्' शब्दसे परामर्श करके 'तत्सदासीत्' (वह सत् था) इस प्रकार 'सत्' ऐसा उसका विशेषण कहा है। 'असत्' का पूर्व और उत्तर कालसे संबन्ध न होनेसे 'आसीत्' (था) शब्दकी

रत्नप्रभा

सन्देहे "तेजो वै घृतमिति" वाक्यशेषात् घृतेन इति यथा निश्चयः, एवमत्राऽपि "तत्सद्" इति वाक्यशेषात् सन्निश्चय इत्यर्थः। आसीत् इति अतीतकालसम्बन्धोक्तेः च सत् अव्याकृतमेव न शून्यमित्याह—**असतश्च पूर्वापरेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

चीनीको रक्खे) इस उपक्रममें किससे भिगोई हुई, रखना चाहिए? ऐसा सन्देह होनेपर 'तेजो वै घृतम्' (घृत तेज ही है) इस वाक्यशेषसे जैसे घृतसे भिगोना चाहिए, ऐसा निश्चय होता है उसी प्रकार यहाँ भी 'तत्सत्' (था) इस प्रकार भूतकालसम्बन्ध कहा गया है, इसलिए 'असत्' का अर्थ अव्याकृत ही है, शून्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"असतश्च पूर्वापर"

भाष्य

पत्तेश्च । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यत्रापि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम् । तस्माद् धर्मान्तरेणैवाऽयमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य । नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम् । अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणादसदिवाऽऽसीदित्युपचर्यते ॥१७॥

भाष्यका अनुवाद

अनुपपत्ति हो जायगी । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इसमें भी 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने स्वयं अपनेको जगद्रूपसे रचा) ऐसा वाक्यशेषमें विशेषण है, इसलिए अत्यन्त असत्त्व नहीं है । अतएव उत्पत्तिसे पूर्व अन्य धर्मसे ही कार्यका यह असत्त्वका कथन है । नाम और रूपसे व्याकृत वस्तु सत् शब्दके योग्य है, ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है । इसलिए नाम और रूपसे व्याकृत होनेसे पहले असत्-सा था, इससे असत् शब्दका उपचार किया गया है ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

उक्तन्यायं वाक्यान्तरे अतिदिशति—असद्वेति । क्रियमाणत्वविशेषणं शून्यस्य असम्भवि इति भावः ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । उक्त न्यायका वाक्यान्तरमें भी अतिदेश कहते हैं—"असद्वा" इत्यादिसे । 'अकुरुत' इस प्रकार क्रियमाणत्वरूप जो विशेषण कहा गया है, वह शून्यमें नहीं घट सकता है, यह तात्पर्य है ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

पदच्छेद—युक्तेः, शब्दान्तरात्, च ।

पदार्थोक्ति—युक्तेः—मृदात्मना पूर्वं घटस्याऽसम्भवे मृदेव घटार्थिना नोपादीयेत असत्त्वाविशेषात् यत्किञ्चिदेवोपादीयेतेत्येवमाद्याया युक्तेः, शब्दान्तराच्च—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादौ विद्यमानसच्छब्दान्तराच्च [सिद्धं कार्यस्य कारणानन्यत्त्वं सत्त्वं च] ।

भाषार्थ—उत्पत्तिके पहले घट मृत्तिकारूपसे न होता, तो घटको बनानेकी इच्छा रखनेवाला मृत्तिकाको ही नियमसे ग्रहण नहीं करता और पदार्थोंको भी ग्रहण करता, क्योंकि घटकी सत्ताको उसकी उत्पत्तिके पहले न माने पर मृत्तिका और अन्य पदार्थोंमें कोई विशेषता नहीं रहेगी, इत्यादि युक्तियोंसे और 'सदेव०' (हे प्रियदर्शन ! यह जगत् उत्पत्तिके पहले सद्रूप ही था) इत्यादि श्रुतियोंमें विद्यमान 'सत्' शब्दसे यह बात सिद्ध होती है कि कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है । उत्पत्तिके पहले भी कार्य कारणरूपमें विद्यमान है ।

भाष्य

युक्तेश्च प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते, शब्दान्तराच्च। युक्तिस्तावद् वर्ण्यते—दधिघटरुचकाद्यर्थिभिः प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिकासुवर्णादीन्युपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते। नहि दध्यर्थिभिर्मृत्तिकोपादीयते, न घटार्थिभिः क्षीरम्, तदसत्कार्यवादे नोपपद्येत। अविशिष्टे हि प्रागुत्पत्तेः सर्वत्र सर्वस्यासत्त्वे कस्मात् क्षीरादेव दध्युत्पद्यते न मृत्तिकायाः, मृत्तिकाया एव च घट उत्पद्यते न क्षीरात्। अथाऽविशिष्टेऽपि प्रागसत्त्वे क्षीरे एव दध्नः कश्चिदतिशयो न

भाष्यका अनुवाद

युक्तिसे और अन्य श्रुतिसे भी उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्ता और कारणसे अभेद ज्ञात होता है। प्रथम युक्तिका वर्णन किया जाता है—व्यवहारमें देखा जाता है कि दधि, घट, रुचक आदिकी इच्छावाले दूध, मृत्तिका, सुवर्ण आदि नियत कारणोंका ग्रहण करते हैं। दधिकी इच्छावाले मृत्तिकाका ग्रहण नहीं करते और घटकी इच्छावाले दूधका ग्रहण नहीं करते। यह असत्कार्यवादमें उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्व सबका सर्वत्र असत्त्व साधारण होनेसे दूधसे ही दधि क्यों उत्पन्न होता है और मृत्तिकासे क्यों नहीं होता, उसी प्रकार मृत्तिकासे ही घट क्यों उत्पन्न होता है, दूधसे क्यों नहीं होता। पूर्वमें असत्त्वके

रत्नप्रभा

सत्त्वानन्यत्वयोः हेत्वन्तरमाह सूत्रकारः—**युक्तेरिति**। दध्याद्यर्थिनां क्षीरादौ प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिः युक्तिः, तया कार्यस्य प्राक् कारणानन्यत्वेन सत्त्वं सिध्यति इत्यर्थः। असतोऽपि कार्यस्य तस्माद् उत्पत्तेः कारणत्वधिया तत्र प्रवृत्तिः इति अन्यथोपपत्तिमाशङ्क्य आह—**अविशिष्टे हीति**। असत उत्पत्त्यभावाद् उत्पत्तौ वा सर्वस्मात् सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गात् तत्तदुपादानविशेषे प्रवृत्तिः न स्यादित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्य उत्पत्तिसे पूर्व सत् है और कारणसे अभिन्न है, इस विषयमें सूत्रकार अन्य हेतु कहते हैं—'युक्तेः' इत्यादिसे। दधि आदि चाहनेवालोंकी क्षीर आदिमें प्रवृत्तिकी अन्यथानुपपत्ति युक्ति है, उस युक्तिसे उत्पत्तिसे पूर्व कार्यकी कारणाभेदसे सत्ता सिद्ध होती है। दधि आदि कार्य उत्पत्तिके पहले विद्यमान न होनेपर भी क्षीर आदिसे उत्पन्न होता है, इसलिए कारणत्वज्ञानसे क्षीर आदिमें प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार अन्यथा उपपत्तिकी आशंका करके कहते हैं—"अविशिष्टे हि" इत्यादि। तात्पर्य यह है कि असत् पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता, यदि असत्की उत्पत्ति मानी जाय तो सबसे सबकी उत्पत्ति होने लगेगी, अतः कारणविशेषमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होगी। यही बात

भाष्य

मृत्तिकायां, मृत्तिकायामेव च घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीर इत्युच्येत,

भाष्यका अनुवाद

साधारण होनेपर भी दूधमें ही दहीका कुछ गुणविशेष है, मृत्तिकामें नहीं है और मृत्तिकामें ही घटका कुछ गुणविशेष है, दूधमें नहीं है, ऐसा कहोगे, तो

रत्नप्रभा

तदुक्तं सांख्यवृद्धैः—असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

(सा०का० ९) इति। शक्तस्य कारणस्य शक्यकार्यकारित्वात् शक्तिविषयस्य कार्यस्य सत्त्वम्, असत अशक्यत्वात् । किञ्च, सत्कारणाभेदात् कार्यसद् इति उत्तरार्द्धार्थः । कार्यस्य असत्त्वेऽपि कुतश्चिदतिशयात् प्रवृत्तिनियमोपपत्तिः इति शङ्कते—

रत्नप्रभाका अनुवाद

सांख्यवृद्धोंसे अर्थात् ईश्वरकृष्णने—'असदकरणाद्०' इस कारिकामें कहा है । शक्तिविशिष्ट कारण शक्तिसंबद्ध कार्यका उत्पादक है, इसलिए शक्तिसम्बद्ध कार्यकी सत्ता उत्पत्तिके पहले माननी चाहिए, यदि कार्य असत् हो, तो शक्तिसंबद्ध नहीं होगा। और कारण सत् है, उससे अभिन्न होनेके कारण कार्य भी सत् है, यह कारिकाके उत्तरार्धका अर्थ है। उत्पत्तिके पहले कार्य न रहनेपर भी किसी अतिशय विशेषसे प्रवृत्तिका नियम उपपन्न हो सकता है,

(१) कारिकाका तात्पर्य संक्षेपसे इस प्रकार है—असत् पदार्थ किसीसे किया नहीं जा सकता। यदि कारणव्यापारसे पूर्व कार्य असत् हो, तो किसी प्रकार भी उसकी सत्ता नहीं की जा सकती, जैसे कि हजार शिल्पी मिलकर भी नीलको पीत नहीं कर सकते, हजार युक्तियाँ भी घटको पट नहीं कर सकतीं, अतः कार्य सत् है। कारणका कार्यके साथ संबन्ध है अर्थात् कार्यसे संबद्ध कारण ही कार्यका जनक होता है, यदि कार्य पूर्व असत् हो, तो असत्का संबन्ध ही न हो सकनेके कारण कारणसे कार्यकी उत्पत्ति ही न हो सकेगी, अतः कार्य सत् है। यदि असंबद्ध कार्य ही कारणसे उत्पन्न होता हो, तो सबसे असंबद्ध होनेसे सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति होनी चाहिए, अर्थात् मृत्तिकासे पट, तन्तुओंसे घट आदि कार्य होने चाहिएँ, ऐसा तो नहीं होता है, इसलिए कार्य पूर्वमें भी सत् ही है। जिस कार्यको उत्पादन करनेकी शक्ति जिस कारणमें रहती है, उस कारणसे उसी कार्यकी उत्पत्ति होती है, यदि कार्य पूर्वमें असत् हो, तो कार्य कारणमें रहनेवाली शक्तिसे सम्बद्ध न होनेके कारण उत्पन्न ही न हो सकेगा, यदि उत्पन्न होगा, तो सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति होने लगेगी, इसलिए उस शक्तिको कार्यसम्बद्ध मानना चाहिए। असत् कार्यसे तो संबन्ध नहीं हो सकता, इसलिए कार्य पूर्व भी सत् है। कार्य कारणस्वरूप है, कारणसे भिन्न नहीं है। यदि कारणसे भिन्न हो, तो कारणसे अन्यत्र उपलब्ध हो, तन्तु आदि कारणोंसे अन्यत्र पट आदि कार्य उपलब्ध नहीं होते हैं, अतः कारणरूप है। कारण तो कार्यकी उत्पत्तिके पहले भी सत् है, अतः कारणस्वरूप कार्य भी उत्पत्तिके पहले सत् है।

भाष्य

तद्धतिशयवत्त्वात् प्रागवस्थाया असत्कार्यवादहानिः सत्कार्यवादसिद्धिश्च। शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्याऽसती वा कार्यं नियच्छेत्, असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च। तस्मात् कारणस्याऽऽत्मभूता शक्तिः शक्तेश्चाऽऽत्मभूतं कार्यम्। अपि च कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाऽश्वमहिषवद् भेदबुद्ध्यभावात् तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्।

भाष्यका अनुवाद

इससे पूर्वकी अवस्थाके गुणविशिष्ट होनेसे असत्कार्यवादकी हानि और सत्कार्यवादकी सिद्धि होगी। और कार्यके नियमनके लिए कल्प्यमान कारणशक्ति अन्य या असत् होनेसे कार्यका नियमन नहीं कर सकेगी, क्योंकि असत्त्वमें कोई विशेष नहीं है और अन्यत्वमें भी कोई विशेष नहीं है। इसलिए कारणकी आत्मभूत शक्ति है और शक्तिका आत्मभूत कार्य है। और कार्य कारणमें तथा द्रव्य, गुण आदिमें अश्व और महिषके समान भेद बुद्धि नहीं है, इसलिए उनमें तादात्म्यका स्वीकार करना चाहिए।

रत्नप्रभा

अथेति। अतिशयः कार्यधर्मः कारणधर्मो वा। आद्ये धर्मित्वात् प्रागवस्थारूपस्य कार्यस्य सत्त्वं दुर्वारम् इत्याह—तद्धतिशयवत्त्वादिति। द्वितीयेऽपि कार्यसत्त्वम् आयातीत्याह—शक्तिश्चेति। कार्यकारणाभ्याम् अन्या कार्यवद् असती वा शक्तिः न कार्यनियामिका, यस्य कस्यचिदन्यस्य नरशृङ्गस्य वा नियामकत्वप्रसङ्गाद्, अन्यत्वासत्त्वयोः शक्तौ अन्यत्र च अविशेषात्; तस्मात् कारणात्मना लीनं कार्यमेव अभिव्यक्तिनियामकतया शक्तिः इति एष्टव्यम्। ततः

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। अतिशय कार्यका धर्म है अथवा कारणका धर्म है? यदि कार्यका धर्म हो तो उसके धर्मी होनेके कारण धर्मके पहले धर्मीका रहना अवश्य है, अतः उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्ता नहीं हटाई जा सकेगी, ऐसा कहते हैं—"तद्धतिशयवत्त्वाद्" इत्यादिसे। यदि कारणका धर्म हो, तो भी कार्यकी सत्ता सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं—"शक्तिश्च" इत्यादिसे। शक्ति यदि कार्य और कारणसे अन्य हो, अथवा कार्यके समान असत् हो तो कार्यका नियामक नहीं हो सकती, अन्यथा कोई एक पदार्थ, या नरशृंग भी नियामक हो जायगा, क्योंकि कार्य और कारणसे भेद एवं असत्ता शक्तिके समान नरशृंगमें भी है, इसलिए कारणस्वरूपसे लीन कार्य ही अपनी अभिव्यक्तिका नियामक होनेसे शक्ति कहलाता है, ऐसा मानना चाहिए, इससे सत्कार्यकी सिद्धि होती है, यह अर्थ

भाष्य

समवायकल्पनायामपि समवायस्य समवायिभिः सम्बन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्याऽन्योऽन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः, अन-

भाष्यका अनुवाद

समवायकी कल्पनामें भी समवायका समवायियोंके साथ संबन्ध स्वीकार करनेपर उनके भिन्न भिन्न संबन्धोंकी कल्पना करनी पड़ेगी,

रत्नप्रभा

सत्कार्यसिद्धिः इत्यर्थः। किञ्च, कार्यकारणयोः अन्यत्वे मृद्घटौ भिन्नौ सन्तौ इति भेदबुद्धिः स्याद् इत्याह—**अपि चेति।**

तयोः अन्यत्वेऽपि समवायवशात् तथा बुद्धिः भवति इत्याशङ्क्य समवायं दूषयति—**समवायेति।** समवायः समवायिभिः सम्बद्धो न वा? आद्ये सम्बन्धः किं समवायः उत स्वरूपम्। आद्ये समवायानवस्था, द्वितीये मृद्घट-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। और कार्य, कारण भिन्न हों, तो मृत्तिका और घट भिन्न हैं, इस प्रकार भेदबुद्धि होगी, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे।

कार्य और कारणके भिन्न होनेपर भी समवायके वशसे भेदबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है, ऐसी आशंका करके समवायका निराकरण करते हैं—"समवाय" इत्यादिसे। समवाय समवायी पदार्थोंसे संबद्ध है या नहीं? यदि संबद्ध है, तो समवायसंबन्धसे संबद्ध है अथवा स्वरूपसंबन्धसे? यदि समवायसंबन्धसे संबद्ध है, तो समवायकी अनवस्था होगी, यदि

(१) युतसिद्ध (पहले परस्पर असम्बद्ध) दो पदार्थोंका जैसे संयोग संबन्ध माना जाता है, उसी प्रकार अयुतसिद्ध दो पदार्थोंका समवाय संबन्ध मानना आवश्यक है। अयुतसिद्ध, आधाराधेयभूत पदार्थोंका जो संबन्ध 'इह' (इसमें) इस ज्ञानका जनक होता है, वह समवाय है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेषोंमें जो अयुतसिद्ध आधाराधेयभावसे स्थित हैं, उनमें 'इसमें यह पदार्थ है' ऐसी बुद्धि जिससे होती है, अन्यत्वेन अधिगत किन्तु पृथग् न रहनेवाले पदार्थोंका 'इसमें यह है' ऐसी बुद्धि जिससे होती है, वह समवाय है। जैसे 'भूतलमें घट है' यह बुद्धि भूतल और घटका सबन्ध रहनेसे होती है उसी प्रकार 'तन्तुओंमें पट है, द्रव्यमें, द्रव्य, गुण, कर्म, हैं, द्रव्य, गुण और कर्ममें सत्ता है' इत्यादि प्रत्यय भी संबन्धसत्तासे ही होते हैं। यह संबन्ध संयोग तो नहीं है, क्योंकि संयोग युतसिद्ध द्रव्योंमें ही होता है, कर्मजन्य होता है और विभागसे नष्ट होता है, इसलिए यह समवाय है। समवाय एक है, नित्य है, अतीन्द्रिय है, 'इह' (इसमें) बुद्धिसे अनुमेय है, ऐसा वैशेषिक मानते हैं। नैयायिक समवायको प्रत्यक्ष मानते हैं। प्राभाकर समवायको नाना एवं अनित्य मानते हैं। समवायके स्थानमें स्वरूपसंबन्धसे कार्यनिर्वाह हो सकता है, इसलिए समवाय पदार्थान्तर नहीं है, ऐसा भाट्ट और सांख्य कहते हैं।

भाष्य

भ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः। अथ समवायः स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैवापरं सम्बन्धं सम्बद्धयेत, संयोगोऽपि तर्हि स्वयं सम्बन्धरूपत्वा-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा करनेसे अनवस्था हो जायगी और न स्वीकार करनेपर कार्य और कारण तथा द्रव्य और गुण आदिका विच्छेद हो जायगा। समवाय स्वयं संबन्धरूप होनेसे दूसरे संबन्धकी अपेक्षाके बिना ही संबद्ध होता है, ऐसा यदि कहो, तो

रत्नप्रभा

योरपि स्वरूपसम्बन्धादेव उपपत्तेः समवायासिद्धिः। असम्बद्ध इति पक्षे दोषमाह—**अनभ्युपगम्यमाने** इति। द्रव्यगुणादीनां विशिष्टधीविरहप्रसङ्गः असम्बद्धस्य विशिष्टधीनियामकत्वायोगाद् इत्यर्थः। विशिष्टधीनियामको हि सम्बन्धः, न तस्य नियामकान्तरापेक्षा अनवस्थानात्, अतः स्वपरनिर्वाहकः समवाय इति शङ्कते—**अथेति**। सम्बध्यते–स्वस्य स्वसम्बन्धिनश्च विशिष्टधियं करोति इत्यर्थः। प्रतिबन्द्या दूषयति—**संयोगोऽपीति**। यत्तु गुणत्वात् संयोगस्य समवायापेक्षा न सम्बन्धत्वात् इति, तत् न; धर्मत्वात् समवायस्यापि सम्बन्धान्तरापत्तेः असम्बद्धस्य अश्वत्वस्य गोधर्मत्वादर्शनात्। किञ्च, 'निष्पापत्वादयो गुणाः' इति श्रुतिस्मृत्यादिषु व्यवहाराद् 'इष्टधर्मो गुणः' इति परिभाषया समवायस्यापि गुणत्वाच्च। 'जातिविशेषो गुणत्वम्' इति परिभाषा तु समवायसिद्ध्युत्तरकालीना,

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वरूपसंबन्धसे संबद्ध हैं, तो मृत् और घटका भी स्वरूप संबन्ध ही हो सकता है, अतः समवाय असिद्ध है। समवाय पदार्थोंसे संबद्ध नहीं है, इस पक्षमें दोष कहते हैं—"अनभ्युपगम्यमाने" इत्यादिसे। द्रव्य, गुण आदिकी विशिष्ट बुद्धि न होगी, क्योंकि असंम्बद्ध संबन्ध विशिष्टज्ञानका जनक नहीं हो सकता है, यह अर्थ है। संबन्ध विशिष्टज्ञानका नियामक है, उसके लिए अन्य नियामककी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अनवस्था हो जायगी, इसलिए समवाय अपना और अन्यका निर्वाहक है, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। सम्बध्यते—अपना तथा अपने संबन्धीका विशिष्टज्ञान कराता है, ऐसा अर्थ है। उक्त पूर्वपक्षका प्रतिबन्दीसे निराकरण करते हैं—"संयोगोऽपि" इत्यादिसे। संयोग गुण होनेसे समवायकी अपेक्षा रखता है, संबन्ध होनेसे नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, समवाय भी धर्म है, अतः उसके लिए अन्य संबन्धकी अपेक्षा होगी, क्योंकि गौसे संबन्ध न रखनेवाला अश्वत्व गौका धर्म नहीं दिखाई पड़ता। और 'निष्पापत्वादयो०' (पापराहित्य आदि गुण हैं) इत्यादि श्रुति और स्मृतिमें 'व्यवहार होनेसे 'इष्ट०' (अभिप्रेत धर्म गुण है) इस परिभाषासे समवाय भी गुण हो सकता

भाष्य

दनपेक्ष्यैव समवायं सम्बध्येत, तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्यगुणादीनां समवाय-कल्पनानर्थक्यम्। कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तेत, किं समस्तेष्ववयवेषु वर्तेतोत प्रत्यवयवम्। यदि तावत

भाष्यका अनुवाद

संयोग भी स्वयं संबन्धरूप होनेसे समवायकी अपेक्षाके विना ही संबद्ध हो जायगा। और तादात्म्यकी प्रतीतिसे द्रव्य, गुण आदिमें समवायकी कल्पना अनर्थक है। और कार्य—अवयवी द्रव्य जो कारण—अवयव द्रव्योंमें रहता है, वह किस प्रकार रहता है? क्या समस्त अवयवोंमें रहता है अथवा

रत्नप्रभा

नित्याऽनेकसमवेता जातिः इति ज्ञानस्य समवायज्ञानाधीनत्वात्, अतः समवायसिद्धेः प्राक् संयोगस्य गुणत्वम् असिद्धमिति दिक्। किञ्च, प्रतीत्यनुसारेण वस्तु स्वीकार्यम् अन्यथा गोप्रतीतेः अश्व आलम्बनमित्यस्यापि सुवचत्वात्। तथा च मृत् घट इत्यभेदप्रतीतेः अभेद एव स्वीकार्यः। ताभ्याम् अत्यन्तभिन्नस्य समवायस्य तन्नियामकत्वासम्भवाद् इत्याह—**तादात्म्येति**। एवं प्रतीत्यनुसारेण कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वं स्वरूपेण तु मिथ्यात्वम् इत्युक्तम्। वृत्त्यनिरूपणाच्च तस्य मिथ्यात्वमित्याह—**कथं चेति**। तत्र आद्यम् अनूद्य अवयविनः पटादेः तन्त्वादिषु अवयवेषु त्रित्वादिवत् स्वरूपेण वृत्तिः, उत अवयवश इति विकल्प्य आद्यं दूषयति—**यदीत्यादिना**। व्यासज्यवृत्तिवस्तुप्रत्यक्षस्य यावदाश्रयप्रत्यक्ष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। जातिविशेष गुण है, यह परिभाषा तो समवायसिद्धिके उत्तरकालीन है, क्योंकि नित्य और अनेक पदार्थोंमें समवायसंबन्धसे रहनेवाला धर्म जाति कहलाता है, यह ज्ञान समवायज्ञानके अधीन है। इसलिए समवायसिद्धिके पहले संयोग गुण है, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती, इत्यादि समझना चाहिए। और प्रतीतिके अनुसार पदार्थका स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा 'गौः' इस प्रतीतिका विषय अश्व भी हो जायगा। अतः 'मृत् घटः' इस प्रकार अभेदकी प्रतीति होती है, इसलिए मृत्तिका और घटमें अभेद ही स्वीकार करना चाहिए। मृत्तिका और घटसे अत्यन्त भिन्न समवाय 'मृत् घटः' इस ज्ञानका नियामक नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"तादात्म्य" इत्यादिसे। इस प्रकार प्रतीतिके अनुसार कार्य कारणस्वरूपसे विद्यमान है, अपने स्वरूपसे मिथ्या है, यह कहा गया। कारणमें कार्यका रहना भी उपपन्न नहीं हो सकता है, इसलिए कार्य मिथ्या है, ऐसा कहते—"कथं च" इत्यादिसे। उक्त पक्षोंमें प्रथमका अनुवाद कर तन्तु आदि अवयवोंमें पट आदि अवयवकी वृत्ति त्रित्व आदिके समान स्वरूपसे है अथवा प्रत्येक अवयवमें अलग अलग है, ऐसा विकल्प करके प्रथम पक्षको दूषित करते हैं—"यदि"

भाष्य

समस्तेषु वर्तेत ततोऽवयव्यनुपलब्धिः प्रसज्येत, समस्तावयवसंनिकर्षस्याशक्यत्वात्, नहि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते। अथावयवशः समस्तेषु वर्तेत, तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणावयविनोऽवयवाः कल्प्येरन् यैरारम्भकेष्ववयवेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत। कोशावयवव्यतिरिक्तैर्ह्यवयवैरसिः कोशं व्याप्नोति। अनवस्था चैवं प्रसज्येत, तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषामन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात्। अथ प्रत्यवयवं वर्तेत तदैकत्र व्यापारोऽन्यत्राऽव्यापारः स्यात्, नहि देवदत्तः स्रुघ्ने

भाष्यका अनुवाद

प्रत्येक अवयमें रहता है? यदि समस्त अवयवोंमें रहे, तो अवयवीकी अनुपलब्धि हो जायगी, क्योंकि समस्त अवयवोंका इन्द्रियके साथ संनिकर्ष नहीं होता, जैसे कि समस्त आश्रयोंमें रहनेवाले बहुत्वका किसी एक आश्रयके ग्रहणसे ग्रहण नहीं होता। यदि समस्त अवयवोंमें अवयवावच्छेदसे रहे, तो जिन आरम्भक अवयवोंमें अवयवी अवयवावच्छेदसे रहता है, उन आरम्भक अवयवोंसे भिन्न अवयवीके अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ेगी। यह प्रसिद्ध है कि कोशके अवयवोंसे भिन्न अवयवोंसे तलवार कोशको व्याप्त करती है। ऐसी अवस्थामें अनवस्थाका दोष होगा, क्योंकि उन उन अवयवोंमें रहनेके लिए अन्य अन्य अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ेगी। यदि प्रत्येक अवयमें रहे, तो एक स्थानपर व्यापार होनेपर दूसरे स्थानमें व्यापार न होगा, क्योंकि स्रुघ्नमें

रत्नप्रभा

अन्यत्वात् संवृतपटादेः यावदवयवानाम् अप्रत्यक्षत्वाद् अप्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत इत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—अथेति। यथा हस्ते कोशे च अवयवशः खड्गो वर्तमानो हस्तमात्रग्रहेऽपि गृह्यते, एवं यत्किञ्चिदवयवग्रहेण अवयविनो ग्रहसम्भवेऽपि अवयवानाम् अनवस्था स्याद् इति दूषयति—तदापीति। आद्यद्वितीयम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। व्यासज्यवृत्ति[1] पदार्थका प्रत्यक्ष उसके सब आश्रय पदार्थोंके प्रत्यक्षसे होता है, इसलिए संवृत पटके सब अवयवोंका प्रत्यक्ष न होनेसे पटका प्रत्यक्ष नहीं होगा, ऐसा अर्थ है। दूसरे पक्षकी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। जैसे हाथमें और म्यानमें अवयवशः रहनेवाली तलवार केवल हाथके ग्रहणसे भी गृहीत हो जाती है, उसी प्रकार कुछ अवयवोंके ग्रहणसे अवयवीका ग्रहण संभव होनेपर भी अवयवोंकी अनवस्था हो जायगी, ऐसा दूषित करते हैं—"तदापि"

(१) अनेक पदार्थोंमें व्याप्त।

भाष्य

संनिधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि संनिधीयते युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्व-प्रसङ्गः स्यात् देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्नपाटलिपुत्रनिवासिनोः । गोत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्तेर्न दोष इति चेत् । नः तथा प्रतीत्यभावात् । यदि गोत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्तोऽवयवी स्याद् यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति गृह्यते एवमवयव्यपि प्रत्यवयवं प्रत्यक्षं गृह्येत, न चैवं नियतं गृह्यते । प्रत्येकपरिसमाप्तौ चावयविनः कार्येणाधिकारात् तस्य चैकत्वाच्छृङ्गेणापि-

भाष्यका अनुवाद

रहता हुआ देवदत्त उसी दिन पाटलिपुत्रमें नहीं रह सकता । एक ही समय अनेक स्थानमें रहे, तो स्रुघ्न और पाटलिपुत्रमें रहनेवाले देवदत्त और यज्ञदत्तके समान अनेकत्वका प्रसंग आवेगा । गोत्व आदिके समान प्रत्येकमें परिसमाप्ति होनेसे दोष नहीं है, ऐसा कहो तो, नहीं, ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती । यदि गोत्व आदिके समान अवयवी प्रत्येकमें परिसमाप्त हो, तो जैसे गोत्वका प्रत्येक व्यक्तिमें प्रत्यक्ष ग्रहण होता है, वैसे ही अवयवीका भी प्रत्येक अवयवमें प्रत्यक्ष ग्रहण होगा । परन्तु ऐसा नियमसे ग्रहण नहीं होता । प्रत्येकमें परिसमाप्ति हो, तो अवयवीको कार्यके साथ अधिकार होनेसे और उसके एक होनेसे गाय सींगसे भी स्तनकार्य करेगी और छातीसे पीठ-

रत्नप्रभा

उद्भाव्य दूषयति—अथ प्रत्यवयवमित्यादिना । एकस्मिन् तन्तौ पटवृत्तिकाले तन्त्वन्तरे वृत्तिः न स्यात्, वृत्तौ अनेकत्वापत्तेः इत्यर्थः । यथा युगपदनेकव्यक्तिषु वृत्तौ अपि जातेः अनेकत्वदोषो नास्ति, तथाऽवयविन इत्याशङ्कते—गोत्वेति । जातिवद् अवयविनो वृत्तिः असिद्धा अनुभवाभावाद् इति परिहरति—न तथेति । दोषान्तरमाह—प्रत्येकेति । अधिकारात्—सम्बन्धात् । यथा देवदत्तः स्वकार्यम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । कार्य प्रत्यवयवमें रहता है, इस पक्षको उठाकर दूषित करते हैं—"अथ प्रत्यवयवम्" इत्यादिसे । एक तन्तुमें जब पट रहता है, तब अन्य तन्तुमें वह नहीं रह सकेगा, यदि रहे तो अनेक हो जायगा, यह तात्पर्य है । जैसे एक ही समय अनेक व्यक्तियोंमें रहनेपर भी जातिमें अनेकत्व दोष नहीं है, उसी प्रकार अवयवीमें भी नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"गोत्व" इत्यादिसे । जातिके समान अवयवीकी वृत्ति असिद्ध है, क्योंकि ऐसा अनुभव नहीं है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न तथा" इत्यादिसे । अन्य दोष कहते हैं—"प्रत्येक" इत्यादिसे । अधिकार—सबन्ध ।

भाष्य

स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम् । नचैवं दृश्यते ।

प्रागुत्पत्तेश्च कार्यस्यासत्त्व उत्पत्तिरकर्तृका निरात्मिका च स्यात् । उत्पत्तिश्च नाम क्रिया, सा सकर्तृकैव भवितुमर्हति गत्यादिवत्, क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिषिध्येत । घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना न

भाष्यका अनुवाद

का कार्य करेगी । परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता ।

और उत्पत्तिके पूर्व कार्य अविद्यमान हो, तो उत्पत्ति कर्तृरहित और निरात्मक हो जायगी । उत्पत्ति क्रिया है, वह गति आदिके समान सकर्तृक ही हो सकती है । क्रिया अकर्तृक हो यह विरुद्ध है । घटकी

रत्नप्रभा

अध्ययनं ग्रामे अरण्ये वा करोति; तथा गौः अवयवी स्वकार्यं क्षीरादिकं शृङ्ग-पुच्छादौ अपि कुर्याद् इत्यर्थः ।

एवं वृत्त्यनिरूपणाद् अनिर्वाच्यत्वं कार्यस्य दर्शितम्, सम्प्रति असत्कार्यवादे दोषान्तरमाह—**प्रागिति** । यथा घटः चलति इत्युक्ते चलनक्रियां प्रति आश्रयत्व-रूपं कर्तृत्वं घटस्य भाति तथा पटो जायत इति जनिक्रियाकर्तृत्वमनुभूयते, अतो जनिकर्तुः जनेः प्राक् सत्त्वं वाच्यम् कर्तुः असत्त्वे क्रियाया अपि असत्त्वापत्तेः इत्यर्थः । जनेः अनुभवसिद्धेऽपि सकर्तृकत्वे क्रियात्वेन अनुमानमाह—**उत्पत्तिश्चेति** । असतो घटस्य उत्पत्तौ कर्तृत्वासम्भवेऽपि कुलालादेः सत्त्वात् कर्तृत्वम् इत्याशङ्क्य आह—**घटस्य चेति** । घटोत्पत्तिवद् असत्कपालाद्युत्पत्तिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे देवदत्त अपने कार्य—अध्ययनको ग्राममें अथवा अरण्यमें करता है उसी प्रकार गाय भी अपने कार्य—क्षीर आदिका शृंग, पूँछ आदि अवयवोंमें सम्पादन करेगी यह अर्थ है ।

इस प्रकार कार्यकी कारणमें वृत्तिका निरूपण नहीं किया जा सकता, इसलिए कार्य अनिर्वाच्य है, यह दिखलाया गया, अब असत्कार्यवादमें अन्य दोष कहते हैं—"प्राग्" इत्यादिसे । जैसे घट चलता—हिलता है, ऐसा कहनेपर चलनक्रियाका आश्रयत्वरूप कर्तृत्व घटमें भासता है, उसी प्रकार पट उत्पन्न होता है, इसमें जनन-क्रियाका कर्तृत्व अनुभवमें आता है, इसलिए यह कहना चाहिए कि जननक्रियाके पहले जननक्रियाका कर्ता है, यदि पहले कर्ता न हो, तो क्रिया भी नहीं होगी, ऐसा अर्थ है । जननक्रियाके अनुभवसिद्ध होनेपर भी वह सकर्तृक है, इस विषयमें क्रियात्वरूप हेतुसे अनुमान कहते हैं—"उत्पत्तिश्च" इत्यादिसे । असत् घट उत्पत्तिक्रियाका कर्ता न हो सकनेपर भी पूर्व विद्यमान कुलाल आदि कर्ता होंगे, ऐसी शंका कर कहते हैं—"घटस्य

भाष्य

घटकर्तृका किं तर्ह्यन्यकर्तृकेति कल्प्या स्यात्। तथा कपालादीनामप्युत्पत्तिरुच्यमानाऽन्यकर्तृकैव कल्प्येत, तथा च सति घट उत्पद्यत इत्युक्ते कुलालादीनि कारणान्युत्पद्यन्त इत्युक्तं स्यात्। न च लोके घटोत्पत्तिरित्युक्ते कुलालादीनामप्युत्पद्यमानता प्रतीयते, उत्पन्नतामतीतेश्च। अथ स्वकारणसत्तासम्बन्ध एवोत्पत्तिरात्मलाभश्च कार्यस्येति चेत्, कथमलब्धा-

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्ति घटकर्तृक नहीं है, किन्तु अन्यकर्त्तृक है, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। इसी प्रकार कपाल आदिकी उत्पत्ति भी तो अन्यकर्त्तृक ही है, ऐसी कल्पना करनी होगी। ऐसा होनेसे घट उत्पन्न होता है, ऐसा कहनेसे कुलाल आदि कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा जायगा। परन्तु लोकमें घटकी उत्पत्ति ऐसा कहनेसे कुलाल आदिकी भी उत्पत्ति प्रतीत नहीं होती, क्योंकि घट उत्पन्न होता है, इस ज्ञानके अनन्तर कुलाल आदि उत्पन्न हुए हैं, ऐसा ज्ञान नहीं होता। यदि उत्पत्तिका अर्थ अपने कारण या सत्ताके साथ अपना संबन्ध और कार्यका आत्मलाभ हो तो जिसने सत्ता प्राप्त नहीं की वह

रत्नप्रभा

इत्यतिदिशति—**तथेति**। शङ्कामनूद्य दोषमाह—**तथा चेति**। अनुभवविरोध इत्यर्थः। उत्पत्तिः भावस्य आद्या विक्रिया इति स्वमतेन कार्यसत्त्वम् आनीतम्, सम्प्रति कार्यस्य उत्पत्तिर्नाम स्वकारणे समवायः स्वस्मिन् सत्तासमवायो वा इति तार्किकमतम् आशङ्कते—**अथेति**। तन्मतेनापि कार्यस्य सत्त्वम् आवश्यकम् असतः सम्बन्धित्वायोगाद् इत्याह—**कथमिति**। असतोर्वा इति दृष्टान्तोक्तिः। ननु नरशृङ्गादिवत् कार्यं सर्वदा सर्वत्र असत् न भवति, किन्तु उत्पत्तेः प्राग्

रत्नप्रभाका अनुवाद

च" इत्यादि। घटकी उत्पत्तिके समान कपाल आदिकी भी उत्पत्ति है, ऐसा अतिदेश करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। शंकाका अनुवाद कर दोष कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। आशय यह कि अनुभव विरोध है। उत्पत्ति—कारणका प्रथम विकार, इस प्रकार अपने मतमें उत्पत्तिके पूर्व कार्यसत्ता कही गई, अब कार्यकी उत्पत्तिका अर्थ अपने कारणमें अपना समवाय है अथवा अपनेमें सत्तासमवाय है? इस प्रकार तार्किक मतसे शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। तार्किकोंके मतसे भी कार्यकी सत्ता आवश्यक है, क्योंकि असत्का संबन्ध नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। 'असतोर्वा' यह दृष्टान्तके लिए कहा गया है। नरशृंग आदिके समान कार्य सर्वदा सर्वत्र असत् नहीं होता है, किन्तु उत्पत्तिके

भाष्य

त्मकं सम्बध्येतेति वक्तव्यम्। सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः सम्भवति न सदसतो-रसतोर्वा। अभावस्य च निरुपाख्यत्वात् प्रागुत्पत्तेरिति मर्यादाकरणमनुप-पन्नम्, सतां हि लोके क्षेत्रगृहादीनां मर्यादा दृष्टा नाभावस्य। नहि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक् पूर्णवर्मणोऽभिषेकादित्येवंजातीयकेन मर्यादा-करणेन निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भवति भविष्यतीति वा विशे-ष्यते। यदि च वन्ध्यापुत्रोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वमभविष्यत् तत इदम-प्युपापत्स्यत कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं भविष्यतीति। वयं तु

भाष्यका अनुवाद

कैसे संबद्ध होगा, यह कहना चाहिए, क्योंकि दो विद्यमान पदार्थोंमें संबन्ध होता है, विद्यमान और अविद्यमान या दो अविद्यमानोंमें नहीं होता। और अभावके असत् होनेसे, उत्पत्तिके पूर्व ऐसी अवधि करना युक्त नहीं है, क्योंकि लोकमें विद्यमान क्षेत्र, गृह आदिकी मर्यादा देखी जाती है, अभावकी नहीं देखी जाती। पूर्णवर्माके अभिषेकके पूर्व वन्ध्यापुत्र राजा था, इस प्रकारकी मर्यादा करनेसे असत् वन्ध्यापुत्र राजा था, है या होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि वन्ध्यापुत्र भी कारकके व्यापारके अनन्तर उत्पन्न होता, तो असत् कार्य भी कारकके व्यापारके अनन्तर होता है, यह कथन भी उपपन्न होता। हम तो ऐसा

रत्नप्रभा

ध्वंसानन्तरं च असत् मध्ये तु सदेव इति वैषम्यात् सम्बन्धित्वोपपत्तिः इत्याशङ्क्य आह—**अभावस्येति**। अत्र अभावशब्दा असच्छब्दापरपर्याया व्याख्येयाः। असतः कालेन असम्बन्धात् प्राक्त्वं न युक्तमित्यर्थः। ननु कारकव्यापाराद् ऊर्ध्व-भाविनः कार्यस्य वन्ध्यापुत्रतुल्यत्वं कथम् इत्यत आह—**यदि चेति**। कार्याभावः असत्कार्यमित्यर्थः, इति उपापत्स्यत—उपपन्नमभविष्यद् इत्यन्वयः। कः तर्हि

रत्नप्रभाका अनुवाद

पहले और नाशके अनन्तर असत् रहता है, मध्यमें तो सत् ही होता है, इस प्रकार अत्यन्त असत् पदार्थसे कार्यमें विषमता है, इसलिए संबन्धित्व उपपन्न होता है, ऐसी आशंका कर कहते हैं—"अभावस्य" इत्यादि। इस प्रकरणमें कथित अभावशब्दको असत्शब्दका पर्याय समझना चाहिए। असत्का कालसे सबन्ध नहीं रहता, इसलिए उसका प्राथम्य और आनन्तर्य कहना ठीक नहीं है, यह आशय है। कारक व्यापारके अनन्तर होनेवाला कार्य वंध्यापुत्र-सदृश कैसे है? इसपर कहते हैं—"यदि च" इत्यादि। कार्याभाव—असत्कार्य। 'इति उपापत्स्यत' (ऐसा उपपन्न होता) ऐसा अन्वय समझना चाहिए। तब क्या निर्णय है? इस-

भाष्य

पश्यामो वन्ध्यापुत्रस्य कार्याभावस्य चाभावत्वाविशेषाद्यथा वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यत्येवं कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यतीति। नन्वेवं सति कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्येत। यथैव हि प्राक्सिद्धत्वात् कारणस्य स्वरूपसिद्धये न कश्चिद् व्याप्रियते, एवं प्राक्सिद्धत्वात् तदनन्यत्वाच्च कार्यस्य स्वरूपप्रसिद्धयेऽपि न कश्चिद् व्याप्रियेत, व्याप्रियते च, अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वाय मन्यामहे प्रागुत्पत्तेरभावः कार्यस्येति चेत्। नैष दोषः। यतः कार्याकारेण कारणं व्यवस्थापयतः

भाष्यका अनुवाद

देखते हैं कि वन्ध्यापुत्र और कार्याभाव दोनों अभाव हैं, इसलिए जैसे कारकके व्यापारके अनन्तर बन्ध्यापुत्र नहीं होता, वैसे कार्याभाव भी कारकके व्यापारके अनन्तर नहीं होगा। परन्तु ऐसी परिस्थितिमें तो कारकके व्यापार निरर्थक हो जायंगे। जैसे पूर्वमें सिद्ध होनेसे कारणस्वरूप की सिद्धिके लिए कोई व्यापार नहीं करता, वैसे ही कार्यके भी पूर्वमें सिद्ध होने और उससे अनन्य होनेसे उसके स्वरूपकी सिद्धिके लिए भी कोई व्यापार न करेगा। परन्तु व्यापार तो करता है, इससे कारणका व्यापार सप्रयोजन होनेके लिए उत्पत्तिके पूर्व कार्यका अभाव है, ऐसा हम मानते हैं। यह दोष नहीं है, क्योंकि कार्य स्वरूपसे

रत्नप्रभा

निर्णयः तत्राह—**वयं त्विति**। "नासतो विद्यते भावः" (भ० गी० २।१६) इति स्मृतेः इति भावः। सत्कार्यवादे कारकवैयर्थ्यं शङ्कते—**नन्विति**। सिद्धकारणानन्यत्वाच्च कार्यस्य सिद्धत्वम् इत्याह—**तदनन्यत्वाच्चेति**। अनिर्वाच्यकार्यात्मना कारणस्य अभिव्यक्त्यर्थः कारकव्यापार इत्याह—**नैष दोष इति**। कार्यसत्यत्वम् इच्छतां सांख्यानां सत्कार्यवादे कारकवैयर्थ्यं दोष आपतति अभिव्यक्तेः अपि सत्त्वात्, अद्वैतवादिनां तु अघटितघटनावभासनचतुरमाया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पर कहते हैं—"वयं तु" इत्यादि। 'नासतो विद्यते०' (असत् पदार्थकी सत्ता नहीं है) ऐसी स्मृति है, इसलिए, यह भाव है। सत्कार्यवादमें कारकवैयर्थ्यकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। सिद्ध कारणसे अभिन्न होनेसे कार्य सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"तदनन्यत्वाच्च" इत्यादिसे। अनिर्वाच्य कार्यरूपसे कारणकी अभिव्यक्तिके लिए कारकव्यापार है, ऐसा कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। कार्यको सत्य माननेवाले सांख्यके मतमें सत्कार्यवादमें कारकवैयर्थ्य होता है, क्योंकि अभिव्यक्ति भी सत् है, अद्वैतवादियोंके मतमें तो अघटितकी घटनाकर उसका

भाष्य

कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वमुपपद्यते। कार्याकारोऽपि कारणस्याऽऽत्मभूत एवा-नात्मभूतस्याऽनारभ्यत्वादित्यभाणि। न च विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति। नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति, स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। तथा

भाष्यका अनुवाद

कारणकी व्यवस्था करनेवालेको कारकव्यापार सप्रयोजन है, ऐसी उपपत्ति होगी। कार्यका स्वरूप भी कारणका आत्मभूत ही है, क्योंकि जो अनात्म-भूत है वह अनारभ्य है, ऐसा कहा है। और वस्तु विशेष दर्शनमात्रसे अन्य नहीं हो जाती। हाथ-पैरोंको सिकोड़े हुए और हाथ-पैरोंको फैलाये हुए देवदत्तमें यद्यपि कुछ विशेषता दीखती है, तथापि वास्तवमें कुछ भेद नहीं है, क्योंकि वही है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। उसी प्रकार प्रति-

रत्नप्रभा

महिम्ना स्वप्नवद् यथादर्शनं सर्वमुपपन्नम्। विचार्यमाणे सर्वमयुक्तम्, युक्तत्वे द्वैतापत्तिरिति मुख्यं समाधानम् समाधानान्तराभावात्। ननु कारणाद् भिन्नम् असदेव उत्पद्यते इति समाधानं किं न स्याद् इति आशङ्क्य असत्पक्षस्य दूषणमुक्तं स्मर इत्याह—कार्याकारोऽपीति। अतः कारणाद् भेदाभेदाभ्यां दुर्निरूपस्य सदसद्विलक्षणस्य अनिर्वाच्याभिव्यक्तिः अनि-र्वाच्यकारकव्यापाराणां फलमिति पक्ष एव श्रेयान् इति भावः। ननु मृदि अदृष्टः पृथुबुध्नत्वाद्यवस्थाविशेषो घटे दृश्यते, तथा च घटो मृद्भिन्नः तद्विरुद्ध-विशेषवत्त्वाद् वृक्षवद् इत्यत आह—न चेति। वस्तुनोऽन्यत्वं सत्यो भेदः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवभास करानेमें चतुर मायाकी महिमासे स्वप्नके समान जो कुछ दिखता है, वह सब उपपन्न होता है। परन्तु कुछ विचार करनेपर वह सब अयुक्त ठहर जाता है, क्योंकि यदि वह युक्त हो, तो द्वैतकी आपत्ति होगी, यहाँ यही मुख्य समाधान है, क्योंकि इसकी अपेक्षा अच्छा समाधान दूसरा नहीं है। परन्तु कारणसे भिन्न असत् ही उत्पन्न होता है यह समाधान क्या नहीं है? ऐसी आशंका कर असत्पक्षमें जो दूषण कहा गया है, उसका स्मरण करो, ऐसा कहते हैं—"कार्याकारोऽपि" इत्यादिसे। इसलिए कारणसे भिन्न है या अभिन्न है, ऐसा निरूपण करनेके अयोग्य सत् और असत्से विलक्षण कार्यकी अनिर्वाच्य अभिव्यक्ति ही अनिर्वाच्य कारकव्यापारोंका फल है, यह पक्ष ही श्रेयस्कर है, ऐसा अर्थ है। मृत्तिकामें न दिखाई देने वाला पृथुबुध्नत्व आदि अवस्थाविशेष घटमें दिखाई देता है, अतः घट मृत्तिकासे भिन्न है, मृत्तिकासे विरुद्ध आकारविशेषवाला होनेसे, वृक्षके समान, ऐसा अनुमान होता है, इसपर कहते

भाष्य

प्रतिदिनमनेकसंस्थानानामपि पित्रादीनां न वस्त्वन्यत्वं भवति, मम पिता मम भ्राता मम पुत्र इति प्रत्यभिज्ञानात्। जन्मोच्छेदानन्तरितत्वात् तत्र युक्तं नाऽन्यत्रेति चेत् न, क्षीरादीनामपि दध्याद्याकारसंस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात्। अदृश्यमानानामपि वटधानादीनां समानजातीयावयवान्तरोपचितानाम-

भाष्यका अनुवाद

दिन आकृतियोंमें भेद आनेपर भी पिता आदि अन्य नहीं हो जाते, क्योंकि मेरा पिता, मेरा भ्राता, मेरा पुत्र ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। जन्म और उच्छेदका व्यवधान नहीं है इससे वहां यह युक्त है, अन्यत्र नहीं, ऐसा कहो, तो नहीं कह सकते, क्योंकि दूध आदि दही आदिके आकारमें हैं, ऐसा प्रत्यक्ष है। वटके बीज आदि जो अदृश्यमान हैं, वे भी अन्य समानजातीय अवयवोंसे वृद्धि

रत्नप्रभा

हेतोः व्यभिचारस्थलान्तरमाह—तथा प्रतिदिनमिति। प्रत्यहं पित्रादिदेहस्य अवस्थाभेदेऽपि जन्मनाशयोः अभावाद् अभेदो युक्तः, दार्ष्टान्तिके तु मृदादिनाशे सति घटादिकं जायते इति जन्मविनाशरूपविरुद्धधर्मवत्त्वात् कार्यकारणयोः अभेदो न युक्त इति शङ्कते—जन्मेति। कारणस्य नाशाभावाद् हेत्वसिद्धिः इति परिहरति—नेति। दधिघटादिकार्यान्वितत्वेन क्षीरमृदादीनां प्रत्यक्षत्वात् नाशासिद्धिः इत्यर्थः। ननु यत्र अन्वयो दृश्यते तत्र हेत्वसिद्धौ अपि यत्र अङ्कुरादौ वटबीजादीनाम् अन्वयो न दृश्यते तत्र हेतुसत्त्वाद् वस्त्वन्यत्वं स्याद् इत्यत आह—अदृश्येति। तत्रापि अङ्कुरादौ बीजाद्यवयवानाम् अन्वयात् न स्त एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"न च" इत्यादि। वस्तुका अन्यत्व—सत्य भेद। हेतुका अन्य व्यभिचारस्थल कहते हैं—"तथा प्रतिदिनम्" इत्यादिसे। प्रतिदिन पिता आदिके देहमें अवस्था भेद होता है, तो भी देहके जन्म और नाश प्रतिदिन नहीं होते हैं, इसलिए देहका अभेद कहना युक्त है। दार्ष्टान्तिकमें तो मृत्तिका आदिका नाश होनेपर घट आदि उत्पन्न होता है, इस प्रकार जन्म और नाशरूप विरुद्ध धर्म होनेसे कार्य और कारणमें अभेद कहना युक्त नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"जन्म" इत्यादिसे। कारणका नाश नहीं होता है, इसलिए हेतु असिद्ध है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि दधि, घट आदि कार्योंमें अनुगत होनेसे क्षीर, मृत्तिका आदिका प्रत्यक्ष होता है, इसलिए उनका नाश होना असिद्ध है। यदि कोई कहे कि जहाँ अनुवृत्ति देखी जाती है, वहां हेतु असिद्ध होनेपर भी जहाँ अंकुर आदिमें वटबीज आदिकी अनुवृत्ति नहीं देखी जाती है, वहां हेतु होनेसे वस्तुभेद हो, इसपर कहते हैं—

भाष्य

ङ्कुरादिभावेन दर्शनगोचरतापत्तौ जन्मसंज्ञा, तेषामेवाऽवयवानामपचय-वशाददर्शनापत्तावुच्छेदसंज्ञा। तत्रेदृग्जन्मोच्छेदान्तरितत्वाच्चेदसतः सत्त्वा-पत्तिः सतश्चासत्त्वापत्तिस्तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसङ्गः। तथा च बाल्ययौवनस्थाविरेष्वपि भेदप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारलोपप्रसङ्गश्च। एतेन क्षणभङ्गवादः प्रतिवदितव्यः। यस्य तु पुनः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं तस्य निर्विषयः कारकव्यापारः स्यात्, अभावस्य विषयत्वानुपपत्तेराकाशहनन-

भाष्यका अनुवाद

पाकर अंकुरादि भावोंसे दृष्टिगोचर होते हैं, तब उनकी जन्मसंज्ञा होती है और वे ही अवयव क्षय हो जानेसे जब अदर्शनता प्राप्त करते हैं, तब उनकी उच्छेद-संज्ञा होती है। उनमें ऐसे जन्म और उच्छेदका व्यवधान होनेसे असत् सत् हो और सत् असत् हो, तो ऐसा होनेसे गर्भमें रहनेवाले और उतान होकर सोने वाले इन दोनोंमें भेद होगा। इसी प्रकार बाल्य, यौवन और स्थाविरमें भेदका प्रसंग हो जायगा। इसी प्रकार पिता आदि व्यवहार लुप्त हो जायँगे। इससे क्षण-भंगवादका प्रत्याख्यान हुआ समझना चाहिए। परन्तु जिसके मतमें उत्पत्तिके पूर्व कार्य अविद्यमान हैं, उसके मतमें आकाशको मारनेके लिये खड्गादि अनेक

रत्नप्रभा

जन्मविनाशौ, किन्तु अवयवान्तरोपचयापचयाभ्यां तद्व्यवहार इत्यर्थः। अस्तु उप-चयापचयलिङ्गेन वस्तुभेदानुमानम्, ततोऽसत उत्पत्तिः, सतो नाश इति आशङ्क्य व्यभिचारमाह—**तत्रेदृगिति**। पितृदेहेऽपि भेदसत्त्वात् न व्यभिचार इत्यत्र बाधकमाह—**पित्रादीति**। **एतेनेति**। कारणस्य सर्वकार्येषु अन्वयकथनेन इत्यर्थः। स्वपक्षे दोषं परिहृत्य परपक्षे प्रसञ्जयति—**यस्य तु पुनरिति**। असतः कार्यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अदृश्य" इत्यादिसे। वहां अंकुर आदिमें भी बीज आदिके अवयवोंकी अनुवृत्ति होनेसे कारणके जन्म और नाश नहीं होते हैं, किन्तु अन्य अवयवोंकी वृद्धि और क्षयसे जन्म और नाशका व्यवहार होता है, यह अर्थ है। वृद्धि और क्षय रूप हेतुसे वस्तुभेदका अनुमान हो, इससे जगत्की उत्पत्ति एवं सत्का नाश सिद्ध होते हैं, ऐसी आशंका कर व्यभिचार कहते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे। पितृदेहमें भी भेद है, इसलिए व्यभिचार नहीं है, इस विषयमें बाधक कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। एतेन—सब कार्योंमें कारणकी अनुवृत्तिके कथनसे। अपने मतमें दोषका परिहार करके अन्य मतमें दोषका आपादन करते हैं—"यस्य तु पुनः" इत्यादिसे। परन्तु असत् कार्य कारकव्यापारसे उत्पाद्यमान विशेषका

भाष्य

प्रयोजनखड्गघनेकायुधप्रयुक्तिवत् । समवायिकारणविषयः कारकव्यापारः स्यादिति चेत्, न; अन्यविषयेण कारकव्यापारेणाऽन्यनिष्पत्तेरतिप्रसङ्गात् समवायिकारणस्यैवाऽऽत्मातिशयः कार्यमिति चेत्, न; सत्कार्यतापत्तेः। तस्मात् क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनाऽवतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत् कार्यं वर्षशतेनाऽपि शक्यं कल्पयितुम्। तथा मूलकारणमेवाऽन्त्यात् कार्यात् तेन तेन कार्याकारेण नटवत् सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। एवं युक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्वं च

भाष्यका अनुवाद

आयुधोंके समान कारक व्यापार निर्विषय हो जायगा, क्योंकि अभाव विषय नहीं हो सकता। कारक व्यापारका विषय समवायी कारण होगा, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते। अन्य विषयकारक व्यापारसे अन्यकी निष्पत्ति हो, तो अति प्रसंग होगा। कार्य समवायी कारणका ही अतिशय है, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्कार्यवाद सिद्ध हो जायगा। इसलिए दूध आदि पदार्थ दधि आदिके स्वरूपसे रहते हुए कार्यकी संज्ञा प्राप्त करते हैं। कारणसे कार्यको सौ वर्षमें भी अन्य करना शक्य नहीं है। उसी प्रकार मूल कारण ही अन्त्यकार्यपर्यन्त उस कार्यके आकारसे नटके समान सब व्यवहारका आश्रय होता है। इस प्रकार उत्पत्तिके पूर्व कार्यका सत्त्व और

रत्नप्रभा

कारकव्यापाराऽऽहितातिशयाश्रयत्वायोगाद् अविषयत्वेऽपि मृदादेर्विषयत्वं स्याद् इति शङ्कते—**समवायीति**। समवायिकारणात् कार्यं भिन्नमभिन्नं वा इति विकल्प्य आद्यं निरस्यति—**नेत्यादिना**। द्वितीयम् आशङ्क्य इष्टापत्तिमाह—**समवायीति**। कार्याणाम् अवान्तरकारणानन्यत्वमुपसंहरति—**तस्मादिति**। परमकारणानन्यत्वं फलितमाह— **तथा मूलेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

आश्रय न होनेसे उसका विषय न होनेपर भी मृत्तिका आदि उसके विषय हो सकते हैं, ऐसी शंका करते हैं—"समवायि" इत्यादिसे। समवायिकारणसे कार्य भिन्न है अथवा अभिन्न है, ऐसा विकल्प करके प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं—"न" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षकी आशंकाकर उसमें इष्टापत्ति कहते हैं—"समवायि" इत्यादिसे। कार्य अवान्तर कारणोंसे अभिन्न है, इस सिद्धान्तका उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। परम कारण ब्रह्मसे अभेदरूप फलित कहते हैं—"तथा मूल" इत्यादिसे।

भाष्य

कारणादवगम्यते। शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते। पूर्वसूत्रेऽसद्व्यपदेशिनः शब्दस्योदाहृतत्वात् ततोऽन्यः सद्व्यपदेशी शब्दः शब्दान्तरम्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इति चाऽसत्पक्षमुपक्षिप्य 'कथमसतः सज्जायेत' इत्याक्षिप्य सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा०६।२।१) इत्यवधारयति। तत्रेदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सच्छब्दवाच्येन कारणेन सामानाधिकरण्यस्य श्रूयमाणत्वात् सत्त्वानन्यत्वे प्रसिध्यतः। यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्यात् पश्चाच्चोत्पद्यमानं कारणे समवेयात् तदान्यत् कारणात् स्यात्,। तत्र 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा०६।१।३) इतीयं प्रतिज्ञा पीड्येत। सत्त्वानन्यत्वावगतेस्त्वियं प्रतिज्ञा समर्थ्यते॥ १८॥

भाष्यका अनुवाद

कारणसे अनन्यत्व युक्तिसे समझा जाता है और अन्य शब्दसे भी यह समझा जाता है। पूर्व सूत्रमें असत्का व्यपदेश करनेवाला शब्द कहा गया है, इससे अन्य अर्थात् जिनमें सत्का व्यपदेश है, वे अन्य शब्द हैं—"सदेव सोम्येदमग्र०" (हे सोम्य, पूर्वमें यह सत्स्वरूप एक अद्वितीय था) इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदम०' (कुछ लोग कहते हैं कि पूर्वमें यह असत्स्वरूप ही था) इस प्रकार असत्पक्षका उपक्षेप करके 'कथमसतः०' (असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो) ऐसा आक्षेप करके 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य, पूर्वमें यह सत्स्वरूप ही था) ऐसा श्रुति निर्णय करती है। उसमें इदम् शब्दका वाच्य जो कार्य है, उसका उत्पत्तिके पूर्व सत्शब्दवाच्य कारणके साथ सामानाधिकरण्य श्रुतिमें कहा गया है, उससे सत्त्व और कारणाभेद स्पष्टतया सिद्ध होते हैं। यदि उत्पत्तिके पूर्व कार्य असत् हो और पीछेसे उत्पन्न होकर कारणमें समवेत हो, तो कारणसे अन्य हो। ऐसा होनेसे 'येनाश्रुतं०' (जिससे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है) इस प्रतिज्ञाका बाध हो जायगा। सत्त्व और अभेदकी अवगतिसे तो इस प्रतिज्ञाका समर्थन होता है॥ १८॥

रत्नप्रभा

असत्कार्यवादे प्रतिज्ञाबाधः स्याद् इत्याह—यदि तु प्रागुत्पत्तेरिति॥१८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

असत्कार्यवादमें प्रतिज्ञा बाधित हो जायगी, ऐसा कहते हैं—"यदि तु प्रागुत्पत्तेः" इत्यादिसे॥ १८॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

पदच्छेद—पटवत्, च ।

पदार्थोक्ति—पटवच्च—तथा संवेष्टितप्रसारितपटस्य विलक्षणप्रतीतिविषयत्वेऽपि न भेदस्तथा मृद्घटयोरपि ।

भाषार्थ—जैसे लपेटे हुए और फैलाये हुए एक ही वस्त्रमें तत्तत् समयोंमें विलक्षणता प्रतीत होनेपर भी वस्त्रमें कोई भेद नहीं आता, उसी प्रकार मृत्तिका और घटमें भी भेद नहीं है ।

भाष्य

यथा च संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते किमयं पटः किं वाऽन्यद् द्रव्यमिति, स एव प्रसारितो यत् संवेष्टितं द्रव्यं तत् पट एवेति प्रसारणेनाऽभिव्यक्तो गृह्यते । यथा च संवेष्टनसमये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते, स एव प्रसारणसमये विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते न संवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति । एवं तन्त्वादिकारणावस्थं

भाष्यका अनुवाद

जैसे लपेटे हुए वस्त्रका ठीक ठीक परिज्ञान नहीं होता कि यह वस्त्र है या कोई अन्य पदार्थ है । उसको फैला देनेके बाद यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि लपेटी हुई वस्तु वस्त्र ही है । और जिस प्रकार संवेष्टनके समय वस्त्र रूपसे प्रतीत होनेपर भी विशिष्ट लम्बाई और चौड़ाईके ज्ञानपूर्वक उसकी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार प्रसारण समयमें विशिष्ट लम्बाई और चौड़ाईकी प्रतीति होती है और संवेष्टित वस्त्रसे भिन्न यह दूसरा वस्त्र है, ऐसी प्रतीति नहीं होती है ।

रत्नप्रभा

कार्यम् उपादानाद् भिन्नं तदुपलब्धौ अपि अनुपलभ्यमानत्वात् ततोऽधिकपरिमाणत्वाच्च मशकादिव शशक इत्यत्र व्यभिचारार्थं सूत्रम्—**पटवच्चेति** । द्वितीयहेतोः व्यभिचारं स्फुटयति—**यथा च संवेष्टनेति** । आयामः—दैर्घ्यम् ॥१९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्य उपादान कारणसे भिन्न है, क्योंकि कारणकी उपलब्धि होनेपर भी कार्य उपलब्ध नहीं होता है और कारणकी अपेक्षा अधिक परिमाणवाला है, मशकसे भिन्न शशके समान, इस अनुमानके व्यभिचार दिखलानेके लिए "पटवच्च" सूत्र है । "यथा च संवेष्टन" इत्यादिसे द्वितीय हेतुमें व्यभिचार स्पष्ट करते हैं । आयाम—दीर्घता ॥ १९ ॥

भाष्य

पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापारादिभिर्व्यक्तं स्पष्टं गृह्यते। अतः संवेष्टितप्रसारितपटन्यायेनैवाऽनन्यत् कारणात् कार्यमित्यर्थः ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

उसी प्रकार तन्तु आदि कारण रूपसे स्थित पट आदि कार्य होकर तुरी, वेम, कुविन्द आदि कारक व्यापार आदिसे व्यक्त होकर स्पष्ट गृहीत होता है। इसलिए संवेष्टित और प्रसारित पटके न्यायसे ही कारण कार्यसे अनन्य है, ऐसा अर्थ है ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादिः ॥ २० ॥

पदच्छेद—यथा, च, प्राणादिः।

पदार्थोक्ति—यथा च प्राणादिः—यथा च प्राणायामादिना निरुद्धः प्राणापानादिः जीवनमात्रं कार्यं निष्पादयति, अनिरुद्धस्त्वाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यं निर्वर्तयति, नैतावता प्राणादेर्भेदोऽस्ति, तद्वत् कार्यभेदेऽपि कारणैक्ये न विरोधः।

भाषार्थ—जैसे प्राणायाम आदिसे निरुद्ध प्राण अपान आदि केवल जीवन रूप कार्यको संपन्न करते हैं, अनिरुद्ध होकर वे ही प्राणादि आकुञ्चन, प्रसारण आदि कार्यको भी संपन्न करते हैं, परन्तु प्राण आदिमें भेद नहीं है। इसी प्रकार कार्यमें भेद होनेपर भी कारणकी एकतामें कोई विरोध नहीं है।

भाष्य

यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्ररूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते नाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यान्तरम्। तेष्वेव प्राणभेदेषु प्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चनप्रसारणादिकमपि कार्यान्तरं निर्वर्त्यते। न च प्राणभेदानां प्रभेदवतः प्राणादन्यत्वम्,

भाष्यका अनुवाद

और जैसे लोकमें प्राण, अपान आदि प्राणभेदोंके प्राणायाम द्वारा निरुद्ध होनेपर और कारणमात्र रूपसे रहनेपर जीवनमात्र कार्य होता है, आकुञ्चन, प्रसारण आदि अन्य कार्य नहीं होते परन्तु वे ही प्राणभेद फिर प्रवृत्त होते हैं, उनके प्रवृत्त होनेके बाद जीवनसे अधिक आकुंचन, प्रसारण आदि अन्य कार्य

भाष्य

समीरणस्वभावाविशेषात् । एवं कार्यस्य कारणादनन्यत्वम् । अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात् तदनन्यत्वाच्च सिद्धैषा श्रौती प्रतिज्ञा 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा०६।१।१) इति ॥ २० ॥

भाष्यका अनुवाद

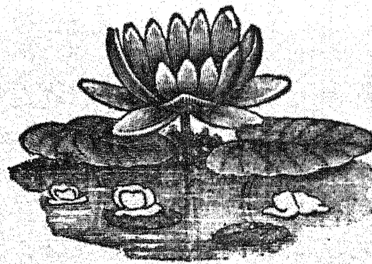
भी होते हैं और कार्य भेदविशिष्ट प्राणसे प्राणभेद अन्य नहीं हैं, क्योंकि पवनस्वभाव सबमें तुल्य है। इसी प्रकार कार्य कारणसे अनन्य है। इसलिए सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मकार्य होनेसे और उससे अनन्य होनेसे 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति, (जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, मनन न किया हुआ मनन किया हुआ हो जाता है और अज्ञात ज्ञात हो जाता है) यह श्रुतिप्रतिज्ञा सिद्ध होती है ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

तत्रैव विलक्षणकार्यकारित्वं हेतुम् आशङ्क्य व्यभिचारमाह—**यथा च प्राणादिरिति**। एवं जीवजगतोः ब्रह्मानन्यत्वात् प्रतिज्ञासिद्धिः इत्यधिकरणार्थम् उपसंहरति—**अतश्च कृत्स्नस्येति** ॥२०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसी अनुमानमें विलक्षणकार्यकारित्व हेतु है, ऐसी आशंका कर सूत्रकार व्यभिचार कहते हैं,—"यथा च प्राणादिः" इत्यादिसे। इस प्रकार जीव और जगत् ब्रह्माभिन्न होनेसे प्रतिज्ञा सिद्ध है, ऐसा अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अतश्च कृत्स्नस्य" इत्यादिसे ॥२०॥



[७ इतरव्यपदेशाधिकरण सू० २१—२३]

हितक्रियादि स्यान्नो वा जीवाभेदं प्रपश्यतः ।
जीवाहितक्रिया स्वार्था स्यादेषा नहि युज्यते ॥१॥
अवस्तु जीवसंसारस्तेन नास्ति मम क्षतिः ।
इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागता ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—अपनेसे और जीवोंमें अभेद देखनेवाले ईश्वरमें हिताकरण, अहितकरण आदि दोष लागू होते हैं या नहीं ?

पूर्वपक्ष—जीवके हितका न करना और अहितका करना अपना ही अहित करना और हित न करना है, वह युक्त नहीं है, इसलिए हिताकरण आदि दोष ईशमें लागू होते हैं ।

सिद्धान्त—जीवका संसार मिथ्या है, उससे मेरी कोई हानि नहीं है, ऐसा जाननेवाले ईश्वरमें हिताकरण आदि दोष लागू नहीं होते हैं ।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

पदच्छेद—इतरव्यपदेशात्, हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।

पदार्थोक्ति—इतरव्यपदेशात्—जीवस्य 'तत्त्वमसि' इत्यादिना ब्रह्मत्वव्यपदेशात् अथवा ब्रह्मणः 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादिना जीवत्वव्यपदेशात् । [ब्रह्मणः स्रष्टृत्वे जीवस्यैव स्रष्टृत्वात्] हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः—अहितजरामरणादिबहुविधानर्थकरणदोषप्रसक्तिः [ब्रह्मणः, इत्यतः चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं न भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—श्रुतिमें 'तत्त्वमसि' इत्यादिसे जीव ब्रह्म कहा गया है, अथवा 'अनेन जीवेनात्मना०' (इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश करके नाम और रूपको अभिव्यक्त करूँगा) इत्यादिसे ब्रह्म ही जीव कहा गया है, इसलिए ब्रह्म स्रष्टा हो तो जीव ही स्रष्टा हुआ, इससे ब्रह्मको अपना अहित जरा, मरण आदि अनेक अनर्थ करणरूप दोषकी प्रसक्ति होगी, इसलिए चेतन ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता ।

---

* तात्पर्य यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि परमेश्वर संसारमें आसक्त जीवोंके लिए वैराग्य आदि हितका निर्माण नहीं करता है और नरकका जनक अधर्म आदि अहितका निर्माण करता है। और निर्माण करता हुआ भी सर्वज्ञ होनेके कारण अपनेसे जीवोंका अभेद देखता है, इससे उसमें अपने ही हितका अकरण और अहितका करण प्राप्त होता है। यह उचित

भाष्य

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते। चेतनाद्धि जगत्प्रक्रियायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते। कुतः? इतरव्यपदेशात्। इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति प्रतिबोधनात्। यद्वा, इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाऽविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शारीरात्मत्वप्रदर्शनात्। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२)

भाष्यका अनुवाद

चेतनकारणवादका प्रकारान्तरसे फिर आक्षेप करते हैं। चेतनसे ही जगत्की यदि सृष्टि मानें, तो अपना हित न करना आदि दोष प्राप्त होंगे। किससे? इतरव्यपदेशसे। इतर अर्थात् जीवका ब्रह्मरूपसे श्रुति व्यपदेश करती है, क्योंकि 'स आत्मा तत्त्वमसि०' (हे श्वेतकेतो! वह आत्मा है, वह तू है) श्रुति ऐसा बोध कराती है। अथवा इतर अर्थात् ब्रह्मका जीवरूपसे व्यपदेश करती है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा०' (उसको उत्पन्न कर उसीमें अनुप्रवेश किया) इस प्रकार श्रुतिने स्रष्टा अविकृत ब्रह्म ही कार्यमें अनुप्रवेश करनेसे जीव है, ऐसा दिखलाया है। 'अनेन जीवेनात्मना० (इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश करके नाम और

रत्नप्रभा

इतरेति। जीवाभिन्नं ब्रह्म जगत्कारणमिति वदन् वेदान्तसमन्वयो विषयः। स यदि तादृग् ब्रह्म जगद् जनयेत् तर्हि स्वानिष्टं नरकादिकं न जनयेत्, स्वतन्त्रचेतनत्वादिति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वोक्तजीवानन्यत्वमुपजीव्य जीवदोषा ब्रह्मणि प्रसज्येरन् इति पूर्वपक्षसूत्रं गृहीत्वा व्याचष्टे—इतरव्यपदेशादित्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"इतर" इत्यादि। जीवसे अभिन्न ब्रह्म जगत्का कारण है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है। यदि जीवाभिन्न ब्रह्म जगत्को उत्पन्न करता, तो अपने अनिष्टभूत नरक आदिको उत्पन्न न करता, इस न्यायसे समन्वयका विरोध होता है अथवा नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वोक्त जीवाभेदके आधारपर जीवदोष ब्रह्ममें प्रसक्त होंगे,

---

नहीं है। ऐसा कोई भी बुद्धिमान् नहीं है जो अपने हितको न करे और अहितको करे। इसलिए परमेश्वरमें हिताकरणादि दोष लागू होते हैं।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिए वह जीवका संसार मिथ्या है और वह स्वयं निर्लेप है, इस बातका जानता है। अतः उसमें हिताकरण आदि दोष लागू नहीं हैं।

भाष्य

इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती न ब्रह्मणो भिन्नः शारीर इति दर्शयति । तस्माद् यद् ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति । अतः स स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवाऽऽत्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाऽहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम् । नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति । न च स्वयमत्यन्तनिर्मलः सन्नत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात्, कृतमपि कथंचिद् यद् दुःखकरं तदिच्छया जह्यात्, सुखकरं चोपाददीत, स्मरेच्च मयेदं जगद्बिम्बं विचित्रं विरचितमिति, सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा स्मरति मयेदं कृतमिति । यथा च

भाष्यका अनुवाद

रूपको स्पष्ट करूँगा) इस प्रकार परब्रह्म जीवका आत्मशब्दसे व्यपदेश कर जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा दिखलाता है। इसलिए ब्रह्मका जो स्रष्टृत्व है वह जीवका ही है । इसलिए जीव स्वतंत्र कर्ता होकर अपना सुखप्रद हित ही करेगा, और जन्म, मरण, जरा, रोग आदि अनेक अनर्थरूप अहित न करेगा। क्योंकि स्वतंत्र होकर कोई भी अपने लिए स्वयं बन्धनगृह बनाकर उसमें प्रवेश नहीं करता। इसी प्रकार स्वयं अत्यन्त निर्मल होकर अत्यन्त मलिन देहको अपनी आत्मा नहीं समझता। किसी प्रकार दुःखकारक जगत्की सृष्टि करनेपर भी उसका इच्छानुसार त्याग कर देता और जो सुखकारक है, उसका ग्रहण करता। और मैंने यह विचित्र जगद्बिम्ब रचा है, ऐसा स्मरण करता। क्योंकि सब लोग कार्य करके मैंने यह किया है, ऐसा स्पष्ट स्मरण करते हैं। और जैसे मायावी

रत्नप्रभा

दिना । पूर्वपक्षे जीवाभिन्ने समन्वयाऽसिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् । हिताकरणेत्यत्र नञ्व्यत्यासेनाऽहितकरणं दोषो व्याख्यातः । आदिपदोक्तं भ्रान्त्यादिकमापादयति—न च स्वयमित्यादिना ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस पूर्वपक्षसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"इतरव्यपदेशाद्" इत्यादिसे । जीवाभिन्न ब्रह्ममें समन्वयकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है, समन्वयकी सिद्धि सिद्धान्तमें फल है । सूत्रगत हिताकरण शब्दके नञ्का व्यत्यास करके अहितकरण दोषका व्याख्यान किया गया है । आदिपदसे उक्त भ्रान्ति आदिका आपादन करते हैं—"न च स्वयम्" इत्यादिसे ॥२१॥

भाष्य

मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयाऽनायासेनैवोपसंहरति, एवं शारीरोऽपीमां सृष्टिमुपसंहरेत्, स्वकीयमपि तावच्छरीरं शारीरो न शक्नोत्यनायासेनोपसंहर्तुम्। एवं हितक्रियाद्यदर्शनादन्याय्या चेतनाज्जगत्प्रक्रियेति गम्यते ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

अपनी फैलाई हुई मायाका इच्छानुसार बिना कठिनाईके उपसंहार करता है, उसी प्रकार जीव भी इस सृष्टिका उपसंहार करता। परन्तु जीव अपने शरीरका भी अनायास उपसंहार करनेकी शक्ति नहीं रखता। इस प्रकार हितक्रिया आदि नहीं देखी जाती, इसलिए चेतनसे जगत्की सृष्टिकी कल्पना अन्याय्य है, ऐसा समझा जाता है ॥ २१ ॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

पदच्छेद—अधिकम्, तु, भेदनिर्देशात्।

पदार्थोक्ति—अधिकं तु—शारीराद् भिन्नं [सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म जगत्स्रष्टृ ब्रमस्ततो] न हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः [कुतः जीवब्रह्मभेदः ?] भेदनिर्देशात्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिना कल्पितभेदस्य व्यपदेशात् [नित्यमुक्तस्य च ब्रह्मणो हिताहिताभावात्]।

भाषार्थ—जीवसे भिन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्मको हम जगत्का स्रष्टा कहते हैं, इसलिए उसके हिताकरण आदि दोष नहीं हैं। जीव और ब्रह्ममें भेद किस प्रमाणसे है? क्योंकि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः०' (हे मैत्रेयि ! आत्माका दर्शन करना चाहिए, उसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) इत्यादिसे कल्पित भेद कहा गया है। नित्यमुक्त ब्रह्मका तो कोई पदार्थ हित या अहित है ही नहीं।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यत् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः । न तस्मिन् हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते, नहि तस्य हितं किंचित्कर्तव्यमस्त्यहितं वा परिहर्तव्यं, नित्यमुक्तस्वभावत्वात् । न च तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्ति-प्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति, सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वाच्च । शारीरस्त्वनेवं-विधस्तस्मिन् प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः, न तु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः । कुत एतत् ? भेदनिर्देशात्, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो

भाष्यका अनुवाद

'तु' शब्द पूर्वपक्षका निराकरण करता है । जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् , नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त ब्रह्म जीवसे भिन्न है, उसे हम जगत्का उत्पादक कहते हैं । उसमें हित न करना आदि दोष प्रसक्त नहीं होते, क्योंकि उसे न तो कोई अपना हित करना है और न अहितका परिहार करना है, क्योंकि वह मुक्तस्वरूप है । उसके ज्ञान और शक्तिका कहीं भी प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है । जीव तो ऐसा नहीं है, अतः उसमें हित न करना आदि दोष प्रसक्त होते हैं। परन्तु उसको हम जगत्का उत्पादक नहीं कहते हैं। यह किससे ? भेदका निर्देश होनेसे । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः०' (हे मैत्रेयि ! आत्माका दर्शन

रत्नप्रभा

अधिकन्त्विति । जीवेशयोरभेदाद् जीवगताः दोषा ब्रह्मणि स्युः, ब्रह्मगताश्च सृष्टिसंहारसर्वस्मर्तृत्वादयो गुणा जीवे स्युः, न चेष्टापत्तिः, जीवस्य स्वशरीरेऽपि संहारसामर्थ्यादर्शनादिति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—**तुशब्द इत्यादिना** । जीवेश्वरयोर्लोके बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव कल्पितभेदाङ्गीकाराद् धर्मव्यवस्थेति सिद्धान्त-ग्रन्थार्थः । यदि वयं जीवं स्रष्टारं ब्रूमः, तदा दोषाः प्रसज्यन्ते न तु तं ब्रूमः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अधिकं तु" इत्यादि । जीव और ईश्वर यदि अभिन्न हों, तो जीवके दोष ब्रह्ममें प्रसक्त होंगे और ब्रह्ममें रहनेवाले सृष्टिकर्तृत्व, संहारकर्तृत्व और सर्वज्ञत्व आदि धर्म जीवमें प्रसक्त होंगे, इसमें इष्टापत्ति तो नहीं हो सकती है, क्योंकि जीव अपने शरीरका संहार करनेकी भी सामर्थ्य नहीं रखता है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तु शब्दः" इत्यादिसे । सिद्धान्तग्रन्थका आशय यह है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बमें जैसे भेदका स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार व्यवहारमें जीव और ईश्वरमें भी कल्पित भेदका अंगीकार किया जाता है, इससे धर्मोंकी व्यवस्था होती है । यदि हम जीवको स्रष्टा कहें, तो दोष प्रसक्त होंगे, जीवको तो हम

भाष्य

मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१), 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' (बृ० ४।३।३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति। नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेताम्। नैष दोषः। महाकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्। अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाऽभेदनिर्देशेनाऽभेदः प्रतिबोधितो भवत्यपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वम्, समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। तत्र कुत एव सृष्टिः कुतो वा

भाष्यका अनुवाद

करना चाहिए, उसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) 'सोऽन्वेष्टव्यः०' (उसकी खोज करनी चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए) 'सता सोम्य तदा०' (हे सोम्य ! सुषुप्ति समयमें जीव सत्के साथ संपन्न हो जाता है), 'शारीर आत्मा०' (मरणकालमें जीवात्मा परमात्मासे अधिष्ठित होकर घोर शब्द करता हुआ जाता है) इस प्रकार कर्ता, कर्म आदिके भेदका निर्देश जीवसे ब्रह्ममें भेद दिखलाता है। परन्तु 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि अभेद निर्देश भी दिखलाया गया है तो भेद और अभेद जो परस्पर विरुद्ध हैं उन दोनोंका किस प्रकार संभव हो सकता है ? यह दोष नहीं है, क्योंकि महाकाश, और घटाकाशके न्यायसे भेद और अभेद दोनोंका संभव तत्तत् स्थलोंमें दिखलाया गया है। और जब 'तत्त्वमसि' इस प्रकार अभेद निर्देशसे अभेद प्रतिबोधित होता है तब जीवका संसारित्व और ब्रह्मका स्रष्टृत्व जाता रहता है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे जन्य समस्त भेदव्यवहार सम्यग् ज्ञानसे बाधित हो जाता है। ऐसी अवस्थामें सृष्टि,

---

रत्नप्रभा

इति अन्वयः। किञ्च, भेदज्ञानाद् ऊर्ध्वं वा दोषा आपाद्यन्ते पूर्वं वा ? नाऽऽद्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्रष्टा कहते हैं नहीं, ऐसा अन्वय है। और अभेदज्ञानके अनन्तर दोषोंका आपादन किया जाता है अथवा पहले ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे।

भाष्य

हिताकरणादयो दोषाः। अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरण-संघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिर्हिताकरणादिलक्षणः संसारो न तु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृदवोचाम जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यभिमानवत्। अबाधिते तु भेदव्यवहारे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्येवंजातीयकेन भेदनिर्देशेनाऽवगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि ॥ २२ ॥

भाष्यका अनुवाद

हितका न करना आदि दोष कहांसे हो सकते हैं ? हित न करने आदिसे लक्षित हुआ संसार अविद्यासे खड़े किए हुए नामरूपसे उत्पन्न हुई शरीर और इन्द्रियरूप उपाधिके अविवेकसे जनित भ्रान्ति है, पारमार्थिक नहीं है, ऐसा हम पीछे अनेक बार कह चुके हैं, जैसे कि शरीरका जन्म, मरण, छेदन, भेदन आदिकी आत्मामें प्रतीति होती है। परन्तु जब तक भेदव्यवहार बाधित न हो, तब तक व्यवहार दशामें 'सोऽन्वेष्टव्यः०' (उसका अन्वेषण करना चाहिए) उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए) इस प्रकारके भेदनिर्देशसे ज्ञात होनेवाला ब्रह्मगत भेद हित न करने आदि दोषोंकी प्राप्तिको रोकता है ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

इत्याह—**अपि चेति**। उक्तं मिथ्याज्ञानविजृम्भितत्वं स्फुटयति—**अविद्येति**। कर्तृत्वादिबुद्धिधर्माध्यासे देहधर्माध्यासं दृष्टान्तयति—**जन्मेति**। द्वितीयं प्रत्याह—**अबाधिते त्विति**। ज्ञानाद् ऊर्ध्वं स्रष्टृत्वादिधर्माणां बाधात् पूर्वं च कल्पितभेदेन व्यवस्थोपपत्तेर्न किञ्चिद् अवद्यमित्यर्थः ॥२२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्त मिथ्याज्ञानविजृम्भितत्वको स्पष्ट करते हैं—"अविद्या" इत्यादिसे। कर्तृत्व आदि बुद्धिके धर्मोंके अध्यासमें देहके धर्मोंके अध्यासको दृष्टान्तरूपसे कहते हैं—"जन्म" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षके विषयमें कहते हैं—"अबाधिते तु" इत्यादि। ज्ञानके अनन्तर स्रष्टृत्व आदि धर्मोंका बाध हो जाता है और ज्ञानसे पहले कल्पित भेदसे व्यवस्था हो सकती है, इसलिए कोई दोष नहीं है, ऐसा तात्पर्य है ॥२२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

पदच्छेद—अश्मादिवत्, च, तदनुपपत्तिः ।

पदार्थोक्ति—अश्मादिवच्च—एकपृथिवीजन्यानां अश्मनां यथा वज्रवैडूर्यादिभेदेन वैचित्र्यम् [तथा ब्रह्मकार्याणां स्वरूपवैचित्र्यं युज्यते, अतः] तदनुपपत्तिः—परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिः ।

भाषार्थ—एक पृथिवीसे उत्पन्न हुए पत्थरोंमें जैसे वज्र, वैडूर्य आदि भेदसे विचित्रता होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मके कार्योंका भी स्वरूपवैचित्र्य युक्त ही है, इसलिए अन्यकल्पित दोष संगत नहीं हैं ।

भाष्य

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां केचिन्महार्हा मणयो वज्रवैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः श्ववायसप्रक्षेपणार्हाः पाषाणा इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते । यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि बीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यं चन्दनकिंपाकचम्पकादिषूपलक्ष्यते । यथा चैकस्याऽप्यन्नरसस्य लोहितादीनि

भाष्यका अनुवाद

और जैसे लोकमें सभी पत्थरोंके साधारणतया पृथिवीत्व जातिसे युक्त होनेपर भी उनमें कितने ही वज्र, वैडूर्य आदि अति मूल्यवान् पत्थर हैं, दूसरे सूर्यकान्त आदि मध्यम मूल्यके हैं और दूसरे निकृष्ट पत्थर कुत्ते और कौओंपर फेंकनेके काममें आते हैं, ऐसा अनेक प्रकारका वैचित्र्य दिखाई देता है । और जैसे एकही पृथिवीमें बोये गये बीजोंके पत्ते, फूल, फल, गन्ध, रस आदिमें अनेक प्रकारका वैचित्र्य चन्दन, ताड़ आदिके वृक्षोंमें दिखाई देता

रत्नप्रभा

ननु अखण्डैकरूपे ब्रह्मणि कथं जीवेश्वरवैचित्र्यं कथञ्च तत्कार्यवैचित्र्यम् इति अनुपपत्तिं दृष्टान्तैः परिहरति सूत्रकारः—**अश्मादिवच्चेति** । किंपाकः—महातालफलम् । तत्तत्कार्यसंस्काररूपानादिशक्तिभेदाद् वैचित्र्यमिति भावः । सूत्रस्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अखण्ड एकरूप ब्रह्ममें जीवेश्वरभेद किस प्रकार है और उसके कार्योंकी विचित्रता किस प्रकार है, सूत्रकार दृष्टान्तप्रदर्शन द्वारा इस अनुपपत्तिका परिहार करते हैं—"अश्मादिवच्च" इत्यादिसे । किम्पाक—बड़ा ताड़का फल । तत्तत् कार्यसंस्काररूप अनादि शक्तियोंके भेदसे

भाष्य

केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्याणि भवन्ति । एवमेकस्याऽपि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इत्यतस्तदनुपपत्तिः—परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः । श्रुतेश्च प्रामाण्याद् विकारस्य च वाचारम्भणमात्रत्वात् । स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्यवच्चेत्यभ्युच्चयः ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

है और इसी प्रकार जैसे एकही अन्नरसके रुधिर आदि और केश, लोम आदि विचित्र कार्य होते हैं, उसी प्रकार एकही ब्रह्मका भी जीव और प्राज्ञरूपसे पृथक्त्व और कार्यवैचित्र्य उपपन्न होता है, इससे वह दोष अनुपपन्न है, पर परिकल्पित दोष अनुपपन्न ऐसा भावार्थ है । श्रुतिके प्रमाण होनेसे और विकारके केवल वागारम्भण-मात्र होनेसे स्वप्नमें दिखाई देनेवाले पदार्थोंके वैचित्र्यके समान ऐसा अभ्युच्चय है ॥ २३ ॥

रत्नप्रभा

चकारार्थमाह—श्रुतेश्चेति । ब्रह्म जीवगतदोषवत्, जीवाभिन्नत्वात्, जीववद् इत्यादि अनुमानं स्वतःप्रमाणनिरवद्यत्वादिश्रुतिबाधितम् । किञ्च, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविकारस्य मिथ्यात्वाद् जीवस्यैव तावद् दोषो नास्ति कुतो विम्बस्थानीयस्य अशेषविशेषदर्शिनः परमेश्वरस्य दोषप्रसक्तिः । यत्तु ब्रह्म न विचित्रकार्यप्रकृति, एकरूपत्वाद्, व्यतिरेकेण मृत्तन्त्वादिवद्, इति तन्न एकरूपे स्वप्नदृशीव विचित्रदृश्यवस्तुवैचित्र्यदर्शनेन व्यभिचारादित्यर्थः । तस्मात् प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि समन्वयस्य अविरोध इति सिद्धम् ॥२३॥ (७) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विचित्रता है, यह भाव है । सूत्रगत चकारका अर्थ कहते हैं—"श्रुतेश्च" इत्यादिसे । ब्रह्म जीवगतदोषयुक्त है, जीवसे अभिन्न होनेके कारण, जीवके समान, इत्यादि अनुमान स्वतः प्रमाण होनेसे निर्दुष्ट श्रुतिसे बाधित है । और कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विकारोंके मिथ्या होनेसे जब जीवमें ही दोष नहीं है, तब विम्बस्थानीय, सब विशेषोंको देखनेवाले परमेश्वरमें दोषका प्रसंग कहांसे होगा । यह जो कथन है कि ब्रह्म विचित्र कार्यका उपादान कारण नहीं है, एकरूप होनेसे, व्यतिरेकसे मृत्, तन्तु आदिके समान, वह ठीक नहीं है, क्योंकि एकरूप स्वप्नद्रष्टामें विचित्र दृश्य वस्तुओंकी विचित्रता देखनेमें आती है, इसलिए हेतुका व्यभिचार है । इससे सिद्ध हुआ कि जीवाभिन्न ब्रह्ममें वेदान्तसमन्वयका विरोध नहीं है ॥२३॥

[८ उपसंहारदर्शनाधिकरण २४—२५]

न संभवेत् संभवेद्वा सृष्टिरेकाद्वितीयतः ।
नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न सम्भवि ॥
अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चाऽविद्यासहायवत् ।
नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः* ॥२॥

सन्देह—एक अद्वितीय ब्रह्मसे सृष्टि हो सकती है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—विचित्र कार्योंकी क्रमसे उत्पत्ति एक कारणसे नहीं हो सकती है ।

सिद्धान्त—यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म एक ही है, तथापि वह अविद्याकी सहायतासे अनेक विचित्र कार्योंको उत्पन्न कर सकता है । और अविद्याकी शक्तियोंसे कार्यक्रमकी व्यवस्था हो सकती है ।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

पदच्छेद—उपसंहारदर्शनात्, न, इति, चेत्, न, क्षीरवत्, हि ।

पदार्थोक्ति—उपसंहारदर्शनात्—लोके कर्तुः कुलालस्य दण्डचक्राद्युपसंहारदर्शनात्, न—नासहायं ब्रह्म जगतः प्रकृतिर्निमित्तं वा, इति चेत्, न, क्षीरवद्धि—यथा क्षीरं अन्यानपेक्षं दध्याकारेण परिणमते तथा ब्रह्मापि [अन्यानपेक्षं जगत्सर्जनादि करोति] ।

भाषार्थ—लोकमें घटादि कार्योंके कर्ता कुलालका दण्ड, चक्र आदि सामग्रियोंको जुटाना दिखाई देता है, इसलिए असहाय ब्रह्म जगत्का उपादान या निमित्त कारण नहीं हो सकता, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे दूध अन्य पदार्थकी अपेक्षाके विना ही दही आदिके रूपसे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अन्यकी अपेक्षाके विना ही जगत्की सृष्टि आदि करता है ।

---

* तात्पर्य यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिसे ब्रह्म स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदोंसे रहित प्रतीत होता है । सृष्टव्य पदार्थ आकाश, वायु, अग्नि आदि तो विचित्र हैं । यदि कारण विचित्र न हो, तो कार्यमें विचित्रता नहीं आ सकती है । अन्यथा केवल दूध हीसे दही, तेल, आदि अनेक विचित्र कार्य उत्पन्न हो जाने चाहिएँ । श्रुतिसे आकाश आदिकी सृष्टिमें क्रम प्रतीत होता है । परन्तु क्रमका व्यवस्थापक कोई नहीं है । इसलिए अनेक कार्योंकी क्रमसे उत्पत्ति एक अद्वितीय ब्रह्मसे नहीं हो सकती ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यद्यपि वस्तुतः ब्रह्म एक ही है, तो भी 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (मायाको प्रकृति जानो, महेश्वरको मायावी जानो) इत्यादि श्रुति, युक्ति और

भाष्य

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते। कस्मात् ? उपसंहारदर्शनात्। इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्दण्डचक्रसूत्रसलिलाद्यनेककारकोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते। ब्रह्म चाऽसहायं तवाऽभिप्रेतं तस्य साधना-

भाष्यका अनुवाद

चेतन ब्रह्म, एक, अद्वितीय और जगत्का कारण है ऐसा जो कहा है वह उपपन्न नहीं होता। किससे ? इससे कि उपसंहार देखनेमें आता है। इस लोकमें घट, पट, आदिके कर्त्ता, कुलाल आदि मृत्तिका, दण्ड, चक्र, सूत, जल आदि अनेक प्रकारके साधनोंके सम्मेलनसे साधनयुक्त होकर उस उस कार्यको करते हुए दिखाई देते हैं। तुम्हारे मतमें ब्रह्म असहाय है, ऐसी परिस्थितिमें अन्य साध-

रत्नप्रभा

उपसंहारदर्शनादिति। असहायाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन् समन्वयो विषयः। स किं 'यदसहायं तन्न कारणम्' इति लौकिकन्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वमौपाधिकजीवभेदाद् ब्रह्मणि जीवदोषा न प्रसज्यन्ते इत्युक्तम्, सम्प्रति उपाधितोऽपि विभक्तस्य ब्रह्मण प्रेरकादिकं सहकारि नास्ति ईशनानात्वाभावादिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षसूत्रांशं व्याचष्टे—चेतनमित्यादिना। फलं पूर्ववत्। कारकाणाम् उपसंहारः—मेलनम्। उक्तन्यायस्य क्षीरादौ व्यभिचार इति सिद्धा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"उपसंहारदर्शनात्" इत्यादि। असहाय ब्रह्मसे जगत्की सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है। उक्त समन्वयका, जो असहाय है, वह कारण नहीं हो सकता इस लौकिक न्यायसे विरोध है, या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वाधिकरणमें औपाधिक जीवसे भेद होनेके कारण ब्रह्ममें जीवदोष प्रसक्त नहीं होंगे, ऐसा कहा है, अब उपाधिसे भिन्न भी ब्रह्मका प्रेरक आदि सहकारि पदार्थ कोई नहीं है, क्योंकि ईश्वर अनेक नहीं है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्षसूत्रके एक भागका व्याख्यान करते हैं—"चेतनम्" इत्यादिसे। पूर्वपक्ष और सिद्धान्तका फल पूर्वाधिकरणके समान समझना चाहिए। कारकोंका उपसंहार—मेलन। उक्त न्याय क्षीर

अनुभवोंसे ज्ञात होता है कि अविद्या उसकी सहायक है। यह शंका नहीं करनी चाहिए कि मायाका अंगीकार करनेसे द्वैतकी आपत्ति होगी, क्योंकि वास्तवमें द्वितीय पदार्थ नहीं है। इसलिए ब्रह्म एक होनेपर भी अविद्याकी सहायतासे अनेक कार्योंको करता है। यह बात नहीं है कि कार्यक्रमका कोई व्यवस्थापक नहीं है, क्योंकि अविद्याकी शक्तियाँ कार्यक्रमकी व्यवस्थापिका हैं। इससे सिद्ध है कि अद्वितीय ब्रह्मसे अनेक कार्योंकी क्रमसे सृष्टि होती है।

भाष्य

न्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्येत। तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत्, नैष दोषः। यतः क्षीरवद् द्रव्यस्वभावविशेषादुपपद्यते। यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमकरकादिभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनम्, तथेहापि भविष्यति। ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकम्। कथमुच्यते क्षीरवद्धीति? नैष दोषः। स्वयमपि हि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वार्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय। यदि च स्वयं दधिभावशीलता

भाष्यका अनुवाद

नोंके संग्रहके बिना वह स्रष्टा हो, यह कैसे उपपन्न हो सकता है। इसलिए ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है, ऐसा कहोगे तो हम कहते हैं कि यह दोष नहीं है, क्योंकि क्षीरके समान द्रव्यके स्वभाव विशेषसे उपपन्न होगा, जैसे लोकमें क्षीर या जल बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना स्वयं ही दही या बरफ बन जाता है, वैसे यहां भी होगा। परन्तु दूध आदि भी दही आदिके रूपमें परिणत होनेके लिए उष्णता आदि बाह्य साधनोंकी अपेक्षा रखते ही हैं। इसलिए 'क्षीरके समान, ऐसा क्यों कहा है? यह दोष नहीं है। क्षीर स्वयं ही जिस और जितनी परिणाममात्राको प्राप्त होता है, उष्णता आदि द्वारा भी उतनी ही परिणाममात्रा प्राप्त होती है, किन्तु उनसे उसमें दही बननेके लिए त्वराकी जाती है। यदि उसका स्वयं दधि बननेका स्वभाव न हो, तो

रत्नप्रभा

न्तयति—**नैष दोष इति**। शुद्धस्य ब्रह्मणोऽकारणत्वमिष्टमेव विशिष्टस्य ईश्वरस्य तु मायैव सहाय इति भावेनाऽऽह—**बाह्यमिति**। क्षीरस्याऽप्यातञ्चनादिसहायोऽस्तीत्यसहायत्वहेतोर्न व्यभिचार इत्याशङ्क्य सहायाभावेऽपि यस्य कस्यचित् परिणामस्य क्षीरे दर्शनाद्व्यभिचारतादवस्थ्यमित्याह—**नन्वित्यादिना**। तर्हि सहायो व्यर्थस्तत्राह—**त्वार्यते इति**। ननु त्वार्यते क्षीरं दधिभावाय शैघ्र्यं कार्यते इति किमर्थं

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिमें व्यभिचारित है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। शुद्ध ब्रह्मका कारण न होना इष्ट ही है, मायाविशिष्ट ईश्वरकी तो माया ही सहाय है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—"बाह्यम्" इत्यादिसे। क्षीरके जोरन डालना आदि सहाय हैं, इसलिए असहायत्व हेतुका व्यभिचार नहीं है, ऐसी आशंका कर कोई सहाय न रहने पर भी क्षीरका कुछ न कुछ परिणाम होता ही है, इसलिऐ व्यभिचार ज्योंका त्यों है, ऐसा कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। तब क्षीरके परिणामके लिए सहाय व्यर्थ है, इसपर कहते हैं—"त्वार्यते" इत्यादि। परन्तु

भाष्य

न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि बलाद् दधिभावमापद्येत । नहि वायुराकाशो वौष्ण्यादिना बलाद् दधिभावमापद्यते । साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता संपाद्यते । परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म न तस्याऽन्येन केनचित् पूर्णता संपादयितव्या । श्रुतिश्च भवति—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६।२) इति । तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद् विचित्रपरिणाम उपपद्यते ॥ २४ ॥

भाष्यका अनुवाद

उष्णता आदि बलात्कारसे उसे दहीके रूपमें परिणत नहीं कर सकते, क्योंकि वायु अथवा आकाशको उष्णता आदि बलात्कारसे दही कदापि नहीं बना सकते हैं। साधन सामग्रीसे उसकी पूर्णता होती है। परन्तु ब्रह्म तो परिपूर्ण शक्तिवाला है। उसकी पूर्णता अन्य किसीसे सम्पादित नहीं होती। श्रुति भी है—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते०' (उसके कार्य—शरीर या करण—नेत्र आदि इन्द्रियसमूह विद्यमान नहीं है, उसका तुल्य—सजातीय या उससे अधिक—विजातीय नहीं दीखता, शक्ति—मूल कारण माया—महान् और विविध ही सुनी जाती है और उसकी ज्ञानक्रिया और बलक्रिया स्वाभाविक है) इसलिए एक भी ब्रह्मका विचित्र शक्तिके योगसे दूध आदिके समान विचित्र परिणाम उपपन्न होता है ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

कल्प्यते, स्वतोऽशक्तं क्षीरं सहायेन शक्तं क्रियते इति किं न स्यात्? तत्राह—यदि चेति । शक्तस्य सहायसम्पदा किं कार्यमित्यत्राह—साधनेति । सहायविशेषाभावे कश्चिद्विकारः क्षीरस्य भवति, तत्र आतञ्चनप्रक्षेपौष्ण्याभ्यां तु उत्तमदधिभावसामर्थ्यं व्यज्यते इत्यर्थः । तर्हि शक्तिव्यञ्जकोऽपि सहायो ब्रह्मणो वाच्यः तत्राऽऽह—परिपूर्णेति । निरपेक्षमायाशक्तिकमित्यर्थः । तादृशशक्तौ मानमाह—श्रुतिश्चेति॥२४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'त्वार्यते' का क्षीर दधि होनेके लिए शीघ्रतायुक्त किया जाता है, ऐसे अर्थकी कल्पना क्यों की जाती है, स्वयं असमर्थ क्षीर सहायसे समर्थ किया जाता है, ऐसा अर्थ क्यों नहीं है, इसपर कहते हैं—"यदि च" इत्यादि । यदि क्षीर स्वयं समर्थ हो, तो उसको सहायकी क्यों आवश्यकता है, इसपर कहते हैं—"साधन" इत्यादि । सहायविशेष न हो, तो भी क्षीरका कोई विकार हो जाता है, परन्तु क्षीरको गरम करना, जोरन डालना आदिसे उत्तम दधि होनेकी सामर्थ्य उसमें व्यक्त की जाती है, ऐसा अर्थ है । तब शक्तिको व्यक्त करनेवाला कोई सहायक ब्रह्मके लिए भी कहना चाहिए, इसपर कहते हैं—"परिपूर्ण" इत्यादिसे । अन्यकी अपेक्षा न करनेवाली मायारूप शक्तिसे विशिष्ट है, ऐसा अर्थ है । ब्रह्मकी ऐसी शक्ति है, इस विषयमें प्रमाण कहते हैं—"श्रुतिश्च" इत्यादिसे ॥२४॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

पदच्छेद—देवादिवत्, अपि, लोके ।

पदार्थोक्ति—लोके—मन्त्रार्थवादेतिहासादौ, देवादिवत्—यथा देवाः, पितरः, ऋषय इत्येवमादयश्चेतना बाह्यं साधनमनपेक्ष्य सङ्कल्पमात्रेणैव नानाविधकार्यकर्तार उपलभ्यन्ते तद्वत् [ब्रह्म] अपि [असहायमेव जगदुपादानं कर्तृ च] ।

भाषार्थ—जैसे मंत्र, अर्थवाद, इतिहास आदिमें चेतन देवता, पितृगण, ऋषि आदि बाह्य साधनके बिना संकल्पमात्रसे ही अनेकविध कार्य करनेवाले उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी असहाय होकर ही जगत्का उपादान एवं निमित्तकारण होता है ।

भाष्य

स्यादेतत्, उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनामनपेक्ष्याऽपि बाह्यं साधनं दध्यादिभावः, दृष्टत्वात् । चेतनाः पुनः कुलालादयः साधनसामग्रीमपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमाना दृश्यन्ते । कथं ब्रह्म चेतनं सदसहायं प्रवर्तेतेति । देवादिवदिति ब्रूमः । यथा लोके देवाः, पितरः, ऋषय

भाष्यका अनुवाद

ठीक है, क्षीर आदि अचेतन पदार्थ बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना भी दहीके रूपमें परिणत हो सकते हैं क्योंकि ऐसा देखा गया है। परन्तु चेतन कुलाल आदि साधन सामग्रीकी अपेक्षा करके ही उस उस कार्यमें प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं, तो ब्रह्म चेतन होकर साधनसामग्रीके बिना किस प्रकार प्रवृत्त होगा ? हम कहते हैं कि देवता आदिके समान। जैसे लोकमें देवता, पितर,

---

रत्नप्रभा

ननु ब्रह्म न कारणं चेतनत्वे सति असहायत्वाद् मृदादिशून्यकुलालादिवदिति न क्षीरादौ व्यभिचार इति सूत्रव्यावर्त्यां शङ्कामाह—**स्यादेतदिति** । तस्याऽपि हेतोः देवादौ व्यभिचार इत्याह—**देवादिवदिति** । लोक्यते ज्ञाप्यतेऽर्थोऽनेनेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म कारण नहीं है, चेतन होकर असहाय होनेसे, मृत्तिका आदिसे रहित कुलाल आदिके समान, इस अनुमानका क्षीर आदिमें व्यभिचार नहीं होता है, इस प्रकार सूत्रसे निवर्तनीय शंकाको कहते हैं—''स्यादेतत्'' इत्यादिसे । उक्त हेतुका भी देवता आदिमें व्यभिचार है, ऐसा

भाष्य

इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्बाह्यं साधनमैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात्। तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून् सृजति, बलाका चाऽन्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते, पद्मिनी च, अनपेक्ष्य किंचित्प्रस्थानसाधनं सरोन्तरात् सरोन्तरं प्रतिष्ठते एवं चेतनमपि ब्रह्माऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव जगत्स्रक्ष्यति। स यदि ब्रूयाद्य एते देवादयो ब्रह्मणो दृष्टान्ता

भाष्यका अनुवाद

ऋषि आदि महाप्रभाव चेतन होते हुए भी किसी भी बाह्य साधनकी अपेक्षा न करके ऐश्वर्य्य विशेषके सम्बन्धसे केवल सङ्कल्पमात्रसे अपने आपही विभिन्न आकारवाले अनेक शरीर, प्रासाद आदि और रथ आदिका निर्माण करते हुए उपलब्ध होते हैं, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणोंसे यह प्रमाणित होता है। और मकड़ी अपने आप ही तन्तु उत्पन्न करती है, बगुली शुक्र—वीर्यके बिना ही गर्भधारण करती है, पद्मिनी भी किसी गमनसाधनकी अपेक्षाके बिना एक तालाबसे दूसरे तालाबको जाती है, इस प्रकार चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना अपने आप ही जगत्‌की सृष्टि करेगा। वह यदि ऐसा कहे कि ब्रह्मके जो देवता आदि दृष्टान्तरूपसे उप-

---

रत्नप्रभा

लोको मन्त्रार्थवादादिशास्त्रं वृद्धव्यवहारश्च। अभिध्यानम्—संकल्पः। ननु देवाद्यूर्णनाभान्तदृष्टान्तेषु शरीरेषु चेतनत्वं नास्ति, बलाकापद्मिनीचेतनयोः गर्भप्रस्थानकर्तृत्वे मेघशब्दः शरीरं च सहायोऽस्ति, अतो विशिष्टहेतोः न व्यभिचार इति शङ्कते—स यदि ब्रूयादित्यादिना। व्यभिचारोऽस्ति इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"देवादिवत्" इत्यादिसे। अर्थ जिससे ज्ञात होता है, वह लोक अर्थात् मंत्र, अर्थवाद आदि शास्त्र और वृद्धोंका व्यवहार, अभिध्यान-संकल्प। परन्तु देवता आदिसे लेकर ऊर्णनाभ तक दृष्टान्तोंमें शरीरोंमें चैतन्य नहीं है, बलाका और पद्मिनी यद्यपि चेतन हैं, तो भी बलाकाके गर्भधारणमें मेघका शब्द सहायक है, पद्मिनीके गमनमें शरीर सहायक है, इसलिए उक्त हेतुका व्यभिचार नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"स यदि ब्रूयात्" इत्यादिसे। व्यभिचार

भाष्य

उपात्तास्ते दार्ष्टान्तिकेन ब्रह्मणा न समाना भवन्ति, शरीरमेव ह्यचेनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादने उपादानं न तु चेतन आत्मा, तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भवति। बलाका च स्तनयित्नुरवश्रवणाद्गर्भं धत्ते। पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सत्यचेतनेनैव शरीरेण सरोन्तरात् सरोन्तरमुपसर्पति वल्लीव वृक्षम्, न तु स्वयमेवाऽचेतना सरोन्तरोपसर्पणे व्याप्रियते, तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ता इति। तं प्रति ब्रूयान्नायं दोषः, कुलालादिदृष्टान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षित-

भाष्यका अनुवाद

स्थित किये गये हैं उनकी दार्ष्टान्तिक ब्रह्मके साथ समता नहीं है, क्योंकि देवता आदि का अचेतन शरीर ही अन्य शरीर आदि विभूति उत्पन्न करनेमें उपादान होता है, चेतन आत्मा उपादान नहीं है, मकड़ा क्षुद्रतर जन्तुओंका भक्षण करता है, इससे उसकी राल कठिन होकर तन्तु बन जाती है। बगुली मेघगर्जन सुनकर गर्भ धारण करती है। पद्मिनी भी जैसे बेल एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर जाती है वैसे ही चेतनसे प्रयुक्त होकर अचेतन शरीरसे ही एक तालाबसे दूसरे तालाबको जाती है। परन्तु स्वयं अचेतन ही अन्य तालाबमें जानेका व्यापार नहीं करती, इसलिए ये ब्रह्मके दृष्टान्त नहीं हैं, ऐसा जो कहे, उसके प्रति कहना चाहिये कि यह दोष नहीं है, क्योंकि कुलाल आदि दृष्टान्तोंका वैलक्षण्यमात्र विवक्षित है।

रत्नप्रभा

तं प्रति ब्रूयादिति। अयं दोषः दृष्टान्तवैषम्याख्यः। अत्र हि हेतौ चेतनत्वम् अहंधीविषयत्वरूपं चित्तादात्म्यापन्नदेहसाधारणं ग्राह्यम्, न तु मुख्यात्मत्वम्, तव कुलालदृष्टान्ते साधनवैकल्यापत्तेः। असहायत्वं च चेतनस्य स्वातिरिक्तहेतुशून्यत्वम्, तदुभयं देवादिषु अस्तीति व्यभिचारः, देहस्य स्वान्तःपातित्वेन स्वातिरिक्तत्वाभावात्। तथा च कुलालवैलक्षण्यं देवादीनाम्, घटादिकार्ये स्वातिरिक्तान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिखलाते हुए उक्त आशंकाका परिहार करते हैं—"तं प्रति ब्रूयात्" इत्यादिसे। यह दोष—दृष्टान्तविषमतारूप दोष। उक्त हेतुमें चेतनत्व मुख्य आत्मत्व नहीं है, किन्तु 'अहं' इस बुद्धिक विषयतारूप चित्के तादात्म्यको प्राप्त देहमें भी रहनेवाला चेतनत्व है, अन्यथा पूर्वपक्षीसे कथित कुलालरूप दृष्टान्तमें भी हेतु नहीं रहेगा। चेतनका असहायत्व अपनेसे भिन्न साधनशून्यत्व है, इस प्रकार चेतनत्व और असहायत्व, दोनों देवता आदिमें हैं, इसलिए व्यभिचार है, क्योंकि देह भी स्वपदार्थके अन्तर्गत होनेसे स्वातिरिक्त नहीं है। इस प्रकार देवता आदि

भाष्य

त्वादिति । यथा हि कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, तथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनमपेक्षिष्यत इत्येतावद् वयं देवाद्युदाहरणेन विवक्ष्यामः । तस्माद् यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्हतीति नास्त्येकान्त इत्यभिप्रायः ॥ २५ ॥

भाष्यका अनुवाद

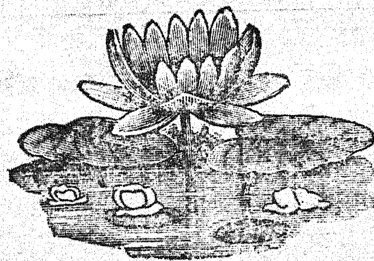
जैसे कुलाल आदि और देवता आदिमें चेतनत्व समान है, तो भी कुलाल आदि कार्य आरम्भ करनेमें बाह्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं, देवता आदि नहीं रखते, वैसे ही ब्रह्म चेतन है, तो भी बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रक्खेगा, इतना ही हम देवता आदि उदाहरणोंसे कहना चाहते हैं। इसलिए जैसे एककी सामर्थ्य देखी गई है, वैसी ही सबकी सामर्थ्य हो, ऐसा नियम नहीं है, यह अभिप्राय है ॥२५॥

रत्नप्रभा

पेक्षत्वाद्, देववैलक्षण्यं ब्रह्मणः देहस्याऽपि अनपेक्षणात्, नरदेवादीनां कार्यारम्भे नास्ति एकरूपा सामग्री । श्रूयते हि महाभारते श्रीकृष्णस्य संकल्पमात्रेण द्रौपद्याः पटपरम्परोपत्तिः । अतः सिद्धम् असहायस्याऽपि ब्रह्मणः कारणत्वम् ॥२५॥ (८)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कुम्हारसे विलक्षण है, क्योंकि उनके घट आदि कार्यमें अपनेसे अतिरिक्त किसी भी पदार्थकी अपेक्षा नहीं है, और ब्रह्म देवताओंसे भी विलक्षण है, क्योंकि उसको देहकी भी अपेक्षा नहीं है, इसलिए मनुष्य, देवता आदिके कार्यमें सामग्री एकरूप नहीं होती है। महाभारतमें सुना जाता है कि श्रीकृष्ण भगवान्‌के संकल्पमात्रसे द्रौपदीकी वस्त्रपरम्परा उत्पन्न हो गई थी। इससे सिद्ध हुआ कि असहाय भी ब्रह्म जगत्‌का कारण है ॥२५॥



[९ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण सू० २६—२९]

न युक्तो युज्यते वाऽस्य परिणामो न युज्यते ।
कार्त्स्न्याद् ब्रह्मानित्यतास्तेरंशात्सावयवं भवेत् ॥१॥
मायाभिर्बहुरूपत्वं न कार्त्स्न्यान्नापि भागतः ।
युक्तोऽनवयवस्याऽपि परिणामोऽत्र मायिकः* ॥२॥

सन्देह—ब्रह्मका परिणाम होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—यदि ब्रह्मका सम्पूर्णरूपसे परिणाम हो, तो ब्रह्म अनित्य हो जायगा, और यदि अंशतः परिणाम हो, तो सावयव हो जायगा, इसलिए ब्रह्मका परिणाम नहीं होता है ।

सिद्धान्त—ब्रह्मकी मायासे बहुरूपता होती है, सम्पूर्णरूपसे एवं अंशतः नहीं होती । मायासे निरवयव ब्रह्मका भी परिणाम युक्त ही है ।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

पदच्छेद—कृत्स्नप्रसक्तिः, निरवयवत्वशब्दकोपः, वा ।

पदार्थोक्ति—कृत्स्नप्रसक्तिः—निरवयवब्रह्मपरिणामे कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्याकारेण परिणामप्रसक्तिः, निरवयवत्वशब्दकोपो वा—एकांशपरिणामे 'निष्कलम्' इत्यादिनिरवयवत्वशब्दकोपः [उभयथापि अनित्यत्वापत्त्या ब्रह्म नोपादानं भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—यदि निरवयव ब्रह्मका परिणाम हो तो सम्पूर्ण ब्रह्मका कार्यरूपसे परिणाम प्रसक्त होगा, और यदि एक अंशसे परिणाम हो, तो ब्रह्मके सावयव होनेसे 'निष्कलम्' इत्यादि ब्रह्मको निरवयव प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंका विरोध होगा, दोनों प्रकारसे ब्रह्म अनित्य हो जायगा, इसलिए ब्रह्म जगत्का उपादान कारण नहीं हो सकता ।

---

* तात्पर्य यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि आरम्भणाधिकरणमें कार्य और कारणका अभेद प्रतिपादित है । इससे मालूम होता है वैशेषिक आदिके समान ब्रह्मवादी आरम्भवादको नहीं मानते हैं, किन्तु क्षीरदधिन्यायसे परिणामवादको मानते हैं ब्रह्मका यदि संपूर्णरूपसे परिणाम हो जाय, तो वह क्षीर आदिके समान अनित्य हो जायगा । और यदि एकदेशसे परिणाम हो, तो सावयव हो जायगा, इसलिए ब्रह्मका परिणाम होना युक्त नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (परमेश्वर मायाशक्तियोंसे अनेक रूपवाला होता है) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि मायाशक्तिसे अनायास ब्रह्मका जगद्रूपसे परिणाम होता है । इस परिणामके वास्तविक न होनेसे संपूर्णरूपसे परिणत होता है या एकदेशसे इत्यादि विकल्पका अवसर ही नहीं है । इसलिए ब्रह्मका एतादृश परिणाम युक्त है ।

भाष्य

चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद् देवादिवच्चाऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम् । शास्त्रार्थपरिशुद्धये तु पुनराक्षिपति—कृत्स्नप्रसक्तिः, कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति, निरवयवत्वात् । यदि ब्रह्म पृथिव्यादिवत् सावयवमभविष्यत् ततोऽस्यैकदेशः पर्यणंस्यदेकदेशश्चाऽवास्थास्यत्, निरवयवं तु ब्रह्म श्रुति-

भाष्यका अनुवाद

चेतन एक अद्वितीय ब्रह्म दूध आदिके और देवता आदिके समान बाह्य साधनोंकी अपेक्षा किये बिना ही स्वयं परिणत होता हुआ जगत्का कारण है, ऐसा निष्कर्ष है। परन्तु शास्त्रार्थके स्पष्टीकरणके लिये फिर आक्षेप करते हैं। कृत्स्नप्रसक्ति अथात् यदि ब्रह्मको जगत्का कारण मानें, तो समस्त ब्रह्म कार्यरूप में परिणत होता है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि वह निरवयव है। पृथिवी आदिके समान यदि ब्रह्म सावयव होता, तो उसके एक देशका परिणाम होता और एक देश ज्योंका त्यों बना रहता। परन्तु ब्रह्म तो निरवयव है, ऐसा श्रुतियोंसे प्रतीत

रत्नप्रभा

कृत्स्नप्रसक्तिरिति । क्षीरदृष्टान्तेन ब्रह्म परिणामि इति भ्रमोत्पत्त्या पूर्वपक्षे प्राप्ते शास्त्रार्थो विवर्तः, न परिणाम इति निर्णयार्थम् इदम् अधिकरणमिति पूर्वाधिकरणेन उत्तराधिकरणस्य कार्यत्वं सङ्गतिमाह—**चेतनमिति** । निरवयवाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विषयः, स किं यत् निरवयवं तन्न परिणामीति न्यायेन विरुध्यते न वेति ? सन्देहे विरुध्यते इति पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—**कृत्स्नेति** । ब्रह्म परिणामीति वदता वक्तव्यं ब्रह्म निरवयवं सावयवं वा ? आद्ये सर्वस्य ब्रह्मणः परिणामात्मना स्थितिः स्यादित्युक्तं व्यतिरेकदृष्टान्तेन विवृणोति—**यदि**

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कृत्स्नप्रसक्तिः" इत्यादि । दूधके दृष्टान्तसे ब्रह्म परिणामी है, इस प्रकार भ्रमकी उत्पत्ति होनेसे पूर्वपक्षप्राप्ति होनेपर वेदान्तसिद्धान्त विवर्तवाद है परिणामवाद नहीं है, ऐसा निर्णय करनेके लिए यह अधिकरण है। इस प्रकार पूर्वाधिकरणके साथ इस अधिकरणकी कार्यत्वरूप संगति कहते हैं—"चेतनम्" इत्यादिसे । निरवयव ब्रह्मसे जगत्की सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है, उक्त समन्वयका जो निरवयव है, वह परिणामी नहीं है, इस न्यायसे विरोध होता है या नहीं ? ऐसा सन्देह होनेपर विरोध-प्रतिपादक पूर्वपक्ष सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"कृत्स्न" इत्यादिसे । ब्रह्मको परिणामी कहनेवालेको कहना चाहिए कि ब्रह्म निरवयव है अथवा सावयव है ? यदि निरवयव, हो तो सम्पूर्ण ब्रह्मकी परिणामरूपसे स्थिति होगी, ऐसा जो कहा है, उसका व्यतिरेक दृष्टान्तसे

भाष्य

भ्योऽवगम्यते—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२), 'इदं महद् भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृ० २।४।१२), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविशेषप्रतिषेधिनीभ्यः। ततश्चैकदेशपरिणामासम्भवात् कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलोच्छेदः प्रसज्येत। द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यं चाऽऽपद्येत, अयत्नदृष्टत्वात् कार्यस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य च ब्रह्मणोऽसम्भवात्,

भाष्यका अनुवाद

होता है—'निष्कलं निष्क्रियं०' (ब्रह्म अवयवरहित, क्रियाशून्य शान्त दोषरहित निरञ्जन है) दिव्यो ह्यमूर्त्त पुरुषः०' (यह अक्षरपुरुष दिव्य है, मूर्तिरहित है, बाह्य और आभ्यन्तरमें वर्तमान और जन्मरहित है) 'इदं महद् भूतमनन्तमपारं० (यह महान् है, परिनिष्पन्न है, अनन्त है, अपार है, विज्ञानघन ही है) 'स एष नेति०' (जो नहीं नहीं इस प्रकार निषेध द्वारा निर्दिष्ट है, वह आत्मा है) 'अस्थूलमनणु०' (जो न स्थूल है, न अणु है) इत्यादि श्रुतियां सब उपाधियोंका निषेध करती हैं। इसलिए एक देशके परिणामका असम्भव होनेसे समस्त ब्रह्मके परिणामकी प्राप्ति होनेपर मूलका ही उच्छेद हो जायगा और ब्रह्मका साक्षात्कार करना चाहिए, यह उपदेश ही निरर्थक हो जायगा, क्योंकि कार्य तो बिना प्रयत्नके दिखाई देता है और कार्यसे अतिरिक्त ब्रह्मका सम्भव

रत्नप्रभा

ब्रह्मेत्यादिना। पर्यणंस्यत्—परिणतोऽभविष्यत्, एकदेशश्च अवास्थास्यद्—अपरिणतोऽभविष्यत्। उक्तश्रुतिभ्यो निरवयवत्वसिद्धेः फलितं दोषमाह—**ततश्चेति**। यदा परिणामव्यतिरेकेण मूलब्रह्मात्मा नाऽस्ति तदाऽऽत्मा द्रष्टव्य इत्युपदेशोऽर्थशून्यः स्यादिति दोषान्तरमाह—**द्रष्टव्यतेति**। ब्रह्मणः परिणामात्मना जन्मनाशाङ्गीकारे "अजोऽमरः" (बृ०४।४।२५) इति श्रुतिविरोधः

रत्नप्रभाका अनुवाद

विवरण करते हैं—"यदि ब्रह्म" इत्यादिसे। पर्यणंस्यत्—परिणत होता, एकदेशश्चाऽवास्थास्यत्—एकदेश परिणत न होता। उक्त श्रुतियोंसे निरवयवत्वकी सिद्धि होनेपर फलित दोष कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे। जब परिणामके अतिरिक्त मूल ब्रह्म नहीं है, तब 'आत्मा द्रष्टव्यः' (आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) यह उपदेश अनर्थक हो जायगा, इस प्रकार अन्य दोष कहते हैं—"द्रष्टव्य" इत्यादिसे। परिणामरूपसे ब्रह्मका जन्म और

भाष्य

अजत्वादिशब्दव्याकोपश्च । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया सावयवमेव ब्रह्मा-ऽभ्युपगम्येत, तथापि ये निरवयवत्वस्य प्रतिपादकाः शब्दा उदाहृतास्ते प्रकुप्येयुः । सावयवत्वे चाऽनित्यत्वप्रसङ्ग इति सर्वथाऽयं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्याक्षिपति ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

नहीं है। उसी प्रकार श्रुतिमें ब्रह्मके लिए जो अज आदि शब्दोंका प्रयोग है वह बाधित हो जायगा। यदि इस दोषका परिहार करनेकी इच्छासे ब्रह्मको सावयव ही मानें, तो एक तो ब्रह्मको निरवयव कहनेवाली पूर्वोद्धृत श्रुतियोंका बाध हो जायगा। दूसरे, सावयवत्व माननेसे ब्रह्ममें अनित्यता प्राप्त हो जायगी। इसलिए यह पक्ष किसी प्रकार भी नहीं घट सकता, पूर्वपक्षी इस प्रकार आक्षेप करता है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

च इत्याह—**अजत्वादीति** । सावयवत्वपक्षम् आशङ्क्य सूत्रशेषेण परिहृति—**अथेत्यादिना** ॥२६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नाश अंगीकार करनेसे 'अजोऽमरः' (जन्मरहित है, मरणरहित है) इस श्रुतिसे विरोध भी होगा, ऐसा कहते हैं—"अजत्वादि" इत्यादिसे। सावयवत्वकी आशंका कर सूत्रशेषसे परिहार करते हैं—"अथ" इत्यादिसे ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—श्रुतेः, तु, शब्दमूलत्वात् ।

पदार्थोक्ति—तुः–पूर्वपक्षनिरासार्थः, श्रुतेः–ब्रह्मणो जगदुपादानत्वश्रवणात् 'तावानस्य महिमा' इत्यादौ कार्यव्यतिरेकेण सत्ताश्रवणात् [न कृत्स्नप्रसक्तिः]। शब्दमूलत्वात्–ब्रह्मणः शब्दैकप्रमाणत्वात् [न युक्त्या श्रुतेर्बाधः सम्भवति, अतो यथाश्रुति ब्रह्मणः कार्योपादानत्वं तद्व्यतिरेकेण सत्त्वं चाऽविरुद्धम्]।

भाषार्थ—तुशब्द पूर्वपक्षके निरासके लिए है। श्रुतिमें ब्रह्म जगत्का उपादानकारण कहा गया है। 'तावानस्य महिमा' (उतनी उसकी महिमा है) इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मकी कार्यसे पृथक् सत्ता कही गई है, अतः ब्रह्मकी सर्वात्मना कार्यरूपमें परिणति नहीं हो सकती। पूर्वोक्त युक्तिसे श्रुतिका बाध नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म श्रुतिमूलकही है अतः श्रुतिके अनुसार ब्रह्मका जगदुपादान होना और जगत्से पृथक् रहना अविरुद्ध है।

भाष्य

तुशब्देनाऽऽक्षेपं परिहरति । न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति । न तावत् कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति । कुतः ? श्रुतेः । यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत एवं विकारव्यतिरेकेणाऽपि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात् 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति,

'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥'

भाष्यका अनुवाद

तु शब्दसे सूत्रकार आक्षेपका परिहार करते हैं । वास्तवमें हमारे पक्षमें कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि हमारे पक्षमें सम्पूर्ण ब्रह्मकी कार्यरूपमें परिणत होने की नौबत नहीं आती । किससे ? श्रुतिसे । जिस प्रकार जगत्की उत्पत्ति श्रुतिमें वर्णित है, उसी प्रकार विकारसे भिन्नरूपसे ब्रह्मकी अवस्थिति श्रुतिमें कही गई है, क्योंकि प्रकृति और विकारका भेदसे व्यपदेश किया है—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमा०' (उस देवताने विचार किया कि मैं इन तीन देवताओंमें इस जीवात्मा द्वारा अनुप्रवेश करके नामरूपका स्पष्टीकरण करूँ) और 'तावानस्य महिमा ततो०' (इस गायत्री संज्ञक ब्रह्मकी इतनी महिमा है, पुरुष इससे भी महान् है, सम्पूर्ण प्राणी इसका एक पाद और उसके निर्विकार तीन पाद स्वप्रका-

---

रत्नप्रभा

परिणामपक्षो दुर्घट इति यदुक्तम्, तत् अस्मदिष्टम् एव इति विवर्तवादेन सिद्धान्तयति—**श्रुतेरिति** । स्वपक्षे पूर्वोक्तदोषद्वयं नास्तीति सूत्रयोजनया दर्शयति—**तुशब्देनेत्यादिना** । ईक्षितृत्वेन व्याकर्तृत्वेन च ईक्षणीयव्याकर्तव्यप्रपञ्चात् पृथगीश्वरसत्त्वश्रुतेर्न कृत्स्नप्रसक्तिरित्याह—**सेयं देवतेति** । न्यूनाधिकभावेनाऽपि पृथ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परिणाम पक्ष दुर्घट है ऐसा जो तुमने कहा है वह हमें इष्ट ही है इस अभिप्रायसे सूत्रकार विवर्तवादसे सिद्धान्त करते हैं—"श्रुतेः" इत्यादिसे । अपने पक्षमें पूर्वोक्त दोनों दोषोंमेंसे एक भी नहीं है इस बातको सूत्रकी योजना द्वारा दिखलाते हैं—"तुशब्देन" इत्यादिसे । द्रष्टा और व्याकर्ताके रूपसे ईश्वरकी ईक्षण और स्पष्टीकरणके योग्य प्रपञ्चसे पृथक् सत्ता श्रुतिमें कही गई है, अतएव ईश्वरका सर्वात्मना परिणाम नहीं होता, ऐसा कहते हैं—"सेयं देवता" इत्यादिसे । श्रुतिमें जगत् ब्रह्मका एक अंश कहा गया है इससे भी ब्रह्मकी

भाष्य

(छा० ३।१२।६) इति चैवंजातीयकात् । तथा हृदयायतनत्ववचनात् सत्सम्पत्तिवचनाच्च । यदि च कृत्स्नं ब्रह्म कार्यभावेनोपयुक्तं स्यात् 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति सुषुप्तिगतं विशेषणमनुपपन्नं स्यात्, विकृतेन ब्रह्मणा नित्यसम्पन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात्, तथेन्द्रियगोचरत्वप्रतिषेधाद् ब्रह्मणो विकारस्य चेन्द्रियगोचरत्वोपपत्तेः, तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म । न च निरवयवत्वशब्दव्याको-

भाष्यका अनुवाद

शस्वरूपमें स्थित हैं) इस प्रकारका व्यपदेश है । और हृदय ब्रह्मका स्थान कहा गया है और सत्के साथ ब्रह्मकी एकता कही गई है। यदि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्यरूपमें परिणत हो जाय, तो 'सता सोम्य ! तदा०' (हे सोम्य ! तब जीव सता—परमात्माके साथ एकीभूत हो जाता है) इस प्रकार सुषुप्ति सम्बन्धी विशेषण अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि विकृत—विकारको प्राप्त ब्रह्म नित्य प्राप्त है और अविकृत ब्रह्म है ही नहीं जिसे वह प्राप्त करे। दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म इन्द्रियका अविषय भी कहा गया है और विकार इन्द्रियगोचर हो सकता है, इससे सिद्ध हुआ कि अविकृत ब्रह्म अवश्य है। ब्रह्मको निरवयव कहनेवाली

रत्नप्रभा

क्वसत्त्वं श्रुतमित्याह—तावानिति। इतश्च अस्ति अविकृतं ब्रह्मेत्याह—**तथेति**। "स वा एष आत्मा हृदि" (छा० ८।३।३) इति श्रुतेरस्ति दृश्यातिरिक्तं ब्रह्म। तदेति सुषुप्तिकालरूपविशेषणाच्चेत्यर्थः। लिङ्गान्तरमाह—**तथेन्द्रियेति**। भूम्यादेर्विकारस्येन्द्रियगोचरत्वात् "न चक्षुषा गृह्यते" (मु० ३।१।८) इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणस्तत्प्रतिषेधादवाङ्मनसगोचरत्वश्रुतेश्चाऽस्ति कूटस्थं ब्रह्मेत्यर्थः। कृत्स्नप्रसक्तिदोषो नास्ति

रत्नप्रभाका अनुवाद

पृथक् सत्ता है, ऐसा कहते हैं—"तावान्" इत्यादिसे। ब्रह्म अविकारी है इसमें यह भी प्रमाण है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। 'स वा एष आत्मा हृदि' (वह आत्मा हृदयमें है ऐसी श्रुति है इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्म दृश्य प्रपञ्चसे भिन्न है। 'तदा'—सुषुप्तिकालमें। सुषुप्तिकालरूप विशेषण होनेसे भी ब्रह्म प्रपञ्चसे भिन्न है। अविकृत ब्रह्मकी पृथक् सत्ता सिद्ध करनेके लिए दूसरे हेतु उपस्थित करते हैं—"तथेन्द्रिय" इत्यादिसे। भूमि आदि विकार इन्द्रियगोचर हैं, किन्तु 'न चक्षुषा गृह्यते' (नेत्रसे ब्रह्मका दर्शन नहीं होता) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मके इन्द्रियगोचरत्वका निषेध किया गया है और ब्रह्म वाणी और मनका अगोचर है ऐसी दूसरी श्रुति भी है, अतएव कूटस्थ—अविकारी ब्रह्मका पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है। इस प्रकार ब्रह्मका सर्वथा परिणाम होनेका दोष नहीं है ऐसा

भाष्य

पोऽस्ति, श्रूयमाणत्वादेव निरवयवत्वस्याऽप्यभ्युपगम्यमानत्वात् । शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम् । शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च । लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते, ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन

भाष्यका अनुवाद

श्रुतिका बाध नहीं होता, क्योंकि श्रुतिप्रमाणसे ही निरवयवत्वका स्वीकार किया जाता है और श्रुतिमूलक ब्रह्ममें श्रुति ही प्रमाण है, इन्द्रिय आदि प्रमाण नहीं हैं, इसलिए श्रुतिके अनुसार उसका स्वीकार करना चाहिए । श्रुति समस्त ब्रह्मका कार्यरूपमें परिणाम और निरवययत्व दोनोंका प्रतिपादन करती है । लौकिक मणि, मंत्र, ओषधि आदिकी शक्तियां भी काल और निमित्तकी विलक्षणतासे परस्पर विरुद्ध अनेक कार्योंको करती हुई दिखाई देती हैं । वे शक्तियां भी उपदेश

रत्नप्रभा

इति उक्त्वा द्वितीयदोषोऽपि नास्तीत्याह—**न चेति** । ननु ब्रह्म कार्यात्मनाऽप्यस्ति, पृथगप्यस्ति चेत् सावयवत्वं दुर्वारम्, निरवयवस्यैकस्य द्विधा सत्त्वायोगात्, अतो यद् द्विधाभूतं तत्सावयवमिति तर्कविरुद्धं ब्रह्मणो निरवयवत्वमिति विवर्तम् अजानतः शङ्कां गूढाशय एव परिहरति--**शब्दमूलश्चेति** । यदा लौकिकानां प्रत्यक्षदृष्टानामपि शक्तिः अचिन्त्या तदा शब्दैकसमधिगम्यस्य ब्रह्मणः किमु वक्तव्यम् । अतो ब्रह्मणो निरवयवत्वं द्विधाभावश्च इत्युभयं यथाशब्दम् अभ्युपन्तव्यम्, न तर्केण बाधनीयमित्यर्थः, प्रकृतिभ्यः प्रत्यक्षदृष्टवस्तुस्वभावेभ्यो यत्परं विलक्षणं केवलोपदेशगम्यं तदचिन्त्यस्वरूपमिति स्मृत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहकर अन्य दोष भी नहीं है ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि ब्रह्म कार्यरूपसे भी है और पृथक् भी है ऐसा यदि कहो तो उसमें सावयत्व दोषका निराकरण करना कठिन हो जायगा, क्योंकि निरवयव एक पदार्थ दो रूपसे रहे यह संभव नहीं है । जो दो रूपसे रहता है वह सावयव है इस युक्तिसे ब्रह्मको निरवयव कहना विरुद्ध है विवर्तवाद न जाननेवालेकी इस शङ्काका आचार्य गूढ़ अभिप्रायसे परिहार करते हैं—"शब्दमूलं च" इत्यादिसे । जब प्रत्यक्ष दृष्ट लौकिक पदार्थोंकी भी शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं तब केवल श्रुति से जानने योग्य ब्रह्मकी शक्ति अचिन्त्य हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ! इसलिये ब्रह्मका निरवयव होना और दो रूपसे रहना जैसा श्रुति कहती है वैसेही स्वीकार करना चाहिए । इस विषयमें तर्कसे बाधा उपस्थित नहीं करनी चाहिए । प्रकृतिसे अर्थात्

भाष्य

तर्केणाऽवगन्तुं शक्यन्तेऽस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एत-त्प्रयोजनाश्च शक्तय इति । किमुताऽचिन्त्यप्रभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत । तथा चाऽऽहुः पौराणिकाः—

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥' इति ।

तस्मात् शब्दमूल एवाऽतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः । ननु शब्दे-नाऽपि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं निरवयवं च परिण-ब्रह्म परिणमते न च कृत्स्नमिति । यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव मेत । कृत्स्नमेव वा परिणमेत। अथ केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिच्चाऽ-वतिष्ठेतेति रूपभेदकल्पनात् सावयवमेव प्रसज्येत। क्रियाविषये हि 'अति-

भाष्यका अनुवाद

के बिना केवल तर्कसे ज्ञात नहीं हो सकतीं कि इस वस्तुकी इतनी शक्तियाँ हैं, उनके ये सहायक हैं, उनका यह काम है और यह प्रयोजन है। तो जिसका प्रभाव अचिन्त्य है, उस ब्रह्मके रूपका श्रुतिके उपदेशके बिना निरूपण नहीं हो सके, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। पौराणिक भी कहते हैं—'अचिन्त्याः खलु ये भावा०' (जो पदार्थ अचिन्त्य हैं, उन्हें तर्ककी कसौटीमें नहीं कसना चाहिए, जो प्रकृतिसे पर है, वही अचिन्त्य है) इत्यादि। इसलिए अतीन्द्रिय अर्थके यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति श्रुतिमूलक ही है। परन्तु निरवय ब्रह्मका परिणाम होता है, किन्तु सम्पूर्ण ब्रह्म परिणत नहीं होता ऐसे विरुद्ध अर्थकी प्रतीति श्रुति भी नहीं करा सकती। यदि ब्रह्म निरवयव है तो उसका परिणाम ही नहीं होगा, होगा तो सम्पूर्णका होगा। यदि कुछ रूपसे ब्रह्मका परिणाम होता है और कुछसे वह अवस्थित रहता है यह माना जाय, तो रूपभेदकी कल्पनासे ब्रह्म सावयव सिद्ध हो जायगा। क्रियाके सम्बन्ध

रत्नप्रभा

आशयानवबोधेन शङ्कते—ननु शब्देनाऽपीति । यद्वा, ब्रह्म परिणामि इत्ये-कदेशिनामियं सिद्धान्तसूत्रव्याख्या दर्शिता, तामाक्षिपति—नन्विति। शब्दस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तुस्वभावसे जो पर अर्थात् विलक्षण है अर्थात् केवल उपदेशगम्य है, वह अचिन्त्य स्वरूप है यह श्रुतिका अर्थ है। आशयको ठीक-ठीक न समझकर पूर्वपक्षी शंका करता है—"ननु शब्देनापि" इत्यादिसे। अथवा सिद्धान्तसूत्रकी एकदेशीकी 'ब्रह्म परिणामी है' ऐसी व्याख्या दिखलाकर उसपर आक्षेप करता है—"ननु" इत्यादिसे। योग्यताके ज्ञानकी शब्दको अपेक्षा होनेसे,

भाष्य

रात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येवंजातीयकायां विरोधप्रतीतावपि विकल्पाश्रयणं विरोधपरिहारकरणं भवति, पुरुषतन्त्रत्वाच्चाऽनुष्ठानस्य। इह तु विकल्पाश्रयणेनाऽपि न विरोधपरिहारः संभवति, अपुरुषतन्त्रत्वाद् वस्तुनः। तस्माद् दुर्घटमेतदिति।

नैष दोषः अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्। नह्यविद्याकल्पितेन

भाष्यका अनुवाद

में 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'० (अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण करता है), 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण नहीं करता) इस प्रकारकी विरोधप्रतीतिमें भी विकल्पका आश्रयण विरोधके परिहारके लिए किया जाता है, क्योंकि अनुष्ठान पुरुषके अधीन है। यहां तो विकल्पके आश्रयसे भी विरोधका परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु पुरुषके अधीन नहीं है। इसलिये यह दुर्घट है।

नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि अविद्याकल्पित रूपभेदका स्वीकार किया

रत्नप्रभा

योग्यताज्ञानसापेक्षत्वादित्यर्थः। ननु ब्रह्म सावयवं निरवयवं वेति विकल्पाश्रयणे सर्वश्रुतिसमाधानं स्यादित्यत आह—क्रियेति।

निरवयवत्वे ब्रह्मणः प्रकृतित्वश्रुतिविरोधः, सावयवत्वे निरवयवत्वशब्दविरोधः, विकल्पश्च वस्तुन्ययुक्तः, अतः प्रकारान्तरानुपलम्भात् श्रुतीनां प्रामाण्यं दुर्घटमिति प्राप्ते स्वाशयम् उद्घाटयति—नैष दोष इति। निरवयवस्य वस्तुनः कूटस्थस्याऽपि अविद्यया कल्पितनामरूपविकाराङ्गीकाराद् दुर्घटत्वदोषो नास्ति, वास्तवकौटस्थ्यस्य कल्पितविकारप्रकृतित्वेनाऽविरोधादित्यर्थः। रूपभेदाङ्गीकारे

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। परन्तु ब्रह्म सावयव है या निरवयव है ? ऐसे विकल्पका आश्रय करनेसे सब श्रुतियोंका समाधान होगा, इसपर कहते हैं—"क्रिया" इत्यादिसे।

ब्रह्मको निरवयव माननेमें ब्रह्मको प्रकृति कहनेवाली श्रुतिका विरोध होता है, सावयव माननेमें निरवयत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका विरोध होता है, वस्तुमें विकल्प अयुक्त है और प्रकारान्तर उपलब्ध नहीं होता, इससे श्रुतिका प्रामाण्य दुर्घट है, ऐसा प्राप्त होनेपर अपने आशयका उद्घाटन करते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। निरवयव कूटस्थ वस्तुके भी अविद्यासे कल्पित नाम-रूप विकारका अंगीकार है, अतः दुर्घटत्व दोष नहीं है। अर्थात् वास्तवमें जो कूटस्थ है, उसके कल्पित विकारकी प्रकृति होनेमें कोई

भाष्य

रूपभेदेन सावयवं वस्तु संपद्यते। नहि तिमिरोपहतनयनेनाऽनेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाऽविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति। न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्। 'स

भाष्यका अनुवाद

है। अविद्याकल्पित रूप भेदसे वस्तु सावयव नहीं होती। तिमिर रोगसे जिसके नेत्रका प्रकाश नष्ट हो गया है, उसकी दृष्टिमें चन्द्रमाके अनेकसे दिखाई देने पर भी वास्तवमें चन्द्रमा अनेक नहीं ही होता। और अविद्यासे कल्पित नामरूप लक्षण व्याकृत और अव्याकृत स्वरूप और तत्त्व या अतत्त्वसे अनिर्वचनीय रूपभेद द्वारा ब्रह्म परिणामादि सब व्यवहारोंका स्थान होता है, परन्तु पारमार्थिक रूपसे ब्रह्म सब व्यवहारोंसे अतीत और परिणामशून्य अवस्थित है। और अविद्याकल्पित नामरूपभेद केवल वाचारम्भण मात्र है, अतः ब्रह्ममें निरवयवत्व बाधित नहीं होता। और इस परिणाम श्रुतिका प्रयोजन परिणामका प्रतिपादन करना नहीं है, क्योंकि परिणामका ज्ञान होनेसे फलकी प्राप्ति नहीं होती किन्तु सब व्यवहारोंसे रहित ब्रह्मात्मत्वका प्रतिपादन करना ही उक्त श्रुतिका प्रयोजन है, उसके ज्ञानमें

रत्नप्रभा

सावयवत्वं स्यादित्याशङ्क्य उक्तं विवृणोति—**नहीत्यादिना**। कृत्स्नप्रसक्तिं निरस्य दोषान्तरं निरस्यति—वाचारम्भणेति। ननु श्रुतिप्रतिपाद्यस्य परिणामस्य कथं मिथ्यात्मत्वं तत्राऽऽह—**न चेयमिति**। निष्प्रपञ्चब्रह्मधीशेषत्वेन सृष्टिरनूद्यते, न

रत्नप्रभाका अनुवाद

विरोध नहीं है। स्वरूपभेदका अंगीकार करनेसे ब्रह्म सावयव है ऐसा मानना होगा ऐसी आशङ्का कर पूर्वोक्तका स्पष्टीकरण करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। ब्रह्मका सम्पूर्ण रूपसे परिणाम होता है इसका निराकरण करके अन्य दोषका खण्डन करते हैं—"वाचारम्भण" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि श्रुतिप्रतिपादित परिणाम मिथ्या किस प्रकार है? उसपर कहते हैं—"न चेयम्" इत्यादिसे। निष्प्रपञ्च ब्रह्मप्रतीतिके अङ्गरूपसे सृष्टिका अनुवाद किया जाता है, सृष्टिका

भाष्य

एष नति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्याऽऽह—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इति तस्मादस्मत्पक्षे न कश्चिदपि दोषप्रसङ्गोऽस्ति ॥२७॥

भाष्यका अनुवाद

फलप्राप्ति है, क्योंकि 'स एष नेति नेत्यात्मा' (जो श्रुतिमें नहीं नहीं, इस प्रकार निषेधमुखसे निर्दिष्ट है, वह आत्मा है) ऐसा उपक्रम करके कहते हैं—'अभयं वै जनक०' (हे जनक ! तुम निश्चय, भयरहित—ब्रह्मको प्राप्त हो) इत्यादि । इसलिए हमारे मतमें कुछ भी दोष नहीं है ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

प्रतिपाद्यते इति असकृदावेदितम् । अतो विवर्तवादे न कश्चिद् दोष इति उपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिपादन नहीं किया जाता, ऐसा अनेक बार कहा जा चुका है। इसलिए विवर्तवादमें कोई दोष नहीं है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

पदच्छेद—आत्मनि, च, एवम्, विचित्राः, च, हि ।

पदार्थोक्ति—हि–यस्मात् 'न तत्र रथा न योगाः, इत्यादौ आत्मनि–स्वप्नदृशि एकस्मिन् आत्मनि, विचित्राः—विविधाः सृष्टयः [श्रूयन्ते] । च—लोके मायाविनि स्वरूपानुपमर्देनैव हस्त्यश्वादिविचित्राः सृष्टयो दृश्यन्ते, एवम्–एकस्मिन् ब्रह्मणि अपि [विविधसृष्टिः भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—चूँकि 'न तत्र रथा न रथयोगाः' (स्वप्नमें न रथ हैं न घोड़े हैं) इत्यादि श्रुतिमें स्वप्नद्रष्टा एक आत्मामें अनेक प्रकारकी सृष्टियाँ कही गई हैं और लोकमें एक ऐन्द्रजालिकमें उसके स्वरूपके नाश हुए बिना हाथी, घोड़े आदि विचित्र सृष्टि दिखाई देती है, उसी प्रकार एक ब्रह्ममें विविध सृष्टियाँ हो सकती हैं।

भाष्य

अपि च नैवाऽत्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन् ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिः स्यादिति, यत आत्मन्यप्येकस्मिन् स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिः पठ्यते—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादिना । लोकेऽपि देवादिषु च मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते, तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति ॥ २८ ॥

भाष्यका अनुवाद

और अपने रूपका नाश हुए बिना एक ही ब्रह्ममें अनेक प्रकारवाली सृष्टि किस प्रकार हो सकती है, इस विषयमें इस प्रकार विवाद करना उचित नहीं है, क्योंकि एक स्वप्न द्रष्टा आत्मामें भी स्वरूपका नाश हुए बिना ही अनेक प्रकारकी सृष्टि श्रुतिमें कही गई है—'न तत्र रथा न रथयोगा०' (स्वप्नमें रथ नहीं हैं, घोड़े नहीं हैं, मार्ग नहीं हैं, किन्तु स्वप्नद्रष्टा रथोंका, घोड़ों और उनके मार्गोंका निर्माण करता है) इत्यादिसे । लोकमें भी देवता आदिमें और मायावी आदिमें अपने स्वरूपके नाशके बिना ही हाथी, घोड़े आदि विचित्र सृष्टियाँ देखनेमें आती हैं । उसी प्रकार अखण्ड ब्रह्ममें भी स्वरूपका नाश हुए बिना ही विविध प्रकारकी सृष्टि होगी ॥ २८ ॥

रत्नप्रभा

पूर्वावस्थानाशेनाऽवस्थान्तरम्—परिणामः, यथा दुग्धस्य दधिभावः । पूर्वरूपानुपमर्देन अवस्थान्तरम्—विवर्तः, यथा शुक्तेः रजतभावः । तत्र ब्रह्मणो विवर्तोपादानत्वं स्वप्नसाक्षिदृष्टान्तेन द्रढयन् मायावादं स्फुटयति सूत्रकारः—**आत्मनि चेति** । रथयोगाः—अश्वाः ॥ २८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व अवस्थाके नाशसे अन्य अवस्थाकी प्राप्ति परिणाम है जैसे दूधका दहीके रूपमें परिणत होना । पूर्व अवस्थाके नाश हुए बिना अन्य अवस्थाकी प्राप्ति विवर्त है जैसे सीप चाँदीके रूपमें दिखाई देती है । यहाँपर स्वप्नसाक्षीके दृष्टान्तसे ब्रह्मको विवर्तका उपादान सिद्धकर सूत्रकार मायावादको स्फुट करते हैं—"आत्मनि" इत्यादिसे । रथयोग—घोड़े ॥२८॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

पदच्छेद—स्वपक्षदोषात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, स्वपक्षदोषात्–सांख्यादीनां पक्षेऽप्यस्य दोषस्य सत्त्वात् [एकस्मिन्नेव पक्षे नोपक्षेप्तव्यो भवति । तस्मादुपपन्नो ब्रह्मकारणतावादः] ।

भाषार्थ—और सांख्य आदिके पक्षमें भी यह दोष है, इसलिए हमारे ही पक्षमें यह दोष लगाना उचित नहीं है । इसलिए ब्रह्मकारणतावाद उपपन्न है ।

भाष्य

परेषामप्येषः समानः स्वपक्षे दोषः, प्रधानवादिनोऽपि हि निरवयवमपरिच्छिन्नं शब्दादिहीनं प्रधानं सावयवस्य परिच्छिन्नस्य शब्दादिमतः कार्यस्य कारणमिति स्वपक्षः। तत्राऽपि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वात् प्रधानस्य प्राप्नोति निरवयवत्वाभ्युपगमकोपो वा । ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युप-

भाष्यका अनुवाद

दूसरे वादियोंके पक्षमें भी यह दोष समान है, क्योंकि प्रधानवादीका भी अपना पक्ष यह है कि निरवयव, अपरिच्छिन्न शब्द आदिरहित प्रधान सावयव, परिच्छिन्न और शब्द आदियुक्त कार्यका कारण है । उसके मतमें भी प्रधानके निरवयव होनेसे सम्पूर्ण प्रधानकी कार्यरूपमें परिणति होती है अथवा प्रधान की निरवयवताके स्वीकारका बाध होता है । परन्तु वे प्रधानको निरवयव नहीं

रत्नप्रभा

किञ्च, कृत्स्नप्रसक्त्यादीनां सांख्यादिपक्षेऽपि दोषत्वात् न अस्मान् प्रत्युद्भावनीयत्वम्, 'यश्चोभयोः समो दोषः, इति न्यायादित्याह सूत्रकारः—**स्वपक्षेति** । प्रधानस्य निरवयवत्वे कृत्स्नप्रसक्तिः, सावयवत्वे च निरवयवत्वाभ्युपगमविरोध इति अत्र शङ्कते—**नन्विति** । किं साम्यावस्था गुणानां विकारः समुदायो वा ?

रत्नप्रभाका अनुवाद

और सम्पूर्णरूपसे परिणाम होना आदि सांख्य आदिके मतमें भी दोष हैं, इसलिए हमारे पक्षमें ही उनका उद्घाटन करना युक्त नहीं है, क्योंकि 'यश्चोभयोः०' (जो दोष दोनों मतमें समान हैं, और उनका परिहार भी समान ही है। उसके विषयमें केवल एक पक्षवालेसे पूछना उचित नहीं है) यह न्याय है ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"स्वपक्ष" इत्यादिसे । प्रधानको निरवयव मानो तो उसका सर्वथा परिणाम हो जायगा, यदि सावयव मानो तो उसको जो निरवयव माना है वह बाधित होगा—यहांपर यह शङ्का करते हैं—"ननु"

भाष्य

गम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि हि त्रयो गुणा नित्यास्तेषां साम्यावस्था प्रधानम्, तैरेवाऽवयवैस्तत्सावयवमिति। नैवंजातीयकेन सावयवत्वेन प्रकृतो दोषः परिहर्तुं पार्यते, यतः सत्त्वरजस्तमसामप्येकैकस्य समानं निरवयवत्वम्, एकैकमेव चेतरद्वयानुगृहीतं सजातीयस्य प्रपञ्चस्योपादानमिति समानत्वात् स्वपक्षदोषप्रसङ्गस्य। तर्काप्रतिष्ठानात् सावयवत्वमेवेति चेत्। एव-

भाष्यका अनुवाद

मानते, सत्त्व, रज और तम—तीन नित्य गुण हैं, उनकी साम्यावस्था ही प्रधान है, उन्हीं गुणरूप अवयवोंसे वह सावयव है, ऐसा स्वीकार करते हैं। इस प्रकारके सावयवत्वसे प्रकृत दोषका परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत्त्व, रज और तममें भी प्रत्येकका निरवयवत्व समान है। एक गुण ही शेष दो गुणोंसे युक्त होकर सजातीय प्रपञ्चका उपादान है, इस प्रकार स्वपक्षमें उक्त दोषकी प्राप्ति समान है। उक्त तर्कके प्रतिष्ठित न होनेसे

रत्नप्रभा

आद्ये तस्या न मूलप्रकृतित्वम्, विकारत्वात्। द्वितीये प्रपञ्चाभावः, समुदायस्याऽवस्तुत्वेन मूलाभावात्। अथ निरवयवा गुणा एव विविधपरिणामानां प्रकृतिरिति चेत्, तर्हि कृत्स्नप्रसक्तेः मूलोच्छेदो दुर्वार इत्यभिप्रेत्य परिहरति—**नैवमित्यादिना**। इति—यतः, अतः समानत्वात् न वयं पर्यनुयोज्या इत्यन्वयः। प्रत्येकं सत्त्वादिकम् इतरगुणद्वयसचिवं निरवयवं यदि उपादानम्, तर्हि कृत्स्नस्य उपादानस्य कार्यरूपत्वप्रसक्तेर्मूलोच्छेद इत्युक्ते निरवयवत्वसाधकतर्कस्य आभासत्वाद् गुणानां सावयवत्वमेव परिणामित्वेन मृदादिवत्, अतो न कृत्स्नप्रसक्तिरेकदेशपरिणाम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। साम्यावस्था गुणोंका विकार है अथवा समुदाय? प्रथम पक्ष यदि स्वीकार करो तो वह मूलप्रकृतिही नहीं हो सकेगी, क्योंकि वह विकार है। दूसरा पक्ष ग्रहण करो तो प्रपञ्चका अभाव हो जायगा, क्योंकि समुदाय अवस्तुरूप होनेसे किसीका मूल नहीं हो सकता। निरवयव गुण ही विविध परिणामोंकी प्रकृति हैं ऐसा यदि कहा जाय तो सर्वथा परिणाम होनेसे मूलोच्छेद किसी प्रकार नहीं टल सकेगा इस अभिप्रायसे परिहार करते हैं—"नैवम्" इत्यादिसे। इसलिए समान दोष होनेसे हमसे ही प्रश्न नहीं करना चाहिए ऐसा अन्वय है। यदि प्रत्येक सत्त्व आदि अन्य दो गुणोंके साथ निरवयव होकर ही उपादान कारण हों तो समस्त उपादानका कार्यरूपमें परिणाम होनेके कारण मूलोच्छेद हो जायगा ऐसा कहा है, इसलिए निरवयत्वका साधक तर्क तर्काभास ही है अतएव गुण परिणाम होनेसे मिट्टी आदिके समान सावयव ही हैं। इसलिए कृत्स्नप्रसक्ति (सर्वथा परिणाम) नहीं होगी, क्योंकि

भाष्य

मप्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः । अथ शक्तय एव कार्यवैचित्र्यसूचिता अवयवा इत्यभिप्रायः तास्तु ब्रह्मवादिनोऽप्यविशिष्टाः, तथाऽणुवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवयवत्वाद्यदि कात्स्न्र्येन संयुज्येत ततः प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गः । अथैकदेशेन संयुज्येत, तथापि निरवयवत्वाभ्युपगमकोप

भाष्यका अनुवाद

सावयवत्व ही है ऐसा कहो तो सावयवत्व होनेपर भी अनित्यता आदि दोषोंका प्रसङ्ग आवेगा । यदि कार्यवैचित्र्यसे ज्ञात होनेवाली शक्तियाँ ही अवयव हैं, ऐसा अभिप्राय हो, तो वही तो ब्रह्मवादी भी मानते हैं । इसी प्रकार अणुवादीके मतमें भी एक अणु दूसरे अणुसे संयुक्त होता हुआ निरवयव होनेसे यदि सम्पूर्णतया संयुक्त हो, तो प्रथिमा–अधिक परिमाणके अनुपपन्न होनेसे उसमें केवल अणुमात्र होनेका प्रसंग आवेगा और यदि एक

रत्नप्रभा

सम्भवादिति शङ्कते—**तर्केति** । एतद्दोषाभावेऽपि दोषान्तरं स्यादिति परिहरति—**एवमपीति** । ननु गुणानामवयवाः तन्तुवदारम्भका न भवन्ति, किन्तु कार्यवैचित्र्यानुमितास्तद्गताः शक्तय इत्याशङ्क्य मायिकशक्तिभिः ब्रह्मणोऽपि सावयवत्वं तुल्यमित्याह—**अथेत्यादिना** । अणुवादेऽपि दोषसाम्यमाह—**तथेति** । सांख्यवद् दोषः समान इति सम्बन्धः । निरवयवयोः परमाण्वोः संयोगो व्याप्यवृत्तिः अव्याप्यवृत्तिर्वा ? आद्ये तत्कार्यस्य द्व्यणुकस्य एकपरमाणुमात्रत्वापत्तिः प्रथिम्नोऽधिकपरिमाणस्याऽनुपपत्तेः । नहि अणोः अण्वन्तरेण उपर्यधः पार्श्वतश्च व्याप्तौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

एक देशके परिणामका संभव है ऐसी शंका करते हैं—"तर्क" इत्यादिसे । इस दोषका अभाव होनेसे भी अन्य दोष होंगे इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि गुणोंके अवयव तन्तुओंके समान आरम्भक नहीं होते, किन्तु कार्यवैचित्र्यसे अनुमित उनमें रहनेवाली शक्तियाँ आरम्भिका होती हैं तो मायिक शक्तियों द्वारा ब्रह्म भी सायवव है ही ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । अणुवादमें भी इस दोषकी समानता दिखलाते हैं—"तथा" इत्यादिसे । सांख्यमतके समान अणुवादमें भी दोष समान है ऐसा सम्बन्ध है । निरवयव दो परमाणुओंका संयोग व्याप्यवृत्ति है या अव्याप्यवृत्ति है ? प्रथम पक्षमें परमाणुओंसे उत्पन्न द्व्यणुक एक परमाणुमात्र ही होगा प्रथिमा—अधिक परिमाण युक्त न होगा । एक अणुकी अन्य अणुके साथ नीचे, ऊपर और बगलसे व्याप्ति होनेसे इससे अधिक द्रव्य नहीं हो सकता । संयोग यदि अव्याप्यवृत्ति माना जाय तो परमाणुओंके

भाष्य

इति स्वपक्षेऽपि समान एष दोषः। समानत्वाच्च नान्यतरस्मिन्नेव पक्षे उपक्षेप्तव्यो भवति। परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः॥ २९॥

भाष्यका अनुवाद

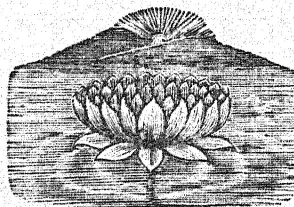
देशसे संयोग पावे, तो भी निरवयत्वस्वीकार बाधित हो जायगा, इसलिए अपने पक्षमें भी वह दोष समान है, दोनोंके समान होनेपर दोमें से एक पक्षमें दोष लगाना युक्त नहीं है। ब्रह्मवादी तो अपने पक्षमें दोषका परिहार कर चुका है॥ २९॥

रत्नप्रभा

ततोऽधिकद्रव्यं सम्भवति। द्वितीये परमाण्वोः सावयवत्वापत्तिः इत्यर्थः। ननु 'त्वं चोरः' इत्युक्ते 'त्वमपि चोरः' इतिवद् दोषसाम्योक्तिः अयुक्ता इत्यत आह— **परिहृतस्त्विति**। उक्तं हि मायावादे स्वप्नवत् सर्वं सामञ्जस्यम्, अतो निरवयवे ब्रह्मणि समन्वयस्याऽविरोध इति सिद्धम्॥ २९॥ (९)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सावयव होनेकी नौबत आ जायगी यह तात्पर्य है। यदि कोई कहे 'तुम चोर हो' ऐसा किसीके कहनेपर 'तुम भी चोर हो' इस कथनके समान दोषकी समानताका उल्लेख करना अयुक्त है तो इसपर कहते हैं—"परिहृतस्तु" इत्यादिसे। मायावादमें स्वप्नके समान सब सामञ्जस्य कहा गया है इसलिए निरवयव ब्रह्ममें समन्वयका कोई विरोध नहीं है ऐसा तात्पर्य है॥ २९॥



[१० सर्वोपेताधिकरण सू० ३०—३१]

नाशरीरस्य मायाऽस्ति यदि वाऽस्ति न विद्यते ।
ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिणः ॥१॥
बाह्यहेतुमृते यद्वन्मायया कार्यकारिता ।
ऋतेऽपि देहं मायैवं ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—शरीररहित ब्रह्ममें माया है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—लोकमें जितने मायावी—ऐन्द्रजालिक हैं, वे सब शरीरधारी ही हैं, अतः शरीररहित ब्रह्ममें माया नहीं हो सकती ।

सिद्धान्त—जैसे बाह्य साधनोंके बिना भी ऐन्द्रजालिक मायासे विविध पदार्थ बना लेते हैं, वैसे ही 'मायिनं तु महेश्वरम्' (पर ब्रह्म परमात्मा माया युक्त है) इस श्रुति प्रमाणसे शरीरके बिना भी ब्रह्ममें माया हो सकती है ।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

पदच्छेद—सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—च–अपि, सर्वोपेता—सर्वशक्तियुक्ता परा देवता, [कुतः] तद्दर्शनात्—तस्य सर्वशक्तियोगस्य 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादिश्रुतौ दर्शनात् ।

भाषार्थ—और परा देवता सर्वशक्तियुक्त है, क्योंकि 'सर्वकर्मा सर्वकामः' (वह सबका कर्ता है और उसमें सब कामनाएँ हैं) इत्यादि श्रुतिमें उसका सर्वशक्तियोग देखा गया है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—लोकमें देखा जाता है कि जितने ऐन्द्रजालिक आदि हैं वे सब शरीरधारी हैं, अतएव शरीररहित ब्रह्ममें मायाका संभव नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि लोकमें यह देखा जाता है कि घर आदि बनानेवाले सभी लोगोंको अपनेसे अतिरिक्त मिट्टी, लकड़ी, घास-फूस आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा रहती है, तथापि ऐन्द्रजालिक जैसे उक्त साधनोंके बिना भी गृह आदिका निर्माण कर लेता है, वैसे ही लौकिक मायावीके शरीर की अपेक्षा रखनेपर भी ब्रह्ममें माया की सिद्धिके लिए शरीर की अपेक्षा नहीं है । यदि कहो कि ऐन्द्रजालिकका बाह्य वस्तुओं की अपेक्षाके बिना वस्तुओंका निर्माण करना प्रत्यक्ष सिद्ध है तो ब्रह्ममें भी शरीर की अपेक्षाके बिना मायासद्भावमें 'मायिनं तु महेश्वरम्' यह श्रुति प्रमाण है ।

भाष्य

एकस्याऽपि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तम्, तत्पुनः कथमवगम्यते विचित्रशक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति। तदुच्यते—सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। सर्वशक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुतः? तद्दर्शनात्। तथा हि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगं परस्या देवतायाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' (छा० ३।१४।४), 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ८।७।१), 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १।१।९), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयका॥ ३०॥

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म यद्यपि एक ही है, तथापि उसका विचित्र शक्तियोंके साथ योग होनेसे विचित्र विकारप्रपञ्च उपपन्न होता है, ऐसा कहा है। परन्तु परब्रह्म विचित्रशक्तियुक्त है, यह कैसे ज्ञात होता है? उसे कहते हैं—'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्'। पर देवता सर्वशक्तियुक्त है, ऐसा स्वीकार करना उचित है। किससे? उसके दर्शनसे। क्योंकि श्रुति पर देवताका सर्वशक्तियोग दिखलाती है—'सर्वकर्मा सर्वकामः' (सम्पूर्ण विश्व जिसका कर्म है, जिसके सब मनोरथ दोषरहित हैं, सब गन्ध जिसके सुखकर हैं, जिसके सब रस सुखकर हैं, जो इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त-करके स्थित है, वाग्-इन्द्रियरहित और निष्काम है) 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (सत्यकामनावाला, सत्यसङ्कल्पवाला) 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्, (जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने०' (हे गार्गि, इसी नाशरहित ब्रह्मकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्र धारण किये हुए रहते हैं) इस प्रकारकी श्रुतियाँ हैं॥३०॥

रत्नप्रभा

सर्वोपेता। मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य अशरीरस्य न मायेति न्यायेन विरोधोऽस्ति न वेति सन्देहे न्यायस्य अनाभासत्वादस्तीति पूर्वपक्षे पूर्वोक्तशक्तिमत्त्वसमर्थनाद् एकविषयत्वं सङ्गतिं वदन् सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—**एकस्येत्यादिना**। पूर्वोत्तरपक्षयोर्विरोधाविरोधौ फलमित्युक्तमेवाऽऽपादसमाप्तेः अवगन्तव्यम्। अभ्यात्तः—अभितो व्याप्तः, अवाकी—वागिन्द्रियशून्यः, अनादरः—निष्कामः॥३०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सर्वोपेता"। मायाशक्तियुक्त ब्रह्मसे जगत्‌की सृष्टि कहनेवाले समन्वयका शरीररहितमें माया नहीं है, इस न्यायके साथ विरोध है, या नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर न्याय आभासरूप न होनेसे विरुद्ध है, ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर पूर्वोक्त शक्तिमत्त्वके समर्थनसे एकविषयत्वरूप पूर्व अधिकरणके साथ संगति कहते हुए सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"एकस्य" इत्यादिसे। अभ्यात्तः—चारों ओरसे व्याप्त हुआ। अवाकी—वागिन्द्रियरहित। अनादर—निष्काम॥३०॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—विकरणत्वात्, न, इति, चेत्, तत्, उक्तम् ।

पदार्थोक्ति—विकरणत्वात्—'अचक्षुष्कमश्रोत्रम्' इत्यादिना ब्रह्मणः करणराहित्यावगमात् न—न कर्तृत्वम्, इति चेत्, तदुक्तम्—अत्र यदुत्तरं वक्तव्यं तत् पूर्वमेव 'देवादिवदपि लोके' इत्यत्र उक्तम् ।

भाषार्थ—'अचक्षुष्क०' (उसके नेत्र नहीं हैं कान नहीं हैं) इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मके इन्द्रियरहित प्रतीत होनेसे ब्रह्म कर्ता नहीं है ऐसा यदि कहो तो इस विषयमें जो कहना था वह हम पीछे 'देवादिवदपि लोके' इस सूत्रमें कह चुके हैं ।

भाष्य

स्यादेतत्, विकरणां परां देवतां शास्ति शास्त्रम्—'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३।९।८) इत्येवंजातीयकम्। कथं सा सर्वशक्तियुक्ताऽपि सती कार्याय प्रभवेत्, देवादयो हि चेतनाः सर्वशक्तियुक्ता अपि सन्त आध्यात्मिककार्यकरणसम्पन्ना एव तस्मै तस्मै कार्याय प्रभवन्तो विज्ञायन्ते, कथं च 'नेति नेति' (बृ० ३।९।२६) इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषाया देवतायाः सर्वशक्तियोगः सम्भवेदिति चेत्,

भाष्यका अनुवाद

ठीक है। परन्तु 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (वह नेत्ररहित, कर्णरहित, वाणीरहित और मनरहित है) इत्यादि श्रुतियाँ पर देवताको करणरहित कहती हैं। वह देवता यद्यपि सर्वशक्तिशाली है, तथापि कार्यके लिए किस प्रकार समर्थ होगा, क्योंकि देवता आदि चेतन, सर्वशक्तियुक्त हैं, तो भी आध्यात्मिक शरीर और इन्द्रियोंसे सम्पन्न होकर ही वे तत् तत् कार्य करनेकी शक्तिवाले देखे जाते हैं, तो 'नेति नेति' (ऐसा नहीं, ऐसा नहीं) इस प्रकार श्रुतिने

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षन्यायमनूद्य दूषयति—**विकरणत्वादिति** । देवादिचेतनानां शक्तानामपि देहाभिमाने सत्येव कर्तृत्वं दृष्टम्, तदभावे सुषुप्तौ तन्न दृष्टम्, अतो ब्रह्मणः शक्तत्वेऽपि अदेहत्वाद् न कर्तृत्वम्, नाऽप्यदेहस्य शक्तिः सम्भवतीति शङ्कार्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्षन्यायका अनुवाद करके उसको दूषित करते हैं—"विकरणत्वात्" इत्यादिसे । देवता आदि चेतन समर्थ हैं, तो देहाभिमान रहनेपर ही वे कुछ कार्य करते दिखाई देते हैं, उसका अभाव होनेसे सुषुप्तिमें तो वैसा करते नहीं दिखाई देते, इसलिए ब्रह्मके समर्थ

भाष्य

यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम् । श्रुत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्, न च यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथाऽन्यस्याऽपि सामर्थ्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्तीति प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्याऽपि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः सम्भवतीत्येतदप्यविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेनोक्तमेव । तथा च शास्त्रम्—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३।१९) इत्यकरणस्याऽपि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

जिसके सब विशेषोंका प्रतिषेध किया है, उस देवतामें सर्वशक्तिका योग किस प्रकार हो सकता है ? ऐसा यदि कहो,

तो इस विषयमें जो हमें कहना था, उसे हम पहले ही कह चुके हैं । यह अति गम्भीर ब्रह्म श्रुतिसे ही जाना जा सकता है, तर्कोंसे वह ज्ञातव्य नहीं है । और एककी सामर्थ्य जैसी देखी गई हो, वैसी ही दूसरेकी सामर्थ्य होनी चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है । जिसके सब विशेषोंका प्रतिषेध किया गया है, उस ब्रह्ममें भी शक्तियोग सम्भव है, यह बात भी अविद्यासे कल्पित रूपभेदके उपन्याससे कही गई है । उसी प्रकार 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता०' (उसके हाथ नहीं, तो भी वह सर्वग्राही है, और पैर नहीं हैं, तो भी वह दूरगामी है, आँखें नहीं हैं, तो भी वह देखता है और कान नहीं हैं तो भी वह सुनता है) यह शास्त्र करणरहित—इन्द्रियरहित ब्रह्ममें भी सर्वसामर्थ्यका योग दिखलाता है ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभा

विकरणस्य जीवस्य कर्तृत्वासम्भवेऽपीश्वरस्य सम्भवतीति "देवादिवदपि लोके" (ब्र० सू० २।१।२५) इत्यत्रोक्तम्, तत्र शरीरस्य कल्पितस्य मायाश्रयत्वायोगात् निर्विशेषचिन्मात्रस्यैव मायाधिष्ठानत्वं युक्तमिति समाधानार्थः ॥ ३१ ॥ (१०) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर भी देहरहित होनेसे वह कर्ता नहीं हो सकता । देहरहितमें सामर्थ्यका सम्भव भी नहीं है ऐसा शङ्काका अर्थ है । करणरहित जीवमें यद्यपि कर्तृत्व सम्भव नहीं है, तथापि 'देवादिवदपि लोके' इसमें ईश्वरके कर्तृत्वका सम्भव कहा गया है । उसमें शरीरकल्पित होनेसे मायाका आश्रय हो, यह युक्त नहीं है, अतः निर्विशेष चिन्मात्र ही मायाका अधिष्ठान है, यह युक्त है; ऐसा समाधानका अर्थ है ॥३१॥

[११ प्रयोजनवत्त्वाधिकरण सू० ३२–३३]

तृप्तोऽस्रष्टाऽथवा स्रष्टा न स्रष्टा फलवाञ्छने ।
अतृप्तः स्यादवाञ्छायामुन्मत्तनरतुल्यता ॥१॥
लीलाश्वासवृथाचेष्टा अनुद्दिश्य फलं यतः ।
अनुन्मत्तैर्विरच्यन्ते तस्मात् तृप्तस्तथा सृजेत् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—नित्यतृप्त ब्रह्म स्रष्टा है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्म स्रष्टा नहीं है, क्योंकि फलकी इच्छा होनेपर उसमें अतृप्ति हो जायगी, और यदि फलकी इच्छा न हो तो उसमें उन्मत्त नरतुल्यता हो जायगी ।

सिद्धान्त—जैसे लीला, श्वासप्रश्वास आदि निरर्थक चेष्टाएँ फलके उद्देश्यके बिना विवेकी लोगोंसे भी की जाती हैं, उसी प्रकार नित्यतृप्त ब्रह्म भी किसी फलकी इच्छाके बिना जगत्‌की सृष्टि करता है ।

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—न, प्रयोजनवत्त्वात् ।

पदार्थोक्ति—न—न ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं संभवति नित्यतृप्तत्वेन प्रयोजनवत्त्वात्—प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजनवत्त्वाभ्युपगमात् [ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विरुद्ध्यते]।

भाषार्थ—ब्रह्मके जगत्कर्तृत्वका संभव नहीं है, क्योंकि नित्यतृप्त होनेसे उसे किसी प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है विवेकी जनोंकी प्रवृत्ति प्रयोजनवती मानी गई है, अतः ब्रह्मसे जगत्‌की सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला समन्वय विरुद्ध है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'आनन्दो ब्रह्म' (ब्रह्म आनन्दस्वरूप है) इत्यादि श्रुति और युक्तिसे प्रतीत होता है कि परमेश्वर नित्यतृप्त है। नित्यतृप्त ब्रह्ममें सृष्टिविषयिणी इच्छा यदि मानी जाय तो नित्यतृप्तिका व्याघात हो जायगा। यदि कोई इच्छा न मानी जाय तो अबुद्धिपूर्वक सृष्टि करते हुए ब्रह्मकी उन्मत्तपुरुषसमानता हो जायगी।

सिद्धान्ती कहते हैं—जैसे विवेकशील राजा आदिकों भी प्रयोजनके बिना क्रीडासे शिकार खेलनेमें प्रवृत्ति देखी गई है, निरर्थक श्वास-प्रश्वास व्यवहार तो सब लोगोंमें देखा ही जाता है और व्यर्थ चेष्टाएँ भी बहुधा बालकोंसे की जाती हैं। इसी प्रकार नित्यतृप्त परमेश्वर भी किसी प्रयोजनके बिना ही विवेकपूर्वक सकल जगत्‌की सृष्टि करता है।

भाष्य

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृत्वं जगत आक्षिपति, न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्बिम्बं विरचयितुमर्हति। कुतः? प्रयोजनवत्त्वात् प्रवृत्तीनाम्। चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत् प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः, किमुत गुरुतरसंरम्भाम्। भवति च लोकप्रसिद्धानुवादिनी श्रुतिः—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २।४।४) इति। गुरुतर-

भाष्यका अनुवाद

और चेतन जगत्का कर्त्ता है, इसका दूसरे प्रकारसे आक्षेप करते हैं। चेतन परमात्मा इस जगद्बिम्बकी रचना करे, यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रवृत्तियां प्रयोजनवती होती हैं। लोकमें बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला चेतन पुरुष कार्यमें प्रवृत्त होता हुआ अपने प्रयोजनके अनुपयोगी सहज कामोंको भी आरम्भ करते नहीं दिखाई देता, फिर गुरुतरप्रयत्नसाध्य कामोंको बिना प्रयोजन आरम्भ न करे, इसमें कहना ही क्या है? लोकप्रसिद्धिके अनुसार श्रुति भी है—'न वा अरे सर्वस्य कामाय०, (अरे मैत्रेयि! यह प्रसिद्ध है कि सबके प्रयोजनके लिए सब प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्माके प्रयोजनके लिए सब प्रिय होते हैं)। यह प्रवृत्ति गुरुतरप्रयत्नसाध्य

रत्नप्रभा

न प्रयोजनत्त्वात्। परितृप्ताद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विषयः, स 'किमभ्रान्तश्चेतनो यः स निष्फलं वस्तु न रचयति' इति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वमदेहस्याऽपि श्रुतिबलात् शक्तत्वोक्त्या कर्तृत्वमुक्तम्, तदाक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—अन्यथेत्यादिना। ईश्वरस्य फलाभावेऽपि परप्रयोजनाय सृष्टौ प्रवृत्तिरस्तु इत्याशङ्क्य श्रुतिमाह—**भवति चेति**। या प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः सा स्वफलार्थेति लोकप्रसिद्धिः। न च दयालुप्रवृत्तौ व्यभिचारः, तस्या अपि पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न प्रयोजनवत्त्वात्"। परितृप्त ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि कहनेवाला वेदान्तसमन्वय विषय है। 'जो अभ्रान्त चेतन है, वह निष्फल वस्तुकी रचना नहीं करता' इस न्यायसे उसका विरोध है, या नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्व अधिकरणमें श्रुतिसामर्थ्यसे देहरहित ब्रह्म समर्थ होनेसे कर्त्ता है, ऐसा जो कहा है, उसका आक्षेप करता है, इससे इस अधिकरणकी पूर्व अधिकरणके साथ आक्षेप सङ्गति है, और इस संगतिसे पूर्वपक्षसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अन्यथा" इत्यादिसे। ईश्वरको स्वयं फलकी इच्छा नहीं है, तो भी वह दूसरेके प्रयोजनके लिए सृष्टिमें प्रवृत्त होता है, ऐसी शंका करके श्रुतिको उद्धृत करते हैं—"भवति च" इत्यादिसे। जो विचार-

भाष्य

संरम्भा चेयं प्रवृतिर्यदुच्चावचप्रपञ्चं जगद्बिम्बं विरचयितव्यम्। यदीयमपि प्रवृत्तिश्चेतनस्य परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगिनी परिकल्प्येत परितृप्तत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, प्रयोजनाभावे वा प्रवृत्त्यभावोऽपि स्यात्। अथ चेतनोऽपि सन्नुन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरेणैवाऽऽत्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा परमात्माऽपि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत। तथा सति सर्वज्ञत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, तस्मादश्लिष्टा चेतनात् सृष्टिरिति ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

है क्योंकि अनेक प्रकारके प्रपञ्चोंसे युक्त जगत्की रचना करनी है। यदि यह प्रवृत्ति भी चेतन परमात्माके लिए अपने किसी प्रयोजनकी उपयोगिनी है, ऐसी कल्पना की जाय, तो परमात्मा परितृप्त है, ऐसा जो श्रुतिमें कहा गया है, उसका बाध हो जायगा और प्रयोजनके अभावमें प्रवृत्तिका भी अभाव हो जायगा। जैसे चेतन होता हुआ भी उन्मत्त पुरुष बुद्धिके अपराधसे अपने किसी प्रयोजनके बिना भी प्रवृत्त होता दिखाई देता है, उसी प्रकार परमात्मा भी प्रवृत्त होगा, ऐसा यदि कहो, तो ऐसी परिस्थितिमें श्रुतिमें वर्णित परमात्माकी सर्वज्ञताका बाध हो जायगा। इसलिए चेतनसे सृष्टि नहीं घटती ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभा

दुःखासहनप्रयुक्तस्वचित्तव्याकुलतानिवृत्त्यार्थत्वादिति भावः। किञ्च, गुरुतरायासस्य फलं वाच्यमित्याह—**गुरुतरेति**। तर्हि अस्तीश्वरस्याऽपि प्रवृत्तिः स्वार्था इत्यत आह—**यदीयमपीति**। अस्वार्थत्वे प्रवृत्त्यभावः पूर्वोक्तः स्यादित्यर्थः। ईश्वरः प्रेक्षावान्न भवतीति आशङ्क्य श्रुतिविरोधमाह—**अथेत्यादिना**। बुद्धेरपराधः—विवेकाभावः ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वक प्रवृत्ति होती है, वह अपने किसी प्रयोजनके लिए होती है, ऐसी लोकप्रसिद्धि है। दयालु पुरुषकी प्रवृत्तिमें व्यभिचार है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि दूसरेका दुःख सहन न होनेसे अपने चित्तमें जो व्याकुलता होती है, उसकी निवृत्ति करना उसका भी प्रयोजन है और गुरुतर आयासका फल तो कहना ही चाहिए, ऐसा कहते हैं—"गुरुतर" इत्यादिसे। तब ईश्वरकी भी प्रवृत्ति स्वार्थके लिए है, उसपर कहते हैं—"यदीयमपि" इत्यादि। अर्थात् उसका स्वार्थ न माननेसे पूर्वोक्त प्रवृत्तिका अभाव हो जायगा। ईश्वर प्रेक्षावान्—विचारवान् नहीं है, ऐसी आशंका करके उसके लिए श्रुतिका विरोध कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। बुद्धिका अपराध—विवेकका अभाव ॥ ३२ ॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—लोकवत्, तु, लीलाकैवल्यम् ।

पदार्थोक्ति—तुः—पूर्वपक्षनिरासार्थः । लोकवत्—यथा लोके राजतदमात्यादीनां फलं विनैव केवललीलारूपाः प्रवृत्तयो दृश्यन्ते [यथा वा उच्छ्वासादयः स्वभावादेवोत्पद्यन्ते तथा ब्रह्मणो विचित्रकार्यरचना] लीलाकैवल्यम्—लीलामात्रमेव न फलसापेक्षम् [अतः समन्वयो न विरुद्ध्यते] ।

भाषार्थ—तुशब्द पूर्वपक्षकी निवृत्तिका सूचक है । जैसे लोकमें राजा और उसके अमात्य आदिकी फलविशेषकी आकाङ्क्षाके विना ही क्रीडामें प्रवृत्तियां देखी जाती हैं और जैसे श्वासोच्छ्वास स्वाभवतः होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मकी विचित्रकार्यरचना केवल लीलामात्र ही है । उसका कोई फल नहीं है, अतः उक्त समन्वय विरुद्ध नहीं है ।

भाष्य

तुशब्देनाऽऽक्षेपं परिहरति । यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किञ्चित् प्रयोजनमनभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः

भाष्यका अनुवाद

तुशब्दसे आक्षेपका परिहार करते हैं । जैसे लोकेमें कोई राजा या राजाका मन्त्री जिसकी सब कामनाएँ पूरी हो गई हैं, क्रीडाक्षेत्रमें उसकी प्रवृत्तियाँ किसी दूसरे प्रयोजनकी अभिलाषा न करके केवल लीलारूप ही होती हैं और

रत्नप्रभा

उक्तन्यायस्य राज्ञां लीलायां व्यभिचार इति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्देनेति । व्यतिरिक्तम्—लीलातिरिक्तम् । क्रीडारूपा विहारा येषु रम्यदेशेषु तेषु इत्यर्थः । कदाचिद् राजादीनां लीलाया अपि किञ्चित् फलं सुखोल्लासादिकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व उक्त न्यायका राजाओंकी लीलामें व्यभिचार है, ऐसा सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तुशब्देन" इत्यादिसे । व्यतिरिक्त—दूसरा अर्थात् लीलासे दूसरा। क्रीडारूप विहार जिन रम्य देशोंमें होता है, उनमें ऐसा अर्थ है । कदाचित् राजाओंकी लीलामें भी कुछ फल—सुख, उल्लास आदि हो सके, तो भी निःश्वास आदिमें प्रेक्षावत्की प्रवृत्ति है, परन्तु अपने

भाष्य

प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय बाह्यं किञ्चित् प्रयोजनं स्वभावादेव सम्भवन्ति, एवमीश्वरस्याऽप्यनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। न-हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति, न च स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते। यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बरचना गुरुतर-संरम्भेवाऽऽभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम्, अपरिमितिशक्ति-

भाष्यका अनुवाद

जैसे उच्छ्वास, प्रश्वास आदि किसी बाह्य प्रयोजनकी अभिसन्धिके बिना स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार किसी अन्य प्रयोजनकी अपेक्षाके बिना स्वभावसे ही ईश्वरकी भी केवल लीलारूप प्रवृत्ति होगी, क्योंकि युक्ति या श्रुति-से ईश्वरके अन्य प्रयोजनका निरूपण करना संभव नहीं है और स्वभावके विषय-में प्रश्न करना नहीं बनता अर्थात् इसका ऐसा स्वभाव क्यों है ? यह प्रश्न करना उचित नहीं है। यद्यपि जगद्बिम्बकी रचना हम लोगोंको गुरुतर आयाससाध्य प्रतीत होती है, तो भी परमेश्वरकी यह केवल लीला ही है, क्योंकि उसकी

रत्नप्रभा

सम्भाव्येत, तथापि निःश्वासादौ प्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वमस्ति न तु स्वस्य तत्रोद्देश्यं फलं किञ्चिदस्तीति व्यभिचारस्थलान्तरमाह—**यथा चेति**। प्राणस्य स्वभावः—चलत्वं प्रारब्धं वा उच्छ्वासादिहेतुः, ईश्वरस्य स्वभावः—कालकर्मसहितमाया। ननु ईश्वरस्य जगद्रचनायाः केवललीलात्वं किमिति उच्यते, फलमेव किञ्चित् कल्प्यतां तत्राह—**नहीति**। आप्तकामत्वव्याघातादित्यर्थः। ननु ईश्वरस्तूष्णीं किमिति न तिष्ठति किमिति स्वस्याऽफलां परेषां दुःखावहां सृष्टिं करोति, तत्राह—**न च स्वभाव इति**। कालधर्मादिसामग्र्यां सत्यां सृष्टेरपरिहार्यत्वादित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उद्देशसे कुछ फल नहीं है, ऐसा दूसरा व्यभिचार स्थल कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। प्राणका स्वभाव—चलत्व या प्रारब्ध—उच्छ्वास आदिका हेतु है, ईश्वरका स्वभाव—कालकर्म-सहित माया है। परन्तु जगद्रचना केवल ईश्वरकी लीला है, ऐसा क्यों कहते हो, किसी फलकी भी कल्पना करो, उसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि। क्योंकि ईश्वर श्रुतिमें आप्तकाम कहा गया है, उसका व्याघात हो जायगा, यह अर्थ है। और यदि कोई कहे कि ईश्वर शान्त क्यों नहीं बैठा रहता, अपनेको कुछ फल न देनेवाली और दूसरोंको दुःख देनेवाली सृष्टि किसलिए करता है, उसपर कहते हैं—"न च स्वभाव" इत्यादिसे। काल, धर्म आदि सामग्री होनेसे सृष्टिका परिहार

भाष्य

त्वात् । यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित् सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत, तथापि नैवात्र किञ्चित् प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः । नाप्य-प्रवृत्तिरुन्मत्तप्रवृत्तिर्वा, सृष्टिश्रुतेः, सर्वज्ञत्वश्रुतेश्च । न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रति-पादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम् ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

शक्ति अपरिमित है । यद्यपि लोकमें लीलाओंमें भी किसी सूक्ष्म प्रयोजनकी उत्प्रेक्षा की जा सकती है, तो भी परमात्माके विषयमें किसी भी प्रयोजनकी उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि परमेश्वर आप्तकाम है, ऐसी श्रुति है, इसी प्रकार अप्रवृत्ति या उन्मत्तकीसी प्रवृत्ति भी नहीं है, क्योंकि श्रुति सृष्टिका-प्रतिपादन करती है और सर्वज्ञत्वका भी प्रतिपादन करती है । और यह सृष्टि-श्रुति परमार्थविषयिणी है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अविद्यासे कल्पित नामरूप व्यवहार इस श्रुतिका विषय है और यह ब्रह्मात्मभावका प्रतिपादन करनेके लिए है, यह न भूल जाना चाहिए ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभा

यदुक्तं गुरुतरायासस्य फलं वाच्यमिति, तत्र हेत्वसिद्धिमाह—**यद्यपीत्यादिना** । अल्पप्रवृत्तेरपि फलं वाच्यं लोके तथा दर्शनादित्यादितर्कस्याऽऽगमबाधमाह—**यदि नामेति** । सृष्टिश्रुतेरप्रवृत्तिर्नास्ति, सर्वज्ञत्वश्रुतेरुन्मत्तता नास्तीति विभागः । स्वप्नसृष्टिवदस्याः सृष्टेर्मायामात्रत्वान्न फलापेक्षेत्याह—**न चेयमिति** । न च निष्फ-लसृष्टिश्रुतीनामानर्थक्यम्, सफलब्रह्मधीशेषत्वेनाऽर्थवत्त्वादित्युक्तं न विस्मर्तव्यम् इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ (११)

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं हो सकता, ऐसा अर्थ है । और गुरुतर आयासका फल कहना चाहिए, ऐसा जो कहा है, उसमें हेतु असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे । 'अल्प प्रवृत्तिका भी फल कहना चाहिए, क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है, यह तर्क आगमसे बाधित है, ऐसा कहते हैं—"यदि नाम" इत्यादिसे । सृष्टिकी श्रुति होनेसे अप्रवृत्ति नहीं है और सर्वज्ञत्वकी श्रुति होनेसे उन्मत्तता नहीं है, ऐसा समझना चाहिए । स्वप्नसृष्टिके समान यह सृष्टि भी मायामात्र है, इसलिए फलकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चेयम्" इत्यादिसे । और निष्फल सृष्टिश्रुतियाँ अनर्थक हों, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सफल ब्रह्म प्रतीतिकी अंगभूत होनेसे वे सप्रयोजन हैं, ऐसा कहा गया है, उसको नहीं भूलना चाहिए, ऐसा अर्थ है ॥ ३३ ॥

[१२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण सू० ३४–३६]

वैषम्याद्यापतेन्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः ।
सृजन्विषम ईशः स्यान्निर्घृणश्चोपसंहरन् ॥१॥
प्राण्यनुष्ठितधर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते ।
नातो वैषम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चादिमान् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्ममें वैषम्य आदि दोषोंका संभव है, या नहीं ?

पूर्वपक्ष—मनुष्य आदिके भेदसे सुख, दुःख आदिकी सृष्टि करता हुआ ईश्वर विषम होगा और सबका संहार करता हुआ निर्घृण होगा ।

सिद्धान्त—प्राणियों द्वारा अनुष्ठित धर्म आदिकी अपेक्षासे ईश्वर प्रवृत्त होता है, इसलिए वैषम्य, नैर्घृण्य दोष नहीं है और संसार अनादि है ।

---

* तात्पर्य यह कि—पूर्वपक्षी कहता है कि ईश्वर देवता आदिको अत्यन्त सुखी उत्पन्न करता है, पशु आदियोंको अत्यन्त दुःखी उत्पन्न करता है, मनुष्योंको सुखदुःखसाधारण उत्पन्न करता है, इस प्रकार तारतम्यसे प्राणिविशेषमें सुख, दुःख उत्पन्न करता हुआ ईश्वर विषम क्यों न होगा और नीचोंसे भी अत्यन्त जुगुप्सित देव, पशु, मनुष्य आदि सम्पूर्ण जगत् का संहार करता हुआ निर्घृण क्यों न होगा । इसलिए ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष प्रसक्त होते हैं ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वरमें वैषम्य दोष लागू नहीं है, क्योंकि प्राणियोंके उत्तम, मध्यम और अधम रूप वैषम्यमें उनके कर्म ही प्रयोजक हैं । इससे ईश्वरकी स्वतंत्रता नष्ट नहीं हो जाती, क्योंकि वह अन्तर्यामी होनेके कारण कर्माध्यक्ष है । यदि ऐसा हो, तो घट्टकुटी-प्रभातन्याय प्राप्त होगा, क्योंकि ईश्वरमें वैषम्यका परिहार करनेके लिए कर्मोंको वैषम्यका हेतु कहकर पुनः ईश्वरकी स्वतंत्रताकी सिद्धिके लिए उसे कर्मनियामक माननेसे अन्ततोगत्वा ईश्वरमें ही वैषम्यका प्रसंग होगा । यह दोष नहीं है, क्योंकि नियामकत्वका अर्थ उन उन वस्तु शक्तियों की अव्यवस्थाका परिहारमात्र है, शक्तियां तो मायाकी शरीरभूत हैं उनका उत्पादक ईश्वर नहीं है । इसलिए अपनी अपनी शक्तिके वशसे कर्म वैषम्यके हेतु होनेपर भी उनके व्यवस्थापक ईश्वरके वैषम्यका प्रसंग नहीं है । संहार तो सुषुप्तिके समान दुःखका कारण नहीं है, किन्तु उसके विपरीत सब क्लेशोंका निवर्तक होनेसे दयालु ही है । अवान्तर सृष्टियोंमें पूर्व पूर्व कर्मोंकी अपेक्षासे सृष्टि करते हुए ईश्वरमें वैषम्य न होनेपर भी प्रथम सृष्टिमें पूर्व कर्मके संभव न होनेसे वैषम्य दोष ज्योंका त्यों है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सृष्टिपरम्परा अनादि है । इसमें "नान्तो न चादिः" (न इसका अन्त है, न आदि है) इत्यादि स्मृति प्रमाण है । इससे कोई दोष नहीं है ।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—वैषम्यनैर्घृण्ये, न, सापेक्षत्वात्, तथा, हि, दर्शयति ।

पदार्थोक्ति—वैषम्यनैर्घृण्ये न—ब्रह्मणो वैषम्यनैर्घृण्ये न स्याताम्, [कुतः] सापेक्षत्वात्—प्राणिकर्मसापेक्षत्वात् [ननु कस्मात् ब्रह्मणः कर्मसापेक्षत्वम् ? अत आह] तथाहि दर्शयति—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्याद्या श्रुतिः ।

भाषार्थ—ब्रह्ममें विषमता और निष्करुणता दोष लागू नहीं होते, क्योंकि जो कुछ प्राणियोंको दुःख ही दुःख, कुछको सुख और दुःख और कुछको अतिसुख प्राप्त होता है वह उनके कर्मोंपर निर्भर है । ब्रह्म कर्मके अनुसार सुखदुःख देता है इस विषयमें 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' (यही साधु कर्म कराता है) इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं ।

भाष्य

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याऽऽक्षिप्यते स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्याऽर्थस्य दृढीकरणाय । नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते । कुतः ? वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात् । कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्, कांश्चि-

भाष्यका अनुवाद

ईश्वर जगत् के जन्म आदिका हेतु है, इस प्रतिज्ञात अर्थको स्थूणानिखनन-न्यायसे दृढ़ करनेके लिए फिर आक्षेप करते हैं । ईश्वर जगत्का कारण है, यह उपपन्न नहीं होता । किससे ? वैषम्य और नैर्घृण्यके प्रसंगसे । वह कुछको—

रत्नप्रभा

वैषम्यनैर्घृण्ये नेति । निर्दोषाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन् समन्वयो विषय स किं 'यो विषमकारी स दोषवान्' इति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वत्र लीलया यत्स्रष्टृत्वमुक्तं तदेव कर्मादिसापेक्षस्य न युक्तम्, अनीश्वरत्वापत्तेः, निरपे-क्षत्वे रागादिदोषापत्तेः इत्याक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—**पुनश्चेत्यादिना** । ब्रह्मैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

निर्दोष ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि कहनेवाला वेदान्त समन्वय इस अधिकरणका विषय है, वह क्या 'जो विषम कार्य करता है, वह दोषवान् है' इस न्यायसे विरुद्ध है या नहीं ? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्व अधि-करणमें लीलासे जो स्रष्टृत्व कहा गया है, वही कर्मादिकी अपेक्षा रखनेवाले ईश्वरमें युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसमें अनीश्वरत्व प्रसंग आवेगा और निरपेक्ष होकर स्रष्टा माननेसे रागादि दोष उसमें प्रसक्त होंगे, इस प्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"पुनश्च" इत्यादिसे । ब्रह्म ही

भाष्य

दत्यन्तदुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः श्रुतिस्मृत्यवधारितस्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत। तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात् सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत। तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। कस्मात्? सापेक्षत्वात्। यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते

भाष्यका अनुवाद

देवता आदिको वह अत्यन्त सुखी बनाता है, कुछको—पशु आदिको अत्यन्त दुःखी बनाता है और कुछको—मनुष्य आदिको सुख-दुःख भोगनेवाला बनाता है। इस प्रकार विषम सृष्टिका निर्माण करनेवाले ईश्वरमें साधारण मनुष्यके समान राग और द्वेषकी उपपत्ति होनेसे श्रुति और स्मृतिमें कहे गये स्वच्छतादि ईश्वरस्वभावका लोप हो जायगा। इसी प्रकार उसने सब प्राणियोंको दुःखी बनाया है और वह सब प्रजाका संहार करता है, इसलिए उसमें दुष्टजनोंसे भी गर्हित निर्घृणत्व—अतिक्रूरताकी प्राप्ति होगी। इसलिए वैषम्य और नैर्घृण्यके प्रसंगसे ईश्वर कारण नहीं है, ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—वैषम्य और नैर्घृण्य ईश्वरमें प्रसक्त नहीं होते। किससे? सापेक्ष होनेसे। यदि ईश्वर केवल निरक्षेप होकर विषम सृष्टिका निर्माण

रत्नप्रभा

जगत्कारणमिति जन्मादिसूत्रे प्रतिज्ञातोऽर्थः। पृथग्जनः—पामरः। 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इति श्रुतिः, 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इति स्मृतिः, स्वच्छत्वादीति आदिपदेन कूटस्थत्वग्रहः। स्वच्छत्वादिश्चासौ ईश्वरस्वभावश्चेति विग्रहः।

निमित्तमनपेक्ष्य विषमकारित्वे वैषम्यादिदोषः स्यात्, न तु अनपेक्षत्वमीश्वरस्यास्तीति सिद्धान्तयति—**एवं प्राप्त इत्यादिना**। न च सापेक्षत्वे अनीश्वरत्वम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगत्का कारण है, ऐसा जन्मादि सूत्रमें प्रतिज्ञात अर्थ है। पृथग्जन—पामर। 'निरवद्यं निरञ्जनम्' ऐसी श्रुति है और 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' ऐसी स्मृति है। 'स्वच्छत्वादि'में आदि पदसे कूटस्थत्वका ग्रहण है। 'स्वच्छत्वादिश्चासौ ईश्वरस्वभावश्च' ऐसा विग्रह है।

यदि निमित्तकी अपेक्षाके बिना ईश्वर विषम सृष्टि करे, तो वैषम्य आदि दोष होंगे, परंतु ईश्वर सृष्टि करनेमें निरपेक्ष नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। ईश्वरके सापेक्ष होनेसे वह

भाष्य

स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यं च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति, सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्। धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्याऽपराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवाऽसाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्त्येवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति। कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमध्य-

भाष्यका अनुवाद

करता, तो वैषम्य और नैर्घृण्य ये दो दोष होते। परन्तु वह निरपेक्ष होकर निर्माण नहीं करता, बल्कि सापेक्ष होकर विषम सृष्टिका निर्माण करता है। किसकी अपेक्षा रखता है, ऐसा कहो, तो धर्म और अधर्मकी अपेक्षा रखता है, ऐसा हम कहते हैं। सृज्यमान प्राणियोंके धर्म और अधर्मकी अपेक्षासे सृष्टि विषम होती है, अतः ईश्वरका कोई अपराध नहीं है। ईश्वरको तो पर्जन्यके समान समझो। जैसे व्रीहि, यव आदिकी सृष्टिमें पर्जन्य साधारण कारण है और व्रीहि, यव आदिकी विषमतामें तो उस बीजमें रहनेवाली सामर्थ्य असाधारण कारण है। इस प्रकार देव, मनुष्य आदिकी सृष्टिका ईश्वर साधारण कारण है और देव, मनुष्य आदि की विषमतामें तो तत् तत् जीवमें रहनेवाले कर्म असाधारण कारण होते हैं। इस प्रकार ईश्वर कर्मकी अपेक्षा रखनेसे वैषम्य और नैर्घृण्यरूप दोषोंका

रत्नप्रभा

सेवामपेक्ष्य फलदातरि राज्ञि ईश्वरत्वानपायात्। ननु तर्हि धर्माधर्माभ्यामेव विचित्रा सृष्टिरस्तु, किमीश्वरेण? इत्यत आह—ईश्वरस्तु पर्जन्यवदिति। साधारणहेतुसहितस्यैव असाधारणहेतोः कार्यकारित्वाद् न ईश्वरवैयर्थ्यम्, अन्यथा पर्जन्यवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनीश्वर हो जायगा यह कहना अयुक्त है, क्योंकि सेवाके अनुसार फल देनेवाले राजाका ईश्वरत्व नष्ट नहीं होता। तब धर्म और अधर्मसे ही विचित्र सृष्टि हो, ईश्वरका क्या प्रयोजन है? इसपर कहते हैं—"ईश्वरस्तु पर्जन्यवत्" इत्यादिसे। साधारण हेतुके साथ ही असाधारण हेतु कार्य करता है, इसलिए ईश्वर व्यर्थ नहीं है, ऐसा न हो, तो पर्जन्यको भी व्यर्थ मानना पड़ेगा।

भाष्य

मोत्तमं संसारं निर्मिमीत इति। तथा हि दर्शयति श्रुतिः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ब्रा० ३।८) इति। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० ३।२।१३) इति च। स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेवेश्वरस्याऽनुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वं च दर्शयति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इत्येवं जातीयका ॥ ३४ ॥

भाष्यका अनुवाद

भाजन नहीं होता। परन्तु सापेक्ष ईश्वर नीच, मध्यम और उत्तम संसारका निर्माण करता है, यह कैसे समझा जाता है? श्रुति उसी प्रकार को दर्शाती है—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति०' (जिसको इस लोकसे ऊंचा ले जाना चाहता है, उससे यही साधु कर्म कराता है और जिसको नीचे ले जाना चाहता है, उससे यही बुरे कर्म कराता है) और 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा०' (पुण्य कर्मसे पुण्यशाली और पाप कर्मसे पापी होता है)। स्मृति भी प्राणियोंके कर्म विशेषकी अपेक्षा रखकर ही ईश्वर अनुग्रह और निग्रह करता है, ऐसा दिखलाती है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते०' (जो जैसे मुझको प्राप्त करता है, उसको मैं वैसे ही भजता हूँ) इस प्रकारकी स्मृति है ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभा

भावः। यं जनम् उन्निनीषते ऊर्ध्वं नेतुमिच्छति तं साधु कारयति, एष ईश्वर इत्यन्वयः। न च कञ्चिद् जनं साधु कञ्चिदसाधु कर्म कारयतो वैषम्यं तदवस्थमिति वाच्यम्। अनादिपूर्वार्जितसाध्वसाधुवासनया स्वाभावेन जनस्य तत्तत्कर्मसु प्रवृत्तौ ईश्वरस्य साधारणहेतुत्वात्, अतोऽनवद्य ईश्वर इति भावः ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस मनुष्यको ऊँची स्थितिमें ले जाना चाहता है, उससे यह ईश्वर साधु कर्म कराता है, ऐसा अन्वय समझना चाहिए, परन्तु किसी एक पुरुषसे साधु कर्म कराता है और किसीसे असाधु कर्म कराता है, इसलिए ईश्वरमें वैषम्य ज्यों का त्यों है यह कहना युक्त नहीं है, अनादि कालसे पूर्वसंचित साधु या असाधु वासनाओंसे पुरुष स्वभावसे ही तत् तत् कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, इसमें ईश्वर साधारण हेतु है, इससे ईश्वर दोषरहित है, ऐसा अर्थ है ॥ ३४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—न, कर्म, अविभागात्, इति, चेत्, न अनादित्वात् ।

पदार्थोक्ति—अविभागात्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदकेमेव' इत्यादिश्रुत्या सृष्टेः प्राक् अविभागावधारणात्, न कर्म—न तदानीं कर्मास्ति [अतः 'कर्मापेक्षया विषमा सृष्टिः' इति असंगतम्] इति चेत्, न, अनादित्वात्—संसारस्य अनादित्वात् तयोः बीजाङ्कुरवद् हेतुहेतुमद्भावोपपत्तेः । [अतः कर्मापेक्षयैव सृष्टिः विषमा भवति] ।

भाषार्थ—'सदेव सोम्ये०' (हे सोम्य ! सृष्टिके पूर्व यह जगत् एक सत् रूप ही था) इत्यादि श्रुतिसे सृष्टिके पूर्व भेदका अभाव कहा गया है, अतः उस समय कर्म नहीं था, इसलिए कर्म की अपेक्षासे विषम सृष्टि है यह कथन असंगत है ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि संसारके अनादि होनेसे सृष्टि और कर्मका बीज और अंकुरके समान कार्यकारणभाव है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मकी अपेक्षासे सृष्टि विषम है ।

भाष्य

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति प्राक्सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः स्यात् । सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग

भाष्यका अनुवाद

'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य ! सृष्टिके पूर्वमें यह एक अद्वितीय सत्स्वरूप ही था) इस प्रकार सृष्टिके पूर्वमें भेदका अभाव निश्चित किया है, इससे कर्म ही नहीं है जिसकी अपेक्षासे विषम सृष्टि हो । शरीरादि विभागकी अपेक्षा रखनेवाला

रत्नप्रभा

प्रथमसर्गस्य वैषम्यहेतुकर्माभावादेकरूपत्वं स्यात्, तथा तदुत्तरकल्पानामपीति आक्षिप्य समाधत्ते सूत्रकारः—**न कर्मेति**। प्रथमसृष्टेः पश्चाद् भाविकर्मकृतं वैषम्य-मित्याशङ्क्य अन्योन्याश्रयमाह—**सृष्ट्युत्तरेति**। आद्या सृष्टिरिति उपलक्षणम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रथम सृष्टिमें वैषम्यके हेतु कर्मोंके अभावसे एकरूप ही सृष्टि हो और पीछेके कल्पोंमें भी ऐसी ही हो, ऐसा आक्षेप करके सूत्रकार समाधान करते हैं—"न कर्म" इत्यादिसे। प्रथम सृष्टिमें पीछेसे होनेवाले कर्मोंसे जनित वैषम्य है, ऐसी आशंका करके अन्योन्याश्रय कहते

भाष्य

इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत । अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम, प्राग्विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात् तुल्यैवाऽऽद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत् ।

नैष दोषः। अनादित्वात् संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान् संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते ॥ ३५ ॥

कथं पुनरवगम्यतेऽनादिरेष संसार इति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

कर्म सृष्टिके उत्तर कालमें होता है और शरीरादि विभागको कर्मकी अपेक्षा है, ऐसा इतरेतराश्रय प्रसक्त होगा । इस कारणसे विभागके बाद कर्मकी अपेक्षा रखनेवाला ईश्वर प्रवृत्तिमान् भले हो, परन्तु विभागके पूर्व वैचित्र्यका निमित्त जो कर्म है, उसके अभावसे आद्य सृष्टि तो तुल्य ही प्राप्त होती है, ऐसा यदि कहो,

तो यह दोष नहीं है, क्योंकि संसार अनादि है । यह संसार सादि होता, तो यह दोष होता । परन्तु संसारके अनादि होनेसे बीज और अंकुरके समान हेतुहेतुमद्भावसे कर्म और विषम सृष्टिकी प्रवृत्तिमें कोई विरोध नहीं है ॥ ३५ ॥

यह संसार अनादि है यह कैसे जाना जाता है ? इसपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

आदौ एकरूपत्वे मध्ये विषमकर्मोत्पत्तौ हेत्वभावेन उत्तरसृष्टीनामपि तुल्यत्वस्य दुर्वारत्वादिति द्रष्टव्यम् । परिहारः सुगमः ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—'सृष्ट्युत्तर'' इत्यादिसे । आद्य सृष्टि यह उपलक्षण है । आरंभमें सृष्टि एकरूप हो, तो मध्यमें विषम कर्मकी उत्पत्तिके लिए हेतु न होनेसे उत्तर सृष्टियोंका भी तुल्यत्व दुर्निवार होगा, ऐसा समझना चाहिए । इसका खण्डन सहज है[1] ॥ ३५ ॥

१—यदि संसार सादि होता तो विचित्रताके निमित्तोंका अभाव होनेके कारण उसमें एकरूपता होती । लेकिन संसार अनादि है, अतः पूर्व-पूर्व कर्मोंकी विचित्रतासे उत्तर-उत्तर विचित्र सृष्टि होती है ऐसा सिद्धान्तीका अभिप्राय है ।

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—उपपद्यते, च, अपि, उपलभ्यते, च।

पदार्थोक्ति—उपपद्यते च—संसारस्याऽनादित्वमुपपद्यते च, [अन्यथाऽकस्मादेव सृष्ट्यङ्गीकारे मुक्तस्यापि पुनर्जन्म प्रसंगात्, पूर्वसृष्टिसादृश्यानुपपत्तेश्च] उपलभ्यते च—संसारस्याऽनादित्वमुपलभ्यते च ["धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्यादिश्रुतेः, 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' इत्यादिस्मृतेश्च]

भाषार्थ—संसारकी अनादिता उपपन्न है, सृष्टिकी अनादिता न मानकर यदि अकस्मात् सृष्टि मान ली जाय, तो मुक्तोंका भी पुनर्जन्म होनेकी नौबत आयेगी और पूर्व सृष्टिका सादृश्य अनुपपन्न हो जायगा। श्रुति और स्मृतिमें संसारकी अनादिता उपलब्ध होती है, क्योंकि 'धाता यथापूर्वम्०' (ब्रह्माने पूर्वके अनुसार ही जगत्की सृष्टि की) इत्यादि श्रुति और "न रूपमस्येह०" (इस कल्पित जगत्का पारमार्थिक अधिष्ठान पर ब्रह्मको प्राकृत पुरुष घट, पट आदिके समान नहीं देख सकते। इस जगत्का न अन्त है, न आदि है और न मध्य है) इत्यादि स्मृति है।

भाष्य

उपपद्यते च संसारस्याऽनादित्वम्। आदिमत्त्वे हि संसारस्याऽकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः। अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुख-

भाष्यका अनुवाद

संसारकी अनादिता, उपपन्न है। यदि संसार सादि हो, तो उसके अकस्मात् उत्पन्न होनेसे मुक्त पुरुषोंके भी संसारमें फिरसे जन्म होनेकी नौबत आ जायगी।

रत्नप्रभा

प्रथमसर्गः कश्चिद् नास्ति इत्यत्र प्रमाणं पृच्छति—**कथं पुनरिति**। उपपत्तिसहितश्रुत्यादिकं प्रमाणमिति सूत्रव्याख्यया दर्शयति—**उपपद्यते इति**। हेतुं विनैव सर्गाङ्गीकारे ज्ञानकर्मकाण्डवैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः। ननु सुखादिवैषम्ये ईश्वरोऽविद्या वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रथम सृष्टि कोई नहीं है, इसमें प्रमाण पूछते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। उपपत्तिसहित श्रुति आदि प्रमाण हैं, ऐसा सूत्रकी व्याख्यासे दिखलाते हैं—'उपपद्यते' इत्यादिसे। हेतुके बिना सृष्टिका अंगीकार करनेसे ज्ञानकांड और कर्मकांड व्यर्थ हो जायँगे ऐसा अर्थ है। परंतु

भाष्य

दुःखादिवैषम्यस्य निर्निमित्तत्वात् । न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम् । न चाऽविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम्, एकरूपत्वात् । रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या वैषम्यकरी स्यात् । न च कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति, न च शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीतीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः । अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति । उपलभ्यते च संसारस्याऽना-

भाष्यका अनुवाद

अकृत पाप पुण्य की प्राप्ति होगी, क्योंकि ऐसी अवस्थामें सुख, दुःख आदि विषमता अनिमित्त होगी । ईश्वर वैषम्यका हेतु नहीं है, यह पीछे कहा गया है । इसी प्रकार केवल अविद्या भी वैषम्यकी कारण नहीं है, क्योंकि वह एकरूप है । रागादि क्लेशोंकी वासनाओंसे उत्पन्न हुए कर्मोंकी अपेक्षासे तो अविद्या वैषम्य उत्पन्न करनेवाली हो सकती है । कर्मके बिना शरीर नहीं हो सकता और शरीरके बिना कर्म नहीं हो सकता, इस प्रकार अन्योन्याश्रयका प्रसंग आवेगा । परन्तु संसार अनादि है यह माननेमें बीजांकुरन्यायसे उपपत्ति होनेसे कुछ भी दोष नहीं है । संसार अनादि है

रत्नप्रभा

हेतुरस्तु इत्याशङ्क्य क्रमेण दूषयति--**न चेश्वर इत्यादिना** । कस्तर्हि हेतुः, तत्राह--**रागादीति** । रागद्वेषमोहाः क्लेशाः, तेषां वासनाभिराक्षिप्तानि कर्माणि धर्माधर्मव्यामिश्ररूपाणि, तदपेक्षा तु अविद्या सुखादिसर्गवैचित्र्यहेतुः, तस्मादविद्यासहकारित्वेन क्लेशकर्मणाम् अनादिप्रवाहोऽङ्गीकर्तव्य इति भावः । किञ्च, सृष्टेः सादित्वे प्रथमशरीरस्योत्पत्तिर्न सम्भवति हेत्वभावात्, न च कर्म हेतुः शरीरात् प्राक् कर्मासम्भवात्, तस्मात् कर्मशरीरयोरन्योन्याश्रयपरिहाराय सर्वैरेव वादिभिः संसारस्य अनादित्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

सुखादि वैषम्यका ईश्वर या अविद्या हेतु हो, ऐसी आशंका करके क्रमशः दूषित करते हैं—"न चेश्वरः" इत्यादिसे । विषम सृष्टिमें कौन कारण है ? इसपर कहते हैं—"रागादि" इत्यादिसे । रागादि ही क्लेश हैं उनकी वासना कर्मप्रवृत्तिके अनुगुण है । वासनाओंसे आक्षिप्त अर्थात् प्रवर्तित हुए कर्म धर्म-अधर्मसे मिश्रित होते हैं उनकी अपेक्षासे अविद्या सुखादि विचित्र सृष्टिमें हेतु है । इसलिए अविद्याके सहकारी होनेसे क्लेश कर्मोंका अनादि प्रवाह स्वीकार करना चाहिए ऐसा भाव है । और सृष्टि सादि—आदिमान् हो, तो प्रथम शरीरकी उत्पत्ति संभव नहीं है, क्योंकि हेतुका अभाव है । कर्म भी हेतु नहीं है, क्योंकि शरीरके पूर्व कर्मका असंभव है, इसलिए कर्म और शरीरके अन्योन्याश्रयका परिहार करनेके लिए सर्ववा-

भाष्य

दित्वं श्रुतिस्मृत्योः। श्रुतौ तावत् "अनेन जीवेनात्मना" (छा० ६।३।२) इति सर्गप्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाऽभिलपन्न-नादिः संसार इति दर्शयति। आदिमत्त्वे तु प्रागनवधारितप्राणः सन् कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभिलप्येत। न च धारयिष्य-तीत्यतोऽभिलप्येत, अनागताद्धि सम्बन्धादतीतः सम्बन्धो बलीयान् भवति, अभिनिष्पन्नत्वात्। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ०सं० १०।१९०।३) इति च मन्त्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति। स्मृतावप्यनादि-त्वं संसारस्योपलभ्यते—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न

भाष्यका अनुवाद

ऐसा श्रुति और स्मृतिमें उपलब्ध होता है। श्रुतिमें 'अनेन जीवेनात्मना' (उस जीवरूप आत्मा द्वारा) इस प्रकार सृष्टिके आरंभमें शारीर आत्मा को प्राण-धारण कर्ता होनेके कारण जीवशब्दसे कहकर संसार अनादि है, ऐसा दिखलाते हैं। परन्तु संसार आदिमान् हो, तो पूर्वमें प्राणधारण न करनेपर प्राणधारण निमित्त जीवशब्दसे सृष्टिके आरंभमें उसका किस प्रकार निर्देश होगा ? 'धारयिष्यति' (धारण करेगा) इससे ऐसा निर्देश है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनागत संबन्धसे अतीत संबंध अभिनिष्पन्न—सिद्ध होनेके कारण बलवान् है। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता' (सूर्य और चन्द्रमाकी धाताने पूर्वके अनुसार कल्पना की) यह मंत्रवर्ण पूर्व कल्पका सद्भाव दिखलाता है। स्मृतिमें भी संसार अनादि है, ऐसा उपलब्ध होता है—'न रूपमस्येह०' (यहां उसका वैसा रूप उपलब्ध नहीं

रत्नप्रभा

अङ्गीकार्यमित्याह—**न चेति**। सर्गप्रमुखे सृष्ट्यादौ प्रागनवधारितप्राणोऽपि सन् प्रत्यगात्मा भाविधारणनिमित्तेन जीवशब्देनोच्यतामित्यत्राह—**न च धारयिष्यतीति**। "गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयाद्" इत्यादावगत्या भाविवृत्त्याश्रयणमिति भावः। अस्य संसारवृक्षस्य स्वरूपं सत्यं मिथ्या वेति उपदेशं विना नोपलभ्यते, ज्ञानं विना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

दियोंको संसारका अनादित्व स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'न च" इत्यादिसे। पूर्वमें सृष्टिके आरंभमें प्राणधारण नहीं करनेपर भी प्रत्यगात्माको भावी प्राणधारणनिमित्त जीवशब्दसे कहो, इसपर कहते हैं—"न च धारयिष्यति" इत्यादिसे। 'गृहस्थ अपने सदृश भार्यासे विवाह करे' इत्यादिमें अगत्या भविष्य वृत्तिका आश्रयण किया गया है यह भाव है। इस संसारवृक्षका स्वरूप सत्य है या मिथ्या यह उपदेशके बिना समझमें नहीं

भाष्य

च सम्प्रतिष्ठा' (गी० १५।३) इति । पुराणे चाऽतीतानामनागतानां च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम् ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता, उसका अन्त, आदि और मध्य नहीं है)। और पुराणोंमें अतीत और अनागत कल्पोंका परिमाण नहीं है, ऐसा कहा गया है ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभा

ऽन्तोऽपि नास्ति, नाप्यादिरुपलभ्यते, असत्त्वादेव; न च सम्प्रतिष्ठा—मध्ये स्थितिः दृष्टनष्टस्वरूपत्वादिति गीतावाक्यार्थः । संसारस्य अनादित्वेऽपि मिथ्यात्वाद् "एक-मेवाद्वितीयम्" [छा० ६।२।१] इत्यवधारणमुपपन्नम् । तस्मात् निरवद्ये ब्रह्मणि समन्वयाविरोध इति सिद्धम् ॥ ३६ ॥ (१२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

आता, ज्ञानके बिना इसका अंत भी नहीं है, उसका आदि भी उपलब्ध नहीं है, क्योंकि अस्तित्व ही नहीं है; संप्रतिष्ठा—स्थिति भी नहीं है, क्योंकि दृष्टनष्टस्वरूप है, ऐसा गीतावाक्यका अर्थ है। संसार अनादि है, तो भी मिथ्या होनेसे 'एकमेवाद्वितियम्' (एक ही अद्वितीय) यह अवधारण उपपन्न है। इसलिए निर्दोष ब्रह्ममें समन्वयका अविरोध है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥३६॥



[१३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण ३७]

नास्ति प्रकृतिता यद्वा निर्गुणस्याऽस्ति नास्ति सा ।
मृदादेः सगुणस्यैव प्रकृतित्वोपलम्भनात् ॥१॥
भ्रमाधिष्ठानताऽस्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते ।
निर्गुणेऽप्यस्ति जात्यादौ सा ब्रह्म प्रकृतिस्ततः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—निर्गुण प्रकृति—उपादानकारण हो सकता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—लोकमें मृत्तिका आदि सगुण ही—उपादानकारण देखे गये हैं। इसलिए निर्गुण उपादान कारण नहीं हो सकता है।

सिद्धान्त—हम भ्रमके अधिष्ठानको प्रकृति कहते हैं, निर्गुण जाति आदि भी प्रकृति हैं, इसलिए ब्रह्म प्रकृति हो सकता है।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—सर्वधर्मोपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—सर्वधर्मोपपत्तेश्च—जगत्कारणत्वसर्वज्ञत्वादीनां सर्वेषां कारण-धर्माणां पूर्वोक्तप्रकारेण ब्रह्मण्येवोपपत्तेः निर्गुणं सदपि ब्रह्मैव जगत्कारणं भवितुमर्हति ।

भाषार्थ—जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व आदि सब कारण धर्मोंकी पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्ममें उपपत्ति होनेसे निर्गुण भी ब्रह्म जगत्का कारण हो सकता है।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—कार्यके आकारसे विकृत—परिणत होनेवाली वस्तु प्रकृति है। लोकमें सगुण मिट्टी आदि ही प्रकृति देखे गये हैं, इसलिए निर्गुण ब्रह्म प्रकृति नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि 'प्रक्रियतेऽनया प्रकृतिः' इस व्युत्पत्तिसे कार्यरूपसे प्रकृत—परिणत होनेवाली वस्तु ही प्रकृति प्रतीत होती है, तथापि विकृत होना दो प्रकारसे संभव होता है—जैसे दूध आदि दही आदिके रूपमें परिणत होते हैं और जैसे रस्सी आदि सर्प आदि भ्रमके अधिष्ठान होते हैं। निर्गुण ब्रह्म यद्यपि परिणामी नहीं है तथापि भ्रमका अधिष्ठान तो वह हो ही सकता है। निर्गुण जाति आदिमें भ्रमकी अधिष्ठानता देखी जाती है। क्योंकि मलिन ब्राह्मणको देख कर 'यह शूद्र है' ऐसा भ्रमरूप व्यवहार होता है। इससे निर्गुण ब्रह्म भी प्रकृति है यह सिद्ध हुआ।

भाष्य

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्तान् विलक्षणत्वादीन् दोषान् पर्यहार्षीदाचार्यः, इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणं प्रारिप्समानः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति। यस्मादस्मिन् ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा

भाष्यका अनुवाद

चेतन ब्रह्म जगत्‌का कारण और प्रकृति है, इस निश्चित वेदार्थमें प्रतिपक्षियों द्वारा लगाये गये विलक्षणत्व आदि दोषोंका आचार्यने परिहार किया। अब जिसमें परपक्षका निषेध प्रधान है, ऐसे प्रकरणके आरंभ करनेकी इच्छा करते हुए (आचार्य) जिस प्रकरणमें स्वपक्षका परिग्रह प्रधान है, उसका उपसंहार करते

रत्नप्रभा

सर्वधर्मोपपत्तेश्च। निर्गुणस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्ववादिवेदान्तसमन्वयो विषयः, स किं यत् निर्गुणं तन्नोपादानं यथा रूपमिति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे भवत्वीश्वरस्य विषमसृष्टिनिमित्तत्वम्, तत्प्रयोजकस्य कर्मणः सत्त्वान्न तूपादानत्वम्, तद्व्यापकस्य सगुणत्वस्य अभावादिति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रतात्पर्यमाह—**चेतनमिति।** विवर्तोपादानत्वं निर्गुणस्याऽप्यविरुद्धम्, अज्ञातत्वस्य भ्रमाधिष्ठानत्वप्रयोजकस्य सत्त्वात्, सगुणत्वं त्वव्यापकम् शब्दादिगुणेषु नित्यत्वादिभ्रमदर्शनादिति भावः। यद्यपि सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च लोके कारणधर्मत्वेन अप्रसिद्धम्, तथापि यो यस्य कर्ता स तस्य सर्वस्य ज्ञाता शक्तश्चेति प्रसिद्धम्, ईश्वरस्यापि सर्वकर्तृत्वश्रवणात् प्रसिद्ध्यनुसारेणाऽर्थान्निरतिशयसर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सर्व धर्मोपपत्तेश्च"। निर्गुण ब्रह्मको जगत्‌का उपादान कहनेवाला वेदान्त समन्वय विषय है, वह 'जो निर्गुण है, वह उपादान नहीं है, जैसे रूप', इस न्यायसे विरुद्ध है या नहीं ऐसा सन्देह होनेपर ईश्वर विषम सृष्टिका निमित्त कारण हो सकता, क्योंकि उसका प्रयोजक कर्म है, परन्तु उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि उसके व्यापक सगुणत्वका अभाव है, ऐसा प्रत्युदाहरणसे प्राप्त होनेपर सिद्धान्त सूत्रका तात्पर्य कहते हैं—"चेतनम्" इत्यादिसे। विवर्तका उपादानत्व निर्गुणमें भी अविरुद्ध है, क्योंकि जो अज्ञात है, वह भ्रमके अधिष्ठानका प्रयोजक हो सकता है। सगुणत्व तो अव्यापक है, क्योंकि शब्दादि गुणोंमें नित्यत्वादि भ्रम देखनेमें आता है, यह अर्थ है। यद्यपि सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व लोकमें कारणरूपसे अप्रसिद्ध है, तो भी जो जिसका कर्ता है, वह उस सबका ज्ञाता है और समर्थ है, यह प्रसिद्ध है। ईश्वर भी सबका कर्ता है, ऐसा श्रुति कहती है। इसलिए प्रसिद्धिके अनुसार अर्थात् निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व सिद्ध होता है, ऐसा विचार कर

भाष्य

उपपद्यन्ते "सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' इति, तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनमिति ॥ ३७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यशङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

हैं। इस ब्रह्मका कारणरूपसे स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त प्रकारसे 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति०' (ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् महामायायुक्त है) ऐसे सब कारणधर्म उपपन्न होते हैं, इसलिए औपनिषद दर्शनपर शंका करना ठीक नहीं है ॥३७॥

यतिवर श्री भोलेबाबा विरचित शांकरभाष्य भाषानुवादमें द्वितीय अध्यायका प्रथम पाद समाप्त ।

रत्नप्रभा

च—सिध्यतीति अभिसन्धायाऽऽह—सर्वज्ञं सर्वशक्तीति । महामायमिति कर्तृत्वोपादानत्वकथने सर्वशङ्कापङ्कक्षालनायोक्तम् । तस्मादौपनिषदसिद्धान्ते न कश्चिद् दोष इति सिद्धम् ॥३७॥२।१॥ (१३) ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-श्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शन-भाष्यव्याख्यायां रत्नप्रभायां द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ २ ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं "सर्वज्ञं सर्वशक्ति" इत्यादि । ब्रह्म कर्ता और उपादान है, यह कहनेमें सब शंकारूपी पंकका प्रक्षालन करनेके लिए "महामायम्" ऐसा कहा है, इसलिए औपनिषद दर्शनमें कुछ भी दोष नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥३७॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित द्वितीय अध्यायके प्रथम पादका रत्नप्रभा भाषानुवाद समाप्त ।



ॐ ब्रह्मणे नमः ।

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्र पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम् ।]

[१ रचनानुपपत्त्यधिकरण सू० १–१०]

प्रधानं जगतो हेतुर्न वा सर्वे घटादयः ।
अन्विताः सुखदुःखाद्यैर्यतो हेतुरतो भवेत् ॥१॥
न हेतुर्योग्यरचनाप्रवृत्त्यादेरसम्भवात् ।
सुखाद्या आन्तरा बाह्या घटाद्यास्तु कुतोऽन्वयः ॥२॥*

सन्देह—प्रधान जगत् का हेतु है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—चूंकि घट, पट आदि सब पदार्थ सुख, दुःख और मोह से युक्त हैं, अतः प्रतीत होता है कि (सुख-दुःख-मोहात्मक) प्रधान जगत्का हेतु है ।

सिद्धान्त—विचित्र जगत् की रचना और उसमें प्रवृत्तिका संभव न होनेसे अचेतन प्रधान जगत्का हेतु नहीं है । सुख, दुःख आदि आन्तर हैं, और घट, पट आदि बाह्य हैं, अतः घट, पट आदि सुख-दुःख-मोहात्मक कैसे हो सकते हैं ?

* तात्पर्य यह है कि सांख्य लोग कहते हैं—सुख-दुःख-मोहात्मक प्रधान जगत्का कारण है, क्योंकि जगत्में सभी पदार्थ सुख-दुःखसे युक्त दिखाई देते हैं । जब घट, पट आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं तब उनसे सुख होता है, क्योंकि उनसे जल लाना, शरीर आच्छादन आदि कार्यों का निर्वाह होता है । जब उन्हीं घट आदिको कोई चुरा ले जाता है, तब उन्हींको वे दुःख देते हैं । जिसे जल लाना आदि कार्यों की अपेक्षा नहीं है, उसे सुख और दुःख नहीं देते, किन्तु केवल उपेक्षणीयरूपसे स्थित रहते हैं । उपेक्षाका विषय होना ही मोह है । वैचित्त्यार्थक 'मुह' धातुसे मोहशब्दकी निष्पत्ति हुई है, अतएव उपेक्षणीय वस्तुओंमें चित्तवृत्ति नहीं जाती है । इसलिए सुख, दुःख और मोहका अन्वय—सम्बन्ध देखनेसे प्रधान प्रकृति है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—नहीं, प्रधान जगत्का हेतु नहीं है, क्योंकि देह, इन्द्रिय, पर्वत आदि असाधारण अवयवसंगठनसे युक्त जगत्की रचना करना अचेतन प्रधानकी योग्यताके बाहर है । व्यवहार में विचित्र महल आदि प्रतिनियत कार्यके निर्माता कोई अत्यन्त बुद्धिमान् व्यक्ति ही देखे जाते हैं । रचनाकी बात जाने दीजिए । रचनाकी सिद्धिके लिए अचेतनकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि चेतनसे अनधिष्ठित गाड़ी आदिमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । यदि चेतन पुरुषको प्रकृति—प्रधानका अधिष्ठाता मानें तो पुरुषकी असङ्गताकी हानि होती है । इससे सिद्धान्त ही चौपट होता है । और जो यह कहा है कि घट, पट आदि सुख, दुःख और मोहसे युक्त है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुख, दुःख आदि आन्तर हैं और घट, पट आदि बाह्य हैं, अतः उनका समन्वय ही नहीं हो सकता । इससे सिद्ध हुआ कि प्रधान जगत् का हेतु नहीं है ॥

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥१॥

पदच्छेद—रचनानुपपत्तेः, च, न, अनुमानम् ।

पदार्थोक्ति—अनुमानम्—'जगत् सुखदुःखमोहात्मकवस्तूपादानकं तदन्वितत्वात् मृदन्वितघटवत्' इत्यनुमानसिद्धं प्रधानम्, न—न जगदुपादानम्, [कुतः] रचनानुपपत्तेः—अचेतनात् स्रष्टव्यज्ञानशून्यात् प्रधानात् अनेकविधविचित्ररचनानुपपत्तेः । च—सुखादीनामान्तरत्वप्रतिपत्तेश्च [तदन्वितत्वं जगतोऽसिद्धम्, तस्मान्नास्ति सांख्यसिद्धान्तः प्रामाणिकः] ।

भाषार्थ—जगत् सुख-दुःख-मोहात्मक वस्तुसे बना हुआ है, सुख-दुःख-मोहसे युक्त होनेके कारण, मिट्टीसे बने हुए मृत्तिकायुक्त घटके समान, इस अनुमानसे सिद्ध प्रधान जगत्का उपादान कारण नहीं है, क्योंकि स्रष्टव्यके ज्ञानसे रहित अचेतन प्रधानसे विविध विचित्र रचनाएँ नहीं बन सकतीं। दूसरी बात यह है कि सुख, दुःख आदि आभ्यन्तर हैं उनसे बाह्य जगत्का अन्वित होना असिद्ध है, इसलिए सांख्यसिद्धान्त प्रामाणिक नहीं है ।

भाष्य

यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं न तर्कशास्त्रवत् केवलाभिर्युक्तिभिः कश्चित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि यह शास्त्र वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य निरूपण करनेके लिए प्रवृत्त हुआ है, तर्कशास्त्र की भाँति केवल युक्तियोंसे किसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करने या

रत्नप्रभा

सांख्यतार्किकबौद्धाश्च जैनाः पाशुपतादयः ।
यस्य तत्त्वं न जानन्ति तं वन्दे रघुपुङ्गवम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणि सर्वधर्मोपपत्तिवत् प्रधानेऽपि तदुपपत्तिम् आशङ्क्य निराचष्टे—**रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्** । ननु मुमुक्षूणां वाक्यार्थनिर्णयप्रतिबन्धनिरासाय वेदान्तानां तात्पर्यं निश्चेतुमिदं शास्त्रम् आरब्धम्, तच्च निर्दोषतया निश्चितम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

सांख्य, नैयायिक, बौद्ध, जैन, पाशुपत आदि जिनके तत्त्वको नहीं जानते उन रघुपुंगव (श्रीरामचन्द्रजी) को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

ब्रह्ममें जैसे सब धर्मोंकी उपपत्ति संभव है उसी प्रकार प्रधानमें भी सबधर्मोंकी उपपत्ति सम्भव है ऐसी आशङ्का करके निराकरण करते हैं—"रचनानुपत्तेश्चनानुमानम्" । यद्यपि मुमुक्षुओंके वाक्यार्थके निर्णय करनेमें जो प्रतिबन्धक हैं उनके निराकरण द्वारा वेदान्तोंके तात्पर्य्यका निर्णय करनेके लिए इस शास्त्रका आरम्भ किया गया है ।

भाष्य

तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थः परः पादः प्रवर्तते । वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात् तन्निर्णयेन स्वपक्षस्थापनं प्रथमं कृतं तदभ्यर्हितं परपक्षप्रत्याख्यानादिति । ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं किं परपक्षनिराकरणेन

भाष्यका अनुवाद

किसीको दूषित करनेके लिए प्रवृत्त नहीं हुआ है, तथापि वेदान्तवाक्योंका व्याख्यान करनेवालेको सम्यग्दर्शनके प्रतिपक्षभूत सांख्य आदि दर्शनोंका निराकरण करना चाहिए, इसीके लिए यह पाद प्रवृत्त हुआ है। वेदान्तवाक्योंके अर्थका ठीक ठीक निर्णय करनेका प्रयोजन तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति ही है, इसलिए निर्णयसे पहले अपने पक्षकी स्थापना की, क्योंकि अन्य मतके खण्डन करने की अपेक्षा वह अभ्यर्हित—श्रेष्ठ है। परन्तु मुमुक्षुओंके मोक्षप्राप्तिके साधन रूपसे तत्त्वज्ञानके निरूपण करनेके लिए केवल स्वपक्षका स्थापन करना ही युक्त है, दूसरेके

रत्नप्रभा

ततः परपक्षनिरासात्मकोऽयं पादः अस्मिन् शास्त्रे न सङ्गतः, तन्निरासस्य मुमुक्ष्वनपेक्षितत्वाद् इति आक्षिपति—**यद्यपीति**। परपक्षनिराकरणं विना स्वपक्षस्थैर्यायोगात् तत् कर्तव्यम् इत्याह—**तथापीति**। तर्हि स्वपक्षस्थापनात् प्रागेव परपक्षप्रत्याख्यानं कार्यमित्यत आह—**वेदान्तार्थेति**। वेदान्ततात्पर्यनिर्णयस्य फलवज्ज्ञानकरणान्तर्भावाद् अभ्यर्हितत्वम्। ननु रागद्वेषकरत्वात् परमतनिराकरणं न कार्यमिति शङ्कते—**नन्विति**। तत्त्वनिर्णयप्रधाना खल्वियं कथा आरब्धा, तत्त्वनिर्णयश्च परमतेषु अश्रद्धां विना न सिध्यति, सा च तेषु भ्रान्तिमूलत्वनिश्चयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्योंकि अन्यमतोंके खण्डन की मुमुक्षुओंको अपेक्षा नहीं है ऐसा आक्षेप करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। पर पक्षका निराकरण किये बिना अपना मत स्थिर नहीं हो सकता इसलिए परपक्षका निराकरण करना चाहिए ऐसा कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। तब अपने पक्ष का स्थापन करनेके पहले परपक्षका खण्डन करना चाहिए था इसपर कहते हैं—"वेदान्तार्थ" इत्यादि। वेदान्ततात्पर्यका निर्णय सफल तत्त्वज्ञानके साधनोंके अन्तर्गत होनेसे श्रेष्ठ है। परपक्षके खण्डन से रागद्वेष होता है इसलिए उसका खण्डन नहीं करना चाहिए ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। इस शास्त्रका जो आरम्भ किया गया है, उसका प्रधान फल तत्त्वका निर्णय करना ही है। और तत्त्वनिर्णयकी तबतक सिद्धि होनी कठिन है जबतक कि पर मतमें

भाष्य

परविद्वेषकरणेन। बाढमेवम्, तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत् केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसम्भवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रय-

भाष्यका अनुवाद

साथ द्वेष फलानेवाले अन्य मतका खण्डन करनेसे क्या प्रयोजन है? आपका कथन ठीक है, तो भी सांख्य आदि तन्त्र—शास्त्र महाजनों द्वारा परिगृहीत—स्वीकृत हैं, और तत्त्वज्ञानके निरूपणके व्याजसे प्रवृत्त हुए हैं, उनको प्राप्त करके कितने ही मन्दमतियों की यह अपेक्षा हो कि ये भी तत्त्वज्ञानके लिए उपादेय—ग्राह्य हैं। उसी प्रकार उनमें दृढतर युक्तियोंका होना सम्भव है और वे सर्वज्ञसे उपदिष्ट हैं, अतएव उनमें मन्दमतियों की श्रद्धा भी हो सकती है, इसलिए 'वे शास्त्र असार हैं' ऐसा उपपादन करनेके लिए प्रयत्न

रत्नप्रभा

विना न सिध्यति, स चेमं पादं विना नेति स्वसिद्धान्तसंरक्षणार्थत्वात् प्रधानसिद्धयर्थत्वाद् अयं पादः अस्मिन् शास्त्रे संगतः, संगतत्वाद् वीतरागेणापि कर्तव्य इत्यभिसन्धाय उक्ताङ्गीकारेण समाधत्ते—बाढमित्यादिना। अपदेशेन—व्याजेन, मन्दमतीनां तेषु श्रद्धानिमित्तानि बहूनि सन्तीति तन्निरासाय यत्नः क्रियते इत्यर्थः। स्वमतश्रद्धापरमतद्वेषौ तु प्रधानसिद्धयर्थत्वाद् अङ्गीकृतौ, नापि अयं द्वेषः, परपक्षत्वबुद्ध्या हि निरासो द्वेषमावहति—न तु तत्त्वनिर्णयेच्छया कृत इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अश्रद्धा न हो जाय। और अश्रद्धा तबतक नहीं हो सकती जबतक परपक्षोंकी भ्रान्तिमूलकताका निश्चय न हो जाय। इस पादके बिना वह निश्चय नहीं हो सकता, इसलिए अपने सिद्धान्तका संरक्षण करने और ब्रह्मकी सिद्धि करनेके लिए यह पाद इस शास्त्रमें संगत है। संगत होनेसे वीतरागपुरुषोंको भी इसका अध्ययन करना चाहिए ऐसा विचार कर पूर्वोक्तके अंगीकारसे समाधान करते हैं—'बाढम्' इत्यादिसे। अपदेश—व्याज। मन्दमतियोंकी उन दर्शनोंमें श्रद्धा होनेके अनेक कारण हैं। उनका खण्डन करनेके लिए यह प्रयत्न किया जाता है ऐसा तात्पर्य है। मुख्य सिद्धान्तकी सिद्धिके निमित्त अपने मतमें श्रद्धा और पर पक्षमें द्वेषका स्वीकार किया गया है। परन्तु वास्तवमें यह द्वेष नहीं है। यह दूसरेका पक्ष है इस बुद्धिसे यदि उसका खण्डन किया जाय तो वह द्वेषका कारण हो सकता है किन्तु तत्त्व निर्णयकी इच्छासे परपक्षका खण्डन द्वेष नहीं हो सकता ऐसा समझना चाहिए। पुनरुक्तिकी शङ्का करते

भाष्य

त्यते । ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५), 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू० १।१।१८) 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' (ब्र० सू० १।४।२८) इति च पूर्वत्रापि सांख्यादिपक्षप्रतिक्षेपः कृतः, किं पुनः कृतकरणेनेति । तदुच्यते—सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते, तेषां यद्व्याख्यानं तद्व्याख्यानाभासं न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत् पूर्वं कृतम् । इह तु वाक्यनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियते इत्येष विशेषः ।

भाष्यका अनुवाद

किया जाता है । परन्तु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' इत्यादि सूत्रोंसे पूर्वमें भी साँख्य आदि पक्षोंका खण्डन किया गया है, सो फिर पिष्टपेषण करनेसे क्या लाभ है ? इसका उत्तर कहते हैं । सांख्य आदि अपने अपने मतकी स्थापना करनेके लिए वेदान्तवाक्योंको उद्धृत कर स्वपक्षके अनुसार उनकी योजना करते हुए व्याख्यान करते हैं । उनका जो व्याख्यान है, वह व्याख्यानका आभास है, सम्यग् व्याख्यान नहीं है, इतना ही पूर्वमें प्रतिपादन किया गया है । इस पादमें तो वेदान्तवाक्यों की अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्ररूपसे उनकी युक्तियोंका प्रतिषेध किया जाता है, पूर्वके प्रतिषेध और इस प्रतिषेधमें इतना विशेष है ।

रत्नप्रभा

मन्तव्यम् । पौनरुक्त्यं शङ्कते—**नन्वीक्षतेरिति** । पूर्वं सांख्यादीनां श्रुत्यर्थानुग्राहकतर्कनिरासाद् अश्रौतत्वमुक्तम्, संप्रति श्रुत्यनपेक्षाः तदीयाः स्वतन्त्रा युक्तयो निरस्यन्त इति अर्थभेदात् न पुनरुक्तिः इत्याह—**तदुच्यत इति** ।

प्रधानम् अचेतनं जगदुपादानमिति सांख्यसिद्धान्तः अत्र विषयः, स किं प्रमाणमूलो भ्रान्तिमूलो वा इति सन्देहे "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" इत्युक्तधर्माणां प्रधाने सम्भवात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"नन्वीक्षतेः" इत्यादिसे पहले सांख्य आदिके श्रुत्यनुग्राहक तर्कोंका खण्डन कर उनका मत अश्रौत (श्रुतिविरुद्ध) कहा गया है, अब उनकी श्रुतिकी अपेक्षा न रखनेवाली स्वतन्त्र युक्तियोंका खण्डन किया जाता है । इस प्रकार अर्थभेद—विषयभेद होनेसे पुनरुक्ति नहीं है ऐसा कहते हैं—"तदुच्यते" इत्यादिसे । अचेतन प्रधान जगत्का उपादान कारण है यह सांख्य सिद्धान्त इस अधिकरणका विषय है । वह प्रमाणमूलक है या भ्रान्तिमूलक है ? ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' इस सूत्रमें कहे गये सब धर्मोंका प्रधानमें संभव

भाष्य

तत्र सांख्या मन्यन्ते—यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनाऽन्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः तथा सर्वे एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयाऽन्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति । यत् सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत् त्रिगुणं प्रधानं मृद्व-

भाष्यका अनुवाद

सांख्योंका यह मत है कि जैसे घट, शराब आदि विकार मिट्टीसे युक्त होनेके कारण मृत्तिकारूप असाधारणवाले कारण हैं, ऐसा लोकमें देखा जाता है, वैसे ही सब बाह्य और आध्यात्मिक विकार सुखदुःखमोहात्मकतासे युक्त हैं । इससे उनके असाधारण कारण सुख, दुःख और मोहात्मक ही हो सकते हैं। जो वह सुखदुःख-

---

रत्नप्रभा

तदेव उपादानमिति आक्षेपसंगत्या प्रमाणमूलत्वं दर्शयन् पूर्वपक्षमाह—**तत्र सांख्या इति** । स्वसिद्धान्तज्ञानस्य परमतनिरासं प्रति उपजीव्यत्वात् पादयोः संगतिः । परमतनिरासात्मकत्वात् सर्वेषाम् अधिकरणानां एतत्पादसंगतिः । पूर्वपक्षे प्रमाणमूलमतविरोधाद् उक्तश्रुत्यर्थसमन्वयासिद्धिः फलम् , सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति आपादं द्रष्टव्यम् । मूलश्रौतसमन्वयदार्ढ्यार्थत्वाद् अस्य पादस्य श्रुतिसंगतिः इति विवेकः । भिद्यन्ते इति भेदाः विकाराः, ये विकारा येन अन्विताः ते तत्प्रकृतिका इति व्याप्तिमाह—**यथेति** । सर्वं कार्यं सुखदुःखमोहात्मकवस्तुप्रकृतिकम् , तदन्वितत्वाद्, घटादिवद्, इति अनुमानमाह—**तथेति** । किमर्थं प्रधानं परिणमते तत्राह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे प्रधान ही जगत्का उपादान कारण है इस प्रकार आक्षेप संगतिसे सांख्यसिद्धान्त प्रमाणमूलक है ऐसा दिखलाते हुए पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र सांख्या" इत्यादिसे । स्वसिद्धान्तका ज्ञान परमतके खण्डन करनेमें उपजीव्य—आधारभूत है इससे दोनों पादोंकी संगति जाननी चाहिए । इस पादके सब अधिकरण परमत खण्डनात्मक हैं, इसलिए सब अधिकरणोंकी पाद-संगति है । पूर्वपक्षमें प्रमाणमूलक सांख्यके विरोधसे ब्रह्ममें कहे गये श्रुत्यर्थसमन्वयकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है ऐसा पादसमाप्ति तक समझना चाहिए । श्रुति-समन्वयको दृढ़ करना इस पादका प्रयोजन है, अतः इस पादकी श्रुतिके साथ संगति है ऐसा विवेक है । भिद्यन्ते—जो भिन्न होते हैं इस व्युत्पत्तिसे भेदका अर्थ विकार है । जो विकार जिससे अन्वित होते हैं, उनकी प्रकृति—उपादानकारण वही है ऐसी व्याप्ति कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे । सब कार्य सुख-दुःख-मोहात्मक वस्तुसे बने हैं, उससे अन्वित होनेसे, घट आदिके समान, ऐसा अनुमान कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । प्रधान किसलिए परिणामको प्राप्त होता

भाष्य

दचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना प्रवर्तते इति। तथा परिमाणादिभिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधानमनुमिमते।

भाष्यका अनुवाद

मोहात्मक सामान्य है, वह त्रिगुणात्मक प्रधान है, मृत्तिकाके समान वह अचेतन पुरुषके भोग और मोक्षरूप अर्थको सिद्ध करनेके लिए स्वभावसे ही विचित्र विकाररूपसे प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार कार्यगत परिमाण आदि लिंगोंसे उसी प्रधानका वे अनुमान करते हैं।

रत्नप्रभा

चेतनस्येति। अर्थः—भोगापवर्गरूपः, तदर्थं स्वभावत एव प्रवर्तते, न तु केनचित् चेतनेन प्रेर्य्यते इत्यर्थः। तदुक्तम्—"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" (सां० का० श्लो० ३१) इति। अनुमानान्तराणि तैरुक्तानि स्मारयति—**तथेति**। उक्तं हि—

'भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य॥' (सां०का०श्लो० १५)

इति। अत्र कारिकायां समन्वयादिति लिङ्गं व्याख्यातम्, शिष्टानि व्याख्यायन्ते। तथा हि—क्षित्यादीनां भेदानां कारणम्, अव्यक्तमस्ति, परिमितत्वाद्, घटवत्। न च दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्, घटोत्पत्तेः प्रागनभिव्यक्तघटादिरूपकार्यविशिष्टत्वेन मृदः अपि अव्यक्तत्वात्। तथा घटादीनां कारणशक्तितः प्रवृत्तेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है? इसपर कहते हैं—"चेतनस्य" इत्यादिसे। अर्थात् चेतनके भोग और मोक्षरूप प्रयोजनके लिए प्रधान अपने आप प्रवृत्त होता है किसी चेतन द्वारा प्रेरित नहीं किया जाता। सांख्यकारिकामें—'पुरुषार्थ एव०' (भावी भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थ ही करणोंको प्रवृत्त करता है, वे किसी चेतन द्वारा प्रवृत्त नहीं किये जाते) ऐसा कहा है। सांख्योंने जो अन्य अनुमान कहे हैं उनका स्मरण कराते हैं—"तथा" इत्यादिसे। कहा है कि 'भेदानां परिमाणात्०' (विकारोंके परिमाणसे, समन्वयसे, शक्तियोंकी प्रवृत्तिसे, कारणसे कार्यके विभाग होनेसे उसी प्रकार विचित्र विविध अविभागसे अव्यक्त—प्रधान सिद्ध होता है) [यह प्रधानसाधक तर्कोंका संग्राहक श्लोक है।] इस कारिकाके 'समन्वयात्' इस लिङ्गका व्याख्यान हो गया है। शेषका व्याख्यान किया जाता है—पृथिवी आदि भेदोंका कारण अव्यक्त है, क्योंकि वे घट आदिके समान परिमित हैं। दृष्टान्तमें 'अव्यक्त कारण है' इस साध्यका अभाव है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घटकी उत्पत्तिके पूर्व अभिव्यक्त न हुए घट आदि रूप कार्य विशिष्टत्वसे

भाष्य

तत्र वदामः—यदि दृष्टान्तबलेनैवैतन्निरूप्येत नाऽचेतनं लोके चेतना-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहते हैं—यदि दृष्टान्तके बलसे ही इसका

रत्नप्रभा

महदादिकार्याणामपि कारणशक्तितः प्रवृत्तिः वाच्या, तच्छक्तिमत् कारणम् अव्यक्तम्। किञ्च, कारणात् कार्यस्य विभागो—जन्म दृश्यते। क्षितेः मृत्तिका जायते, ततो घट इति। एवमविभागः—प्रातिलोम्येन प्रलयो दृश्यते; घटस्य मृत्तिकायां लयः, तस्याः क्षितौ, क्षितेः अप्सु, अपां तेजसि इति एतौ विभागाविभागौ वैश्वरूप्यस्य—विचित्रस्य भावजातस्य दृश्यमानौ पृथक् पक्षीकृतौ क्वचित् कारणे विश्रान्तौ, विभागत्वाद् अविभागत्वाच्च, मृदि घटविभागाविभागवद् इत्यर्थः।

सिद्धान्तयति—तत्र वदाम इति। किम् अनुमानैः अचेतनप्रकृतिकत्वं जगतः साध्यते, स्वतन्त्राचेतनप्रकृतिकत्वं वा? आद्ये सिद्धसाधनता, अस्माभिः अनादित्रिगुणमायाङ्गीकारात्। द्वितीये घटादिदृष्टान्ते साध्याप्रसिद्धिः इत्याह—**यदीति**। स्वतन्त्रमचेतनं प्रकृतिरिति एतद्दृष्टान्तबलेन तदा निरूप्येत, यदि दृष्टान्तः क्वचित् स्यात्, न तु दृष्टः क्वचिद् इति अन्वयः। स्वतन्त्रपदार्थमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

मृत्तिका भी अव्यक्त है इसी प्रकार घट आदि कार्योंकी कारणशक्तिसे प्रवृत्ति होनेसे महद् आदि कार्योंकी भी कारणशक्तिसे प्रवृत्ति कहनी चाहिए। वह शक्तियुक्त कारण अव्यक्त है। और कारणसे कार्यका जन्म दिखाई देता है। पृथिवीसे मिट्टी पैदा होती है, मिट्टीसे घट होता है। इसी प्रकार अविभाग अर्थात् उत्पत्तिसे उलटे क्रमसे प्रलय दिखाई देता है—घटका मिट्टीमें, मिट्टीका पृथिवीमें, पृथिवीका जलमें और जलका तेजमें लय होता है। इस प्रकार वैश्वरूपके—विचित्र पदार्थसमूहके ये विभाग और अविभाग जो देखे जाते हैं, वे दोनों पृथक् पृथक् पक्षरूपसे स्वीकृत हैं, वे दोनों किसी एक कारणमें विश्रान्त हैं, विभाग और अविभाग होनेसे मृत्तिकामें घटके विभाग और अविभागके समान ऐसा भावार्थ है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष कहकर सिद्धान्त कहते हैं—"तत्र वदामः" इत्यादिसे। क्या अनुमानोंसे जगत् अचेतनप्रकृतिक है—जगत्की प्रकृति—उपादान कारण—अचेतन है, यह सिद्ध करते हो, या स्वतन्त्र अचेतन इस जगत्की प्रकृति है, ऐसा सिद्ध करते हो? प्रथम पक्ष यदि मानो, तो सिद्धसाधनता है—जो सिद्ध है उसीको सिद्ध करते हो, क्योंकि ईश्वरसे अधिष्ठित अनादि त्रिगुणात्मक मायाको जगत्की प्रकृतिरूपसे हम भी स्वीकार करते हैं। यदि द्वितीय पक्षका ग्रहण करो तो घट आदि दृष्टान्तोंमें साध्य अप्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे। स्वतन्त्र अचेतन प्रकृति है, इसका दृष्टान्तसे तभी निरूपण किया जा सकता है, जब कहीं दृष्टान्त हो परन्तु दृष्टान्त कहीं भी दिखाई नहीं देता, ऐसा

भाष्य

नधिष्ठितं स्वतन्त्रं किञ्चिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान् विकारान् विरचयद् दृष्टम्। गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते, तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं

भाष्यका अनुवाद

निरूपण किया जाय, तो लोकमें स्वतन्त्र—चेतनसे अनधिष्ठित अचेतन विशिष्ट पुरुषार्थके साधनमें समर्थ विकारों की रचना करता हुआ नहीं देखा जाता। घर, महल, शयन, आसन, विहारभूमि आदि कालके अनुसार सुखकी प्राप्ति और दुःखका परिहार करने योग्य पदार्थ बुद्धिमान् शिल्पियोंसे रचे गये देखनेमें आते हैं, वैसे भिन्न भिन्न कर्मफलके उपभोगके योग्य पृथिवी आदि बाह्य जगत् और भिन्न भिन्न जातियोंसे युक्त-असाधारण अवयवोंसे युक्त अनेक कर्मफलोंके

रत्नप्रभा

चेतनाधिष्ठितमिति। परकीयस्य साध्यस्य अप्रसिद्धिम् उक्त्वा सत्प्रतिपक्षं वक्तुं यद् विचित्ररचनात्मकं कार्यं तत् चेतनाधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकम् इति व्याप्तिमाह— **गेहेति**। इदं जगत् चेतनाधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकम्, कार्यत्वाद्, गेहवदिति प्रयोगः। विपक्षे विचित्ररचनानुपपत्तिरूपं सूत्रोक्तं बाधकतर्कं वक्तुं जगतो वैचित्र्यमाह— **तथेति**। बाह्यम्—पृथिव्यादि भोग्यम्, आध्यात्मिकम् शरीरादि च भोगाधिष्ठानमिति विभागः। प्रतिनियतः असाधारणः अवयवानां विन्यासो रचना यस्य तद् इत्यर्थः। इत्थं विचित्रं जगत् चेतनानधिष्ठिता जडप्रकृतिः कथं रचयेत् न कथमपि इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्वय है। स्वतन्त्र पदका अर्थ कहते हैं—"चेतनानधिष्ठितम्" इत्यादिसे। सांख्यका साध्य अप्रसिद्ध है, ऐसा कहकर हेतुका सत्प्रतिपक्ष कहनेके लिए 'जो विचित्र रचनात्मक कार्य है, वह चेतनसे अधिष्ठित अचेतनप्रकृतिक है—उसकी प्रकृति चेतनाधिष्ठित अचेतन है, ऐसी व्याप्ति कहते हैं— "गेह" इत्यादिसे। यह जगत् चेतनाधिष्ठित अचेतनसे बना है, कार्य होनेसे, घरके समान' ऐसा अनुमानका प्रयोग है। विपक्षमें सूत्रमें कहा हुआ विचित्ररचनानुपपत्तिरूप बाधक तर्क कहनेके लिए जगत्का वैचित्र्य कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। जगत् दो प्रकारका है, बाह्य और आध्यात्मिक। बाह्य—पृथिवी आदि भोग्य है और आध्यात्मिक—शरीर आदि भोगका अधिष्ठान है—ऐसा विभाग है। प्रतिनियत—असाधारण है अवयवोंकी रचना जिसकी, उसे प्रतिनियतावयव विन्यास कहते हैं। ऐसे विचित्र जगत्की चेतनसे अधिष्ठित न हुई जड प्रकृति कैसे रचना कर सकती है। किसी प्रकार भी रचना नहीं कर सकती—ऐसा

भाष्य

दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः सम्भावितमैः शिल्पिभिर्मनसाऽप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत् । लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात् । मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत् प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसङ्गः । न च मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण

भाष्यका अनुवाद

अनुभवका अधिष्ठानरूप दृश्यमान शरीर आदि आध्यात्मिक जगत्, जिसकी आलोचना बड़े बड़े बुद्धिमान् शिल्पी मनसे भी नहीं कर सकते, उसकी रचना अचेतन प्रधान कैसे कर सकता है ? ढेले, पत्थर आदि अचेतनोंमें ऐसी शक्ति नहीं देखी जाती । हां, मृत्तिका आदिमें भी कुम्भकार आदिसे अधिष्ठित होनेपर विशिष्ट आकारवाली रचना देखी जाती है । इसी प्रकार प्रधानको भी अन्य चेतनसे अधिष्ठित मानना पड़ेगा । मृत्तिका आदि उपादानके स्वरूपका आश्रय

रत्नप्रभा

यत् चेतनानधिष्ठितम् अचेतनं तत् न कार्यकारि इति व्याप्तिम् उक्ततर्कमूलभूतामाह— **लोष्टेति** । चेतनाप्रेरितेषु लोष्टादिषु कार्यकारित्वादर्शनाद् इत्यर्थः । किञ्च, अनादि-जडप्रकृतिः चेतनाधिष्ठिता, परिणामित्वात्, मृदादिवद् इत्याह—**मृदिति** । ननु मृदादिदृष्टान्ते द्वयमपि अस्ति—अचेतनत्वं चेतनाधिष्ठितत्वं चेति । तत्र परिणामित्वहेतोः अचेतनत्वमेव व्यापकम् मृदादिस्वरूपत्वेन अन्तरङ्गत्वात्, न तु चेतनाधिष्ठितत्वं व्यापकम्, तस्य मृदादिबाह्यकुलालादिसापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वात्, तथा च परिणामित्वेऽपि मूलप्रकृतेः अचेतनत्वधर्मेणैव योगो न चेतनाधिष्ठितत्वेन इत्याशङ्क्य निषेधति—**न चेति** । महानसदृष्टान्तेऽन्तरङ्गस्यापि महानसस्वरूपस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ है [जगत् स्वतन्त्र अचेतनका कार्य नहीं है, विचित्र कार्य होनेसे या विशिष्ट रचनात्मक होनेसे, विशिष्ट शिल्पीसे निर्माण किये हुए प्रासाद आदिके समान, ऐसा अनुमान है] जो अचेतन चेतनसे अधिष्ठित नहीं है, वह कार्यकारी नहीं है, उक्त तर्ककी मूलभूत इस व्याप्तिको कहते है—"लोष्ट" इत्यादिसे । आशय यह कि चेतनसे अधिष्ठित न हुए लोष्ट आदिमें कार्यकारित्व नहीं देखा जाता है। और 'अनादि' जड़ प्रकृति चेतनसे अधिष्ठित है, परिणामी होनेसे, मृत्तिका आदिके समान, ऐसा कहते हैं—"मृद्" इत्यादिसे। परन्तु मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंमें अचेतनत्व और चेतनाधिष्ठितत्व दोनों हैं, उसमें परिणामित्व इस हेतुका अचेतनत्व ही व्यापक है, क्योंकि मृत्तिका आदिका स्वरूप होनेसे वह अन्तरंग है, चेतनाधिष्ठितत्व व्यापक नहीं है, क्योंकि उसको मृत्तिका आदिसे बाहर रहनेवाले कुलाल आदिकी अपेक्षा है, अतः वह बहिरंग है, इसलिए परिणामित्वमें भी मूल प्रकृतिका अचेतनत्व

भाष्य

मूलकारणमवधारणीयम्, न बाह्यकुम्भकारादिव्यपाश्रयेणेति किञ्चिन्नियामकमस्ति। न चैवं सति किञ्चिद् विरुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते, चेतनकारणसमर्पणात्। अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाऽचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति चशब्देन हेतोरसिद्धिं समुच्चिनोति। नहि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयाऽन्वय उपपद्यते, सुखा-

भाष्यका अनुवाद

करके रहनेवाले धर्मसे ही मूल कारणका निश्चय करना चाहिए और बाह्य कुम्भकार आदिके आश्रित धर्मसे मूल कारणका निश्चय नहीं करना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। और ऐसा होनेसे कुछ विरोध भी नहीं आता। चेतनको कारण मानने में उलटे श्रुति अनुगृहीत होती है, क्योंकि वह चेतन कारणका प्रतिपादन करती है। इसलिए रचनाकी अनुपपत्तिरूप हेतुसे अचेतन जगत् कारण है, ऐसा अनुमान करना उचित नहीं है। अन्वय आदिकी अनुपपत्ति होनेसे इस हेतुकी असिद्धिका चशब्दसे समुच्चय करते हैं, क्योंकि बाह्य और आध्यात्मिक विकारोंका सुखदुःखमोहात्मकताके साथ अन्वय उपपन्न नहीं होता,

---

रत्नप्रभा

धूमव्यापकत्वं नास्ति, तद्भिन्नस्य बहिरङ्गस्यापि वह्नेः तदस्तीति अन्तरङ्गत्वं व्यापकत्वे प्रयोजकं न भवतीति भावः। किञ्च, यद् अचेतनम् तत् चेतनाधिष्ठितमेव परिणमते इति अङ्गीकारे बाधकाभावात् प्रत्युत श्रुत्यनुग्रहाच्च तथा अङ्गीकार्यमित्याह—**न चैवं सतीति**। सुखदुःखमोहान्वयाद् इति हेतोः असिद्धिद्योतनार्थः सूत्रे चकार इत्याह—**अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति**। न अनुमानं युक्तमित्यर्थः। आदिशब्दः परिमाणादिग्रहार्थः। शब्दादीनां बाह्यत्वानुभवाद् आन्तरसुखाद्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मसे ही योग है, चेतनाधिष्ठितत्वसे नहीं है, ऐसी आशंका करके उसका निषेध करते हैं—"न च" इत्यादिसे। महानसदृष्टान्तमें यद्यपि महानसका स्वरूप अन्तरंग है, तो भी वह धूमका व्यापक नहीं है और उससे भिन्न अग्नि बहिरंग है, तो भी वह धूमकी व्यापिका है, इसलिए अन्तरंगत्व व्यापकत्वमें प्रयोजकत्व नहीं है, यह भाव है। और जो अचेतन है वह चेतनाधिष्ठित होकर ही परिणत होता है, उसके अङ्गीकारमें बाधक नहीं है। उलटा श्रुतिका अनुग्रह होता है, इसलिए अंगीकार करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—"न चैवं सति" इत्यादिसे। 'सुखदुःखमोहका अन्वय' इस हेतुकी असिद्धि सूचित करनेके लिये सूत्रमें चकार है, ऐसा कहते हैं—"अन्वयाद्यनुपपत्तेश्च" इत्यादिसे। अनुमान युक्त नहीं है, यह अर्थ है। आदि शब्दस

भाष्य

दीनां चान्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः, तन्निमित्तत्वप्रतीतेश्च। शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषात् सुखादिविशेषोपलब्धेः। तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मि-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि सुख आदि आन्तर हैं, ऐसा प्रतीत होता है, और शब्द आदि अतद्रूप प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार उनके निमित्तरूपसे प्रतीत होते हैं, और शब्द आदि विशेषके न होनेपर भी भावना विशेषसे सुख आदि विशेष प्राप्त होता है। इसी प्रकार मूलाङ्कुरादि परिमित विकार संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा देख-

---

रत्नप्रभा

त्वकत्वम् असिद्धम् तन्निमित्तत्वात् च। नहि निमित्तनैमित्तिकयोः अभेदेन योगः अस्ति, दण्डघटयोः अदर्शनाद् इत्यर्थः। किञ्च, यदि घटे मृद्वत् सुखादिकं शब्दादौ अन्वितं स्यात् तर्हि सर्वैः अविशेषेण सुखादिकम् उपलभ्येत घटे मृद्वत्, न तथा उपलब्धिः अस्तीति योग्यानुपलब्ध्या हेत्वभावनिश्चय इत्याह— **शब्दादीति**। विषयस्य एकत्वे अपि पुरुषवासनावैचित्र्यात् कस्यचित् सुखबुद्धिः कस्यचित् दुःखबुद्धिः। कस्यचित् मोहबुद्धिः दृश्यते, अतो विषयाः सुखाद्यात्मका न भवन्ति इत्यर्थः। एवं समन्वयादिति हेतुं दूषयित्वा परिमाणादिहेतून् दूषयति— **तथेति**। बुद्ध्यादीनां परिमितत्वेन संसर्गपूर्वकत्वसिद्धौ संसृष्टानि अनेकानि सत्त्वरजस्तमांसि सिध्यन्ति एकस्मिन् संसर्गासम्भवात् न ब्रह्मसिद्धिः इति सांख्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परिमाण आदिका ग्रहण करना चाहिए। शब्द आदि बाह्य हैं, ऐसा अनुभव होनेसे वे आन्तर सुख आदि स्वरूप हैं, यह असिद्ध है, उसी प्रकार शब्द आदि तो सुखादिके निमित्त हैं, निमित्त और नैमित्तिकका अभेदसे सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि दण्ड और घटमें अभेद दिखाई नहीं देता, ऐसा भावार्थ है। और घटमें मृत्तिकाके समान शब्द आदि सुखादि नित्य अन्वित होते तो सबको समान रीतिसे उनमें सुखादिकी प्राप्ति होती, जैसे कि घटमें मृत्तिकाकी सबको उपलब्धि होती है, वैसे ही यहाँ भी होती, परन्तु वैसी उपलब्धि नहीं होती। इस योग्य अनुपलब्धिसे हेतुके अभावका निश्चय होता है, ऐसा कहते हैं—"शब्दादि" इत्यादिसे। विषय यद्यपि एक ही है, तो भी पुरुषवासनाके वैचित्र्यसे किसीकी उसमें सुखबुद्धि, किसीकी दुःख-बुद्धि और किसीकी मोहबुद्धि देखी जाती है, इससे विषयसुख आदि स्वरूप नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार 'समन्वयात्' इस हेतुको दूषित करके परिणाम आदि हेतुओंको दूषित करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। बुद्धि आदि परिमित होनेसे संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा सिद्ध होनेपर संसृष्ट अनेक सत्त्व, रज और तम हैं, ऐसा सिद्ध होता है। एकमें संसर्ग न होनेसे

भाष्य

कानां भेदानां परिमितत्वात् संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वकत्वप्रसङ्गः परिमितत्वाविशेषात्। कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षा-

भाष्यका अनुवाद

कर बाह्य और आध्यात्मिक विकार परिमित होनेसे संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा अनुमान करनेवालोंको सत्त्व, रज और तम भी संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि उनमें भी परिमितत्व समान है। अपेक्षापूर्वक निर्माण किये हुए

रत्नप्रभा

स्य भावः। किमिदं परिमितत्वम्? न तावद् देशतः परिच्छेदः, पक्षान्तर्गताकाशे तस्याभावेन भागासिद्धेः, नापि कालतः परिच्छेदः, सांख्यैः कालस्य अनङ्गीकारात्, अविद्यागुणसंसर्गेण सिद्धसाधनाच्च, नापि वस्तुतः परिच्छेदः, सत्त्वादीनां परस्परं भिन्नत्वे सत्यपि साध्याभावेन व्यभिचाराद् इत्याह—सत्त्वेति। यदुक्तं कार्यकारणविभागो यत्र समाप्यते तत् प्रधाननिति। तत् न, ब्रह्मणि मायायां वा समाप्तिसम्भवात्। न च यः कार्यस्य विभागः स चेतनानधिष्ठिते अचेतने समाप्तः इति व्याप्तिरस्ति सर्वत्र अचेतनेषु चेतनानधिष्ठानदर्शनाद् इत्याह—कार्येति। एतेन अविभागोऽपि व्याख्यातः। यत्तु यत् परिमितं तद् अव्यक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म असिद्ध है, ऐसा सांख्यका आशय है। यह परिमितत्व क्या है? परिमितत्वका देशसे परिच्छेद[1], ऐसा अर्थ तो हो नहीं सकता, क्योंकि पक्षमें[2] अन्तर्गत हुए आकाशमें, ऐसे परिच्छेदका अभाव होनेसे हेतुमें भागासिद्ध[3] दोष होगा। इसी प्रकार परिमितत्वका अर्थ कालसे परिच्छेद, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सांख्य कालका अङ्गीकार नहीं करता [पच्चीस तत्त्वोंसे अतिरिक्त कालका वह अङ्गीकार नहीं करता] अविद्यागुण संसर्गरूप उपाधिसे कालका अङ्गीकार किया है, ऐसा यदि कहो तो सिद्धसाधनता दोष होगा। उसी प्रकार वस्तुसे परिच्छेद भी परमितत्वका अर्थ नहीं है, क्योंकि सत्त्व, आदि परस्पर भिन्न हैं, तो भी साध्यके अभावसे व्यभिचार है, ऐसा कहते हैं—"सत्त्व" इत्यादिसे। और कार्यकारणभाव जिसमें समाप्त होता है, वह प्रधान है, ऐसा जो कहा गया है वह युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्ममें या मायामें इस समाप्तिका सम्भव है। कार्यका विभाग चेतनसे अधिष्ठित न हुआ अचेतनमें समाप्त है, ऐसी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि सर्वत्र अचेतनमें चेतनका अधिष्ठान देखा जाता है, ऐसा कहते हैं—"कार्य" इत्यादिसे। इससे सांख्यकारिकाके 'अविभाग' हेतुका भी प्रत्याख्यान हुआ समझना चाहिए।

१—इयत्ता, इतना प्रदेश।

२—"सब बाह्य और आध्यात्मिक भाव अविभक्त ऐसी एक वस्तु जिनकी प्रकृति है, ऐसे हैं, परिमित होनेसे, घट आदिके समान" इस अनुमानमें "सब बाह्य और आध्यात्मिक भाव" पक्ष है।

३—सब पक्षमें न रहे किन्तु पक्षके एक देशमें ही रहे वह हेतु भागासिद्ध है।

भाष्य

पूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद् बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम् ॥१॥

भाष्यका अनुवाद

शयन, आसन, आदिका कार्य-कारणभाव देखनेमें आता है, कार्य-कारणभावसे बाह्य और आध्यात्मिक विकार अचेतनप्रकृतिक हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

प्रकृतिपूर्वकम् इति व्याप्त्यन्तरं तस्यापि गुणेषु अनादिषु परिमितेषु व्यभिचारः । एतेन सदृशयोः एव प्रकृतिविकारभावाद् अचेतनविकाराणाम् अचेतनमेव प्रकृतिः इति निरस्तम् । चेतनाधिष्ठिताऽचेतनप्रकृतिकत्वेऽपि सादृश्योपपत्तेः । "न विलक्षत्वाद्" (ब्र० सू० २।१।५) इत्यत्र सादृश्यनियमस्य निरस्तत्वाच्च । एवं चेतनाधीनकारणशक्तितः कार्यप्रवृत्तिसम्भवात् शक्तितः प्रवृत्तिलिङ्गम् अन्यथासिद्धिम् इति भावः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो परिमित है, वह अव्यक्त—प्रधान प्रकृतिवाला है, यह जो दूसरी व्याप्ति सांख्यों द्वारा कही गई है, उसका भी अनादि परिमित गुणमें व्यभिचार है। इसलिए सदृशका ही प्रकृतिविकारभाव होनेसे अचेतन विकारोंकी अचेतन ही प्रकृति है, इस पक्षका निरसन हुआ समझना चाहिए, क्योंकि चेतनसे अधिष्ठित अचेतन प्रकृति लेनेसे भी सादृश्य उपपन्न होता है। "न विलक्षणत्वात्" इसमें सादृश्य नियमका निराकरण किया गया है। इस प्रकार चेतनके अधीन कारणशक्तिसे कार्यप्रवृत्तिका संभव होनेसे शक्तिसे प्रवृत्ति, यह लिङ्ग अन्यथासिद्ध है, ऐसा समझना चाहिए ॥१॥

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

पदच्छेद—प्रवृत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—प्रवृत्तेः—अचेतनस्य प्रधानस्य साम्यावस्थाप्रच्युतिरूपप्रवृत्तेः । [चेतनमन्तरेण] च—अनुपपत्तेः [न प्रधानं जगत्कारणम्] ।

भाषार्थ—अचेतन प्रधानकी साम्यावस्थाप्रच्युतिरूप प्रवृत्तिकी चेतनके बिना उपपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए भी प्रधान जगत्‌का कारण नहीं हो सकता।

भाष्य

आस्तां तावदियं रचना, तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात् प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता सापि नाऽचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते मृदादिष्वदर्शनाद् रथादिषु

भाष्यका अनुवाद

इस रचनाको रहने दो, उसकी सिद्धिके लिए जो प्रवृत्ति—सत्त्व, रज और तम—गुणोंकी साम्यावस्थासे च्युति, सत्त्व, रज और तमके अंगांगिभावकी आपत्ति, विशिष्ट कार्योंके उत्पादनमें जो प्रवृत्ति है, वह भी स्वतन्त्र अचेतन प्रधानमें नहीं घट सकती, क्योंकि मृत्तिका आदिमें और रथ आदिमें वह नहीं

रत्नप्रभा

स्वतन्त्रम् अचेतनं करणत्वेन न अनुमातव्यम्, तस्य सृष्ट्यर्थं प्रवृत्तेः अनुपपत्तेः इति चकारेण अनुपपत्तिपदम् अनुषज्य सूत्रं योजनीयम्। रचना-प्रवृत्त्योः को भेद इत्याशङ्क्य प्रवृत्तिस्वरूपमाह—**साम्येति**। गुणानां किल साम्यावस्था तत्त्वानां प्रलयः, तदा न किञ्चित् कार्यं भवति प्रलयाभावप्रसङ्गात्, किंतु आदौ साम्यप्रच्युतिरूपं वैषम्यं भवति ततः कस्यचिद् गुणस्य अङ्गित्वम् उद्भूतत्वेन प्राधान्यं, कस्यचिद् अङ्गत्वं शेषत्वमिति अङ्गाङ्गिभावो भवति, तस्मिन्सति महदादिकार्योत्पादनात्मिका प्रवृत्तिः, तया विविधकार्यविन्यासो रचना इति भेद इत्यर्थः। गुणानां प्रवृत्तिः चेतनाधिष्ठानपूर्विका, प्रवृत्तित्वाद्, रथादि-प्रवृत्तिवत् इत्याह—**सापीति**। विपक्षे स्वतन्त्रे प्रवृत्त्यनुपपत्तिः इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अचेतन-प्रधान स्वतन्त्ररूपसे कारण है ऐसा अनुमान नहीं करना चाहिए क्योंकि सृष्टिके लिए उसकी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती है इस प्रकार चकारसे इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे 'अनुपपत्ति' पदकी अनुवृत्ति कर सूत्रकी योजना करनी चाहिए अर्थात् 'प्रवृत्तेश्चानुपपत्तेर्नानुमानं कारणम्' (प्रवृत्तिकी अनुपपत्तिसे प्रधान कारण नहीं है) ऐसी सूत्रकी योजना है। रचना और प्रवृत्तिमें क्या भेद है ऐसी आशंका करके प्रवृत्तिका स्वरूप कहते हैं—"साम्य" इत्यादिसे। गुणोंकी साम्यावस्था तत्त्वोंका प्रलय है, उस अवस्थामें कुछ भी कार्य नहीं होता। उस अवस्थामें यदि कोई कार्य होने लगे तो प्रलयका ही अभाव मानना पड़ेगा। आरम्भमें गुणोंकी साम्यप्रच्युति-रूप वैषम्य होता है। तदनन्तर उद्भूत होनेके कारण किसी एक गुणका प्राधान्य और तिरोभूत होनेके कारण अन्यगुणोंका अंगत्व—शेषत्व होता है इस तरह गुणोंका अङ्गाङ्गिभाव होता है। और ऐसा होनेपर महत्, अहङ्कार इत्यादि कार्योत्पादनरूप प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्तिसे जो विविध कार्यविन्यास होता है वह रचना है। प्रवृत्ति और रचनामें ऐसा भेद है—ऐसा भाव है। गुणोंकी प्रवृत्ति चेतनाधिष्ठानपूर्वक है, प्रवृत्ति होनेसे, रथादिकी प्रवृत्तिके समान ऐसा कहते है—

भाष्य

च । नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वाऽनधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते, दृष्टाच्चाऽदृष्टसिद्धिः, अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाऽचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति । ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा । सत्यमेतत्, तथापि चेतन-

भाष्यका अनुवाद

देखी जाती । मृत्तिका आदि या रथ आदि स्वयं अचेतन होने से चेतन कुम्भकार आदि या अश्व आदिसे अधिष्ठित हुए बिना विशिष्ट कार्यकी ओर प्रवृत्तिवाले नहीं देखे जाते और दृष्टसे अदृष्टकी सिद्धि होती है । इसलिए प्रवृत्तिकी अनुपपत्तिरूप हेतुसे भी अचेतन प्रधान जगत्का कारण है, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है । परन्तु केवल चेतनकी भी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती । यह ठीक है, तो भी

रत्नप्रभा

केचित्तु भेदानां प्रवृत्तिशक्तिमत्त्वात् चेतनानधिष्ठिताऽचेतनप्रकृतिकत्वमिति शक्तितः प्रवृत्तिः इति लिङ्गं व्याचक्षते । अस्य अपि गुणेषु व्यभिचारः । कार्यत्वविशेषणे च विरुद्धता, प्रवृत्तिशक्तिमत्त्वे सति कार्यत्वस्य घटादिषु चेतनाधिष्ठितप्रकृतिकत्वेन उक्तसाध्यविरुद्धेन व्याप्तिदर्शनाद् इति "प्रवृत्तेश्च" इति सूत्रेण ज्ञापितम् । ननु लोके स्वतन्त्राचेतनानां प्रवृत्त्यदर्शनेऽपि प्रधाने सा प्रवृत्तिः सिध्यतु, तत्र आह—**दृष्टाच्चेति** । अनुमानशरणस्य तव दृष्टान्तं विना अतीन्द्रियार्थसिद्ध्ययोगात् इति भावः । ननु प्रधानस्य प्रवृत्तिं खण्डयता चेतनस्य सृष्टौ प्रवृत्तिः वाच्या, सा न युक्ता इति सांख्यः शङ्कते—**नन्विति** । शुद्धचेतनस्य प्रवृत्त्ययोगम् अङ्गीकरोति—**सत्यमिति** । तर्हि केवलस्य अचेतनस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सापि" इत्यादिसे । अर्थात् परपक्षमें स्वतन्त्र अचेतन प्रधानमें प्रवृत्तिकी उपपत्ति नहीं है । कोई लोग पदार्थोंके शक्तिशाली होनेसे चेतनसे अनधिष्ठित अचेतनसे जगत् उत्पन्न हुआ है इसप्रकार 'शक्तितः प्रवृत्तिः' इस हेतुकी व्याख्या करते हैं । इसका भी गुणोंमें व्यभिचार है । 'कार्यत्व' विशेषण देनेपर विरोध आता है, क्योंकि प्रवृत्तिशक्तियुक्त कार्यताकी घट आदिमें उक्त व्याप्तिसे विरुद्ध चेतनसे अधिष्ठित प्रकृतिकत्वरूपसे व्याप्ति देखी जाती है ऐसा 'प्रवृत्तेश्च' इस सूत्रसे ज्ञापित होता है । यदि कोई कहे यद्यपि लोकमें अचेतन पदार्थोंमें स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, तो भी प्रधानमें वह प्रवृत्ति सिद्ध हो ? इसपर कहते हैं—"दृष्टाच्च" इत्यादिसे । तुम अनुमानशरण सांख्य हो दृष्टान्तके बिना तुम्हारे मतमें अतीन्द्रियवस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती ऐसा अभिप्राय है । प्रधानमें प्रवृत्तिका निषेध करनेवाले सिद्धान्तीको चेतनमें प्रवृत्ति कहनी चाहिए, वह युक्त नहीं है सांख्य ऐसी शङ्का करता है–"ननु" इत्यादिसे । केवल चेतनमें प्रवृत्ति नहीं

भाष्य

संयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा । न त्वचेतनसंयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा । किं पुनरत्र युक्तम् ? यस्मिन् प्रवृत्तिर्दृष्टा तस्य सेति यत्संप्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सेति ।

ननु यस्मिन् दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सेति युक्तम्, उभयोः प्रत्यक्षत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

चेतनसंयुक्त रथ आदि अचेतनकी प्रवृत्ति देखनेमें आती है और अचेतनसंयुक्त चेतनमें प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती। परन्तु यहां क्या युक्त है ? जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है, उसकी वह प्रवृत्ति है या जिसके संयोगसे अचेतनमें प्रवृत्ति देखी जाती है, उसकी है ?

पूर्वपक्षी—जिसमें प्रवृत्ति दीखती है वह उसीकी है, ऐसा ही कहना ठीक है, क्योंकि प्रवृत्ति और उसका आश्रय दोनों प्रत्यक्ष हैं, परन्तु केवल चेतन रथ

रत्नप्रभा

प्रवृत्तिसिद्धिः अन्यथा सृष्ट्ययोगात्, तत्राह—**तथापीति** । केवलस्य चेतनस्य अप्रवृत्तौ अपि चेतनाऽचेतनयोः मिथः सम्बन्धात् सृष्टिप्रवृत्तिः इति भावः । इमं वेदान्तसिद्धान्तं सांख्यो दूषयति—**न त्विति** । सर्वा प्रवृत्तिः अचेतनाश्रयैव दृष्टा, न तु अचेतनसम्बन्धेनापि चेतनस्य क्वचित् प्रवृत्तिः दृष्टा, तस्मात् न चेतनात् सृष्टिः इत्यर्थः । मतद्वयं श्रुत्वा मध्यस्थः पृच्छति—**किं पुनरिति** । यस्मिन् अचेतने रथादौ प्रवृत्तिः दृष्टा तस्यैव सा, न चेतनः तत्र हेतुः इति किं सांख्यमतं साधु, उत येन चेतनेन अश्वादिना संयोगात् अचेतनस्य प्रवृत्तिः तत्प्रयुक्ता सेति वेदान्तिमतं वा साधु इति प्रश्नार्थः । सांख्य आह—**नन्विति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

देखी जाती यह स्वीकार करते हैं–"सत्यम्" इत्यादिसे । तो यद्यपि केवल अचेतनमें प्रवृत्ति सिद्ध होगी अन्यथा सृष्टि नहीं होगी ? इसपर कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे । केवल चेतनमें प्रवृत्ति नहीं होती, तो भी चेतन और अचेतनके परस्पर सम्बन्धसे सृष्टिकी प्रवृत्ति होगी ऐसा अभिप्राय है । वेदान्तीके इस सिद्धान्तको सांख्य दूषित करता है—"न तु" इत्यादिसे । सब प्रवृत्ति अचेतनके ही आश्रित देखी गई है, परन्तु अचेतनके सबन्धसे भी चेतनमें कहीं भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, इसलिए चेतनसे सृष्टि नहीं होती ऐसा सांख्यका अभिप्राय है । दोनों मतोंको सुनकर मध्यस्थ पूछता है—"किं पुनः" इत्यादिसे । अचेतन रथ आदिमें जो प्रवृत्ति देखी जाती है, वह उसीकी है, उसमें चेतन कारण नहीं है यह सांख्यमत अच्छा है अथवा जिस चेतन अश्व आदिके संयोगसे अचेतनकी प्रवृत्ति होती है उसकी है, यह वेदान्तमत अच्छा है यह प्रश्नका अर्थ है । सांख्य कहता है–"ननु" इत्यादिसे । उभयोः–दोनोंको अर्थात् प्रवृत्ति

भाष्य

न तु प्रवृत्त्याश्रयत्वेन केवलश्चेतनो रथादिवत् प्रत्यक्षः। प्रवृत्त्याश्रय-देहादिसंयुक्तस्यैव तु चेतनस्य सद्भावसिद्धिः केवलाचेतनरथादिवैलक्षण्यं जीवद्देहस्य दृष्टमिति। अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनात् असति

भाष्यका अनुवाद

आदिकी भाँति प्रवृत्तिके आश्रयरूपसे प्रत्यक्ष नहीं है, परन्तु प्रवृत्तिके आश्रय जो देह आदि हैं, उनसे संयुक्त होकर ही चेतनके अस्तित्वकी सिद्धि होती है, क्योंकि जीवित देहमें केवल अचेतन रथ आदिसे विलक्षणता दिखाई देती है। इसीसे

रत्नप्रभा

उभयोः प्रवृत्तितदाश्रययोः इत्यर्थः। दृष्टाश्रयेणैव प्रवृत्तेः उपपत्तौ, अदृष्टे चेतनप्रवृत्तिः न कल्प्या इति भावः। आत्मनोऽप्रत्यक्षत्वे कथं सिद्धिः तत्राह—**प्रवृत्तीति**। जीवद्देहस्य रथादिभ्यो वैलक्षण्यं प्राणादिमत्त्वं लिङ्गं दृष्टमिति कृत्वा चेतनस्य सिद्धिः इति अन्वयः। जीवद्देहः सात्मकः, प्राणादिमत्त्वाद्, व्यतिरेकेण रथादिवदिति आत्मसिद्धिः इत्यर्थः। देहप्रवृत्तिः स्वाश्रयाद् अन्येन ज्ञानवता सहभूता, प्रवृत्तित्वाद्, रथप्रवृत्तिवद्, इत्यनुमानान्तरसूचनाय प्रवृत्त्याश्रया इत्युक्तम्, सद्भावसिद्धिः एव न प्रवर्तकत्वम् इत्येवकारार्थः। अनुमितस्य सद्भावमात्रेण प्रवृत्तिहेतुत्वे सर्वत्र आकाशस्याऽपि हेतुत्वप्रसङ्गात् इति भावः। आत्मनः अप्रत्यक्षत्वे चार्वाकाणां भ्रमोऽपि लिङ्गम् इत्याह—**अत एवेति**। अप्रत्यक्षत्वादेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

और उसके आश्रयका। जब प्रत्यक्ष दृष्ट आश्रयसे ही प्रवृत्तिकी उपपत्ति हो सकती है, तब अदृष्ट चेतनमें प्रवृत्तिकी कल्पना करना ठीक नहीं है ऐसा तात्पर्य है। आत्माके अप्रत्यक्ष होनेसे उसकी सिद्धि कैसे होती है? इसपर कहते हैं–"प्रवृत्ति" इत्यादिसे। जीवित देहमें रथ आदिसे वैलक्षण्य अर्थात् प्राणका अस्तित्वरूप हेतु दिखाई देता है इससे चेतनकी सिद्धि होती है ऐसा अन्वय है। जीवित देह आत्मासे युक्त है, प्राण आदिसे युक्त होनेसे, व्यतिरेकसे रथ आदिके समान, इस अनुमानसे आत्मा सिद्ध होता है यह तात्पर्य है। देहप्रवृत्ति अपने आश्रयसे—देहसे अन्य ज्ञानवान् आत्मासे युक्त है, प्रवृत्ति होनेसे, रथप्रवृत्तिके समान, ऐसे अन्य अनुमान को सूचित करनेके लिए प्रवृत्तिका आश्रय ऐसा कहा है। आत्माका सद्भाव ही सिद्ध होता है प्रवर्त्तकत्व सिद्ध नहीं होता—यह एवकारका अर्थ है। अनुमित आत्माके अस्तित्वमात्रसे यदि प्रवर्त्तकत्व सिद्ध हो तो सर्वव्यापक आकाश भी सर्वत्र प्रवर्तक होगा ऐसा तात्पर्य है। आत्मा प्रत्यक्ष है इसमें चार्वाक का भ्रम भी लिङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। अत एव–

भाष्य

चाऽदर्शनाद् देहस्यैव चैतन्यमपीति लौकायतिकाः प्रतिपन्नाः। तस्माद-चेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति।

तदभिधीयते। न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति, भवतु तस्यैव, सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः। तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात्। यथा काष्ठादिव्यपाश्रयाऽपि दाहप्रकाशलक्षणा विक्रियाऽनुपलभ्यमानापि च केवले ज्वलने ज्वलनादेव भवति, तत्संयोगे दर्शनात् तद्वियोगे चादर्शनात्, तद्वत्। लौकायतिकानामपि चेतन एव देहोऽचेतानानां रथादीनां प्रवर्तको दृष्ट इत्यविप्रतिषिद्धं

भाष्यका अनुवाद

जब देहका प्रत्यक्ष होता है, तब चैतन्य दीखता है और जब देहका प्रत्यक्ष नहीं होता, तब नहीं दीखता, इसलिए देह ही चेतन है, ऐसा लौकायतिक मानते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अचेतनकी प्रवृत्ति होती है।

सिद्धान्ती इसपर कहते हैं—जो अचेतनमें प्रवृत्ति दीखती है, वह उसकी नहीं है, ऐसा हम नहीं कहते, वह उसीकी हो परन्तु वह होती चेतनसे है, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि चेतनके अस्तित्वमें उसका अस्तित्व है और चेतनके अभावमें अभाव है, जैसे काष्ठ आदिमें रहनेवाली भी दाह और प्रकाशरूप विक्रिया केवल अग्निमें नहीं देखी जाती, तो भी होती है अग्नि ही से, क्योंकि अग्निका संयोग होनेपर वह दीखती है और वियोग होनेपर नहीं दीखती, उसी प्रकार चेतनके साथ संयोग होनेपर शरीरमें प्रवृत्ति दीखती है और उसके अभावमें नहीं दीखती। चार्वाकोंके मतमें भी चेतन देह ही अचेतन

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। देहान्यात्मनः प्रत्यक्षत्वे भ्रमासम्भवात् इति भावः। दर्शनात्, प्रवृत्ति-चैतन्ययोः इति शेषः। प्रवृत्तिं प्रत्याश्रयत्वमचेतनस्यैव इति उक्तमङ्गीकृत्य चेतनस्य प्रयोजकत्वं सिद्धान्ती साधयति—तदभिधीयते इति। रथादिप्रवृत्तौ अश्वादिचेत-नस्य अन्वयव्यतिरेकौ स्फुटौ, ताभ्यां चेतनस्य प्रवर्तकत्वं बाह्यानामपि सम्मतम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माके प्रत्यक्ष होनेसे ही। देहसे अन्य आत्मा प्रत्यक्ष हो तो चार्वाकके भ्रमका असंभव हो जायगा ऐसा अभिप्राय है। 'दर्शनात्'के पीछे चैतन्य और प्रवृत्तिका इतना शेष समझना चाहिए। अचेतन ही प्रवृत्ति का आश्रय है इस सांख्योक्त पक्षका अंगीकार करके चेतन प्रवर्तक है ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"तदाभिधीयते" इत्यादिसे। रथ आदिकी प्रवृत्तिमें अश्व आदि चेतनका अन्वय और व्यतिरेक स्पष्ट है और इस अन्वय व्यतिरेकसे चेतन प्रवर्तक है

भाष्य

चेतनस्य प्रवर्तकत्वम् । ननु तव देहादिसंयुक्तस्याऽप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरप्रवर्तकत्वमिति चेत्, न; अयस्कान्तवद् रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः। यथाऽयस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति, एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम् । एकत्वात् प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति चेत्, न;

भाष्यका अनुवाद

रथ आदिका प्रवर्तक माना गया है, इसलिए चेतनके प्रवर्तक होनेमें कोई विरोध नहीं है। परन्तु तुम्हारे मतमें देहसे संयुक्त भी आत्मा की विज्ञानस्वरूपमात्रसे अतिरिक्त प्रवृत्तिके अनुपपन्न होनेसे प्रवर्त्तकत्व भी अनुपपन्न है ऐसा यदि कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि लोहचुम्बकके और रूप आदिके समान प्रवृत्तिरहित पदार्थोंमें भी प्रवर्त्तकता देखी जाती है। जैसे लोहचुम्बक स्वयं प्रवृत्तिरहित होनेपर भी लोहेका प्रवर्त्तक होता है अथवा जैसे रूप आदि विषय स्वयं प्रवृत्तिरहित होनेपर भी नेत्र आदिके प्रवर्त्तक होते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्तिरहित होता हुआ भी ईश्वर, सर्वव्यापक, सर्वात्मा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होनेसे सबको प्रवृत्त करे, यह युक्त है। एकत्वके कारण प्रवर्त्यका अभाव होनेसे

रत्नप्रभा

इत्याह—**लौकायतिकानामपीति**। यः प्रवर्तकः स स्वयं प्रवृत्तिमान् अश्वादिवदिति व्याप्तेः आत्मनि व्यापकाभावात् न प्रवर्तकत्वमिति कश्चित् शङ्कते—**नन्विति**। मण्यादौ व्यभिचारात् न व्याप्तिरिति परिहरति—**नेति**। वस्तुतः एकत्वेऽपि कल्पितं द्वैतं प्रवर्त्यम् अस्तीत्याह—**नाविद्येति**। अविद्यया कल्पिते नामरूपप्रपञ्चे

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा बाह्य—चार्वाकोंको भी अभीष्ट है, ऐसा कहते हैं—"लौकायतिकानाम्" इत्यादिसे। जो प्रवर्तक है वह स्वरूपसे प्रवृत्तिमान् है, अश्व आदिके समान, ऐसी व्याप्ति होनेसे आत्माके व्यापक न होनेके कारण आत्मा प्रवर्तक नहीं है ऐसी कोई शङ्का करता है—"ननु" इत्यादिसे। अयस्कान्तमणि आदिमें व्यभिचार है, अतः जो प्रवर्तक है, वह स्वरूपसे प्रवृत्तिमान् है ऐसी व्याप्ति नहीं है इस प्रकार शंका का परिहार करते हैं—"न" इत्यादि। वास्तवमें एकता होनेपर भी कल्पितद्वैत प्रवर्त्य है ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। "अविद्या" अविद्या

भाष्य

अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनाऽसकृत् प्रत्युक्तत्वात् । तस्मात् संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे न त्वचेतनकारणत्वे ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रवर्त्तकत्व अनुपपन्न है, ऐसा यदि कहो, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्यासे कल्पित नामरूपात्मक मायाके आवेशके बलसे उसमें ईश्वरभाव उपपन्न है। ऐसा अनेक बार निराकरण किया जा चुका है। इसलिए सर्वज्ञको कारण माननेमें प्रवृत्तिकी उपपत्ति हो सकती है, परन्तु अचेतनको कारण माननेमें नहीं हो सकती ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

तयैव अविद्यारूपया मायया य आवेशः चिदात्मनः कल्पितः सम्बन्धः तस्य वशः सामर्थ्यं तेन अन्तर्यामित्वादिकमीश्वरस्य इत्युक्तत्वात् न चोद्यावसर इत्यर्थः ॥२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

से कल्पित नामरूप प्रपञ्चमें उस अविद्यारूप मायासे जो आवेश—चिदात्माका कल्पित सम्बन्ध है, उसकी सामर्थ्यसे ईश्वरमें अन्तर्यामित्व आदि युक्त है, अतः आक्षेपका अवसर नहीं है ऐसा अर्थ है ॥ २ ॥

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

पदच्छेद—पयोम्बुवत्, च, तत्र, अपि ।

पदार्थोक्ति—पयोम्बुवत्—यथा क्षीरं वत्सविवृद्धये प्रवर्तते, यथा च जलं स्वयमेव स्यन्दते तद्वत् प्रधानमपि स्वयमेव प्रवर्तते इति चेत्, [न] तत्रापि—पयोऽम्बुनोश्च [परमात्मैव प्रेरकः श्रूयते, 'योऽप्सुतिष्ठन्' इत्यादिश्रुतेः, अत एव न प्रधानं जगत्कारणम्]।

भाषार्थ—जैसे दूध बछड़ेके पोषणके लिए स्वयं प्रवृत्त होता है और जैसे जल स्वयं बहता है, उसी प्रकार प्रधान भी स्वयं प्रवृत्त होता है ऐसा यदि कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि 'योऽप्सु तिष्ठन्' (जो जलमें रहता हुआ) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि जल आदिमें भी परमात्माही प्रेरक है। इसलिए प्रधान जगत्का कारण नहीं है।

भाष्य

स्यादेतत्, यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दत एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्तिष्यत इति।

नैतत् साधूच्यते। यतस्तत्रापि पयोम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिमीमहे, उभयवादिप्रसिद्धे रथादावचेतने केवले प्रवृत्त्यदर्शनात्। शास्त्रं च 'योऽप्सु तिष्ठन्' 'योऽपोऽन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।४) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' (बृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयकं समस्तस्य लोकपरिस्पन्दितस्येश्वराधिष्ठिततां श्रावयति, तस्मात् साध्यपक्षनिक्षिप्तत्वात् पयोऽम्बुवदित्यनुपन्यासः।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी— ठीक है, जैसे अचेतन दूध स्वभावसे ही बछड़ेकी विवृद्धिके लिए प्रवृत्त होता है और जैसे अचेतन जल स्वभावसे ही लोकोंके उपकारके लिए बहता है, वैसे ही अचेतन प्रधानकी भी स्वभावसे ही पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए प्रवृत्ति हो सकती है?

सिद्धान्ती—नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उन—दूध और जलमें भी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्ति होती है, ऐसा हम अनुमान करते हैं, क्योंकि दोनों वादियोंसे सम्मत रथ आदि केवल—चेतनसे अनधिष्ठित अचेतनोंमें प्रवृत्ति नहीं दीखती। 'योऽप्सु तिष्ठन्' (जो जलमें रहता हुआ) 'योऽपोऽन्तरो यमयति' (जो जलमें रहनेवाली देवताका नियमन करता है) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने०' (हे गार्गि, इस अविनाशीके प्रशासनमें पूर्वदिशाकी तरफकी अन्य नदियां बहती हैं) इत्यादि श्रुतियां ईश्वर समस्त लोकचेष्टितका अधिष्ठाता है, ऐसा कहती हैं। इसलिए साध्यवान् पक्षमें प्रविष्ट होनेसे 'पयोऽम्बुवत्'

रत्नप्रभा

अनादिजडस्य प्रवृत्तिः चेतनाधीना, प्रवृत्तित्वात्, रथादिप्रवृत्तिवत्, इति स्थितम्, तत्र क्षीरादौ व्यभिचारम् आशङ्क्य तस्यापि पक्षसमत्वेन उक्तानुमानात् आगमेन च साध्यसिद्धेः न व्यभिचार इति सूत्रं व्याचष्टे—**स्यादेदितत्यादिना**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनादि जड़की प्रवृत्ति चेतनके अधीन है, प्रवृत्ति होनेसे, रथ आदिकी प्रवृत्तिके समान, ऐसी स्थिति है। उसमें दूध आदिमें व्यभिचारकी शङ्का करके उसके भी पक्षसम होनेसे उक्त अनुमान और आगमसे साध्यके सिद्ध होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसा सूत्रका व्याख्यान करते

भाष्य

चेतनायाश्च धेन्वाः स्नेहेच्छया पयसः प्रवर्तकत्वोपपत्तेः, वत्सचोषणेन च पयस आकृष्यमाणत्वात् । न चाऽम्बुनोऽप्यत्यन्तमनपेक्षा, निम्नभूम्याद्यपेक्षत्वात् स्यन्दनस्य । चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम् । 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इत्यत्र तु बाह्यनिमित्तनिरपेक्षमपि स्वाश्रयं कार्यं भवतीत्येतल्लोकदृष्ट्या निदर्शितम् । शास्त्रदृष्ट्या तु पुनः सर्वत्रैवेश्वरापेक्षत्वमापद्यमानं न पराणुद्यते ॥३॥

भाष्यका अनुवाद

(दूध और जलके समान) यह व्यभिचार स्थल नहीं है । और चेतन धेनुकी स्नेहेच्छासे दूध प्रवृत्त हो सकता है और बछड़ेके चूसनेसे दूध खिंच जाता है । और जलके बहनेमें किसीकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा नहीं है, क्योंकि उसे बहनेके लिए नीची भूमि आदिकी अपेक्षा है । चेतनकी अपेक्षा तो सर्वत्र दिखलाई गई है । 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' इस सूत्रमें तो बाह्य निमित्तकी अपेक्षाके बिना भी स्वाश्रय कार्य होता है, ऐसा लोकदृष्टिसे दिखलाया गया है । शास्त्रदृष्टिसे तो सर्वत्र ईश्वरकी अपेक्षा होती है, इसका अपलाप नहीं किया जाता ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

साध्यपक्षेति । साध्यवता पक्षेण तुल्यत्वाद् इत्यर्थः । अनुपन्यासो—न व्यभिचारभूमिरिति यावत् । क्षीरे प्रवर्तकत्वेन धेन्वादेः सत्त्वाच्च न व्यभिचार इत्याह—**चेतनायाश्चेति** । उपर्शितम् अनुमानागमाभ्याम् इति शेषः । सूत्रकारस्य "क्षीरवद्धि" (ब्र० सू० २।१।२४) "तत्रापि" इति च वक्तुः पूर्वापरविरोधम् आशङ्क्य लोकदृष्ट्या शास्त्रदृष्ट्या च सूत्रद्वयमिति अविरोधमाह—**उपसंहारेति**॥३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । "साध्यपक्ष" इत्यादि । साध्यवाले पक्षके समान होनेसे, यह अर्थ है । "अनुपन्यासः"—व्यभिचारस्थल नहीं है, यह तात्पर्य है । और दूधमें धेनु आदिके प्रवर्त्तक होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"चेतनायाश्च" इत्यादिसे । "उपदर्शितम्"—शास्त्र और अनुमानसे इतना शेष है । "उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि" इसमें दधि आदिके रूपमें दूध परिणत होता है, उसमें बाह्य साधनकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहा गया है और यहाँ तो कार्यमात्रसे उपादान स्वरूपसे बहिर्भूत अधिष्ठाताकी अपेक्षा है, ऐसा कहा गया है, इस प्रकार पूर्वापरविरोधकी आशंका करके लोकदृष्टिसे और शास्त्रदृष्टिसे ये दो सूत्र हैं, इसलिए अविरोध है, इस प्रकार शङ्काका समाधान करते हैं—"उपसंहार" इत्यादिसे ॥ ३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

पदच्छेद—व्यतिरेकानवस्थितेः, च, अनपेक्षत्वात् ।

पदार्थोक्ति—च–अपि व्यतिरेकानवस्थितेः—साङ्ख्यमते गुणाः साम्येनावस्थिताः प्रधानं तद्व्यतिरेकेण सहकार्यन्तरस्यानवस्थितेः, अनपेक्षत्वात्—पुरुषस्य तु असंगोदासीनत्वेन प्रवृत्तौ निवृत्तौ वानपेक्षत्वाभ्युपगमात् [न प्रधानं जगत्कारणम्]।

भाषार्थ—और सांख्यमतमें साम्यावस्थापन्न गुण ही प्रधान हैं उनसे अतिरिक्त कर्म आदि कोई सहकारी न होने और पुरुषके असंग तथा उदासीन होनेके कारण प्रवृत्ति या निवृत्तिमें अपेक्षाका स्वीकार न होनेसे अचेतन प्रधान जगत्कारण नहीं हो सकता ।

भाष्य

साङ्ख्यानां त्रयो गुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम्, न तु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद् बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति, पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानम्, अनपेक्षत्वाच्च कदाचित् प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत

भाष्यका अनुवाद

सांख्योंके मतमें साम्यावस्थापन्न तीन गुण प्रधान हैं, परन्तु उनसे भिन्न प्रधानका प्रवर्त्तक या निवर्तक कुछ बाह्य अपेक्षणीय नहीं है, और पुरुष उदासीन है प्रवर्त्तक या निवर्त्तक नहीं है, इसलिए प्रधान अपेक्षारहित है और अपेक्षारहित होनेसे कभी प्रधान महद् आदि आकारोंमें परिणत होगा और कभी न होगा,

---

रत्नप्रभा

अस्तु प्रधानस्य अपि धर्मादि कर्म पुरुषो वा प्रवर्तकः इति आशङ्क्य सूत्रं प्रवृत्तम्, तद्व्याचष्टे—**सांख्यानामित्यादिना**। प्रधानव्यतिरेकेण कर्मणः अनवस्थितेः पुरुषस्य उदासीनत्वात् कदाचित् सृष्टिप्रवृत्तिः कदाचित् प्रलय इत्ययुक्तमित्यर्थः । कर्मणोऽपि प्रधानात्मकस्य अचेतनत्वात् सदासत्वाच्च, न कादाचित्कप्रवृत्तिनियामकत्वम् इति भावः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्म आदि कर्म या पुरुष प्रधानका प्रवर्तक हो, इस आशंकाको दूर करनेके लिए यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है । उसका व्याख्यान करते हैं—"सांख्यानाम्" इत्यादिसे । प्रधानसे अतिरिक्त कर्मकी अवस्थिति नहीं है, और पुरुष उदासीन है इसलिए प्रधानकी कभी सृष्टिप्रवृत्ति हो और कभी प्रलय हो, यह संभव नहीं है, ऐसा अर्थ है और कर्म भी प्रधानात्मक होनेसे अचेतन है और सदा वर्तमान है, इससे वह कादाचित्क प्रवृत्तिका नियामक नहीं हो सकता, ऐसा तात्पर्य है ॥४॥

भाष्य

इत्येतदयुक्तम् । ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्येते ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

यह अयुक्त है । ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और महामायासे युक्त है, इस कारण उसकी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें कोई विरोध नहीं होता ॥ ४ ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

पदच्छेद—अन्यत्र, अभावात्, च, न, तृणादिवत् ।

पदार्थोक्ति—च–अपि, तृणादिवत्—यथा तृणादिकं निमित्तान्तरनिरपेक्षमेव क्षीररूपेण परिणमते तथैव प्रधानस्यापि परिणामोऽस्तु [इति चेत्] न, [कुतः] अन्यत्राभावात्—धेन्वादेरन्यत्र बलीवर्दादौ तृणादेः क्षीरभावस्य अभावात् [अतस्तृणादेः क्षीरीभावेऽस्ति निमित्तम्] ।

भाषार्थ—और जैसे तृण आदि अन्य निमित्तोंकी अपेक्षाके बिना ही दूधके रूपमें परिणत होते हैं, वैसे ही बिना किसी निमित्तकी अपेक्षाके प्रधानका भी परिणाम होता है ऐसा यदि कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि गाय आदि को छोड़कर बैल आदिमें तृण आदिका दूधके रूपमें परिणत होना नहीं देखा जाता, अतएव तृण आदिके दूध होनेमें निमित्त अवश्य है ।

भाष्य

स्यादेतत्, यथा तृणपल्लवोदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणमत एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यते इति ।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—जैसे तृण, पल्लव, जल आदि अन्य निमित्तकी अपेक्षाके बिना स्वभावसे ही दूध आदिके रूपमें परिणत हो जाते हैं, वैसे ही प्रधान भी महद्

रत्नप्रभा

पुनरपि दृष्टान्तबलात् प्रधानस्य स्वत एव कादाचित्कप्रवृत्तिः इत्याशङ्क्य निषेधति सूत्रकारः—अन्यत्रेत्यादिना । पृच्छति—कथमिति । उत्तरं—

रत्नप्रभाका अनुवाद

और प्रधान अपने आप ही कभी प्रवृत्त होता है, दृष्टान्तबलसे पुनः ऐसी शंका करके सूत्रकार उसका निषेध करते हैं—"अन्यत्र" इत्यादिसे । पूछते हैं—"कथम्" इत्यादिसे । उत्तर कहते

भाष्य

कथं च निमित्तान्तरनिरपेक्षं तृणादीति गम्यते? निमित्तान्तरानुपलम्भात्। यदि हि किंचिन्निमित्तमुपलभेमहि ततो यथाकामं तेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयेमहि, न तु संपादयामहे। तस्मात् स्वाभाविकस्तृणादेः परिणामस्तथा प्रधानस्यापि स्यादिति।

अत्रोच्यते—भवेत् तृणादिवत् स्वाभाविकः प्रधानस्यापि परिणामो यदि तृणादेरपि स्वाभाविकः परिणामोऽभ्युपगम्येत, न त्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धेः। कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः? अन्यत्राभावात्, धेन्वैव ह्युपभुक्तं तृणादि क्षीरीभवति न प्रहीणमनडुहाद्युपभुक्तं वा। यदि हि निर्नि-

भाष्यका अनुवाद

आदिके रूपमें परिणत हो जायगा। और तृण आदि अन्य निमित्तकी अपेक्षा नहीं रखते, यह कैसे जानते हो? इससे कि अन्य निमित्तका दर्शन नहीं होता। यदि हम अन्य निमित्त प्राप्त कर सकते तो उसके द्वारा इच्छानुसार तृण आदि लेकर दूध आदिका सम्पादन कर सकते, परन्तु हम सम्पादन नहीं कर सकते, इसलिए तृण आदिका परिणाम स्वाभाविक है, उसी प्रकार प्रधान का भी परिणाम हो?

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—यदि तृण आदिका स्वाभाविक परिणाम भी माना जाता, तो तृण आदिके समान प्रधानका भी स्वाभाविक परिणाम माना जाता। परन्तु तृण आदिका स्वाभाविक परिणाम नहीं माना जाता, क्योंकि अन्य निमित्त उपलब्ध है। अन्य निमित्त किस प्रकार उपलब्ध है? क्योंकि अन्यत्र अभाव है, कारण कि धेनुसे ही उपभुक्त तृण आदि दूधके रूपमें परिणत होते हैं, नष्ट हुए या बैल आदिसे उपभुक्त तृण दूधके रूपमें परिणत नहीं होते।

रत्नप्रभा

निमित्तान्तरेति। धेन्वादि निमित्तान्तरम् अस्तीति सिद्धान्तयति—**अत्रोच्यत इति**। प्रहीणं— नष्टम्। यदुक्तम्—क्षीरस्य स्वेच्छया सम्पादयितुम् अशक्यत्वात् स्वाभाविकत्वमिति तत्राह—**न च यथाकाममिति** ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं–"निमितान्तर" इत्यादिसे। धेनु आदि अन्य निमित्त हैं, ऐसा सिद्धान्त कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। प्रहीण—नष्ट। दूध स्वेच्छासे बनाया नहीं जा सकता इससे स्वाभाविक है, यह जो कहा है, उसपर कहते है–"न च यथाकामम्" इत्यादि ॥ ५ ॥

भाष्य

मित्तमेतत् स्याद्धेनुशरीरसम्बन्धादन्यत्रापि तृणादि क्षीरीभवेत् । न च यथाकामं मानुषैर्न शक्यं सम्पादयितुमित्येतावता निर्निमित्तं भवति । भवति हि किंचित्कार्यं मानुषसम्पाद्यं किंचिद्दैवसम्पाद्यम् । मनुष्या अपि शक्नुवन्त्येवोचितेनोपायेन तृणाद्युपादाय क्षीरं सम्पादयितुम्, प्रभूतं हि क्षीरं कामयमानाः प्रभूतं घासं धेनुं चारयन्ति, ततश्च प्रभूतं क्षीरं लभन्ते । तस्मान्न तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्य परिणामः ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

यदि इसमें कोई निमित्त न हो, तो धेनुके शरीरसंबन्धसे अन्यत्र भी तृण आदि दूध बन जायँ[1]। और मनुष्य अपनी इच्छानुसार उसको बना नहीं सकते, इतनेसे ही दूध निमित्तरहित नहीं होता, क्योंकि कितने ही कार्य मनुष्यसे सम्पादन किये जा सकते हैं और कितने ही दैवसे। मनुष्य भी उचित उपायसे तृण आदिका ग्रहणकरके दूधका सम्पादन कर ही सकते हैं, क्योंकि पुष्कल दूधकी कामनावाले पुरुष धेनुको पुष्कल घास चराते हैं और उससे पुष्कल दूध प्राप्त करते हैं। इसलिए तृण आदिके समान प्रधानका परिणाम स्वाभाविक नहीं है ॥ ५ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

पदच्छेद—अभ्युगमे, अपि, अर्थाभावात् ।

पदार्थोक्ति—अभ्युपगमेऽपि—प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि अर्थाभावात्—प्रयोजनाभावात्, [दोषस्तदवस्थः] ।

भाषार्थ—प्रधानकी स्वतः प्रवृत्ति माननेपर भी प्रवृत्तिका कोई प्रयोजन न होनेसे दोष ज्योंका त्यों है ।

---

(१) धेनुसे उपभुक्त तृण, पल्लव आदि स्वभावसे ही—चेतनकी अपेक्षाके बिना ही जैसे दूधभावमें परिणत होते हैं उसमें धेनुके चैतन्यकी अपेक्षा नहीं है, केवल उपयोगमें धेनुकी अपेक्षा है, वैसेही प्रधान भी स्वभावसे ही परिणत होगा चेतनका क्या प्रयोजन है ? यह शंकाका तात्पर्य है। धेनुसे उपभुक्त तृण आदि दूधरूपमें परिणत होते हैं इसमें निमित्तमात्रका निषेध करते हैं या चेतन निमित्त का ? निमित्त मात्रका निषेध तो नहीं हो सकता, क्योंकि धेनुकी देहमें रहनेवाली जाठराग्नि आदि निमित्तान्तरका संभव है। बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला तो सर्वज्ञ ईश्वर वहाँ भी निमित्त है ऐसा परिहारका तात्पर्य है ।

भाष्य

स्वाभाविकी प्रधानप्रवृत्तिर्न भवतीति स्थापितम्, अथापि नाम भवतः श्रद्धामनुरुध्यमानाः स्वाभाविकीमेव प्रधानस्य प्रवृत्तिमभ्युपगच्छेम तथापि दोषोऽनुषज्येतैव । कुतः ? अर्थाभावात् । यदि तावत् स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किंचिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्यते ततो यथैव सहकारि किंचिन्नापेक्षत एवं प्रयोजनमपि किंचिन्नापेक्षिष्यते, इत्यतः प्रधानं पुरुषस्यार्थं साधयितुं प्रवर्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत । स यदि ब्रूयात् सहकार्येव केवलं नापेक्षते न प्रयोजनमपीति, तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यं भोगो वा स्या-

भाष्यका अनुवाद

प्रधानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा स्थिर किया जा चुका है। परन्तु आपकी श्रद्धाके अनुसार हम प्रधानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति मान भी लें, तो भी दोष आता है। किससे ? प्रयोजनका अभाव होनेसे। यदि प्रधानकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है और उस प्रवृत्तिमें दूसरे किसीकी अपेक्षा नहीं है ऐसा कहो तो जिस प्रकार प्रधानको किसी सहकारीकी अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार किसी प्रयोजनकी भी अपेक्षा नहीं होगी, ऐसी अवस्थामें प्रधान पुरुषके भोग तथा मोक्षरूप अर्थकी सिद्धिके लिए प्रवृत्त होता है, इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। यदि वह ऐसा कहे कि प्रधान केवल सहकारीकी ही अपेक्षा नहीं रखता है, प्रयोजनकी अपेक्षा तो रखता ही है, तो भी प्रधानकी प्रवृत्तिके प्रयोजनका

रत्नप्रभा

अभ्युपगमेऽप्यर्थेति । प्रधानस्य न स्वतः प्रवृत्तिः, स्वतः प्रवृत्त्यभ्युपगमे पुरुषार्थस्य अपि अपेक्षाभावप्रसंगात् इति एकः अर्थः । तत्र इष्टापत्तिं निरस्यति—**इत्यतः प्रधानमिति** । उक्तप्रसंगस्य इष्टत्वे प्रतिज्ञाहानिः स्यात् इति अर्थः । अर्थासम्भवात् न स्वतः प्रवृत्तिः इति अर्थान्तरं शङ्कापूर्वकम् आह—**स यदीत्या-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अभ्युपगमेऽप्यर्थे"। प्रधानकी स्वतः प्रवृत्ति नहीं है, यदि स्वतः प्रवृत्ति मानें, तो पुरुषार्थकी अपेक्षाके अभावका प्रसंग आवेगा, ऐसा एक अर्थ है, उसमें इष्टापत्तिका निरसन करते हैं—"इत्यतः प्रधानम्" इत्यादिसे। जो प्रसंग कहा, उसको इष्ट मानें, तो प्रतिज्ञाकी हानि होगी, ऐसा अर्थ है। 'पुरुषार्थाभावात्'का पुरुषार्थके असम्भवसे स्वतः प्रवृत्ति नहीं है, ऐसा दूसरा अर्थ शङ्कापूर्वक कहते हैं—"स यदि" इत्यादिसे । यदि प्रयोजनकी अपेक्षा हो,

भाष्य

दपवर्गो वोभयं वेति । भोगश्चेत् कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च । अपवर्गश्चेत् प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात् प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्, शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च । उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव । न चौत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः, नहि प्रधानस्याऽचेतनस्यौत्सुक्यं सम्भवति । न च पुरुष-

भाष्यका अनुवाद

विवेचन करना चाहिये कि भोग इसकी प्रवृत्तिका प्रयोजक है या अपवर्ग है अथवा भोग और मोक्ष दोनों हैं। यदि पुरुषका प्रवृत्तिमें भोग प्रयोजक हो तो सुख आदि अतिशयरहित पुरुषका भोग किस प्रकार होगा? और पुरुषके मोक्षका अभाव भी मानना पड़ेगा। यदि मोक्ष प्रयोजन हो, तो प्रवृत्तिके पूर्वमें भी मोक्षके सिद्ध होनेसे प्रवृत्ति निरर्थक हो जायगी और शब्द आदिकी अनुपलब्धिका प्रसंग आवेगा। प्रधानकी प्रवृत्ति भोग और अपवर्ग दोनोंके लिए है, ऐसा मानें, तो भी भोगयोग्य पदार्थों—प्रधानमात्राओंके अनन्त होनेसे मोक्षके ही अभावका प्रसंग आवेगा। औत्सुक्यनिवृत्ति करनेके लिए प्रवृत्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता,

---

रत्नप्रभा

दिना। प्रयोजनम् अपेक्षितं चेद् वक्तव्यम् इति आह—तथापीति। कूटस्थे पुरुषे स्वतः सुखादिरूपस्य अतिशयस्य आधातुम् अशक्यत्वात् अध्यासानङ्गीकाराच्च भोगो न युक्तः। किञ्च, प्रधानप्रवृत्तेर्भोगार्थत्वे मोक्षहेतुविवेकख्यात्यभावादनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च, अपवर्गार्थत्वे स्वरूपावस्थानरूपमुक्तेः स्वतः सिद्धत्वात् प्रवृत्तिवैयर्थ्यम्, भोगाभावप्रसंगश्चेत्यर्थः। तृतीयं दूषयति—उभयार्थतेति। मीयन्ते भुज्यन्ते इति मात्राः—भोग्याः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो वह कहना चाहिए, इसपर कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। कूटस्थ नित्य पुरुषमें सुख आदि अतिशय का स्वतः आधान नहीं हो सकता और अध्यास का अङ्गीकार न होनेसे भोग युक्त नहीं है। [भोग सुखदुःख साक्षात्काररूप धर्म है, असंग पुरुषमें उसका सम्भव नहीं है।] और प्रधानप्रवृत्ति भोगार्थक मानें, तो प्रकृति पुरुषके विवेक ज्ञानके अभावसे अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग आवेगा। यदि प्रधानप्रवृत्ति अपवर्गनिमित्तक है, ऐसा मानें तो स्वरूपावस्थानरूप मुक्तिके स्वतः सिद्ध होनेसे प्रवृत्ति व्यर्थ होगी और भोगके अभावका प्रसंग आवेगा, ऐसा अर्थ है। तीसरे प्रयोजनका निरसन करते हैं—"उभयार्थता" इत्यादिसे। मात्रा—मीयन्ते भुज्यन्ते इति

भाष्य

स्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम्। दृक्शक्तिसर्गशक्तिवैयर्थ्यभयाच्चेत्प्रवृत्तिः, तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत् सर्गशक्त्यनुच्छेदात् संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। तस्मात् प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिरित्येतदयुक्तम् ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि अचेतन प्रधानमें औत्सुक्य—इच्छाका सम्भव नहीं है, इसी प्रकार निर्मल एवं निष्कल पुरुषमें भी औत्सुक्य नहीं हो सकता है। प्रधानमें सर्गशक्ति और पुरुषमें दृक्शक्तिकी सार्थकताके लिए यदि प्रवृत्तिका स्वीकार करो, तो जैसे पुरुषकी दृक्शक्ति नित्य है, वैसे ही सर्गशक्तिके नित्य होनेसे तथा संसारका विनाश न होनेसे मोक्षका अभाव मानना पड़ेगा। इसलिए प्रधानकी प्रवृत्ति पुरुषके प्रयोजनके निमित्त है, यह कथन अयुक्त है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

'औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्' ॥ (सां०का०श्लो० ५८)

इति कारिकोक्तं दूषयति—न चेति। औत्सुक्यम्—इच्छाविशेषः, केवलजडस्य आत्मनो वा न युक्त इत्यर्थः। अस्ति पुरुषस्य दृक्शक्तिः चिद्रूपत्वात्, अस्ति च प्रधानस्य सर्गशक्तिः त्रिगुणत्वात्, तयोः शक्त्योर्दृश्यसृष्टिं विना सार्थक्यायोगात् प्रधानस्य सृष्टौ प्रवृत्तिरिति चेत्। न शक्त्योर्नित्यत्वात् सृष्टिनित्यत्वापत्तिरित्याह—दृक्शक्तीति ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मात्राः—जिसका भोग किया जाय वे मात्राएँ हैं, अर्थात् भोग्यपदार्थ "औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु" (जैसे—औत्सुकी निवृत्तिके लिए लोक क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही पुरुषके मोक्षके लिए अव्यक्त—प्रधान प्रवृत्त होता है) इस कारिकामें कथित प्रवृत्तिके निमित्त को दूषित करते हैं—"न च" इत्यादिसे। औत्सुक्य-इच्छाविशेष। औत्सुक्य केवल जड़में या आत्मामें युक्त नहीं हैं, ऐसा अर्थ है। चिद्रूप होनेसे पुरुष में जो दृक्शक्ति है, वह दृश्य-सृष्टिके बिना निरर्थक हो जायगी, उसी प्रकार प्रधानमें जो सर्गशक्ति है, वह भी सृष्टिके बिना निरर्थक हो जायगी, अतः प्रधान की सृष्टिमें प्रवृत्ति है ऐसा यदि कहो तो ऐसा नहीं कह सकते, शक्तियोंके नित्य होनेसे सृष्टिको भी नित्य मानना पड़ेगा ऐसा कहते हैं—"दृक्शक्ति" इत्यादिसे ॥६॥

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

पदच्छेद—पुरुषाश्मवत् , इति, चेत् , तथापि ।

पदार्थोक्ति—पुरुषाश्मवत्—यथा लोके पङ्गुः पुरुषः स्वयमप्रवर्त्तमानोऽप्यन्यमन्धं प्रवृत्तिशक्तिमन्तं प्रवर्त्तयति, यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा सन्निधिमात्रेणाऽयः प्रवर्त्तयति [एवं पुरुषः प्रवर्तकः] इति, चेत् , तथापि–प्रधानस्य पुरुषप्रेर्यत्वेऽपि [स्वातन्त्र्याभ्युपगमविरोधः, पुरुषस्य प्रवर्त्तकत्वे कौटस्थ्यहानिरित्यादिदोषाणां तादवस्थ्यम्] ।

भाषार्थ—जैसे लोकमें लंगड़ा आदमी स्वयं चलने फिरने में असमर्थ होता हुआ भी गमनशक्तिसम्पन्न अन्धे आदमीको प्रवृत्त करता है और जैसे लोहचुम्बक सामीप्यमात्रसे लोहको प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार पुरुष प्रधानका प्रवर्त्तक है यह यदि कहो तो प्रधानको पुरुष द्वारा संचालित होनेवाला मानने पर स्वीकृत प्रधानकी स्वतन्त्रताकी हानि और पुरुषकी असंगताकी हानि इत्यादि दोषोंसे छुटकारा नहीं होगा ।

भाष्य

स्यादेतत् , यथा कश्चित्पुरुषो दृक्शक्तिसंपन्नः प्रवृत्तिशक्तिविहीनः पङ्गुरपरं पुरुषं प्रवृत्तिशक्तिसंपन्नं दृक्शक्तिविहीनमन्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति, यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा स्वयमप्रवर्तमानोऽप्ययः प्रवर्तयति, एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयिष्यतीति दृष्टान्तप्रत्ययेन पुनः प्रत्यवस्थानम् ।

भाष्यका अनुवाद

ऐसा हो सकता है। जैसे दर्शनशक्तिसम्पन्न किन्तु गमनशक्तिविहीन कोई पंगु पुरुष, गमनशक्तिसम्पन्न किन्तु दर्शनशक्तिरहित अन्य अन्ध पुरुषके कन्धेपर बैठकर उसे प्रवृत्त करता है और जैसे अयस्कान्तमणि—लोहचुम्बक स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ भी लोहेको प्रवृत्त करता है, वैसे ही पुरुष प्रधानको प्रवृत्त करेगा, ऐसे दृष्टान्तबलसे सांख्य फिर खड़ा होता है। इसपर कहते हैं—तो

रत्नप्रभा

पुरुषस्य प्रवर्तकत्वं निरस्तमपि दृष्टान्तेन पुनराशङ्क्य निषेधति—पुरु-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषके प्रवर्त्तकत्वका निरसन किया जा चुका है, तो भी दृष्टान्तसे फिर आशंका करके

भाष्य

अत्रोच्यते—तथापि नैव दोषान्निर्मोक्षोऽस्ति। अभ्युपेतहानं तावद्दोष आपतति प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्। कथं चोदासीनः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयेत्। पङ्गुरपि ह्यन्धं पुरुषं वागादिभिः प्रवर्तयति, नैवं पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तनव्यापारोऽस्ति, निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च। नाऽप्ययस्कान्तवत् संनिधिमात्रेण प्रवर्तयेत्, संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गात्। अयस्कान्तस्य त्वनित्यसंनिधेरस्ति स्वव्यापारः संनिधिः, परिमार्जनाद्यपेक्षा चाऽस्याऽस्तीत्यनुपन्यासः पुरुषाश्मवदिति। तथा प्रधानस्याऽचैतन्यात् पुरुषस्य चौदासीन्यात्

भाष्यका अनुवाद

भी दोषसे मुक्ति नहीं है। एक तो स्वीकृत सिद्धान्तकी हानिरूप दोष आता है, क्योंकि स्वतन्त्र प्रधानकी प्रवृत्तिका स्वीकार किया है और पुरुषका प्रवर्त्तकत्व स्वीकार नहीं किया गया है। और उदासीन पुरुष प्रधानको किस प्रकार प्रवृत्त करेगा? क्योंकि पंगु भी अन्ध पुरुषको वाणीसे प्रवृत्त करता है। इस प्रकार पुरुषमें कुछ भी प्रवर्त्तन व्यापार नहीं है, क्योंकि वह निष्क्रिय और निर्गुण है। और लोहचुम्बकके समान सन्निधिमात्रसे भी प्रधानको प्रवृत्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसके नित्य सन्निहित होनेसे प्रवृत्तिमें नित्यता प्राप्त होगी। [लोहचुम्बकका सामीप्य अनित्य है] अनित्य समीप्यवाले लोहचुम्बकका व्यापार तो अनित्य सन्निधि ही है। और उसको परिमार्जन—सीधा रखना आदिकी अपेक्षा होनेसे 'पुरुषाश्मवत्' (पुरुष और अश्मके समान) यह सम दृष्टान्तका उपन्यास

रत्नप्रभा

षाश्मवदिति। प्रधानस्य स्वातन्त्र्यं पुरुषस्यौदासीन्यं चाऽभ्युपेतं त्यज्यते इति वदन् तं सांख्यं प्रत्याह—कथञ्चेति। पुरुषस्य परिस्पन्दः प्रयत्नगुणो वा नास्तीति वक्तुं हेतुद्वयम्। प्रधानपुरुषयोर्नित्यत्वाद् व्यापित्वाच्च नित्यः सन्निधिः, अश्मनस्तु परिमार्जनमृजुत्वेन स्थापनमनित्यसन्निधिश्चेति व्यापारोऽस्तीत्यनुपन्यासः, समदृष्टान्तोपन्यासो

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका निषेध करते हैं—"पुरुषाश्मवदिति" इत्यादिसे। प्रधानकी स्वतन्त्रता और पुरुषकी उदासीनताका जो स्वीकार किया है, उसका त्याग देगा, ऐसा कहते हुए सांख्यके प्रति कहते हैं—"कथं च" इत्यादिसे। पुरुषमें परिस्पन्द या प्रयत्नगुण नहीं है, ऐसा कहनेके लिए दो हेतु कहते हैं। प्रधान और पुरुषके नित्य और व्यापक होनेसे उनकी सन्निधि नित्य है, लोहचुम्बककी तो परिमार्जन ऋजुरूपसे स्थापन और अनित्य सन्निधि व्यापार है,

भाष्य

तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावात् संबन्धानुपपत्तिः । योग्यतानिमित्ते च संबन्धे योग्यतानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः । पूर्ववच्चेहाऽप्यर्थाभावो विकल्पयितव्यः । परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयमौदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वमित्यस्त्यतिशयः ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

नहीं है। उसी प्रकार प्रधान अचेतन है और पुरुष उदासीन है और उन दोनों का सम्बन्ध करानेवाला तीसरा कोई नहीं है, इसलिए संबन्ध अनुपपन्न हो जायगा और उनकी योग्यतानिमित्तक सम्बन्ध मानें, तो योग्यताके अनुच्छेदसे अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग आवेगा। और पूर्वके समान यहां भी प्रयोजनके अभावके विकल्पोंका विचार करना चाहिए। परमात्मा तो स्वरूपके आश्रयसे उदासीन है और मायाके आश्रयसे प्रवर्त्तक है, ऐसा अतिशय है ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

न भवतीत्यर्थः । ननु चिज्जडयोर्द्रष्टृदृश्यभावयोग्यताऽस्ति, तया तद्भावः सम्बन्ध इत्यत आह—**योग्यतेति** । चिज्जडत्वरूपाया योग्यताया नित्यत्वात् सम्बन्धनित्यत्वापत्तिरित्यर्थः । यथा स्वतन्त्रप्रधानप्रवृत्तिपक्षो भोगोऽपवर्गः उभयं वा फलमिति विकल्प्य दूषितः, एवं पुरुषाधीनप्रधानप्रवृत्तिपक्षोऽपि फलाभावेन दूषणीय इत्याह—**पूर्ववच्चेति** । सिद्धान्ते परमात्मन उदासीनस्य कथं प्रवर्तकत्वमित्याशङ्क्याह—**परमात्मेति** । सांख्यमते उभयं विरुद्धम् , सत्यत्वात् , अस्मन्मते कल्पिताकल्पितयोरविरोध इत्यतिशयः ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए समदृष्टान्तका उपन्यास नहीं है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई शंका करे कि चित् और जड़में द्रष्टृभाव और दृश्यभावकी योग्यता है, [प्रधान अचेतन है, अतः उसमें दृश्यरूप योग्यता है और पुरुष चेतन है, अतः उसमें द्रष्टृरूप योग्यता है] इसलिए उक्त योग्यतानिमित्तक सम्बन्ध होगा, इसपर कहते हैं—"योग्यता" इत्यादिसे। चिद्रूप और जडत्वरूप योग्यताके नित्य होनेसे सम्बन्ध भी नित्य मानना पड़ेगा और उससे मोक्षके अभावका प्रसङ्ग आवेगा, यह अर्थ है। जैसे प्रधानकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र है, इस पक्षको प्रवृत्तिका भोग, या अपवर्ग या उभय प्रयोजक है, ऐसा विकल्प करके दूषित किया है, वैसे ही पुरुषके अधीन प्रधानप्रवृत्ति है, यह पक्ष भी प्रयोजनके अभावसे दूषणीय है, ऐसा कहते हैं—"पूर्ववच्च" इत्यादिसे। परन्तु वेदान्तमें उदासीन परमात्मा प्रवर्त्तक कैसे है ? इसपर कहते हैं—"परमात्मा" इत्यादिसे। सांख्यमतमें उदासीनत्व और प्रवर्त्तकत्व दोनों सत्य होनेसे विरुद्ध हैं और हमारे मतमें—वेदान्तसिद्धान्तमें अकल्पित और कल्पित होनेसे विरोध नहीं है। 'अतिशय' है—'सांख्याभिमतपुरुषात्' इतना शेष समझना चाहिए। सांख्यके पुरुषसे वेदान्तीके पुरुषमें इस प्रकार विशेष है ॥ ७ ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—अङ्गित्वानुपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, अङ्गित्वानुपपत्तेः—परस्परानपेक्षाणां गुणानां साम्यावस्थाप्रच्युत्यभावेनाङ्गाङ्गित्वानुपपत्तेः [न प्रधानस्य प्रवृत्तिः भवितुमर्हति)

भाषार्थ—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखनेवाले गुणोंकी साम्यावस्थाके नाशके बिना अङ्गाङ्गिभावकी उपपत्ति न होनेसे प्रधानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

भाष्य

इतश्च न प्रधानस्य प्रवृत्तिरवकल्पते, यद्धि सत्त्वरजस्तमसामन्योन्यगुणप्रधानभावमुत्सृज्य साम्येन स्वरूपमात्रेणावस्थानं सा प्रधानावस्था, तस्यामवस्थायामनपेक्षस्वरूपाणां स्वरूपप्रणाशभयात् परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः । बाह्यस्य च कस्यचित् क्षोभयितुरभावाद् गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात् ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

इससे भी प्रधानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणोंकी परस्पर गुणप्रधानभावको छोड़कर साम्यसे—केवल स्वरूपमात्रसे जो स्थिति है वह प्रधानावस्था है । उस अवस्थामें परस्पर अपेक्षारहित सत्त्व आदि गुणोंके स्वरूपके नाश होनेके भयसे परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं बन सकता और उनमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले किसी बाह्य पदार्थका अभाव होनेसे गुणोंकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाले महत् आदि की उत्पत्ति नहीं होगी ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

किं प्रधानावस्था कूटस्थवत् नित्या उत विकारिणी ? आद्ये दोषमाह—**तस्यामिति** । अङ्गाङ्गिभावे साम्यस्वरूपनाशः स्यात्, ततः कौटस्थ्यभङ्ग इति भयादङ्गाङ्गित्वानुपपत्तेः सृष्ट्यनुपपत्तिरित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—**बाह्यस्येति** । चिरकालस्थितस्य साम्यस्य च्युतौ निमित्तं वाच्यम्, तन्नास्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्या प्रधानकी अवस्था कूटस्थके समान नित्य है अथवा विकारशील है । प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं—"तस्याम्" इत्यादिसे । अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव होनेपर साम्यस्वरूप का नाश होगा और साम्यस्वरूपके नाश होनेसे कूटस्थताका भंग होगा इस भयसे अङ्गाङ्गिभावकी अनुपपत्ति होनेसे सृष्टिकी अनुपपत्ति हो जायगी । दूसरे पक्षको दूषित करते हैं—"बाह्यस्य" इत्यादिसे । चिरकालसे स्थित साम्यावस्थाके नाशके लिए कोई निमित्त कहना चाहिए, परन्तु वह कहा नहीं गया है, ऐसा भावार्थ है ॥ ७ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—अन्यथा, अनुमितौ, च, ज्ञशक्तिवियोगात् ।

पदार्थोक्ति—[न वयमनपेक्षस्वभावान् गुणाननुमिमीमहे किन्तु] अन्यथा—प्रकारान्तरेण गुणानन्योन्यसापेक्षान् । अनुमितौ—एवमनुमाने सति [न प्रागुक्त-दोषप्रसक्तिः इति चेत्, न,] ज्ञशक्तिवियोगात्—गुणानां ज्ञानशक्तिरहितत्वात्, [स्वतः प्रवृत्त्युभावेनाऽङ्गाङ्गित्वानुपपत्तेः कार्यानुदयस्तदवस्थः]।

भावार्थ—हम अनपेक्ष गुणोंका अनुमान नहीं करते, किन्तु प्रकारान्तर-से परस्पर सापेक्ष गुणोंका अनुमान करते हैं। ऐसा अनुमान करनेपर पूर्वोक्त दोष नहीं आता ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा अनुमान करनेपर भी गुणों-में ज्ञानशक्तिके अभावसे अपने आप साम्यावस्थासे च्युति नहीं होनेसे परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता ऐसी स्थितिमें कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती अतः पूर्वोक्त दोष ज्योंका त्यों है ।

भाष्य

अथापि स्यादन्यथा वयमनुमिमीमहे यथा नायमनन्तरो दोषः प्रस-ज्येत । नह्यनपेक्षस्वभावाः कूटस्थाश्चाऽस्माभिर्गुणा अभ्युपगम्यन्ते, प्रमा-णाभावात् । कार्यवशेन तु गुणानां स्वभावोऽभ्युपगम्यते, यथा यथा

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—जिस प्रकार यह पूर्वोक्त दोष प्राप्त न हो, उस प्रकार हम अनुमान करते हैं। हम गुणोंको निरपेक्षस्वभाव कूटस्थ नहीं मानते, क्योंकि वैसा माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। कार्यके अनुसार गुणोंका स्वभाव माना जाता

रत्नप्रभा

गुणानां मिथोऽनपेक्षस्वभावत्वान्न स्वतो वैषम्यमित्युक्तम्, तत्र हेत्वसिद्धिमा-शङ्क्य सूत्रकारः परिहरति—**अन्यथेति** । अनपेक्षस्वभावाद् अन्यथा सापेक्षत्वेन गुणानामनुमानात् पूर्वसूत्रोक्तो दोषो न प्रसज्यते । न चैवमपसिद्धान्तः कार्यानुसारेण

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्त्व आदि गुण परस्पर अपेक्षा नहीं रखते, अतः उनमें अपने आप विषमता—साम्या-वस्थाका नाश नहीं होता ऐसा पीछे कहा जा चुका है। उसमें 'अनपेक्षस्वभावत्वात्' इस हेतुकी असिद्धिकी आशङ्का करके सूत्रकार उसका परिहार करते हैं—"अन्यथा" इत्यादिसे । अनपेक्ष-

भाष्य

कार्योत्पाद उपपद्यते तथा तथैषां स्वभावोऽभ्युपगम्यते, चलं गुणवृत्तमिति चास्त्यभ्युपगमः। तस्मात् साम्यावस्थायामपि वैषम्योपगमयोग्या एव गुणा अवतिष्ठन्ते इति।

एवमपि प्रधानस्य ज्ञशक्तिवियोगाद्रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषास्तदवस्था एव। ज्ञशक्तिमपि त्वनुमिमानः प्रतिवादित्वान्निवर्तेत, चेतनमेकमनेकप्रपञ्चस्य जगत उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसङ्गात्। वैषम्योपगमयोग्या अपि गुणाः साम्यावस्थायां निमित्ताभावान्नैव वैषम्यं भजेरन्, भजमाना वा निमित्ताभावाविशेषात् सर्वदैव वैषम्यं भजेरन्निति प्रसज्यत एवायमनन्तरोऽपि दोषः॥ ९॥

भाष्यका अनुवाद

है जैसे जैसे कार्योंकी उत्पत्ति की उपपत्ति होती है वैसे वैसे गुणोंका स्वभाव माना जाता है, गुणोंका स्वभाव चञ्चल है ऐसा स्वीकार किया गया है। इसलिए वे साम्यावस्थामें भी वैषम्यप्राप्तिके योग्य रहते हैं।

सिद्धान्ती—इस प्रकार अनुमान करनेपर भी प्रधानमें ज्ञानशक्तिका अभाव होनेसे रचनाकी अनुपपत्ति आदि पूर्वोक्त दोष ज्योंके त्यों ही रहते हैं, उनका परिहार नहीं होता। यदि सांख्य प्रधानमें ज्ञानशक्तिका भी अनुमान करे तो वह प्रतिपक्षितासे ही निवृत्त हो जायगा, क्योंकि एक चेतन अनेक प्रपञ्चरूप जगत्का उपादानकारण है इस ब्रह्मवादका प्रसङ्ग आवेगा। वैषम्यप्राप्तिके योग्य भी गुण साम्यावस्थामें निमित्तके अभावमें विषमताको नहीं प्राप्त होंगे। यदि वे वैषम्यके भाजन होने लगेंगे तो निमित्तके अभावकी तुल्यता होनेसे सर्वदा वैषम्यके भाजन होंगे, इस प्रकार पूर्वोक्त दोषकी प्राप्ति रह ही जाती है॥९॥

रत्नप्रभा

गुणस्वभावस्वीकारादित्याह—**चलं गुणवृत्तमिति**। पूर्वसूत्रोक्ताङ्गित्वानुपपत्तिदोषाभावमङ्गीकृत्य परिहरति—**एवमपीति**। कार्यार्थं ज्ञानशक्तिकल्पने ब्रह्मवादः स्यादित्यर्थः। अङ्गीकारं त्यजति—**वैषम्येति**। ॥ ९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वभावसे अन्यथा—विपरीत अर्थात् सापेक्षरूपसे गुणोंका अनुमान करनेपर पूर्वसूत्रमें उक्त दोष नहीं आता। ऐसा अनुमान करनेपर सिद्धान्तकी हानि भी नहीं होती क्योंकि कार्यके अनुसार गुणस्वभावका अंगीकार किया गया है ऐसा कहते हैं—"चलं गुणवृत्तम्" इत्यादिसे। पूर्वसूत्रमें उक्त अङ्गाङ्गिभावकी अनुपपत्तिरूप दोषका अभाव जो वादीने दिखलाया है उसका एक क्षणभरके लिए स्वीकार कर परिहार करते हैं—"एवमपि" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि कार्यके लिए ज्ञानशक्तिकी कल्पना करनेपर ब्रह्मवादकी प्राप्ति हो जायगी। पूर्वोक्त अङ्गीकारका त्याग करते हैं—"वैषम्य" इत्यादिसे॥ ९॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

पदच्छेद—विप्रतिषेधात्, च, असमञ्जसम् ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, विप्रतिषेधात्—सांख्या हि क्वचित् महतः पञ्चतन्मात्रसृष्टिं प्रतिजानन्ति क्वचिदहङ्कारात्, क्वचिद् दशेन्द्रियाणि क्वचिद् ज्ञानेन्द्रियाणि त्वगिन्द्रियेऽन्तर्भाव्य सप्तेन्द्रियाणीति परस्परविरोधात्, असमञ्जसम्—सांख्यमतमसंगतम्, [तस्मात् सांख्यसिद्धान्तो भ्रान्तिमूल इति निर्विवादम्]।

भाषार्थ—सांख्यलोग कहीं महत्से पञ्चतन्मात्राओंकी सृष्टिकी प्रतिज्ञा करते हैं तो कहीं अहङ्कारसे, और कहीं दश इन्द्रियोंकी प्रतिज्ञा करते हैं तो कहीं ज्ञानेन्द्रियोंका त्वगिन्द्रियमें अन्तर्भाव करके सात इन्द्रियाँ हैं ऐसा कहते हैं, इस प्रकार विरोध होनेसे सांख्यमत सुसंगत नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि सांख्य-सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है।

भाष्य

परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः। क्वचित् सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश, तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहङ्कारात्, तथा क्वचित् त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति क्वचिदेकमिति। प्रसिद्ध

भाष्यका अनुवाद

सांख्योंका मत परस्पर विरुद्ध है। वे कहीं सात इन्द्रियां गिनाते हैं कहीं ग्यारह, वैसे ही कहीं महत्से तन्मात्राओंकी उत्पत्तिका उपदेश करते हैं कहीं अहंकारसे, और कहीं अन्तःकरण तीन बताते हैं (मन, बुद्धि और अहंकार) और

रत्नप्रभा

सूत्रं व्याचष्टे—**परस्परेति**। त्वङ्मात्रमेव ज्ञानेन्द्रियमेकमनेकशब्दादिज्ञानकारणं पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति सप्तेन्द्रियाणि, ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च मनश्चेत्येकादश, बुद्धिरहङ्कारो मन इति त्रीणि, एकमिति बुद्धिरेव। एवं पूर्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"परस्पर" इत्यादिसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं। [कहींपर] केवल एक त्वक्मात्र ही ज्ञानेन्द्रिय है उसीसे शब्द, स्पर्श आदिका ज्ञान होता है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, और एक मन इस प्रकार कुल मिलाकर केवल सात इन्द्रियाँ मानी गई हैं, [कहींपर] पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियाँ मानी गई हैं, [कहींपर] बुद्धि, अहंकार और मन ये तीन और [कहींपर] केवल बुद्धि ही मानी गई है। इस प्रकार पूर्वापर विरोध

भाष्य

एव तु श्रुत्येश्वरकारणवादिन्या विरोधस्तदनुवर्तिन्या च स्मृत्या। तस्माद-प्यसमञ्जसं सांख्यानां दर्शनमिति ।

अत्राह—नन्वौपनिषदानामप्यसमञ्जसमेव दर्शनं तप्यतापकयो-र्जात्यन्तरभावानभ्युपगमात् । एकं हि ब्रह्म सर्वात्मकं सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमभ्युपगच्छतामेकस्यैवाऽऽत्मनो विशेषौ तप्यतापकौ न जात्यन्तरभू-

भाष्यका अनुवाद

कहीं एक बुद्धि। ईश्वरको जगत्का कारण बतानेवाली श्रुतिसे और उसीका अनुकरण करनेवाली स्मृतिसे इनका विरोध तो प्रसिद्ध ही है। इसलिये भी सांख्योंका मत अयुक्त है।

पूर्वपक्षी—वेदान्तदर्शन भी अयोग्य है, क्योंकि उसमें भी तप्य अर्थात् दुःखका भोग करनेवाला जीव और तापक अर्थात् जीवको दुःख देनेवाला संसार इनमें भेदका स्वीकार नहीं किया है। वेदान्तमें एक ही ब्रह्म सबकी आत्मा है और सब प्रपञ्चका कारण है। इसके अनुसार तप्य और तापकरूप जो जीव और संसार हैं, वे एकही आत्माके विशेष होते हैं, इसलिए इनमें जातिका भेद

रत्नप्रभा

परविरोधादिति व्याख्याय श्रुतिस्मृतिविप्रतिषेधाच्चेत्यर्थान्तरमाह—**प्रसिद्ध** इति। तस्माद्-भ्रान्तिमूलत्वात् सांख्यशास्त्रस्य, तेन निर्दोषवेदान्तसमन्वयस्याऽविरोध इति सिद्धम्। स्वमताऽसामञ्जस्यमसहमानः सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते—**अत्राहेति**। तप्यः—जीवः, तापकः—संसारः, तयोर्भेदानङ्गीकारात् लोकप्रसिद्धस्तप्यतापकभावो लुप्येत इत्यर्थः। विवृणोति—**एकं हीति**। तथा च भेदव्यवहारलोप इति असमञ्जसमित्यर्थः। ननु तयोरुपादानैक्येऽपि मिथो भेदोऽस्त्येव, यथा एकवह्न्यात्मकयोरौष्ण्यप्रका-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे [सांख्य सिद्धान्त ठीक नहीं है] ऐसी व्याख्या करके श्रुति और स्मृतिके विरोधसे भी [वह ठीक नहीं है] ऐसा अर्थान्तर कहते हैं—''प्रसिद्ध'' इत्यादिसे। इससे सिद्ध हुआ कि सांख्यशास्त्र भ्रान्तिमूलक है, अतएव उससे निर्दोष वेदान्त समन्वयका विरोध नहीं है यह सिद्ध हुआ। अपने मतके असामञ्जस्यको सहन न करता हुआ सांख्य विरोध करता है—''अत्राह'' इत्यादिसे। तप्य—जीव और तापक—संसार, इन दोनोंका भेद न माननेसे लोकप्रसिद्ध तप्य-तापकभाव ही लुप्त हो जायगा ऐसा भाव है। इसीका विवरण करते हैं—''एकं हि'' इत्यादिसे ऐसा होनेसे भेद-व्यवहारका लोप हो जायगा, इसलिए यह ठीक नहीं है ऐसा आशय है।

भाष्य

तावित्यभ्युपगन्तव्यं स्यात् । यदि चैतौ तप्यतापकावेकस्यात्मनो विशेषौ स्यातां स ताभ्यां तप्यतापकाभ्यां न निर्मुच्यत इति तापोपशान्तये सम्यग्दर्शनमुपदिशच्छास्त्रमनर्थकं स्यात् । न ह्यौष्ण्यप्रकाशधर्मकस्य प्रदीपस्य तदवस्थस्यैव ताभ्यां निर्मोक्ष उपपद्यते । योऽपि जलतरङ्गवीचीफेनाद्युपन्यासः, तत्रापि जलात्मन एकस्य वीच्यादयो विशेषा आविर्भावतिरोभावरूपेण नित्या एवेति समानो जलात्मनो वीच्यादिभिरनिर्मोक्षः । प्रसिद्धश्चायं तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावो लोके । तथाहि—अर्थी चार्थश्चा-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। जीव और संसार यदि एक ही आत्माके विशेष हैं, तो इस अवस्थामें आत्माकी जीवभावसे और संसारभावसे निवृत्ति नहीं हो सकती इससे तापकी निवृत्तिके लिए सम्यग् ज्ञानका उपदेश देनेवाले शास्त्र व्यर्थ हो जायंगे; क्योंकि उष्णता और प्रकाश जो दीपकके धर्म हैं, उनसे वह दीपक कभी भी अलग नहीं हो सकता। जलके तरंग, लहरें, झाग आदिके उदाहरणोंमें भी एक ही जलके तरंग आदि विशेष कभी प्रगट और कभी विलीन रहनेके कारण नित्य ही हैं, इसलिए उनकी भी जलसे पृथक्ता नहीं होती। परन्तु जीव और संसारकी भिन्नता जगत्में

रत्नप्रभा

शयोः, अतो न व्यवहारलोप इत्याशङ्क्य वह्नेरिव ताभ्यामात्मनो मोक्षो न स्यादित्याह—यदि चेत्यादिना। ननु सत्यपि धर्मिणि स्वभावनाशो मोक्ष उपपद्यते, सत्येव जले वीच्यादिनाशदर्शनादित्याशङ्क्य दृष्टान्तासिद्धिमाह—योऽपीति । किञ्च, भेदाङ्गीकारेऽपसिद्धान्तः, अनङ्गीकारे लोकप्रसिद्धिबाध इत्याह—प्रसिद्धश्चेति । अर्थो ह्यर्जनाऽलाभादिना अर्थिनं तापयतीति तापकः

रत्नप्रभाका अनुवाद

उनके उपादानके ऐक्य होनेपर भी परस्पर भेद है ही। जैसे एक वह्निसे उत्पन्न हुए दाह और प्रकाशमें भेद है। इसलिए व्यवहारका लोप नहीं है ऐसी आशंका करके जैसे दाह और प्रकाशसे वह्निका छुटकारा नहीं होता वैसे ही आत्माका तप्यतापकभावसे मोक्ष नहीं होगा ऐसा कहते हैं—"यदि च" इत्यादिसे। धर्मीके रहते हुए भी स्वभावनाशरूप मोक्ष हो सकता है, जलके रहते हुए भी तरंग आदिका नाश देखा जाता है ऐसी आशंका करके दृष्टान्तकी असिद्धि कहते हैं—"योऽपि" इत्यादिसे। और भेदका स्वीकार करनेपर सिद्धान्तकी हानि होती है भेदका अंगीकार न करनेपर लोक प्रसिद्धिका बाध होता है ऐसा कहते हैं—"प्रसिद्धश्च" इत्यादिसे। अर्थ उपार्जन, अलाभ आदिसे अर्थीको सन्ताप देता है अतः तापक है। अर्थी

भाष्य

न्योन्यभिन्नौ लक्ष्येते, यद्यर्थिनः स्वतोऽन्योऽर्थो न स्यात्, यस्याऽर्थिनो यद्विषयमर्थित्वं स तस्याऽर्थो नित्यसिद्ध एवेति तस्य तद्विषयमर्थित्वं न स्यात्, यथा प्रकाशात्मनः प्रदीपस्य प्रकाशाख्योऽर्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं भवति, अप्राप्ते ह्यर्थेऽर्थिनोऽर्थित्वं स्यादिति। तथाऽर्थस्याऽप्यर्थत्वं न स्यात्, यदि स्यात् स्वार्थत्वमेव स्यात्, न चैतदस्ति। संबन्धिशब्दौ ह्येतावर्थो चार्थश्चेति। द्वयोश्च संबन्धिनोः संबन्धः स्यान्नैक-

भाष्यका अनुवाद

प्रसिद्ध है। वैसे ही अर्थ और अर्थी जगत्‌में परस्पर भिन्न ही देखे जाते हैं। यदि अर्थीका अपनेसे भिन्न कोई अर्थ न हो, तो जिस अर्थीका जिस विषयमें अर्थित्व है, उसके लिए वह विषय नित्यसिद्ध ही है, अतः उस विषयमें उसका अर्थित्व नहीं बन सकता। जैसे प्रकाशरूप दीपकका प्रकाश अर्थ नित्यसिद्ध ही है, इसलिए वह दीपक प्रकाशका अर्थी नहीं बन सकता, क्योंकि अप्राप्त अर्थमें ही अर्थीका अर्थित्व होता है। वैसे ही अर्थका अर्थत्व भी नहीं होता और यदि हो तो वह स्वके लिए ही होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। क्योंकि अर्थ और अर्थी ये दोनों शब्द एक दूसरेसे संबन्ध रखनेवाले हैं। और दो सम्बन्धियोंका सम्बन्ध

रत्नप्रभा

अर्थी तप्यः, तयोरभेदे बाधकमाह—**यदीति**। अर्थिनोऽन्यस्याऽर्थस्याऽभावाद् अर्थित्वाऽभाववत् अर्थाद् अन्यस्य अर्थिनोऽसत्त्वात् अर्थत्वाऽभावः प्रसज्येतेत्याह—**तथाऽर्थस्यापीति**। प्रसङ्गस्य इष्टत्वं निराकरोति—**न चैतदस्तीति**। अर्थत्वं हि कामना-विषयत्वम्, तच्च काम्यादन्यस्य कामयितुरसत्त्वान्न स्यात्, नहि स्वस्य स्वार्थत्वमस्ति, काम्यस्यैव कामयितृत्वायोगात्, तस्माद् भेदोऽङ्गीकार्य इत्यर्थः। इतश्च भेद इत्याह—**सम्बन्धीति**। तथाऽनर्थानर्थिनौ अपि भिन्नौ इत्यन्वयः। अर्थानर्थयोः स्वरू-

रत्नप्रभाका अनुवाद

तप्य है। उनका अभेद माननेमें बाधक कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे। अर्थीसे भिन्न अर्थका अभाव होनेसे अर्थित्वके अभावकी भाँति अर्थसे अतिरिक्त अर्थीके अभावसे भी अर्थत्वके अभावकी प्राप्ति होगी ऐसा कहते हैं—"तथाऽर्थस्यापि" इत्यादिसे। उक्त अर्थत्वाभावकी इष्टताका निवारण करते हैं—"न चैतदस्ति" इत्यादिसे। अर्थत्व—कामनाका विषय होना। काम्यसे अतिरिक्त कामना करनेवालेके अभावमें अर्थत्व नहीं हो सकता। स्वका स्व अर्थ हो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि काम्य ही कामयिता नहीं हो सकता। इसलिए दोनोंमें परस्पर भेद मानना चाहिए ऐसा अर्थ है। इससे भी दोनोंमें भेद मानना चाहिए ऐसा कहते हैं—"सम्बन्धि"

भाष्य

स्यैव । तस्माद्भिन्नावेतावर्थार्थिनौ, तथाऽनर्थानर्थिनावपि । अर्थिनोऽनुकूलोऽर्थः प्रतिकूलोऽनर्थः, ताभ्यामेकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यते । तत्राऽर्थस्याऽल्पीयस्त्वाद् भूयस्त्वाच्चाऽनर्थस्योभावप्यर्थानर्थावनर्थ एवेति तापकः स उच्यते । तप्यस्तु पुरुषो य एकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यत इति तयोस्तप्यतापकयोरेकात्मतायां मोक्षानुपपत्तिः । जात्यन्तरभावे तु तत्संयोगहेतुपरिहारात् स्यादपि कदाचिद् मोक्षोपपत्तिरिति ।

भाष्यका अनुवाद

होता है, एक का नहीं, इसलिए अर्थ और अर्थी दोनों भिन्न ही हैं। वैसे ही, अनर्थ और अनर्थी भी भिन्न हैं। अर्थीके अनुकूल विषयको अर्थ कहते हैं और प्रतिकूलको अनर्थ कहते हैं। एकका उन दोनोंके साथ क्रमसे सम्बन्ध होता है। उनमें अर्थके अल्प होने और अनर्थके अधिक होनेसे अर्थ और अनर्थ दोनों अनर्थरूप ही हैं, इसलिए अर्थको तापक कहते हैं। और क्रमसे दोनोंके साथ जो एक संबद्ध होता है, वह पुरुष तप्य है। यदि तप्य और तापकको एक मान लें, तो मोक्षकी सिद्धि नहीं होगी। परन्तु यदि उनमें जातिका भेद माना जाय, तो उसके संयोगके हेतुके त्यागद्वारा कदाचित् मोक्षकी सिद्धि हो भी सकती है।

रत्नप्रभा

पोक्तिपूर्वकं तापकत्वं स्फुटयति—अर्थिनोऽनुकूल इति । अद्वैतमते मुक्तेः अयोगम् उक्त्वा स्वमते योगमाह—जात्यन्तरेति । तया तप्यया बुद्ध्या पुरुषस्य संयोगः स्वस्वामिभावः, तस्य हेतुः अनादिः अविवेकः, तस्य परिहारो विवेकः, तस्मात् नित्यमुक्तस्याऽपि पुरुषस्य कथञ्चिद् उपचाराद् मोक्षोपपत्तिः इत्यर्थः । यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ राजनि उपचर्येते, तथा पुरुषात् अत्यन्तभिन्नबुद्धिगतौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। उसी प्रकार अनर्थ और अनर्थी भी परस्पर भिन्न हैं ऐसा अन्वय है। अर्थ और अनर्थका स्वरूप कहकर उनमें तापकताका स्पष्टीकरण करते हैं—"अर्थिनोऽनुकूल" इत्यादिसे। अद्वैतमतमें मुक्तिकी अनुपपत्ति दिखलाकर अपने मतमें मुक्तिकी उपपत्ति दिखलाते हैं—"जात्यन्तर" इत्यादिसे। उस तप्य बुद्धिसे पुरुषका संयोग—स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध होता है, उसका कारण अनादि अविवेक है और विवेकसे उसका परिहार होता है। इसलिए नित्यमुक्त पुरुषके भी उपचारसे किसी प्रकार मोक्षकी उपपत्ति हो सकती है ऐसा तात्पर्य है। जैसे योद्धाओंके जय और पराजयका राजामें उपचार किया जाता है उसी प्रकार पुरुषसे अत्यन्त-

भाष्य

अत्रोच्यते—न, एकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः । भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम् । न त्वेतदस्त्येकत्वादेव । न ह्यग्निरेकः सन् स्वमात्मानं दहति, प्रकाशयति वा, सत्यप्यौष्ण्यप्रकाशादिधर्मभेदे परिणामित्वे च; किमु कूटस्थे ब्रह्मण्येकस्मिंस्तप्यतापकभावः संभवेत् । क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति ? उच्यते—किं न पश्यसि कर्मभूतो जीवद्देहस्तप्यः, तापकः

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—यह ठीक नहीं है, क्योंकि परमार्थमें एकता होनेसे ही तप्य-तापक भाव नहीं बनता । यदि इस अद्वैत अवस्थामें तप्य और तापक विषय-विषयि-भावको प्राप्त होते, तो ऊपर कहा हुआ दोष प्राप्त होता । परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि वहां तो भिन्नता ही नहीं है । अकेली अग्नि यद्यपि उष्णता, प्रकाश आदि भिन्न धर्मोंसे युक्त है और परिणामशील है, तो भी वह अपनेको जलाती नहीं या प्रकाशित नहीं करती । फिर एक ही कूटस्थ ब्रह्ममें तप्यतापक-भाव किस प्रकार घटेगा । और यह तप्य-तापक भाव भी कहां होगा ? क्या तुम नहीं देखते कि कर्म (कारक) चैतन्ययुक्त देह तप्य है और सविता तापक है ?

रत्नप्रभा

बन्धमोक्षौ पुरुषे उपचर्येते, तदुक्तम्—'सैव च बध्यते मुच्यते च' इति ।

सिद्धान्तयति—अत्रेति । किं परमार्थदृष्ट्या तप्यतापकभावानुपपत्तिरुच्यते, व्यवहारदृष्ट्या वा ? नाद्यः इत्याह—न, एकत्वादेवेति । दोषत्वमिति शेषः । तस्या अदोषत्वं विवृणोति—भवेदित्यादिना । एतत्—तात्त्विकं विषयविषयित्वं न तु अस्तीत्यर्थः । यत्र तप्यतापकभावो दृष्टः, तत्रैव इति व्यवहारपक्षमादाय सिद्धान्ती ब्रूते—किं न पश्यसीति । देहस्य तप्यत्वे देहात्मवादापत्तिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

भिन्न बुद्धिमें रहनेवाले बन्ध और मोक्षका पुरुषमें उपचार किया जाता है। सांख्यकारिकामें कहा है—वह बुद्धि ही बद्ध होती है और बुद्धि ही मुक्त होती है ।

"अत्र" इत्यादिसे सिद्धान्त करते हैं। परमार्थदृष्टिसे तप्यतापकभावकी अनुपपत्ति कहते हो या व्यवहारदृष्टिसे ? पहला पक्ष ठीक नहीं है ऐसा कहते हैं—"नैकत्वादेव" इत्यादिसे । 'नैकत्वात्'के अनन्तर 'दोषत्वम्' इतना शेष समझना चाहिए। उक्त अनुपपत्तिकी अदोषता कहते हैं—"भवेत्" इत्यादिसे । एतत्—वास्तविक विषय-विषयित्व नहीं है ऐसा अर्थ है। जहाँपर तप्यतापकभाव देखा जाता है, वहींपर तप्यतापकभाव है इस व्यवहार-

भाष्य

सवितेति । ननु तप्तिर्नाम दुःखं सा चेतयितुर्नाऽचेतनस्य देहस्य । यदि हि देहस्यैव तप्तिः स्यात् सा देहनाशे स्वयमेव नश्यतीति तन्नाशाय साधनं नैषितव्यं स्यादिति । उच्यते—देहाभावेऽपि केवलस्य चेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा । न च त्वयापि तप्तिर्नाम विक्रिया चेतयितुः केवलस्येष्यते । नाऽपि देहचेतनयोः संहतत्वम्, अशुद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात् । न च तप्तेरेव तप्तिमभ्युपगच्छसि । कथं तवाऽपि तप्यतापकभावः ? सत्त्वं तप्यं तापकं रज इति चेत्, न; ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः । सत्त्वानुरोधित्वाचेतनोऽपि

भाष्यका अनुवाद

ताप दुःखको कहते हैं और दुःख चेतनको होता है, अचेतन देहको नहीं होता । यदि देह ही को दुःख होता हो, तो देहके नाश होनेपर दुःख आपही आप नष्ट हो जायगा; उसके नाशके लिए साधन ढूढ़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है । समाधान कहते हैं—देहके अभावमें केवल चेतनकी तप्ति कहीं भी नहीं देखी जाती । और तापरूपी विकार केवल चेतन को हो यह तुम्हें भी इष्ट नहीं है । वैसे ही, अशुद्धि आदि दोषोंकी प्राप्ति होनेसे देह और चेतनका संघात भी तुम्हें इष्ट नहीं है, न तप्तिका ताप होना तुम्हें मान्य है, फिर तुम्हारे मतमें भी तप्यतापकभाव किस प्रकार सिद्ध होगा ? यदि कहो कि सत्त्व गुण तप्य है और रजोगुण तापक है, तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि उनका चेतनसे संबन्ध नहीं हो सकता। यदि कहो कि

रत्नप्रभा

इति शङ्कते—**नन्विति** । अचेतनस्यैव देहस्य तप्तिः न इति वदता सांख्येन वक्तव्यम्—किं चेतनस्य केवलस्य तप्तिः, किं वा देहसंहतस्य, उत तप्तेः, आहोस्वित् सत्त्वस्य । नाद्यः इत्याह—**उच्यते इति** । न द्वितीयतृतीयौ इत्याह—**नापीत्यादिना** । चतुर्थं शङ्कते—**सत्त्वमिति** । सत्त्वरजसोस्तप्यतापकत्वे

रत्नप्रभाका अनुवाद

पक्षको लेकर सिद्धान्ती कहते हैं—"किं न पश्यसि" इत्यादिसे । देहको यदि तप्य मानें, तो देहात्मवादकी आपत्ति हो जायगी ऐसी आशङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । केवल अचेतन देहका ताप नहीं होता है यह कहते हुए सांख्यसे पूछना चाहिए कि केवल चेतनकी तप्ति होती है अथवा देहसंहत—देहके साथ तादात्म्यको प्राप्त हुए चेतनकी तप्ति होती है या तापकी तप्ति होती है या सत्त्वगुणकी तप्ति होती है ? उनमें केवल चेतनकी तप्ति होती है यह पहला कल्प ठीक नहीं है ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे । दूसरा और तीसरा कल्प भी ठीक नहीं है ऐसा कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे । चतुर्थ कल्पकी आशङ्का करते हैं—

भाष्य

तप्यत इव इति चेत्, परमार्थतस्तर्हि नैव तप्यत इत्यापततीवशब्द-प्रयोगात्। न चेत्तप्यते नेवशब्दो दोषाय। नहि डुण्डुभः सर्प इवेत्येतावता सविषो भवति, सर्पो वा डुण्डुभ इवेत्येतावता निर्विषो भवति। अतश्चाऽविद्याकृतोऽयं तप्यतापकभावो न पारमार्थिक इत्यभ्युपगन्तव्य-

भाष्यका अनुवाद

बुद्धिके अनुरोधसे चेतन दुःख भोगतासा प्रतीत होता है, यदि ऐसा हो, तो परमार्थसे वह दुःखी नहीं होता, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि इव शब्दका प्रयोग है। यदि परमार्थतः आत्मा तप्त नहीं होता, तब इवशब्द दोषावह नहीं है। निर्विष डुमुही साँपसा होता है—ऐसा कहनेसे डुमुही विषवाला नहीं हो जाता, वैसे ही साँप डुमुहीसा होता है—ऐसा कहनेसे साँप निर्विष नहीं हो जाता, इसलिए यह तप्यतापकभाव

रत्नप्रभा

पुरुषस्य बन्धाभावात् शास्त्रारम्भवैयर्थ्यम् इति परिहरति—**न; ताभ्यामिति**। असङ्गत्वेऽपि पुरुषस्य तप्यसत्त्वप्रतिबिम्बत्वात् तप्तिः इति शङ्कते—**सत्त्वेति**। तर्हि जलचन्द्रस्य चलनवत् मिथ्यैव तप्तिः इत्यस्मत्पक्ष आगत इत्याह—**परमार्थत इति**। इवशब्दमात्रेण कथं मिथ्यातप्त्यवगम इति चेत्, उच्यते—इवशब्दः तप्यबुद्धिसत्त्वसादृश्यं ब्रूते, तच्च सादृश्यं पुरुषस्य तप्यत्वरूपं चेत्, कल्पितमेव वस्तुतः तप्त्यभावाद् इत्युपपादयति—**न चेदिति**। पुरुषो वस्तुतस्तप्तिशून्यश्चेत् इवशब्दो न दोषाय, मिथ्यातप्तिपरत्वात् इत्यर्थः। मिथ्यासादृश्यमेव दोष इति चेत्, नेत्याह—**नहीति**। सविषत्वं निर्विषत्वं च इव-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सत्त्वम्" इत्यादिसे। सत्त्वगुण और रजोगुणका परस्पर तप्यतापकभाव मानें, तो पुरुषके बन्धका अभाव होनेसे शास्त्रारम्भ ही व्यर्थ हो जायगा इस प्रकार परिहार करते हैं—"न ताभ्याम्" इत्यादिसे। पुरुषके असंग होनेपर भी तप्य जो सत्त्व है उसका प्रतिबिम्ब होनेसे पुरुषमें ताप होता है [उसकी निवृत्तिके लिए शास्त्रके आरम्भकी आवश्यकता है] ऐसी शङ्का करते हैं—"सत्त्व" इत्यादिसे। तब जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके गमनके समान तप्ति मिथ्या ही है यह हमारा मत ही आ गया ऐसा कहते हैं—"परमार्थतः" इत्यादिसे। केवल 'इव' शब्दसे तप्ति मिथ्या कैसे होती है ऐसा यदि कहो तो कहते हैं—'इव' शब्द तप्य बुद्धि-सत्त्वके सादृश्यको कहता है। वह सादृश्य पुरुषका तप्यत्वरूप है यह यदि कहो तो वह कल्पित ही है, क्योंकि वस्तुतः पुरुषमें तप्ति नहीं है ऐसा उपपादन करते हैं—"न चेत्" इत्यादिसे। पुरुष यदि वास्तवमें तप्तिरहित है तो 'इव'शब्द दोषाधायक नहीं है, क्योंकि वह मिथ्या-तप्तिपरक है ऐसा अर्थ है। मिथ्यासादृश्य ही दोष है ऐसा यदि कहो, तो सो भी नहीं

भाष्य

मिति, नैवं सति ममापि किंचिद् दुष्यति । अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्वमभ्युपगच्छसि, तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रसज्येत, नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य । तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि सनिमित्तसंयोगापेक्षत्वात् तप्तेः। संयोगनिमित्तादर्शननिवृत्तावात्यन्तिकः संयोगोपरमः, ततश्चा-

भाष्यका अनुवाद

अविद्यात्मक है, ऐसा ही मानना पड़ेगा और ऐसा माननेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है । परन्तु चेतनका भोक्तापन यदि तुम परमार्थ रूपसे मानोगे तो तुम्हारे ही मतमें मोक्षका अभाव हो जायगा, क्योंकि तुम्हारे मतमें ताप देनेवाला रजोगुण नित्य माना गया है । तप्य और तापक दोनों शक्तियोंके नित्य होनेपर भी ताप निमित्त सहित संयोगकी अपेक्षा रखता है । इससे संयोगके हेतुरूप अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेसे संयोगका आत्यन्तिक विराम हो जाने पर आत्यन्तिक

रत्नप्रभा

शब्दार्थः कल्पित एव द्रष्टव्यः । सांख्यस्य आविद्यके तप्यतापकत्वे सति ममाऽपि किञ्चित् न दुष्यति, किन्तु इष्टमेव सम्पन्नम् इत्यर्थः । यदि मिथ्यातप्यत्वाङ्गीकारे अपसिद्धान्तः स्यादिति भीत्या सत्यं तप्यत्वं पुरुषस्य उच्यते, तथापि अपसिद्धान्तः, कौटस्थ्यहानात्। अनिर्मोक्षश्च, सत्यस्य आत्मवन्निवृत्त्ययोगादित्याह— **अथेत्यादिना** । किञ्च, रजसो नित्यत्वाद् दुःखसातत्यमित्याह— **नित्यत्वेति** । अत्र सांख्यः शङ्कते— तप्येति । सत्त्वं पुरुषो वा तप्यशक्तिः, तापकशक्तिः तु रजः, निमित्तम् अविवेकात्मकम् अदर्शनं तमः, तेन सहितः सनिमित्तः संयोगः पुरुषस्य गुणस्वामित्वरूपः तदपेक्षत्वादित्यर्थः । मोक्षः—तप्यभावः । निमि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कह सकते ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे । सविषत्व और निर्विषत्व जो इव शब्दका अर्थ है वह कल्पित ही है ऐसा समझना चाहिए। सांख्यमतका तप्यतापकभाव यदि अविद्या कल्पित हो, तो हमारी कोई हानि नहीं है, बल्कि इष्ट ही है ऐसा अर्थ है । मिथ्या तप्ति माननेसे सिद्धान्त चौपट हो जायगा, इस भयसे पुरुषकी तप्ति सत्य ही है ऐसा यदि कहो तो भी पुरुषकी कूटस्थताकी हानिसे अपसिद्धान्त होगा । और मोक्षका अभाव होगा क्योंकि सत्यवस्तुकी आत्माके समान निवृत्ति नहीं हो सकती ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । और रजके नित्य होनेसे दुःखकी नित्यता हो जायगी, ऐसा कहते हैं—"नित्यत्व" इत्यादिसे । यहांपर सांख्य शङ्का करता है—"तप्य" इत्यादिसे । सत्त्व अथवा पुरुष ही तप्यशक्ति है और रज ही तापकशक्ति है । निमित्त—अविवेकरूप अदर्शन अर्थात् तम । उस निमित्तके सहित होनेके कारण पुरुषका गुणस्वामित्वरूप संयोग सनिमित्त है । तप्ति उसकी अपेक्षा करती

भाष्य

त्यन्तिको मोक्ष उपपन्न इति चेत्, नः अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात् । गुणानां चोद्भवाभिभवयोरनियतत्वादनियतः संयोगनिमित्तोपरम इति वियोगस्याऽप्यनियतत्वात् सांख्यस्यैवाऽनिर्मोक्षोऽपरिहार्यः स्यात् । औपनिषदस्य त्वात्मैकत्वाभ्युपगमादेकस्य च विषयविषयिभावानुपपत्तेर्विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वश्रवणादनिर्मोक्षशङ्का स्वप्नेऽपि नोपजायते । व्यवहारे तु यत्र यथा दृष्टस्तप्यतापकभावस्तत्र तथैव स इति न चोदयितव्यः परिहर्तव्यो वा भवति ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

मोक्षकी सिद्धि होगी । यह ठीक नहीं है, अज्ञान तमोगुणरूप है और वह तमोगुण नित्य है, ऐसा तुम्हारे मतमें माना गया है । गुणोंका उद्भव और लय अनियमित होनेसे संयोगके निमित्तका उपराम भी अनियत है उसका वियोग भी अनियत है, इसलिए सांख्योंके ही मतमें मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । उपनिषत् पक्षमें तो आत्माके एक होनेसे विषय और विषयी ये दो भाव ही नहीं बनते और भिन्न २ विकार वागारम्भणमात्र हैं, ऐसी श्रुति होनेसे मोक्षके अभावका प्रसङ्ग स्वप्नमें भी नहीं आ सकता । परन्तु व्यवहारमें जहां जैसा तप्यतापकभाव है वहां वैसा ही है, इसलिये उसके लिए कोई प्रश्न उठाना या उसका खण्डन करना अनावश्यक है ॥१०॥

रत्नप्रभा

तस्य निवृत्त्यभावात् न मोक्ष इति सिद्धान्ती परिहरति—**नेति** । तमसो निवृत्त्यभावेऽपि विवेकेन उपरमात् मोक्ष इत्यत आह—**गुणानां चेति** । 'चलं गुणवृत्तम्' इत्यङ्गीकारादिति भावः । परपक्षे बन्धमोक्षानुपपत्तिम् उक्त्वा स्वपक्षमुपसंहरति—**औपनिषदस्य त्विति** । वस्तुत एकत्वेन बन्धाभावाद् न मुक्त्यभावशङ्कावसरः, व्यवहारे तु भेदाङ्गीकारात् तप्यतापकभावो बन्धः, तत्त्वज्ञानात् तन्निवृत्तिश्च उपपद्यत इति न चोद्यावसर इत्यर्थः ॥१०॥ (१) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है ऐसा अर्थ है । तप्ति—तापका अभाव मोक्ष है । निमित्तकी निवृत्ति न होनेसे मोक्ष नहीं होगा इस प्रकार सिद्धान्ती परिहार करता है—"न" इत्यादिसे । तमकी निवृत्ति न होनेपर भी विवेक द्वारा उसका उपरम होनेसे मोक्ष होता है इसपर कहते है—"गुणानाञ्च" इत्यादिसे । 'चलं गुणवृत्तम्' गुणोंका स्वभाव अस्थिर है ऐसा अंगीकार किया गया है ऐसा तात्पर्य है । परके पक्षमें बन्ध और मोक्षकी अनुपपत्ति दिखलाकर अपने पक्षका उपसंहार करते हैं—"औपनिषदस्य तु" इत्यादिसे । एक होनेके कारण वस्तुतः बन्धका अभाव है, इससे मुक्तिके अभावकी शंका होनेका अवकाश ही नहीं है, परन्तु व्यवहारमें भेदका अंगीकार करनेके कारण तप्यतापकभावरूप बन्ध और तत्त्वज्ञानसे उसकी निवृत्तिकी उपपत्ति होती है इसलिए आक्षेपका अवसर ही नहीं है ऐसा भावार्थ है ॥१०॥

[२ महद्दीर्घाधिकरण सू० ११]

नास्ति काणाददृष्टान्तः किं वाऽस्त्यसदृशोद्भवे ।
नास्ति, शुक्लः पटः शुक्लात्तन्तोरेव हि जायते ॥ १ ॥
अणु द्व्यणुकमुत्पन्नमनणोः परिमण्डलात् ।
अदीर्घाद् द्व्यणुकाद्दीर्घं त्र्यणुकं तन्निदर्शनम्* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

पूर्वपक्ष—असदृशकी उत्पत्तिमें काणादमतसिद्ध दृष्टान्त है अथवा नहीं ?

सन्देह—नहीं है, क्योंकि शुक्लवस्त्र शुक्ल तन्तुओंसे ही उत्पन्न होता है ।

सिद्धान्त—पारिमाण्डल्य परिमाणवाले—अणुपरिमाणसे भी सूक्ष्म परिमाणवाले परमाणुसे अणुपरिमाण द्व्यणुक उत्पन्न होता है और अणुपरिमाणवाले द्व्यणुकसे महत्परिमाण त्र्यणुक उत्पन्न होता है, अतः असदृशकी उत्पत्तिमें काणादमतसिद्ध दृष्टान्त है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपादमें चेतन ब्रह्मसे विलक्षण—अचेतन जगत् उत्पन्न होता है इस विषयमें सांख्योंके प्रति लोकप्रसिद्ध गोबर और विच्छूका दृष्टान्त कहा गया है उसीसे सांख्यों द्वारा किये गये आक्षेपका परिहार होनेपर भी स्वपक्षसाधनयुक्त परपक्षके दूषणका इस पादमें भी उपक्रम करके पूर्व अधिकरणमें सांख्यमतमें दोष दिखलाया गया है । इसके अनन्तर वैशेषिकोंका मत दूषणीय है । वैशेषिकमतके प्रक्रियाबहुल होनेके कारण उसकी वासनासे वासित पुरुष उनकी प्रक्रियासे सिद्ध विसदृशकी उत्पत्तिके दृष्टान्तको छोड़कर ब्रह्मवादका आदर नहीं करेगा, अतः विसदृशकी उत्पत्तिमें काणादमतसिद्ध दृष्टान्त है या नहीं ? ऐसा विचार किया जाता है ।

यहांपर पूर्वपक्षी कहता है कि चूँकि शुक्ल वस्त्र शुक्ल तन्तुओंसे ही उत्पन्न होता है रक्त तन्तुओंसे नहीं होता इससे प्रतीत होता है कि विसदृशकी उत्पत्तिमें काणादमतसिद्ध दृष्टान्त नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—विसदृशकी उत्पत्तिमें दृष्टान्त है ही, क्योंकि परमाणु पारिमाण्डल्यपरिमाणसे युक्त है, अणुपरिमाण युक्त नहीं है । अणुपरिमाणरहित दो परमाणुओंसे अणुपरिमाणयुक्त द्व्यणुक उत्पन्न होता है । यह एक दृष्टान्त है । और ह्रस्वपरिमाणयुक्त द्व्यणुक दीर्घपरिमाणरहित है । उन तीन विसदृश द्व्यणुकोंसे दीर्घपरिमाणसे युक्त अणुपरिमाणरहित त्र्यणुक उत्पन्न होता है यह दूसरा दृष्टान्त है । इसी प्रकार वैशेषिकोंकी प्रक्रियामें सिद्ध और भी दृष्टान्तोंका निदर्शन करना चाहिए ।

भाष्य

प्रधानकारणवादो निराकृतः। परमाणुकारणवाद इदानीं निराकर्तव्यः। तत्राऽऽदौ तावद्योऽणुवादिना ब्रह्मवादिनि दोष उत्प्रेक्ष्यते, स प्रतिसमाधीयते। तत्राऽयं वैशेषिकाणामभ्युपगमः—कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्य-द्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते, शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लस्य पटस्य प्रसवदर्शनात् तद्विपर्ययादर्शनाच्च। तस्माच्चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽ-प्यभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्यं समवेयात्, तददर्शनात्तु न चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं भवितुमर्हति इति। इममभ्युपगमं तदीययैव प्रक्रियया व्यभिचारयति—

भाष्यका अनुवाद

प्रधानकारणवादका निराकरण किया जा चुका है, अब परमाणुवादका निराकरण करना चाहिए। यहाँपर परमाणुवादी द्वारा ब्रह्मवादियोंके पक्षमें जो दोष लगाये जाते हैं, प्रथम उनका समाधान करते हैं। परमाणुवादी वैशेषिकोंका सिद्धान्त है कि कारण द्रव्यमें रहनेवाले गुण कार्यद्रव्य में अपने समान जातिवाले अन्य गुणोंको उत्पन्न करते हैं; क्योंकि शुक्ल तन्तुओंसे शुक्ल वस्त्र ही उत्पन्न होता है, विरुद्ध रंगवाला वस्त्र उत्पन्न होता नहीं दिखाई देता। इसलिए यदि चेतन ब्रह्मको जगत्का कारण मानें, तो उसका कार्यरूप जगत् भी चैतन्ययुक्त होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, इसलिए चेतन ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता है। उनके इस सिद्धान्तका उन्हींकी प्रक्रियासे खण्डन करते हैं—

रत्नप्रभा

वृत्तानुवादेन "महद्दीर्घवद्" इति स्वमतस्थापनात्मकाधिकरणस्य सङ्गति-माह—**प्रधानेति**। यद्यपि सांख्यमतनिरासानन्तरं परमाणुवादो निरा-कर्तव्यः स्वमतस्थापनस्य स्मृतिपादे सङ्गतत्वात्, तथापि पूर्वत्र प्रधानगुणानां सुखादीनां जगति अनन्वयात् प्रधानस्याऽनुपादानत्वम् उक्तम्। तथा ब्रह्मगुण-चैतन्यानन्वयाद् ब्रह्मणोऽपि न उपादानत्वमिति दोषो दृष्टान्तसंगतिलाभाद् अत्र समा-धीयते इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्त विषयके अनुवादसे 'महद्दीर्घवत्' इस अपने मतकी पुष्टि करनेवाले अधिकरणकी संगति कहते हैं—"प्रधान" इत्यादिसे। यद्यपि सांख्यमतके निराकरणके पश्चात् परमाणुवादका निराकरण करना उचित था, क्योंकि अपने मतकी स्थापना स्मृतिपादमें की जा चुकी है, तथापि पूर्वमें प्रधानके सुख, दुःख आदि गुणोंका जगत्में सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए प्रधान जगत्का उपादान नहीं है, ऐसा कहा गया है, उसी प्रकार ब्रह्मके गुण

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥

पदच्छेद—महद्दीर्घवत्, वा, ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।

पदार्थोक्ति—ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्—द्व्यणुकपरमाणुभ्याम्, महद्दीर्घवत्, वा—च—ह्रस्वाणुवत् [चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनं जगत् भवति] अयमाशयः—वैशेषिका हि ह्रस्वाणोः द्व्यणुकाद् महत् दीर्घञ्च त्र्यणुकं जायते, द्व्यणुकनिष्ठह्रस्वत्वाणुत्वे त्र्यणुके स्वसमानजातीयह्रस्वत्वाणुत्वे नारभेते, किन्तु द्व्यणुकगतत्रित्वसंख्या त्र्यणुके महत्त्वादिकमारभते । एवं परिमण्डलात् परमाणोरणु द्व्यणुकं जायते । परमाणुगतं पारिमण्डल्यपरिमाणं द्व्यणुके तादृशं पारिमण्डल्यं नारभते, किन्तु परमाणुगतद्वित्वसंख्या द्व्यणुके ह्रस्वत्वादिकमारभते इति प्रक्रियां प्रदर्शयन्ति । इत्थं प्रदर्शयतां वैशेषिकाणां 'कारणगुणाः कार्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भकाः' इति न्यायाभासं वदतां कथं न लज्जा भवेत्, व्यभिचारस्य स्फुटत्वात् । अत उक्तन्यायाभासेन वेदान्तसमन्वयो न विरुध्यते ।

भाषार्थ—द्व्यणुक और परमाणुसे महत् और दीर्घ [त्र्यणुक] तथा ह्रस्व और अणु [द्व्यणुक]के समान चेतन ब्रह्मसे अचेतन जगत्की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि वैशेषिक कहते हैं कि सूक्ष्म और अणु परिमाण द्व्यणुकसे महत्परिमाण और दीर्घ त्र्यणुककी उत्पत्ति होती है। द्व्यणुकमें रहनेवाले ह्रस्वत्व और अणुत्व त्र्यणुकमें स्वसमानजातीय ह्रस्वत्व और अणुत्वके आरम्भक नहीं होते, किन्तु द्व्यणुकगत त्रित्व-सङ्ख्या त्र्यणुकमें महत्त्व आदिकी आरम्भिका है। इसी प्रकार परिमण्डलपरिमाण परमाणुसे अणुपरिमाण द्व्यणुक उत्पन्न होता है परमाणुगत पारिमाण्डल्यपरिमाण द्व्यणुकमें स्वसमानजातीय पारिमाण्डल्यका आरम्भक नहीं है, किन्तु परमाणुगत द्वित्व संख्या द्व्यणुकमें ह्रस्वत्व आदिकी आरंभिका होती है। यह उनकी प्रक्रिया है। इस प्रकारकी प्रक्रिया दिखलाते हुए वैशेषिकोंको यह न्यायाभास—'कारणगुण कार्यमें स्वसमानजातीय गुणोंका आरम्भ करते हैं' कहते लज्जा नहीं आती, क्योंकि व्यभिचार बिलकुल स्पष्ट है। इसलिए उक्त न्यायाभाससे वेदान्तसमन्वयका कोई विरोध नहीं है।

रत्नप्रभाका अनुवाद

चैतन्यकी जगत्में अनुवृत्ति न होनेसे ब्रह्म भी जगत्का उपादान नहीं है, इस दोषका दृष्टान्त संगतिके लाभसे निराकरण किया जाता है।

भाष्य

एषा तेषां प्रक्रिया—परमाणवः किल कञ्चित् कालमनारब्धकार्या यथायोगं रूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाश्च तिष्ठन्ति, ते च पश्चाद्-दृष्टादिपुरःसराः संयोगसचिवाश्च सन्तो द्व्यणुकादिक्रमेण कृत्स्नं कार्य-जातमारभन्ते, कारणगुणाश्च कार्ये गुणान्तरम्। यदा द्वौ परमाणू

भाष्यका अनुवाद

वैशेषिकोंकी यह प्रक्रिया है—यथायोग्य—यथासम्भव रूप आदियुक्त पारि-माण्डल्यपरिमाणवाले परमाणु कुछ कालतक कार्य आरंभ किये बिना रहते हैं। पीछे वे अदृष्ट आदि कारणसे युक्त होकर द्व्यणुक आदिके क्रमसे समस्त कार्य-समूहका आरंभ करते हैं और कारणके गुण कार्यमें अन्य गुणोंका आरंभ करते

रत्नप्रभा

चेतनाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गवादी वेदान्तसमन्वयो विषयः, स किं 'यः समवायिकारणगुणः, सः कार्यद्रव्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भकः, तन्तुशौक्ल्य-वत् इति' न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे न्यायस्य अव्यभिचाराद् विरुध्यते इति प्राप्ते, व्यभिचारात् न तद्विरोध इति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—**एषेत्यादिना**। यद्यपि "न विलक्षणत्वाद्" (ब्र० सू० २।२।४) इत्यत्र चेतनाद् अचेतनसर्गः साधितः, तथापि वैशेषिकन्यायस्य तदीयप्रक्रियया व्यभिचारोक्त्यर्थत्वात् अस्य सूत्रस्य न गतार्थता। प्रलयकाले परमाणवो निश्चला असंयुक्ताः तिष्ठन्ति, सर्गकाले चाऽदृष्टवदात्मसंयोगात् तेषु कर्म भवति, तेन संयोगाद् द्रव्यान्तरसृष्टिः भवति, कारणगुणाः कार्ये गुणान्तरमारभन्ते इति सामान्येन प्रक्रियाम् उक्त्वा विशेषतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

चेतन ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्त समन्वय इस अधिकरणका विषय है। उक्त वेदान्तसमन्वय 'जो समवायी कारणका गुण है, वह कार्य द्रव्यमें अपने समानजातीय गुणका आरम्भक होता है, जैसे तन्तुओंकी शुक्लता पटकी शुक्लताकी आरम्भिका है' इस न्यायसे विरुद्ध है, अथवा नहीं, ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर उक्त न्यायके अव्यभिचरित—अबाधित होनेसे विरुद्ध है, ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित होनेपर उक्त न्यायके बाधित होनेसे वेदान्तसमन्वयका कोई विरोध नहीं है, ऐसा सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"एष" इत्यादिसे। यद्यपि 'न विलक्षणत्वात्' —इसमें चेतनसे अचेतन की सृष्टि सिद्ध की गई है, तो भी वैशेषिकन्यायका व्यभिचार उसकी ही प्रक्रियासे सिद्ध करना इस सूत्रका प्रयोजन होनेसे यह सूत्र गतार्थ नहीं है। प्रलयकालमें परमाणु निश्चल और असंयुक्त रहते हैं, और सृष्टिकालमें अदृष्टयुक्त आत्माके संयोगसे उनमें कर्म होता है, उस संयोगसे अन्य द्रव्यकी सृष्टि होती है। कारणके गुण कार्यमें गुणान्तर उत्पन्न

भाष्य

द्व्यणुकमारभेते, तदा परमाणुगता रूपादिगुणविशेषाः शुक्लादयो द्व्यणुके शुक्लादीनपरानारभन्ते। परमाणुगुणविशेषस्तु पारिमाण्डल्यं न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यमपरमारभते, द्व्यणुकस्य परिमाणान्तरयोगाभ्युपगमात्। अणुत्वह्रस्वत्वे हि द्व्यणुकवर्तिनी परिमाणे वर्णयन्ति। यदापि द्वे द्व्यणुके

भाष्यका अनुवाद

हैं। जब दो परमाणु द्व्यणुकका आरंभ करते हैं, तब परमाणुओंमें रहनेवाले रूप आदि गुणविशेष शुक्ल आदि द्व्यणुकमें अन्य शुक्ल आदिका आरंभ करते हैं। परन्तु परमाणुगुणविशेष पारिमांडल्य द्व्यणुकमें अपर पारिमाण्डल्यका आरम्भ नहीं करता, क्योंकि द्व्यणुकका अन्य परिमाण माना गया है। कारण कि द्व्यणुकमें रहनेवाले परिमाणोंको वे अणुत्व और ह्रस्वत्व कहते हैं।

रत्नप्रभा

तामाह—**यदा द्वाविति**। परमाणुः—परिमण्डलः, तद्गतं परिमाणं पारिमाण्डल्यम् इत्युच्यते, तच्च स्वसमानजातीयगुणारम्भकं न भवति इत्युक्तन्यायस्य व्यभिचार इति भावः। व्यभिचारस्थलान्तरमाह—**यदापि द्वे इति**। द्वे द्वे इति शब्दद्वयं पठितव्यम्, एवं सति चतुर्भिः द्व्यणुकैः चतुरणुकारम्भ उपपद्यते। यथाश्रुते तु द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्यां महतः चतुरणुकस्य आरम्भो न युज्यते, कारणगतं महत्त्वं बहुत्वं वा विना कार्ये महत्त्वायोगात् इति मन्तव्यम्। प्रकटार्थकारास्तु यद् द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्यामारब्धं कार्ये महत्त्वं दृश्यते, तस्य हेतुः प्रचयो नाम प्रशिथिलावयवसंयोग इति रावणप्रणीते भाष्ये दृश्यते इति चिरन्तनवैशेषिकदृष्ट्या

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं, सामान्य रीतिसे ऐसी प्रक्रिया कहकर विशेष रीतिसे उसे कहते हैं—"यदा द्वौ" इत्यादिसे। परमाणु परिमण्डल है और परमाणुगत परिमाण पारिमाण्डल्य कहलाता है, वह पारिमांडल्य परिमाण स्वसमानजातीय परिमाण उत्पन्न नहीं करता, इस प्रकार उक्त न्यायका व्यभिचार होता है, यह आशय है। व्यभिचारका अन्य स्थल कहते हैं—"यदापि द्वे" इत्यादिसे। दो दो इस प्रकार दो बार दो शब्द पढ़ना चाहिए। ऐसा करनेसे चार द्व्यणुकसे चतुरणुककी उत्पत्ति उपपन्न होगी। यथाश्रुत अर्थात् एक ही बार 'द्वि' शब्दका ग्रहण करनेसे तो दो द्व्यणुकोंसे महत् चतुरणुककी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कारणगत महत्त्व और बहुत्वके बिना कार्यमें महत्त्वका योग नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए। किन्तु प्रकटार्थकार तो दो द्व्यणुकोंसे उत्पन्न कार्यमें जो महत्त्व दीखता है, उसका हेतु प्रचय अर्थात् प्रशिथिल अवयवोंका संयोग है, ऐसा रावणप्रणीत भाष्यमें है, इस प्रकार चिरन्तन वैशेषिक दृष्टिसे यह भाष्य

भाष्य

चतुरणुकमारभेते, तदापि समानं द्व्यणुकसमवायिनां शुक्लादीनामारम्भकत्वम्। अणुत्वह्रस्वत्वे तु द्व्यणुकसमवायिनी अपि नैवारभेते, चतुरणुकस्य महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणयोगाभ्युपगमात्। यदापि बहवः परमाणवो बहूनि वा द्व्यणुकानि द्व्यणुकसहितो वा परमाणुः कार्यमारभते, तदापि समानैषा योजना। तदेवं यथा परमाणोः परिमण्डलात् सतोऽणु ह्रस्वं च द्व्यणुकं जायते, महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि, न परिमण्डलम्, यथा वा द्व्यणुकादणो-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु जब दो द्व्यणुक चतुरणुकका आरम्भ करते हैं, तब भी द्व्यणुकमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले शुक्ल आदि गुण पूर्ववत् ही कार्यके आरम्भक होते हैं। परन्तु अणुत्व और ह्रस्वत्व द्व्यणुकमें समवायसंबन्धसे रहनेपर भी कार्यके आरम्भक नहीं होते हैं, क्योंकि चतुरणुकका महत्त्व और दीर्घत्व परिमाण माना गया है। परन्तु जब बहुत परमाणु या बहुत द्व्यणुक या द्व्यणुकसहित परमाणु किसी कार्यका आरम्भ करते हैं, तब भी यह योजना समान है। तो इस प्रकारसे जैसे परिमण्डल परिमाण परमाणुओंसे, अणु और ह्रस्व द्व्यणुक उत्पन्न होता है, और महत्

रत्नप्रभा

इदं भाष्यमित्याहुः। सर्वथापि द्व्यणुकगतह्रस्वत्वाणुत्वपरिमाणयोः नारम्भकत्वाद् व्यभिचारः। यद्यपि तार्किकाः द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यां द्व्यणुकं त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमिति कल्पयन्ति, तथापि तर्कस्य अप्रतिष्ठानात् न नियम इति मत्वा ब्रूते— **यदापि बहव इति।** कारणगुणाः शुक्लादयः समानजातीयगुणारम्भकाः, कार्यद्रव्यपरिमाणं तु न कारणपरिमाणारभ्यम्, किन्तु कारणगतसंख्यारभ्यम् इति प्रक्रिया तुल्या इत्यर्थः। एवं प्रक्रियां दर्शयित्वा सूत्रं योजयन् व्यभिचारमाह— **तदेवमिति।** परमाणुभ्य एव महद् दीर्घं चेत्यनियतप्रक्रियामाश्रित्य उक्तम्, नियतप्रक्रियामाश्रित्य व्यभिचारमाह— **यथा वेति।** अणुह्रस्वेभ्यो द्व्यणुकेभ्योऽणुद्रव्यं न जायते

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा कहते है। परन्तु सर्वथा द्व्यणुकगत ह्रस्वत्व और अणुत्व परिमाणके अनारंभक होनेसे व्यभिचार है ही। यद्यपि तार्किक दो ही परमाणुओंसे द्व्यणुक और तीन द्व्यणुकोंसे त्र्यणुक उत्पन्न होता है, ऐसी कल्पना करते हैं, तो भी तर्कके अप्रतिष्ठित होनेसे यह नियम नहीं है, ऐसा समझकर कहते हैं—"यदापि बहवः" इत्यादिसे। कारणके गुण शुक्ल आदि समानजातीय गुण उत्पन्न करते हैं, परन्तु कार्यद्रव्यपरिमाण कारणगतपरिमाणसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु कारणगत संख्यासे उत्पन्न होता है, यह प्रक्रिया तुल्य है, ऐसा तात्पर्य है। इस प्रकार प्रक्रिया दिखलाकर सूत्रको युक्त करके व्यभिचार कहते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। परमाणुसे ही महत् और दीर्घ उत्पन्न होता है, ऐसी अनियत प्रक्रियाके आधारसे कहा गया

भाष्य

ह्रस्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते नाऽणु नो ह्रस्वम्, एवं चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनं जगज्जनिष्यत इत्यभ्युपगमे किं तव च्छिन्नम्।

अथ मन्यसे—विरोधिना परिमाणान्तरेणाऽऽक्रान्तं कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादीत्यतो नारम्भकाणि कारणगतानि पारिमाण्डल्यादीनीत्यभ्युपगच्छामि, न तु चेतनाविरोधिना गुणान्तरेण जगत आक्रान्तत्वमस्ति, येन कारणगता चेतना कार्ये चेतनान्तरं नाऽऽरभेत, न ह्यचेतना नाम

भाष्यका अनुवाद

और दीर्घ त्र्यणुकादि उत्पन्न होते हैं, परिमंडल उत्पन्न नहीं होता, अथवा जिस प्रकार द्व्यणुक अणु और ह्रस्व है, तो भी उससे महत् और दीर्घ त्र्यणुक उत्पन्न होता है, अणु उत्पन्न नहीं होता या ह्रस्व उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार चेतन ब्रह्मसे अचेतन जगत् उत्पन्न होगा, ऐसा स्वीकार करनेमें तुम्हारी क्या हानि है?

पूर्वपक्षी—यदि तुम ऐसा मानो कि द्व्यणुकादि कार्यद्रव्य विरोधी अन्य परिमाणसे व्याप्त हैं, इस कारण कारणगत पारिमाण्डल्यादि उनके आरम्भक नहीं होते ऐसा मैं स्वीकार करता हूँ। परन्तु चेतनासे विरोधी अन्य गुणसे जगत् युक्त नहीं है, जिससे कि कारणगत चेतना कार्यमें अन्य चेतनाका आरम्भ न करे, क्योंकि

रत्नप्रभा

ह्रस्वमपि न जायत इति व्यभिचार इत्यर्थः। सूत्रे वाशब्दश्चार्थोऽनुक्ताणुसमुच्चयार्थः। तथा च ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां महद्दीर्घाणुवत् चेतनादचेतनं जायते इति सूत्रयोजना। तत्र ह्रस्वाद् महद्दीर्घं त्र्यणुकं परिमण्डलादणु द्व्यणुकमिति विभागः। दृष्टान्तवैषम्यं शङ्कते—अथ मन्यस इति। अचेतनैव विरोधिगुण इत्यत आह—नह्यचेतनेति। कार्यद्रव्यस्य परिमाणान्तराऽऽक्रान्तत्वम् अङ्गीकृत्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। नियत प्रक्रियाका आश्रयण करके व्यभिचार कहते हैं—"यथा वा" इत्यादिसे। अणु और ह्रस्व द्व्यणुकोंसे अणु द्रव्य उत्पन्न नहीं होता और ह्रस्व भी उत्पन्न नहीं होता, ऐसा व्यभिचार है, यह अर्थ है। सूत्रमें वाशब्द चकारार्थके (औरके अर्थमें) है और अनुक्त समुच्चयका वाचक है। इसलिए जैसे ह्रस्व और परिमण्डल द्व्यणुक और परमाणुओंसे महत्, दीर्घ, और ह्रस्व उत्पन्न होता है, वैसे ही चेतनसे अचेतन उत्पन्न होता है, ऐसी सूत्रकी योजना करनी चाहिए। उसमें ह्रस्वसे महत् और दीर्घ त्र्यणुक और परिमण्डलसे अणु द्व्यणुक उत्पन्न होता है, ऐसा विभाग है। दृष्टान्तमें विषमताकी शंका करते हैं—"अथ मन्यसे" इत्यादिसे। अचेतना ही विरोधी गुण है, ऐसी कोई शंका करे, तो उसपर कहते हैं—"न

भाष्य

चेतनाविरोधी कश्चिद् गुणोऽस्ति, चेतनाप्रतिषेधमात्रत्वात्, तस्मात् पारिमाण्डल्यादिवैषम्यात् प्राप्नोति चेतनाया आरम्भकत्वम्—इति ।

मैवं मंस्थाः—यथा कारणे विद्यमानानामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेवं चैतन्यस्यापीत्यस्यांशस्य समानत्वात् । न च परिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारणम्, प्राक्परिमाणान्तरारम्भात् पारिमाण्डल्यादीनामारम्भकत्वोपपत्तेः, आरब्धमपि कार्यद्रव्यं प्राग्गुणारम्भात् क्षणमात्रमगुणं तिष्ठतीत्यभ्युगमात् । न च परिमाणान्तरा-

भाष्यका अनुवाद

अचेतना नामका चेतनाका विरोधी कोई गुण नहीं है, क्योंकि अचेतना चेतनाका अभावमात्र है । इसलिए पारिमाण्डल्य आदिसे भिन्न होनेसे चेतना कार्यका आरम्भ कर सकती है ।

सिद्धान्ती—तो ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे कारणमें विद्यमान भी पारिमाण्डल्यादि अनारंभक हैं, वैसे चैतन्य भी—इतना अंश दोनों पक्षोंमें समान है । और पारिमाण्डल्यादिके अनारंभकत्वमें उनका (द्व्यणुकादिका) अन्य परिमाणसे युक्त होना कारण नहीं है, क्योंकि अन्य परिमाणके आरंभके पहिले पारिमाण्डल्यादिका आरंभकत्व उपपन्न हो सकता है, क्योंकि आरब्ध भी कार्य द्रव्य गुणोंके आरंभसे पहिले क्षणभर गुणरहित रहता है, ऐसा

रत्नप्रभा

विवक्षितांशसाम्यमाह—**मैवमिति** । अङ्गीकारं त्यजति—**न चेति** । उत्पन्नं हि परिमाणान्तरं विरोधि भवति, तदुत्पत्तेः प्राग्विरोध्यभावात् द्व्यणुके पारिमाण्डल्यारम्भः किं न स्यात् इत्यर्थः । ननु विरोधिपरिमाणेन सहैव द्रव्यं जायत इत्यत आह—**आरब्धमपीति** । सहोत्पत्तौ अपसिद्धान्तः । अतो विरोध्यभावः सिद्ध इति भावः । अणुत्वाद्यारम्भे व्यग्रत्वात् पारिमाण्डल्यादेः स्वसमानगुणानारम्भकत्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अचेतना" इत्यादिसे । कार्यद्रव्य अन्य परिमाणसे आक्रान्त—युक्त है, ऐसा स्वीकार करके विवक्षित अंशमें साम्य कहते हैं—"मैवम्" इत्यादिसे । अंगीकारका त्याग करते हैं—"न च" इत्यादिसे । उत्पन्न हुआ अन्य परिमाण विरोधी होता है । उसकी उत्पत्तिके पूर्व विरोधीका अभाव होनेसे द्व्यणुकमें पारिमाण्डल्यकी उत्पत्ति कैसे न होगी ? ऐसा अर्थ है । परन्तु विरोधी परिमाणके साथ ही द्रव्य उत्पन्न होता है, इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—"आरब्धमपि" इत्यादिसे । साथ उत्पत्ति माननेमें अपसिद्धान्त होता है, ऐसा अर्थ है । इससे विरोधीका अभाव सिद्ध होता है, ऐसा तात्पर्य है । अणुत्व आदिके उत्पन्न

भाष्य

रम्भे व्यग्राणि पारिमाण्डल्यादीनीत्यतः स्वसमानजातीयं परिमाणान्तरं नारभन्ते, परिमाणान्तरस्याऽन्यहेतुत्वाभ्युपगमात् । 'कारणबहुत्वात् कारण-महत्त्वात् प्रचयविशेषाच्च महत्' (वै० सू० ७।१।९) 'तद्विपरीतमणु' (७।१।१०) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' (७।१।१७) इति हि

भाष्यका अनुवाद

स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार पारिमाण्डल्यादि अन्य परिमाणके आरंभ करनेमें व्यग्र होनेके करण अपने स्वसमानजातीय अन्य परिमाणका आरंभ नहीं करते, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि अन्य परिमाणके अन्य हेतु कहे गये हैं, क्योंकि 'कारणबहुत्वात्०' (कारणके बहुत्वसे, कारणके महत्त्वसे और अवयवके संयोग विशेषसे महत् परिमाण उत्पन्न होता है।) 'तद्विप-रीतमणु०' (उससे विपरीत अणु परिमाण उत्पन्न होता है।) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे०'

रत्नप्रभा

इत्याशङ्क्य निषेधति—**न चेति**। व्यग्रत्वम्—अन्यथासिद्धम्। तत्र **हेतुः—परि-माणान्तरस्येति**। अन्यहेतुकत्वे सूत्राणि उदाहरति—**कारणेति**। कारणानां द्व्यणुकानां बहुत्वात् त्र्यणुके महत्त्वम्, मृदो महत्त्वाद् घटे महत्त्वम्, द्वितूलपिण्डार-ब्धेऽतिस्थूलतूलपिण्डे प्रचयाद् अवयवसंयोगविशेषात् महत्त्वमित्यर्थः। महत्त्वविरुद्धम् अणुत्वं परमाणुगतद्वित्वसंख्यया द्व्यणुके भवतीत्याह—**तदिति**। यत् महत्त्वस्य अस-मवायिकारणम्, तदेव महत्त्वसमानाधिकरणस्य दीर्घत्वस्य, यच्च अणुत्वस्य अस-मवायिकारणम्, तदेव अणुत्वाऽविनाभूतह्रस्वत्वस्य असमवायिकारणमिति अति-दिशति—**एतेनेति**। अतो महत्त्वादौ अहेतुत्वात् पारिमाण्डल्यादीनां व्यग्रत्वम् असिद्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेमें व्यग्र होनेसे पारिमाण्डल्य आदि स्वसमान गुणको उत्पन्न नहीं कर सकते, ऐसी आशंका करके उसका निषेध करते हैं—" न च" इत्यादिसे। व्यग्रत्व अन्यथा सिद्ध है, इसपर हेतु कहते हैं—"परिमाणान्तरस्य" इत्यादिसे। परिमाणके अन्य हेतु हैं, यह सिद्ध करनेके लिए सूत्रोंको उद्धृत करते हैं—"कारण" इत्यादिसे। कारण—द्व्यणुकोंके बहुत्वसे त्र्यणुकमें महत्त्व उत्पन्न होता है, मृत्तिकाके महत्त्वसे घटमें महत्त्व उत्पन्न होता है और दो तूलपिंडोंसे आरब्ध अतिस्थूल तूलपिंडमें प्रचयसे—अवयवोंके संयोगविशेषसे महत्त्व उत्पन्न होता है, ऐसा अर्थ है। महत्त्वविरुद्ध अणुत्व परमाणुगत द्वित्व संख्यासे द्व्यणुकमें उत्पन्न होता है, ऐसा कहते हैं—"तत्" इत्यादिसे। महत्त्वका जो असमवायी कारण है, वही महत्त्वसमानाधिकरण दीर्घत्वका है और जो अणुत्वका असमवायी कारण है, वह अणुत्वसमानाधिकरण ह्रस्वत्वका है, ऐसा

भाष्य

काणभुजानि सूत्राणि । न च संनिधानविशेषात् कुतश्चित् कारणबहुत्वादीन्येवाऽऽरभन्ते, न पारिमाण्डल्यादीनीत्युच्येत, द्रव्यान्तरे गुणान्तरे वाऽऽरभ्यमाणे सर्वेषामेव कारणगुणानां स्वाश्रयसमवायाविशेषात् । तस्मात् स्वभावादेव पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वम्, तथा चेतनाया अपीति

भाष्यका अनुवाद

(इससे दीर्घत्व और ह्रस्वत्वका व्याख्यान हुआ) ये कणादके सूत्र हैं । और किसी संनिधानविशेषसे कारणबहुत्व आदि ही आरंभक होते हैं, पारिमाण्डल्य आदि आरंभक नहीं होते, ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि अन्य द्रव्य या अन्य गुण आरंभ करनेमें सब कारणगुण स्वाश्रयमें समानरूपसे समवेत हैं । इसलिए स्वभावसे ही पारिमाण्डल्य आदि अनारंभक हैं, वैसे चेतना भी

रत्नप्रभा

मिति भावः । तेषां सन्निधिविशेषाभावाद् न समानगुणारम्भकत्वम् इत्यपि न वाच्यमित्याह—**न चेति** । पारिमाण्डल्यादीनाम् अपि बहुत्वादिवत् समवायिकारणगतत्वाविशेषात् इत्यर्थः । तेषाम् अनारम्भकत्वे कार्यद्रव्यस्य विरोधिगुणाक्रान्तत्वं व्यग्रत्वम् असन्निधिर्वा न हेतुरिति उक्तिफलमाह—**तस्मादिति** । यत्तु कारणगुणः स्वसमानगुणारम्भक इति व्याप्तेः सामान्यगुणेषु पारिमाण्डल्यादिषु व्यभिचारेऽपि यो द्रव्यसमवायिकारणगतो विशेषगुणः स स्वसमानजातीयगुणारम्भक इति व्याप्तेः चैतन्यस्य विशेषणत्वादारम्भकत्वं दुर्वारमिति, तत् मन्दम्; चित्रपटहेतु-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अतिदेश करते हैं—"एतेन" इत्यादिसे । इस प्रकार महत्त्व आदिका हेतु न होनेसे पारिमाण्डल्य आदि व्यग्र हैं, यह प्रसिद्ध है, ऐसा तात्पर्य है । और कारणबहुत्व आदि सन्निहित हैं और पारिमांडल्य सन्निहित नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, ऐसा कहते हैं–"न च" इत्यादिसे । बहुत्व आदिके समान पारिमाण्डल्य आदि भी समानरूपसे ही समवायी कारणमें स्थित हैं, ऐसा अर्थ है । पारिमांडल्य आदिके अनारंभक होनेपर कार्यद्रव्यका विरोधी गुणों द्वारा आक्रान्त होनारूप व्यग्रत्व अथवा असनिधि कारण नहीं है, ऐसा फलित—"तस्मात्" इत्यादिसे कहते हैं । यहाँ कोई यदि शंका करे कि कारणगुण स्वसमानगुणका आरंभक है, इस व्याप्तिका यद्यपि पारिमांडल्यादि सामान्यगुणोंमें व्यभिचार है, तो भी द्रव्यके समवायी कारणमें स्थित जो विशेष गुण है, वह स्वसमानजातीय गुणका आरंभक है, ऐसी व्याप्ति होनेके कारण चैतन्यके विशेष गुण होनेसे उसका आरंभकत्व दुर्वार है, तो यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि चित्रपटके हेतु

भाष्य

द्रष्टव्यम् । संयोगाच्च द्रव्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात् समानजातीयोत्पत्तिव्यभिचारः । द्रव्ये प्रकृते गुणोदाहरणमयुक्तमिति चेत्, न; दृष्टान्तेन विलक्षणारम्भमात्रस्य विवक्षितत्वात् । न च द्रव्यस्य द्रव्यमेवोदाहर्तव्यं गुणस्य वा गुण एवेति कश्चिन्नियमे हेतुरस्ति । सूत्रकारोऽपि भवतां द्रव्यस्य गुणमुदाजहार—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात् संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते' (वै० सू० ४।२।२) इति, यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयो-

भाष्यका अनुवाद

अनारंभक है, ऐसा समझना चाहिए । इसी प्रकार संयोगसे विलक्षण द्रव्य आदिकी उत्पत्ति देखनेमें आती है, इससे समान जातिवालेकी उत्पत्तिमें व्यभिचार है । द्रव्य प्रकृत है, उसमें गुणका उदाहरण अयुक्त है, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दृष्टान्तसे विलक्षण आरंभमात्र विवक्षित है । और द्रव्यका उदाहरण द्रव्य ही होना चाहिए और गुणका गुण ही, इस नियममें कोई हेतु नहीं है । तुम्हारे सूत्रकारने भी द्रव्यका गुण उदाहरण दिया है—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात्०' (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षका संयोग अप्रत्यक्ष होनेसे शरीर पंचभूतात्मक नहीं है) ऐसा । जैसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भूमि और

रत्नप्रभा

तन्तुगतेषु नीलादिरूपेषु विजातीयचित्ररूपहेतुषु व्यभिचारात् चैतन्यस्य आत्मत्वेन गुणत्वाभावाच्चेति मन्तव्यम् । तस्मात् चेतनाद् विजातीयारम्भो युक्त इति स्थितम्, तत्र उदाहरणान्तरमाह—संयोगाच्चेति । ननु चेतनं ब्रह्म कार्योपादानत्वाद् द्रव्यम्, तन्न विलक्षणस्य उपादानमिति प्रकृते किञ्चिद् द्रव्यमेव विलक्षणकार्यकरमुदाहर्तव्यम्, न संयोगस्य गुणस्य उदाहरणं युक्तमिति शङ्कते—द्रव्य इति । गुणाद् द्रव्यवत् चेतनादचेतनारम्भ इति विलक्षणारम्भकत्वांशेऽयं दृष्टान्त इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

तन्तुओंमें रहनेवाले नील आदि रूप जो विजातीय चित्र रूपके हेतु हैं, उनमें व्यभिचार है और चैतन्य आत्मा है, गुण नहीं है, इसलिए चेतन—ब्रह्मसे विजातीय—अचेतन जगत्‌की उत्पत्ति युक्त है । उसमें अन्य उदाहरण देते हैं—"संयोगाच्च" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि चेतन ब्रह्म कार्यका उपादान होनेसे द्रव्य है, वह विलक्षणका उपादान नहीं है, ऐसा प्रकृत होनेपर कोई द्रव्य जो विलक्षण कार्यकारक हो, उसीका उदाहरण देना चाहिए, संयोगरूप गुणका उदाहरण देना युक्त नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"द्रव्य" इत्यादिसे । गुणसे द्रव्यके समान, चेतनसे अचेतनकी उत्पत्ति, इस विलक्षण आरंभकत्व अंशमें यह दृष्टान्त है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—

भाष्य

भूम्याकाशयोः समवयन् संयोगोऽप्रत्यक्षः, एवं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेषु पञ्चसु भूतेषु समवयच्छरीरमप्रत्यक्षं स्यात् । प्रत्यक्षं हि शरीरम् , तस्मान्न पाञ्चभौतिकमिति । एतदुक्तं भवति—गुणश्च संयोगो द्रव्यं शरीरम् । 'दृश्यते तु' (ब्र० सू० २।१।६) इति चाऽत्राऽपि विलक्षणोत्पत्तिः प्रपञ्चिता । नन्वेवं सति तेनैवैतद्गतम् । नेति ब्रूमः—तत् सांख्यं प्रत्युक्तम्, एतत्तु वैशेषिकं प्रति । नन्वतिदेशोऽपि समानन्यायतया कृतः—'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' (ब्र० सू० २।१।१२) इति । सत्यमेतत् । तस्यैव त्वयं वैशेषिकप्रक्रियारम्भे तत्प्रक्रियानुगतेन निदर्शनेन प्रपञ्चः कृतः ॥११॥

भाष्यका अनुवाद

आकाशमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला संयोग अप्रत्यक्ष है, इसी प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पांच भूतोंमें समवाय संबन्धसे रहनेवाला शरीर अप्रत्यक्ष हो जायगा । शरीरतो प्रत्यक्ष है, इसलिए पाञ्चभौतिक नहीं है । तात्पर्य यह है कि संयोग गुण है और शरीर द्रव्य है । 'दृश्यते तु' इसमें भी विलक्षणकी उत्पत्तिका विस्तारसे वर्णन किया गया है । परन्तु ऐसा हो, तो उससे ही यह सूत्र गतार्थ है । नहीं, ऐसा हम कहते हैं । वह सांख्यके प्रति कहा गया है, यह वैशेषिकके प्रति कहा जाता है । परन्तु अतिदेश भी 'एतेन शिष्टापरिग्रहा०' (इससे शिष्टोंसे अपरिगृहीतोंका भी प्रत्याख्यान हुआ समझना) इस प्रकार समान न्यायसे किया गया है । यह सत्य है, परन्तु उसीका इस वैशेषिक प्रक्रियाके आरंभमें उसकी प्रक्रियाके अनुसारी निदर्शन—दृष्टान्तसे प्रपंच किया है ॥११॥

रत्नप्रभा

नेति । अनियमः कणादसम्मत इत्याह—**सूत्रकारोऽपीति ।** एतावता कथमनियमः ? तत्राह—**एतदुक्तमिति ।** न विलक्षणत्वन्यायेन पुनरुक्त्यभावेऽतिदेशाधिकरणेन पुनरुक्तिरिति शङ्कते—**नन्वतिदेश इति ।** समानगुणारम्भनियमस्य पारिमाण्डल्यादिदृष्टान्तेन भङ्गार्थमस्य आरम्भ इत्याह—**सत्यमिति ।** तस्यैव अतिदेशस्य इत्यर्थः ॥ ११ ॥ (२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न" इत्यादिसे । अनियम कणादका सम्मत है, ऐसा कहते हैं—"सूत्रकारोऽपि" इत्यादिसे । इतने हीसे अनियम कैसे हुआ ? इसपर कहते हैं—"एतदुक्तम्" इत्यादिसे । 'न विलक्षणत्व' न्यायसे पुनरुक्ति न होनेपर भी अतिदेशाधिकरणसे पुनरुक्ति है, ऐसी शंका करते हैं—"नन्वतिदेश" इत्यादिसे । समान गुणारम्भ नियमका पारिमाण्डल्यादि दृष्टान्तोंसे भंग बतानेके लिए इसका आरम्भ है, ऐसा कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे । उसका ही—उस अतिदेशका ही ऐसा अर्थ है ॥११॥

[३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरण सू० १२-१७]

जनयन्ति जगन्नो वा संयुक्ताः परमाणवः ।
आद्यकर्मजसंयोगाद् द्व्यणुकादिक्रमाज्जनिः ॥ १ ॥
सनिमित्तानिमित्तादिविकल्पेष्वाद्यकर्मणः ।
असम्भवादसंयोगे जनयन्ति न ते जगत् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—संयुक्त परमाणु जगत्को पैदा करते हैं अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—सृष्टिके पूर्वमें कर्मजन्य संयोगसे युक्त परमाणुओंसे द्व्यणुकादिके क्रमसे जगत्की उत्पत्ति होती है।

सिद्धान्त—वह कर्म सनिमित्तक है या अनिमित्तक है ऐसे विकल्प होनेपर आदि कर्मके असंभव होनेसे संयोग न होनेपर संयुक्त परमाणु जगत्की उत्पत्ति नहीं कर सकते।

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

पदच्छेद—उभयथा, अपि, न, कर्म, अतः, तदभावः ।

पदार्थोक्ति—उभयथापि—वैशेषिका हि कर्मणा प्राक् सृष्टेः निश्चलयोः परमाण्वोः संयोगे द्व्यणुकादेरुत्पत्तिं वदन्ति । तस्य कर्मणः किञ्चित् निमित्तमभ्युपगम्यते न वा ? आद्ये कर्मनिमित्तं जीवप्रयत्नाभिघातादिकमङ्गीकर्तव्यम् । नहि तत्संभवति, सृष्ट्यनन्तरकालीनत्वात्तस्य, द्वितीये कर्मानुत्पत्तिः, अतः प्रकारद्वयेऽपि, न कर्म—न परमाण्वोः संचलनादिरूपं कर्म [अदृष्टस्य अचेतनस्य स्वतः कर्माभिमुख्यायोगात्] अतः—कर्माभावात्, तदभावः—द्व्यणुकादिक्रमेण सृष्ट्युत्पादनस्याभावः ।

भाषार्थ—वैशेषिक सृष्टिके पूर्व निश्चल परमाणुओंका कर्मसे संयोग होनेपर द्व्यणुक आदिकी उत्पत्ति होती है ऐसा कहते हैं। उस कर्मका कोई निमित्त माना जाता है अथवा नहीं ? प्रथमकल्पमें कर्मका निमित्त जीवोंके प्रयत्नसे जन्य अभिघात आदि मानना होगा, उसका संभव नहीं है, क्योंकि वह सृष्टिके अनन्तर हो सकता है। दूसरे कल्पमें कर्मकी उत्पत्ति नहीं होगी, इसलिये उभयथा परमाणुओंमें चेष्टा नहीं हो सकती, अदृष्ट अचेतन होनेसे उन्हें स्वतः कर्मकी ओर प्रवृत्त नहीं कर सकता, कर्म न होनेसे द्व्यणुकादि-क्रमसे सृष्टि नहीं हो सकती ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—पूर्वसिद्ध जगत्के लीन होनेपर जब भगवान् सृष्टि करनेकी इच्छा करते हैं, तब प्राणियोंके कर्मोंसे सम्पूर्ण परमाणुओंमें आदि कर्म उत्पन्न होता है।

भाष्य

इदानीं परमाणुकारणवादं निराकरोति। स च वाद इत्थं समुत्तिष्ठते—

भाष्यका अनुवाद

अब परमाणुकारणवादका निराकरण करते हैं। वह वाद इस प्रकार

रत्नप्रभा

वैशेषिकमतपरीक्षाम् आरभते—**उभयथापि न कर्मातस्तदभावः**। नाऽस्य प्रासङ्गिकेन पूर्वाधिकरणेन सङ्गतिरपेक्षिता इति मन्वानः प्रधानस्य ईश्वरानधिष्ठितस्य अकारणत्वेऽपि परमाणूनां तदधिष्ठितानां कारणत्वम् इति प्रत्युदाहरणसङ्गत्या सांख्याधिकरणानन्तर्यम् अस्य वदन् तात्पर्यमाह—**इदानीमिति**। द्व्यणुकादिक्रमेण परमाणुभिः जगदारभ्यते इति वैशेषिकराद्धान्तोऽत्र विषयः, स किं मानमूलो भ्रान्तिमूलो वा इति सन्देहे पूर्वपक्षयति—**स चेति**। तैः पटा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैशेषिक-मतकी परीक्षा आरम्भ करते हैं—"उभयथापि न कर्मातस्तदभावः" इत्यादिसे। प्रासंगिक पूर्व अधिकरणके साथ इस अधिकरणकी संगति अपेक्षित नहीं है, ऐसा मानकर भाष्यकार, ईश्वरसे अधिष्ठित न होनेसे प्रधान जगत्का कारण नहीं है, तो भी ईश्वरसे अधिष्ठित होनेसे परमाणु जगत्के कारण हों, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे सांख्याधिकरणके अनन्तर यह अधिकरण है, ऐसा कहते हुए तात्पर्य कहते हैं—"इदानीम्" इत्यादिसे। द्व्यणुक आदिके क्रमसे परमाणुओंसे जगत् उत्पन्न होता है, ऐसा वैशेषिक सिद्धान्त इस अधिकरणका विषय है, उक्त सिद्धान्त प्रमाणमूलक है या भ्रान्तिमूलक है, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"स च" इत्यादिसे। तत्सामान्येन—उन अर्थात् पट आदिके साथ क्षिति

उस कर्मसे एक परमाणु दूसरे परमाणुसे संयुक्त होता है। उस संयोगसे द्व्यणुक उत्पन्न होता है। उन तीन द्व्यणुकोंसे एक त्र्यणुक होता है इत्यादि क्रमसे जगत्की उत्पत्ति होनेमें कोई बाधक न होनेसे संयुक्त परमाणु जगत्की उत्पत्ति करते हैं।

सिद्धान्ती कहते हैं—जो यह आदि कर्म कहा गया है वह सनिमित्तक है या अनिमित्तक है? यदि अनिमित्तक है तो नियामकके न होनेसे सदा उसकी उत्पत्ति होनेपर प्रलयमें जगदुत्पत्तिकी नौबत आवेगी। यदि वह सनिमित्त है, तो वह निमित्त दृष्ट है या अदृष्ट? दृष्ट निमित्त तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रयत्न या अभिघातका शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व संभव नहीं है। ईश्वरका प्रयत्न नित्य है, इसलिए वह कादाचित्क आद्य कर्मका नियामक नहीं हो सकता। अदृष्ट भी आदि कर्मका निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले अदृष्टका परमाणुओंसे सम्बन्ध नहीं हो सकता—इत्यादि विकल्पोंके उपस्थित होनेपर आदि कर्मके सम्भव न होनेसे परमाणुओंका संयोग नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि 'संयुक्त परमाणुओंसे जगत्की उत्पत्ति होती है' यह मत नितरां अनुपपन्न है।

भाष्य

पटादीनि हि लोके सावयवानि द्रव्याणि स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्त-न्त्वादिभिर्द्रव्यैरारभ्यमाणानि दृष्टानि, तत्सामान्येन यावत्किञ्चित् सावयवं तत्सर्वं स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तैस्तैर्द्रव्यैरारब्धमिति गम्यते। स चाऽयमवयवावयविविभागो यतो निवर्तते, सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः, सर्वं चेदं जगद्गिरिसमुद्रादिकं सावयवम्, सावयवत्वाच्चाऽऽद्यन्तवत्, न चाऽ-

भाष्यका अनुवाद

उपस्थित होता है—व्यवहारमें देखा जाता है कि पट आदि सावयव द्रव्य अपने अनुकूल संयोगसहित तन्तु आदि द्रव्योंसे उत्पन्न होते हैं। इस उदाहरणसे प्रतीत होता है कि जो कोई सावयव—अवयवी द्रव्य हैं, वे सब अपने अनुकूल संयोगयुक्त तत्-तत् द्रव्योंसे ही उत्पन्न होते हैं। वह अवयवावयविविभाग—अवयव और अवयवीका विश्लेषण जहां से निवृत्त होता है, उस न्यून परिमाण की सीमाको परमाणु कहते हैं। पर्वत,

रत्नप्रभा

दिभिः सामान्यं क्षित्यादेः कार्यद्रव्यत्वम्, तेन इत्यर्थः। विमतं सावयवं क्षित्यादिकं स्वन्यूनपरिमाणसंयोगसचिवानेकद्रव्यारब्धम्, कार्यद्रव्यत्वात्, पटादिवत्, इति प्रयोगः। स्वेष्टपरमाणुसिद्ध्यर्थानि साध्यविशेषणानि। ननु एतावता कथं परमाणुसिद्धिः, तत्राऽऽह—स चाऽयमिति। विमतं सावयवत्वं पक्षतावच्छेदकं यतो निवर्तते, स न्यूनपरिमाणस्य अपकर्षस्य पर्यन्तत्वेन अवसानभूमित्वेन अवगतः परमाणुरित्यर्थः। यावत्सावयवमनुमानप्रवृत्तेः द्व्यणुकन्यूनद्रव्यं निरवयवं सिद्ध्यति इति भावः। जगन्नित्यत्ववादात् कार्यद्रव्यत्वहेत्वसिद्धिः इति वदन्तं

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिका सादृश्य होनेसे—पट आदिके समान क्षित्यादि कार्यद्रव्य हैं, इस सादृश्यसे। विमत सावयव क्षिति आदि अपनेसे न्यून परिमाणवाले संयोगसहित अनेक द्रव्योंसे आरब्ध हैं, कार्यद्रव्य होनेसे, पट आदिके समान, ऐसा अनुमानका प्रयोग है। अपने सिद्धान्तमें स्वीकृत परमाणुकी सिद्धिके लिए साध्यके विशेषण दिये हैं। परन्तु इतनेसे परमाणुकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? इसपर कहते हैं—"स चायम्" इत्यादिसे। विमत सावयवत्व पक्षताका अवच्छेदक जहांसे निवृत्त होता है, न्यून परिमाणकी अन्तिम सीमारूपसे अवगत वह परमाणु है, ऐसा अर्थ है। जहां तक सावयवत्व है, वहां तक अनुमान प्रवृत्त होता है, इसलिए द्व्यणुकसे न्यून द्रव्य निरवयव है, ऐसा सिद्ध होता है, यह तात्पर्य है। परन्तु जगत्के अनादि अनन्त होनेसे कार्यद्रव्यत्वरूप हेतुकी असिद्धि होगी, ऐसा कहते हुए के प्रति कहते हैं—

भाष्य

कारणेन कार्येण भवितव्यमित्यतः परमाणवो जगतः कारणमिति कणभुगभिप्रायः। तानीमानि चत्वारि भूतानि भूम्युदकतेजःपवनाख्यानि सावयवान्युपलभ्य चतुर्विधाः परमाणवः परिकल्प्यन्ते। तेषां चाऽपकर्षपर्यन्तगतत्वेन परतो विभागासम्भवाद्विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्तो विभागो भवति, स प्रलयकालः। ततः सर्गकाले च वाय-

भाष्यका अनुवाद

'समुद्र आदि यह सम्पूर्ण जगत् सावयव है और सावयव होनेसे उत्पत्तिमान् और विनाशी है। कोई भी कार्य कारणके बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए परमाणु जगत्के कारण हैं यह वैशेषिकोंका सिद्धान्त है। पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों को सावयव देखकर चार प्रकारके परमाणुओं की कल्पना की जाती है। वे न्यूनता की चरमसीमा हैं, उनसे आगे विभागका संभव न होनेसे नाशशील पृथिवी आदिका परमाणुपर्यन्त विभाग होता है, परमाणुपर्यन्त विभाग होना ही प्रलय है। फिर सृष्टिके समय वाय-

रत्नप्रभा

प्रत्याह—**सर्वं चेति**। विमतम् आद्यन्तवत्, सावयवत्वात्, पटवदित्यर्थः। हेतोः असिद्धिं निरस्य अप्रयोजकत्वं निरस्यति—**न चेति**। ते कतिविधा इत्याकाङ्क्षायामाह—**तानीति**। प्रलये चैषामपि नाशान्न जगत्कारणत्वम् इत्याशङ्क्याऽऽह—**तेषां चेति**। अवयवानां विभागात् नाशाद् वा अवयविनो नाशः परमाणूनां निरवयवत्वेन अवयवविभागादेः नाशहेतोः असम्भवान्न नाश इत्यर्थः। तेषां नित्यत्वे फलितं सृष्टिक्रममाह—**तत इति**। एवं काणादमतस्य मानमूलत्वात् तेन वेदान्तसमन्वस्य विरोधात् असिद्धिः इति पूर्वपक्षे फलम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सर्वञ्च" इत्यादिसे। विमत आद्यन्तवत् है, सावयव होनेसे, पटके समान, ऐसा अनुमानका प्रयोग है। हेतुकी असिद्धिका निरसन करके हेतुकी अप्रयोजकताका परिहार करते हैं—"न च" इत्यादिसे। वे परमाणु कितने प्रकारके हैं, ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं—"तानि" इत्यादिसे। प्रलयमें इन परमाणुओंका भी नाश होनेसे ये जगत्के कारण नहीं हैं, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"तेषां च" इत्यादिसे। अवयवोंके विभागसे या नाशसे अवयवीका नाश होता है, परमाणुके तो निरवयव होनेसे अवयवविभाग आदि नाशके हेतुओंका संभव न होनेसे उनका नाश नहीं होता है, ऐसा अर्थ है। परमाणुओंके नित्यत्व सिद्ध होनेपर फलित सृष्टि-क्रम कहते हैं—"ततः" इत्यादिसे। इस प्रकार काणादमतके प्रमाणमूलक होनेसे उसके साथ वेदान्त समन्वयका विरोध होनेसे समन्वय असिद्ध है, ऐसा पूर्वपक्षमें फल है।

भाष्य

वीयेष्वणुष्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते। तत् कर्म स्वाश्रयमणुमण्वन्तरेण संयुनक्ति, ततो द्व्यणुकादिक्रमेण वायुरुत्पद्यते, एवमग्निः, एवमापः, एवं पृथिवी, एवमेव शरीरं सेन्द्रियमिति। एवं सर्वमिदं जगदणुभ्यः सम्भवति, अणुगतेभ्यश्चरूपादिभ्यो द्व्यणुकादिगतानि रूपादीनि सम्भवन्ति तन्तुपटन्यायेनेति काणादा मन्यन्ते।

तत्रेदमभिधीयते—विभागावस्थानां तावदणूनां संयोगः कर्मापेक्षोऽभ्युपगन्तव्यः, कर्मवतां तन्त्वादीनां संयोगदर्शनात्। कर्मणश्च कार्यत्वान्नि-

भाष्यका अनुवाद

वीय—वायुके परमाणुओंमें अदृष्टवश कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म जिस परमाणुमें होता है उसका दूसरे परमाणुसे संयोग करता है। तत्पश्चात् द्व्यणुक आदिके क्रमसे वायुकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि, जल और पृथिवीकी उत्पति होती है। और इसी प्रकार इन्द्रियसहित शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अणुओंसे उत्पन्न होता है। जैसे तन्तुओंके रूपसे वस्त्रमें रूप उत्पन्न होता है, वैसेही अणुमें रहनेवाले रूप आदिसे द्व्यणुकगत रूप आदि होते हैं, ऐसा वैशेषिकोंका सिद्धान्त है।

इस विषयमें हम कहते हैं—विभागकी अवस्थामें स्थित परमाणुओंका संयोग किसी कर्मकी अपेक्षा करता है यह मानना पड़ेगा, क्योंकि कर्मयुक्त

रत्नप्रभा

तस्य भ्रान्तिमूलत्वात् अविरोध इति सिद्धान्तयति—तत्रेदमिति। प्रलये विभक्तानां परमाणूनाम् अन्यतरकर्मणा उभयकर्मणा वा संयोगो वाच्यः, कर्मणश्च निमित्तं प्रयत्नादिकं दृष्टम्, यथा प्रयत्नवदात्मसंयोगाद् देहचेष्टा, वाय्वाद्यभिघाताद् वृक्षादिचलनम्, हस्तनोदनाद् इष्वादिगमनं तद्वद् अणुकर्मणो दृष्टं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस पूर्वपक्षके भ्रान्तिमूलक होनेसे वेदान्तसमन्वयमें विरोध नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे। प्रलयमें विभक्त हुए परमाणुओंका संयोग संयुक्त होनेवाले दो परमाणुओंमेंसे एक परमाणुके कर्मसे होता है, अथवा दोनों परमाणुओंके कर्मसे होता है, और कर्मके निमित्त प्रयत्न आदि देखनेमें आते हैं, जैसे कि प्रयत्नवाले आत्माके संयोगसे देहचेष्टा होती है, वायु आदिके अभिघातसे वृक्ष आदिमें चलनक्रिया होती है, हाथकी प्रेरणासे शर आदिमें गमनक्रिया होती है, उसी प्रकार अणुओंके कर्मका दृष्ट कुछ निमित्त स्वीकार करते

भाष्य

मित्तं किमप्यभ्युपगन्तव्यम्, अनभ्युपगमे निमित्ताभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्, अभ्युपगमेऽपि यदि प्रयत्नोऽभिघातादिर्वा यथादृष्टं किमपि कर्मणो निमित्तमभ्युपगम्येत। तस्याऽसम्भवान्नैवाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्। नहि तस्यामवस्थायामात्मगुणः प्रयत्नः सम्भवति, शरीराभावात्। शरीरप्रतिष्ठे हि मनस्यात्मनः संयोगे सत्यात्मगुणः प्रयत्नो जायते। एतेनाऽभिघाताद्यपि दृष्टं निमित्तं प्रत्याख्यातव्यम्। सर्गोत्तरकालं हि तत्सर्वं नाऽऽद्यस्य कर्मणो निमित्तं सम्भवति। अथाऽदृष्टमाद्यस्य कर्मणो निमित्तमित्युच्येत,

भाष्यका अनुवाद

तन्तु आदिमें संयोग दिखाई देता है। कर्म कार्य है, इसलिए उसका कोई निमित्त मानना पड़ेगा। यदि निमित्तका स्वीकार न किया जाय, तो निमित्तके अभावमें अणुओंमें आद्य कर्म नहीं होगा। यदि निमित्तका स्वीकार करें भी तो जैसे व्यवहारमें कर्मका निमित्त प्रयत्न या अभिघात दिखाई देता है, वैसेही अणुके कर्मका कोई किमित्त मानना पड़ेगा। उसका संभव न होनेसे अणुओंमें आद्य कर्म नहीं होगा। सृष्टिके पूर्व आत्मगुण प्रयत्न नहीं हो.सकता, क्योंकि उस समय शरीर ही नहीं रहता। शरीरमें रहनेवाले मनमें आत्माका संयोग होनेपर आत्माका गुण प्रयत्न होता है। इस कथनसे अभिघात आदि दृष्ट निमित्तका भी प्रत्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि उन सबका सृष्टिके अनन्तर ही संभव है, अतः वे आदि कर्मके निमित्त नहीं

रत्नप्रभा

निमित्तम् अभ्युपगम्यते न वा? द्वितीये कर्मानुत्पत्तिः। नाद्यः, प्रयत्नादेः सृष्ट्युत्तरकालीनत्वादिति उभयथाऽपि न कर्म सम्भवति, अतः—कर्माऽसम्भवात्, तस्य—संयोगपूर्वकद्व्यणुकादिसर्गस्य अभाव इति सूत्रार्थः। स्थिरस्य वेगवद्द्रव्यसंयोगविशेषोऽभिघातः, स एव चलस्य नोदनमिति भेदः। दृष्टनिमित्ताभावेऽपि अदृष्टवत् आत्मसंयोगात् अणुषु कर्म इति शङ्कते—अथाऽदृष्टमिति। विकल्पपुरःसरं

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो या नहीं? स्वीकार न करो, तो कर्म उत्पन्न नहीं होगा, और स्वीकार करनेपर भी कर्म उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि प्रयत्न आदि सृष्टिके उत्तरकालमें होते हैं, इस प्रकार दोनों प्रकारसे भी कर्म सम्भव नहीं है। अतः कर्मका संभव न होनेसे, उसका अर्थात् संयोगपूर्वक द्व्यणुक आदिकी सृष्टिका अभाव है, ऐसा सूत्रका अर्थ है। वृक्ष आदि स्थिर पदार्थोंका वायु, जल आदि वेगवाले द्रव्यके साथ संयोगविशेष अभिघात है, चल पदार्थका वही संयोग नोदन कहलाता है, यद्यपि दृष्ट निमित्तका अभाव है, तो भी अदृष्टवत् आत्माके संयोगसे अणुओंमें कर्म होता है,

भाष्य

तत्पुनरात्मसमवायि वा स्यादणुसमवायि वा ? उभयथापि नाऽदृष्टनिमित्तमणुषु कर्माऽवकल्पेत, अदृष्टस्याऽचेतनत्वात्। नह्यचेतनं चेतनेनाऽनधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रवर्तते, प्रवर्तयति वेति साङ्ख्यप्रक्रियायामभिहितम्। आत्मनश्चाऽनुत्पन्नचैतन्यस्य तस्यामवस्थायामचेतनत्वात्। आत्मसमवायित्वाभ्युपगमाच्च नाऽदृष्टमणुषु कर्मणो निमित्तं स्यात्, असम्बन्धात्। अदृष्टवता

भाष्यका अनुवाद

हो सकते हैं। यदि आप कर्मका निमित्त अदृष्ट है ऐसा मानो, तो प्रश्न होता है कि वह कर्म आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहनेवाला है या अणुओंमें। दोनों प्रकारसे भी अणुओंमें अदृष्ट निमित्तक कर्म की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि अदृष्ट अचेतन है। चेतनसे अधिष्ठित हुए बिना अचेतन न तो स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्त हो सकता है और न किसीको प्रवृत्त करा सकता है ऐसा सांख्यप्रक्रिया में कहा गया है। चैतन्यके उत्पन्न न होनेसे आत्मा भी उस अवस्थामें अचेतन ही है। अदृष्ट आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहता है ऐसा स्वीकृत होनेसे वह अणुओंमें कर्मका निमित्त नहीं होगा, क्योंकि उसका अदृष्टसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अदृष्टवाले पुरुषके साथ अणुओंका

रत्नप्रभा

दूषयति—**तत्पुनरिति**। जडात्मवत् अणोः आश्रयत्वं किं न स्यादिति मत्वा विकल्पः कृत इति मन्तव्यम्। अत्राऽपि सूत्रं योजयति—**उभयथेति**। जीवाधिष्ठितम् अदृष्टं निमित्तमस्तु इत्यत आह—**आत्मनश्चेति**। अचेतनत्वाद् न अधिष्ठातृत्वमिति शेषः, भिन्नेश्वरस्याऽधिष्ठातृत्वम् अग्रे निराकरिष्यते, अचेतनत्वम् अदृष्टस्य कर्मनिमित्तत्वाभावे हेतुरुक्तः। हेत्वन्तरमाह—**आत्मसमवायित्वेति**। गुरुत्ववद् अदृष्टमपि स्वाश्रयसंयुक्ते क्रियाहेतुः इति शङ्कते—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी शंका करते हैं—"अथादृष्टम्" इत्यादिसे। विकल्पपूर्वक खण्डन करते हैं—"तत्पुनः" इत्यादिसे। जड़ आत्माके समान अणु आश्रय क्यों न हो, ऐसा मानकर विकल्प किया है, ऐसा समझना चाहिए। इस द्वितीय व्याख्यानमें भी सूत्रकी योजना करते हैं—"उभयथा" इत्यादिसे। जीवसे अधिष्ठित हुआ अदृष्ट निमित्त हो, इसपर कहते हैं—"आत्मनश्च" इत्यादिसे। आत्मा अचेतन होनेसे अधिष्ठाता नहीं हो सकता, इतना शेष समझना चाहिए। भिन्न ईश्वर अधिष्ठाता नहीं हो सकता, ऐसा आगे निराकरण किया जायगा। अदृष्टका अचेतनत्व कर्मके निमित्तकारण न होनेमें कारण कहा गया है। अन्य हेतु कहते हैं—"आत्मसमवायित्व" इत्यादिसे। गुरुत्वके समान अदृष्ट भी स्वाश्रयसंयुक्त

भाष्य

पुरुषेणाऽस्त्यणूनां सम्बन्ध इति चेत्, सम्बन्धसातत्यात् प्रवृत्तिसातत्यप्रसङ्गः, नियामकान्तराभावात्। तदेवं नियतस्य कस्यचित् कर्मनिमित्तस्याऽभावान्नाऽणुष्वा कर्म स्यात्, कर्माभावात् तन्निबन्धनः संयोगो न स्यात्, संयोगाभावाच्च तन्निबन्धनं द्व्यणुकादि कार्यजातं न स्यात्। संयोगश्चाऽणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा? सर्वात्मना चेदुपचया-

भाष्यका अनुवाद

सम्बन्ध है ऐसा यदि कहो, तो सम्बन्धके सदा होनेसे, सदा प्रवृत्ति होने लगेगी; क्योंकि अन्य नियामक नहीं है। इस प्रकार कोई भी कर्मका नियत निमित्त नहीं है, अतः अणुओंमें आद्यकर्म नहीं होगा। कर्मके अभावमें कर्मसे होनेवाला संयोग नहीं होगा और संयोगके अभावसे उसके आधारपर होनेवाले द्व्यणुक आदि कार्य नहीं होंगे। और एक अणुका अन्य अणुके साथ संयोग सर्वात्मना होगा या एक देशसे होगा? सर्वात्मना होगा, तो उपचय की

रत्नप्रभा

अदृष्टवतेति। विभुसंयोगस्य अणुषु सदा सत्त्वात् क्रियासातत्ये प्रलयाभावः स्यादिति दूषयति—सम्बन्धेति। कादाचित्कप्रवृत्तेः अदृष्टनियम्यत्वायोगेऽपि ईश्वरात् नियम इत्यत आह—नियामकान्तरेति। यत् ज्ञानं तत् शरीरजन्यमिति व्याप्तिविरोधेन नित्यज्ञानासिद्धेस्तद्गुण ईश्वरो नास्ति, अस्तित्वेऽपि सदा सत्त्वान्न नियामकत्वमिति भावः। सूत्रार्थं निगमयति—तदेवमिति। संयोगस्य हेतुत्वं खण्डयित्वा स्वरूपं खण्डयति—संयोगश्चाऽणोरिति। संयोगस्य व्याप्यवृत्तित्वे एकस्मिन् इतरस्य अन्तर्भावात् कार्यस्य पृथुत्वायोगात् सर्वं कार्यं पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रियाका हेतु है, ऐसी शंका करते हैं—"अदृष्टवता" इत्यादिसे। विभु (आत्मा)के संयोगके अणुओंमें सदा विद्यमान होनेसे क्रियाके भी सतत होनेके कारण प्रलयका अभाव होगा, ऐसा दूषण देते हैं—"सम्बन्ध" इत्यादिसे। यद्यपि कादाचित्क प्रवृत्तिका नियामक अदृष्ट नहीं हो सकता, तो भी ईश्वर नियामक होगा, इसपर कहते हैं—"नियामकान्तर" इत्यादिसे। जो ज्ञान है, वह शरीरजन्य है, इस व्याप्तिके साथ विरोध होनेके कारण नित्यज्ञानके असिद्ध होनेसे नित्यज्ञानरूप गुणवाला ईश्वर नहीं है, हो भी तो उसका सर्वदा अस्तित्व होनेसे वह कादाचित्क प्रवृत्तिका नियामक नहीं है ऐसा अभिप्राय है। सूत्रार्थका निगमन करते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। संयोगके हेतुत्वका खण्डन करके उसके स्वरूपका खण्डन करते हैं—"संयोगश्च" इत्यादिसे। दो परमाणुओंके संयोगके व्याप्यवृत्ति—सर्वात्मना व्याप्त होनेपर एकमें अन्यका अन्तर्भाव होनेसे

भाष्य

नुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गो दृष्टविपर्ययप्रसङ्गश्च, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्। एकदेशेन चेत्, सावयवत्वप्रसङ्गः। परमाणूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्युरिति चेत्। कल्पितानामवस्तुत्वाद-वस्त्वेव संयोग इति वस्तुनः कार्यस्याऽसमवायिकारणं न स्यात्, असति चाऽसमवायिकारणे द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यं नोत्पद्येत। यथा चाऽऽदिसर्गे निमित्ताभावात् संयोगोत्पत्त्यर्थं कर्म नाऽणूनां सम्भवत्येवं महाप्रलयेऽपि विभागोत्पत्त्यर्थं कर्म नैवाऽणूनां सम्भवेत्। नहि तत्रापि किंचिन्नियतं

भाष्यका अनुवाद

अनुपपत्तिसे अणुमात्रत्वका प्रसंग आवेगा और जो देखनेमें आता है, उससे विपरीतका प्रसंग आवेगा, क्योंकि प्रदेशवाले द्रव्यका प्रदेशवाले अन्य द्रव्यके साथ संयोग देखा जाता है। और एकदेशसे होगा तो सावयवत्वका प्रसंग आवेगा। परमाणुओंके कल्पित प्रदेश होंगे, ऐसा कहोगे, तो कल्पित अवस्तु होनेसे संयोग अवस्तुरूप होगा, इससे वस्तुरूप कार्यका असमवायी कारण नहीं होगा और असमवायी कारण न होनेसे द्व्यणुकादि कार्यद्रव्य उत्पन्न न होंगे। और जैसे आदि सृष्टिमें निमित्तके अभावसे संयोग की उत्पत्तिके लिये अणुओंमें कर्म नहीं हो सकता वैसे महाप्रलयमें भी विभाग की उत्पत्तिके लिये

रत्नप्रभा

माणुमात्रं स्यादित्यर्थः। किञ्च, सांशद्रव्ये संयोगस्य एकांशवृत्तित्वं दृष्टम्, तद्वि-रोधात् व्याप्यवृत्तित्वं न कल्प्यमित्याह—दृष्टेति। परमाणोः संयोगः एकदेशेन चेदिति सम्बन्धः, दिग्भेदेन कल्पितप्रदेशस्य संयोगस्याऽपि कल्पितत्वात् ततः कार्यं नोत्पद्येत, उत्पन्नं वा मिथ्या स्यादिति अपसिद्धान्त इत्यर्थः। काणादानां सर्ग-प्रत्युक्तौ सूत्रं योजयित्वा प्रलयनिरासेऽपि सूत्रं योजयति—**यथा चेति**। पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यमें पृथुत्वके अभावसे सब कार्य परमाणुमात्र ही होगा, ऐसा अर्थ है। और सावयव द्रव्यमें एकांशवृत्ति—अव्याप्यवृत्ति संयोग देखनेमें आता है, इसलिए उससे विरुद्ध व्याप्यवृत्ति संयोगकी कल्पना ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"दृष्ट" इत्यादिसे। यदि परमाणुओंका संयोग एक देशसे है, ऐसा सम्बन्ध है। दिशाओंके भेदके अनुसार परमाणुके कल्पित प्रदेश होगें प्रदेशोंके संयोगके भी कल्पित होनेसे उससे कार्य उत्पन्न नहीं होगा, और यदि होगा, तो मिथ्या होगा, इस प्रकार सिद्धान्तकी हानि होगी, ऐसा अर्थ है। काणादोंकी सृष्टिके निराकरणमें सूत्रकी योजनाकर प्रलयके निराकरणमें भी सूत्रकी योजना करते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। परमाणुओंमें

भाष्य

तन्निमित्तं दृष्टमस्ति। अदृष्टमपि भोगप्रसिद्ध्यर्थं न प्रलयप्रसिद्ध्यर्थमित्यतो[1] निमित्ताभावान्न स्यादणूनां संयोगोत्पत्त्यर्थं विभागोत्पत्त्यर्थं वा कर्म, अतश्च संयोगविभागाभावात् तदायत्तयोः सर्गप्रलययोरभावः प्रसज्येत। तस्मादनुपपन्नोऽयं परमाणुकारणवादः ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

अणुओंमें कर्म न होगा, क्योंकि उसमें भी उसका कुछ नियत निमित्त देखनेमें नहीं आता। अदृष्ट भी भोगकी प्रसिद्धिके लिए है, प्रलयकी प्रसिद्धिके लिये नहीं है, इसलिए निमित्तके अभावसे अणुओंमें संयोगकी उत्पत्तिके अर्थ और विभागकी उत्पत्तिके अर्थ कर्म नहीं होगा, इसलिए संयोग और विभागके—अभावसे उनके आधारपर होनेवाले सर्ग और प्रलयका अभाव हो जायगा, इसलिए यह परमाणुवाद अनुपपन्न है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

माणूनां कर्मणा संयोगात् सर्गः, विभागात् प्रलयः, इति प्रक्रिया न युक्ता, युगपदनन्तपरमाणूनां विभागे नियतस्य अभिघातादेः दृष्टस्य निमित्तस्य असत्त्वात्, धर्माधर्मरूपादृष्टस्य सुखदुःखार्थत्वेन सुखदुःखशून्यप्रलयप्रयोजकत्वायोगात् न अदृष्टनिमित्तेन कर्मणा विभागः सम्भवति। तथा च दृष्टादृष्टनिमित्तयोः असत्त्वाद् उभयथाऽपि संयोगार्थत्वेन विभागार्थत्वेन च कर्म नास्ति, अतः कर्माभावात् तयोः संयोगविभागपूर्वकयोः सर्गप्रलययोरभाव इति सूत्रयोजना ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मसे संयोग होनेसे सृष्टि होती है और विभाग होनेसे प्रलय होता है, यह प्रक्रिया युक्त नहीं है, क्योंकि युगपत् अनन्त परमाणुओंके विभागमें नियत अभिघात आदि दृष्ट निमित्तोंका अभाव होनेसे और धर्माधर्मरूप अदृष्टके सुखदुःखार्थक होनेसे वे सुखदुःखशून्य प्रलयके प्रयोजक नहीं हो सकते। अतः अदृष्टनिमित्त कर्मसे विभाग नहीं हो सकता। इसलिए दृष्ट और अदृष्ट निमित्त न होनेसे दोनों प्रकारसे संयोगके अर्थ या विभागके अर्थ कर्म नहीं है, इसलिए कर्मके अभावसे संयोगपूर्वक सृष्टि और विभागपूर्वक प्रलयका अभाव है, ऐसी सूत्रकी योजना है ॥१२॥

(१) अणुओंके आद्य और अन्त्य कर्मका कोई निमित्त है या नहीं? यदि है, तो वह दृष्ट है या अदृष्ट? यदि दृष्ट है, तो वह यत्न है या अभिघात आदि? अदृष्ट है, तो वह परमाणुओंमें रहता है या आत्मामें? इनमेंसे किसी भी पक्षके स्वीकार करनेसे संयोगकी उत्पत्तिके लिए और विभागकी उत्पत्तिके लिए कर्म नहीं हो सकता। कर्मके न होनेसे सर्ग और प्रलयका अभाव होगा, इस प्रकार सूत्रकी योजनाका उपसंहार करते हैं—"अतः" इत्यादि भाष्यसे।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

पदच्छेद—समवायाभ्युपगमात, च, साम्याद्, अनवस्थितेः ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, समवायाभ्युपगमात्—यथैव अणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद् द्व्यणुकं समवायेन ताभ्यां सम्बद्ध्यते एवं समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन् अन्येन समवायेन समवायिभिः सम्बध्येत, साम्यात्—अत्यन्तभेदसाम्यात् । [ततश्च] अनवस्थितेः—तस्य तस्य अन्यः अन्यः समवायः कल्पनीय इत्यनवस्थानात् [तदभावः द्व्यणुकादिसृष्ट्युत्पादस्याभावः]

भाषार्थ—और जैसे अणुओंसे अत्यन्त भिन्न द्व्यणुक समवायसम्बन्धसे उनके साथ सम्बद्ध होता है, वैसे ही समवाय भी समवायियोंसे अत्यन्त भिन्न होता हुआ अन्य समवाय सम्बन्धसे समवायियोंके साथ सम्बद्ध होगा, क्योंकि अत्यन्त भेद दोनोंमें समान है । ऐसी स्थितिमें उस उस समवाय सम्बन्धके लिए अन्य अन्य समवाय की कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था होनेसे द्व्यणुकादिक्रमसे सृष्टिकी उत्पत्तिका अभाव होगा ।

भाष्य

समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति प्रकृतेनाऽणुवादनिराकरणेन संबध्यते । द्वाभ्यां चाऽणुभ्यां द्व्यणुकमुत्पद्यमानमत्यन्तभिन्नमणुभ्यामण्वोः समवैतीत्यभ्युपगम्यते भवता न चैवमभ्युपगच्छता शक्यतेऽणुकारणता

भाष्यका अनुवाद

और वैशेषिकों द्वारा समवायको स्वीकार करनेसे भी सृष्टि और प्रलयका अभाव है, इसका प्रकृत अणुवादके निराकरणके साथ संबन्ध है । दो अणुओंसे उत्पन्न होनेवाला द्व्यणुक अणुओंसे अत्यन्त भिन्न है और अणुओंमें समवेत है, ऐसा तुम स्वीकार करते हो । परन्तु ऐसा स्वीकार करते हुए तुम अणुकारणताका

रत्नप्रभा

समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति । अणुवादासम्भव इति योग्यतया सम्बध्यते, द्व्यणुकसमवाययोः परमाणुभिन्नत्वसाम्याद्, द्व्यणुकवत् समवायस्याऽ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"समवायाभ्युपगमाच्च तदभावः" । अणुवादका सम्भव नहीं है, इसका योग्यतासे सम्बन्ध होता है । जैसे द्व्यणुक परमाणुसे भिन्न है, वैसे समवाय भी समवायी परमाणुओंसे भिन्न है, इस प्रकार द्व्यणुक और समवाय दोनोंमें परमाणुभिन्नत्व रूप साम्य है, इसलिए

भाष्य

समर्थयितुम् । कुतः ? साम्यादनवस्थितेः । यथैव द्व्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद् द्व्यणुकं समवायलक्षणेन सम्बन्धेन ताभ्यां सम्बध्यते, एवं समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन् समवायलक्षणेनाऽन्येनैव सम्बन्धेन समवायिभिः सम्बध्येताऽत्यन्तभेदसाम्यात् । ततश्च तस्य तस्याऽन्योऽन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव प्रसज्येत । नन्विहप्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसम्बद्ध एव समवायिभिर्गृह्यते नाऽसम्बद्धः सम्बन्धान्तरापेक्षो वा, ततश्च न तस्याऽन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्यो येनाऽनवस्था प्रसज्येतेति । नेत्युच्यते—संयोगोऽप्येवं सति संयोगिभिर्नित्यसम्बद्ध एवेति

भाष्यका अनुवाद

समर्थन नहीं करते । किससे ? साम्यसे और अनवस्थितिसे । जिस प्रकार दो अणुओंसे अत्यन्त भिन्न होकर द्व्यणुक समवायलक्षण संबन्धसे उनके साथ संबद्ध होता है, उसी प्रकार समवाय भी समवायियोंसे अत्यन्त भिन्न होकर समवायलक्षण अन्य सबन्धसे ही समवायियोंके साथ संबद्ध होगा, क्योंकि (दोनोंमें) अत्यन्तभेदरूपी साम्य है । और तदनन्तर उस उस समवायके अन्य अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रकार अनवस्था की प्राप्ति होगी । परन्तु 'यहांपर' इस प्रतीतिसे ग्रहण करने योग्य समवाय समवायियोंके साथ नित्य संबद्ध ही गृहीत होता है, असम्बद्ध या अन्य सम्बन्ध की अपेक्षावाला नहीं है, इसलिए उसके लिए अन्य संबन्ध की कल्पना युक्त नहीं है जिससे कि अनवस्था प्रसक्त हो, ऐसी शंका करोगे, तो हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि ऐसी

रत्नप्रभा

पि समवायान्तरम् इति अनवस्थितिः इत्यर्थः । ननु इह तन्तुषु पट इत्यादिविशिष्टधीनियामकः समवायो न सम्बन्धान्तरमपेक्षते, स्वरूपेणैव नित्यसम्बद्धत्वादिति शङ्कते—**नन्विहेति** । संयोगस्याऽपि स्वरूपसम्बन्धोपपत्तेः समवायो न स्यादिति दूषयति—**नेति** । सम्बन्धिभिन्नत्वात् चेत्, अपेक्षा समवायस्याऽपि तुल्या ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्व्यणुकके समान समवायका भी समवायी परमाणुओंके साथ सम्बन्ध होनेके लिए अन्य समवाय चाहिए, इस प्रकार अनवस्थिति होगी, ऐसा अर्थ है । परन्तु इन तन्तुओंमें पट है, इत्यादि विशिष्टज्ञानका नियामक समवाय है, उसको अन्य संबन्धकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह स्वरूपसे ही नित्य संबद्ध है, ऐसी शंका करते हैं—"नन्विह" इत्यादिसे । तब संयोग भी स्वरूपसबन्धसे उपपन्न होगा, इसलिए समवाय स्वीकार करनेकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा

भाष्य

समवायवन्नाऽन्यं सम्बन्धमपेक्षेत। अथाऽर्थान्तरत्वात् संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षेत, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात् सम्बन्धान्तरमपेक्षेत। न च गुणत्वात् संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षते, न समवायोऽगुणत्वादिति युज्यते वक्तुम्, अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्, गुणपरिभाषायाश्चाऽतन्त्रत्वात्। तस्मादर्थान्तरं समवायमभ्युपगच्छतः प्रसज्येतैवानवस्था। प्रसज्यमानायां चाऽनवस्थायामेकासिद्धौ सर्वासिद्धेर्द्वाभ्यामणुभ्यां द्व्यणुकं नैवोत्पद्येत। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः॥ १३॥

भाष्यका अनुवाद

परिस्थितिमें संयोग भी संयोगियोंके साथ नित्य संबद्ध ही है, इसलिए समवायके समान उसको अन्य संबन्धकी अपेक्षा नहीं है, यदि अन्य अर्थ होनेसे संयोग अन्य संबन्धकी अपेक्षा रक्खे, तो समवाय भी अन्य अर्थ होनेसे अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रक्खेगा। गुण होनेसे संयोग अन्य संबन्ध की अपेक्षा रखता है, परन्तु अगुण होनेसे समवाय अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि (दोनोंमें) अपेक्षाका कारण समान है और गुणपरिभाषा अतन्त्र है। इसलिए समवायका अन्य अर्थरूपसे स्वीकार करनेवाले (वैशेषिक) को अनवस्था प्राप्त होगी ही। और अनवस्था प्राप्त होनेपर एककी असिद्धिसे सब असिद्ध होनेसे दो अणुओंसे द्व्यणुक उत्पन्न होगा ही नहीं। इसलिए भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है॥ १३॥

रत्नप्रभा

गुणपरिभाषायाश्चेति। गुणत्वाभावेऽपि कर्मसामान्यादीनां समवायाङ्गीकाराद् गुणत्वं समवायित्वे न व्यापकम्, नापि व्याप्यम्, गुणस्याऽपि समवायिवत् स्वरूपसम्बन्धसम्भवेन व्याप्त्यनुकूलतर्काभावात्। तस्मात् सम्बन्धिभिन्नत्वमेव सम्बन्धान्तरापेक्षायां कारणम्, तस्य समवायेऽपि तुल्यत्वात् अनवस्था दुर्वारा। सा च मूलक्षयकरी, तया समवायासिद्धौ समवेतद्व्यणुकासिद्धिः इत्यर्थः॥ १३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दूषण बताते हैं—"न" इत्यादिसे। संबन्धियोंसे भिन्न होनेसे यदि संयोगको अन्य संबन्धकी अपेक्षा हो, तो समवायको भी वह तुल्य है, क्योंकि वह भी संबन्धियोंसे भिन्न है। "गुणपरिभाषायाश्च" इत्यादि। यद्यपि कर्म, सामान्य आदि गुण नहीं हैं, तो भी उनके समवायका अंगीकार है, इसलिए गुणत्व समवायीका व्यापक नहीं है और व्याप्य भी नहीं है, क्योंकि समवायके समान गुणके भी स्वरूप संबन्धका संभव होनेसे, व्याप्तिके अनुकूल तर्कका अभाव है, इसलिए संबन्धियोंसे भिन्नत्व ही अन्य सम्बन्धकी अपेक्षाका कारण है और उसके समवायमें भी तुल्य होनेसे अनवस्था दुर्वार है। और अनवस्था मूलका ही क्षय करनेवाली है, उस अनवस्थासे समवायके असिद्ध होनेसे समवेत द्व्यणुक भी असिद्ध है, ऐसा अर्थ है॥१३॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

पदच्छेद—नित्यम्, एव, च, भावात्।

पदार्थोक्ति—[परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वे प्रवृत्तेः] नित्यमेव—सदैव, भावात्—सत्त्वात् [प्रलयाभावप्रसंगः], च —निवृत्तिस्वभावत्वे निवृत्तेः नित्यमेव सत्त्वात् सृष्ट्यभावप्रसंगः। [ततोऽप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः]।

भाषार्थ—परमाणुओंको प्रवृत्तिस्वभाव मानें, तो प्रवृत्तिके नित्य होनेसे प्रलय के अभाव का प्रसंग होगा और निवृत्तिस्वभाव मानें, तो निवृत्तिके नित्य होनेसे सृष्टिके अभावका प्रसंग होगा। इससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है।

भाष्य

अपि चाऽणवः प्रवृत्तिस्वभावा वा निवृत्तिस्वभावा वोभयस्वभावा वाऽनुभयस्वभावा वाऽभ्युपगम्यन्ते, गत्यन्तराभावात्। चतुर्धापि नोपपद्यते प्रवृत्तिस्वभावत्वे नित्यमेव प्रवृत्तेर्भावात् प्रलयाभावप्रसङ्गः। निवृत्तिस्वभाव-त्वेऽपि नित्यमेव निवृत्तेर्भावात् सर्गाभावप्रसङ्गः। उभयस्वभावत्वं च विरो-

भाष्यका अनुवाद

और अणु प्रवृत्तिस्वभाववाले माने जाते हैं या निवृत्तिस्वभाववाले माने जाते हैं या उभयस्वभाववाले माने जाते हैं या अनुभयस्वभाववाले माने जाते हैं, क्योंकि इनसे अन्य गतिका अभाव है। चारों प्रकारसे भी उपपत्ति नहीं होती। यदि उन्हें प्रवृत्तिस्वभाववाले मानें, तो नित्य ही प्रवृत्ति होनेसे प्रलयके अभावका प्रसंग आवेगा। यदि निवृत्तिस्वभाववाले मानें, तो नित्य ही निवृत्ति होनेसे सृष्टिके अभावका प्रसंग

रत्नप्रभा

सूत्रं व्याचष्टे—अपि चेति। अनुभयस्वभावत्वे नैमित्तिकी प्रवृत्तिः वाच्या, निमित्तं च कालादृष्टादिकं नित्यसन्निहितमिति नित्यमेव प्रवृत्तिप्रसङ्गः। तस्य अनिमित्तत्वे प्रवृत्त्यभाव इत्यर्थः॥१४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। यदि अणु अनुभयस्वभाव हों अर्थात् उनमें प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वाभाविक न हो, तो प्रवृत्तिका निमित्त कहना चाहिए—और निमित्त काल, अदृष्ट आदि नित्य सन्निहित ही हैं, इसलिए नित्य प्रवृत्तिका प्रसंग आवेगा, और उन काल, अदृष्ट आदिको निमित्त न माननेसे प्रवृत्तिका अभाव होगा ऐसा अर्थ है॥१४॥

भाष्य

धादसमञ्जसम् । अनुभयस्वभावत्वे तु निमित्तवशात् प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभ्युपगम्यमानयोरदृष्टादेर्निमित्तस्य नित्यसन्निधानान्नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, अतन्त्रत्वेऽप्यदृष्टादेर्नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

होगा । उभयस्वभाव होना तो विरोधसे ही अनुपपन्न है । यदि अनुभयस्वभाव मानें, तब तो उनकी प्रवृत्तिऔर निवृत्ति निमित्तवश मानी जाती है, इसलिए अदृष्ट आदि निमित्तके नित्य सन्निहित होनेसे नित्यप्रवृत्तिका प्रसंग आवेगा । अदृष्ट आदि अतन्त्र हों, तो भी नित्य अप्रवृत्तिका प्रसंग होगा । इससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ॥ १४ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

पदच्छेद—रूपादिमत्त्वात्, च, विपर्ययः, दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, रूपादिमत्त्वात्—वैशेषिकमते परमाणूनां रूपादिमत्त्वात्, विपर्ययः—निरवयवत्वाणुत्वनित्यत्वविपर्ययः सावयवत्वादिः [प्रसज्येत] दर्शनात्—लोके रूपादिमतः घटादेस्तथा दर्शनात् ।

भाषार्थ—और वैशेषिकमतमें परमाणुओंके रूप आदियुक्त होनेसे उनमें निरवयवत्व, नित्यत्व और अणुत्वके विपरीत सावयवत्व आदिका प्रसङ्ग होगा, क्योंकि लोकमें रूप आदिसे युक्त घटमें वैसा देखा जाता है ।

भाष्य

सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो

भाष्यका अनुवाद

अवयवशः विभक्त होनेवाले सावयव द्रव्योंका जहांसे आगे विभाग नहीं

रत्नप्रभा

किञ्च, परमाणवः समवायिकारणवन्तः कारणापेक्षया स्थूला अनित्याश्च, रूपवत्त्वाद् रसवत्त्वाद् गन्धवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वाद्, घटवदिति सूत्रं योजयितुं पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परमाणु समवायिकारणवाले हैं, और अपने कारणकी अपेक्षासे स्थूल और अनित्य हैं, रूपवाले, रसवाले, गन्धवाले और स्पर्शवाले होनेसे, घटके समान, ऐसी सूत्रयोजनाके लिए

भाष्य

न सम्भवति, ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्याऽऽरम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति, स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव; यतो रूपादिमत्त्वात् परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत । परमकारणापेक्षया स्थूलत्वमनित्यत्वं च तेषामभिप्रेतविपरीतमापद्येतेत्यर्थः । कुतः ? एवं लोके दृष्टत्वात् । यद्धि लोके रूपादिमद् वस्तु, तत् स्वकारणापेक्षया स्थूलमनित्यं च दृष्टम्, तद्यथा पट-

भाष्यका अनुवाद

हो सकता, वे चार प्रकारके रूप आदियुक्त परमाणु चार प्रकारके रूप आदियुक्त भूतभौतिकके आरंभक हैं और नित्य हैं, ऐसा जो वैशेषिक स्वीकार करते हैं, वह उनका स्वीकार करना निराधार ही है, क्योंकि रूप आदिसे युक्त होनेसे परमाणुओंके अणुत्व और नित्यत्वके विपर्ययकी प्राप्ति होगी । परम करणकी अपेक्षासे वे स्थूल और अनित्य हैं, इस प्रकार उनके अभिप्रायसे विपरीत की प्राप्ति होगी, ऐसा अर्थ है । किससे ? इससे कि लोकमें इसी प्रकार देखनेमें आता है । लोकमें जो रूपादियुक्त वस्तु है, वह अपने कारणकी अपेक्षासे स्थूल और अनित्य दिखाई देती है । इसलिए जैसे पट तन्तुओंकी अपेक्षासे स्थूल

रत्नप्रभा

प्रक्रियामाह—सावयवानामित्यादिना । नन्वत्र परमाणुत्वं पक्षतावच्छेदकं तद्विरुद्धं स्थूलत्वं कथं साध्यते इति चेत्, न; वायुत्वतेजस्त्वादेः पृथगवच्छेदकत्वात् । न चाऽप्रयोजकता, कारणशून्यत्वे नित्यत्वे चाऽऽत्मवद् रूपादिमत्त्वायोगात् । न च तर्हि वायुः कारणवानिति पृथक् साधने रूपादिहेतूनां भागासिद्ध्यभावेऽपि सिद्धसाधनता स्यादिति वाच्यम् । यत्र स्पर्शः तत् कारणम्, यत्र रूपं तत् सकारण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रथम वैशेषिकोंकी प्रक्रिया कहते हैं—"सावयवानाम्" इत्यादिसे । इस अनुमानमें परमाणुत्व पक्षताका अवच्छेदक धर्म है, उसके विरुद्ध स्थूलत्व किस प्रकार सिद्ध किया जाता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वायुत्व, तेजस्त्व आदि पृथक् पृथक् अवच्छेदक हो सकते हैं । यदि कहो रूपवत्त्व आदि हेतु अप्रयोजक हैं अर्थात् रूपवत्त्व आदि हेतुसे परमाणुमें सकारणत्व और अनित्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि आत्माके समान कारणशून्य नित्य वस्तुमें रूपवत्ता नहीं रह सकती । यदि कहो कि वायु कारणवान् है इस प्रकार पृथक् पृथक् अनुमान द्वारा कारणत्व सिद्ध करनेमें रूप आदि हेतुओंकी भागासिद्धि न होनेपर भी सिद्धसाधनता होगी, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जहांपर स्पर्श है वह सकारण है, जहांपर रूप है वह सकारण है, इस

भाष्य

स्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च भवति, तन्तवश्चांऽशूनपेक्ष्य स्थूला अनित्याश्च भवन्ति, तथा चाऽमी परमाणवो रूपादिमन्तस्तैरभ्युपगम्यन्ते, तस्मात् तेऽपि कारणवन्तस्तदपेक्षया स्थूला अनित्याश्च प्राप्नुवन्ति। यच्च नित्यत्वे कारणं तैरुक्तम्—'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० सू० ४।१।१) इति, तदप्येवं सत्यणुषु न संभवति, उक्तेन प्रकारेणाऽणूनामपि कारणवत्त्वोपपत्तेः। यदपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम्—'अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधा-

भाष्यका अनुवाद

और अनित्य हैं, इसी प्रकार ये परमाणु रूपादियुक्त हैं, ऐसा वे स्वीकार करते हैं, इसलिए कारणवाले होनेसे वे कारणकी अपेक्षा स्थूल और अनित्य हैं, ऐसा प्राप्त होता है और परमाणुओंमें नित्यत्व सिद्ध करनेके लिए उन्होंने जो कारण कहा है—'सदकारणवन्नित्यम्' (सत् अकारणवाला नित्य है), वह भी ऐसा होनेसे अर्थात् परमाणुओंके भी कारण होनेसे अणुओंमें संभव नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारसे अणुओंका भी कारण है, ऐसा उपपन्न हो सकता है। और नित्यत्व सिद्ध करनेके लिए जो दूसरा कारण कहा है—'अनित्यमिति च विशेषतः' (अनित्य है, इस प्रकार विशेष रीतिसे प्रतिषेधका

रत्नप्रभा

मिति व्याप्तिग्रहकाले वायुत्वाद्यवच्छेदेन साध्यसिद्धयभावादिति भावः। परमाणवो नित्याः, सत्त्वे सति अकारणवत्त्वात्, आत्मवदिति सत्प्रतिपक्षमुत्थाप्य विशेष्यासिद्धया दूषयति—यच्च नित्यत्वे इति। सत्त्वं भावत्वं प्रागभावनिरासार्थम्। नित्यत्वप्रतिषेधः सप्रतियोगिकः, अभावत्वाद्, घटाभाववदिति नित्यस्य क्वचित् सिद्धौ कार्यम् अनित्यमिति विशेषतः कार्ये नित्यत्वप्रतिषेधात् कारणभूतपरमाणुषु नित्यत्वं सिध्यति, अन्यथा प्रतियोग्यभावे प्रतिषेधानुपपत्तिः इति कणादोक्तम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार व्याप्तिग्रहके समयमें वायुत्व आदिके अवच्छेदसे साध्यकी सिद्धिका अभाव है, ऐसा अभिप्राय है। परमाणु नित्य हैं, सत्त्वयुक्त होकर अकारणवान् होनेसे, आत्माके समान, ऐसा सत्प्रतिपक्ष उठाकर विशेष्य (अकारणत्व) की असिद्धि है, ऐसा दिखलाकर दूषित करते हैं—"यच्च" इत्यादिसे। सत्त्व—भावत्व प्रागभावका निरसन करनेके लिए है, ऐसा समझना चाहिए। नित्यत्वका प्रतिषेध प्रतियोगीवाला है, अभाव होनेसे, घटाभावके समान, इस प्रकार अनुमानसे नित्यत्वका कहीं 'कार्य अनित्य है' इस प्रकार विशेषरूपसे कार्यमें प्रतिषेध होनेसे कारणभूत परमाणुमें नित्यत्व सिद्ध होता है, अन्यथा—प्रतियोगीके अभावमें प्रतिषेध अनुपपन्न होता है, ऐसा कणादके कथनका अनुवाद करके अन्यथासिद्धिसे

भाष्य

भावः' (वै० सू० ४।१।४) इति, तदपि नाऽवश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधयति, असति हि यस्मिन् कस्मिंश्चिन्नित्ये वस्तुनि नित्यशब्देन नञः समासो नोपपद्यते । न पुनः परमाणुनित्यत्वमेवाऽपेक्ष्यते, तच्चाऽस्त्येव नित्यं परमकारणं ब्रह्म । न च शब्दार्थव्यवहारमात्रेण कस्यचिदर्थस्य प्रसिद्धिर्भवति, प्रमाणान्तरसिद्धयोः शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात् । यदपि नित्यत्वे तृतीयं

भाष्यका अनुवाद

अभाव है) वह भी अवश्य परमाणुओंका नित्यत्व सिद्ध नहीं करता, क्योंकि यदि कोई नित्य वस्तु न हो, तो नित्य शब्दके साथ नञ्का समास उपपन्न न हो । और परमाणुके नित्यत्वकी ही अपेक्षा नहीं है, तो वह नित्य परम कारण ब्रह्म है ही । और शब्दार्थव्यवहारमात्रसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अन्य प्रमाणसे सिद्ध हुए शब्दार्थ व्यवहारमें आते हैं । इसी प्रकार नित्यत्व सिद्ध करनेके लिए जो तीसरा कारण कहा है—'अविद्या च' (और

रत्नप्रभा

नूद्याऽन्यथासिद्ध्या दूषयति—यदपीति । कार्ये नित्यत्वप्रतिषेधव्यवहारम् अङ्गीकृत्य ब्रह्मणि प्रतियोगिप्रसिद्धिः उक्ता, वस्तुतस्तु विशेषव्यवहार एव असिद्धः, कारणनित्यत्वस्य प्रमाणान्तरेण ज्ञानं विना कार्यम् अनित्यमिति व्यवहारायोगादित्याह—**न च शब्देति**। यदि प्रमाणान्तरं कारणनित्यत्वे स्यात्, तदाऽयं व्यवहारः समूलो भवति, ततो मूलज्ञानात् प्राग्व्यवहारमात्रान्न वस्तुसिद्धिः, वटे यक्षव्यवहारादपि तत्सिद्धिप्रसङ्गात्, मूलज्ञाने तु तेनैव अशेषसिद्धेः व्यवहारोपन्यासवैयर्थ्यम् इति भावः। एवं परमाणुनित्यत्वे काणादसूत्रद्वयं निरस्य तृतीयं निरस्यति—**यदपीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

दूषित करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे । इस प्रकार कार्यमें नित्यत्वके प्रतिषेधका व्यवहार स्वीकार करके ब्रह्म प्रतियोगीरूपसे प्रसिद्ध है, ऐसा कहा गया है । परन्तु वस्तुतः विशेष व्यवहार ही असिद्ध है, क्योंकि कारण नित्य है ऐसा अन्य प्रमाणसे ज्ञान हुए बिना कार्य अनित्य है, यह व्यवहार नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। यदि कारणकी नित्यता सिद्ध करनेके लिए अन्य प्रमाण हो, तो यह व्यवहार समूल हो, इसलिए मूलज्ञानके पहले केवल व्यवहारमात्रसे वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि मूलप्रमाणके बिना केवल व्यवहारसे उसकी सिद्धि मानें तो वटमें यक्षके व्यवहारसे यक्षकी सिद्धि माननी पड़ेगी । मूलज्ञान होनेपर तो उसीसे सब सिद्ध होनेसे व्यवहारका उपन्यास व्यर्थ है, ऐसा तात्पर्य है । इस प्रकार परमाणुके नित्यत्वके साधक कणादके दो सूत्रोंका निरसन करके तीसरेका निरसन करते

भाष्य

कारणमुक्तम्—'अविद्या च' (वै० सू० ४।१।५) इति, तद् यद्येवं विव्रीयेत सतां परिदृश्यमानकार्याणां कारणानां प्रत्यक्षेणाऽग्रहणमविद्या—इति, ततो द्व्यणुकनित्यताऽप्यापद्येत। अथाऽद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत, तथाऽप्यकारणवत्त्वमेव नित्यतानिमित्तमापद्येत, तस्य च प्रागेवोक्तत्वात् 'अविद्या च' इति पुनरुक्तं स्यात्। अथापि कारणविभागात् कारणविनाशाच्चाऽन्यस्य तृतीयस्य विनाशहेतोरसम्भवोऽविद्या सा परमाणूनां नित्यत्वं ख्यापयतीति

भाष्यका अनुवाद

अविद्या) उसका यदि ऐसा विवरण करें कि जिसका कार्य परिदृश्यमान (सर्वतः दीखता हुआ) है, ऐसे विद्यमान कारणोंका प्रत्यक्षसे अग्रहण अविद्या है, तो द्व्यणुककी भी नित्यताका प्रसंग आवेगा। यदि 'अद्रव्ये सति' (अद्रव्य होकर) इतना विशेषण दें, तो भी अकारणवत्त्व ही नित्यताका निमित्त होगा और उसके पूर्वमें ही कथित होनेसे 'अविद्या च' यह पुनरुक्त हो जायगा। उसी प्रकार यदि कारणविभागसे या कारणविनाशसे अन्य तृतीय विनाशहेतुका असंभव अविद्या है और वह परमाणुओंका नित्यत्वस्थापन करती है,

रत्नप्रभा

सताम् अणूनां दृश्यमानस्थूलकार्याणां प्रत्यक्षेण कारणाज्ञानम् अविद्या इति यदि सूत्रार्थः, तर्हि अप्रत्यक्षकारणत्वं नित्यत्वे हेतुः स्यात्, तन्न द्व्यणुके व्यभिचाराद् इत्यर्थः। यदि आरम्भकद्रव्यशून्यत्वं हेतुविशेषणम्, तदा विशेष्यवैयर्थ्यम् आपद्येत, पुनरुक्तिश्चेत्याह—अथेत्यादिना। परमाणवो नित्याः, नाशकानुपलम्भात्, आत्मवदिति सूत्रार्थमाशङ्कते—अथापीति। तन्त्वाद्यवयवानां विभागात् नाशाद् वा पटादिनाशो दृष्टः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"यदपि" इत्यादिसे। जिनके स्थूल कार्य सर्वतः दृश्यमान हैं, ऐसे उन विद्यमान परमाणुओंके कारणका प्रत्यक्षसे अग्रहण अविद्या है, ऐसा यदि सूत्रार्थ करें, तो अप्रत्यक्ष कारणत्व नित्यत्वका हेतु होगा। वह युक्त नहीं है, क्योंकि द्व्यणुकमें नित्यत्वका व्यभिचार है। यदि उस व्यभिचारको दूर करनेके लिए अद्रव्य होकर अर्थात् आरंभक द्रव्य जिसका नहीं है, ऐसा होकर इतना हेतुमें विशेषण अधिक दें, अर्थात् जिसका आरंभक द्रव्य न हो, उसके कारणका प्रत्यक्षसे अग्रहण अविद्या है, ऐसी व्याख्या करें, तो 'कारणका प्रत्यक्षसे अग्रहण' यह विशेष्य व्यर्थ हो जायगा। और अकारणवत्त्व ही नित्यत्वका निमित्त होगा, इससे पुनरुक्ति होगी, ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। परमाणु नित्य हैं, नाशके उपलब्ध न होनेसे, आत्माके समान, इस प्रकार सूत्रके अर्थकी आशंका करते हैं—"अथापि" इत्यादिसे। तन्तु आदि अवयवोंके

भाष्य

व्याख्यायेत, नाऽवश्यं विनश्यद्वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्यां विनष्टुमर्हतीति नियमोऽस्ति, संयोगसचिवे ह्यनेकस्मिंश्च द्रव्ये द्रव्यान्तरस्याऽऽरम्भकेऽभ्युपगम्यमाने एतदेवं स्यात्। यदा त्वपास्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानमारम्भकमभ्युपगम्यते, तदा घृतकाठिन्यविलयनवन्मू-

भाष्यका अनुवाद

ऐसी व्याख्या करो, तो विनष्ट होनेवाली वस्तु अवश्य दो ही हेतुओंसे विनष्ट होने योग्य है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि संयोगसहित अनेक द्रव्योंको अन्य द्रव्यका आरंभक स्वीकार करें, तो यह सिद्ध हो। परन्तु जिसमेंसे विशेष दूर हो गया है, ऐसा सामान्यात्मक कारण विशेषयुक्त अवस्थान्तर प्राप्त करनेवाले आरंभकरूपसे स्वीकार किया जाय, तो घीके काठिन्यके नाशके समान मूर्त्त अवस्थाके विलयसे

रत्नप्रभा

तच्च द्वयं निरवयवाणूनां नास्तीति नित्यत्वम् इत्यर्थः। परिणामवादम् आश्रित्य अणूनां नाशकं किञ्चित् सम्भवतीति परिहरति—नेति। अवयवानां संयोगेन द्रव्यान्तरोत्पत्तिः—आरम्भ इति यदि मतं स्यात्, तदा द्रव्यविनाशो द्वाभ्यामेव इति नियमः स्यात्, न आरम्भे मानमस्ति, संयुक्ततन्त्वन्यपटादर्शनात्, अतः कारणमेव स्वतो निर्विशेषं विशेषवदवस्थात्मना कार्यमिति अनुभवबलाद् आस्थेयम्। तथा च अणूनाम् अपि अविद्यापरिणामरूपाणां प्रलयनिमित्तेन कालादिना पिण्डात्मकस्वरूपतिरोभावेन कारणभावापत्तिः विनाश उपपद्यते। यथा अग्निसम्पर्काद् घृतकाठिन्यम् अवयवसंयोगस्य अवयवानां च नाशं विनैव लीयते, तद्वत्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

विभागसे या नाशसे पट आदिका नाश देखा जाता है, वे दोनों विभाग और नाश निरवयव अणुओंमें नहीं हैं, अतः परमाणु नित्य हैं, ऐसा अर्थ है। परिणामवादका आश्रयण करनेसे अणुओंका नाशक कोई एक हो सकता है, इस प्रकार परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। अवयवोंके संयोगसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति—आरंभ है, ऐसा यदि मत हो, तो द्रव्यविनाश दोसे ही हो सकता है, ऐसा नियम हो, परन्तु आरंभमें प्रमाण नहीं है, क्योंकि संयुक्त तन्तुओंसे अन्य पट दिखाई नहीं देता। इसलिए कारण ही जो स्वरूपसे निर्विशेष है, वही विशेष अवस्था में कार्य है, ऐसा अनुभवबलसे मानना ही पड़ेगा। उसी प्रकार अणु जो अविद्याके परिणामरूप हैं, उनके प्रलयनिमित्त काल आदिसे पिंडात्मक स्वरूपके तिरोभाव—अदृश्य होनेसे कारणभावकी प्राप्तिरूप विनाश उपपन्न होता है, जैसे अग्निसंपर्कसे घृतकाठिन्यका, अवयव संयोगका या

भाष्य

त्यवस्थाविलयनेनापि विनाश उपपद्यते । तस्माद् रूपादिमत्त्वात् स्यादभिप्रेतविपर्ययः परमाणूनाम्, तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

भी विनाश उपपन्न हो सकता है[1]। इसलिए रूपादियुक्त होनेसे परमाणु जैसे माने गये हैं, उससे विपरीत होगा, इससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

न च काठिन्यस्य संयोगविशेषत्वेन गुणत्वाद् द्रव्यनाशेऽनुदाहरणत्वमिति शङ्क्यम् । गुणवद् द्रव्यस्याऽपि कुतश्चिद् विनाश इत्यंशेन उदाहरणात्, गुणपरिभाषायाश्च अतन्त्रत्वात् । वस्तुतस्तु घृतं कठिनं द्रवमिति अनुस्यूतघृतपरिणामविशेषो द्रव्यमेव काठिन्यम् । न च द्रव्यत्वेऽपि अवयवविभागादेव तस्य नाश इति वाच्यम् । घृतस्य परिणामिन एकत्वेन विभागासम्भवात्, परमाणुकाठिन्यनाशे तदसम्भावाच्चेति भावः । किञ्च, प्रलये 'नासीद्रजो' 'नान्यत् किञ्चन' इति अणूनां नाशसिद्धिः। तस्मात् न तेषां परमकारणत्वम् इत्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवयवोंका नाश हुए बिना लय होता है, उसके समान। काठिन्य संयोगविशेष होनेसे गुण है, इससे द्रव्यके नाशमें उसका उदाहरणरूपसे उपन्यास युक्त नहीं है—ऐसी शंका न करनी चाहिए, क्योंकि गुणके समान द्रव्यका भी चाहे जिस किसी कारणसे विनाश होता है, इस अंशमें उदाहरण है, और गुण परिभाषा अतंत्र है। वास्तवमें तो घृत कठिन है, द्रव्य है, इस प्रकार घृत परिमाण विशेषसे युक्त द्रव्य ही काठिन्य है। द्रव्य होनेसे अवयवविभागसे ही उसका नाश होता है, ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि परिणामी घृतके एक होनेसे उसका विभाग नहीं हो सकता। और परमाणुके काठिन्यनाशसे भी विभागका संभव नहीं है, ऐसा तात्पर्य है। और प्रलयमें [नासीद्रजः' 'नान्यत् किंचन'] 'रज–धूली नहीं थी' 'अन्य कुछ नहीं था, इस प्रकार अणुके नाशकी सिद्धि है, इसलिए अणु परमकारण नहीं है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे ॥१५॥

(१) तात्पर्य यह है—यदि संयोग सहित बहुत द्रव्य अन्य द्रव्योंको उत्पन्न करें, यह प्रक्रिया सिद्ध हो तो दो द्रव्य ही उसके विनाशके कारण हैं, ऐसा सिद्ध हो, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि द्रव्यके स्वरूपका इसमें परिज्ञान नहीं है। तन्तु है, ऐसा आधार जिसके तन्तुसे व्यतिरिक्त पट नामका पदार्थ नहीं है, जो संयोगसहित तन्तुओंसे उत्पन्न हो। कारण ही विशेषयुक्त अन्य अवस्थाको प्राप्त हुआ कार्य है, और वह सामान्यात्मक है, क्योंकि मृत्तिका या सुवर्ण घट, रुचक आदि कार्योंमें अनुगत सामान्यरूपसे अनुभवमें आते हैं, और ये घट, रुचक आदि मृत्तिका या सुवर्णसे भिन्न नहीं हैं, इसलिए मृत्तिका और सुवर्ण ही उस उस आकारसे परिणत होते हुए घट रुचक, कपाल, शर्करा, कण और शकल, कणिका और चूर्ण कहलाते हैं, क्योंकि वहां वहां उपादानकारण मृत्तिका और सुवर्णका प्रत्यभिज्ञान होता है, परन्तु घटादिका कपालादिमें, या कपालादिका घटादिमें,

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

पदच्छेद—उभयथा, च, दोषात् ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, उभयथा—पृथिव्यादिपरमाणवः किम् उपचितानुपचितगुणात्मकाः कल्प्यन्ते न वा ? प्रथमे अणुत्वव्याघातः, उपचितानुपचितगुणात्मकपृथिव्यादेः स्वरूपोपचयदर्शनात्; द्वितीये तत्कार्यपृथिव्यादिषु रूपाद्यनुपलम्भप्रसङ्ग इति पक्षद्वयेऽपि, दोषात्—दोषसद्भावात्, [अनुपपन्नः परमाणुकारणवादः]

भाषार्थ—पृथिवी आदिके परमाणु अधिक गुणवाले और न्यून गुणवाले माने जाते हैं अथवा नहीं ? प्रथम पक्षमें अणुत्वकी हानि हो जायगी, क्योंकि अधिक तथा न्यून गुणवाले पृथिवी आदिके स्वरूपका उपचय देखा जाता है, दूसरे पक्षमें परमाणुसे उत्पन्न हुए पृथिवी आदिमें रूप आदिके अभावका प्रसंग होगा । इस प्रकार दोनों पक्षोंमें परमाणुकारणवाद सङ्गत नहीं है ।

या रुचकादिका शकलादिमें, या शकलादिका रुचकादिमें, प्रत्यभिज्ञान नहीं होता—जाननेमें नहीं आता जहां कार्यकारणभाव होता हो, इसलिए उपजन और अपाय जिसके धर्म हैं, ऐसी विशेष अवस्था सामान्यकी (कारणकी) स्वीकार करनी चाहिए । सामान्यस्वरूप तो उपादान है । ऐसी अवस्था होनेसे जैसे सुवर्णद्रव्य काठिन्य अवस्था को छोड़कर द्रव अवस्थामें परिणत होता है, उसमें अवयव विभाग है, तो भी द्रवत्वका कारण नहीं है, क्योंकि तुम्हारे मतानुसार परमाणुमें विभागके अभावसे द्रवत्व अनुपपन्न होगा, इसलिए जैसे परमाणुद्रव्य अग्निसंयोगसे काठिन्यका त्यागकर द्रवत्वमें परिणत होता है, परन्तु काठिन्य और द्रवत्व परमाणुसे अतिरिक्त नहीं हैं, इसी प्रकार मृत्तिका या सुवर्ण सामान्यपिण्डावस्थाका त्यागकर कुलाल, सुवर्णकार आदिके व्यापारसे घट, रुचक आदि अवस्था प्राप्त करते हैं । परन्तु अवयव विनाशसे या अवयवसंयोगविनाशसे घट, रुचक आदिका विनाश होना युक्त नहीं है । कपालादि उसके उपादान नहीं हैं, या उनका संयोग असमवायिकारण नहीं है, किन्तु सामान्य ही उपादान है, और वह नित्य है । वह संयोगसहित नहीं है, क्योंकि वह एक है, और संयोग तो द्विष्ठ—दो में रहनेवाला—होनेसे एकमें नहीं रहता । इसलिए सामान्य परमार्थरूपसे विद्यमान है, इस अधिष्ठानकी अनिर्वाच्य विशेष अवस्था उपजन और अपायधर्मवाली है, जैसे भुजङ्गादि रज्जु आदि उपादानवाले और अधिष्ठानवाले हैं, वैसे, यह भी स्वीकार करना युक्त है । अवयव संयोग असमवायीकारण है, यह तार्किकपरिभाषा अप्रयोजक है । यद्यपि पटादिकार्यस्थलमें अनेक अवयवोंका संयोग उपलब्ध होता है, तो भी पटका कारण नहीं है, क्योंकि तन्तुसंयोग और पट समानकालीन देखे जाते हैं, इससे कार्यकारणभावमें जो पूर्वापरभाव आवश्यक है, उसकी यहां कल्पना निर्मूल है, इसी प्रकार संयोगनाशसे पटनाश है, ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती, क्योंकि वह भी समानकालीन ही उपलब्ध होता है । निश्चय घटादिकार्यस्थलमें दो कपालोंका संयोग घटोत्पत्तिके पूर्व अनुभवमें नहीं आता । कुलाल दो कपालोंको बनाकर जोड़ नहीं देता, किन्तु पिंडको ही विस्तार विशेषसे घटावस्थामें परिणत करता है । उसमें कपालद्वयसंयोगनाश घटनाशका हेतु नहीं है, क्योंकि मुद्गरके प्रहारसे घटनाश और संयोगनाश एक ही समय उत्पन्न हो सकता है, इस कारणसे आरम्भवाद प्रतीतिविरुद्ध है, वह युक्तिविरुद्ध है ऐसा तो "युक्तेः शब्दान्तराच्च" इसमें दिखलाया है । इसलिए एक ही द्रव्य उत्तर अवस्था प्राप्त करे, उत्तर अवस्थामें आये हुए द्रव्यकी उत्पत्ति और पूर्व अवस्थाके द्रव्यका नाश ऐसा स्वीकार करना चाहिए, इसी प्रकारसे परमाणुकी अवस्थाको प्राप्त हुए मूलकारणका प्रलयमें कारणविशेषसे गन्धादि अवस्थाओंके नाशके साथ मूर्त्तत्व अवस्थाके भी नाशका सम्भव है, इससे परमाणुकी नित्यता सिद्ध नहीं होती ॥१५॥

भाष्य

गन्धरसरूपस्पर्शगुणा स्थूला पृथिवी, रूपरसस्पर्शगुणाः सूक्ष्मा आपः, रूपस्पर्शगुणं सूक्ष्मतरं तेजः, स्पर्शगुणः सूक्ष्मतमो वायुरित्येवमेतानि चत्वारि भूतान्युपचितापचितगुणानि स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमतारतम्योपेतानि च लोके लक्ष्यन्ते, तद्वत् परमाणवोऽप्युपचितापचितगुणाः कल्प्येरन्न वा ? उभयथापि च दोषानुषङ्गोऽपरिहार्य एव स्यात्। कल्प्यमाने तावदुपचितापचितगुणत्वे उपचितगुणानां मूर्त्युपचयादपरमाणुत्वप्रसङ्गः। न चाऽन्तरेणाऽपि मूर्त्युपचयं गुणोपचयो भवतीत्युच्यते, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्यु-

भाष्यका अनुवाद

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुणवाली पृथ्वी स्थूल है, रूप, रस और स्पर्श गुणवाला जल सूक्ष्म है, रूप और स्पर्श गुणवाला तेज सूक्ष्मतर है और स्पर्श गुणवाला वायु सूक्ष्मतम है, इस प्रकार ये चार भूत अधिक और न्यून गुणवाले एवं स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तारतम्यसे युक्त लोकमें देखे जाते हैं। इसी प्रकार—स्थूल, सूक्ष्म पृथ्वी, जल आदिके समान उनके परमाणु भी अधिक और न्यून गुणोंसे युक्त हैं, ऐसी कल्पनाकी जाती है या नहीं ? कल्पना करें या न करें, दोनों प्रकारोंमें दोषकी प्राप्तिका परिहार नहीं किया जा सकता। उपचित और अपचित गुणवाले परमाणुओंकी यदि कल्पना की जाय, तो उपचित गुणवाले परमाणुओंकी मूर्तिके उपचयसे उनमें परमाणुत्वकी हानिका प्रसंग आवेगा। मूर्त्तिके उपचयके बिना भी गुणका उपचय होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कार्य भूतोंमें गुणके उपचय होनेपर मूर्तिका उपचय

रत्नप्रभा

यद् यस्माद् अधिकगुणवत्, तत् तस्मात् स्थूलमिति व्याप्तिम् उक्त्वा विकल्पयति—तद्वदिति। पार्थिवः परमाणुः अधिकगुणः, तत एकैकन्यूनगुणा जलादि परमाणव इति कल्प्यते न वा ? आद्ये दोषमाह—कल्प्यमाने इति। मूर्त्युपचयात्—स्थौल्याद् इत्यर्थः। पार्थिवोऽणुः आप्यात् स्थूलः, अधिकगुणत्वाद्, घटवदित्येवं प्रयोक्तव्यः। अप्रयोजकत्वं निरस्यति—न चाऽन्तरेणेति। दृष्ट-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो जिससे अधिक गुणवान् होता है, वह उससे स्थूल होता है, ऐसी व्याप्ति कहकर विकल्प करते हैं—"तद्वत्" इत्यादिसे। पृथिवीके परमाणु अधिक गुणवाले हैं, और जल आदिके परमाणुओंमें उसकी अपेक्षा क्रमशः एक एक गुण न्यून है, ऐसी कल्पना की जाती है, या नहीं ? प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं—"कल्प्यमाने" इत्यादिसे। मूर्त्तिके उपचयसे—स्थूलतासे, ऐसा अर्थ है। पृथिवीके अणु जलके अणुओंसे स्थूल हैं, क्योंकि वे अधिक गुणवाले हैं, घटके समान, ऐसा अनुमानका प्रयोग करना चाहिए। गुणोंका उपचय, यह हेतु अप्रयोजक है, इसलिए द्रव्यके उपचयका प्रयोजक नहीं, ऐसी शंकाका निरसन करते हैं—"न चान्तरेण" इत्यादिसे। ऐसा माननेसे दृष्टविरोध—जो व्यवहारमें दिखाई देता है, उससे विरोध होगा।

भाष्य

पचयदर्शनात् । अकल्प्यमाने तूपचितापचितगुणत्वे परमाणुत्वसाम्य-प्रसिद्धये यदि तावत् सर्वे एकैकगुणा एव कल्प्येरन्, ततस्तेजसि स्पर्शस्योपलब्धिर्न स्यात्, अप्सु रूपस्पर्शयोः, पृथिव्यां च रसरूपस्पर्शानाम्, कारण-गुणपूर्वकत्वात् कार्यगुणानाम् । अथ सर्वे चतुर्गुणा एव कल्प्येरन्, ततोऽप्स्वपि गन्धस्योपलब्धिः स्यात्, तेजसि गन्धरसयोः, वायौ गन्धरूपरसानाम् । न चैवं दृश्यते । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१६॥

भाष्यका अनुवाद

देखा जाता है । यदि उपचित और अपचित गुणवाले परमाणुओंकी कल्पना न की जाय, और परमाणुत्वकी समताकी सिद्धिके लिये सब परमाणु एक एक गुणयुक्त माने जायँ, तो तेजमें स्पर्शकी उपलब्धि नहीं होगी, तथा जलमें रूप और स्पर्शकी पृथ्वीमें रस, रूप और स्पर्शकी उपलब्धि नहीं होगी, क्योंकि कार्यके गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं अर्थात् कारणके गुणही कार्यमें आते हैं । यदि सब भूत चार गुणवाले हैं, ऐसी कल्पना करें, तो जलमें भी गन्धकी उपलब्धि होनी चाहिए, तेजमें गन्ध और रसकी और वायुमें गन्ध, रूप और रसकी उपलब्धि होनी चाहिए । परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता । इसलिए भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ॥ १६ ॥

रत्नप्रभा

विरोधः स्यादिति भावः । नेति पक्षे सर्वेषाम् अणूनां साम्यार्थम् एकैकगुणत्वं वा स्यात् चतुर्गुणत्वं वा ? उभयथापि दोषमाह—अकल्प्यमाने त्वित्यादिना ॥१६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

परमाणुके गुणोंमें उपचय या अपचय नहीं होता, इस पक्षमें सब अणुओंके एक समान होनेके लिए सभी परमाणु एक एक गुणवाले या चार चार गुणवाले मानने पड़ेंगे । दोनों पक्षोंमें दोष कहते हैं—"अकल्प्यमाने तु" इत्यादिसे ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

पदच्छेद—अपरिग्रहात्, च, अत्यन्तम्, अनपेक्षा ।

पदार्थोक्ति—अपरिग्रहात्—परमाणुकारणवादस्य केनचिदप्यंशेन कैश्चिदपि शिष्टैरनङ्गीकारात्, च—अपि, [तत्र] अत्यन्तमनपेक्षा [कार्या श्रेयोऽर्थिभिः] ।

भाषार्थ—मनु आदि शिष्टोंसे किसी भी अंशसे परमाणुकारणवादके अंगीकार न करनेसे भी उसमें कल्याणार्थी पुरुषोंको अत्यन्त हेय बुद्धि करनी चाहिए ।

भाष्य

प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवनाभिप्रायेणोपनिबद्धः । अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवाऽनादरणीयो वेदवादिभिः । अपि च वैशेषिकास्तन्त्रार्थभूतान् षट् पदार्थान् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यानत्यन्तभिन्नान् भिन्नलक्षणानभ्युपगच्छन्ति, यथा मनुष्योऽश्वः शश इति । तथात्वं चाऽभ्युपगम्य तद्विरुद्धं द्रव्याधीनत्वं शेषाणामभ्युप-

भाष्यका अनुवाद

कितनेही मनु आदि वेदवेत्ताओंने प्रधानकारणवाद सत्कार्यत्व आदि अंशोंका उपजीवन करता है, इस अभिप्रायसे उसको अपनी स्मृतिमें स्थान दिया है अर्थात् सत्कार्यवाद सत्कार्यत्व, आत्माका असंगत्व, चिद्रूपत्व आदि अंशोंमें अपने सिद्धान्तका अनुसरण करता है, इस कारण मन्वादियोंने तत् तत् अंशोकी दृष्टिसे उसका अपनी स्मृतिमें संग्रह किया है। परन्तु परमाणु कारणवाद किन्हीं भी शिष्टों द्वारा किसी भी अंशमें स्वीकृत नहीं है, इसलिए वेदवादियोंसे अत्यन्त ही अनादरणीय है । और वैशेषिक अपने शास्त्रके अर्थभूत—प्रतिपाद्यरूप द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामके मनुष्य, अश्व और शशके समान अत्यन्त भिन्न और भिन्न लक्षणवाले छः पदार्थोंका स्वीकार करते हैं । और इस प्रकार

रत्नप्रभा

न केवलमणुवादस्याऽयुक्तत्वात् उपेक्षा, किन्तु शिष्टबहिष्कृतत्वात् ग्रन्थतोऽर्थतश्च अग्राह्यत्वम् इत्याह—**अपरिग्रहाच्चेति** । चकारार्थं प्रपञ्चयितुम् उपक्रमते—**अपि चेति** । अत्यन्तभेदज्ञापकमाह—**भिन्नलक्षणानिति** । द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वजातयो लक्षणानि गुणाश्रयत्वाद्युपाधयो वा । निर्गुणत्वे सति जातिमत् अक्रियत्वम्—गुणलक्षणम् । संयोगविभागयोः निरपेक्षकारणम्—कर्म । नित्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अणुवादके केवल अयुक्त होनेसे वह उपेक्षणीय—अनादरणीय है, सो बात नहीं है, किन्तु शिष्टोंसे बहिष्कृत होनेसे भी वह ग्रन्थसे और अर्थसे अग्राह्य है, ऐसा कहते हैं—"अपरिग्रहाच्च" इत्यादिसे । चकारके अर्थका विस्तार करनेके लिए भूमिका रचते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । उनमें परस्पर भिन्नताके ज्ञापक कहते हैं—"भिन्नलक्षणान्" इत्यादिसे । द्रव्य, गुण और कर्मके द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व जाति लक्षण हैं । अथवा गुणाश्रयत्व आदि उपाधि ही लक्षण हैं अर्थात् जो गुणाश्रय है वह द्रव्य है, जो निर्गुण होकर जातिमान् और क्रियारहित है वह गुण है, जो संयोग और विभागका निरपेक्ष कारण है, वह कर्म है, नित्य, एक और अनेकमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला सामान्य है,

भाष्य

गच्छन्ति, तन्नोपपद्यते। कथम्? यथा हि लोके शशकुशपलाशप्रभृतीनामत्यन्तभिन्नानां सतां नेतरेतराधीनत्वं भवति, एवं द्रव्यादीनामप्यत्यन्तभिन्नत्वान्नैव द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां भवितुमर्हति। अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणादीनाम्, ततो द्रव्यभावे भावाद्, द्रव्याभावेऽभावाद् द्रव्यमेव संस्थाना-

भाष्यका अनुवाद

मानकर उसके विरुद्ध शेष सभी पदार्थ द्रव्यके अधीन हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं। परन्तु उनका यह पक्ष उपपन्न नहीं है। किस प्रकार? लोकमें जैसे शश, कुश, पलाश आदि अत्यन्त भिन्न होनेसे, अन्योन्यके अधीन नहीं होते हैं, उसी प्रकार द्रव्य आदिके भी परस्पर अत्यन्त भिन्न होनेसे गुण आदि द्रव्यके अधीन नहीं होते। और गुण आदि द्रव्याधीन होते हैं, क्योंकि द्रव्यके अस्तित्वमें

रत्नप्रभा

मेकम् अनेकसमवेतम्—सामान्यम्। नित्यद्रव्यवृत्तयः—विशेषाः। नित्यः सम्बन्धः—समवाय इति भिन्नानि लक्षणानि। तैर्मिथोऽत्यन्तभेदसिद्धिः इत्यर्थः। तथात्वम्—अत्यन्तभिन्नत्वम्, तेन विरुद्धो यो धर्मधर्मिभावः। गुणादयो न द्रव्यधर्माः स्युः, ततोऽत्यन्तभिन्नत्वात् शशकुशादिवद् इत्यर्थः। भेदे बाधकमुपन्यस्य अभेदमाह—**अथ भवतीति**। गुणादिषु तदधीनत्वं तावत् अन्वयव्यतिरेकसिद्धम्। तथा च गुणादयो द्रव्याभिन्नाः, द्रव्याधीनत्वाद्, यद् यस्माद् भिन्नं तत् न तदधीनम्, यथा शशभिन्नः कुश इत्यर्थः। अभेदे द्रव्यं गुण इति शब्दप्रत्ययभेदः कथम्, तत्राह—**द्रव्यमिति**। कल्पितभेदोऽपि अस्तीति आशयः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

नित्य द्रव्यमें रहनेवाला विशेष है और नित्य सम्बन्ध समवाय है, इस प्रकार उनके लक्षण भिन्न हैं। और इन लक्षणोंके भेदसे द्रव्य आदि परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, ऐसा सिद्ध होता है। तथात्व—द्रव्य आदिकी अत्यन्त भिन्नता। उससे—पूर्व कथनसे विरुद्ध जो धर्मधर्मिभाव है, वह [उपपन्न नहीं होता]। गुण आदि द्रव्यधर्म नहीं है, द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न होनेसे, शश, कुश आदिके समान, ऐसा अर्थ है। भेदमें द्रव्याधीनत्वरूप बाधकका उपन्यास करके—यदि द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न गुण आदि हों तो गुण आदि द्रव्याधीन नहीं होंगे, इस प्रकार भेदमें गुण आदिका द्रव्याधीनत्व बाधक है, ऐसा दिखलाकर अभेद कहते हैं—"अथ भवति" इत्यादिसे। गुण आदि द्रव्यके अधीन हैं, यह बात अन्वय और व्यतिरेकसे सिद्ध है ऐसा दिखलाते हैं, गुण आदि द्रव्यसे अभिन्न हैं, द्रव्याधीन होनेसे, जो जिससे भिन्न है, वह उसके अधीन नहीं होता, जैसे शशभिन्न कुश, ऐसा अर्थ है। यदि द्रव्य और गुण आदि अभिन्न हों, तो द्रव्य और गुण इस प्रकार शब्दभेद और प्रतीतिभेद किस प्रकार होगा? इसपर कहते हैं—"द्रव्यम्" इत्यादिसे।

भाष्य

दिभेदादनेकशब्दप्रत्ययभाग् भवति । यथा देवदत्त एक एव सन्नवस्थान्तरयोगादनेकशब्दप्रत्ययभाग् भवति, तद्वत् । तथा सति साङ्ख्यसिद्धान्तप्रसङ्गः स्वसिद्धान्तविरोधश्चाऽऽपद्येयाताम् ।

नन्वग्नेरन्यस्यापि सतो धूमस्याऽग्न्यधीनत्वं दृश्यते । सत्यं दृश्यते, भेदप्रतीतेस्तु तत्राऽग्निधूमयोरन्यत्वं निश्चीयते, इह तु शुक्लः कम्बलः,

भाष्यका अनुवाद

उनका अस्तित्व और द्रव्यके अभावमें अभाव होता है। इसलिए संस्थानादि भेदसे द्रव्य ही अनेक शब्द और प्रतीतिवाला होता है। जैसे कि देवदत्त एक ही होता हुआ भी अन्य अवस्थाके योगसे अनेक शब्द और प्रतीतिवाला होता है। ऐसी परिस्थितिमें सांख्यसिद्धान्तका प्रसंग और स्वसिद्धान्तका विरोध प्राप्त होगा।

परन्तु अग्निसे अन्य होनेपर भी धूम अग्निके अधीन दिखाई देता है। ठीक है, दिखाई देता है, परन्तु भेदप्रतीतिसे उस स्थलमें अग्नि और धूम अन्य हैं, ऐसा निश्चय होता है। परन्तु यहां शुक्ल कम्बल, लाल

रत्नप्रभा

अन्यथा अत्यन्तभेदवदत्यन्ताभेदेऽपि धर्मधर्मित्वायोगादिति मन्तव्यम् । अस्तु गुणादीनां द्रव्यतादात्म्यमिति वदन्तं तार्किकम्मन्यं प्रत्याह—तथा सतीति । सांख्योऽत्र वेदान्ती ग्राह्यः । यद्वा, कापिलस्याऽपि तादात्म्यसिद्धान्त इति सांख्यग्रहणम् । यद्यपि तदधीनत्वम्—तद्धर्मत्वम्, तच्च धूमे नास्ति, अग्निं विनापि भावात्, तथापि तत्कार्यत्वं तदधीनत्वं मत्वा व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति । कार्यत्वमन्यत्वं चाऽङ्गीकरोति—सत्यमिति । तथापि तादात्म्येन प्रती-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कल्पित भेद भी है ऐसा आशय है, क्योंकि ऐसा न हो, तो जैसे अत्यन्त भेदमें धर्मधर्मिभाव नहीं होता है, वैसे ही अत्यन्त अभेदमें भी द्रव्य और गुण आदिमें धर्म और धर्मित्व युक्त नहीं होगा, ऐसा समझना चाहिए। गुण आदि द्रव्यस्वरूप हों, इस प्रकार गुण आदिका द्रव्यसे तादात्म्य कहते हुए अपनेको तार्किक माननेवालेके प्रति कहते हैं—"तथा सति" इत्यादिसे। सांख्यपदसे यहाँपर वेदान्तीका ग्रहण करना चाहिए। अथवा कापिलोंका भी गुण और द्रव्यका तादात्म्य है, ऐसा सिद्धान्त है, यह सोचकर सांख्यका ग्रहण है। यद्यपि द्रव्याधीनत्व द्रव्यधर्मत्व है, वह धूममें नहीं है, क्योंकि वह अग्निका धर्म नहीं है, तो भी तदधीनत्व तत्कार्यत्व है—(उसके अधीन अर्थात् उसका कार्य) ऐसा समझकर व्यभिचारकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। धूम अग्निका कार्य है और अग्निसे अन्य है, ऐसा स्वीकार करते हैं—

भाष्य

रोहिणी धेनुः, नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तस्य तेन तेन विशेषणेन प्रतीयमानत्वान्नैव द्रव्यगुणयोरग्निधूमयोरिव भेदप्रतीतिरस्ति, तस्माद् द्रव्यात्मकता गुणस्य। एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता।

गुणादीनां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादिति यद्युच्येत, तत्पुनरयुतसिद्धत्वमपृथग्देशत्वं वा स्यादपृथक्कालत्वं वाऽपृथक्स्वभावत्वं वा, सर्वथापि नोपपद्यते। अपृथग्देशत्वे तावत् स्वाभ्युपगमो विरुध्येत।

भाष्यका अनुवाद

गाय, नील कमल, इस प्रकार तत् तत् द्रव्यकी उस उस विशेषसे प्रतीति होनेसे अग्नि और धूमके समान द्रव्य और गुणकी भेदप्रतीति नहीं है। इसलिए गुण द्रव्यात्मक है। इसीसे कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय द्रव्यात्मक है, ऐसा व्याख्यान हुआ।

गुण आदि द्रव्यके अधीन हैं, क्योंकि द्रव्य और गुण अयुत सिद्ध हैं, ऐसा यदि कहा जाय, तो वह अयुतसिद्धत्व अपृथक्देशत्व है या अपृथक्कालत्व है अथवा अपृथक्स्वभावत्व है, सर्वथा ही वह उपपन्न नहीं होता। जो पृथग्देशमें न हो, वह अयुतसिद्ध है, ऐसा यदि अयुतसिद्धत्वको मानें तो अपने सिद्धान्तसे विरोध होगा। किस प्रकार ? क्योंकि तन्तुमें उत्पन्न

रत्नप्रभा

यमानत्वस्य हेतोः विवक्षितत्वात् न व्यभिचार इत्याशयः। अस्य हेतोः अन्यथासिद्धिम् आशङ्कते—गुणादीनामिति। गुणादीनां द्रव्येण अभेदाभावेऽपि अयुतसिद्धत्वेन तादात्म्यप्रतीतिसिद्धिः इत्यर्थः। दूषयितुं विकल्पयति—तत्पुनरिति। शौक्ल्यस्य पटनिष्ठत्वात् पटस्य तन्तुदेशत्वात् पटशौक्ल्ययोः अपृथग्देशत्वाभावात् शुक्लः पट इति सामानाधिकरण्यप्रतीतिः न स्यादिति आद्यं दूषयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सत्यम्" इत्यादिसे। तो भी तादात्म्यसे प्रतीयमान होना—तत्स्वरूपसे प्रतीत होना, इस हेतुके विवक्षित होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसा आशय है। इस हेतुकी अन्यथासिद्धिकी आशङ्का करते हैं—"गुणादीनाम्" इत्यादिसे। यद्यपि गुण आदि द्रव्यसे अभिन्न नहीं हैं, तथापि अयुतसिद्ध होनेसे उनमें तादात्म्यप्रतीति सिद्ध है, ऐसा अर्थ है। इसे दूषित करनेके लिए विकल्प करते हैं—"तत्पुनः" इत्यादिसे। शुक्लत्व पटमें रहता है और पट तन्तुओंमें रहता है, इसलिए पट और शुक्लत्वमें एकदेशत्वका अभाव है अर्थात् पट और शुक्लत्व दोनोंके समानदेशमें स्थित न होनेसे 'शुक्लः पटः, (शुक्ल पट) ऐसी सामानाधिकरण्यप्रतीति

भाष्य

कथम् ? तन्त्वारब्धो हि पटस्तन्तुदेशोऽभ्युपगम्यते, न पटदेशः। पटस्य तु गुणाः शुक्लत्वादयः पटदेशा अभ्युपगम्यन्ते न तन्तुदेशाः। तथा चाऽऽहुः—'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (वै० सू० १।१।१०) इति। तन्तवो हि कारणद्रव्याणि कार्यद्रव्यं पटमारभन्ते, तन्तुगताश्च गुणाः शुक्लादयः कार्यद्रव्ये पटे शुक्लादिगुणान्तरमारभन्ते इति हि तेऽभ्युपगच्छन्ति। सोऽभ्युपगमो द्रव्यगुणयोरपृथग्देशत्वेऽभ्युपगम्यमाने बाध्येत। अथाऽपृथक्कालत्वमयुतसिद्धत्वमुच्येत, सव्यदक्षिणयोरपि गोविषाणयोरयुतसिद्धत्वं प्रसज्येत। तथाऽपृथक्स्वभावत्वे त्वयुतसिद्धत्वे न द्रव्यगुणयोरात्मभेदः संभवति, तस्य तादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वात्।

भाष्यका अनुवाद

हुआ पट तन्तुदेश माना जाता है, पटदेश नहीं माना जाता, परन्तु पटके शुक्ल आदि गुण पटदेश माने जाते हैं, तन्तुदेश नहीं माने जाते। वैशेषिक कहते हैं—'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते०' (द्रव्य अन्य द्रव्य उत्पन्न करते हैं और गुण अन्य गुण), क्योंकि कारणद्रव्य तन्तु कार्यद्रव्य पटको उत्पन्न करते हैं और तन्तुगत शुक्ल आदि गुण कार्यद्रव्य पटमें शुक्ल आदि अन्य गुणोंको उत्पन्न करते हैं, ऐसा वे मानते हैं। द्रव्य और गुणको अपृथग्देश स्वीकार करनेसे उक्त सिद्धान्त बाधित हो जायगा। यदि जो पृथक्काल न हो वह अयुतसिद्ध है ऐसा यदि अयुतसिद्धत्व कहो, तो गायके बायें और दायें सींग अयुतसिद्ध हैं, ऐसा प्राप्त हो जायगा। उसी प्रकार जिसका स्वभाव पृथक् न हो, वह अयुतसिद्ध है, ऐसा यदि अयुतसिद्धत्व मानें, तो द्रव्य और गुणका स्वरूपभेद नहीं हो सकता, क्योंकि गुण और द्रव्यकी तादात्म्यसे प्रतीति होती है।

रत्नप्रभा

अपृग्थदेशत्व इति। काणादसूत्रद्वयं व्याचष्टे—तन्तवो हीति। स्वभावो हि स्वरूपम्, तस्याऽपृथक्त्वेऽस्मदिष्टाऽभेदसिद्धिरित्याह—अपृथक्स्वभावत्व इति। अभेदे युक्तिमाह—तस्येति। गुणस्य इत्यर्थः। एवं षट् पदार्थाः अत्यन्तभिन्ना इति सिद्धान्तोऽनुभवविरोधेन दूषितः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

न होगी। इस प्रकार प्रथम पक्षको दूषित करते हैं—"अपृथक्देशत्व" इत्यादिसे। कणादके दो सूत्रोंका व्याख्यान करते हैं—"तन्तवो हि" इत्यादिसे। स्वभाव अर्थात् स्वरूपको अपृथक्—एक माननेपर हमको जो अभेद इष्ट है, उसकी सिद्धि होगी, ऐसा कहते हैं—"अपृथक्स्वभावत्वे" इत्यादिसे। अभेदमें युक्ति कहते हैं—"तस्य" इत्यादिसे। तस्य अर्थात् गुणके। इस प्रकार छः पदार्थ अत्यन्तभिन्न हैं, यह सिद्धान्त अनुभवविरुद्ध होनेसे दूषित किया गया।

भाष्य

युतसिद्धयोः सम्बन्धः संयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपगमो मृषैव तेषाम्, प्राक्सिद्धस्य कार्यात् कारणस्याऽयुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। अथान्यतरापेक्ष एवायमभ्युपगमः स्यादयुतसिद्धस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्धः समवाय इति। एवमपि प्रागसिद्धस्याऽलब्धात्मकस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्धो नोपपद्यते, द्वयायत्तत्वात् सम्बन्धस्य। सिद्धं भूत्वा सम्बध्यते इति चेत्, प्राक्कारणसम्बन्धात् कार्यस्य सिद्धावभ्युपगम्यमाना-

भाष्यका अनुवाद

युतसिद्ध पदार्थोंका सम्बन्ध—संयोग है और अयुतसिद्ध पदार्थोंका सम्बन्ध—समवाय है, ऐसा उनका अङ्गीकार मिथ्या ही है, क्योंकि कार्यसे पूर्वमें सिद्ध कारण अयुतसिद्ध हो, यह उपपन्न नहीं हो सकता। अयुतसिद्ध कार्यका कारणके साथ जो सम्बन्ध है, वह समवाय है, यह अङ्गीकार दोनोंमें से एककी अपेक्षासे ही है, यदि ऐसा कहो, तो भी पूर्वमें असिद्ध, जिसने स्वरूप प्राप्त नहीं किया ऐसे कार्यका कारणके साथ सम्बन्ध युक्त नहीं होगा, क्योंकि सम्बन्ध दोनोंके अधीन होता है। कार्य सिद्ध

रत्नप्रभा

सिद्धान्तान्तरं दूषयति—**युतेति**। अयुतसिद्धत्वं किम् उभयोः उत अन्यतरस्य? न आद्यः इत्याह—**प्रागिति**। द्वितीयम् आशङ्क्य दूषयति—**अथेत्यादिना**। कारणस्य पृथक्सिद्धत्वेऽपि कार्यम् अपृथक्सिद्धमिति उक्तमुपेत्य सम्बन्धोऽसिद्धस्य सिद्धस्य वा इति विकल्प्य आद्यं दूषयित्वा द्वितीयं शङ्कते—**सिद्धं भूत्वेति**। सतोः अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः इत्यभ्युपगमात् तन्तुपटयोरपि संयोगापत्तिरिति अपसिद्धान्तः स्यादित्यर्थः। सद्योजातपटस्य क्रियाऽभावात् कथं

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब अन्य सिद्धान्तको दूषित करते हैं—"युत" इत्यादिसे। अयुतसिद्धि दोकी है अथवा दोमें से एककी है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"प्राक्" इत्यादिसे। दूसरे पक्षकी आशंका करके उसको दूषित करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। कारणके पृथक्सिद्ध होनेपर भी कार्य अपृथक् सिद्ध है, ऐसा कहा गया है, उसको लेकर सम्बन्ध सिद्धका है या असिद्धका, ऐसा विकल्प कर, प्रथम पक्षका निराकरण करके द्वितीय पक्षकी आशंका करते हैं—"सिद्धं भूत्वा" इत्यादिसे। विद्यमान दो अप्राप्य पदार्थोंकी प्राप्ति संयोग है, इस प्रकार स्वीकार करनेसे तन्तु और पटमें संयोग प्रसक्त होगा, इस तरह सिद्धान्तकी हानि होगी, ऐसा अर्थ है। तुरन्त उत्पन्न हुए पटमें क्रिया न होनेसे संयोग किस प्रकार होगा, इसपर कहते

भाष्य

यामयुतसिद्ध्यभावात् 'कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते' इतीदमुक्तं दुरुक्तं स्यात्। यथा चोत्पन्नमात्रस्याऽक्रियस्य कार्यद्रव्यस्य विभुभिराकाशादिभिर्द्रव्यान्तरैः सम्बन्धः संयोग एवाऽभ्युपगम्यते, न समवायः; एवं कारणद्रव्येणाऽपि सम्बन्धः संयोग एव स्यान्न समवायः। नाऽपि संयोगस्य समवायस्य वा सम्बन्धस्य सम्बन्धिव्यतिरेकेणाऽस्तित्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति। सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययदर्शनात् तयोरस्तित्वमिति चेत्, न; एकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयाऽनेकशब्दप्रत्यय-

भाष्यका अनुवाद

होकर कारणसे सम्बद्ध होता है, ऐसा यदि कहो, तो कारणसम्बन्धके पूर्वमें कार्यकी सिद्धि स्वीकार करनेसे अयुतसिद्धिका अभाव होनेके कारण 'कार्य-कारणका संयोग और विभाग नहीं होता' वैशेषिकका यह कथन दुरुक्त हो जायगा। और जैसे उत्पन्नमात्र क्रियारहित कार्यद्रव्यका विभु आकाश आदि अन्य द्रव्योंके साथ सम्बन्ध—संयोग ही माना जाता है, समवाय नहीं माना जाता। इसी प्रकार कारणद्रव्यके साथ भी सम्बन्ध संयोग ही हो जायगा, समवाय नहीं होगा। और संयोग तथा समवाय सम्बन्धके सम्बन्धियोंकी अपेक्षासे पृथक् अस्तित्वमें कुछ भी प्रमाण नहीं है। 'सम्बन्धी' इस शब्द और प्रतीतिसे व्यतिरिक्त संयोग और समवाय, इन शब्दों और प्रतीतियोंके दर्शनसे उनका पृथक् अस्तित्व है, ऐसा यदि कहो, तो

रत्नप्रभा

संयोगः ? तत्राह—**यथेति**। किञ्च, सम्बन्धस्य अपि सम्बन्धे अनवस्थानात् असम्बद्धस्याऽनियामकत्वात् सम्बन्धोऽपि दुर्निरूप इत्याह—**नाऽपीति**। सम्बन्धः सम्बन्धिभिन्नः तद्विलक्षणशब्दधीगम्यत्वाद् वस्त्वन्तरवदिति शङ्कते—**सम्बन्धीति**। कल्पितभेदसाधने सिद्धसाधनता, वस्तुभेदसाधने तु व्यभिचार इति समाधत्ते—**न, एकत्वेऽपीति**। स्वरूपेणैव मनुष्यादिशब्दभागेव पुत्राद्यपेक्षया

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"यथा" इत्यादि। और सम्बन्धका भी सम्बन्ध स्वीकार करनेपर अनवस्था होनेसे असंबद्धका नियामक न होनेसे संबन्ध दुर्निरूप है, ऐसा कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे। सम्बन्ध सम्बन्धियोंसे भिन्न है, भिन्न शब्द और प्रतीतिसे गम्य होनेसे, अन्य वस्तुके समान, ऐसी शङ्का करते हैं—"सम्बन्धि" इत्यादिसे। कल्पित भेद मानो, तो सिद्धसाधनता दोष होता है, वास्तविक भेद सिद्ध करनेमें व्यभिचार होता है, इस प्रकार समाधान करते हैं—

भाष्य

दर्शनात् । यथैकोऽपि सन् देवदत्तो लोके स्वरूपं सम्बन्धिरूपं चापेक्ष्याऽनेक-शब्दप्रत्ययभाग् भवति—मनुष्यो ब्राह्मणः श्रोत्रियो वदान्यो बालो युवा स्थविरः पिता पुत्रः पौत्रो भ्राता जामाता इति, यथा चैकापि सती रेखा स्थानान्यत्वेन निविशमानैकदशशतसहस्रादिशब्दप्रत्ययभेदमनुभवति, तथा-सम्बन्धिनोरेव सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्यया-र्हत्वम्, न व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वेन, इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याऽनुपलब्धेर-

भाष्यका अनुवाद

यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि एकमें भी स्वरूप और बाह्यरूपकी अपेक्षासे अनेक शब्द और प्रतीतियां उपलब्ध होती हैं। जैसे यद्यपि देवदत्त एकही है, तो भी व्यवहारमें वह स्वरूप और सम्बन्धिरूपकी अपेक्षासे अनेक शब्द और प्रतीतियोंका भाजन होता है—मनुष्य, ब्राह्मण, श्रोत्रिय, दाता, बालक, युवक, वृद्ध, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता और जामाता इत्यादि। और जैसे एक ही रेखा स्थानभेदसे—भिन्न भिन्न स्थानोंमें योजित होने के कारण एक, दश, शत, सहस्र आदि शब्द और प्रतीतियोंकी भाजन होती है, वैसे ही दो संबन्धी ही 'सम्बन्धी' शब्द और 'यह सम्बन्धी है' इस प्रतीतिके भेदसे संयोग और समवाय इन शब्द और प्रतीतियोंके पात्र होते हैं, 'संयोग' और 'समवाय' रूप व्यतिरिक्त वस्तुके अस्तित्वसे वे शब्द और प्रत्ययके पात्र नहीं होते हैं। इस

रत्नप्रभा

पिता इत्यादिविलक्षणशब्दधीगम्यो भवति, न च भिद्यते इति व्यभिचार इत्यर्थः। फलितमाह—**इत्युपलब्धीति**। विलक्षणशब्दधीगम्यत्वाद् इत्युपलब्धिघटितेन लक्ष-णेन लिङ्गेन प्राप्तस्य वस्त्वन्तरस्य संयोगादेः सम्बन्धिव्यतिरेकेण अनुपलब्धेः अभावो निश्चीयते इत्यर्थः। नहि अङ्गुलिद्वयस्य नैरन्तर्यातिरेकेण संयोग उप-लभ्यते, समवायस्तु न कस्याऽपि क्वचिदपि अनुभवमारोहतीति भावः। सम्बन्धस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न एकत्वेऽपि" इत्यादिसे। स्वरूपसे मनुष्य आदि शब्दके भाजन देवदत्त आदि ही पुत्र आदिकी अपेक्षासे पिता आदि विलक्षण शब्द और प्रत्ययसे गम्य होता है, परन्तु इससे भिन्न नहीं हो जाता, ऐसा व्यभिचार है, यह अर्थ है। फलित कहते हैं—"इत्युपलब्धि" इत्यादिसे। भिन्न शब्द और प्रतीतिसे गम्य होनेके कारण, इस उपलब्धिरूप लिङ्गसे प्राप्त हुए अन्य पदार्थ संयोग आदिकी सम्बन्धियोंसे व्यतिरिक्त रूपसे उपलब्धि न होनेसे उनका अभाव निश्चित होता है ऐसा अर्थ है। दो अङ्गुलियोंकी निरन्तरतासे भिन्न संयोग उपलब्ध नहीं होता, समवाय तो कहीं भी किसीके भी अनुभवमें आरूढ नहीं होता, ऐसा तात्पर्य है। परन्तु सम्बन्ध

भाष्य

भावो वस्त्वन्तरस्य । नापि सम्बन्धिविषयत्वे सम्बन्धशब्दप्रत्यययोः संततभावप्रसङ्गः, स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयेत्युक्तोत्तरत्वात् । तथाऽण्वात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः संभवति, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगदर्शनात् । कल्पिताः प्रदेशा अण्वात्ममनसां

भाष्यका अनुवाद

प्रकार उपलब्धिरूप लिङ्गसे प्राप्त अन्य पदार्थका (संयोग आदिकी सम्बन्धीकी अपेक्षा भिन्नरूपसे) अनुपलब्धिसे अभाव है। उसी प्रकार 'सम्बन्ध' इस शब्द और प्रतीतिके सम्बन्धी विषयक होनेसे उसके (सम्बन्धके) निरन्तर अस्तित्वकी प्राप्ति होगी, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह स्वरूप और बाह्यरूपकी अपेक्षा से है, ऐसा उसका उत्तर कहा जा चुका है । उसी प्रकार अणु, आत्मा और मनका संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें प्रदेश नहीं है, और प्रदेशवाले द्रव्यका प्रदेशवाले अन्य द्रव्यके साथ संयोग दिखाई देता है। यदि कहो कि अणु, आत्मा और

रत्नप्रभा

सम्बन्ध्यभेदे सम्बन्धिनः सदा सत्त्वात् सर्वदा सम्बन्धबुद्धिप्रसङ्ग इति शङ्कां निषेधति—**नापीति** । परापेक्षया नैरन्तर्यावस्थायाम् अङ्गुल्योः रूपरूपिणोश्च सम्बन्धधीः, न स्वत इति उक्तमित्यर्थः । पूर्वं परमाण्वोः संयोगनिरासेन द्व्यणुकादिसृष्टिः निरस्ता, संप्रति अदृष्टवदात्मना अणूनां संयोगोऽणुषु क्रियाहेतुः, आत्ममनसोः संयोगो बुद्ध्याद्यसमवायिकारणं निरस्यते—**तथाऽण्वात्मेति** । निरस्तमपि कल्पितप्रदेशपक्षमतिप्रसङ्गाख्यदोषान्तरं वक्तुं पुनरुद्भावयति—**कल्पिता इति** । कल्पनम्—ऊहः । ऊहितार्थाः सन्तोऽसन्तो वा ? द्वितीये न

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्बन्धियोंसे अभिन्न हो, तो सम्बन्धीके सदा रहनेसे सर्वदा सम्बन्धबुद्धिका प्रसङ्ग होगा, इस शङ्काका निषेध करते हैं—"नापि" इत्यादिसे । दो अङ्गुलियों और रूप-रूपी पदार्थोंकी नैरन्तर्यावस्थामें सम्बन्धबुद्धि होती है, स्वरूपतः वैसा प्रत्यय कहीं भी नहीं होता, ऐसा कहा गया है, ऐसा अर्थ है। पहले दो परमाणुओंके संयोगका निरसन करके द्व्यणुक आदि सृष्टिका निरसन किया, अब अदृष्टवत् आत्मासे अणुओंका संयोग अणुओंमें क्रियाका हेतु है, आत्मा और मनका संयोग बुद्धि आदिका असमवायी कारण है, इसका निरसन करते हैं—"तथाण्वात्म" इत्यादिसे । कल्पित प्रदेश पक्षका पहले निरास किया जा चुका है, तो भी अतिप्रसङ्ग नामक अन्य दोष दिखलानेके लिए फिर उसे कहते हैं—"कल्पिताः" इत्यादिसे । कल्पन—तर्क । कल्पित अर्थ विद्यमान हैं या

भाष्य

भविष्यन्तीति चेत्, नः अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात्। इयानेवाऽविद्यमानो विरुद्धोऽविरुद्धो वाऽर्थः कल्पनीयो नातोऽधिक इति नियमहेत्वभावात्, कल्पनायाश्च स्वायत्तत्वात् प्रभूतत्वसम्भवाच्च। न च वैशेषिकैः कल्पितेभ्यः षड्भ्यः पदार्थेभ्योऽन्येऽधिकाः शतं सहस्रं वाऽर्था न कल्पयितव्या इति निवारको हेतुरस्ति, तस्माद्यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्तत् सिद्ध्येत्। कश्चित् कृपालुः प्राणिनां दुःखबहुलः संसार एव मा भूदिति कल्पयेत्। अन्यो वा व्यसनी मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत्, कस्तयोर्निवारकः स्यात्। किंचाऽन्यत् द्वाभ्यां परमाणुभ्यां निरवयवाभ्यां साव-

भाष्यका अनुवाद

मनके प्रदेश कल्पित होंगे, तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्यमान अर्थकी कल्पना करनेपर सब अर्थोंकी सिद्धि होनेका प्रसङ्ग आवेगा। इतनी ही अविद्यमान, विरुद्ध या अविरुद्ध अर्थकी कल्पना करनी चाहिए, अधिक नहीं, इस नियमके लिए हेतु नहीं हैं। और कल्पना स्वाधीन है, अतः उसके निरवधि होनेका सम्भव है। और वैशेषिकोंसे कल्पित छः पदार्थोंसे अतिरिक्त सैकड़ों या हज़ारों पदार्थोंकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, इस तरहका कोई निवारक हेतु नहीं है। इसलिए जिस जिसको जो जो पदार्थ रुचिकर होगा वह सिद्ध हो जायगा। कोई एक कृपालु ऐसी कल्पना करेगा कि प्राणियोंका यह दुःख से परिपूर्ण संसार ही न हो अथवा कोई अन्य व्यसनी मुक्तोंकी भी पुनरुत्पत्तिकी कल्पना करेगा, ऐसी स्थितिमें उन दोनोंका निवारक कौन होगा और

रत्नप्रभा

संयोगसिद्धिः, स्वस्वाभावयोः एकत्र वृत्त्यवच्छेदकासत्त्वात्। आद्य तूहमात्रेण सर्वार्थसिद्धिप्रसंगः, ऊहस्य स्वाधीनत्वात्, प्रभूतत्वम् निरवधित्वम्, तत्सम्भवाच्चेत्यर्थः। यदि ऊहात् सर्वसिद्धिः, तदा पदार्थबन्धमुक्तिनियमा लुप्येरन् इत्याह—**न चेत्यादिना**। संयोगं दूषयित्वा समवायं दूषयति—**किञ्चाऽन्यदिति**। तन्मते

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्यमान हैं ? द्वितीय पक्षमें संयोग सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वस्तु और उसका अभाव एकत्र नहीं रह सकते। प्रथम पक्षमें तो कल्पनामात्रसे सब अर्थ सिद्ध होनेका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि कल्पना पुरुषके अधीन है और उसके निरवधि होनेका सम्भव है। यदि कल्पनासे सब सिद्ध हो, तो पदार्थ, बन्ध और मुक्तिके नियम लुप्त हो जायँगे, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। संयोगको दूषित करके समवायको दूषित करते हैं—"किञ्चान्यत्"

भाष्य

यवस्य द्व्यणुकस्याऽऽकाशेनेव संश्लेषानुपपत्तिः, न ह्याकाशस्य पृथिव्यादीनां च जतुकाष्ठवत्संश्लेषोऽस्ति। कार्यकारणद्रव्ययोराश्रिताश्रयभावोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यवश्यं कल्प्यः समवाय इति चेत्, न; इतरेतराश्रयत्वात्। कार्यकारणयोर्हि भेदसिद्धावाश्रिताश्रयभावसिद्धिः आश्रिताश्रयभावसिद्धौ च तयोर्भेदसिद्धिः कुण्डबदरवदितीतरेतराश्रयता स्यात्। नहि कार्यकारणयो-

भाष्यका अनुवाद

इसके अतिरिक्त दूसरा दूषण यह है कि जैसे निरवयव आकाशके साथ द्व्यणुकके सम्बन्धका सम्भव नहीं है, वैसे ही दो निरवयव परमाणुओंके साथ सावयव द्व्यणुकका सम्बन्ध अनुपपन्न है। आकाश और पृथिवी आदिका लाख और लकड़ीके समान संश्लेष नहीं है। यदि समवायको न मानोगे, तो कार्यद्रव्य और कारणद्रव्यका आश्रिताश्रयभाव अनुपपन्न हो जायगा। अतः समवायकी कल्पना अवश्य करनी चाहिए, ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि अन्योन्याश्रय हो जायगा। कारण कि कार्य और कारणका कुण्ड और बदरके समान भेद सिद्ध होनेपर आश्रिताश्रयभावकी सिद्धि होती है और कुण्ड बदरके समान आश्रिताश्रयभावके सिद्ध होनेपर भेद सिद्ध होता है, ऐसा अन्योन्याश्रय होता है। कार्य और कारणका भेद या आश्रिता-

रत्नप्रभा

दूषणान्तरमुच्यते इत्यर्थः। संश्लेषः—संग्रहः। यत एकाकर्षणेन अपराकर्षणं तस्य अनुपपत्तिः इत्यर्थः। द्व्यणुकं निरवयवासमवेतम्, सावयवत्वाद्, आकाशासमवेतभूमिवदिति भावः। ननु द्व्यणुकस्य असमवेतत्वे तदाश्रितत्वं न स्यात्, सम्बन्धं विना तदयोगात्, न च संयोगादाश्रितत्वम्, कार्यद्रव्यस्य प्रकृत्यसंयोगादिति शङ्कते—**कार्येति**। प्रकृतिविकारयोः अभेदादाश्रयाश्रयिभावानुपपत्तिरिष्टेति परिहरति—**नेति**। भेदात् तद्भाव इति वदन्तं प्रत्याह—**इतरेतरा-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। उनके मतमें दूसरा दोष कहा जाता है, ऐसा अर्थ है। संश्लेष—संग्रह। जिससे एक सम्बन्धीके आकर्षणसे अन्य सम्बन्धीका आकर्षण हो—उस (संश्लेश) की अनुपपत्ति हो जायगी, ऐसा अर्थ है। द्व्यणुक निरवयव (परमाणु) में असमवेत है, सावयव होनेसे, आकाशमें असमवेत पृथिवीके समान, यह भाव है। परन्तु द्व्यणुक परमाणुमें असमवेत हो, तो उसके आश्रित न हो, क्योंकि सम्बन्धके बिना आश्रितत्व युक्त नहीं होता, संयोगसे आश्रितत्व नहीं होगा, क्योंकि कार्यद्रव्यका प्रकृतिके साथ संयोग नहीं होता, ऐसी शंका करते हैं—"कार्य" इत्यादिसे। प्रकृति और विकारका अभेद होनेसे आश्रयाश्रयिभावकी अनुपपत्ति इष्ट ही है, इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। प्रकृति और विकारमें भेद

भाष्य

भेद आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तवादिभिरभ्युपगम्यते, कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्। किंचाऽन्यत् परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद्यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा तावद्भिरवयवैः सावयवास्ते स्युः, सावयवत्वादनित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो बाध्येत। यांस्त्वं दिग्भेदभेदिनोऽवयवान् कल्पयसि त एव मम परमाणव इति चेत्, न; स्थूलसूक्ष्मतारतम्य-

भाष्यका अनुवाद

श्रयभाव वेदान्ती स्वीकार नहीं करते, क्योंकि कारणका ही आकारविशेषमात्र कार्य है, ऐसा उनका सिद्धान्त है। और दूसरा दूषण यह है कि परमाणुओंके परिछिन्न होनेसे जितनी दिशाएँ, छः, आठ या दश हैं उतने अवयवोंसे वे सावयव हो जायँगे और सावयव होनेसे अनित्य हो जायँगे। इस प्रकार उनका नित्यत्व और निरवयवत्वके स्वीकारका बाध होगा। दिशाके भेदसे भेदवाले जिन अवयवोंकी तुम कल्पना करते हो, वे ही मेरे परमाणु हैं, ऐसा यदि कहो, तो यह

रत्नप्रभा

श्रयत्वादिति। कथं तर्हि कार्यस्य कारणाश्रितत्वव्यवहारः कल्पितभेदाद् इत्याह—**कारणस्यैवेति**। परमाणूनां निरवयवत्वमपि अयुक्तम् इत्याह—**किञ्चेति**। परमाणवः सावयवाः, अल्पत्वात्, घटवद् विपक्षे तेषां दिग्भेदावधित्वं न स्यात् आत्मवदित्यर्थः। ननु परमाण्वपेक्षया योऽयं प्राची दक्षिणा इत्यादिदिग्भेदव्यवहारस्तदवधित्वेन येऽवयवास्त्वयोच्यन्ते त एव मम परमाणवः तेऽपि सावयवाश्चेत् तदवयवा एवेत्येवं यतः परं न विभागः स एव निरवयवः परमाणुरिति शङ्कते—**यांस्त्वमिति**। परिहरति—**न, स्थूलेति**। अयमर्थः—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे आश्रयाश्रयिभाव उपपन्न होगा, ऐसा कहनेवालेके प्रति कहते हैं—"इतरेतराश्रयत्वात्" इत्यादिसे। तब कार्य कारणके आश्रित है, ऐसा व्यवहार किस प्रकार होगा? कल्पित भेदसे होगा, ऐसा कहते हैं—"कारणस्यैव" इत्यादिसे। और परमाणु निरवयव हैं, यह कथन ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"किञ्च" इत्यादिसे। परमाणु सावयव हैं, परिच्छिन्न होनेसे, घटके समान, अपरिच्छिन्न हो तो आत्माके समान भिन्न भिन्न दिशाएँ उनकी अवधि न हों, ऐसा तात्पर्य है। यदि कोई कहे कि परमाणुकी अपेक्षासे जो यह पूर्व, दक्षिण, आदि दिशाओंका व्यवहार है और उनकी अवधिरूपसे जो अवयव तुम कहते हो, वही मेरे (तार्किकके) परमाणु हैं। वे भी सावयव हों, तो उनके भी अवयव हों, इस प्रकार जहांसे आगे विभाग न हो, वही निरवयव परमाणु है ऐसी शङ्का करते हैं—"यांस्त्वम्" इत्यादिसे। शङ्काका परिहार करते हैं—"न स्थूल"

भाष्य

क्रमेणाऽऽपरमकारणाद् विनाशोपपत्तेः। यथा पृथिवी द्व्यणुकाद्यपेक्षया स्थूलतमा वस्तुभूताऽपि विनश्यति, ततः सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च पृथिव्येकजातीयकं विनश्यति, ततो द्व्यणुकम्, तथा परमाणवोऽपि पृथिव्येकजातीयकत्वाद् विनश्येयुः। विनश्यन्तोऽप्यवयवविभागेनैव विनश्यन्तीति चेत्। नायं दोषः। यतो

भाष्यका अनुवाद

कथन युक्त नहीं है, क्योंकि स्थूल-सूक्ष्मके तारतम्यक्रमसे परमकारणपर्यन्त विनाश उपपन्न होता है। जैसे द्व्यणुक आदिकी अपेक्षासे अति स्थूल और तुम्हारे मतमें वस्तुभूत होती हुई भी पृथिवी नष्ट होती है, उसके अनन्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर पृथिवीत्वरूप एक जातिवाले नष्ट होते हैं और पीछे द्व्यणुक। वैसे ही परमाणु भी पृथिवीत्वरूप एक जातिवाले होनेसे नष्ट होंगे। नष्ट होते हुए भी अवयव

रत्नप्रभा

यत् सर्वात्मना विभागायोग्यं वस्तु स परमाणुरिति यदि उच्येत, तर्हि ब्रह्मण एव परमाणुसंज्ञा कृता स्यात्, तदन्यस्य अल्पस्य दिग्विभागार्हत्वेन अवयवविभागावश्यम्भावात्। यदि पृथिव्यादिजातीयाल्पपरिमाणविश्रान्तिभूमिर्यः स परिमाणुः इत्युच्येत, तर्हि तस्य न मूलकारणत्वम्, विनाशित्वात्, घटवत्। न च हेत्वसिद्धिः, अणवः विनाशिनः, पृथिव्यादिजातीयत्वात्, घटवदिति साधनात् इति। सम्प्रति निरवयवद्रव्यस्य नाशहेत्वभावात् आत्मवदविनाश इत्याशङ्क्य पूर्वोक्तं परिहारं स्मारयति—**विनश्यन्त इत्यादिना**। ब्रह्मातिरिक्तस्य आज्ञानिकत्वाच्च द्रव्यस्य निरवयवत्वम् असिद्धम्। निमित्तादृष्टादिनाशाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि जो सर्वात्मना—सब प्रकारसे विभागके अयोग्य वस्तु है, वह परमाणु है, ऐसा यदि कहो, तो ब्रह्मकी ही परमाणुसंज्ञा होगी, क्योंकि उससे अन्य अल्पवस्तु दिग्विभागयोग्य होनेसे उसके अवयवविभाग अवश्य होंगे। यदि पृथिवी आदिके समान अल्प परिमाणका जो विश्रामस्थल है, वह परमाणु है, ऐसा कहो, तो वह मूल कारण न होगा, क्योंकि वह विनाशी है, घटके समान। हेतु (विनाशित्व) असिद्ध है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि 'अणु विनाशी हैं, पृथिवीके समान होनेसे, घटके समान' ऐसा अनुमान है। अब निरवयव द्रव्यके नाशका हेतु न होनेसे वह आत्माके समान अविनाशी है, ऐसी आशङ्का करके पूर्वोक्त परिहारका स्मरण कराते हैं—"विनश्यन्तः" इत्यादिसे। ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुके अज्ञानजन्य होनेसे द्रव्यकी निरवयवता असिद्ध है। अदृष्ट आदि निमित्तके नाशसे प्रलयमें विनाश हो

भाष्य

घृतकाठिन्यविलयनवदपि विनाशोपपत्तिमवोचाम। यथा हि घृतसुवर्णादीनामविभज्यमानावयवानामप्यग्निसंयोगाद् द्रवभावापत्त्या काठिन्यविनाशो भवति, एवं परमाणूनामपि परमकारणभावापत्त्या मूर्त्यादिविनाशो भविष्यति। तथा कार्यारम्भोऽपि नाऽवयवसंयोगेनैव केवलेन भवति,

भाष्यका अनुवाद

विभागसे नष्ट होंगे, ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि घृतके काठिन्य-विलयनके समान विनाश उपपन्न है, ऐसा हम कह चुके हैं। जैसे घृत, सुवर्ण आदि जिनके अवयव विभक्त नहीं हो सकते, अग्निसंयोगसे द्रवभावकी प्राप्तिसे उनके भी काठिन्यका विनाश होता है, इसी प्रकार परमाणुओंके भी परमकारण-भावकी प्राप्ति होनेसे उनकी मूर्ति आदिका विनाश होगा। उसी प्रकार कार्यकी

रत्नप्रभा

विनाशः प्रलये सम्भवति, मुक्तौ ज्ञानादज्ञाननाशे तत्कार्याणुनाशसम्भव इति भावः। यदुक्तम्—यत्कार्यद्रव्यम्, तत्संयोगसचिवानेकद्रव्यारब्धम् इति, तत् न इत्याह—तथा कार्यारम्भोऽपीति। कैवल्यम्—प्राधान्यम्। कार्यद्रव्यस्थितौ अपि हेतुत्वात् संयोगस्य क्षीरारम्भकसंयोगाद् दध्यारम्भकं न संयोगान्तरम्। तथा च दध्यादौ व्यभिचारात् न व्याप्तिः इत्यर्थः। किञ्च, यत् कार्यद्रव्यम्, तत् द्रव्यारभ्यम्, इत्येव व्याप्तिरस्तु, लाघवात्, न तु संयोगसचिवस्वन्यूनपरिमाणानेकद्रव्यारभ्यम् इति, गौरवात्, दीर्घविस्तृतदुकूलारब्धरज्जौ न्यूनपरिमाणायां व्यभिचाराच्च। न च रज्जुः न द्रव्यान्तरम् इति वाच्यम्, अवयविमात्रविप्लवापातात्। किञ्च, निरवयवद्रव्यत्वस्य एकात्मवृत्तित्वे लाघवात् न निरवयवानेकाणुसिद्धिः। यत्तु अणु-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकता है। मुक्तिमें ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर अज्ञानजन्य अणुके नाशका संभव है ऐसा भाव है। और कार्यद्रव्य संयोग सहित अनेक द्रव्योंसे आरब्ध है ऐसा जो कहा है, वह युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तथा कार्यारम्भोऽपि" इत्यादिसे। कैवल्य—प्रधानता। कार्यद्रव्यकी स्थितिमें भी संयोगके हेतु होनेसे क्षीरारम्भक संयोगसे दध्यारम्भक संयोगके अन्य न होनेसे दधि आदिमें व्यभिचार होनेके कारण व्याप्ति नहीं है ऐसा अर्थ है। और जो कार्यद्रव्य है, वह द्रव्यारभ्य है, इतनी ही व्याप्ति हो, क्योंकि उसमें लाघव है; न कि जो कार्यद्रव्य है, वह संयोग सहित अपनेसे न्यून परिमाणवाले अनेक द्रव्योंसे आरब्ध है, ऐसी व्याप्ति, क्योंकि उसमें गौरव है, और दीर्घ और विस्तारवाले दुकूलसे उत्पन्न हुई न्यून परिमाणवाली रस्सीमें व्यभिचार है, क्योंकि रस्सी अपनेसे न्यून परिमाणवाले अनेक द्रव्योंसे आरब्ध नहीं हुई है। रस्सी अन्य द्रव्य नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा हो तो अवयवी-

भाष्य

क्षीरजलादीनामन्तरेणाऽप्यवयवसंयोगान्तरं दधिहिमादिकार्यारम्भदर्शनात्, तदेवमसारतरतर्कसंदब्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वाच्छ्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवाऽनपेक्षाऽस्मिन् परमाणुकारणवादे कार्या आर्यैः श्रेयोर्थिभिरिति वाक्यशेषः ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्ति भी केवल अवयवसंयोगसे ही नहीं होती, क्योंकि अन्य अवयवसंयोगके बिना भी दूध, जल आदिसे दही, हिम आदि कार्योंकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए इस प्रकार परमाणुकारणवाद असारतर तर्कोंसे रचित है, तथा ईश्वरको कारण कहनेवाली श्रुतियोंसे विरुद्ध है और श्रुतिशरण शिष्ट मनु आदिसे परिगृहीत—स्वीकृत नहीं है। अतः अपना श्रेय चाहनेवाले सत्पुरुषोंको इस परमाणुकारणवादमें अत्यन्त हेय बुद्धि करनी चाहिए, ऐसा वाक्यशेष है ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

त्वतारतम्यविश्रान्तिभूमित्वेन तत्सिद्धिः इति, तन्न त्र्यणुकत्वेन उक्तत्रुटिषु विश्रान्तेः। न च त एव त्रुटिनामानो जगद्धेतव इति वाच्यम्, पृथिवीत्वादिना सावयवत्वाऽनित्यत्वयोः अनुमानात्। न च अवयवत्वस्य क्वचिद् विश्रान्तौ परमाणुसिद्धिः, अविश्रान्तौ अनवस्थेति वाच्यम्, मायायां ब्रह्मणि वाऽवयवत्वविश्रान्तिसम्भवात्। अतो न किञ्चिदणुसद्भावे प्रमाणम्। निरवयवानां संयोगसमवाययोः असम्भवात् समवेतद्व्यणुकाद्यारम्भकत्वायोग इत्यादि बाधकम् उक्तमेव। सम्प्रति "अपरिग्रहाच्च" इति सूत्रवाक्यशेषं पूरयन् अधिकरणार्थम् उपसंहरति—**तदेवमिति**। तस्माद् भ्रान्तिमूलेन वैशेषिकमतेन वेदान्ततात्पर्यस्य अविरोध इति सिद्धम् ॥ १७ ॥ (३) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मात्रका विनाश प्रसक्त होगा। और निरवयवद्रव्यत्व एक आत्मामें ही रहता है, ऐसी व्याप्ति होनेमें लाघव होनेसे निरवयव अनेक अणु सिद्ध नहीं होते। अणुत्वतारतम्यका जो विश्रान्तिस्थल है, वह परमाणु है, इस प्रकार परमाणुकी सिद्धि होगी, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त त्रुटिमें—त्र्यणुकमें त्र्यणुकत्वसे विश्रान्ति होती है। वे ही त्रुटिसंज्ञक जगत्के हेतु हैं, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि पृथिवीत्व आदिसे उनमें सावयवत्व और अनित्यत्वका अनुमान होता है। और अवयवत्वकी कहींपर विश्रान्ति होनी चाहिए, यह विश्रान्तिस्थल परमाणु है और अविश्रान्ति हो, तो अनवस्था होगी, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि मायामें या ब्रह्ममें अवयवत्वकी विश्रान्तिका सम्भव है। इसलिये अणुके अस्तित्वमें कोई भी प्रमाण नहीं है। निरवयव पदार्थोंके संयोग और समवायका असम्भव होनेसे समवेत द्व्यणुक आदिके वे आरम्भक हों, यह युक्त नहीं है, इत्यादि बाधक पूर्वमें कहा ही है। अब "अपरिग्रहाच्च" इस सूत्रका वाक्यशेष पूरा करके अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। इसलिए भ्रान्तिमूलक वैशेषिकमतसे वेदान्ततात्पर्यका विरोध नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

[४ समुदायाधिकरण सू० १८—२७]

समुदायावुभौ युक्तावयुक्तौ वाऽणुहेतुकः ।
एकोऽपरः स्कन्धहेतुरित्येवं युज्यते द्वयम् ॥ १ ॥
स्थिरचेतनराहित्यात् स्वयं चाऽचेतनत्वतः ।
न स्कन्धानामणूनां वा समुदायोऽत्र युज्यते ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—बाह्य और आभ्यन्तर ये दो समुदाय हो सकते हैं या नहीं ?

पूर्वपक्ष—बाह्य समुदाय परमाणुजन्य है और आन्तर समुदाय स्कन्धहेतुक है इस प्रकार उक्त दोनों समुदायोंका संभव है ।

सिद्धान्त—संघातकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत स्थायी चेतनके न होनेसे और स्वयं अचेतन होनेसे स्कन्धोंका और परमाणुओंका समुदाय नहीं हो सकता है ।

---

* तात्पर्य यह है कि बाह्यास्तित्ववादी बौद्ध मानते हैं कि दो समुदाय हैं—(१) बाह्य और (२) आन्तर । उनमेंसे बाह्य समुदाय है—पृथिवी, नदी, समुद्र आदि और आन्तर समुदाय है चित्त और चैत्यरूप । ये दो समुदाय ही सारा जगत् है । बाह्य समुदायके कारण परमाणु हैं । वे परमाणु चार प्रकारके हैं—उनमें कठिन आकृतिवाले पार्थिव परमाणु कहलाते हैं, स्निग्ध परमाणु जलीय हैं, उष्ण परमाणु तैजस हैं और चलनात्मक परमाणु वायवीय हैं । एक ही समयमें पुञ्जीभूत हुए उक्त चार प्रकारके परमाणुओंसे बाह्य समुदाय उत्पन्न होता है । आन्तर समुदायके कारण (१) रूपस्कन्ध, (२) विज्ञानस्कन्ध, (३) वेदनास्कन्ध, (४) संज्ञास्कन्ध और (५) संस्कारस्कन्ध ये पांच स्कन्ध हैं । उनमें चित्तसे निरूपित किये जानेवाले शब्द, स्पर्श आदि पदार्थ रूपस्कन्ध हैं, उनकी अभिव्यक्ति विज्ञानस्कन्ध है, उनसे उत्पन्न होनेवाला दुःख वेदनास्कन्ध है, देवदत्त आदिका नाम संज्ञास्कन्ध है और इनकी वासना संस्कारस्कन्ध है । पुञ्जीभूत उक्त पांच स्कन्धोंसे आन्तर समुदाय उत्पन्न होता है । इस प्रकार दोनों समुदाय हो सकते हैं ।

यहांपर सिद्धान्ती कहते हैं—अणुओंकी और स्कन्धोंकी संघातोत्पत्तिमें क्या कोई अन्य चेतन निमित्त है अथवा वे स्वयं ही संघीभूत होते हैं । प्रथम पक्षमें वह चेतन स्थायी है अथवा क्षणिक है ? यदि उसे स्थायी मानो, तो सिद्धान्तकी हानि होगी । यदि क्षणिक मानो, तो पहले स्वयं आत्मलाभ करके पीछे संघातकी उत्पत्ति करता है ऐसा नहीं कहा जा सकता । दूसरे पक्षमें तो अचेतन स्कन्ध और परमाणु किसी नियामक चेतनके बिना प्रतिनियत आकारसे किस प्रकार संघीभूत होंगे । इसलिए दो समुदाय नहीं हो सकते ।

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

पदच्छेद—समुदाये, उभयहेतुके, अपि, तदप्राप्तिः ।

पदार्थोक्ति—उभयहेतुकेऽपि समुदाये—परमाणुहेतुके बाह्यसमुदाये स्कन्धहेतुके आध्यात्मिकसमुदाये च, तदप्राप्तिः—तस्य समुदायस्य अप्राप्तिः [अचेतनानामणूनां स्कन्धानाञ्च स्वतः समुदायायोगात्, अन्यस्य च स्थिरस्य चेतनस्य संहन्तुरभावात् तन्मतं भ्रान्तिमूलम्] ।

भाषार्थ—परमाणुहेतुक बाह्यसमुदाय और स्कन्धहेतुक आध्यात्मिक समुदायमें भी समुदायकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि अचेतन परमाणु और स्कन्धोंका अपने आप समुदाय नहीं हो सकता, अन्य किसी स्थिर चेतन संघातकर्ताका अभाव है, अतः उनका मत भ्रान्तिमूलक है ।

भाष्य

वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद् वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नाऽपेक्षितव्य इत्युक्तम् । सोऽर्धवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात् सर्ववैनाशिक-

भाष्यका अनुवाद

असत् तर्कोंके योगसे, वेदके विरोधसे और मनु आदि शिष्टोंसे स्वीकृत न होनेसे वैशेषिक सिद्धान्त उपादेय नहीं है, ऐसा कहा जा चुका है । वह अर्धवैनाशिक है, इसलिए वैनाशिकत्वरूप सादृश्यसे सर्ववैनाशिकोंका सिद्धान्त

रत्नप्रभा

वैशेषिकं निरस्य वैनाशिकं निरस्यति—समुदाय इति । परिमाणभेदेन देहादेः आशुतरविनाशाङ्गीकारात् अर्धवैनाशिकः वैशेषिकः, तस्य निरासानन्तरं सर्वक्षणिकवादी बुद्धिस्थो निरस्यते इति प्रसङ्गसंगतिमाह—वैशेषिकेति । "नाभाव

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैशेषिकका निरसन करके वैनाशिकका निरसन करते हैं—"समुदाय" इत्यादिसे । परिमाणभेदसे देह आदिका शीघ्र विनाश होता है,—वे केवल क्षणपर्यन्त स्थायी हैं, ऐसा अङ्गीकार करनेसे वैशेषिक अर्धवैनाशिक है, उसका निराकरण करनेके पश्चात् सर्वक्षणिकवादी—सब पदार्थ क्षणिक हैं, ऐसा कहने वाले बुद्धिस्थ सर्ववैनाशिकका निरसन किया जाता है, इस प्रकार प्रसङ्गसङ्गति कहते हैं—"वैशेषिक०" इत्यादिसे । "नाभाव उपलब्धेः" इस सूत्रमें

भाष्य

राद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य इतीदमिदानीमुपपादयामः। स च बहुप्रकारः, प्रतिपत्तिभेदाद् विनेयभेदाद्वा। तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति—केचित् सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद् विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति। तत्र ये सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमान्तरं च वस्त्वभ्युप-

भाष्यका अनुवाद

अत्यन्त अनुपादेय है, इसका प्रतिपादन करते हैं। प्रतिपत्तिके भेदसे या शिष्योंके भेदसे वह बहुत प्रकारका है। उस सिद्धान्तमें तीन वादी हैं, कोई सर्वास्तित्ववादी हैं, कोई विज्ञानास्तित्ववादी हैं, और अन्य सर्वशून्यत्ववादी हैं। उनमें जो सर्वास्तित्ववादी बाह्य—भूत और भौतिक, आन्तर—चित्त और

रत्नप्रभा

उपलब्धेः"(ब्र०सू०२।२।२७) इति निरसनीयसिद्धान्तात् अत्र निरस्यसिद्धान्तस्य भेदं वक्तुं तत्सिद्धान्तं विभजते—**स चेति**। ननु सुगतप्रोक्तागमस्य ऐक्यात् कुतो बहुप्रकारता तत्राऽऽह—**प्रतिपत्तीति**। एकस्य एव आगमव्याख्यातुः शिष्यस्य अवस्थाभेदेन बुद्धिभेदात् मन्दमध्यमोत्तमधियां शिष्याणां वा भेदाद् बहुप्रकारता इत्यर्थः। तानेव प्रकारानाह—**तत्रेति**। सौत्रान्तिकः, वैभाषिकः, योगाचारः, माध्यमिकश्च इति चत्वारः शिष्याः। तेषु आद्ययोः बाह्यार्थानां परोक्षत्वापरोक्षत्व-विवादेऽपि अस्तित्वसम्प्रतिपत्तेः तयोः सिद्धान्तम् एकीकृत्य निरस्यते इत्याह—**तत्र ये सर्वास्तित्वेति**। भूतं भौतिकं बाह्यम्, चित्तं चैत्तश्च कामादि आन्तरम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस (क्षणिकविज्ञान) सिद्धान्तका निरसन करना है उससे जिसका इस सूत्रमें निरसन करते हैं, वह सिद्धान्त भिन्न है, ऐसा कहनेके लिए उन सिद्धान्तोंका विभाग करते हैं—"स च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि सुगत प्रोक्त आगम एक होनसे वह बहुत आकारका कैसे हुआ, एक बुद्धने विरुद्ध चार सिद्धान्त किस प्रकार दिखलाये, इसपर कहते हैं—प्रतिपत्ति" इत्यादिसे। आगमका व्याख्यान करनेवाले बुद्धके एक ही शिष्यकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंके भेदसे बुद्धिभेद होनेसे अथवा मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धिवाले शिष्योंके भेदसे विविधप्रकारता है, ऐसा अर्थ है। उन्हीं प्रकारोंको कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। बुद्धके चार शिष्य थे—सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। उनमें सौत्रान्तिक और वैभाषिकोंमें यद्यपि बाह्य पदार्थोंके परोक्षत्व और अपरोक्षत्वमें विवाद है, तो भी सर्वास्तित्ववादमें संवाद है, इससे उनके सिद्धान्तोंको एक करके उनका निरसन करते हैं—"तत्र ये सर्वास्तित्व" इत्यादिसे। "भूत"—पृथ्वी आदि चार महाभूत [बौद्धमतमें आकाश भाव (पदार्थ) नहीं है, किन्तु आवरणका अभाव है, इसलिए भूत चार हैं]— पृथ्वी, जल, तेज, और वायु। 'भौतिक'—पृथ्वी आदि भूतोंसे बने हुए भूतोंके कार्य गिरि, नदी आदि।

भाष्य

गच्छन्ति भूतं भौतिकं च चित्तं चैत्तं च, तांस्तावत् प्रतिब्रूमः ।

तत्र भूतं पृथिवीधात्वादयः, भौतिकं रूपादयश्चक्षुरादयश्च । चतुष्टये च पृथिव्यादिपरमाणवः खरस्नेहोष्णेरणस्वभावास्ते पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्ते

भाष्यका अनुवाद

चैत्त वस्तुओंका स्वीकार करते हैं, पहले उनके मतका निरसन करते हैं ।

उनमें भूत–पृथिवीधातु आदि हैं, भौतिक—रूप आदि और नेत्र आदि हैं । पृथिवी आदिके चार प्रकारके परमाणु कठिन, स्नेह, उष्ण और चलन स्वभाववाले होते हैं, वे पृथिवी आदि भावोंके रूपमें संघीभूत होते हैं, ऐसा

रत्नप्रभा

इति विभागः । तत्र सन्दिह्यते—किं मानमूलो भ्रान्तिमूलो वा अयं सिद्धान्त इति । तत्र मानमूल इति पूर्वपक्षयन् सिद्धान्तं तदीयं दर्शयति—**तत्र भूतमिति** । स्थिरः प्रपञ्चो ब्रह्महेतुक इति वेदान्तसिद्धान्तस्य मानमूलक्षणिकसिद्धान्तविरोधाद् असिद्धिः पूर्वपक्षे फलम्, सिद्धान्ते तदविरोध इति ज्ञेयम् । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयं विषयेन्द्रियात्मकं भौतिकं च परमाणुसमुदाय एव न अवयव्यन्तरम् इति मत्वा परमाणून् विभजते—**चतुष्टये चेति** । चतुर्विधा इत्यर्थः । खरः—कठिनः, तत्स्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः, स्निग्धा आप्याः, उष्णास्तैजसाः, ईरणं चलनस्वभावो वायव्यानामिति । बाह्यसमुदायम् उक्त्वा आध्यात्मिकसमुदायमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

"चित्त"—ज्ञान । "चैत्त"—चित्तसे बने हुए चित्तके कार्य, सुख आदि । भूत और भौतिक ये बाह्य पदार्थ हैं और चित्त और चैत्त आन्तर हैं । यहां सन्देह होता है कि बौद्धसिद्धान्त मानमूलक है या भ्रान्तिमूलक है ? यहांपर प्रमाणमूलक है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हुए उनका सिद्धान्त दिखलाते हैं—"तत्र भूतम्" इत्यादिसे । स्थिर प्रपञ्च ब्रह्महेतुक है, यह वेदान्त-सिद्धान्त मानमूलक क्षणिक सिद्धान्तसे विरुद्ध होनेके कारण असिद्ध है, ऐसा पूर्वपक्षमें फल है, सिद्धान्तमें तो वेदान्तसमन्वयका उससे विरोध नहीं है, यह फल है, ऐसा समझना चाहिए । पृथिवी आदि चार भूत, और विषय और इन्द्रिय भौतिक, ये परमाणुओंके समुदाय ही हैं, उनसे अन्य अवयवी नहीं हैं, ऐसा मानकर परमाणुओंका विभाग करते हैं–"चतुष्टये" इत्यादिसे । चार प्रकारके हैं, ऐसा अर्थ है । खर–कठिन । पृथिवीके परमाणु कठिनस्वभाव–कठिन हैं; जलके परमाणु स्निग्ध, तेजके उष्ण और वायुके चलनस्वभाव हैं । [जैसे तार्किक मतमें परमाणु आदि द्व्यणुक आदि क्रमसे कार्य उत्पन्न करते हैं, वैसे बौद्धमतमें नहीं करते, किन्तु परमाणु समुदाय ही गिरि, नदी आदि सब है, उनसे अन्य अवयवी नहीं है ।] इस प्रकार बाह्य भूतभौतिक-रूप परमाणुसमुदायका निरूपण करके अनन्तर पंचस्कन्ध समुदायका निरूपण करते हैं—

भाष्य

इति मन्यन्ते। तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्च स्कन्धाः। तेऽप्यध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते।

तत्रेदमभिधीयते—योऽयमुभयहेतुक उभयप्रकारः समुदायः परेषा-

भाष्यका अनुवाद

मानते हैं। उसी प्रकार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार नामके पांच स्कन्ध हैं। वे आध्यात्मिक हैं और सब व्यवहारोंके विषयरूपसे संघी-भूत होते हैं, ऐसा मानते हैं।

इस विषयमें कहते हैं—जो यह उभयहेतुक, उभय प्रकारके

रत्नप्रभा

तथेति। सविषयेन्द्रियाणि—रूपस्कन्धः। विषयाणां बाह्यत्वेऽपि देहस्थेन्द्रिय-ग्राह्यत्वाद् आध्यात्मिकत्वम्। अहमहमिति आलयविज्ञानप्रवाहः—विज्ञानस्कन्धः। सुखाद्यनुभवः—वेदनास्कन्धः। गौरश्व इत्येवं नामविशिष्टसविकल्पकः प्रत्ययः—संज्ञास्कन्धः। रागद्वेषमोहधर्माधर्माः—संस्कारस्कन्धः। तत्र विज्ञानस्कन्धः चित्तम् आत्मेति गीयते। अन्ये चत्वारः स्कन्धाः चैत्ताः। तेषां संघातः आध्यात्मिकः, सकललोकयात्रानिर्वाहक इत्यर्थः। अवयवातिरिक्तावयव्यनुपलब्धेः अवयवाः शिष्यन्ते यत् सत् तत् क्षणिकम्, यथा विद्युदिति, तेषां क्षणिकत्वमिति मानमूलोऽयं सिद्धान्तः।

इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं योजयति—**योऽयमिति।** सर्गादौ परमाणूनां च

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तथा" इत्यादिसे। [जिससे निरूपण किया जाय वह तथा जिसका निरूपण किया जाय वह दोनों रूप हैं इस प्रकार करण और कर्म व्युत्पत्तिसे रूपशब्दका अर्थ इन्द्रिय और विषय दोनों हैं,] इस प्रकार विषय सहित इन्द्रियाँ रूपस्कन्ध हैं। यद्यपि विषय बाह्य हैं, तो भी देहस्थ इन्द्रियोंसे ग्राह्य होनेके कारण आध्यात्मिक हैं। अहम्, अहम् (मैं, मैं) ऐसा आलयविज्ञान-प्रवाह विज्ञानस्कन्ध है, सुख-दुखका अनुभव वेदना स्कन्ध है। गाय, घोड़ा, ऐसे नामविशिष्ट सविकल्पक प्रतीति संज्ञास्कन्ध है। राग, द्वेष, मोह, धर्म और अधर्म—ये संस्कारस्कन्ध हैं। उनमें विज्ञानस्कन्ध चित्त, आत्मा माना जाता है, और अन्य चार स्कन्ध चैत्त हैं, उनके संघात आध्यात्मिक हैं और वे सकल लोकयात्राके निर्वाहक हैं, ऐसा अर्थ है। अवयवसे भिन्न अवयवीके उपलब्ध न होनेसे अवयव अवशिष्ट रहते हैं और जो विद्यमान है, वह क्षणिक है, विद्युत्‌के समान, इस प्रकार सब बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थ क्षणिक हैं, इस प्रकार यह सिद्धान्त प्रमाणमूलक है।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त सूत्रकी योजना करते हैं—"योऽयम्" इत्यादिसे।

भाष्य

मभिप्रेतोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः, स्कन्धहेतुकश्च पञ्चस्कन्धीरूपः, तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभिप्रेयमाणे तदप्राप्तिः स्यात् समुदायाप्राप्तिः। समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः। कुतः? समुदायिनामचेतनत्वात्। चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्ध्यधीनत्वात्, अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य संहन्तुरनभ्युपगमात् निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्, आशयस्याऽप्यन्यत्वानन्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात्। क्षणिकत्वा-

भाष्यका अनुवाद

समुदाय बौद्धोंको अभिप्रेत है, अणु जिसका हेतु है, ऐसा भूत भौतिक संघातरूप और स्कन्ध जिसका हेतु है, ऐसा पांच स्कन्धरूप उस उभयहेतुक समुदायके माननेपर भी उसकी अप्राप्ति है—समुदायकी अप्राप्ति है, समुदायभावकी अनुपपत्ति है, ऐसा अर्थ है। किससे? इससे कि समुदायी अचेतन हैं। चित्ताभिज्वलन समुदायसिद्धिके अधीन है, और अन्य कोई स्थिर चेतन भोक्ता या शासकका संघातकर्त्तारूपसे स्वीकार नहीं है, अपेक्षारहित प्रवृत्तिके स्वीकारमें तो प्रवृत्ति बन्द न होनेका प्रसङ्ग आवेगा। आलय-

रत्नप्रभा

स्कन्धानां च स्वतः संघातः तावत् न सम्भवति, अचेतनत्वात्। नाऽपि चित्ताख्यमभिज्वलनं विज्ञानं समुदायहेतुः। संघाते देहाकारे जाते विज्ञानम्, विज्ञाने जाते संघातः इति अन्योन्याश्रयात्। न च क्षणिकविज्ञानाद् अन्यः कश्चिज्जीव ईश्वरो वा त्वयाऽभ्युपगम्यते, यः संघातकर्ता भवेत्। न च कर्तारमनपेक्ष्य अणवः स्कन्धाश्च स्वयमेव संघातार्थं प्रवर्तन्ते इति वाच्यम्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। ननु आलयविज्ञानसन्तानः संहन्ता अस्तु इत्यत आह—आशयस्येति। आशेरतेऽ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सृष्टिके आरम्भमें परमाणुओंका या स्कन्धोंका समुदाय स्वतः नहीं हो सकता, क्योंकि वे अचेतन हैं। चित्तसंज्ञक विज्ञान भी समुदायहेतु नहीं है, क्योंकि संघात देहाकार होनेपर विज्ञान होता है और विज्ञान होनेपर संघात होता है, ऐसा अन्योऽन्याश्रय दोष है। और क्षणिक विज्ञानसे अन्य कोई जीव या ईश्वरको बौद्ध नहीं मानते, जो कि संघातकर्त्ता अर्थात् समुदाय करनेवाला हो। उसी प्रकार कर्त्ताकी अपेक्षाके बिना अणु और स्कन्ध स्वतः ही समुदाय उत्पन्न करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष प्रवृत्ति माननेसे प्रवृत्ति बन्द नहीं होगी, अतः अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग आवेगा। यदि कोई कहे कि आलयविज्ञानसंतान संघातकर्ता हो, इसपर कहते हैं—"आशयस्य"

भाष्य

भ्युपगमाच्च निर्व्यापारत्वात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तस्मात् समुदायानुपपत्तिः । समुदायानुपपत्तौ च तदाश्रया लोकयात्रा लुप्येत ॥ १८ ॥

भाष्यका अनुवाद

विज्ञानसंतानका भी संतानीसे अन्यरूपसे या अनन्यरूपसे निरूपण नहीं किया जा सकता । और उसको क्षणिक माननेसे व्यापाररहित होनेके कारण उसकी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होगी । इसलिए समुदायकी अनुपपत्ति[1] है । और समुदायके अनुपपन्न होनेपर उसके आधारपर होनेवाली लोकयात्रा लुप्त हो जायगी ॥१८॥

रत्नप्रभा

स्मिन् रागादय इति आशयः--सन्तानः, स किं सन्तानिभ्योऽन्यो विज्ञानिभ्योऽन्योऽनन्यो वा ? आद्येऽपि स्थिरः क्षणिको वा ? नाऽऽद्यः, अस्मदिष्टनित्यात्मवादप्रसङ्गात् । द्वितीये दोषमाह--**क्षणिकत्वेति** । क्षणिकस्य जन्मातिरिक्तव्यापारो नास्ति, तस्मात् तस्य परमाण्वादिमेलनार्थं प्रवृत्तिः अनुपपन्ना, क्षणिकत्वव्याघातात् इत्यर्थः । एतेनाऽनन्यः सन्तान इति पक्षो निरस्तः, क्षणिकस्य मेलकत्वानुपपत्तेः, तस्मात् संहन्तुः असत्त्वात् संघातानुपपत्तिः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । राग आदि जिसमें रहते हैं वह आशय—सन्तान है। आलयविज्ञानसंतान सन्तानियोंसे अन्य है या अनन्य ? यदि अन्य है, तो स्थिर है या क्षणिक, स्थिर तो हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा हो, तो अस्मदिष्ट (वेदान्तियोंका इष्ट) नित्य आत्मवादका प्रसंग आवेगा। दूसरे पक्षमें दोष कहते हैं—"क्षणिकत्व" इत्यादिसे । क्षणिकसे जन्मका अतिरिक्त व्यापार नहीं है, अतः परमाणु आदिका मेलन करनेके लिए उस सन्तानमें प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती, क्योंकि क्षणिकत्वका व्याघात होता है, ऐसा अर्थ है । इससे सन्तान सन्तानीसे अनन्य है, इस पक्षका भी खण्डन हो गया, क्योंकि क्षणिक परमाणु आदिका मेलन नहीं कर सकता । इसलिए संघातकर्त्ता न होनेसे संघातकी अनुपपत्ति है, ऐसा अर्थ है ॥ १८ ॥

---

(१) संतान संतानियोंसे अन्य है या अनन्य है । यदि अन्य हो, तो उस संतानके ही स्थिर, चेतन जीव होनेसे वेदान्तपक्ष सिद्ध होगा । यदि अनन्य हो, तो पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष आवेगा । और परमाणु भी क्षणिक हैं, ऐसा स्वीकार करनेसे मेलन-समुदाय नहीं हो सकता, क्योंकि परमाणुओंका मेलन परमाणुक्रियाके अधीन है, इसलिये अपनी क्रियाके कारण होनेसे क्रियाके पूर्व क्षणमें परमाणुओंको रहना चाहिए और परमाणु क्रियाके आश्रय होनेसे जिस क्षणमें क्रिया हो, उस क्षणमें भी परमाणुका अवस्थान अपेक्षित है । इसी प्रकार मेलन क्षणमें अवस्थान आवश्यक है, क्योंकि मेलन का आश्रय न हो, तो मेलनरूप प्रवृत्ति उपपन्न न होगी, इसलिये स्थिर परमाणुओंसे साध्य मेलनरूप प्रवृत्ति, परमाणु क्षणिक हों, तो किस प्रकार होगी ? यह तात्पर्य है ।

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥

पदच्छेद—इतरेतरप्रत्ययत्वात्, इति, चेत्, न, उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ।

पदार्थोक्ति—इतरेतरप्रत्ययत्वात्–अविद्यादीनां परस्परकारणत्वात् [घटीयन्त्रमिवानिशमावर्तमानेषु अविद्यादिषु अर्थादाक्षिप्तसंघात उपपद्यते] इति चेन्न; उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्–अविद्यादीनामितरेतरकारणत्वेऽपि उत्पत्तिमात्रे निमित्तत्वात् [तवाभिमतो हेत्वधीनः कारणसमुदायाधीनश्च कार्य्योत्पादो न संभवति, संहन्तुः स्थिरस्य चेतनस्याऽनङ्गीकारात्] ।

भाषार्थ—अविद्या आदिके परस्पर कारण होनेसे घटीयन्त्रके समान अविद्या आदिके सदा घूमनेपर अर्थात् आक्षिप्त संघात की उपपत्ति होती है, ऐसा यदि कहो, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या आदिके परस्परके प्रति कारण होनेपर भी उनके केवल उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे तुम्हारी अभिमत हेतुके अधीन और कारण समुदायोंके अधीन कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि तुम्हारे मतमें संघातकर्ता स्थायी चेतन नहीं माना गया है ।

भाष्य

यद्यपि भोक्ता प्रशासिता वा कश्चिच्चेतनः संहन्ता स्थिरो नाभ्युपगम्यते, तथाप्यविद्यादीनामितरेतरकारणत्वादुपपद्यते लोकयात्रा । तस्यां चोपपद्यमानायां न किञ्चिदपरमपेक्षितव्यमस्ति । ते चाऽविद्यादयोऽविद्या

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—यद्यपि भोक्ता या प्रशासिता (शासन करनेवाला) कोई स्थिर चेतन संघातकर्त्ताका स्वीकार नहीं किया गया है, तो भी अविद्या आदिके परस्परके प्रति कारण होनेसे लोकयात्रा उपपन्न होगी । और उसके उपपन्न होनेसे दूसरे निमित्तकी अपेक्षा नहीं है। और अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप,

---

रत्नप्रभा

संहन्तुः अभावेऽपि संघातोपपत्तिम् आशङ्क्य निषेधति—**इतरेति** । कार्यं प्रति अयते गच्छति इति प्रत्ययः—कारणम् । अविद्यादिभिरेवाऽर्थात् संघातसिद्धौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

संघातकर्त्ताके बिना भी संघात उपपन्न होगा, ऐसी आशङ्का करके उसका निषेध कहते हैं—"इतरेतरप्रत्ययत्वात्" इत्यादिसे । कार्यके प्रति जो जाता है अर्थात् जनकरूपसे जो प्राप्त होता है वह प्रत्यय—कारण है । अविद्या आदिसे ही अर्थात् समुदायसिद्धि होनेपर व्यवहारकी

भाष्य

संस्कारो विज्ञानं नाम रूपं षडायतनं स्पर्शो वेदना तृष्णा उपादानं भवो जातिर्जरा मरणं शोकः परिदेवना दुःखं दुर्मनस्तेत्येवंजातीयका इतरेतर-

भाष्यका अनुवाद

षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दुःख और दुर्मनस्ता इस प्रकारके परस्परके कारणरूप वे अविद्या

रत्नप्रभा

व्यवहारोपपत्तिः इत्यर्थः। अविद्यादीनाह—ते चेति। क्षणिकेषु स्थिरत्वबुद्धिः—अविद्या, ततो रागद्वेषमोहाः संस्कारा भवन्ति, तेभ्यो गर्भस्थस्याऽऽद्यं विज्ञानम् उत्पद्यते, तस्मात् च आलयविज्ञानात पृथिव्यादिचतुष्टयं नामाश्रयत्वात् नाम भवति। ततो रूपं सितासितात्मकं शुक्रशोणितं निष्पद्यते। गर्भस्थकललबुद्बुदावस्था नामरूपशब्दार्थ इति निष्कर्षः। विज्ञानं पृथिव्यादिचतुष्टयं रूपञ्चेति षट् आयतनानि यस्य इन्द्रियजातस्य तत् षडायतनम्, नामरूपेन्द्रियाणां मिथः संयोगः स्पर्शः, ततः सुखादिका वेदना, तया पुनर्विषयतृष्णा, तया प्रवृत्तिः उपादानम्, तेन भवति यस्मात् जन्मेति भवः—धर्मादिः, ततो जातिः—देहजन्म, पञ्चस्कन्धसमुदाय इति यावत्। जातानां स्कन्धानां परिपाकः—जरा, मरणम्—नाशः

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपपत्ति होती है, ऐसा अर्थ है। अविद्या आदिको दिखलाते हैं—"ते च" इत्यादिसे। क्षणिक पदार्थोंमें स्थिरत्वबुद्धि अविद्या है [अर्थात् अनित्य और अशुचि क्षणिक शरीराकारमें परिणत हुए अनात्म पदार्थोंमें ये नित्य, शुचि, स्थायी आत्मा हैं, ऐसी बुद्धि], अविद्यासे संस्कार—राग, द्वेष और मोह होते हैं, उन संस्कारोंसे गर्भस्थका आद्य विज्ञान उत्पन्न होता है [अन्य जन्मकी अविद्या और संस्कारसे गर्भमें स्थित शुक्रशोणित समुदायमें 'अहम्' (मैं) इस आलयविज्ञानका वृत्तिलाभ विज्ञान होता है], उस आलयविज्ञानसे पृथिवी आदि चार भूत, जिन्हें नामके आश्रय होनेसे 'नाम' कहते हैं, वे उत्पन्न होते हैं। उनसे रूप सित और असित शुक्र और शोणित उत्पन्न होते हैं। आलयविज्ञानके सम्बन्धसे गर्भगत शुक्रशोणितकी जो कलल बुद्बुदावस्था है, वह नामरूप—शब्दार्थ है ऐसा आशय है विज्ञान, पृथिवी आदि चार भूत और रूप ये छः जिस इन्द्रियसमूहके स्थान हैं; वह इन्द्रियसमूह षडायतन है। नाम, रूप और इन्द्रियोंका परस्पर संयोग स्पर्श है [गर्भगत शरीरीके शीत उष्ण आदिका अनुभव स्पर्श है], उससे सुख आदि वेदना उत्पन्न होती है [वेदना अर्थात् सुखदुःख आदिका अनुभव], वेदनासे विषयोंकी तृष्णा उत्पन्न होती है [गर्भस्थ शरीरीकी सुख प्राप्त करनेकी और दुःख त्यागनेकी इच्छा तृष्णा है], उस तृष्णासे जो प्रवृत्ति होती है, वह उपादान है, उससे 'भव' (जिससे जन्म होता है, वह) धर्म आदि उत्पन्न होता है, उससे जाति

भाष्य

हेतुकाः सौगते समये क्वचित् संक्षिप्ता निर्दिष्टाः क्वचित् प्रपञ्चिताः, सर्वेषामप्ययमविद्यादिकलापोऽप्रत्याख्येयः। तदेवमविद्यादिकलापे परस्परनिमित्तनैमित्तिकभावेन घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानेऽर्थाक्षिप्त उपपन्नः संघात इति चेत्,

तन्न। कस्मात्? उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। भवेदुपपन्नः संघातो यदि संघातस्य किञ्चिन्निमित्तमवगम्येत, न त्ववगम्यते। यत इतरे-

भाष्यका अनुवाद

आदि बौद्धसिद्धान्तमें कहीं संक्षेपसे और कहीं विस्तारसे दिखलाये गये हैं और ये अविद्या आदि समुदाय सब वादियोंसे प्रत्याख्यान करने योग्य नहीं है। इसलिए इस प्रकार अविद्या आदि समुदायके परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे घटीयन्त्रके समान सर्वदा प्रवर्त्तमान होनेसे अर्थात् आक्षिप्त संघात उससे उपपन्न है।

सिद्धान्ती—यह कथन युक्त नहीं है। किससे? इससे कि वे उत्पत्तिमात्रके निमित्त हैं। यदि संघातका कोई निमित्त ज्ञात होता, तो संघात उपपन्न होता, परन्तु उसका निमित्त अवगत नहीं होता, क्योंकि अविद्या आदि यद्यपि

रत्नप्रभा

म्रियमाणस्य पुत्रादिस्नेहाद् अन्तर्दाहः—शोकः, तेन हा पुत्रेत्यादिविलापः—परिदेवना, अनिष्टानुभवः—दुःखम्, तेन दुर्मनस्ता—मानसी व्यथा, इति शब्दो मानापमानादिक्लेशसंग्रहार्थः। न केवलं सुगतानामेवाऽविद्यादयः संम्मताः, किन्तु सर्ववादिनामपि इत्याह—**सर्वेषामिति**। अविद्यादिहेतुका जन्मादयो जन्मादिहेतुकाश्चाऽविद्यादय इति मिथो हेतुहेतुमद्भावाद् अर्थात् संघातसिद्धिः इति शङ्काम् उपसंहरति—**तदेवमिति**। सिद्धान्तभागं व्याचष्टे—**तन्नेति**। अविद्यादीनाम् उत्तरोत्तरहेतुत्वम् अङ्गी-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् पंचस्कन्धसमुदाय उत्पन्न होता है। जन्मे हुए स्कन्धोंका परिपाक—जरा है और नाश—मरण है। मरते हुए पुरुषको पुत्र आदिके स्नेहसे जो अन्तर्दाह होता है, वह शोक है। हा, पुत्र! इत्यादि जो विलाप है, वह परिदेवना है। अनिष्टका जो अनुभव है वह दुःख है। और मनके विषयके अनुभवसे उत्पन्न हुआ जो दुःख, वह 'दुर्मनस्ता' अर्थात् मानसी व्यथा है। इति शब्दसे मान, अपमान आदि क्लेशोंका संग्रह होता है। ये अविद्या आदि केवल सुगतोंके ही सम्मत नहीं हैं, किन्तु सर्ववादियोंके भी सम्मत हैं, ऐसा कहते हैं—"सर्वेषाम्" इत्यादिसे। जन्म आदि अविद्याहेतुक हैं और अविद्या आदि जन्मादिहेतुक हैं, ऐसा परस्पर कार्यकारणभाव होनेसे अर्थात् संघात सिद्ध होता है, इस प्रकार शंकाका उपसंहार करते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। सिद्धान्तभागका व्याख्यान करते हैं—"तन्न" इत्यादिसे।

भाष्य

तरप्रत्ययत्वेऽप्यविद्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रनिमित्तं भवद् भवेन्न तु संघातोत्पत्तेः किंचिन्निमित्तं संभवति। नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते संघात इत्युक्तम्। अत्रोच्यते—यदि तावदयमभिप्रायः—अविद्यादयः संघातमन्तरेणाऽऽत्मानमलभमाना अपेक्षन्ते संघातम् इति, ततस्तस्य संघातस्य निमित्तं वक्तव्यम्, तच्च नित्येष्वप्यणुष्वभ्युपगम्यमानेष्वाश्रयाश्रयिभूतेषु च भोक्तृषु सत्सु न सम्भवतीत्युक्तं वैशेषिकपरीक्षायाम्, किमङ्ग पुनः क्षणिकेष्वप्यणुषु

भाष्यका अनुवाद

परस्पर कारणभूत हैं, तो भी पूर्व पूर्व उत्तरोत्तरकी केवल उत्पत्तिका निमित्त होता हो, तो हो, परन्तु संघातकी उत्पत्तिका कोई निमित्त नहीं हो सकता। अविद्या आदिसे संघात अर्थात् गम्यमान होता है, ऐसा कहा है। इसपर कहते हैं—अविद्या आदि संघातके बिना अपने स्वरूपकी प्राप्ति न करनेसे संघातकी अपेक्षा रखते हैं; यदि ऐसा अभिप्राय हो, तो उस संघातका निमित्त कहना चाहिए। अणुओंके नित्य मानने और आश्रयाश्रयिभूतभोक्ताका स्वीकार करनेपर भी संघात नहीं हो सकता, ऐसा वैशेषिकपरीक्षामें कहा गया है, तो क्षणिक अणु

रत्नप्रभा

कृत्य संघातहेत्वभावात् संघातो न स्यात् इत्युक्ते पूर्वोक्तं स्मारयति—**नन्विति**। किम् अविद्यादयः संघातस्य गमकाः उत उत्पादका इति विकल्प्य आद्ये संघातस्य उत्पादकं किञ्चिद् वाच्यम्, तन्नास्ति इत्याह—**अत्रोच्यते यदीति**। आश्रयाश्रयिभूतेषु इति भोक्तृविशेषणम्, अदृष्टाश्रयेषु इत्यर्थः। यदा स्थिरेषु अणुषु संघातयोग्येषु कर्तृषु चाऽदृष्टसहायेषु सत्सु ज्ञानाभावमात्रेण संहतिकर्तृत्वायोगात् संघातापत्तेः निमित्तं नास्तीति उक्तम्, तदा क्षणिकपक्षे तन्नास्तीति किमु वक्तव्यमित्याह—**किमिति**। आश्रयाश्रयः संघातकर्ता तच्छून्येषु इत्यर्थः। आश्रयाश्रयि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्या आदि उत्तरोत्तरके हेतु हैं, ऐसा स्वीकार करके संघातका हेतु न होनेसे संघात न होगा, ऐसा कहनेपर पूर्वोक्तका स्मरण कराते हैं—"ननु" इत्यादिसे। क्या अविद्या आदि संघातके गमक हैं या उत्पादक हैं? यदि गमक हैं, तो संघातका उत्पादक कोई दूसरा कहना चाहिए, वह नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते यदि" इत्यादिसे। "आश्रयाश्रयिभूतेषु" यह भोक्ताका विशेषण है उसका अर्थ है—'अदृष्टाश्रय'। जब स्थिर संघातयोग्य अणु अदृष्टकी सहायतासे संघातकर्त्ता हैं, ऐसा माना जाय, तो भी वैशेषिक पक्षमें आत्मामें ज्ञानके अभावमात्रसे संघातकर्तृत्व युक्त न होनेसे संघात प्राप्तिका कोई निमित्त नहीं है, ऐसा कहा है, तो क्षणिक पक्षमें वह नहीं है, इसमें कहना ही क्या है, ऐसा कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। ['आश्रयाश्रयिभूतेषु' यहांपर 'आश्रयाश्रयि-

भाष्य

भोक्तृरहितेष्वाश्रयाश्रयिशून्येषु वाभ्युगम्यमानेषु सम्भवेत् । अथायमभिप्रायः–अविद्यादय एव सङ्घातस्य निमित्तम् इति, कथं तमेवाश्रित्यात्मानं लभमानास्तस्यैव निमित्तं स्युः । अथ मन्यसे सङ्घाता एवानादौ संसारे सन्तत्याऽनुवर्तन्ते तदाश्रयाश्च अविद्यादाय इति, तदापि सङ्घातात् सङ्घातान्तरमुत्पद्यमानं नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत, अनियमेन वा सदृशं विसदृशं वोत्पद्येत, नियमाभ्युपगमे मनुष्यपुद्गलस्य देवतिर्यग्योनिनारकप्राप्त्यभावः प्राप्नुयात्, अनियमाभ्युपगमेऽपि मनुष्यपुद्गलः कदाचित् क्षणेन

भाष्यका अनुवाद

जो भोक्तृरहित और आश्रयाश्रयिशून्य माने गये हैं, उनमें तो संघात कैसे हो सकता है ? अविद्या आदि ही संघातके निमित्त हैं, ऐसा यदि अभिप्राय हो, तो उसका ही आश्रय करके अस्तित्व प्राप्त करनेवाले वे उसके ही निमित्त किस प्रकार होंगे । संघात ही अनादि संसारमें प्रवाहरूपसे वर्तमान हैं और उनके आश्रयसे अविद्या आदि हैं; ऐसा यदि तुम मानते हो, तो भी संघातसे अन्य संघात उत्पन्न होनेवाला नियमसे समान ही उत्पन्न होगा । अथवा अनियमसे समान या असदृश उत्पन्न होगा । नियम स्वीकार करनेसे मनुष्यके शरीरको देवत्व, तिर्यग्योनित्व या नारकीयत्वकी प्राप्तिका अभाव प्राप्त होगा । अनियम स्वीकार करनेसे

रत्नप्रभा

शून्येषु इति पाठे उपकार्योपकारकत्वशून्येषु इत्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते—अथायमिति । संघातस्याऽविद्यादीनां चोत्पत्तौ अन्योन्याश्रयः स्यादिति दूषयति—कथमिति । स्वाभाविकः खल्वयं संघातानां हेतुहेतुमद्भावेन प्रवाहो न संहन्तारमपेक्षते, पूर्वसंघाताश्रया अविद्यादय उत्तरसंघातप्रवर्तका इति नाऽन्योन्याश्रयदोषोऽपि इत्याशङ्कते—अथ मन्यसे इति । स्वभावस्य नियमानियमयोः अपसिद्धा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

शून्येषु' ऐसा भी पाठ है] आश्रयाश्रय—संघातकर्ता, उससे रहित । आश्रयाश्रयिशून्य०—उपकार्य–उपकारकभावरहित, ऐसा अभिप्राय है । दूसरे पक्षकी आशंका करते हैं—"यथायम्" इत्यादिसे । संघात और अविद्या आदिकी उत्पत्तिमें अन्योऽन्याश्रय दोष होगा, इस प्रकार उक्त पक्षको दूषित करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे । संघातोंके हेतुहेतुमद्भावसे (कार्यकारणभावसे) प्रवाह स्वाभाविक है वह संघातकर्ताकी अपेक्षा नहीं करता, पूर्व संघातके आश्रयसे होनेवाले अविद्या आदि उत्तर संघातके प्रवर्त्तक हैं, इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष भी नहीं है, ऐसी आशंका करते हैं—"अथ मन्यसे" इत्यादिसे । स्वभावके नियम और

भाष्य

हस्ती भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेदिति प्राप्नुयात्। उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम्। अपि च यद्भोगार्थः संघातः स्यात्, स नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगमः, ततश्च भोगो भोगार्थ एव स नान्येन प्रार्थनीयः, तथा मोक्षो मोक्षार्थ एवेति मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम्। अन्येन चेत् प्रार्थ्येत उभयं भोगमोक्षकालावस्थायिना तेन भवितव्यम्, अवस्थायित्वे क्षणिकत्वाभ्युपगमविरोधः। तस्मादितरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद् भवतु नाम न तु संघातः सिद्ध्येत् भोक्त्रभावादित्यभिप्रायः ॥१९॥

भाष्यका अनुवाद

भी मनुष्यशरीर कभी क्षणभरमें हाथी होकर देव या पीछे मनुष्य होगा, ऐसा प्राप्त होगा। और ये दोनों ही सिद्धान्तके विरुद्ध हैं। और जिसके भोगके लिए संघात हो, वह स्थिर भोक्ता नहीं है, ऐसा तुम्हारा स्वीकार होनेसे भोग भोगके लिए ही होगा, अन्यसे प्रार्थनीय नहीं होगा। उसी प्रकार मोक्ष मोक्षके लिए ही होगा, इसलिए अन्य मुमुक्षु होना युक्त नहीं है। यदि भोग और मोक्ष दोनों अन्यसे प्रार्थित हों, तो वह भोग और मोक्षके समयमें स्थायी होना चाहिए। परन्तु स्थायी माननेपर क्षणिकत्वके स्वीकारका विरोध आता है। इसलिए अविद्या आदि केवल अन्योऽन्यकी उत्पत्तिके ही निमित्त हों, तो होने दो, परन्तु संघात सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि भोक्ताका अभाव है, ऐसा अभिप्राय है ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

न्तापातः स्यादिति परिहारार्थः। पूर्यते गलति चेति पुद्गलः—देहः। किञ्च, भोक्तुः क्षणिकत्वपक्षे भोगापवर्गव्यवहारोऽपि दुर्घट इत्याह—**अपि चेति**। यो यदिच्छति स तत्काले नास्ति चेद् इच्छा व्यर्था, अस्ति चेत् क्षणिकत्वभङ्ग इत्यर्थः। प्रकृतं संघातनिरासम् उपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनियम इन दोनों पक्षोंमें सिद्धान्तकी हानि होगी, यह उसका परिहार है। बढ़ता है और क्षीण होता है, इसलिए देह पुद्गल है। और भोक्ता क्षणिक है, इस पक्षमें भोग और मोक्षका व्यवहार भी दुर्घट है ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जो जिसकी इच्छा करता है, वह उस भोगकी अथवा मोक्षकी वेलामें यदि नहीं है, तो इच्छा व्यर्थ होती है, यदि वह उस वेलामें है, तो क्षणिकत्वका भंग होता है—'सब क्षणिक है' इस सिद्धान्तका बाध होता है, ऐसा भाव है। "तस्मात्" इत्यादिसे प्रकृत संघातके निराकरणका उपसंहार करते हैं ॥१९॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

पदच्छेद—उत्तरोत्पादे, च, पूर्वनिरोधात् ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, उत्तरोत्पादे—उत्तरस्य कार्यक्षणस्य उत्पादे, पूर्वनिरोधात्—पूर्वकारणक्षणस्य नाशाङ्गीकारात् [सुगतस्य हेत्वधीनोऽपि कार्योत्पादो न संभवति] ।

भाषार्थ—और उत्तरकार्यक्षणके उत्पत्तिके समयमें पूर्वकारणक्षणके नाशका अंगीकार होनेसे सुगतके मतमें हेत्वधीन भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

भाष्य

उक्तमेतत्—अविद्यादीनामुत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वान्न संघातसिद्धिरस्तीति, तदपि तूत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वं न संभवतीतीदमिदानीमुपपाद्यते । क्षणभङ्गवादिनोऽयमभ्युपगमः उत्तरस्मिन् क्षण उत्पद्यमाने पूर्वः क्षणो निरुध्यत इति । न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्हेतुफलभावः शक्यते संपा-

भाष्यका अनुवाद

अविद्या आदिके [परस्पर] उत्पत्तिमात्रके निमित्त होनेसे संघातकी सिद्धि नहीं होती, ऐसा कहा है । परन्तु वे उत्पत्तिमात्रके निमित्त हों, ऐसा भी नहीं हो सकता, यह अब उपपत्तिसे प्रतिपादन करते हैं । क्षणभंगवादीका यह स्वीकार है कि उत्तर क्षणकी उत्पत्तिके समयमें पूर्व क्षणका नाश होता है । ऐसा स्वीकार

रत्नप्रभा

द्विविधो हि कार्यसमुत्पादः सुगतसम्मतः—हेत्वधीनः, कारणसमुदायाधीनश्चेति । तत्र अविद्यातः संस्कारः, ततो विज्ञानम् इत्येवंरूपः प्रथमः, पृथिव्यादिसमुदायात् काय इत्येवं द्वितीयः, तत्र आद्यम् अङ्गीकृत्य द्वितीयः संघातकर्त्रभावेन दूषितः, सम्प्रति आद्यं दूषयति सूत्रकारः—उत्तरेति । क्षणिकोऽर्थः—क्षण

रत्नप्रभाका अनुवाद

बौद्ध दो प्रकारकी कार्योत्पत्ति मानते हैं—एक हेतुके अधीन और दूसरी कारणसमुदायके अधीन । उन दो प्रकारोंमें 'अविद्यासे संस्कारकी उत्पत्ति और संस्कारसे विज्ञानकी उत्पत्ति' यह पहला प्रकार है । 'पृथिवी आदि समुदायसे शरीर उत्पन्न होता है' यह दूसरा प्रकार है । उनमेंसे प्रथम प्रकारकी उत्पत्तिका अङ्गीकार करके संघातकर्त्ताका अभाव होनेसे दूसरे प्रकारकी उत्पत्ति दूषित की जा चुकी है । अब सूत्रकार प्रथम प्रकारकी उत्पत्तिको भी दूषित करते हैं—"उत्तर" इत्यादिसे । बौद्ध लोग क्षणिक अर्थको 'क्षण' कहते हैं । 'निरुद्ध्यमानत्व'—

भाष्य

दयितुम्, निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याऽभावग्रस्तत्वादुत्तरक्षण-हेतुत्वानुपपत्तेः। अथ भावभूतः परिनिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तरक्षणस्य हेतुरित्यभिप्रायः, तथापि नोपपद्यते, भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसंबन्धप्रसङ्गात्। अथ भाव एवाऽस्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि नैवोपपद्यते, हेतुस्वभावानुपरक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसंभवात्। स्वभावोपरागा-भ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभङ्गाभ्युपगमत्याग-

भाष्यका अनुवाद

करनेवाला पूर्व और उत्तर क्षणका कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं कर सकेगा, क्योंकि नष्ट होता हुआ या नष्ट हुआ पूर्व क्षणिक कार्य अभावग्रस्त होनेसे उत्तर क्षणिक कार्यका कारण नहीं हो सकता। यदि भावभूत, सिद्ध अवस्थावाला क्षणिक कार्य उत्तर क्षणिक कार्यका हेतु है, ऐसा अभिप्राय हो, तो वैसा मानने-पर भी कार्यकारणभाव उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि भावभूतके फिर व्यापारकी कल्पना करनेपर उसका अन्य क्षणके साथ सम्बन्धका प्रसङ्ग आता है। यदि भाव ही इसका व्यापार है, ऐसा अभिप्राय है, तो वैसे भी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि हेतुस्वभावसे अनुपरक्त हुए बिना फलकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं है। स्वभावसे ही उपरक्त होता है, ऐसा स्वीकार करें, तो हेतुस्वभाव फलके

रत्नप्रभा

इत्युच्यते, निरुध्यमानत्वम्—विनाशकसांनिध्यम्, निरुद्धत्वम्—अतीतत्वम्। ननु कार्य-काले विनाशव्याप्तत्वेऽपि पूर्वक्षणे सत्त्वात् क्षणिकार्थस्य हेतुत्वम् अक्षतमिति शङ्कते—**अथ भावेति**। सद्रूप इत्यर्थः। किं हेतोः उत्पत्त्यतिरिक्तः कार्योत्पादनाख्यो व्यापारः अनतिरिक्तो वा? नाद्य इत्युक्त्वा द्वितीयं शङ्कते—**अथेति**। भावः—उत्पत्तिः, उक्तं हि—'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते' इति। येषां क्षणिक-भावानां या भूतिः सैव क्रिया कारकञ्च इत्यर्थः। नष्टस्याऽपि निमित्तत्वं स्याद् न

रत्नप्रभाका अनुवाद

विनाशककी सन्निधि। 'निरुद्धत्व'—अतीतत्व। यदि कोई कहे कि कार्यकालमें विनाशसे व्याप्त होनेपर भी पूर्व क्षणमें विद्यमान होनेसे क्षणिक अर्थ हेतु हो सकेगा, उसके हेतुत्वकी कुछ हानि नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। भावभूत—सद्रूप। क्या कार्योत्पादननामक हेतुका व्यापार हेतुकी उत्पत्तिसे भिन्न है या अभिन्न है? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहकर द्वितीय पक्षकी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। 'भाव'—उत्पत्ति। कहा है—'भूतिर्येषाम्०' जिन क्षणिक पदार्थोंकी जो उत्पत्ति है वही क्रिया और कारक है। नष्ट पदार्थ भी निमित्त हो

भाष्य

प्रसङ्गः। विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छतः सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसङ्गः। अपि चोत्पादनिरोधौ नाम वस्तुनः स्वरूपमेव वा स्यातामवस्थान्तरं वा वस्त्वन्तरमेव वा, सर्वथापि नोपपद्यते। यदि तावद् वस्तुनः स्वरूपमेवोत्पादनिरोधौ स्याताम्, ततो वस्तुशब्द उत्पादनिरोधशब्दौ च पर्यायाः प्राप्नुयुः। अथास्ति कश्चिद्विशेष इति मन्येत, उत्पाद-

भाष्यका अनुवाद

कालमें स्थायी होनेसे क्षणभंगके स्वीकारके त्यागका प्रसङ्ग आवेगा। अथवा हेतुस्वभावसे उपरक्त हुए बिना ही फल उत्पन्न होता है, ऐसा कार्यकारणभाव स्वीकार करनेसे तुम्हारे मतमें सर्वत्र उसके प्राप्त होनेसे अतिप्रसङ्ग होगा। और उत्पाद और निरोध वस्तुका ही स्वरूप हो, या अन्य अवस्था हो, या अन्य वस्तु हो सर्वथा भी उपपन्न नहीं होता। यदि उत्पाद और निरोध शब्दोंसे मध्यवर्त्ती वस्तुकी आदि और अन्त नामकी अवस्थाएँ वाच्य होती हैं, ऐसा कोई एक विशेष

रत्नप्रभा

उपादानत्वम्, तथा च मृदादेः घटादिकालासत्त्वे घटाद्यनुत्पत्तिः। सत्त्वे च क्षणिकत्वहानिरिति परिहरति—**तथापीत्यादिना**। प्रथमपक्षोक्तदोषं द्रढयति—**विनैवेति**। वस्तुनो जन्मध्वंसानिरूपणाच्च न क्षणिकत्वमित्याह—**अपि चेति**। तयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकता है, किन्तु उपादान नहीं हो सकता। इस प्रकार मिट्टी आदिके घट आदिके कालमें अस्तित्व न होनेसे घट आदिकी उत्पत्ति नहीं होगी। यदि अस्तित्व मानें, तो क्षणिकत्वकी हानि होगी इस प्रकार परिहार करते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। प्रथम पक्षमें कहे गये दोषको दृढ़ करते हैं—"विनैव" इत्यादिसे। पदार्थके जन्म और नाशके निरूपण न होनेसे वह क्षणिक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जन्म और नाशको वस्तुस्वरूप माननेपर

---

(१) नष्ट भी निमित्त हो सकता है, परन्तु उपादान नहीं हो सकता। जैसे कि मृत्तिका आदि घटादिके कालमें अविद्यमान हों, तो घटादि उत्पन्न न हों और विद्यमान हों, तो कारणके क्षणिकत्वकी हानि हो। मृत्तिका, सुवर्ण आदि जिनके कारण हैं ऐसे घट, रुचक आदि पदार्थ मृत्तिकास्वरूप और सुवर्णस्वरूप हैं, ऐसा अनुभव होता है। यदि कार्यके समय कारण अविद्यमान हो, तो कार्यके स्वरूपका अनुभव किस प्रकार होगा? कार्य कारणसदृश है, कारणात्मक नहीं है, ऐसा कहना भी युक्त न होगा, क्योंकि किसी रूपका अनुगम हुए बिना सादृश्य भी अनुपपन्न है। अनुगम होनेसे ही कारण कार्य होता है, अर्थात् कारणात्मक कार्य होता है, इसलिये अक्षणिकत्व सिद्ध होता है, सर्वथा कार्य और कारण विलक्षण हों, तो हेतुफलभाव तन्तु, घटादिमें भी प्राप्त होनेसे अतिप्रसंग होगा।

भाष्य

निरोधशब्दाभ्यां मध्यवर्तिनो वस्तुन आद्यन्ताख्ये अवस्थे अभिलप्येते इति, एवमप्याद्यन्तमध्यक्षणत्रयसम्बन्धित्वाद् वस्तुनः क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिः। अथाऽत्यन्तव्यतिरिक्तावेवोत्पादनिरोधौ वस्तुनः स्यातामश्वमहिषवत्, ततो वस्तु उत्पादनिरोधाभ्यामसंसृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः। यदि च दर्शनादर्शने वस्तुन उत्पादनिरोधौ स्याताम्, एवमपि द्रष्टृधर्मौ तौ न वस्तुधर्माविति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्ग एव। तस्मादप्यसङ्गतं सौगतं मतम्॥ २०॥

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा माना जाय, तो ऐसी अवस्थामें भी वस्तुका आदि, अन्त और मध्य इन तीन क्षणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे क्षणिकत्व स्वीकारकी हानि होती है। यदि अश्व और महिषके समान वस्तुके उत्पाद और निरोध अत्यन्त व्यतिरिक्त हों, तो वस्तुके उत्पाद और निरोधसे संसृष्ट न होनेसे उसके शाश्वत होनेका प्रसंग आवेगा। यदि वस्तुके दर्शन उत्पाद और अदर्शन—निरोध हो, तो ऐसी अवस्थामें भी वह द्रष्टाके धर्म होंगे, वस्तुके नहीं, इससे वस्तुके शाश्वत होनेका प्रसंग अवेगा ही। इससे भी सौगत मत असंगत है॥ २०॥

रत्नप्रभा

स्वरूपत्वे वस्तुनि अन्तर्भावात् वस्तुनोऽनाद्यनन्तत्वम् इत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीयं शङ्कते—**अथाऽस्तीति**। विशेषमेवाऽऽह—**उत्पादेति**। दूषयति—**एवमपीति**। ताभ्यां संसर्गे वस्तुनः क्षणिकत्वभङ्गः स्यात्। संसर्ग एव नास्तीति तृतीय-कल्पम्—उत्थाप्य दूषयति—**अथात्यन्तेति**॥ २०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वस्तुमें अन्तर्भावसे वस्तु अनादि और अनन्त हो जायगी ऐसा समझना चाहिए। द्वितीय पक्षकी शंका करते हैं—"अथास्ति" इत्यादिसे। विशेषको ही कहते हैं—"उत्पाद" इत्यादिसे। उसको दूषित करते हैं—"एवमपि" इत्यादिसे। उनके साथ वस्तुका सम्बन्ध होनेसे वस्तुकी क्षणिकता नष्ट हो जायगी। संसर्ग ही नहीं है, इस तृतीय कल्पका उत्थापन करके उसे दूषित करते हैं—"अथात्यन्त" इत्यादिसे॥२०॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

पदच्छेद—असति, प्रतिज्ञोपरोधः, यौगपद्यम्, अन्यथा ।

पदार्थोक्ति—असति–अविद्यमाने हेतौ [कार्योत्पत्त्यङ्गीकारे] प्रतिज्ञोपरोधः—पूर्वज्ञानचक्षुरालोकविषयेषु चतुर्षु हेतुषु सत्सु कार्यं नीलादिविज्ञानं जायते इत्यस्याः प्रतिज्ञाया उपरोधः स्यात्, अन्यथा—कार्यं सहेतुकम् इत्यङ्गीकृत्य कार्यपर्यन्तं हेतोः स्थित्यङ्गीकारे [हेतुफलयोः] यौगपद्यम्—एकस्मिन् काले स्थितिः स्यात् [एवञ्च क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिः स्यात्] ।

भाषार्थ—कारणके विद्यमान न होनेपर कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा स्वीकार करनेपर ज्ञान, चक्षु, प्रकाश और विषय इन चार हेतुओंके विद्यमान रहनेपर कार्य—नीलादिज्ञान होता है इस प्रतिज्ञाका बाध होगा । कार्य सहेतुक है ऐसा स्वीकार करके कार्यपर्यन्त हेतुकी स्थिति है ऐसा स्वीकार करनेपर हेतु और कार्यकी एक कालमें स्थिति हो जायगी । इस प्रकार क्षणिकत्वप्रतिज्ञाकी हानि होगी ।

भाष्य

क्षणभङ्गवादे पूर्वक्षणो निरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवतीत्युक्तम् । अथासत्येव हेतौ फलोत्पत्तिं ब्रूयात्, ततः प्रतिज्ञोपरोधः स्यात् । चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत, निर्हे-

भाष्यका अनुवाद

क्षणभङ्गवादमें पूर्वक्षण निरोधग्रस्त होनेसे उत्तर क्षणका हेतु नहीं होता, ऐसा कहा जा चुका है। यदि हेतुके न रहनेपर भी फलकी उत्पत्ति कहो, तो प्रतिज्ञाका बाध होगा। चार प्रकारके हेतुओंको प्राप्त करके चित्त और

रत्नप्रभा

सूत्रं व्याख्यातुं वृत्तं स्मारयति—**क्षणभङ्गेति** । किं कार्योत्पत्तिः निर्हेतुका सहेतुका वा ? आद्ये प्रतिज्ञाहानिरित्याह—**अथाऽसत्येवेत्यादिना** । विषयकरणसहकारिसंस्काराः चतुर्विधा हेतवः तान् प्रतीत्य—प्राप्य चित्तम्—रूपादिविज्ञानं चैत्ताः—चित्तात्मकाः सुखादयश्च जायन्त इति प्रतिज्ञार्थः । यथा नीलवि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रका व्याख्यान करनेके लिए पूर्वोक्त विषयका स्मरण कराते हैं—"क्षणभङ्ग" इत्यादिसे । कार्यकी उत्पत्ति निर्हेतुक है या सहेतुक ? यदि हेतुरहित हो, तो प्रतिज्ञाकी हानि होती है, ऐसा कहते हैं—"अथासत्येव" इत्यादिसे । विषय, करण, सहकारी और संस्कार ये चार प्रकारके हेतु हैं, उनको प्राप्त करके चित्त अर्थात् रूपादिविज्ञान और चैत्त अर्थात् चित्तात्मक सुखादि उत्पन्न होते हैं, ऐसा प्रतिज्ञाका अर्थ है । जैसे कि नीलविज्ञानका नीलवस्तु आलम्बन-

भाष्य

तुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धात् सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत। अथोत्तरक्षणोत्पत्तिर्यावत्तावदवतिष्ठते पूर्वक्षण इति ब्रूयात्, ततो यौगपद्यं हेतुफलयोः स्यात्, तथापि प्रतिज्ञोपरोध एव स्यात्, क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इतीयं प्रतिज्ञोपरुध्येत ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

चैत्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। और निर्हेतुक उत्पत्ति माननेपर, तो प्रतिबन्धके न होनेसे सब वस्तु सर्वत्र उत्पन्न होने लगेगी। उत्तर क्षणकी उत्पत्ति तक पूर्व क्षण अवस्थित रहेगा यदि ऐसा कहो तो हेतु और फल समकालीन हो जायँगे, तो भी प्रतिज्ञाका बाध होगा ही। सर्व संस्कार क्षणिक हैं, यह प्रतिज्ञा बाधित होगी ॥ २१ ॥

रत्नप्रभा

ज्ञानस्य नीलं वस्तु आलम्बनप्रत्ययो विषयः, चक्षुः—करणम् अधिपतिप्रत्ययः, सहकारिप्रत्ययः—आलोकः, समनन्तरपूर्वप्रत्ययः—संस्कारः, इति भेदः। प्रतिज्ञाहानिपुरुषदोषमुक्त्वा वस्तुदोषमपि आह—**निर्हेतुकायाञ्चेति**। सहेतुकत्वपक्षे अन्वयिकारणस्य मृदादेः कार्यसहभावापत्त्या क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिरिति सूत्रशेषं व्याचष्टे—**अथोत्तरक्षणेत्यादिना**। सम्यक् क्रियन्ते इति संस्काराः, आद्यन्तवन्तो भावा इत्यर्थः ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रत्यय विषय है, चक्षु इन्द्रिय अधिपतिप्रत्यय है, आलोक सहकारीप्रत्यय है और संस्कार समनन्तरपूर्वप्रत्यय है, ऐसा भेद है। प्रतिज्ञा हानिरूप पुरुष दोषको कहकर वस्तु दोषको भी कहते हैं—"निर्हेतुकायाञ्च" इत्यादिसे। उत्पत्ति सहेतुक है, इस पक्षमें अन्वयी मृदादि कारणके कार्यसहभावी होनेसे क्षणिकत्व प्रतिज्ञाकी हानि होगी, इस प्रकार सूत्रशेषकी व्याख्या करते हैं—"अथोत्तरक्षण" इत्यादिसे। भली भाँति जो किये जाते हैं, वे 'संस्कार' कहलाते हैं अर्थात् आद्यन्तभाव, यह अर्थ है ॥२१॥



प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

पदच्छेद—प्रतिसङ्ख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः, अविच्छेदात् ।

पदार्थोक्ति—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्या-निरोधयोः बुद्धिपूर्वकाबुद्धिपूर्वकनाशयोः [सन्तानसन्तानिषु] अप्राप्तिः असंभवः, [कुतः] अविच्छेदात्—सन्तानसन्तानिनोरविच्छेदात् । [तस्माद् निरोधद्वयस्य उपपत्तिर्न भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—सन्तान और सन्तानियोंमें बुद्धिपूर्वकनाशका और अबुद्धिपूर्वक-नाशका संभव नहीं है, क्योंकि सन्तान और सन्तानियोंका विच्छेद नहीं होता । इससे निरोधद्वय—नाशद्वयकी उपपत्ति नहीं हो सकती ।

भाष्य

अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृतं क्षणिकं चेति । तदपि च त्रयं प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते । त्रयमपि चैतदवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते । बुद्धिपूर्वः किल

भाष्यका अनुवाद

और वैनाशिक ऐसी कल्पना करते हैं कि जो बुद्धिबोध्य, उत्पाद्य और क्षणिक है वह तीनसे भिन्न है और उन तीनोंको वे प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रति-संख्यानिरोध और आकाश कहते हैं । और ये तीन अवस्तुएँ अभावमात्र निरू-

---

रत्नप्रभा

एवम् आद्यसूत्राभ्यां समुदायो निरस्तः, उत्तरसूत्राभ्यां कार्यकारणभावक्षणिक-त्वे निरस्ते । सम्प्रति तदभिमतं द्विविधं विनाशं दूषयति—**प्रतिसंख्येति** । संस्कृ-तम्—उत्पाद्यम्, बुद्धिबोध्यम्—प्रमेयमात्रम्, त्रयात् तुच्छरूपाद् अन्यदित्यर्थः । किं तत् त्रयं तदाह—**तदपीति** । निरुपाख्यम्-निःस्वरूपम्, प्रतीपा—प्रतिकूला

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस अधिकरणके प्रथम दो सूत्रोंसे समुदायका खण्डन किया गया है । पीछेके दो सूत्रोंसे कार्यकारणभाव और क्षणिकत्वका निरसन किया गया है । अब बौद्धके अभिमत दो प्रकारके विनाशको दूषित करते हैं—"प्रतिसंख्या" इत्यादिसे । संस्कृत—उत्पाद्य, बुद्धिबोध्य अर्थात् प्रमेयमात्र, तुच्छरूप तीन वस्तुओंसे भिन्न है । वे तीन वस्तुएँ कौन हैं ? उसे कहते हैं—"तदपि" इत्यादिसे । निरूपाख्य—स्वरूपशून्य, प्रतिसंख्यानिरोध-

भाष्य

विनाशो भावानां प्रतिसङ्ख्यानिरोधो नाम भाष्यते, तद्विपरीतोऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधः, आवरणाभावमात्रमाकाशमिति । तेषामाकाशं परस्तात् प्रत्याख्यास्यति, निरोधद्वयमिदानीं प्रत्याचष्टे । प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधयोरप्राप्तिः असंभव इत्यर्थः । कस्मात् ? अविच्छेदात् । एतौ हि प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधौ सन्तानगोचरौ वा स्यातां भावगोचरौ

भाष्यका अनुवाद

पाख्य हैं, ऐसा मानते हैं। भावोंका बुद्धिपूर्वक विनाश प्रतिसंख्यानिरोध है और उससे विपरीत अप्रतिसंख्यानिरोध है और आवरणका अभावमात्र आकाश है, ऐसा उनका कथन है। उनमें से आकाशका आगे प्रत्याख्यान करेंगे। इस समय दोनों निरोधोंका प्रत्याख्यान करते हैं। प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोधकी प्राप्तिका सम्भव नहीं है ऐसा अर्थ है। किससे ? अविच्छेदसे। ये प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध सन्तानोंमें होंगे या भावोंमें होंगे। सन्तानमें तो हो नहीं सकते, क्योंकि सर्व सन्तानोंमें सन्ता-

---

रत्नप्रभा

संख्या सन्तं भावम् असन्तं—करोमीत्येवंरूपा बुद्धिः प्रतिसंख्या, तया निरोधः कस्यचिद् भावस्य भवति, अबुद्धिपूर्वकस्तु स्तम्भादीनां स्वरसभङ्गुराणाम् इत्याह—**तद्विपरीत इति** । परक्रियाम् उक्त्वा सूत्रं व्याचष्टे—**तेषामिति** । भावाः—सन्तानिनः, सन्तानो नाम भावानां हेतुफलभावेन प्रवाहः । तस्मिन् सन्ताने चरमक्षणः क्षणान्तरं करोति वा न वा ? आद्ये चरमत्वव्याघातः, सन्तानाविच्छेदात्, द्वितीये चरमस्य असत्त्वप्रसङ्गः, अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति तत्सिद्धान्तात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

संख्या अर्थात् बुद्धि, प्रतिसंख्या अर्थात् प्रतिकूल बुद्धि, भावके प्रतिकूल बुद्धि। विद्यमान पदार्थको अविद्यमान करता हूँ, इस प्रकारकी बुद्धि प्रतिसंख्या है, उससे किया हुआ विनाश किसी भावका होता है, वह प्रतिसंख्यानिरोध है, उससे उलटा अबुद्धिपूर्वक अपने ही आप नष्ट होनेवाले स्तम्भ आदिका नाश अप्रतिसंख्यानिरोध है, ऐसा कहते हैं—"तद्विपरीतः" इत्यादिसे। परप्रक्रिया कहकर सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तेषाम्" इत्यादिसे। 'भाव' अर्थात् सन्तानी। 'सन्तान'—कार्यकारणभावसे युक्त पदार्थोंका प्रवाह। उस सन्तानरूप पदार्थप्रवाहमें अन्तका क्षणिक पदार्थ अन्य क्षणिक पदार्थको उत्पन्न करता है या नहीं ? आद्य पक्षमें अन्तपनेकी हानि होती है, यदि अन्त्य सन्तान—अन्तका क्षण अन्य क्षणको उत्पन्न करता हो, तो वह क्षण अन्तका न कहलायेगा, क्योंकि सन्तानप्रवाहका विच्छेद नहीं होता, जिससे कि अन्तका कहलावे। द्वितीय पक्षमें अन्त क्षणमें असत्त्वका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि जो अर्थक्रियाकारी है, वह सत्—विद्यमान भाव है, ऐसा

भाष्य

वा ? न तावत् सन्तानगोचरौ संभवतः, सर्वेष्वपि सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन सन्तानविच्छेदस्याऽसंभवात् । नाऽपि भावगोचरौ संभवतः, नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः सम्भवति, सर्वास्वप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञानबलेनाऽन्वय्यविच्छेददर्शनात् । अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद्दृष्टेनाऽन्वय्यविच्छेदेनाऽन्यत्राऽपि तदनुमानात् । तस्मात् परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्याऽनुपपत्तिः ॥ २२ ॥

भाष्यका अनुवाद

नियोंके कार्यकारणके अविच्छेद होनेसे सन्तानके विच्छेद होनेका सम्भव नहीं है। इसी प्रकार ये निरोध भावोंमें भी नहीं हो सकते, क्योंकि भावोंका निरन्वय निःस्वरूप विनाश नहीं हो सकता, क्योंकि सर्व अवस्थाओंमें भी प्रत्यभिज्ञानबलसे अन्वयीका अविच्छेद देखनेमें आता है। जिनमें प्रत्यभिज्ञान अस्पष्ट है, ऐसी अवस्थाओंमें भी कचित् अन्वयीका अविच्छेद देखनेमें आता है, उससे अन्यत्र भी उसका अनुमान होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कल्पित दोनों निरोध अनुपपन्न हैं ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

चरमस्याऽसत्त्वे पूर्वेषामप्यसत्त्वप्रसङ्गः अर्थक्रियाशून्यत्वात्, तस्मात् सन्तानस्य विच्छेदासम्भवान्निरोधाप्राप्तिरित्याह—**न तावदिति** । न द्वितीयः—इत्याह—**नापीति** । घटकपालचूर्णाद्यवस्थासु सेयं मृदिति प्रत्यभिज्ञानाद् अन्वयिभावस्य मृदादेः नाऽऽत्यन्तिकविनाश इत्यर्थः । बीजस्याऽङ्कुरादिषु प्रत्यभिज्ञानाद् अन्वयिनो विच्छेद इत्यत आह—**अस्पष्टेति** । अङ्कुरादयः अनुस्यूतान्वयिभावस्थाः, कार्यत्वात्, पटवदित्यन्वय्यविच्छेदसिद्धिः इत्यर्थः । यस्माद् भावानां स्थायित्वं तस्मात् प्रतिक्षणनिरोधासम्भव इत्युपसंहारः ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बौद्धका सिद्धान्त है । उसके असत्त्व प्राप्त होनेसे पूर्व क्षणमें भी असत्त्वका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि वे अर्थक्रियाशून्य होंगे, इसलिए सन्तानके विच्छेदका सम्भव न होनेसे निरोधका असम्भव है, ऐसा कहते हैं—"न तावत्" इत्यादिसे । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे । घट, कपाल, चूर्ण आदि अवयवोंमें तो यही वह मृत्तिका है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान होनेसे अन्वयिभाव—मृत्तिकादिका आत्यन्तिक विनाश नहीं होता, ऐसा अर्थ है । बीजके अङ्कुर आदिमें प्रत्यभिज्ञान न दिखाई देनेसे अन्वयीका विच्छेद होता है, इसपर कहते हैं—"अस्पष्ट" इत्यादिसे । अङ्कुर आदि अनुस्यूत जो अन्वयी पदार्थ है उसमें स्थित हैं, कार्य होनेसे, वस्त्रके समान, इस प्रकार अन्वयी के अविच्छेदकी सिद्धि होती है, ऐसा अर्थ है । चूँकि पदार्थ स्थायी हैं, अतएव उनका प्रतिक्षण नाश नहीं हो सकता, इस प्रकार उपसंहार है ॥ २२ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

पदच्छेद—उभयथा, च, दोषात्।

पदार्थोक्ति—उभयथा च—अविद्यायाः सम्यग् ज्ञानान्नाशः स्वतो वा ? प्रथमे निर्हेतुकनाशाभ्युपगमहानिप्रसंगः, द्वितीये सम्यग्ज्ञानोपदेशानर्थक्यम् इति प्रकारद्वयेऽपि, दोषात्–दोषसद्भावात् [असंगतं सौगतमतम्]।

भाषार्थ—अविद्याका सम्यग् ज्ञानसे नाश होता है या अपने आप नाश होता है ? प्रथम पक्षके स्वीकारमें निर्हेतुकनाशके स्वीकारकी हानि होगी, दूसरे पक्षके स्वीकारमें ज्ञानोपदेश निष्फल होगा, इसलिए दोनों कल्पोंमें दोष होनेसे सौगत मत असंगत है।

भाष्य

योऽयमविद्यादिनिरोधः प्रतिसङ्ख्यानिरोधान्तःपाती परपरिकल्पितः, स सम्यग्ज्ञानाद् वा सपरिकरात् स्यात् स्वयमेव वा। पूर्वस्मिन् विकल्पे निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रसङ्गः। उत्तरस्मिंस्तु मार्गोपदेशानर्थक्य-प्रसङ्गः। एवमुभयथाऽपि दोषप्रसङ्गादसमञ्जसमिदं दर्शनम्॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतिसंख्यानिरोधके अन्तर्भूत जो यह अविद्या आदिका निरोध परपरि-कल्पित है, वह परिकरयुक्त सम्यग्ज्ञानसे है या स्वतः ही है ? प्रथम कल्पमें निर्हेतुक विनाशके स्वीकारकी हानि होगी, दूसरे कल्पमें मार्गोपदेश अनर्थक हो जायगा। इस प्रकार दोनों पक्षमें दोषके प्रसंगसे यह दर्शन अयुक्त है ॥ २३ ॥

रत्नप्रभा

अविद्यादीनां प्रतिसंख्यानिरोधं तदभिमतं दूषयति—**उभयथेति**। यमनि-यमादयः परिकराः। सर्वं दुःखं क्षणिकमिति भावनोपदेशः—मार्गोपदेशः ॥२३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बौद्धके अभिमत प्रतिसंख्यानिरोधमें अन्तर्भूत हुए अविद्या आदि निरोधको दूषित करते हैं—"उभयथा" इत्यादिसे। 'परिकर'—सम्यग् ज्ञानकी सामग्री—यम, नियम आदि और श्रवण, मनन आदि। 'मार्गोपदेश'—सर्व क्षणिक है, ऐसी भावनाका उपदेश। [चार प्रकारकी भावनासे बौद्ध परम पुरुषार्थका वर्णन करते हैं। चतुर्विध भावना इस प्रकार है—'सर्व क्षणिक है, क्षणिक है, सर्व दुःखकारक है, दुःखकारक है, सर्व स्वलक्षण है, स्वलक्षण है, सर्व शून्य है, शून्य है'] ॥२३॥

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

पदच्छेद—आकाशे, च, अविशेषात् ।

पदार्थोक्ति—आकाशे च—'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इति श्रुत्या शब्दगुणत्वेन च आकाशेऽपि, अविशेषात्—पृथिव्यादिवत् वस्तुत्वप्रतिपत्तेस्तुल्यत्वात् [न आकाशस्य निरुपाख्यत्वम्] ।

भाषार्थ—'आत्मनः०' (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस श्रुतिसे और शब्दगुणक होनेसे आकाशमें भी पृथिवी आदिके समान वस्तुत्वकी प्रतिपत्ति—आकाश वस्तुरूप है ऐसी प्रतीति—तुल्य है, इसलिए आकाश निरुपाख्य नहीं है।

भाष्य

यच्च तेषामेवाऽभिप्रेतं निरोधद्वयमाकाशं च निरुपाख्यमिति, तत्र निरोधद्वयस्य निरुपाख्यत्वं पुरस्तान्निराकृतम्, आकाशस्येदानीं निराक्रियते। आकाशे चायुक्तो निरुपाख्यत्वाभ्युपगमः, प्रतिसंख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषात् । आगमप्रामाण्यात् तावत् 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशस्य च

भाष्यका अनुवाद

पूर्वोक्त दोनों निरोध और आकाश निरुपाख्य हैं, ऐसा बौद्धका सिद्धान्त है उनमें दोनों निरोध निरुपाख्य हैं, इसका पीछे निराकरण किया जा चुका है। आकाश निरुपाख्य है, इसका अब निराकरण करते हैं। आकाशमें (वह निरुपाख्य है), ऐसा स्वीकार अयुक्त है, क्योंकि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोधमें जिस प्रकार वस्तुत्वकी प्रतिपत्ति है, उसी प्रकार उसमें वस्तुत्वकी प्रतिपत्ति है, इन तीनोंमें कोई विशेष नहीं है। प्रथम शास्त्रके प्रमाणसे आकाशमें वस्तुत्व सिद्ध होता है—"आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ)

रत्नप्रभा

आगमप्रामाण्यादिति। तत्र आकाशस्य कार्यत्वोक्त्या घटादिवद्वस्तुत्वं प्रसिध्यति इत्यर्थः। ननु आगमप्रामाण्ये विप्रतिपन्नान् प्रति आकाशस्य वस्तुत्वं कथं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आगमप्रामाण्यात्" इत्यादि । उसमें आकाश कार्य है, ऐसा कहा है, उससे घट आदिके समान उसका वस्तुत्व प्रसिद्ध होता है, यह अर्थ है। परन्तु आगमप्रामाण्यको न माननेवाले

भाष्य

वस्तुत्वप्रसिद्धिः । विप्रतिपन्नान् प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्वं वक्तव्यम्, गन्धादीनां गुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात् । अपि चाऽऽवरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन् सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात् सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनवकाशत्वप्रसङ्गः। यत्राऽऽवरणाभावस्तत्र पतिष्यतीति चेत्, येनावरणाभावो विशेष्यते तत्तर्हि वस्तुभूतमेवाऽऽकाशं स्यात्, नाऽऽवर-

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि श्रुतियोंसे आकाश वस्तु है, ऐसी प्रसिद्धि है, परन्तु जो आगम प्रमाणको नहीं मानते, उनके प्रति आकाश शब्दगुणसे अनुमेय है, ऐसा कहना युक्त है, क्योंकि गन्ध आदि गुणोंके आश्रयरूपसे पृथिवी आदि देखनेमें आते हैं। और जो आकाश आवरणका अभावमात्र है, ऐसा मानते हैं, उनके मतमें एक पक्षीके उड़नेपर आवरण विद्यमान होनेसे उड़नेकी इच्छा करनेवाले अन्य पक्षीको अवकाश नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। जहांपर आवरणका अभाव है, वहांपर उड़ेगा, ऐसा कहो, तो जिससे आवरणका अभाव विशिष्ट होता है,

रत्नप्रभा

सिध्यतीत्यत आह—**विप्रतिपन्नानिति**। शब्दो वस्तुनिष्ठः, गुणत्वाद्, गन्धादिवद्, इत्यनुमानात् आकाशस्य वस्तुत्वं सिध्यति । पृथिव्याद्यष्टद्रव्याणां श्रोत्रग्राह्यगुणाश्रयत्वायोगादित्यर्थः । आकाशस्य भावत्वं प्रसाध्य अभावत्वं दूषयति—**अपि चेति**। यथैकघटसत्त्वेऽपि घटसामान्याभावो नास्ति, तथैकपक्षिसत्त्वेऽपि मूर्तद्रव्यसामान्याभावात्मकाकाशो नास्त्येवेति पक्ष्यन्तरसञ्चारो न स्यात् इत्यर्थः । देशविशेषावच्छेदेन आवरणाभावोऽस्तीत्याशङ्क्य अभावावच्छेदकदेशविशेष एव आकाशः, नाऽभाव इत्याह—**यत्रेत्यादिना**। पतिष्यति पक्षी, सञ्चरि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बौद्धके प्रति आकाशका वस्तुत्व कैसे सिद्ध होगा, इसपर कहते हैं—"विप्रतिपन्नान्" इत्यादिसे। 'शब्द वस्तुनिष्ठ है, गुण होनेसे, गन्ध आदिके समान, इस अनुमानसे आकाशका वस्तुत्व सिद्ध होता है, क्योंकि पृथिवी आदि आठ द्रव्य श्रोत्रमात्रसे ग्राह्य शब्दगुणके आश्रय हों, यह युक्त नहीं है, ऐसा अर्थ है। आकाश भाव है, ऐसा सिद्ध करके वह अभाव है, इसको दूषित करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जैसे एक घट विद्यमान हो, तो घट सामान्यका अभाव नहीं होता, वैसे ही एक पक्षी विद्यमान हो, तो भी मूर्त द्रव्य सामान्यका अभावरूप आकाश है—यह नहीं हो सकता। इसलिए अन्य पक्षीका संचार नहीं होगा, ऐसा तात्पर्य है। अमुक देशके अवच्छेद से आवरणका अभाव है, ऐसी आशंका करके उसका निराकरण करते हैं कि अभावका अवच्छेद देशविशेष ही आकाश है, अभाव आकाश नहीं है—"यत्र" इत्यादिसे। पतिष्यति—पक्षी

भाष्य

णाभावमात्रम् । अपि चाऽऽवरणाभावमात्रमाकाशं मन्यमानस्य सौगतस्य स्वाभ्युपगमविरोधः प्रसज्येत । सौगते हि समये 'पृथिवी भगवन् किंसन्निश्रया' इत्यस्मिन् प्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किंसंनिश्रयः, इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति 'वायुराकाशसंनिश्रयः' इति, तदाकाशस्याऽवस्तुत्वे न समञ्जसं स्यात् । तस्मादप्ययुक्तमाकाशस्याऽवस्तुत्वम् । अपि च निरोधद्वयमाकाशं च त्रयमप्येतन्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं चेति विप्रतिषिद्धम् । न ह्यवस्तुनो नित्यत्वमनित्यत्वं वा संभवति, वस्त्वाश्रयत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य । धर्मधर्मिभावे हि घटादिवद्वस्तुत्वमेव स्याद् न निरुपाख्यत्वम् ॥ २४ ॥

भाष्यका अनुवाद

वही तब वस्तुभूत आकाश है, केवल आवरणका अभावमात्र आकाश नहीं है। और आवरणके अभावमात्रको आकाश माननेवाले सौगतको अपने स्वीकारसे विरोध होगा, क्योंकि सौगतदर्शनमें 'पृथिवी भगवन् किंसन्निश्रया' (हे भगवन् पृथिवी किसके आधारपर है ?) इस प्रश्न और प्रतिवचनके प्रवाहमें पृथिवी आदिके अन्तमें 'वायुः किसंन्निश्रयः, (वायु किसके आधारपर है) इस प्रश्नका प्रतिवचन है—'वायुराकाशसंनिश्रयः' (वायु आकाशके आधारपर है), आकाशको अवस्तु माननेपर वह प्रतिवचन नहीं बन सकता। इससे भी आकाशका अवस्तुत्व अयुक्त है और दोनों निरोध और आकाश ये तीनों निरुपाख्य हैं, अवस्तु हैं और नित्य हैं, यह विरुद्ध है। क्योंकि जो अवस्तु है उसमें नित्यत्व या अनित्यत्व नहीं घट सकता, क्योंकि धर्म और धर्मीका व्यवहार वस्तुके आश्रयसे है और धर्मधर्मिभाव होनेसे घटादिके समान वस्तुत्व ही होगा, निरुपाख्यत्व नहीं होगा ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

प्यतीत्यर्थः । आकाशस्य अवस्तुत्वं स्वग्रन्थविरुद्धं चेत्याह—**अपि चेति** । किं सम्यङ् निश्रयः—आश्रयोऽस्या इति किंसन्निश्रया, अवस्तुनः शशविषाणस्य आश्रयत्वादर्शनादिति भावः । व्याघातान्तरमाह—**अपि चेति** । ध्वंसाप्रतियोगिताख्यो धर्मो नित्यत्वं नाऽसति सम्भवति, धर्मिणोऽसत्त्वव्याघातादित्यर्थः ॥२४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उड़ेगा ऐसा अर्थ है। आकाशका अवस्तुत्व बौद्धके अपने ग्रन्थसे भी विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। "किंसंनिश्रया"—किम् (क्या) है सम्यक् निश्रय (आश्रय) जिसका वह 'किंसंनिश्रय' है। शशविषाण जो वस्तु ही नहीं है, वह आश्रयरूपसे नहीं दीखता परन्तु आकाश वायुका आश्रय होनेसे वस्तु है, ऐसा अर्थ है। अन्य विरोध कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। नाशका अप्रातियोगित्व धर्म नित्यत्व है, वह असत्‌में नहीं रह सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे धर्मीके असत्त्वका व्याघात होगा, ऐसा अर्थ है ॥ २४॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

पदच्छेद—अनुस्मृतेः, च ।

पदार्थोक्ति—अनुस्मृतेश्च—अनुभवम् अनु उत्पद्यमाना स्मृतिः अनुस्मृतिः, तद्बलादपि [आत्मनोऽनुभवितुर्न क्षणिकत्वम्] ।

भाषार्थ—उपलब्धिके अनन्तर उत्पन्न होता हुआ स्मरण ही अनुस्मृति है उसके बलसे भी प्रतीत होता है कि अनुभव करनेवाला आत्मा क्षणिक नहीं है ।

भाष्य

अपि च वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात् । न च सा सम्भवति, अनुस्मृतेः । अनुभवमुपलब्धिमनूत्पद्यमानं स्मरणमेवाऽनुस्मृतिः सा चोपलब्ध्येककर्तृका सती संभवति, पुरुषान्तरोपलब्धिविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्शनात् । कथं ह्यहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नसति प्रत्ययः स्यात् । अपि च

भाष्यका अनुवाद

और वैनाशिक सब वस्तुओंको क्षणिक मानते हैं, इसलिए उनको उपलब्धा की भी क्षणिकता माननी पड़ेगी । परन्तु उसका सम्भव नहीं है, अनुस्मृतिसे । अनुभव—अर्थात् उपलब्धिके पीछे उत्पन्न होनेवाला स्मरण ही अनुस्मृति है । उसका और उपलब्धिका एक कर्ता हो, तभी वह अनुस्मृति हो सकती है, क्योंकि एकपुरुषकी उपलब्धिके विषयमें अन्य पुरुषकी स्मृति नहीं देखी जाती है । 'मैंने यह देखा' 'मैं यह देखता हूँ' ऐसी प्रतीति पूर्वोत्तर द्रष्टा एक

रत्नप्रभा

आत्मनः क्षणिकत्वं दूषयति—**अनुस्मृतेरिति** । अनुभवजन्या स्मृतिः अनुस्मृतिः, तस्याम् अनुभवसमानाश्रयत्वात् तदुभयाश्रयात्मनः स्थायित्वमित्यर्थः । क्षणिकत्वे ज्ञानद्वयानुसन्धानं च न स्यात् इत्याह—**कथं ह्यहमिति** । पूर्वदर्शनकर्तुरद्राक्षमिति स्मरणकर्त्रा ऐक्यप्रत्यभिज्ञानाच्चात्मनः स्थायित्वमित्याह—**अपि**

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माके क्षणिकत्वको दूषित करते हैं—"अनुस्मृतेः" इत्यादिसे । अनुभवजन्य स्मृतिः अनुस्मृति है, उसका और अनुभवका आश्रय समान होनेसे उन दोनोंका आश्रय आत्मा स्थायी है, ऐसा अर्थ है । यदि आत्मा क्षणिक हो, तो दो ज्ञानोंका अनुसन्धान न होगा, ऐसा कहते हैं—"कथं ह्यहम्" इत्यादिसे । पूर्व दर्शन करनेवालेकी "मैंने देखा" ऐसा स्मरण करने वालेके साथ एकता है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान होनेसे आत्मा स्थायी है, ऐसा कहते हैं—"अपि च"

भाष्य

दर्शनस्मरणयोः कर्तर्येकस्मिन् प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य प्रसिद्धोऽहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति। यदि हि तयोर्भिन्नः कर्ता स्यात्, ततोऽहं स्मराम्यद्राक्षीदन्य इति प्रतीयात्, न त्वेवं प्रत्येति कश्चित्। यत्रैवं प्रत्ययस्तत्र दर्शनस्मरणयोर्भिन्नमेव कर्तारं सर्वलोकोऽवगच्छति, स्मराम्यहमसावदोऽद्राक्षीदिति। इह त्वहमदोऽद्राक्षमिति दर्शनस्मरणयोर्वैनाशिको-

भाष्यका अनुवाद

न हो तो किस प्रकार हो सकती है ? और दर्शन और स्मरणका एक कर्त्ता होनेपर 'मैंने यह देखा था' 'मैं यह देखता हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा—प्रतीति प्रत्यक्ष सर्वलोकमें प्रसिद्ध है। यदि उन दोनों के भिन्नकर्त्ता हों तो 'मैं स्मरण करता हूँ' 'अन्यने देखा था' ऐसी प्रतीति होगी। परन्तु किसी को भी ऐसी प्रतीति नहीं होती। जहाँ ऐसी प्रतीति होती है, वहाँ दर्शन और स्मरणके भिन्न भिन्न कर्त्ताओंको लोग जानते हैं। 'मैं स्मरण करता हूँ' 'उसने यह देखा' यहां तो 'मैंने यह देखा' इस प्रकारसे दर्शन और स्मरणका एक ही कर्तारूपसे वैनाशिक

रत्नप्रभा

चेति। योऽहमदः पूर्वमद्राक्षं स एवाऽहम् अद्य तत् स्मरामि इति प्रत्यभिज्ञानाकारो द्रष्टव्यः। इदं पश्यामीति ज्ञानान्तरसम्बन्धकथनं योऽहमद्राक्षं सोऽहं पश्यामीति प्रत्यभिज्ञानान्तरद्योतनार्थम्। विपक्षे बाधकमाह—यदि हीति। द्रष्टृस्मर्त्रोः भेदे अहं स्मरामि अन्योऽद्राक्षीदिति प्रतीतिः स्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—यत्रैवमिति। प्रत्ययमाह—स्मरामीति। स्मरामि अहम् अन्योऽद्राक्षीद् इति प्रत्ययो यत्र तत्र भिन्नमेव कर्तारं लोकोऽवगच्छति इत्यविवादम् इत्यर्थः। प्रकृतप्रत्यभिज्ञायां तादृशभेदप्रत्ययस्य बाधकस्य अदर्शनादात्मस्थायित्वं दुर्वारम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। 'जिस मैंने वह पूर्वमें देखा, वही मैं उसका आज स्मरण करता हूँ' ऐसा प्रत्यभिज्ञानका स्वरूप समझना चाहिए। 'मैं यह देखता हूँ' यह अन्य ज्ञानके साथ सम्बन्ध का कथन है और 'जिस मैंने देखा, वह मैं देखता हूँ' ऐसे अन्य प्रत्यभिज्ञानको बतानेके लिए है। पूर्वोत्तर प्रतीतिके कर्त्ता भिन्न हों, इसमें बाधक कहते हैं—"यदि हि" इत्यादिसे। द्रष्टा और स्मर्त्ता दो भिन्न हों, तो 'मैं स्मरण करता हूँ, 'अन्यने देखा' ऐसी प्रतीति होगी, उसपर दृष्टान्त कहते हैं—"यत्रैवम्" इत्यादिसे। प्रतीति कहते हैं—"स्मरामि" इत्यादिसे। 'मैं स्मरण करता हूँ, 'अन्यने देखा' ऐसी जहाँ प्रतीति होती है, वहां लोक भिन्न ही कर्त्ता समझते हैं, यह निर्विवाद है, ऐसा अर्थ है। प्रकृतप्रत्यभिज्ञानके वैसे भेदप्रतीतिरूप बाधकके

भाष्य

ऽप्यात्मानमेवैकं कर्तारमवगच्छति, न नाहमित्यात्मनो दर्शनं निर्वृत्तं निह्नुते यथाग्निरनुष्णोऽप्रकाश इति वा। तत्रैवं सत्येकस्य दर्शनस्मरणलक्षण-क्षणद्वयसंबन्धे क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिरपरिहार्या वैनाशिकस्य स्यात्, तथाऽनन्तरामनन्तरामात्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन्नेककर्तृकामोत्तमादु-च्छ्वासादतीताश्च प्रतिपत्तीरा जन्मन आत्मैककर्तृकाः प्रतिसंदधानः कथं

भाष्यका अनुवाद

भी आत्माको मानते हैं, परन्तु 'मैंने नहीं देखा' ऐसा जो पूर्वदर्शन हुआ है, उसका निषेध नहीं करते, जैसे कि अग्नि अनुष्ण है या प्रकाशरहित है, ऐसे अग्निके उष्णत्व और प्रकाशका निषेध नहीं करते, ऐसी अवस्थामें एकका ही दर्शन और स्मरणलक्षण दो क्षणोंके साथ सम्बन्ध होनेपर वैनाशिक क्षणिकत्वका जो स्वीकार करते हैं, उनको उसकी हानि अपरिहार्य होगी, उसी प्रकार अन्तके उच्छ्वासपर्यन्त एक एक [प्रतिपत्ति] के पीछे होनेवाली आत्माकी ही प्रतिपत्तियोंको

रत्नप्रभा

इत्याह—इह त्वहमद इति। यथाऽग्नेरौष्ण्यादिकं न बाधते कश्चित् तथा नाऽ-हमद्राक्षमिति पूर्वदर्शनं न निन्हुत इत्यनेन बाधाभावात् प्रत्यभिज्ञा प्रमेत्युक्तं भवति, तथा द्रष्टृस्मर्त्रोः ऐक्ये सति स्थायित्वं फलितमित्याह—तत्रैवं सतीति। क्षणद्वयसम्बन्धेऽप्यात्मनस्तृतीयक्षणे भङ्गोऽस्त्विति वदन्तं प्रत्याह—तथेति। वर्त-मानदशामारभ्य उत्तमोच्छ्वासाद् अनन्तरामनन्तरां स्वस्यैव प्रतिपत्तिमात्मक-कर्तृकां प्रत्यभिजानन्ना जन्मनश्च वर्तमानदशापर्यन्तम् अतीताः प्रतिपत्तीः स्वक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

न देखनेसे आत्माका स्थायित्व दुर्वार है, ऐसा कहते हैं—"इह त्वहमदः" इत्यादिसे। जैसे अग्निकी उष्णता आदिका कोई अपलाप नहीं करता, वैसे ही 'मैंने नहीं देखा, ऐसे पूर्व दर्शनका कोई निषेध नहीं कर सकता, इससे इस प्रकार बाधन होनेसे प्रत्यभिज्ञान यथार्थ ज्ञान—प्रमा है, ऐसा तात्पर्य है, इस प्रकार द्रष्टा और स्मर्त्ता एक होनेसे उनका स्थायित्व फलित होता है, ऐसा कहते हैं—"तत्रैवं सति" इत्यादिसे। दो क्षणोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी आत्माका तृतीय क्षणमें भंग होता है, ऐसा कहनेवालेसे कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। वर्त्तमान दशासे लेकर अन्तके उच्छ्वास पर्यन्त अर्थात् मरण-पर्यन्त एकके पीछे एक अपनी ही प्रतिपत्तिको आत्मा ही जिसका कर्त्ता है, ऐसा जानता हुआ, उसी प्रकार जन्मसे लेकर वर्त्तमान दशापर्यन्त हुई प्रतिपत्तियाँ आत्मकर्तृक हैं, ऐसा प्रतिसन्धान करते हुए वैनाशिक 'हम क्षणभंगवादी हैं' ऐसा कहते हुए क्यों नहीं लज्जित होते ?

भाष्य

क्षणभङ्गवादी वैनाशिको नाऽपत्रपेत । स यदि ब्रूयात्-सादृश्यादेतत्संपत्स्यते इति । तं प्रति ब्रूयात्, तेनेदं सदृशमिति द्वयायत्तत्वात् सादृश्यस्य क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोर्ग्रहीतुरेकस्याऽभावात् सादृश्यनिमित्तं प्रतिसन्धानमिति मिथ्याप्रलाप एव स्यात्, स्याच्चेत्पूर्वोत्तरयोः क्षणयोः सादृश्यस्य

भाष्यका अनुवाद

[आत्मा ही जिनका एक कर्त्ता है, ऐसी उन प्रतिपत्तियोंको] देखते हुए तथा जन्मसे लेकर आजतक हुई प्रतिपत्तियोंका, आत्मा ही जिनका एक कर्त्ता है, उनका, प्रतिसन्धान करते हुए वैनाशिक क्षणभंगवादी होनेसे क्यों नहीं लज्जित होते। यदि वे ऐसा कहें कि सादृश्यसे ऐसा प्रतिसंधान होता है, तो उनसे कहना चाहिये कि 'तेन इदं सदृशम्' (यह उसके जैसा है) ऐसा सादृश्य दोके अधीन होनेसे दो सदृश वस्तुओंका ग्रहीता क्षणभंगवादीके मतमें एक न होनेसे सादृश्यके कारणसे यह प्रतिसंधान है, ऐसा मिथ्या प्रलाप ही होगा। यदि पूर्व और उत्तर क्षणके सादृश्यका एक ग्रहण

रत्नप्रभा

तृकाः प्रतिसन्दधानः सन्निति योजना। दीपज्वालास्विवाऽऽत्मनि प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यदोषादिति शङ्कते—स इति। सादृश्यज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनत्वात् स्थिरस्य ज्ञातुरसत्त्वान्न सादृश्यज्ञानं सम्भवति, सत्त्वे वाऽपसिद्धान्तः स्यादिति परिहरति—**तमित्यादिना**। स्यादेतत् न सादृश्यप्रत्ययः पूर्वोत्तरवस्तुद्वयज्ञानजन्यवस्तुद्वयसादृश्यावगाही, किं तर्हि? कश्चिदेष विकल्पः स्वाकारमेव बाह्यत्वेन विषयीकुर्वाणः क्षणान्तरास्पर्शी, अतो न स्थिरद्रष्टृपेक्षेति शङ्कते—**तेनेदमिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे दीप ज्वाला एक नहीं है, तो भी प्रत्यभिज्ञान होता है, उसका सादृश्य हेतु है, वैसे आत्मामें सादृश्यदोषसे प्रत्यभिज्ञान होता है, यह सादृश्यकृत भ्रान्ति है, ऐसी शंका करते हैं—"स" इत्यादिसे। धर्मी (जो दो पदार्थोंके सदृश है, वह) और जो प्रतियोगी है, उनके अधीन सादृश्य अधीन होनेसे स्थिर ज्ञाता न होनेके कारण सादृश्यज्ञान नहीं हो सकता और हो, तो अपसिद्धान्त होगा, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"तम्" इत्यादिसे। और शंका करते हैं यह सादृश्यज्ञान नहीं है कि जो पूर्वोत्तर दो वस्तुओंके ज्ञानसे उत्पन्न होता है और उन दोनोंका सादृश्य जिसका विषय है। तब यह क्या है? यह तो कोई विकल्पप्रतीति है और यह विकल्प अपने आकारको ही बाह्य विषयरूपसे मानता है और अन्य क्षणको स्पर्श नहीं करता, इसलिए स्थिर द्रष्टाकी अपेक्षा नहीं है, इस प्रकार शङ्का करते हैं—"तेनेदम्" इत्यादिसे। यहां ऐसा कहना चाहिए कि

भाष्य

ग्रहीतैकः, तथा सत्येकस्य क्षणद्वयावस्थानात् क्षणिकत्वप्रतिज्ञा पीड्येत। तेनेदं सदृशमिति प्रत्ययान्तरमेवेदं न पूर्वोत्तरक्षणद्वयग्रहणनिमित्तमिति चेत् , न; तेनेदमिति भिन्नपदार्थोपादानात्। प्रत्ययान्तरमेव चेत् सादृश्यविषयं स्यात् तेनेदं सदृशमिति वाक्यप्रयोगोऽनर्थकः स्यात्। सादृश्यमित्येव प्रयोगः प्राप्नुयात्। यदा हि लोकप्रसिद्धः पदार्थः परीक्षकैर्न परिगृह्यते, तदा स्वपक्ष-

भाष्यका अनुवाद

करनेवाला है, तो एक होनेसे एकके दो क्षणपर्यन्त अवस्थानसे क्षणिकत्व प्रतिज्ञाका बाध होगा। 'तेन इदं सदृशम्' (वह उसके जैसा है) ऐसी अन्य प्रतीति ही है, पूर्व और उत्तर ये दो क्षण ग्रहणनिमित्त नहीं हैं, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'तेन इदम्' (उसके साथ यह) ऐसे भिन्न पदार्थोंका ग्रहण होता है। यदि अन्य प्रतीति ही सादृश्यविषयक हो, तो 'तेनेदं सदृशम्' (यह उसके सदृश है) ऐसा वाक्यप्रयोग अनर्थक होगा। सादृश्यम् (सादृश्य) ऐसा ही प्रयोग प्राप्त होगा। जब लोकप्रसिद्ध पदार्थका परिग्रहण

रत्नप्रभा

अत्र वक्तव्यम्—सादृश्यप्रत्यये 'तेन' 'इदम्' 'सदृशम्' इति वस्तुत्रयं भासते न वेति? नेति वदतः स्वानुभवविरोधः, किञ्चाऽर्थभेदाभावात् पदत्रयप्रयोगो न स्यात्, तस्मात् पदत्रयेण मिथः संसृष्टभिन्नार्थभानादभानमसिद्धमिति परिहरति—**न तेनेति**। अथ भासते वस्तुत्रयम्, तच्च प्रत्ययाभिन्नमेव, न बाह्यमिति चेत् , न; त्रयाणामेकप्रत्ययाभेदे मिथोऽप्यभेदापत्तेः। इष्टापत्तिरिति ब्रुवाणं विज्ञानवादिनं प्रत्याह—**यदा हीति**। वस्तुत्रयं ज्ञेयं सादृश्यप्रत्ययाद् भिन्नं सर्वलोकप्रसिद्धम्। तच्चेत् नाङ्गीक्रियते स्थायिद्रष्टृप्रसङ्गभयेन, तर्हि तत्तदाकाराणां क्षणिकविज्ञानानां

रत्नप्रभाका अनुवाद

सादृश्यप्रत्ययमें 'तेन' 'इदम्' 'सदृशम्' यह उसके समान है, ऐसे तीन वस्तुओंकी प्रतीति होती है या नहीं? नहीं होती, ऐसा यदि कहो, तो स्वानुभवसे विरोध होगा। और वस्तुओंका भेद न होनेसे तीन पदोंका प्रयोग न होगा, इसलिए तीन पदोंसे परस्पर संसृष्ट हुए भिन्न पदार्थोंका भान होनेसे अभान—भान नहीं होता, ऐसा कहना असिद्ध है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न तेन" इत्यादिसे। अगर 'तेनेदं सदृशम्' यह उसके सदृश है—इसमें तीन वस्तुएँ भासती हैं, परन्तु वे प्रतीतिसे अभिन्न ही हैं, बाह्य वस्तु नहीं हैं, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है। तीन वस्तुएँ एक ही ज्ञान हैं ऐसा कहो, तो परस्पर भिन्न नहीं, ऐसा प्रसंग आवेगा। यह इष्टापत्ति है—इष्ट प्रसङ्ग है, ऐसा कहनेवाले विज्ञानवादीके प्रति कहते हैं—"यदा हि" इत्यादिसे। 'तेनेदं सदृशम्'—यह उसके सदृश है—इसमें वस्तुत्रय ज्ञेय है और वे सादृश्यप्रतीतिसे भिन्न हैं, ऐसा सर्व-

भाष्य

सिद्धिः परपक्षदोषो वोभयमप्युच्यमानं परीक्षकाणामात्मनश्च यथार्थत्वेन न बुद्धिसन्तानमारोहति। एवमेवैषोऽर्थ इति निश्चितं यत्तदेव वक्तव्यम्,

भाष्यका अनुवाद

न करें, तब स्वपक्षकी सिद्धि या परपक्षका दोष दोनों कहे जायँ, तो भी वे यथार्थरूपसे परीक्षकोंके या अपने बुद्धिसंतानमें नहीं आवेंगे। यह पदार्थ ऐसा ही है, ऐसा जो निश्चित है, वही कहना चाहिए। उससे अन्य कहा

रत्नप्रभा

मिथो वार्तानभिज्ञत्वादेकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धानेकपक्षस्फुरणात्मकविप्रतिपत्त्यसम्भवात् स्वपक्षसाधनादिव्यवहारो लुप्येत। अतो यथानुभवं ज्ञानज्ञेयभेदोऽङ्गीकार्यः। तथा च तेनेदं सदृशमिति बाह्यार्थयोर्ज्ञानपूर्वकं सादृश्यं जानत आत्मनः स्थायित्वं दुर्वारमित्यर्थः। ननु सन्त्येव बाह्यार्थाः क्षणिकस्वलक्षणा निर्विकल्पकग्राह्याः, सविकल्पाध्यवसेयास्तु स्थायित्वसादृश्यादयो बाह्याः कल्पिता अवभासन्ते, अतो विप्रतिपत्त्यादिव्यवहार इति बाह्यार्थवादमाशङ्क्य निरस्यति—**एवमेवेति**। यत् प्रमाणसिद्धं तदेव वक्तव्यम्, नहि क्षणिकत्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति। न चेदानीं घट इति प्रत्यक्षमवर्तमानकालासत्त्वं घटस्य गोचरयद् वर्तमानक्षणमात्रसत्त्वरूपे क्षणिकत्वे मानमिति वाच्यम्। तस्य वर्तमानत्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

लोकप्रसिद्ध है। यदि तुम स्थायी द्रष्टाका प्रसंग आनेके भयसे उन्हें न स्वीकार करो, तो तत् तत् आकारवाले क्षणिक विज्ञानोंका परस्पर सम्बन्ध न होनेसे एक धर्मीमें विरुद्ध अनेक पक्षोंकी स्फुरणरूप विप्रतिपत्तिका असम्भव होनेसे स्वपक्षकी साधना या परपक्षका आक्षेप इत्यादि व्यवहार लुप्त हो जायँगे। इसलिए अनुभवके अनुसार ज्ञान और ज्ञेयका भेद स्वीकार करना चाहिए। इसलिए 'तेनेदं सदृशम्' ऐसे बाह्य पदार्थका ज्ञानपूर्वक सादृश्य जाननेवाले आत्माका स्थायित्व दुर्वार है, ऐसा अर्थ है। बाह्य अर्थ हैं, वे क्षणिक अर्थ निर्विकल्पक ज्ञानमें भासते हैं, परन्तु सविकल्पक ज्ञानके विषय स्थायित्व, सादृश्य आदि बाह्य पदार्थ तो कल्पित ही भासते हैं, इससे विप्रतिपत्ति आदि व्यवहार सिद्ध होगा, ऐसी बाह्यार्थवादकी आशङ्का करके उसका निरसन करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। जो प्रमाणसिद्ध है वही कहना चाहिए। बाह्य अर्थ क्षणिक है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। इदानीं घटः—इस समय घट है, यह प्रत्यक्ष घटका अवर्त्तमान कालमें असत्त्व दिखलाता है, इससे वर्तमान कालमात्रमें सत्त्वरूप क्षणिकत्व प्रमाणभूत

भाष्य

ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः केवलं प्रख्यापयेत्। न चायं सादृश्यात् संव्यवहारो युक्तः, तद्भावावगमात् तत्सदृशभावानवगमाच्च। भवेदपि

भाष्यका अनुवाद

जाय, तो वह केवल आप बहुप्रलापी हैं, ऐसा सिद्ध करेगा। और सादृश्यसे यह व्यवहार है, यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'वही यह' ऐसा तद्भावका ज्ञान होता है, 'उसके सदृश यह' इस प्रकार तत्सदृशभावका ज्ञान नहीं होता है। बाह्य

रत्नप्रभा

मात्रगोचरत्वेन कालान्तरासत्त्वासिद्धः। न च यत् सत्, तत् क्षणिकमिति व्याप्तिरस्ति, विद्युदादेरपि द्वित्रिक्षणस्थायित्वेन दृष्टान्ताभावात्। न च स्थायिनमनुमातारमन्तरेणानुमानं सम्भवति, तस्मादनुमानसिद्धार्थवक्ता तथागतोऽश्रद्धेयवचन इत्यर्थः। किञ्च, सादृश्यं प्रत्यभिज्ञायां दोषतया निमित्तम्, विषयतया वा? आद्येऽपि स्वरूपसत्, ज्ञातं वा? नाद्यः, मन्दान्धकारे शुक्तिमात्रग्रहे श्वैत्याज्ञानेऽपि रूप्याभेदभ्रमापत्तेः। न द्वितीयः, स्थायिज्ञातारं विना तज्ज्ञानासम्भवस्योक्तत्वात्। नापि विषयतया निमित्तमित्याह—**न चेति**। सोऽहमित्युल्लेखात्तेनाहं सदृश इति अनुल्लेखादित्यर्थः। सोहमिति प्रत्यभिज्ञाया भ्रमत्वं निरस्य संशयत्वं निरस्यति—**भवेदिति**। जडार्थे प्रत्यभिज्ञातेऽपि बाधसम्भावनया संशयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, यह कहना अयुक्त हैं, क्योंकि वह प्रत्यक्ष वर्तमान कालमात्र दिखलाता है, इससे अन्य कालमें असत्त्व सिद्ध नहीं होता। जो सत्—विद्यमान है, वह क्षणिक है, ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है, क्योंकि उसमें दृष्टान्त नहीं है, कारण कि विद्युत् आदि भी दो तीन क्षण स्थायी हैं। और स्थायी अनुमाताके बिना अनुमान नहीं हो सकता, इसलिए अनुमानसिद्ध अर्थको कहनेवाले बौद्धका वचन श्रद्धेय नहीं है, ऐसा अर्थ है। और प्रत्यभिज्ञामें सादृश्य दोषरूपसे निमित्त है या विषयरूपसे? प्रथम पक्षमें स्वरूपसत् सादृश्य निमित्त है अथवा ज्ञात सादृश्य? प्रथम पक्षका स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि मन्द अन्धकारमें शुक्तिमात्रका ग्रहण होनेपर शुक्लताका ज्ञान न होनेपर भी चांदीके अभेदभ्रमकी आपत्ति होगी। दूसरा पक्षभी नहीं है, क्योंकि स्थायी ज्ञाताके बिना उसके ज्ञानका असम्भव कहा ही है। विषयरूपसे भी वह निमित्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। इसमें 'सोऽहम्' (वही मैं हूं) ऐसा उल्लेख है, 'तेनाहं सदृशः' (मैं उसके सदृश हूँ) ऐसा उल्लेख नहीं है, ऐसा अर्थ है। 'सोऽहम्' इस प्रत्यभिज्ञाके भ्रमत्वका निराकरण करके संशयत्वका निराकरण करते हैं—"भवेत्" इत्यादिसे। जड़ पदार्थोंके प्रत्यभिज्ञात होनेपर भी बाधकी

भाष्य

कदाचिद्बाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसंभवात् तदेवेदं स्यात्तत्सदृशं वेति सन्देहः, उपलब्धरि तु सन्देहोऽपि न कदाचिद् भवति—स एवाहं स्यां तत्सदृशो वा इति। य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चिततद्भावोपलम्भात्। तस्मादप्यनुपपन्नो वैनाशिकसमयः ॥ २५ ॥

भाष्यका अनुवाद

वस्तुमें विप्रलम्भके संभवसे वही यह है, या उसके तरह है, ऐसा कदाचित् संशय होगा भी, परन्तु उपलब्धा आत्मामें तो वही मैं हूँ या उसके सदृश हूँ, ऐसा संदेह कभी भी नहीं होता, क्योंकि जिस मैंने अतीत कालमें देखा, वही मैं अब स्मरण करता हूं, ऐसे निश्चित वही होनेपनेका ज्ञान होता है। इससे सभी वैनाशिक दर्शन अनुपपन्न हैं ॥२५॥

रत्नप्रभा

कदाचित् स्यात् नात्मनीत्यर्थः। असन्दिग्धाविपर्यस्तप्रत्यभिज्ञाविरोधादात्मक्षणिकत्वमतमत्यन्तासङ्गतमित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ २५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्भावनासे कभी संशय हो सकता है, आत्मामें नहीं हो सकता ऐसा अर्थ है। असदिग्ध और अविपर्यस्त प्रत्यभिज्ञाका विरोध होनेसे आत्मा क्षणिक है बौद्धोंका यह मत अत्यन्त असङ्गत है, इसका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ २५ ॥

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—न, असतः, अदृष्टत्वात्।

पदार्थोक्ति—असतः—अभावात्, न—कार्योत्पत्तिर्न युक्ता, [कुतः] अदृष्टत्वात्—निरुपाख्यान्नरविषाणादेः कार्योत्पत्तेरदृष्टत्वात्।

भाषार्थ—अभावसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि असत् नरशृङ्ग आदिसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती।



भाष्य

इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायि कारणमनभ्युपगच्छतामभावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्येत । दर्शयन्ति चाऽभावाद्भावोत्पत्तिम्—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इति । विनष्टाद्धि किल बीजादङ्कुर उत्पद्यते, तथा विनष्टात् क्षीराद् दधि, मृत्पिण्डाच्च घटः । कूटस्थाच्चेत् कारणात् कार्यमुत्पद्येताविशेषात् सर्वं सर्वत उत्पद्येत । तस्मादभावग्रस्तेभ्यो बीजादिभ्यो-

भाष्यका अनुवाद

इससे भी वैनाशिक दर्शन अनुपपन्न है, क्योंकि स्थिर, अनुयायी कारणका स्वीकार न करनेवालोंके मतमें अभावसे भावकी उत्पत्ति होगी, ऐसा प्रसङ्ग आवेगा। और ये लोग अभावसे भावकी उत्पत्ति दिखलाते भी हैं—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (कारणके नाश हुए बिना नहीं, किन्तु कारणके नाश होनेपर ही प्रादुर्भाव होनेसे) विनष्ट बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होता है, तथा विनष्ट दूधसे दही उत्पन्न होता है और विनष्ट मृत्तिकाके पिण्डसे घट उत्पन्न होता है। कूटस्थ कारणसे यदि कार्य उत्पन्न हो, तो विशेष न होनेके कारण सब सबसे

रत्नप्रभा

'अभावः शशविषाणवदत्यन्तासन्नित्यङ्गीकृत्य मृदादिनाशादसतो घटादिकं जायते' इति सुगता वदन्ति, तद् दूषयति—**नासत** इति । न केवलं बलादापाद्यते, किन्तु स्वयं दर्शयन्ति च । द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः । मृदादिकं उपमृद्य घटादेः प्रादुर्भावादितीममर्थमाह—**विनष्टादिति** । कारणविनाशात् कार्यजन्मेत्यत्र युक्तिमाह—**कूटस्थादिति** । विनाशशून्यात्—नित्यादित्यर्थः । नित्यस्य निरतिशयस्य कार्यशक्तत्वे तत्कार्याणि सर्वाण्येकस्मिन्नेव क्षणे स्युः, तथा चोत्तरक्षणे

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभाव शशविषाणके समान अत्यन्त असत्—अविद्यमान है, ऐसा अङ्गीकार करके मृत्तिकादिनाश जो असत् है, उससे घट आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, ऐसा सौगत कहते हैं, उसको दूषित करते हैं—"नासतः" इत्यादिसे। केवल बलसे प्रसंग आता है, ऐसा नहीं है, परन्तु बौद्ध स्वयं भी दिखलाते हैं। 'नानुपमृद्य' इसमें दो नकार प्रकृत अर्थको दृढ़ करते हैं। मृदादि कारणोंके नाश होनेपर ही घटादि कार्योंकी उत्पत्ति होती है, ऐसा अर्थ कहते हैं—"विनष्टात्"—इत्यादिसे। कारणके विनाशसे कार्यका जन्म होता है, इसमें युक्ति कहते हैं—"कूटस्थात्" इत्यादिसे। 'कूटस्थ'—विनाशशून्य, नित्य। यदि नित्य निरतिशय कार्योत्पादनमें समर्थ हो, तो उसके सभी कार्य एक ही क्षणमें—क्रमके बिना उत्पन्न हो जायँगे, इससे उत्तर क्षणमें

भाष्य

ङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वादभावाद्भावोत्पत्तिरिति मन्यन्ते । तत्रेदमुच्यते— 'नासतोऽदृष्टत्वात्' इति । नाभावाद्भाव उत्पद्यते, यद्यभावाद्भाव उत्पद्येताऽभावत्वाविशेषात् कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात् । नहि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याऽभावस्य शशविषाणादीनां च निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन बीजादेवाङ्कुरो जायते, क्षीरादेव

भाष्यका अनुवाद

उत्पन्न होगा । इसलिए अभावसे ग्रस्त हुए बीजादिकोंसे अङ्कुर आदिके उत्पन्न होनेसे अभावसे भावकी उत्पत्ति होती है, ऐसा वे मानते हैं। इसपर यह कहते हैं— 'नासतोऽदृष्टत्वात्' । अभावसे भाव उत्पन्न नहीं होता, यदि अभावसे भाव उत्पन्न हो, तो अभावत्वके समान होनेसे कारण विशेषका स्वीकार अनर्थक हो जायगा । विनष्ट हुए बीजादिकोंका जो अभाव है, उस अभावमें और शशशृङ्ग आदिमें निःस्वभावत्वकी समानता होनेसे कुछ विशेष नहीं है जिससे कि बीजसे ही अङ्कुर उत्पन्न होता है और क्षीरसे ही दही उत्पन्न होता है, इस

रत्नप्रभा

कार्य्याभावादसत्त्वापत्तिः । न च सहकारिकृतातिशयक्रमात् कार्यक्रम इति युक्तम् । अतिशयस्यातिशयान्तरापेक्षायाम् अनवस्थानात् । अनपेक्षायां कार्यस्याप्यतिशयानपेक्षत्वेन सहकारिवैयर्थ्यात् । तस्मान्न स्थायिभावात् कार्य्यजन्मेत्यर्थः । क्षणिकभावस्य हेतुत्वम् "उत्तरोत्पादे च" (ब्र० सू० २।२।२०) इत्यत्र निरस्तम् । अभावस्य हेतुत्वनिरासार्थं सूत्रं व्याचष्टे—तत्रेदमिति । यदि बीजाभावस्याभावान्तराद्विशेषः स्यात्, तदा विशेषवदभावद्वारा बीजादेवाङ्कुर इति लौकायतिकानामभ्युपगमोऽर्थवान् स्यात्, न सोऽस्तीत्याह—येनेति । सूत्रं योजयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यके अभावसे कारणके अर्थक्रियाकारी न होनेसे उनके असत् होनेका प्रसंग आवेगा। कारण समर्थ है, तो भी सहकारीकी सन्निधिकी अपेक्षासे ही कार्यजनक है, ऐसा कहना युक्त नहीं है। अनपेक्षा माननेमें कार्यको भी अतिशयकी अनपेक्षा होनेसे सहकारी व्यर्थ हो जायगा, इसलिए स्थायी भावसे कार्यका जन्म नहीं होता है, ऐसा अर्थ है । क्षणिक भाव कार्यका हेतु नहीं हो सकता, ऐसा 'उत्तरोत्पादे च' इस सूत्रमें प्रतिपादन किया जा चुका है, अभाव हेतु नहीं हो सकता, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए यह सूत्र है, उसका व्याख्यान करते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे। यदि बीजके अभावमें अन्य अभावसे कुछ विशेष हो, तो विशेषयुक्त अभावके द्वारा बीजसे अङ्कुर होता है, यह लौकायतिकोंका स्वीकार सार्थक हो, परन्तु वह

भाष्य

दधीत्येवंजातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान् स्यात् । निर्विशेषस्य त्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन्, न चैवं दृश्यते । यदि पुनरभावस्यापि विशेषोऽभ्युपगम्येतोत्पलादीनामिव नीलत्वादिस्ततो विशेषवत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत् प्रसज्येत । नाऽप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः स्यात्, अभावत्वादेव शशविषाणादिवत् । अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्वितमेव सर्वं कार्यं स्यात्, न चैवं दृश्यते । सर्वस्य च वस्तुनः स्वेन स्वेन रूपेण भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात् । न च

भाष्यका अनुवाद

प्रकार के कारणविशेष का स्वीकार प्रयोजनवाला हो । जिससे विशेष चला गया है, ऐसे अभावको कारणरूप माननेसे शशविषाण आदिसे भी अंकुरादि उत्पन्न होंगे, परंतु ऐसा देखनेमें नहीं आता । यदि जैसे नीलत्व आदि कमलके विशेष हैं, वैसे अभावका भी विशेष स्वीकार किया जाय, तो विशेष होनेसे कमल आदिके समान अभावको भी भाव होनेका प्रसंग आवेगा । और अभाव किसीकी उत्पत्तिका हेतु भी नहीं हो सकता, अभाव होनेसे ही शशविषाण आदिके समान । इसी प्रकार यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति होती, तो सर्व कार्य अभावसे अन्वित ही होते, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता । क्योंकि सब वस्तुएँ अपने अपने भाव-

रत्नप्रभा

निर्विशेषस्येति । शशविषाणादेः कार्यकारित्वस्यादृष्टत्वान्नाभावस्याऽसतो हेतुत्वमित्यर्थः । अस्त्वभावस्यापि विशेष इत्यत आह—**यदीति** । अभावस्य हेतुत्वेऽतिप्रसङ्ग इति तर्कमुक्त्वाऽनुमानमाह—**नाऽपीति** । अभावः न हेतुः, असत्त्वात्, सम्मतवदित्यर्थः । अभावः न प्रकृतिः, कार्याननिवतत्वाद्, यथा शरावाद्यनन्वितस्तन्तुर्न शरावादिप्रकृतिरिति तर्कमाह—**अभावाच्चेति** । अतोऽन्वित-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, ऐसा कहते हैं—"येन" इत्यादिसे । सूत्रकी योजना करते हैं—"निर्विशेषस्य" इत्यादिसे । शशविषाण आदि कार्यकारी नहीं दीखते, इससे अभाव जो असत् है, वह हेतु नहीं हो सकता, ऐसा अर्थ है । अभावमें भी विशेष रहे इस शंकापर कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे । अभावको हेतु माननेमें अतिप्रसंग होगा, ऐसा कहकर अनुमान कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे । 'अभाव हेतु नहीं है, असत्त्वसे, सम्मतके (शशविषाण आदिके) समान' ऐसा अनुमानका प्रयोग है । अभाव प्रकृति नहीं है, कार्यमें अन्वित न होनेसे, जैसे शराव आदिमें अन्वित न होनेसे तन्तु शराव आदिका हेतु नहीं है ऐसे तर्कको कहते हैं—"अभावाच्च" इत्यादिसे । इसलिए अन्वित होनेसे मिट्टी आदि भाव पदार्थ

भाष्य

मृदन्विताः शरावादयो भावास्तन्त्वादिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते । मृद्विकारानेव तु मृदन्वितान्भावाँल्लोकः प्रत्येति । यत्तूक्तम्—स्वरूपोपमर्दमन्तरेण कस्यचित् कूटस्थस्य वस्तुनः कारणत्वानुपपत्तेरभावाद्भावोत्पत्तिर्भवितुमर्हति–इति । तद् दुरुक्तम्, स्थिरस्वभावानामेव सुवर्णादीनां प्रत्यभिज्ञायमानानां रुचकादिकारणभावदर्शनात्, येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमर्दो लक्ष्यते, तेष्वपि नाऽसावुपमृद्यमाना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारण-

भाष्यका अनुवाद

स्वरूपसे ही उपलब्ध होती हैं। मृत्तिकासे अन्वित शराव आदि पदार्थ, तन्तु आदिके विकार हैं, ऐसा कोई नहीं मानता। लोक मृत्तिकाके विकारोंको ही मृत्तिकासे अन्वित हुए भावरूपसे ग्रहण करते हैं, स्वरूपके नाशके बिना कोई कूटस्थ वस्तु कारण हो, यह युक्त न होनेसे अभावसे भावकी उत्पत्ति होती है, यह युक्त है, ऐसा जो कहा है, वह अयुक्त कहा है, क्योंकि स्थिर स्वभाववाले प्रत्यभिज्ञायमान सुवर्णादि रुचक आदिके कारण दिखाई देते हैं। जिन बीज आदिमें स्वरूपका नाश दिखाई देता है, वहां भी नष्ट होती हुई पूर्व अवस्था ही उत्तर अवस्थाकी कारण मानी जाती है।

रत्नप्रभा

त्वान्मृदादिर्भाव एव प्रकृतिरित्याह—मृदिति । स्थायिनः कारणत्वायोगमुक्तमनूद्य दूषयति—यत्तूक्तमित्यादिना । अनुभवबलात् स्थिरस्वभावानामेव सहकारिसन्निधिक्रमेण कार्यक्रमहेतुत्वमङ्गीकार्यम् । न च शक्तस्य सहकार्यपेक्षा न युक्तेति वाच्यम्, यतोऽशक्तस्यापि नापेक्षेति असहकारि विश्वं स्यात् । ततः स्वर्णादौ स्वतोऽतिशयशून्येऽग्नितापादिसहकारिकृतातिशयक्रमाद्रुचकादिकार्यक्रमः । न चातिशयस्यातिशयान्तरानपेक्षत्वे कार्यस्याप्यनपेक्षेति वाच्यम्, पटस्य मृदन-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही प्रकृति है ऐसा कहते हैं—"मृत्" इत्यादिसे। स्थायी पदार्थ कारण नहीं हो सकता है इस पूर्वोक्तका अनुवाद करके दूषित करते हैं—"यत्तूक्तम्" इत्यादिसे। अनुभवबलसे स्थिर भाव पदार्थ ही सहकारीकी संनिधिके क्रमसे कार्यक्रमके हेतु हैं ऐसा अंगीकार करना चाहिए। समर्थको सहकारीकी अपेक्षा नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि असमर्थको भी सहकारीकी अपेक्षा नहीं है ऐसी स्थितिमें सब कार्य सहकारीके बिना ही उत्पन्न हों। उससे स्वतः अतिशयरहित सुवर्ण आदिके अग्नितापादि सहकारी द्वारा निष्पादित अतिशयक्रमसे रुचक आदि कार्यक्रमकी उत्पत्ति होती है। एक अतिशयको दूसरे अतिशयकी अपेक्षा न होनेपर कार्यको भी अतिशयकी अपेक्षा नहीं होगी, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि पटको मृत्तिकाकी अपेक्षा न होनेपर कार्यत्वसे

भाष्य

मभ्युपगम्यते, अनुपमृद्यमानानामेवाऽनुयायिनां बीजाद्यवयवानामङ्कुरादिकारणभावाभ्युपगमात्, तस्मादसद्भ्यः शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात् सद्भ्यश्च सुवर्णादिभ्यः सदुत्पत्तिदर्शनादनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः। अपि च चतुर्भिश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते, परमाणुभ्यश्च भूतभौतिकलक्षणः समुदाय उत्पद्यते इत्यभ्युपगम्य पुनरभावाद् भावोत्पत्तिं कल्पयद्भिरभ्युपगतमपह्नुवानैर्वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते ॥२६॥

भाष्यका अनुवाद

ऐसा नहीं है, क्योंकि बीज आदिके विनष्ट न हुए अनुयायी अवयव ही अङ्कुरादिके कारण हैं ऐसा स्वीकार है। इसलिए अविद्यमान शशविषाण आदिसे विद्यमानकी उत्पत्ति देखनेमें न आनेसे और विद्यमान सुवर्ण आदिसे विद्यमान रुचक आदिकी उत्पत्ति देखनेमें आनेसे अभावसे भावकी उत्पत्ति है, यह स्वीकार अनुपपन्न है। और चार अधिपति आदि प्रत्ययोंसे चित्त और चैत्त उत्पन्न होते हैं और परमाणुओंसे भूत भौतिकस्वरूप समुदाय उत्पन्न होता है, ऐसा स्वीकार करके फिर अभावसे भावकी उत्पत्तिकी कल्पना करनेवाले और पूर्व स्वीकृतका निषेध करनेवाले वैनाशिकोंसे सब लोक आकुल किया जाता है ॥२६॥

रत्नप्रभा

पेक्षत्वे कार्यत्वाविशेषात् घटस्यापि मृदनपेक्षाप्रसंगात्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामपेक्षा सहकारिष्वपि तुल्या। यदुक्तं कार्याभावदशायां कारणस्याऽसत्त्वापत्तिरिति, तन्न; अकारणस्याऽपि बाधाभावेन सत्त्वोपपत्तेः। नहि अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम्। असतस्तद्योगेन सत्त्वस्य ततो भेदात्। सतो ह्यर्थक्रियाकारित्वं नाऽसतः। अतः कारणतावच्छेदकमबाधितस्वरूपात्मकं सत्त्वं कारणत्वाद् भिन्नमेव। तस्मादनुस्यूतस्थिरभावानां हेतुत्वमुपपन्नमिति भावः। पूर्वापरविरोधमप्याह—अपि चेति ॥२६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

समानता होनेके कारण घटको भी मिट्टीकी अपेक्षा नहीं है ऐसा प्रसङ्ग आवेगा। अन्वय और व्यतिरेकसे सहकारियोंमें भी अपेक्षा समान है। जो यह कहा गया है कि कार्यकी अभावदशामें कारणके अभावकी प्राप्ति होगी, सो ठीक नहीं है, क्योंकि बाध न होनेसे कारणरहितमें भी सत्त्व उपपन्न होता है। अर्थक्रियाकारी ही सत् है, ऐसा कोई नियम नहीं है। असत्में अर्थक्रियाकारित्वका योग नहीं है, अतः सत् उससे भिन्न है। इसलिए कारणताका अवच्छेदक—व्यापक और अबाधितस्वरूप सत्त्व कारणत्वसे भिन्न ही है। इससे सिद्ध हुआ कि अनुस्यूत स्थिर भावका हेतु होना युक्त है, ऐसा तात्पर्य है। पूर्वापरका विरोध भी कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥२६॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

पदच्छेद—उदासीनानाम्, अपि, च, एवम्, सिद्धिः ।

पदार्थोक्ति—एवम्—अभावाद् भावोत्पत्त्यङ्गीकारे, उदासीनानामपि—तत्तत्कार्यसाधनेषु अप्रवर्तमानानामपि जनानाम्, सिद्धिः—स्वस्वाभिमतकार्यसिद्धिः स्यात् [अतो वैभाषिकसौत्रान्तिकयोः मतं भ्रान्तिमूलमेवेति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—अभावसे भावकी उत्पत्ति माननेमें तत् तत् कार्योंको सिद्ध करनेमें प्रवृत्त न हुए लोगोंके भी अपने अपने अभीष्ट कार्य सिद्ध होंगे । इससे सिद्ध हुआ कि वैभाषिक और सौत्रान्तिकका मत भ्रान्तिमूलक ही है ।

भाष्य

यदि चाऽभावाद् भावोत्पत्तिरभ्युपगम्येत, एवं सत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमतसिद्धिः स्यात्, अभावस्य सुलभत्वात् । कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रयतमानस्याऽपि सस्यनिष्पत्तिः स्यात्, कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याऽप्यमत्रोत्पत्तिः, तन्तुवायस्याऽपि तन्तूनतन्वानस्याऽपि तन्वानस्येव वस्त्रलाभः । स्वर्गापवर्गयोश्च न कश्चित् कथंचित् समीहेत । न चैतद् युज्यतेऽभ्युपगम्यते वा केनचित् । तस्मादप्यनुपपन्नोऽयमभावाद् भावोत्पत्त्यभ्युपगमः ॥ २७ ॥

भाष्यका अनुवाद

और यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति मानी जाय, तो ऐसी स्थितिमें उदासीन—चेष्टाशून्य जनोंके भी अभिमत कार्यकी सिद्धि हो जायगी, क्योंकि अभाव सब जगह सुलभ है । किसानके खेतके कार्यमें प्रयत्न न करनेपर भी उसको अनाजकी प्राप्ति हो जायगी और कुम्हारके मृत्तिकाके संस्कारमें प्रयत्न न करनेपर भी वर्त्तन उत्पन्न हो जायँगे । और जुलाहेको तन्तुओंकी तानीभरनी न करनेपर भी बुननेवालेकी तरह वस्त्रका लाभ होगा । और स्वर्ग और अपवर्गके लिए कोई भी किसी प्रकारका प्रयत्न न करेगा । यह युक्त नहीं है और कोई ऐसा मानता भी नहीं है । इसलिए अभावसे भावकी उत्पत्तिका स्वीकार अनुपपन्न है ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

अभावादुत्पत्तौ शशविषाणदप्युत्पत्तिः स्यादित्युक्तम् । अतिप्रसंगान्तरमाह—**उदासीनानामिति** । अनीहमानानां प्रयत्नशून्यानाम् । अमत्रम्—घटादिपात्रम् । तन्वानस्य—व्यापारयतः । तस्माद् भ्रान्तिमूलेन क्षणिकबाह्यार्थवादेन कूटस्थनित्यब्रह्मसमन्वयस्य न विरोध इति सिद्धम् ॥ २७ ॥ (४) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभावसे भावकी उत्पत्ति माननेमें शशविषाणसे भी कार्य्यकी उत्पत्ति होगी, ऐसा कहा जा चुका है । अब अन्य अतिप्रसङ्ग कहते हैं—"उदासीनानाम्" इत्यादिसे । अनीहमानानाम्—चेष्टाशून्य अर्थात् प्रयत्नरहित । अमत्र—घट आदि पात्र । तन्वानस्य—तानीभरनी व्यापार करते हुए । इससे सिद्ध हुआ कि भ्रान्तिमूलक क्षणिक बाह्यपदार्थवादसे कूटस्थ, नित्य ब्रह्मसमन्वयका विरोध नहीं है ॥ २७ ॥

[५ अभावाधिकरण सू० २८—३२]

विज्ञानस्कन्धमात्रत्वं युज्यते वा न युज्यते ।
युज्यते स्वप्नदृष्टान्ताद् बुद्ध्यैव व्यवहारतः ॥१॥
अबाधात् स्वप्नवैषम्यं बाह्यार्थस्तूपलभ्यते ।
बहिर्वदिति तेऽप्युक्तिर्नाऽतो धीरर्थरूपभाक् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—विज्ञानस्कन्धमात्रता युक्त है अथवा नहीं ? अर्थात् केवल विज्ञान ही है बाह्य पदार्थ नहीं हैं बौद्धोंका यह कथन युक्त है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—स्वप्नके दृष्टान्तसे केवल बुद्धिसे ही व्यवहार हो सकता है, इसलिए विज्ञानस्कन्धमात्रता युक्त है ।

सिद्धान्त—स्वप्न दृष्टान्त विषम है, क्योंकि जाग्रत् व्यवहारका बाध नहीं होता, और बाह्यवस्तु उपलब्ध होती है 'बहिर्वत्' यह तुम्हारी उक्ति भी है, अतः बुद्धि पदार्थ-रूप नहीं है ।

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

पदच्छेद—न, अभावः, उपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—न अभावः—विज्ञानव्यतिरिक्तानामभावो न संभवति, [कुतः] उपलब्धेः—विज्ञानातिरिक्तानामर्थानां 'घटः' 'पटः' इत्याद्यनुभवसिद्धत्वात् ।

भाषार्थ—विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थोंका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थ 'यह घट है' 'यह पट है' इत्यादि अनुभवसे सिद्ध हैं ।

---

* निष्कर्ष यह है कि कोई बौद्ध बाह्य अर्थका अपलाप करते हुए केवल विज्ञान ही तत्त्व है ऐसा कहते हैं । उसमें व्यवहारकी अनुपपत्ति भी नहीं है, क्योंकि जैसे स्वप्नमें बाह्य अर्थकी अपेक्षा न करके केवल बुद्धिसे व्यवहार दिखाई देता है, उसी प्रकार जाग्रद् व्यवहारकी भी उपपत्ति होगी । इससे विज्ञानस्कन्धमात्रता युक्त है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—स्वप्न दृष्टान्त विषम है, क्योंकि प्रबोध दशामें स्वप्न व्यवहारका बाध होता है। जाग्रद्व्यवहारका कहींपर भी बाध नहीं देखा जाता है । बाह्य अर्थके सद्भावमें प्रमाणका अभाव है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उपलब्धि ही प्रमाण है । घट आदि पदार्थ बाह्यरूपसे उपलब्ध होते हैं । यदि कहो कि बुद्धि ही बाह्य घट आदिके समान भासित होती है । कहा है—जो आन्तर ज्ञेय तत्त्व है, वह बाह्यके समान अवभासित होता है । ऐसी स्थितिमें तुम्हारी उक्ति ही बाह्य अर्थके सद्भावमें प्रमाण है ऐसा हम कहते हैं । बाह्य अर्थके अभावमें कहींपर भी उसकी स्थिति न होनेसे 'बहिर्वत्' यह उपमानकी उक्ति संगत नहीं होगी । इससे सिद्ध हुआ कि बाह्य पदार्थोंके सद्भावसे विज्ञानमात्रत्व युक्त नहीं है ।

भाष्य

एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञानवादी बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठते—केषांचित् किल विनेयानां बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनुरोधेन बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता। नाऽसौ सुगताभिप्रायः। तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एवाऽ-

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार बाह्यार्थवादका आश्रय करके समुदायकी अप्राप्ति आदि दूषणोंके प्रकट किये जानेपर अब विज्ञानवादी बौद्ध विवादके लिये उपस्थित होता है—कितने ही शिष्योंका बाह्य अर्थोंमें अभिनिवेश देखकर उनके अनुरोधसे यह बाह्यार्थवादीकी प्रक्रिया रची गई है। वास्तवमें यह सुगतका

रत्नप्रभा

नाभाव उपलब्धेः। अखण्डनिर्विशेषं ब्रह्म विज्ञानं बाह्यार्थोपादानं वदतां वेदान्तानां भिन्नं साकारं क्षणिकं विज्ञानं न ततोऽन्योऽर्थोऽस्तीति योगाचारमतेन विरुध्यते न वा इति तन्मतस्य मानभ्रान्तिमूलत्वाभ्यां संशये पूर्वोक्तबाह्यार्थवादनिरासम् उपजीव्य पूर्वपक्षमाह—**एवमित्यादिना**। पूर्वोत्तरपक्षयोः विरोधाविरोधौ फलम्। ननु एकस्य सुगतागमस्य कथं बाह्यार्थसत्त्वासत्त्वयोः तात्पर्यं विरोधाद् इत्याशङ्क्याऽधिकारभेदाद् अविरोध इति वदन् विज्ञानवादिनः सुगताभिप्रायज्ञत्वेन मन्दाधिकारिभ्यो बाह्यार्थवादिभ्यः श्रैष्ठ्यमाह—**केषांचिदिति**। उक्तं च धर्मकीर्तिना "देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः" इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नाभाव उपलब्धेः" इत्यादि। अखण्ड निर्विशेष विज्ञानरूप ब्रह्म बाह्यपदार्थका—जगत्‌का उपादान है, ऐसा वेदान्त प्रतिपादन करते हैं, उन वेदान्तोंसे विज्ञान भिन्न, साकार और क्षणिक है और उससे अन्य अर्थ नहीं है, इस योगाचार मतका विरोध है या नहीं? योगाचारका मत प्रमाणमूलक है, या भ्रान्तिमूलक है? ऐसा संशय होनेपर पूर्वोक्त बाह्यार्थवादके निराकरणके आधारपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। [पूर्वपक्षमें विज्ञानवादके प्रामाणिक होनेसे उसके साथ विरोध होनेसे वेदान्तसमन्वयकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें विज्ञानवाद भ्रान्त होनेसे उसके साथ विरोधके आभासमात्र होनेसे वेदान्तसमन्वयकी सिद्धि फल है] इस प्रकार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षमें क्रमसे वेदान्तसमन्वयके साथ विरोध और अविरोध फल हैं। परन्तु सुगतका शास्त्र एक है, उसका बाह्य अर्थकी सत्ता और असत्तामें तात्पर्य कैसे है? क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आवेगा, ऐसी आशङ्का करके अधिकारीके भेदसे अविरोध कहते हुए विज्ञानवादी सुगतके अभिप्रायको जानते हैं, इसलिए वे मन्द अधिकारी बाह्यार्थवादीसे श्रेष्ठ हैं, ऐसा कहते हैं—"केषांचित्" इत्यादिसे। और

भाष्य

भिप्रेतः । तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेणाऽन्तःस्थ एव प्रमाण-प्रमेयफलव्यवहारः सर्व उपपद्यते, सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात् । कथं पुनरवगम्यतेऽन्तःस्थ एवाऽयं सर्वव्यवहारो न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति, तदसंभवा-

भाष्यका अनुवाद

अभिप्राय नहीं है। उनको तो केवल विज्ञानस्कन्धवाद ही इष्ट है। उस विज्ञानवादके बुद्धिमें आरूढ़ होनेसे प्रमाण, प्रमेय, फल रूप अन्तःस्थ सब व्यवहार उपपन्न होते हैं, क्योंकि बाह्य अर्थके होनेपर भी बुद्धिमें आरूढ़ हुए विना प्रमाण आदि व्यवहार नहीं हो सकते। परन्तु यह कैसे समझा जाता है कि सब व्यवहार अन्तःस्थ ही हैं और विज्ञानसे भिन्न बाह्य अर्थ

रत्नप्रभा

सुगतानाम् उपदेशाः शिष्यमत्यनुसारिण इत्यर्थः। ननु असति बाह्यार्थे मानमेयव्यवहारः कथम्? तत्राह—तस्मिन्निति। विज्ञानमेव कल्पितनीलाद्याकारत्वेन प्रमेयम्, अवभासात्मना मानफलम्, शक्त्यात्मना मानम्, शक्त्याश्रयत्वाकारेण प्रमाता इति भेदकल्पनया व्यवहार इत्यर्थः। मुख्य एव भेदः किं न स्यात्? अत आह—सत्यपीति। नहि बुद्ध्यनारूढस्य नीलादेः प्रमेयत्वव्यवहारोऽस्ति, अतो बुद्ध्यारूढाकार एव प्रमेयम्, न बाह्यम् इत्यर्थः। बाह्यार्थासत्त्वे प्रश्नपूर्वकं युक्तीः उपन्यस्यति—कथमित्यादिना। ज्ञेयं ज्ञानातिरेकेणाऽसत् तदतिरेकेणाऽसम्भवाद् नरशृङ्गवदित्याह—तदसम्भवादिति। असम्भवं

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मकीर्तिने कहा है कि—"देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः" अर्थात् सुगतके उपदेश शिष्योंकी मतिके अनुसार होते हैं। यदि कोई कहे कि बाह्य अर्थोंके अभावमें प्रमाण और प्रमेयका व्यवहार कैसे होगा? इसपर कहते हैं—"तस्मिन्" इत्यादिसे। विज्ञान ही कल्पित नील आदि आकाररूपसे प्रमेय है, अवभासस्वरूपसे प्रमाणफल—प्रमिति है, शक्तिस्वरूपसे प्रमाण है और शक्तिके आश्रयरूपसे प्रमाता है, इस प्रकार भेदकी कल्पनासे व्यवहार होगा, ऐसा अर्थ है। मुख्य ही भेद क्यों नहीं है, इसपर कहते हैं—"सत्यपि" इत्यादिसे। इसमें सन्देह नहीं कि बुद्धिमें आरूढ न हुए नील आदिका प्रमेयरूपसे व्यवहार नहीं होता, इसलिए बुद्धिमें आरूढ हुआ आकार ही प्रमेय है बाह्य अर्थ प्रमेय नहीं है, ऐसा अर्थ है। बाह्य अर्थके असत्त्वमें प्रश्नपूर्वक युक्तिका उपन्यास करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। ज्ञेय ज्ञानातिरिक्त नहीं है, उससे अतिरिक्तरूपसे उसका सम्भव न होनेसे, नरशृङ्गके समान, ऐसा कहते हैं—"तदसम्भ-

भाष्य

दित्याह—स हि बाह्योर्थोऽभ्युपगम्यमानः परमाणवो वा स्युः, तत्समूहा वा स्तम्भादयः स्युः। तत्र न तावत् परमाणवः स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्ति, परमाण्वाभासज्ञानानुपपत्तेः। नाऽपि तत्समूहाः स्तम्भादयः, तेषां परमाणुभ्योऽन्यत्वानन्यत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात्। एवं जात्यादीनपि प्रत्याचक्षीत। अपि चाऽनुभवमात्रेण साधा-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है? इसका सम्भव न होनेसे ऐसा कहते हैं। क्योंकि बाह्य पदार्थ माना जाय तो वह परमाणुरूप होगा अथवा परमाणुसमूह स्तम्भ आदिरूप होगा। उनमें परमाणु स्तम्भादिके ज्ञानसे परिच्छेद्य—ज्ञानके विषय नहीं हो सकते, क्योंकि अतीन्द्रिय होनेसे परमाणु जिसके आभास—आकार हों ऐसा ज्ञान अनुपपन्न है। उसी प्रकार बाह्य अर्थ स्तम्भादि उनके (परमाणुओंके) समूह भी नहीं हैं, क्योंकि उनका परमाणुओंसे अन्यरूपसे या अनन्यरूपसे निरूपण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जाति आदिका भी प्रत्याख्यान करना चाहिये। और अनुभवमात्रसे सब

रत्नप्रभा

विवृणोति—स हीति। परमाणवः चेत् एकस्थूलस्तम्भ इति ज्ञानं न स्यात् समूहः तु असन् इत्यर्थः। अवयव्यभावेऽपि जात्यादयो बाह्यार्थाः स्युः, तत्राह—एवमिति। जातिगुणकर्मणां धर्मिणः सकाशाद् अभेदेऽत्यन्तभेदे वा धर्मिवद् धर्म्यन्तरवच्च न धर्मधर्मिभावः, भेदाभेदौ च विरुद्धाविति न सन्ति जात्याद्यर्था इत्यर्थः। किञ्च, ज्ञानस्य ज्ञेयसारूप्यरूपविशेषसम्बन्धाभावे सर्वविषयत्वापत्तेः विशेषोऽङ्गीकार्यः। तथा च ज्ञानगतविशेषस्यैव ज्ञानेन विषयीकरणाद् न बाह्यार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वात्" इत्यादिसे। असम्भवका विवरण करते हैं—"स हि" इत्यादिसे। यदि बाह्य अर्थ परमाणुरूप हो, तो एक स्थूल स्तम्भ है ऐसा ज्ञान नहीं होगा, और समूह हो, तो अत्यन्त असत् अविद्यमान ही है, ऐसा अर्थ है। बाह्य अर्थ परमाणु या अवयवी भले न हो, परन्तु जात्यादि तो होगा, उसपर कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। बाह्य अर्थ जाति, गुण या कर्म नहीं है, क्योंकि बाह्य अर्थ जाति, गुण और कर्म धर्म्मीसे अभिन्न है, या अत्यन्त भिन्न है? यदि अभिन्न मानो, तो जाति, गुण और कर्म धर्मीसे (बाह्य अर्थसे) अभिन्न होनेसे धर्मी होंगे और अत्यन्त भिन्न होनेसे अन्य धर्मी होंगे, धर्म नहीं, क्योंकि धर्म किसी धर्मीसे अत्यन्त भिन्न नहीं है। इस प्रकार बाह्य अर्थ और जाति गुण और कर्ममें धर्मधर्मिभाव न होगा। उसी प्रकार बाह्य अर्थ जाति, गुण और कर्मसे भिन्न हैं और अभिन्न हैं, ऐसा भेदाभेद मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि विरोध आवेगा, इसलिए जाति आदि पदार्थ नहीं हैं ऐसा अर्थ है। और ज्ञानका ज्ञेयके साथ सारूप्यरूप विशेष सम्बन्ध न माननेसे सर्वविषयत्व प्राप्त होगा, इसलिए विशेषका अङ्गीकार करना

भाष्य

रणात्मनो ज्ञानस्य जायमानस्य योऽयं प्रतिविषयं पक्षपातः स्तम्भज्ञानं कुड्यज्ञानं घटज्ञानं पटज्ञानमिति, नाऽसौ ज्ञानगतविशेषमन्तरेणोपपद्यत इत्यवश्यं विषयसारूप्यं ज्ञानस्याऽङ्गीकर्तव्यम्। अङ्गीकृते च तस्मिन् विषयाकारस्य ज्ञानेनैवाऽवरुद्धत्वादपार्थिका बाह्यार्थसद्भावकल्पना। अपि च सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोरापतति, नह्यनयोरेकस्याऽनुपलम्भेऽन्यस्योपलम्भोऽस्ति, न चैतत् स्वभावविवेके युक्तं प्रति-

भाष्यका अनुवाद

विषयोंमें साधारणस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, तो स्तम्भज्ञान, कुड्यज्ञान, घटज्ञान, पटज्ञान, ऐसा जो प्रतिविषय पक्षपात होता है, वह ज्ञानगत विशेषके बिना नहीं हो सकता, इसलिए ज्ञानमें विषयका सादृश्य है, ऐसा अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए। और ज्ञानमें विषयके सारूप्यका अङ्गीकार करनेपर विषयके आकारके ज्ञानसे ही अवरुद्ध होनेसे बाह्य अर्थका सद्भाव है ऐसी कल्पना निरर्थक है। और विषय और विज्ञानकी एकही साथ उपलब्धि होती है, इस नियमसे उनका अभेद प्राप्त होता है, क्योंकि उन दोनोंमेंसे—ज्ञान और ज्ञेयमेंसे एककी उपलब्धि न होनेपर अन्यकी उपलब्धि

रत्नप्रभा

सिद्धिः, मानाभावात् गौरवात् च इत्याह—अपि चेति। पक्षपातः—विषयविशेषवैशिष्ट्यव्यवहारः। किञ्च, ज्ञेयं ज्ञानाभिन्नम्, ज्ञानोपलम्भक्षणनियतोपलम्भग्राह्यत्वात्, ज्ञानवद् इत्याह—अपि चेति। ज्ञानार्थयोः वास्तवभेदेऽपि सहोपलम्भनं स्यात्, ग्राह्यग्राहकभावादित्यत आह—न चैतदिति। क्षणिकज्ञानस्याऽर्थेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए। किसी भी नियामकके बिना विषयविषयिभाव ही उपपन्न न होगा। नियामक न हो, तो सब ज्ञानका सब विषय हो, इसलिए यह ज्ञानका विषय है, ऐसे नियमके लिए अर्थकी ज्ञानाकारता स्वीकार करनी ही चाहिए। इस प्रकार ज्ञानगत विशेष को ही ज्ञान विषय करता है, इससे बाह्य अर्थ असिद्ध है, क्योंकि बाह्य अर्थके अस्तित्वमें कोई प्रमाण नहीं है और उसके स्वीकार करनेमें गौरव होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। पक्षपात—ज्ञान विषयविशेषसे विशिष्ट है, ऐसा व्यवहार। और ज्ञेय ज्ञानसे अभिन्न है, ज्ञानोपलम्भक्षणमें नियत उपलम्भसे ग्राह्य होनेसे, ज्ञानके समान, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। परन्तु ज्ञान और ज्ञेयका वास्तविक भेद स्वीकार करनेपर भी सहोपलब्धि होगी, क्योंकि दोनोंमें ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध है, इसपर कहते हैं—"न चैतत्" इत्यादिसे।

भाष्य

बन्धकारणाभावात्, तस्मादप्यर्थाभावः। स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथा हि स्वप्नमायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनाऽर्थेन ग्राह्यग्राहकाकारा भवन्ति, एवं जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्तीत्यवगम्यते, प्रत्ययत्वाविशेषात्। कथं पुनरसति बाह्यार्थे प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते, वासनावैचित्र्यादित्याह। अनादौ हि संसारे बीजाङ्कुरवद् विज्ञानानां वासनानां चाऽन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यं न विप्रतिषिध्यते। अपि चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव

भाष्यका अनुवाद

नहीं होती है। और दोनोंके स्वभाव—स्वरूपके भिन्न होनेपर यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्धका कारण नहीं है। इससे भी अर्थका अभाव है। और स्वप्नादिके समान यह समझना चाहिए। जैसे स्वप्न, माया, मृगजल, गन्धर्वनगर आदिके ज्ञान बाह्य अर्थके बिना ही ग्राह्य और ग्राहकके आकारमें परिणत होते हैं, उसी प्रकार जाग्रदवस्थामें होनेवाले स्तम्भ आदि ज्ञान भी हो सकते हैं, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि दोनों समानरूपसे प्रत्यय हैं। परन्तु बाह्य अर्थके अभावमें प्रत्ययोंकी विचित्रता किस प्रकार उपपन्न होती है? वासनाओंकी विचित्रतासे होती है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि अनादि संसारमें बीज और अङ्कुरके समान विज्ञानों और वासनाओंके परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे उनकी

रत्नप्रभा

सम्बन्धहेत्वभावान्न ग्राह्यग्राहकभाव इत्यर्थः। किञ्च, जाग्रद्विज्ञानं न बाह्यालम्बनम्, विज्ञानत्वात्, स्वप्नादिज्ञानवदित्याह—स्वप्नेति। विज्ञानानां वैचित्र्यानुपपत्तिबाधितमनुमानमिति शङ्कते—कथमिति। अन्यथोपपत्त्या परिहरति—वासनेति। अनादिसन्तानान्तर्गतपूर्वज्ञानमेव—वासना तद्वशाद् अनेकक्षण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्षणिक ज्ञानका अर्थके साथ सम्बन्ध होनेमें हेतु न होनेसे ग्राह्यग्राहकभाव नहीं है, ऐसा अर्थ है। और जाग्रद्विज्ञान बाह्य अर्थके आलम्बनसे नहीं होता, विज्ञान होनेसे, स्वप्न आदि विज्ञानके समान, ऐसा कहते हैं—"स्वप्न" इत्यादिसे। यह अनुमान प्रत्ययवैचित्र्यकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्तिसे बाधित है, ऐसी सौत्रान्तिक शंका करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। ज्ञानवैचित्र्य बाह्यार्थ वैचित्र्यके बिना—बाह्यार्थ स्वीकार किये बिना भी उपपन्न होगा, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"वासना" इत्यादिसे। अनादि सन्तानके अन्तर्गत जो पूर्वज्ञान है, वही वासना है, वासनाके बलसे अनेक क्षणोंका व्यवधान होनेपर भी नीलाद्याकार-

भाष्य

ज्ञानवैचित्र्यमित्यवगम्यते, स्वप्नादिष्वन्तरेणाऽप्यर्थं वासनानिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्योभाभ्यामप्यावाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात् अन्तरेण तु वासनामर्थनिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्य मयाऽनभ्युपगम्यमानत्वात्, तस्मादप्यभावो बाह्यार्थस्येति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'नाभाव उपलब्धेः' इति । न खल्वभावो बाह्यस्याऽर्थस्याऽध्यवसातुं शक्यते । कस्मात्? उपलब्धेः । उपलभ्यते हि

भाष्यका अनुवाद

विचित्रताका निषेध नहीं किया जा सकता है और अन्वय और व्यतिरेकसे ज्ञानवैचित्र्य वासनानिमित्तक ही समझा जाता है, क्योंकि स्वप्नादिमें अर्थके अभावमें भी ज्ञानवैचित्र्य वासनानिमित्तक ही है, ऐसा हम दोनों स्वीकार करते हैं और वासनाके बिना अर्थनिमित्त ज्ञानवैचित्र्य है, ऐसा तो मैं स्वीकार नहीं करता, इससे भी बाह्य अर्थका अभाव है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'नाऽभावः उपलब्धेः' । बाह्य अर्थके अभावका निश्चय करना अशक्य है, किससे? इससे कि उसकी उपलब्धि

रत्नप्रभा

व्यवधानेऽपि नीलाद्याकारज्ञानवैचित्र्यं भवति, यथा बीजवासनया कार्पासरक्तत्वम्, तद्वदित्यर्थः । उभयवादिसम्मतत्वाच्च वासना एव ज्ञानवैचित्र्यहेतवो न बाह्यार्था इत्याह—अपि चेति ।

क्षणिकविज्ञानमात्रवादस्य मानमूलत्वात् तेन नित्यविज्ञानवादो विरुध्यते इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—नाभाव इत्यादिना । किं बाह्यार्थस्याऽनुपलब्धेरभावः उत ज्ञानाद् भेदेनाऽनुपलब्धेः । नाद्य इत्युक्तम—उपलब्धेरिति । द्वितीयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाला ज्ञानवैचित्र्य होता है । कैसे? जैसे कि बीजकी वासनासे कपास रक्त होता है, ऐसा अर्थ है । और वासना उभयवादियोंकी—बाह्यार्थवादी और विज्ञानवादीकी सम्मत है, इससे वही ज्ञानवैचित्र्यका हेतु है, बाह्य अर्थ ज्ञानवैचित्र्यके हेतु नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ।

इस प्रकार क्षणिकविज्ञानवादके मानमूलक होनेसे उसके साथ नित्यविज्ञानवाद—वेदान्तवादका विरोध है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"नाभाव उपलब्धेः" इत्यादिसे । बाह्य अर्थका अभाव किस प्रकारका है, बाह्य अर्थके अनुपलब्ध होनेसे बाह्य अर्थका अभाव है, या बाह्य अर्थके ज्ञानसे अतिरिक्त अनुपलब्ध होनेसे बाह्य अर्थका

भाष्य

प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति, न चोपलभ्यमानस्यैवाऽभावो भवितुमर्हति। यथा हि कश्चिद् भुञ्जानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयान्नाऽहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रियसंनिकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन् कथमुपादेयवचनः स्यात्। ननु नाऽहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति, किं तूपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि। बाढमेवं ब्रवीषि निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य, न तु युक्त्युपेतं ब्रवीषि, यत उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याऽभ्युपगन्तव्य उपलब्धेरेव। नहि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते, उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन् सर्वे लौकिका

भाष्यका अनुवाद

होती है, प्रत्येक ज्ञानमें स्तम्भ, कुड्य, घट, पट, ऐसे बाह्य अर्थ उपलब्ध होते हैं और जो उपलभ्यमान है, उसका ही अभाव हो, यह युक्त नहीं है। जैसे कोई पुरुष भोजन करता हुआ भोजनसाध्य तृप्तिका स्वयं अनुभव करता हुआ यह कहे कि मैं भोजन नहीं करता, और मैं तृप्त नहीं होता, वैसे ही इन्द्रियसन्निकर्षसे स्वयं बाह्य पदार्थका अनुभव करता हुआ मैं बाह्य अर्थोंका अनुभव नहीं करता और वह अर्थ नहीं है, ऐसा कहता हुआ पुरुषका वचन उपादेय कैसे हो सकता है। परन्तु कोई अर्थ उपलब्ध नहीं होता, ऐसा मैं नहीं कहता, किन्तु उपलब्धिसे अतिरिक्त अर्थ उपलब्ध नहीं होता, ऐसा कहता हूँ। निस्सन्देह तुम ऐसा कहते हो, क्योंकि तुम्हारा मुँह निरंकुश है। परन्तु जो तुम कहते हो वह युक्त नहीं है, क्योंकि अर्थकी उपलब्धिसे भेद भी बलात् स्वीकार करना पड़ेगा, उपलब्धिसे ही। क्योंकि कोई भी उपलब्धिको ही स्तम्भ या कुड्यरूपसे उपलब्ध नहीं करता। परन्तु स्तम्भ कुड्य आदिको उपलब्धिके विषयरूपसे ही सब

रत्नप्रभा

शङ्कते—ननु नाऽहमिति। ज्ञानज्ञेययोः विषयिविषयभावेन भेदस्य साक्षिप्रत्यक्षसिद्धत्वात् प्रत्यक्षविरुद्धमभेदाभिधानमित्याह—बाढमित्यादिना। त्वद्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभाव है ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, ऐसा कहते हैं—"उपलब्धेः" इत्यादिसे। तब ज्ञानसे भिन्नरूपसे बाह्य अर्थ अनुपलब्ध है, ऐसे द्वितीय पक्षकी शंका करते हैं—"ननु नाऽहम्" इत्यादिसे। ज्ञान और ज्ञेयके विषयी और विषय होनेसे उनका भेद साक्षीको—आत्माको प्रत्यक्षसिद्ध है, इसलिए ज्ञान और ज्ञेय अभिन्न हैं, यह कहना

भाष्य

उपलभन्ते। अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासत इति। तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धां बहिरवभासमानां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारं कुर्वन्ति। इतरथा हि कस्माद् बहिर्वदिति ब्रूयुः। नहि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत। तस्माद् यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवाऽवभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुं न तु बहिर्वदवभासत इति। ननु बाह्यस्याऽर्थस्याऽसंभवाद् बहिर्व-

भाष्यका अनुवाद

लोग जानते हैं। और इससे भी सब लोग इसी प्रकारसे उपलब्धि करते हैं बाह्य अर्थोंका प्रत्याख्यान करते हुए भी उनका ऐसा व्याख्यान करते हैं कि जो अन्तःज्ञेयरूप है, उनका बहिर्वत् अवभास होता है। वे भी सर्वलोकप्रसिद्ध बाहर अवभास होती हुई उपलब्धिको मानते हैं। और बाह्य अर्थका प्रत्याख्यान करते हुए 'बहिर्वत्' इस प्रकार 'वत्' का प्रयोग करते हैं। नहीं तो बहिर्वत् ऐसा वे क्यों कहते? विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्रसा भासता है, ऐसा कोई नहीं कहता। इसलिए अनुभवके अनुसार तत्त्व स्वीकार करनेवालोंको बाह्य अर्थका ही अवभास होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए, और बहिर्वत् भासता है, ऐसा स्वीकार युक्त नहीं है। परन्तु बाह्य अर्थके असम्भवसे बहिर्वत्

रत्नप्रभा

चनादपि जना बाह्यार्थं ज्ञानाद् भेदेनैव उपलभन्त इत्याह—अतश्चेति। बाह्यार्थस्य अत्यन्तासत्त्वे प्रत्यक्षोपलम्भायोगात् दृष्टान्तत्वासम्भवाच्च बहिर्वच्छब्दो न स्यादित्याह—इतरथेति। अबाधितभेदानुभवाद् एवकारो युक्तो न वत्कार इत्याह—तस्मादिति। ज्ञेयार्थो ज्ञानातिरेकेणाऽसन् असम्भवाद् इत्युक्तबाधाद् वत्करणमिति शङ्कते—नन्विति। कोऽसौ असम्भवः असत्त्वं वा, असत्त्वनिश्चयो वा, अयुक्तत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रत्यक्षज्ञानसे विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे। तुम्हारे वचनसे भी लोक बाह्य अर्थका भेदसे ही स्वीकार करते हैं, ऐसा कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। बाह्य अर्थ यदि अत्यन्त असत्—अविद्यमान हो, तो उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि न होगी और दृष्टान्तरूपके असम्भव होनेसे 'बहिर्वत्' शब्दका प्रयोग नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"इतरथा" इत्यादिसे। इस प्रकार अबाधित भेदके अनुभवसे एवकार ही युक्त है, वत्कार युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। ज्ञेयार्थ ज्ञानसे अतिरिक्त नहीं है, असंभवसे, ऐसा बाध कहा है,

भाष्य

दवभासत इत्यध्यवसितम्। नाऽयं साधुरध्यवसायो यतः प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवावधार्येते न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती। यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेनाऽपि प्रमाणेनोपलभ्यते तत् संभवति, यत्तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते तन्न संभवति। इह तु यथास्वं

भाष्यका अनुवाद

भासता है, ऐसा निश्चय किया गया है, यह निश्चय साधु नहीं है, क्योंकि प्रमाणकी प्रवृत्तिसे सम्भवका और प्रमाणकी अप्रवृत्तिसे असम्भवका निश्चय किया जाता है, सम्भव और असम्भवसे प्रमाणकी प्रवृत्ति और अप्रवृत्तिका निश्चय नहीं किया जाता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमेंसे एक प्रमाणसे जो उपलब्ध होता है, उसका सम्भव होता है। और जो किसी भी प्रमाणसे उपलब्ध नहीं होता है, उसका सम्भव नहीं होता है। यहां तो स्वभावके अनुसार सब

रत्नप्रभा

वा, उत्कटकोटिकसंशयात्मकसम्भवस्य अभावो वा? नाद्यः, साध्याभेदात्। न द्वितीयः, स्थूलौ घटस्तम्भाविति समूहालम्बने स्थूलत्वद्वित्वघटत्वस्तम्भत्वरूपविरुद्धधर्मवतोः अर्थयोरस्थूलाद् एकस्माद् द्व्यावगाहिविज्ञानाद् भेदसत्त्वनिश्चयेनाऽसम्भवासिद्धिरित्याह—नाऽयं साधुरिति। सम्भवः—सत्तानिश्चयः प्रमाणाधीनः, असम्भवः असत्त्वनिश्चयः प्रमाणाभावाधीनः न वैपरीत्यमिति व्यवस्थामेव स्फुटयति—यद्धीति। उक्तव्यवस्थायाः फलं बाह्यार्थस्य प्रत्यक्षादिभिः सम्भवं वदन्नेव तृतीयं दूषयति—इहेति। प्रमाणनिश्चितबाह्यार्थस्य स्तम्भादेः परमाणुभ्यो भेदा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए वत्करण है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। यह असम्भव क्या है? असत्त्व है, या असत्त्वनिश्चय है, अथवा अयुक्तत्व है या उत्कटकोटिकसंशयात्मक सम्भवका अभाव है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं—असम्भवका अर्थ असत्त्व नहीं है, क्योंकि बाह्य अर्थका असत्त्व ही साध्य है। और वही साधक होता है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है [असत्त्वनिश्चय, ऐसा भी असम्भवका अर्थ नहीं है] क्योंकि 'स्थूल घट और स्तम्भ' ऐसे समूहावलम्बन ज्ञानमें स्थूलत्व, द्वित्व, घटत्व, स्तम्भत्व, ऐसे विरुद्ध धर्मवाले दो अर्थ अस्थूल, एक-द्व्यावगाही विज्ञानसे भिन्न हैं, ऐसा निश्चय होनेसे—भेदके सत्त्वका निश्चय होनेसे—असत्त्वनिश्चयरूप असम्भव असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"नायं साधुः" इत्यादिसे। 'सम्भव'—सत्तानिश्चय प्रमाणके अधीन है और 'असम्भव'—असत्त्वनिश्चय प्रमाणके अभावके अधीन है, इससे विपरीत नहीं, ऐसी व्यवस्थाको स्फुट करते हैं—"यद्धि" इत्यादिसे। उक्त व्यवस्थाके फल प्रत्यक्षादिसे बाह्य अर्थके सम्भवको कहते हुए तृतीय पक्षको—असम्भव अयुक्तत्व है, इस

भाष्य

सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पैर्न संभवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव। न च ज्ञानस्य विषयसारूप्याद् विषयनाशो भवति, असति विषये विषयसारूप्यानुपपत्तेः, बहिरुपलब्धेश्च

भाष्यका अनुवाद

प्रमाणोंसे बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है, तो व्यतिरेक और अव्यतिरेक आदि विकल्पोंसे, उसका सम्भव नहीं है, ऐसा विकल्प कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि उपलब्ध होता ही है। और ज्ञानमें विषयका सारूप्य होनेसे विषयका नाश नहीं हो जाता, क्योंकि विषयके अभावमें विषयके सारूप्यका सम्भव नहीं

रत्नप्रभा

भेदविकल्पैः अयुक्तत्वमात्रेण असत्त्वनिश्चयो न युक्तस्त्वत्पक्षेऽप्ययुक्तत्वस्य तुल्यत्वात्। नहि अस्थूलस्य एकस्य विज्ञानस्य स्थूलानेकसमूहालम्बनस्य विषयाभेदो युक्तः, स्थूलत्वानेकत्वप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः, समूहालम्बनोच्छेदे विज्ञानानां मिथो वार्तानभिज्ञतया विषयद्वित्वादिव्यवहारलोपापत्तेः। तस्मादयुक्तत्वेऽपि यथानुभवं व्यवहारयोग्योऽर्थः स्वीकार्यः। न चतुर्थः, निश्चिते तादृशसम्भवस्य अनुपयोगात् तस्य क्वचित् प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वाङ्गत्वादिति भावः। यच्चोक्तं ज्ञानगतार्थसारूप्यस्य एव ज्ञानालम्बनत्वोपपत्तेर्बहिरर्थाभाव इति, तत्राह—**न चेति**। यत्तु गौरवमुक्तम्। तन्न दूषणम्, प्रामाणिकत्वादित्याह—**बहिरिति**। यत एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

पक्षको दूषित करते हैं—"इट्" इत्यादिसे। प्रमाणसे निश्चित बाह्य अर्थ स्तम्भादि परमाणुसे या परमाणुसमूहसे भिन्न वा अभिन्न है। इस प्रकार भेद और अभेदके विकल्पसे बाह्यार्थका अयुक्तत्व सिद्ध करके उसका असत्त्व निश्चित करना युक्त नहीं है, क्योंकि तुम्हारे पक्षमें (ज्ञान ज्ञेयसे अभिन्न है, इस पक्षमें) भी अयुक्तत्व तुल्य है, क्योंकि स्थूल अनेक अर्थोंके समूहके आलम्बनसे जो अस्थूल, एक विज्ञान होता है, वह विषयसे अभिन्न होता है, यह युक्त नहीं, क्योंकि युक्त हो, तो विज्ञानके भी स्थूल और अनेक होनेका प्रसंग आवेगा। और यह प्रसङ्ग इष्ट नहीं है, क्योंकि ज्ञान समूहावलम्बन है, उसके उच्छिन्न होनेपर विज्ञानके परस्पर असम्बद्ध होनेसे विषय, द्वित्व आदि व्यवहारके लोप होनेका प्रसङ्ग आवेगा। इसलिए अयुक्तत्वपक्षमें भी अनुभवके अनुसार व्यवहारयोग्य अर्थका स्वीकार करना ही पड़ेगा। चतुर्थपक्ष—उत्कटकोटिकसंशयात्मक संभवका अभाव भी युक्त नहीं है, क्योंकि बाह्य अर्थका निश्चय होनेसे वैसे सम्भवका उपयोग नहीं है। प्रतिपदार्थ ज्ञानकी व्यवस्थाके लिए ज्ञानमें विषयसारूप्य है, ऐसा ज्ञानगत अर्थ सारूप्य ही ज्ञानका आलम्बन युक्त होनेसे बाह्य अर्थका अभाव है, ऐसा जो कहा है, उसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे।

भाष्य

विषयस्य। अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुकः नाऽभेदहेतुक इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अपि च घटज्ञानं पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न विशेष्यस्य ज्ञानस्य, यथा शुक्लो गौः कृष्णो गौरिति शौक्ल्यकार्ष्ण्ययोरेव भेदो न गोत्वस्य, द्वाभ्यां च भेद एकस्य सिद्धो भव-

भाष्यका अनुवाद

है, और विषय बाहर उपलब्ध होता है। इसीलिए ज्ञान और विषय एक साथ उपलब्ध होते हैं, यह नियम भी उपायोपेयभावहेतुक है, अभेदहेतुक नहीं है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। और घटज्ञान, पटज्ञान इनमें घट और पट विशेषणोंका ही भेद है, विशेष्यज्ञानका भेद नहीं है। जैसे शुक्ल गाय, कृष्ण गाय, इसमें शुक्लत्व और कृष्णत्वका ही भेद है, गोत्वका भेद नहीं है। एकका

रत्नप्रभा

ज्ञानार्थयोः भेदः सर्वलोकसाक्ष्यनुभवसिद्धः अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि नाऽभेदसाधक इत्याह—**अत एवेति**। यथा चाक्षुषद्रव्यरूपस्य आलोकोपलम्भनियतोपलब्धिकत्वेऽपि न आलोकाभेदः, तथाऽर्थस्य न ज्ञानाभेदः, भेदेऽपि ग्राह्यग्राहकभावेन नियमोपपत्तेः। न च ज्ञानस्य क्षणिकत्वात् स्वभिन्नग्राह्यसम्बन्धायोगः स्थायित्वाद् इति भावः। विज्ञानम् अनेकार्थेभ्यो भिन्नम्, एकत्वाद्, गोत्ववदिति सत्प्रतिपक्षमाह—**अपि चेति**। न च हेत्वसिद्धिः ज्ञानं ज्ञानमित्येकाकारप्रतीतेः ज्ञानैक्यनिश्चयात्। न च सा जातिविषया, व्यक्तिभेदानिश्चयाद् इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

और जो कल्पनागारव कहा है, वह भी दूषण नहीं है, क्योंकि प्रामाणिक है, ऐसा कहते हैं—"बहिः" इत्यादिसे। और ज्ञान और अर्थका भेद सर्वलोकमें साक्षी—अनुभवसे सिद्ध होनेसे साथ-साथ उपलब्धि होनेका नियम भी ज्ञान और ज्ञेयके अभेदका साधक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। जैसे नेत्रके विषयरूपकी उपलब्धि आलोकके साथ होती है, इसलिए आलोकसे रूप अभिन्न नहीं है, इसी प्रकार अर्थ ज्ञानसे अभिन्न नहीं है। भेद माननेपर भी ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्धसे सहोपलब्धिका नियम हो सकता है। ज्ञानके क्षणिक होनेसे स्वभिन्नग्राह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह ठीक नहीं, क्योंकि वे स्थायी हैं ऐसा तात्पर्य है। विज्ञान अनेक अर्थोंसे भिन्न है, एक होनेसे, गोत्वके समान, इस प्रकार पूर्वपक्षीसे सत्प्रतिपक्षको कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। और हेतु असिद्ध है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ज्ञान, ज्ञान, ऐसी एकाकार प्रतीतिसे ज्ञानका ऐक्य निश्चित होता है और यह प्रतीति जातिविषयक है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि व्यक्तिभेदका निश्चय नहीं होता है,

भाष्य

त्येकस्माच्च द्वयोः, तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः। तथा घटदर्शनं घटस्मरणमित्यत्राऽपि प्रतिपत्तव्यम्, अत्राऽपि हि विशेष्ययोरेव दर्शनस्मरणयोर्भेदो न विशेषणस्य घटस्य। यथा क्षीरगन्धः क्षीररस इति विशेष्ययोरेव गन्धरसयोर्भेदो न विशेषणस्य क्षीरस्य तद्वत्। अपि च द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः स्वसंवेदनेनैवोपक्षीणयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः,

भाष्यका अनुवाद

दोसे भेद सिद्ध होता है और एकसे दोका भेद सिद्ध होता है, इसलिए अर्थ और ज्ञानका भेद है। वैसे ही घटदर्शन और घटस्मरण इसमें भी समझना। यहां भी दर्शन और स्मरण जो विशेष्य हैं, उनका ही भेद है, विशेषण घटका भेद नहीं है। जैसे कि क्षीरगन्ध, क्षीररस, इनमें विशेष्य गन्ध और रसका ही भेद है, विशेषण क्षीरका भेद नहीं है। और पूर्वकालीन और उत्तरकालीन ये दो विज्ञान स्वसंवेदनसे ही उपक्षीण हो जाते हैं, अतः इनमें परस्पर ग्राह्यग्राहक-

---

रत्नप्रभा

न विशेष्यस्येति। घटादेश्चैतन्याद् भेदम् उक्त्वा वृत्तिज्ञानाद् भेदमाह—तथेति। घटः द्वाभ्यां भिन्नः, एकत्वात्, क्षीरवदित्यर्थः। ज्ञानभिन्नार्थानङ्गीकारे स्वशास्त्रव्यवहारलोपं बाधकमाह—अपि चेति। क्रमिकयोः स्वप्रकाशयोः क्षणिकज्ञानयोः मिथो ग्राह्यग्राहकत्वम् अयुक्तम् अनभ्युपगतं च। तथा च तयोः भेदप्रतिज्ञा न युक्ता धर्मिप्रतियोगिनोर्मिथः परेण चाग्रहेण भेदग्रहायोगात्। तथा च तयोर्भेदग्राहकः स्थाय्यात्मा तद्भिन्न एव एष्टव्यः। एवं पक्षसाध्यहेतुदृष्टान्तभेदाभावे इदं क्षणिकम् असदिति प्रतिज्ञा न युक्ता। सर्वतो व्यावृत्तं व्यक्तिमात्रत्वं स्वलक्षणम् अनेकानुगतं सामान्यम् अतद्व्यावृत्तिरूपमिति प्रतिज्ञा न युक्ता। सर्वानेका-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"न विशेष्यस्य" इत्यादिसे। घटादि चैतन्यसे भिन्न हैं, ऐसा कहकर वृत्तिज्ञानसे भी वे भिन्न हैं, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। घट दोसे भिन्न हैं, एक होनेसे, क्षीरके समान, ऐसा अर्थ है। और अर्थ ज्ञानसे भिन्न हैं, ऐसा अङ्गीकार न करो, तो अपने (बुद्धके) शास्त्रके व्यवहारका लोपरूप बाधक होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। क्रमिक और स्वप्रकाश क्षणिक ज्ञान परस्पर ग्राह्यग्राहक हों, यह युक्त नहीं है और स्वीकृत भी नहीं है। इसी प्रकार विज्ञानभेद प्रतिज्ञा भी युक्त नहीं है, धर्मी और प्रतियोगीमें परस्पर एकका दूसरेसे ग्रहण न होनेसे भेदग्रह नहीं हो सकता है, इसलिए उनका भेदग्राहक स्थायी आत्मा उनसे भिन्न मानना चाहिए। इस प्रकार पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टान्तमें भेद

भाष्य

ततश्च विज्ञानभेदप्रतिज्ञा क्षणिकत्वादिधर्मप्रतिज्ञा स्वलक्षणसामान्यलक्षण-वास्यवासकत्वाविद्योपप्लवसदसद्धर्मबन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च स्वशास्त्रगतास्ता हीयेरन् । किंचाऽन्यत्, विज्ञानं विज्ञानमित्यभ्युपगच्छता बाह्योऽर्थः

भाष्यका अनुवाद

भाव हों, यह युक्त नहीं है, अतः विज्ञानभेदकी प्रतिज्ञा, क्षणिकत्व आदि धर्मोंकी प्रतिज्ञा, स्वलक्षणप्रतिज्ञा, सामान्यलक्षणप्रतिज्ञा, वास्यवासकत्वप्रतिज्ञा, अविद्याके संसर्गसे सदसद्धर्मप्रतिज्ञा और बन्धमोक्ष आदि प्रतिज्ञा जो स्वशास्त्रमें हैं, उन सबकी हानि होगी। और दूसरी बात, विज्ञान, विज्ञान इस प्रकार

रत्नप्रभा

र्थानां ज्ञानमात्रत्वेन मिथः परेण वा दुर्ज्ञानत्वात् । उत्तरनीलज्ञानं वास्यं पूर्वनील-ज्ञानं वासकमिति प्रतिज्ञा न युक्ता, तयोर्भिन्नस्य ज्ञातुरभावात् । किञ्च, अविद्योपप्लवः अविद्यासंसर्गः तेन नीलमिति सद्धर्मः, नरविषाणमिति असद्धर्मः, अमूर्त्तमिति सदसद्धर्मः, सतो विज्ञानस्याऽसतो नरविषाणस्य वाऽमूर्तत्वादिति प्रतिज्ञा दुर्लभा, अनेकार्थज्ञानसाध्यत्वात् । अज्ञानेनाऽस्य बन्धो ज्ञानेनाऽस्य मोक्ष इति च प्रतिज्ञा बह्वर्थज्ञानसाध्या । आदिपदेन सामान्यत इष्टं ग्राह्यम् अनिष्टं त्याज्यम् इति शिष्यहितोपदेशोऽनेकज्ञानसाध्यो गृहीतः । तस्मात् प्रतिज्ञादिव्यवहाराय ग्राहक-भेदोऽङ्गीकार्य इत्यर्थः । ज्ञानार्थयोः भेदे युक्त्यन्तरमस्तीत्याह—**किञ्चाऽन्य-दिति** । ज्ञानवदर्थस्याऽप्यनुभवाविशेषात् स्वीकारो न युक्त इत्यर्थः । स्वविषयत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

न होनेसे 'इदं क्षणिकमसत्' (यह क्षणिक है, असत् है) ऐसी प्रतिज्ञा ठीक नहीं है। सबसे व्यावृत्त व्यक्तिमात्र स्वलक्षण है, इस प्रकार सामान्य जो अनेकानुगत है और अतद्व्यावृत्तिरूप है, वह भी अनेक ज्ञानलभ्य है, ऐसी प्रतिज्ञा युक्त नहीं है। सब और अनेक अर्थ ज्ञानमात्र होनेसे परस्पर या परसे दुर्ज्ञेय हैं। उत्तर नीलज्ञान वास्य है और पूर्व नीलज्ञान वासक है, यह भी प्रतिज्ञा युक्त नहीं है, क्योंकि उनसे भिन्न ज्ञाताका अभाव है, वास्यवासकभाव भी अनेकज्ञानसाध्य है। अविद्यासंसर्गके बलसे जो सदसद्धर्मत्व—नीलरूप सद्धर्म, नरविषाण असद्धर्म, अमूर्त्त सदसद्धर्म है। सत् विज्ञान और असत् नरविषाण दोनोंके अमूर्त्त होनेसे यह प्रतिज्ञा दुर्लभ है, क्योंकि यह अनेक अर्थके ज्ञानसे साध्य है। और अज्ञानसे इसका बन्ध होता है और ज्ञानसे इसका मोक्ष है, यह भी प्रतिज्ञा बह्वर्थज्ञानसाध्य है। 'बन्धमोक्षादि-प्रतिज्ञा' इसमें स्थित आदिसे सामान्यतः इष्ट ग्राह्य है और अनिष्ट त्याज्य है, इस प्रकार शिष्यके हितका उपदेश अनेकज्ञानसाध्य है, इसका ग्रहण है। इसलिए प्रतिज्ञा आदि व्यव-हारके लिए ग्राह्यग्राहकभेदका अङ्गीकार करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। और ज्ञान और अर्थके

भाष्य

स्तम्भः कुड्यमित्येवंजातीयकः कस्मान्नाऽभ्युपगम्यते इति वक्तव्यम्। विज्ञानमनुभूयते इति चेत्, बाह्योऽप्यर्थोऽनुभूयत एवेति युक्तमभ्युपगन्तुम्। अथ विज्ञानं प्रकाशात्मकत्वात् प्रदीपवत् स्वयमेवानुऽभूयते न तथा बाह्योऽप्यर्थ इति चेत्, अत्यन्तविरुद्धां स्वात्मनि क्रियामभ्युपगच्छस्यग्निरात्मानं दहतीतिवत्। अविरुद्धं तु लोकप्रसिद्धं स्वात्मव्यतिरिक्तेन विज्ञानेन बाह्योऽर्थोऽनुभूयत इति नेच्छस्यहो पाण्डित्यं महद् दर्शितम्। न चाऽर्था-

भाष्यका अनुवाद

स्वीकार करते हुए तुम स्तम्भ, कुड्य आदि बाह्य अर्थका स्वीकार क्यों नहीं करते? यह तुम्हें कहना चाहिए। विज्ञानका अनुभव होता है, ऐसा यदि कहो, तो बाह्य अर्थका भी अनुभव होता ही है, ऐसा स्वीकार करना उचित है। विज्ञान प्रकाशात्मक होनेसे प्रदीपके समान स्वतः ही बुद्धिमें जैसे आरूढ होता है, उस प्रकार बाह्य अर्थ अनुभवमें आरूढ नहीं होते, ऐसा यदि कहो, तो अग्नि आत्माको जलाती है, इसके समान, अपनी आत्मामें अत्यन्त विरुद्ध क्रिया का स्वीकार करते हो, परन्तु अपनेसे (वस्तुसे) व्यतिरिक्त ज्ञानसे बाह्य अर्थ अनुभवमें आता है, ऐसी अविरुद्ध और लोकप्रसिद्ध बातको तुम नहीं मानते, अहो! तुमने

रत्नप्रभा

विज्ञानं स्वीक्रियते नाऽर्थः परग्राह्यत्वादिति शङ्कते—**अथ विज्ञानमिति**। विरुद्धं स्वीकृत्य अविरुद्धं त्यजता बौद्धतनयेन मौढ्यं दर्शितमित्याह—**अत्यन्तेति**। ज्ञानं स्ववेद्यम् इति अङ्गीकृत्य मौर्ख्यमापादितम्, वस्तुतः स्ववेद्यत्वम् अयुक्तमित्याह—**न चेति**। कर्त्तरि क्रियां प्रति गुणभूते प्रधानत्वाख्यकर्मत्वायोगात् स्वकर्तृकवेदनकर्मत्वम् असदित्यर्थः। न च स्वविषयत्वमात्रं स्ववेद्यत्वमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

भेद सिद्ध करनेमें अन्य युक्ति भी है ऐसा कहते हैं—"किञ्चाऽन्यत्" इत्यादिसे। ज्ञानके समान अर्थका भी अनुभव है, दोनोंमें कुछ विशेष न होनेसे अर्थका भी स्वीकार ठीक है, ऐसा अर्थ है। परन्तु विज्ञान स्वको विषय करता है—इससे उसका स्वीकार किया है, अर्थका स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि वह परग्राह्य है, ऐसी शंका करते हैं—"अथ विज्ञानम्" इत्यादिसे। विरुद्धका स्वीकार करके और अविरुद्धका त्याग करके बौद्धोंके बच्चोंने मूढता दिखलाई है, ऐसा कहते हैं—"अत्यन्त" इत्यादिसे। ज्ञान स्ववेद्य है, ऐसा अङ्गीकार करके मूर्खता दिखलाई है, क्योंकि वस्तुतः स्ववेद्यत्व अयुक्त है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। कर्त्ता जो क्रियाके प्रति गुणभूत है, वही कर्म प्रधान हो, यह युक्त नहीं है, इसलिए स्वकर्तृक

भाष्य

व्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवाऽनुभूयते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादेव। ननु विज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तग्राह्यत्वे तदप्यन्येन ग्राह्यं तदप्यन्येनेत्यनवस्था प्राप्नोति। अपि च प्रदीपवदवभासात्मकत्वाद् ज्ञानस्य ज्ञानान्तरं कल्पयतः समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तेः कल्पनानर्थक्यमिति। तदुभयमप्यसत्। विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिणो ग्रहणाकाङ्क्षानुत्पादादन-

भाष्यका अनुवाद

महान् पाण्डित्य दिखलाया। अर्थसे अतिरिक्त भी विज्ञान अपने आप ही अनुभवमें आता है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि अपनेमें क्रियाका विरोध है ही। परन्तु विज्ञान अपनेसे अतिरिक्तसे ग्राह्य हो, तो वह भी अन्यसे ग्राह्य होगा और वह भी अन्यसे, इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होती है। और ज्ञानके प्रदीपके समान अवभासात्मक होनेसे ज्ञानके अन्य ज्ञानकी कल्पना करनेवालेके मतमें दोनों ज्ञानोंके समान होनेसे उनमें अवभास्यभाव और अवभासकभाव उपपन्न न होगा अतः कल्पना अनर्थक होगी—ये दोनों शंकाएँ ठीक नहीं हैं, क्योंकि विज्ञानके ग्रहणमात्रमें ही विज्ञानसाक्षीके ग्रहणकी आकांक्षाके उत्पन्न

रत्नप्रभा

वाच्यम्। अभेदे विषयविषयित्वस्याऽपि असम्भवादिति भावः। ज्ञानस्य स्ववेद्यत्वाभावे दोषद्वयं स्यादिति शङ्कते—नन्विति। अनवस्था च साम्यञ्चेति दोषद्वयं परिहरति—तदुभयमपीति। अनित्यज्ञानस्य जन्मादिमत्त्वेन घटवद् जडस्य स्वेन स्वीयजन्मादिग्रहायोगाद् अस्ति ग्राहकाकाङ्क्षा। साक्षिणस्तु सत्तायां स्फूर्तौ च निरपेक्षत्वाद् न अनवस्था, नापि साम्यम्, चिज्जडत्ववैषम्यादित्यर्थः। साक्षी

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेदनकर्मत्व असत् है, ऐसा अर्थ है। और स्ववेद्यत्व अर्थात् स्वविषयत्व—ज्ञान ही विषय और विषयी है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेयका अभेद माननेसे विषयविषयित्वका भी असम्भव हो जायगा, ऐसा तात्पर्य है। परन्तु ज्ञानके स्ववेद्यत्व न स्वीकार करनेसे दो दोष होंगे, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। अनवस्था और साम्य दो दोषोंका परिहार करते हैं—"तदुभयमपि" इत्यादिसे। अनित्य ज्ञानके जन्म आदि होते हैं, इससे वह घटके समान जड़ होनेसे आप ही अपने जन्मादिका ग्रहण करे, यह युक्त नहीं है, इसलिए ग्राहककी आकांक्षा है। परन्तु साक्षीको सत्ता और स्फूर्तिमें अन्यकी अपेक्षा न होनेसे अनवस्था नहीं है। इसी प्रकार प्रदीप और ज्ञानमें समता नहीं है, क्योंकि प्रदीप जड़ है और ज्ञान चिद्रूप है, यह वैषम्य है, ऐसा अर्थ है। साक्षी कहां है, उसके लिए कहते

भाष्य

वस्थाशङ्कानुपपत्तेः, साक्षिप्रत्यययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्धृपलभ्यभावो-पपत्तेः। स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्। किंचाऽन्यत्, प्रदीप-वद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथत इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञा-नमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात्, शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत्। बाढ-मेवम्, अनुभवरूपत्वात्तु विज्ञानस्येष्टो नः पक्षस्त्वयाऽनुज्ञायत इति चेत्,

भाष्यका अनुवाद

न होनेसे अनवस्थाकी शंका नहीं होती है, साक्षी और ज्ञान ये स्वभावसे विषम हैं, अतः उन दोनोंमें उपलब्धा और उपलभ्यका भाव उपपन्न होता है। और स्वयंसिद्ध साक्षीका प्रत्याख्यान करना युक्त नहीं है। और दूसरी बात, प्रदीपके समान विज्ञानको अन्य अवभासककी अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं ही प्रकाशित होता है, ऐसा कहनेसे विज्ञान अप्रमाणगम्य है और इसका ज्ञाता नहीं है, ऐसा उक्त होगा, शिलाघनके मध्यमें स्थित सहस्र प्रदीपके प्रकाशके समान। यह ठीक है, परन्तु विज्ञानके अनुभवरूप होनेसे हमारा अभिमत पक्ष

रत्नप्रभा

केत्यत आह—**स्वयंसिद्धस्येति**। निरपेक्षस्य साक्षिणोऽसत्त्वे क्षणिकविज्ञानभेदा-सिद्धेः सोऽङ्गीकार्य इत्यर्थः। अनित्यज्ञानस्वरूपसाधकत्वाच्च साक्षी स्वीकार्य इत्याह—**किञ्चेति**। विज्ञानं ज्ञानान्तरानपेक्षमिति ब्रुवता तस्याऽप्रामाणिकत्वम् उक्तं स्यात्, स्वयं प्रथते इति ब्रुवता ज्ञातृशून्यत्वं चोक्तं स्यात्, तथा च ज्ञातृ-ज्ञानाविषयत्वाच्छिलास्थप्रदीपवदसदेव विज्ञानं स्यात्, अतस्तत्साक्षी एष्टव्य इत्यर्थः। विज्ञानस्य स्वान्यज्ञातृशून्यत्वम् इष्टमेव त्वयाऽऽपाद्यते, न चाऽसत्त्वापत्तिः ज्ञात्रभावादिति वाच्यम्, स्वस्यैव ज्ञातृत्वादिति शाक्यः शङ्कते—**बाढमिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"स्वयंसिद्धस्य" इत्यादिसे। निरपेक्ष साक्षी न हो, तो क्षणिकविज्ञानभेद असिद्ध होगा, इसलिए उसका अंगीकार करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। और दूसरी बात यह भी है कि अनित्य ज्ञानके स्वरूपका साधक होनेसे भी साक्षीका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"किञ्च" इत्यादिसे। विज्ञान अन्यज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा यदि कहो, तो विज्ञान अप्रामाणिक है ऐसा कहा जायगा, और ज्ञान अपने आप प्रकाशित होता है, ऐसा कहनेसे ज्ञान साक्षी रहित है—ज्ञातृशून्य है, ऐसा कहा जायगा। ज्ञाता और ज्ञान दोनोंका विषय न होनेसे विज्ञानके शिलस्थ प्रदीपके समान असत् होनेसे साक्षी आवश्यक है, ऐसा अर्थ है। परन्तु विज्ञानका अपनेसे दूसरा ज्ञाता नहीं—यह कहते हुए तुम हमारे इष्टका ही प्रतिपादन

भाष्य

न, अन्यस्याऽवगन्तुश्चक्षुःसाधनस्य प्रदीपादिप्रथनदर्शनात्, अतो विज्ञानस्याऽप्यवभास्यत्वाविशेषात् सत्येवाऽन्यस्मिन्नवगन्तरि प्रथनं प्रदीपवदित्यवगम्यते। साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाऽऽश्रित इति चेत्, न;

भाष्यका अनुवाद

तुमने मान लिया ऐसा यदि कहो, तो वह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि नेत्र जिसका साधन है, ऐसे अन्य ज्ञाताको प्रदीप आदिका ज्ञान होता है, ऐसा देखनेमें आता है। इसलिये विज्ञान भी प्रदीपके समान अवभास्य है, इसमें कोई विशेष नहीं है—अतः किसी अन्य ज्ञाताके रहनेपर ही उसका प्रकाश प्रदीपके समान होता है, ऐसा समझा जाता है। साक्षी ज्ञाता स्वयंसिद्ध है, ऐसा निर्देश करते हुए तुमने 'विज्ञान स्वतः प्रकाशित होता है' मेरे पक्षका ही वाचो युक्तिविशेषसे आश्रयण किया है। ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि विज्ञानमें

रत्नप्रभा

अभेदे ज्ञातृज्ञेयत्वायोगात् ज्ञात्रन्तरम् आवश्यकमिति परिहरति—नेति। विमतं विज्ञानं स्वातिरिक्तवेद्यम्, वेद्यत्वाद् देहवदित्यर्थः। अतिरिक्तः साक्षी किमन्यवेद्यः स्ववेद्यो वा ? आद्ये अनवस्था, द्वितीये विज्ञानवाद एव भङ्ग्यन्तरेणोक्तः स्यादिति शङ्कते—साक्षिण इति। त्वया विज्ञानं जन्मविनाशयुक्तमुच्यते। अतः कार्यस्य जडत्वनियमात् स्वातिरिक्तवेद्यत्वम् अस्माभिः साधितं कूटस्थचिदात्मनो ग्राहकान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हो, उसी प्रकार ज्ञाताके अभावसे विज्ञान असत् है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आप ही ज्ञाता है, ऐसी शाक्य शंका करता है—"बाढ़म्" इत्यादिसे। ज्ञान आपका आपही ज्ञाता हो, ऐसा अभेद हो, तो ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व युक्त न होगा इसलिए अन्य ज्ञाता आवश्यक है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। विमत विज्ञान स्वान्यवेद्य है, वेद्य होनेसे, देहके समान, ऐसा अर्थ है। ज्ञानसे अतिरिक्त जो साक्षी है, वह अन्यवेद्य है या स्ववेद्य है ? यदि अन्यवेद्य हो, तो वह भी अन्यवेद्य होगा, इस प्रकार अनवस्था होगी। यदि उसे स्ववेद्य मानें तो विज्ञानवाद ही अन्य प्रकारसे स्वीकृत हुआ, ऐसी शंका करते हैं—"साक्षिणः" इत्यादिसे। विज्ञान जन्मनाशयुक्त है, ऐसा तुम कहते हो, इसलिए कार्य जड है, ऐसा नियम होनेसे वह स्वान्यवेद्य है, ऐसा हमने सिद्ध किया। कूटस्थ चिदात्माको ग्राहककी अपेक्षा न होनेसे अनवस्था नहीं है, ऐसा भी कहा है, इसलिए हम दोनोंके

भाष्य

विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात् । अतः प्रदीपवद् विज्ञानस्याऽपि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम् ॥ २८ ॥

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्ति, नाश, अनेकत्व इत्यादि विशेष हैं ऐसा मेरा स्वीकार है। इसलिए प्रदीपके समान विज्ञान भी स्वभिन्नसे ज्ञेय है, ऐसा हमने सिद्ध किया है[1] ॥२८॥

रत्नप्रभा

पेक्षत्वाद् नाऽनवस्थेति चोक्तम्, अतो महद् वैलक्षण्यमावयोरिति परिहरति—न विज्ञानस्येति ॥२८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पक्षमें महान् विलक्षणता है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न विज्ञानस्य" इत्यादिसे ॥२८॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

पदच्छेद—वैधर्म्यात्, च, न, स्वप्नादिवत् ।

पदार्थोक्ति—च–अपि, वैधर्म्यात्—स्वप्नादिप्रत्ययस्य जाग्रत्प्रत्ययस्य च बाधिताबाधित विषयत्वरूपवैधर्म्यात् न स्वप्नादिवत्—न स्वप्नादिदृष्टान्तेन निरालम्बनत्वं जाग्रत्प्रत्ययस्य भवितुमर्हति ।

भाषार्थ—जाग्रत्ज्ञान और स्वप्नादिज्ञानके अबाधित और बाधितविषयत्वरूप वैधर्म्यसे स्वप्न आदिके दृष्टान्तसे जाग्रत्ज्ञान निराधार नहीं हो सकता ।

---

(१) ग्रन्थका यह अभिप्राय है—यद्यपि वेदान्ती क्षणिक विज्ञानवादको स्वीकार करना नहीं चाहते, तथापि उनसे माना गया साक्षी अन्तमें विज्ञानवादमें ही पर्य्यवसन्न होता है, क्योंकि अनवस्था दोषके भयसे स्वप्रकाश सर्वावभासक विज्ञानरूप (साक्षी) मानना होगा। इससे वेदान्तियोंका मत प्रायः बौद्धवादसे मिलता है ऐसा प्रतीत होता है। तथापि बौद्धके विज्ञानवाद और वेदान्तवादमें महान् अन्तर है, क्योंकि वेदान्तियोंके मतमें स्थायी नित्य स्वयंप्रकाश स्वतःसिद्ध एक विज्ञान माना गया है, और बौद्धमतमें अनित्य क्षणिक अनेक विज्ञान हैं। अतः बौद्धमतसे विज्ञानको स्वयंप्रकाश नहीं कह सकते। संसारमें अनुभव होता है कि जो फल (कार्य) है, उसके जड़ होनेके कारण वह स्ववेत्ता नहीं हो सकता। यह स्मरण रखना चाहिये कि—साक्षीरूप ज्ञान नित्य सिद्ध होनेपर भी ईश्वरके विभागसे विभक्त होनेके कारण जीवत्वावच्छेदेन आवरण माना गया है, और उसका (आवरणका) अन्तःकरणवृत्तिसे विनाशके बिना घटादिका ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः आत्मदर्शनके पूर्व सर्वज्ञतापत्ति नहीं है।

भाष्य

यदुक्तम्—बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनाऽर्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषात् इति, तत् प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति, नह्यस्ति

भाष्यका अनुवाद

स्वप्न आदि अवस्थाके ज्ञानके समान जाग्रदवस्थामें हुए स्तम्भ आदि ज्ञान भी बाह्य अर्थके बिना ही हों, यह युक्त है, क्योंकि दोनोंमें प्रत्ययत्व समान है, ऐसा बाह्य अर्थके निषेध करनेवालेने जो कहा है, उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए। उसपर कहते हैं—स्वप्न आदिके ज्ञानके समान जाग्रदवस्थाके ज्ञान हों, यह युक्त नहीं है। किससे? वैधर्म्य होनेसे। क्योंकि स्वप्न और जाग्रदवस्थाके प्रत्ययोंमें वैधर्म्य है। परन्तु वह वैधर्म्य क्या है? बाध और अबाध, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि स्वप्नमें उपलब्ध हुई वस्तु जाग्रत् हुएको

रत्नप्रभा

एवं वेद्यविज्ञानवदर्थस्याऽप्युपलब्धेर्न बाह्यार्थाभाव इत्युक्तम्, संप्रति जाग्रद्विज्ञानं, स्वप्नादिविज्ञानवत् न बाह्यालम्बनम् इति अनुमानं दूषयति—**वैधर्म्याच्चेति**। किमत्र निर्विषयत्वं साध्यम् उत पारमार्थिकविषयशून्यत्वम्, अथवा व्यावहारिकविषयशून्यत्वम्। नाद्यः, स्वप्नादिविभ्रमाणामपि मिथ्यार्थालम्बनत्वेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात्। न द्वितीयः, सिद्धसाधनादिति सूत्रस्थचकारार्थः। तृतीये तु व्यवहारदशायां बाधितार्थग्राहित्वम् उपाधिरित्याह—**बाध्यते हीत्या-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार वेद्य विज्ञानके समान अर्थके भी उपलब्ध होनेसे बाह्य अर्थका अभाव नहीं है, ऐसा कहा गया। अब जाग्रद्विज्ञान स्वप्नादिविज्ञानके समान बाह्य अर्थके आलम्बनसे नहीं है, इस अनुमानको दूषित करते हैं—"वैधर्म्याच्च" इत्यादिसे। क्या यहांपर निर्विषयत्व साध्य है या पारमार्थिकविषयशून्यत्व साध्य है अथवा व्यावहारिकविषयशून्यत्व ? इनमें प्रथम पक्षका ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वप्न आदिकी भ्रान्तियोंके भी अवलम्बन मिथ्या पदार्थ ही हैं, इससे 'स्वप्नवत्' यह दृष्टान्त साध्यविकल है। दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे पक्षमें जो सिद्ध है उसीका साधन है, यह सूत्रस्थचकारका अर्थ है। तृतीय पक्षमें व्यवहारमें बाधितार्थग्राहकत्व उपाधि है, ऐसा कहते हैं—"बाध्यते हि" इत्यादिसे।

भाष्य

मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव, तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। न चैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्, स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि नोपलभे उपलब्धुमिच्छामीति। तत्रैवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोप-

भाष्यका अनुवाद

बाधित होती है कि महाजन समागमकी मुझे जो उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है, मुझे महाजनसमागम हुआ नहीं, परन्तु मेरे मनके निद्रासे ग्लानियुक्त होनेसे मुझे यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। उसी प्रकार मायादिमें यथायोग्य बाध होता है। परन्तु जाग्रदवस्थामें उपलब्ध हुई स्तम्भ आदि वस्तु किसी भी अवस्थामें इस प्रकार बाधित नहीं होती। और जो स्वप्नमें दर्शन है, वह स्मृति है, और जो जाग्रदवस्थामें दर्शन है वह उपलब्धि है। स्मृति और उपलब्धिमें प्रत्यक्षभेद स्वतः अनुभवमें आता है, वह यह है कि प्रथममें अर्थका विप्रयोग है और दूसरेमें सम्प्रयोग है, इष्ट पुत्रका स्मरण करता हूँ, उसको उपलब्ध नहीं करता, उपलब्ध

रत्नप्रभा

दीना। निद्राग्लानमिति करणदोषोक्तिः। साधनव्यापकत्वनिरासाय आह—**न चैवमिति**। किञ्च, प्रमाणजाऽनुभव उपलब्धिः पक्षः, अप्रमाणजं स्वप्नज्ञानं दृष्टान्तः, इति वैधर्म्यान्तरम्। परमतेन स्वप्नस्य स्मृतित्वमङ्गीकृत्याऽऽह—**अपि चेति**। स्मृतिप्रत्यक्षोपलब्ध्योः वैधर्म्यान्तरमाह—**अर्थविप्रयोगेति**। असम्बन्धश्च अवर्तमानश्च स्मृतेरर्थो विषय इति निरालम्बनत्वम् अपि अस्याः कदाचिद् भवेत्, न संप्रयुक्तवर्तमानार्थमात्रग्राहिण्या उपलब्धेरिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

'निद्राग्लानम्' इत्यादि इन्द्रियदोषका कथन है। साधनव्यापकताके निराकरणके लिए कहते हैं—"न चैवम्" इत्यादिसे। और प्रमाणजन्य अनुभव—उपलब्धि पक्ष है और अप्रमाणजन्य स्वप्नज्ञान दृष्टान्त है, ऐसा दूसरा वैधर्म्य है। दूसरेके मतसे स्वप्नको स्मृति मानकर कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। स्मरण और प्रत्यक्ष-उपलब्धिमें अन्य वैधर्म्य कहते हैं—"अर्थविप्रयोग" इत्यादिसे। असम्बद्ध और अवर्तमान अर्थ स्मृतिका विषय है, इसलिए कदाचित् स्मृति निरालम्बन हो सकती है। सम्प्रयुक्त और वर्तमान अर्थका ग्रहण करनेवाली उपलब्धि कभी भी निरालम्बन नहीं हो सकती।

भाष्य

लब्धिरुपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता। न च स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिर्युक्तः कर्तुम्। अपि चाऽनुभवविरोधप्रसङ्गाज्जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुमशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्याद् वक्तुमिष्यते। न च यो यस्य स्वतो धर्मो न संभवति सोऽन्यस्य

भाष्यका अनुवाद

करना चाहता हूँ, इस प्रकार। ऐसी स्थितिमें दोनों उपलब्धियोंके अन्तरका स्वयं अनुभव करता हुआ ऐसा नहीं कह सकता कि जाग्रदवस्थाकी उपलब्धि मिथ्या है, उपलब्धि होनेसे, स्वप्नकी उपलब्धिके समान। जो अपनेको प्राज्ञ मानते हैं, उन पुरुषोंको अपने अनुभवका निषेध करना युक्त नहीं है। और अनुभवके साथ विरोध होनेके भयसे जाग्रदवस्थाके प्रत्यय स्वयं निराधार हैं, ऐसा कहनेमें असमर्थ स्वप्न प्रत्ययोंके समान ये प्रत्यय हैं, इस प्रकार साधर्म्यसे जाग्रदवस्थाके प्रत्यय निराधार हैं, ऐसा कहना चाहता है। परन्तु जो जिसका स्वतः धर्म नहीं हो सकता, वह अन्यके साधर्म्यसे उसका धर्म नहीं हो सकता,

---

रत्नप्रभा

भावः। पूर्वोक्तप्रमाणजत्ववैधर्म्योक्तिफलमाह—**तत्रैवं सतीति**। वैधर्म्ये सतीत्यर्थः। अप्रमाणजत्वोपाधेर्निरालम्बनत्वानुमानं न युक्तमिति भावः। वैधर्म्यासिद्धिं निरस्यति—**न चेति**। बाधम् अपि आह—**अपि चेति**। वस्तुतो घटाद्यनुभवस्य निरालम्बनत्वं धर्मो यदि स्यात् तदा किं दृष्टान्ताग्रहेण, प्रत्यक्षतोऽपि वक्तुं शक्यत्वात्, नहि वह्नेरौष्ण्यं दृष्टान्तेन वक्तव्यम्, यदि न वस्तुतो धर्मोऽस्ति, तदापि किं दृष्टान्तेन, बाधितस्य दृष्टान्तसहस्रेणाऽपि दुःसाध्यत्वात्, अतः स्वतो

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्त प्रमाणजन्यत्व और अप्रमाणजन्यत्व स्वरूप वैधर्म्यकथनका फल कहते हैं—"तत्रैवं सति" इत्यादिसे। वैधर्म्यके रहनेपर, ऐसा अर्थ है। अप्रमाणजन्यत्व उपाधिके निरालम्बनत्वका अनुमान युक्त नहीं है, ऐसा भाव है। वैधर्म्यकी असिद्धिका निरसन करते हैं—"न च" इत्यादिसे। बाध भी कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। यदि वस्तुतः घटादिके अनुभवका निरालम्बनत्व हो, तो दृष्टान्तके आग्रहका क्या प्रयोजन है? क्योंकि प्रत्यक्षसे भी कहा जा सकेगा। वह्निकी उष्णताका प्रतिपादन करनेके लिए किसी दृष्टान्तकी अपेक्षा नहीं है। यदि वस्तुतः धर्म नहीं है, तो दृष्टान्तका क्या प्रयोजन है? जो बाधित है, वह हजारों दृष्टान्तोंसे भी दुःसाध्य है। इसलिए स्वतः निरालम्बनत्व कहनेमें सावलम्बनत्वका अनुभव बाधक है। अतः

भाष्य

साधर्म्यात् तस्य संभविष्यति। नह्यग्निरुष्णोऽनुभूयमान उदकसाधर्म्या-च्छीतो भविष्यति। दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः ॥ २९ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि अग्नि उष्ण है ऐसा अनुभव होता है, वह उदकसाधर्म्यसे शीत नहीं हो सकेगी। स्वप्न और जाग्रदवस्थाका वैधर्म्य तो दिखला चुके हैं[1] ॥ २९ ॥

रत्नप्रभा

निरालम्बनत्वोक्तौ सालम्बनत्वानुभवबाधभिया त्वयाऽनुमातुमारब्धम्, तथापि बाधो न मुञ्चतीत्यर्थः। उक्तोपाधिरपि न विस्मर्तव्य इत्याह—दर्शितं त्विति ॥२९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाधके भयसे तुमने अनुमान करना आरम्भ किया है, परन्तु अनुमानमें भी बाध तुम्हें नहीं छोड़ेगा ऐसा अर्थ है। उक्त उपाधिका भी विस्मरण नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"दर्शित तु" इत्यादिसे ॥ २९ ॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

पदच्छेद—न, भावः, अनुपलब्धेः।

पदार्थोक्ति—[वासनानाम्] न भावः—न सद्भावः, [कुतः] अनुपलब्धेः—त्वत्पक्षे बाह्यार्थानाम् अनुपलम्भात् [बाह्यार्थानुभवस्य वासनां प्रति कारण-त्वात् कारणाभावे कार्याभावः]।

भाषार्थ—वासनाओंका सद्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारे मतमें बाह्य पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं होती। बाह्य पदार्थका ज्ञान वासनाके प्रति कारण है, इससे कारणके अभावमें कार्यका अभाव होगा।

(१) आशय यह है कि बाध और अबाध ये वैधर्म्य हैं। स्वप्नज्ञान बाधित है और जाग्रद्ज्ञान अबाधित है तुम बौद्धोंको भी जाग्रद्ज्ञान अवश्य ही अबाधित ही मानना होगा, क्योंकि उसके द्वारा स्वप्नज्ञान मिथ्या है ऐसा ज्ञात होता है। जाग्रत्ज्ञान भी यदि बाध्य हो तो वह स्वप्नज्ञानका बाधक नहीं होगा, क्योंकि बाध्य ही बाधक हो यह युक्त नहीं है। दूसरी बात यह है कि स्वप्नज्ञान मिथ्या न हो तो स्वप्नज्ञानके समान जाग्रत्ज्ञान मिथ्या है इसमें 'स्वप्नज्ञानके समान' यह दृष्टान्त साध्यविकल होगा। इसलिए बाध और अबाधरूप वैधर्म्य होनेसे स्वप्नप्रत्ययके दृष्टान्तसे जाग्रत्प्रत्यय निराधार है ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

भाष्य

यदप्युक्तम्—विनाऽप्यर्थेन ज्ञानवैचित्र्यं वासनावैचित्र्यादेवाऽवकल्प्यत इति, तत् प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न भावो वासनानामुपपद्यते, त्वत्पक्षेऽनुपलब्धेर्बाह्यानामर्थानाम्। अर्थोपलब्धिनिमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासना भवन्ति, अनुपलभ्यमानेषु किंनिमित्ता विचित्रा वासना भवेयुः, अनादित्वेऽप्यन्धपरम्परान्यायेनाऽप्रतिष्ठैवाऽनवस्था व्यवहारलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः। यावप्यन्वयव्यतिरेकावर्थापलापिनोपन्यस्तौ

भाष्यका अनुवाद

अर्थके बिना भी वासनावैचित्र्यसे ही ज्ञानवैचित्र्य हो सकता है, ऐसा जो कहा गया है, उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए। इस विषयमें कहा जाता है—वासनाओंकी सत्ता उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि तुम्हारे पक्षमें बाह्य अर्थोंकी अनुपलब्धि है। अर्थकी उपलब्धिसे प्रत्येक अर्थमें भिन्न भिन्न रूपवाली वासनाएँ होती हैं। यदि अर्थ अनुपलभ्यमान हों, तो विचित्र वासनाएँ किस कारणसे होंगी? वासना अनादि हैं, ऐसा माननेपर भी अन्धपरम्परान्यायसे व्यवहारका लोप करनेवाली निर्मूल अनवस्था ही होगी, अभिप्राय सिद्ध न होगा। बाह्य अर्थका निषेध करनेवालेने वासनानिमित्तक यह ज्ञानसमूह है,

---

रत्नप्रभा

सूत्रव्यावर्त्यं स्मारयित्वा दूषयति—**यदप्युक्तमित्यादिना**। भावः—उत्पत्तिः सत्ता वा। ननु बाह्यार्थानुपलब्धौ अपि पूर्वपूर्ववासनाबलाद् उत्तरोत्तरविज्ञानवैचित्र्यम् अस्तु, बीजाङ्कुरवद्, अनादित्वात् इत्यत आह—**अनादित्वेऽपीति**। बीजाद् अङ्कुरो दृष्ट इति, अदृष्टेऽपि तज्जातीययोः कार्यकारणभावकल्पना युक्ता, इह त्वर्थानुभवनिरपेक्षवासनोत्पत्तेः आदावेव कल्प्यत्वादनादिकल्पना निर्मूलेति नाऽभि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रसे निराकरणीय शङ्काका स्मरण कराकर उसको दूषित करते हैं—"यदप्युक्तम्" इत्यादिसे। भाव—उत्पत्ति या सत्ता। यदि कोई कहे बाह्य अर्थके अनुलब्ध होनेपर भी पूर्व पूर्व वासनाके बलसे उत्तरोत्तर विज्ञानवैचित्र्य होगा, बीजाङ्कुरके समान अनादि होनेसे ही, इसपर कहते हैं—"अनादित्वेऽपि" इत्यादिसे। बीजसे अङ्कुर देखा जाता है, इससे जो अङ्कुर और बीज दृष्ट नहीं हैं उनमें भी उसके समान ही कार्यकारणभावकी कल्पना उचित है। यहां तो अर्थानुभवकी अपेक्षाके बिना वासनाकी उत्पत्ति नहीं दिखाई देती, उससे आरम्भमें ही कल्पना होनेसे अनादिकल्पना निर्मूल है, इस प्रकार इष्ट ज्ञानवैचित्र्य सिद्ध नहीं होगा,

भाष्य

वासनानिमित्तमेवेदं ज्ञानजातं नाऽर्थनिमित्तमिति, तावप्येवं सति प्रत्युक्तौ द्रष्टव्यौ, विनाऽर्थोपलब्ध्या वासनानुपपत्तेः। अपि च विनापि वासनाभिरर्थोपलब्ध्युपगमाद् विना त्वर्थोपलब्ध्या वासनोत्पत्त्यनभ्युपगमादर्थसद्भावमेवाऽन्वयव्यतिरेकावपि प्रतिष्ठापयतः। अपि च वासना नाम संस्कार-

भाष्यका अनुवाद

अर्थनिमित्तक नहीं, इसकी सिद्धिके लिये जो अन्वय-व्यतिरेकका उपन्यास किया है, ऐसा होनेपर उसका भी निराकरण हुआ समझना चाहिए, क्योंकि अर्थकी उपलब्धिके बिना वासना उपपन्न नहीं होती। और वासनाके बिना भी अर्थकी उपलब्धि प्राप्त होती है, और अर्थोपलब्धिके बिना वासनाकी उत्पत्तिका स्वीकार न होनेसे अन्वयव्यतिरेक भी अर्थके अस्तित्वका ही प्रतिष्ठापन करते हैं। और वासना संस्कार विशेष है और संस्कार आश्रयके बिना नहीं

रत्नप्रभा

प्रेतधीवैचित्र्यसिद्धिरित्यर्थः। ननु निरपेक्षवासनानां सत्त्वे धीवैचित्र्यम् असत्त्वे तु नेति स्वप्ने दृष्टमिति समूलाऽनवस्थेत्यत आह—याविति। वासनानां बाह्यार्थानुभवकार्यत्वे सति नैरपेक्ष्यासिद्धिः न त्वयाऽपि दृष्टेत्यर्थः। कार्यत्वग्राहकं व्यतिरेकमाह—विनेति। अर्थानुभवकार्याणां वासनानां तदनपेक्षत्वायोगान्न त्वदुक्तान्वयादिदृष्टिरित्युक्तम् अभिनवार्थोपलब्धिवैचित्र्यस्य वासनानां विनाऽपि भावेन व्यतिरेकव्यभिचाराच्च न काऽपि वासनामात्रकृतं धीवैचित्र्यम्, किन्त्वर्थानुभवे सति वासना असति नेति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनामूलानुभवावच्छेदकार्थकृतमेवेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। परन्तु जब निरपेक्ष वासनाएँ होती है, तभी ज्ञानवैचित्र्य होता है, अन्यथा नहीं, ऐसा स्वप्नमें देखनेमें आता है, इसलिए अनवस्था समूल है, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—"यौ" इत्यादिसे। वासनाओंके बाह्य अर्थके अनुभवसे जन्य होनेसे उनके निरपेक्षत्वकी असिद्धि है तुमने भी निरपेक्षता नहीं देखी, ऐसा अर्थ है। वासना बाह्य अर्थके अनुभवका कार्य है, इसका ग्रहण करानेवाला व्यतिरेक कहते हैं—विना" इत्यादिसे। अर्थानुभवजन्य वासनाएँ अर्थसे निरपेक्ष हों, यह युक्त न होनेसे तुम्हारे द्वारा कथित अन्वयादि नहीं है, ऐसा कहा है। अभिनव अर्थोपलब्धिवैचित्र्य वासनाओंके बिना भी होता है, अतएव व्यतिरेकका व्यभिचार होनेसे किसी भी स्थलमें वासनाके वैचित्र्यसे—ज्ञानवैचित्र्य नहीं होता है, परन्तु अर्थका अनुभव होनेपर वासना होती है और न होनेपर नहीं होती, इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकसे वासनाके मूल अनुभवके अवच्छेदक अर्थसे यह ज्ञानवैचित्र्य होनेसे

भाष्य

विशेषाः, संस्काराश्च नाऽऽश्रयमन्तरेणाऽवकल्पन्ते, एवं लोके दृष्टत्वात्, न च तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

भाष्यका अनुवाद

हो सकते, क्योंकि ऐसा लोकमें देखा जाता है और तुम्हारे मतमें वासनाका कोई आश्रय नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणसे अनुपलब्ध है ॥ ३० ॥

रत्नप्रभा

बाह्यार्थसद्भावसिद्धिरित्याह—**अपि चेति** । यः संस्कारः, स साश्रयो लोके दृष्टो यथा वेगादिः इष्वाश्रयः, अतो विज्ञानसंस्काराणां न भावः । आश्रयानुपलब्धेरित्यर्थान्तरमाह—**अपि चेति** ॥ ३० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाह्य अर्थका अस्तित्व सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । जो संस्कार है वह लोकमें आश्रययुक्त दिखाई देता है, जैसे वेग आदि संस्कार बाण आदिके आश्रित है, इसलिए विज्ञान-संस्कारोंका अस्तित्व नहीं है, क्योंकि उनका आश्रय उपलब्ध नहीं होता, इस प्रकार सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥ ३० ॥

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—क्षणिकत्वात्, च ।

पदार्थोक्ति—क्षणिकत्वात् च—आलयविज्ञानस्य क्षणिकत्वाङ्गीकारात् च [न वासनाश्रयत्वम्] ।

भाषार्थ—आलयविज्ञानको क्षणिक माननेसे वह भी वासनाका आश्रय नहीं हो सकता ।

भाष्य

यदप्यालयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितम्, तदपि क्षणिक-

भाष्यका अनुवाद

जो आलयविज्ञानकी भी वासनाओंके आश्रयरूपसे परिकल्पना की गई है,

रत्नप्रभा

अस्तु आलयविज्ञानम् आश्रय इत्यत आह—**क्षणिकत्वाच्चेति** । सूत्रं व्याचष्टे—

रत्नप्रभाका अनुवाद

तब आलयविज्ञान वासनाओंका आश्रय हो, इसपर कहते हैं—"क्षणिकत्वाच्च" इत्यादिसे ।

भाष्य

त्वाभ्युपगमादनवस्थितस्वरूपं सत् प्रवृत्तिविज्ञानवन्न वासनानामधिकरणं भवितुमर्हति । नहि कालत्रयसंबन्धिन्येकस्मिन्नन्वयिन्यसति कूटस्थे वा सर्वार्थदर्शिनि देशकालनिमित्तापेक्षवासनाधानस्मृतिप्रतिसन्धानादिव्यवहारः संभवति । स्थिरस्वरूपत्वे त्वालयविज्ञानस्य सिद्धान्तहानिः । अपि च

भाष्यका अनुवाद

वह भी क्षणिकत्वके स्वीकारसे अस्थिरस्वरूप होनेसे प्रवृत्तिविज्ञानके समान वासनाओंका आधार नहीं हो सकता है । तीनों कालके साथ सम्बन्ध रखने वाला एक अन्वयी सवार्थदर्शी कूटस्थ—स्थिर न हो, तो देशकालनिमित्तकी अपेक्षासे जो वासनाओंका आधान होता है वह और इनके अधीन स्मृतिप्रतिसन्धान आदि व्यवहार नहीं होंगे । आलयविज्ञानको स्थिरस्वभाव माननेमें तो

रत्नप्रभा

यद्पीति । सहोत्पन्नयोः सव्येतरविषाणवद् आश्रयाश्रयिभावायोगात् पौर्वापर्ये चाऽऽधेयक्षणेऽसत आधारत्वायोगात्, सत्त्वे क्षणिकत्वव्याघातान्नाऽऽधारत्वम् आलयविज्ञानस्य क्षणिकत्वात् नीलादिविज्ञानवदित्यर्थः । अस्तु तर्हि आलयविज्ञानसन्तानाश्रया वासना इत्यत आह—**नहीति** । सविकारः कूटस्थो वा स्थाय्यात्मा यदि नास्ति, तदा सन्तानस्याऽवस्तुत्वाद् देशाद्यपेक्षया यद्वासनानामाधानं निक्षेपो ये च स्मृतिप्रत्यभिज्ञे, यश्च तन्मूलो व्यवहारः, तत् सर्वं न सम्भवतीत्यर्थः । यदि व्यवहारार्थम् आत्मस्थायित्वम्, तदा अपसिद्धान्त इत्याह—**स्थिरेति** । सूत्रमतिदेशार्थत्वेनाऽपि व्याचष्टे—**अपि चेति** । मतद्वयनिरासम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे । आलयविज्ञान और वासना साथ उत्पन्न हों, तो बाएँ और दाहिने सींगके समान उनका आश्रयाश्रयिभाव युक्त नहीं होगा और आलयविज्ञान और वासनामें पौर्वापर्य माननेसे जो आधेयक्षणमें न हो, वह आधार न हो सकेगा और हो तो क्षणिकत्वकी हानि होगी । इसलिए आलयविज्ञान आधार नहीं हो सकता, ऐसा अर्थ है । तब आलयविज्ञानका सन्तान वासनाका आधार हो, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे । सविकार या कूटस्थ स्थायी आत्मा यदि न हो, तो सन्तानके अवस्तु होनेसे देशादिकी अपेक्षासे जो वासनाका आधान या निक्षेप होता है, जो स्मृति और प्रत्यभिज्ञा होती है और जो तन्मूलक प्रत्यक्ष आदि व्यवहार होता है, वह सब नहीं हो सकेगा । यदि व्यवहारके लिए आलयविज्ञान स्थायी है—आत्मा स्थायी है, ऐसा स्वीकार करोगे, तो सिद्धान्तकी हानि होगी, ऐसा कहते हैं—"स्थिर" इत्यादिसे । सूत्रका अतिदेश करके व्याख्यान

भाष्य

विज्ञानवादेऽपि क्षणिकत्वाभ्युपगमस्य समानत्वाद् यानि बाह्यार्थवादे क्षणिकत्वनिबन्धनानि दूषणान्युद्भावितानि 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्येवमादीनि तानीहाऽप्यनुसन्धातव्यानि। एवमेतौ द्वावपि वैनाशिक-पक्षौ निराकृतौ बाह्यार्थवादिपक्षो विज्ञानवादिपक्षश्च। शून्यवादिपक्षस्तु

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्तकी हानि होगी। और विज्ञानवादमें भी क्षणिकत्वका स्वीकार समान होनेसे बाह्यार्थवादमें क्षणिकत्वके आधारपर रहनेवाले 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरो-धात्' इत्यादि जो दूषण प्रकाशित किये गये हैं, उनका यहां भी अनुसन्धान करना युक्त है। इस प्रकार बाह्यार्थवादपक्ष और विज्ञानवादपक्ष इन दोनों वैनाशिकों (बौद्धों) के पक्षोंका निराकरण किया गया। शून्यवादिपक्ष तो सब प्रमाणोंसे

रत्नप्रभा

उपसंहरति—एवमिति। ज्ञानज्ञेयात्मकस्य सर्वस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारा-सहत्वात् शून्यताऽवशिष्यत इति माध्यमिकपक्षस्याऽपि मानमूलत्वमाशङ्क्य सूत्रकारः किमिति न निराचकार इत्यत आह—शून्येति। आदरः—पृथक्सूत्रा-रम्भः न क्रियते, एतानि एव तन्मतनिरासार्थत्वेनाऽपि योज्यन्ते इत्यर्थः। तथा हि ज्ञानार्थयोः न अभावः, प्रमाणत उपलब्धेः। ननु जाग्रत्स्वप्नौ ज्ञानार्थशून्यौ, अवस्था-त्वात्, सुषुप्तिवदित्यत आह—'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (ब्र० सू० २।२।२९) इति। स्वप्नः आदिः यस्याः सुषुप्तेः तद्वत् नेतरावस्थयोः शून्यत्वम् उपलब्ध्य-नुपलब्धिवैधर्म्यलक्षणबाधितज्ञानार्थोपलब्धिबाधात्, सुषुप्तौ अपि आत्मज्ञानसत्त्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। दो मतोंके निरसनका उपसंहार करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। ज्ञानज्ञेयात्मक जो सब है, वह सत् है या असत् है, ऐसा विचार नहीं हो सकता, इससे शून्यता ही अवशिष्ट रहती है, ऐसा माध्यामिक पक्ष है वह प्रमाणमूलक है ऐसी शङ्का करके सूत्रकारने उसका निराकरण क्यों नहीं किया, इसपर कहते हैं—"शून्य" इत्यादिसे। आदर—पृथक् सूत्रारम्भ नहीं किया जाता है। शून्यवादका निराकरण करनेके लिए भी इन्हीं सूत्रोंकी योजना करते हैं, ऐसा अर्थ है। जैसे कि "ज्ञानार्थयोर्नाभावः, 'प्रमाणत उपलब्धेः" अर्थात् ज्ञान और अर्थका अभाव-शून्यत्व युक्त नहीं है, क्योंकि वे प्रमाणसे उपलब्ध होते हैं। परन्तु जाग्रत् और स्वप्न ये ज्ञान और अर्थसे शून्य हैं, अवस्था होनेसे, सुषुप्तिके समान इस अनुमान प्रयोगसे शून्यत्व सिद्ध हो, यह शंका दूर करनेके लिए कहते हैं—'वैधर्म्याच्च न स्वप्ना-दिवत्"। स्वप्न जिस अवस्थाका आदि है ऐसी जो सुषुप्ति अवस्था है, उसके समान अन्य

भाष्य

सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नाऽऽदरः क्रियते । नह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत् तत्त्वम् अनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभावे उत्सर्गप्रसिद्धेः ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

विरुद्ध है, अतः इसका निराकरण करनेके लिए आदर नहीं किया जाता, क्योंकि इस सर्वप्रमाणसिद्ध लोकव्यवहारका अन्यतत्त्वको माने बिना अपह्नव नहीं किया जा सकता, कारण कि अपवादके अभावमें उत्सर्ग प्रसिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभा

साध्यवैकल्याच्च नाऽनुमानमित्यर्थः । किञ्च, निरधिष्ठाननिषेधायोगाद् अधिष्ठानमेव तत्त्वं वाच्यम्, तस्य त्वन्मते न भावः । मानतोऽनुपलब्धेः इत्याह—'न भावो ऽनुपलब्धेः' (ब्र० सू० २।२।३०) इति । (उपलब्ध्यनुपलब्धिलक्षणं यद् वैधर्म्यं तल्लक्ष्यतेऽनयेति सा चाऽसौ बाधितज्ञानार्थोपलब्धिः तद्रूपबाधादित्यर्थः) तदर्थमाह—**नह्ययमिति** । यद् भाति तत् नाऽसदित्युत्सर्गतः प्रपञ्चस्य न शून्यत्वम् बाधाभावादित्यर्थः । न च सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वादसत्त्वम्, मिथ्यात्वसम्भवादिति भावः । 'क्षणिकत्वाच्च' (ब्र० सू० २।२।३१) इति सूत्रं क्षणिकत्वोपदेशाच्चेति पठनीयम् । शून्यत्वविरुद्धक्षणिकत्वोपदेशात् असङ्गतप्रलापी सुगत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवस्थाएं जाग्रत् और स्वप्न शून्य नहीं हैं, क्योंकि सुषुप्तिमें अनुपलब्धि है और जाग्रत् और स्वप्नमें उपलब्धि है, ऐसा वैलक्षण्य है । और सुषुप्तिमें भी आत्मज्ञानके होनेसे दृष्टान्त साध्यविकल है, अतः अनुमान युक्त नहीं, ऐसा अर्थ है । और निराधिष्ठान निषेधके युक्त न होनेसे अधिष्ठान ही तत्त्व है, यह कहना चाहिए । उसका तुम्हारे शून्यवादीके मतमें अभाव है, क्योंकि प्रमाणसे अनुपलब्ध है, ऐसा कहते हैं—'नाभाव उपलब्धेः' । इस सूत्रका अर्थ कहते हैं—"नह्ययम्" इत्यादिसे । जो दीखता है, वह असत् नहीं ऐसे उत्सर्गसे प्रपञ्च शून्य नहीं है, क्योंकि बाधका अभाव है । और ज्ञानज्ञेयात्मक जो सब है, वह सत् है या असत् है, ऐसा विचार नहीं हो सकता, उससे शून्यत्व है ऐसा कहना युक्त नहीं क्योंकि मिथ्यात्वका सम्भव है । 'क्षणिकत्वाच्च' इस सूत्रको 'क्षणिकत्वोपदेशाच्च' इस प्रकार पढ़ना चाहिए । शून्यत्वविरुद्ध क्षणिकत्वका उपदेश होनेसे सुगत असंगतप्रलापी है, ऐसा अर्थ है ॥ ३१ ॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—सर्वथा, अनुपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—सर्वथा–ग्रन्थतः अर्थतश्च [सुगतमतस्य] अनुपपत्तेः—असंगतत्वात्, च—अपि [अनादरणीयं श्रेयोऽर्थिभिः भ्रान्तिमूलं तन्मतम्] ।

भाषार्थ—सुगतमतके ग्रन्थसे और अर्थसे असंगत होनेसे भी कल्याणाकाङ्क्षी पुरुषोंको उक्त भ्रान्तिमूलक मतपर आस्था नहीं करनी चाहिए ।

भाष्य

किं बहुना सर्वप्रकारेण यथा यथाऽयं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते, तथा तथा सिकताकूपवद् विदीर्यत एव, न कांचिदप्यत्रोपपत्तिं पश्यामः, अतश्चाऽनुपपन्नो वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः । अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयम् इतरेतरविरुद्धम् उपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतम् आत्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वम्, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति । सर्वथाऽपि नाऽऽदरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैः इत्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन है सब प्रकारसे ज्यों ज्यों यह वैनाशिक समय उपपन्न है या नहीं ? ऐसा विचार करते हैं त्यों त्यों रेतीमें बनाए गये कुएँके समान विदीर्ण ही होता है, इसमें हम कुछ भी उपपत्ति नहीं देखते; इससे भी वैनाशिक शास्त्र अनुपपन्न है । और बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद परस्पर विरुद्ध इन तीन वादोंका उपदेश करते हुए सुगतने अपनी असम्बद्ध प्रलापिता प्रकटकी है । और विरुद्ध अर्थके ज्ञानसे ये प्रजाएँ विमूढ़ हों, ऐसा प्रजाओंके प्रति अति विद्वेष प्रकट किया है, इसलिए कल्याण चाहनेवालेको इस सुगतसिद्धान्तका सर्वथा अनादर करना चाहिए, ऐसा अभिप्राय है ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभा

सुगतमतासाङ्गत्यम् उपसंहरति—**सर्वथेति** । सर्वज्ञस्य कथं विरुद्धप्रलापः तत्राह—**प्रद्वेषो वेति** । वेदबाह्या अत्र प्रजा ग्राह्याः, अतो भ्रान्त्येकमूलसुगतसिद्धान्तेन वेदान्तसिद्धान्तस्याऽविरोध इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥ (५) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सुगतमतकी असंगतिका उपसंहार करते हैं—"सर्वथा" इत्यादिसे । सर्वज्ञ सुगत विरुद्धप्रलापी कैसे है ? इसपर कहते हैं—"प्रद्वेषो वा" इत्यादिसे । यहाँ 'प्रजा' का अर्थ वेदबाह्य प्रजा समझना चाहिए ? भ्रान्ति ही जिसका मूल है उस सुगत सिद्धान्तसे वेदान्तसिद्धान्तका विरोध नहीं है ॥ ३२ ॥

[६ एकस्मिन्नसंभवाधिकरण सू० ३३—३६]

सिद्धिः सप्तपदार्थानां सप्तभङ्गीनयान्न वा ।
साधकन्यायसद्भावात्तेषां सिद्धौ किमद्भुतम् ॥ १ ॥
एकस्मिन् सदसत्त्वादिविरुद्धप्रतिपादनात् ।
अपन्यायः सप्तभङ्गी न च जीवस्य सांशता ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—सप्तभङ्गीरूप न्यायसे सप्त पदार्थोंकी सिद्धि होती है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—सप्तभङ्गीरूप साधकन्यायके अस्तित्वसे सप्त पदार्थोंकी सिद्धिमें आश्चर्य ही क्या है ?

सिद्धान्त—एक जीवमें सत्त्व और असत्त्व आदि विरुद्ध धर्मोंके प्रतिपादनसे सप्तभङ्गीरूप न्याय न्यायाभास है और जीवकी सावयवता नहीं हो सकती है ।

---

* तात्पर्य यह है कि आर्हतोंका मत है कि जीव और अजीव (जीवभिन्न) ये दो पदार्थ हैं । उनमें जीव चेतन, शरीरपरिमाणवाला और सावयव है तथा अजीव छः प्रकारका है । उनमें एक पर्वत आदि है एवं आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध, मोक्ष नामके पांच और हैं । जीव जिससे विषयोंमें प्रवृत्त होता है, वह आस्रव है, विवेकको आवृत्त करनेवाला अविवेक आदि संवर है, काम, क्रोध आदि जिससे सर्वात्मना जीर्ण हो जाते हैं—बालोंको नोचना, तप्तशिलामें चढ़ना आदि तपस्या निर्जर है, आठ कर्मोंसे प्राप्त हुई जन्ममरणपरम्परा बन्ध है और पापविशेषरूप चार घातिकर्म, और पुण्यविशेषरूप चार अघातिकर्म हैं । शास्त्रमें प्रतिपादित उपायसे उन आठ कर्मोंसे निर्मुक्त हुए जीवका सतत ऊर्ध्वगमन मोक्ष है । ये सात पदार्थ सप्तभङ्गीरूप न्यायसे व्यवस्थापित होते हैं । वह सप्तभङ्गी न्याय—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च, [किसी प्रकारसे है, किसी प्रकारसे नहीं है, किसी प्रकारसे है भी और नहीं भी है, किसी प्रकारसे अवक्तव्य है, किसी प्रकारसे है भी और अवक्तव्य भी है, किसी प्रकारसे नहीं है और अवक्तव्य है, एवं किसी प्रकारसे भी है नहीं भी है और अवक्तव्य है] इस तरह सात भंग—प्रकार हैं । अभिप्राय यह है कि—'स्यात्' शब्द निपात है और उसका अर्थ 'कथञ्चित्' होता है । प्रतिवादी चार प्रकारके हैं—सद्वादी, असद्वादी, सदसद्वादी, अनिर्वचनीयवादी एवं अनिर्वचनीय मतसे सम्बन्ध रखनेवाले सदादि मतावलम्बी त्रिविध हैं, उन सात प्रकारके वादियोंके प्रति इन सप्तविध न्यायोंका उपयोग किया जाता है । उदाहरणार्थ—यदि आर्हतके प्रति सद्वादी प्रश्न करे कि तुम्हारे मतमें मोक्ष है ? तो वह कहेगा, स्यादस्ति—कथञ्चित् है । बस इसी प्रकार अन्य-वादियोंके प्रति भी 'स्यान्नास्ति' इत्यादि न्याय प्रयुक्त हो सकते हैं । इसीसे वादी लोग दुःखी होकर उत्तर नहीं पा सकते हैं । अतः सप्तभङ्गीरूप साधक न्यायसे जीवादि सात पदार्थोंकी सिद्धि होनेमें कौन सा आश्चर्य है ? इसपर सिद्धान्ती उत्तर देता है कि—सप्तभङ्गीरूप न्याय वस्तुतः न्याय नहीं है, किन्तु अपन्याय है, कारण कि एक जीवको सद्वादीके प्रति सद्रूप कहना, असद्वादीके प्रति असद्रूप

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—न, एकस्मिन्, असम्भवात् ।

पदार्थोक्ति—एकस्मिन्—अखण्डे परमार्थरूपे वस्तुनि, असम्भवात्—विरुद्धधर्माणामसम्भवात्, न—वस्तुनोऽनेकरूपत्वं नास्ति ।

भाषार्थ—एक परमार्थरूप वस्तुमें विरुद्ध धर्मोंका संभव न होनेसे वस्तुमें अनेकरूपता नहीं है ।

भाष्य

निरस्तः सुगतसमयः, विवसनसमय इदानीं निरस्यते । सप्त चैषां पदार्थाः संमता जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम । संक्षेपतस्तु

भाष्यका अनुवाद

सुगतके सिद्धान्तका निरसन किया जा चुका है, अब जैनसिद्धान्तका निराकरण करते हैं । इनके मतमें सात पदार्थ हैं, जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर,

---

रत्नप्रभा

नैकस्मिन्नसम्भवात् । मुक्तकच्छमते निरस्ते मुक्ताम्बराणां मतं बुद्धिस्थं भवति तत् निरस्यत इति प्रसङ्गसङ्गतिमाह—**निरस्त इति** । एकरूपं ब्रह्मेति वैदिकसिद्धान्तस्य अनेकान्तवादेन विरोधोऽस्ति न वेति तद्वादस्य मानभ्रान्तिमूलत्वाभ्यां सन्देहे मानमूलत्वात् विरोध इति पूर्वपक्षफलमभिसन्धाय तन्मतमुपन्यस्यति—**सप्त चेति** । जीवाजीवौ—भोक्तृभोग्यौ । विषयाभिमुख्येन इन्द्रियाणां प्रवृत्तिः—आस्रवः । तां संवृणोतीति संवरः—यमनियमादिः । निर्जरयति

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नैकस्मिन्नसंभवात्" । मुक्तकच्छ—सुगतोंके मतका खण्डन होनेपर दिगम्बर—जैनोंका मत बुद्धिमें आरूढ होता है, अब उसका निरसन करते हैं, इस प्रकार प्रसंगसङ्गति कहते हैं—"निरस्तः" इत्यादिसे । एकरूप ब्रह्म है, इस वैदिकसिद्धान्तका अनेकान्तवादसे विरोध है या नहीं, वह अनेकान्तवाद प्रमाणमूलक है या भ्रान्तिमूलक है ? ऐसा सन्देह होनेपर उसके मानमूल होनेसे वैदिकसिद्धान्तका विरोध है ऐसे पूर्वपक्षके फलका अनुसंधानकर उस मतका उपन्यास करते हैं—"सप्त च" इत्यादिसे । 'जीव' भोक्ता है और 'अजीव' भोग्य है । विषयके अभिमुख इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति—अर्थात् इन्द्रियोंका विषयोंमें संचार 'आस्रव' है । इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्तिका जो संवरण करता है, वह 'संवर' है, अर्थात् यमनियमादि—

कहना विरुद्ध है । जीवको सावयव कहना नितान्त भूल है, क्योंकि उसे सावयव माननेमें अनित्यताकी प्राप्ति होगी । कथञ्चित् स्वीकार किया जाय, तो मोक्षरूप पुरुषार्थ किसको होगा ? अतः जीवादि पदार्थोंकी सिद्धि सप्तभङ्गीन्यायसे सर्वथा नहीं हो सकती है ।

भाष्य

द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाख्यौ। यथायोगं तयोरेवेतरान्तर्भावादिति मन्यन्ते। तयोरिममपरं प्रपञ्चमाचक्षते, पञ्चास्तिकाया नाम—जीवास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः, धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्ति-

भाष्य

बन्ध और मोक्ष। संक्षेपमें तो जीव और अजीव नामके दो ही पदार्थ हैं, क्योंकि दूसरों का इन दोमें ही यथायोग्य अन्तर्भाव होता है, ऐसा वे मानते हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय ये पांच अस्तिकाय उन दोका दूसरा प्रपञ्च है ऐसा वे कहते हैं, उन सबके

रत्नप्रभा

नाशयति कल्मषमिति निर्जरः—तप्तशिलारोहणादिः। बन्धः–कर्म। मोक्षः–कर्मपाशनाशे सति अलोकाकाशप्रविष्टस्य सततोर्ध्वगमनम्। ननु आस्रवादीनां भोग्यान्तर्भावात् कथं सप्तत्वमित्यत आह—**संक्षेपतस्त्विति**। संक्षेपविस्तराभ्याम् उक्तार्थेषु मध्यमरीत्या विस्तरान्तरमाह–**तयोरिति**। अस्तिकायशब्दः सांकेतिकः पदार्थवाची। १ जीवश्चाऽसौ अस्तिकायश्चेति एवं विग्रहः। २ पूर्यन्ते गलन्तीति पुद्गलाः—परमाणुसंघाः कायाः। ३ सम्यक् प्रवृत्त्यनुमेयः—धर्मः। ४ ऊर्ध्वगमनशीलस्य जीवस्य देहे स्थितिहेतुः—अधर्मः। ५ आवरणाभावः–आकाश इत्यर्थः। पञ्चपदार्थानाम् अवान्तरभेदमाह—**सर्वेषामिति**। अयमर्थः—जीवास्तिकायः त्रिविधः। १ कश्चिद् जीवो नित्यसिद्धः अर्हन्मुख्यः, २ केचित्

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियोंका निग्रह। जो पापको अत्यन्त जीर्ण करता है नाश करता है—वह 'निर्जर' है, जैसे तप्तशिलारोहण, केशलुञ्चन आदि देहकष्ट। 'बन्ध'–कर्म। 'मोक्ष'—कर्मपाशका नाश होनेपर अलोक आकाशमें प्रविष्ट हुएका सतत ऊर्ध्वगमन। यदि कोई कहे कि आस्रव आदि भोग्यके अन्तर्भूत हैं, तो पदार्थ सात किस प्रकार हैं? इसपर कहते हैं—"संक्षेपतस्तु" इत्यादिसे। संक्षेप और विस्तारसे कहे हुए पदार्थोंमें मध्यम रीतिसे अन्य विस्तार कहते हैं—"तयोः" इत्यादिसे। अस्ति—है और कायते—शब्दसे कहलाता है, वह 'अस्तिकाय'। यह जैनोंका पारिभाषिक शब्द पदार्थवाचक है जीव ऐसा जो पदार्थ वह "जीवास्तिकाय"। पूर्ण हो और गल जाय वह 'पुद्गल' अर्थात् परमाणुसमुदाय काय। सम्यक् प्रवृत्तिसे जो अनुमेय है, वह धर्म है। ऊर्ध्वगमनशील जीवकी देहमें स्थितिका हेतु—अधर्म है। आवरणका अभाव—आकाश है। इन पांच पदार्थोंका अवान्तर भेद कहते हैं—"सर्वेषाम्" इत्यादिसे। यह तात्पर्य है—जीवास्तिकाय तीन प्रकारका है, नित्यसिद्ध, मुक्त और बद्ध। उनके मतके प्रवर्त्तक जो अर्हन्मुख्य (प्रभृति) हैं वे नित्यसिद्ध हैं, कितने ही

भाष्य

कीर्तयन्ति सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रभेदान् बहुविधान् स्वसमयपरिकल्पितान्

भाष्यका अनुवाद

बहुत प्रकारके अवान्तर भेद जो प्रमाण और युक्तिसे शून्य अपने शास्त्रमें परि-

रत्नप्रभा

साम्प्रतिकमुक्ताः, ३ केचिद् बद्धा इति। पुद्गलास्तिकायः षोढा—४ पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, ५ स्थावरम्, ६ जङ्गमं चेति। ७–८ प्रवृत्तिस्थितिलिङ्गौ धर्माऽधर्मौ उक्तौ। आकाशाऽस्तिकायः द्विविधः—१ लोकाकाशः सांसारिकः, २ अलोकाकाशो मुक्ताश्रयः इति। बन्धाऽऽख्यं कर्म अष्टविधम्—४ चत्वारि घातिकर्माणि, ४ चत्वारि अघातीनि। तत्र ज्ञानावरणीयम्, दर्शनावरणीयम्, मोहनीयम्, अन्तरायं चेति घातिकर्माणि। १ तत्त्वज्ञानाद् न मुक्तिरिति ज्ञानम् आद्यं कर्म। २ आर्हततन्त्रश्रवणाद् न मुक्तिरिति ज्ञानं द्वितीयम्। ३ बहुषु तीर्थकरप्रदर्शितेषु मोक्षमार्गेषु विशेषानवधारणं—मोहनीयम्। ४ मोक्षमार्गप्रवृत्तिविघ्नकारणम्—अन्तरायम्। इमानि चत्वारि श्रेयोहन्तृत्वाद् घातिकर्माणि। अथाऽघातीनि चत्वारि कर्माणि—वेदनीयम्, नामिकम्, गोत्रिकम्, आयुष्कमिति। १ मम वेदितव्यं तत्त्वम् अस्तीति अभिमानो वेदनीयम्। २ एतन्नामाऽहमस्मीत्यभिमानः—नामिकम्। ३ अहमत्र भवतो देशिकस्याऽर्हतः शिष्यवंशे प्रविष्टोऽस्मीत्यभिमानः—गोत्रिकम्। ४ शरीरस्थित्यर्थं कर्म—आयुष्कम्। अथ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव इस समयमें मुक्त होते हैं और कितने ही बद्ध हैं। पुद्गलास्तिकाय छः प्रकारका है—पृथिवी आदि चार भूत, स्थावर और जङ्गम। प्रवृत्ति और स्थितिसे अनुमेय धर्म और अधर्म हैं, ऐसा कहा है। आकाशास्तिकाय दो प्रकारका है—लोकाकाश और अलोकाकाश। उनमें लोकाकाश सांसारिक है, और अलोकाकाश मुक्तोंका आश्रय—स्थान है [जो बद्ध जीवोंका आधारभूत है वह लोकाकाश है और जो मुक्तोंका आधार है, वह अलोकाकाश है] बन्धसंज्ञक कर्म आठ प्रकारका है, उनमें चार साधु कर्म हैं, उनकी पारिभाषिक संज्ञा अघातिकर्म है और चार असाधुकर्म हैं, उनकी पारिभाषिक संज्ञा घातिकर्म है, उनमें घातिकर्म ये हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। तत्त्वज्ञानसे मोक्ष नहीं होता, ऐसी भावना ज्ञानावरणीय है। आर्हतशास्त्रके श्रवणसे मुक्ति नहीं होती है [आर्हतशास्त्रका अभ्यास मुमुक्षुओंके उपयोगी नहीं है] ऐसी भावना—दर्शनावरणीय है, तीर्थंकर प्रदर्शित बहुतसे मार्गोंमेंसे मोक्षसाधन क्या है, इस विशेषका अनिश्चय—मोहनीय है और मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिमें विघ्नकारक अन्तराय है। ये चार कल्याणनाशक होनेसे घातिकर्म हैं। वेदनीय, नामिक, गोत्रिक और आयुष्क ये चार अघातिकर्म हैं। तत्त्वज्ञान मेरे जानने योग्य है, ऐसा अभिमान वेदनीय है, इस नामका मैं हूँ, ऐसा अभिमान नामिक है। मैं पूज्य देशिक अर्हत्के शिष्यवंशमें प्रविष्ट हूँ, ऐसा अभिमान गोत्रिक है और शरीरकी स्थितिके लिए जो कर्म है वह

भाष्य

वर्णयन्ति । सर्वत्र चेमं सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति । स्यादस्ति,

भाष्यका अनुवाद

कल्पित हैं, उनका वर्णन करते हैं। और सर्वत्र यह सप्तभङ्गीनय नामके न्यायको

रत्नप्रभा

वा शुक्रशोणितमिश्रितम्—आयुष्कम् । तस्य तत्त्वज्ञानानुकूलदेहपरिणामशक्तिः—गोत्रिकम् । शक्तस्य तस्य द्रवीभावात्मककललावस्थाया बुद्बुदावस्थायाश्च आरम्भकः क्रियाविशेषः—नामिकम् । सक्रियस्य जाठराग्निवायुभ्याम् ईषद् घनीभावः—वेदनीयम् । तत्त्ववेदनानुकूलत्वात् तानि एतानि तत्त्वावेदकशुक्लपुद्गलार्थत्वाद् अघातीनि । तदेतत् कर्माष्टकं जन्मार्थत्वाद् बन्धः आस्रवादिद्वारेति । इयं प्रक्रिया मानशून्येति द्योतयति—**स्वसमयपरिकल्पितानिति** । स्वीयतन्त्रसंकेतमात्रकल्पितानित्यर्थः । पदार्थानामुक्तानामनेकान्तत्वं वदन्तीत्याह—**सर्वत्रेति** । अस्तित्वनास्तित्वादिविरुद्धधर्मद्वयम् आदाय वस्तुमात्रे न्यायं योजयन्ति । सप्तानाम् अस्तित्वादीनां भङ्गानां समाहारः—सप्तभङ्गी, तस्या नयः—न्यायः । घटादेः हि सर्वात्मना सदेकरूपत्वे प्राप्यात्मनापि अस्त्येव स इति तत्प्राप्तये यत्नो न स्यात्, अतो घटत्वादिरूपेण कथञ्चिदस्ति, प्राप्यत्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आयुष्क है। अथवा शुक्र और शोणितसे मिश्रित जो कर्म वह आयुष्क है। उसकी तत्त्वज्ञानके अनुकूल देहपरिणामशक्ति गोत्रिक कर्म है [अर्थात् कललबुद्बुदादि अवस्थाओंमें परिणाम पानेकी शक्ति गोत्रिक कर्म है] ऐसी शक्तिवालेकी उन अवस्थाओंकी प्राप्ति अर्थात् ऐसी शक्तिवालेकी द्रवीभावात्मक कललावस्था और बुद्बुदावस्थाका आरम्भक कर्म विशेष नामिक कर्म है। कलल और बुद्बुद आदि अवस्थाओंमें परिणाम पाये हुएकी जाठराग्निसम्पर्कसे पुण्यशरीरपरिणामके योग्य काठिन्यावस्था वेदनीय है। अर्थात् क्रियायुक्त बीजका जाठराग्नि और वायुसे थोड़ा घनीभाव वेदनीय है। तत्त्ववेदन—तत्त्वज्ञानके अनुकूल होनेसे ये चारों कर्म तत्त्वके आवेदक पुण्यवत् शरीरके सम्बन्धी होनेसे साधुकर्म—अघातिकर्म कहलाते हैं। ये आठ प्रकारके कर्म जन्मार्थ होनेसे आस्रवादि द्वारा बन्धनरूप हैं। यह प्रक्रिया प्रमाणशून्य है, ऐसा सूचित करते हैं—"स्वसमयपरिकल्पितान्" इत्यादिसे। अपने शास्त्रमें संङ्केतसे ही कल्पित हैं, ऐसा अर्थ है। वे इन सात पदार्थोंमें एकरूप नियमका अभाव कहते हैं—"सर्वत्र" इत्यादिसे। अस्तित्व, नास्तित्व आदि दो विरुद्ध धर्मोंको लेकर वस्तुमात्रमें न्यायकी योजना करते हैं। सात अस्तित्व आदि भंगोंका—प्रकारोंका समाहार, सप्तभंगी है, उसका नय अर्थात् न्याय। यदि घटादि सर्वात्मना सदा एकरूप हों, तो प्राप्यस्वरूपसे भी वे हैं ही,

भाष्य

स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति ।

भाष्यका अनुवाद

प्रवृत्त करते हैं—'स्यादस्ति' (किसी प्रकारसे है), 'स्यान्नास्ति' (किसी प्रकारसे नहीं है), 'स्यादस्ति च नास्ति च' (किसी प्रकारसे है और नहीं है), 'स्यात्-अवक्तव्यः' (किसी प्रकारसे अवक्तव्य है), 'स्यादस्ति चावक्तव्यश्च' (किसी प्रकारसे है और अवक्तव्य है), 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च' (किसी

रत्नप्रभा

दिरूपेण कथञ्चिन्नास्तीत्येवमनेकरूपत्वं वस्तुमात्रस्य आस्थेयमिति भावः। के ते सप्त भङ्गाः तानाह—**स्यादस्तीति**। स्यादिति अव्ययं तिङन्तप्रतिरूपकं कथञ्चिदर्थकम्, स्यादस्ति कथञ्चिदस्तीत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। १ तत्र वस्तुनोऽस्तित्ववाञ्छायां स्यादस्तीति आद्यो भङ्गः प्रवर्त्तते। २ नास्तित्ववाञ्छायां स्यान्नास्तीति द्वितीयो भङ्गः। ३ क्रमेण उभयवाञ्छायां स्यादस्ति नास्ति चेति तृतीयो भङ्गः। ४ युगपदुभयवाञ्छायामस्ति नास्तीति शब्दद्वयस्य सकृद्वक्तुमशक्यत्वात् स्यादवक्तव्यत्वं चतुर्थो भङ्गः। ५ आद्यचतुर्थभङ्गयोर्वाञ्छायां स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्चेति पञ्चमो भङ्गः। ६ द्वितीयचतुर्थेच्छायां स्यान्नास्ति चाऽवक्तव्यश्चेति षष्ठो भङ्गः। ७ तृतीयचतुर्थेच्छायां स्यादस्ति नास्ति चाऽवक्तव्यश्चेति सप्तमो भङ्ग इति विभागः। एवमेकत्वमनेकत्वं चेति द्वयमादाय स्यादेकः, स्यादनेकः, स्यादेकोऽ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए उनकी प्राप्तिके लिए यत्न न होनेसे घटत्वादिरूपसे कथंचित् हैं और प्राप्यत्व आदि रूपसे कथंचित् नहीं हैं, ऐसा वस्तुमात्रका अनेकरूपत्व स्वीकार करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। वे सात भंग क्या हैं, इसपर कहते हैं—"स्यादस्ति" इत्यादिसे। 'स्यात्' तिङन्तसदृश अव्यय है और उसका अर्थ है—कथंचित्—किसी प्रकारसे। 'स्यादस्ति'—कथंचित् है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए। उनमें वस्तु है, ऐसी इच्छा होनेपर प्रथम स्यादस्ति यह प्रकार प्रवृत्त होता है, नहीं है, ऐसी इच्छा होनेपर 'स्यान्नास्ति' ऐसा दूसरा भंग प्रवृत्त होता है, क्रमसे दोनों इच्छाएँ होनेपर "स्यादस्ति च नास्ति च" ऐसा तृतीय भंग प्रवृत्त होता है, युगपत् दोनों इच्छाएँ होनेपर अस्ति (है) और नास्ति (नहीं है) ऐसे दो शब्दोंके एक कालमें नहीं कहे जा सकनेके कारण 'स्यात् अवक्तव्यः" ऐसा चौथा भंग प्रवृत्त होता है। आद्य भंग और चतुर्थ भंगकी इच्छा होनेपर 'स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च' यह पाचवां भंग प्रवृत्त होता है। द्वितीय और चतुर्थ भंगकी इच्छा होनेपर 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च' यह छठा भंग प्रवृत्त होता है। और तृतीय और चतुर्थ भंगकी इच्छा होनेपर 'स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च' यह सातवां भङ्ग प्रवृत्त होता है, ऐसा विभाग है। इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व ये दोनों

भाष्य

एवमेव एकत्वनित्यत्वादिष्वपीमं सप्तभङ्गीनयं योजयन्ति। अत्राऽऽचक्ष्महे। नायमभ्युपगमो युक्त इति। कुतः? एकस्मिन्नसंभ-

भाष्यका अनुवाद

प्रकारसे नहीं है और अवक्तव्य है), 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च' (किसी प्रकारसे है और नहीं है और अवक्तव्य है)। इसी प्रकार एकत्व नित्यत्व आदिमें भी इस सप्तभंगीनयकी योजना करते हैं।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं कि यह स्वीकार युक्त नहीं है। किससे? इससे कि एकमें

रत्नप्रभा

नेकश्च, स्यात् अवक्तव्यः, स्यादेकोऽवक्तव्यः स्यात् अनेकोऽवक्तव्यः, स्याद् एकोऽनेकश्च अवक्तव्यश्चेति, तथा स्यात् नित्यः, स्याद् अनित्य इत्यादि ऊह्यम्। एवमनेकरूपत्वेन वस्तुनि प्राप्तित्यागादिव्यवहारः सम्भवति, एकरूपत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदा अस्त्येवेति व्यवहारविलोपापत्तिः स्यात्। तस्मादनेकान्तं सर्वम् इति एकरूपब्रह्मवादबाधः।

इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—अत्रेति। यद् अस्ति तत् सर्वत्र सर्वदा अस्त्येव, यथा ब्रह्मात्मा। न चैवं तत्प्राप्तये यत्नो न स्यादिति वाच्यम्, अप्राप्तिभ्रान्त्या यत्नसम्भवात्। यद् नास्ति तत् नास्त्येव, यथा शशविषाणादि, प्रपञ्चस्तु उभयविलक्षण एवेति एकान्तवाद एव युक्तो नाऽनेकान्तवादः। तथाहि—किं येन आकारेण वस्तुनः

रत्नप्रभाका अनुवाद

लेकर 'स्यादेकः' (कथंचित् एक है) 'स्यादनेकः' (कथंचित् अनेक है), 'स्यादेकोऽनेकश्च' (कथंचित् एक और अनेक है), 'स्यादवक्तव्यः' (कथंचित् अवक्तव्य है), 'स्यादेकोऽवक्तव्यश्च' (कथंचित् एक और अवक्तव्य है), 'स्यादनेकोऽवक्तव्यश्च' (कथंचित् अनेक और अवक्तव्य है), 'स्यादेकोऽनेकश्चावक्तव्यश्च' (कथंचित् एक, अनेक और अवक्तव्य है) इसी प्रकार 'स्याद् नित्यः' इत्यादि समझना चाहिए। इस प्रकार वस्तुमें अनेकरूपत्वके होनेसे वस्तुमें प्राप्ति और त्याग आदि व्यवहार होते हैं, एकरूपत्वमें तो सर्व सर्वदा सर्वत्र है ही, इसलिए सबके अनेकान्त होनेसे एकरूप ब्रह्मवादका बाध है।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। जो है, वह सर्वत्र सर्वदा है ही जैसे ब्रह्मात्मा। ऐसी परिस्थितिमें उसकी प्राप्तिके लिए यत्न नहीं होगा, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि वह अप्राप्त है, ऐसी भ्रान्तिसे यत्नका सम्भव है। उसी प्रकार जो नहीं है, वह नहीं ही है, जैसे शशविषाण आदि। प्रपञ्च तो उभयविलक्षण ही है, इसलिए एकान्तवाद ही युक्त है, अनेकान्तवाद युक्त नहीं है। जिस प्रकारसे

भाष्य

वात् । नह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत् । य एते सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः । इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात् । नन्वनेकात्मकं वस्त्विति

भाष्यका अनुवाद

सम्भव न होनेसे । एक धर्मीमें एक ही समयमें सत्त्व, असत्त्व आदि विरुद्ध धर्मोंका समावेश नहीं हो सकता, शीत और उष्णके समान । जो ये सात पदार्थ इतने और ऐसे रूपके, इस प्रकार निर्धारित हैं, वे वैसे ही प्रकारके हों, या न हों, क्योंकि नहीं तो वैसे प्रकारके हों, या वैसे प्रकारके न हों, ऐसा अनिर्धारित ज्ञान संशयज्ञानके समान अप्रमाण ही होगा । परन्तु वस्तु अनेकात्मक है, ऐसा निर्धारित

रत्नप्रभा

सत्त्वं तेनैव आकारेणाऽसत्त्वम् उत आकारान्तरेण । द्वितीये वस्तुन आकारान्तरमेवाऽसदिति वस्तुनः सदेकरूपत्वमेव, नहि दूरस्थग्रामस्य प्राप्तेः असत्त्वे ग्रामोऽपि असन् भवति प्राप्यासत्त्वे प्राप्तियत्नानुपपत्तेः, अतो यथाव्यवहारं प्रपञ्चस्य एकरूपत्वमास्थेयम् नाऽऽद्य इत्याह—**नायमिति** । ननु विमतं अनेकात्मकम् , वस्तुत्वात् , नारसिंहवदिति चेत् , न; घट इदानीमस्त्येवेति अनुभवबाधात् । किञ्च, जीवादिपदार्थानां सप्तत्वं जीवत्वादिरूपं चाऽस्त्येव नास्त्येवेति च नियतं उत अनियतम् । आद्ये व्यभिचार इत्याह —**य इति** । द्वितीये पदार्थनिश्चयो न स्यादित्याह—**इतरथेति** । अनेकान्तं सर्वम् इत्येव निश्चय इति शङ्कते—**नन्विति** । तस्य निश्चयरूपत्वं नियतम् अनियतं

रत्नप्रभाका अनुवाद

वस्तुका सत्त्व है, उसी प्रकारसे असत्त्व है या अन्य प्रकारसे ? दूसरे पक्षमें वस्तुका अन्य आकार ही असत् है, इसलिए वस्तुका सदा एकरूपत्व ही है । दूरस्थ ग्रामकी प्राप्तिका असत्त्व हो, तो ग्राम असत् नहीं होता यदि प्राप्य ग्राम असत् हो तो उसकी प्राप्तिके लिए यत्न भी अनुपपन्न होगा । इसलिए व्यवहारके अनुसार प्रपञ्च एकरूप है, ऐसा अङ्गीकार करना पड़ेगा । आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नायम्" इत्यादिसे । यदि कोई कहे—विमत अनेकात्मक है, वस्तु होनेसे, नरसिंहजीके शरीरके समान, सो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि घट इस समय है ही, इस अनुभवका बाध होता है । और जीवादि पदार्थोंका सप्तत्व और जीवत्वादिरूप है ही और नहीं ही है, यह निश्चित है या अनिश्चित ? प्रथम पक्षमें व्यभिचार है, ऐसा कहते हैं—"यः" इत्यादिसे । द्वितीय पक्षमें पदार्थ निश्चय नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"इतरथा" इत्यादिसे । परन्तु सब अनेकान्त ही, ऐसा है निश्चय है, ऐसी

भाष्य

निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाऽप्रमाणं भवितुमर्हति । नेति ब्रूमः । निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्याऽपि वस्तुत्वाविशेषात् स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात् । एवं निर्धारयितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात् पक्षेऽस्तिता, स्याच्च पक्षे नास्तितेति । एवं सति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात् । कथं वा तदभिप्रायानुसारिणस्तदुपदिष्टेऽर्थेऽनिर्धारितरूपे प्रवर्तेरन् । ऐकान्तिकफलत्वनिर्धा-

भाष्यका अनुवाद

रूप ही ज्ञान उपलब्ध होता है, वह संशयज्ञानके समान अप्रमाण हो, यह युक्त नहीं है। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि सब वस्तुओंमें निरंकुश अनेकान्तत्वकी प्रतिज्ञा करनेवालेके मतमें निर्धारणके भी वस्तुत्वके समान होनेसे 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' (किसी प्रकारसे है, किसी प्रकारसे नहीं है) इत्यादि विकल्पकी प्रवृत्ति होनेसे वह भी अनिर्धारणात्मक ही होगा। इस प्रकार निर्धारण करनेवालेका और निर्धारणफलका भी पक्षमें अस्तित्व होगा और पक्षमें नास्तित्व होगा। ऐसी अवस्थामें प्रमाणभूत होकर भी तीर्थङ्कर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमितिके निर्धारित न होनेपर किस प्रकार उपदेश करनेमें शक्तिमान् होंगे। उनके अभिप्रायके अनुसारी शिष्य उनसे उपदिष्ट अनिर्धारितरूप अर्थमें किस

रत्नप्रभा

वा ? आद्ये वस्तुत्वस्य तस्मिन् एव एकरूपे निश्चये व्यभिचारः, द्वितीये तस्य संशयत्वं स्यादित्याह—**नेति ब्रूम** इति। प्रमायाम् उक्तं न्यायं प्रमात्रादौ अतिदिशति—**एवमिति**। निर्धारणं फलं यस्य प्रमाणादेस्तस्येत्यर्थः। इत्येवं सर्वत्राऽनिर्धारणे सति उपदेशो निष्कम्पप्रवृत्तिश्च न स्यादित्याह—**एवं सतीति**। अनेकान्तवादे

रत्नप्रभाका अनुवाद

शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। उसका निश्चयरूपत्व नियत है या अनियत है ? आद्य पक्षमें अनेकात्मक वस्तु है, इस निर्धारित ज्ञानमें वस्तुत्वका एकरूप निश्चय होनेसे अनेकान्तका व्यभिचार हो जायगा, द्वितीय पक्षमें वह संशयरूप हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"नेति ब्रूमः" इत्यादिसे। प्रमामें जो न्याय कहा गया है, उसका प्रमाता आदिमें अतिदेश करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। 'निर्धारणफल'—निर्धारण जिसका फल है, ऐसे प्रमाण आदि। ऐसा सर्वत्र अनिर्धारण होनेपर उपदेश और मुमुक्षुओंकी निश्चित प्रवृत्ति भी नहीं होगी, ऐसा

भाष्य

रणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुलः प्रवर्तते नाऽन्यथा। अतश्चाऽनिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन् मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनः स्यात्। तथा पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्वसंख्याऽस्ति वा नास्ति वेति विकल्प्यमाना स्यात् तावदेकस्मिन् पक्षे, पक्षान्तरे तु न स्यादित्यतो न्यूनसंख्यात्वम्, अधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात्। न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति, अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्, उच्यन्ते चाऽवक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्। उच्य-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार प्रवृत्त होंगे, क्योंकि निश्चित फलका निर्धारण होनेपर ही उसके साधनके अनुष्ठानके लिए सब लोक अनाकुल होकर प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए जिसका अर्थ निर्धारित नहीं है, ऐसे शास्त्रकी रचना करनेवालेका वचन मत्त और उन्मत्तके समान ग्राह्य न होगा। वैसे ही पांच अस्तिकायोंकी पंचत्व संख्या है या नहीं, ऐसा विकल्प होनेपर एक पक्षमें होगी और अन्य पक्षमें न होगी, इससे न्यूनसंख्यात्व या अधिकसंख्यात्व प्राप्त होगा। और ये पदार्थ अवक्तव्य हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवक्तव्य हों, तो नहीं कहे जायंगे, परन्तु कहे जाते हैं और अवक्तव्य हैं, यह विरुद्ध है। और कहे जाते

रत्नप्रभा

अस्तिकायपञ्चत्वमपि न स्यादित्याह—तथा पञ्चानामिति। यदुक्तम् अवक्तव्यत्वम्, तत् किं केनाऽपि शब्देन अवाच्यत्वम्? उत सकृत् अनेकशब्दावाच्यत्वम्। नाऽऽद्यः, व्याघातादित्याह—न चैषामिति। उच्यन्ते च। अवक्तव्यादिपदैः इति शेषः। न द्वितीयः, सकृदेकवक्तृमुखजानेकशब्दानाम् अप्रसिद्धेः निषेधायोगात्, शेषस्यापि मुखभेदात्। न चाऽर्थस्य युगपद् विरुद्धधर्मवाञ्छायां वक्तुः मूकत्वमात्रम् अवक्तव्यपदेन विवक्षितमिति वाच्यम्। तादृशवाञ्छाया एवाऽनुत्पत्तेरिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"एवं सति" इत्यादिसे। अनेकान्तवादमें अस्तिकायोंकी पञ्चत्वसंख्या भी नहीं होगी, ऐसा कहते हैं—"तथा पञ्चानाम्" इत्यादिसे। और जो अवक्तव्यत्व कहा है, उसका अर्थ किसी भी शब्दसे अवाच्यत्व है या एक बार अनेक शब्दोंसे अवाच्यत्व है? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि व्याघात है, ऐसा कहते हैं—"न चैषाम्" इत्यादिसे। कहे जाते हैं—'अवक्तव्य आदि शब्दोंसे' इतना शेष समझना चाहिए। द्वितीय पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि एक कालमें एक वक्ताके मुखसे अनेक शब्दोंकी उत्पत्तिकी अप्राप्ति होनेसे निषेध युक्त नहीं है, और शेषके भी भिन्न भिन्न मुख हैं। और अर्थमें एक ही समय विरुद्ध धर्मकी इच्छा होनेपर वक्ताका मूक होना ही अवक्तव्य पदका अर्थ है, ऐसा भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी

भाष्य

मानाश्च तथैवाऽवधार्यन्ते नाऽवधार्यन्ते इति च तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनमस्ति वा नास्ति वा, एवं तद्विपरीतमसम्यग्दर्शनमप्यस्ति वा नास्ति वेति प्रलपन् मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव स्यान्न प्रत्ययितव्यस्य पक्षस्य। स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाऽभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षे चा-नित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः। एवं जीवादिषु

भाष्यका अनुवाद

हुए ये पदार्थ उसी प्रकारसे अवधारित होते हैं और अवधारित नहीं होते। उसी प्रकार उनका अवधारणफल सम्यगदर्शन है या नहीं, उसी प्रकार उससे उलटा असम्यगदर्शन भी है, या नहीं, ऐसा प्रलाप करता हुआ (अर्हन्) मत्तोन्मत्त पक्षका होगा, आप्तपक्षका नहीं होगा। और किसी पक्षमें स्वर्ग और मोक्षका अभाव और किसी पक्षमें सत्ता प्राप्त होगी उसी प्रकार किसी पक्षमें नित्यता और किसी पक्षमें अनित्यता प्राप्त होगी, इस प्रकार अनिश्चय होनेसे उसमें प्रवृत्ति अनुपपन्न होगी। उसी प्रकार अनादिसिद्ध, जीवादि जिनका स्वभाव अपने शास्त्रमें निश्चित किया है, वे उस प्रकारसे निश्चित स्वभाववाले नहीं हैं, ऐसा मानना

रत्नप्रभा

किञ्च, विरुद्धानेकप्रलापित्वाद् अर्हन् न आप्त इत्याह—**उच्यमानाश्चेत्यादिना**। इति च प्रलपन् इत्यन्वयः। अर्हन् इति शेषः। अनाप्तपक्षस्यैवाऽन्तर्गतः स्यात् नाऽऽप्त-पक्षस्येत्यर्थः। इतश्च असंगतोऽनेकान्तवाद इत्याह—**स्वर्गेति**। किञ्च, अनादि-सिद्धोऽर्हन्मुनिः। अन्ये तु हेत्वनुष्ठानाद् मुच्यन्ते, अननुष्ठानाद् बध्यन्ते इति आर्हत-तन्त्रावधृतस्वभावानां त्रिविधजीवानां त्रैविध्यनियमोऽपि न स्यादित्याह—**अनादीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती। और विरुद्ध अनेक प्रलाप करनेसे अर्हन् आप्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"उच्यमानाश्च" इत्यादिसे। इस प्रकार प्रलाप करता हुआ, ऐसा अन्वय है। "अर्हन्" इतना शेष समझना चाहिए। इस प्रकारसे विरुद्ध प्रलाप करता हुआ अर्हन् अनाप्त पक्षके ही अन्तर्गत होगा, आप्त पक्षके अन्तर्गत नहीं होगा, ऐसा अर्थ है। और अनेकान्तवाद इससे भी असङ्गत है, ऐसा कहते हैं—"स्वर्ग" इत्यादिसे। अर्हन् मुनि अनादि सिद्ध नित्यमुक्त जीव है, अन्य जीव तो हेतुके अनुष्ठानसे मुक्त होते हैं और हेतुका अनुष्ठान न करनेसे बद्ध होते हैं—इस प्रकार शास्त्रमें जिनका स्वभाव निश्चित किया गया है, ऐसे त्रिविध जीवोंका

भाष्य

पदार्थेष्वेकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोरसंभवात् सत्त्वे चैकस्मिन् धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्याऽसम्भवादसत्त्वे चैवं सत्त्वस्याऽसंभवाद-संगतमिदमार्हतं मतम् । एतेनैकानेकनित्यानित्यव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ता-द्यनेकान्ताऽभ्युपगमा निराकृता मन्तव्याः । यत्तु पुद्गलसंज्ञकेभ्योऽणुभ्यः संघाताः संभवन्तीति कल्पयन्ति, तत् पूर्वेणैवाऽणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवतीत्यतो न पृथक् तन्निराकरणाय प्रयत्यते ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

पड़ेगा । इस प्रकार जीवादि पदार्थोंमें एक धर्ममें सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध धर्मोंका सम्भव न होनेसे, सत्त्वरूप एक धर्ममें अन्य धर्म—असत्त्वका सम्भव न होनेसे और इसी प्रकार असत्त्वमें सत्त्वका सम्भव न होनेसे भी यह आर्हत मत असङ्गत है । इससे एक, अनेक, नित्य, अनित्य, व्यतिरिक्त, अव्य-तिरिक्त आदि अनियमके स्वीकारोंका निराकरण हुआ समझना चाहिए । पुद्गलसंज्ञक अणुओंसे संघात उत्पन्न होता है, ऐसी जो कल्पना करते हैं, उसका तो पूर्वोक्त अणुवादनिराकरणसे[1] ही निराकरण हो जाता है, इसलिए उसके निरा-करणके लिए पृथक् प्रयत्न नहीं किया जाता ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभा

प्रपञ्चितं सूत्रार्थं निगमयति—एवमिति । एतेनेति । सत्त्वासत्त्व-योरेकत्र निरासेन इत्यर्थः । परमाणुसंघाताः पृथिव्यादय इति दिगम्बरसिद्धान्तः किमिह सूत्रकृता उपेक्षितः, तत्राह—यत्त्विति ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्रैविध्यनियम भी नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"अनादि" इत्यादिसे । प्रपञ्च—विस्तारसे कहे हुए सूत्रार्थका निगमन करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । "एतेन" अर्थात् एकमें सत्त्व और असत्त्वके निराकरणसे । परमाणुके संघात पृथिवी आदि हैं । दिगम्बरके सिद्धान्तकी सूत्रकारने क्यों उपेक्षाकी है, इसपर कहते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे ॥ ३३ ॥

(१) विभक्त पुद्गलसंज्ञक अणुसे प्रथम संघातोत्पत्तिके लिये अवश्य उसका कारण मानना होगा, क्योंकि विभक्त तन्तुके सङ्घातमें कारण दृष्ट है । यदि कर्मको कारण माना जाय, तो वह भी कार्य होनेसे कारणकी अपेक्षा करेगा, अगत्या प्रयत्न या अभिघातको कारण स्वीकार करोगे तो असम्भव है, क्योंकि प्रयत्न आत्मगुण होनेसे पुद्गलमें कैसे रहेगा ? शब्दजनक संयोगरूप अभिघात भी पुद्गलमें बाधित है, कारण कि परमाणु—पुद्गलके संयोगसे शब्दोत्पत्ति नहीं होती है, इत्यादि दोषोंका स्मरण करना चाहिए ।

एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—एवम्, च, आत्माऽकार्त्स्न्यम् ।

पदार्थोक्ति—यथा एकत्र विरुद्धधर्मासंभवो दोषः स्याद्वादे प्रसक्तः, एवम्—तथा, आत्माकार्त्स्न्यम्—जीवस्य परिच्छिन्नत्वम् [द्वितीयो दोषः प्रसज्येत तथा च परिच्छिन्नत्वादात्मनो घटादिवदनित्यत्वं स्यात्] ।

भाषार्थ—जैसे जैनमतमें एक वस्तुमें विरुद्ध धर्मोंका असंभवरूप दोष प्रसक्त हुआ है, वैसे ही जीवका परिच्छिन्नत्वरूप दूसरा दोष प्रसक्त होगा और परिच्छिन्न होनेसे आत्मा घट आदिके समान अनित्य होगा ।

भाष्य

यथैकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मासंभवो दोषः स्याद्वादे प्रसक्त एवमात्मनोऽपि जीवस्याऽकार्त्स्न्यमपरो दोषः प्रसज्येत । कथम् ? शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्यन्ते । शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नोऽसर्वगतः परिच्छिन्न आत्मेत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत । शरीराणां चाऽनवस्थितपरिमाणत्वान्मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुनः केनचित् कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं

भाष्यका अनुवाद

जैसे एक धर्मीमें विरुद्ध धर्मोंका असम्भव है, यह दोष स्याद्वादमें प्राप्त होता है, वैसे आत्माका—जीवका भी परिच्छिन्नत्वरूप दूसरा दोष प्रसक्त होगा। किस प्रकार ? इससे कि जीव शरीरके बराबर है, ऐसा आर्हत लोग मानते हैं। और उसके बराबर होनेपर अकृत्स्न असर्वगत—परिच्छिन्न आत्मा है, अतएव घटादिके समान आत्मा भी अनित्य है, ऐसा प्रसक्त होगा। और शरीरोंका परिमाण निश्चित न होनेसे मनुष्यजीव मनुष्यशरीरके बराबर होकर, पीछे

रत्नप्रभा

जीवस्य देहपरिमाणतां दूषयति—**एवं चेति** । अकार्त्स्न्यम्—मध्यमपरिमाणत्वम् । तेन अनित्यत्वं स्यादित्यर्थः । अर्थान्तरमाह—**शरीराणां चेति** । विपाकः—कर्मणाम् अभिव्यक्तिः । जीवस्य कृत्स्नगजशरीराव्यापित्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव देहके बराबर है, इस मतको दूषित करते हैं—"एवं च" इत्यादिसे । अकार्त्स्न्य—मध्यमपरिमाणसे युक्त होना, इससे अनित्यता होगी, ऐसा अर्थ है । सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"शरीराणां च" इत्यादिसे । 'विपाक'—कर्मोंकी अभिव्यक्ति । जीवका समस्त गज-

भाष्य

हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्, पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिका-शरीरे संमीयेत। समान एष एकस्मिन् अपि जन्मनि कौमारयौवन-स्थाविरेषु दोषः। स्यादेतत्, अनन्तावयवो जीवस्तस्य त एवाऽवयवा अल्पे शरीरे संकुचेयुर्महति च विकसेयुरिति। तेषां पुनरनन्तानां समानदेशत्वं

भाष्यका अनुवाद

किसी कर्मविपाकसे हाथीका जन्म प्राप्त करेगा, तो हाथीके समस्त शरीरमें व्याप्त न होगा और चींटीका जन्म प्राप्त करेगा, तो चींटीके शरीरमें समस्त न समायेगा। एक जन्ममें भी बाल्य, तारुण्य और वृद्धत्वमें यह दोष समान है। परन्तु जीव अनन्त अवयववाला है, उसके वे ही अवयव अल्प शरीरमें संकुचित हो जायँगे और बड़े शरीरमें विकास पावेंगे, ऐसा यदि कहो, तो जीवके उन

रत्नप्रभा

अकात्स्न्र्यम्, शरीरैकदेशो निर्जीवः स्यादित्यर्थः। पुत्तिकादेहे कृत्स्नो जीवो न प्रविशेत्, देहाद् बहिरपि जीवः स्यादित्यर्थः। किञ्च, बाल-देहमात्र आत्मा ततः स्थूले युवदेहे कचित् स्यादिति कृत्स्नदेहः सजीवो न स्यादित्याह—**समान** इति। यथा दीपावयवानां घटे संकोचः, गेहे विकासः, तथा जीवावयवानामिति देहमानत्वनियमं शङ्कते—**स्यादिति**। दीपांशवत् जीवांशा भिन्नदेशा एकदेशा वेति विकल्प्य आद्ये अल्पदेहाद् बहिरपि जीवः स्याद् इति दूषयति—**तेषामित्यादिना**। दीपस्य तु न घटाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरीरको व्याप्त न करना अकात्स्न्र्य है, अर्थात् शरीरका एकदेश निर्जीव है। इसलिए जीव शरीरपरिमाण नहीं है। उसी प्रकार हस्तिशरीरका त्याग करके जब चींटीके शरीरमें प्रवेश करता है, तब समस्त जीव चींटीके देहमें प्रवेश नहीं कर सकता—समा नहीं सकता, इसलिए आत्माका अकात्स्न्र्य होता है, देहके बाहर भी जीव रहेगा, ऐसा अर्थ है। और यदि आत्मा बालकके देहके बराबर हो, तो वह स्थूल तरुण देहमें किसी एक स्थानमें रहेगा, ऐसी स्थितिमें समस्त देह सजीव न होगा, ऐसा कहते हैं—"समान" इत्यादिसे। जैसे दीप जब घड़ेमें होता है, तब उसके अवयव सङ्कुचित रहते हैं और जब घरमें होता है तब विकसित होते हैं। जैसे दीपकके अवयवोंका घटमें संकोच और गृहमें विकास होता है, वैसे जीवके अवयवोंका भी चींटीकी देहमें संकोच और हाथीकी देहमें विकास होता है देहके अनुसार उसके परिमाणका नियम है, ऐसी शंका करते हैं—"स्याद्" इत्यादिसे। दीपकके अंशोंके समान जीवके अंश भिन्न

भाष्य

प्रतिहन्यते वा न वेति वक्तव्यम्। प्रतिघाते तावत् नाऽनन्तावयवाः परिच्छिन्ने देशे संमीयेरन्। अप्रतिघातेऽप्येकावयवदेशत्वोपपत्तेः सर्वेषामवयवानां प्रथिमानुपपत्तेर्जीवस्याऽणुमात्रत्वप्रङ्गः स्यात्। अपि च शरीरमात्रपरिच्छिन्नानां जीवावयवानामानन्त्यं नोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् ॥३४॥

अथ पर्यायेण बृहच्छरीरप्रतिपत्तौ केचिज्जीवावयवा उपगच्छन्ति तनुशरीरप्रतिपत्तौ च केचिदपगच्छन्तीत्युच्येत। तत्राऽप्युच्यते—

भाष्यका अनुवाद

अनन्त अवयवोंके एकदेशत्वका प्रतिघात होता है या नहीं होता, यह कहना चाहिए। यदि प्रतिघात होता हो, तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न देशमें नहीं समावेंगे। यदि प्रतिघात न होता हो, तो भी सब अवयवोंका प्रदेश एक अवयवके प्रदेशके बराबर होनेसे प्रथिमा आदि अनुपपन्न होंगे। और जीवके अणुमात्र होनेका प्रसङ्ग आवेगा। [1]और शरीरमात्र परिच्छिन्न जीवके अवयवोंकी अनन्तताकी उत्प्रेक्षा भी नहीं की जा सकती है ॥ ३४ ॥

क्रमसे बड़ा शरीर प्राप्त करना हो, तो कितने ही जीवके अवयव पास आते हैं और छोटा शरीर प्राप्त करना हो, तो कितने ही अवयव दूर चले जाते हैं, ऐसा यदि कहो, तो उसपर भी कहते हैं—

रत्नप्रभा

बहिः सत्त्वम्, अधिकावयवानां विनाशात्। द्वितीयं दूषयति—**अप्रतिघात इति**। अवयवानां नित्यत्वं चाऽसिद्धम्, अल्पत्वात्, दीपांशवत्, इत्याह—**अपि चेति** ॥३४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

देशोंमें रहते हैं या एक देशमें ? ऐसा विकल्प करके आद्य पक्षमें अल्प देहसे बाहर भी जीव होगा, इसको दूषित करते हैं—"तेषाम्" इत्यादिसे। दीप तो घटके बाहर नहीं रहता, क्योंकि अधिक अवयवोंका विनाश होता है। द्वितीय पक्षको दूषित करते हैं—"अप्रतिघाते" इत्यादिसे। अवयवोंका नित्यत्व सिद्ध नहीं, अल्प होनेसे, दीपके अंशोंके समान, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥३४॥

(१) यह उपलक्षण है—जैसे जैनमतमें दीपप्रभाके दृष्टान्तसे स्थूलसूक्ष्मशरीरव्यापिता जीवको है, विचार करनेसे प्रतीत होता है कि यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि विस्तृत गृहोदर व्यापी प्रभासे अल्प प्रकाश, एवं स्वल्प गृहोदर व्यापीसे अधिक प्रकाश, देखनेमें आता है, वैसे अल्प शरीरके साथ चेतनका सम्बन्ध अधिक चैतन्यवाला होगा तथा महत्‌के साथ स्वल्प चैतन्य वाला होगा, परन्तु व्यवहारसे यह विरुद्ध है, क्योंकि बालकको कम ज्ञान बड़ेको अधिक ज्ञान देखा जाता है।

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—न, च, पर्यायात्, अपि, अविरोधः, विकारादिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—पर्यायादपि—पर्यायेणापि अवयवानाम् गमनागमनाभ्याम्, अविरोधः—तत्तत्स्थूलसूक्ष्मशरीरपरिणामत्वस्य आत्मनि अविरोधः [इति] न च [वक्तव्यम्] [कुतः] विकारादिभ्यः—विकारादिदोषप्रसंगात् [आत्मनः सावयत्वेन तत्तच्छरीरप्राप्त्या वृद्धिह्रासाङ्गीकारे विकारित्वप्रसक्त्याऽनित्यत्वे बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत] ।

भाषार्थ—क्रमशः अवयवोंके हटने और प्राप्त होनेसे तत् तत् स्थूल और सूक्ष्म शरीरपरिणामताका आत्मामें कोई विरोध नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आत्माके सावयव होनेसे तत् तत् शरीरप्राप्तिसे वृद्धि और ह्रासका अङ्गीकार करनेपर विकारी होनेसे आत्माके अनित्य होनेपर बंध और मोक्षका स्वीकार बाधित होगा ।

भाष्य

न च पर्यायेणाप्यवयवोपगमाऽपगमाभ्यामेतद्देहपरिमाणत्वं जीवस्याऽविरोधेनोपपादयितुं शक्यते । कुतः ? विकारादिदोषप्रसङ्गात् । अवयवोप-

भाष्यका अनुवाद

क्रमशः अवयवोंकी वृद्धि और ह्रासमे जीव देहके बराबर होता है, इस प्रकार अविरोधका उपपादन नहीं किया जा सकता। किससे ? इससे कि

रत्नप्रभा

एवं जीवावयवा नित्या इति मते देहमानत्वं निरस्तम्, सम्प्रति जीवस्य केचिदेव कूटस्था अवयवा अन्ये तु आगमापायिनः, इति शङ्कते—**अथेति** । बृहत्तनुकायाप्तौ जीवस्याऽवयवागमापायाभ्यां देहमानत्वम् इत्यर्थः । सूत्रेण परिहरति—**न चेति** । आगमापायौ पर्यायः । किम् आगमापायिनाम् अवयवानाम् आत्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार जीवके अवयव नित्य हैं, इस मतमें जीव देहके बराबर है, इसका निराकरण किया जा चुका है, अब जीवके कुछ ही अवयव कूटस्थ है और शेष अवयव आगम और अपाय धर्मवाले हैं, इस प्रकार शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे । बड़े शरीरकी प्राप्ति होने पर जीवके अवयवों की वृद्धि होती है और छोटे शरीर की प्राप्ति होनेपर अवयवोंका क्षय होता है, इस प्रकार जीव देहके बराबर है, ऐसा अर्थ है । सूत्रसे शंकाका परिहार करते हैं—

भाष्य

गमाऽपगमाभ्यां ह्यनिशमापूर्यमाणस्याऽपक्षीयमाणस्य च जीवस्य विक्रियावत्त्वं तावदपरिहार्यम्, विक्रियावत्त्वे च चर्मादिवदनित्यत्वं प्रसज्येत, ततश्च बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत, कर्माष्टकपरिवेष्टितस्य जीवस्याऽलाबुवत् संसारसागरे निमग्नस्य बन्धनोच्छेदादूर्ध्वगामित्वं भवतीति। किञ्चाऽन्यत्, आगच्छतामपगच्छतां चाऽवयवानामागमाऽपायधर्मवत्त्वादेवाऽनात्मत्वं

भाष्यका अनुवाद

विकार आदि दोष प्राप्त होते हैं; क्योंकि अवयवोंकी वृद्धि और ह्राससे सर्वदा पूर्ण और क्षीण होता हुआ जीव विकारवाला है, यह अपरिहार्य होगा और विकारवाला होनेसे चर्म आदिके समान उसे अनित्य मानना पड़ेगा। इसलिए कर्मोंसे घिरा हुआ जीव संसारसागरमें निमग्न हुआ है, बन्धनके उच्छिन्न होनेके पश्चात् वह तुम्बीके समान ऊर्ध्वगामी होता है, इस प्रकार बन्ध और मोक्षका जो स्वीकार किया गया है, उसका बाध होगा। और दूसरी बात यह है कि आने और जानेवाले अवयव आगम और अपगमरूप धर्मसे युक्त होनेके कारण ही शरीर आदिके समान अनात्मा हो जायँगे, इसलिए अवस्थित हुआ कोई

रत्नप्रभा

त्वम् अस्ति न वा? आद्य आह—**विकारादिदोषेति**। कोऽसौ बन्धमोक्षाभ्युपगम इत्यत आह—**कर्माष्टकेति**। व्याख्यातमेतद् (ब्र० सू० २।२।३३)। आद्यकल्पे दोषान्तरं वदन् कल्पान्तरमादाय दूषयति—**किञ्चेति**। अवशिष्टकूटस्थावयवस्य दुर्ज्ञानत्वाद् आत्मज्ञानाभावात् न मुक्तिरित्यर्थः। यथा दीपावयवानाम् आकारः तेजः, तथाऽऽत्मावयवानामाकारकारणाभावाद् न आगमापायौ युक्तावित्याह—**किं चेति**। सर्वजीवसाधारणः प्रतिजीवम् असाधारणो वा इत्यर्थः। किञ्च, आत्मन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न च" इत्यादिसे। आगम और अपगम ये ही पर्याय हैं। आगम और अपगमवाले अवयव आत्मा हैं या नहीं? आद्य पक्षमें दोष कहते हैं—"विकारादिदोष" इत्यादिसे। वह बन्ध और मोक्षका अभ्युपगम क्या है? इसपर कहते हैं—"कर्माष्टक" इत्यादिसे। इसका व्याख्यान हो चुका। आद्य कल्पमें अन्य दोषको कहते हुए दूसरे पक्षको लेकर दोष बतलाते हैं—"किंच" इत्यादिसे। आते और जाते अवयवोंसे अवशिष्ट कूटस्थ अवयवोंके दुर्ज्ञेय होनेसे आत्मज्ञानका अभाव होगा और मुक्ति नहीं होगी, ऐसा अर्थ है। जैसे दीपके अवयवोंका आकार तेज है वैसे आत्माके अवयवोंके आकारका कारण न होनेसे आगम और अपाय युक्त नहीं, ऐसा कहते हैं—"किंच" इत्यादिसे। आत्मा सर्वसाधारण है अथवा प्रत्येक जीवमें

भाष्य

शरीरादिवत् । ततश्चाऽवस्थितः कश्चिदवयव आत्मेति स्यात्, न च स निरूपयितुं शक्यतेऽयमसाविति । किञ्चाऽन्यत् आगच्छन्तश्चैते जीवावयवाः कुतः प्रादुर्भवन्त्यपगच्छन्तश्च क्व वा लीयन्त इति वक्तव्यम् । नहि भूतेभ्यः प्रादुर्भवेयुर्भूतेषु च निलीयेरन्, अभौतिकत्वात् जीवस्य । नापि कश्चिदन्यः साधारणोऽसाधारणो वा जीवानामवयवाऽऽधारो निरूप्यते प्रमाणाभावात् । किञ्चान्यत्, अनवधृतस्वरूपश्चैवं सत्यात्मा स्यात्, आगच्छतामपगच्छतां चाऽवयवानामनियतपरिमाणत्वात्, अत एवमादिदोष-

भाष्यका अनुवाद

एक अवयव आत्मा होगा । और वह यही है, इस प्रकार उसका निरूपण नहीं किया जा सकेगा । और दूसरी बात यह है कि आनेवाले अवयव कहांसे प्रादुर्भूत होते हैं और जानेवाले ये अवयव कहां लीन होते हैं, यह कहना चाहिए । ये भूतोंसे प्रादुर्भूत होंगे और भूतोंमें लीन होंगे, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीव अभौतिक है । इसी प्रकार साधारण या असाधारण जीवोंके अवयवोंके किसी दूसरे आधारका निरूपण नहीं किया जाता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । और दूसरी बात यह भी है कि ऐसी अवस्थामें आत्मा अनिश्चितस्वरूप ठहरेगा अर्थात् आत्माके स्वरूपका निश्चय नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि आने

रत्नप्रभा

आगमापायिशीलावयवत्वे सति कियन्त आयान्ति अवयवाः कियन्तोऽपयान्तीत्यज्ञानादात्मनिश्चयाभावात् अनिर्मोक्षः स्यादित्याह—**किञ्चेति**। अपि च अवयवारब्धावयवित्वे जीवस्याऽनित्यत्वम्, अवयवसमूहत्वे च असत्त्वम्, आत्मत्वस्य यावदवयववृत्तित्वे यत्किञ्चिदवयवापायेऽपि सद्यः शरीरस्याऽचेतनत्वम्, गोत्ववत् प्रत्येकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

असाधारण है, ऐसा अर्थ है । और आत्माके अवयव आगम और आपगम धर्मवाले हों, तो कितने आये और कितने गये, उनका अज्ञान होनेसे—आत्मनिश्चय न होनेसे अनिर्मोक्ष हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"किं च" इत्यादिसे । और जीव अवयवोंसे आरब्ध अवयवी हो, तो अनित्य होगा, अवयवोंका समूह हो, तो असत् होगा और आत्मत्व यावदवयववृत्ति हो—सम्पूर्ण अवयवोंमें रहता हो, तो चाहे जिस किसी अवयवका अपाय होनेपर तुरन्त शरीर अचेतन हो जायगा, गोत्वके समान प्रत्येक अवयवमें आत्मत्व समाप्त होता हो, तो एक शरीरमें भिन्न-भिन्न आत्मा हों, तो बहुत चेतन एक अभिप्रायवाले हों, ऐसे नियम न होनेसे कदाचित् विरुद्ध

भाष्य

प्रसङ्गान्न पर्यायेणाऽप्यवयवोपगमाऽपगमावात्मन आश्रयितुं शक्येते ।

अथवा पूर्वेण सूत्रेण शरीरपरिमाणस्याऽऽत्मन उपचितापचितशरीरान्तरप्रतिपत्तावकात्स्न्र्यप्रसञ्जनद्वारेणाऽनित्यतायां चोदितायां पुनः पर्यायेण परिमाणानवस्थानेऽपि स्रोतःसन्ताननित्यतान्यायेनाऽऽत्मनो नित्यता स्यात्, यथा रक्तपटानां विज्ञानानवस्थानेऽपि तत्सन्ताननित्यता तद्वद्विसिचाम-

भाष्यका अनुवाद

और जानेवाले अवयव अनिश्चितपरिमाणवाले हैं। इसलिए ऐसे दोषोंके प्रसंगसे आत्माके अवयवोंका क्रमशः उपगम और अपगम स्वीकार नहीं किया जा सकेगा।

अथवा पूर्व सूत्रसे आत्मा शरीरके बराबर हो, तो उपचित और अपचित अन्य शरीरके प्राप्त होनेपर उसके अव्याप्त होनेका प्रसंग आवेगा। इस प्रकार प्रसंग द्वारा अनित्यताकी शंका होनेपर फिर शरीरव्यक्तिभेदसे परिमाण अनवस्थित होता है, तो भी जैसे स्रोतके प्रवाहका सन्तान नित्य है, वैसे आत्मा नित्य होगा। अथवा जैसे रक्तपटोंके—बौद्ध आदिके विज्ञानकी अनवस्थिति

रत्नप्रभा

समाप्तौ एकस्मिन् शरीरे आत्मनानात्वं स्यात्, अतो न देहपरिमाणत्वसावयवत्वे आत्मन इति उपसंहरति—**अत इति** ।

सूत्रस्याऽर्थान्तरमाह—**अथवेति** । स्थूलसूक्ष्मशरीरप्राप्तौ अकात्स्न्र्योक्तिद्वारेणऽऽत्मानित्यतायाम् उक्तायां सुगतवत् सन्तानरूपेणाऽऽत्मनित्यताम् आशङ्क्य अनेन उत्तरमुच्यते इत्यन्वयः। पर्यायेणेति अस्य व्याख्या—**स्रोत इति**। देहभेदेन परिमाणस्य आत्मनश्चाऽनावस्थानेऽपि—नाशेऽपि, स्रोतः—प्रवाहः, तदात्मकस्याऽऽत्मव्यक्तिसन्तानस्य नित्यतया आत्मनित्यता स्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—**यथेति** । सिग्—वस्त्रं

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिशाओंमें क्रिया करनेसे शरीरका उन्मथन कर डालें, इसलिए आत्मा देहपरिमाण नहीं और सावयव नहीं है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"अतः" इत्यादिसे। सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी प्राप्तिमें आत्मा अकृत्स्न होगा, इस वचन द्वारा आत्मा अनित्य है, यह कहा गया है, ऐसी स्थितिमें सुगतके समान सन्तानरूपसे आत्मनित्यताकी आशङ्का करके उसका इस सूत्रसे उत्तर कहा जाता है, ऐसा वाक्यान्वय है। 'पर्यायेण, इस सूत्रस्थ शब्दका व्याख्यान करते हैं—"स्रोत" इत्यादिसे। देहके भेदसे आत्माके परिमाणका अवस्थान न होनेपर अर्थात् नाश होनेपर स्रोत—प्रवाह। स्रोतरूप आत्मव्यक्तिसन्तानके नित्य होनेसे आत्मा नित्य होगा, इसपर दृष्टान्त

भाष्य

पीत्याशङ्क्याऽनेन सूत्रेणोत्तरमुच्यते । सन्तानस्य तावत् अवस्तुत्वे नैरात्म्यवादप्रसङ्गः, वस्तुत्वेऽप्यात्मनो विकारादिदोषसङ्गादस्य पक्षस्याऽनुपपत्तिरिति ॥ ३५ ॥

भाष्यका अनुवाद

होनेपर भी उसका सन्तान नित्य है, वैसे ही दिगम्बरका सन्तान नित्य है, ऐसी शंकाकर इस सूत्रसे उत्तर कहते हैं। सन्तानके अवस्तु होनेपर नैरात्म्यवाद प्रसक्त होगा। वस्तु होनेपर भी आत्माके विकार आदि दोषोंका प्रसंग होनेसे यह पक्ष अनुपपन्न है ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभा

विगतं येभ्यः ते विसिचः—दिगम्बराः, तेषामित्यर्थः । 'पर्यायात्'—सन्तानात् अपि आत्मनित्यत्वस्य अविरोधः इति न च। कुतः? 'विकारादिभ्यः'। सन्तानस्य अवस्तुनः आत्मत्वे शून्यवादः, सन्तानस्य वस्तुत्वे, सन्तान्यतिरेके च कूटस्थात्मवादः, अनतिरेके जन्मादिविकारो विनाशो मुक्त्यभाव इत्युक्तदोषप्रसंगात् सन्तानात्मपक्षोऽनुपपन्न इति सूत्रार्थः ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। सिक्—वस्त्र, जो वस्त्ररहित हैं वे विसिच् कहलाते हैं अर्थात् दिगम्बर—जैन, उनका, ऐसा अर्थ है। पर्यायसे अर्थात् सन्तानसे आत्माके नित्यत्वका विरोध नहीं है, ऐसा कहोगे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि विकार आदि दोष हैं। सन्तान अवस्तु हो, तो उसको आत्मा माननेसे शून्यवाद होता है। सन्तान वस्तु—वास्तविक हो और सन्तानीसे अतिरिक्त हो, तो कूटस्थ आत्मवाद होता है। और सन्तानीसे अनतिरिक्त हो, तो जन्मादिविकार, विनाश, मुक्तिका अभाव आदि दोष होनेसे सन्तानात्मपक्ष अनुपपन्न है, ऐसा सूत्रार्थ है ॥३५॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—अन्त्यावस्थितेः, च, उभयनित्यत्वात्, अविशेषः ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, अन्त्याऽवस्थितेः—अन्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वेनाऽवस्थितेः, उभयनित्यत्वाद्—तत्पूर्वयोरप्याद्यमध्यमपरिमाणयोः नित्यत्वप्रसंगात्, अविशेषः—त्रयाणामपि आद्यमध्यान्त्यपरिमाणानां साम्यं [स्यात् अतः सौगतमतवदार्हतमतमप्यप्रामाणिकमिति सिद्धम्]।

भाषार्थ—मोक्षावस्थाके जीव परिमाणके नित्य होनेसे उससे पूर्वके आद्य और मध्यम परिमाणके नित्य होनेसे आद्य, मध्य और अन्त्य परिमाणोंमें समता होगी इससे सिद्ध हुआ कि बौद्धोंके मतके समान जैनोंका मत भी प्रामाणिक नहीं है।

भाष्य

अपि चान्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वमिष्यते जैनैः, तद्वत् पूर्वयोरप्याद्यमध्यमयोर्जीवपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादविशेषप्रसङ्गः स्यात्, एकशरीरपरिमाणतैव स्यान्नोपचितापचितशरीरान्तरप्राप्तिः। अथ

भाष्यका अनुवाद

और अन्त्य अर्थात् मोक्षकी अवस्थामें प्राप्त होनेवाला जीवपरिमाण नित्य है ऐसा जैन मानते हैं। उसी प्रकार उसके पूर्वके आदि और मध्यम परिमाणोंके भी नित्य होनेसे तीनों परिमाण बराबर हो जायंगे। एक शरीरके बराबर आत्मा होगी, उपचित और अपचित—स्थूल, सूक्ष्म अन्य शरीरको प्राप्त

रत्नप्रभा

यं स्थूलं वा सूक्ष्मं वा देहं गृह्णाति तद्देहपरिमाण एव जीव इति नियमं दूषयति—**अन्त्येति**। अन्त्यशरीरपरिमाणस्याऽवस्थितेः नित्यत्वदर्शनात् उभयोराद्यमध्यमपरिमाणयोः अनित्यत्वप्रसंगाद् अविशेषः त्रयाणां नित्यपरिमाणानां साम्यं स्याद् विरुद्धपरिमाणानाम् एकत्राऽयोगादिति सूत्रयोजना। आद्यमध्यमपरिमाणे नित्ये, आत्मपरिमाणत्वात्, अन्त्यपरिमाणवत्। न चाऽप्रयोजकता, परिमाणनाशे सति आत्मनोऽपि नाशाद् अन्त्यपरिमाणनित्यत्वायोगादिति भावः। परिमाणत्रयसाम्यापादनफलमाह—**एकेति**। अन्त्यशरीरसमान्येव पूर्वशरीराणि स्युः, विषमशरीरप्राप्तावात्मनस्तत्परिमाणत्वं परिमाणत्रयसाम्याऽनुमानविरोधात् इत्यर्थः। पूर्वकालत्रये परिमाणत्रयम् अङ्गीकृत्य अन्त्यदृष्टान्तेन नित्यत्वमनुमाय साम्यमापादितम्, सम्प्रति अन्त्यस्य मुक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव जिस स्थूल या सूक्ष्म देहका ग्रहण करता है उस देहके परिमाणसे ही युक्त होता है, इस नियमको दूषित करते हैं—"अन्त्य" इत्यादिसे। अन्त्य शरीरपरिमाणको अवस्थिति होनेसे नित्य मानते हैं, इसलिये आदि और मध्यम दोनों परिमाणोंकी स्थिति नित्य हो जायगी, इससे समानता होगी, अर्थात् नित्यपरिमाण तीनों शरीरोंमें समानता होगी, क्योंकि विरुद्ध परिमाण एक स्थानमें नहीं रह सकता ऐसी सूत्रकी योजना है। आद्य और मध्यम परिमाण नित्य हैं, आत्मपरिमाण होनेसे, अन्त्यपरिमाणके समान, ऐसा अनुमान प्रयोग है। हेतु अप्रयोजक है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि—परिमाणका नाश होनेपर आत्माका भी नाश होनेसे अन्त्य परिमाण नित्य नहीं होगा ऐसा भाव है। तीनों परिमाणोंकी समानताके उपपादनका फल कहते हैं—"एक" इत्यादिसे। अन्त्य शरीरके समान ही पूर्व शरीर होंगे, क्योंकि विषम शरीर प्राप्त करें तो आत्मा उनके परिमाणसे होगा, और परिमाणत्रय समान है इस अनुमानका विरोध होगा, ऐसा अर्थ है। पूर्व योजनामें तीन कालमें तीन परिमाणोंका स्वीकार करके अन्त्य

भाष्य

वाऽन्त्यस्य जीवपरिमाणस्याऽवस्थितत्वात् पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवः स्यात्, ततश्चाऽविशेषेण सर्वदैवाऽणुर्महान् वा जीवोऽभ्युपगन्तव्यो न शरीरपरिमाणः, अतश्च सौगतवदार्हतमपि मतमसंगतमित्युपेक्षितव्यम् ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

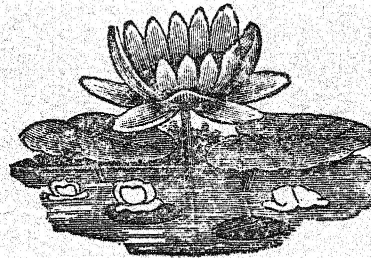
नहीं कर सकेगी। अथवा अन्त्य जीवपरिमाणके अवस्थित होनेसे दो पूर्व अवस्थाओंमें भी जीव अवस्थित परिमाणवाला ही होगा, इसलिये समान रीतिसे सर्वदा जीवको अणु या महान् मानना होगा शरीरपरिमाण नहीं, इसलिए सौगतमतके समान आर्हत मत भी असङ्गत होनेसे उपेक्षणीय है ॥३६॥

रत्नप्रभा

परिमाणस्य अणुत्वस्थूलत्वयोः अन्यतरत्वेनाऽवस्थितेस्तदेव अन्त्यम् आद्यमध्यमकालयोरपि नित्यत्वात् स्यात्, प्राग् असतो नित्यत्वायोगात्, तथा चाऽविशेषः कालत्रयेऽपि जीवपरिमाणभेद इत्याह—अथवेति। तस्माद् भ्रान्त्येकशरणक्षपणकसिद्धान्तेनाऽविरोधः समन्वयस्येति सिद्धम् ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दृष्टान्तसे परिमाण नित्य है ऐसा अनुमान करके तीनों शरीर समान हैं ऐसा प्रतिपादन किया गया है, अब मुक्त परिमाणके अणु या स्थूल दोमेंसे एकरूपसे अवस्थित होनेसे ही वही अन्त्य परिमाण आद्य और मध्यकालमें भी होगा, क्योंकि अन्त्य परिमाण नित्य है और पूर्वमें न हो, तो नित्यत्व युक्त न हो, इसलिये तीनों कालमें भी जीव परिमाणका अभेद है ऐसा कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। इसलिए भ्रान्ति ही जिसका शरण है ऐसे क्षपणक सिद्धान्तसे वेदान्त समन्वय विरुद्ध नहीं है ॥३६॥



[७ पत्यधिकरण सू० ३७—४१]

तटस्थेश्वरवादो यः स युक्तोऽथ न युज्यते ।
युक्तः कुलालदृष्टान्तान्नियन्तृत्वस्य सम्भवात् ॥
न युक्तो विषमत्वादिदोषाद्वैदिक ईश्वरे ।
अभ्युपेते तटस्थत्वं त्याज्यं श्रुतिविरोधतः ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—तटस्थ ईश्वर कारणवाद युक्त है अथवा नहीं ?
पूर्वपक्ष—कुम्भकारके दृष्टान्तसे ईश्वरमें नियन्तृत्वके संभवसे युक्त है ।
सिद्धान्त—ईश्वरमें विषमता आदिके दोषसे तटस्थेश्वरकारणवाद युक्त नहीं है ।

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—पत्युः, असामञ्जस्यात् ।

पदार्थोक्ति—पत्युः—ईश्वरस्य [जगदुपादानप्रधानादिप्रेरकत्वेन जगन्निमित्तत्वमात्रं न संभवति, कुतः] असामञ्जस्यात्—ईश्वरस्य जगत्सर्जने प्रवृत्तौ रागादिदोषप्रसंगाद् असामञ्जस्यात् ।

भाषार्थ—ईश्वर प्रधान आदि जगत्के उपादान कारणोंका प्रेरक होनेसे जगत्का निमित्त कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरके विषम जगत्की सृष्टिमें प्रवृत्त होनेपर राग, द्वेष आदिकी प्राप्ति होनेसे असामञ्जस्य होगा ।

---

* सारांश यह है कि—पूर्व प्रकरणमें शास्त्रप्रमाणसे विस्तारपूर्वक ईश्वर निमित्त और उपादान दोनों कारण है—ऐसा प्रतिपादन हो चुका है, इस मतको सहन नहीं करनेवाले तार्किक लोग ईश्वरको केवल निमित्त कारण मानते हैं । युक्ति भी कहते हैं—जैसे कि अनुपादान कुलाल दण्ड चक्र इत्यादिका नियमन करता हुआ घटादिके प्रति कर्ता है, वैसे तटस्थ ईश्वर अनुपादान होता हुआ कर्ता होगा ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—ईश्वरमें केवल निमित्त कारणत्व होनेपर वैषम्य और नैर्घृण्य रूप दोषका परिहार करना सर्वथा नहीं बनेगा, तो तुम उस दोषका परिहार कैसे करोगे ? प्राणिकर्मकी अपेक्षा होनेसे ईश्वरमें उक्त दोषकी सम्भावना नहीं है और शास्त्रप्रमाण भी हमको मिलता है । यदि आखिरमें तुम आगमको स्वीकृत करोगे, तो ईश्वरमें तटस्थत्वका त्याग करना पड़ेगा । "बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादि ईश्वरको उपादान कारण कहनेवाले श्रुतिवाक्योंके साथ विरोध स्पष्ट है, अतः तटस्थ ईश्वर कारणवाद युक्त नहीं है ।

भाष्य

इदानीं केवलाऽधिष्ठात्रीश्वरकारणवादः प्रतिषिध्यते । तत्कथमवगम्यते ? 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' 'अभिध्योपदेशाच्च' (ब्र० १।४।२३,२४) इत्यत्र प्रकृतिभावेनाऽधिष्ठातृभावेन चोभयस्वभावस्येश्वरस्य स्वयमेवाऽऽचार्येण प्रतिष्ठापितत्वात् । यदि पुनरविशेषेणेश्वरकारणवादमात्रमिह प्रतिषिध्येत पूर्वोत्तरविरोधाद्व्याहताभिव्याहारः सूत्रकार इत्येतदापद्येत । तस्मादप्रकृतिरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इत्येष पक्षो वेदान्तवि-

भाष्यका अनुवाद

अब 'केवल अधिष्ठाता ईश्वर जगत्का कारण है' इस वादका प्रतिषेध किया जाता है । यह किस प्रकार समझा जाता है "प्रकृतिश्च" और "अभिध्योपदेशाच्च" इनमें ईश्वर उभय स्वभाव है—प्रकृति और निमित्त, ऐसा आचार्यने स्वयं ही प्रतिष्ठापित किया है । इसलिये यदि यहां भी अविशेषसे ईश्वर जगत्का कारण है इस वादका ही प्रतिषेध किया जाय तो पूर्व और उत्तरके विरोधसे सूत्रकार परस्पर विरुद्ध वचन कहते हैं, ऐसा प्रसक्त होगा ।

रत्नप्रभा

पत्युः असामञ्जस्यात् । लुञ्चितकेशमतनिरसनानन्तरं जटाधारिशैवमतं बुद्धिस्थं निराक्रियते इति प्रसंगसंगतिम् आह—इदानीमिति । सामान्यत ईश्वरनिरास एवाऽत्र किं न स्यादिति शङ्कते—तदिति । स्वोक्तिविरोधाद् मैवमित्याह—प्रकृतिश्चेत्यादिना । प्रतिष्ठापितत्वात् केवलनिमित्तेश्वरप्रतिषेधोऽवगम्यत इत्यन्वयः । व्याहतः—विरुद्धोऽभिव्याहार उक्तिर्यस्य सः तथा । अद्वितीयब्रह्मप्रकृतिकं जगदिति वदतो वेदान्तसमन्वयस्य कर्तैवेश्वरो न प्रकृतिरिति शैवादिमतेन विरोधोऽस्ति न वेति सन्देहे तन्मतस्य मानमूलत्वाद् विरोधे सति वेदान्तोक्ताद्वयब्रह्मासिद्धिरिति फलमभिप्रेत्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"पत्युरसामञ्जस्यात्" । लुञ्चितकेशोंके—दिगम्बरोंके मतका निरसन करनेपर बुद्धिस्थ जटाधारी शैवके मतका निराकरण किया जाता है, इस प्रकार प्रसङ्ग सङ्गति कहते हैं—"इदानीम्" इत्यादिसे । सामान्य रीतिसे ईश्वरका निराकरण यहां क्यों न हो ? ऐसी शङ्का करते हैं—"तद्" इत्यादिसे । अपनी उक्तिसे विरोध होनेसे ऐसा नहीं है, यह उत्तर कहते हैं—"प्रकृतिश्च" इत्यादिसे । प्रतिष्ठापित किया है, इसलिये केवल निमित्तेश्वरका प्रतिषेध समझा जाता है, ऐसा अन्वय है । जिसकी विरुद्ध उक्ति हो वह 'व्याहताऽभिव्याहार' कहा जाता है । अद्वितीय ब्रह्म जगत्का प्रकृति है, ऐसा वेदान्त समन्वय कहता है, इसका (वेदान्त समन्वयका) 'ईश्वर कर्ता ही है प्रकृति नहीं' इस महेश्वरादिमतसे विरोध है या नहीं ? ऐसा सन्देह होनेपर उसका मत मानमूलक होनेसे विरोध होनेपर वेदान्तमें कहा हुआ

भाष्य

हितब्रह्मैकत्वप्रतिपक्षत्वाद् यत्नेनाऽत्र प्रतिषिध्यते। सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनाऽनेकप्रकारा। केचित्तावत् सांख्ययोगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति-प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतरविलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वरा इति। माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः, पशुपतिरीश्वरो

भाष्यका अनुवाद

इसलिए ईश्वर प्रकृति नहीं है केवल अधिष्ठाता—निमित्त कारण है, इस पक्षका यहाँपर यत्नसे प्रतिषेध किया जाता है, क्योंकि वह वेदान्तमें कहे हुए ब्रह्मैकत्वका प्रतिपक्ष है। यह वेदबाह्य ईश्वर कल्पना अनेक प्रकारकी है—कुछ लोग सांख्ययोगका आश्रय करके प्रधान और पुरुषका अधिष्ठाता—ईश्वर केवल निमित्त कारण है, और प्रधान, पुरुष एवं ईश्वर ये परस्पर विलक्षण हैं ऐसा कहते हैं। माहेश्वर ऐसा मानते हैं कि कार्य, कारण, योग, विधि और दुःख ये पांच पदार्थ पशुपति ईश्वरसे पशुपाश—जीवबन्धके विनाशके लिए

रत्नप्रभा

सत्त्वासत्त्वयोः एकत्र असम्भवत् कर्तृत्वोपादानत्वयोरपि एकत्र असम्भवात् कर्तैव ईश्वर इति पूर्वपक्षं कुर्वन् अवान्तरमतभेदमाह—सा चेति। सेश्वराः सांख्याः,सांख्यशब्दार्थः। चत्वारो माहेश्वराः—शैवाः, पाशुपताः, कारुणिकसिद्धान्तिनः, कापालिकाश्चेति। सर्वेऽपि अमी महेश्वरप्रोक्तागमानुगामित्वात् माहेश्वरा उच्यन्ते। कार्यं महदादिकम्, कारणम्—प्रधानम् ईश्वरश्च २, योगः—समाधिः ३, विधिः—त्रिषवण
४, दुःखान्तः—मोक्षः ५ इति पञ्च पदार्थाः, पशवः—जीवाः, तेषां पाश
तन्नाशाय इत्यर्थः। पाशुपतागमप्रामाण्यात् पशुपतिर्निमित्तमेव इति मतम् उक

रत्नप्रभाका अनुवाद

अद्वितीय ब्रह्म असिद्ध होता है इस फलके उद्देशसे जैसे सत्य और असत्य एक स्थान
सकते हैं, वैसे कर्तृत्व और उपादानत्वका भी एकत्र सम्भव न होनेसे ईश्वर कर्ता ही है ऐ
करते हुए अवान्तर मतभेद कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे। सांख्यका अर्थ सेश
समझना। माहेश्वरके चार भेद हैं—शैव, पाशुपत, कारुणिकसिद्धान्ती और कापालिक
महेश्वरसे कथित शास्त्रके अनुयायी होनेसे माहेश्वर कहलाते हैं। कार्य—महदादि, का
और ईश्वर, योग-समाधि, विधि-त्रिषवण स्नानादि, दुःखान्त-मोक्ष, ये उनके मतमें
हैं। पशु-जीव उसका पाश-बन्ध उसके विनाशके लिए, ऐसा अर्थ है।
आगमके प्रामाण्यसे पशुपति निमित्त कारण ही है यह मत कहकर आनुमानिक

भाष्य

निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति। तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित् कथंचित् स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति।

अत उत्तरमुच्यते—'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति। पत्युरीश्वरस्य प्रधानपुरुषयोरधिष्ठातृत्वेन जगत्कारणत्वं नोपपद्यते, कस्मात्? असामञ्जस्यात्। किं पुनरसामञ्जस्यम्? हीनमध्योत्तमभावेन हि प्राणिभेदान् विदधत ईश्वर-

भाष्यका अनुवाद

उपदिष्ट हैं, और पशुपति—ईश्वर निमित्त कारण है ऐसा वर्णन करते हैं। और वैशेषिक आदि भी कितने लोग किसी प्रकार अपनी प्रक्रियाके अनुसार ईश्वर निमित्त कारण है, ऐसा वर्णन करते हैं।

अतः उत्तर कहते हैं—'पत्युरसामञ्जस्यात्' पति—ईश्वर प्रधान और पुरुषके अधिष्ठानरूपसे जगत्कारण नहीं हो सकता, किससे? असामञ्जस्यसे—अयुक्ततासे। असामञ्जस्यका कैसा स्वरूप है? हीन, मध्यम और उत्तम भावसे प्राणिभेदको उत्पन्न

रत्नप्रभा

मानिकेश्वरमतमाह—**तथेति**। विमतं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, घटवत् इति वैशेषिकाः कर्तारमीश्वरं साधयन्ति। कर्मफलं सपरिकराभिज्ञदातृकम्, कालान्तरभाविफलत्वात्, सेवाफलवदिति गौतमा दिगम्बराश्च। ज्ञानैश्वर्योत्कर्षः क्वचिद् विश्रान्तः, सातिशयत्वात्, परिमाणवदिति सांख्यसौगतपातञ्जला इति मत्वा उक्तम्—**केचित् कथञ्चिदिति**।

सिद्धान्तयति—**अत इति**। आगमादिना निर्दोषेश्वरसिद्धेः कथं दोषवत्त्वमित्याह—**किमिति**। न तावत् स्वस्वागमाद् ईश्वरनिर्णयः आगमानां निर्मूलत्वेन अप्रामाण्यात्। न च सर्वज्ञज्ञानं मूलम्, तत्र मानाभावात्। न चाऽऽगम एव मानम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। विमत सकर्तृक है, कार्य होनेसे, घटके समान, इस प्रकार वैशेषिक ईश्वर कर्ता है ऐसा सिद्ध करते हैं। कर्मफल परिकर सहित अभिज्ञसे दिया जाता है, कालान्तरभावी फल होनेसे, सेवाफलके समान, ऐसा गौतम और दिगम्बर सिद्ध करते हैं। एवं ज्ञान तथा ऐश्वर्यका उत्कर्ष, कहींपर विश्रान्त है, सातिशय होनेसे, परिमाणके समान, ऐसा सांख्य, गौतम, और पातञ्जल ईश्वरको निमित्त कारण सिद्ध करते हैं, ऐसा विचार कर कहते हैं—"केचित् कथंचिद्" इत्यादिसे। सिद्धान्त कहते हैं—"अतः" इत्यादिसे। आगमादिसे निर्दोष ईश्वर सिद्धि होनेसे वह सदोष कैसे है? ऐसा कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। अपने अपने आगमोंसे ईश्वरका निर्णय नहीं होगा, क्योंकि आगम निर्मूल होनेसे अप्रमाण हैं। सर्वज्ञका ज्ञान उसका

भाष्य

आगममानत्वनिश्चये मूलनिश्चयस्तन्निश्चये आगमप्रामाण्यनिश्चय इति अन्योन्याश्रयात्। न च पुरुषवचसां स्वतो मानत्वं युक्तम्, मिथो विरोधेन तत्त्वाव्यवस्थानाच्च। नापि अनुमानाद् ईश्वरः सर्वज्ञः कर्त्तैव इति निर्णयः सम्भवति, अनुमानस्य दृष्टानुसारित्वेन दृष्टविपरीतार्थासाधकत्वात्। तथा च लोके यादृशाः कर्त्तारो दृष्टास्तादृशा एव जगत्कर्त्तारो रागद्वेषादिमन्तः सिध्येयुः। यदि लोके विचित्रप्रासादादिकर्तुरेकत्वाद्यदर्शने अपि जगत्कर्त्तरि लाघवादेकत्वं नित्यज्ञानं निर्दोषत्वं च कल्प्येत, तर्हि द्रव्योपादानत्वमपि कल्प्यताम्। कर्तुरेवोपादानत्वेन लाघवात्। अन्यथा स्वतन्त्रप्रधानपरमाण्वाद्युपादानकल्पनागौरवात्, अदृष्टत्वाच्चेत् कर्त्तुः द्रव्योपादानत्वासिद्धिः एकत्वादिकमपि न सिध्येत्। अस्माकं तु अपौरुषेयतया स्वतःसिद्धप्रमाणभावया श्रुत्या स्वप्रमेयबोधने दृष्टान्तानपेक्षा भवत्येव लौकिककर्तृविपरीताद्वितीयकर्त्रुपादानात्मकसर्वज्ञनिर्दोषेश्वरनिर्णयः। निर्णीते च तस्मिन् धर्मिग्राहकमानबाधात् न रागादिदोषाऽऽपादानस्याऽवकाश इति आनुमानिकेश्वरवादिभ्यो वैषम्यम्, तदभिप्रेत्याऽश्रौतस्य ईश्वरस्याऽसामञ्जस्यमाह—**हीनेति**। यदि कर्त्तुरुपादानत्वम् अदृष्टत्वाद् न कल्प्यते, तर्हि

रत्नप्रभाका अनुवाद

मूल है, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उसमें प्रमाणका अभाव है। आगम ही प्रमाण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगम प्रमाण है, यह निश्चय होनेपर मूलका निश्चय होगा, और मूलका निश्चय होनेपर आगमप्रामाण्यका निश्चय होगा, ऐसा अन्योऽन्याश्रय दोष आवेगा, और पुरुषवचन स्वतः प्रमाण है यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध होनेसे तत्त्वका व्यवस्थापन नहीं कर सकते। अनुमानसे सर्वज्ञ ईश्वर कर्ता है, ऐसा निर्णय भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुमान दृष्टानुसारी होनेसे दृष्टसे विपरीत अर्थको सिद्ध नहीं करेगा। इसलिए लोकमें जैसा कर्ता देखनेमें आता है वैसा ही रागद्वेषादियुक्त जगत्कर्ता सिद्ध होगा। यद्यपि लोकमें विचित्र प्रासादादिका कर्ता एक है ऐसा देखनेमें नहीं आता, तो भी जगत्कर्तामें लाघवसे एकत्व, नित्यज्ञान और निर्दोषत्वकी कल्पना की जा सकती है, ऐसा कहोगे तो ईश्वरमें द्रव्योंके उपादानकारणत्वकी भी कल्पना करो, क्योंकि कर्ता ही उपादान हो इसमें लाघव है, इसके विपरीतमें तो स्वतन्त्र प्रधान परमाणु इत्यादिमें उपादानत्व की कल्पना करनेसे गौरव होगा। यदि अदृष्ट होनेसे कर्ता उपादान है ऐसा सिद्ध न हो, तो कर्ताके एकत्व आदि भी सिद्ध न होंगे। हम वेदान्तियोंको तो श्रुति अपौरुषेय है और उसके प्रामाण्यके स्वतः सिद्ध होनेसे वह श्रुति अपने प्रमेयका बोध करती है उसमें दृष्टान्तकी अपेक्षा न होनेसे लौकिक कर्तासे विपरीत अद्वितीय कर्ता जगत्का उपादान सर्वज्ञ निर्दोष ईश्वर है ऐसा निर्णय होता है। एवं उसका निर्णय होनेसे धर्मिग्राहक प्रमाणके बाधसे रागद्वेषादि दोष लगानेका अवकाश नहीं है, इस प्रकार आनुमानिक ईश्वरवादियोंसे वेदान्तियोंका वैषम्य है। इस उद्देशसे अश्रौत ईश्वरका असामञ्जस्य कहते हैं—"हीन"

भाष्य

स्य रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत। प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेत्; न, कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेत-

भाष्यका अनुवाद

करनेवाले ईश्वरमें राग, द्वेष आदि दोष प्रसक्त होनेसे हम लोगोंके समान (उसमें) अनीश्वरत्व प्रसक्त होगा। प्राणियोंके कर्मकी अपेक्षा होनेसे उक्त दोष नहीं है ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि कर्म और ईश्वर प्रवर्त्य और प्रवर्त्तयिता

रत्नप्रभा

निर्दोषत्वस्याऽपि अदृष्टत्वात् यो विषमकारी स दोषवान् इति व्याप्तिदृष्टेश्च जगत्कर्त्ता दोषवान् स्यात्। न चाऽत्र धर्मिग्राहकानुमानबाधः, कार्यत्वलिङ्गस्य कर्तृमात्रसाधकत्वेन निर्दोषत्वादौ उदासीनत्वात्। न चोत्कर्षसमा जातिः, व्यापकधर्मापादनात्। दोषाभावे तद्व्याप्यविषमकर्तृत्वायोगाच्च, दृष्टान्तस्थाव्यापकधर्माणां पक्षे आपादनं ह्युत्कर्षसमा जातिः, यथा शब्दो यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवदनित्यः स्यात्, तर्हि तेनैव हेतुना सावयवोऽपि स्यादिति। न ह्यनित्यत्वस्य व्यापकं सावयवत्वम्, गन्धादौ व्यभिचारादिति भावः। ननु प्राणिकर्मप्रेरितं ईश्वरो विषमफलान् प्राणिनः करोति, न स्वेच्छया, इति शङ्कते—**प्राणीति**। जडस्य कर्मणः प्रेरकत्वायोगान्नैवमित्याह—नेति। न चेश्वरप्रेरितं कर्मेश्वरस्य प्रेरकमिति वाच्यमित्याह—**कर्मेति**। अतीतकर्मणा प्रेरित ईश्वरो वर्तमानं कर्म तत्फ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। यदि अदृष्ट होनेसे कर्ता उपादान न माना जाय तो निर्दोषत्व भी अदृष्ट है और 'जो विषमकारी है वह दोषवान् है' ऐसी व्याप्ति देखी जाती है, अतः जगत्कर्ता दोषवाला है, विषमकारी होनेसे ऐसा प्राप्त होगा। इसमें धर्मिग्राहक अनुमानका बाध नहीं है, क्योंकि कार्यत्वरूप हेतु कर्तृमात्रका साधक है, अतः निर्दोषत्वमें उदासीन है। वैसे उत्कर्षसमा जाति भी नहीं है, क्योंकि व्यापक धर्मका आपादन होता है। दोषके अभावमें दोषका व्याप्य विषमकर्तृत्व भी नहीं हो सकता। दृष्टान्तमें रहनेवाले अव्यापक धर्मोंका पक्षमें आपादन करना उत्कर्षसमा जाति है, जैसे कि शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटके समान, इसमें कोई कहता है—कृतकत्व हेतुसे घटके समान शब्द अनित्य हो तो उसी हेतुसे शब्द सावयव भी हो, परन्तु अनित्यत्वका व्यापक सावयत्व नहीं है गन्धके अनित्य होनेपर भी सावयत्वका व्यभिचार होनेसे, ऐसा भाव है अपनी इच्छासे ईश्वर प्राणियोंको विषम नहीं बनाता, परन्तु उनके कर्मोंकी अपेक्षासे बनाता है अतः रागादि दोष नहीं है, ऐसी शङ्का करते हैं—"प्राणि" इत्यादिसे। जड कर्मके प्रेरक न होनेसे यह नहीं कह सकते, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। ईश्वरसे प्रेरित जो कर्म वह ईश्वरका प्रेरक हो इसपर कहते हैं—"कर्म" इत्यादिसे। प्राकृतन कर्मसे प्रेरित ईश्वर वर्तमान कर्मके

भाष्य

राश्रयदोषप्रसङ्गात् । नाऽनादित्वाद् इति चेत्, न; वर्तमानकालवदतीतेष्वपि कालेष्वितरेतराश्रयदोषाविशेषादन्धपरम्परान्यायापत्तेः। अपि च 'प्रवर्तना-

भाष्यका अनुवाद

हो तो अन्योऽन्याश्रय दोषप्रसक्त होगा। अनादि होनेसे दोषका निरसन करना भी युक्त नहीं है, कारण कि वर्तमान कालके समान भूतकालमें भी अन्योऽन्याश्रय दोष समान होनेसे अन्धपरम्परा प्रसक्त होगी। और 'प्रवर्तना-

रत्नप्रभा

लाय प्रेरयतीत्यनादित्वात् प्रेर्यप्रेरकभावस्य न अनुपपत्तिरिति शङ्कते—**नाऽनादित्वादिति**। अतीतकर्मणोऽपि जडत्वान्नेश्वरप्रेरकता, न च तदपीश्वरेण प्रेरितं सदीश्वरं प्रेरयति, उक्तान्योन्याश्रयात्, ततोऽप्यतीतकर्मप्रेरितेश्वरप्रेरितं तदेव ईश्वरं वर्तमाने कर्मणि फलदानाय प्रेरयतीति चेत्, न; मानहीनाया मूलक्षयावहाया अनवस्थायाः प्रसङ्गात्, अतः कर्मनिरपेक्ष एवेश्वरो विषमस्रष्टा इत्यसामञ्जस्यं दुर्वारमित्यर्थः। यत्तु फलदाने ईश्वरस्य कर्म निमित्तमात्रम्, न प्रेरकमिति नोक्तदोष इति। तन्न। विषमकर्मकारयितुरीश्वरस्य दोषवत्त्वानपायात्, पूर्वकर्मापेक्षया कर्मकारयितृत्वे चोक्ताप्रामाणिकानवस्थानात्। अस्माकं तु "एष ह्येव साध्वसाधु कर्म कारयति" इति 'निरवद्यम्' इति च श्रुतिमूलं पूर्वकर्मापेक्षाकल्पनमिति वैषम्यम्। किञ्च, परमतानुसारेणाऽपीश्वरस्य रागादिमत्त्वं प्राप्नोतीत्याह—**अपि चेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसके फलके लिए प्रेरणा करता है, अतः अनादि होनेसे प्रेर्यप्रेरकभावसे अन्योऽन्याश्रय नहीं है ऐसी शङ्का करते हैं—"नाऽनादित्वाद्" इत्यादिसे। अतीत कर्म भी जड होनेसे ईश्वरका प्रेरक नहीं है, वह भी ईश्वरसे प्रेरित होकर ईश्वरकी प्रेरणा करेगा यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रय दोष आवेगा। उससे भी जो अतीत कर्म है उससे प्रेरित जो ईश्वर है उससे प्रेरित हुआ वह ईश्वरको वर्तमान कर्ममें फलदानके लिए प्रेरित करेगा, यह कहोगे तो सो भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रमाण हीन मूलक्षय कारक अनवस्थाका प्रसङ्ग आवेगा। इससे कर्म निरपेक्ष ही ईश्वर विषम सृष्टि करता है यह असामञ्जस्य दुर्वार है, ऐसा अर्थ है। और ईश्वरके फलदानमें कर्म निमित्तमात्र है प्रेरक नहीं है, अतः उक्त दोष नहीं, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि विषम कर्म करानेवाले ईश्वरमेंसे दोषवत्त्वका वारण नहीं होगा। और पूर्व कर्मकी अपेक्षासे कर्म कराता है ऐसा माननेमें भी उपरोक्त अप्रामाणिक अनवस्था होती है। हम वेदान्तियोंका तो 'एष ह्येव साध्वसाधु कर्म कारयति' (यही साधु और असाधु कर्म कराता है) 'निरवद्यम्' (निरवद्य) ऐसे श्रुतिमूल पूर्व कर्म की अपेक्षाकी कल्पना है, यह वैषम्य है। और अन्यमतके अनुसार भी ईश्वरमें रागादिमत्त्व प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं—'अपि च'

भाष्य

लक्षणा दोषाः' (न्या० सू० १।१।१८) इति न्यायवित्समयः। नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थे प्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तते इत्येवमप्यसामञ्जस्यम्, स्वार्थवत्त्वाद् ईश्वरस्याऽनीश्वरत्वप्रसङ्गात् पुरुषविशेषत्वाऽभ्युपगमाच्चेश्वरस्य, पुरुषस्य चौदासीन्याऽभ्युपगमाद् असामञ्जस्यम् ॥३७॥

भाष्यका अनुवाद

लक्षणा दोषाः'—प्रवर्तकत्व जिनका लक्षण है ऐसे दोष हैं—यह न्यायतत्त्ववेत्ताओंका सिद्धान्त है। दोषके बिना कोई स्वार्थ या परार्थमें प्रवृत्त हुआ नहीं देखा जाता। स्वार्थमें प्रयुक्त हुए ही सर्वजन परार्थमें प्रवृत्त होते हैं—यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि स्वार्थयुक्त होनेसे ईश्वरमें अनीश्वरत्वकी प्रसक्ति होगी। ईश्वर पुरुषविशेष है, इससे—उदासीन होनेसे उसकी प्रवृत्ति मानना भी असमञ्जस ही है ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभा

प्रवर्तकत्वलिङ्गाः दोषाः इति तार्किकाणां स्थितिः, तथा चेश्वरः स्वार्थे रागादिमान्, प्रवर्तकत्वात्, सम्मतवत्। न च कारुणिके व्यभिचारः, परदुःखप्रयुक्तस्वदुःखनिवृत्त्यर्थित्वात् तस्येत्यर्थः। उदासीनः प्रवर्तक इति च व्याहतमिति योगान् प्रत्याह—पुरुषेति ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। प्रवर्तकत्व हेतुसे दोष समझे जाते हैं ऐसी तार्किकों की स्थिति है। अतः ईश्वर स्वार्थमें रागादिमान् है, प्रवर्तक होनेसे, सम्मतके तुल्य, इस अनुमानसे ईश्वरमें रागादि दोष की प्रसक्ति होगी। कारुण्यमूलक प्रवृत्तिमें इस व्याप्तिका व्यभिचार नहीं है, क्योंकि उस स्थलमें भी कारुण्यमूलक स्वदुःख की निवृत्ति ही उसका प्रयोजन है, ऐसा अर्थ है। उदासीन है और प्रवर्तक है, यह कहना व्याघातदोषदुष्ट है ऐसा पातञ्जल योगके प्रति कहते हैं—"पुरुष" इत्यादिसे ॥ ३७ ॥

(१) इस सूत्रका अर्थ ऐसा है—'प्रवर्तना' शब्दका अर्थ प्रवृत्तिहेतुत्व है, लक्षण—स्वरूप, दोष—राग, द्वेष, और मोह, प्रवृत्तिलक्षणाः-प्रवृत्तिहेतुस्वरूप है—पुण्य और पापमें कारण हैं, जिसमें (आत्मामें) मिथ्या ज्ञान होता है, उसमें रागादि दोष होते हैं, मिथ्या ज्ञान-अविद्या, यद्यपि प्रवृत्तिहेतुत्व लक्षण अदृष्टादिमें रहनेसे अतिव्याप्त है, क्योंकि कार्यमात्रके प्रति अदृष्टादिको कारण नैयायिकादि मानते हैं, तथापि 'लौकिकमानसप्रत्यक्षविषयत्वे सति' इतना विशेषण देनेसे दोष नहीं है एवं यागादिविषयक प्रवृत्तिजनकप्रमामें दोष वारणके लिए प्रमान्यत्व भी जोड़ना चाहिए, तथाच—प्रमान्यत्वे सति लौकिकमानसप्रत्यक्षविषयत्वे सति प्रवृत्तिहेतुत्वम्, दोषका लक्षण प्राप्त हुआ।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—सम्बन्धानुपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, सम्बन्धानुपपत्तेः—प्रेर्यप्रधानादिभिः प्रेरकस्येश्वरस्य सम्बन्धानुपपत्तेः [ईश्वरः प्रेरको न भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—और प्रेर्य प्रधान आदिके साथ प्रेरक ईश्वरके सम्बन्धकी अनुपपत्ति होनेसे ईश्वर प्रेरक नहीं हो सकता ।

भाष्य

पुनरप्यसामञ्जस्यमेव, नहि प्रधानपुरुषव्यतिरिक्त ईश्वरोऽन्तरेण संबन्धं प्रधानपुरुषयोरीशिता । न तावत् संयोगलक्षणः संबन्धः संभवति, प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वान्निरवयवत्वाच्च । नाऽपि समवायलक्षणः संबन्धः,आश्रयाश्रयिभावाऽनिरूपणात् । नाप्यन्यः कश्चित् कार्यगम्यः संबन्धः

भाष्यका अनुवाद

और भी असामञ्जस्य है, क्योंकि प्रधान और पुरुषसे व्यतिरिक्त ईश्वर सम्बन्धके बिना प्रधान और पुरुषका अधिष्ठाता नहीं हो सकेगा । संयोगरूप सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रधान, पुरुष और ईश्वर सर्वगत एवं निरवयव हैं । उसी प्रकार समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, कारण कि आश्रयाश्रयिभावका निरूपण नहीं है । उसी प्रकार अन्य कोई कार्यगम्य

रत्नप्रभा

प्रधानवादे दोषान्तरमाह सूत्रकारः—**सम्बन्धेति** । ईश्वरेणाऽसम्बद्धस्य प्रधानादेः प्रेर्यत्वायोगात् सम्बन्धो वाच्यः, स च संयोगः समवायो वा नाऽस्तीत्यर्थः । कार्यबलात् प्रेरणयोग्यत्वाख्यः सम्बन्धः कल्प्यताम् इत्यत आह—**नाप्यन्य इति** । ईश्वरप्रेरितप्रधानकार्यं जगत् इति सिद्धं चेत्, सम्बन्धकल्पना स्यात, तच्चाऽद्याप्यसिद्धमित्यर्थः । मायाब्रह्मणोस्तु अनिर्वाच्यतादात्म्यसम्बन्धः, "देवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रधानवादमें अन्य दोष सूत्रकार कहते हैं—'सम्बन्धानुपपत्तश्च' । ईश्वरसे असम्बद्ध प्रधान आदि ईश्वरसे प्रेरित हों यह युक्त नहीं, इसलिये सम्बन्ध कहना चाहिए । और वह सम्बन्ध संयोग या समवाय नहीं है । कार्यबलसे प्रेरणायोग्यत्व नामका सम्बन्ध माना जाय, उसके लिए कहते हैं—"नाप्यन्यः" इत्यादिसे । ईश्वर प्रेरित प्रधानका कार्य जगत् है, ऐसा यदि सिद्ध हुआ हो तो सम्बन्धकी कल्पना की जाय परन्तु वह अभी तक असिद्ध ही है, ऐसा अर्थ है । वेदान्तीको तो माया और ब्रह्ममें अनिर्वाच्य तादात्म्य सम्बन्ध है, 'देवात्मशक्तिम्'

भाष्य

शक्यते कल्पयितुं कार्यकारणभावस्यैवाऽद्याऽप्यसिद्धत्वात् । ब्रह्मवादिनः कथमिति चेत् , नः तस्य तादात्म्यलक्षणसंबन्धोपपत्तेः । अपि चाऽऽगमबलेन ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूपं निरूपयतीति नाऽवश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमिति नियमोऽस्ति, परस्य तु दृष्टान्तबलेन कारणादिस्वरूपं निरूपयतो यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमित्ययमस्त्वतिशयः । परस्याऽपि सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावात् समानमागमबलमिति चेत् , नः इतरे-

भाष्यका अनुवाद

सम्बन्ध स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि कार्यकारणभाव ही अद्यापि असिद्ध है। ब्रह्मवादीके मतमें किस प्रकार होता है ? यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनके मतमें तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध उपपन्न है। और ब्रह्मवादी तो आगमके बलसे कारणादिके स्वरूपका निरूपण करते हैं, इसलिए दृष्टानुसारी ही सब उनको स्वीकार करना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। प्रतिपक्षी तो दृष्टान्तबलसे कारणादि-स्वरूपका निरूपण करते हैं, इसलिये उनको दृष्टके अनुसार ही सबका स्वीकार करना चाहिये ऐसा आशय है। प्रतिपक्षीको भी सर्वज्ञ प्रणीत आगमके सद्भावसे आगम बल समान है, ऐसा कहोगे तो वह

रत्नप्रभा

त्मशक्तिम्'' (श्वे० १।३) इति श्रुतेः । किंच वेदस्याऽपूर्वार्थत्वात् न लोकदृष्टमृत्कुलालसम्बन्धो वैदिकेन अनुसर्तव्यः । आनुमानिकेन त्वनुसर्तव्य इति विशेषमाह—अपि चेति । सर्वज्ञस्याऽऽगमप्रामाण्यस्य च ज्ञप्तावन्योन्याश्रयः, अनुमानात् सर्वज्ञसिद्धेर्निरस्तत्वात् । न ह्यमनस्कस्य ज्ञानं संभवति, ज्ञानं मनोजन्यमिति व्याप्तिविरोधात् नित्यज्ञानकल्पनाऽनवकाशादिति भावः । प्रधानवत्

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी श्रुति है। और वेदके तो अपूर्व अर्थ होनेसे लोकदृष्ट मृत्तिकाकुलालसम्बन्ध वैदिकसे अनुसरण करने योग्य नहीं है। अनुमानसे प्रधानकी सिद्धि करनेवालेको तो लोकदृष्टका अवश्य अनुसरण करना चाहिए ऐसा विशेष कहते हैं—''अपि च'' इत्यादिसे। सर्वज्ञ और आगमप्रामाण्यके ज्ञानमें अन्योऽन्याश्रय है, अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि निरस्त की है, क्योंकि जिसमें मन नहीं होत उसका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ज्ञान मनोजन्य है, इस व्याप्तिका विरोध आता है, और नित्य ज्ञानकी कल्पनाके लिये अवकाश नहीं है, ऐसा तात्पर्य्य है। प्रधानके समान परमाणुओंका भी निरवयव ईश्वरके साथ संयोगादि न होनेसे वे परमाणु भी ईश्वरसे प्रेरित किये जायँ यह

भाष्य

तराश्रयत्वप्रसङ्गात्—आगमप्रत्ययात् सर्वज्ञत्वसिद्धिः सर्वज्ञप्रत्ययाचाऽऽगम-सिद्धिरिति। तस्मादनुपपन्ना सांख्ययोगवादिनामीश्वरकल्पना। एवमन्या-स्वपि वेदबाह्यास्वीश्वरकल्पनासु यथासंभवमसामञ्जस्यं योजयितव्यम् ॥३८॥

भाष्यका अनुवाद

युक्त नहीं है, क्योंकि आगमके प्रत्ययसे—विश्वाससे सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है, और सर्वज्ञत्वके प्रत्ययसे आगम सिद्ध होता है, ऐसा अन्योऽन्याश्रयदोष आता है, इसलिये साङ्ख्ययोगवादियोंकी ईश्वर-कल्पना अयुक्त है। इसी प्रकार अन्य भी वेदबाह्य ईश्वर कल्पनाओंमें यथासम्भव असामञ्जस्यकी योजना करनी चाहिये' ॥३८॥

रत्नप्रभा

परमाणूनाम् अपि निरवयवेश्वरेण संयोगाद्यसत्त्वात् प्रेर्यत्वायोगः, प्रेरकत्वे च ईश्वरस्य दोषवत्त्वम् इत्याह—एवमन्यास्वपीति ॥ ३८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

युक्त नहीं। और ईश्वरको प्रेरक माननेमें ईश्वरमें राग, द्वेष आदि दोषका प्रसङ्ग होगा ऐसा कहते हैं—"एवमन्यास्वपि" इत्यादिसे ॥ ३८ ॥

---

(१) इसी सूत्रके भाष्यमें भगवान् शङ्कराचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि "तस्य तादात्म्यलक्षणसम्बन्धोपपत्तेः" इसका अर्थ है—अनिर्वचनीय तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध वेदान्तीके मतमें उपपन्न है, यहाँ 'अनिर्वचनीय' शब्दके अर्थनिर्वचनमें अनन्त विचार होते हैं, अतः उसका शास्त्रानुकूल निर्वचन करते हैं,—अनिर्वचनीयका क्या लक्षण है? जिसकी निरुक्ति न हो सके, वह अनिर्वचनीय है, अथवा निरुक्ति (निर्वचन) का जो निमित्त न हो, वह अनिर्वचनीय है, अर्थात् निरुक्तिका अभाव या निरुक्तिनिमित्तका अभाव अनिर्वचनीयका लक्षण है, दोनों पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अनिर्वचनीयवादी "इदं रजतम्" ऐसी निरुक्ति करते हैं, और निरुक्तिका निमित्त ज्ञान तथा अर्थ होता है, उसमें निरुक्ति कारण रजतज्ञान भी अनिर्वचनीय मतमें मान्य है, यदि निरुक्ति-निमित्त अर्थ मानकर उसका विरह अनिर्वचनीय कहोगे तो वह अर्थ सत् रूप है या असत् रूप है? प्रथम पक्षमें असत्ख्यातिवाद, दूसरे पक्षमें सत्ख्यातिवादका प्रसङ्ग आवेगा, अतः लक्षण नहीं बन सकता है, और ऐसे अप्रसिद्ध अनिर्वचनीय पदार्थको माननेमें प्रमाण भी नहीं है, ऐसा प्रश्न होनेपर आप उसका लक्षण कहें कि सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मोंसे जो (वस्तु) विचारने योग्य न होकर एवं सदसत्त्वसे विचारार्ह न हो वह अनिर्वचनीय है, सत्त्वका अर्थ त्रिकालाबाध्य और असत्त्वका अर्थ अप्रसिद्ध शशश्रृङ्गादि है। सभी भ्रम उक्त लक्षणसे युक्त होते ही हैं, इसी अर्थका संग्राहक श्लोक है—"प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं नयत्। गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः॥" समुदित और प्रत्येक सद्सद्में अतिव्याप्तिवारण करने के लिए विशेष्य और विशेषण लक्षणमें प्रविष्ट हैं। यह भी बालप्रवाद हट गया, क्योंकि निरुक्ति-निमित्त—अर्थ और प्रतीतिके व्यवहारिक होनेपर भी सदादि प्रकारसे निश्चयरूपसे नहीं कह सकते

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—अधिष्ठानानुपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, अधिष्ठानानुपपत्तेः—ईश्वरस्य रूपादिहीनप्रधानस्य प्रेरकत्वानुपपत्तेः [ईश्वरनिमित्तकारणवादोऽनुपपन्नः] ।

भाषार्थ—और ईश्वरके रूपादिहीन प्रधानके प्रेरक न होनेसे ईश्वर निमित्त-कारण है, यह वाद सङ्गत नहीं है ।

भाष्य

इतश्चाऽनुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य । स हि परिकल्प्यमानः कुम्भकार इव मृदादीनि प्रधानादीन्यधिष्ठाय प्रवर्तयेत् । न चैवमुपपद्यते । नह्यप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च प्रधानमीश्वरस्याऽधिष्ठेयं सम्भवति, मृदादिवैलक्षण्यात् ॥ ३९ ॥

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी तार्किकपरिकल्पित ईश्वरकी अनुपपत्ति है, क्योंकि परिकल्पित वह (ईश्वर) जैसे कुम्भकार मृत्तिका आदिका अधिष्ठान करके प्रवृत्त करता है, वैसे प्रधान आदिका अधिष्ठान करके प्रवृत्त करेगा । परन्तु यह उपपन्न नहीं होता, क्योंकि अप्रत्यक्ष और रूपादिहीन प्रधान ईश्वरका अधिष्ठेय हो, यह नहीं हो सकता, क्योंकि वह मृत्तिका आदिसे विलक्षण है ॥३९॥

रत्नप्रभा

ईश्वरस्य प्रधानादिप्रेरणाऽनुपपत्तेश्च, असामञ्जस्यमित्याह सूत्रकारः—अधिष्ठानेति । प्रधानादिकं चेतनस्याऽनधिष्ठेयम्, अप्रत्यक्षत्वात, ईश्वरवत्, व्यतिरेकेण मृदादिवच्चेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ईश्वरमें प्रधानादिकी प्रेरणा युक्त नहीं है, इसलिये भी प्रधानवादमें असामञ्जस्य है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"अधिष्ठान" इत्यादिसे । प्रधानादि ईश्वरका अनधिष्ठेय है, अप्रत्यक्ष होनेसे, ईश्वरके समान, व्यतिरेकसे मृत्तिका आदिके समान, ऐसा अर्थ है ॥ ३९ ॥

है, इसीप्रकार 'ज्ञानबाध्यत्वम्' आदिलक्षण कह सकते हैं, बाध माने—ज्ञानाधिकरणमें अभावका बोधन । ख्यात होकर बाध्यत्वकी अनुपपत्ति, अनिर्वचनीयार्थमें प्रमाण है, एवं विमत [शुक्तिरजतादि] अनिर्वचनीय है, बाध्य होनेसे, जो अनिर्वचनीय नहीं है, वह बाध्य नहीं है, जैसे आत्मा, यह अनुमान भी प्रमाण है, इत्यादि, अधिक विचार अन्य ग्रन्थोंमें विस्तारसे वर्णित हैं ।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

पदच्छेद—करणवत्, चेत्, न, भोगादिभ्यः।

पदार्थोक्ति—करणवत्—करणानि अप्रत्यक्षाणि अपि यथा जीवेन प्रेर्यन्ते तथा प्रधानमप्रत्यक्षमपि ईश्वरेण प्रेर्यते इति चेत्, न; [कुतः] भोगादिभ्यः—जीवस्य भोगार्थमिन्द्रियप्रेरकत्ववद् ईश्वरस्य प्रेरकत्वे भोगादिदोषप्रसङ्गात्।

भाषार्थ—अप्रत्यक्ष होनेपर भी जैसे इन्द्रियां जीवसे प्रेरित होती हैं, वैसे ही अप्रत्यक्ष प्रधान ईश्वर द्वारा प्रेरित होगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा माननेसे जैसे जीव भोगके लिए इन्द्रियोंका प्रेरक होता है, वैसे ही ईश्वरको प्रेरक माननेसे, उसमें भी भोगादि दोषोंकी प्राप्ति होगी।

भाष्य

स्यादेतत्, यथा करणग्रामं चक्षुरादिकमप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च पुरुषोऽधितिष्ठत्येवं प्रधानमपीश्वरोऽधिष्ठास्यतीति। तथापि नोपपद्यते। भोगा-

भाष्यका अनुवाद

जैसे नेत्रादिक इन्द्रियसमुदाय अप्रत्यक्ष और रूपादिहीन हैं, उसका पुरुष अधिष्ठाता है, वैसे ही प्रधानका भी ईश्वर अधिष्ठाता होगा, ऐसा हो तो भी

रत्नप्रभा

चक्षुरादौ व्यभिचारमाशङ्क्य निषेधति—**करणवदिति**। रूपमुद्भूतं नास्तीत्यप्रत्यक्षत्वं स्फुटयति—**रूपेति**। 'स्वभोगहेतुत्वे सति, इति विशेषणात् न व्यभिचार इत्याह—**तथापीति**। भोगः—सुखदुःखानुभवः। आदिपदाद् विषयानुभवग्रहः। न च यद् येनाऽधिष्ठेयम्, तत् तदीयभोगहेतुत्वे सति प्रत्यक्षम् इति व्यतिरेकव्याप्तौ करणेषु व्यभिचारतादवस्थ्यमिति वाच्यम्, भोगहेतुत्वविशिष्टा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

चक्षुरादिको लेकर पूर्वोक्त अनुमानमें व्यभिचारकी आशङ्का करके उसका निषेध करते हैं—"करणवच्चेन्न" इत्यादिसे। नेत्रादिमें उद्भूत रूप नहीं है इससे वह अप्रत्यक्ष है, ऐसा स्फुट करते हैं—"रूप" इत्यादिसे। 'अपने भोगका हेतु होनेसे' इतना हेतुमें विशेषण देनेसे व्यभिचार नहीं होगा ऐसा कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। भोग—सुख और दुःखका अनुभव। 'भोगादि' में आदि पदसे विषयानुभवका ग्रहण करना चाहिए। परन्तु 'जो जिसका अधिष्ठेय है, वह उसके भोगका हेतु होनेसे प्रत्यक्ष है' इस व्यतिरेक व्याप्तिमें इन्द्रियोंमें वैसा ही

भाष्य

दिदर्शनाद्धि करणग्रामस्याऽधिष्ठितत्वं गम्यते। न चाऽत्र भोगादयो दृश्यन्ते। करणग्रामसाम्ये चाऽभ्युपगम्यमाने संसारिणामिवेश्वरस्याऽपि भोगादयः प्रसज्येरन्। अन्यथा वा सूत्रद्वयं व्याख्यायते। 'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च'। इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। साधिष्ठानो हि लोके सश-

भाष्यका अनुवाद

नहीं घटेगा, क्योंकि इन्द्रियसमुदायमें भोगादि देखनेमें आनेसे वे अधिष्ठित हैं, ऐसा समझा जाता है। परन्तु यहां भोगादि देखनेमें नहीं आते। इन्द्रिय-समुदायके साथ (प्रधानादिका) साम्य स्वीकार किया जाय, तो संसारीके समान ईश्वरको भी भोगादि प्राप्त हो जायँगे। अथवा इन दो सूत्रोंका व्याख्यान अन्य रीतिसे किया जाता है, 'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' इससे तार्किक-परिकल्पित ईश्वरकी अनुपपत्ति है, क्योंकि लोकमें अधिष्ठानसहित सशरीर,

रत्नप्रभा

प्रत्यक्षत्वस्य हेतुत्वात्, करणेषु च विशेषणाभावेन विशिष्टस्य हेतोरभावात्। न च विशेष्यवैयर्थ्यम्,—परार्थपाचकाधिष्ठेयकाष्ठादौ व्यभिचारात्। न च प्रधानादेः ईश्वरप्रत्यक्षत्वाद् विशेष्यासिद्धिः, अतीन्द्रियत्वरूपाद् प्रत्यक्षत्वस्य सत्त्वाद् इत्यभिप्रायः। जीवे करणकृताः भोगादयो दृश्यन्ते ईश्वरे तु प्रधानकृतास्ते न दृश्यन्त इत्यक्षरार्थः। विपक्षे दोषं वदन् अप्रयोजकत्वं हेतोर्निरस्यति—**करणेति**। प्रधानादेः प्रेर्यत्वाऽङ्गीकारे प्रेरकभोगहेतुत्वं स्यात्, अतीन्द्रियस्य प्रेर्यस्य भोग-हेतुत्वनियमादित्यर्थः। सूत्रद्वयस्याऽर्थान्तरमाह—**अन्यथा वेति**। 'यः प्रवर्तकश्चेतनः स शरीरी' इति लोके व्याप्तिर्दृष्टा। ईश्वरस्य च शरीरानुपपत्तेर्न प्रवर्तक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यभिचार होगा ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि स्वभोगहेतुत्वविशिष्ट अप्रत्यक्षत्व हेतु है, और इन्द्रियोंमें विशेषणके अभावसे विशिष्ट हेतु नहीं है। हेतुमें विशेष्य भी व्यर्थ नहीं है, क्योंकि परार्थ पाचक अधिष्ठेय काष्ठादिमें व्यभिचार है। प्रधानादिमें ईश्वरप्रत्यक्षत्व होनेसे विशेष्यासिद्धि है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अतीन्द्रियत्वरूप अप्रत्यक्षत्व है, ऐसा अभिप्राय है। जीवमें इन्द्रियोंसे किये गये भोगादि देखनेमें आते हैं, ईश्वरमें तो प्रधानसे किये गये भोगादि देखनेमें नहीं आते ऐसा भाष्यका अक्षरार्थ है। विपक्षमें दोष कहकर अप्रयोजकत्वका निरास करते हैं—"करण" इत्यादिसे। प्रधानमें प्रेर्यत्व माननेपर प्रेरकमें भोगहेतुत्वकी प्रसक्ति होगी, क्योंकि अतीन्द्रिय जो प्रेर्य है, वह भोगहेतु है ऐसा नियम है, ऐसा अर्थ है। दो सूत्रोंका अन्य अर्थ कहते हैं—"अन्यथा वा" इत्यादिसे। जो प्रवर्तक चेतन है वह शरीरी है, ऐसी व्याप्ति लोकमें

भाष्य

रीरो राजा राष्ट्रस्येश्वरो दृश्यते न निरधिष्ठानः, अतश्च तद्दृष्टान्तवशेनाऽदृष्टमीश्वरं कल्पयितुमिच्छत ईश्वरस्यापि किंचिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात्, न च तद्वर्णयितुं शक्यते। सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक् सृष्टेस्तदनुपपत्तेः। निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः, एवं लोके दृष्टत्वात्। 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः'। अथ लोकदर्शनाऽनुसारेणेश्वरस्याऽपि किंचित्करणानामायतनं शरीरं कामेन कल्प्येत, एवमपि

भाष्यका अनुवाद

राजा देखनेमें आता है, अधिष्ठानरहित देखनेमें नहीं आता। इससे इस दृष्टान्तके बलसे अदृष्ट ईश्वरकी कल्पना करनेकी इच्छावालेको ईश्वरका कोई शरीर इन्द्रियोंका स्थान वर्णन करना पड़ेगा, परन्तु वह वर्णन करना शक्य नहीं है, क्योंकि शरीरके सृष्टिके उत्तर कालमें होनेसे सृष्टिके पूर्वमें वह अनुपपन्न है। और अधिष्ठानरहित ईश्वरमें प्रवर्तकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है। 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः' यदि लोकदर्शनके अनुसार ईश्वरका भी इन्द्रियोंका आश्रय कोई शरीर इच्छासे मानो, तो

रत्नप्रभा

त्वमिति सूत्रार्थमाह—**इतश्चेति**। विमतं सेश्वरं कार्यत्वात्, राष्ट्रवत्, इति कल्पयतो राजवत् सशरीर एवेश्वरः स्यादित्युक्तम्, तत्रेष्टापत्तिं निरस्यति—**न च तद्वर्णयितुमिति**। न च नित्यं शरीरं सर्गात् प्रागपि सम्भवतीति वाच्यम्, शरीरस्य भौतिकत्वनियमादित्यर्थः। अस्तु, अशरीर एवेश्वर इत्यत आह—**निरधिष्ठानत्वे चेति**। जीवस्यैव शरीरं भौतिकम्, ईश्वरस्य तु स्वेच्छानिर्मितं प्रागपि स्यादित्याशङ्कां निरस्यति—**करणवदिति**। करणान्यत्र सन्तीति

रत्नप्रभाका अनुवाद

देखी जाती है, अतः ईश्वरका शरीर नहीं होनेके कारण उसमें प्रवर्तकत्व नहीं है, ऐसा सूत्रार्थ कहते हैं—"इतश्च" इत्यादिसे। विमत सेश्वर है, कार्य होनेसे, राष्ट्रके समान ऐसा माननेवालोंका ईश्वर सशरीर होगा ऐसा कहा है, उसमें इष्टापत्तिका निरसन करते हैं—"न च तद्वर्णयितुम्" इत्यादिसे। शरीर नित्य है और वह सृष्टिके पूर्वमें भी है ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि शरीर भौतिक होता है ऐसा नियम है ऐसा अर्थ है। तो ईश्वर अशरीर ही हो, इसपर कहते हैं—"निरधिष्ठानत्वे च" इत्यादिसे। जीवका शरीर भौतिक है, ईश्वरका तो स्वेच्छानिर्मित है, अतः सृष्टिके पूर्वमें भी होगा, इस आशङ्काका निरसन करते हैं—"करण" इत्यादिसे। करण जिसमें हैं वह करणवत्—

भाष्य

नोपपद्यते; सशरीरत्वे हि सति संसारिवद्भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्याऽप्य-नीश्वरत्वं प्रसज्येत ॥ ४० ॥

भाष्यका अनुवाद

वह भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि शरीरयुक्त होनेसे संसारीके समान भोगादिके प्रसङ्गसे ईश्वरको भी अनीश्वरत्व प्रसक्त होगा ॥ ४० ॥

रत्नप्रभा

करणवत्—शरीरम्, इच्छामयशरीरकल्पनैवाऽनुपपन्ना मानाभावाद्, दृष्टभौतिकत्व-नियमविरोधाच्चेति मन्तव्यम् ॥ ४० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरीर, इच्छामय शरीरकी कल्पना ही अयुक्त है, क्योंकि प्रमाणका अभाव है और 'शरीर भौतिक देखनेमें आता है' ऐसा जो नियम है उससे विरोध होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥४०॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—अन्तवत्त्वम्, असर्वज्ञता, वा ।

पदार्थोक्ति—[प्रधानजीवेश्वराणां या संख्या यच्च परिमाणं तदुभयमपि ईश्वरेण परिच्छिद्यते वा न वा] आद्ये, अन्तवत्त्वम्—परिच्छिन्नसंख्यापरिमाणवत्त्वात् त्रयाणां घटवत् विनाशित्वं स्यात् । द्वितीये—असर्वज्ञता—ईश्वरस्याऽसर्वज्ञत्वं स्यात् [अतो माहेश्वरसिद्धान्तो भ्रममूल एव]।

भाषार्थ—प्रधान, जीव और अपनी संख्या और परिमाणका निश्चय ईश्वर करता है या नहीं ? प्रथम पक्षमें परिच्छिन्न संख्या और परिच्छिन्न परिमाण होनेसे तीनों घटके समान विनाशशील हो जायँगे । दूसरे पक्षमें ईश्वरकी असर्वज्ञता होगी, इसलिए माहेश्वरसिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है ।

भाष्य

इतश्चाऽनुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। स हि सर्वज्ञस्तैरभ्युपगम्यतेऽनन्तश्च, अनन्तं च प्रधानमनन्ताश्च पुरुषा मिथो भिन्ना अभ्युपगम्यन्ते। तत्र सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्ता परिच्छिद्येत वा न वा परिच्छिद्येत, उभयथापि दोषोऽनुषक्त एव। कथम्? पूर्वस्मिंस्तावद्विकल्पे इयत्तापरिच्छिन्नत्वात्प्रधानपुरुषेश्वराणामन्तवत्त्वमवश्यं भावि, एवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोके इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु पटादि तदन्तवद् दृष्टं तथा प्रधानपुरुषेश्वरत्रयमपीयत्तापरिच्छिन्न-

भाष्यका अनुवाद

इससे भी तार्किक परिकल्पित ईश्वरकी अनुपपत्ति है। क्योंकि वे ईश्वर सर्वज्ञ और अनन्त है ऐसा स्वीकार करते हैं। और 'प्रधान अनन्त है' और 'पुरुष अनन्त हैं' एवं परस्पर भिन्न हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं। उनमें सर्वज्ञ ईश्वरसे प्रधान, पुरुष और ईश्वरकी इयत्ता परिच्छिन्न होती है, या नहीं होती? दोनों प्रकारसे भी दोष प्राप्त होता ही है। किस प्रकार? इससे कि पूर्व विकल्पमें प्रधान, पुरुष और ईश्वर इयत्तासे परिच्छिन्न होनेसे अवश्य अन्तवान् होंगे, क्योंकि लोकमें ऐसा देखा जाता है। जो लोकमें इयत्तासे परिच्छिन्न पटादि वस्तुएँ हैं, वे अन्तवान् देखी जाती हैं।

रत्नप्रभा

एवमीश्वरस्य शुष्कतर्केण कर्तृत्वनिर्णयो न, इत्युपपाद्य नित्यत्वसर्वज्ञत्वनिर्णयोऽपि न सम्भवतीत्याह सूत्रकारः—अन्तवत्त्वमिति। प्रधानपुरुषेश्वरत्रयम् अनित्यम्, इयत्तापरिच्छिन्नत्वाद्, घटवद्, इत्याह—पूर्वस्मिन्निति। संख्या वा परिमाणं वा इयत्ता। तथा च निश्चितसंख्यात्वाद्, निश्चितपरिमाणत्वाच्चेति हेतुद्वयम्। यद्यपि संख्यावत्त्वमात्रं हेतुः सम्भवति, तथापि सर्वज्ञत्वनिश्चयेन हेत्वसिद्धिनिरासं द्योतयितुं निश्चितपदम्। तत्राऽऽद्यहेतोः असिद्धिर्नास्तीत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार शुष्क तर्कसे ईश्वरमें कर्तृत्वका निर्णय नहीं हो सकता, ऐसा उपपादन करके ईश्वरमें नित्यत्व और सर्वज्ञत्वका भी निर्णय नहीं हो सकता ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"अन्तवत्त्वम्" इत्यादिसे। प्रधान, पुरुष और ईश्वर, ये तीनों अनित्य हैं, इयत्तापरिच्छिन्न होनेसे, घटके समान, ऐसा कहते हैं—"पूर्वस्मिन्" इत्यादिसे। संख्या या परिमाण इयत्ता है। अर्थात् निश्चितसंख्यावाले होनेसे, और निश्चितपरिमाणवाले होनेसे ये दो हेतु हैं। यद्यपि संख्यावत्त्वमात्र हेतु हो सकता है, तो भी सर्वज्ञके निश्चयसे हेतुकी असिद्धिका निराकरणका सूचन

भाष्य

स्यादन्तवत् स्यात् । संख्यापरिमाणं तावत् प्रधानपुरुषेश्वरत्रयरूपेण परिच्छिन्नम्, स्वरूपपरिमाणमपि तद्गतमीश्वरेण परिच्छिद्येतेति । पुरुषगता च महासङ्ख्या । ततश्चेयत्तापरिच्छिन्नानां मध्ये ये संसारिणः संसारान्मुच्यन्ते तेषां संसारोऽन्तवान् संसारित्वं च तेषामन्तवत्, एवमितरेष्वपि क्रमेण मुच्यमानेषु संसारस्य संसारिणां चान्तवत्त्वं स्यात् । प्रधानं च सविकारं पुरुषार्थमीश्वरस्याऽधिष्ठेयं संसारित्वेनाऽभिमतं तच्छून्यतायामीश्वरः किमधि-

भाष्यका अनुवाद

इसी प्रकार प्रधान पुरुष और ईश्वर तीनों इयत्तासे परिच्छिन्न होनेसे अन्तवान् होंगे । सङ्ख्यापरिमाण तो प्रधान, पुरुष और ईश्वर ये तीन हैं इस रूपसे परिच्छिन्न है । उनमें स्थित स्वरूपपरिमाण भी ईश्वरसे परिच्छिन्न ही होगा । और पुरुषगत महासंख्या है । इसलिये इयत्तापरिच्छिन्नोंके मध्यमें जो संसारसे मुक्त होते हैं, उनका संसार अन्तवान् हो जायगा और संसारित्व भी अन्तवान् हो जायगा । इस प्रकार दूसरे जीवोंके भी क्रमसे मुक्त होनेसे

रत्नप्रभा

संख्यापरिमाणमिति । संख्यास्वरूपमित्यर्थः । द्वितीयहेतुं साधयति-**स्वरूपेति** । प्रधानादयः निश्चितपरिमाणाः, वस्तुतोऽभिन्नत्वाद्, घटवद् इत्यर्थः । ननु प्रधानपुरुषेश्वराः त्रय' इति ज्ञातेऽपि जीवानामानन्त्यात् कथं संख्यानिश्चयः, तत्राह—**पुरुषेति** । जीवसंख्याऽपीश्वरेण निश्चीयते, अनिश्चये सर्वज्ञत्वायोगादित्यर्थः । हेतुसिद्धेः फलमाह—**ततश्चेति** । माषराशिवत् केषाञ्चिज्जीवानां सङ्गः, तद्बन्धश्च नश्येदित्येवं सर्वमुक्तेरिदानीं शून्यं जगत् स्यादित्यर्थः । नित्यस्यानवशेषादिति भावः । ननु ईश्वरः शिष्यतामिति चेत्, न; तस्यापि भिन्नत्वेन अन्तवत्त्वात् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेके लिए निश्चित पद है। उनमें प्रथम हेतु असिद्ध नहीं है ऐसा कहते है—"संख्यापरिमाणम्" इत्यादिसे । संख्यापरिमाण—संख्यारूप । द्वितीय हेतुको सिद्ध करते हैं—"स्वरूप" इत्यादिसे । प्रधानादि निश्चितपरिमाणवाले हैं, वस्तुतः अभिन्न होनेसे, घटके समान, ऐसा अर्थ है। परन्तु प्रधान पुरुष और ईश्वर ये तीन हैं ऐसा जाननेपर भी जीवके अनन्त होनेसे संख्याका निश्चय किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—"पुरुष" इत्यादिसे । ईश्वरको जीवकी संख्याका भी निश्चय है, क्योंकि निश्चय न हो, तो वह सर्वज्ञ न होगा ऐसा अर्थ है। हेतुसिद्धिका फल कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे । माषराशिके समान कितने जीवोंका सङ्ग और उनका बन्ध नष्ट होगा, ऐसे सबके मुक्त होनेपर जगत् शून्य हो जायगा ऐसा अर्थ है, क्योंकि नित्यका अवशेष नहीं है । ईश्वर

भाष्य

तिष्ठेत्, किंविषये वा सर्वज्ञतेश्वरते स्याताम्। प्रधानपुरुषेश्वराणां चैवमन्तवत्त्वे सत्यादिमत्त्वप्रसङ्गः, आद्यन्तवत्त्वे च शून्यवादप्रसङ्गः। अथ मा भूदेष दोष इत्युत्तरो विकल्पोऽभ्युपगम्येत-न प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्तेश्वरेण परिच्छिद्यते—इति, तत ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाऽभ्युपगमहानिरपरो दोषः प्रसज्येत। तस्मादप्यसङ्गतस्तार्किकपरिगृहीत ईश्वरकारणवादः॥ ४१ ॥

भाष्यका अनुवाद

संसार और संसारी अन्तवान् हो जायँगे। और सविकार प्रधान पुरुषके अर्थके लिए ईश्वरका अधिष्ठेय संसारीरूपसे अभिमत है। उससे शून्य होनेपर ईश्वर किसका अधिष्ठान करेगा, या किस विषयमें सर्वज्ञता और ईश्वरता होगी। प्रधान, पुरुष और ईश्वरके इस प्रकार अन्तवान् होनेसे आदिमान् होनेका प्रसङ्ग आवेगा, और आदिमान् और अन्तवान् होनेसे शून्यवाद प्रसक्त होगा, ये दोष न हों इसलिए यदि प्रधान पुरुष और ईश्वरकी इयत्ता ईश्वरसे परिच्छिन्न नहीं होती, इस उत्तर विकल्पका स्वीकार किया जाय, तो ईश्वर सर्वज्ञ है, इस स्वीकारका त्यागरूप दूसरा दोष प्रसक्त होगा। इससे भी तार्किकोंसे स्वीकार किया गया ईश्वरवाद असङ्गत है॥ ४१ ॥

रत्नप्रभा

किञ्च, ईशितव्याभावाद् ईश्वराभावः स्याद् इत्याह—**प्रधानमिति**। दोषान्तरमाह—**प्रधानेति**। इयत्तानिश्चयाभावात् न शून्यता इति द्वितीयं शङ्कते—**अथेति**। इयत्ता नास्ति, न निश्चीयते चेत्यर्थः। प्रधानादयः संख्यापरिमाणवन्तः, द्रव्यत्वात्, माषादिवत्, इत्यनुमानादस्तीयत्ता, तदज्ञाने स्याद् असर्वज्ञता, इयत्तायां चान्तवत्त्वमपि अक्षतमिति परिहरति—**तत इति**। तस्मात् केवलकर्त्रीश्वरवादस्य निर्मूलत्वाद् न कर्त्रुपादानाद्वयेश्वरसमन्वयविरोध इति सिद्धम्॥ ४१ ॥ (७)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवशिष्ट रहे, यह भी युक्त नहीं, क्योंकि वह भी भिन्न होनेसे अन्तवान् है। और ईशितव्यका अभाव होनेसे ईश्वरका अभाव होगा ऐसा कहते हैं—"प्रधानम्" इत्यादिसे। अन्य दोष कहते हैं—"प्रधान" इत्यादिसे। इयत्ताका निश्चय न होनेसे शून्यता नहीं होगी इस द्वितीय पक्षकी शङ्का करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। इयत्ता नहीं है और उसका निश्चय भी नहीं होता है यह अर्थ है। प्रधानादि संख्यापरिमाणवाले हैं, द्रव्य होनेसे, माषादिके समान इस अनुमानसे इयत्ता है और उसके अज्ञानसे ईश्वरमें असर्वज्ञता हो जायगी और इयत्तामें अन्तवत्त्व अक्षत है, ऐसा परिहार करते हैं—"ततः" इत्यादिसे। इसलिये ईश्वर केवल कर्ता है, इस वादके निर्मूल होनेसे अद्वय ईश्वर कर्ता और उपादान दोनों है यह वेदान्तसमन्वय विरुद्ध—बाधित नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ॥४१॥

[८ उत्पत्त्यसंभवाधिकरण सू० ४२–४५]

जीवोत्पत्त्यादिकं पाञ्चरात्रोक्तं युज्यते न वा।
युक्तं नारायणव्यूहतत्समाराधानादिवत् ॥१॥
युज्यतामविरुद्धोंऽशो जीवोत्पत्तिर्न युज्यते।
उत्पन्नस्य विनाशित्वे कृतनाशादिदोषतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—पञ्चरात्रमें प्रतिपादित जीवकी उत्पत्ति आदि युक्त है या नहीं?

पूर्वपक्ष—जैसे वासुदेव और उनकी आराधना युक्त है वैसे ही जीवकी उत्पत्ति भी युक्त ही है,उसके स्वीकार करनेमें कोई बाधक नहीं है।

सिद्धान्त—श्रुतिके साथ विरोध न होनेके कारण वासुदेव और उनकी उपासनाका स्वीकार होनेपर भी जीवोत्पत्तिको नहीं मान सकते, क्योंकि जीवकी उत्पत्ति और नाश माननेमें श्रुतिसे विरोध होगा और कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषकी प्राप्ति भी होगी।

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४२ ॥

पदार्थोक्ति—उत्पत्त्यसंभवात्—वासुदेवात् जीवस्योत्पत्तेरसम्भवात्। [उत्पत्त्यङ्गीकारे घटवदनित्यत्वापत्त्या भगवत्प्राप्तिरूपो मोक्षस्तदभ्युपगतः कस्य स्यात्। अतो भ्रान्तिमूलो भागवतसिद्धान्तः]।

भाषार्थ—वासुदेवसे जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि उत्पत्ति मानी जाय, तो जीवके घटकी भाँति अनित्य होनेसे भगवत्प्रातिरूप मोक्ष, जो वैष्णवों द्वारा स्वीकृत है, किसको प्राप्त होगा। इसलिए भागवतसिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है।

* भावार्थ—भागवत सम्प्रदायी पाञ्चरात्रमानते हैं कि—भगवान् वासुदेव एक है, और जगत्का उपादान एवं निमित्त कारण है। संसाररूपी बन्धका विनाश उसकी उपासना आदिसे होता है। उस वासुदेवसे संकर्षण नामका जीव उत्पन्न होता है, जीवसे प्रद्युम्न नामका मन और मनसे अनिरुद्ध—अहङ्कार उत्पन्न होते हैं। ये वासुदेवादि—चार प्रकारके व्यूह, सर्वरूप हैं।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि वासुदेव और उसकी आराधना श्रुतिसम्मत होनेसे हम भी उसे स्वीकार करते हैं, परन्तु 'जीव उत्पन्न होता है' यह तुम्हारा वचन हम नहीं मानते। क्योंकि ऐसा माननेसे किये हुए धर्मादिका विनाश, नहीं किये हुएकी प्राप्ति होगी। यथा—पूर्व सृष्टिमें जो जीव है, उसको उत्पन्न मानोगे तो, 'जो उत्पन्न होता है, वह विनाशी होता है' इस न्यायसे उसका प्रलयकालमें नाश मानना होगा, जीवके नष्ट होनेपर उसमें रहनेवाले धर्मादिका नाश फलप्रदानके विना ही प्रसक्त होगा, इस प्रकार कृतहानि होगी एवं उत्पन्न नवीन जीवमें पूर्व अननुष्ठित धर्म और अधर्मके न रहनेपर सुख-दुःखकी प्राप्ति होगी इसको अकृताभ्यागम कहते हैं। इससे जीवकी उत्पत्ति आदि युक्त नहीं है।

भाष्य

येषामप्रकृतिरधिष्ठाता केवलनिमित्तकारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यातः, येषां पुनः प्रकृतिश्चाऽधिष्ठाता चोभयात्मकं कारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यायते। ननु श्रुतिसमाश्रयणेनाप्येवंरूप एवेश्वरः प्राङ्निर्धारितः प्रकृतिश्चाऽधिष्ठाता चेति, श्रुत्यनुसारिणी च स्मृतिः प्रमाणमिति स्थितिः। तत्कस्य हेतोरेष पक्षः प्रत्याचिख्यासित इति। उच्यते—यद्यप्येवंजातीयकोंऽशः समानत्वान्न विसंवादगोचरो भवति, अस्ति त्वंशान्तरं विसंवादस्थानमित्यतस्तत्प्रत्याख्यानायाऽऽरम्भः। तत्र भागवता मन्यन्ते—

भाष्यका अनुवाद

जिनको ईश्वर अप्रकृति, अधिष्ठाता एवं केवल निमित्त कारणरूपसे अभिमत है, उनके पक्षका खण्डन किया जा चुका है। अब जिनको प्रकृति और अधिष्ठाता दोनों प्रकारके कारणरूपसे ईश्वर अभिमत है, उनके पक्षका निराकरण करते हैं। श्रुतिके आश्रयसे भी इसी प्रकारका ईश्वर—प्रकृति और अधिष्ठाता है ऐसा—पूर्वमें निर्धारण किया गया है, और श्रुतिका अनुसरण करनेवाली स्मृति भी प्रमाण है ऐसी स्थिति है, तो किस हेतुसे इस पक्षका निराकरण करनेकी इच्छा है? कहते हैं—यद्यपि इस प्रकारका अंश समान होनेसे विसंवादका विषय नहीं है, तथापि अन्य अंश विसंवादके स्थान हैं इससे उनके निराकरणके लिए यह आरम्भ है।

रत्नप्रभा

पञ्चपदार्थवादिमाहेश्वरमतनिरासानन्तरं चतुर्व्यूहवादं बुद्धिस्थं निरस्यति—**उत्पत्त्यसम्भवादिति**। अधिकरणतात्पर्यमाह—**येषामिति**। अधिकरणाऽऽरम्भमाक्षिपति—**नन्विति**। वेदाविरुद्धांशमङ्गीकृत्य वेदविरुद्धं जीवोत्पत्त्याद्यंशं निराकर्तुमधिकरणारम्भ इत्याह—**उच्यत इति**। अत्र भागवतपाञ्चरात्रागमो विषयः स किं जीवोत्पत्त्याद्यंशो मानं न वा, इति सन्देहे बाधानुपलम्भाद् मानमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

पञ्चपदार्थवादी माहेश्वर मतका निराकरण करनेपर बुद्धिस्थ चतुर्व्यूहवादका निराकरण करते हैं—"उत्पत्त्यसम्भवात्" इस सूत्रसे। अधिकरणका तात्पर्य कहते हैं—"येषाम्" इत्यादिसे। अधिकरणके आरम्भका आक्षेप करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। वेदसे अविरुद्धांशका अङ्गीकार करके वेदविरुद्ध जीवकी उत्पत्तिरूप अंशका निराकरण करनेके लिये अधिकरणका आरम्भ है ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। यहां भागवत पाञ्चरात्र आगम विषय है, वह जीवकी उत्पत्तिके अंशमें प्रमाण है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर बाधके उपलब्ध न होनेसे प्रमाण

भाष्य

भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वम्, स चतुर्धाऽऽत्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेवव्यूहरूपेण संकर्षणव्यूहरूपेण प्रद्युम्नव्यूहरूपेण अनिरुद्धव्यूहरूपेण च। वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते। संकर्षणो नाम जीवः। प्रद्युम्नो नाम मनः। अनिरुद्धो नामाहंकारः। तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम्। तमित्थंभूतं परमेश्वरं भगवन्तमभिगमनोपादानेज्या-स्वाध्याययोगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत इति।

भाष्यका अनुवाद

भागवत मानते हैं कि—अकेले भगवान् वासुदेव ही निरञ्जन ज्ञानरूप परमार्थ-तत्त्व हैं। वे अपने चार विभाग करके वासुदेवव्यूहरूपसे, संकर्षणव्यूहरूपसे, प्रद्युम्नव्यूहरूपसे, और अनिरुद्धव्यूहरूपसे प्रतिष्ठित हैं। वासुदेव परमात्मा है, संकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मन है और अनिरुद्ध अहंकार है। उनमें वासुदेव परा प्रकृति है एवं अन्य संकर्षणादि कार्य हैं। इस प्रकारके भगवान् परमेश्वरकी अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय, और योग द्वारा सौ वर्ष पूजाकर क्षीणक्लेश जीव भगवान्को ही प्राप्त होते हैं।

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षयति—तत्रेति। पूर्वपक्षे तदागमविरोधाज्जीवाभिन्नब्रह्मसमन्वयासिद्धिः, सिद्धान्ते तदंशे तस्यास्याऽमानत्वात् अविरोधात् तत्सिद्धिरिति फलभेदः। सावयवत्वं निरस्यति—निरञ्जनेति। कथं तर्हि अद्वितीये वासुदेवे मूर्तिभेदः? तत्राह—स इति। व्यूहः—मूर्तिः। सविशेषं शास्त्रार्थमुक्त्वा सहेतुं पुरुषार्थमाह—तमित्थम्भूतमिति। यथोक्तव्यूहवन्तं सर्वप्रकृतिं निरञ्जनं विज्ञानरूपं परमात्मानमिति यावत्। वाक्कायचेतसामवधानपूर्वकं देवतागृहगमनम्—अभिगमनम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें उनके आगमके साथ विरोध होनेसे जीवसे अभिन्न ब्रह्मके समन्वयकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें उस अंशमें उस आगमके अप्रमाण होनेसे अविरोध है, इससे जीवाभिन्न ब्रह्म समन्वयकी सिद्धि फल है। भगवान् वासुदेवके सावयवत्वका निरास करते हैं—"निरञ्जन" इत्यादिसे। जब वासुदेव अद्वितीय है तो मूर्तिभेद किस प्रकार होगा? उसपर कहते हैं—"सः" इत्यादिसे। व्यूह—मूर्ति, संस्थान। सविशेष शास्त्रार्थ कहकर हेतुसहित पुरुषार्थ कहते हैं—"तमित्थंभूतम्" इत्यादिसे। यथोक्त व्यूहवाला सर्वप्रकृति, निरञ्जन, विज्ञानरूप, परमात्मा ऐसा समझना। वाक्, काय और चित्तके अवधान पूर्वक जो देवतागृह गमन है, वह 'अभिगमन'

भाष्य

तत्र यत्तावदुच्यते—योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात् प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनाऽऽत्मानमनेकधा व्यूह्याऽवस्थित इति, तन्न निराक्रियते, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधा भावस्याऽधिगतत्वात्। यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाऽभिप्रेयते, तदपि न प्रतिषिध्यते, श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्। यत् पुनरिदमुच्यते—वासुदेवात् संकर्षण उत्पद्यते संकर्षणाच्च प्रद्युम्नः प्रद्युम्नाच्चाऽनिरुद्धः इति। अत्र ब्रूमः—न वासुदेवसंज्ञकात् परमात्मनः संकर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः संभवति, अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि

भाष्यका अनुवाद

उसमें जो यह कहते हैं कि नारायण अव्यक्तसे पर प्रसिद्ध परमात्मा सर्वात्मा है, वह आत्मा द्वारा आत्माको अनेक प्रकारसे व्यूह करके अवस्थित है, उसका निराकरण नहीं करते है क्योंकि—'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (वह एकधा होता है, त्रिधा होता है) इत्यादि श्रुतियोंसे परमात्माका अनेक प्रकारका भाव प्राप्त है। और उस भगवान्का सदा अनन्यचित्तसे अभिगमनादिरूप आराधन अभिप्रेत है, उसका भी प्रतिषेध नहीं करते हैं, क्योंकि श्रुति और स्मृतिमें ईश्वरप्रणिधान प्रसिद्ध है। परन्तु वासुदेवसे संकर्षण उत्पन्न हुए हैं, संकर्षणसे प्रद्युम्न, प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध ऐसा जो कहा जाता है, उसपर कहते हैं—वासुदेवसंज्ञक परमात्मासे संकर्षणसंज्ञक जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि

रत्नप्रभा

पूजाद्रव्याणामर्जनम्—उपादानम्। इज्या—पूजा। स्वाध्यायः—अष्टाक्षरादिजपः। योगः—ध्यानम्। तत्राऽविरुद्धांशम् उपादत्ते—तत्रेति। "समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा" इति "तं यथा यथोपासते" इत्याद्या च श्रुतिः। "मत्कर्मकृन्मत्परमः (भा० गी० ११।५५) इत्याद्या स्मृतिः। विरुद्धांशमनूद्य दूषयति—यत्पुनरिति। कृतहान्यादिदोषः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। पूजाद्रव्यकी प्राप्ति 'उपादान' है, इज्या—पूजा, स्वाध्याय—अष्टाक्षरादि मन्त्रका जप, योग—ध्यान। उसमें अविरुद्ध अंशका स्वीकार करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। श्रुति और स्मृतिमें ईश्वरप्रणिधान प्रसिद्ध है। 'समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा' (समाहित श्रद्धाधन होकर) 'तं यथा यथोपासते' (जैसे जैसे उसकी उपासना करता है) इत्यादि श्रुति है, "मत्कर्मकृन्मत्परमः' (मेरे लिये कर्म करनेवाला और मुझको परम माननेवाला) इत्यादि स्मृति है। विरुद्धांशका

भाष्य

जीवस्याऽनित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्, ततश्च नैवाऽस्य भगवत्प्राप्तिर्मोक्षः स्यात्, कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलयप्रसङ्गात्। प्रतिषेधिष्यति चाऽऽचार्यो जीवस्योत्पत्तिम्—'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० सू० २।३।१७) इति। तस्मादसङ्गतैषा कल्पना ॥ ४२ ॥

भाष्यका अनुवाद

अनित्यत्वादि दोषोंकी प्रसक्ति होती है। (निश्चय) जीव उत्पत्तिमान् हो तो अनित्यत्वादि दोष प्रसक्त होनेसे जीवको भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष न होगा, क्योंकि कारणकी प्राप्तिमें कार्यका प्रविलय प्रसक्त होगा। और बादरायणाचार्य जीवकी उत्पत्तिका—'नाऽऽत्मा श्रुतेः०' (आत्मा उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उत्पत्तिके प्रकरणमें उसकी उत्पत्ति श्रुत नहीं है, बल्कि इसके विपरीत श्रुतिसे उसकी नित्यता प्रतीत होती है) इस सूत्रमें प्रतिषेध करेंगे, इसलिये यह कल्पना असङ्गत है॥ ४२ ॥

रत्नप्रभा

आदिशब्दार्थः। न्यायोपेतया "अज आत्मा" [बृ० ४।४।२०,२२,२४,२५] इत्यादिश्रुत्या पाञ्चरात्रागमस्योत्पत्त्यंशे मानत्वाभावनिश्चयात् जीवाऽभिन्नब्रह्मसमन्वयस्थैर्यम् इति भावः ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुवाद करके दूषित करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे। आदि शब्दका अर्थ कृतहान्यादि दोष है। न्यायसे युक्त "अज आत्मा" इत्यादि श्रुति करके पाञ्चरात्र आगमके उत्पत्त्यंशमें प्रामाण्याभावका निश्चय होनेसे जीवाभिन्न ब्रह्मसमन्वय स्थिर होता है, ऐसा तात्पर्य्य है ॥४२॥

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—न, च, कर्तुः, करणम्।

पदार्थोक्ति—[कर्तुः देवदत्तादेः सकाशात् करणस्य कुठारादेरुत्पत्त्यदर्शनात्] कर्तुः—जीवात्, करणम्—मनः [जन्यते इत्येतत्] न च [संगतम्]।

भाषार्थ—देवदत्त आदि कर्तासे कुठार आदि करणोंकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती, इससे जीवसे मनकी उत्पत्ति होती है, यह कथन संगत नहीं है।

भाष्य

इतश्चाऽसंगतैषा कल्पना—यस्मान्नहि लोके कर्तुर्देवदत्तादेः करणं परश्वाद्युत्पद्यमानं दृश्यते। वर्णयन्ति च भागवताः—कर्तुर्जीवात् संकर्षणसंज्ञकात् करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञकमुत्पद्यते, कर्तृजाच्च तस्मादनिरुद्धसंज्ञकोऽहङ्कार उत्पद्यते इति। न चैतद् दृष्टान्तमन्तरेणाऽध्यवसातुं शक्नुमः। न चैवंभूतां श्रुतिमुपलभामहे॥ ४३॥

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी यह कल्पना असङ्गत है, क्योंकि लोकमें कर्ता देवदत्तादिसे करण—परशु आदि उत्पन्न होते हुए नहीं देखे जाते हैं। भागवत वर्णन करते हैं कि—कर्ता संकर्षणसंज्ञक जीवसे प्रद्युम्नसंज्ञक करण—मन उत्पन्न होता है, कर्तासे उत्पन्न हुए उससे (मनसे) अनिरुद्धसंज्ञक अहंकार उत्पन्न होता है, परन्तु दृष्टान्तके बिना इसका निश्चय करनेमें हम समर्थ नहीं हैं। और इस प्रकारकी श्रुति भी उपलब्ध नहीं है॥ ४३॥

रत्नप्रभा

जीवस्योत्पत्तिं निरस्य जीवात् मनस उत्पत्तिं निरस्यति—**न च कर्त्तुरिति**। यस्मात् कर्तुः करणोत्पत्तिर्न दृश्यते, तस्मादसङ्गता कल्पना इत्यन्वयः। सिद्धानां करणानां प्रयोक्ता कर्ता इति प्रसिद्ध्यर्थो हिशब्दः। वर्णनं निर्मूलमित्याह—**न चेति**। ननु लोके कश्चित् शिल्पिवरः कुठारं निर्माय तेन वृक्षं छिनत्तीति दृष्टमिति चेत्, सत्यम्; शिल्पिनो हस्तादिकरणान्तरसत्त्वात् कुठारकर्तृत्वं युक्तम्, जीवस्य तु करणान्तरासत्त्वान्न मनसः कर्तृत्वम् विनैव करणं कर्तृत्वे वा मनोवैयर्थ्यमिति भावः॥ ४३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवकी उत्पत्तिका निरास करके जीवसे मनकी उत्पत्तिका निराकरण करते हैं—"न च कर्तुः" इत्यादिसे। कर्तासे करणकी उत्पत्ति देखनेमें नहीं आती है, अतः कल्पना असङ्गत है, ऐसा अन्वय है। सिद्ध करणोंका प्रयोक्ता कर्ता है, ऐसा प्रसिद्धिसूचक हिशब्द है। वर्णन निर्मूल है ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। लोकमें कोई उत्तम शिल्पी कुल्हाड़ा बनाकर उससे वृक्ष काटता है ऐसा देखा जाता है, ऐसी कोई शङ्का करे तो, यह बात सत्य है, शिल्पीके हस्तादि अन्य करण भी होनेसे वह कुल्हाड़ेका कर्ता हो सकता है; परन्तु जीवके अन्य करण न होनेसे वह मनका कर्ता नहीं हो सकता, और कर्ता हो तो मन व्यर्थ होता है, क्योंकि करणके बिना स्वतः कर्ता होनेसे समस्त कार्य सिद्ध होंगे ऐसा भाव है॥४३॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—विज्ञानादिभावे, वा, तदप्रतिषेधः ।

पदार्थोक्ति—विज्ञानादिभावे वा—संकर्षणादीनां त्रयाणां वासुदेववत् विज्ञानैश्वर्य्यशक्तिबलवीर्यतेजःस्वरूपत्वेऽपि, तदप्रतिषेधः—उत्पत्त्यसंभवरूपदोषाप्रतिषेधः ।

भाषार्थ—संकर्षण आदि तीनोंके वासुदेवके समान विज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजः स्वरूप होनेपर भी उत्पत्त्यसभवरूप दोषका प्रतिषेध नहीं होता।

भाष्य

अथापि स्यात्—न चैते संकर्षणादयो जीवादिभावेनाऽभिप्रेयन्ते, किं तर्हि ? ईश्वरा एवैते सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वरैर्धर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते--वासुदेवा एवैते सर्वे निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्चेति, तस्मान्नाऽयं यथावर्णित उत्पत्त्यसंभवो दोषः प्राप्नोतीति । अत्रोच्यते--एव-

भाष्यका अनुवाद

ये संकर्षणादि जीवादिभावसे माने नहीं जाते हैं, किन्तु ये सब ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजरूप ईश्वर सम्बन्धी धर्मोंसे युक्त ईश्वर ही माने जाते हैं। ये सर्व वासुदेव ही निर्दोष निरधिष्ठान और निरवद्य हैं। अतः पूर्वोक्त उत्पत्त्यसंभवरूप दोष प्राप्त नहीं है। इसपर कहते हैं—ऐसे भी

रत्नप्रभा

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः । संकर्षणादीनामुत्पत्त्यसम्भवेऽपि व्यूहचतुष्टयं स्यादिति सूत्रव्यावर्त्यम् आशङ्कते—**अथापि स्यादिति** । ज्ञानैश्वर्ययोः शक्तिरान्तरं सामर्थ्यम्, बलं शरीरसामर्थ्यम्, वीर्यं शौर्यम्, तेजः प्रागल्भ्यम् । एतैरन्विताः यस्मात् सङ्कर्षणादयः, तस्मादीश्वरा एव इत्यर्थः । सर्वेषाम् ईश्वरत्वे पाञ्चरात्रोक्तिमाह—**वासुदेवा एवेति** । निर्दोषाः रागादिशून्याः, निरधिष्ठानाः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"विज्ञानादिभा०" इत्यादिसे। संकर्षणादिकी उत्पत्तिका असम्भव होनेपर भी चार व्यूह हों इस प्रकारसे सूत्र व्यावर्त्यकी आशङ्का करते हैं—"अथापि स्याद्" इत्यादिसे। ज्ञान और ऐश्वर्यका आन्तर सामर्थ्य—"शक्ति" है, शरीर सामर्थ्य—'बल', वीर्य्य—'शौर्य' और तेजः—प्रागल्भ्य, इन सब ईश्वरधर्मोंसे अन्वित होनेसे संकर्षणादि भी ईश्वर ही हैं ऐसा अर्थ है। सर्व ईश्वर हैं इसमें पाञ्चरात्रकी उक्तिको प्रमाणरूपसे कहते हैं—"वासुदेवा एव" इत्यादिसे। निर्दोष—रागद्वेषशून्य, निरधिष्ठान—

भाष्य

मपि तदप्रतिषेधः उत्पत्त्यसंभवस्याऽप्रतिषेधः प्राप्नोत्येव, अयमुत्पत्त्यसंभवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः। कथम् ? यदि तावदयमभिप्रायः--परस्पर-भिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मकत्वम-स्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यम्, एकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः, सिद्धा-न्तहानिश्च, भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमित्यभ्युपगमात्। अथाऽयमभिप्रायः—एकस्यैव भगवत एते चत्वारो व्यूहास्तुल्यधर्माणः इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्त्यसंभवः,—नहि वासुदेवात् संकर्षणस्योत्पत्तिः

भाष्यका अनुवाद

उसका अप्रतिषेध है—उत्पत्तिके असम्भवका प्रतिषेध नहीं होता है अर्थात् प्रकारान्तरसे उत्पत्त्यसम्भवरूप दोष प्राप्त ही है, ऐसा अभिप्राय है। किस प्रकार ? यदि ऐसा अभिप्राय हो कि परस्पर भिन्न ही ये वासुदेवादि चार ईश्वर समान धर्मवाले हैं, ये एकात्मक नहीं हैं, तो अनेक ईश्वरोंकी कल्पना अनर्थक है, क्योंकि एक ही ईश्वरसे ईश्वरका कार्य सिद्ध होगा, और सिद्धान्तकी भी हानि होगी, क्योंकि भगवान् ही अकेले वासुदेव परमार्थतत्त्व हैं ऐसा स्वीकार है। यदि ऐसा अभिप्राय हो कि एक ही भगवान्‌के ये चार स्वरूप तुल्य धर्म-वाले हैं, तो भी उत्पत्तिका असम्भव वैसा ही है, क्योंकि अतिशयके अभावसे

रत्नप्रभा

प्रकृत्यजन्याः, निरवद्याः नाशादिरहिता इत्यर्थः। ईश्वरत्वाद् जन्मासम्भवो गुण एवेत्याह—**तस्मादिति**। सूत्रेण सिद्धान्तयति—**अत्रेति**। एवमपि चतुर्णा-मीश्वरत्वेन विज्ञानशक्त्यादिभावेऽपीत्यर्थः। प्रकारान्तरं पृच्छति—**कथमिति**। किं चत्वारः स्वतन्त्रा भिन्ना एव, उत एकस्य विकारत्वेनाऽभिन्नाः ? आद्यम् अनूद्य दूषयति—**यदीत्यादिना**। द्वितीये विकाराः प्रकृतितुल्या वा न्यूना वा ? आद्यम् उत्थाप्य निषेधति—**अथेत्यादिना**। न्यूनत्वपक्षेऽपसिद्धान्तमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकृतिसे अजन्य, निरवद्य—नाशादिरहित। ईश्वर होनेसे जन्मका असम्भव गुण ही है, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। सूत्रसे सिद्धान्त करते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। "एवमपि" अर्थात् चार ईश्वर होकर विज्ञानशक्ति आदिसे युक्त हों तो भी। प्रकारान्तर पूछते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। ये चारों स्वतन्त्र भिन्न ही हैं, या एकके विकार होनेसे अभिन्न हैं ? आद्य पक्षका अनुवाद करके दूषित करते हैं—"यदि" इत्यादिसे। द्वितिय पक्षमें विकार प्रकृतितुल्य हैं या प्रकृतिसे न्यून हैं ? आद्य पक्ष उठाकर उसका निषेध करते हैं—"अथ" इत्यादिसे।

भाष्य

संभवति, संकर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य, प्रद्युम्नाच्चाऽनिरुद्धस्य, अतिशयाभावात्। भवितव्यं हि कार्यकारणयोरतिशयेन यथा मृद्घटयोः, नह्यसत्यतिशये कार्यं कारणमित्यवकल्पते। न च पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिष्वेकस्मिन् सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादितारतम्यकृतः कश्चिद् भेदोऽभ्युपगम्यते, वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते। न चैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसंख्यायामेवाऽवतिष्ठेरन्, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात् ॥ ४४ ॥

भाष्यका अनुवाद

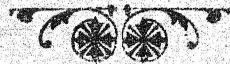
वासुदेवसे संकर्षणकी और संकर्षणसे प्रद्युम्नकी और प्रद्युम्नसे अनिरुद्धकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कार्य और कारणमें अतिशय अवश्य ही होना चाहिए जैसे मृत्तिका और घटमें है, अतिशय न रहनेपर यह कार्य है और यह कारण है यह व्यवहार नहीं बनेगा। और पञ्चरात्रसिद्धान्ती वासुदेवादिमेंसे एकमें या सबमें ज्ञान, ऐश्वर्य्य आदिके तारतम्यसे हुआ कुछ अतिशय स्वीकार नहीं करते हैं। वासुदेव ही सब व्यूह निर्विशेष हैं ऐसा मानते हैं। परन्तु भगवान्के ये व्यूह चार संख्यामें ही अवस्थित नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् ही भगवान्का व्यूह है ऐसा समझा जाता है ॥ ४४ ॥

रत्नप्रभा

न च पञ्चेति। यदि न्यूना अपि भगवतो व्यूहाः, तदा चतुष्ट्वव्याघात इत्याह— न चैत इति ॥ ४४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

न्यूनत्व पक्षमें अपसिद्धान्त कहते हैं—"न च पञ्च" इत्यादिसे। न्यून हैं, तथापि भगवानके व्यूह हैं, ऐसा कहोगे, तो चार ही हैं उसका व्याघात होगा ऐसा कहते हैं—"न चैते" इत्यादिसे ॥ ४४ ॥



विप्रतिषेधाच्च ॥४५॥

पदच्छेद—विप्रतिषेधात, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, विप्रतिषेधात्—क्वचित् वासुदेवस्य विज्ञानादयो गुणाः क्वचित् गुणा एव वासुदेवा इति गुणगुणिनोर्भेदाभेदवर्णनेन परस्परं विप्रतिषेधात् [अप्रामाणिकमिदं भागवतमतम्] ।

भाषार्थ—और कहींपर वासुदेवके विज्ञान, ऐश्वर्य आदि गुण हैं और कहींपर गुण ही वासुदेव हैं इस प्रकार गुण और गुणीके भेद और अभेदके वर्णनसे परस्पर विरोध होनेके कारण भागवतमत प्रामाणिक नहीं है ।

भाष्य

विप्रतिषेधश्चाऽस्मिञ्छास्त्रे बहुविध उपलभ्यते—गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः; ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाः 'आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवाः' इत्यादिदर्शनात् । वेदविप्रतिषेधश्च भवति—चतुर्षु वेदेषु परं

भाष्यका अनुवाद

और इस शास्त्रमें गुण-गुणित्व कल्पना आदि बहुत प्रकारका विरोध उपलब्ध होता है, क्योंकि ज्ञान, ऐश्वर्य्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज भगवान्के गुण हैं, वे गुण आत्मा ही हैं भगवान् वासुदेव ही हैं ऐसा देखा जाता है । उसी प्रकार वेदविरोध भी है, क्योंकि चार वेदोंमें पर कल्याण प्राप्त न करके

रत्नप्रभा

इतश्च जीवोत्पत्तिवाद उपेक्ष्य इत्याह सूत्रकारः—**विप्रतिषेधाच्चेति** । स्वस्यैव गुणत्वं गुणित्वं च विरुद्धम् । आदिपदात् प्रद्युम्नानिरुद्धौ भिन्नौ, आत्मन इत्युक्त्वा आत्मान एवैते इति विरुद्धोक्तिग्रहः । पूर्वापरविरोधादसाङ्गत्यमिति सूत्रार्थम् उक्त्वाऽर्थान्तरमाह—**वेदेति** । एकस्यापि तन्त्राक्षरस्य अध्येता चतुर्वेदिभ्योऽधिक

रत्नप्रभाका अनुवाद

इससे भी जीवोत्पत्तिवाद उपेक्ष्य है ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"विप्रतिषेधाच्च" । स्वयं ही गुण और गुणी हो यह विरुद्ध है । आदि पदसे प्रद्युम्न और अनिरुद्ध आत्मासे भिन्न हैं ऐसा कहकर वे आत्मा ही हैं इस विरुद्ध उक्तिका ग्रहण है । पूर्वापरविरोधसे असंगति है, ऐसा सूत्रार्थ कहकर अन्य अर्थ कहते हैं—"वेद" इत्यादिसे । एक भी तन्त्राक्षरका

भाष्य

श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानित्यादिवेदनिन्दादर्शनात् तस्मादसङ्गतैषा कल्पनेति सिद्धम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

शाण्डिल्यने इस शास्त्रको प्राप्त किया, इत्यादि वेदनिन्दाका दर्शन है, इसलिये यह कल्पना असङ्गत है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ४५ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा कृत द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके भाष्यका अनुवाद समाप्त ।

रत्नप्रभा

इति निन्दा आदिपदार्थः तस्मान्मिथो विरुद्धाभिः पौरुषेयकल्पनाभिर्नापौरुषेय-वेदान्तसमन्वयविरोध इति सिद्धम् ॥ ४५ ॥ (८)

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसदर्शन-
भाष्यव्याख्यायां रत्नप्रभायां द्वितीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥ ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अध्येता चतुर्वेदोंसे अधिक है, ऐसा आदिपदार्थ है। इसलिए परस्पर विरुद्ध पौरुषेय कल्पनाओंसे अपौरुषेय वेदान्तसमन्वयका विरोध नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ४५ ॥

* यतिवर श्रीभोलेबाबाकृत द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके भाष्यका अनुवाद समाप्त *



ॐ नमः परमात्मने ।

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ।

[*अत्र पादे पञ्चमहाभूतजीवादिश्रुतीनां विरोधपरिहारः*]

[१ वियदधिकरण सू० १–७]

व्योम नित्यं जायते वा हेतुत्रयविवर्जनात् ।
जनिश्रुतेश्च गौणत्वान्नित्यं व्योम न जायते ॥१॥
एकज्ञानात् सर्वबुद्धेर्विभक्तत्वाज्जनिश्रुतेः ।
*विवर्ते कारणैकत्वाद् ब्रह्मणो व्योम जायते ॥२॥**

[अधिकरणसार]

सन्देह—आकाश नित्य है या उत्पन्न होता है ?

पूर्वपक्ष—उत्पत्तिश्रुतिके गौण होनेसे और कारणत्रयका अभाव होनेसे आकाश नित्य है—वह उत्पन्न नहीं होता है ।

सिद्धान्त—आकाश उत्पन्न होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिमें एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान, विभक्तत्व, उत्पत्तिसूचक श्रुति और विवर्तवादमें कारणत्रयकी अनपेक्षा, ये सब हेतु हैं ।

---

* सारांश यह है कि यद्यपि 'तस्माद्वा एतस्माद्' इत्यादि श्रुतिसे आकाशकी उत्पत्ति सुननेमें आती है, परन्तु वह युक्त नहीं है, क्योंकि, कार्यके प्रति समवायी कारण, असमावायी कारण और निमित्त कारणकी अपेक्षा रहती है, परन्तु अन्वेषण करनेपर भी आकाशोत्पत्तिके लिए वे (कारणत्रय) नहीं मिलते, अतः अगत्या उक्त श्रुतिको गौणी (अप्रधान) मानना चाहिए। "आकाशः सम्भूतः" इसमें 'सम्भूत' शब्दका प्रयोग सत्ताश्रयत्वरूप गुणसम्बन्धसे युक्त है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यह पूर्वपक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्तमें यह बात प्रसिद्ध है कि—एक वस्तुके विज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुओंका ज्ञान होता है, इसकी—एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानकी उपपत्ति, आकाशको ब्रह्मका कार्य माना जाय तो, हो सकती है, जैसे एक कारण (मृत्तिकारूप) का ज्ञान होनेसे यावत् मृत्तिकाके विकार घटादि जाने जाते हैं। अन्यथा उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार अनुमान भी हो सकता है आकाश उत्पन्न होता है, विभक्त होनेसे, घटके समान । आकाशमें वायुप्रभृतिका वैलक्षण्य प्रसिद्ध है, अतः हेतु असिद्ध नहीं है, ब्रह्म सर्वात्मक है, अतः उसका विभाग नहीं है, अतः व्यभिचारकी शङ्का पूर्व अनुमानमें नहीं कर सकते हैं, उत्पत्तिको कहनेवाली श्रुति भी उक्त अनुमानमें प्रमाण है ।

आरम्भवादमें तीनों कारणोंकी अपेक्षा रहनेपर भी विवर्तवादमें उसकी अपेक्षा न रहने के कारण, कारणत्रयकी अप्रासिद्धिनिबन्धन दोष सिद्धान्तीको नहीं दे सकते हैं ।

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

पदच्छेद—न, वियत्, अश्रुतेः ।

पदार्थोक्ति—वियद्—आकाशः, न—नोत्पद्यते [कुतः] अश्रुतेः—आकाशोत्पत्तिप्रतिपादकश्रुतिवाक्याभावात् ।

भाषार्थ—आकाश उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति नहीं है ।

भाष्य

वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते । केचिदाकाशस्योत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । तथा केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । एवं जीवस्य प्राणानां च । एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषूपलक्ष्यते । विप्रतिषेधाच्च परपक्षाणामनपेक्षितत्वं

भाष्यका अनुवाद

वेदान्तोंमें स्थल-स्थलपर भिन्न प्रस्थानवाली उत्पत्ति-श्रुतियां उपलब्ध होती हैं । कुछ आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करती हैं और कुछ नहीं करतीं । कितनी वायुकी उत्पत्ति कहती हैं और कितनी नहीं कहतीं । इसी प्रकारसे जीवकी और प्राणोंकी भी उत्पत्ति कही गई है । इसी प्रकार क्रम आदि द्वारा भी अन्य श्रुतियोंमें विरोध

रत्नप्रभा

वियदादिविधातारं सीतास्याब्जमधुव्रतम् ।
नित्यचिद्विश्वकर्त्रात्माऽभिन्नं सर्वेश्वरं भजे ॥ १ ॥

जीवस्य अनुत्पत्तिप्रसङ्गेन आकाशस्यापि उत्पत्त्यसम्भवमाशङ्क्य परिहरन् आदौ एकदेशिमतम् आह—**न वियदश्रुतेरिति** । वियत्प्राणपादयोः अर्थं संक्षिपन् पूर्वपादेन संगतिम् आह—**वेदान्तेष्विति** । भिन्नोपक्रमत्वमेव आह—**केचिदित्यादिना** । भूतभोक्तृश्रुतीनां मिथो विरोधशङ्कानिरासः वियत्पादार्थः

रत्नप्रभाका अनुवाद

आकाश आदिके रचयिता श्रीसीताजीके मुखकमलके मधुकर नित्य, चिद्, विश्वके निर्माता परमात्मा अभिन्न सबके अधिपति [श्रीरामचन्द्रजी] का मैं भजन करता हूँ ॥१॥

जीवकी अनुत्पत्तिके प्रसङ्गसे आकाशकी भी उत्पत्तिके असम्भवकी आशङ्का करके उसका परिहार करते हुए एकदेशीका मत कहते हैं—"न वियदश्रुतेः" । आकाशपाद और प्राणपादका अर्थ संक्षेपमें कहते हुए पूर्वपादके साथ सङ्गति कहते हैं—"वेदान्तेषु" इत्यादिसे । श्रुतियोंका विरोध कहते हैं—"केचित्" इत्यादिसे । भूत-भोक्तृ-श्रुतियोंके परस्पर विरोधकी शंकाका

भाष्य

स्थापितम्, तद्वत् स्वपक्षस्याऽपि विप्रतिषेधादेवाऽनपेक्षितत्वमाशङ्क्येत इत्यतः सर्ववेदान्तगतसृष्टिश्रुत्यर्थनिर्मलत्वाय परः प्रपञ्चः आरभ्यते, तदर्थ-निर्मलत्वे च फलं यथोक्ताऽऽशङ्कानिवृत्तिरेव । तत्र प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यते किमस्याऽऽकाशस्योत्पत्तिरस्त्युत नास्तीति ।

भाष्यका अनुवाद

देखनेमें आता है। और विरोधसे परपक्ष अनपेक्षित है, ऐसा स्थापन किया है। उसी प्रकार स्वपक्ष भी विरोधसे ही अनपेक्षित है, ऐसी आशंका हो सकती है, इसलिए सर्व वेदान्तगतसृष्टिश्रुतिके अर्थकी निर्मलताके लिए अब आगेका प्रपञ्च—ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। उसके अर्थ निर्मल होनेका फल यथोक्त शंकाकी निवृत्ति ही है। उसमें प्रथमतः आकाशको उद्देशकर विचार किया

रत्नप्रभा

लिङ्गशरीरश्रुतीनां तद् निरासः प्राणपादार्थः । यथा मिथः विरोधात् पूर्वापरविरो-धाच्च परपक्षाः उपेक्ष्याः तथा श्रुतिपक्षोऽपि उपेक्ष्यः इति शङ्कोत्थाने पादद्वयस्य आरम्भात् पूर्वपादेन दृष्टान्तसंगतिः इति समुदायार्थः । आकाशवाय्वोः उत्पत्तिम् आमनन्ति तैतिरीयकाः, नामनन्ति छन्दोगाः । जीवस्य प्राणानाञ्च उत्पत्तिं 'सर्वे एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' इति वाजिनः । "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्याथर्वणिकाश्च— आमनन्ति नाऽन्ये । एवम् आकाशपूर्विका क्वचित् सृष्टिः, क्वचित् तेजःपूर्विका इति क्रमविरोधः । आदिपदात् 'स इमाँल्लोकानसृजत' [ऐ० १।२] इत्यक्रमः, क्वचित् सप्त प्राणाः क्वचिद् अष्टावित्यादिसंख्याद्वारकश्च विरोधो ग्राह्यः, प्रपञ्चः— पादद्वयम्, तथा च पादद्वयस्य श्रुतीनां मिथोविरोधनिरासार्थत्वात् श्रुति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरण यह आकाशपादका अर्थ है और लिंगशरीर श्रुतियोंके परस्पर विरोधकी शंकाका निराकरण यह प्राणपादका अर्थ है। जैसे परस्पर विरोध और पूर्वापर विरोधके कारणसे परपक्ष उपेक्षा करने योग्य है, वैसे श्रुतिपक्ष भी उपेक्षा योग्य है, ऐसी शङ्का उत्पन्न होनेपर दोनों पादोंका आरम्भ होनेसे पूर्वपादके साथ दृष्टान्तसङ्गति है, ऐसा समुदायका अर्थ है। तैतिरीय आकाश और वायुकी उत्पत्ति कहते हैं, छन्दोग नहीं कहते। 'सर्वे एत०' (ये सब आत्मासे उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार माध्यंदिन जीवकी उत्पत्ति कहते हैं। 'एतस्माज्जायते प्राणः' ऐसा आथर्वणिक श्रवण कराते हैं। कहीं आकाशपूर्विका सृष्टि है और 'कहीं तेजः-पूर्विका है, ऐसा क्रमका विरोध है। 'क्रमादिद्वारा' इसमें आदिपदसे "स इमाँल्लोका०" (उसने इन लोकोंको उत्पन्न किया) ऐसे क्रमका विरोध है। इसी प्रकार कहीं सात प्राण

भाष्य

तत्र तावत् प्रतिपद्यते—'न वियदश्रुतेः' इति । न खल्वाऽऽकाशमुत्पद्यते । कस्मात् ? अश्रुतेः—न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति । छान्दोग्ये हि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म प्रकृत्य 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति च पञ्चानां महाभूतानां मध्यमं तेज आदिं कृत्वा त्रयाणां तेजोबन्नानामुत्पत्तिः श्राव्यते। श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ, न चाऽत्र श्रुतिरस्त्याकाशस्योत्पत्तिप्रतिपादिनी, तस्मान्नास्त्युत्पत्तिरिति ।। १ ।।

भाष्यका अनुवाद

जाता है कि इस आकाशकी उत्पत्ति है या नहीं ? उसमें प्रथम 'न वियदश्रुतेः' ऐसा प्रतिपादन होता है। निश्चय, आकाश उत्पन्न नहीं होता है । किससे ? अश्रुतिसे । उत्पत्ति प्रकरणमें इसकी उत्पत्तिप्रतिपादक श्रुति नहीं है, क्योंकि छान्दोग्यमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सोम्य, यह पूर्वमें सत् ही था, एक ही अद्वितीय) इस प्रकार सच्छब्दसे वाच्य ब्रह्मका उपक्रम करके 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने विचारा, उसने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार पांच महाभूतोंके मध्यमें मध्यम तेजको आरम्भ करके तेज, जल और अन्न इन तीनोंकी उत्पत्ति श्रुत है। और अतीन्द्रिय अर्थके विज्ञानकी उत्पत्तिमें श्रुति हमारे मतमें प्रमाण है, परन्तु आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करने वाली श्रुति है ही नहीं, इसलिए आकाशकी उत्पत्ति नहीं है ।।१।।

रत्नप्रभा

शास्त्राध्यायसंगतयः सिद्धाः। अत्राऽऽकाशस्य उत्पत्त्यनुत्पत्तिश्रुत्योर्मिथः विरोधः अस्ति न वेति वाक्यभेदैकवाक्यत्वाभ्यां सन्देहे यदि उत्पत्तिः तदा वाक्यभेदेन विरोधाद् अप्रामाण्यमनयोः श्रुत्योः इति पूर्वपक्षयिष्यन् आदौ अनुत्पत्तिपक्षम् एकदेशी गृह्णातीत्याह—तत्र तावदिति । उत्पत्तिश्रुतिर्मुख्या नाऽस्तीति गूढाभिसन्धिः ।।१।।

रत्नप्रभाका अनुवाद

और कहीं आठ, ऐसे संख्याप्रयुक्त विरोधका ग्रहण है। प्रपञ्च—दो पाद हैं। पादद्वय भी श्रुतियोंका परस्पर विरोधके निरासके लिए है। इससे श्रुति, शास्त्र और अध्यायकी सङ्गति सिद्ध हुई यहाँ आकाशकी उत्पत्तिश्रुति और अनुत्पत्ति श्रुतियोंका परस्पर विरोध है या नहीं, ऐसा वाक्यभेद और एकवाक्यतासे सन्देह होनेपर, यदि उत्पत्ति हो, तो वाक्यभेदसे विरोधके कारण ये दो श्रुतियाँ अप्रमाण हैं, ऐसा पूर्वपक्ष करनेवाला प्रथम अनुत्पत्तिपक्षका ग्रहण एकदेशी करता है—"तत्र तावत्" इत्यादिसे । उत्पत्तिश्रुति मुख्य नहीं है यह गूढ़ अभिप्राय है ॥ १ ॥

अस्ति तु ॥ २ ॥

पदच्छेद—अस्ति, तु ।

पदार्थोक्ति—तु—पक्षान्तरपरिग्रहार्थम्, अस्ति—छान्दोग्ये आकाशोत्पत्तिश्रुत्यभावेऽपि सा श्रुतिस्तैत्तरीयके विद्यते [अतो विरोधस्तदवस्थः] ।

भाषार्थ—छान्दोग्यमें आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके न होनेपर भी तैत्तरीयक उपनिषद्में वह श्रुति है, इसलिए विरोध ज्यों का त्यों है ।

भाष्य

तुशब्दः पक्षान्तपरिग्रहे । मा नामाऽऽकाशस्य छान्दोग्ये भूदुत्पत्तिः, श्रुत्यन्तरे त्वस्ति । तैत्तिरीयका हि समामनन्ति—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति प्रकृत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति । ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधः—क्वचित्तेजःप्रमुखा सृष्टिः, क्वचिदाकाशप्रमुखेति । नन्वेकवाक्यताऽनयोः श्रुत्योर्युक्ता; सत्यम्, सा युक्ता, न तु सा अवगन्तुं

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द अन्य पक्ष-ग्रहण करनेके अर्थमें है । आकाशकी उत्पत्ति छान्दोग्यमें न हो, परन्तु अन्य श्रुतिमें है । तैत्तिरीयक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है) ऐसा उपक्रम करके 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' (उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) ऐसा श्रुतिमें प्रतिपादन करते हैं । इसलिए कहीं तेजःप्रमुख सृष्टि है और कहीं आकाशप्रमुख सृष्टि है ऐसा दो श्रुतियोंमें विरोध है । यद्यपि इन दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यता युक्त है,

---

रत्नप्रभा

सम्प्रति पूर्वपक्षयति सूत्रकारः—**अस्ति त्विति** । एकवाक्यत्वेन प्रामाण्यसम्भवे किमिति श्रुत्योः अप्रामाण्यम् इति शङ्कते—**नन्वेकवाक्यतेति** । एकवाक्यत्वासम्भवाद् अप्रामाण्यं युक्तमित्याह—**सत्यमित्यादिना** । एकस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस समय उत्पत्तिश्रुति मुख्य नहीं है, ऐसा गुप्ताभिप्रायी सूत्रकार पूर्वपक्ष करते हैं—"अस्ति तु" इत्यादिसे । एकवाक्यतासे प्रामाण्य हो सकता है, तो अप्रामाण्य कैसा ? ऐसी शङ्का करता है—"नन्वेकवाक्यता" इत्यादिसे । एक वाक्यताका सम्भव न होनेसे अप्रामाण्य युक्त है, ऐसा कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे । एकका एकही समय दो कार्योंके साथ असम्बन्ध

भाष्य

शक्यते। कुतः ? 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयेन संबन्धानुपपत्तेः 'तत्तेजोऽसृजत' 'तदाकाशमसृजत' इति। ननु सकृच्छ्रुतस्याऽपि कर्तुः कर्तव्यद्वयेन संबन्धो दृश्यते—यथा सूपं पक्त्वा ओदनं पचतीति, एवं तदाकाशं सृष्ट्वा तत्तेजोऽसृजतेति योजयिष्यामि। नैवं युज्यते, प्रथमजत्वं हि छान्दोग्ये तेजसोऽवगम्यते तैत्तिरीयके चाऽऽकाशस्य, न चोभयोः प्रथमजत्वं संभवति। एतेन इतरश्रुत्यक्षरविरोधोऽपि

भाष्यका अनुवाद

सत्य युक्त है, किन्तु वह समझी नहीं जा सकती, किससे ? तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार एकबार श्रुतिसे प्रतिपादित कर्ताका—'तत्तेजोऽसृजत' 'तदाकाशमसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया, उसने आकाश उत्पन्न किया) इस प्रकार दो कर्तव्योंके साथ सम्बन्ध नहीं होगा। एकबार श्रुत कर्ताका भी दो कर्तव्योंके साथ संबन्ध देखा जाता है, जैसे 'सूपं पक्त्वा ओदनं पचति' (दाल पका कर चावल पकाता है) इत्यादिमें, इसी प्रकार उसने आकाश उत्पन्न करके तेज उत्पन्न किया ऐसी योजना करूँगा। ऐसा युक्त नहीं है, क्योंकि छान्दोग्यमें तेजकी प्रथम उत्पत्ति समझी जाती है और तैत्तिरीयकमें आकाशकी, और दोनोंकी

रत्नप्रभा

युगपत् कार्यद्वयासम्बन्धेऽपि क्रमेण सम्बन्धसम्भवाद् एकवाक्यता इति मुख्यसिद्धान्ती शङ्कते—ननु सकृदिति। अप्रामाण्यवादी दूषयति—नैवमिति। क्रमः न युज्यते, द्वयोः श्रुतप्राथम्यभङ्गापत्तेः इत्यर्थः। एकस्माद् द्विदलबीजाद् दलद्वयवद् अस्तूभयं प्रथमजम् इत्यत आह—न चेति। 'वायोः अग्निः' इति क्रमश्रुतिभङ्गाद् इति शेषः। छान्दोग्यश्रुतेस्तित्तिरिश्रुतिविरुद्धार्थत्वम् उक्त्वा तित्तिरिश्रुतेस्तद्विरुद्धार्थत्वम् आह—एतेनेति। एतत्पदार्थम् आह—तस्मादिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, तो भी क्रमसे सम्बन्धके सम्भव होनेसे एकवाक्यता है, ऐसी शङ्का मुख्यसिद्धान्ती करते हैं—"ननु सकृत्" इत्यादिसे। अप्रामाण्यवादी दोष देता है—"नैवम्" इत्यादिसे। क्रम युक्त नहीं है, क्योंकि आकाश और तेज दोनों प्रथम उत्पन्न हुए हैं, ऐसी जो दोनोंकी प्रथमता श्रुतिमें वर्णित है उसका भङ्ग होता है, ऐसा अर्थ है। जैसे एक द्विदल बीजमेंसे दो दल उत्पन्न होते हैं, वैसे आकाश और तेज दोनों प्रथम उत्पन्न हैं, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। 'वायोरग्निः'– (वायुसे अग्नि) ऐसी क्रमश्रुतिका भंग होता है इतना शेष है। छान्दोग्यश्रुतिका तैत्तिरीयश्रुतिके साथ विरुद्ध अर्थ कहकर तैत्तिरीयश्रुतिका उसके साथ विरुद्ध अर्थ कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। 'एतत्' शब्दका अर्थ स्फुट करते हैं—

भाष्य

व्याख्यातः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यत्रापि 'तस्मादाकाशः संभूतः, 'तस्मात्तेजः संभूतम्' इति सकृच्छ्रुतस्याऽपादानस्य संभवनस्य च वियत्तेजोभ्यां युगपत्संबन्धाऽनुपपत्तेः। 'वायोरग्निः' (तै० २।१) इति च पृथगाम्नानात् ॥ २ ॥

अस्मिन् विप्रतिषेधे कश्चिदाह—

भाष्यका अनुवाद

प्रथम उत्पत्तिका असम्भव है, अतः दूसरी श्रुतिके साथ विरोध भी व्याख्यात हुआ। 'तस्माद्वा एतस्माद्वात्मन आकाशः सम्भूतः' (उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इसमें भी 'उससे आकाश उत्पन्न हुआ,' 'उससे तेज उत्पन्न हुआ' इस प्रकार एकबार श्रुत अपादान और सम्भवका आकाश और तेजके साथ एक ही समय सम्बन्ध युक्त नहीं है। और 'वायो०' 'वायुसे अग्नि उत्पन्न होती है' ऐसी दूसरी श्रुति भी है ॥२॥

इस प्रकार विरोध होनेपर कोई कहता है—

रत्नप्रभा

छान्दोग्येऽपि श्रुतं तेजसः प्राथम्यम्, अत्र दुर्योज्यम् इत्यर्थः। किञ्च, सत्पदार्थः आत्मा छान्दोग्ये तेजस उपादानं श्रूयते, अत्र तु वायुः इति नैकवाक्यतेत्याह—वायोरिति ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तस्मात्" इत्यादि। छान्दोग्यमें भी तेजकी उत्पत्ति प्रतिपादित है, वह यहां दुर्योज्य है, ऐसा अर्थ है। सत्पदार्थ आत्मा तेजके उपादानरूपसे छान्दोग्यमें निर्दिष्ट है और तैत्तिरीयमें तो सच्छब्दवाच्य जो आत्मा है, उससे अन्य जो वायु है वह तेजके उपादानरूपसे प्रतिपादित है, इसलिए एक वाक्यता नहीं है ऐसा कहते हैं—"वायोः" इत्यादिसे ॥ २ ॥

गौण्यसंभवात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—गौणी, असम्भवात्।

पदार्थोक्ति—गौणी—आकाशोत्पत्तिश्रुतिः गौणी, [न तु मुख्या कुतः] असंभवात्—आकाशोत्पत्तौ समवायिकारणादिसामग्र्यभावाद् विभुत्वेन नित्यत्वानुमानाच्चाऽऽकाशोत्पत्तेरसंभवात्।

भावार्थ—आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति गौणी है, मुख्या नहीं है, क्योंकि आकाशकी उत्पत्तिमें समवायिकारण आदि सामग्रीका अभाव है, व्यापक होनेसे आकाशकी नित्यताका अनुमान होता है, अतः आकाशकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

भाष्य

नास्ति वियत उत्पत्तिः, अश्रुतेरेव । या त्वितरा वियदुत्पत्तिवादिनी श्रुतिरुदाहृता, सा गौणी भवितुमर्हति; कस्मात् ? असंभवात् । नह्याकाशस्योत्पत्तिः संभावयितुं शक्या, श्रीमत्कणभुगभिप्रायानुसारिषु जीवत्सु । ते हि कारणसामग्र्यसंभवादाकाशस्योत्पत्तिं वारयन्ति । समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि किल सर्वमुत्पद्यमानं समुत्पद्यते । द्रव्यस्य चैकजातीयकमनेकं च द्रव्यं समवायिकारणं भवति । न चाऽऽकाशस्यैक-

भाष्यका अनुवाद

आकाशकी उत्पत्ति नहीं है, अश्रुतिसे ही। जो आकाशकी उत्पत्तिको कहनेवाली अन्य श्रुति कही गई है, वह गौणी है, क्योंकि असम्भव है । आकाशकी उत्पत्तिकी श्रीमान् कणादके अभिप्रायका अनुसरण करनेवालोंके रहते हुए सम्भावना नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे कारण-सामग्रीके असम्भवसे आकाशोत्पत्तिका निषेध करते हैं। सम्पूर्ण उत्पद्यमान कार्य समवायी, असमवायी, और निमित्तकारणोंसे उत्पन्न होता है, और एक जातिके अनेकद्रव्य द्रव्यके प्रति समवायिकारण होते हैं,

---

रत्नप्रभा

एवं श्रुत्योर्विरोधाद् अप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते स एव वियदनुत्पत्तिवादी स्वमतेन प्रामाण्यं ब्रूते इत्याह—अस्मिन्निति । गौण्यसम्भवादिति । एवमाध्यायसमाप्तेः अधिकरणेषु प्रथमं विरोधात् श्रुत्यप्रामाण्यम् इति पूर्वपक्षफलम्, तत एकदेशिसिद्धान्तः, पश्चान्मुख्यसिद्धान्ते श्रुतीनाम् अविरोधेन एकवाक्यतया ब्रह्मणि समन्वयसिद्धिः इति फलम् क्रमश्चेति अवगन्तव्यम् । तत्र श्रुत्योः विरोधे सति अध्ययनविध्युपात्तयोः अप्रामाण्यायोगाद् वियदुत्पत्त्यसम्भवरूपतर्कानुगृहीतच्छान्दोग्यश्रुतिः मुख्यार्था, इतरा गौणीति अविरोध इत्येक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार दो श्रुतियोंके विरोधसे अप्रामाण्य है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर वही आकाशको नित्य कहनेवाला अपने मतसे प्रामाण्य कहता है, ऐसा कहते हैं—"अस्मिन्" इत्यादिसे। इस प्रकार अध्यायके समाप्तिपर्यन्त अधिकरणोंमें प्रथम विरोधसे श्रुतिका अप्रामाण्य, यह पूर्वपक्षका फल है, पीछे एकदेशीका सिद्धान्त है । और पीछे मुख्य सिद्धान्तके साथ श्रुतियोंका अविरोध होनेपर एक वाक्यता होनेसे ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध होता है, ऐसा फल और क्रम है। उसमें दो श्रुतियोंका विरोध होनेपर अध्ययन विधिसे गृहीत श्रुतियाँ अप्रमाण हो यह अयुक्त होनेसे आकाशकी उत्पत्ति असंभव है, इस तर्कसे अनुगृहीत छान्दोग्य श्रुतिको मुख्यार्थ मानना और दूसरीको गौणी मानना ऐसे अविरोध होगा, इस

भाष्य

जातीयकमनेकं च द्रव्यमारम्भकमस्ति, यस्मिन् समवायिकारणे सति, असवायिकारणे च तत्संयोगे, आकाश उत्पद्येत। तदभावात्तु तदनुग्रह-प्रवृत्तं निमित्तकारणं दूरापेतमेवाऽऽकाशस्य भवति। उत्पत्तिमतां च तेजःप्रभृतीनां पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभाव्यते—प्रागुत्पत्तेः प्रकाशादि-कार्यं न बभूव, पश्चाच्च भवतीति। आकाशस्य पुनर्न पूर्वोत्तरकालयो-र्विशेषः संभावयितुं शक्यते। किं हि प्रागुत्पत्तेरनवकाशमसुषिरमच्छिद्रं

भाष्यका अनुवाद

परन्तु आकाशके आरम्भक एक जातिके अनेकद्रव्य नहीं हैं, जिससे समवायी कारणके होनेपर और उनके संयोग–असमवायिकारणके होनेपर आकाश उत्पन्न हो। उन कारणोंके अभावसे उनके अनुग्रहके लिए प्रवृत्त निमित्त कारणकी तो कथा ही क्या है। 'तेजकी उत्पत्तिके पूर्व प्रकाशादिकार्य नहीं थे, उत्पत्तिके पश्चात् हुए, ऐसा विशेष—उत्पत्तिमान् तेज प्रभृतिमें पूर्वोत्तर कालमें देखा जाता है, वैसे आकाशोत्पत्तिके पूर्वोत्तर कालमें विशेषकी संभावना नहीं की जा सकती। किन्तु उत्पत्तिके पूर्वमें आकाश अनवकाश, असुषिर, अच्छिद्र

रत्नप्रभा

देशिमतं विवृणोति—**नास्तीत्यादिना**। आकाशः नोत्पद्यते, सामग्रीशून्यत्वात्, आत्मवत्। न चाऽविद्याब्रह्मणोः सत्त्वाद् हेत्वसिद्धिः, विजातीयत्वेनाऽनयोरारम्भकत्वा-योगादसंयुक्तत्वाच्च, संयोग एव हि द्रव्यस्याऽसमवायिकारणम्, अतः समवाय्य-समवायिनोरभावान्न हेत्वसिद्धिरित्यर्थः। प्रागभावशून्यत्वाच्चाऽऽत्मवदाकाशो नोत्पद्यते इत्याह—**उत्पत्तिमतां चेति**। प्रकाशः—चाक्षुषानुभवः, आदिपदात् तमोध्वंस-पाकयोर्ग्रहणम्। मूर्तद्रव्याश्रयत्वं ह्याकाशस्य कार्यम्, तच्च प्रलयेऽप्यस्ति पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकारसे एकदेशीके मतका विवरण करते हैं—"नास्ति" इत्यादिसे। आकाश उत्पन्न नहीं होता, सामग्रीशून्य होनेसे, आत्माके समान, ऐसा अनुमान प्रयोग है। अविद्या और ब्रह्म हेतु हैं इससे इस प्रयोगमें हेतु असिद्ध है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि विजातीय और असंयुक्त हैं। इससे ये दोनों आरम्भक नहीं हो सकते हैं, और संयोग ही द्रव्यका असमवायी कारण होता है, अतः समवायी और असमवायीके अन्यभावसे हेतु असिद्ध नहीं है, ऐसा अर्थ है। प्रागभाव न होनेसे आत्माके समान आकाश नहीं उत्पन्न होता, ऐसा कहते हैं—"उत्पत्तिमतां च" इत्यादिसे। प्रकाश—चाक्षुषज्ञान, आदि पदसे तमोध्वंस और पाकका ग्रहण है मूर्त द्रव्यका आश्रयत्व आकाशका कार्य है, वह प्रलयमें भी है, क्योंकि परमाणुका आश्रय होनेसे, अतः प्रागभाव

भाष्य

बभूवेति शक्यतेऽध्यवसातुम् ? । पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च विभुत्वादि-लक्षणादाकाशस्य अजत्वसिद्धिः । तस्माद्यथा लोके—आकाशं कुरु, आकाशो जात इत्येवंजातीयको गौणः प्रयोगो भवति, यथा च घटाकाशः, करकाकाशः, गृहाकाश इत्येकस्याप्याकाशस्यैवंजातीयको भेदव्यपदेशो गौणो भवति, वेदेऽपि 'आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्' इति, एवमुत्पत्तिश्रुतिरपि गौणी द्रष्टव्या ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

था इत्यादि अध्यवसित होता है । और पृथिवी आदिके साथ विभुत्व आदि लक्षण वैधर्म्य होनेसे, आकाश जन्मरहित है, ऐसा सिद्ध होता है । इसलिए जैसे लोकमें—आकाश करो, आकाश हुआ इस प्रकारका गौण प्रयोग होता है, और जैसे घटाकाश, करकाकाश, गृहाकाश इस प्रकार एक आकाशका भेद-व्यपदेश गौण होता है और वेदमें भी अरण्यवासी पशुओंका आकाशमें आलभन करे' ऐसा (गौण व्यवहार) होता है, इसी प्रकार उत्पत्तिश्रुति भी गौणी है ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

माण्वाश्रयत्वात् अतो न प्रागभाव इत्यर्थः । प्रागभावासत्त्वं स्फुटयति—किं हीति । स्थूलाश्रयः—अवकाशः, सूक्ष्माश्रयः—छिद्रम्, अण्वाश्रयः सुषिरमिति भेदः । किञ्चाऽऽत्मवदाकाशो न जायते, विभुत्वाद् अस्पर्शद्रव्यत्वाच्चेत्याह—पृथिव्यादीति । तस्मादुक्ततर्कबलाद् गौणी द्रष्टव्येत्यन्वयः । भेदोक्तेर्गौणत्वे वैदिकोदाहरणमाह—वेदेऽप्यारण्यानिति । आकाशेष्विति भेदव्यपदेशो गौण इति सम्बन्धः ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, ऐसा अर्थ है । प्रागभाव नहीं है यह स्फुट करते हैं—"किं हि" इत्यादिसे । स्थूलका आश्रय—अवकाश, सूक्ष्म (द्रव्य) का आश्रय—छिद्र, अणुका आश्रय—सुषिर, ऐसा भेद है । और आत्माके समान आकाश उत्पन्न नहीं होता, विभु होनेसे और निरवयव होनेसे, ऐसा कहते हैं—"पृथिव्यादि" इत्यादिसे । इसलिए उक्त तर्कके बलसे आकाशकी उत्पत्ति गौण है ऐसा अन्वय है । भेदोक्ति गौण माननेमें वैदिक उदाहरण कहते हैं—"वेदेऽप्यारण्यान्" इत्यादिसे । 'आकाशेषु' इस प्रकार आकाशका भेदकथन गौण है ऐसा सम्बन्ध है ॥ ३ ॥

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

पदच्छेद—शब्दात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, शब्दात्—'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' इत्यादि-श्रुतौ आकाशेऽमृतशब्ददर्शनात् [नाऽऽकाशस्योत्पत्तिरित्यर्थः]

भाषार्थ—और 'वायुश्चा०' (वायु और आकाश ये अविनाशी हैं) इत्यादि श्रुतिमें आकाशमें अमृत शब्दका प्रयोग देखा जाता है, इससे प्रतीत होता है कि आकाशकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

भाष्य

शब्दः खल्वाकाशस्य अजत्वं ख्यापयति । यत आह—'वायुश्चा-न्तरिक्षं चैतदमृतम्' (बृ० २।३।३) इति; न ह्यमृतस्योत्पत्तिरुपपद्यते । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति चाऽऽकाशेन ब्रह्म सर्वगतत्वनित्य-त्वाभ्यां धर्माभ्यामुपमिमानः आकाशस्याऽपि तौ धर्मौ सूचयति । न च तादृशस्योत्पत्तिरुपपद्यते । 'स यथानन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा

भाष्यका अनुवाद

आकाश उत्पत्तिरहित है, ऐसा श्रुति कहती है। श्रुतिमें कहा है कि—"वायुश्चा०" (वायु और अन्तरिक्ष ये अमृत हैं) अमृतकी उत्पत्ति उपपन्न नहीं होती। "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" (आकाशके समान सर्वगत और नित्य है।) इसमें भी आकाशसे सर्वगतत्व और नित्यत्व धर्मसे, ब्रह्मको उपमा देती हुई श्रुति आकाशके भी वे धर्म हैं, ऐसा सूचित करती है । और नित्य एवं विभुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । "स यथाऽनन्तोऽयमाकाश०" (जैसे यह आकाश अनन्त है, वैसे आत्मा अनन्त जानना चाहिए) यह उदाहरण है, और "आकाशशरीरं"

रत्नप्रभा

न केवलं तर्कादाकाशस्यानुत्पत्तिः, किन्तु श्रुतितोऽपीत्याह सूत्रकारः—शब्दा-च्चेति । नित्यभावस्याऽनादित्वादिति भावः । आत्मेति च शब्द इहोदाहरण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

केवल तर्कसे आकाशकी अनुपपत्ति है, ऐसा नहीं है, श्रुतिसे भी-अनुपत्ति है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"शब्दाच्च" इत्यादिसे । क्योंकि नित्य अनादि होते हैं, ऐसा भाव है । 'आत्मा' यह शब्द यहाँ उदाहरण है ऐसा अन्वय है। 'आकाशशरीर'—आकाश है

भाष्य

वेदितव्यः' इति चोदाहरणम्, 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२), 'आकाश आत्मा' (तै० १।७।१) इति च। न ह्याकाशस्योत्पत्तिमत्त्वे ब्रह्मणस्तेन विशेषणं संभवति नीलेनेवोत्पलस्य। तस्मान्नित्यमेवाकाशेन साधारणं ब्रह्मेति गम्यते ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म आकाश शरीर है, और 'आकाश आत्मा' (आकाश आत्मा है) इत्यादि। जैसे नील उत्पलका विशेषण होता है, वैसे आकाश उत्पत्तिवाला हो, तो वह ब्रह्मका विशेषण नहीं हो सकेगा। इसलिए नित्य ही आकाशके तुल्य ब्रह्म है, ऐसा समझा जाता है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

मित्यन्वयः। आकाशः शरीरमस्येति बहुव्रीहिणाऽत्यन्तसाम्यभानाद् ब्रह्मवदाकाशस्याऽनादित्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरीर जिसका, ऐसे बहुव्रीहिसे ब्रह्म और आकाशमें अत्यन्त साम्यका भान होता है, इसलिए ब्रह्मके समान आकाश अनादि है, ऐसा अर्थ है ॥ ४ ॥



स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

पदच्छेद—स्यात्, च, एकस्य, ब्रह्मशब्दवत्।

पदार्थोक्ति—ब्रह्मशब्दवत—यथा एकस्मिन्नेव प्रकरणे विषयभेदात् 'अन्नं ब्रह्म' इत्यत्र ब्रह्मशब्दो गौणः 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यत्र मुख्यः [तथा प्रकृतेऽपि विषयभेदाद्] एकस्य-सम्भूतशब्दस्य गौणत्वं मुख्यत्वं च स्यात्।

भाषार्थ—जैसे एक ही प्रकरणमें विषयभेदसे 'अन्नं ब्रह्म' (अन्न ब्रह्म है) यहांपर ब्रह्मशब्द गौण है और 'आनन्दो ब्रह्म' (आनन्द ब्रह्म है) वहांपर मुख्य है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी विषयके भेदसे एकही सम्भूत शब्द गौण और मुख्य हो सकता है।

भाष्य

इदं पदोत्तरं सूत्रम्। स्यादेतत्—कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजः-प्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति। अत उत्तर-मुच्यते—स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद् गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत्। यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' (तै० ३।२) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोगः आनन्दे च मुख्यः। यथा च तपसि ब्रह्मविज्ञानसाधने ब्रह्मशब्दो भक्त्या प्रयुज्यते, अञ्जसा तु विज्ञेये ब्रह्मणि तद्वत्। कथं पुनरनुत्पत्तौ नभसः 'एकमेवा-

भाष्यका अनुवाद

यह सूत्र पदविषयक शंकाका उत्तरभूत है। 'तस्माद्वा०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस अधिकारमें अनुवर्त्तमान एक ही 'संभूत' शब्द अनन्तरोक्त तेज आदि पदार्थोंमें मुख्य अर्थमें और आकाशमें गौण अर्थमें किस प्रकार प्रयुक्त हो सकता है ? ऐसी शंका है। इसका उत्तर कहते हैं—'सम्भूत' शब्द यद्यपि एक है, तो भी विषयभेदके कारण ब्रह्मशब्दके समान उसका गौण और मुख्य प्रयोग होगा। जैसे एक ही ब्रह्मशब्दका 'तपसा ब्रह्म०' (तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर, तप ब्रह्म है) इस अधिकारमें अन्न आदिमें गौण प्रयोग है और आनन्दमें मुख्य प्रयोग है। और जैसे ब्रह्मविज्ञानके साधन तपमें ब्रह्मशब्द अभेदोपचारसे प्रयुक्त है, किन्तु साक्षात् तो विज्ञेय ब्रह्ममें प्रयुक्त है;

रत्नप्रभा

पदोत्तरमिति। शङ्कोत्तरमिति यावत्। तान्येव शङ्कापदानि पठति—**स्यादेतदिति**। अधिकारे—प्रकरणे। यथा एकस्मिन् ब्रह्मप्रकरणे "अन्नं ब्रह्म" (तै० ३।२।१) "आनन्दो ब्रह्म" (तै० ३।६।१) इति वाक्ययोः ब्रह्मशब्दस्य अन्ने गौणत्वमानन्दे मुख्यता, तथा एकवाक्यस्थस्य एकस्याऽपि सम्भूतशब्दस्य गुण-मुख्यार्थभेदो योग्यताबलाद् इत्याह—**स्याच्चेति**। उदाहरणान्तरमाह—**यथा चेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदविषयक शंकाका उत्तर यह सूत्र है, ऐसा तात्पर्य कहते हैं—"पदोत्तरम्" इत्यादिसे। उन शंकापदोंको ही पढ़ते है—"स्यादेतत्" इत्यादिसे। जैसे कि ब्रह्मप्रकरणमें 'अन्नं ब्रह्म' (अन्न ब्रह्म है) 'आनन्दो ब्रह्म' (आनन्द ब्रह्म है) इन वाक्योंमें ब्रह्मशब्द अन्नमें गौण है और आनन्दमें मुख्य है, वैसे ही एक वाक्यमें स्थित एक ही संभूत शब्दका अर्थ योग्यताके बलसे गौण और मुख्य इस प्रकार भिन्न है, ऐसा कहते हैं—"स्याच" इत्यादिसे। अन्य उदाहरण

भाष्य

द्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इतीयं प्रतिज्ञा समर्थ्यते। ननु नभसा द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्राप्नोति। कथं च ब्रह्मणि विदिते सर्वं विदितं स्यादिति। तदुच्यते—एकमेवेति तावत् स्वकार्यापेक्षयोपपद्यते। यथा लोके कश्चित् कुम्भकारकुले पूर्वेद्युर्मृद्दण्डचक्रादीनि चापलभ्याऽपरेद्युश्च नानाविधान्यमत्राणि प्रसारितान्युपलभ्य ब्रूयाद्—मृदेवैकाकिनी पूर्वेद्युरासीदिति। स च तयाऽवधारणया मृत्कार्यजातमेव पूर्वेद्युर्नासीदित्यभिप्रेयान्न दण्डचक्रादि, तद्वत् अद्वितीयश्रुतिरधिष्ठात्रन्तरं वारयति। यथा मृदोऽमत्रप्रकृतेः कुम्भकारोऽधिष्ठाता

भाष्यका अनुवाद

वैसे ही यहां भी समझना चाहिए। परन्तु 'आकाश उत्पन्न नहीं होता' इस पक्षमें 'एकमेवा०' (एक ही अद्वितीय) इस प्रतिज्ञाका किस प्रकार समर्थन होगा? क्योंकि आकाशरूप द्वितीयसे ब्रह्म सद्वितीय है, ऐसा प्राप्त होता है। और ब्रह्मके विदित होनेपर सब किस प्रकार विदित होगा? उसको कहते हैं—'एकमेव' (एक ही) ऐसा स्वकार्यकी अपेक्षासे उपपन्न होता है। जैसे लोकमें कुम्भकारके घरमें पहले दिन मृत्तिका, दण्ड, चक्र आदिको देखकर और दूसरे दिन नाना प्रकारके घटादि पात्रोंको फैले हुए देखकर कोई यह कहे कि पहले दिन केवल मृत्तिका ही थी। और वह उस निश्चयसे मृत्तिकाका कार्यसमूह ही पहले दिन नहीं था, ऐसा अपना अभिप्राय व्यक्त करेगा, परन्तु दण्ड, चक्र आदि न थे, ऐसा अभिप्राय व्यक्त नहीं करेगा, वैसे ही अद्वितीय श्रुति अन्य अधिष्ठाताका निषेध

रत्नप्रभा

अभेदोपचारः—भक्तिः। मुख्यसिद्धान्ती आक्षिपति—कथं पुनरिति। स एव आक्षेपद्वयं स्पष्टयति—नन्विति। अद्वितीयत्वश्रुतिबाधः, सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाबाधश्च इत्यर्थः। प्रथमाक्षेपं दृष्टान्तेन परिहरति—एकमेवेति। कार्यरूपद्वितीयशून्यत्वं प्रागवस्थायामवधारणश्रुत्यर्थ इत्यर्थः। कुले—गृहे। अमत्राणि—घटादीनि पात्राणि। एकमेव—इति अवधारणव्यावर्त्यं कार्यमिति व्याख्याय अद्वितीयपदव्यावर्त्यमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

देते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। अभेदका उपचार भक्ति है। मुख्य सिद्धान्ती आक्षेप करता है—"कथं पुनः" इत्यादिसे। वही सिद्धान्ती दोनों आक्षेपोंको स्पष्ट करता है—"ननु" इत्यादिसे। अद्वितीयत्व श्रुतिका और सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाका बाध होता है, ऐसा अर्थ है। प्रथम आक्षेपका दृष्टान्तसे परिहार करते हैं—"एकमेव" इत्यादिसे। पूर्वावस्थामें कार्यरूप द्वितीय वस्तुसे शून्य होना यही अवधारण श्रुतिका अर्थ है। कुल—घर, अमत्र—घट आदि पात्र। 'एकमेव' इसमें एकपदवाच्य अवधारणसे व्यावृत्तियोग्य कार्य है, ऐसी व्याख्या करके अद्वितीयपदसे व्यावर्त्त्य कहते

भाष्य

दृश्यते, नैवं ब्रह्मणा जगत्प्रकृतेरन्योऽधिष्ठाताऽस्तीति । न च नभसाऽपि द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्रसज्यते । लक्षणान्यत्वनिमित्तं हि नानात्वम्, न च प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मनभसोर्लक्षणान्यत्वमस्ति, क्षीरोदकयोरिव संसृष्टयोर्व्यापित्वामूर्त्तत्वादिधर्मसामान्यात् । सर्गकाले तु ब्रह्म जगदुत्पादयितुं यतते, स्तिमितमितरत्तिष्ठति, तेनान्यत्वमवसीयते । तथा च 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२) इत्यादिश्रुतिभ्योऽपि ब्रह्माकाशयोरभेदोपचारसिद्धिः । अत एव च ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः । अपि च सर्वं कार्यमुत्पद्यमानमाकाशेनाऽव्यतिरिक्तदेशकालमेवोत्पद्यते, ब्रह्मणा चाऽव्यतिरिक्तदेश-

भाष्यका अनुवाद

करती है । जैसे घटादि पात्रोंकी प्रकृति मृत्तिकाका कुम्भकार अधिष्ठाता दिखाई देता है, वैसे जगत्‌की प्रकृति ब्रह्मका अन्य अधिष्ठाता नहीं है । आकाशरूप द्वितीयसे ब्रह्म सद्वितीय है, ऐसा भी प्रसक्त नहीं होता है, क्योंकि भिन्न लक्षणसे नानात्व होता है, परन्तु उत्पत्तिके पूर्व ब्रह्म और आकाश भिन्न लक्षणवाले नहीं हैं किन्तु क्षीर और उदकके समान संसृष्टोंका व्यापित्व, अमूर्त्तत्व आदि धर्म समान है । परन्तु सृष्टिकालमें तो ब्रह्म जगत्‌को उत्पन्न करनेका यत्न करता है और दूसरा अर्थात् आकाश निश्चल रहता है, इससे भेद निश्चितरूपसे प्रतीत होता है । इसी प्रकार "आकाशशरीरं ब्रह्म" (ब्रह्म आकाशशरीर है) इत्यादि श्रुतियोंसे भी ब्रह्म और आकाशका अभेदोपचार सिद्ध होता है । इसीसे ब्रह्मविज्ञानसे सर्वविज्ञान सिद्ध होता है । और जन्मोन्मुख सब कार्य आकाशसे अव्यतिरिक्त देशकालमें ही उत्पन्न होते

रत्नप्रभा

अद्वितीयश्रुतिरिति । आकाशस्य द्वितीयत्वमङ्गीकृत्य अद्वितीयादिपदसंकोचः कृतः, तदपि नास्तीत्याह—न च नभसाऽपीति । धर्मसाम्ये ब्रह्मनभसोः कथं भेदः ? तत्राह—सर्गकाले त्विति । धर्मसाम्यादद्वितीयत्वोपचार इत्यर्थे श्रुतिमाह—तथा चाऽऽकाशेति । द्वितीयम् आक्षेपं परिहरति—अत एवेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"अद्वितीयश्रुतिः" इत्यादिसे । आकाशका द्वितीयत्व स्वीकार करके अद्वितीय आदि पदोंका संकोच किया है, वह भी नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च नभसाऽपि" इत्यादिसे । ब्रह्म और आकाशमें धर्मकी समानता है, तो दोनोंका भेद किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—"सर्गकाले तु" इत्यादिसे । धर्मकी समानताके कारण अद्वितीयत्वका उपचार है, उस अर्थमें श्रुति कहते

भाष्य

कालमेवाकाशं भवतीति, अतो ब्रह्मणा तत्कार्येण च विज्ञातेन सह विज्ञातमेवाऽऽकाशं भवति। यथा क्षीरपूर्णे घटे कतिचिदब्बिन्दवः प्रक्षिप्ताः सन्तः क्षीरग्रहणेनैव गृहीता भवन्ति, नहि क्षीरग्रहणादब्बिन्दुग्रहणं परिशिष्यते। एवं ब्रह्मणा तत्कार्यैश्चाऽव्यतिरिक्तदेशकालत्वाद् गृहीतमेव ब्रह्मग्रहणेन नभो भवति। तस्माद् भाक्तं नभसः सम्भवश्रवणमिति ॥ ५ ॥

एवं प्राप्त इदमाह—

भाष्यका अनुवाद

हैं और ब्रह्मसे अव्यतिरिक्त देशकालमें ही आकाश होता है। इससे ब्रह्म और उसके कार्यके विदित होनेपर आकाश विदित ही होता है। जैसे दूधसे भरे हुए घड़ेमें कितने ही जलबिन्दु डाले हों, तो वे दूधके ग्रहण करनेसे गृहीत होते ही हैं, क्योंकि दूध लेनेसे जलबिन्दुका ग्रहण बाकी नहीं रहता। इसी प्रकार ब्रह्म और उसके कार्योंके साथ आकाशका अभिन्न देशकाल होनेसे ब्रह्मके ग्रहणसे उसका ग्रहण होता ही है। इसलिए आकाशकी संभवश्रुति गौण है ॥ ५ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—

रत्नप्रभा

अभेदोपचारादेवेत्यर्थः। नभसो ब्रह्मतत्कार्याभ्याम् अभिन्नदेशकालत्वाच्च तज्ज्ञाने तज्ज्ञानमित्याह—अपि चेति ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"तथा चाऽऽकाशः" इत्यादिसे। दूसरे आक्षेपका परिहार करते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। इसीसे—अभेदोपचारसे ही। ब्रह्म और ब्रह्मकार्यसे आकाशके देशकाल अव्यतिरिक्त हैं, अतएव ब्रह्म और उसके कार्यका विज्ञान होनेसे आकाशका विज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥ ५ ॥

(१) आकाशके समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तिकारण नहीं हैं, एवं आकाशको नित्य कहनेवाली "वायुश्चान्तरिक्षञ्चामृतम्" इत्यादि श्रुतियां हैं, तथा पूर्वोक्त युक्तिसे एक-विज्ञानसे सर्व-विज्ञानकी उपपत्ति है, इसलिए आकाशकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति गौण है—उत्पत्ति-प्रतिपादकतया अभिप्रेत नहीं है, अतः वह श्रुति प्रमाण नहीं हो सकती। क्योंकि प्रमाण वही वाक्य हो सकता है, जो अज्ञात (अपूर्व) और अबाधित अर्थका बोधक हो, परन्तु गगनकी उत्पत्ति-श्रुति, अन्य श्रुत्यादिसे बाधित अर्थका बोधन करती है। यहांपर प्रसङ्गसे तीनों कारणोंका लक्षण कहते हैं—समवायिकारण अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्धसे कार्य्य उत्पन्न हो, जैसे घटके प्रति कपाल। समवायिकारण द्रव्य ही होता है। असमवायिकारण वह है—जो समवाय-सम्बन्धसे कार्यके अधिकरणमें या अपने समवायिकारणके अधिकरणमें सम्बद्ध होकर कारण हो,

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—प्रतिज्ञाहानिः, अव्यतिरेकात्, शब्देभ्यः ।

पदार्थोक्ति—अव्यतिरेकात्—औपनिषदाद् ब्रह्मणः सर्वस्य वस्तुजातस्य अभेदात्, प्रतिज्ञाहानिः—एकविज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया अहानिर्भवति [यदि आकाशस्योत्पत्तिर्न स्यात्, तर्हि सा प्रतिज्ञा हीयेत । अतस्तत्सिद्धये आकाश-स्योत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या] शब्देभ्यः—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादिशब्देभ्यः कार्यकारणाभेदपरेभ्यः [प्रतिज्ञासिद्धिरवगम्यते] ।

भाषार्थ—उपनिषदोंमें प्रतिपादित ब्रह्मसे सम्पूर्ण वस्तुओंका अभेद होनेसे एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी प्रतिज्ञाका बाध नहीं होता । यदि आकाशकी उत्पत्ति न मानी जाय, तो उक्त प्रतिज्ञा बाधित होगी । अतः उक्त प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए आकाशकी उत्पत्तिका स्वीकार करना चाहिए । और कार्य और कारणके अभेदका प्रतिपादन करनेवाली 'सदेव सोम्येदम०' (हे सोम्य ! सृष्टिके पूर्वमें यह केवल सद्रूप ही था), 'ऐतदात्म्यमिदम्०' (यह सब एतद्रूप ही है) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिज्ञाकी सिद्धि अवगत होती है ।

भाष्य

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इति, 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४।५।६)

भाष्यका अनुवाद

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं०' (जिससे अश्रुत श्रुत होता है, अमत मत होता है और अविज्ञात ज्ञात होता है) 'आत्मनि खल्वरे०' (आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान होनेपर यह सब विदित होता है), 'कस्मिन्नु

रत्नप्रभा

एवमाकाशस्य अनुत्पत्तौ सर्वश्रुतीनामविरोध इति एकदेशिसिद्धान्तः प्राप्तः, तं मुख्यसिद्धान्ती दूषयति—**प्रतिज्ञेति** । अहानिः—अबाधः । सामयजुराथर्वण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकारसे आकाशकी अनुत्पत्तिमें सब श्रुतियोंका अविरोध है, ऐसा एकदेशीका सिद्धान्त प्राप्त हुआ, उसको मुख्य सिद्धान्ती दूषित करता है—"प्रतिज्ञा" इत्यादिसे ।

उदाहरणार्थ—घटके प्रति कपालोंका संयोग अथवा घटके रूपके प्रति कपालका रूप है। असमवायिकारण गुण या कर्म ही हुआ करता है। इन दोनों कारणोंसे भिन्न कारण निमित्तकारण है, जैसे घटके प्रति दण्ड आदि ऐसा नैयायिक मानते हैं ।

भाष्य

इति, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इति, 'न काचन मद्बहिर्धा विद्यास्ति' इति चैवंरूपा प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञा विज्ञायते। तस्याः प्रतिज्ञाया एवमहानिरनुपरोधः स्यात्, यद्यव्यतिरेकः कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य विज्ञेयाद् ब्रह्मणः स्यात्। व्यतिरेके हि सत्येकविज्ञानेन सर्वं विज्ञायत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स चाऽव्यतिरेक एवमुपपद्यते—यदि कृत्स्नं वस्तुजातमेकस्माद् ब्रह्मण उत्पद्येत। शब्देभ्यश्च प्रकृतिविकाराव्यति-

भाष्यका अनुवाद

भगवो०' (हे भगवन्! किसका विज्ञान होनेपर यह सब विज्ञात होता है) और 'न काचन०' (मुझसे बाहर—भिन्न और कोई भी विद्या—वस्तु नहीं है) ऐसी प्रतिज्ञा प्रत्येक वेदान्तमें देखी जाती है। अगर सम्पूर्ण वस्तुसमूह विज्ञेय ब्रह्मसे अभिन्न हो, तो उस प्रतिज्ञाकी इस प्रकार अहानि—अबाध होगा, यदि व्यतिरिक्त हो, तो 'एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होता है' इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। वह अव्यतिरेक इस प्रकार उपपन्न होता है—यदि सम्पूर्ण वस्तुसमूह ब्रह्मसे उत्पन्न हो। और शब्दोंसे 'प्रकृति और विकार

रत्नप्रभा

शाखाभेदज्ञापनार्था इति शब्दाः। **न काचनेति**। आत्मभिन्नं ज्ञेयं नास्ति इत्यर्थः। ननु सर्वस्य ब्रह्माव्यतिरेकात् प्रतिज्ञाया अहानिरिति अस्तु, तथापि जीवादिवत् अनुत्पन्नस्याऽपि नभसो ब्रह्मणि कल्पितत्वेनाऽव्यतिरेकात् प्रतिज्ञासिद्धिः किं न स्यात्, किमुत्पत्त्या ? इत्यत आह—**शब्देभ्यश्चेति**। अव्यतिरेक एव न्यायः, तेन इत्यर्थः। अयं भावः—जीवस्य तावद् आत्मत्वात् ब्रह्माव्यतिरेकः, अज्ञानतत्सम्बन्धयोः कल्पितत्वेनाऽव्यतिरेकः, स्वतन्त्राज्ञानायोगात्। अज्ञानान्यजडद्रव्यस्य तु कार्यत्वेनैव अव्यतिरेकसिद्धिः; तस्याऽकार्यत्वे प्रधानवत् स्वातन्त्र्याद् अव्यतिरेकायोगात्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अहानि—बाधका अभाव। साम, यजु, और आथर्वण शाखाओंका भेद जनानेके लिए (प्रत्येक श्रुतिवाक्यके अन्तमें) इति शब्द है। "न काचन" इत्यादि। आत्मासे भिन्न ज्ञेय नहीं है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि सबके ब्रह्मसे अभिन्न होनेसे प्रतिज्ञाकी अहानि रहे, परन्तु जीवके समान अनुत्पन्न भी आकाशको ब्रह्ममें कल्पित मान कर अव्यतिरेक होनेसे प्रतिज्ञाकी सिद्धि क्यों न होगी, उत्पत्तिका क्या प्रयोजन है ? इसपर कहते है—"शब्देभ्यश्च" इत्यादिसे। अव्यतिरेक ही न्याय है उससे, ऐसा अर्थ है। भाव यह है कि—जीव तो आत्मा होनेसे ब्रह्मसे अभिन्न है, अज्ञान और उसका सम्बन्ध कल्पितरूपसे अभिन्न हैं, क्योंकि स्वतन्त्र अज्ञान अयुक्त है। और अज्ञानसे अन्य जड द्रव्यका तो कार्यत्वरूप हेतुसे ही ब्रह्मसे अव्यतिरेक सिद्ध

भाष्य

रेकन्यायेनैव प्रतिज्ञासिद्धिरवगम्यते। तथा हि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इति प्रतिज्ञाय मृदादिदृष्टान्तैः कार्यकारणाभेदप्रतिपादनपरैः प्रतिज्ञैषा समर्थ्यते, तत्साधनायैव चोत्तरे शब्दाः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१), 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' (छा०६।२।३) इति, एवं कार्यजातं ब्रह्मणः प्रदर्श्याऽव्यतिरेकं प्रदर्शयन्ति—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) इत्यारभ्याऽऽप्रपाठकपरिसमाप्तेः, तद्यद्याकाशं न ब्रह्मकार्यं स्यान्न ब्रह्मणि विज्ञाते आकाशं विज्ञायेत, ततश्च प्रतिज्ञाहानिः स्यात्। न च प्रतिज्ञाहान्या वेदस्याऽप्रामाण्यं युक्तं कर्तुम्। तथा हि—प्रतिवेदान्तं ते ते शब्दास्तेन तेन दृष्टान्तेन तामेव प्रतिज्ञां ज्ञापयन्ति—

भाष्यका अनुवाद

अव्यतिरिक्त ही हैं' इस न्यायसे ही प्रतिज्ञाकी सिद्धि समझी जाती है, क्योंकि 'येनाश्रुतम्०' (जिससे अश्रुत श्रुत होता है) ऐसी प्रतिज्ञा करके कार्य और कारणके अभेदका प्रतिपादन करनेवाले मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंसे इस प्रतिज्ञाका समर्थन किया जाता है और उसे सिद्ध करनेके लिए ही उत्तर शब्द—'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य! पूर्वमें यह सत्मात्र था एक ही अद्वितीय), 'तदैक्षत' (उसने विचार किया), 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार ब्रह्मसे कार्यसमूहकी उत्पत्ति दिखलाकर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (यह सब आत्मरूप है) ऐसा आरम्भ करके प्रपाठककी समाप्ति तक अव्यतिरेक दिखलाते हैं। इसलिए यदि आकाश ब्रह्मका कार्य न हो, तो ब्रह्मके ज्ञात होनेपर आकाशका विज्ञान नहीं होगा और उससे प्रतिज्ञाकी हानि होगी। प्रतिज्ञाकी हानिसे वेदका अप्रामाण्य करना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वेदान्त-

रत्नप्रभा

तथाऽऽहुर्न्यायविदः—"नित्यद्रव्याणि स्वतन्त्राणि भिन्नान्यनाश्रितानि" इति। तस्मात् प्रतिज्ञासिद्धये आकाशस्य कार्यत्वेनैव अव्यतिरेको वाच्य इति। दृष्टान्तसृष्टिसार्वात्म्यशब्दानाह—**तथा हीति**। **तेन तेन दृष्टान्तेनेति**। यजुषि दुन्दुभ्यादिदृष्टा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है, उसको अकार्य माननेपर प्रधानके समान स्वतन्त्र होनेसे अव्यतिरेक सिद्ध नहीं होगा। और न्यायवेत्ता कहते हैं कि—नित्य द्रव्य स्वतन्त्र और अनाश्रित होते हैं। अतः प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए आकाशका कार्यत्वसे ही अव्यतिरेक कहना चाहिए। दृष्टान्त, सृष्टि और सर्वात्मताकी श्रुतियोंको कहते हैं—"तथा हि" इत्यादिसे। "तेन तेन दृष्टान्तेन" इत्यादि। यजुमें

भाष्य

'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११) इत्येवमादयः। तस्माज्ज्वलनादिवदेव गगनमप्युत्पद्यते। यदुक्तम्–अश्रुतेर्न वियदुत्पद्यत–इति, तदयुक्तम्, वियदुत्पत्तिविषयश्रुत्यन्तरस्य दर्शितत्वात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति। सत्यं दर्शितम्, विरुद्धं तु 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यनेन श्रुत्यन्तरेण, न, एकवाक्यत्वात् सर्वश्रुतीनाम्। भवत्वेकवाक्यत्वमविरुद्धानाम्, इह तु विरोध उक्तः, सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसम्बन्धासंभवाद् द्वयोश्च प्रथमजत्वासंभवाद् विकल्पासंभवाच्चेति। नैष दोषः, तेजःसर्गस्य तैत्तिरी-

भाष्यका अनुवाद

में 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब दृश्य आत्मरूप है) 'ब्रह्मैवेदममृतम्०' (यह अमृत ब्रह्म ही सन्मुख है) ऐसे वे वे शब्द उस उस दृष्टान्तसे उसी प्रतिज्ञाका बोधन करते हैं। इसलिए अग्नि आदिके समान ही आकाश भी उत्पन्न होता है। आकाश उत्पन्न नहीं होता, अश्रुतिसे, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है। क्योंकि आकाशकी उत्पत्तिमें 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ)—इत्यादि अन्य श्रुति दिखाई गई है। ठीक है, दिखलाई गई है, परन्तु 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजको उत्पन्न किया) इस अन्य श्रुतिसे वह विरुद्ध है; ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सब श्रुतियोंकी एकवाक्यता है। भले ही अविरुद्ध वाक्योंकी एकवाक्यता हो, यहां तो विरोध कहा गया है, कारण कि एकबार सुने गये सृष्टिकर्ताका दो स्रष्टव्योंके साथ सम्बन्ध सम्भावित नहीं है, और दोनोंमें प्रथमजत्वका एवं विकल्पका असम्भव है।

रत्नप्रभा

न्तेन, आथर्वणे ऊर्णनाभ्यादिदृष्टान्तेन इत्यर्थः। यजुषि प्रतिज्ञासाधकाः 'इदं सर्वम्' इति शब्दाः, आथर्वणे 'ब्रह्मैवेदम्' इति शब्दाः, इति भावः। एवमाकाशोत्पत्तिकथनाद् एकदेशिमते दूषिते श्रुत्यप्रामाण्यवादी स्वोक्तं स्मारयति—**सत्यं दर्शितमिति**। मुख्यसिद्धान्ती आह—**न, एकेति**। "तत्तेजोऽसृजत" इति सकृच्छ्रुतस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

दुन्दुभि आदि दृष्टान्तोंसे, आथर्वणमें ऊर्णनाभि आदि दृष्टान्तोंसे, ऐसा अर्थ है। यजुमें प्रतिज्ञाके साधक 'इदं सर्वम्' ऐसे शब्द हैं, आथर्वणमें 'ब्रह्मैवेदम्' इत्यादि शब्द हैं ऐसा भाव है। इस प्रकार आकाशोत्पत्तिके कथनसे एकदेशीके मतके दूषित होनेपर श्रुतिको अप्रमाण कहनेवाला (पूर्वपक्षी) अपनी उक्तिका स्मरण कराता है—"सत्यं दर्शितम्" इत्यादिसे। मुख्यसिद्धान्ती कहते हैं—"न, एक" इत्यादिसे। 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने

भाष्य

यके तृतीयत्वश्रवणात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः' (तै० २।१) इति। अशक्या हीयं श्रुतिरन्यथा परिणेतुम्, शक्या तु परिणेतुं छान्दोग्यश्रुतिः 'तदाकाशं वायुं च सृष्ट्वा तत्तेजोऽसृजत' इति। नहीयं श्रुतिस्तेजोजनिप्रधाना सती श्रुत्यन्तरप्रसिद्धा-

भाष्यका अनुवाद

यह दोष नहीं है, क्योंकि तैत्तिरीयकमें—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु और वायुसे अग्नि) इस प्रकार तेजकी सृष्टि तीसरी सुनी गई है। यह श्रुति अन्यथा परिणत नहीं की जा सकती है। छान्दोग्य श्रुतिका तो 'तदाकाशम्०' (उसने आकाश और वायु को उत्पन्न करके तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार परिणाम किया जा सकता है। यह श्रुति तेजकी उत्पत्ति-

---

रत्नप्रभा

स्रष्टुः आकाशतेजोभ्यां युगपत् सम्बन्धे तित्तिरिक्रमबाधात्, क्रमेण आकाशं सृष्ट्वा तेजोऽसृजत इति सम्बन्धे तेजःप्राथम्यभङ्गप्रसङ्गाद् वस्तुनि विकल्पासम्भवेन तयोः शाखाभेदेन प्राथम्यव्यवस्थाया अयोगात् न एकवाक्यता इति प्राप्ते मुख्य एव दूषयति—नैष दोष इति। अप्रामाण्यकल्पनाद् वरम् अपौरुषेयश्रुतीनाम् एकवाक्यत्वेन प्रामाण्यकल्पनम्, तच्च एकवाक्यत्वं बलवच्छ्रुत्या दुर्बलश्रुतेः कल्प्यम्। बलवती च तित्तिरिश्रुतिः प्रकृतिपञ्चम्या पौर्वापर्याख्यक्रमस्य श्रुतत्वात्, छान्दोग्यश्रुतिस्तु दुर्बला तेजःप्राथम्यश्रुत्यभावात्, तेजःसर्गमात्रं तु श्रुतं तृतीयत्वेन परिणेयम् इति एकवाक्यता इत्यर्थः। यदुक्तम्—एकदेशिना छान्दोग्यश्रुत्या आकाशोत्पत्तिः वार्यते इति, तन्निरस्तम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

तेज उत्पन्न किया) ऐसे एकबार श्रुत स्रष्टाका आकाश और तेजके साथ एक समय सम्बन्ध करनेसे तित्तिरिके क्रमका बाध होता है, और क्रमसे 'आकाश उत्पन्न करके तेज उत्पन्न किया' ऐसा सम्बन्ध होनेपर तेजकी प्रथमताका भङ्ग होता है और वस्तुमें विकल्पका सम्भव न होनेसे उन दोनों [आकाश और तेज] की शाखाके भेदसे प्राथम्य-व्यवस्था अयुक्त है, अतः एकवाक्यता नहीं हो सकती, ऐसा प्राप्त होनेपर मुख्य सिद्धान्ती ही दूषण देता है—"नैष दोषः" इत्यादिसे। अपौरुषेय श्रुतियोंमें अप्रामाण्यकल्पनाकी अपेक्षा एकवाक्यता द्वारा प्रामाण्यकी कल्पना करनी ही श्रेष्ठ है, और बलवती श्रुतिके साथ दुर्बल श्रुतिकी एकवाक्यता करनी ठीक है, प्रकृतमें तित्तिरिश्रुति प्रबल है, क्योंकि प्रकृतिवाचक पञ्चमीसे पौर्वापर्य—क्रम श्रुतिप्रतिपादित है, छान्दोग्य श्रुति तो दुर्बल है, क्योंकि इसमें तेजकी प्रथमताका श्रवण नहीं है, केवल तेजकी सृष्टि सुनी गई है, अतः उसका—तेजकी सृष्टिका तृतीयत्वसे परिणाम करना चाहिए, इसलिए एकवाक्यता है, ऐसा अर्थ है। एकदेशीने जो यह कहा था कि छान्दोग्य

भाष्य

माकाशस्योत्पत्तिं वारयितुं शक्नोति, एकस्य वाक्यस्य व्यापारद्वयासंभवात्। स्रष्टा त्वेकोऽपि क्रमेणाऽनेकं स्रष्टव्यं सृजेत्, इत्येकवाक्यत्वकल्पनायां संभवन्त्यां न विरुद्धार्थत्वेन श्रुतिर्हातव्या। न चाऽस्माभिः सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः

भाष्यका अनुवाद

विषयक होकर अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध आकाशकी उत्पत्तिका निवारण करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि एक वाक्यमें दो व्यापारोंका सम्भव नहीं है। स्रष्टाके एक होनेपर भी वह क्रमसे अनेक स्रष्टव्यको उत्पन्न करे, इस प्रकार एकवाक्यताकी कल्पनाका सम्भव होनेपर विरुद्ध अर्थसे श्रुतिकी हानि नहीं करनी चाहिए।

रत्नप्रभा

किञ्च, सा श्रुतिः किं तेजोजन्मपरा, उत तेजोजन्म वियदनुत्पत्तिश्च इति उभयपरा। आद्ये न तद्वारणमित्याह—**नहीति**। अविरोधादित्यर्थः। न द्वितीयः, श्रुत्यन्तरविरोधेन उभयपरत्वकल्पनायोगाद् वाक्यभेदापत्तेश्च इत्याह—**एकस्येति**। ननु एकस्य स्रष्टुः अनेकार्थसम्बन्धवद् वाक्यस्यापि अनेकार्थता किं न स्यादित्यत आह—**स्रष्टा त्विति**। एकस्य कर्तुः अनेकार्थसम्बन्धो दृष्टः। न तु एकस्य वाक्यस्य नानार्थत्वं दृष्टम्, नानार्थकप्रयोगे तु 'पय आनय' इत्यादौ आवृत्त्या वाक्यभेद एव, आनयनस्य जलक्षीराभ्यां पृथक् सम्बन्धादित्यर्थः। फलितमाह—**इत्येकेति**। एकस्य शब्दस्याऽऽवृत्तिं विनाऽनेकार्थत्वं नास्ति चेत् 'असृजत' इति शब्दस्य छान्दोग्ये उपसंहृताकाशादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिसे आकाशोत्पत्तिका वारण होता है, वह निरस्त हुआ। और यह छान्दोग्यश्रुति क्या केवल तेजके जन्मका ही प्रतिपादन करती है या तेजका जन्म और आकाशकी अनुत्पत्ति इन दोनोंका प्रतिपादन करती है? प्रथम पक्षमें आकाशकी उत्पत्तिका वारण नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। अविरोधसे ऐसा अर्थ है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्य श्रुतिके साथ विरोध होनेसे एक वाक्य उभयार्थक नहीं हो सकता, यदि मान लिया जाय, तो वाक्यभेद होगा, ऐसा कहते हैं—"एकस्य" इत्यादिसे। जैसे एक स्रष्टाका अनेक अर्थोंके साथ सम्बन्ध होता है, वैसे एक वाक्य भी अनेक अर्थका प्रतिपादन क्यों न करे? इस शङ्काका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—"स्रष्टा तु" इत्यादिसे। एक कर्ताका अनेक अर्थोंके साथ सम्बन्ध दृष्ट है, परन्तु एक वाक्य नाना अर्थका प्रतिपादन करे यह देखनेमें नहीं आता, नानार्थकके प्रयोगमें तो 'पय आनय' (जल लाओ, दूध लाओ) इत्यादिमें आवृत्तिसे वाक्यभेद ही है, क्योंकि आनयनका जल और दूधके साथ पृथक् सम्बन्ध है ऐसा अर्थ है। फलित कहते हैं—"इत्येक" इत्यादिसे। एक शब्द आवृत्तिके बिना अनेक अर्थवाला नहीं होता है, ऐसा यदि नियम है, तो 'असृजत' इस शब्दका छान्दोग्यमें

भाष्य

स्रष्टव्यद्वयसम्बधोऽभिप्रेयते, श्रुत्यन्तरवशेन स्रष्टव्यान्तरोपसंग्रहात्। यथा च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छा० ३।१४।१) इत्यत्र साक्षादेव सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न प्रदेशान्तरविहितं तेजःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयति, एवं तेजसोऽपि ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न श्रुत्यन्तरविहितं नभःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयितुमर्हति। ननु शमविधानार्थमेतद् वाक्यम्—'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुतेः, नैतत् सृष्टिवाक्यम्, तस्मादेतन्न

भाष्यका अनुवाद

और एकबार श्रुत स्रष्टाका दो स्रष्टव्यके साथ सम्बन्ध हमको भी इष्ट नहीं है, क्योंकि अन्य श्रुतिसे अन्य स्रष्टाका संग्रह होता है। जैसे 'सर्वं खल्विदं०' (निश्चय यह सब ब्रह्म है, उससे उत्पन्न होता है, उसमें लीन होता है और उसमें चेष्टा करता है) इसमें निखिल वस्तुसमूहकी ब्रह्मसे उत्पत्ति साक्षात् ही श्रूयमाण है, वह अन्य प्रदेशमें कहे गये तेज आदिकी उत्पत्तिके क्रमका निवारण नहीं करती। इसी प्रकार तेजकी भी ब्रह्मसे जो उत्पत्ति श्रूयमाण है, वह अन्य श्रुतिमें कहे गये आकाशप्रमुख उत्पत्ति-क्रमका निवारण करनेमें समर्थ नहीं है। परन्तु यह वाक्य शमके विधानके लिए है, क्योंकि 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' (उससे उत्पन्न होते हैं, उसमें लीन होते हैं और उसमें

रत्नप्रभा

सम्बन्धार्थम् आवृत्तिदोषः स्यादित्यत आह—**न चेति**। छान्दोग्यस्थतेजोजन्म आकाशादिजन्मपूर्वकम्, तेजोजन्यत्वात्, तित्तिरिस्थतेजोजन्मवद्, इति आकाशादिजन्मोपसंहारे 'तदाकाशमसृजत' इति वाक्यान्तरस्यैव कल्पनात् न आवृत्तिदोष इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरस्थः क्रमः श्रुत्यन्तरे ग्राह्य इत्यत्र दृष्टान्तमाह—**यथा चेति**। सृष्टौ तात्पर्यातात्पर्याभ्यां दृष्टान्तश्रुतिवैषम्यं शङ्कते—**नन्वित्यादिना**। तेजःप्राथम्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपसंहृत आकाशके साथ सम्बन्ध करनेके लिए आवृत्ति दोष होगा, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। छान्दोग्यमें कथित तेजका जन्म आकाशादि जन्मपूर्वक है, तेजकी उत्पत्ति होनेसे, तित्तिरिमें कही गई तेजकी उत्पत्तिके समान, इस प्रकार आकाशकी उत्पत्तिके उपसंहारमें 'तदाकाशमसृजत' ऐसे अन्य वाक्यकी कल्पनासे आवृत्ति दोष नहीं है ऐसा अर्थ है। अन्य श्रुतिके क्रमका अन्य श्रुतिमें ग्रहण करना चाहिए इसमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। सृष्टिमें तात्पर्य और अतात्पर्य्यसे दृष्टान्तश्रुतिमें वैषम्यकी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे।

भाष्य

प्रदेशान्तरप्रसिद्धं क्रममनुरोद्धुमर्हतीति; 'तत्तेजोऽसृजत' इत्येतत् सृष्टिवाक्यम्, तस्मादत्र यथाश्रुति क्रमो ग्रहीतव्य इति। नेत्युच्यते—नहि तेजःप्राथम्यानुरोधेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो वियत्पदार्थः परित्यक्तव्यो भवति, पदार्थधर्मत्वात् क्रमस्य। अपि च 'तत्तेजोऽसृजत' इति नाऽत्र क्रमस्य वाचकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। अर्थात्तु क्रमो गम्यते, स च 'वायोरग्निः,

भाष्यका अनुवाद

चेष्टा करते हैं, अतः शान्त होकर उसकी उपासना करनी चाहिए) ऐसी श्रुति है, इसलिए यह सृष्टिवाक्य नहीं है, इससे अन्य प्रदेशमें प्रसिद्ध क्रमका विरोध नहीं कर सकता है। 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) यह सृष्टिवाक्य है, इसलिए इसमें श्रुतिके अनुसार क्रमका ग्रहण करना चाहिए। नहीं ऐसा कहते हैं, क्योंकि तेजकी प्रथमताके अनुरोधसे अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध आकाश पदार्थका परित्याग करना युक्त नहीं है, कारण कि क्रम पदार्थका धर्म है। और 'तत्तेजोऽसृजत' इस श्रुतिमें क्रमका वाचक कोई शब्द नहीं है, परन्तु अर्थसे

रत्नप्रभा

स्वीकारे आकाशसर्गो धर्मी तद्धर्मः प्राथम्यं चेति द्वयं श्रुतं बाधनीयमिति गौरवम्, आकाशप्राथम्ये तु आर्थिकतेजःसर्गप्राथम्यमात्रबाध इति लाघवमिति मत्वाऽऽह—नेत्युच्यते इति। किञ्च, प्रधानधर्मित्यागाद् वरं गुणभूतस्य तेजःप्राथम्यस्य धर्मस्य त्याग इत्याह—नहीति। किञ्च, किं सृष्टिपरश्रुतिसिद्धत्वात् तेजःप्राथम्यं गृह्यते, उत प्रथमस्थाने तेजसः सर्गश्रुत्याऽर्थात् प्राथम्यभानात्। न आद्यः इत्याह—अपि चेति। द्वितीयम् अनूद्य दूषयति—अर्थात्त्विति। यदुक्तम्—वस्तुनि विकल्पासम्भवाद् उभयोः प्राथम्यं शाखाभेदेन व्यवस्थितं न भवति, नाऽपि उभयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

तेजकी प्रथमताका स्वीकार करनेसे आकाशकी उत्पत्तिरूप धर्मी और उसका धर्म प्रथमता ये जो दोनों श्रुत हैं, उनका बाध होगा, ऐसा गौरव है, परन्तु आकाशकी प्रथमता स्वीकार करनेसे तेजकी उत्पत्तिकी प्रथमता जो केवल आर्थिक है, उसका बाध होता है, ऐसा लाघव है, ऐसा मानकर कहते हैं—"नेत्युच्यते" इत्यादिसे। और प्रधान धर्मीके त्यागसे गुणभूत तेजकी प्रथमतारूप धर्मका त्याग अधिक श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। और सृष्टिबोधक श्रुतिसे सिद्ध होनेके कारण तेजकी प्रथमताका ग्रहण करते हैं? अथवा प्रथम स्थानमें तेजकी उत्पत्तिश्रुतिसे प्रथमताका भान होनेसे अर्थात् तेजकी प्रथमताका स्वीकार करते हो? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षका अनुवाद करके दोष देते हैं—

भाष्य

इत्यनेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेन क्रमेण निवार्यते। विकल्पसमुच्चयौ तु वियत्तेजसोः प्रथमजत्वविषयावसंभवानभ्युपगमाभ्यां निवारितौ। तस्माद् नास्ति श्रुत्योर्विप्रतिषेधः। अपि च छान्दोग्ये 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्येतां प्रतिज्ञां वाक्योपक्रमे श्रुतां समर्थयितुमसमाम्नातमपि वियदुत्पत्ता-वुपसंख्यातव्यम्, किमङ्ग पुनस्तैत्तिरीयके समाम्नातं नभो न संगृह्यते। यच्चोक्तम्—आकाशस्य सर्वेणाऽनन्यदेशकालत्वाद् ब्रह्मणा तत्कार्यैश्च सह

भाष्यका अनुवाद

क्रम समझा जाता है और उसका 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि) इस अन्य श्रुतिके प्रसिद्ध क्रमसे निवारण होता है। आकाश और तेज प्रथम उत्पन्न हैं इसमें विकल्प और समुच्चय तो असम्भव और अस्वीकारसे निषिद्ध हैं, इसलिए दोनों श्रुतियोंमें विरोध नहीं है। और छान्दोग्यमें 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (जिससे अश्रुत श्रुत होता है) इस वाक्योपक्रममें श्रुत प्रतिज्ञाके समर्थनके लिए अश्रुत आकाशका उत्पत्तिप्रकरणमें उपसंख्यान करना चाहिए, तो तैत्तिरीयकमें श्रुत आकाशका संग्रह क्यों न हो? और जो ऐसा कहा है कि आकाशका देशकाल

रत्नप्रभा

द्विदलाङ्कुरवत् समुच्चित्योत्पत्त्या प्राथम्यम्, "वायोरग्निः" (तै० २ । १) इति क्रमबाधापातात् इति, तदिष्टमेव इत्याह—**विकल्पेति**। न केवलं श्रुतिद्वयोः अवि-रोधः सौहार्दञ्चाऽस्तीत्याह—**अपि चेति**। वियदुपसंग्राह्यम् इत्यन्वयः। वियद-नुत्पत्तिवादिना उक्तमनूद्य प्रतिज्ञाया अद्वितीयश्रुतेश्च मुख्यार्थतात्पर्यावगमाद् न गौणार्थता इति दूषयति—**यच्चोक्तमित्यादिना**। प्रकृतिविकारन्यायः—तदन-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अर्थात्तु" इत्यादिसे। सिद्ध वस्तुमें विकल्पका असम्भव होनेसे दोनों [तेज और आकाश] का प्राथम्य शाखाभेदसे व्यवस्थित नहीं होता है, इसी प्रकार द्विदल अंकुरके समान दोनोंकी समुच्चयसे उत्पत्तिका कारण उनमें प्रथमत्व युक्त नहीं है, क्योंकि "वायोरग्निः" (वायुसे अग्नि) इस क्रमके बाध होनेका प्रसङ्ग आता है, ऐसा जो कहा गया है, वह इष्ट ही है, ऐसा कहते हैं—"विकल्प" इत्यादिसे। श्रुतियोंका परस्पर अविरोध ही केवल नहीं है, प्रत्युत आनुकूल्य भी है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। आकाशका ग्रहण करना चाहिए ऐसा अन्वय है। आकाशकी अनुत्पत्तिको कहनेवाले वादीसे कथितका अनुवाद करके प्रतिज्ञा और अद्वितीय श्रुतिका मुख्यार्थमें तात्पर्य समझा जाता है, इसलिए गौणार्थ नहीं है, इस प्रकार दूषित करते हैं—

भाष्य

विदितमेव तद् भवति, अतो न प्रतिज्ञा हीयते। न च 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिकोपो भवति, क्षीरोदकवद् ब्रह्मनभसोरव्यतिरेकोपपत्तेः इति। अत्रोच्यते—न क्षीरोदकन्यायेनेदमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नेतव्यम्। मृदादिदृष्टान्तप्रणयनाद् हि प्रकृतिविकारन्यायेनैवेदं सर्वविज्ञानं नेतव्यमिति गम्यते। क्षीरोदकन्यायेन च सर्वविज्ञानं कल्प्यमानं न सम्यग्विज्ञानं स्यात्। नहि क्षीरज्ञानगृहीतस्योदकस्य सम्यग्विज्ञानगृहीतत्वमस्ति। न च वेदस्य पुरुषाणामिव मायालीकवञ्चनादिभिरर्थावधारणमुपपद्यते। सावधारणा चेयम् 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः क्षीरोदकन्यायेन नीयमाना पीड्येत। न च स्वकार्यापेक्षयेदं वस्त्वेकदेशविषयं सर्वविज्ञा-

भाष्यका अनुवाद

सबके साथ अनन्य होनेसे ब्रह्म और उसके कार्योंके साथ वह विदित ही होता है, इससे प्रतिज्ञाकी हानि नहीं होती है। और 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय) इस श्रुतिका बाध नहीं होगा, क्योंकि क्षीर और उदकके समान ब्रह्म और आकाशका अभेद उपपन्न होता है, ऐसा जो कहा है उसपर कहते हैं कि क्षीरोदकन्यायसे 'एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान' नहीं लेना चाहिए, क्योंकि मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंका निर्देश है, अतः प्रकृतिविकार-न्यायसे ही यह सर्वविज्ञान लेना चाहिए, ऐसा समझा जाता है। क्षीरोदक-न्यायसे सर्वविज्ञान माना जाय, तो वह यथार्थविज्ञान नहीं होगा, क्योंकि क्षीरज्ञानसे गृहीत उदकका सम्यक् विज्ञानसे ग्रहण नहीं है। और पुरुषोंके समान वेदका अर्थनिश्चय मायासे मिथ्या भाषण और उससे वञ्चना आदिसे उपपन्न नहीं होता। 'एकमेवाद्वितीयम्' यह सावधारण श्रुति क्षीरोदक-न्यायसे गौण हो, तो

रत्नप्रभा

न्यत्वन्यायः, उदकं क्षीरस्थमपि क्षीरज्ञानान्न गृह्यते, भेदादिति भावः। माऽस्तु सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्भ्रान्तिमूलत्वसम्भवात् इत्याशङ्क्य अपौरुषेयत्वाद् मैवमित्याह—न च वेदस्येति। माया—भ्रान्तिः तया अलीकम्—मिथ्याभाषणं तेन वञ्चनम्—अयथार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यथोक्तम्" इत्यादिसे। प्रकृतिविकारन्याय तदनन्यत्वन्याय है। क्षीरस्थ उदक क्षीर-ज्ञानसे गृहीत नहीं होता है, भेद होनेसे, ऐसा भाव है। श्रुतिसे सम्यक् ज्ञान न हो 'वह भ्रान्ति-मूल है, ऐसा सम्भव है, ऐसी आशङ्का करके श्रुति अपौरुषेय होनेसे भ्रान्तिमूलक नहीं है, यह कहते हैं—"न च वेदस्य" इत्यादिसे। भ्रान्तिरूप मायासे, मिथ्या भाषणसे वञ्चन अर्थात् अयथार्थ

भाष्य

नमेकमेवाऽद्वितीयत्वावधारणं चेति न्याय्यम्, मृदादिष्वपि हि तत्संभवात्—न तदपूर्ववदुपन्यसितव्यं भवति—'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।१) इत्यादिना। तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

यत् पुनरेतदुक्तम्—असंभवाद् गौणी गगनस्योत्पत्तिश्रुतिरिति, अत्र ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

वह अप्रमाण होगी। और सर्वविज्ञान और एक ही अद्वितीय है, ऐसा निश्चय स्वकार्यकी अपेक्षासे वस्त्वेकदेशविषयक है ऐसा कहना न्याय्य नहीं है, क्योंकि मृत्तिका आदिमें भी उसका सम्भव है—और 'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी०' (हे श्वेतकेतो ! तुम महामना अपनेको साङ्गवेदाध्यायी माननेवाले और स्तब्ध हो जिस आदेशसे अश्रुत श्रुत होता है, वह आदेश तुमने आचार्यसे पूछा है ?) इत्यादिसे उसका अपूर्ववत् उपन्यास योग्य नहीं है। इसलिए यह सर्वविज्ञान अशेषवस्तुविषयक ही है, अतः सब ब्रह्मके कार्य हैं, इस अपेक्षासे इसका उपन्यास है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ६ ॥

और ऐसा जो कहा गया है कि असम्भवके कारण आकाशकी उत्पत्तिश्रुति गौणी है, इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

बोधनम्। आदिपदात् विप्रलिप्साप्रमादकरणापाटवानि गृह्यन्ते। प्रतिज्ञामुख्यत्वम् अभिधाय अद्वितीयश्रुतिमुख्यतामाह—**सावधारणेति**। सर्वद्वैतनिषेधपरा इत्यर्थः। उभयगौणत्वेऽद्भुतवद् उपन्यासो मृदादिदृष्टान्तैः तत्साधनं च न स्यादिति दोषान्तरमाह—**न चेत्यादिना**। कार्यमेव वस्त्वेकदेशः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञापन। आदिपदसे विप्रलिप्सा, प्रमाद और करणोंके-इन्द्रियोंके अपाटवका ग्रहण करना चाहिए। प्रतिज्ञामें मुख्यत्वका प्रतिपादन करके अद्वितीय श्रुतिको मुख्य कहते हैं—"सावधारणा" इत्यादिसे। सम्पूर्ण द्वैतका निषेध करनेवाली है, ऐसा अर्थ है। दोनोंको गौण माननेमें अपूर्ववत् उपन्यास और मृदादिके दृष्टान्तसे उसका साधन नहीं होगा, ऐसा दोषान्तर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। कार्य ही वस्तुका एक देश है ॥ ६ ॥

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—यावद्विकारम्, तु, विभागः, लोकवत् ।

पदार्थोक्ति—यावद्विकारम्—विकारजातमभिव्याप्य, विभागः—विभक्तत्वम्, [दृश्यते] लोकवत्—घटादिवत्, [पृथिव्यादिभ्यो विभक्तत्वादाकाशस्य ब्रह्मकार्यत्वं निर्विवादम्] ।

भाषार्थ—जितने विकार हैं, वे सब घट, शराब आदिके समान विभक्त दिखाई देते हैं, अतः पृथिवी आदिसे विभक्त होनेसे आकाशके ब्रह्मजन्य होनेमें कोई विवाद नहीं है ।

भाष्य

तुशब्दोऽसम्भवाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । न खल्वाकाशोत्पत्तावसम्भवाशङ्का कर्तव्या, यतो यावत्किञ्चिद्विकारजातं दृश्यते—घटघटिकोदञ्चनादि वा, कटककेयूरकुण्डलादि वा, सूचीनाराचनिस्त्रिंशादि वा, तावानेव विभागो लोके लक्ष्यते, न त्वविकृतं किञ्चित् कुतश्चिद् विभक्तमुपलभ्यते । विभाग-

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द असम्भवकी आशङ्का दूर करनेके लिए है। आकाशकी उत्पत्तिमें असम्भवकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जितना घट, घटिका, उदञ्चन, आदि या कटक, केयूर, कुण्डल आदि, अथवा सूई, बाण, खड्ग आदि विकार-समूह देखा जाता है, वही लोकमें विभक्त देखनेमें आता है, और

रत्नप्रभा

यावद्विकारमिति । आकाशो न उत्पद्यते, सामग्रीशून्यत्वात्, इत्यत्र आकाशः विकारः, विभक्तत्वाद्, घटादिवत्, इति सत्प्रतिपक्षमाह—**यत् पुनरित्यादिना** । यो विभक्तः, स विकार इति अन्वयम् उक्त्वा यस्तु अविकारः, स न विभक्तः, यथा आत्मा इति व्यतिरेकव्याप्तिमाह—**न त्वविकृतमिति** । दिगा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यावद्विकारम्" इत्यादि । आकाश उत्पन्न नहीं होता है, सामग्रीशून्य होनेसे, इस अनुमानमें आकाश उत्पन्न होता है, विभक्त होनेसे, घटादिके समान, ऐसा सत्प्रतिपक्ष हो सकता है, उसको [सत्प्रतिपक्षको] कहते हैं—"यत् पुनः" इत्यादिसे । 'जो विभक्त है, वह विकार है, ऐसा अन्वय कहकर जो अविकार है, वह विभक्त नहीं है, जैसे आत्मा ऐसी व्यतिरेकव्याप्तिको कहते हैं—"न तु अविकृतम्" इत्यादिसे । दिशा आदिमें व्यभिचारकी

भाष्य

श्राऽऽकाशस्य पृथिव्यादिभ्योऽवगम्यते। तस्मात् सोऽपि विकारो भवितुमर्हति। एतेन दिक्कालमनःपरमाण्वादीनां कार्यत्वं व्याख्यातम्। नन्वात्माऽप्याकाशादिभ्यो विभक्त इति तस्याऽपि कार्यत्वं घटादिवत् प्राप्नोति। न, 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१) इति श्रुतेः। यदि ह्यात्मापि

भाष्यका अनुवाद

अविकृत किसीसे विभक्त उपलब्ध नहीं होता है। और आकाशका पृथिव्यादिसे विभाग देखा जाता है, अतः वह भी विकार–कार्य्य हो सकता है। इसीसे (विभक्तत्वसे) दिशा, काल, मन, परमाणु आदि कार्य हैं ऐसा व्याख्यान हुआ समझना चाहिए। आत्मा भी आकाश आदिसे विभक्त है, इससे घटादिके समान उसको भी कार्यत्व प्राप्त होता है। नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (आत्मासे आकाश

रत्नप्रभा

दिषु व्यभिचारम् आशङ्क्य पक्षसमत्वाद् मैवमित्याह—**एतेनेति**। विभक्तत्वेन इत्यर्थः। आत्मनि व्यभिचारं शङ्कते—**नन्विति**। धर्मिसमानसत्ताकविभागस्य हेतुत्वात् परमार्थात्मनि विभागस्य कल्पितत्वेन भिन्नसत्ताकत्वाद् न व्यभिचार इत्याह—**नेति**। अत्र चाऽज्ञानान्यद्रव्यत्वं विशेषणम्, अतो नाऽज्ञानतत्सम्बन्धादौ व्यभिचारः। ननु आत्मा कार्यम्, विभक्तत्वाद्, वस्तुत्वाद् वा घटवत्, इति आभासतुल्यम् इदमनुमानम्, इत्याशङ्क्य आत्मनः परमकारणत्वेन श्रुतस्य कार्यत्वे शून्यताप्रसङ्ग इति बाधकसत्त्वात् तस्याऽऽभासत्वम्, नाऽत्र किञ्चित् बाधकमस्ति, प्रत्युत आकाशस्य अकार्यत्वे नित्यानेकद्रव्यकल्पनाश्रौतप्रतिज्ञाहान्यादयो बाधकाः

रत्नप्रभाका अनुवाद

आशङ्का करके पक्षसम होनेसे ऐसा नहीं है, यह कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। विभक्तत्वसे ऐसा अर्थ है। आत्मामें व्यभिचारकी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। धर्मीके साथ समानसत्तावाले विभागके हेतु होनेसे परमार्थ आत्मामें विभागके कल्पित होनेके कारण भिन्नसत्ताक होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। इस हेतुमें 'अज्ञानाऽन्यद्रव्यत्वम्' (अज्ञानसे अन्य द्रव्य) ऐसा विशेषण देना चाहिए, इसलिए अज्ञानमें और उसके सम्बन्धमें व्यभिचार नहीं है। आत्मा कार्य है, विभक्त होनेसे या वस्तु होनेसे, घटके समान, इस प्रकार आभासके तुल्य यह अनुमान है, ऐसी आशङ्का करके परमकारणत्वेन श्रुतिमें प्रसिद्ध आत्माको कार्य माना जाय, तो शून्यता प्रसक्त होगी, इस प्रकार बाधक होनेसे उक्त अनुमान आभास है, और आकाशके अनुमानमें कोई बाधक नहीं है; प्रत्युत आकाशको अकार्य

भाष्य

विकारः स्यात् तस्मात् परमन्यन्न श्रुतमित्याकाशादि सर्वं कार्यं निरात्मकमात्मनः कार्यत्वे स्यात्। तथा च शून्यवादः प्रसज्येत। आत्मत्वाच्चाऽऽत्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः। नह्यात्माऽऽगन्तुकः कस्यचित्, स्वयंसिद्धत्वात्। नह्यात्माऽऽत्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति।

भाष्यका अनुवाद

उत्पन्न हुआ) ऐसी श्रुति है। यदि आत्मा विकार हो, तो उससे पर कुछ भी श्रुतिमें प्रतिपादित नहीं है, इसलिए आत्माके कार्य होनेपर आकाशादि सब कार्य निरात्मक हो जायँगे। और उससे शून्यवादका प्रसङ्ग आवेगा। सबकी आत्मा होनेसे आत्माके निराकरणकी शङ्का अनुपपन्न है। आत्मा किसी भी कारणका आगन्तुक—कार्य नहीं है, क्योंकि वह स्वयंसिद्ध

रत्नप्रभा

सन्ति इति नाऽऽभासतुल्यता इत्याह—**आत्मन इति**। इष्टप्रसङ्ग इति वदन्तं प्रत्याह—**आत्मत्वादिति**। आत्माभावः केनचित् ज्ञायते न वा? आद्ये यो ज्ञाता स परिशिष्यते इति न शून्यता, द्वितीयेऽपि न शून्यता, मानाभावाद् इत्यर्थः। किञ्च, यद् हि कार्यं सत्तास्फूर्त्योः अन्यापेक्षं तत् निराकार्यम्, आत्मा तु अकार्यम् निरपेक्षत्वात् न बाधयोग्य इत्याह—**नह्यात्मेत्यादिना**। कस्यचित् कारणस्य आगन्तुकः—कार्यम् नहि, सत्तास्फूर्त्योः सिद्धयोः अनन्यायत्तत्वाद् इति अक्षरार्थः। तत्र स्फूर्तेः अनन्यायत्तत्वं विवृणोति—**नहीति**। तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

'प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात् सिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते' ॥ १ ॥ इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

माननेमें नित्य अनेक द्रव्यकी कल्पना और श्रौतप्रतिज्ञाकी हानि इत्यादि अनेक बाधक हैं, अतः आभासकी तुल्यता नहीं है, ऐसा कहते हैं—"आत्मनः" इत्यादिसे। यह प्रसङ्ग इष्ट है, ऐसा कहनेवालेके प्रति कहते हैं—"आत्मत्वाद्" इत्यादिसे। आत्माका अभाव किसीसे जाना जाता है, या नहीं? प्रथम पक्षमें जो ज्ञाता है, वह अवशिष्ट रहता है, इससे शून्यवाद नहीं है, द्वितीय पक्षमें भी शून्यता नहीं है, प्रमाणके अभावसे, ऐसा अर्थ है। जो कार्य है उसको सत्ता और स्फूर्तिके लिए अन्यकी अपेक्षा है, और वह निराकरणयोग्य है, आत्मा तो अकार्य है और निरपेक्ष है, अतः बाधयोग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नह्यात्मा" इत्यादिसे। किसी कारणका आगन्तुक—कार्य (आत्मा) नहीं है, क्योंकि आत्मा अपनी सत्ता और स्फूर्तिकी सिद्धिमें अनन्यायत्त है, ऐसा अक्षरार्थ है। उसमें स्फूर्तिकी अन्यानपेक्षताको स्पष्ट करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। सुरेश्वराचार्यने कहा है—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति जिसके प्रसादसे सिद्ध होते हैं, उसकी

भाष्य

तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्धप्रमेयसिद्धये उपादीयन्ते। न-ह्याकाशादयः पदार्थाः प्रमाणनिरपेक्षाः स्वयंसिद्धाः केनचिदभ्युप-गम्यन्ते। आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादि-व्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं सम्भवति। आगन्तुकं

भाष्यका अनुवाद

है। अपनेमें प्रमाणकी अपेक्षा करके आत्मा सिद्ध नहीं होती है। उसके प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अप्रसिद्ध प्रमेयकी सिद्धिके लिए गृहीत होते हैं। क्योंकि 'आकाश आदि पदार्थ प्रमाणसे निरपेक्ष स्वयंसिद्ध हैं' ऐसा कोई स्वीकार नहीं करता है। आत्मा तो प्रमाण आदि व्यवहारका आश्रय होनेसे प्रमाण आदि व्यव-हारसे पहले ही सिद्ध है। और स्वयंसिद्ध आत्माका निराकरण नहीं हो सकता है।

रत्नप्रभा

तथा श्रुतिराह—"पुरुषः स्वयंज्योतिः" (बृ० ३।९) "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (क० ५।१५) इति च। ननु आत्मनः स्वतःसिद्धौ प्रमाणवैयर्थ्यम् तत्राऽऽह—**तस्येति**। ननु प्रमेयस्याऽपि स्वप्रकाशत्वं किं न स्यात्, इत्यत आह—**नहीति**। अतो न प्रमाणवैयर्थ्यमिति भावः। आत्माऽपि मानाधीन-सिद्धिकः किं न स्यात् इत्यत आह—**आत्मा त्विति**। अयमर्थः—निश्चितसत्ताकं हि ज्ञानं प्रमेयसत्तानिश्चायकम्, गेहे घटो दृष्टो न वेति ज्ञानसंशये न दृष्ट इति व्यतिरेकनिश्चये चाऽर्थस्वरूपानिश्चयात्। ज्ञानसत्तानिश्चयश्च न स्वतः, कार्यस्य स्वप्रकाशत्वायोगात्। नाऽपि ज्ञानान्तरात्, अनवस्थानात्। अतः साक्षिणैव ज्ञान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धिमें किसकी अपेक्षा है। श्रुति भी कहती है—'पुरुषः स्वयंज्योतिः' (पुरुष स्वयंप्रकाश है) 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है) यदि आत्मा स्वतःसिद्ध है, तो प्रमाण व्यर्थ हैं, उसपर कहते हैं—"तस्य" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि प्रमेय स्वयंप्रकाश क्यों नहीं है? इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। इसलिए प्रमाण व्यर्थ नहीं है, ऐसा भाव है। आत्मा भी प्रमाणसे सिद्ध क्यों न हो? इसपर कहते हैं—"आत्मा तु" इत्यादिसे। यह भाव है—निश्चित है सत्ता जिसकी ऐसा ज्ञान प्रमेयसत्ताका निश्चय कराता है, घरमें घट देखा या नहीं' इस प्रकारका संशय ज्ञान होनेपर और 'नहीं देखा' ऐसा अभाव-निश्चय होनेपर अर्थका स्वरूप निश्चित नहीं होता है। और ज्ञानकी सत्ताका निश्चय स्वयं नहीं होता, क्योंकि कार्य होनेसे वह स्वप्रकाश नहीं हो सकता। ज्ञानान्तरसे भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनवस्था होगी। इसलिए ज्ञानकी सत्ताका

भाष्य

हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम् । य एव हि निराकर्ता, तदेव तस्य स्वरूपम् । नह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते, तथाऽहमेवेदानीं जानामि वर्तमानं वस्तु, अहमेवाऽतीतमतीततरं चाऽज्ञासिषम्, अहमेवाऽनागतमनागततरं च ज्ञास्यामीत्यतीतानागतवर्तमानभावेनाऽन्यथाभवत्यपि

भाष्यका अनुवाद

आगन्तुक वस्तुका निराकरण हो सकता है, स्वरूपका निराकरण नहीं हो सकता । जो निराकरण कर्ता है, वही उसका स्वरूप है । अग्निकी उष्णताका निराकरण अग्निसे नहीं हो सकता । उसी प्रकार मैं ही इस समय वर्त्तमान वस्तुको जानता हूँ, मैंने ही भूत और उससे पूर्वकी वस्तुएँ जानी थीं, मैं ही भविष्यकी और उससे दूर भविष्यकी वस्तुओंको जानूँगा, इस प्रकार अतीत, अनागत और वर्तमानरूपसे

रत्नप्रभा

सत्तानिश्चयो वाच्यः, तत्र साक्षिणश्चेत ज्ञानाधीनसत्तानिश्चयः अन्योन्याश्रयः स्यात्, अतः सर्वसाधकत्वाद् आत्मा स्वतःसिद्ध इति । स्वप्रकाशस्याऽपि बाधः किं न स्यात् इत्यत आह—**न चेति**। जडं हि परायत्तप्रकाशत्वाद् आगन्तुकं बाधयोग्यम्, न स्वप्रकाशात्मस्वरूपम्, तस्य सर्वबाधसाक्षिस्वरूपस्य निराकर्त्रन्तराभावात् । स्वस्य च स्वनिराकर्तृत्वायोगात् । नहि सुनिपुणेनाऽपि स्वाभावो द्रष्टुं शक्यते इत्यर्थः । एवं स्वतः स्फूर्तित्वाद् आत्मा न बाध्य इति उक्त्वा स्वतःसत्ताकत्वाच्च न बाध्य इत्याह—**तथाऽहमेवेति** । ज्ञानज्ञेययोः सत्ताव्यभिचारेऽपि ज्ञातुः सदेकरूपत्वान्न सत्ताव्यभिचार इत्यर्थः । माऽस्तु जीवतो ज्ञातुरन्यथास्वभावः, मृतस्य तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

निश्चय साक्षीसे मानना होगा, साक्षिकी सत्ताका निश्चय यदि ज्ञानके अधीन हो तो अन्योऽन्याश्रय होगा, इसलिए आत्मा सर्वसाधक होनेसे स्वतःसिद्ध है । स्वप्रकाशका भी बाध क्यों नहीं होगा?, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। पराधीन प्रकाश होनेसे जड़ आगन्तुक और बाधयोग्य है, स्वप्रकाश आत्मस्वरूप बाधयोग्य नहीं है, क्योंकि सबके बाधके साक्षिस्वरूप उस आत्माका अन्य कोई निराकर्ता नहीं है । और अपना निराकरण आप ही नहीं कर सकता, क्योंकि सुनिपुण पुरुष भी अपना अभाव स्वयं नहीं देख सकता, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार स्वप्रकाश होनेसे आत्मा बाध्य नहीं है, ऐसा कहकर स्वतःसत्ताक—अपनी सत्तावाला होनेसे भी बाध्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तथाऽहमेव" इत्यादिसे । ज्ञान और ज्ञेयकी सत्ताका व्यभिचार होनेपर भी ज्ञाताके सदा एकरूप होनेसे उसमें सत्ताका व्यभिचार नहीं है, ऐसा अर्थ है । जीते हुए ज्ञाताका अन्यथास्वभाव भले ही न हो, परन्तु मृत ज्ञाताका होगा, इसपर कहते

भाष्य

ज्ञातव्ये न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति, सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात्। तथा भस्मीभवत्यपि देहे नाऽऽत्मन उच्छेदो वर्तमानस्वभावादन्यथास्वभावत्वं वा न सम्भावयितुं शक्यम्। एवमप्रत्याख्येयस्वभावत्वादेवाऽकार्यत्वमात्मनः कार्यत्वं चाऽऽकाशस्य।

यत्तूक्तम्—समानजातीयमनेकं कारणद्रव्यं व्योम्नो नास्ति इति,

भाष्यका अनुवाद

ज्ञातव्य वस्तुके अन्यथाभाव होनेपर भी ज्ञाताका अन्यथाभाव नहीं होता है, क्योंकि वह सर्वदा वर्तमानस्वभाव है। इसी प्रकार देहके भस्मीभूत होनेपर भी आत्माके उच्छेदकी और वर्तमानस्वभावसे अन्यथास्वभावत्वकी भी संभावना नहीं कर सकते। इस प्रकार अप्रत्याख्येयस्वभाव होनेसे आत्मा अकार्य है और आकाश कार्य है।

समानजातीय अनेक कारणद्रव्य आकाशके नहीं हैं, ऐसा जो कहा

रत्नप्रभा

स्यात् इत्यत आह—तथेति। उच्छेद—विनाशः, अन्यथास्वभावत्वम्—मिथ्यात्वं वा संभावयितुमपि न शक्यम्, 'अहमस्मि' इति अनुभवसिद्धसत्स्वभावस्य बाधकाभावाद् इत्यर्थः। एवम् आत्मनः शून्यत्वनिरासेन शून्यताप्रसङ्गस्य अनिष्टत्वमुक्तम्, ततश्च आत्मनः कार्यत्वानुमानम् आभास इत्याह—एवमिति। अकार्यात्मनः सिद्धौ तस्य अविद्यासहितस्य उपादानस्य अदृष्टादिनिमित्तस्य च सत्त्वाद् आकाशानुत्पत्तिहेतोः सामग्रीशून्यत्वस्य स्वरूपासिद्धेः, उक्तसत्प्रतिपक्षबाधाद् च आकाशस्य कार्यत्वं निरवद्यमित्याह—कार्यत्वं चेति। आत्माविद्ययोः विजातीयत्वाद् न आकाशारम्भकत्वम् इत्युक्तमनूद्य निरस्यति—यत्त्वित्यादिना। किं कारणमात्रस्य साजात्यनियमः, उत समवायिनः?

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"तथा" इत्यादिसे। उच्छेद—विनाश और अन्यथास्वभावत्व—मिथ्यात्वकी सम्भावना भी नहीं हो सकती, क्योंकि 'मैं हूँ' ऐसे अनुभवसिद्ध सत्स्वभावका बाधक कोई नहीं है, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार आत्माके शून्यत्वके निरासके शून्यताप्रसङ्ग अनिष्ट कहा गया है, उसके बाद 'आत्मा कार्य है, यह अनुमान आभासरूप है ऐसा कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। आत्माके अकार्यत्व की सिद्धि होनेपर अविद्या सहित आत्माके उपादान होनेसे और अदृष्ट आदिके निमित्त कारण होनेसे, आकाशकी अनुत्पत्तिका हेतु जो सामग्रीशून्यत्व कहा गया है, वह स्वरूपासिद्ध है और पूर्वोक्त सत्प्रतिपक्षसे बाधित है, इससे 'आकाश कार्य है' यह कथन निर्दोष है; ऐसा कहते हैं—"कार्यत्वञ्च" इत्यादिसे। आत्मा और अविद्या विजातीय होनेसे आकाशके आरम्भक नहीं होते, ऐसा जो कहा गया है, उसका अनुवादपूर्वक निरसन करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। क्या कारणमात्र सजातीय

भाष्य

तत् प्रत्युच्यते—न तावत् समानजातीयमेवाऽऽरभते, न भिन्नजातीयमिति नियमोऽस्ति। नहि तन्तूनां तत्संयोगानां च समानजातीयत्वमस्ति, द्रव्यगुणत्वाभ्युपगमात्। न च निमित्तकारणानामपि तुरीवेमादीनां समानजातीयत्वनियमोऽस्ति। स्यादेतत्—समवायिकारणविषय एव समानजातीयत्वाभ्युपगमो न कारणान्तरविषय इति। तदप्यनैकान्तिकम्। सूत्रगोवालैर्ह्यनेकजातीयैरेका रज्जुः सृज्यमाना दृश्यते। तथा सूत्रैरूर्णादिभिश्च विचित्रान् कम्बलान् वितन्वते। सत्त्वद्रव्यत्वाद्यपेक्षया वा

भाष्यका अनुवाद

गया है, उसका निराकरण किया जाता है—समानजातीय ही आरम्भक है और भिन्नजातीय आरम्भक नहीं है ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि तन्तु और उनके संयोग समानजातीय नहीं हैं, कारण कि उनका गुण और द्रव्यरूपसे स्वीकार किया गया है। एवं तुरी और वेमा आदि निमित्त कारण भी समानजातीय हों, ऐसा नियम नहीं है। यह शङ्का यहां हो सकती है—समवायिकारण के विषयमें ही समानजातीयत्वका स्वीकार है, अन्य कारणोंमें नहीं है। वह भी व्यभिचरित है, क्योंकि अनेकजातीय सूत्र और गोबालोंसे एक रस्सी बनाई जाती हुई देखी जाती है, वैसे ही सूत्र और ऊनसे विचित्र कम्बल लोग बनाते हैं। सत्त्व

रत्नप्रभा

तत्र आद्यं निरस्य द्वितीयं शङ्कते-स्यादेतदिति। किं समवायितावच्छेदकधर्मेण साजात्यम् उत सत्त्वादिना? नाऽऽद्य इत्याह—तदपीति। न च रज्ज्वादि न द्रव्यान्तरम् इति वाच्यम्, पटादेरपि तथात्वापाताद्, द्वितीयः अस्मदिष्टः, आत्माऽविद्ययोः वस्तुत्वेन साजात्याद् इत्याह—सत्त्वेति। उपादानस्य साजात्यनियमं निरस्य संयुक्तानेकत्वनियमम् अद्वितीयस्याऽसङ्गस्याऽपि आत्मन उपादानत्वसिद्धये निर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होते हैं, ऐसा नियम है? या केवल समवायिकारण सजातीय होता है, ऐसा नियम है? उनमें प्रथम पक्षका निरसन करके द्वितीय पक्षका निरास करते हैं-"स्यादेतत्" इत्यादिसे। क्या समवायिकारणतावच्छेदक धर्मरूपसे सजातीयत्व है, या सत्त्वरूपसे साजात्य है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तदपि" इत्यादिसे। [सूत्र और गोकेशका समुदायमात्र ही रज्जु है] अन्य द्रव्य नहीं है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि पटादि भी अन्य द्रव्य नहीं होंगे, ऐसा प्रसङ्ग आवेगा। द्वितीय पक्ष हमको इष्ट है, क्योंकि आत्मा और अविद्या वस्तुत्वरूप धर्मसे सजातीय हैं, ऐसा कहते हैं—"सत्त्व" इत्यादिसे। उपादानके साजात्य नियमका निरसन करके, अद्वितीय असङ्ग

भाष्य

समानजातीयत्वे कल्प्यमाने नियमानर्थक्यम्, सर्वस्य सर्वेण समानजातीयकत्वात्। नाऽप्यनेकमेवाऽऽरभते, नैकमिति नियमोऽस्ति, अणुमनसोराद्यकर्मारम्भाभ्युपगमात्। एकैको हि परमाणुर्मनश्चाऽऽद्यं कर्माऽऽरभते, न द्रव्यान्तरैः संहत्येत्यभ्युपगम्यते। द्रव्यारम्भे एवाऽनेकारम्भकत्वनियम इति चेत्, न, परिणामाभ्युपगमात्। भवेदेष नियमो यदि संयोगसचिवं

भाष्यका अनुवाद

और द्रव्यत्वकी अपेक्षासे समानजातीयत्वकी कल्पना की जाय, तो नियम व्यर्थ होता है, क्योंकि सब सबके साथ समानजातीय हैं। 'अनेक ही आरम्भक हैं एक नहीं' ऐसा भी नियम नहीं है, क्योंकि अणु और मन आद्य कर्मको उत्पन्न करते हैं, कारण कि एक एक परमाणु और मन आद्य कर्मका आरम्भ करते हैं अन्य द्रव्यके साथ मिलकर नहीं, ऐसा स्वीकार किया है। द्रव्यके आरम्भमें ही यह अनेकारम्भकत्व का नियम है ऐसा यदि कहो तो सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि परिणामका स्वीकार है। यह नियम हो सकता, यदि संयोग सहित

रत्नप्रभा

स्यति—**नापीत्यादिना**। किम् आरम्भकमात्रस्यायं नियमः उत द्रव्यारम्भकस्य ? नाद्य इत्याह—**अण्विति**। द्व्यणुकस्य ज्ञानस्य च असमवायिकारणसंयोगजनकम् आद्यं कर्म, यद्यपि अदृष्टवदात्मसंयुक्ते अणुमनसी आद्यकर्मारम्भके, तथापि कर्मसमवायिन एकत्वात् अनेकत्वनियमभङ्ग इत्याह—**एकैको हीति**। द्रव्यान्तरैः—समवायिभिरित्यर्थः। द्वितीयम् उत्थाप्य आरम्भवादानङ्गीकारेण दूषयति—**द्रव्येत्यादिना**। न त्वभ्युपगम्यते, तस्मान्नैष नियम इति शेषः। यत्तु क्षीरपरमाणुषु रसान्तरोत्पत्तौ तैरेव दध्यारम्भ इति, तन्न, क्षीरनाशे मानाभावात्। रसवद्दध्नोऽपि एकद्रव्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मा भी उपादान है, यह सिद्ध करने के लिए 'संयुक्त अनेक द्रव्य आरम्भक होते हैं' इस नियमका निरास करते हैं—"नापि" इत्यादिसे। क्या यह नियम आरम्भकमात्रका है या केवल द्रव्यके आरम्भकका है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अणु" इत्यादिसे। द्व्यणुक और ज्ञानका असमवायिकारण जो संयोग है, उसका जनक आद्य कर्म है। यद्यपि अदृष्टवत् आत्माके साथ संयुक्त हुए अणु और मन आद्य कर्मके आरम्भक हैं, तो भी कर्मका समवायिकारण एक होनेसे अनेकत्व नियमका भङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"एकैको हि" इत्यादिसे। अन्य द्रव्योंके साथ अर्थात् अन्य समवायिकारणोंके साथ। द्वितीय पक्षका उत्थान करके आरम्भवादके अनङ्गीकारसे उसे दूषित करते हैं—"द्रव्य" इत्यादिसे। स्वीकार नहीं किया जाता, अतः यह नियम नहीं है, इतना शेष है। क्षीरके परमाणुओंमें रसान्तरोत्पत्ति होनेपर वे ही परमाणु

भाष्य

द्रव्यं द्रव्यान्तरस्याऽऽरम्भकमभ्युपगम्येत। तदेव तु द्रव्यं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानं कार्यं नामाऽभ्युपगम्यते। तच्च क्वचिदनेकं परिणमते मृद्बीजादि अङ्कुरादिभावेन, क्वचिदेकं परिणमते क्षीरादि दध्यादिभावेन। नेश्वरशासनमस्त्यनेकमेव कारणं कार्यं जनयतीति, अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद् ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते। तथा चोक्तम्—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इति।

यच्चोक्तम्—आकाशस्योत्पत्तौ न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं

भाष्यका अनुवाद

द्रव्य ही द्रव्यान्तरका आरम्भक है ऐसा स्वीकार किया जाय। परन्तु वही द्रव्य सविशेष अन्य अन्य अवस्थाको प्राप्तकर कार्य नामसे स्वीकृत होता है। कहीं अनेक मृत्तिका, बीज आदि अंकुर स्वरूपसे परिणत होते हैं। और कहीं क्षीरादि एक दधि आदि भावसे परिणत होता है। अनेक ही कारण कार्यको उत्पन्न करते हैं, ऐसा कोई ईश्वरका आदेश नहीं है। इसलिए श्रुतिप्रामाण्यसे एक ब्रह्मसे आकाश आदि महाभूतोंकी उत्पत्तिके क्रमसे जगत् उत्पन्न हुआ ऐसा निश्चित होता है। ऐसा कहा है कि—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (उपसंहार देखनेसे ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है ऐसा कहो तो नहीं, क्योंकि क्षीरके समान उपपन्न होगा)।

और जो यह कहा गया है कि—आकाशकी उत्पत्तिमें पूर्वोत्तरकालमें कुछ

रत्नप्रभा

रम्भयत्वसम्भवाच्च। द्रव्यगुणसङ्केतस्य पौरुषेयस्य श्रुत्यर्थनिर्णयाहेतुत्वादिति भावः। लोके कर्तुः सहायदर्शनाद् असहायाद् ब्रह्मणः कथं सर्ग इति, तत्राह—तथा चोक्तमिति। प्रागभावशून्यत्वहेतुरपि असिद्ध इत्याह—यच्चोक्तमित्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

दधिके आरम्भक हैं, ऐसा जो कहा गया है वह युक्त नहीं है, क्योंकि क्षीरके नाशमें प्रमाण नहीं है और रसके समान दधिके भी एक द्रव्यसे उत्पन्न होनेका सम्भव है। और द्रव्य और गुणकी परिभाषा पुरुष-कणादसे कल्पित है, अतः वे श्रुतिके अर्थका निर्णय करनेमें हेतु नहीं हो सकते हैं, ऐसा भाव है। लोकमें कर्ताका सहायक देखा जाता है, और ब्रह्म तो असहाय है वह कैसे जगत्की उत्पत्ति कर सकता है? इसपर कहते हैं—"तथा चोक्तम्" इत्यादिसे। प्रागभावशून्यत्व हेतु भी असिद्ध है, ऐसा

भाष्य

शक्यते इति, तदयुक्तम्। येनैव हि विशेषेण पृथिव्यादिभ्यो व्यतिरिच्यमानं नभः स्वरूपवदिदानीमध्यवसीयते, स एव विशेषः प्रागुत्पत्तेर्नासीदिति गम्यते। यथा च ब्रह्म न स्थूलादिभिः पृथिव्यादिस्वभावैः स्वभाववत्, 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः, एवमाकाशस्वभावेनाऽपि न स्वभाववत् 'अनाकाशम्' इति श्रुतेरवगम्यते। तस्मात् प्रागुत्पत्तेरनाकाशमिति स्थितम्। यदप्युक्तम्—पृथिव्यादिवैधर्म्यादाकाशस्याऽ-

भाष्यका अनुवाद

विशेष सम्भावित नहीं है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि जिस विशेषसे ही पृथिवी आदिसे व्यतिरिक्त हुआ आकाश स्वरूपवत् आजकल निश्चित होता है, वही विशेष उत्पत्तिके पूर्वमें नहीं था, ऐसा समझा जाता है। और जैसे स्थूलादि पृथ्वी आदिके स्वभावोंसे ब्रह्म स्वभाववाला नहीं है, क्योंकि 'अस्थूलमनणु' (वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है) इत्यादि श्रुतियां हैं, इसी प्रकार आकाशके स्वभावसे भी स्वभाववाला ब्रह्म नहीं है, ऐसा 'अनाकाशम्' (आकाशरहित) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है। इसलिए आकाशकी उत्पत्तिके पूर्व ब्रह्म अनाकाश था ऐसा निश्चित हुआ। और जो यह कहा

रत्नप्रभा

शब्दाश्रयत्वं विशेषः। शब्दादिमानाकाशः प्रलये नास्ति, 'नासीद्रजो नो व्योम' इति श्रुतेः। ननु आकाशाभावे काठिन्यं स्यादिति चेत्। सुशिक्षितोऽयं नैयायिकतनयः। नहि आकाशाभावस्तद्धर्मो वा काठिन्यम्, किन्तु मूर्तद्रव्यविशेषः, तत्संयोगविशेषो वा काठिन्यम्, तच्च प्रलये नास्तीति भावः। 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२) इति श्रुतेरग्न्यौष्ण्यवद् ब्रह्मस्वभावस्याऽऽकाशस्य सति ब्रह्मणि कथमभावः, तत्राह—यथा चेति। विभुत्वाद् आकाशसमं ब्रह्मेति श्रुत्यर्थः। विभुत्वास्पर्शद्रव्यत्वनिरवयवद्रव्यत्वलिङ्गानां विभक्तत्वादिलिङ्गसहितागमबाधमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"यच्चोक्तम्" इत्यादिसे। शब्दाश्रयत्व विशेष है। शब्दादिमान् आकाश प्रलयमें नहीं है, 'नासीद्रजः०'(प्रलयकालमें न रज था न आकाश था) ऐसी श्रुति है। प्रलयमें आकाशका अभाव होनेपर काठिन्य हो जायगा, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी शङ्का करनेवाला नैयायिक बालक सुशिक्षित है। आकाशका अभाव या उसका धर्म काठिन्य नहीं है, परन्तु मूर्तद्रव्यविशेष या उसका संयोगविशेष काठिन्य है, और वह प्रलयमें नहीं है, ऐसा भाव है। 'आकाशशरीरम्' (ब्रह्म आकाशशरीर है) ऐसी श्रुति है, इसलिए जैसे अग्निका स्वभाव औष्ण्य है, वैसे ब्रह्मका आकाशस्वभाव होनेसे ब्रह्मके रहनेपर आकाशका अभाव कैसे हो सकता है? इसपर कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। विभु होनेसे आकाशके समान ब्रह्म है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। विभुत्व, अस्पर्शद्रव्यत्व, निरवयव

भाष्य

जत्वम् इति, तदप्यसत्। श्रुतिविरोधे सत्युत्पत्त्यसंभवानुमानस्याऽऽभासत्वोपपत्तेः, उत्पत्त्यनुमानस्य च दर्शितत्वात्, अनित्यमाकाशम्, अनित्यगुणाश्रयत्वाद्, घटादिवदित्यादिप्रयोगसंभवाच्च। आत्मन्यनैकान्तिकमिति चेत्, न; तस्यौपनिषदं प्रत्यनित्यगुणाश्रयत्वासिद्धेः। विभुत्वादीनां चाऽऽकाशस्योत्पत्तिवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात्। यच्चोक्तमेतत्—शब्दाच्चेति, तत्राऽ-

भाष्यका अनुवाद

गया है कि पृथ्वी आदिसे आकाशमें वैषम्य है, अतः वह उत्पत्तिशून्य है, यह कथन भी असङ्गत है, क्योंकि श्रुतिके साथ विरोध होनेपर उत्पत्तिके असम्भवका प्रतिपादन करनेवाला अनुमान आभास है, ऐसा उपपन्न होता है। और उत्पत्तिका प्रतिपादक अनुमान दिखलाया गया है, और आकाश अनित्य है, अनित्यगुणका आश्रय होनेसे, घटके समान, इत्यादि प्रयोगका सम्भव है। अनित्यगुणाश्रयत्व यह हेतु आत्मामें व्यभिचरित है ? ऐसा कहो, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि औपनिषदवादीके मतमें आत्माका अनित्यगुणाश्रयत्व असिद्ध है।

रत्नप्रभा

यदपीत्यादिना। धर्मिविकाराभावे गुणनाशो न स्यादिति तर्कार्थम् अनित्यपदम्, गुणाश्रयत्वमेव हेतुः, तच्च स्वसमानसत्ताकगुणवत्त्वम्, अतो निर्गुणात्मनि न व्यभिचारः। भूतत्वम् आदिशब्दार्थः। स्वरूपासिद्धिमपि आह—**विभुत्वादीनां चेति**। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगः परिमाणविशेषो वा विभुत्वं निर्गुणात्मनि दृष्टान्ते नास्ति। संयोगस्य सावयवत्वनियतस्याऽजत्वसाध्यविरुद्धता च, स्वरूपोपचयरूपं तु विभुत्वमात्माकाशयोर्न समम्, 'ज्यायानाकाशात्' इति श्रुतेः। क्वचिदाकाशसाम्यं तु ब्रह्मणो यत्किञ्चिद्धर्मसम्बन्धेन व्यपदिश्यते असक्तत्वेन वा।

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्रव्यत्व आदि हेतुओं का विभक्तत्वादि हेतु सहित श्रुतिसे बाध कहते हैं— 'यदपि" इत्यादिसे। 'धर्मीके विकारके अभाव होनेपर गुणका नाश नहीं होगा' इस तर्कके लिए अनित्य पद है। गुणाश्रयत्व हेतु है और वह अपनी समानसत्तावाला जो गुण उसका आश्रयत्वरूप है, अतः गुणरहित आत्मामें व्यभिचार नहीं है। आदिशब्दसे भूतत्व लेना चाहिए। स्वरूपासिद्धिको भी कहते हैं—"विभुत्वादीनाञ्च" इत्यादिसे। सम्पूर्ण मूर्त द्रव्योंके साथ संयोगरूप और परिमाणविशेषरूप विभुत्व निर्गुण आत्मामें नहीं है। और अवयवयुक्तत्वसे नियत जो संयोग है, वह अजत्वरूप साध्यसे विरुद्ध है। एवं स्वरूपका उपचयरूप विभुत्व आत्मा और आकाशमें समान नहीं है, क्योंकि 'आकाशसे बड़ा' ऐसी श्रुति है। कुछ साधारण धर्मके सम्बन्धसे ब्रह्ममें आकाशकी समानता कहींपर कही जाती है, या असक्त—सङ्गरहित होनेसे

भाष्य

मृतत्वश्रुतिस्तावद् 'वियत्यमृता दिवौकसः' इतिवत् द्रष्टव्या, उत्पत्तिप्रलययोरुपपादितत्वात्। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यपि प्रसिद्धमहत्त्वेनाऽऽकाशेनोपमानं क्रियते निरतिशयमहत्त्वाय नाऽऽकाशसमत्वाय, यथेषुरिव सविता धावतीति क्षिप्रगतित्वायोच्यते नेषुतुल्यगातत्वाय तद्वत्। एतेनाऽनन्तत्वोपमानश्रुतिर्व्याख्याता। 'ज्यायानाकाशात्' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च

भाष्यका अनुवाद

और विभुत्व आदि गुण आकाशोत्पत्तिवादीके प्रति असिद्ध हैं। 'शब्दाच्च' (शब्दसे भी) ऐसा जो कहा है, उसमें अमृतत्व श्रुति तो स्वर्गमें देवता अमृत हैं, इसके समान जाननी चाहिए, क्योंकि आकाशकी उत्पत्ति और प्रलयका उपपादन किया गया है। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (आकाशके समान सर्वगत और नित्य है) यह भी प्रसिद्ध महत्त्व से निरतिशय महत्त्वको दिखलानेके लिए आकाशोपमान किया है, आकाशके साथ समत्वको बतलानेके लिए नहीं, जैसे 'बाणके समान सूर्य दौड़ता है' यह क्षिप्रगतिके लिए कहा जाता है, बाणतुल्य गतिके लिए नहीं कहा जाता, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। इससे अनन्तत्व जिसमें उपमान है उस श्रुतिका व्याख्यान हुआ। 'ज्यायानाकाशात्' (आकाशसे बड़ा)

रत्नप्रभा

पञ्चीकरणाद् अस्पर्शत्वमसिद्धम्, कार्यद्रव्यत्वात् निरवयवत्वमपि असिद्धम्, द्रव्यत्वजातिश्चात्मनि असिद्धेत्यर्थः। 'नित्यः' इत्यंशेन साम्यं न विवक्षितम्। ननु 'स यथाऽनन्तोऽयमाकाशः एवमनन्त आत्मा' इति श्रुतिर्नित्यत्वेनैव साम्यं ब्रूते, नेत्याह—**एतेनेति**। आकाशस्य कार्यत्वेनाऽनित्यत्वादित्यर्थः। श्रुतिस्त्वापेक्षिकानन्त्यद्वारा मुख्यानन्त्यं बोधयतीति भावः। न्यूनत्वाच्चाऽऽकाशस्य न मुख्योपमानत्वमित्याह—**ज्यायानिति**। मुख्योपमानासत्त्वे श्रुतिः 'न तस्य' इति। तस्मादाकाशस्यो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कही जाती है। पञ्चीकरणसे अस्पर्शत्व भी आकाशमें असिद्ध है, और कार्यद्रव्य होनेसे निरवयत्व असिद्ध है, द्रव्यत्व जाति भी आत्मामें असिद्ध है, ऐसा अर्थ है। 'नित्य' इस अंशसे साम्य विवक्षित नहीं है। परन्तु 'स यथा०' (जैसे यह आकाश अनन्त है वैसे यह आत्मा अनन्त—नित्य है) यह श्रुति नित्यत्वसे ही समानताको कहती है? नहीं, ऐसा कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। आकाश कार्य होनेसे अनित्य है, ऐसा अर्थ है। श्रुति तो आपेक्षिक अनन्ततासे मुख्य अनन्तताका बोध कराती है, ऐसा भाव है। न्यून होनेसे आकाश मुख्य उपमान नहीं है, ऐसा कहते हैं—"ज्यायान्" इत्यादिसे। मुख्य उपमान नहीं है, इस विषयमें प्रमाणभूत

भाष्य

ब्रह्मण आकाशस्योनपरिमाणत्वसिद्धिः। 'न तस्य प्रतिमास्ति' (श्वे० ४।१९) इति च ब्रह्मणोऽनुपमानत्वं दर्शयति, 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति च ब्रह्मणोऽन्येषामाकाशादीनामार्तत्वं दर्शयति। तपसि ब्रह्मशब्दवदाकाशस्य जन्मश्रुतेर्गौणत्वमित्येतदाकाशसंभवश्रुत्यनुमानाभ्यां परिहृतम्। तस्माद् ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम् ॥७॥

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि श्रुतियोंसे आकाशका परिमाण ब्रह्मसे छोटा है, यह सिद्ध होता है। 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति' (उसकी प्रतिमा नहीं है) यह श्रुति ब्रह्मके अनुपमत्वको कहती है। 'अतोऽन्यदार्तम्' (इससे अन्य आर्त—अनित्य है) यह श्रुति ब्रह्मसे अन्य आकाशादि अनित्य हैं, ऐसा दिखलाती है। 'तपमें ब्रह्मशब्द जैसे गौण है, उसी तरह आकाशकी उत्पत्तिश्रुति गौण है, इसका आकाशकी उत्पत्तिसूचक श्रुतिसे और अनुमानसे खण्डन किया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आकाश ब्रह्मका कार्य है ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

पमानत्वमात्रेण नित्यत्वं नास्ति इति भावः। अनित्यत्वेनाऽसत्त्वे श्रुतिमाह—**अतोऽन्यदिति**। यत्तु एकस्यैव सम्भूतशब्दस्य गौणत्वं मुख्यत्वं चेति, तत् न; आकाशेऽपि तस्य मुख्यत्वसम्भवादित्याह—**तपसीति**। बलवत्तित्तिरिश्रुत्या छान्दोग्यश्रुतेर्नयनादेकवाक्यतया स्रष्टरि ब्रह्मात्मनि समन्वय इत्युपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुति है, 'न तस्य०' (उसकी प्रतिमा नहीं है), अतः आकाश केवल उपमान होनेसे नित्य नहीं है, ऐसा भाव है। अनित्य होनेसे असत् है, इसमें श्रुति कहते हैं—"अतोऽन्यत्" इत्यादि। एक ही सम्भूत शब्द 'गौण और मुख्य है' ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि आकाशमें भी उसका मुख्यत्व सम्भव है, ऐसा कहते हैं—"तपसि" इत्यादिसे। बलवती तित्तिरिश्रुतिसे छान्दोग्य श्रुतिके गौण होनेके कारण एकवाक्यता होनेसे कर्तृरूप ब्रह्मात्मामें समन्वय है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे ॥ ७ ॥



[२ मातरिश्वाधिकरण सू० ८]

वायुर्नित्यो जायते वा छान्दोग्येऽजन्मकीर्तनात् ।
सैषाऽनस्तमिता देवतेत्युक्तेर्न च जायते ॥ १ ॥
श्रुत्यन्तरोपसंहाराद् गौण्यनस्तमयश्रुतिः ।
वियद्वज्जायते वायुः स्वरूपं ब्रह्म कारणम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—वायु नित्य है अथवा उत्पन्न होता है ?

पूर्वपक्ष—छान्दोग्य उपनिषद्में वायुकी उत्पत्ति न कहनेसे और बृहदारण्यकमें 'सैषाऽनस्तमिता देवता' (वायु अविनाशी देवता है) इस कथनसे प्रतीत होता है कि वायु उत्पन्न नहीं होता है ।

सिद्धान्त—तैत्तिरीय श्रुतिके वाक्यका छान्दोग्यमें उपसंहार करनेसे अनस्तमय श्रुति मुख्य नहीं है—आकाशके समान वायु उत्पन्न होता है, आकाशरूपापन्न ब्रह्म उसका कारण है ।

---

* तात्पर्य्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—तैत्तिरीयकमें ही 'आकाशाद् वायुः' (आकाशसे वायु उत्पन्न होता है) ऐसी श्रुति है। वायुकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली यह श्रुति गौण है, क्योंकि छान्दोग्यमें सृष्टिके प्रकरणमें तेज, जल और अन्नकी ही उत्पत्तिका प्रतिपादन है। यदि कोई कहे कि 'कहींपर अश्रवण अन्यत्र श्रुतका वारण नहीं कर सकता' इस न्यायसे तैत्तिरीयश्रुति कैसे गौण है ? इसपर 'अन्य श्रुतिके साथ विरोध होनेसे, ऐसा हम कहते हैं। बृहदारण्यकमें 'सैषा०' (जो यह वायु है, वह अविनाशी देवता है) इस प्रकार वायुके विनाशका निषेध किया गया है। यदि वायु उत्पत्तिमान् माना जाय, तो उक्त प्रतिषेध नहीं घट सकेगा, इससे प्रतीत होता है कि वायु उत्पन्न नहीं होता।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—छान्दोग्यमें वायुके जन्मका श्रवण न होनेपर भी गुणोपसंहार-न्यायसे तैत्तिरीयक वाक्यका छान्दोग्यमें उपसंहार करनेपर छान्दोग्यमें वायुकी उत्पत्ति सुनी ही गई है। वायुको अविनाशी कहनेवाली श्रुति तो मुख्य नहीं है, क्योंकि उपासनाके प्रकरणमें पठित होनेके कारण वह स्तुत्यर्थक है; आकाशकी उत्पत्तिमें जितने कारण हैं, उन सबका यहांपर अनुसन्धान करना चाहिए। वायु आकाशजन्य है, इससे उसका ब्रह्ममें अन्तर्भाव न होनेसे ब्रह्मज्ञानसे वायुज्ञान सिद्ध नहीं होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पूर्व-पूर्व कार्यविशिष्ट ब्रह्म उत्तरोत्तर कार्यका हेतु है ऐसा हम आगे कहेंगे, इससे आकाश-रूपापन्न ब्रह्म ही वायुका कारण है। इससे सिद्ध हुआ कि वायु पैदा होता है।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

पदच्छेद—एतेन, मातरिश्वा, व्याख्यातः ।

पदार्थोक्ति—एतेन—आकाशस्योत्पत्तिमत्त्वव्याख्यानेन, मातरिश्वा—वायुरपि, व्याख्यातः—आकाशावच्छिन्नब्रह्मजन्यत्वेन व्याख्यातः ।

भाषार्थ—आकाश उत्पत्तिमान् है इस कथनसे वायु भी आकाशावच्छिन्न—आकाशभावको प्राप्त ब्रह्मसे उत्पन्न होता है यह व्याख्यान हुआ ।

भाष्य

अतिदेशोऽयम् । एतेन वियद्व्याख्यानेन मातरिश्वाऽपि वियदाश्रयो वायुर्व्याख्यातः । तत्राऽप्येते यथायोगं पक्षा रचयितव्याः । न वायुरुत्पद्यते, छन्दोगानामुत्पत्तिप्रकरणेऽनाम्नानादित्येकः पक्षः । अस्ति तु तैत्तिरीयाणामुत्पत्तिप्रकरणे आम्नानम् 'आकाशाद्वायुः' (तै० २।१) इति पक्षान्तरम् ।

भाष्यका अनुवाद

यह अतिदेश है। पूर्वाधिकरणमें उक्त आकाशके व्याख्यानसे मातरिश्वा भी—आकाशाश्रय वायु भी व्याख्यात हुआ । उसमें भी यथायोग्य इन पक्षोंकी रचना करनी चाहिए—वायु उत्पन्न नहीं होता है, छान्दोग्यके उत्पत्तिप्रकरणमें नहीं कहनेसे, यह एक पक्ष है । तैत्तिरीयोंके उत्पत्तिप्रकरणमें तो कथन है—

रत्नप्रभा

एतेन मातरिश्वेति । अतिदेशत्वात् न पृथक् संगत्याद्यपेक्षा, 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति श्रुतेः 'आकाशाद्वायुः' (तै० २।१।२) इति श्रुत्या विरोधोऽस्ति न वा इति एकवाक्यत्वभावाभावाभ्यां संशये गौणपक्षपूर्वपक्ष-सिद्धान्तपक्षान् अतिदिशति—**तत्राऽपीत्यादिना** । पूर्वत्र ह्याकाशानन्तर्यं तेजसः स्थापितम्, तत्र वायुतेजसोः तुल्यवदानन्तर्ये 'वायोरग्निः' (तै० २।१।२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

"एतेन मातरिश्वा" इत्यादि । अतिदेश होनेसे पृथक् संगति आदिकी अपेक्षा नहीं है । 'तत्तेजोऽसृजत' इस श्रुतिका 'आकाशाद्वायुः' इस श्रुतिसे विरोध है या नहीं ? इस प्रकार अस्तित्व और अभावसे संशय होनेपर गौणपक्ष, पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्षका अतिदेश करते हैं—"तत्रापि" इत्यादिसे । तेज आकाशके पीछे उत्पन्न हुआ है, ऐसा तैत्तिरीयकमें निर्णीत है, उसमें वायु और तेज दोनोंका आनन्तर्य समान हो, तो 'वायोरग्निः' इस क्रमश्रुतिका बाध होता

भाष्य

ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधे सति गौणी वायोरुत्पत्तिश्रुतिः, असंभवाद् इत्यपरोऽभिप्रायः। असंभवश्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२)

भाष्यका अनुवाद

(आकाशसे वायु) यह अन्य पक्ष है। इस प्रकार श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेपर वायुकी उत्पत्तिश्रुति गौण है, असम्भवसे, ऐसा अन्य अभिप्राय है। असम्भव दिखलाया भी है—'सैषा०' (जो यह वायु है, वह अविनाशी

रत्नप्रभा

इति क्रमश्रुतिबाधात् पौर्वापर्ये तेजःप्राथम्यभङ्गात् न एकवाक्यता इति पूर्वपक्षे गौणवाद्यभिप्रायमाह—ततश्चेति। अस्तमयप्रतिषेधो मुख्योत्पत्त्यसम्भवे लिङ्गम् 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' (बृ० २।३।३) इति तस्यैव लिङ्गस्याऽभ्यासः। 'वायुरेव व्यष्टिः' (बृ० ३।३।२) 'समष्टिश्च' (बृ० ३।३।२) इति सर्वात्मत्वलिङ्गान्तरमादिपदार्थः। तथा संवर्गविद्यायाम् 'वायुर्ह्येवैतान् सर्वानग्न्यादीन् संहरति' इति शब्दमात्रेणैश्वर्यश्रवणं लिङ्गान्तरं ग्राह्यम्। एतैर्लिङ्गैर्वायुरनाद्यनन्त इति प्रतीतेरुत्पत्तिर्गौणीति अविरोधः श्रुत्योरिति प्राप्ते प्रतिपिपादयिषितप्रतिज्ञाश्रुतेः बलीयस्त्वात्, तत्साधकानां तत्र तत्र वायूत्पत्तिवाक्यानां भूयस्त्वादुक्तविभक्तत्वादिलिङ्गानुग्रहाच्च मुख्यैव वायोरुत्पत्तिः, तथा चाऽऽकाशं वायुं च सृष्ट्वा तेजोऽसृज-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है और दोनोंका पौर्वापर्य माननेमें तेज प्रथम उत्पन्न हुआ, ऐसा जो छान्दोग्यमें कहा गया है, उसका भंग होता है, अतः दोनोंकी एकवाक्यता नहीं होती, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर गौणवादीका अभिप्राय कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे। विनाशका प्रतिषेध मुख्य उत्पत्तिके असम्भवमें हेतु है। 'वायुश्चान्तरिक्षं०' (वायु और आकाश ये अविनाशी हैं) इसी लिंगका अभ्यास है। 'वायुरेव व्यष्टिः' (वायु ही व्यष्टि और समष्टि है) इस प्रकार वायु सर्वात्मा है, ऐसा अन्य लिंग 'अमृतत्वादि' भाष्यगत 'आदि' पदका अर्थ है। इसी प्रकार संवर्गविद्यामें 'वायुर्ह्येवैतान्०' (वायु ही इन सब अग्नि आदिका संहार करता है) इस प्रकार शब्दमात्रसे ऐश्वर्यश्रवणका भी अन्य लिंगरूपसे स्वीकार करना चाहिए। इन लिंगोंसे वायु अनादि और अनन्त है, ऐसा प्रतीत होनेसे उत्पत्ति गौणी है, इस प्रकार दोनों श्रुतियोंमें अविरोध है। ऐसा प्राप्त होनेपर प्रतिपादन करनेके लिए अभीष्ट प्रतिज्ञाश्रुतिके अधिक बलवान् होनेसे उसके साधक वायुकी उत्पत्ति कहनेवाले वाक्योंका यत्र तत्र आधिक्य होनेसे और कहे हुए विभक्तत्व आदि लिंगोंका अनुग्रह करनेसे वायुकी उत्पत्ति मुख्य ही है, इसलिए 'आकाशं वायुम्०' (आकाश और वायुको उत्पन्न करके तेजको उत्पन्न किया) इस प्रकार दोनों श्रुतियोंकी

भाष्य

इत्यस्तमयप्रतिषेधात्, अमृतत्वादिश्रवणाच्च। प्रतिज्ञानुपरोधाद् यावद्विकारं च विभागाभ्युपगमादुत्पद्यते वायुरिति सिद्धान्तः, अस्तमयप्रतिषेधोऽपरविद्याविषय आपेक्षिकः, अग्न्यादीनामिव वायोः अस्तमयाभावात्। कृतप्रतिविधानं चाऽमृतत्वादिश्रवणम्। ननु वायोराकाशस्य च तुल्ययोरुत्पत्तिप्रकरणे श्रवणाश्रवणयोरेकमेवाऽधिकरणमुभयविषयमस्तु, किमतिदेशेनाऽसति विशेष इति। उच्यते—सत्यमेवमेत। तथापि मन्दधियां शब्दमात्रकृताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयमतिदेशः क्रियते। संवर्गविद्यादिषु ह्युपा-

भाष्यका अनुवाद

देवता है) इस श्रुतिसे अस्तमयका निषेध और अमृतत्वादिका श्रवण है। प्रतिज्ञाका उपरोध न होनेके लिए और 'जितना विकार है उतना विभाग है' ऐसा स्वीकार होनेसे वायु उत्पन्न होता है, ऐसा सिद्धान्त है। अस्तमयका प्रतिषेध अपरविद्याविषयक है, और आपेक्षिक है, क्योंकि अग्नि आदिके समान वायु अस्त नहीं होता है। अमृतत्व आदि श्रुतिका समाधान किया है। अगर उत्पत्ति प्रकरणमें वायु और आकाश दोनोंका श्रवण और अश्रवण तुल्य है, तो दोनोंका एक ही अधिकरण हो, विशेष न रहनेपर अतिदेशका क्या प्रयोजन है? कहते हैं—यह सत्य है, तथापि स्वल्पमतिवाले पुरुषोंकी शब्दमात्रसे प्राप्त आशङ्काकी निवृत्तिके लिए अतिदेश किया है, क्योंकि संवर्ग आदि विद्यामें

रत्नप्रभा

तेति श्रुत्योः एकवाक्यतया ब्रह्मणि समन्वयः। लिङ्गानि तूपास्यवायुस्तावकत्वादापेक्षिकतया व्याख्येयानीति मुख्यसिद्धान्तमाह—**प्रतिज्ञेत्यादिना**। **कृतं प्रतिविधानम्**—आपेक्षिकत्वेन समाधानं यस्य तत् तथा। अधिकरणारम्भमाक्षिप्योक्तामधिकाशङ्कामाह—**नन्वित्यादिना**। 'वायुर्वावैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते' इत्यादिशब्दमात्रं शङ्कामूलं नार्थ इति द्योतनार्थं मात्रपदम्। तामेव शङ्कामाह—**संवर्गेति**। व्यष्टि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

एकवाक्यतासे ब्रह्ममें समन्वय है। लिंग तो उपास्य वायुका स्तावक होनेसे आपेक्षिकरूपसे व्याख्येय है, ऐसा मुख्य सिद्धान्त कहते हैं—"प्रतिज्ञा" इत्यादिसे। किया गया है प्रतिविधान—आपेक्षिकरूपसे समाधान जिसका वह कृतप्रतिविधान है। अधिकरणके आरंभका आक्षेप करके कही गई अधिक शंकाको कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'वायुर्वावैतान्०' (वायु ही इन सबका संवरण करता है) इत्यादि शब्दमात्र शंकाका मूल है, अर्थ शंकाका मूल नहीं है, ऐसा सूचन करनेके लिए शब्दमात्रमें 'मात्र' पद है। उसीको कहते हैं—"संवर्ग" इत्यादिसे। व्यष्टि और

भाष्य

स्ततया वायोर्महाभागत्वश्रवणात्, अस्तमयप्रतिषेधादिभ्यश्च भवति नित्यत्वाशङ्का कस्यचिदिति ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

उपास्यरूपसे 'वायु महाप्रभाववाला है' ऐसी श्रुति है और अस्तमयके प्रतिषेध आदिसे वह नित्य है, ऐसी आशङ्का किसीको हो सकती है ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

समष्ट्युपास्तिः 'वायुं दिशां वत्सं वेद' (छा० ३।१५।२) इत्युपास्तिश्च आदिशब्दार्थः ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मष्टिकी उपासना और 'स यो वायुं दिशाम्०' (वह जो वायुको दिशाओंका बछड़ा जानता है) यह उपासना भी संवर्गविद्या आदिमें 'आदि' पदका अर्थ है ॥८॥

[३ असम्भवाधिकरण सू० ९]

सद् ब्रह्म जायते नो वा कारणत्वेन जायते ।
यत् कारणं जायते तद्वियद्वाय्वादयो यथा ॥१॥
असतोऽकारणत्वेन खादीनां सत उद्भवात् ।
व्याप्तेरजादिवाक्येन बाधात् सन्नैव जायते ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न होता है अथवा नहीं होता ?

पूर्वपक्ष—सद्रूप ब्रह्म कारण होनेसे उत्पन्न होता है, क्योंकि जो कारण है, जैसे आकाश, वायु आदि, वे उत्पन्न होते हैं ।

सिद्धान्त—सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि असत् सत्का कारण नहीं है, आकाश आदिकी सत्से उत्पत्ति होती है, और जो कारण है वह उत्पन्न होता है, इस व्याप्तिका 'स वा एष महानजः' (वह महान् नित्य है) इस श्रुतिसे बाध होता है ।

* तात्पर्य्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—छान्दोग्यमें 'सदेव सोम्येदमग्र०' हे सोम्य, सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् सद्रूप—अव्याकृतनामरूप ही था, ऐसी श्रुति है। और सद्रूप ब्रह्म जन्मवान् है, कारण होनेसे, आकाशके समान, इस अनुमानसे ब्रह्म उत्पत्तिमान् होगा। ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मके जनक-कारणका

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—असम्भवः, तु, सतः, अनुपपत्तेः ।

पदार्थोक्ति—सतः—सदात्मकस्य ब्रह्मणः, असम्भवः—उत्पत्त्यसम्भवः, [कुतः] अनुपपत्तेः—सत्सामान्यात् सत्सामान्यस्य उत्पत्त्यनुपपत्तेः [विशेषस्यैव घटादेर्मृत्सामान्यजन्यत्वदर्शनात्] ।

भाषार्थ—सत्स्वरूप ब्रह्मकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं है, क्योंकि सत्-सामान्यसे सत्सामान्यकी उत्पत्तिकी अनुपपत्ति है। विशेष घट आदि ही मृत्तिका-रूप सामान्यसे उत्पन्न होते दिखाई देते हैं।

भाष्य

वियत्पवनयोरसम्भाव्यमानजन्मनोरप्युत्पत्तिमुपश्रुत्य ब्रह्मणोऽपि भवेत्

भाष्यका अनुवाद

जिनकी उत्पत्तिकी सम्भावना नहीं है, ऐसे आकाश और पवनकी उत्पत्ति

रत्नप्रभा

असम्भवस्त्विति । 'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्' (क० ३।१५) 'न चास्य कश्चिज्जनिता' (श्वे० ६।९) इत्यादिब्रह्मानादित्वश्रुतीनां 'त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' इति उत्पत्तिश्रुत्या विरोधोऽस्ति न वा इत्येकवाक्यत्वभावाभावाभ्यां सन्देहे अस्ति विरोध इति पूर्वपक्षे यथा वाय्वादेः अमृतत्वादिकम् उत्पत्तिश्रुतिबलाद् आपेक्षिकम्, तथा ब्रह्मानादित्वम् आपेक्षिकम् इति दृष्टान्तसङ्गत्या एकदेशिपक्षं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"असम्भवस्तु" इत्यादि। 'अनाद्यनन्तम्०' (अनादि, अनन्त, महत्से पर और ध्रुव है) 'न चाऽस्य०' (इसका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं है) इत्यादि श्रुतियां जो ब्रह्मको अनादि कहती हैं, उन श्रुतियोंका 'त्वं जातो भवसि' (तुम सर्वतोमुख उत्पन्न हुए हो) इस श्रुतिके साथ विरोध है या नहीं, इस प्रकार एकवाक्यताके अस्तित्व और अभावसे सन्देह होनेपर विरोध है, ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर जैसे वायु आदिके अमृतत्व आदि उत्पत्ति श्रुतिके बलसे

निरूपण करना सम्भव नहीं है। असत् तो ब्रह्मका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि 'कथमसतः सज्जायेत' (असत्से सत् कैसे उत्पन्न होगा) इस प्रकार निषेध है और सत् ही सत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेमें आत्माश्रय दोषकी प्राप्ति होती है। आकाश आदि भी सत्के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि आकाश आदि सत्से उत्पन्न होते हैं। और जो यह व्याप्ति है कि जो जो कारण है वह उत्पन्न होता है, वह 'स वा एष महानज आत्मा' (यह महान् आत्मा जन्मरहित है) इस श्रुतिसे बाधित है। इससे सिद्ध हुआ कि सद्रूप ब्रह्म उत्पन्न नहीं है।

भाष्य

कुतश्चिदुत्पत्तिरिति स्यात् कस्यचिन्मतिः । तथा विकारेभ्य एवाऽऽकाशादिभ्य उत्तरेषां विकाराणामुत्पत्तिमुपश्रुत्याऽऽकाशस्याऽपि विकारादेव ब्रह्मण उत्पत्तिरिति कश्चिन्मन्येत, तामाशङ्कामपनेतुमिदं सूत्रम्—'असम्भवस्तु' इति। न खलु ब्रह्मणः सदात्मकस्य कुतश्चिदन्यतः सम्भवः—उत्पत्तिराशङ्कितव्या,

भाष्यका अनुवाद

को जानकर ब्रह्मकी भी उत्पत्ति किसीसे होगी' ऐसी बुद्धि किसी पुरुषकी हो सकती है । उसी प्रकार आकाशादि विकारोंसे उत्तर [वायु आदि] विकारोंकी उत्पत्ति जान कर आकाशकी उत्पत्ति विकार ब्रह्मसे ही होगी, ऐसा कोई मानेगा। उस आशङ्काका निवारण करनेके लिए यह सूत्र है—'असम्भवस्तु' इत्यादि । सदात्मक

रत्नप्रभा

प्रापयति—वियदिति । ब्रह्म कुतश्चिद् जायते, कारणत्वाद्, आकाशवत्, इति अनुमानानुग्रहाद् जन्मश्रुतिः बलियसी इत्याह—तथेति । न च अनादिकारणाभावेन अनवस्था, बीजाङ्कुरवद् अनादित्वोपपत्तेः । तथा च दीपाद् दीपवद् ब्रह्मान्तरात् ब्रह्मान्तरोत्पत्तिः, उत्पत्तिश्रुत्या च अनादित्वश्रुतिः नेया इति अनाद्यनन्तब्रह्मसमन्वयासिद्धिः इति प्राप्ते मुख्यसिद्धान्तम् आह—तामिति । ब्रह्म न च जायते, कारणशून्यत्वात्, नरविषाणवद्, व्यतिरेकेण घटवच्च इति अनुमानानुग्रहाद् विपक्षे चाऽकारणककार्यवादप्रसङ्गाद् ब्रह्मानादित्वश्रुतयो बलीयस्य इति कारणत्वलिङ्गबाधाद् जन्मश्रुतिः कार्याभेदेन व्याख्येया इति अनाद्यनन्तब्रह्मसमन्वयसिद्धिः इति सिद्धान्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आपेक्षिक माने हैं, वैसे ब्रह्मका अनादित्व भी आपेक्षिक है, ऐसी दृष्टान्तकी सङ्गतिसे एकदेशीका पक्ष लाते हैं—"वियद्" इत्यादिसे । ब्रह्म किसी एकसे उत्पन्न होता है, कारण होनेसे, आकाशके समान, इस अनुमानसे अनुगृहीत जन्मश्रुति अधिक बलवती है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। अनादिको—नित्यको—कारण नहीं माननेपर अनवस्था होगी ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बीजाऽङ्कुरके समान अनादित्वकी उपपत्ति हो सकती है । इसलिए एक दीपसे जैसे अन्य दीप उत्पन्न होता है, वैसे ही एक ब्रह्मसे अन्य ब्रह्म उत्पन्न होता है, अतः उत्पत्तिश्रुतिसे अनादित्वश्रुतिको गौण मानना चाहिए, इस प्रकार अनादि और अनन्त ब्रह्मका समन्वय असिद्ध होगा, ऐसा प्राप्त होनेपर मुख्य सिद्धान्त कहते हैं—"ताम्" इत्यादिसे । ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता, कारणशून्य होनेसे, नरविषाणके समान, और व्यतिरेक दृष्टान्तसे घटके समान, इस अनुमानके अनुग्रहसे और विपक्षमें कारणशून्य कार्यवादका प्रसङ्ग आनेसे, ब्रह्मको अनादि कहनेवाली श्रुतियां अधिक बलवती हैं, इसलिए कारणत्व लिङ्गके बाधसे जन्मश्रुतिका कार्यके अभेदसे व्याख्यान करना चाहिए, इस प्रकार अनादि अनन्त ब्रह्मकी समन्वयसिद्धि सिद्धान्तका फल

भाष्य

कस्मात् ? अनुपपत्तेः । सन्मात्रं हि ब्रह्म, न तस्य सन्मात्रादेवोत्पत्तिः सम्भवति, असत्यतिशये प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः । नापि सद्विशेषाद्, दृष्टविपर्ययात् । सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते, मृदादेर्घटादयः, न तु विशेषेभ्यः सामान्यम् । नाऽप्यसतो निरात्मकत्वात्, 'कथमसतः सज्जायेत' (छा० ८।७।१) इति चाऽऽक्षेपश्रवणात् 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति च ब्रह्मणो जनयितारं वारयति । वियत्पवनयोः पुनरुत्पत्तिः प्रदर्शिता, न तु ब्रह्मणः

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मकी किसी अन्यसे उत्पत्ति होगी, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, किससे ? अनुपपत्ति होनेसे । क्योंकि सन्मात्र ब्रह्म है, उसकी सन्मात्रसे ही उत्पत्ति नहीं हो सकती, कारण कि अतिशय न होनेसे प्रकृतिविकारभाव अनुपपन्न है । उसी प्रकार सद्विशेषसे भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दृष्ट—प्रत्यक्षसे विपर्यय—विरोध होगा। सामान्यसे विशेष उत्पन्न होते देखे जाते हैं, जैसे मृत्तिका आदिसे घट आदि, परन्तु विशेषोंसे सामान्य उत्पन्न होते नहीं देखे जाते हैं। असत्से भी सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह निरात्मक है, 'कथमसतः०' (असत्से सत् किसप्रकार उत्पन्न होगा) ऐसे आक्षेपका श्रवण है। स कारणं करणा०' (वह कारण है इन्द्रियोंके अधिपोंका अर्थात् जीवोंका अधिप है और इसका कोई जनक और अधिप नहीं है) यह श्रुति ब्रह्मके उत्पन्न करनेवालेका निषेध करती है। आकाश और पवनकी उत्पत्ति दिखलाई जा चुकी है, परन्तु ब्रह्मकी उत्पत्ति नहीं ऐसा वैषम्य है ।

रत्नप्रभा

फलम् । न च हेत्वसिद्धिः, कारणस्य अनिरूपणात्, तथा हि—किं सन्मात्रस्य ब्रह्मणः सन्मात्रमेव सामान्यं कारणं सद्विशेषो वा असद्वा । न त्रेधाऽपि इत्याह—**सन्मात्रं हीत्यादिना** । दीपस्तु दीपान्तरे निमित्तम् इति अनुदाहरणम् । वियत्पवनयोः ब्रह्मणश्च विभक्तत्वाविभक्तत्वाभ्यां कारणभावाभावाभ्यां च वैषम्यम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है । कारणका निरूपण नहीं होनेसे हेतुकी (कारणशून्यत्वकी) असिद्धि नहीं है । जैसे—सत्स्वरूप ब्रह्मका सत्सामान्य ही कारण है या सद्विशेष कारण है अथवा असत् कारण है, तीनों प्रकारसे भी कारणका निरूपण नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"सन्मात्रं हि" इत्यादिसे । दीपक तो अन्य दीपकमें निमित्त है, अतः दृष्टान्त ही नहीं हो सकता है । आकाश और पवन विभक्त एवं सकारणक हैं, ब्रह्म तो विभक्त और सकारणक नहीं है, अतः वैषम्य है । तर्कसे भी बाध

भाष्य

साऽस्तीति वैषम्यम्। न च विकारेभ्यो विकारान्तरोत्पत्तिदर्शनाद् ब्रह्मणोऽपि विकारत्वं भवितुमर्हतीति, मूलप्रकृत्यनभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। या मूलप्रकृतिरभ्युपगम्यते तदेव च नो ब्रह्मेत्यविरोधः ॥ ९ ॥

भाष्यका अनुवाद

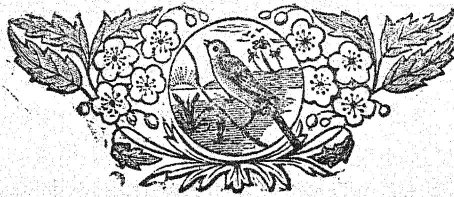
विकारोंसे अन्य विकारोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिए ब्रह्म भी विकाररूप हो ? यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि मूलप्रकृतिका स्वीकार नहीं करनेसे अनवस्था दोषका प्रसङ्ग होगा। और जो मूलप्रकृति है, वही हमारा ब्रह्म है, अतः विरोध नहीं है ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

कारणत्वलिङ्गस्य अप्रामाणिकानवस्था। तर्केणाऽपि बाधमाह—न च विकारेभ्य इत्यादिना। कारणस्य अनभ्युपगमे यदृच्छावादप्रसङ्गः, अनादिकारणानभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गः, तदभ्युपगमे ब्रह्मवादप्रसङ्गः, कारणान्तरस्य प्रधानादेः निरासादिति भावः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"न च विकारेभ्यः" इत्यादिसे। कारणका स्वीकार नहीं करनेसे आकस्मिक कार्यवादका प्रसङ्ग आवेगा और अनादि नित्य ब्रह्मको कारण नहीं माननेसे अनवस्था होगी, अनादिको कारण मानोगे तो ब्रह्मवादका प्रसङ्ग है, उसकी डरसे अन्य प्रधानादिको कारण रूपसे स्वीकार करोगे तो वह युक्त नहीं, क्योंकि उसका निरास हो चुका है ॥९॥



[४ तेजोऽधिकरण सू० १०]

ब्रह्मणो जायते वह्निर्वायोर्वा ब्रह्मसंयुतात् ।
तत्तेजोऽसृजतेत्युक्तेर्ब्रह्मणो जायतेऽनलः ॥१॥
वायोरग्निरिति श्रुत्या पूर्वश्रुत्येकवाक्यतः ।
ब्रह्मणो वायुरूपत्वमापन्नादग्निसंभवः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—अग्नि ब्रह्मसे उत्पन्न होती है अथवा वायुरूपापन्न ब्रह्मसे उत्पन्न होती है?

पूर्वपक्ष—'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजको उत्पन्न किया) यह श्रुति है, इससे प्रतीत होता है कि अग्नि ब्रह्मसे उत्पन्न होती है।

सिद्धान्त—'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि उत्पन्न होती है) इस श्रुतिके साथ पूर्व श्रुतिकी एकवाक्यता होनेसे वायुरूपताको प्राप्त हुए ब्रह्मसे अग्निकी उत्पत्ति होती है।

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

पदच्छेद—तेजः, अतः, तथा, हि, आह।

पदार्थोक्ति—तेजः—अग्निः, अतः—अस्माद् वायोर्जायते, हि—यतः, तथा—वायुजन्यत्वम्, आह—'वायोरग्निः' इति श्रुतिः वर्णयति।

भाषार्थ—तेज वायुसे उत्पन्न होता है, क्योंकि तेजका वायुसे उत्पन्न होना 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि उत्पन्न होती है) यह श्रुति बतलाती है।

---

* पूर्वपक्षी कहता है कि—छान्दोग्य उपनिषद्में 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजकी सृष्टि की) यह श्रुति तेज ब्रह्मसे उत्पन्न है ऐसा प्रतिपादन करती है और तैत्तिरीयकमें 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि उत्पन्न है) इस श्रुतिसे तेज वायुजन्य है ऐसा प्रतीत होता है। पूर्वपक्षी कहता है कि तैत्तिरीयक श्रुतिमें 'वायोः' इस पञ्चमीका आनन्तर्यरूप अर्थ भी हो सकता है, इसलिए तेज केवल ब्रह्मजन्य ही है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि अनुवर्तमान सम्भूतशब्दसे अन्वित 'वायोः' इस पञ्चमीका उपादानरूप अर्थ ही मुख्य है। दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यता होनेपर वायुरूपापन्न ब्रह्मसे तेज उत्पन्न होता है, ऐसा अवगत होता है।

भाष्य

छान्दोग्ये सन्मूलत्वं तेजसः श्रावितम्, तैत्तिरीयके तु वायुमूलत्वम्, तत्र तेजोयोनिं प्रति श्रुतिविप्रतिपत्तौ सत्यां प्राप्तं तावद् ब्रह्मयोनिकं तेजः इति। कुतः? 'सदेव' इत्युपक्रम्य 'तत्तेजोऽसृजत' इत्युपदेशात्, सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च ब्रह्मप्रभवत्वे सर्वस्य सम्भवात्, 'तज्जलान्' (छा० ८।७।१)

भाष्यका अनुवाद

छान्दोग्यमें तेजका मूल सत् है, ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है, तैत्तिरीयकमें तो तेजका मूल वायु है, ऐसा कहा गया है, उन दोनोंमें तेजके कारणके प्रति श्रुतियोंमें परस्पर सन्देह होनेपर ब्रह्म तेजका कारण है, ऐसा प्राप्त होता है। किससे? इससे कि 'सदेव' (सन्मात्र) ऐसा उपक्रम करके 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) ऐसा उपदेश है। सम्पूर्ण वस्तुओंके ब्रह्मजन्य होनेपर

रत्नप्रभा

तेजोऽतस्तथा ह्याह। 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति 'वायोरग्निः' (तै० २।१।२) इति च श्रुत्योः विरोधोऽस्ति न वा इति सन्देहे सामान्यात् सामान्योत्पत्त्यसम्भवेऽपि ब्रह्मवाय्वोः सामान्ययोः तेजोरूपविशेषोपादानत्वसम्भवात् तुल्यबलतया अस्ति विरोध इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः। सर्वत्र आ अध्यायसमाप्तेः एकवाक्यतासम्भवासम्भवौ संशयबीजम्। पूर्वपक्षे श्रुतीनां विरोधाद् अप्रामाण्यं फलम्, सिद्धान्ते प्रामाण्यम् इति उक्तं न विस्मर्तव्यम्। एवं पूर्वपक्षे कार्यमात्रस्य विवर्तत्वात् कल्पितस्य वायोस्तेजःकल्पनाधिष्ठानत्वायोगाद् ब्रह्मैव तेजस उपादानम्, सर्वकार्याणां ब्रह्मैव उपादानम् इत्यर्थे श्रुतीनां भूयस्त्वाच्च, तदनुरोधाद् वायोरिति क्रमार्था पञ्चमी इति अविरोध इति एकदेशिसिद्धान्तं प्रापयति—प्राप्तं तावद् ब्रह्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तेजोऽतस्तथा ह्याह"। 'तत्तेजोऽसृजत' और 'वायोरग्निः' इन दो श्रुतियोंका विरोध है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर सामान्यकी सामान्यसे उत्पत्तिका सम्भव नहीं है, तो भी ब्रह्म और वायु ये दोनों सामान्य तेजोरूप विशेषके उपादान हो सकते हैं, इसलिए तुल्यबल होनेसे विरोध है, ऐसा प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष है। अध्यायसमाप्ति पर्य्यन्त सर्वत्र एकवाक्यताका सम्भव और असम्भव यह संशयके कारण हैं। पूर्वपक्षमें विरोध होनेसे श्रुतियोंका अप्रामाण्य फल है, और सिद्धान्तमें प्रामाण्य फल है, ऐसा कहा गया है, उसे नहीं भूलना चाहिए। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर कार्यमात्रके विवर्त होनेसे कल्पित वायु तेजःकल्पनाका अधिष्ठान नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्म ही तेजका उपादान है, और सब कार्योंका ब्रह्म ही उपादान है इस अर्थ में बहुत श्रुतियाँ हैं, अतः उनके अनुसार 'वायोः' यह क्रमार्थ पञ्चमी है, इस प्रकार अविरोध है, ऐसा एकदेशीका सिद्धान्त कहते हैं—"प्राप्तं तावत् ब्रह्मयोनिकं तेजः" इत्यादिसे।

भाष्य

इति चाऽविशेषश्रुतेः, 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु०२।१।३) इति चोपक्रम्य श्रुत्यन्तरे सर्वस्याऽविशेषेण ब्रह्मजत्वोपदेशात्। तैत्तिरीयके च 'स तपस्तप्त्वा, इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च' (तै०३।६।१) इत्यविशेषश्रवणात्। तस्मात् 'वायोरग्निः' इति क्रमोपदेशो द्रष्टव्यो वायोरनन्तरमग्निः सम्भूत इति।

एवं प्राप्ते उच्यते—तेजोऽतो मातरिश्वनो जायत इति। कस्मात्? तथा ह्याह—'वायोरग्निः' इति। अव्यवहिते हि तेजसः ब्रह्मजत्वे सत्यसति

भाष्यका अनुवाद

ही सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाका सम्भव है, 'तज्जलान्' (यह जगत् उससे उत्पन्न होता है, उसमें लीन होता है, और उसमें चेष्टा करता है) ऐसी साधारणरूपसे श्रुति है, 'एतस्माज्जायते प्राणः' (इससे प्राण उत्पन्न होता है) ऐसा उपक्रम करके अन्य श्रुतिमें सब वस्तुएँ साधारणतया ब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं, ऐसा उपदेश है, और तैत्तिरीयकमें 'स तपस्तप्त्वा इदम्' (उसने तपकरके यह सब उत्पन्न किया जो कुछ यह प्रपञ्च है) ऐसी विशेषरहित श्रुति है। इसलिए 'वायोरग्निः' ऐसा क्रमोपदेश समझना चाहिए, वायुके पीछे अग्नि उत्पन्न हुई।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—तेज वायुसे उत्पन्न होता है। किससे? इससे कि 'वायोरग्निः' ऐसा कहा है, क्योंकि तेजकी ब्रह्मसे व्यवधानरहित उत्पत्ति

रत्नप्रभा

योनिकं तेज इत्यादिना। श्रुतीनां विरोधमात्रोपन्यासेन पूर्वपक्षः, अपसिद्धान्तेन अविरोधात् तावत् एकदेशिपक्ष इति ज्ञेयम्। तत् उभयमपि मुख्यसिद्धान्तापेक्षया पूर्वपक्षत्वेन व्यवह्रियते।

सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति। कदर्थिता—बाधितार्था इति यावत्। वायोस्तेजःप्रकृतित्वं पञ्चमीश्रुत्या निर्धारितम्, न च कल्पितस्य उपादानत्वासम्भवः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतियोंके विरोधमात्रके उपन्याससे पूर्वपक्ष है, अपसिद्धान्तसे अविरोध है, यह एकदेशीका पक्ष है, ऐसा समझना चाहिए। मुख्य सिद्धान्तकी अपेक्षासे वे दोनों पूर्वपक्षरूपसे व्यवहृत होते हैं।

सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। कदर्थित—बाधितार्थ। वायु तेजकी प्रकृति है, ऐसा पञ्चमी विभक्तिसे निर्धारित होता है, और कल्पित उपादान हो यह सम्भव नहीं है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कल्पित अधिष्ठानके न होनेपर भी मृत्तिका आदिके समान परिणामी होना सम्भव है, छान्दोग्यमें स्वतः ब्रह्म स्रष्टा ही

भाष्य

वायुजत्वे 'वायोरग्नि' इतीयं श्रुतिः कदर्थिता स्यात् । ननु क्रमार्थैषा भविष्यतीत्युक्तम्। नेति ब्रूमः—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै०२।१।१) इति पुरस्तात् सम्भवत्यपादानस्याऽऽत्मनः पञ्चमीनिर्देशात्, तस्यैव च सम्भवतेरिहाधिकारात्, परस्तादपि च तदधिकारे 'पृथिव्या ओषधयः' (तै०२।१।१) इत्यपादानपञ्चमीदर्शनात् 'वायोरग्निः' इत्यपादान-

भाष्यका अनुवाद

मानी जाय और वायुसे न मानी जाय, तो 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि) यह श्रुति बाधित हो जायगी। यह श्रुति क्रमवाचिका होगी, ऐसा कहा जा चुका है ? हम कहते हैं नहीं, क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार पूर्वमें सम्भव क्रियाके अपादान आत्माका पञ्चमीसे निर्देश है, उसी सम्भव क्रियाका यहां अधिकार है, और पीछे भी उसके अधिकारमें 'पृथिव्या ओषधयः' (पृथिवीसे औषधियां) इस श्रुति में अपादान पञ्चमीका निर्देश है, इसलिए 'वायोरग्निः' यह अपादान पञ्चमी

रत्नप्रभा

अधिष्ठानत्वासंभवेऽपि मृदादिवत् परिणामित्वसंभवात्, स्वतस्तु ब्रह्मणः छान्दोग्ये स्रष्टृत्वमात्रं श्रुतम्, नोपादानत्वम्। न च 'बहु स्याम्' (तै०२।६।२, छा० ६।२।३) इति कार्याभेदेक्षणलिङ्गाद् उपादानत्वसिद्धिः, लिङ्गात् श्रुतेः बलीयस्त्वेन श्रुत्यविरोधेन लिङ्गस्य नेयत्वात्। नयनं चेत्थं वायोः ब्रह्मानन्यत्वाद् वायुजस्याऽपि तेजसो ब्रह्मप्रकृतिकत्वम् अविरुद्धमिति सिद्धान्तग्रन्थाशयः। इहाधिकारादिति। 'वायोरग्निः सम्भूतः' इति वाक्ये सम्बन्धादित्यर्थः। तदधिकारे—सम्भूत्यधिकारे, निरपेक्षकारकविभक्तेः उपपदसापेक्षविभक्त्यपेक्षया प्रबलत्वाच्च न क्रमार्था पञ्चमी इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है, उपादान है, ऐसा प्रतिपादन नहीं करती। और 'बहु स्याम्' इस श्रुतिमें कार्यके साथ ब्रह्मका अभेद और ईक्षण देखनेमें आता है, अतः इसी लिङ्ग प्रमाणसे ब्रह्मको (साक्षात्) तेजका उपादान माना जाय ? नहीं, क्योंकि, लिङ्गकी अपेक्षा श्रुतिके बलवती होनेसे तदनुसारी लिङ्ग लिया जायगा, इसलिए वायुका ब्रह्मके साथ अभेद होनेसे वायुसे उत्पन्न तेज भी ब्रह्मप्रकृतिक है, इसमें विरोध नहीं, ऐसा सिद्धान्तग्रन्थका आशय है। "इहाधिकाराद्" इति। 'वायोरग्निः सम्भूतः' इस वाक्यमें सम्बन्ध होनेसे, ऐसा अर्थ है। उसके अधिकारमें—संभवक्रियाके अधिकारमें, निरपेक्ष कारकविभक्ति, उपपद सापेक्ष विभक्तिसे अधिक बलवती है, अतः

भाष्य

पञ्चम्येवैषेति गम्यते। अपि च वायोरूर्ध्वमग्निः सम्भूत इति कल्प्य उपपदार्थयोगः, क्लृप्तस्तु कारकार्थयोगो वायोरग्निः सम्भूत इति। तस्मादेषा श्रुतिर्वायुयोनित्वं तेजसोऽवगमयति। नन्वितराऽपि श्रुतिर्ब्रह्मयोनित्वं तेजसोऽवगमयति 'तत्तेजोऽसृजत' इति। न, तस्याः पारम्पर्यजत्वेऽप्यविरोधात्। यदाऽपि ह्याकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायुभावापन्नं ब्रह्म तेजोऽसृजतेति कल्प्यते, तदाऽपि ब्रह्मजत्वं तेजसो न विरुध्यते। यथा 'तस्याः शृतं तस्या

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा समझा जाता है। और 'वायोरूर्ध्वमग्निः' (वायुके अनन्तर अग्नि उत्पन्न हुई) इस प्रकार उपपदके अर्थके योगकी कल्पना करनी पड़ती है और 'वायोरग्निः सम्भूतः' इसमें कारकके अर्थका योग श्रुत है। इसलिए यह श्रुति वायुसे तेजकी उत्पत्तिका बोध कराती है। परन्तु 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) यह दूसरी श्रुति भी तेज ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, ऐसा बोध कराती है। नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परम्परासे वायुरूपापन्न ब्रह्मसे उत्पन्न होनेपर भी इस श्रुतिका विरोध नहीं है। यदि आकाश और वायुको उत्पन्न करके वायुभावको प्राप्त हुए ब्रह्मने तेजको उत्पन्न किया ऐसी कल्पना की जाय, तो भी तेज ब्रह्मसे उत्पन्न होता है इसका विरोध नहीं है। जैसे उसका—गायका गर्म किया हुआ दूध,

रत्नप्रभा

अपि चेति। ऊर्ध्वम् अनन्तरमिति वोपपदं विना पञ्चमीमात्रात् क्रमो न भवतीति कल्प्य उपपदार्थयोगः, प्रकृत्याख्यापादानकारकं तु निरपेक्षपञ्चम्या भाति। विशेषतोऽत्र प्रकरणाद् अपादानार्थत्वं पञ्चम्याः क्लृप्तम्, क्लृप्तेन च कल्प्यं सति विरोधे बाध्यमिति स्थितिः इत्यर्थः। पारम्पर्यजत्वमेवाऽऽह—**यदाऽपीति।** तस्याः—धेनोः शृतम्—तप्तं क्षीरं साक्षात् कार्यम्, दध्यादिकं तु पारम्पर्यजम् इत्यर्थः। दधिसंसृष्टम् कठिनक्षीरम्—आमिक्षा। ब्रह्मणो वायुभावे

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रमार्थ पञ्चमी नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। ऊर्ध्वम्—अनन्तर। ऊर्ध्व या अनन्तर इन उपपदोंके बिना केवल पञ्चमीसे क्रम नहीं जाना जा सकता, इसलिए उपपदके अर्थके योगकी कल्पना करनी चाहिए, परन्तु प्रकृतिरूप अपादान कारक तो निरपेक्ष पञ्चमीसे देखा जाता है। विशेष करके यहां प्रकरणसे पञ्चमीका अपादान अर्थ निश्चित है और निश्चितसे विरोध हो तो कल्पनीय सम्बन्ध बाध्य है, यह स्थिति है, ऐसा अर्थ है। परम्परासे उत्पत्ति ही कहते हैं—"यदाऽपि" इत्यादिसे। उसका—गायका गरम किया हुआ दूध साक्षात् कार्य है और दही आदि परम्परासे उत्पन्न हुए हैं, ऐसा अर्थ है, दहीसे संयुक्त गाढ़ा दूध—पनीर

भाष्य

दधि तस्या आमिक्षा' इत्यादि। दर्शयति च ब्रह्मणो विकारात्मनाऽवस्थानम्—'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै०२।७।१) इति। तथा चेश्वरस्मरणं भवति—'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः' (भ०गी०१०।४) इत्याद्यनुक्रम्य 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (भ०गी०१०।५) इति। यद्यपि बुद्ध्यादयः स्वकारणेभ्यः प्रत्यक्षं भवन्तो दृश्यन्ते, तथापि सर्वस्य भावजातस्य साक्षात् प्रणाल्या वेश्वरवंश्यत्वात्। एतेनाऽक्रमवत्सृष्टिवादिन्यः श्रुतयो व्या-

भाष्यका अनुवाद

उसका दही और उसकी आमिक्षा (पनीर) और 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने आत्माकी स्वयं रचना की) यह श्रुति ब्रह्मकी विकारस्वरूपसे अवस्थिति दिखलाती है, इसी प्रकार ईश्वरकी स्मृति है—'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः' (बुद्धि, ज्ञान और असंमोह) इत्यादिसे उपक्रम करके 'भवन्ति भावा भूतानाम्' (मुझसे ही प्राणियोंके नाना प्रकारके बुद्धि आदि कार्यविशेष होते हैं) इत्यादि। यद्यपि बुद्धि आदि स्वकारणोंसे उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, तो भी सब पदार्थ साक्षात् या परम्परासे[1] ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं। इस कथनसे क्रमरहित सृष्टिका प्रतिपादन

रत्नप्रभा

मानमाह—दर्शयति चेति। पारम्पर्यजस्य अपि तज्जत्वव्यपदेशे स्मृतिमाह—तथा चेति। अन्तःकरणादिभ्यो जायमानबुद्ध्यादीनां 'मत्त एव' इति अवधारणं कथमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीत्यादिना। प्रणाल्या—परम्परया, ईश्वरवंश्यत्वात्—तज्जत्वात् परमकारणान्तरनिरासार्थम् अवधारणम् युक्तमिति शेषः। एतत्पदार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आमिक्षा है। ब्रह्म वायुरूपापन्न होता है, इसमें प्रमाण कहते हैं—"दर्शयति" इत्यादिसे। इसलिए परम्परासे उत्पन्न हुएका भी उससे उत्पन्नरूपसे व्यवहार होता है, इसमें स्मृतिको प्रमाणरूपसे कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। अन्तःकरण आदिसे उत्पन्न हुए बुद्धि आदि भावोंकी मुझसे ही उत्पत्ति होती है, ऐसा अवधारण किस प्रकार होता है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। प्रणालीसे—परम्परासे, सब पदार्थ ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं, अतः उससे अन्य परम कारणका निरसन करनेके लिए अवधारण युक्त है, इतना शेष है।

(१) यहांपर यह रहस्य है—यद्यपि ब्रह्म 'इदं सर्वमसृजत' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियोंसे और 'वायुः सन्' इत्यादि प्रतीतिसे वाय्वादि उत्तर कार्योंमें साक्षात्कारण रूपसे भासता है, परम्परासे ही कारण भासता है ऐसा नहीं है तथापि कारणका भी ब्रह्म कारण है इसी अभिप्रायसे 'परम्परा' शब्द प्रयुक्त है।

भाष्य

ख्याताः, तासां सर्वथोपपत्तेः। क्रमवत्सृष्टिवादिनीनां त्वन्यथानुपपत्तेः प्रतिज्ञाऽपि सद्वंश्यत्वमात्रमपेक्षते नाव्यहितजन्यत्वमित्यविरोधः ॥१०॥

भाष्यका अनुवाद

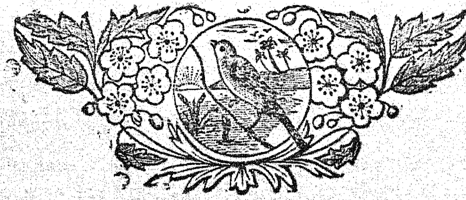
करनेवाली श्रुतियां व्याख्यात हुईं, क्योंकि उनकी सब प्रकारसे उपपत्ति होती है। परन्तु क्रमशः सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां तो अन्यथा अनुपपन्न हैं। प्रतिज्ञा भी सत् से उत्पत्तिमात्रकी अपेक्षा रखती है, अव्यवहित उत्पत्तिकी नहीं, इस प्रकार अविरोध है॥ १०॥

रत्नप्रभा

माह—तासामिति। 'तज्जलान्' (छा० ३।१४।१) इत्याद्युक्तश्रुतीनां साक्षात् प्रणाल्या वा ब्रह्मजत्वमात्रेण उपपत्तेरित्यर्थः। अक्रमश्रुतीनां बलवत्क्रमश्रुत्यनुसारेण एकवाक्यत्वाद् वियद्वायुद्वारा तेजःकारणे ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् ॥१०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'एतत्' पदका अर्थ कहते हैं—"तासाम्" इत्यादिसे। 'तज्जलान्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियां, 'साक्षात् या परम्परासे सब पदार्थ केवल ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं' इसी अर्थसे उपपन्न हो सकती हैं, ऐसा अर्थ है। बलवती क्रमबोधक श्रुतियोंके अनुसार अक्रम श्रुतियोंकी एकवाक्यता होनेसे आकाश और वायु द्वारा तेजके कारण ब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥१०॥



[५ अबधिकरण सू० ११]

ब्रह्मणोऽपां जन्म किं वा वह्नेर्नाग्नेर्जलोद्भवः ।
विरुद्धत्वान्नीरजन्म ब्रह्मणः सर्वकारणात् ॥१॥
अग्नेराप इति श्रुत्या ब्रह्मणो वह्न्युपाधिकात् ।
अपां जनिर्विरोधस्तु सूक्ष्मयोर्नाग्निनीरयोः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मसे जलका जन्म होता है अथवा अग्निसे ?

पूर्वपक्ष—अग्निसे जलकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उन दोनोंमें परस्पर विरोध है; इसलिए सर्वकारण ब्रह्मसे जलकी उत्पत्ति है ।

सिद्धान्त—'अग्नेरापः' (अग्निसे जल उत्पन्न है) इस श्रुतिसे अग्निरूपापन्न ब्रह्मसे जलकी उत्पत्ति होती है । और सूक्ष्म अपञ्चीकृत अग्नि और जलका परस्पर विरोध भी नहीं है ।

आपः ॥ ११ ॥

पदार्थोक्ति—आपः—जलानि, [अतः—तेजसो जायन्ते, यस्मात् अपां तेजोजन्यत्वम् 'अग्नेरापः' इति श्रुतिराह] ।

भाषार्थ—जल तेजसे उत्पन्न होता है, क्योंकि 'अग्नेरापः' (अग्निसे जल उत्पन्न होता है) यह श्रुति जल तेजसे उत्पन्न होता है ऐसा प्रतिपादन करती है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—यद्यपि 'तदपोऽसृजत' (उसने जलकी सृष्टि की) एवं 'अग्नेरापः' (अग्निसे जल उत्पन्न होता है) इन दोनों छान्दोग्य और तैतिरीय उपनिषत्‌में जल अग्निसे उत्पन्न हुआ ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है, तथापि वह युक्त नहीं है, क्योंकि नाश्य एवं नाशक होनेसे परस्पर विरोधी अग्नि और जलका कार्य-कारणभाव नहीं हो सकता ।

सिद्धान्ती कहते हैं—पञ्चीकृत दृश्यमान अग्नि और जलमें परस्पर नाश्यनाशकरूप विरोध होनेपर भी अपञ्चीकृत—केवल श्रुतिसे ज्ञात होनेवाले अग्नि और जलके विरोधकी कल्पना नहीं हो सकती है, और तापके आधिक्यमें स्वेद और वृष्टिकी उत्पत्ति दिखाई देती है । उपर्युक्त दो श्रुतियोंके अनुसार अग्निरूपापन्न ब्रह्मसे जलकी उत्पत्ति होती है ।

भाष्य

'अतस्तथा ह्याह' इत्यनुवर्तते । आपोऽतस्तेजसो जायन्ते, कस्मात् ? तथा ह्याह—'तदपोऽसृजत' इति 'अग्नेरापः' इति च । सति वचने नास्ति

भाष्यका अनुवाद

'अतस्तथा ह्याह' इसकी अनुवृत्ति है । जल तेजसे उत्पन्न हुआ है । किससे ? इससे कि 'तदपोऽसृजत' (उसने जल उत्पन्न किया) और 'अग्नेरापः' (अग्निसे जल) इत्यादि श्रुति कहती है । वचन होनेसे संशय नहीं है । तेजकी सृष्टिका

रत्नप्रभा

आपः । अतिदेशोऽयम्, तथाहि—आथर्वणे मुण्डकग्रन्थे—

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥' (२।१।३)

इति मन्त्रे अपां ब्रह्मजत्वं श्रुतम् । 'अग्नेरापः' (तै० २।१।२) इति श्रुत्या तस्य विरोधोऽस्ति न वा इति सन्देहे तुल्यत्वादस्ति विरोध इति पूर्वपक्षे अपामग्निदाह्यत्वेन विरोधादग्निजत्वासम्भवात् क्रमार्था पञ्चमीति अविरोध इति अधिकाशङ्कायामुक्ततेजोन्यायमतिदिश्य व्याचष्टे—**अत इति** । प्रत्यक्षविरोधे कथम् अपाम् अग्निजत्वनिर्णयः, तत्राह—**सति वचने इति** । त्रिवृत्कृतयोः अप्तेजसोः विरोधेऽपि 'अग्नेरापः' इति वचनाद् अतीन्द्रिययोस्तयोः नास्ति विरोध इति निर्णीयते इत्यर्थः । न केवलं श्रुत्यविरोधज्ञानाय अयम् अतिदेशः, किन्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

'आपः' यह अतिदेश है, क्योंकि आथर्वण मुण्डकग्रन्थमें 'एतस्माज्जायते'० (प्राण, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी ये सब इससे (परब्रह्मसे) उत्पन्न होते हैं । इस मंत्रमें जल ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, ऐसा कहा गया है । 'अग्नेरापः' (अग्निसे जल) इस श्रुतिसे उसका विरोध है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर श्रुतिके तुल्यबल होनेसे विरोध है, ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर जलके अग्निदाह्य होनेसे परस्पर विरोध है, अतः अग्निसे जलकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं होनेसे पञ्चमी ('अग्नेः' पञ्चमी) क्रमार्थक है, इस प्रकार अविरोध है, ऐसी अधिक शङ्का होनेपर पूर्वोक्त तेजोन्यायका अतिदेशकर व्याख्यान करते हैं—"अतः" इत्यादिसे । प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध होनेपर 'जल अग्निसे उत्पन्न हुआ है' यह निर्णय किस प्रकार किया जायगा ? इस शंकापर कहते हैं—"सति वचने" इत्यादिसे । त्रिवृत् किए हुए (स्थूल) जल और तेजका विरोध होनेपर भी 'अग्नेरापः' इस वचनसे अतीन्द्रिय (सूक्ष्म) जल और तेजका विरोध नहीं है, ऐसा निर्णय किया जाता है, ऐसा अर्थ है । केवल श्रुतिका अविरोध जाननेके लिए ही यह अतिदेश नहीं है, किन्तु

भाष्य

संशयः । तेजसस्तु सृष्टिं व्याख्याय पृथिव्या व्याख्यास्यन्नपोऽन्तरयामीत्याप इति सूत्रयाम्बभूव ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

व्याख्यान करके पृथिवीकी सृष्टिका व्याख्यान करनेवाले सूत्रकारने 'मध्यमें जलकी सृष्टिका प्रतिपादन करें' ऐसा सोचकर 'आपः' इस सूत्रकी रचना की ॥११॥

रत्नप्रभा

पञ्चभूतोत्पत्तिक्रमनिर्णयार्थं चेत्याह—तेजसस्त्विति । तस्मात् तेजोभावापन्ने ब्रह्मणि श्रुतिसमन्वय इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पञ्चभूतकी उत्पत्तिक्रमका निर्णय करनेके लिए भी है, ऐसा कहते हैं—"तेजस्तु" इत्यादिसे । इससे सिद्ध हुआ कि तेजोभावापन्न ब्रह्ममें श्रुतिका समन्वय है ॥११॥

[६ पृथिव्यधिकाराधिकरण सू०—१२]

ता अन्नमसृजन्तेति श्रुतमन्नं यवादिकम् ।
पृथिवी वा यवाद्येव लोकेऽन्नत्वप्रसिद्धितः ॥१॥
भूताधिकारात् कृष्णस्य रूपस्य श्रवणादपि ।
तथाऽद्भ्यः पृथिवीत्युक्तेरन्नं पृथ्व्यन्नहेतुतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'ता अन्नमसृजन्त' (जलने अन्नकी सृष्टि की) इस श्रुतिमें पठित 'अन्न' शब्द यव आदिका वाचक है या पृथिवीका ?

पूर्वपक्ष—अन्नशब्द यव आदिका ही वाचक है, क्योंकि लोकमें उन्हींकी अन्नत्वेन प्रसिद्धि है ।

सिद्धान्त—अन्नशब्द पृथिवीका ही वाचक है, क्योंकि महाभूतोंका प्रकरण है, कृष्णरूपका श्रवण है, 'अद्भ्यः पृथिवी' (जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई) ऐसी श्रुति है एवं पृथिवी अन्नकी हेतु है [कार्य और कारणकी अभेदविवक्षासे अन्न पृथिवी है यह उपपन्न हो सकता है] ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—छान्दोग्य उपनिषत्में 'ता अन्नमसृजन्त' इस श्रुतिवाक्यसे जलसे अन्नकी उत्पत्ति सुनी जाती है । यहाँपर अन्नशब्दका अर्थ लोकप्रसिद्धिसे यव, धान आदि है ।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

पदच्छेद—पृथिवी, अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ।

पदार्थोक्ति—पृथिवी—अन्नशब्देनात्र पृथिव्येवोच्यते न ओदनादि, [कुतः] अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः—'तत्तेजोऽसृजत' इति महाभूतोत्पत्त्यधिकारात्, 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति पृथिवीत्वज्ञापककृष्णरूपस्य श्रवणात्, 'अद्भ्यः पृथिवी' इति पृथिव्या एव तज्जन्यत्वप्रतिपादकशब्दान्तरस्य सत्त्वाच्च ।

भाषार्थ—अन्न शब्दसे यहांपर पृथिवी ही कही जाती है, ओदन आदि नहीं लिये जाते, क्योंकि 'तत्तजोऽसृजत' (उसने तेजकी सृष्टि की) इस प्रकार महाभूतोंकी उत्पत्तिका प्रकरण है, 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' (जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है) इस प्रकार पृथिवीत्वके ज्ञापक कृष्णरूपका श्रवण है और 'अद्भ्यः पृथिवी' (जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई) इस प्रकार पृथिवी ही जलसे जन्य है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली दूसरी श्रुति है ।

भाष्य

'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त' (छा० ६।२।४) इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमनेनाऽन्नशब्देन व्रीहि-

भाष्यका अनुवाद

'ता आप ऐक्षन्त०' (जलने विचार किया कि हम बहुत हों, प्रजारूपसे जन्म प्राप्त करें, अतः उसने अन्न उत्पन्न किया) ऐसी श्रुति है। यहांपर

रत्नप्रभा

पृथिवीति । विषयम् उक्त्वा अन्नशब्दमहाभूतप्रकरणाभ्यां संशयमाह—**ता इति** । अभ्यवहार्यम्—भक्ष्यम्, अत्र श्रुतौ यदि अन्नम् ओदनादिकम्, तदा

रत्नप्रभाका अनुवाद

"पृथिवी" इत्यादि । अधिकरणका विषय कहकर अन्न शब्द और महाभूतोंके प्रकरणसे सन्देह कहते हैं—"ताः" इत्यादिसे । अभ्यवहार्य—भक्ष्य अर्थात् भक्षणके योग्य ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यहाँपर अन्न शब्दका अर्थ पृथिवी है, क्योंकि महाभूतोंकी सृष्टि प्रस्तुत है । और दूसरी बात यह है कि 'यदग्ने रोहितम्' (अग्निका जो रक्तरूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्लरूप है वह जलका है और जो कृष्णरूप है वह अन्नका है) ऐसी श्रुति है सो कृष्णरूप बहुधा पृथिवीमें पाया जाता है, धान, जौ आदिमें नहीं पाया जाता । तथा 'अद्भ्यः पृथिवी' इस तैत्तिरीयक श्रुतिके साथ एकवाक्यता होनेसे यहांपर अन्न पृथिवी ही है । और अन्न शब्दकी पृथिवीमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कार्य और कारणमें अभेदकी विवक्षासे वह उपपन्न है । इससे सिद्ध हुआ कि 'अन्न' शब्दसे पृथिवी ही विवक्षित है ।

भाष्य

यवाद्यभ्यवहार्यं वा ओदनाद्युच्यते किं वा पृथिवीति। तत्र प्राप्तं तावद् व्रीहियवाद्योदनादि वा परिग्रहीतव्यमिति तत्र ह्यन्नशब्दः प्रसिद्धो लोके, वाक्यशेषोऽप्येतमर्थमुपोद्बलयति 'तस्माद्यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवतीति'। व्रीहियवाद्येव हि सति वर्षणे बहु भवति न पृथिवीति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथिव्येवेयमन्नशब्देनाऽद्भ्यो जायमाना विवक्ष्यत इति। कस्मात्? अधिकाराद्, रूपात्, शब्दान्तराच्च। अधिकारस्तावत्—'तत्तेजोऽसृजत' 'तदपोऽसृजत' इति महाभूतविषयो वर्तते। तत्र क्रमप्राप्तां

भाष्यका अनुवाद

संशय होता है कि क्या इस अन्नशब्दसे व्रीहि, यव आदि कहे जाते हैं अथवा भक्ष्य ओदन आदि या पृथिवी कही जाती है।

पूर्वपक्षी—उसमें व्रीहि, यव आदि या ओदनादिका परिग्रहण करना उचित है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि लोकमें अन्नशब्द उसी अर्थमें प्रसिद्ध है, और 'तस्माद्यत्र क्वचन०' (इससे जहां कहीं वृष्टि होती है, वहां बहुतसा अन्न होता है) यह वाक्यशेष भी इसी अर्थको पुष्ट करता है, क्योंकि वृष्टि होनेपर व्रीह, यव आदि ही बहुत होते हैं, पृथिवी बहुत नहीं होती।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं कि अन्नशब्दसे जलसे उत्पन्न हुई पृथिवी ही विवक्षित है। किससे? अधिकारसे, रूपसे और अन्य श्रुतियोंसे। अधिकारको दिखलाते हैं 'तत्तेजोऽसृजत'

रत्नप्रभा

'अद्भ्यः पृथिवी' (तै० २।१।२) इति श्रुत्या विरोधः, यदि पृथिवी, तदा न विरोध इति फलं बोध्यम्। अप्पृथिव्योः कार्यकारणभावाद् अधिकरणसङ्गतिः। अन्नश्रुतिवृष्टिभवनत्वलिङ्गाभ्यां पूर्वपक्षः। तदेव—तत्रैव इति श्रुत्यर्थः। तथा च क्वचिद् अन्नम्, क्वचिद् अद्भ्यः पृथिवी ततोऽन्नमिति विरोधात् न एकवाक्यता।

इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति। अधिकारः—प्रकरणम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि इस श्रुतिमें अन्नशब्दसे ओदनादिका ग्रहण किया जाय, तो 'अद्भ्यः पृथिवी' (जलसे पृथिवी) इस श्रुतिके साथ विरोध होगा। अगर अन्नशब्दका अर्थ पृथ्वी करें, तो उक्त श्रुतिके साथ विरोध नहीं होगा, ऐसा फल जानना चाहिए। जल और पृथ्वीका कार्यकारण-भाव होनेसे अधिकरणके साथ सङ्गति है। अन्नश्रुति और वृष्टिभवनरूप लिङ्गसे पूर्वपक्ष है। 'तदेव'—वहींपर ऐसा श्रुतिका अर्थ है। इसलिए कहींपर अन्न और कहींपर जलसे पृथिवी, और उससे अन्न, ऐसा विरोध होनेसे (श्रुतियोंकी परस्पर) एकवाक्यता नहीं है।

भाष्य

पृथिवीं महाभूतं विलङ्घ्य नाऽकस्माद् व्रीह्यादिपरिग्रहो न्याय्यः। तथा रूपमपि वाक्यशेषे पृथिव्यनुगुणं दृश्यते—'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति, नह्यादनादेरभ्यवहार्यस्य कृष्णत्वनियमोऽस्ति, नाऽपि व्रीह्यादीनाम्। ननु पृथिव्या अपि नैव कृष्णत्वनियमोऽस्ति, पयःपाण्डुरस्याऽङ्गाररोहितस्य च क्षेत्रस्य दर्शनात्। नाऽयं दोषः, बाहुल्यापेक्षत्वात्। भूयिष्ठं हि पृथिव्याः कृष्णं रूपं न तथा श्वेतरोहिते। पौराणिका अपि पृथिवीच्छायां शर्वरीमुपदिशन्ति, सा च कृष्णाभासेत्यतः कृष्णं रूपं पृथिव्या इति श्लिष्यते। श्रुत्यन्तरमपि समानाधिकारम्—'अद्भ्यः पृथिवी' इति भवति, 'तद्यदपां शर

भाष्यका अनुवाद

(उसने तेजकी सृष्टि की) 'तदपोऽसृजत' (उसने जलकी सृष्टि की) इस प्रकार महाभूतविषयक अधिकार है। उसमें क्रमप्राप्त पृथिवीरूप महाभूतका त्याग करके अकस्मात् व्रीहि आदिका ग्रहण उचित नहीं है। इसी प्रकार 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' (जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है) इस वाक्यशेषमें रूप भी पृथिवीके अनुकूल दिखता है, क्योंकि ओदनादि भक्ष्यका कृष्णरूप है, ऐसा नियम नहीं है, और व्रीहि, यव आदिका भी कृष्णरूप है, ऐसा नियम नहीं है। पृथिवीका भी कृष्णरूप है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि दूध-सा सफेद और अंगार-सा लाल खेत दिखाई देता है ? यह दोष नहीं है, कारण कि बाहुल्यकी अपेक्षासे यह कहा है, पृथिवीका बहुधा कृष्ण ही रूप है श्वेत या रक्त नहीं है। पौराणिक भी पृथिवीकी छायाको रात्रि कहते हैं, और रात्रि कृष्ण है, अतः पृथिवीका रूप कृष्ण है, यह कथन घटता है। और समान अधिकारमें अन्य श्रुतियां भा हैं, 'अद्भ्यः पृथिवी' (जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई)

रत्नप्रभा

रूपम्—लिङ्गम्। पयः—क्षीरम् तद्वत् पाण्डुरम्—श्वेतम्। अङ्गारवद् रोहितम्—रक्तम्। शब्दान्तरशब्दितं स्थानं व्याचष्टे—श्रुत्यन्तरमपीति। अबानन्तर्यं पृथिव्याः स्थानम्, श्रुत्यन्तरसिद्धान्तेनाऽपि अन्नस्य पृथिवीत्वमित्यर्थः। तत्—तत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। अधिकार—प्रकरण। रूप—लिङ्ग। पय—दूध, उसके समान पाण्डुर—श्वेत। अङ्गार-सा लाल। शब्दान्तर शब्दसे परिगृहीत स्थानकी व्याख्या करते हैं—"श्रुत्यन्तरमपि" इत्यादिसे। पृथ्वीका स्थान जलके अनन्तर है, अन्य श्रुतिके निर्णयसे भी अन्न पृथिवी है, ऐसा अर्थ है। सृष्टिकालमें जलका शर–मण्डके समान

भाष्य

आसीत्तत्समहन्यत' सा पृथिव्यभवत्' (बृ० १।२।२) इति च। पृथिव्यास्तु व्रीह्यादेरुत्पत्तिं दर्शयति—'पृथिव्या ओषधय ओषधीभ्योऽन्नम्' इति च। एवमधिकारादिषु पृथिव्याः प्रतिपादकेषु सत्सु कुतो व्रीह्यादिप्रतिपत्तिः। प्रसिद्धिरप्यधिकारादिभिरेव बाध्यते। वाक्यशेषोऽपि पार्थिवत्वा-

भाष्यका अनुवाद

और 'तद्यदपां शरः' (उस सृष्टि कालमें जलका जो फेन था वही कठिन हुआ और वह पृथिवी हुई) इत्यादि 'पृथिव्या ओषधयः०' (पृथिवीसे ओषधियां और औषधियोंसे अन्न) ऐसी श्रुति पृथिवीसे व्रीहि आदिकी उत्पत्ति दिखलाती है। इस प्रकार पृथिवीरूप अर्थके प्रतिपादक अधिकार आदिके रहते हुए अन्न शब्दसे व्रीहि आदिका ज्ञान कैसे होगा। प्रसिद्धिका भी अधिकार आदिसे बाध होता है। वाक्यशेष भी अन्नादिके पार्थिव होनेसे उनके द्वारा

रत्नप्रभा

सृष्टिकाले यदपां शरः यो मण्डवद् घनीभाव आसीत्, स एव समहन्यत कठिनः संघातोऽभूत, सा अपां कठिना परिणतिः पृथिवी अभवदिति श्रुत्यर्थः। व्रीह्याद्यन्नसर्गः कस्मिन् स्थाने इति विवक्षायामाह—**पृथिव्यास्त्विति**। पञ्चमी इयम्। वृष्टिभवत्वलिङ्गसहितान्नश्रुतेः कथं प्रकरणलिङ्गस्थानैः बाध इत्याशङ्क्य आह—**वाक्यशेषोऽपीति**। प्रबलदुर्बलप्रमाणसन्निपाते बहूनां दुर्बलानाम् अत्यन्तबाधाद् वरं प्रबलप्रमाणस्याऽल्पबाधेन कथञ्चित् नयनमिति न्यायेन श्रुतिलिङ्गयोः अन्नमात्रनिष्ठत्वं बाधित्वा अन्नानन्नात्मकपृथिवीनिष्ठत्वं नीयते, ताभ्याम् अन्नमात्रग्रहे प्रकरणादीनां पृथिवीमात्रविषयाणाम् अत्यन्तबाधापत्तेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो घन भाग था वही कठिन संघीभूत हुआ, जो जलका कठिन परिणाम था वही पृथ्वी हुई, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। धान आदिकी सृष्टि किस स्थानमें है? इस विवक्षामें कहते हैं—"पृथिव्यास्तु" इत्यादिसे। यह पञ्चमी है। प्रकरण, लिङ्ग और स्थानसे वृष्टिभवनरूप लिङ्ग सहित अन्न श्रुतिका कैसे बाध होगा? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—"वाक्यशेषोऽपि" इत्यादिसे। 'प्रबल (श्रुति, लिङ्ग) और दुर्बल (प्रकरणादि) प्रमाणोंके एकत्र प्राप्त होनेपर अनेक दुर्बल प्रमाणोंके अत्यन्त—सर्वथा बाधकी अपेक्षा प्रबल प्रमाणका अल्पबाध (अर्थान्तर नयन) करके उसको कथञ्चित् उपलक्षण मानना श्रेष्ठ है', इस न्यायसे श्रुति और लिङ्ग, जिनका तात्पर्य्य केवल अन्नमें ही है, उनका बाध करके अन्नरूप और अनन्नरूप पृथिवीका तात्पर्य्य लेकर उनको गौण मानना युक्त है, क्योंकि श्रुति और लिङ्गसे अन्नमात्रका ग्रहण होनेपर पृथिवीमात्रबोधक प्रकरणादिका अत्यन्त बाध प्रसक्त होगा, ऐसा भाव है।

भाष्य

दन्नाद्यस्य तद्द्वारेण पृथिव्या एवाऽद्भ्यः प्रभवत्वं सूचयतीति द्रष्टव्यम् । तस्मात् पृथिवीयमन्नशब्देति ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

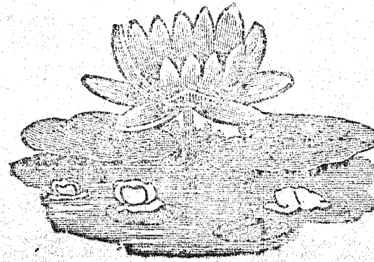
पृथिवीका ही जलसे उत्पन्न होना सूचन करता है, ऐसा जानना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि 'अन्न' शब्द पृथिवीका वाचक है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

इति भावः । अन्नस्य वृष्टिजत्वोक्तिद्वारा पृथिव्या अब्जन्यत्वं सूच्यते । पृथिवी अब्जा, पृथिवीत्वात्, अन्नवद्, इत्यनुमानात् इत्यक्षरार्थः । एवं तित्तिरिश्रुत्यनुसारेण छन्दोग-श्रुतेः नयनाद् अविरुद्धो भूतसृष्टिश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् ॥१२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अन्न वृष्टिसे उत्पन्न होता है' इस वचन द्वारा 'पृथिवी जलजन्य है, ऐसा सूचित होता है। पृथिवी जलसे उत्पन्न है, पृथ्वी होनेसे, अन्नके समान, इस अनुमानसे, ऐसा अक्षरार्थ है। इस प्रकार तित्तिरिश्रुतिके अनुसार छान्दोग्यश्रुतिको गौण माननेसे भूतसृष्टिवाचक श्रुतियोंका ब्रह्ममें समन्वय अविरुद्ध है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥१२॥



[७ तदभिध्यानाधिकरण सू० १३]

व्योमाद्याः कार्यकर्तारो ब्रह्म वा तदुपाधिकम् ।
व्योम्नो वायुर्वायुतोऽग्निरित्युक्तेः खादिकर्तृता ॥१॥
ईश्वरोऽन्तर्यमयतीत्युक्तेर्व्योमाद्युपाधिकम् ।
ब्रह्म वाय्वादिहेतुः स्यात्तेजआदीक्षणादपि ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—आकाश आदि स्वयं ही कार्यके उत्पादक हैं या आकाशोपाधिक—आकाशरूपापन्न ब्रह्म कार्यका उत्पादक है ? ।

पूर्वपक्ष—श्रुतिमें आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि उत्पन्न हुई ऐसा कहा गया है, इससे केवल आकाश आदि ही उत्पादक हैं ।

सिद्धान्त—'ईश्वर अन्तर्यामी है' इस कथनसे और तेज आदिके ईक्षणपूर्वक स्रष्टृत्वके कथनसे भी यह प्रतीत होता है कि आकाशोपाधिक ब्रह्म ही वायु आदिका उत्पादक है ।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ॥ १३ ॥

पदच्छेद—तदभिध्यानाद्, एव, तु, तल्लिङ्गात्, सः ।

पदार्थोक्ति—सः—परमेश्वरः, तदभिध्यानादेव—तत्तत्कार्यगोचरेक्षणात्मकाभिध्यानादेव, [ईक्षितभूताधिष्ठाता सन् तत्तत्कार्यं सृजति, कुतः] तल्लिङ्गात्—तस्य परमात्मनः सर्वनियन्तृत्वरूपलिङ्गस्य 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादिना श्रुतत्वात् । [अतो भूतानां परमेश्वराधिष्ठितानामेव स्रष्टृत्वप्रतिपादकत्वेनाऽनयोरेकवाक्यत्वात्] ।

भाषार्थ—परमेश्वर ही तत्-तत् कार्यविषयक ईक्षणात्मक अभिध्यानसे ही ईक्षित भूतोंका अधिष्ठाता होकर तत्-तत् कार्यको उत्पन्न करता है, क्योंकि 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (जो पृथिवीमें रहता हुआ) इत्यादिसे उस परमात्माका सर्वनियन्तृत्वरूप लिङ्ग सुना गया है । इसलिए परमेश्वरसे अधिष्ठित ही भूत स्रष्टा हैं [केवल भूत नहीं] ऐसा प्रतिपादन करनेसे उक्त श्रुतियोंकी एकवाक्यता है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'पूर्व अधिकरणोंमें पूर्व पूर्व कार्यके रूपको प्राप्त हुए ब्रह्मसे उत्तरोत्तर कार्यकी उत्पत्ति होती है' ऐसा जो सिद्धवत् मानकर सिद्धान्त किया है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि 'आकाशाद् वायुः' (आकाशसे वायु) 'वायोरग्निः' (वायसे अग्नि हुई)

भाष्य

किमिमानि वियदादीनि भूतानि स्वयमेव स्वविकारान् सृजन्त्याहोस्वित् परमेश्वर एव तेन तेनाऽऽत्मनाऽवतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति सन्देहे सति प्राप्तं तावत् स्वयमेव सृजन्तीति। कुतः? 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' इत्यादिस्वातन्त्र्यश्रवणात्। नन्वचेतनानां स्वतन्त्रा-

भाष्यका अनुवाद

क्या ये आकाशादि भूत, आपही अपने विकारोंको उत्पन्न करते हैं या परमात्मा ही तत् तत् स्वरूपसे ईक्षण करता हुआ उन उन विकारोंको उत्पन्न करता है, ऐसा सन्देह होनेपर,

पूर्वपक्षी—ये भूत स्वयं ही अपने विकारोंको उत्पन्न करते हैं ऐसा प्राप्त होता है। किससे? इससे कि 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' (आकाशसे वायु उत्पन्न हुआ है और वायुसे अग्नि उत्पन्न हुई) इस प्रकार स्वतन्त्रताकी

रत्नप्रभा

सम्प्रति तानि भूतानि आश्रित्य आश्रयाश्रयिभावसङ्गत्या तेषां स्वातन्त्र्यम् आशङ्क्य निषेधति—तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः। उक्तभूतानि आश्रित्य संशयपूर्वपक्षौ दर्शयति—किमिमानीत्यादिना। संशयबीजानुक्तौ पूर्वोत्तरपक्षयुक्तयो बीजम् इति ज्ञेयम्। नन्वत्र भूतानां किं स्वातन्त्र्येण उपादानत्वम् आशङ्क्यते, कर्तृत्वं वा? नाद्यः, 'रचनानुपपत्तेः' इत्यादिन्यायविरोधात् इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब उक्त भूतोंका आश्रय करके आश्रयाश्रयिभाव सङ्गतिसे उनकी (भूतोंकी) स्वतन्त्रताकी आशङ्का करके निषेध करते हैं—"तदभिध्यानादेव" इत्यादिसे। पूर्वोक्त भूतोंके आश्रयसे संशय और पूर्वपक्ष दिखलाते हैं—"किमिमानि" इत्यादिसे। संशयबीजके न कहनेपर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षकी युक्तियां संशयके बीज हैं, ऐसा जानना चाहिए। यहाँपर स्वतन्त्र (चेतनानिरपेक्ष) भूत उपादान हैं, ऐसी शङ्का करते हो? अथवा उनमें (भूतोंमें) कर्तृत्वकी शङ्का करते हो? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि 'रचनानुपपत्तेः' इत्यादि न्यायसे विरोध है,

---

इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मनिरपेक्ष—केवल आकाश आदिसे उत्तर कार्य—वायु आदिकी उत्पत्ति प्रतिपादित है।

सिद्धान्ती कहते हैं—अन्तर्यामी ब्राह्मणमें 'य आकाशमन्तरो यमयति' (जो आकाशके अन्दर रहकर आकाशका नियन्त्रण करता है, जो वायुके अन्दर रहकर वायुका नियन्त्रण करता है) इत्यादिसे आकाश आदिकी स्वतन्त्रताका खण्डन किया है। 'तथा तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (उस तेजने ईक्षण किया, जलने ईक्षण किया) इस प्रकार श्रुति तेज आदिके ईक्षणपूर्वक स्रष्टृत्वका प्रतिपादन करती है। वह ईक्षण चेतन ब्रह्मकी अपेक्षा न रखनेवाले अचेतन आकाश आदिमें नहीं घट सकता, इससे सिद्ध हुआ कि आकाशोपाधिक ब्रह्म ही कारण है।

भाष्य

णां प्रवृत्तिः प्रतिषिद्धा। नैष दोषः, 'तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६।२।४) इति च भूतानामपि चेतनत्वश्रवणादिति।

भाष्यका अनुवाद

प्रतीति होती है। परन्तु स्वतन्त्र—चेतनकी सहायताके बिना अचेतनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकता, यह दोष नहीं, क्योंकि 'तत्तेज ऐक्षत०' (उस तेजने विचार किया, उस जलने विचार किया) इस प्रकार भूतोंकी भी चेतनताका श्रुतमें प्रतिपादन है।

रत्नप्रभा

शङ्कते—नन्विति। न द्वितीयः, अचेतनत्वात् इति भावः। यथा मनुष्यादि-शब्दैः तत्तद्देहाभिमानिनो जीवा उच्यन्ते, तथा 'आकाशाद्वायुः' (तै० २।१।२) इत्यादिश्रुतौ आकाशादिशब्दैः तत्तद्भूताभिमानिदेवता उच्यन्ते, तासां स्वकार्ये वाय्वादौ कर्तृत्वसम्भवात् निरपेक्षनिमित्तत्वं पञ्चम्यर्थः। एवम् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।७।४) इति श्रुतौ स्वयमिति विशेषणाद् ब्रह्मणोऽन्यानपेक्षसर्वकर्तृत्वसम्भवात् निरपेक्षनिमित्तत्वं श्रुतम्। तथा च मिथो निरपेक्षेश्वर-भूतकर्तृश्रुत्योः विरोधात् न ब्रह्मणि समन्वय इति सफलं पूर्वपक्षमाह—नैष दोष इति। भूतानाम्—तदभिमानिदेवतानामित्यर्थः। यथा आकाशादिभावापन्नब्रह्मणः सर्वोपादानत्वं तथा तदभिमानिदेवताजीवभावम् आपन्नब्रह्मणः कर्तृत्वमिति परम्परया ईश्वरकर्तृत्वश्रुत्यविरोधः। स्वयमिति विशेषणम् ईश्वरान्तरनिरासार्थम् न जीवभावापेक्षानिरासार्थमित्येकदेशिसिद्धान्त ऊहनीयः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। भूतोंके (स्वयं) अचेतन होनेसे द्वितीय पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा भाव है। जैसे मनुष्य आदि शब्दोंसे उन उन शरीरोंके अभिमानी जीव कहे जाते हैं, वैसे 'आकाशाद्वायुः' (आकाशसे वायु उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुतियोंमें आकाश आदि शब्दोंसे उन उन भूतोंके अभिमानी देवता कहे जाते हैं, उनको (अभिमानी देवताओंको) अपने वायु आदि कार्यमें कर्तृत्वके सम्भव होनेसे पञ्चमीका निरपेक्ष कारण अर्थ है। इसी प्रकार 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने आत्माकी स्वयं रचना की) इस श्रुतिमें 'स्वयम्' विशेषणसे ब्रह्ममें अन्यनिरपेक्ष सर्वकर्तृत्वके सम्भव होनेसे (उसमें) निरपेक्षकारणत्व श्रुतिसे प्रति-पादित हुआ। इसलिए परस्पर निरपेक्ष ईश्वरकर्तृत्व और भूतकर्तृत्व श्रुतियोंके विरोध होनेसे ब्रह्ममें समन्वय नहीं है, ऐसा सफल पूर्वपक्ष कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। भूतोंकी—उनके अभिमानी देवताओंकी, ऐसा अर्थ है। जैसे आकाश आदि रूपापन्न ब्रह्म सबका उपादान है, वैसे उनके अभिमानी देवता और जीवके भावको प्राप्त हुआ ब्रह्म कर्ता है,

भाष्य

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—स एव परमेश्वरस्तेन तेनाऽऽत्मनाऽवतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति। कुतः? तल्लिङ्गात्। तथा हि शास्त्रम्—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।३) इत्येवंजातीयकं साध्यक्षाणामेव भूतानां प्रवृत्तिं दर्शयति। तथा 'सोऽकामयत बहु स्यां

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं–वही परमेश्वर उस उस स्वरूपसे अवस्थित होकर अभिध्यान करता हुआ उस उस विकारको उत्पन्न करता है। किससे? उसके लिङ्गसे, क्योंकि 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (जो पृथिवीमें रहता हुआ पृथिवीका अभ्यन्तर है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो अभ्यन्तरमें रहकर पृथिवीका नियन्त्रण करता है) इस प्रकारकी श्रुति अध्यक्ष सहित ही भूतोंकी प्रवृत्ति दिखलाती है। इसी प्रकार 'सोऽकामयत०' (उसने इच्छा की

रत्नप्रभा

मुख्यसिद्धान्तमाह—**एवं प्राप्ते इति**। आकाशादिशब्दैः न देवतालक्षणा मुख्यार्थे बाधकाभावात्, पञ्चम्यश्च प्रकृतित्वार्थाः, तत्र रूढतरत्वात्, तथा च अचेतनानां भूतानां कर्तृत्वमेव नास्ति, कुतः ईश्वरानपेक्षकर्तृत्वम्? यद्यपि देवतानां कर्तृत्वं सम्भवति, तथापि ईश्वरनियम्यत्वश्रवणात् चेतनानामपि न स्वातन्त्र्यम्, किमु वाच्यम् अचेतनानां भूतानां न स्वातन्त्र्यम्? इति मत्वा उक्तम्—**तल्लिङ्गादिति**। तत्तदचेतनात्मनाऽवस्थितस्य ब्रह्मणः उपादानत्वेऽपि जीवव्यावृत्तेश्वरत्वाकारेणैव साक्षात् सर्वकर्तृत्वं न जीवत्वद्वारा, तस्य सर्वनियन्तृत्वलिङ्गाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए परम्परासे ईश्वर कर्ता है, अतः श्रुति विरोध नहीं है। 'स्वयम्' विशेषण तो अन्य ईश्वरके निरासके लिए है, न कि जीवभावापेक्षाके निरासार्थ है, ऐसा एकदेशिसिद्धान्त समझना चाहिए।

मुख्यसिद्धान्ती कहते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। आकाश आदि शब्द देवता अर्थमें लाक्षणिक नहीं है, क्योंकि मुख्य अर्थमें बाधक नहीं है, पञ्चमियां प्रकृति (उपादान) रूप अर्थका बोधन करती हैं, क्योंकि उस अर्थमें रूढ हैं, इस प्रकार अचेतन भूतोंका कर्तृत्व ही नहीं है, तो ईश्वरानिरपेक्षकर्तृत्व उनमें कहाँसे होगा? यद्यपि देवताओंमें कर्तृत्व हो सकता है, तथापि 'वे ईश्वरके नियम्य हैं' ऐसी श्रुति होनेसे चेतनोंका भी स्वातन्त्र्य नहीं है, तो इसमें कहना ही क्या है कि 'अचेतनभूत स्वतन्त्र नहीं हैं, ऐसा मानकर कहते हैं—"तल्लिङ्गात्" इत्यादिसे। तत्-तत् अचेतन रूपसे अवस्थित ब्रह्मके उपादान होनेपर भी जीवसे व्यावृत्त ईश्वरत्व आकारसे ही वह साक्षात् सबका कर्ता है, जीव द्वारा नहीं, क्योंकि

भाष्य

प्रजायेय' इति प्रस्तुत्य 'सच्च त्यच्चाभवत्' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।६।१) इति च तस्यैव च सर्वात्मभावं दर्शयति। यत्त्वीक्षणश्रवण-मप्तेजसोस्तत्परमेश्वरावेशवशादेव द्रष्टव्यम् 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'

भाष्यका अनुवाद

मैं बहुत होऊँ, प्रजारूपमें उत्पन्न होऊँ) इस तरह उपक्रम करके 'सच्च त्यच्चा-भवत्' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (वह सत्—मूर्त्त और त्यत्—अमूर्त्त हुआ, उसने—सच्छब्दवाच्यने आप ही अपनेको उत्पन्न किया) इस प्रकार उसका ही सर्वात्म-भाव दिखलाती है। जल और तेजकी जो ईक्षणश्रुति है, वह परमेश्वरके आवेशके अधीन ही है, ऐसा समझना चाहिए, कारण कि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (इस-

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। प्रकरणाच्च साक्षात् सर्वकर्तृत्वमित्याह—**तथेति**। पूर्वोक्तम् अनूद्य निरस्यति—**यत्त्विति**। परमेश्वरस्याऽन्तर्यामिभावेन आवेशः—सम्बन्धः। तद्वशाद् भूतेषु ईक्षणश्रवणम्, नैतावता तेषां चेतनत्वं स्वातन्त्र्यं वेत्यर्थः। अनेन तदभिध्यानादिति पदं व्याख्यातम्। इत्थं सूत्रयोजना—सः ईश्वरः तत्तदात्मना स्थितोऽपि साक्षादेव सर्वकर्ता तस्य अन्तर्यामित्वलिङ्गात्। जीवत्वद्वारा कर्तृत्वं नाम जीवस्यैव कर्तृत्वम् इति अन्तर्यामिणः कर्तृत्वासिद्धेः अन्तर्यामित्वायोगात्, तदभिध्यानाद् ईश्वरेक्षणादेव भूतेषु श्रुतेक्षणोपपत्तेश्चेति। 'तत्तेज ऐक्षत' (छा० ६।२।३) इति श्रुत ईक्षिता परमात्मैव इत्यत्र श्रुत्यन्तरं प्रकरणं चाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

वह (ईश्वर) सबका नियामक है, ऐसा लिङ्ग है, यह अर्थ है। प्रकरणसे भी ब्रह्म साक्षात् सबका कर्ता है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। पूर्वोक्तका अनुवाद करके निरसन करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। परमेश्वरका अन्तर्यामिरूपसे सम्बन्ध ही आवेश है। उस सम्बन्धके अधीन भूतोंमें ईक्षणका श्रवण है, इतने ही से वे चेतन या स्वतन्त्र नहीं हो सकते हैं, ऐसा अर्थ है। इसीसे 'तदभिध्यानात्' इस पदका व्याख्यान हुआ। सूत्रकी योजना इस प्रकार करनी चाहिए—वह ईश्वर तत्-तत् स्वरूपसे अवस्थित है, तो भी साक्षात् ही सबका कर्ता है, क्योंकि अन्तर्या-मित्व लिङ्ग है। और जीवत्व द्वारा कर्तृत्व तो जीवका ही कर्तृत्व है, इससे अन्तर्यामीका कर्तृत्व असिद्ध होनेसे अन्तर्यामित्वका अयोग होगा, अतः उसके अभिध्यान—ईश्वरके ईक्षणसे ही भूतोंमें श्रुतिप्रतिपादित ईक्षण उपपन्न है, इसलिए 'तत्तेज ऐक्षत' इस श्रुतिसे प्रतिपादित ईक्षिता परमात्मा ही है, इसमें अन्य श्रुति और प्रकरणको कहते हैं—"नान्यः" इत्यादिसे।

भाष्य

(बृ० ३।७।२३) इतीक्षित्रन्तरप्रतिषेधात्, प्रकृतत्वाच्च सत ईक्षितुः 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यत्र ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

से अन्य द्रष्टा नहीं है) इससे अन्य द्रष्टाका प्रतिषेध है, और 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इसमें सत् द्रष्टा प्रकृत है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

नान्य इति । तस्माद् ईश्वरपदार्थलोपप्रसङ्गेन ईश्वराद् अन्यस्य स्वातन्त्र्याभावाद् न ईश्वरकर्तृत्वश्रुतेः भूतश्रुत्या विरोध इति सिद्धम् ॥ १३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इससे ईश्वर पदार्थका लोप प्रसक्त होनेसे और ईश्वरसे अन्यमें स्वातन्त्र्य न होनेसे ईश्वरकर्तृत्व-श्रुतिका भूतश्रुतिसे विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥१३॥

[८ विपर्ययाधिकरण सू० १४]

सृष्टिक्रमो लये ज्ञेयो विपरीतक्रमोऽथवा ।
क्लृप्तं कल्प्याद्वरं तेन लये सृष्टिक्रमो भवेत् ॥१॥
हेतावसति कार्यस्य न सत्त्वं युज्यते ततः ।
पृथिव्यप्स्विति चोक्तत्वाद् विपरीतक्रमो लये ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—जो सृष्टिक्रम है वही क्रम प्रलयमें समझना चाहिए अथवा उससे विपरीत क्रम समझना चाहिए ।

पूर्वपक्ष—कल्पनीय क्रमकी अपेक्षा कल्पित क्रम श्रेष्ठ है, अतः प्रलयमें सृष्टिक्रम हो सकता है, अर्थात् सृष्टिक्रमके अनुसार प्रलयक्रम भी हो सकता है ।

सिद्धान्त—चूंकि कारणके अभावमें कार्यका अस्तित्व नहीं बन सकता है और पृथिवी जलमें लीन होती है ऐसा श्रुतिमें प्रतिपादित है, अत एव प्रलयमें क्रम विपरीत है, अर्थात् प्रलयक्रम सृष्टिक्रमकी अपेक्षासे विपरीत है ।

* आशय यह कि पूर्वपक्षी कहता है—सृष्टिमें आकाश आदि क्रम प्रसिद्ध है अतएव प्रलयमें भी वही क्रम माना जाय ।

सिद्धान्ती कहते हैं—कारणके पहले लीन हो जानेपर उपादानरहित कार्योंकी कुछ काल तक स्थिति माननी पड़ेगी । और दूसरी बात यह है—

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

पदच्छेद—विपर्ययेण, तु, क्रमः, अतः, उपपद्यते, च ।

पदार्थोक्ति—तु—किन्तु, अतः—उत्पत्तिक्रमाद्, विपर्ययेण—विपरीतक्रमेणैव, क्रमः—लयक्रमः [अस्ति, स्वकारणे कार्य्याणां लयदर्शनात्] उपपद्यते च—व्युत्क्रमेणैव लयक्रमः सम्भवति च [अन्यथा सति कार्ये कारणनाशाद्-निष्टापत्तिः स्यात्] ।

भाषार्थ—किन्तु उत्पत्तिक्रमसे विपरीतक्रमसे ही प्रलयक्रम है, क्योंकि अपने कारणमें कार्योंका लय देखा जाता है और विपरीतक्रमसे ही लयक्रमका सम्भव है अन्यथा कार्यके अस्तित्वमें कारणका नाश होनेसे अनिष्टापत्ति होगी ।

भाष्य

भूतानामुत्पत्तिक्रमश्चिन्तितः । अथेदानीमप्ययक्रमश्चिन्त्यते—किमनियतेन क्रमेणाऽप्यय उतोत्पत्तिक्रमेणाऽथवा तद्विपरीतेनेति । त्रयोऽपि चोत्पत्तिस्थितिप्रलया भूतानां ब्रह्मायत्ताः श्रूयन्ते—'यतो वा इमानि भूतानि

भाष्यका अनुवाद

भूतोंके उत्पत्तिक्रमका निर्णय किया जा चुका है। अब प्रलयके क्रमका विचार किया जाता है। क्या अनियतक्रमसे प्रलय होता है, या उत्पत्तिके क्रमसे, अथवा उसके विपरीत क्रमसे। भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय

रत्नप्रभा

विपर्ययेण त्विति । यद्यपि अत्र श्रुतिविरोधो न परिह्रियते इति असङ्गतिः, तथापि उत्पत्तिक्रमे निरूपिते लयक्रमो बुद्धिस्थो विचार्यते इति प्रासङ्गिक्यावेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

"विपर्ययेण तु" इत्यादि । यद्यपि यहाँ श्रुतिके विरोधका परिहार नहीं किया जाता है, अतः सङ्गति नहीं प्रतीत होती है, तथापि उत्पत्तिक्रमके निरूपण होनेपर प्रलयक्रम बुद्धिपर आरूढ़

'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥
वायुः प्रलीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते ।'

(हे नारदजी, जगत्की आधारभूता पृथिवी जलमें लीन होती है, जल अग्निमें लीन होता है, वायु आकाशमें लीन होता है और आकाश अव्यक्तमें लीन होता है) इस प्रकार पुराणमें विपरीत क्रमके उक्त होनेसे यह क्रम सिद्ध ही है । इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टिक्रमसे विपरीत—पृथिवी आदिके क्रमसे प्रलय होता है ।

भाष्य

जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।१।१) इति। तत्राऽनियमोऽविशेषादिति प्राप्तम्। अथवोत्पत्तेः क्रमस्य श्रुतत्वात् प्रलयस्यापि क्रमाकाङ्क्षिणः स एव क्रमः स्यादिति।

एवं प्राप्ते ततो ब्रूमः—विपर्ययेण तु प्रलयक्रमोऽत उत्पत्तिक्रमाद्

भाष्यका अनुवाद

ये तीनों ही 'यतो वा इमानि०' (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं और जिसके प्रति प्रयाण करते हैं—जिसमें लीन होते हैं) इस श्रुतिमें ब्रह्मके अधीन कहे गये हैं।

पूर्वपक्षी—श्रुतिमें किसी प्रकारका विशेष न होनेसे प्रलयके विषयमें कोई (क्रमका) निर्णय नहीं हो सकता है, अथवा उत्पत्तिक्रम श्रुतिमें कहा गया है, इससे क्रमाकाङ्क्षी प्रलयका वही [सृष्टिका ही] क्रम होगा।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होता है, अतः कहते हैं—प्रलयक्रम इससे अर्थात्

रत्नप्रभा

पादावान्तरसंगती इति मत्वाऽऽह—भूतानामिति। अत्रोत्पत्तिक्रमाद् विपरीतक्रमनिर्णयात् सिद्धान्ते भूतानां प्रातिलोम्येन लयध्यानपूर्वकं प्रत्यग्ब्रह्मणि मनःसमाधानं फलम्, पूर्वपक्षे तु कारणनाशे सति कार्यनाश इति सर्वलयाधारब्रह्मासिद्धेः उक्तसमाध्यसिद्धिरिति भेदः। सति महाभूतानां लये क्रमचिन्ता, स एव नास्तीति केचित्। तान् प्रत्याह—त्रयोऽपीति। अनियम इति अनास्थया उक्तम्, श्रौतस्य प्रलयस्य क्रमाकाङ्क्षायां श्रौत उत्पत्तिक्रम एव ग्राह्यः, श्रौतत्वेन अन्तरङ्गत्वात् इत्येवं पूर्वपक्षः।

सति कारणे कार्यं नश्यतीति लोके दृश्यते। तथा च श्रौतोऽप्युत्पत्तिक्रमो

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है, इससे पाद और अवान्तर—पूर्व अधिकरणकी सङ्गति प्रासङ्गिकी है ऐसा मानकर कहते हैं—"भूतानाम्" इत्यादिसे। यहाँ उत्पत्तिक्रमसे प्रलयक्रम विपरीत है, ऐसा निर्णय होनेसे सिद्धान्तमें भूतोंके प्रतिलोमतः लयध्यानपूर्वक प्रत्यक् ब्रह्ममें मनका समाधान फल है, और पूर्वपक्षमें तो कारणका नाश होनेपर कार्यका नाश होता है, इससे सम्पूर्ण लयके आधारभूत ब्रह्मकी असिद्धि होनेसे उक्त समाधान असिद्ध है, ऐसा भेद है। महाभूतोंका लय होनेपर क्रमका विचार होगा, परन्तु वह (प्रलय) है ही नहीं, ऐसा कोई मानते हैं। उनके प्रति कहते हैं—"त्रयोऽपि" इत्यादिसे। अनियम है, ऐसा आपाततः कहा है। श्रौतप्रलयके क्रमकी आकाङ्क्षामें श्रुतिमें प्रतिपादित उत्पत्तिक्रमका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि श्रौत होनेके कारण अन्तरङ्ग है, ऐसा पूर्वपक्ष है।

कारणके रहनेपर भी कार्यका नाश होता है, ऐसा लोकमें देखा जाता है।

भाष्य

भवितुमर्हति । तथा हि लोके दृश्यते येन क्रमेण सोपानमारूढस्ततो विपरीतेन क्रमेणाऽवरोहतीति, अपि च दृश्यते मृद्रो जातं घटशरावाद्यप्ययकाले मृद्भावमप्येत्यद्भ्यश्च जातं हिमकरकाद्यब्भावमप्येतीति । अतश्चोपपद्यत एतत् यत् पृथिव्यद्भ्यो जाता सती स्थितिकालव्यतिक्रान्तावपोऽपीयादापश्च तेजसो जाताः सत्यस्तेजोऽपीयुः । एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चाऽनन्तरमनन्तरतरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माप्ये-

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्तिक्रमसे विपरीत होना चाहिए। क्योंकि जिस क्रमसे सीढ़ियोंपर चढ़ते हैं, उससे विपरीत क्रमसे उतरते हैं, ऐसा लोकमें देखा जाता है और मृत्तिकासे उत्पन्न हुए घट, शराव आदि प्रलयकालमें मृत्तिकारूप हो जाते हैं, और जलसे उत्पन्न हुए हिम, करक आदि जलस्वरूप हो जाते हैं, ऐसा देखनेमें आता है। और इससे भी यही उपपन्न होता है कि जलसे उत्पन्न हुई पृथिवी स्थितिकालका अवसान होनेपर जल हो जाती है और तेजसे उत्पन्न हुआ जल तेजमें लीन होता है। इसी प्रकार क्रमसे अनन्तर अनन्तरतर सूक्ष्म सूक्ष्मतर कारणमें लीन होकर सब कार्य परम कारण परम

रत्नप्रभा

लये न गृह्यते, किन्तु लौकिकक्रम एव गृह्यते, श्रुतेः लोकदृष्टपदार्थबोधाधीनत्वेन श्रौतादपि लौकिकस्याऽन्तरङ्गत्वात्, योग्यत्वाच्च। कारणमेव हि कार्यस्य स्वरूपमिति तदनन्यत्वन्यायेन स्थापितम्। नहि स्वरूपनाशे कार्यस्य क्षणमपि स्थितिः युक्ता, तस्माद् अयोग्य उत्पत्तिक्रमो लयस्य न ग्राह्यः, लौकिकक्रमावरोधेन निराकाङ्क्षत्वात् इति सिद्धान्तयति—ततो ब्रूम इत्यादिना। क्रमेण—परम्परया सर्वकार्यलयाधारत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए उत्पत्तिक्रमके श्रौत होनेपर भी प्रलयमें वह नहीं लिया जाता है, किन्तु लौकिक क्रमका ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि श्रुति लोकमें दृष्ट पदार्थबोधके अधीन है, अतः श्रौतक्रमसे भी लौकिक क्रम अन्तरङ्ग और योग्य है। 'तदनन्यत्व' न्यायसे यह निश्चित किया जा चुका है कि कार्यका स्वरूप कारण ही है। स्वरूपके नाश होनेपर कार्यकी एक क्षण भी स्थिति नहीं हो सकती है, इससे अयोग्य उत्पत्तिक्रम प्रलयमें ग्राह्य नहीं है, क्योंकि लौकिक क्रमसे विरुद्ध होनेके कारण निराकाङ्क्ष है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"ततो ब्रूमः" इत्यादिसे। क्रमसे—

भाष्य

तीति वेदितव्यम् । नहि स्वकारणव्यतिक्रमेण कारणकारणे कार्याप्ययो न्याय्यः । स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाऽप्ययक्रमस्तत्र तत्र दर्शितः—

'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।

ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥' इत्येवमादौ । उत्पत्तिक्रमस्तूत्पत्तावेव श्रुतत्वान्नाऽप्यये भवितुमर्हति, न चाऽसावयोग्यत्वादप्ययेनाऽऽकाङ्क्ष्यते, नहि कार्ये ध्रियमाणे कारणस्याऽप्ययो युक्तः कारणाप्यये कार्यस्याऽवस्थानानुपपत्तेः । कार्याप्यये तु कारणस्याऽवस्थानं युक्तं मृदादिष्वेवं दृष्टत्वात् ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

सूक्ष्म ब्रह्ममें लीन होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि अपने कारणका व्यतिक्रम करके कारणके कारणमें कार्यका प्रलय होना उचित नहीं है। स्मृतिमें भी उत्पत्तिक्रमसे विपरीत प्रकारसे ही प्रलयक्रम यत्र तत्र 'जगत्प्रतिष्ठा' (हे देवर्षे ! जगत्की आधारभूत पृथिवी जलमें प्रलीन होती है, एवं जल तेजमें लीन होता है, तेज वायुमें लीन होता है,) इत्यादिमें दिखलाया गया है। उत्पत्तिक्रम तो उत्पत्तिमें ही श्रुत है, इससे प्रलयमें वह युक्त नहीं है। और अयोग्य होनेसे भी इसकी (उत्पत्तिक्रमकी) प्रलय आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि कारणके विनाशमें कार्यकी अवस्थिति नहीं होनेसे कार्यके रहते कारणका अप्यय युक्तियुक्त नहीं है। कार्यका प्रलय होनेपर तो कारणकी स्थिति हो सकती है, क्योंकि मृत्तिका आदिमें इस प्रकार देखा जाता है ॥१४॥

रत्नप्रभा

ब्रह्मणः किमिति आश्रीयते, साक्षादेव तत् किं न स्यादित्यत आह—नहि स्वकारणव्यतिक्रमेणेति । घटनाशे मृदनुपलब्धिप्रसंगादित्यर्थः । 'वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते' (वि०पु०) इति स्मृतिशेषः आदिपदार्थः । 'योग्यताधीनः सम्बन्धः' इति न्यायाद् अयोग्यक्रमबाध इति सिद्धम् ॥१४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

परम्परासे सब कार्यके लयका आधार ब्रह्म है, ऐसा क्यों स्वीकार करते हो? साक्षात् ही क्यों न हो? इसपर कहते हैं—"नहि स्वकारणव्यतिक्रमेण" इत्यादिसे। घटका नाश होनेपर मृत्तिकाकी अनुपलब्धिका प्रसङ्ग होगा, ऐसा अर्थ है। 'वायुश्च०' (वायु आकाशमें लीन होता है और वह अव्यक्तमें प्रलीन होता है)। यह स्मृतिशेष 'इत्यादिमें' आदि शब्दका अर्थ है। 'योग्यताके अधीन सम्बन्ध होता है' इस न्यायसे अयोग्य क्रमका बाध है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १४ ॥

[९ अन्तराविज्ञानाधिकरण सू० १५]

किमुक्तक्रमभङ्गोऽस्ति प्राणाद्यैर्नास्ति वास्ति हि ।
प्राणाक्षमनसां ब्रह्मवियतोर्मध्य ईरणात् ॥१॥
प्राणाद्या भौतिका भूतेष्वन्तर्भूताः पृथक् क्रमम् ।
नेच्छन्त्यतो न भङ्गोऽस्ति प्राणादौ न क्रमः श्रुतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्राण आदि श्रुतिसे पूर्वोक्त सृष्टिक्रमका भङ्ग होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—प्राण, इन्द्रियों और मनका ब्रह्म और आकाशके मध्यमें कथन होनेसे उक्त सृष्टिक्रमका भङ्ग है ।

सिद्धान्त—प्राण आदि भौतिक होनेसे भूतोंमें अन्तर्भूत हैं, अतः वे पृथक् उत्पत्ति-क्रमकी आकांक्षा नहीं करते हैं; इसलिए उक्त सृष्टिक्रमका भंग नहीं है । प्राण आदिका श्रुतिमें क्रम नहीं कहा गया है ।

---

* तात्पर्य यह है कि मुण्डक उपनिषत्में—

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥'

(आत्मासे प्राण, मन, सब इन्द्रियां और आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा भूताधार पृथिवी उत्पन्न होती है ।) पूर्वपक्षी कहता है कि यहाँपर प्राण आदिका आकाश आदिके पूर्वमें श्रवण होनेसे पहले आकाश उत्पन्न होता है इत्यादि पूर्वोक्त सृष्टिक्रमका भंग होगा ।

सिद्धान्ती कहते हैं—'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (हे सौम्य ! मन अन्नमय है) 'आपोमयः प्राणः' (प्राण जलमय है) 'तेजोमयी वाक्' (वाणी तेजोमयी है) इस प्राण आदिके भौतिकत्वके श्रवणसे भूतोंमें अन्तर्भाव होनेसे पृथक् क्रमकी अपेक्षा नहीं है । मुण्डक श्रुतिक्रमका प्रतिपादन नहीं करती, क्योंकि 'आकाशाद्वायुः' (आकाशसे वायु) 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि) इत्यादिके समान उसमें क्रमकी प्रतीति नहीं होती, वह केवल उत्पत्तिका प्रतिपादन करती है । इससे सिद्ध हुआ कि इस मुण्डकश्रुतिसे पूर्वोक्त क्रमका भंग नहीं है ।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

पदच्छेद—अन्तरा, विज्ञानमनसी, क्रमेण, तल्लिङ्गात्, इति, चेत्, न, अविशेषात् ।

पदार्थोक्ति—विज्ञानमनसी—बुद्धीन्द्रियसंशयात्मकान्तःकरणानि, [भूतानामात्मनश्च] अन्तरा—अन्तराले, तल्लिङ्गात्—तस्याः सृष्टेः गमकात् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिवाक्यात् अनुक्रम्यन्ते [तथा चात्मनः सकाशात् इन्द्रियबुद्धिमनांसि तेभ्यश्च भूतानीति क्रमेण विरुद्ध्यते] इति चेत्, न—इति कथनं नोचितम्; [कुतः] अविशेषात्—इन्द्रियबुद्धिमनसां भौतिकत्वेन भूतोत्पत्तिक्रमाद् इन्द्रियक्रमस्य उत्पत्तिसाम्यात् [येन क्रमेण भूतोत्पत्तिस्तेनैव क्रमेण भौतिकत्वोत्पत्तिरित्यतो न विरुद्ध्यते इत्यर्थः । 'एतस्माज्जायते०' इत्यादि श्रुतिस्तु सर्वेषामात्मनः सकाशात् उत्पत्तिमात्रं ब्रूते न क्रमम् इत्यतः केनापि वाक्येन भूतसृष्टिवाक्यानां न विरोधो भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—आत्मा और भूतोंके मध्यमें 'एतस्मात्०' (आत्मासे प्राण, मन, सब इन्द्रियां आदि उत्पन्न होते हैं) इत्यादि सृष्टिबोधक वाक्यसे बुद्धि, इन्द्रियों और संशयात्मक अन्तःकरणका अनुक्रम होता है । इससे आत्मासे बुद्धि, इन्द्रिय, मन उत्पन्न होते हैं, उनसे भूत उत्पन्न होते हैं, इस क्रमके साथ सृष्टिक्रमका विरोध है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इन्द्रिय, बुद्धि और मनके भौतिक होनेसे भूतोत्पत्तिक्रमसे इन्द्रिय आदिके उत्पत्तिक्रमका साम्य है अर्थात् जिस क्रमसे भूतोंकी उत्पत्ति है उसी क्रमसे भौतिक प्राण, मन, आदिकी उत्पत्ति है, इसलिए कोई विरोध नहीं है । 'एतस्माजायते०' इत्यादि श्रुतियां तो आत्मासे सबकी केवल उत्पत्ति कहती हैं, क्रम नहीं कहतीं, इससे किसी भी वाक्यसे भूतसृष्टिवाक्योंका विरोध नहीं हो सकता ।

भाष्य

भूतानामुत्पत्तिप्रलयावनुलोमप्रतिलोमक्रमाभ्यां भवत इत्युक्तम्, आ-

भाष्यका अनुवाद

भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय ये दोनों जिस अनुलोम और प्रतिलोम क्रमसे होते

रत्नप्रभा

अन्तरा—ऽविशेषात् । उक्तभूतोत्पत्तिलयक्रमम् उपजीव्य स किं करणोत्प-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अन्तरा—अविशेषात्"। भूतोंका उत्पत्तिक्रम और लयक्रम जो कहा जा चुका है,

भाष्य

त्मादिरुत्पत्तिः प्रलयश्चाऽऽत्मान्त इत्यप्युक्तम्, सेन्द्रियस्य तु मनसो बुद्धेश्च सद्भावः प्रसिद्धः श्रुतिस्मृत्योः, 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहुः' (क० ३।३) इत्यादिलिङ्गेभ्यः । तयोरपि कस्मिंश्चिदन्तराले क्रमेणोत्पत्तिप्रलयावुपसंग्राह्यौ, सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वाभ्युपगमात् । अपि चाऽऽथर्वणे उत्पत्तिप्रकरणे भूतानामात्मनश्चाऽन्तराले करणान्यनुक्रम्यन्ते—

भाष्यका अनुवाद

हैं, ऐसा कहा गया है। और यह भी कह चुके हैं कि आत्मासे उत्पत्तिका आदि (आरम्भ) होता है एवं प्रलयका अन्त आत्मामें होता है। इन्द्रिय सहित मन और बुद्धिका सद्भाव श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है, क्योंकि 'बुद्धिं तु सारथिम्०' (बुद्धिको सारथि जानो और मनको लगाम जानो, इन्द्रियोंको अश्व कहते हैं) इत्यादि लिङ्ग हैं। वस्तुओंको ब्रह्मजन्य माननेसे उन दोनोंके भी उत्पत्ति और प्रलयका किसीके मध्यमें संग्रह करना चाहिए। और आथर्वणमें उत्पत्तिके

रत्नप्रभा

त्तिक्रमेण विरुध्यते न वेति करणानाम् अभौतिकत्वभौतिकत्वाभ्यां सन्देहे वृत्तानुवादपूर्वकं पूर्वपक्षमाह—**भूतानामित्यादिना**। करणानि एव न सन्तीति वदन्तं प्रत्याह—**सेन्द्रियस्येति**। 'मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः' 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये' (भ०गी०३।४२) इति स्मृतिर्द्रष्टव्या। अन्यपराः शब्दाः लिङ्गानि इति उच्यन्ते। करणानां क्रमाकाङ्क्षामाह—**तयोरपीति**। आकाङ्क्षायां श्रुतिसिद्धः क्रमो ग्राह्य इत्याह—**अपि चेति**। विज्ञायतेऽनेन इति विज्ञानम्—सेन्द्रिया बुद्धिः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसके आधारपर इन्द्रियोंके उत्पत्तिक्रमसे वह विरुद्ध है या नहीं ? और इन्द्रियाँ अभौतिक हैं या भौतिक हैं, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वोक्तका अनुवाद करके पूर्वपक्ष कहते हैं—"भूतानाम्" इत्यादिसे। इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, ऐसा कहनेवालेके प्रति कहते हैं—"सेन्द्रियस्य" इत्यादिसे। 'मनसस्तु०' (इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, जो बुद्धिसे श्रेष्ठ है, वह परमात्मा है) 'श्रोत्रादीनीन्द्रिया०' (योगी लोग श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमाग्निमें हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियसंयम करते हैं) इत्यादि स्मृति देखनी चाहिए। अन्यवाचक शब्द लिंग हैं, ऐसा कहा जाता है। इन्द्रियोंकी भी क्रमाकांक्षा कहते हैं—"तयोः" इत्यादिसे। क्रमकी आकांक्षा होनेपर श्रुतिसिद्ध क्रम उपादेय है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जिससे

भाष्य

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥' (मु० २।१।३) इति । तस्मात् पूर्वोक्तोत्पत्तिप्रलयक्रमभङ्गप्रसङ्गो भूतानामिति चेत्, नः अविशेषात्—यदि तावद् भौतिकानि करणानि ततो भूतोत्पत्ति-

भाष्यका अनुवाद

प्रकरणमें भूत और आत्माके बीचमें इन्द्रियोंका अनुक्रम है, क्योंकि 'एतस्माज्जायते प्राणः०' (इससे प्राण उत्पन्न होता है, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी) ऐसी (श्रुति) है। इससे पूर्वोक्त भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयके क्रमका भङ्ग प्रसक्त है ? ऐसा कहो तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विशेष नहीं है—यदि इन्द्रियां भौतिक हैं, तो भूतोंकी

रत्नप्रभा

आत्मनो भूतानां चाऽन्तरा मध्ये तल्लिङ्गात् सृष्टिवाक्याद् 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः' इत्यादिरूपाद् विज्ञानमनसी अनुक्रम्येते, तथा च करणक्रमेण पूर्वोक्तक्रमभङ्ग इति शङ्कासूत्रांशार्थः। न च करणानां भौतिकत्वाद् भूतानन्तर्यम् इति वाच्यम्। तेषां भौतिकत्वे मानाभावात्। तथा च आत्मनः प्रथमम् आकाशस्य जन्म पश्चाद् वायोरिति उक्तक्रमस्य आत्मनः करणानि ततो भूतानीति क्रमेण विरोध इति तित्तिर्यथर्वणश्रुत्योः विरोधात् न ब्रह्मणि समन्वय इति पूर्वपक्षफलम्।

सिद्धान्तयति—नेति। 'आत्मन आकाशः' (तै० २।१।२) इत्यादितित्ति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेष ज्ञान किया जाय वह विज्ञान है, अर्थात् सेन्द्रिय बुद्धि। 'एतस्माज्जायते०' इत्यादि-रूप तल्लिंग सृष्टिवाक्योंसे आत्मा और भूतोंके बीचमें विज्ञान और मनका अनुक्रमण है। इन्द्रियोंके क्रमकी अपेक्षा होनेपर आत्मा और भूतोंके बीचमें इन्द्रियां श्रुतिमें कही हुई होनेसे इन्द्रियोंका क्रम नियमित होता है, इसलिए करणोंके क्रमसे पूर्वोक्त भूतोंके क्रमके भंगका प्रसङ्ग है, क्योंकि आत्मासे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे भूत उत्पन्न होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए 'आत्मनः आकाशः' (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार इन्द्रियोंके क्रमसे पूर्वोक्त क्रमका भंग है, ऐसा शङ्कासूत्रांशका अर्थ है। और इन्द्रियाँ भौतिक होनेसे भूतोंके पीछे उत्पन्न होती हैं, यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि वे भौतिक हैं, इसमें प्रमाण नहीं है। इसलिए आत्मासे प्रथम आकाशका जन्म होता है, पीछे वायुका, इस प्रकार उक्त क्रमका पहले आत्मासे इन्द्रियोंका जन्म होता है और पीछे भूतोंका, इस क्रमके साथ विरोध है। इस प्रकार तित्तिरि और अथर्वण श्रुतियोंमें परस्पर विरोध होनेसे ब्रह्ममें समन्वय नहीं है, ऐसा पूर्वपक्षका फल है।

सिद्धान्त करते हैं—"न" इत्यादिसे। 'आत्मनः आकाशः' इत्यादि तित्तिरि

भाष्य

प्रलयाभ्यामेवैषामुत्पत्तिप्रलयौ भवत इति नैतयोः क्रमान्तरं मृग्यम्। भवति च भौतिकत्वे लिङ्गं करणानाम् 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राण-

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्ति और प्रलयसे ही इनकी उत्पत्ति और प्रलय ये दोनों होंगे, अतः इनके लिए अन्य क्रमकी गवेषणा नहीं करनी चाहिए। और 'अन्नमयं हि सोम्य०'

रत्नप्रभा

रिश्रुतौ पञ्चम्याः कार्यकारणभावेनाऽर्थतः क्रमो भाति, तस्य आथर्वणपाठेन बाधः। अर्थक्रमविरोधिक्रमविशेषस्य अश्रुतेः पाठक्रमस्य अर्थक्रमधीशेषस्य शेषिबाधकत्वायोगात्, अतः श्रुतार्थक्रमाविरोधेन पाठस्य नेयत्वाद् भूतानन्तर्यं करणानामित्यर्थः। किञ्च, भौतिकत्वात् तेषां तदानन्तर्यमित्याह—यदीति। न च प्राणस्य अब्विकारत्वायोगाद् अन्नमयमित्यादिमयटो न विकारार्थतेति वाच्यम्। करणानां विभक्तत्वेन कार्यतया कारणाकाङ्क्षायाम् 'अन्नमयम्' (छा० ६।५।४, तै० २।८।१) इत्यादिश्रुतेः आकाङ्क्षितोक्त्यर्थम् असति बाधके मयटो विकारार्थताया युक्तत्वात्। प्राचुर्यार्थत्वे तु अनाकाङ्क्षितोक्तिप्रसंगात् श्रुत्यैव तेजोऽबन्नप्राशने वाक्प्राणमनसां वृद्धिः, तदभावे तन्नाशः, इति विकारत्वस्य दर्शितत्वात् न विवादावसरः। यद्वा, स्थूलभूताधीना तेषां वृद्धिः विकारो मयडर्थः श्रूयमाणो भौतिकत्वे लिङ्गम्, प्राणेन्द्रियमनांसि भौतिकानि भूताधीनवृद्धिमत्त्वात् देहवदिति भावः। ननु तेषां

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिमें पञ्चमीका कार्यकारणभावसे अर्थतः क्रम समझा जाता है। उसका आथर्वणपाठसे बाध नहीं होता, क्योंकि अर्थक्रमका विरोधी कोई क्रमविशेष श्रुत नहीं है और आर्थवणका पाठक्रम जो अर्थक्रमकी बुद्धिका अङ्गभूत है, वह अङ्गीका बाधक हो, यह युक्त नहीं है। इसलिए जिस प्रकार श्रुतिका अर्थ क्रमविरुद्ध न हो, इस प्रकार आर्थवणका पाठ गौण करना चाहिए, इससे इन्द्रियाँ भूतोंके पीछे उत्पन्न हुई हैं, ऐसा अर्थ है। और इन्द्रियाँ भौतिक होनेसे भूतोंसे अनन्तर उत्पन्न हुई हैं, ऐसा कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे। प्राणके जल कार्य्य न होनेसे 'अन्नमयम्' इत्यादिमें मयट्प्रत्यय विकारार्थक नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। मन आदि इन्द्रियाँ विभक्त होनेसे कार्य हैं, अतः कारणकी आकांक्षा होनेपर 'अन्नमयं मनः' इत्यादि श्रुति अपेक्षित अर्थके लिए बाधक न रहनेपर मयट्का विकारार्थत्व ही युक्त है। प्राचुर्य अर्थ होनेमें तो अनाकांक्षित उक्तिका प्रसंग आवेगा, क्योंकि तेज, जल और अन्नके प्राशन करनेपर वाक्, प्राण और मनकी वृद्धि होती है और उसके अभावमें नाश होता है, इस प्रकार श्रुति ही मयट् विकारार्थक है, ऐसा दिखलाती है। इसलिए विवादका अवसर नहीं है। अथवा स्थूल भूतोंके अधीन उनकी [करणोंकी] श्रूयमाण वृद्धि—मयडर्थ

भाष्य

स्तेजोमयी वाक्' (छा०६।५।४) इत्येवंजातीयकम् । व्यपदेशोऽपि क्वचिद् भूतानां करणानां च ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन नेतव्यः । अथ त्वभौतिकानि करणानि, तथापि भूतोत्पत्तिक्रमो न करणैर्विशिष्यते—प्रथमं करणान्युत्पद्यन्ते चरमं भूतानि प्रथमं वा भूतान्युत्पद्यन्ते चरमं वा करणानीति । आथर्वणे तु समाम्नायक्रममात्रं करणानां भूतानां च, न तत्रोत्पत्तिक्रम उच्यते । तथान्यत्राऽपि पृथगेव भूतक्रमात् करणक्रम आम्नायते—'प्रजाप-

भाष्यका अनुवाद

(हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है) इस प्रकारका इन्द्रियोंके भौतिक (भूतविकार) होनेमें लिङ्ग है । कहींपर भूतों और इन्द्रियोंका व्यपदेश (शब्दप्रयोग) तो ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायसे गौण समझना चाहिए । यदि अभौतिक इन्द्रियां हैं, तो भी भूतोंका उत्पत्तिक्रम इन्द्रियोंसे अलग नहीं होता—प्रथम इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं अनन्तर भूत, अथवा प्रथम भूत उत्पन्न होते हैं और पीछे इन्द्रियां । आथर्वणमें तो भूत और करणोंका केवल समाम्नाय क्रम है । न कि वहां उत्पत्तिक्रम कहा जाता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी 'प्रजापतिर्वा०' (वह स्थूल पूर्वमें

रत्नप्रभा

भौतिकत्वे कथम् आथर्वणे पृथक् तज्जन्मकथनम्, भूतजन्मोक्त्यैव तज्जन्मसिद्धेः, इत्यत आह—व्यपदेशोऽपीति । प्रौढिवादेन तेषाम् अभौतिकत्वम् उपेत्याऽपि श्रुत्यविरोधमाह—अथ त्विति । करणानां भूतानां च पूर्वापरत्वे मानाभावात नोक्तभूतक्रमभङ्गः । न चाऽऽथर्वणवाक्यं मानम्, पाठमात्रत्वात् इत्यर्थः । तर्हि कथं क्रमनिर्णयः, तत्राह—तथेति । इदं—स्थूलम्, अग्रे—उत्पत्तेः प्राक् प्रजापतिः—सूत्रात्मा आसीत् । अत्र सूक्ष्मभूतात्मकप्रजापतिसर्गः प्रथमः, ततो मन आदि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विकार ही उनके भौतिकत्वमें प्रमाण है जैसे प्राण, इन्द्रिय और मन भौतिक है, भूतके अधीन वृद्धि होनेसे, देहके समान, ऐसा भाव है । यदि कोई शंका करे कि—ये भौतिक हैं, तो आथर्वणमें इनकी पृथक् उत्पत्ति क्यों कही गई है, क्योंकि भूतोंकी उत्पत्तिसे ही उनकी उत्पत्ति सिद्ध है, इसपर कहते हैं—"व्यपदेशोऽपि" इत्यादिसे । प्रौढिवादसे इन्द्रियाँ अभौतिक हैं, ऐसा स्वीकार करने पर भी श्रुतिका अविरोध कहते हैं—"अथ तु" इत्यादिसे । इन्द्रियों और भूतोंके पूर्वापर क्रममें प्रमाण न होनेसे उक्त भूतक्रमका भंग नहीं है । आथर्वण वाक्य क्रममें प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह पाठमात्र है, ऐसा अर्थ है । तब क्रमका निर्णय किस प्रकार होगा ? इसपर कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । इदम्—स्थूल कार्य । अग्रे—

भाष्य

तिर्वा इदमग्र आसीत्स आत्मानमैक्षत स मनोऽसृजत तन्मन एवासी-त्तदात्मानमैक्षत तद्वाचमसृजत' इत्यादिना। तस्मान्नाऽस्ति भूतोत्पत्ति-क्रमस्य भङ्गः ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

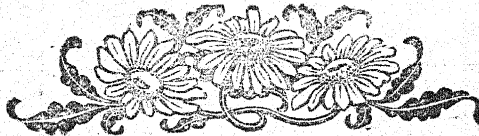
प्रजापतिस्वरूप था उसने आत्माको देखा, उसने मनको उत्पन्न किया, वह मनही था, उसने आत्माको देखा, उसने वाणी उत्पन्न की) इत्यादिसे भूतक्रमसे इन्द्रियक्रम पृथक् ही कहा है, इससे भूतोंके उत्पत्तिक्रमका भङ्ग नहीं है ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

सर्ग इति क्रमो भाति इति भावः। एवं च भूतकरणोत्पत्तिश्रुत्योः अविरोधाद् ब्रह्मणि समन्वयसिद्धिः इति सिद्धान्तफलं निगमयति—तस्मादिति ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिके पूर्व। अर्थात् यह स्थूलकार्य उत्पत्तिके पूर्व प्रजापति—सूत्रात्मा था। यहाँ सूक्ष्मभूतात्मक प्रजापतिकी सृष्टि पहले हुई, पीछे मन आदिकी सृष्टि हुई, ऐसा क्रम समझा जाता है, यह भाव है। इस प्रकार भूतों और इन्द्रियोंकी उत्पत्तिश्रुतियोंमें विरोध न होनेसे ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध होता है, ऐसा सिद्धान्तफलका निगमन करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ १५ ॥



[१० चराचरव्यपाश्रयाधिकरण सू० १६]

जीवस्य जन्ममरणे वपुषो वात्मनो हि ते ।
जातो मे पुत्र इत्युक्तेर्जातकर्मादितस्तथा ॥ १ ॥

मुख्ये ते वपुषो भाक्ते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि ।
जातकर्म च लोकोक्तिर्जीवापेतेति शास्त्रतः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—जन्म और मरण जीवके होते हैं अथवा आत्माके ?

पूर्वपक्ष—'मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ' इस व्यवहारसे तथा शास्त्रमें जातकर्म आदि संस्कारोंके कथनसे प्रतीत होता है कि जीवके ही जन्म और मरण होते हैं ।

सिद्धान्ती—उक्त जन्म और मरण शरीरके मुख्य हैं जीवके गौण हैं । गौण जन्म-मरणकी अपेक्षासे ही लोक व्यवहार और कर्मशास्त्रकी प्रवृत्ति होती है, क्योंकि 'जीवापेतं वाव' (जीवशून्य शरीर मरता है जीव नहीं मरता) ऐसी श्रुति है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'पुत्रो मे जातः' (मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ) इस लौकिकव्यवहारसे और शास्त्रमें जातकर्म आदि संस्कारोंके कथनसे जन्म और मरण जीवके होते हैं ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यदि जीवका मुख्य मरण स्वीकार किया जाय, तो कृतकर्मोंका नाश और अकृत कर्मोंका आगमरूप दोषका निवारण नहीं हो सकेगा, इसलिए देहगत जन्म-मरणका जीवमें उपचार होता है । औपचारिक (गौण) जन्ममरणकी अपेक्षासे लोकव्यवहार और कर्मकाण्डकी प्रवृत्ति होती है । उपनिषत् शास्त्र तो 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते (जीव शून्य शरीरकी मृत्यु होती है जीवकी मृत्यु नहीं होती है) इत्यादिसे जीवरहित शरीरका मुख्य मरण है ऐसा कहकर जीवके मरणका निराकरण करता है । इससे सिद्ध हुआ कि शरीरके जन्म और मरण होते हैं ।

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

पदच्छेद—चराचरव्यपाश्रयः, तु, स्यात्, तद्व्यपदेशः, भाक्तः, तद्भाव-भावित्वात्।

पदार्थोक्ति—तद्व्यपदेशः—तयोः जन्ममरणयोः योऽयं लौकिको व्यपदेशः, [सः] चराचरव्यपाश्रयः—स्थावरजङ्गमदेहविषये मुख्यः [जीवे तु] भाक्तः—गौणः, [कुतः] तद्भावभावित्वात्—जन्ममरणव्यपदेशस्य देहोत्पत्तिनाशान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् [देहप्रादुर्भावापेक्षयैव जातकर्मादिविधानमिति न तेन शास्त्रेण जीवनित्यत्वशास्त्रस्य विरोधः]।

भाषार्थ—जन्म और मरणका जो यह लौकिक प्रवाद है वह स्थावर-जङ्गम देहमें मुख्य है जीवमें तो गौण है, क्योंकि जन्म-मरणका व्यपदेश देहकी उत्पत्ति और नाशके अन्वय और व्यतिरेकका अनुसरण करता है। देहका प्रादुर्भाव होनेसे ही जातकर्म आदिका विधान है, इसलिए इस शास्त्रके साथ जीवकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका विरोध नहीं है।

भाष्य

स्तो जीवस्याऽप्युत्पत्तिप्रलयौ, जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इत्येवंजा-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—उत्पत्ति और प्रलय जीवके भी होते हैं, क्योंकि देवदत्त उत्पन्न

रत्नप्रभा

चराचर--भावित्वात् । एवं तावत् तत्पदवाच्यकारणनिर्णयाय भूतश्रुतीनां विरोधो निरस्तः, इदानीम् आपादसमाप्तेः त्वंपदार्थशुद्ध्यै जीवश्रुतीनां विरोधो निरस्यते। इह 'न जायते म्रियते' (क० २।१।७) इत्यादिश्रुतेः जातेष्टिश्राद्धशास्त्रेण विरोधोऽस्ति न वेति सन्देहे विरोधोऽस्तीति प्राप्ते लौकिकजन्मादिव्यपदेशसहायाद् जातेष्ट्यादिशास्त्रेण जीवाऽजत्वादिश्रुतिः बाध्यते इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

"चराचर भावित्वात्"। इस प्रकार पहले 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस वाक्यमें स्थित तत्पदवाच्य कारणका निर्णय करनेके लिए भूतश्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया जा चुका है, अब पादकी समाप्तिपर्य्यन्त 'त्वम्' पदके अर्थकी शुद्धिके लिए जीव श्रुतियोंके विरोधका निरसन किया जाता है। यहाँ 'न जायते म्रियते' (जीव न जन्म लेता है और न मरता है) इत्यादि श्रुतियोंका जातेष्टिसंस्कार और श्राद्धके विधायक शास्त्रके—साथ विरोध है या नहीं ऐसा सन्देह होनेमें विरोध है ऐसा प्राप्त होनेपर लौकिक जन्म आदि व्यपदेशकी सहायतासे जातेष्टि आदि शास्त्रसे जीवके अजत्व आदिका प्रतिपादन करनेवाली

भाष्य

तीयकात् लौकिकव्यपदेशात् जातकर्मादिसंस्कारविधानाच्चेति स्यात् कस्यचिद् भ्रान्तिस्तामपनुदामः। न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः, शास्त्रफलसंबन्धोपपत्तेः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्। श्रूयते च—जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' (छा० ६।११।३) इति। ननु लौकिको जन्ममरण-

भाष्यका अनुवाद

हुआ, देवदत्त मर गया, इस प्रकारके लौकिक व्यवहार होते हैं और जातकर्म आदि संस्कारोंका विधान है; किसीको ऐसी भ्रान्ति हो सकती है।

सिद्धान्ती—उसको दूर करते हैं जीवकी उत्पत्ति और प्रलय नहीं होते हैं, शास्त्रफलके सबन्धकी उपपत्ति होनेसे, क्योंकि शरीरके साथ जीवात्माका विनाश हो, तो अन्य शरीरगत इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके परिहारके लिए विधि और निषेध अनर्थक हो जायँगे। और 'जीवापेतम्०' (जीवसे रहित (शरीर) मरता है जीव नहीं मरता) ऐसी श्रुति है। परन्तु जीवका लौकिक जन्म

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षयति—**स्त इति**। तथा च करणोत्पत्तिक्रमेण भूतक्रमस्य बाधाभावेऽपि जीवोत्पत्तिक्रमेण बाधः स्यादिति प्रत्युदाहरणसंगतिः। पूर्वपक्षे जीवब्रह्मैक्यासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिः इति भेदः। चेतनजन्माद्युद्देशेन चेतनस्य तस्य जन्मान्तरीयफलसाधनं जातकर्मादिसंस्कारो विधीयते, तथा च उद्देश्यविधेययोः मिथो विरोधे सति विधेयाविरोधेन उद्देश्यं नेयम् इति न्यायात् जन्मादिकं देहोपाधिकम्, न स्वत इति सिद्धान्तयति—**तामित्यादिना**। जीवापेतम्—जीवेन त्यक्तम्। इदम्—शरीरम्। जन्मादिव्यपदेशः चराचरदेहविषयो मुख्यः, जीवे तु भाक्तः—

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिका बाध होता है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"स्तः" इत्यादिसे। यद्यपि इन्द्रियोंके उत्पत्तिक्रमसे भूतोंके उत्पत्तिक्रमका बाध नहीं है, तो भी जीवके उत्पत्तिक्रमसे बाध है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगति है। पूर्वपक्षमें जीव और ब्रह्मका ऐक्य असिद्ध है, सिद्धान्तमें (वह ऐक्य) सिद्ध है, ऐसा भेद है। चेतनके जन्म आदिके उद्देशसे चेतनको अन्य जन्ममें फल मिले इसलिए जातकर्मादि संस्कारोंका विधान किया गया है। अब उद्देश और विधेय इन दोनोंका परस्पर विरोध होनेपर 'विधेयके साथ जिस तरह विरोध न हो ऐसे उद्देशको गौण करना चाहिए' इस न्यायसे जन्मादि देहोपाधिक हैं, स्वतः चेतन जीवके नहीं हैं, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"ताम्" इत्यादिसे। जीवसे वियुक्त शरीर। जन्म आदि व्यपदेश चराचर देहमें

भाष्य

व्यपदेशो जीवस्य दर्शितः। सत्यं दर्शितः। भाक्तस्त्वेष जीवस्य जन्ममरणव्यपदेशः। किमाश्रयः पुनरयं मुख्यो यदपेक्षया भाक्त इति। उच्यते—चराचरव्यपाश्रयः। स्थावरजङ्गमशरीरविषयौ जन्ममरणशब्दौ। स्थावरजङ्गमानि हि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ते चाऽतस्तद्विषयौ जन्ममरणशब्दौ मुख्यौ सन्तौ तत्स्थे जीवात्मन्युपचर्येते, तद्भावभावित्वात्। शरीरप्रादुर्भावतिरोभावयोर्हि सतोर्जन्ममरणशब्दौ भवतो नाऽसतोः। नहि शरीरसंबन्धादन्यत्र जीवो जातो मृतो वा केनचिल्लक्ष्यते। 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' (बृ०४।३।८)

भाष्यका अनुवाद

मरण व्यपदेश दिखलाया है, सत्य, दिखलाया है, किन्तु जीवके जन्म और मरणका व्यपदेश गौण है। इसका मुख्य आश्रय कौन है, जिसकी अपेक्षासे जीवमें जन्म और मरणका व्यपदेश गौण है? चर (जङ्गम) और अचर (स्थावर) शरीरमें यह मुख्य है ऐसा कहते हैं। जन्म और मरण स्थावर और जङ्गम शरीरमें हैं, क्योंकि स्थावर और जङ्गम भूत जन्म लेते हैं, और मरते हैं, अतः जन्म और मरण शब्द उनमें (स्थावर जङ्गम भूतोंमें) मुख्य होते हुए उनमें रहनेवाले जीवात्मामें गौण हैं, क्योंकि तद्भावभावी हैं, (उसके-शरीरके अस्तित्वसे उसका-जीवके जन्म-मरणव्यपदेशका अस्तित्व है) शरीरके आविर्भाव और तिरोभाव होनेपर जन्म और मरण शब्द होते हैं, नहीं होनेपर नहीं होते हैं। इससे शरीरके सम्बन्धके बिना अन्यत्र 'जीव उत्पन्न हुआ या मर गया' ऐसा कोई देखता नहीं है। और 'स वा अयं पुरुषः०' (वही यह पुरुष शरीरमें आत्मभाव पानेसे जन्म लेता है और शरीरसे निकल जानेसे—अन्य शरीरमें जानेसे मरता

रत्नप्रभा

गौणः औपाधिकजन्मादिविषयः स्यात्। उपाधिजन्मभावे भावात् असति अभावात् इति सूत्रार्थः। जीवस्य औपाधिकजन्ममृत्योः श्रुतिमपि आह—स वा इति। जायमानपदार्थमाह—शरीरमिति। म्रियमाणत्वं व्याचष्टे—उत्क्रामन्निति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

मुख्य है, जीवमें तो औपाधिक जन्मादि होनेसे गौण होगा, क्योंकि उपाधि (शरीरादि) के जन्मके अस्तित्वमें जीवके जन्मका अस्तित्व और अभावमें अभाव है, ऐसा सूत्रार्थ है। जीवके औपाधिक जन्म और मृत्यु हैं, इसमें श्रुति कहते हैं—"स वा" इत्यादिसे। 'जायमानः' इस पदका अर्थ कहते हैं—"शरीरम्" इत्यादिसे। 'म्रियमाणः' पदका अर्थ कहते हैं—

भाष्य

इति च शरीरसंयोगवियोगनिमित्तावेव जन्ममरणशब्दौ दर्शयति । जातकर्मादिविधानमपि देहप्रादुर्भावापेक्षमेव द्रष्टव्यम् । अभावाद् जीवप्रादुर्भावस्य । जीवस्य परस्मादात्मन उत्पत्तिर्वियदादीनामिवाऽस्ति नाऽस्ति वेत्येतदुत्तरेण सूत्रेण वक्ष्यति । देहाश्रयौ तावज्जीवस्य स्थूलावुत्पत्तिप्रलयौ न स्त इत्येतदनेन सूत्रेणाऽवोचत् ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

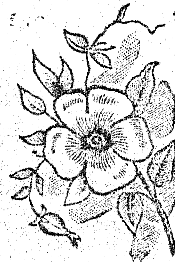
है) यह श्रुति जन्ममरणशब्द शरीरके संयोगसे और वियोगसे हैं, ऐसा दिखलाती है । जातकर्म आदिका विधान भी देहके प्रादुर्भावकी अपेक्षासे ही है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि जीवके प्रादुर्भावका अभाव है । आकाश आदिके समान जीवकी उत्पत्ति है या नहीं यह आगेके सूत्रसे कहेंगे । देहगत स्थूल उत्पत्ति और प्रलय जीवमें नहीं हैं ऐसा सूत्रकारने इस सूत्रसे कहा ॥१६॥

रत्नप्रभा

ननु उत्तरत्र जीवस्य जन्मादि निरस्यते, अत्राऽपि तन्निरासे पुनरुक्तिः इत्याशङ्क्याऽऽह—**जीवस्येति** । तदेवं जातेष्ट्यादिशास्त्रस्य औपाधिकजन्मादिविषयत्वात् न जीवाद्यजन्यत्वश्रुतिविरोध इति सिद्धम् ॥१६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"उत्क्रामन्" इत्यादिसे । उत्तर सूत्रमें जीवके जन्म आदिका निरसन किया गया है, यहाँ भी उसका निरसन करनेसे पुनरुक्ति होगी ऐसी आशङ्का करते हैं—"जीवस्य" इत्यादिसे । इस प्रकार जातेष्टि आदि शास्त्रके औपाधिक जन्मादिविषयक होनेसे जीव अज है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके साथ विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १६ ॥



[११ आत्माधिकरण सू० १७]

कल्पादौ ब्रह्मणो जीवो वियद्वज्जायते न वा ।
सृष्टेः प्रागद्वयत्वोक्तेर्जायते विस्फुलिङ्गवत् ॥ १ ॥
ब्रह्माद्वयं जातबुद्धौ जीवत्वेन विशेत् स्वयम् ।
औपाधिकं जीवजन्म नित्यत्वं वस्तुतः श्रुतम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—कल्पके आरम्भमें ब्रह्मसे जीव आकाशकी भाँति उत्पन्न होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—सृष्टिके पूर्व अद्वितीयताके कथनसे प्रतीत होता है कि चिनगारियोंकी भाँति जीव ब्रह्मसे उत्पन्न होता है ।

सिद्धान्त—बुद्धिके उत्पन्न होनेपर अद्वितीय ब्रह्म ही जीवरूपसे प्रविष्ट होता है जीवका जन्म औपाधिक है और नित्यता वास्तविक है ऐसा सुना गया है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय) इस प्रकार सृष्टिके पूर्व अद्वितीयताका जो श्रुतिमें प्रतिपादन किया जाता है वह ब्रह्मसे अतिरिक्त जीवकी उत्पत्ति न माननेपर नहीं घट सकता । श्रुति चिनगारियोंके दृष्टान्तसे जीवकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करती है—'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः, सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि, सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' (जैसे अग्निसे चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस आत्मासे सब प्राण, सब लोक, सब वेद, सब भूत और सब आत्माएँ निकलती हैं) इससे प्रतीत होता है कि कल्पके आरम्भमें आकाशकी भाँति ब्रह्मसे जीव उत्पन्न होता है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—जो अद्वितीय ब्रह्म है, वही बुद्धिके उत्पन्न होनेपर जीवरूपसे प्रविष्ट होता है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (सृष्टि करके वही जीवरूपसे प्रविष्ट हुआ) ऐसी श्रुति है । अतः जीवकी उत्पत्ति न होनेमें सृष्टिके पूर्वमें अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका विरोध नहीं है । विस्फुलिङ्गश्रुति औपाधिक जन्मके अभिप्रायसे प्रवृत्त हुई है । अन्यथा कृतहानि अकृत-प्राप्ति दोष कहे ही गये हैं । वस्तुतत्त्वके अभिप्रायसे तो श्रुति जीवकी नित्यताका प्रतिपादन करती है—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (आत्मा नित्योंका नित्य है और चेतनोंका चेतन है) इत्यादि । इससे सिद्ध हुआ कि कल्पादिमें जीव उत्पन्न नहीं होता ।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

पदच्छेद—न, आत्मा, अश्रुतेः, नित्यत्वात्, च, ताभ्यः ।

पदार्थोक्ति—आत्मा—जीवः, न—नोत्पद्यते, [कुतः] अश्रुतेः—उत्पत्तिप्रकरणेषु जीवोत्पत्तेरश्रवणात्, ताभ्यः—'स वा एष महानज आत्मा' अजो 'नित्यः' इत्यादिश्रुतिभ्यः, नित्यत्वाच्च—जीवस्य नित्यत्वावगमाच्च ।

भाषार्थ—जीव उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उत्पत्तिप्रकरणमें जीवोत्पत्ति नहीं सुनी गई है और 'स वा एष' (यह आत्मा महान् और जन्मरहित है), 'अजो नित्यः' (जन्मशून्य और अविनाशी है) इत्यादि श्रुतियोंसे जीव नित्य है, ऐसी प्रतीति होती है ।

भाष्य

अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसंबन्धी । स किं व्योमादिवदुत्पद्यते ब्रह्मण आहोस्विद् ब्रह्मवदेव नोत्पद्यत इति श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विशयः । कासुचिच्छ्रुतिष्वग्निविस्फुलिङ्गादिनिदर्शनैर्जीवात्मनः परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तिराम्नायते, कासुचित्त्वविकृतस्यैव परस्य ब्रह्मणः

भाष्यका अनुवाद

शरीर और इन्द्रियरूपी पञ्जरका अध्यक्ष और कर्मफलका सम्बन्धी जीव नामक आत्मा है । क्या वह आकाश आदिके समान ब्रह्मसे उत्पन्न होता है या ब्रह्मके समान ही उत्पन्न नहीं होता ? ऐसा श्रुतियोंके परस्पर विरोध होनेसे संशय होता है । कुछ श्रुतियोंमें अग्निविस्फुलिङ्गके दृष्टान्तोंसे जीवात्माकी परब्रह्मसे उत्पत्ति कही गई है, और अन्य श्रुतियोंमें अविकृत परब्रह्म ही कार्य-

---

रत्नप्रभा

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः । 'अग्नेर्विस्फुलिङ्गवदेतस्मात् परमात्मनः सर्वे जीवात्मानो व्युच्चरन्ति' इत्यादिजीवोत्पत्तिश्रुतीनां 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः अज आत्मा' (बृ० १।४।७) इत्याद्यनुत्पत्तिश्रुतीनां च मिथो विरोधात् संशये, मा भूतां देहजन्मनाशयोः जीवजन्मनाशौ, देहान्तरभोग्यस्वर्गादिहेतुविध्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च" । जैसे 'अग्निसे चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस परमात्मासे सब जीव निकलते हैं' इत्यादि जीवकी उत्पत्ति दिखानेवाली श्रुतियोंका और "स एष०" (वह यह इस शरीरमें नखके अग्रपर्यन्त प्रविष्ट है), "अज आत्मा" (आत्मा जन्मरहित है) इत्यादि जीवकी अनुत्पत्तिसूचक श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे संशय होनेपर, देहके जन्म और

भाष्य

कार्यप्रवेशेन जीवभावो विज्ञायते न चोत्पत्तिराम्नायते इति। तत्र प्राप्तं तावदुत्पद्यते जीव इति। कुतः ? प्रतिज्ञानुपरोधादेव। 'एकस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितम्' इतीयं प्रतिज्ञा सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्म-प्रभवत्वे सति नोपरुध्येत, तत्त्वान्तरत्वे तु जीवस्य प्रतिज्ञेयमुपरुध्येत। न चाऽविकृतः परमात्मैव जीव इति शक्यते विज्ञातुम्, लक्षणभेदात्। अपहतपाप्मत्वादिधर्मको हि परमात्मा, तद्विपरीतो हि जीवः, विभागा-

भाष्यका अनुवाद

में प्रवेश करके जीवरूपी होता है, ऐसा जाना जाता है, परन्तु उत्पत्ति नहीं कही जाती है।

पूर्वपक्षी—ऐसा संशय होनेपर यह प्राप्त हुआ कि जीव उत्पन्न होता है, किससे ? प्रतिज्ञाके अनुपरोध (अबाध) से। 'एकस्मिन् विदिते सर्वम्०' (एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होता है) इस प्रतिज्ञाका सम्पूर्ण वस्तुसमूहके ब्रह्मजन्य होनेपर बाध नहीं होगा, यदि जीवको अन्य तत्त्व माना जाय, तो उक्त प्रतिज्ञाके साथ विरोध स्पष्ट है। और अविकृत परमात्मा ही जीव है, यह नहीं जान सकते हैं, क्योंकि लक्षण भिन्न है—परमात्मा नष्ट-पाप्मा है और जीव उससे विपरीत है, अर्थात् उसमें पापादिकी सम्भावना

रत्नप्रभा

द्यसम्भवात्, कल्पाद्यन्तयोः नभस इव जीवस्य तौ किं न स्याताम्, तत्सम्भवा-दिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—तत्र प्राप्तं तावदिति। फलं पूर्ववत्। उपरोधः—बाधः। ननु अविकृतं ब्रह्मैव अत्र प्रविष्टं जीवः, न तत्त्वान्तरमिति प्रतिज्ञासिद्धिः, तत्राह—न चेति। जीवः परस्माद् भिन्नः, विरुद्धधर्मवत्त्वाद् भिन्नस्य अविकारत्वे प्रतिज्ञाबाध इति तर्कोपेतविभक्तत्वलिङ्गानुगृहीतोत्पत्तिश्रुतेः बलीयस्त्वात् प्रवेश-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नाश होनेसे जीवके जन्म और मरण न हो, क्योंकि अन्य देहसे भोगे जानेवाले स्वर्ग आदिके निमित्त विधिका असम्भव होगा, परन्तु कल्पके आदि और अन्तमें जैसे आकाशकी उत्पत्ति और प्रलय होते हैं, वैसे जीवके वे क्यों न हों, क्योंकि उनका सम्भव है, इस प्रकार प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र प्राप्तं तावत्" इत्यादिसे। पूर्वके समान फल है, उपरोध—बाध। अविकृत ब्रह्म ही यहाँ प्रविष्ट हुआ जीव है, तत्त्वान्तर नहीं है, इससे प्रतिज्ञासिद्धि है, उसपर कहते हैं—"न च"इत्यादिसे। जीव परमात्मासे भिन्न है, विरुद्ध धर्मवाला होनेसे, भिन्न जीव यदि अविकार माना जाय, तो प्रतिज्ञाका बाध होगा, इस तर्कसे

भाष्य

चाऽस्य विकारत्वसिद्धिः। यावान् ह्याकाशादिः प्रविभक्तः स सर्वो विकारस्तस्य चाकाशादेरुत्पत्तिः समधिगता, जीवात्मापि पुण्यापुण्यकर्मा सुखदुःखयुक्प्रतिशरीरं प्रविभक्त इति तस्याऽपि प्रपञ्चोत्पत्त्यवसर उत्पत्तिर्भवितुमर्हति। अपि च 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २।१।२०) इति प्राणादेर्भोग्यजातस्य सृष्टिं शिष्ट्वा 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति भोक्तॄणामात्मनां पृथक्सृष्टिं शास्ति। 'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मु० २।१।१) इति च जीवात्मनामुत्पत्तिप्रलयावुच्येते। सरूपवचनात्, जीवात्मानो हि परमात्मना सरूपा भवन्ति चैतन्ययोगात्। न च

भाष्यका अनुवाद

है। और विभक्त होनेसे भी जीव विकार है, ऐसा सिद्ध होता है। आकाश आदि जितने विभक्त हैं वे सब विकार हैं और उनकी उत्पत्ति ज्ञात है। जीवात्मा भी पुण्य और अपुण्य कर्मवाला और सुख-दुःखसे युक्त प्रतिशरीरमें विभक्त है, अतः प्रपञ्चकी उत्पत्तिके अवसरमें उसकी (जीवकी) भी उत्पत्ति हो सकती है। और भी 'यथाग्नेः०' (जैसे अग्निसे छोटी छोटी चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार उस आत्मासे प्राण निकलते हैं) इस प्रकार प्राणादि भोग्यसमूहकी सृष्टिका उपक्रम करके 'सर्व एते०' (ये सब आत्माएँ निकलती हैं) इस प्रकार श्रुति भोक्ता आत्माओंकी पृथक् सृष्टिका प्रतिपादन करती हैं। 'यथा सुदीप्तात्०' (जैसे सुदीप्त अग्निसे हजारों समानरूपवाली चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, वैसे हे सोम्य! अविनाशीसे अनेक भाव प्रकृष्ट जन्म पाते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं) इस श्रुतिमें भी जीवात्माकी उत्पत्ति और प्रलय कहे गये हैं। सरूप शब्दसे जीवात्माएँ परमात्माके समान होती हैं, चैतन्यके

रत्नप्रभा

श्रुतिर्जीवरूपविकारात्मना प्रविष्ट ईश्वर इति व्याख्येया इति समुदायार्थः। 'सरूपाः' इति दृष्टान्तश्रुतेः भावा जीवा इति निश्चीयते। ननु 'आत्मन आकाशः सम्भूतः'

रत्नप्रभाका अनुवाद

युक्त विभक्तत्व लिङ्गसे अनुगृहीत उत्पत्तिश्रुति अत्यन्त बलवती होनेसे प्रवेशश्रुतिका 'जीवरूप विकारसे ईश्वर प्रविष्ट हुआ' ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा समुदायका अर्थ है। "सरूपाः" इत्यादि दृष्टान्तश्रुतिसे "भावाः" जीव हैं ऐसा निश्चय होता है। परन्तु "आत्मन०"

भाष्य

क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं वारयितुमर्हति । श्रुत्यन्तरगतस्याऽप्यविरुद्धस्याऽधिकस्याऽर्थस्य सर्वत्रोपसंहर्तव्यत्वात् । प्रवेशश्रुतिरप्येवं सति विकारभावापत्त्यैव व्याख्यातव्या, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादिवत् । तस्मादुत्पद्यते जीव इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नाऽऽत्मा—जीव उत्पद्यत इति । कस्मात्? अश्रुतेः । न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति भूयःसु प्रदेशेषु । ननु क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं न वारयतीत्युक्तम् । सत्यमुक्तम् । उत्पत्तिरेव त्वस्य न संभवतीति वदामः । कस्मात्? नित्यत्वाच्च ताभ्यः । चशब्दादजत्वादिभ्यश्च ।

भाष्यका अनुवाद

योगसे । कहींपर अश्रवण अन्यत्र श्रुतका वारण नहीं कर सकता, क्योंकि अन्य श्रुतिमें स्थित अविरुद्ध अधिक अर्थका सर्वत्र उपसंहार किया जाता है । ऐसा होनेपर 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादि श्रुतिके समान प्रवेशश्रुतिका भी विकारभावापत्तिसे ही व्याख्यान करना चाहिए । इससे जीवात्मा उत्पन्न होता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—आत्मा—जीव उत्पन्न नहीं होता है; किससे? श्रुति नहीं होनेसे, क्योंकि अनेक प्रदेशोंमें उत्पत्ति प्रकणमें इसकी श्रुति नहीं है । परन्तु कहींपर श्रवण अन्यत्र श्रुतिका वारण नहीं कर सकता, ऐसा कहा गया है? ठीक कहा है, लेकिन इसकी (जीवकी) उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है, ऐसा हम कहते हैं । किससे?

रत्नप्रभा

(तै० २।१।२) इत्यादौ जीवस्योत्पत्त्यश्रवणाद् अनुत्पत्तिः, तत्राह—**न चेति** । एवं विकारत्वे सति विकारप्रपञ्चात्मना स्वात्मानमकुरुतेतिवद् विकारजीवात्मना प्रवेश इत्यर्थः ।

'अजत्वादिश्रुतिः कल्पमध्ये जीवस्याऽनुत्पत्त्यादिविषया । 'तत्त्वमसि' इति श्रुतिश्च मृद् घट इति अभेदवाक्यवद् व्याख्येयेति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

(आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादिमें जीवकी उत्पत्तिका श्रवण न होनेसे उसकी उत्पत्ति नहीं है, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । इस प्रकार जीवके विकार होनेसे विकाररूप प्रपञ्चसे 'स्वात्मानमकुरुत' (अपनी आत्माको किया) इसके समान विकारजीवरूपसे प्रवेश है, ऐसा अर्थ है । अजत्वादि श्रुति कल्पके मध्यमें जीवकी अनुत्पत्ति आदिकी प्रतिपादिका है, 'तत्त्वमसि' इस श्रुतिकी 'मृद् घटः' (मृत्तिकारूप घट) इस अभेदवाक्यके समान

भाष्य

नित्यत्वं ह्यस्य श्रुतिभ्योऽवगम्यते, तथाजत्वमविकारित्वमविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवात्मनाऽवस्थानं ब्रह्मात्मना चेति । न चैवंरूपस्योत्पत्तिरुपपद्यते । ताः काः श्रुतयः ? 'न जीवो म्रियते' (छा० ६।११।३) 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५), 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (क० २।१८), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (क० २।१८), 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२), 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' (बृ० १।४।७), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०), 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९) इत्येवमाद्या नित्यत्ववादिन्यः सत्यो जीवस्योत्पत्तिं प्रतिबध्नन्ति । ननु प्रविभक्तत्वाद् विकारो विकारत्वाच्चोत्पद्यत इत्युक्तम् । अत्रोच्यते—नाऽस्य प्रविभागः स्वतोऽस्ति,

भाष्यका अनुवाद

इससे कि श्रुतियोंसे नित्य है । 'च' शब्दसे अजत्वादि धर्मोंसे, ऐसा समझना चाहिए । जीवका नित्यत्व तथा अजत्व अविकारित्व और अविकृत ब्रह्म ही का जीवात्मरूपसे एवं ब्रह्मात्मरूपसे अवस्थान श्रुतियोंसे जाना जाता है । अतः उक्त रूपवाले जीवकी उत्पत्ति युक्त नहीं है । वे कौनसी श्रुतियां हैं ? (सुनो) 'न जीवो म्रियते' (जीव मरता नहीं है) 'स वा एष०' (वह यह महान् अज आत्मा है, परिणामरहित, अमर, अमृत, और अभय ब्रह्म है) 'न जायते०' (विद्वान् आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है) 'अजो नित्यः०' (यह जन्मरहित नित्य, शाश्वत और पुराण है) 'तत्सृष्ट्वा०' (उसको उत्पन्न करके उसमें प्रवेश किया) 'अनेन जीवेन०' (इस जीवरूप आत्मा द्वारा अनुप्रवेश करके नाम रूपका व्याकार करूं) 'स एष इह०' (वह इसमें नखाग्रपर्य्यन्त प्रविष्ट है) 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'अहं ब्रह्माऽस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) 'अयमात्मा' (यह आत्मा ब्रह्म है और सबका अनुभव करनेवाला है) ये और ऐसी अन्य श्रुतियां जीवका नित्यत्व कहकर जीवकी उत्पत्तिका निषेध करती हैं । परन्तु जीवात्मा विभक्त होनेसे विकार है और विकार होनेसे उत्पन्न होता है, ऐसा

रत्नप्रभा

एवमिति । धर्मिवत् सत्यो विभागो हेतुरौपाधिको वा ? नाऽऽद्यः । असिद्धेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्याख्या करना चाहिए । ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । धर्मीके

भाष्य

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा, (श्वे०६।११) इति श्रुतेः। बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसंबन्धनिमित्तम्। तथा च शास्त्रम्—'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' (बृ०४।४।५) इत्येवमादि ब्रह्मण एवाऽविकृतस्य सतोऽप्येकस्याऽनेकबुद्ध्यादिमयत्वं दर्शयति। तन्मयत्वं चाऽस्य तद्विविक्तस्वरूपानभिव्यक्त्या तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जाल्म इत्यादिवद् द्रष्टव्यम्। यदपि क्वचिदस्योत्पत्तिप्रलयश्रवणं तदप्यत एवो

भाष्यका अनुवाद

कहा है; इसपर कहते हैं—इसका विभाग स्वतः नहीं है, क्योंकि 'एको देवः०' (एक देव सब भूतोंमें गूढ, सर्वव्यापी, और सब भूतोंका अन्तरात्मा है) ऐसी श्रुति है। जैसे आकाशका विभाग घटादिके सम्बन्धसे भासता है, वैसे बुद्धि आदि उपाधियोंके सम्बन्धसे यह (जीव) प्रविभक्त भासता है; क्योंकि 'स वा अयमात्मा०' (यह ब्रह्म आत्मा विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय और श्रोत्रमय है) इत्यादि शास्त्र अविकृत एक होनेपर भी ब्रह्म ही अनेक बुद्ध्यादिमय है, ऐसा दिखलाता है। [स्त्रीपरतन्त्र होनेपर कामी पुरुषको] जैसे 'स्त्रीमय' 'जाल्म' कहा जाता है, वैसे विविक्त स्वरूपकी अनभिव्यक्तिसे इससे (बुद्धि आदिसे) उपरक्तस्वरूपता है, अतः तन्मयत्वका व्यवहार होता है, ऐसा समझना चाहिए। कहींपर इसकी उत्पत्ति और प्रलयका जो श्रवण है, वह भी

रत्नप्रभा

इत्याह—**अत्रोच्यते—नाऽस्येति**। द्वितीये जीवस्य न स्वतो विकारत्वसिद्धिः अप्रयोजकत्वाद् इत्याह—**बुद्ध्यादीति**। औपाधिकभेदे मानमाह—**तथा चेति**। मयटो विकारार्थत्वमाशङ्क्याह—**तन्मयत्वं चेति**। जाल्मः—कामजडः, स्त्रीपरतन्त्रः—स्त्रीमयः इतिवद् जीवस्य स्वरूपाज्ञानाद् बुद्ध्यादिपरन्त्रत्वेन भेदकर्तृत्वादिभाक्त्वात् प्राचुर्यार्थे मयट्प्रयोग इत्यर्थः। लिङ्गं निरस्य तदनुग्राह्यश्रुतेर्गतिमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

समान सत्य विभाग हेतु है या औपाधिक विभाग हेतु है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, असिद्ध होनेसे, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते–नास्य" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षमें जीव स्वतः विकार है, ऐसा सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह अप्रयोजक है, ऐसा कहते हैं—"बुद्ध्यादि" इत्यादिसे। औपाधिक भेदमें प्रमाण कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। 'विज्ञानमयः' इत्यादिमें मयट् विकारार्थक है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"तन्मयत्वञ्च" इत्यादिसे। जाल्म—कामजड, स्त्रीमय—स्त्रीपरतन्त्र इसके तुल्य जीवके स्वरूपका ज्ञान न होनेसे जीव

भाष्य

पाधिसंबन्धान्नेतव्यम् । उपाध्युत्पत्त्याऽस्योत्पत्तिस्तत्प्रलयेन च प्रलय इति । तथा च दर्शयति—'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृ० ४।५।१३) इति । तथोपाधिप्रलय एवाऽयं नाऽऽत्मविलय इत्येतदप्यत्रैव 'मा भगवान्मोहान्तमापीपदन्न वा अहमिमं विजानामि न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति—'न वा

भाष्यका अनुवाद

इसी उपाधिके सम्बन्धसे गौण जानना चाहिए, उपाधिकी उत्पत्तिसे इसकी उत्पत्ति और उसके प्रलयसे इसका प्रलय होता है। क्योंकि 'प्रज्ञानघन०' (विज्ञानघन इन भूतोंसे समुत्थान करके उन्हींके पीछे विनाश पाता है मरणके पीछे संज्ञा नहीं है) यह श्रुति दिखलाती है। इसी प्रकार उपाधिका ही प्रलय है और आत्माका प्रलय नहीं है यह भी यहीं 'मा भगवान्०' (आपने मोहमें

रत्नप्रभा

यद्पीति । जीवस्य औपाधिकजन्मनाशयोः श्रुतिमाह—तथेति । एतेभ्यः—देहात्मना परिणतेभ्यो भूतेभ्यः साम्येनोत्थाय—जनित्वा तानि एव लीयमानानि अनु—पश्चाद् विनश्यति प्रेत्य—औपाधिकमरणानन्तरं संज्ञा नास्तीत्यर्थः। ननु प्रज्ञानघनः, संज्ञा नास्तीति च विरुद्धम् इत्यत आह—तथेति । उपाधिलयाद् विशेषज्ञानाभावः एव संज्ञाऽभावो न आत्मस्वरूपविज्ञानाभावः इत्युत्तरं प्रतिपादयति श्रुतिरित्यन्वयः । अत्रैव आत्मनि विज्ञानघने प्रेत्य संज्ञा नाऽस्तीत्युक्त्वा मा मोहान्तं—मोहमध्यं भ्रान्तिम् आपीपदत्—आपादितवान् इमम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

बुद्धि आदिके परतन्त्र है, इससे भेदकर्तृत्व आदि उसमें देखे जाते हैं, अतः प्राचुर्यार्थमें मयट् प्रत्ययका प्रयोग है, ऐसा अर्थ है। लिङ्गका निरसन करके तदनुग्राह्य श्रुतिकी गति कहते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। जीवका औपाधिक जन्म और नाश है, इसमें प्रमाणभूत श्रुति कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। देहात्मरूपसे परिणत हुए इन भूतोंसे साम्यसे समुत्थान करके—जन्म पाकर और उनके लीन होनेपर स्वयं लीन हो जाता है। प्रेत्य—औपाधिक मरणके पीछे संज्ञा नहीं है, ऐसा अर्थ है। परन्तु 'प्रज्ञानघन' और 'संज्ञा नहीं' ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, इसपर कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। उपाधिके लय होनेसे विशेष ज्ञानका अभाव ही (संज्ञा नास्ति)—संज्ञाका अभाव है, आत्मस्वरूप विज्ञानका अभाव संज्ञाका अभाव नहीं है, ऐसे उत्तरका प्रतिपादन श्रुति करती है, ऐसा अन्वय है। इसी

भाष्य

अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृ० ४।५।१४) इति । प्रतिज्ञानुपरोधोऽप्यविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावाभ्युपगमात् । लक्षणभेदोऽप्यनयोरुपाधिनिमित्त एव । 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' (बृ० ४।३।१५) इति च प्रकृतस्यैव विज्ञान·

भाष्यका अनुवाद

डाला है इसका मुझको विज्ञान नहीं कि मरणके पीछे संज्ञा नहीं) इस प्रकार प्रश्नपूर्वक श्रुति प्रतिपादन करती है—'न वा अरेऽहम्०' (हे मैत्रेयि ! मैं भ्रान्तिजनक वाक्य नहीं कहता, यह आत्मा अविनाशी है, अपरिणामी है और विषयोंके साथ उसका संसर्ग नहीं है) इस प्रकार अविकृत ही ब्रह्म जीवभावको प्राप्त होता है, इस अभ्युपगमसे प्रतिज्ञाका विरोध भी नहीं है । जीव और परमात्माका लक्षणभेद भी उपाधिनिमित्त ही है । 'अत ऊर्ध्वम्०' (इसके बाद विमोक्षके लिए ही कहो) यह भी प्रकृत विज्ञानमय आत्माके सब संसार-धर्मोंके निरा-

रत्नप्रभा

अर्थं न जानामि, ब्रूहि त्वदुक्तेः अर्थमिति मैत्रेयीप्रश्नार्थः । मुनिराह—**न वा इति** । मोहम्—मोहकरं वाक्यम्, उच्छित्तिः—पूर्वावस्थानाशः धर्मोऽस्य इति उच्छित्तिधर्मा परिणामी स नेति अनुच्छित्तिधर्माऽपरिणामी । तस्माद् अविनाशी इत्यर्थः । तर्हि न प्रेत्य सञ्ज्ञेति कथमुक्तम् ? तत्राऽऽह—**मात्रेति** । मात्राभिः—विषयैः, असंसर्गात् तथोक्तमित्यर्थः । बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव विरुद्धधर्मभेदोऽध्यस्त इत्यत्र हेतुमाह—**अत ऊर्ध्वमिति** । जीवस्य विकारित्वे मुक्त्ययोगात् 'तत्त्वमसि' इति वाक्यमखण्डार्थमिति च वक्तव्यम्, तथा च फलवत्प्रधानवाक्यापेक्षितजीव-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विज्ञानघन आत्मामें 'मरनेके अनन्तर संज्ञा नहीं है' इस कथनसे आपने मुझे मोहमें—भ्रान्तिमें डाल दिया है । इसी अर्थ को मैं नहीं समझती, मुझसे अपने वचनका अर्थ कहो, ऐसा मैत्रेयीके प्रश्नका अर्थ है । मुनि कहते हैं—"न वा" इत्यादिसे । मोह—मोहकारक वाक्य । उच्छित्ति—पूर्व अवस्थाका नाश है धर्म जिसका, वह उच्छित्तिधर्मा—परिणामी है । उससे भिन्न अनुच्छित्तिधर्मा—अपरिणामी है, इसलिए वह अविनाशी है, ऐसा अर्थ है । तब मरनेके अनन्तर संज्ञा—ज्ञान नहीं है, ऐसा कैसे कहा है ? इसपर कहते हैं—"मात्रा" इत्यादिसे । मात्रा अर्थात् विषयोंके साथ संसर्ग न होनेसे, ऐसा कहा है, यह अर्थ है । बिम्ब और प्रतिबिम्बके समान विरुद्ध धर्मभेद अध्यस्त है, इसमें हेतु कहते हैं—"अत ऊर्ध्वम्" इत्यादिसे । जीव विकारी माना जाय, तो मुक्तिका योग न होनेसे 'तत्त्वमसि' यह वाक्य अखण्डार्थ है, ऐसा कहना चाहिए । इसलिए फलवाले प्रधान वाक्योंसे अपेक्षित जीवको

भाष्य

मयस्याऽऽत्मनः सर्वसंसारधर्मप्रत्याख्यानेन परमात्मभावप्रतिपादनात् । तस्मान्नैवाऽऽत्मोत्पद्यते प्रविलीयते चेति ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

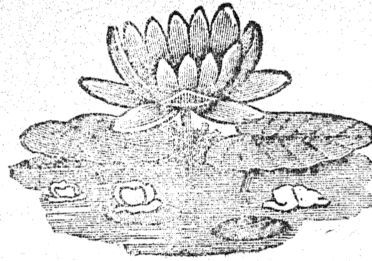
करणसे परमात्मभावका प्रतिपादन करता है। इससे आत्माकी उत्पत्ति और प्रलय ही नहीं होते हैं ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

नित्यत्वश्रुतीनां बलवत्त्वाद् उत्पत्त्यादिकमध्यस्तम् अनुवदन्ति उत्पत्त्यादिश्रुतय इति अविरोध इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नित्य कहनेवाली श्रुतियोंके प्रबल होनेसे उत्पत्ति आदि कहनेवाली श्रुतियां, उत्पत्ति आदि अध्यस्त हैं, ऐसा अनुवाद करती हैं, इसलिए विरोध नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥१७॥



[१२ ज्ञाधिकरण सू० १८]

अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपो जीवोऽचिद्रूप इष्यते ।
चिदभावात् सुषुप्त्यादौ जाग्रच्चिन्मनसा कृता ॥ १ ॥
ब्रह्मत्वादेव चिद्रूपश्चित्सुषुप्तौ न लुप्यते ।
द्वैतादृष्टिर्द्वैतलोपान्नहि द्रष्टुरिति श्रुतेः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीव चैतन्यस्वरूप है या अचेतन है ?

पूर्वपक्ष—जीव अचेतन है, क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थामें चैतन्यका अभाव है और जाग्रत् अवस्थामें जो चेतनता दिखती है, वह आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होती है ।

सिद्धान्त—जीव ब्रह्मस्वरूप होनेसे ही चैतन्यरूप है, सुषुप्तिमें चेतनताका नाश नहीं होता है, प्रपञ्चके नाश होनेसे प्रपञ्चकी प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि 'नहि द्रष्टुः' (आत्मा की स्वरूपभूता दृष्टिका विलोप नहीं होता) ऐसी श्रुति है ।

---

* तात्पर्य्य यह है कि नैयायिक लोग मानते हैं—सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिमें चैतन्यका अभाव होनेसे जीव चैतन्यरूप नहीं है । जागरणमें आत्मा और मनके संयोगसे चैतन्य नामका गुण उत्पन्न होता है ।

यह कथन असंगत है, क्योंकि चैतन्यस्वरूप ब्रह्मका ही जीवरूपसे प्रवेश श्रुतिमें प्रतिपादित है । चैतन्य का सुषुप्तिमें लोप हो जाता है, यह कथन ठीक नहीं है सुषुप्ति आदिके साक्षीरूपसे उसकी स्थिति रहती है । अन्यथा सुषुप्ति आदिका ज्ञान नहीं होता । सुषुप्तिमें प्रपञ्चकी प्रतीति क्यों नहीं होती ऐसा यदि कहो, तो हम कहते हैं कि द्वैत—प्रपञ्चके लुप्त होनेसे [उसकी प्रतीति नहीं होती है] । इस विषयमें श्रुति भी है—'यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वैतन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्' इसका अर्थ यह है—'सुषुप्तिमें जीव कुछ नहीं देखता' ऐसा जो लोकमें कहते हैं वह युक्त नहीं है, क्योंकि देखता हुआ ही जीव उस समय नहीं देखता इस प्रकार केवल भ्रान्तिसे ही कहा जाता है । तो उसका दर्शन कैसे होता है ? इस विषयमें उत्तर कहा जाता है—आत्माकी स्वरूपभूता दृष्टिका विनाश नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशीस्वभाव है । यदि ऐसा न माना जाय तो लोपवादी भी निःसाक्षिक लोप नहीं कह सकेगा । तो लौकिक जनोंको 'नहीं देखता है' ऐसा भ्रम कैसे होता है ? इस विषयमें हेतु कहते हैं—चैतन्यस्वरूप ब्रह्मसे भिन्न क्रिया, साधन, फलरूपसे विभक्त जगत् नामक जो दूसरी वस्तु है वह नहीं है क्योंकि वह उस समय अपने कारणमें लीन हो जाती है । इसीलिए उस समय जागरणके समान द्रष्टा, दृश्य और दर्शन व्यवहारके अभावसे 'न पश्यति' (नहीं देखता है) ऐसी लौकिकोंको भ्रान्ति होती है । इससे सिद्ध हुआ कि जीव चैतन्यस्वरूप है ।

ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥

पदच्छेद—ज्ञः, अतः, एव ।

पदार्थोक्ति—[जीवः] ज्ञः—स्वयञ्ज्योतिःस्वरूपः, [कुतः] अत एव अनुत्पत्तिमत्त्वादेव ।

भाषार्थ—जीव स्वयंज्योतिस्वरूप है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

भाष्य

स किं कणभुजानामिवाऽऽगन्तुकचैतन्यः स्वतोऽचेतन आहोस्वित् सांख्यानामिव नित्यचैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः । किं तावत् प्राप्तम् । आगन्तुकमात्मनश्चैतन्यमात्ममनःसंयोगजमग्निघटसंयोगजरोहितादिगुणवदिति प्राप्तम् । नित्यचैतन्यत्वे हि सुप्तमूर्च्छितग्रहाविष्टानामपि चैत-

भाष्यका अनुवाद

वह (जीवात्मा) क्या कणादमतके समान आगन्तुक चैतन्यवाला होता हुआ स्वतः अचेतन है, या सांख्यमतके समान नित्यचैतन्यस्वरूप ही है ? इस प्रकार वादियोंकी विप्रतिपत्ति होनेसे संशय होता है । तो क्या प्राप्त हुआ ?

पूर्वपक्षी—आत्मा और मनके संयोगसे जीवमें आगन्तुक चैतन्य होता है, अग्नि और घटके संयोगसे उत्पन्न हुए रोहित आदि गुणोंके समान, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि नित्यचैतन्य होनेपर सुप्त, मूर्च्छित और ग्रहाविष्टोंको भी

रत्नप्रभा

ज्ञोऽत एव । 'आत्मैवास्य ज्योतिः' (बृ० ४।३।६) इत्याद्यात्मस्वप्रकाशत्वश्रुतीनां 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रम्' (बृ० १।४।७) इति अनित्यज्ञानवत्त्वश्रुतिभिः विरोधोऽत्र निरस्यते । अस्य लोकस्य चक्षुः—द्रष्टा, श्रोत्रम्—श्रोता इत्यर्थः । प्रागुक्तजीवानुत्पत्तिहेतुम् आदाय स्वप्रकाशत्वसाधनाद् हेतुसाध्यभावः संगतिः । अनुत्पत्तौ हि स्वप्रकाशं ब्रह्मैव उपहितं जीवः, इति जीवस्य स्वप्रका-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"ज्ञोऽत एव" । "आत्मैवास्य ज्योतिः" (आत्मा ही इसका प्रकाश है) इत्यादि आत्मा स्वप्रकाश है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका "पश्यंश्चक्षुः०" (दर्शन करता हुआ चक्षु, श्रवण करता हुआ श्रोत्र) इत्यादि अनित्य ज्ञान दिखलानेवाली श्रुतियोंके साथ विरोधका निराकरण यहाँपर किया जाता है । इस लोकका चक्षु—द्रष्टा है और श्रोत्र—श्रोता है, ऐसा अर्थ है । पूर्वोक्त जीवकी अनुत्पत्तिरूप हेतुको लेकर स्वप्रकाशत्वके साधनसे हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है, क्योंकि अनुत्पत्तिमें स्वप्रकाश ब्रह्म ही उपाधियुक्त होकर जीव होता है, इसलिए

भाष्य

न्यं स्यात्। ते पृष्टाः सन्तो न किंचिद् वयमचेतयामहीति जल्पन्ति स्वस्थाश्च चेतयमाना दृश्यन्ते। अतः कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्यः आत्मेति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्माऽत एव यस्मादेव नोत्पद्यते परमेव ब्रह्माऽविकृतमुपाधिसंपर्काद् जीवभावेनाऽवतिष्ठते। परस्य

भाष्यका अनुवाद

चैतन्यकी प्राप्ति होगी। परन्तु उनसे पूछनेपर 'हम कुछ नहीं जानते हैं' ऐसा कहते हैं और स्वस्थ होनेपर जानते हुए दिखते हैं। इसलिए कादाचित्क चैतन्य होनेसे आत्मा आगन्तुकचैतन्य है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—यह आत्मा नित्यचैतन्य है इसीसे—क्योंकि वह उत्पन्न नहीं होता है, इससे अविकृत पर ब्रह्म ही उपाधिके सन्बन्धसे

रत्नप्रभा

शता सिध्यति। न चैवं गतार्थता। अनुत्पन्नस्याऽपि जीवस्य स्वप्रकाशत्वे ज्ञानसाधनवैयर्थ्यमिति तर्कसहितानित्यज्ञानश्रुतिबलेन स्वप्रकाशत्वश्रुतेः बाध्यतया ब्रह्मान्यत्वशङ्कायां तदैक्ययोग्यतायै स्वप्रकाशत्वस्याऽत्र साधनात्। तथा च पूर्वपक्षे जीवस्य ब्रह्मैक्यायोग्यता सिद्धान्ते तद्योग्यता इत्यापादसमाप्तेः फलमवगन्तव्यम्। इष्टापत्तिं निराचष्टे—ते पृष्टा इति। साधनाधीनज्ञानत्वात् न स्वप्रकाशो जीवो व्यतिरेकेण ईश्वरवदित्याह—अतः कादाचित्केति।

यथाश्रुते भाष्ये हेतोः साध्याविशेषः इति मन्तव्यम्। अतो जीवस्य स्वप्रकाशत्वश्रुतिः बाध्या इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एवमिति। चेच्छब्दो निश्चयार्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवकी स्वप्रकाशता सिद्ध होती है। यह अर्थ पूर्वमें कहा जा चुका है, इसलिए गतार्थ है। ऐसी भी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अनुत्पन्न भी जीव स्वप्रकाश हो, तो ज्ञानके साधन व्यर्थ होंगे इस प्रकार तर्कसहित अनित्यज्ञानश्रुतिके बलसे स्वप्रकाशत्वश्रुतिका बाध है, अतः जीव ब्रह्मसे अन्य है, ऐसी शङ्का होनेपर उसके ऐक्यकी योग्यताके लिए स्वप्रकाशत्वका यहाँ साधन है, इस प्रकार पूर्वपक्षमें ब्रह्मैक्यके लिए जीवकी अयोग्यता है और सिद्धान्तमें योग्यता है ऐसा पादसमाप्तिपर्य्यन्त फल समझना चाहिए। इष्टापत्तिका निराकरण करते हैं—"ते पृष्टाः" इत्यादिसे। जीव साधनाधीनज्ञान होनेसे स्वप्रकाश नहीं है, व्यतिरेकसे ईश्वरके समान, ऐसा कहते हैं—"अतः कादाचित्क" इत्यादिसे। यथाश्रुत भाष्यमें हेतु और साध्यमें समानता है, ऐसा जानना चाहिए। इससे जीव स्वप्रकाश है ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुति बाधित है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे।

भाष्य

हि ब्रह्मणश्चैतन्यस्वरूपत्वमाम्नातं—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै २।१।१), 'अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३), इत्यादिषु श्रुतिषु। तदेव चेत् परं ब्रह्म जीवः, तस्माज्जीवस्याऽपि नित्यचैतन्यस्वरूपत्वमग्न्यौष्ण्यप्रकाशवदिति गम्यते। विज्ञानमयप्रक्रियायां च श्रुतयो भवन्ति—'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' (बृ० ४।३।११) 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४।३।९) इति, 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० ४।३।३०) इत्येवंरूपाः।

भाष्यका अनुवाद

जीवभावसे रहता है, क्योंकि पर ब्रह्मका चैतन्य स्वरूप 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है) 'सत्यं ज्ञानम्०' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) 'अनन्तरोऽबाह्यः०' 'अन्तररहित, बाह्यरहित, कृत्स्न विज्ञानैकरस ही है) इत्यादि श्रुतियोंमें कहा है। वही पर ब्रह्म जीव है इससे जीवका भी नित्य चैतन्यरूपत्व अग्निकी उष्णता और प्रकाशके समान समझा जाता है और विज्ञानमयके प्रकरणमें 'असुप्तः०' (असुप्त सुप्तभावोंको देखता है) 'अत्रायं पुरुषः०' (यहाँ यह आत्मा आप ही ज्योतिःस्वरूप होता है) 'नहि विज्ञातुः' (विज्ञाताके विज्ञानका विनाश नहीं) इस प्रकारकी श्रुतियाँ हैं 'अथ यो वेदेदम्' और जो मैं (सुरभि या असुरभि)

रत्नप्रभा

न केवलं स्वप्रकाशब्रह्माभेदाद् जीवस्य स्वप्रकाशता, किन्तु श्रुतितोऽपीत्याह—विज्ञानमयेति। योऽयं विज्ञानमय इति प्रकरण इत्यर्थः। असुप्तः—स्वयं भासमान एव आत्मा सुप्तान्—लुप्तव्यापारान् वागादीन् अभिलक्ष्य चाकशीति, सुप्तार्थान् पश्यति इति यावत्। अत्र स्वप्ने विज्ञातुर्बुद्धिसत्त्वस्य साक्षिणो विज्ञातेः विनाशो नाऽस्तीत्यर्थः। घ्राणादिजन्यगन्धादिज्ञानानुसन्धानसिद्धये आत्मनो ज्ञानरूपत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

'चेत्' शब्द निश्चयार्थक है। स्वप्रकाश ब्रह्मसे जीव अभिन्न है, इसीसे वह स्वप्रकाश है, ऐसा नहीं है, किन्तु श्रुति भी इसको स्वप्रकाश कहती है, ऐसा कहते हैं—"विज्ञानमय" इत्यादिसे 'योऽयं विज्ञानमयः' (जो यह विज्ञानमय है) इत्यादि प्रकरणमें ऐसा अर्थ है। असुप्तः—स्वयंप्रकाशमान आत्मा ही सुप्तान्–जिनका व्यापार लुप्त हुआ है ऐसे वाणी आदिको चाकशीति–देखता है। सुप्त अर्थोंको देखता है, ऐसा अर्थ है। अत्र–स्वप्नमें, विज्ञातुः—बुद्धिसत्त्वरूप साक्षीके, विज्ञातेः—विज्ञानशक्तिका, विनाश नहीं, ऐसा अर्थ है। घ्राणादिजन्य गन्धादि ज्ञानके अनुसन्धानकी सिद्धिके लिए आत्मा ज्ञानरूप है, ऐसा कहना चाहिए, ऐसा दूसरी श्रुतिसे कहते

भाष्य

'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' (छा०८।१२।४) इति च सर्वैः करणद्वारैः 'इदं वेद, इदं वेद' इति विज्ञानेनाऽनुसंधानात् तद्रूपत्वसिद्धिः। नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेत्, न; गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्। तथा हि दर्शयति—'गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि। यत्तु सुप्तादयो न चेतयन्त इति तस्य श्रुत्यैव परिहारोऽभिहितः सुषुप्तं प्रकृत्य—'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति' नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरि-

भाष्यका अनुवाद

सूँघता हूँ यह जो जानता है, वह आत्मा है) इस प्रकार सब इन्द्रियोंके द्वारा यह जानता है, ऐसे विज्ञानके साथ अनुसन्धान होनेसे तद्रूपत्व सिद्ध होता है। वह नित्यस्वरूपचैतन्य हो, तो घ्राणादि अनर्थक होंगे? यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि गन्धादिविषयविशेषके परिच्छेदके लिए वे आवश्यक हैं। इसलिए 'गन्धाय घ्राणम्' (गन्धके लिए घ्राण है) इत्यादि दिखलाते हैं। 'सुप्त आदि नहीं जानते हैं' ऐसा जो कहा है, उसका, सुषुप्तका उपक्रम करके 'यद्वै तन्न पश्यति०' (सुषुप्तिमें वह देखता हुआ ही नहीं देखता अर्थात् सुषुप्तिमें स्वरूपज्ञान है और विशेषज्ञान नहीं है, क्योंकि द्रष्टाकी दृष्टिका विनाश नहीं होता है, अविनाशी होनेसे, और उस

रत्नप्रभा

वाच्यमिति श्रुत्यन्तरेण आह—अथेति। आत्मनो नित्यचिद्रूपत्वेऽपि स्वतोऽसंगतया गन्धाद्यसम्बन्धात् तत्सम्बन्धघटनात्मकवृत्त्यर्थानि ज्ञानसाधनानीति न तेषां वैयर्थ्यमित्याह—**न गन्धेति**। परिच्छेदः—वृत्तिः। गन्धाय—तद्गोचरान्तःकरणवृत्तये इत्यर्थः। सुप्ताद्यवस्थासु आत्मसत्त्वेऽपि चैतन्याभावात् न आत्मा चिद्रूप इत्युक्तं दूषयति—यत्त्विति। तत्—तदा सुषुप्तौ, न पश्यतीति यत् तत् पश्यन्नेव—अलुप्तज्ञान एव सन्न पश्यतीत्यत्र हेतुः—**नहीति**। नाशायोग्यत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"अथ" इत्यादिसे। आत्मा नित्यचैतन्यरूप है, तो भी स्वतः असङ्ग होनेसे गन्ध आदि विषयके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है, अतः उस सम्बन्धका उपपादन करनेवाली वृत्तियोंके लिए ज्ञानसाधन हैं, इसलिए वे निरर्थक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न गन्ध" इत्यादसे। परिच्छेद—वृत्ति। गन्धाय—गन्धविषयक अन्तःकरणकी वृत्तिके लिए, ऐसा अर्थ है। सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें आत्मा है, तो भी चैतन्य नहीं है, इसलिए आत्मा चैतन्यरूप नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसको दूषित करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। तत्—अर्थात् तब—सुषुप्तिमें। न पश्यति—नहीं देखता है, इसलिए यत् तत् पश्यन्नेव सन्न पश्यति—जिसका ज्ञान लुप्त नहीं हुआ, ऐसा होकर नहीं देखता। इसमें हेतु कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे। नाशके अयोग्य होनेसे, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

लोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्' (बृ०४।३।२३) इत्यादिना । एतदुक्तं भवति—विषयाभावादियमचेतयमानता, न चैतन्याभावादिति । यथा वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात् तद्वत् । वैशेषिकादितर्कश्च श्रुतिविरोधे आभासीभवति । तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवाऽऽत्मेति निश्चिनुमः ॥१८॥

भाष्यका अनुवाद

समय उससे अन्य विभक्त द्वितीय नहीं है, जिसको वह देखे) इत्यादि श्रुतिसे ही, परिहार किया है । तात्पर्य यह है कि विषयके अभावसे यह चेतनताका अभाव है, न कि चैतन्यके अभावसे । जैसे आकाशमें रहनेवाले प्रकाशकी प्रकाश्यके अभावसे अनभिव्यक्ति है, स्वरूपके अभावसे नहीं है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए । वैशेषिक आदिके तर्क तो श्रुतिके विरोध होनेपर आभास होते हैं । इससे नित्यचैतन्यस्वरूप ही आत्मा है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

इत्यर्थः । किमिति न पश्यतीत्यत आह—**न त्विति** । वृत्तेः साधनाधीनत्वोक्त्या स्वरूपज्ञानस्य साधनाधीनत्वं हेतुः असिद्धः इत्युक्तम् । साधनवैयर्थ्यतर्कोऽपि निरस्तः । शृण्वन् इत्याद्यनित्यज्ञानश्रुतीनां वृत्तिविषयत्वं व्याख्यातम् । आत्मा न ज्ञानम्, द्रव्यत्वात् इत्यादितर्काश्चाऽऽगमबाधिताः, फलवत्प्रधानवाक्यापेक्षितस्वप्रकाशत्वागमस्य बलवत्त्वात् । किंच, निरवयवात्मनो मनस्संयोगाभावाद् न अनित्यज्ञानगुणता । समवायाभावाच्च न स्वसमवेतज्ञानवेद्यता, कर्मकर्तृत्वविरोधाच्च । किंच, ज्ञानत्वस्य एकवृत्तित्वे लाघवादात्मैव ज्ञानम् । वृत्तेश्च मनःपरिणामत्वश्रुत्या कामः सङ्कल्प इत्याद्यया जडत्वात् नास्माकं ज्ञानद्वैविध्यगौरवम् इत्यनवद्यमात्मनः स्वप्रकाशत्वमिति सिद्धम् ॥१८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्यों नहीं देखता, इसपर कहते हैं—"न तु" इत्यादिसे । वृत्ति साधनके अधीन है, ऐसा कहा गया है, इसलिए स्वरूपज्ञानमें 'साधनाधीनत्व' हेतु असिद्ध है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है । साधनकी व्यर्थताके तर्कका भी खण्डन किया गया है । 'शृण्वन् श्रोत्रम्' (सुनता हुआ श्रोत्र) इत्यादि अनित्यज्ञान की श्रुति भी वृत्तिविषयक है, ऐसा व्याख्यान किया है । आत्मा ज्ञान नहीं है, द्रव्य होनेसे, इत्यादि तर्क भी श्रुतिसे बाधित है, क्योंकि फलवाला जो प्रधानवाक्य है, उससे अपेक्षित जो स्वप्रकाशत्व श्रुति है, वह बलवती है । और निरवयव आत्माका मनके साथ संयोग न होनेसे उसमें अनित्यज्ञानरूप गुण नहीं है । और समवाय न होनेसे अपने साथ समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले ज्ञानसे वेद्य हो, ऐसा भी नहीं है । और उसमें कर्मकर्तृत्वका विरोध होता है, इसलिए भी ऐसा नहीं है । इसी प्रकार ज्ञानत्वके एकवृत्ति होनेसे लाघव है, अतः आत्मा ही ज्ञान है और 'कामः सङ्कल्पः' (काम है, सङ्कल्प है) इत्यादि मनःपरिणामित्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे वृत्तिके जड़ होनेसे हमें ज्ञानको दो प्रकारका माननेमें गौरव नहीं होता, इसलिए आत्मा स्वप्रकाश है, यह अनवद्य—दोषरहित है, यह सिद्ध हुआ ॥१८॥

[१३ उत्क्रान्तिगत्यधिकरण सू० १९-३२]

जीवोऽणुः सर्वगो वा स्यादेषोऽणुरिति वाक्यतः ।
उत्क्रान्तिगत्यागमनश्रवणाच्चाणुरेव सः ॥ १ ॥
साभासबुध्यणुत्वेन तदुपाधित्वतोऽणुता ।
जीवस्य सर्वगत्वं तु स्वतो ब्रह्मत्वतः श्रुतम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीव अणु है या सर्वगत—विभु है ?

पूर्वपक्ष—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (यह अणु आत्मा अतिशुद्ध चित्तसे जाननेके योग्य है) इस श्रुतिवाक्यसे, उत्क्रमण, गति और आगमनके श्रवणसे प्रतीत होता है कि जीव अणु ही है ।

सिद्धान्त—चैतन्य-प्रतिबिम्ब सहित बुद्धि अणु है, उस बुद्धिसे उपहित होनेके कारण जीव अणु कहा जाता है, ब्रह्मस्वरूप होनेसे स्वयं तो वह सर्वगत—विभु है, ऐसा श्रुतिसे प्रतिपादित है ?

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः (यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्तसे जानने योग्य है) इत्यादि श्रुतिमें जीव अणु कहा गया है । 'अस्माच्छरीरादुत्क्रामति' (इस शरीरसे निकलता है) इस श्रुतिमें जीवका उत्क्रमण सुना गया है । 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (वे सब चन्द्रलोकमें ही जाते हैं) इस श्रुतिसे गति और 'तस्माल्लोकात्पुनरेति' (चन्द्रलोकसे फिर आता है) इससे आगमन सुना जाता है । सर्वगत—विभुके उत्क्रमण, गमन आदि नहीं हो सकते हैं । यद्यपि मध्यमपरिमाणके उत्क्रमण, गमन आदि हो सकते हैं, तो भी जीवको अणु कहनेवाली श्रुतिसे विरोध होता है और अनित्यताका निवारण नहीं हो सकता । इससे प्रतीत होता है कि जीव अणुपरिमाण है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—चैतन्यप्रतिबिम्ब सहित बुद्धि सर्वव्यापक नहीं है । उससे उपहित होनेके कारण जीवके उत्क्रमण, गमन आदि उपपन्न होते हैं । स्वयं तो जीव ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण सर्वव्यापक है । 'स वा एष महानज आत्मा' (वह आत्मा—जीव जन्मरहित और महान्—सर्व व्यापक है) 'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (जीव सर्वव्यापक सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है) इत्यादि श्रुतियाँ उसकी सर्वव्यापकताका प्रतिपादन करती हैं । इससे सिद्ध हुआ कि जीव सर्वव्यापक है ।

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

पदार्थोक्ति—[जीवस्य] उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्—'अस्माच्छरीरादुत्क्रामति' 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' 'तस्माल्लोकात्पुनरेति' इत्युत्क्रमणगमनागमनानां [श्रवणादणुर्जीवः । अतोऽस्ति 'सर्वव्यापी' इति सर्वगतत्वश्रुतेः 'एषोऽणुरात्मा' इत्यणुत्वश्रुत्या विरोध इति] ।

भाषार्थ—'अस्माच्छरीरादुत्क्रामति' (जीव इस शरीरसे जाता है) 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (वे सब चन्द्रलोकमें ही जाते हैं) 'तस्माल्लोकात्पुनरेति' (चन्द्रलोकसे फिर आता है) इस प्रकार उत्क्रमण, गमन और आगमनके वणसे जीव अणुपरिमाण है, इसलिए जीवको सर्वव्यापक कहनेवाली 'सर्वव्यापी' इस श्रुतिका जीवको अणुपरिमाण कहनेवाली 'एषोऽणुरात्मा' इस श्रुतिसे विरोध है ।

भाष्य

इदानीं तु किंपरिमाणो जीव इति चिन्त्यते, किमणुपरिमाण उत मध्यमपरिमाण अहोस्विन्महापरिमाण इति । ननु च नाऽऽत्मोत्पद्यते नित्यचैतन्यश्चायमित्युक्तम् । अतश्च पर एवाऽऽत्मा जीव इत्यापतति । परस्य चाऽऽत्मनोऽनन्तत्वमाम्नातम् तत्र कुतो जीवस्य परिमाणचिन्तावतार

भाष्यका अनुवाद

अब जीवका कौन परिमाण है यह विचार किया जाता है, क्या उसका (जीवका) अणुपरिमाण है या मध्यमपरिमाण है अथवा महत्परिमाण है ? । परन्तु आत्मा उत्पन्न नहीं होता है और नित्यचैतन्य है, ऐसा पूर्वमें कहा जा चुका है; अतः 'जीव परमात्मा ही है' ऐसा प्राप्त होता है, और परमात्मा अनन्त है ऐसा श्रुतिमें प्रतिपादित है, तो जीवपरिमाणकी चिन्ताका अवतरण कहाँसे हुआ ?

रत्नप्रभा

स्वप्रकाशत्वाद् आत्मस्वरूपादीषद्बहिष्ठं परिमाणमेव आश्रिताश्रयत्वेन अन्तर्बहिर्भावेन वा सङ्गत्या विचारयति—**उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्** । विषयसंशयौ दर्शयति—**इदानीमिति** । 'नात्माऽश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१७)

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वप्रकाश आत्मस्वरूपसे कुछ बाहरके परिमाणका ही आश्रिताश्रय और अन्तर्बहिर्भाव सङ्गतिसे विचार करते हैं—"उत्क्रान्ति०" इत्यादिसे । विषय और संशय दिखलाते हैं—"इदानीम्" इत्यादिसे । 'नात्माऽश्रुतेः' इत्यादिसे यह अधिकरण गतार्थ है, ऐसी आशङ्का

भाष्य

इति। उच्यते—सत्यमेतत्; उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति। स्वशब्देन चाऽस्य क्वचिदणुपरिमाणत्वमाम्नायते। तस्य सर्वस्याऽनाकुलत्वोपपादनायाऽयमारम्भः। तत्र प्राप्तं तावत्—उत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् परिच्छिन्नोऽणुपरिमाणो जीव इति। उत्क्रान्तिस्तावत्—'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' (कौ०३।३) इति। गतिरपि 'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति (कौ०१।२) इति। आगतिरपि 'तस्माल्लोकात् पुन-

भाष्यका अनुवाद

कहते हैं—ठीक है, तथापि उत्क्रान्ति, गति और आगतिकी श्रुति जीवके परिच्छेदका बोध कराती है। कहींपर श्रुति स्वशब्दसे 'जीव अणुपरिमाणवाला है' ऐसा कहती है उन सबको अनाकुल—बाधरहित करनेके लिए यह आरम्भ है।

पूर्वपक्षी—जीवका अणुपरिमाण है, क्योंकि उत्क्रान्ति, गति और आगतिका श्रुतिमें प्रतिपादन है। 'स यदा०' (वह जब इस शरीरसे उत्क्रमण करता है तब सब इन्द्रियोंके साथ उत्क्रमण करता है) यह श्रुति उत्क्रान्ति कहती है। 'ये वै के चा०' (और जो कोई इस लोकसे प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोकमें जाते हैं) यह श्रुति गति कहती है। और

रत्नप्रभा

इत्यादिना गतार्थत्वमस्य आशङ्क्य आत्माणुत्वश्रुतीनां महत्त्वश्रुतीनां च अविरोधकथनार्थम् अस्याऽधिकरणस्याऽऽरम्भ इत्याह—**नन्वित्यादिना**। न केवलं श्रुतोत्क्रान्त्याद्यनुपपत्त्या आत्मनोऽणुत्वम्, किन्तु 'एषोऽणुरात्मा' इति श्रुत्यापि इत्याह—**स्वशब्देनेति**। पूर्वपक्षे जीवस्याणुत्वात् ब्रह्मैक्यासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिः इति मत्वा सूत्रं व्याकुर्वन् पूर्वपक्षमाह—**तत्र प्राप्तमित्यादिना**। 'श्रुतेः' 'अणुः'

रत्नप्रभाका अनुवाद

करके आत्माको अणु कहनेवाली और महत् कहनेवाली श्रुतियोंके अविरोधका प्रतिपादन करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ है, ऐसा कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। केवल श्रुतिप्रतिपादित उत्क्रान्ति आदिकी अनुपपत्तिसे आत्मा अणु है, ऐसा नहीं है, किन्तु 'एषोऽणुरात्मा' (यह आत्मा अणु है) इस श्रुतिसे भी आत्माकी अणुपरिमाणताकी प्रतीति होती है, ऐसा कहते हैं—"स्वशब्देन" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें जीव अणु है, [अतः उसका ब्रह्मके साथ ऐक्य असिद्ध है] इस प्रकार जीवके साथ ब्रह्मैक्यकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है, ऐसा विचार कर सूत्रका स्पष्टीकरण करते हुए पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र प्राप्तम्" इत्यादिसे। 'श्रुतेः'

भाष्य

रेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति । आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति । नहि विभोश्चलनमवकल्पत इति । सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्याऽऽर्हतपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते ॥१९॥

भाष्यका अनुवाद

'तस्माल्लोकात्' (उस लोकसे फिर इस लोकमें कर्मके लिए आता है) यह श्रुति आगति भी कहती है । इन उत्क्रान्ति, गति और आगति की श्रुतियोंसे जीव-परिच्छिन्न है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि विभुकी गति नहीं हो सकती है । परिच्छेद प्राप्त होनेपर शरीरपरिमाणका आर्हतमतकी परीक्षामें निरसन करनेसे अणु आत्मा है ऐसा प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

इति उत्तरसूत्रादाकृष्य सूत्रं पूरितम् । उत्क्रान्तिः—श्रूयत इति शेषः । सः—मुमूर्षुः जीवः । एतैः—बुद्ध्यादिभिः, तस्मात्—चन्द्रलोकाद् इमं लोकं प्रति कर्म कर्त्तुम् आयाति इत्यर्थः ॥१९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

(श्रुतिसे) और 'अणुः' (अणु है) इन दो पदोंका उत्तर सूत्रसे आकर्षण कर इस सूत्रकी पूर्ति करते हैं । उत्क्रान्तिः—श्रूयते, इतना शेष समझना चाहिए । वह—मुमूर्षु जीव । इन—बुद्धि आदिके साथ, उस चन्द्रलोकसे इस लोकमें कर्म करनेके लिए आता है, ऐसा अर्थ है॥१९॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

पदच्छेद—स्वात्मना, च, उत्तरयोः ।

पदार्थोक्ति—उत्तरयोः—गत्यागत्योः स्वात्मना—जीवात्मना सम्बन्धात् [ते आत्मनोऽणुत्वे सम्भवतः] ।

भाषार्थ—उत्क्रमणके अनन्तर होनेवाले गमन और आगमनका सम्बन्ध है वे गमन और आगमन आत्माके अणु होनेपर ही हो सकते हैं ।

भाष्य

उत्क्रान्तिः कदाचिदचलतोऽपि ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवद् देहस्वाम्यनिवृत्त्या कर्मक्षयेणाऽवकल्पेत। उत्तरे तु गत्यागती नाऽचलतः संभवतः। स्वात्मना हि तयोः संबन्धो भवति, गमेः कर्तृस्थक्रियात्वात्। अमध्यमपरिमाणस्य च गत्यागती अणुत्वे एव संभवतः। सत्योश्च गत्यागत्योरुत्क्रान्तिरप्यपसृप्तिरेव देहादिति प्रतीयते, न ह्यनपसृप्तस्य

भाष्यका अनुवाद

उत्क्रान्ति तो अचल आत्माकी भी गाँवके स्वामित्वकी निवृत्तिके समान देहके स्वामित्व की निवृत्तिसे कर्मके क्षयहोनेपर हो सकती है, परन्तु आगेकी अर्थात् गति और आगति तो अचल आत्मामें नहीं हो सकती हैं, क्योंकि उन दोनोंका सम्बन्ध अपनी आत्माके साथ होता है, कारण कि 'गम्' धातु कर्तृस्थक्रियाको कहता है। मध्यमपरिमाणरहित जीवको अणु मानने से ही गति और आगति हो सकती हैं। गति और आगति होनेसे देहसे अपसृप्ति अर्थात् देहसे बाहर निकलना ही उत्क्रान्ति है,

रत्नप्रभा

उत्क्रान्तिः आत्मनो देहात् निर्गमो न भवति येनाऽणुत्वं स्यात्, किन्तु स्वामित्वनिवृत्तिरिति केचित्। तदङ्गीकृत्यापि अणुत्वमावश्यकमित्याह—**स्वात्मनेति**। उत्क्रान्तेः उत्तरयोः गत्यागत्योः स्वात्मना कर्त्रा सम्बन्धादणुत्वमिति सूत्रयोजना। पाकानाश्रयस्य पक्तृत्ववद् गत्यनाश्रयस्यापि गन्तृत्वोक्तिः किं न स्याद्? इत्यत आह—**गमेरिति**। गमनस्य कर्त्तरि संयोगविभागरूपातिशयहेतुत्वात् कर्त्राश्रितत्वं लोकसिद्धम् इत्यर्थः। जीवः अणुः, अमध्यमपरिमाणत्वे सति गतिमत्त्वात्, परमाणुवद्, इत्याह—**अमध्यमेति**। अङ्गीकारं त्यजति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माका देहसे निर्गम उत्क्रान्ति नहीं है जिससे आत्मा अणु हो, परन्तु स्वामित्व निवृत्ति उत्क्रान्ति है, ऐसा कतिपय कहते हैं। उसका अंगीकार करके भी अणुत्व आवश्यक है, ऐसा कहते हैं—"स्वात्मना" इत्यादिसे। उत्क्रान्तिके अनन्तर कही गई गति और आगतिका स्वात्मा अर्थात् कर्त्ताके साथ सम्बन्ध होनेसे अणुत्व है, ऐसी सूत्रकी योजना करनी चाहिए। जैसे पाकका आश्रय न होनेपर भी पक्ता कहलाता है, वैसे ही जो गतिका आश्रय नहीं है वह गन्ता क्यों न कहा जाय, इसपर कहते हैं—"गमेः" इत्यादिसे। गमनके कर्त्तामें संयोग और विभागरूप अतिशयका हेतु होनेसे कर्त्तामें गमनका आश्रितत्व लोकप्रसिद्ध है, ऐसा अर्थ है। जीव अणु है, मध्यमपरिमाण न होकर गतिमान् होनेसे, परमाणुके समान, ऐसा

भाष्य

देहाद् गत्यागती स्याताम्, देहप्रदेशानां चोत्क्रान्तावपादानत्ववचनात् 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४।४।२) इति। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' (बृ० ४।४।१), 'शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम्' (बृ० ४।३।११) इति चान्तरेऽपि शरीरे शारीरस्य गत्यागती भवतः। तस्मादप्यस्याऽणुत्वसिद्धिः ॥२०॥

भाष्यका अनुवाद

ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि देहसे बाहर न निकले हुएकी गति और आगति नहीं होती, चूँकि देहप्रदेश उत्क्रान्तिमें आपादान रूपसे कहे गये हैं। 'चक्षुष्टो वा' (नेत्रसे, माथेसे या शरीरके अन्य प्रदेशोंसे) ऐसा कहा है। और 'स एतास्तेजोमात्राः' (वह आत्मा इन तेजके अवयवोंको—इन्द्रियोंको भली भाँति लेकर-संहार करके हृदयमें ही—पुंडरीक आकाशमें ही जाता है-हृदयमें अभिव्यक्त विज्ञानस्वरूप होता है) 'शुक्रमादाय' (प्रकाशक इन्द्रियसमूहको लेकर आत्मा पीछे जागरित स्थानमें आता है) इस प्रकार शरीरमें भी जीवात्माकी गति और आगति है। इससे भी इसके (जीवके) अणुत्वका सिद्धि है ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

सत्योश्चेति। न स्वाम्यनिवृत्तिमात्रम् उत्क्रान्तिः इत्यर्थः। देहाद् निर्गम एव उत्क्रान्तिरित्यत्र लिङ्गान्तरमाह—**देहप्रदेशानामिति**। अपादानत्वम्—अवधित्वम्। अन्येभ्यो वा मुखादिभ्यः। एष आत्मा निष्क्रामतीति शेषः। किंच, देहमध्येऽपि जीवस्य गत्यागतिश्रुतेः अणुत्वम् इत्याह—**स इति**। इन्द्रियाणि गृह्णन् स्वापादौ हृदयं स जीवो गच्छति शुक्रं प्रकाशकम् इन्द्रियग्राममादाय पुनर्जागरितस्थानम् आगच्छतीत्यर्थः ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अमध्यम" इत्यादिसे। अङ्गीकारका त्याग करते हैं—"सत्योश्च" इत्यादिसे। स्वामित्वकी निवृत्ति ही उत्क्रान्ति नहीं है, ऐसा अर्थ है। देहसे निर्गम ही उत्क्रान्ति है, उसमें अन्य लिङ्ग कहते हैं—"देहप्रदेशानाम्" इत्यादिसे। अपादानत्व—अवधित्व। 'अन्य मुख आदिसे यह आत्मा निकलता हैं' इतना शेष है। और देहमें भी जीवकी गति और आगतिका श्रवण होनेसे जीव अणु है ऐसा कहते हैं—"सः" इत्यादिसे। इन्द्रियोंका ग्रहण करके स्वाप आदिमें वह जीव हृदयमें जाता है, शुक्र—प्रकाशक इन्द्रियसमुदायको लेकर फिर जागरित स्थानमें आता है, ऐसा अर्थ है ॥२०॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

पदच्छेद—न, अणुः, अतच्छ्रुतेः, इति, चेत्, न, इतराधिकारात् ।

पदार्थोक्ति—नाऽणुः—नाऽयं जीवोऽणुपरिमाणः, अतच्छ्रुतेः—'सर्वव्यापी' इत्यादिना सर्वगतत्वश्रुतेः, इति चेत् न—इति न वक्तव्यम्, [कुतः] इतराधिकारात्—इतरस्य ब्रह्मणः सर्ववेदान्तेषु प्रधानतया ज्ञेयत्वेन प्रकृतत्वात् [तस्यैव सर्वगतत्वश्रुतिर्न जीवस्य] ।

भाषार्थ—जीव अणुपरिमाण नहीं है, क्योंकि 'सर्वव्यापी' इत्यादि श्रुति जीवके सर्वगतत्वका प्रतिपादन करती है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सब वेदान्तोंमें जीवसे भिन्न ब्रह्म प्रधानतया ज्ञेयरूपसे प्रस्तुत है; इसलिए सर्वगतत्व-श्रुति उसीकी है जीवकी नहीं है ।

भाष्य

अथाऽपि स्यान्नाऽणुरयमात्मा । कस्मात् ? अतच्छ्रुतेः । अणुत्व-विपरीतपरिमाणश्रवणादित्यर्थः । 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२), 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽ-णुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत्, नैष दोषः । कस्मात् ? इतराधिकारात् । परस्य ह्यात्मनः प्रक्रियायामेषा परिमाणान्तरश्रुतिः, परस्यैवाऽऽत्मनः

भाष्यका अनुवाद

तो भी शङ्का होती है—जीवात्मा अणु नहीं है। किससे ? इससे कि अणुपरि-माणकी प्रतिपादिका श्रुति नहीं है अर्थात् अणुपरिमाणके विपरीत परिमाणकी श्रुति है। 'स वा एष०' (यह महान् अज आत्मा है, जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है) 'आकाशवत्०' (आकाशके समान व्यापक और नित्य है) 'सत्यं ज्ञानम्०' (सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है) इस प्रकारकी श्रुतियाँ आत्माको अणु माननेपर विरुद्ध होगी, ऐसा यदि कहो तो भी दोष नहीं है। किससे ? इससे कि इतरका

रत्नप्रभा

इतराधिकाराद्—ब्रह्मप्रकरणात् । ननु महत्त्वश्रुतेः कथं परप्रकरणस्थत्वम् ?

रत्नप्रभाका अनुवाद

"इतराधिकारात्"—ब्रह्मके प्रकरणसे । परन्तु महत्त्वप्रतिपादक श्रुति परमात्माके प्रकरणमें

भाष्य

प्राधान्येन वेदान्तेषु वेदितव्यत्वेन प्रकृतत्वात् । 'विरजः पर आकाशात्' इत्येवंविधाच्च परस्यैवाऽऽत्मनस्तत्र तत्र विशेषाधिकारात् । ननु 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति शारीर एव महत्त्वसंबन्धित्वेन प्रतिनिर्दिश्यते । शास्त्रदृष्ट्या त्वेष निर्देशो वामदेववद् द्रष्टव्यः । तस्मात् प्राज्ञविषयत्वात् परिमाणान्तरश्रवणस्य न जीवस्याऽणुत्वं विरुध्यते ॥२१॥

भाष्यका अनुवाद

अधिकार है, परमात्माकी प्रक्रियामें यह अन्य परिमाणकी श्रुति है, क्योंकि परमात्मा ही मुख्यतया ज्ञातव्यरूपसे वेदान्तवाक्योंमें प्रकृत है। और 'विरजः०' (विशुद्ध आकाशसे पर) इस प्रकारके वचनोंसे परमात्माका ही तत्-तत् स्थलमें विशेषाधिकार है। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है) ऐसा शारीर (जीव) का ही महत्त्वसम्बन्धीरूपसे प्रतिनिर्देश है। यह निर्देश तो शास्त्रदृष्टिसे वामदेवके समान समझना चाहिए। इसलिए परिमाणान्तर-श्रुति के प्राज्ञविषयक होनेसे जीवके अणुत्वका विरोध नहीं है ॥२१॥

रत्नप्रभा

इत्यत आह—**परस्येति** । या वेदान्तश्रुतिः सा परप्रकरणस्था इति उत्सर्गात् तस्याः तत्स्थत्वं ब्रह्मारभ्याधीतत्वात् च इत्याह—**विरज इति** । निर्दोष इत्यर्थः । विज्ञानमयश्रुत्या प्रकरणं बाध्यम् इति शङ्कते—**नन्विति** । अणोः जीवस्य ब्रह्मणा भेदाभेदाङ्गीकारात् शास्त्रीयाभेददृष्ट्या महत्त्वोक्तिः यथा वामदेवस्य अहं मनुरिति सर्वात्मत्वोक्तिरिति अविरोधमाह—**शास्त्रेति** ॥२१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

किस प्रकार होगी? इसपर कहते हैं—"परस्य" इत्यादिसे। 'जो वेदान्तश्रुति है वह ब्रह्मप्रकरण-परक है' इस सामान्य नियमसे वह श्रुति परप्रकरणस्थ है और ब्रह्मका उपक्रम करके ही पठित है, यह कहते हैं—"विरजः" इत्यादिसे। विरज अर्थात् निर्दोष। विज्ञानमयश्रुतिसे प्रकरण बाध्य है ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। ब्रह्मके साथ अणु जीवके भेदाभेदका अङ्गीकार होनेसे शास्त्रीय अभेददृष्टिसे जीवके महत्त्वका कथन है, जैसे वामदेवकी 'मैं मनु हूं' ऐसी सर्वात्मत्वकी उक्ति है—इस प्रकार अविरोध कहते हैं—"शास्त्र" इत्यादिसे ॥२१॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥२२॥

पदच्छेद—स्वशब्दोन्मानाभ्याम्, च ।

पदार्थोक्ति—स्वशब्दोन्मानाभ्याम्—'एषोऽणुरात्मा' इति अणुत्ववाचकात् शब्दात्, 'बालाग्रशतभागस्य' इति अत्यन्तापकृष्टपरिमाणात् च [जीवोऽणुपरिमाण एव] ।

भाषार्थ—'एषोऽणुरात्मा' (यह आत्मा अणुपरिमाण है) इस अणुत्ववाचक श्रुतिसे और 'बालाग्रशत०' (बालके अग्रभागके शतांश का शतांश) इस श्रुतिमें उक्त अत्यन्त अपकृष्ट परिमाणसे जीव अणु ही है ।

भाष्य

इतश्चाऽणुरात्मा, यतः साक्षादेवाऽस्याऽणुत्ववाची शब्दः श्रूयते—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मु० ३।१।९) इति । प्राणसंबन्धाच्च जीव एवाऽयमणुरभिहित इति गम्यते । तथोन्मानमपि जीवस्याऽणिमानं गमयति—'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वे० ५।८) इति ।

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी आत्मा अणु है, क्योंकि साक्षात् ही इसको अणु कहनेवाली श्रुति है—'एषोऽणुरात्मा०' (यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्तसे जानने योग्य है, जिसमें प्राण-वायु पांच प्रकारसे प्रविष्ट है) और प्राणके सम्बन्धसे जीव ही अणु कहा जाता है, ऐसा ज्ञात होता है । उसी प्रकार उन्मान भी जीवको अणु बतलाता है—'बालाग्रशत०' (केशके अग्रभागके सौ भाग करके उस शतांशके पुनः सौ विभाग करनेपर जो भाग होता है

रत्नप्रभा

एवम् उत्क्रान्त्यादिश्रुत्या अणुत्वम् अनुमितम्, तत्र श्रुतिमप्याह—**स्वशब्देति** । बालाग्राद् उद्धृतः शततमो भागः तस्मादपि उद्धृतः शततमो भागो जीव इति । उद्धृत्य मानम् उन्मानम्, अत्यन्ताल्पत्वमित्यर्थः । बालः—केशः, तोत्रप्रोतायः-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार उत्क्रान्त्यादि श्रुतिसे अणुत्वका अनुमान किया, उसमें श्रुति भी कहते हैं—"स्वशब्द" इत्यादिसे । बालके अग्रभागसे उद्धृत जो सौवाँ भाग उससे भी लिया हुआ शततम भाग जीव है, इस प्रकार लिया हुआ परिमाण उन्मान है, अर्थात् अत्यन्त अल्प है ऐसा अर्थ है ।

भाष्य

'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) इति चोन्मानान्तरम्॥२२॥

नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्यते। दृश्यते च जाह्नवीह्रदनिमग्नानां सर्वाङ्गशैत्योपलब्धिर्निदाघसमये च सकलशरीरपरितापोलब्धिरिति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

वह जीव है, अर्थात् जीवका परिमाण इतना सूक्ष्म है) 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि' (आरके अग्रभागके समान आत्मा देखा गया है) यह अन्य उन्मान है ॥२२॥

परन्तु जीवके अणु होनेपर एकदेशमें रहनेवाले जीवको सम्पूर्ण शरीरव्यापी ज्ञानकी उपलब्धि विरुद्ध होगी, क्योंकि गंगाजीमें या तालाबमें स्नान करनेवालोंको सर्वाङ्गमें शैत्यकी उपलब्धि और उष्ण कालमें सारे शरीरमें परितापकी उपलब्धि देखी जाती है। इससे उत्तर सूत्र पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

शलाकाग्रम्—आराग्रम्, तस्माद् उद्धृताः मात्रा—मानं यस्य स जीवः तथा ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाल-केश, अंकुशमें लगी हुई लोहेकी शलाकाका अग्रभाग—आराग्र, उससे ली हुई मात्रा—मान जिसका वैसा जीव है ॥ २२ ॥

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

पदच्छेद—अविरोधः, चन्दनवत्।

पदार्थोक्ति—चन्दनवत्—यथा चन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशस्थः शरीरव्यापि सुखं जनयति तथा अणुः जीवोऽपि देहव्यापिनं शैत्याद्युपलम्भं करिष्यतीति अविरोधः—विरोधाभावः।

भाषार्थ—जैसे शरीरके एक अवयवमें स्थित चन्दनबिन्दु शरीरव्यापी सुखकी उत्पत्ति करता है, वैसे ही अणु जीव भी देहव्यापी शीत आदिकी प्रतीति करावेगा इससे विरोध नहीं है।

भाष्य

यथा हि हरिचन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशसम्बद्धोऽपि सन् सकलदेहव्यापिनमाह्लादं करोति, एवमात्माऽपि देहैकदेशस्थः सकलदेहव्यापिनीमुपलब्धिं करिष्यति। त्वक्सम्बन्धाच्चाऽस्य सकलशरीरगता वेदना न विरुध्यते, त्वगात्मनोर्हि सम्बन्धः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते, त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

जैसे शरीरके एकदेशमें लगा हुआ हरिचन्दनका बिन्दु सकल देहव्यापी आनन्द पैदा करता है, वैसे आत्मा भी देहके एकदेशमें रह कर सम्पूर्ण शरीरव्यापिनी उपलब्धि करेगा। और त्वचाके सम्बन्धसे इसका सकल शरीरमें रहनेवाला ज्ञान विरुद्ध नहीं होता, क्योंकि त्वचा और आत्माका सम्बन्ध समस्त त्वचामें है, और त्वचा समस्त शरीरमें व्याप्त है ॥ २३ ॥

रत्नप्रभा

आत्मसंयुक्तायास्त्वचो देहव्यापिस्पर्शोपलब्धिकरणस्य महिम्ना आत्मनो व्यापिकार्यकारित्वम् अविरुद्धम्। त्वगात्मनोरिति। सम्बन्धस्य त्वगवयविनिष्ठत्वादवयविनश्चैकत्वादात्मसंयोगस्य कृत्स्नत्वङ्निष्ठता इत्यर्थः ॥ २३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

देहव्यापी स्पर्शज्ञानके करण—आत्मसंयुक्त त्वचाके सामर्थ्यसे आत्माके एकदेशस्थ होनेपर भी सारे शरीरव्यापी कार्यकारितामें विरोध नहीं है। "त्वगात्मनोः" इत्यादि। सम्बन्ध त्वचारूपी अवयवीमें है और अवयवी एक होनेसे आत्माका संयोग सम्पूर्ण त्वचामें है, ऐसा अर्थ है ॥२३॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥२४॥

पदच्छेद—अवस्थितिवैशेष्यात्, इति, चेत्, न, अभ्युपगमाद्, हृदि, हि।

पदार्थोक्ति—अवस्थितिवैशेष्यात्—चन्दनबिन्दोः प्रत्यक्षेण एकदेशेऽवस्थितिर्दृश्यते जीवस्य तु नैवमिति अतुल्यत्वात्, [नात्र चन्दनदृष्टान्तः] इति चेत्, न— इति न वक्तव्यम्, [कुतः] अभ्युपगमात्—जीवाणुत्वस्य स्वीकारात्, हि—यतः, हृदि—अल्पपरिमाणे हृदि [जीवः पठ्यते 'हृद्यन्तर्ज्योतिः' इत्यादौ, तस्माज्जीवाणुत्वमभ्युपगम्यते इति न दृष्टान्ते वैषम्यम्]।

भाषार्थ—प्रत्यक्षरूपसे चन्दनबिन्दुकी शरीरके एक भागमें अवस्थिति देखी जाती है, जीवकी इस प्रकार एकदेशमें अवस्थिति नहीं है, अतः समानता न होनेसे यहांपर चन्दन-दृष्टान्त युक्त नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जीवकी अणुताका स्वीकार है अल्प परिमाण हृदयमें 'हृद्यन्तर्ज्योतिः' इत्यादि श्रुतिमें जीवका पाठ है इससे जीवकी अणुताका स्वीकार है इस प्रकार दृष्टान्तमें विषमता नहीं है।

भाष्य

अत्राऽऽह—यदुक्तमविरोधश्चन्दनवत् इति, तदयुक्तम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरतुल्यत्वात्। सिद्धे ह्यात्मनो देहैकदेशस्थत्वे चन्दनदृष्टान्तो भवति, प्रत्यक्षं तु चन्दनस्याऽवस्थितिवैशेष्यमेकदेशस्थत्वं सकलदेहाह्लादनं च, आत्मनः पुनः सकलदेहोपलब्धिमात्रं प्रत्यक्षं नैकदेशवर्तित्वम्। अनुमेयं तु तदिति यदप्युच्येत—न चाऽत्राऽनुमानं सम्भवति। किमात्मनः सकलशरीरगता वेदना त्वगिन्द्रियस्येव सकलदेहव्यापिनः सतः किं वा

भाष्यका अनुवाद

यहाँ कहते हैं—चन्दनके समान अविरोध है, ऐसा जो कहा गया है वह अयुक्त है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें समानता नहीं है—देहके एक देशमें आत्माकी स्थितिके सिद्ध होनेपर चन्दनका दृष्टान्त हो सकता है, परन्तु चन्दनका अवस्थितिविशेष—एकदेशमें अवस्थिति और सकल देहमें आह्लाद प्रत्यक्ष है। और आत्माका सकल देहमें उपलब्धिमात्र प्रत्यक्ष है, एकदेशमें अवस्थिति प्रत्यक्ष नहीं है। वह (आत्माका एकदेशस्थत्व) अनुमेय है ऐसा यदि कहो, तो इसमें अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि क्या आत्माकी सकलशरीरगत उपलब्धि त्वगिन्द्रियके समान आत्माके सकलदेहव्यापी होनेसे है या वह आकाशके

रत्नप्रभा

सिद्धे हीति। न तु सिद्धमिति अतुल्यतेत्यर्थः। विशेष एव वैशेष्यम्। चन्दनबिन्दोः अल्पत्वस्य प्रत्यक्षत्वात् त्वग्व्याप्त्या व्यापिकार्यकारित्वकल्पना युक्ता, जीवस्य त्वणुत्वे सन्देहाद् व्यापिकार्यदृष्ट्या व्यापित्वकल्पनमेव युक्तम्। व्यापिकार्याश्रयो व्यापीति उत्सर्गादिति सूत्रशङ्काभागार्थः। आत्मा अल्पः, व्यापिकार्यकारित्वात्, चन्दनबिन्दुवद्, इत्यनुमानम् अयुक्तम्, त्वगादौ व्यभिचाराद् इत्याह—न चाऽत्राऽनुमानमिति। पूर्वोक्तश्रुतिभिर्जीवस्याऽणुत्वनिश्चयाद् हृदिस्थत्वश्रुति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सिद्धे हि" इत्यादि। परन्तु सिद्ध नहीं है, अतः तुल्यता नहीं है, ऐसा अर्थ है। विशेष ही वैशेष्य है। चन्दनबिन्दुमें अल्पत्वके प्रत्यक्ष होनेसे त्वचाकी व्याप्तिसे व्यापिकार्यकारिताकी कल्पना योग्य है, परन्तु जीवके अणुत्वमें सन्देह होनेसे व्यापी कार्यकी उपलब्धिसे उसको व्यापी मानना सयुक्तिक है, क्योंकि 'व्यापी कार्यका आश्रय व्यापी है' ऐसा सामान्य नियम है ऐसा सूत्रके शङ्काभागका अर्थ है। आत्मा छोटा है, व्यापी कार्य करनेवाला होनेसे, चन्दनबिन्दुके समान, इस प्रकारका अनुमान अयोग्य है, क्योंकि त्वगिन्द्रियमें व्यभिचार है, ऐसा कहते हैं—"न चाऽत्राऽनुमानम्" इत्यादिसे। पूर्वोक्त श्रुतियोंसे जीवमें अणुत्वका निश्चय होनेसे

भाष्य

विभोर्नभस इवाऽऽहोस्विच्चन्दनबिन्दोरिवाऽणोरेकदेशस्थस्येति संशयानतिवृत्तेरिति। अत्रोच्यते—नाऽयं दोषः। कस्मात्? अभ्युपगमात्। अभ्युपगम्यते ह्यात्मनोऽपि चन्दनस्येव देहैकदेशवृत्तित्वमवस्थितिवैशेष्यम्। कथमिति, उच्यते—हृदि ह्येष आत्मा पठ्यते वेदान्तेषु—'हृदि ह्येष आत्मा' (प्र० ३।६) 'स वा एष आत्मा हृदि' (छा० ८।३।३) कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्याद्युपदेशेभ्यः। तस्माद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरवैषम्याद् युक्तमेवैतदविरोधश्चन्दनवदिति ॥ २४ ॥

भाष्यका अनुवाद

समान विभु होनेसे है, या चन्दनबिन्दुके समान अणु और एकदेशस्थ होनेसे है ऐसे संशयकी निवृत्ति नहीं होती। इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है। किससे? अभ्युपगमसे। चन्दनके समान आत्माका भी देहके एकदेशमें रहना यह जो अवस्थितिविशेष है इसका स्वीकार किया गया है। किस प्रकार? ऐसा कहो तो कहते हैं—यह आत्मा हृदयमें अवस्थित है ऐसा वेदान्तोंमें 'हृदि ह्येष आत्मा' (यह आत्मा हृदयमें है) 'स वा एष०' (यह आत्मा हृदयमें है) 'कतम आत्मा०' (आत्मा कौन है? ऐसा प्रश्न होनेपर जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, हृदयके मध्यमें ज्योतिस्वरूप है) इत्यादि उपदेशोंसे पढ़ा जाता है। इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य न होनेसे चन्दनके समान अविरोध है, यह युक्त ही है ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

भिरेकदेशस्थत्वनिश्चयाच्च न दृष्टान्तवैषम्यमिति परिहारभागार्थमाह—अत्रोच्यते इति ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और 'जीव हृदयमें है' इस प्रकार श्रुतियोंसे एकदेशस्थत्वका निश्चय होनेसे दृष्टान्तके साथ वैषम्य नहीं है, इस प्रकार परिहारभागके अर्थको कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे ॥२४॥

(१) आत्मा अणु है, व्यापी कार्यको करनेवाला होनेसे, चन्दनबिन्दुके समान, इस अनुमानसे आत्मामें अणुत्वकी सिद्धि होगी, परन्तु यह नहीं हो सकता, क्योंकि त्वग् आदिमें हेतु है, परन्तु अणुत्वके नहीं रहनेसे व्यभिचार होगा, हेत्वाभास दोषसे दुष्ट अनुमान प्रमाण नहीं होता है, प्रकृत स्थलमें साध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्यभिचारके रहनेसे साध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्ध होगा, और व्याप्तिज्ञानके प्रतिबन्धसे सुतरां अनुमिति नहीं बनेगी, अतः अणुत्व सिद्ध नहीं होगा एवं त्वचाके प्रतिदृष्टान्त होनेसे संशयकी निवृत्ति नहीं होगी ऐसा भाव है।

गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

पदच्छेद—गुणाद्, वा, लोकवत् ।

पदार्थोक्ति—वा—अथवा, लोकवत्—यथा लोके गृहनिष्ठप्रदीपस्याऽल्पत्वेऽपि प्रभारूपगुणवशात् गृहव्यापि प्रकाशादि कार्यं संभवति, [तथा] गुणात्—[आत्मनोऽणुत्वेऽपि तन्निष्ठज्ञानगुणस्य व्यापकत्वाङ्गीकारात्] व्यापकगुणात् [व्यापि कार्यं भविष्यति] ।

भाषार्थ—अथवा जैसे लोकमें गृहमध्यवर्ती दीपकके अल्प होनेपर भी उसके प्रभारूप गुणसे गृहव्यापी प्रकाश आदि कार्य होता है, वैसे ही आत्माके अणु होनेपर भी आत्मामें रहनेवाले चैतन्यरूप गुणको व्यापक माननेसे व्यापकगुणसे व्यापी कार्य होगा ।

भाष्य

चैतन्यगुणव्याप्तेर्वाऽणोरपि सतो जीवस्य सकलदेहव्यापि कार्यं न विरुध्यते । यथा लोके मणिप्रदीपप्रभृतीनामपवरकैकदेशवर्तिनामपि प्रभाऽपवरकव्यापिनी सती कृत्स्नेऽपवरके कार्यं करोति तद्वत् । स्यात् कदाचिच्चन्दनस्य सावयवत्वात् सूक्ष्मावयवविसर्पणेनाऽपि सकलदेहे आह्लादयितृत्वं न त्वणोर्जीवस्याऽवयवाः सन्ति यैरयं सकलदेहं विप्रसर्पे-

भाष्यका अनुवाद

अथवा चैतन्यरूप गुणके सम्बन्धसे जीवके अणु होनेपर भी उसका सम्पूर्ण शरीरव्यापी कार्य विरुद्ध नहीं है, जैसे कि लोकमें कोठरीके एक देशमें रखे हुए भी मणिदीप, आदिकी प्रभा कोठरीमें व्याप्त होती हुई सम्पूर्ण कोठरीमें कार्य करती है । चन्दन सावयव है अतः सूक्ष्म अवयवके फैलनेसे भी वह सकल देहमें आह्लाद कर सकता है, परन्तु अणु जीवके अवयव नहीं हैं जिनसे कि वह

रत्नप्रभा

आत्मवत्तद्धर्मज्ञानस्याऽप्यणुत्वं स्वतः, कादाचित्कं तु देहपरिमाणत्वम् इत्युक्त्वा स्वत एव व्यापित्वमिति मतान्तरमाह—**गुणाद्वेति** । वाशब्देन

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माके समान उसका धर्म—ज्ञान भी स्वतः अणु है, देहपरिमाण तो कादाचित्क है, ऐसा कहकर आत्माका व्यापित्व स्वभावतः है, इस प्रकारके मतान्तरको कहते हैं—"गुणाद्वा" इत्यादिसे ।

भाष्य

दित्याशङ्क्य 'गुणाद्वा लोकवद्' इत्युक्तम् ॥२५॥

कथं पुनर्गुणो गुणिव्यतिरेकेणाऽन्यत्र वर्तेत, नहि पटस्य शुक्लो गुणः पटव्यतिरेकेणाऽन्यत्र वर्तमानो दृश्यते। प्रदीपप्रभावद् भवेदिति चेत्, न; तस्या अपि द्रव्यत्वाभ्युपगमात्। निबिडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः, प्रविरलावयवं तु तेजोद्रव्यमेव प्रभेति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

सारे शरीरमें फैले, ऐसी आशङ्का करके 'गुणाद्वा लोकवत्' ऐसा कहा है ॥२५॥

परन्तु गुण गुणीको छोड़ कर अन्यत्र किस प्रकार रहेगा? क्योंकि पटके शुक्ल गुणकी स्थिति पटको छोड़कर अन्यत्र नहीं देखी जाती है। प्रदीपकी प्रभाके समान होगा, ऐसा यदि कहो तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि उसको भी द्रव्य माना है, घन अवयववाला तेजोद्रव्य दीप है और प्रविरल अवयववाला तेजोद्रव्य प्रभा है। इससे उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

चन्दनदृष्टान्तापरितोषः सूचितः, तमाह—स्यादिति ॥ २५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वा शब्दसे चन्दनके दृष्टान्तमें असन्तोष सूचित होता है, उसको कहते हैं—"स्यात्" इत्यादिसे ॥२५॥

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

पदच्छेद—व्यतिरेकः, गन्धवत्।

पदार्थोक्ति—गन्धवत्—यथा गुणस्यापि सतो गन्धस्य गुणिव्यतिरेकेण वृत्तिः पुष्पवाटिकापरिसरे पर्यटतः पुंसो गन्धोपलम्भदर्शनात् [तथा] व्यतिरेकः—आत्मगुणस्य ज्ञानस्य गुणिविश्लेषः [भवितुमर्हति]।

भाषार्थ—जैसे गुण होते हुए भी गन्धकी स्थिति गुणी द्रव्यसे पृथक् दिखाई देती है, क्योंकि पुष्पवाटिकाके समीपमें घूमते हुए पुरुषको गन्धकी उपलब्धि होती है, वैसे ही आत्माके गुण ज्ञानकी आत्मासे पृथक् अवस्थिति हो सकती है।

भाष्य

यथा गुणस्याऽपि सतो गन्धस्य गन्धवद्द्रव्यव्यतिरेकेण वृत्तिर्भवति, अप्राप्तेष्वपि कुसुमादिषु गन्धवत्सु कुसुमगन्धोपलब्धेः। एवमणोरपि सतो जीवस्य चैतन्यगुणव्यतिरेको भविष्यति, अतश्चाऽनैकान्तिकमेतद्–गुणत्वाद् रूपादिवदाश्रयविश्लेषानुपपत्तिरिति, गुणस्यैव सतो गन्धस्याऽऽश्रय-विश्लेषदर्शनात्। गन्धस्याऽपि सहैवाऽऽश्रयेण विश्लेष इति चेत्, न; यस्मान्मूलद्रव्याद् विश्लेषस्तस्य क्षयप्रसङ्गात्। अक्षीयमाणमपि तत्पूर्वा-वस्थातो गम्यते, अन्यथा तत्पूर्वावस्थैर्गुरुत्वादिभिर्हीयेत। स्यादेतत्—

भाष्यका अनुवाद

जैसे गुण होनेपर भी गन्धकी अन्यत्र स्थिति होती है, क्योंकि गन्धयुक्त पुष्पोंके प्राप्त न होनेपर भी पुष्पोंकी सुगन्धिकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार जीवके अणु होनेपर भी चैतन्य गुणका व्यतिरेक होगा, इससे 'गुण होनेसे रूपादिके समान आश्रयसे उसका विश्लेष अनुपपन्न है' यह व्यभिचरित हुआ, क्योंकि गन्ध गुणका ही आश्रयसे विश्लेष देखा जाता है। गन्धका भी आश्रयके साथ ही विश्लेष होता है, ऐसा यदि कहो तो यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि जिस मूलद्रव्यसे विश्लेष मानोगे उसका विनाश प्राप्त होगा। परन्तु वह मूलद्रव्य पहलेकी अवस्थासे क्षीण नहीं मालूम होता है,

---

रत्नप्रभा

उत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते—**कथमिति**। ज्ञानं न गुणिव्यतिरिक्तदेशव्यापि, गुणत्वाद्, रूपवत्। न च प्रभायां व्यभिचारः, तस्या अपि द्रव्यत्वाद् इति प्राप्ते गन्धे व्यभिचारमाह—**अत उत्तरमिति**। गुणस्य द्रव्यव्यतिरेकः—आश्रयविश्लेषः। ननु विश्लिष्टावयवानामल्पत्वाद् द्रव्यक्षयो न भाति इत्यत आह—**अक्षीयमाणमपीति**। अपिः अवधारणे। पूर्वावस्थालिङ्गेन—अक्षीयमाण-मेव तद् द्रव्यमनुमीयते इत्यर्थः। विमतम् अविश्लिष्टावयवम्, पूर्वावस्थातो

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्तर सूत्रसे व्यावर्त्यकी शङ्का करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। ज्ञान गुणीसे अतिरिक्त-देशव्यापी नहीं है, गुण होनेसे, रूपके समान। प्रभाके द्रव्य होनेसे उसमें व्यभिचार नहीं है, ऐसा प्राप्त होनेपर गन्धमें व्यभिचार कहते हैं—"अत उत्तरम्" इत्यादिसे। गुणका द्रव्यसे व्यतिरेक—गुणका आश्रयसे विश्लेष। पृथक् हुए अवयवोंके थोड़े होनेके कारण द्रव्यका क्षय नहीं प्रतीत होता है, इसपर कहते हैं—"अक्षीयमाणमपि" इत्यादिसे। अपि—अवधारणार्थक है। पूर्व अवस्थाके लिङ्गसे अक्षीयमाण ही वह द्रव्य अनुमेय होता है, ऐसा अर्थ है। अर्थात् विमत

भाष्य

गन्धाश्रयाणां विश्लिष्टानामवयवानामल्पत्वात् सन्नपि विशेषो नोपलक्ष्यते, सूक्ष्मा हि गन्धपरमाणवः सर्वतो विप्रसृता गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति नासिका-पुटमनुप्रविशन्त इति चेत्, न; अतीन्द्रियत्वात् परमाणूनाम्, स्फुटगन्धो-पलब्धेश्च नागकेसरादिषु । न च लोके प्रतीतिः—गन्धवद् द्रव्यमाघ्रात-मिति, गन्ध एवाऽऽघ्रात इति तु लौकिकाः प्रतियन्ति । रूपादिष्वाश्रय-

भाष्यका अनुवाद

अन्यथा—अगर क्षय माना जाय, तो पूर्व अवस्थाके गुरुत्व आदि धर्मोंसे हीन होगा। यदि ऐसी शङ्काकी जाय कि पृथक् हुए गन्धके आश्रय अवयवोंके थोड़े होनेके कारण विशेषके रहते भी उसका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि चारों तरफ फैले हुए सूक्ष्म गन्धके परमाणु नासिका पुटमें प्रवेश करते हुए गन्धकी बुद्धि उत्पन्न करते हैं, तो भी यह स्वीकार्य नहीं है, इसलिए कि, परमाणु अतीन्द्रिय हैं और नागकेसर आदिमें स्पष्ट गन्धकी उपलब्धि होती है। और लोकमें 'गन्धवद् द्रव्य सूंघा' ऐसी प्रतीति नहीं होती है, प्रत्युत 'गन्ध

रत्नप्रभा

गुरुत्वाद्यपचयहीनत्वात् संमतवदिति भावः । शङ्कते—स्यादेतदिति । विश्लिष्टा-नामल्पत्वादिति उपलक्षणम् । अवयवान्तराणां प्रवेशादित्यपि द्रष्टव्यम् । विशेषोऽ-वयवानां विश्लेषप्रवेशरूपः सन्नपि न ज्ञायते । तथा च गुरुत्वापचयो न भवति इति हेतोरन्यथासिद्धिरिति शङ्कार्थः । आगच्छन्तोऽवयवाः परमाणवः त्रसरेणवो वा ? नाद्यः, तद्गतरूपवद्गन्धस्याऽपि अनुपलब्धिप्रसङ्गादिति परिहरति—नेति । द्वितीयं प्रत्याह—स्फुटेति । त्रसरेणुगन्धश्चेत् स्फुटो न

रत्नप्रभाका अनुवाद

विश्लिष्टावयव नहीं हैं, पूर्व अवस्थासे गुरुत्व आदिके अपचयसे हीन होनेसे, सम्मतवत् ऐसा भाव है। शङ्का करते हैं—"स्यात्" इत्यादिसे। विश्लिष्ट अवयवोंके अल्प होनेसे यह उपलक्षण है अन्य अवयवोंके प्रवेशसे ऐसा भी समझना चाहिए। यद्यपि अवयवविश्लेष या अवयवप्रवेश रूप विशेष है तो भी वह जाननेमें नहीं आता, इसलिए गुरुत्वका अपचय नहीं होता यह हेतु अन्यथासिद्ध है, ऐसा शङ्काका अर्थ है। आते हुए अवयव परमाणु हैं या त्रसरेणु हैं ? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि परमाणुमें रहनेवाले रूपके समान गन्धकी भी अनुपलब्धिका प्रसङ्ग आवेगा। ऐसा परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। द्वितीयके प्रति कहते हैं—"स्फुट" इत्यादिसे। यदि त्रसरेणु

भाष्य

व्यतिरेकानुपलब्धेर्गन्धस्याऽप्ययुक्त आश्रयव्यतिरेक इति चेत्, न; प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्तेः। तस्माद् यद् यथा लोके दृष्टं तत् तथैवाऽनुमन्तव्यं निरूपकैर्नाऽन्यथा। नहि रसो गुणो जिह्वयोपलभ्यत इत्यतो रूपादयोऽपि गुणा जिह्वयैवोपलभ्येरन्निति नियन्तुं शक्यते ॥२६॥

भाष्यका अनुवाद

सूंघा' ऐसा लोग व्यवहार करते हैं। अगर रूपादि आश्रय द्रव्यसे व्यतिरिक्त देखे नहीं जाते एतावता [उस दृष्टान्तसे] गन्धका भी आश्रय व्यतिरेकसे उपलम्भ नहीं होता, ऐसी शङ्का करो तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे अनुमान प्रवृत्त नहीं होगा। अतः लोकमें जैसा देखा जाय, वैसे ही अनुमान निरूपकोंको करना चाहिए, अन्यथा नहीं। रसगुण जिह्वासे उपलब्ध होता है, इससे रूपादि गुण भी जिह्वासे उपलब्ध हों, ऐसा नियम नहीं कर सकते ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

स्यादित्यर्थः। अतो गन्धस्य पुष्पादिस्थस्यैव गुणिव्यतिरेको वाच्य इति भावः। गन्धः न गुणिविश्लिष्टः, गुणत्वाद्, रूपवत् इति शङ्कते—रूपेति। विश्लेषस्य प्रत्यक्षत्वाद् बाध इत्याह—नेति ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

गन्ध हो तो स्फुट न हो ऐसा अर्थ है, अतः पुष्प आदिमें रहनेवाले गन्धका ही गुणीसे व्यतिरेक कहना चाहिए, ऐसा भाव है। गन्ध गुणीसे विश्लिष्ट नहीं है, गुण होनेसे, रूपके समान, ऐसी शङ्का करते हैं—"रूप" इत्यादिसे। विश्लेषके प्रत्यक्ष होनेसे बाध है, इसपर कहते हैं—"न" इत्यादिसे ॥ २६ ॥

तथा च दर्शयति ॥२७॥

पदच्छेद—तथा, च, दर्शयति।

पदार्थोक्ति—च—अपि, ['आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' इत्यादिश्रुतिः] तथा—आत्मनो ज्ञानेन समस्तशरीरव्यापित्वम्, दर्शयति—प्रतिपादयति।

भाषार्थ—और 'आ लोमभ्यः'० (लोमपर्यन्त और नखाग्रपर्यन्त) इत्यादि श्रुति आत्माका ज्ञानसे सम्पूर्ण शरीरमें व्यापित्वका प्रतिपादन करती है।

भाष्य

हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वं चाऽऽत्मनोऽभिधाय तस्यैव 'आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' (छा० ८।८।१) इति चैतन्येन गुणेन समस्त-शरीरव्यापित्वं दर्शयति ॥२७॥

भाष्यका अनुवाद

आत्माका हृदयमें स्थान और अणुपरिमाण कहकर उसका ही 'आ लोमभ्यः०' (लोमपर्य्यन्त, नखाग्रपर्य्यन्त) इस प्रकार श्रुति चैतन्यगुणसे समस्त शरीरमें सम्बन्ध दिखलाती है ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

आत्मनः चैतन्यगुणेनैव देहव्याप्तिरित्यत्र श्रुतिमाह सूत्रकारः—तथा च दर्शयतीति । तद् व्याचष्टे—हृदयेति ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माकी चैतन्य गुणके योगसे ही देहव्याप्ति है, उसमें सूत्रकार श्रुति कहते हैं—"तथा च दर्शयति" इत्यादिसे । उसकी व्याख्या करते हैं—"हृदय" इत्यादिसे ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥२८॥

पदच्छेद—पृथक्, उपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—['प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' इति श्रुत्या आत्मज्ञानयोः कर्तृकरण-भावेन] पृथक्—भेदेन, उपदेशात्—कथनात् [गुणद्वाराऽस्य शरीरव्यापित्वं गम्यते]।

भाषार्थ—'प्रज्ञया०' (प्रज्ञासे शरीरपर आरूढ होकर इस श्रुतिसे आत्मा और ज्ञानका कर्ता और करणरूपसे पृथक् उपदेश है, अतः गुण द्वारा जीवका शरीरव्यापी ज्ञान होता है।

भाष्य

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौ० ३।६) इति चाऽऽत्मप्रज्ञयोः कर्तृ-

भाष्यका अनुवाद

'प्रज्ञया शरीरम्' (प्रज्ञा द्वारा शरीरका सम्यक् आरोहण करके) इस प्रकार

रत्नप्रभा

तत्रैव श्रुत्यन्तरार्थं सूत्रम्—पृथगिति । विज्ञानम्—इन्द्रियाणां ज्ञानशक्तिम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसीमें अन्य श्रुतिके लिए सूत्र है—"पृथक्" इत्यादि । विज्ञान—इन्द्रियोंकी ज्ञानशक्ति

भाष्य

करणभावेन पृथगुपदेशाच्चैतन्यगुणेनैवाऽस्य शरीरव्यापिता गम्यते। 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति च कर्तुः शरीरात् पृथग् विज्ञानस्योपदेश एतमेवाऽभिप्रायमुपोद्बलयति तस्मादणुरात्मेति ॥२८॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

आत्मा और प्रज्ञाका कर्तृकरणरूपसे उपदेश है, इससे चैतन्यगुण द्वारा ही यह शरीरमें व्यापी है, ऐसा समझा जाता है। 'तदेषां प्राणानाम्०' (सुषुप्तिमें वागादि प्राणोंका अन्तःकरणगत अभिव्यक्तिविशेषरूप विज्ञानसे अपने अपने विषयगत सामर्थ्यका ग्रहण करके) इस प्रकार कर्ता शरीरसे पृथक् विज्ञानका उपदेश पूर्वोक्त अभिप्रायको ही पुष्ट करता है। अतः आत्मा अणु है ॥ २८ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

विज्ञानेन—चैतन्यगुणेन आदाय शेते इत्यर्थः। एतम्—चैतन्यगुणव्याप्तिगोचरम् अभिप्रायम् ॥ २८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विज्ञानेन—चैतन्यगुण द्वारा लेकर सोता है ऐसा अर्थ है। एतम्—चैतन्यगुणव्याप्तिविषयक अभिप्रायको ॥ २८ ॥

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

पदच्छेद—तद्गुणसारत्वात्, तु तद्व्यपदेशः, प्राज्ञवत्।

पदार्थोक्ति—तु—किन्तु, तद्गुणसारत्वात्—तस्या बुद्धेः गुणा अणुत्वोत्क्रान्तिगत्यागतिसुखदुःखादयः ते सारं प्रधानं यस्य [जीवस्य] स तद्गुणसारस्तस्यभावस्तत्त्वं तस्मात्। तद्व्यपदेशः—अणुत्वादिव्यपदेशः [न स्वाभाविकः] प्राज्ञवत्—यथा प्राज्ञस्य (परमात्मनः) सगुणोपासनेषु दहराद्युपाधिवशादणुत्वादिकं व्यपदिश्यते तद्वत्।

भाषार्थ—किन्तु जीवमें बुद्धिके अणुत्व, उत्क्रमण, गमन, आगमन, सुख, दुःख आदि बुद्धिके गुण हैं अतः उसमें अणुत्वका व्यपदेश होता है, वह स्वाभाविक नहीं हैं जैसे परमात्माकी सगुणोपासनामें दहर आदि उपाधियोंके कारण उसमें अणुत्व आदिका व्यपदेश होता है, वैसे ही यहां समझना चाहिए।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति—अणुरात्मेति। उत्पत्त्यश्रवणाद्धि परस्यैव तु ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात् तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम्। परमेव चेद् ब्रह्म जीवस्तस्माद् यावत् परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति, परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम्, तस्माद् विभुर्जीवः। तथा च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इत्येवंजातीयका जीवविषया

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पक्षकी व्यावृत्ति करता है। 'आत्मा अणु है' यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्माकी उत्पत्तिकी श्रुतियां नहीं हैं, और परब्रह्मके प्रवेशकी श्रुति है। एवं तादात्म्यका उपदेश है, इससे परब्रह्म ही जीव है, ऐसा कहा है। यदि जीव परब्रह्म ही है, तो जितना बड़ा परब्रह्म है उतना बड़ा जीव हो सकता है और 'परब्रह्म विभु है' ऐसा श्रुतिमें कहा गया है, इससे जीव विभु है। इसी प्रकार 'स वा एष०' (यह महान् अज आत्मा है जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है) इस प्रकारके जीवके श्रौत और स्मार्त विभुत्ववाद सङ्गत

रत्नप्रभा

तत्र आत्माणुत्वविभुत्वश्रुतीनां विरोधाद् अप्रामाण्यप्राप्तौ अणुत्वं जीवस्य विभुत्वमीश्वरस्य इति अविरोध इत्येकदेशिपक्षो दर्शितः, तं दूषयन् सिद्धान्तसूत्रम् व्याचष्टे—**तुशब्द इत्यादिना**। तस्माद् ब्रह्माभिन्नत्वात् विभुः जीवः ब्रह्मवत्, इत्यनुमानानुगृहीते श्रुतिस्मृती आह—**तथा च स वा एष इति**। 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' (भ० गी० २।२४) इत्याद्याः स्मार्तवादाः। एतेन जीवस्य ब्रह्माभेदज्ञानेऽणुत्वाभावधीः तस्यां तद् इत्यन्योन्याश्रय इति निरस्तम्। प्रधानमहावाक्यानुगुणश्रुतिस्मृतिभिः अणुत्वाभावनिश्चयानन्तरम् अभेदज्ञानात् प्रधानवाक्यविरोधे

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसमें आत्माका अणुत्व और विभुत्व दिखलानेवाली श्रुतियोंके परस्पर विरोधसे अप्रामाण्य प्राप्त होनेपर जीवका अणुत्व है और ईश्वरका विभुत्व है, ऐसा अविरोध है, ऐसा एकदेशीका पक्ष दिखलाया गया है, अब उस पक्षको दूषित करते हुए सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तुशब्दः" इत्यादिसे। इसलिए ब्रह्मसे अभिन्न होनेसे जीव विभु है, ब्रह्मके समान, ऐसे अनुमानसे अनुगृहीत श्रुति और स्मृति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" (आत्मा नित्य, सर्वव्यापक और स्थाणु है) इत्यादि स्मृतिवचन हैं। इससे जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा ज्ञान होनेपर अणुत्वके अभावकी बुद्धि होती है और अणुत्वके अभावकी बुद्धि होनेपर जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा ज्ञान होता है इस प्रकार अन्योन्याश्रय है, इस कथनका

भाष्य

विभुत्ववादाः श्रौताः स्मार्ताश्च समर्थिता भवन्ति । न चाऽणोर्जीवस्य सकलशरीरगता वेदनोपपद्यते । त्वक्सम्बन्धात् स्यादिति चेत्, न; कण्टकतोदनेऽपि सकलशरीरगतैव वेदना प्रसज्येत, त्वक्कण्टकयोर्हि संयोगः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति । पादतल एव तु

भाष्यका अनुवाद

होते हैं । और अणु जीवकी सारे शरीरमें स्थित वेदना उपपन्न नहीं होगी । त्वचाके सम्बन्धसे होगी, ऐसा कहोगे तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि त्वचामें कांटा लगनेपर भी सकल शरीरगत ही वेदना प्रसक्त होगी, क्योंकि त्वचा और कांटेका संयोग सम्पूर्ण त्वचामें है और त्वचा सम्पूर्ण शरीरमें है ।

रत्नप्रभा

गुणभूताणुत्वश्रुतीनाम् औपाधिकाणुत्वविषयत्वकल्पनात् । 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इति न्यायादिति भावः । किञ्च, सर्वदेहव्यापिशैत्यानुभवान्यथानुपपत्त्या अणुत्वश्रुतयोऽध्यस्ताणुत्वविषयत्वेन कथञ्चिदर्थवादा नेयाः, लौकिकन्यायादपि तासां दुर्बलत्वादिति मत्वाऽऽह—**न चाऽणोरिति** । शङ्कते—**त्वगिति** । यदि अण्वात्मसम्बन्धस्य त्वग्व्याप्त्या देहव्यापिनी वेदना स्यात् तर्ह्यतिप्रसङ्गः इति दूषयति—**नेति** । प्रसङ्गस्येष्टत्वं निरस्यति—**पादतल एवेति** । तस्माद् अल्पमहतोः संयोगो न महद्व्यापी, कण्टकसंयोगस्य देहव्याप्त्यदर्शनात्, तथा च अण्वात्मसंयोगस्त्वगेकदेशस्थ एव इति देहव्यापिवेदनानुपपत्तिः । न च सिद्धान्ते त्वगात्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरण हुआ, क्योंकि प्रधान महावाक्यके (तत्त्वमसिके) अनुगुण श्रुति और स्मृतियोंसे अणुत्वके अभावका निश्चय होनेके अनन्तर अभेद ज्ञान होनेसे प्रधान वाक्यके विरोधमें गुणभूत अणुत्व श्रुतियां औपाधिक अणुत्वविषयक हैं, ऐसी कल्पना है, क्योंकि गुण—अप्रधानमें अन्याय्यकी (लक्षणाकी) कल्पना होती है, इस न्यायसे, ऐसा भाव है । सारे शरीरमें शैत्यके अनुभवकी अन्यथा अनुपपत्तिसे अणुत्व श्रुतियां अध्यस्त—आरोपित अणुत्वविषयद्वारा कथंचित् अर्थवादरूपसे समझनी चाहिएँ, लौकिकन्यायसे भी वे श्रुतियाँ दुर्बल हैं, ऐसा मानकर कहते हैं—"न चाऽणोः" इत्यादिसे । शङ्का करते हैं—"त्वग्" इत्यादिसे । परन्तु अणु आत्माका सम्बन्ध त्वचामें व्यापक होनेसे देहव्यापी वेदना होगी, यदि ऐसा कहोगे, तो अतिप्रसङ्ग है, ऐसा दूषण कहते हैं—"न" इत्यादिसे । अतिप्रसङ्ग इष्ट है, ऐसी जो कोई शङ्का करे, तो इसका निरसन करते हैं—"पादतल एव" इत्यादिसे । इससे आत्मा और महत् इन दोनोंका संयोग महद्व्यापी नहीं है, क्योंकि कांटेका संयोग देहमें व्याप्त हुआ देखनेमें नहीं आता । इसलिए अणु आत्माका संयोग त्वचाके एकदेशमें ही होनेसे देहव्यापी वेदना

भाष्य

कण्टकतुन्नो वेदनां प्रतिलभते । न चाऽणोर्गुणव्याप्तिरुपपद्यते, गुणस्य गुणिदेशत्वात् । गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत । प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम् । गन्धोऽपि गुणत्वाभ्युपगमात् साश्रय एव सञ्चरितुमर्हति, अन्यथा गुणत्वहानिप्रसङ्गात् । तथा चोक्तं

भाष्यका अनुवाद

वेदना तो केवल कांटेसे पीडित पैरके तलवेमें ही होती है । इसी प्रकार अणुकी गुणके साथ व्याप्ति उपपन्न नहीं है, क्योंकि गुण गुणीका प्रदेश है । यदि गुण गुणीका आश्रय न करे, तो उसका गुणत्व ही नष्ट हो जायगा । दीपप्रभा तो अन्य द्रव्य है ऐसा व्याख्यान किया जा चुका है । गन्ध भी गुण है, ऐसा स्वीकार करनेसे वह आश्रय सहित ही संचार करेगा, अन्यथा गुणत्वकी हानिका प्रसङ्ग होगा ।

रत्नप्रभा

सम्बन्धस्य व्यापित्वात् कण्टकसम्बन्धे देहव्यापिवेदनाप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यावती विषयसम्बद्धा त्वक् तावद्व्याप्यात्मसम्बन्धः तावद्व्यापिवेदनाहेतुरिति नियमात् । न चैवं विषयत्वक्सम्बन्ध एव तद्धेतुः अस्तु, किमात्मव्याप्त्या ? इति वाच्यम् । वेदना हि सुखं दुःखं तदनुभवश्च । न चैषां व्यापकानां कार्याणामल्पमुपादानं सम्भवति, कार्यस्य उपादानाद् विश्लेषानुपपत्तेः । न चैषां व्यापकत्वम् असिद्धम्, सूर्यतप्तस्य गङ्गानिमग्नस्य सर्वाङ्गव्यापिसुखदुःखानुभवस्य दुरपह्नवत्वात् यदुक्तम्—गुणस्याऽपि गुणिविश्लेषो गन्धवदिति, तन्न इत्याह—**न चाऽणोरिति** । गन्धः न आश्रयाद् विश्लिष्टः, गुणत्वात्, रूपवत्, इत्यत्राऽऽगममाह—**तथा चोक्त-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुपपन्न है । और ऐसी शङ्का न करनी चाहिए कि सिद्धान्तमें त्वचा और आत्माका सम्बन्ध व्यापी होनेसे कंटकके साथ आत्माका सम्बन्ध होनेपर देहव्यापी वेदनाका प्रसङ्ग होगा, क्योंकि जितनी त्वचा विषयके साथ सम्बद्ध है, उतनी त्वचामें व्याप्त आत्माका सम्बन्ध उतनी ही त्वचामें व्याप्त वेदनाका हेतु है, ऐसा नियम है । तब विषय और त्वचाका सम्बन्ध ही उस वेदनाका हेतु हो, आत्माकी व्याप्तिको हेतु माननेका क्या प्रयोजन है ? ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वेदना अर्थात् सुख-दुःख और उनका अनुभव । ये व्यापक कार्य हैं, अतः इनका अल्प उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि कार्यका उपादानसे विश्लेष अयुक्त है । और ये कार्य व्यापक हैं, यह असिद्ध है, ऐसा भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि सूर्यसे संतप्त हुए और गंगामें निमग्न हुए पुरुषको सब अङ्गमें व्यापी सुख और दुःखका अनुभव होता है, उसका अपह्नव नहीं हो सकता । और गुणका भी गुणीसे विश्लेष होता है, गन्धके समान, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चाऽणोः" इत्यादिसे । गन्ध आश्रयसे विश्लिष्ट

भाष्य

द्वैपायनेन—

'उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणाः ।
पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रितम् ॥' इति ।

यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयान्नाऽणुर्जीवः स्यात् । चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ, नाऽत्र गुणगुणिविभागो विद्यत इति । शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम् । परिशेषाद् विभुर्जीवः । कथं तर्ह्यणुत्वादिव्यपदेश इत्यत आह—'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः' इति ।

भाष्यका अनुवाद

इसी प्रकार भगवान् द्वैपायनने कहा है—'उपलभ्याप्सु०' (जलमें गन्धकी उपलब्धि करके कतिपय अनिपुण पुरुष उसमें गन्ध है, ऐसा कहते हैं, परन्तु जल एवं वायुमें रहनेवाला गन्ध पृथ्वीका ही है ऐसा जानना चाहिए) यदि जीवका चैतन्य समस्त शरीरमें व्याप्त हो, तो जीव अणु न हो, क्योंकि जैसे अग्निका स्वरूप उष्णता और प्रकाश है वैसे ही जीवका स्वरूप चैतन्य है । इसमें गुण और गुणीका विभाग नहीं है । जीवके शरीरपरिमाणका तो पहले खण्डन किया जा चुका है । परिशेषसे जीव विभु है । तब उसमें अणुत्व आदि व्यपदेश किस प्रकार हैं ? इसपर

रत्नप्रभा

भिति । न च प्रत्यक्षबाधः, गन्धस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि निराश्रयत्वस्याऽप्रत्यक्षत्वात् । महतां त्रसरेणूनाम् अनुद्भूतस्पर्शानाम् उद्भूतगन्धानाम् आगमनात् स्फुटगन्धोपलम्भसम्भवः, अवयवान्तरप्रवेशान्न सहसा मूलद्रव्यक्षय इति भावः । पूर्वं चैतन्यस्य गुणत्वम् उपेत्य तद्व्याप्त्या गुण्यात्माणुत्वं निरस्तम्, सम्प्रति तस्य गुणत्वम् असिद्धमित्याह—यदि च चैतन्यमिति । उत्सूत्रं विभुत्वं प्रसाध्य अणुत्वाद्युक्तेर्गतिप्रदर्शनार्थं सूत्रं व्याचष्टे—कथमित्यादिना । 'अन्तरा विज्ञानमनसी०' (ब्र० सू० २।३।१५)

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं हो सकता, गुण होनेसे, रूपके समान, इसमें आगम कहते हैं—"तथा चोक्तम्" इत्यादिसे । आगमका प्रत्यक्षसे बाध नहीं हो सकता, क्योंकि गन्ध प्रत्यक्ष है, तो भी उसका निराश्रयत्व—आश्रयशून्यत्व अप्रत्यक्ष है, और बड़े त्रसरेणु, जिनका स्पर्श अनुद्भूत है और गन्ध उद्भूत है, उनके आनेसे स्फुट गन्धके उपलम्भका सम्भव है, उसी प्रकार अन्य अवयवोंके प्रवेशसे सहसा मूल द्रव्यका क्षय नहीं होता, ऐसा भाव है । प्रथम चैतन्यको गुण मानकर उसकी व्याप्तिसे गुणी आत्माके अणुत्वका निरसन किया गया । अब, चैतन्यका गुणत्व असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"यदि च चैतन्यम्" इत्यादिसे । सूत्रके बाहर विभुत्व सिद्ध करके अणुत्व आदि उक्तिकी गति दिखलानेके लिए सूत्रका व्याख्यान करते हैं—

भाष्य

तस्या बुद्धेर्गुणास्तद्गुणा इच्छा, द्वेषः, सुखम्, दुःखमित्येवमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्याऽऽत्मनः संसारित्वे सम्भवति स तद्गुणसारस्तस्य भावस्तद्गुणसारत्वम्। नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्याऽऽत्मनः संसारित्वमस्ति, बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चाऽसंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः। तस्मात् तद्गुणसारत्वाद् बुद्धिपरिमाणेनाऽस्य परिमाणव्यपदेशः। तदुत्क्रान्त्यादिभिश्चाऽस्योत्क्रान्त्यादिव्यपदेशो न स्वतः। तथा च—

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥' (श्वे० ५।९)

भाष्यका अनुवाद

हैं—'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः'। उसके अर्थात् बुद्धिके जो गुण वे तद्गुण, अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इत्यादि। तद्गुण सार—प्रधान जिस आत्माके संसारित्वमें हैं, वह तद्गुणसार, उसका भाव तद्गुणसारत्व है, क्योंकि बुद्धिके गुणोंके बिना केवल आत्माका संसारित्व नहीं है। अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, नित्यमुक्त, सत्स्वरूप आत्माका कर्तृत्वभोक्तृत्वरूप संसार बुद्धिरूप उपाधिके धर्मके अध्याससे ही है। जीवमें बुद्धिके गुणोंकी प्रधानता होनेसे बुद्धिके परिमाणसे जीवके परिमाणका व्यपदेश होता है और बुद्धिकी उत्क्रान्ति आदिसे जीवकी उत्क्रान्ति आदिका व्यपदेश होता है, उसके परिणाम, उत्क्रमण आदि स्वाभाविक नहीं हैं। और इसी प्रकार 'बालाग्रशत०' (केशके अग्रभागका किया हुआ जो सौवाँ भाग उसका पुनः किया हुआ जो सौवाँ भाग वह जीव है और वह अनन्तता

रत्नप्रभा

'हृदि हि' (ब्र० सू० २।३।२६) इति च प्रकृता बुद्धिः योग्यत्वात् तच्छब्देन परामृश्यते। बुद्धिगुणानामात्मनि अध्यासाद् अणुत्वाद्युक्तिः, न स्वतः, आनन्त्यश्रुतिविरोधाद् इत्याह—तथा चेति। अकार्यकारणद्रव्यसमानाधिकरणतया 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।१३) इति वाक्यस्य सोऽयमिति वाक्यवदखण्डाभेदार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कथम्" इत्यादिसे। 'अन्तरा विज्ञानमनसी' (विज्ञान और मनके बीचमें) 'हृदि हि' (हृदयमें है) इस प्रकार प्रकृत बुद्धिका योग होनेसे 'तद्गुणसारत्वात्' में तद्शब्दसे परामर्श किया जाता है। बुद्धिके गुणोंका आत्मामें अध्यास होनेसे अणुत्व आदिकी उक्ति है, स्वतः नहीं है, क्योंकि आनन्त्य श्रुतिका विरोध होता है, ऐसा कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। जिसका कार्य और कारण

भाष्य

इत्यणुत्वं जीवस्योक्त्वा तस्यैव पुनरानन्त्यमाह। तच्चैवमेव समञ्जसं स्याद् यद्यौपचारिकमणुत्वं जीवस्य भवेत् पारमार्थिकं चाऽऽनन्त्यम्। नह्युभयं मुख्यमवकल्पेत। न चाऽऽनन्त्यमौपचारिकमिति शक्यं विज्ञातुम्, सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मात्मभावस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्। तथेतरस्मिन्नप्युन्माने 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे०५।८) इति च बुद्धिगुणसम्बन्धेनैवाऽऽराग्रमात्रतां शास्ति न स्वेनैवाऽऽत्मना।

भाष्यका अनुवाद

के लिए समर्थ होता है) इस प्रकार जीवको अणु कहकर उसके ही पीछे श्रुति जीवकी अनन्तताका प्रतिपादन करती है। वह तभी युक्त हो सकता है जब कि जीवका अणुत्व गौण माना जाय और आनन्त्य पारमार्थिक माना जाय, क्योंकि दोनों मुख्य नहीं हो सकते हैं। आनत्यको गौण और अणुत्वको मुख्य मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि सभी उपनिषदोंमें ब्रह्मात्मभाव-प्रतिपादन करना अभिलषित है। वैसे ही अन्य उन्मानमें भी 'बुद्धेर्गुणेन०' (बुद्धिगुणनिमित्तक आत्मामें अध्यस्त गुणसे जीव आरके अग्रपरिमाणके बराबर और अपकृष्ट समझा जाता है, स्वतः तो वह अनन्त है)

रत्नप्रभा

त्वात् आनन्त्यं सत्यम्, अणुत्वमध्यस्तम् इत्यर्थः। उक्तञ्चैतदङ्गुष्ठाधिकरणे—'प्रतिपाद्यविरुद्धमुद्देश्यगतविशेषणमविवक्षितम्' इति। बालाग्रवाक्यम् आराग्रवाक्यं चेति उन्मानद्वयमुक्तम्, तत्र आद्यं निरस्य द्वितीयं निरस्यति–**तथेतरस्मिन्नपीति**। बुद्धेः गुणेन तन्निमित्तेन आत्मनि अध्यस्तो गुणो भवति, तेनाऽऽत्मगुणेनाऽध्यस्तेनैवाऽऽराग्रपरिमाणोऽपकृष्टश्च जीवो दृष्टः स्वतस्तु अनन्त एवेत्यर्थः। 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, ऐसे द्रव्य तत्के साथ त्वम्का सामानाधिकरण्य होनेसे 'तत्त्वमसि' यह वाक्य 'सोऽहम्' इस वाक्यके समान अखण्ड अभेदार्थक होनेसे जीवकी अनन्तता ही सत्य है और अणुत्व अध्यस्त है, ऐसा अर्थ है। प्रतिपाद्य वस्तुसे विरुद्ध उद्देशगत विशेषण अविवक्षित है, ऐसा अङ्गुष्ठाधिकरणमें कहा है। बालाग्रवाक्य (बालाग्रशतभागस्य इत्यादि) और आराग्रवाक्य (आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः) ऐसे दो उन्मान—अल्पपरिमाण प्रतिपादक कहे गये हैं, उनमें आद्यका निराकरण किया जा चुका है। अब द्वितीयका निराकरण कहते हैं—"तथेतरस्मिन्नपि" इत्यादिसे। बुद्धिके गुणरूप–इस निमित्तसे आत्मामें गुण अध्यस्त होता है और उस अध्यस्त आत्मगुणसे ही जीव आराग्रपरिमाण, अपकृष्ट प्रतीत होता है, स्वतः तो वह अनन्त

भाष्य

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मु० ३।१।९) इत्यत्रापि न जीवस्याऽणुपरिमाणत्वं शिष्यते, परस्यैवाऽऽत्मनश्चक्षुराद्यनवग्राह्यत्वेन ज्ञानप्रसादगम्यत्वेन च प्रकृतत्वात्। जीवस्याऽपि च मुख्याणुपरिमाणत्वानुपपत्तेः। तस्माद् दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायमिदमणुत्ववचनमुपाध्यभिप्रायं वा द्रष्टव्यम्। तथा 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौ० ३।६) इत्येवंजातीयकेष्वपि भेदोपदेशेषु बुद्ध्यैवोपाधिभूतया जीवः शरीरं समारुह्येत्येवं योजयितव्यम्। व्यप-

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार बुद्धिगुणके सम्बन्धसे ही आराग्रपरिमाणका शासन है, अपने स्वरूपसे नहीं। 'एषोऽणुः०' (यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्तसे जानने योग्य है) इसमें भी जीवके अणुपरिमाणका उपदेश नहीं है, क्योंकि परमात्मा ही चक्षु आदिसे गृहीत न होने और ज्ञानप्रसादगम्य होनेसे प्रकृत है। और जीवका भी मुख्य अणुपरिमाण उपपन्न नहीं होता। इससे जीवको अणु कहना, 'जीव दुर्ज्ञेय है' इस अभिप्रायसे अथवा उपाधिके अभिप्रायसे है, ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार 'प्रज्ञया०' (प्रज्ञा द्वारा शरीरपर समारोहण करके) इस प्रकार भेदके उपदेशोंमें भी उपाधिरूप बुद्धिसे ही 'जीव शरीरपर समारोहण करके' ऐसी योजना करनी चाहिए। अथवा

रत्नप्रभा

तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' इत्युक्त्वा 'एषोऽणुरात्मा' (मु० ३।१।९) इत्युक्तः पर एव यदि जीवः, तथापि अध्यस्ताणुत्वमणुशब्दार्थ इत्याह—जीवस्याऽपीति। यदुक्तं पृथगुपदेशात् चैतन्यगुणेनैवाऽऽत्मनो देहव्याप्तिरिति, तत्राह—तथा प्रज्ञयेति। प्रज्ञा—बुद्धिः इत्यर्थः। यदि चैतन्यं प्रज्ञा, तदा

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही है, ऐसा तात्पर्य है। 'न चक्षुषा गृह्यते०' (नेत्रसे, वाणीसे या अन्य देवों—इन्द्रियोंसे तप या कर्म—वैदिक अग्निहोत्रादि कर्मसे उसका ग्रहण नहीं किया जाता। ज्ञानप्रसादसे विशुद्ध अन्तःकरण जिसका हुआ है वह ध्यान करता हुआ निरवयव आत्माको देखता है) ऐसा कहकर 'एषोऽणुरात्मा' (यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्तसे ही वेदनीय है) इससे प्रतिपादित परमात्मा ही यदि जीव है तो भी अध्यस्त अणुत्व अणुशब्दका अर्थ है, ऐसा कहते हैं—"जीवस्यापि" इत्यादिसे। आत्मा और प्रज्ञाका पृथक् उपदेश होनेसे चैतन्य गुण द्वारा ही आत्माकी देहके साथ व्याप्ति है, ऐसा जो कहा है, उसपर कहते हैं—"तथा प्रज्ञया" इत्यादिसे। प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि। जब प्रज्ञाका अर्थ चैतन्य हो, तब भेदका

भाष्य

देशमात्रं वा 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इत्यादिवत् । नह्यत्र गुणगुणिविभागोऽपि विद्यत इत्युक्तम् । हृदयायतनत्ववचनमपि बुद्धेरेव तदायतनत्वात् । तथोत्क्रान्त्यादीनामप्युपाध्यायत्ततां दर्शयति—'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति' (प्र० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इति । उत्क्रान्त्यभावे हि गत्यागत्योरप्यभावो विज्ञायते, नह्यनपसृप्तस्य देहाद् गत्यागती स्याताम् । एवमुपाधिगुणसारत्वाज्जीवस्याऽणुत्वादिव्यपदेशः प्राज्ञवत् । यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः

भाष्यका अनुवाद

यह 'पत्थरकी पुत्तलीका शरीर' इत्यादिके समान व्यपदेशमात्र है, क्योंकि यहां गुण और गुणीका विभाग नहीं है, ऐसा कहा जा चुका है । 'जीवका स्थान हृदय है' यह वचन भी बुद्धिके ही अभिप्रायसे है । बुद्धिका ही स्थान हृदय है, उसी प्रकार 'कस्मिन्न्वहम्०' (किसके उत्क्रान्त होनेपर मैं उत्क्रान्त होऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होनेपर प्रतिष्ठा प्राप्त करूँगा) स प्राणमसृजत' (उसने प्राण उत्पन्न किया) इस प्रकार उत्क्रान्ति आदि भी उपाधिके अधीन हैं, ऐसा (श्रुति) दिखलाती है । उत्क्रान्तिके अभावमें गति और आगतिका भी अभाव समझा जाता है, क्योंकि जो देहसे निकला न हो, उसकी गति और आगति नहीं होगी । इस प्रकार उपाधिके गुणकी प्रधानतासे जीवमें अणुत्व आदिका व्यपदेश है, प्राज्ञके समान,

---

रत्नप्रभा

भेदोपचार इत्याह—व्यपदेशमात्रं चेति । ननु चैतन्यं गुण इति भेदो मुख्योऽस्तु, नेत्याह—नह्यत्रेति । निर्गुणत्वश्रुतेः इत्यर्थः । अन्यदपि पूर्वोक्तं बुद्ध्याद्युपाधिकम् इत्याह—हृदयेत्यादिना । सौत्रं दृष्टान्तं विवृणोति—यथेति । असत्त्वमिति आपाततः । असंसारित्वम्—आपाद्यम् । शेषं सुबोधम् ॥२९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपचार है, ऐसा कहते हैं—"व्यपदेशमात्रं च" इत्यादिसे । चैतन्य गुण है, इसलिए भेद मुख्य है औपचारिक नहीं है यदि कोई ऐसा कहे, तो नहीं, ऐसा कहते हैं—नह्यत्र" इत्यादिसे । निर्गुणत्वश्रुति होनेसे, ऐसा अर्थ है । दूसरा भी जो कुछ पूर्वमें कहा है, वह बुद्धि आदि उपाधिप्रयुक्त है, ऐसा कहते हैं—"हृदय" इत्यादिसे । सौत्र दृष्टान्तका विवरण करते हैं—"यथा" इत्यादिसे । असत्त्व यह कथन आपातसे है । और असंसारित्व आपाद्य है, अवशिष्ट अंश सुगम है ॥ २९ ॥

भाष्य

सगुणेषूपासनेषूपाधिगुणसारत्वादणीयस्त्वादिव्यपदेशः—'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' (छा०३।१४।३) 'मनोमयः प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ३।१४।२) इत्येवंप्रकारः तद्वत् ॥२९॥

स्यादेतद्—यदि बुद्धिगुणसारत्वादात्मनः संसारित्वं कल्प्येत, ततो बुद्ध्यात्मनोर्भिन्नयोः संयोगावसानमवश्यंभावीत्यतो बुद्धिवियोगे सत्यात्मनो विभक्तस्याऽनालक्ष्यत्वादसत्त्वमसंसारित्वं वा प्रसज्येतेति, अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

जैसे सगुण उपासनाओंमें उपाधिके गुणोंकी प्रधानता से प्राज्ञ—परमात्मामें अणुत्व आदिका व्यपदेश है 'अणीयान्' (व्रीहिसे या यवसे विशेष अणु) 'मनोमयः०' (मनोमय, प्राणशरीर, सर्वगन्ध, सर्वरस, सत्यकाम, और सत्यसंकल्प,) इस प्रकार, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए ॥ २९ ॥

यह शङ्का हो सकती है कि यदि बुद्धिके गुणकी प्रधानतासे आत्मा संसारी है, ऐसा माना जाय तो परस्पर विभिन्न बुद्धि और आत्माके संयोगका अवसान अवश्य होगा, इसलिए बुद्धिका वियोग होनेपर विभक्त आत्माके अनालक्ष्य होनेसे उसका असत्त्व या असंसारित्व प्राप्त होगा ? इसपर उत्तर कहते हैं—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

पदच्छेद—यावदात्मभावित्वात्, च, न, दोषः, तद्दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—[बुद्धिसंयोगस्य] यावदात्मभावित्वात्—यावत् आत्मनः सम्यग्दर्शनेन संसारो न निवर्तते, तावद्भावित्वात्, न दोषः—नोक्तदोषः, [कुतः] तद्दर्शनात्—देहवियोगेऽपि तस्य बुद्धिसंयोगस्य 'समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इत्यादिश्रुतौ दर्शनात् ।

भाषार्थ—बुद्धिका संयोग जबतक आत्मज्ञानसे संसारकी निवृत्ति नहीं होती तबतक रहता है, इसलिए उक्त दोष नहीं है, क्योंकि देहका वियोग होनेपर भी बुद्धिका संयोग 'समानः०' (समान होकर दोनों लोकोंमें संचरण करता है।) इत्यादि श्रुतिमें देखा गया है ।

भाष्य

नेयमनन्तरनिर्दिष्टदोषप्राप्तिराशङ्कनीया। कस्मात्? यावदात्मभावित्वाद् बुद्धिसंयोगस्य। यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति। यावदेव चाऽयं बुद्ध्युपाधिसंबन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च। परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसंबन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणाऽस्ति। नहि नित्यमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ' (छा०६।८।७) 'तत्त्वमसि' (छा०६।१।६) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ०१।४।७) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। कथं पुनरवगम्यते—यावदात्मभाविबुद्धिसंयोग इति। तद्दर्शनादित्याह। तथा हि शास्त्रं दर्शयति—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव'

भाष्यका अनुवाद

पूर्वमें कही हुई दोषप्राप्तिकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, किससे? बुद्धिसंयोगके यावदात्मभावी होनेसे। जबतक यह आत्मा संसारी है एवं जबतक सम्यक् दर्शनसे संसार निवृत्त नहीं होता है, तबतक इसका बुद्धिके साथ संयोग नष्ट नहीं होता। और जबतक बुद्धिरूप उपाधिके साथ सम्बन्ध है, तबतक जीवका जीवत्व और संसारित्व है। वस्तुतः बुद्धिरूप उपाधिके सम्बन्धसे परिकल्पित स्वरूपसे व्यतिरिक्त जीव है ही नहीं, क्योंकि नित्य, मुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ, ईश्वरसे अन्य चेतन तत्त्व वेदान्तके अर्थका निरूपण करनेपर उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि 'नान्यदतोऽस्ति०' (इससे अन्य द्रष्टा, श्रोता, मननकर्ता या विज्ञाता नहीं है) 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि सैकड़ों श्रुतियां हैं। परन्तु बुद्धिसंयोग यावदात्मभावी है यह कैसे समझा जाता है? उसके दर्शनसे, ऐसा कहते हैं, क्योंकि 'योऽयम् विज्ञानमयः०' (जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय बुद्धिमें ज्योतिस्स्वरूप पूर्ण है, वह बुद्धिसमान होकर दोनों

रत्नप्रभा

ननु स्वतः संसारित्वमस्तु किं बुद्ध्युपाधिना इत्यत आह—यावदेव चाऽयमिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि कोई कहे कि आत्मा स्वतः संसारी हो, बुद्धिरूप उपाधिसे क्या प्रयोजन है? इसपर कहते हैं—

भाष्य

(बृ० ४।३।७) इत्यादि। तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति। प्रदेशान्तरे 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' इति विज्ञानमयस्य मनआदिभिः सह पाठात्। बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाऽभिप्रेयते, यथा लोके 'स्त्रीमयो देवदत्तः' इति स्त्रीरागादिप्रधानोऽभिधीयते, तद्वत्। 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इति च लोकान्तरगमनेऽप्यवियोगं बुद्ध्या दर्शयति, केन समानस्तयैव बुद्ध्येति गम्यते, संनिधानात्। तच्च दर्शयति—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ०४।३।७) इति। एतदुक्तं भवति—नाऽयं स्वतो ध्यायति, नाऽपि चलति, ध्यायन्त्यां बुद्धौ ध्यायतीव चलन्त्यां बुद्धौ चलतीवेति। अपि च मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽय-

भाष्यका अनुवाद

लोकोंमें संचार करता है, मानो ध्यान करता है, मानो अत्यर्थ चलन क्रिया करता है) इत्यादि शास्त्र प्रतिपादन करता है। उसमें 'विज्ञानमयः' इस पदसे बुद्धिमय यह कहा समझना चाहिए, क्योंकि अन्य प्रदेशमें 'विज्ञानमयो०' (विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय,) इस श्रुतिमें विज्ञानमयका मन आदिके साथ पाठ है। बुद्धिमयत्वसे तद्गुणसारत्व ही अभिप्रेत है। जैसे स्त्रीमें प्रेम आदिकी प्रधानतासे लोकमें 'देवदत्त स्त्रीमय है' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए। 'स समानः०' (वह समान होकर दोनों लोकोंमें संचरण करता है) यह श्रुति लोकान्तरमें गमन करनेमें आत्माका बुद्धिके साथ अवियोग दिखलाती है। किसके समान? सान्निध्यसे उस बुद्धिके समान, ऐसा समझा जाता है। उसको (सन्निधानको) श्रुति दिखलाती है—'ध्यायतीव लेलायतीव' (मानो ध्यान करता है, मानो चलन क्रिया करता है)। भाव यह है कि यह आत्मा स्वतः न तो चलता है और न ध्यान करता है, परन्तु बुद्धिके ध्यान करनेपर वह मानो ध्यान

रत्नप्रभा

समानः—बुद्धितादात्म्यापन्नः सन्। ननु विज्ञानम्—ब्रह्म, तन्मयः—विकारः अणुरित्यर्थः किं न स्यात्? इत्यत आह—प्रदेशान्तर इति। विज्ञानमयः—बुद्धिप्रचुर इत्यर्थः। केन समान इत्याकाङ्क्षायामिति शेषः। श्रुतिबलाद् बुद्धेः यावत्संसार्यात्मभावित्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

''यावदेव'' इत्यादिसे। समान—बुद्धिके साथ तादात्म्यको प्राप्त हुआ। यदि कोई कहे कि विज्ञान—ब्रह्म, तन्मय—विकार अर्थात् अणु, ऐसा अर्थ क्यों न हो? इसपर कहते हैं—''प्रदेशान्तरे'' इत्यादिसे। विज्ञानमय—बुद्धिप्रचुर, ऐसा अर्थ है। किसके समान? ऐसी आकांक्षामें इतना शेष है। श्रुतिके बलसे जबतक संसारी आत्मा है तबतक बुद्धि रहती है, ऐसा कहा जा चुका है, अब कारणके रहते

भाष्य

मात्मनो बुद्ध्युपाधिसंबन्धः । न च मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद् ब्रह्मात्मतानवबोधस्तावदयं बुद्ध्युपाधिसंबन्धो न शाम्यति । दर्शयति च—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) इति ॥३०॥

ननु सुषुप्तप्रलययोर्न शक्यते बुद्धिसम्बन्ध आत्मनोऽभ्युपगन्तुम्, 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति वचनात्, कृत्स्नविकारप्रलयाभ्युपगमाच्च । तत् कथं यावदात्मभावित्वं बुद्धिसंबन्धस्येत्यत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

करता है, एवं बुद्धिके चलनेपर मानो वह चलता है । और आत्माका बुद्धिरूप उपाधिके साथ सम्बन्ध मिथ्याज्ञानमूलक है । और मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञानके बिना नहीं हो सकती, अतः जबतक ब्रह्मात्माका अज्ञान है तबतक बुद्धिरूप उपाधिका सम्बन्ध शान्त नहीं हो सकता है । श्रुति भी कहती है—'वेदाहमेतं पुरुषम्०' (इस आत्माको, जो महान् प्रकाशरूप अन्धकारसे पर है, मैं जानता हूँ, उसीको जानकर पुरुष मृत्युका अतिक्रमण करता है, मोक्षके लिए अन्य मार्ग नहीं है) ॥ ३० ॥

सुषुप्ति और प्रलयमें बुद्धिके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं मान सकते, क्योंकि 'सता सोम्य०' (हे सोम्य ! जब पुरुष सोता है, तब सत् शब्दवाच्य देवताके साथ एकीभूत होता है और अपने स्वरूपको प्राप्त होता है) ऐसा वचन है, और सम्पूर्ण विकारके प्रलयका स्वीकार है । तो बुद्धिसम्बन्ध यावदात्मभावी किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

उक्तम्, सति मूले कार्यस्य वियोगासम्भवाच्चेति युक्त्याऽप्याह—**अपि च मिथ्येति**। सम्यग्ज्ञानादेव बुद्ध्यादिबन्धध्वंस इत्यत्र श्रुतिमाह—**दर्शयतीति** । मृत्युमत्येतीति अन्वयः । आदित्यवर्णम्—स्वप्रकाशम् । तमसः परस्तात्—अज्ञानास्पृष्टम् इत्यर्थः ॥ ३० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यका वियोग असम्भव है इस युक्तिसे भी कहते हैं—"अपि च मिथ्या" इत्यादिसे । सम्यक् ज्ञानसे ही बुद्धि आदि बन्धका ध्वंस होता है, इसमें श्रुतिप्रमाण कहते हैं—''दर्शयति'' इत्यादिसे । 'मृत्युमत्येति' (मृत्युको अतिक्रमण करता है) ऐसा अन्वय है । आदित्यवर्णम्—स्वप्रकाश । तमसः परस्तात्—अज्ञानसे असम्बद्ध, ऐसा अर्थ है ॥ ३० ॥

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

पदच्छेद—पुंस्त्वादिवत्, तु, अस्य, सतः, अभिव्यक्तियोगात्।

पदार्थोक्ति—पुंस्त्वादिवत्—यथा बाल्ये पुंस्त्वादेः सत एव यौवने अभिव्यक्तिः, तद्वत्, अस्य—बुद्धिसंयोगस्य, सतः—सुषुप्तौ सूक्ष्मात्मना वर्तमानस्यैव, अभिव्यक्तियोगात्—अभिव्यक्तिसंभवात् [यावदात्मभावित्वं न विरुद्धयते]।

भाषार्थ—जैसे बाल्यावस्थामें विद्यमान ही पुंस्त्व आदिका यौवनमें विकास होता है, उसी भांति सुषुप्ति अवस्थामें सूक्ष्मरूपसे विद्यमान बुद्धिसंयोगकी अभिव्यक्ति होती है, इसलिए बुद्धिसंयोगका जबतक आत्मा रहे तबतक रहना विरुद्ध नहीं है।

भाष्य

यथा लोके पुंस्त्वादीनि बीजात्मना विद्यमानान्येव बाल्यादिष्वनुपलभ्यमानान्यविद्यमानवदभिप्रेयमाणानि यौवनादिष्वाविर्भवन्ति नाऽविद्यमानान्युत्पद्यन्ते, षण्ढादीनामपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। एव-

भाष्यका अनुवाद

जैसे लोकमें पुंस्त्व आदि बीजरूपसे विद्यमान ही बाल्य आदिमें अनुपलब्ध अतएव अविद्यमानके समान स्वीकृत यौवन आदिमें आविर्भूत होते हैं, अविद्यमान उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि षण्ढ आदिमें भी उनकी उत्पत्ति

रत्नप्रभा

यावदात्मभावित्वस्य असिद्धिं शङ्कते—नन्विति। सुषुप्तौ बुद्धिसत्त्वे ब्रह्मसम्पत्तिः न स्यात्, प्रलये तत्सत्त्वे प्रलयव्याहतिरित्यर्थः। स्थूलसूक्ष्मात्मना बुद्धेः यावदात्मभावित्वम् अस्तीत्याह—पुंस्त्वेति। पुंस्त्वम्—रेतः। आदिपदेन श्मश्र्वादिग्रहः। अस्य—बुद्धिसम्बन्धस्येत्यर्थः। स्वापे बीजात्मना सतो

रत्नप्रभाका अनुवाद

बुद्धिसम्बन्ध यावदात्मभावी है, यह असिद्ध है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। सुषुप्तिमें बुद्धि रहे तो ब्रह्मसम्पत्ति नहीं होगी, यदि प्रलयमें वह रहे तो प्रलयका ही व्याघात होगा, ऐसा अर्थ है। स्थूल और सूक्ष्म रूपसे बुद्धिमें यावदात्मभावित्व है, ऐसा कहते हैं—"पुंस्त्व" इत्यादिसे। पुंस्त्व-रेत अर्थात् वीर्य। आदिशब्दसे श्मश्रु—मूछ आदिका

भाष्य

मयमपि बुद्धिसंबन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोधप्रसवयोराविर्भवति । एवं ह्येतद् युज्यते, नह्याकस्मिकी कस्यचिदुत्पत्तिः संभवति, अतिप्रसङ्गात् । दर्शयति च सुषुप्तादुत्थानमविद्यात्मकबीजसद्भावकारितम्—'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति' 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' (छा० ६।९।३) इत्यादिना । तस्मात् सिद्धमेतद् यावदात्मभावी बुध्याद्युपाधिसंबन्ध इति ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

माननी पड़ेगी, इसी प्रकार वह बुद्धिसम्बन्ध भी सुषुप्ति और प्रलयमें शक्तिस्वरूपसे वर्तमान ही पुनः प्रबोध और प्रसवमें आविर्भूत होता है, क्योंकि इसी प्रकार यह युक्त है । किसी की आकस्मिक उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा । और 'सति सम्पद्य०' (सुषुप्ति आदि अवस्थामें सत् शब्दवाच्य देवताके साथ एकीभूत होकर 'हम सत्के साथ एकीभूत हैं' ऐसा नहीं जानते । इसलिए 'त इह०' (इस लोकमें बाघ या सिंह जो पूर्वमें होते हैं, वही होते हैं) इत्यादि श्रुति अविद्यात्मक बीजके सद्भावसे किया हुआ सुषुप्तिसे उत्थान दिखलाती है । अतः बुद्धिरूप उपाधिका सम्बन्ध यावदात्मभावी है, यह सिद्ध हुआ ॥३१॥

रत्नप्रभा

बुद्ध्यादेः प्रबोधेऽभिव्यक्तिरित्यत्र श्रुतिमाह—दर्शयतीति । न विदुरिति अविद्यात्मकबीजसद्भावोक्तिः । ते व्याघ्रादयः पुनराविर्भवन्तीति अभिव्यक्तिनिर्देशः ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ग्रहण है, इसका—बुद्धि-सम्बन्धका ऐसा अर्थ है । सुषुप्तिमें बीजरूपसे वर्तमान बुद्धि आदिकी जाग्रत् अवस्थामें अभिव्यक्ति है, उसमें श्रुति कहते हैं—''दर्शयति'' इत्यादिसे । 'न विदुः' इन शब्दोंसे अविद्यात्मक बीजका सद्भाव कहा है । ते व्याघ्रादयः पुनराविर्भवन्ति—वे व्याघ्रादिरूपसे फिर आविर्भूत होते हैं, इस प्रकार अभिव्यक्तिका निर्देश है ॥ ३१ ॥

(१) संसारमें जितने कार्य हैं वे सब किसी कारणसे उत्पन्न हुआ करते हैं, कारणके बिना कार्य नहीं होता है, यदि कारणके बिना कार्य उत्पन्न होता है, ऐसा माना जाय तो घटके लिए मृत्तिकाका पटके लिए तन्तुका उपादान घटार्थी और पटार्थीके लिए व्यर्थ होगा । किञ्च, आकस्मिक कार्यवादमें आकाश प्रभृतिमें गन्धादिकी उत्पत्ति भी प्रसक्त होगी, इसी अतिप्रसङ्गको लेकर भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'नहि आकस्मिकी कस्यचिद्' इत्यादिसे ।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा॥३२॥

पदच्छेद— नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः, अन्यतरनियमः, वा, अन्यथा।

पदार्थोक्ति—[अन्तःकरणमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्] अन्यथा—अन्तःकरणानभ्युपगमे, नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः—सर्वेषामिन्द्रियाणां स्वस्वविषयसन्निधानदशायां युगपत् सर्वविषयोपलब्धिप्रसङ्गः, मनोऽव्यतिरिक्तज्ञानसामग्र्याः सत्त्वात्; यदि सत्यामपि सामग्र्यां ज्ञानाभावस्तदा नित्यमनुलब्धिप्रसंगः, वा—अथवा—[एकस्योपलब्धिमितरेषामनुपलब्धिमिच्छता ज्ञानसामग्रीमध्ये] अन्यतरनियमः—अन्यतरस्य—आत्मन इन्द्रियस्य वा, नियमः—शक्तिप्रतिबन्धः [अङ्गीकार्यः, स न सम्भवति, निर्धर्मे आत्मनि शक्तेरभावात्। नापि इन्द्रियस्य शक्तिः, आन्तरत्वेन तद्धर्मत्वायोगात्। तस्माद् व्यासंगस्थले इच्छैव नियामिका। तस्याश्च मनोधर्मत्वेन, तदन्यथानुपपत्त्या 'कामः सङ्कल्पः' इत्यादिश्रुत्या च सिद्धमन्तःकरणम्, तत्प्रयुक्तश्चात्मनि अणुत्वादिव्यवहारः इति तस्मादौपाधिकाणुत्वश्रुत्या न वास्तविकसर्वगतत्वश्रुतेर्विरोध इति सिद्धम्।

भाषार्थ—मनको अवश्य मानना चाहिए, यदि मन न माना जाय, तो सब इन्द्रियोंके अपने अपने विषयोंकी सन्निधि होनेपर एक ही समयमें सब विषयोंका ज्ञान होगा, क्योंकि मनको छोड़कर और ज्ञानकी सामग्री विद्यमान है। यदि सामग्रीके रहनेपर ज्ञान न हो, तो कभी भी विषयोंकी उपलब्धि नहीं होगी। अथवा एककी उपलब्धि औरोंकी अनुपलब्धिकी इच्छा करनेवालेको ज्ञानसामग्रीमें से आत्मा या मनकी शक्तिका प्रतिबन्ध मानना चाहिए। वह नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मशून्य आत्मामें शक्ति नहीं है, इन्द्रियकी भी शक्ति नहीं है, क्योंकि शक्ति आन्तर होनेसे इन्द्रियधर्म नहीं हो सकती। इससे मानना होगा कि अवधानस्थलमें इच्छा ही नियामिका है। इच्छा मनका धर्म है, मनको न माननेमें इच्छाकी उपपत्ति न होनेसे और 'कामः सङ्कल्पः' (काम, संकल्प, इच्छा, श्रद्धा, अश्रद्धा ये सब मन हैं) इत्यादि श्रुतिसे अन्तःकरणकी सिद्धि होती है। मनःप्रयुक्त ही आत्मामें अणुत्व आदि व्यवहार होता है। इससे सिद्ध हुआ कि औपाधिक अणुत्व श्रुतिसे वास्तविक सर्वगतत्व श्रुतिका विरोध नहीं है।

भाष्य

तच्चाऽऽत्मन उपाधिभूतमन्तःकरणं मनो बुद्धिर्विज्ञानं चित्तमिति चाऽनेकधा तत्र तत्राऽभिलप्यते। क्वचिच्च वृत्तिविभागेन संशयादिवृत्तिकं मन इत्युच्यते, निश्चयादिवृत्तिकं बुद्धिरिति। तच्चैवंभूतमन्तःकरणमवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा ह्यनभ्युपगम्यमाने तस्मिन् नित्योपलब्ध्य-

भाष्यका अनुवाद

आत्माका उपाधिभूत वह अन्तःकरण भिन्न-भिन्न स्थलोंपर मन, बुद्धि, विज्ञान और चित्त इत्यादि अनेक प्रकारसे कहा जाता है। कहीं वृत्तिके विभागसे संशय आदि वृत्तिवाला होनेसे मन कहा जाता है एवं निश्चय आदि वृत्ति होनेपर बुद्धि-शब्दसे कहा जाता है। इस प्रकारके अन्तःकरण का अवश्य स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा—यदि उसका स्वीकार न किया जाय, तो नित्य उपलब्धि, या

रत्नप्रभा

बुद्धिसद्भावे मानमाह सूत्रकारः—**नित्येति**। 'मनसा ह्येव पश्यति' (बृ० १।५।३) 'बुद्धिश्च न विचेष्टते' (क० ६।१०) 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २।५।१) 'चेतसा वेदितव्यः' (मु० १।१) 'चित्तं च चेतयितव्यं च' (प्र० ४।८) इति तत्र तत्र श्रुतिषु मनआदिपदवाच्यं तावद् बुद्धिद्रव्यं प्रसिद्धमित्यर्थः। कथमेकस्य अनेकधोक्तिः तत्राह—**क्वचिच्चेति**। गर्ववृत्तिकोऽहङ्कारः—विज्ञानम्, चित्प्रधानं स्मृतिप्रधानं वा चित्तम् इत्यपि द्रष्टव्यम्। यद्यपि साक्षिप्रत्यक्षसिद्धमन्तःकरणम् श्रुत्यनूदितं च, तथापि प्रत्यक्षश्रुत्योर्विवदमानं प्रति व्यासङ्गानुपपत्त्या तत् साधयति—**तच्चेत्यादिना**। सूत्रं योजयति—**अन्यथेति**। पञ्चेन्द्रियाणां पञ्चविषयसम्बन्धे सति नित्यं युगपत् पञ्चोपलब्धयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

बुद्धिके सद्भावमें सूत्रकार प्रमाण कहते हैं—"नित्य" इत्यादिसे 'मनसा ह्येव पश्यति'। (मनसे ही देखता है) 'बुद्धिश्च न विचेष्टते' (और बुद्धि चेष्टा नहीं करती है) 'विज्ञानं यज्ञम्' (विज्ञान यज्ञ करता है) 'चेतसा०' (चित्तसे जानना चाहिए) 'चित्तञ्च०' (चित्तको जानना युक्त है) इत्यादि तत् तत् प्रदेशोंमें श्रुतियोंमें मन आदि पदवाच्य बुद्धिरूप द्रव्य प्रसिद्ध है, ऐसा अर्थ है। एक अनेक प्रकारसे कैसे कहा गया? इसपर कहते हैं—"क्वचिच्च" इत्यादिसे। गर्ववृत्तिवाला अहंकार विज्ञान है। चित्प्रधान अथवा स्मृतिप्रधान चित्त है, ऐसा समझना चाहिए। यद्यपि अन्तःकरण साक्षीसे प्रत्यक्ष सिद्ध है और श्रुति उसका अनुवाद करती है, तथापि प्रत्यक्ष और श्रुतिमें विवाद करनेवालेके प्रति व्यासङ्ग (अवधान) की अनुपपत्तिसे उसको सिद्ध करते हैं "तच्च" इत्यादिसे। सूत्रकी योजना करते हैं—"अन्यथा" इत्यादिसे।

भाष्य

नुपलब्धिप्रसङ्गः स्यात्, आत्मेन्द्रियविषयाणामुपलब्धिसाधनानां संनिधाने सति नित्यमेवोपलब्धिः प्रसज्येत। अथ सत्यपि हेतुसमवधाने फलाभावस्ततो नित्यमेवाऽनुपलब्धिः प्रसज्येत। न चैवं दृश्यते। अथवाऽन्यतरस्याऽऽत्मन इन्द्रियस्य वा शक्तिप्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः। न चाऽऽत्मनः शक्तिप्रतिबन्धः संभवति, अविक्रियत्वात्। नाऽपीन्द्रियस्य, नहि तस्य पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर-

भाष्यका अनुवाद

अनुपलब्धिका प्रसङ्ग आवेगा। आत्मा, इन्द्रिय और विषय जो उपलब्धिके साधन हैं उनके सन्निधानमें नित्य ही उपलब्धि प्रसक्त होगी, यदि हेतुके सन्निधानके रहते भी फलका अभाव हो तो सर्वदा अनुपलब्धि ही प्रसक्त होगी, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। अथवा आत्मा या इन्द्रिय, इन दोनोंमें से एककी शक्तिके प्रतिबन्धका स्वीकार करना चाहिए। आत्माकी शक्तिका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह अविकारी है, इसी प्रकार इन्द्रियकी भी शक्तिका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि

रत्नप्रभा

स्युः, मनोऽतिरिक्तसामग्र्याः सत्त्वात्। यदि सत्यामपि सामग्र्यामुपलब्ध्यभावः, तर्हि सदैव अनुपलब्धिप्रसङ्ग इत्यर्थः। अतः कादाचित्कोपलब्धिनियामकं मन एष्टव्यमिति भावः। ननु सत्यपि कराग्निसंयोगे दाहकादाचित्कत्ववद् उपलब्धि-कादाचित्कत्वमस्तु, किं मनसा इत्याशङ्क्याऽन्यतरनियमो वा इत्येतद् व्याचष्टे— **अथवेति**। सत्यां सामग्र्यां नित्योपलब्धिः वा अङ्गीकार्या, अन्यतरस्य कारणस्य केनचित् शक्तिप्रतिबन्धनियमो वा अङ्गीकार्यः, यथा मणिनाऽग्निशक्तिप्रतिबन्ध इति वाकारार्थः। अस्तु प्रतिबन्ध इत्यत आह—**न चेति**। न चेन्द्रियस्यैव अस्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

पांच इन्द्रियोंका पांच विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर नित्य—एक कालमें पांच उपलब्धियां होंगी क्योंकि मनसे अन्य सामग्री है। यदि सामग्रीके रहनेपर भी उपलब्धिका अभाव हो, तो सदा ही अनुपलब्धिका प्रसङ्ग आवेगा, ऐसा अर्थ है। अतः कादाचित्क उपलब्धिके नियामक मनका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा भाव है। जैसे अग्नि और हाथका संयोग होनेपर भी दाह कादाचित्क है, वैसे उपलब्धि भी कादाचित्क होगी मनका क्या प्रयोजन है? ऐसी आशङ्का करके 'अन्यतर नियमो वा' इस सूत्रभागका व्याख्यान करते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। सामग्रीके रहनेपर नित्य उपलब्धिका स्वीकार करना चाहिए अथवा अन्यतर कारणका किसी हेतुसे शक्तिप्रतिबन्धरूप नियमका स्वीकार करना चाहिए। जैसे मणिसे अग्निकी शक्तिका प्रतिबन्ध होता है, ऐसा वाकारका अर्थ है। प्रतिबन्ध मानो, इसपर कहते हैं—'न च'

भाष्य

प्रतिबद्धशक्तिकस्य सतोऽकस्माच्छक्तिः प्रतिबध्येत, तस्माद् यस्याऽवधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः। तथा च श्रुतिः—'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (बृ० १।५।३) इति, 'मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति' (बृ० १।५।३) इति। कामाद-

भाष्यका अनुवाद

पूर्व और उत्तर क्षणमें अप्रतिबद्धशक्तिवालेकी शक्ति अकस्मात् प्रतिबद्ध नहीं होगी, इससे जिसके सन्निधान और असन्निधानसे उपलब्धि और अनुपलब्धि होती है वह मन है। तथा च श्रुति है—'अन्यत्रमना'० (मन अन्यत्र था, अतः मैंने नहीं देखा, और नहीं सुना। 'मनसा ह्येव'० (मनसे ही देखता है, मनसे सुनता है)

रत्नप्रभा

शक्तिप्रतिबन्ध इति वाच्यम्, प्रतिबन्धकाभावात्। न च दृष्टसामाग्र्यां सत्यां अदृष्टं प्रतिबन्धकमिति युक्तम्, अतिप्रसंगात। न च व्यासंगः प्रतिबन्धकः, मनोऽसत्त्वे तस्याऽसम्भवात। तथा हि—रसादीनां सहोपलब्धिप्राप्तौ रसबुभुत्सारूपो व्यासंगो रूपाद्युपलब्धिप्रतिबन्धको वाच्य', स च गुणत्वाद् रूपवद्गुण्याश्रयः, तत्राऽऽत्मनोऽसंगनिर्गुणकूटस्थस्य गुणित्वायोगात् मन एव गुणित्वेन एष्टव्यमिति व्यासंगानुपपत्त्या मनःसिद्धिः। एतदभिप्रेत्य उपसंहरति—तस्मादिति। अवधानम्—बुभुत्सा। न चाऽनिच्छतोऽपि दुर्गन्धाद्युपलम्भान्न बुभुत्सा उपलब्धिनियामिकेति वाच्यम्, अनेकविषयसन्निधौ क्वचिदेव तस्या नियामकत्वाङ्गीकारात्। येषां मते पुनरिच्छादीनामात्मधर्मत्वम्, तेषां मन एव दुर्लभमिति मन्तव्यम्। इच्छादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। इन्द्रियकी शक्तिका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिबन्धकका अभाव है। जबतक दृष्टसामग्री हो, तबतक अदृष्टको प्रतिबन्धक मानना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे अतिप्रसङ्ग होगा। और व्यासङ्ग (अवधान) प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, क्योंकि मनके न होनेसे उसका (मनका) व्यासङ्ग असम्भव है। रस आदिकी एक साथ उपलब्धि प्राप्त होनेपर रसकी उपलब्धिकी इच्छारूप व्यासङ्गको रूप आदिकी उपलब्धिका प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, और वह (व्यासङ्ग) गुण होनेसे रूपके समान गुणीका आश्रित है, उसमें आत्मा असङ्ग, निर्गुण, कूटस्थ होनेसे गुणी नहीं हो सकता, अतः मनका ही गुणीरूपसे स्वीकार करना पड़ेगा, इस प्रकार व्यासङ्गकी अनुपपत्तिसे मनकी सिद्धि है, इसी अभिप्रायसे उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। अवधान—अनुभव या स्मरण करनेकी इच्छा। जो इच्छा नहीं करता उसको भी दुर्गन्ध आदिका उपलम्भ होनेसे बोधकी इच्छा उपलब्धिकी नियामिका नहीं है, यह कथन युक्त

भाष्य

यश्चाऽस्य वृत्तय इति दर्शयति—'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति । तस्माद् युक्तमेतत् 'तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः' इति ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

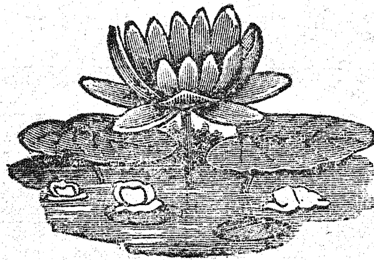
और काम आदि इसकी वृत्तियां हैं—'कामः संकल्पः'० (काम, संकल्प, संशय, ज्ञान, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, प्रज्ञा, भय ये सब मन ही हैं) ऐसी श्रुति है । इससे 'तद्गुणसारत्वात्०' यह युक्त है ॥३२॥

रत्नप्रभा

धर्मिणैवाऽऽत्मना व्यासंगोपपत्तेः । सम्प्रति व्यासंगस्य मानसत्त्वे श्रुतिमाह—**तथा चेति**। न केवलं व्यासंगात् मनःसिद्धिः, किन्तु कामाद्याश्रयत्वेनाऽपि इत्याह—**कामादयश्चेति** । बुद्धेः प्रामाणिकत्वोक्तिफलमाह—**तस्मादिति** ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, क्योंकि अनेक विषयोंकी सन्निधिमें क्वचित् ही वह नियामक है, ऐसा स्वीकार है । जिनके मतमें इच्छा आदि आत्माके धर्म हैं उनको मनके अस्तित्वका प्रतिपादन करना कठिन है, ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि इच्छा आदिके धर्मीरूप आत्मासे ही व्यासङ्ग उपपन्न है । अब व्यासङ्गके लिए प्रमाण कहते हैं—''तथा च'' इत्यादिसे । केवल अवधानसे मनकी सिद्धि नहीं होती, बल्कि काम आदिका आश्रय होनेसे भी मन सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—''कामादयश्च'' इत्यादिसे । बुद्धि प्रामाणिक—प्रमाणसिद्ध है, इस उक्तिका फल कहते हैं—''तस्मात्'' इत्यादिसे ॥३२॥



[१४ कर्त्रधिकरण सू० ३३—३९]

जीवोऽकर्ताऽथवा कर्ता धियः कर्तृत्वसम्भवात् ।
जीवकर्तृतया किं स्यादित्याहुः सांख्यमानिनः ॥ १ ॥
करणत्वाच्च धीः कर्त्री यागश्रवणलौकिकाः ।
व्यापारा न विना कर्त्रा तस्माज्जीवस्य कर्तृता ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीव अकर्ता है या कर्ता है ।

पूर्वपक्ष—साङ्ख्यसिद्धान्ती कहते हैं कि बुद्धिको कर्ता माननेसे काम चल जायगा, पुनः जीव क्यों कर्ता माना जाय ?

सिद्धान्त—बुद्धि करण होनेसे कर्ता नहीं हो सकती और याग, श्रवण और लौकिक कृष्यादि व्यापार कर्ताके विना नहीं हो सकते हैं, अतः जीवको कर्ता मानना चाहिए ।

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—कर्ता, शास्त्रार्थवत्त्वात् ।

पदार्थोक्ति—कर्ता—आत्मैव कर्ता न बुद्धिः, [कुतः] शास्त्रार्थवत्त्वात्—कर्तुरपेक्षितोपायबोधकविधिशास्त्रस्य सार्थकत्वात् । [यदि बुद्धिः कर्त्री, फलभोक्ता च आत्मा इति उच्येत तर्हि तादृशविधिशास्त्रमनर्थकमापद्येत । अतो न केवलं बुद्धेः कर्तृत्वम्, अपि तु आत्मन इति] ।

भाषार्थ—आत्मा ही कर्ता है बुद्धि कर्त्री नहीं है, क्योंकि कर्ताके अपेक्षित उपायोंका बोध करानेवाला विधिशास्त्र सार्थक है । यदि बुद्धि कर्त्री है और फलका भोग करनेवाला आत्मा है, ऐसा कहा जाय, तो तथोक्त विधिशास्त्र निरर्थक हो जायगा । इसलिए केवल बुद्धि कर्त्री नहीं है, किन्तु आत्मा कर्ता है ।

---

* भाव यह है कि बुद्धिके परिणामिनी होनेसे क्रियाविशात्मक कर्तृत्व उसमें हो सकता है, आत्मा तो असङ्ग है, अतः उक्त कर्तृत्वकी उसमें सम्भावना नहीं है, इस प्रकार जो साङ्ख्यवादियोंने कहा है यह असङ्गत है, क्योंकि करणत्वेन प्रसिद्ध बुद्धिमें कर्तृशक्तिकी कल्पना करना युक्त नहीं है, कारण कि कुठार आदिमें ऐसा नहीं देखा जाता है । बुद्धि यदि कर्त्री मानी जाय, तो अन्य करणकी कल्पना करनी होगी । तब कर्ता ही न मानो, यह युक्त नहीं है, क्योंकि कर्मकाण्डमें याग आदि व्यापार और वेदान्तमें श्रवण आदि व्यापार और लोकमें कृषि आदि व्यापार सर्वदा कर्ताकी अपेक्षा करते हैं, इससे जीव कर्ता है, यह स्वीकार करना चाहिए ।

भाष्य

तद्गुणसारत्वाधिकारेणैवाऽपरोऽपि जीवधर्मः प्रपञ्च्यते। कर्ता चाऽयं जीवः स्यात्। कस्मात्? शास्त्रार्थवत्त्वात्। एवञ्च 'यजेत' 'जुहुयात्' 'दद्यात्' इत्येवंविधं शास्त्रमर्थवद् भवति। अन्यथा तदनर्थकं स्यात्।

भाष्यका अनुवाद

तद्गुणसारत्वके प्रसङ्गसे ही अन्य जीवधर्मका भी विस्तारसे विचार किया जाता है। जीव कर्ता हो सकता है। किससे? इससे कि जीव शास्त्रप्रतिपाद्य फलका अधिकारी है। इस प्रकार 'यजेत' (यज्ञ करे) 'जुहुयात' (होम करे) 'दद्यात्' (दान करे) इत्यादि विधिशास्त्र सार्थक होता है, अन्यथा

रत्नप्रभा

एवम् आत्मनि अणुत्वाध्यासोक्त्या स्वाभाविकं महत्त्वं स्थापितम्, सम्प्रति ततो बहिष्ठं कर्तृत्वं साधयति—**कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्**। स नित्यश्चिद्रूपो महानात्मा कर्ता न वा इति असंगत्वश्रुतीनां विध्यादिश्रुतीनां च विप्रतिपत्त्या संशये बुद्धिकर्तृत्वेनैव विध्यादिशास्त्रोपपत्तेः अकर्ताऽऽत्मेति सांख्यपक्षप्राप्तौ सिद्धान्तयन्नेव तद्गुणसारत्वोक्त्या आत्मनि कर्तृत्वाध्यासस्याऽपि सिद्धत्वात् पुनरुक्तिमाशङ्क्य साङ्ख्यपक्षनिरासार्थम् आत्मनि कर्तृत्वाध्यासप्रपञ्चनात् न पुनरुक्तिरित्याह—**तद्गुणेति**। अधिकारः—प्रसङ्गः, वस्तुतः असङ्गत्वम्, अविद्यातः कर्तृत्वम् इति असङ्गत्वकर्तृत्वश्रुतीनाम् अविरोधोक्तेः कर्तृत्वविचारात्मकाधिकरणत्रयस्य पादसंगतिः। श्रुतीनां मिथोविरोधाविरोधौ पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम्। यद्वाऽत्र पूर्वपक्षे बन्धा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्त रीतिसे आत्मामें अणुत्वका अध्यास कहनेसे आत्मामें स्वाभाविक महत्त्वका स्थापन किया गया, अब उससे अन्यमें कर्तृत्वका साधन करते हैं—"कर्ता च शास्त्रार्थवत्त्वात्" इस सूत्र से। वह नित्य चिद्रूप महान् आत्मा कर्ता है या नहीं, इस प्रकार असङ्गत्वप्रतिपादक श्रुतियों और विधि आदि बोधक श्रुतियोंमें परस्पर विप्रतिपत्तिमूलक संशय होनेपर विज्ञानको कर्ता माननेमें विध्यादि शास्त्रकी उपपत्ति होनेसे अकर्ता आत्मा है, इस प्रकार सांख्यका पक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हुए भाष्यकार 'तद्गुणसारत्वके कथनसे आत्मामें कर्तृत्वका भी अध्यास सिद्ध है, अतः पुनरुक्ति है' इस प्रकार आशङ्का करके सांख्यपक्षके निरासके लिए आत्मामें कर्तृत्वके अध्यासका निरूपण होनेसे पुनरुक्ति नहीं है, यह कहते हैं—"तद्गुण" इत्यादिसे। अधिकार—प्रसङ्ग। वस्तुतः आत्मा असङ्ग है और अविद्यासे उसमें कर्तृत्व है, इस प्रकार असङ्गत्व श्रुति और कर्तृत्वश्रुतिका अविरोध कहनेसे कर्तृत्वविचारात्मक तीन अधिकरणोंकी इस पादके साथ सङ्गति है। श्रुतियोंका परस्पर विरोध और अविरोध पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका फल है। अथवा इस पूर्वपक्षमें बन्धके अभावसे शास्त्रका वैयर्थ्य

भाष्य

तद्धि कर्तुः सतः कर्तव्यविशेषमुपदिशति। न चाऽसति कर्तृत्वे तदुपपद्येत। तथेदमपि शास्त्रमर्थवद् भवति—'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्र० ५।९) इति ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

वह अनर्थक होगा, क्योंकि उक्त शास्त्र कर्ताके रहनेपर कर्तव्यविशेषका उपदेश करता है, कर्ताके अभावमें उसकी उपपत्ति नहीं होगी, इसी प्रकार 'एष हि द्रष्टा०' (यह आत्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा और विज्ञानस्वरूप है) यह शास्त्र भी सार्थक होता है ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभा

भावात् शास्त्रवैयर्थ्यं फलम्, सिद्धान्ते कर्तृत्वादिसम्बन्धसत्त्वात् शास्त्रार्थवत्ता इति भेदः। ननु बुद्धिकर्तृत्वेन शास्त्रार्थवत्ताऽस्तु किं जीवकर्तृत्वेन तत्राह—**तद्धि कर्तुः सत इति**। मयेदं कर्तव्यम् इति बोधसमर्थस्य चेतनस्यैव कर्तृत्वं वाच्यम्, न स्वचेतनाया बुद्धेः। किञ्च, भोक्तुः आत्मन एव कर्तृता वाच्या, 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' इति न्यायात् इति भावः ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

फल है, सिद्धान्तमें कर्तृत्व आदिका सम्बन्ध होनेसे शास्त्र सार्थक है, इस प्रकार भेद है। यदि कोई कहे कि बुद्धिको कर्ता माननेसे शास्त्र सार्थक होगा? जीवको कर्ता माननेका क्या प्रयोजन है? इसपर कहते हैं—"तद्धि कर्तुः सतः" इत्यादिसे। 'मया इदं कर्तव्यम्' (मुझे यह करना है) इस प्रकार ज्ञानके लिए समर्थ चेतनको ही कर्ता मानना होगा, अचेतन बुद्धिको नहीं। किञ्च, 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' (विधिजन्य फल अनुष्ठानकर्ताको होता है) इस न्यायसे भोग करनेवाले आत्माको ही कर्ता मानना चाहिए ॥ ३३ ॥

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

पदार्थोक्ति—विहारोपदेशात्—'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' इति जीवप्रकरणे स्वप्नावस्थायां सञ्चरणोपदेशात् [अकर्तुः सञ्चरणायोगात् आत्मनः कर्तृत्वम्]।

भाषार्थ—'स्वे०' (अपने शरीरमें इच्छानुसार विहार करता है) इस प्रकार जीवके प्रकरणमें स्वप्नावस्थामें आत्माका शरीरमें सञ्चरणका उपदेश है। जो कर्ता नहीं है, उसका सञ्चरण नहीं हो सकता। अतएव आत्मा कर्ता है।

भाष्य

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वम्, यज्जीवप्रक्रियायां संध्ये स्थाने विहारमुपदिशति—'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१२) इति, 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २।१।१८) इति च ॥ ३४ ॥

भाष्यका अनुवाद

इससे भी जीव कर्ता है, क्योंकि जीवके प्रकरणमें स्वप्नावस्थामें 'स ईयतेऽमृतो०' (वह अमृत जीव जहाँ इच्छा होतीहै, वहाँ जाता है) यह श्रुति विहारका उपदेश करती है, एवं 'स्वे शरीरे०' (अपने ही शरीरमें इच्छानुसार परिवर्तन करता है) ऐसी दूसरी श्रुति भी विहारका उपदेश करती है ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभा

विहारोपदेशात्। सन्ध्यं स्थानम्—स्वप्नः, अमृतः स आत्मा यथेष्टम् ईयते—गच्छतीति विहारोपदेशाद् आत्मा कर्ता ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सन्ध्यं स्थानम्—स्वप्न, अमृत आत्मा अपनी इच्छाके अनुसार संचरण करता है, इस प्रकार विहारके उपदेशसे भी आत्मा कर्ता है ॥ ३४ ॥

उपादानात् ॥ ३५ ॥

पदार्थोक्ति—उपादानात्—'प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति आत्मन इन्द्रियशक्तिग्रहणश्रवणात् [अकर्तुरुपादानायोगात् आत्मनः कर्तृत्वम्]।

भाषार्थ—'प्राणानाम्०' (इन्द्रियोंकी शक्तिका बुद्धिसे ग्रहण करके) इस प्रकार आत्माका इन्द्रियोंकी शक्तिका ग्रहण सुना जाता है, जो कर्ता नहीं है, वह ग्रहण नहीं कर सकता, अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा कर्ता है।

भाष्य

इतश्चाऽस्य कर्तृत्वम्, यज्जीवप्रक्रियायामेव करणानामुपादानं संकीर्त-

भाष्यका अनुवाद

इससे भी जीव कर्ता है कि जीवके प्रकरणमें श्रुति इन्द्रियोंके उपादानका

रत्नप्रभा

उपादानात्। कर्ता प्राणानां मध्ये विज्ञानेन—बुद्ध्या विज्ञानसमर्थम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"उपादानात्"। कर्ता प्राणोंमेंसे बुद्धिद्वारा विज्ञानके लिए समर्थ इन्द्रियसमुदायको लेकर सोता है, इस

भाष्य

यति—'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति, 'प्राणान् गृहीत्वा' (बृ० २।१।१८) इति च ॥ ३५ ॥

भाष्यका अनुवाद

वर्णन करती है—'तदेषां प्राणानाम्०' (स्वप्नावस्थामें इन वागादिप्राणोंके विज्ञानसे विज्ञानको लेकर) और 'प्राणान् गृहीत्वा' (प्राणोंका ग्रहण करके) इत्यादिसे ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभा

इन्द्रियजातम् आदाय शेते इति प्राणान् गृहीत्वा परिवर्तते इति उपादानकर्तृत्वम् आत्मनः। अकर्तृत्वे उपादानानुपपत्तेरिति भावः ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार प्राणोंका ग्रहण करके संचरण करता है, अतः उपादानकर्तृत्व आत्मामें है, यदि उसको कर्ता न माना जाय, तो उपादानत्वकी अनुपपत्ति होगी, ऐसा भाव है ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—व्यपदेशात्, च, क्रियायाम्, न, चेत्, निर्देशविपर्ययः।

पदार्थोक्ति—च—अपि, क्रियायाम्—'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादौ लौकिक-वैदिकक्रियायाम्, व्यपदेशात्—विज्ञानशब्दवाच्यस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वव्यपदेशात्; न चेत्—यदि विज्ञानशब्दो बुद्धिपरो जीवपरो न चेत्, [तर्हि] निर्देश-विपर्ययः—बुद्धेः करणत्वेन विज्ञानमिति कर्तृत्वनिर्देशस्य विज्ञानेनेति करणत्व-विपर्ययः स्यात्।

भाषार्थ—और 'विज्ञानम्०' (विज्ञान यज्ञ करता है) इत्यादि श्रुतिमें लौकिक और वैदिक क्रियाका विज्ञानशब्दवाच्य आत्मा कर्ता कहा गया है। यदि विज्ञानशब्दको बुद्धिपरक मानो जीवपरक न मानो, तो बुद्धिके करण होनेसे 'विज्ञानम्' इस प्रकार कर्तृनिर्देशके स्थानमें 'विज्ञानेन' इस प्रकार करणनिर्देश होनेसे निर्देशविपर्यय होगा।

भाष्य

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वम्, यदस्य लौकिकीषु वैदिकीषु च क्रियासु कर्तृत्वं व्यपदिशति शास्त्रम्—'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै० २।५।१) इति। ननु विज्ञानशब्दो बुद्धौ समधिगतः, कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यत इति। नेत्युच्यते जीवस्यैवैष निर्देशो न बुद्धेः। न चेज्जीवस्य स्यान्निर्देशविपर्ययः स्यात्, विज्ञानेनेत्येवं निरदेक्ष्यत्। तथा ह्यन्यत्र बुद्धिविवक्षायां विज्ञानशब्दस्य करणविभक्तिनिर्देशो दृश्यते 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति। इह तु 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २।५।१) इति कर्तृसामानाधिकरण्यनिर्देशाद् बुद्धिव्यतिरिक्तस्यैवाऽऽत्मनः कर्तृत्वं सूच्यत इत्यदोषः ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी जीव कर्ता है, क्योंकि लौकिक और वैदिक क्रियाओंमें 'यह कर्ता है' इस प्रकार शास्त्र व्यपदेश करता है—'विज्ञानं यज्ञं०' (विज्ञान यज्ञ करता है और कर्म भी करता है) इत्यादिसे। परन्तु विज्ञानशब्द बुद्धिका वाचक है, अतः इससे 'जीव कर्ता है' यह कैसे सूचित होता है ? नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि जीवका ही यह निर्देश है, बुद्धिका नहीं है। यदि जीवका यह निर्देश न हो, तो विपर्यय होगा अर्थात् 'विज्ञानेन' (विज्ञान द्वारा) इस प्रकार निर्देश करते। जैसे अन्यत्र स्थलमें विज्ञानशब्दसे बुद्धिकी विवक्षामें विज्ञान-शब्दका करणविभक्तिसे निर्देश देखा जाता है—'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन' इत्यादिसे। यहाँ तो 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इस प्रकार कर्ताके सामानाधिकरण्यका निर्देश है, अतः बुद्धिसे व्यतिरिक्त आत्माका कर्तृत्व सूचित होता है, अतः अविरोध है ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभा

व्यपदेशाच्च क्रियायाम्। विज्ञानशब्दो जीवस्य निर्देशो न चेत्, तदा प्रथमानिर्देशाद् विपर्ययः करणद्योतितृतीयया निर्देशः स्यात्। तस्मादिह श्रुतौ 'तनुते' इत्याख्यातेन कर्तृवाचिना विज्ञानपदस्य सामानाधिकरण्यनिर्देशात् क्रियायाम् आत्मनः कर्तृत्वं सूच्यते इति सूत्रभाष्ययोरर्थः ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विज्ञानशब्द यदि जीवका वाचक न होता, तो 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इसमें विज्ञानशब्दका प्रथमासे विपरीत निर्देश होता अर्थात् करणबोधक तृतीयासे निर्देश होता। इससे इस श्रुतिमें कर्तृवाचक आख्यातके साथ विज्ञानशब्दका सामानाधिकरण्यके निर्देशसे उक्त क्रियामें आत्मा कर्ता है, यह सूचित होता है, ऐसा सूत्र और भाष्यका अर्थ है ॥३६॥

भाष्य

अत्राह—यदि बुद्धिव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता स्यात्, स स्वतन्त्रः सन् प्रियं हितं चैवाऽऽत्मनो नियमेन सम्पादयेन्न विपरीतम्। विपरीतमपि तु संपादयन्नुपलभ्यते। न च स्वतन्त्रस्याऽऽत्मन ईदृशी प्रवृत्तिरनियमेनोपपद्यत इति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

यदि बुद्धिसे भिन्न जीव कर्ता हो, तो वह स्वतन्त्र होकर अपना अभीष्ट और हित ही नियमतः करेगा, न कि विपरीत। परन्तु वह विपरीतका भी सम्पादन करता हुआ देखा जाता है, स्वतन्त्र आत्माकी ऐसी अनियमसे प्रवृत्ति युक्त नहीं हो सकती है। अतः उत्तर सूत्र कहते हैं—

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—उपलब्धिवत्, अनियमः।

पदार्थोक्ति—उपलब्धिवत्—यथा उपलब्धौ स्वतन्त्रोऽप्यात्मा इष्टम् अनिष्टं चोपलभते तथा, अनियमः—इष्टम् अनिष्टं च सम्पादयतीति अनियमः।

भाषार्थ—जैसे उपलब्धिमें स्वतन्त्र होता हुआ भी आत्मा इष्ट और अनिष्टकी उपलब्धि करता है, वैसे ही इष्ट और अनिष्टका सम्पादन करता है इससे कोई नियम नहीं है।

भाष्य

यथाऽयमात्मोपलब्धिं प्रति स्वतन्त्रोऽप्यनियमेनेष्टमनिष्टं चोपलभत एवमनियमेनैवेष्टमनिष्टं च संपादयिष्यति। उपलब्धावप्यस्वातन्त्र्यमुपलब्धि-

भाष्यका अनुवाद

जैसे यह आत्मा उपलब्धिके प्रति स्वतंत्र है, तो भी अनियमसे इष्ट और अनिष्ट प्राप्त करता है, वैसे अनियमसे ही इष्ट और अनिष्टका सम्पादन करेगा। उपलब्धिमें

रत्नप्रभा

सूत्रान्तरम् अवतारयति—अत्राहेति। जीवः स्वतन्त्रश्चेत् इष्टमेव कुर्यात्, अस्वतन्त्रश्चेत् न कर्ता, 'स्वतन्त्रः कर्ता' (पा० सू० १।४।५४) इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य सूत्रका अवतरण करते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। यदि जीव स्वतन्त्र है, तो इष्टही सर्वदा करेगा, और यदि अस्वतन्त्र है, तो कर्ता नहीं होगा, क्योंकि स्वतन्त्र कर्ता होता है, ऐसा

भाष्य

हेतूपादानोपलम्भादिति चेत्, न; विषयप्रकल्पनामात्रप्रयोजनत्वादुपलब्धिहेतूनाम्। उपलब्धौ त्वनन्यापेक्षत्वमात्मनः, चैतन्ययोगात्। अपि चाऽर्थक्रियायामपि नाऽत्यन्तमात्मनः स्वातन्त्र्यमस्ति, देशकालनिमित्तविशेषापेक्षत्वात्। न च सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं निवर्तते। भवति

भाष्यका अनुवाद

भी आत्मा स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि उपलब्धिहेतुके उपादानका ग्रहण है ? ऐसा कोई कहे, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि उपलब्धिके हेतुका प्रयोजन केवल विषयकी कल्पना ही है। उपलब्धिमें तो आत्मा अन्यकी अपेक्षा नहीं करता है, कारण कि चैतन्यका योग है। और अर्थक्रियामें भी आत्मा अत्यन्त स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि देशविशेष, कालविशेष और निमित्तविशेषकी अपेक्षा है। सहकारीकी अपेक्षा करनेवाले कर्ताका कर्तृत्व निवृत्त नहीं होता, क्योंकि जल, काष्ठ आदिकी

रत्नप्रभा

न्यायादित्यर्थः। सत्यपि स्वातन्त्र्ये कारकवैचित्र्याद् अनियता प्रवृत्तिरिति सूत्रेण परिहरति—**यथेति**। दृष्टान्तासम्प्रतिपत्त्या शङ्कते—**उपलब्धावपीति**। चक्षुरादीनां चैतन्येन विषयसम्बन्धार्थत्वात् स्वसम्बन्धोपलब्धौ चाऽऽत्मनश्चैतन्यस्वभावत्वेन स्वातन्त्र्याद् दृष्टान्तसिद्धिरित्याह—**नेति**। ननु आत्मा विषयसम्बन्धाय करणानि अपेक्षते चेत्, कथं स्वतन्त्र इति आशङ्क्याऽऽह—**अपि चेति**। स्वातन्त्र्यं नाम न स्वान्यानपेक्षत्वम्, ईश्वरस्याऽपि प्राणिकर्मापेक्षत्वेन अस्वातन्त्र्यप्रसंगात्, किन्तु स्वेतरकारकप्रयोक्तृत्वे सति कारकाप्रेर्यत्वम् स्वातन्त्र्यम्, तेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

न्याय है, यह अर्थ है। जीवके स्वतन्त्र होनेपर भी कारककी विचित्रतासे उसकी प्रवृत्ति अनियत होगी, इस प्रकार सूत्रसे परिहार करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। दृष्टान्तमें सम्मति न होनेसे शङ्का करते हैं—"उपलब्धावपि" इत्यादिसे। चक्षु आदिका चैतन्यके साथ विषयसम्बन्धरूप प्रयोजन होनेसे और अपने सम्बन्धकी उपलब्धिमें चैतन्यस्वभाव होनेके कारण आत्माके स्वतन्त्र होनेसे दृष्टान्तकी सिद्धि है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। यदि आत्मा विषयसम्बन्धके लिए करणोंकी अपेक्षा करता है, तो वह स्वतन्त्र कैसे हुआ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। स्वभिन्नकी अनपेक्षा स्वातन्त्र्य नहीं है, क्योंकि प्राणियोंके कर्मकी अपेक्षा होनेसे ईश्वरमें भी अस्वातन्त्र्यका प्रसङ्ग आवेगा। किन्तु जो स्वभिन्न कारकका प्रयोक्ता होकर स्वयं कारकसे प्रेरित न हो, वह स्वतन्त्र है। इससे स्वतन्त्र भी

भाष्य

द्यधोदकाद्यपेक्षस्याऽपि पक्तुः पक्तृत्वम् । सहकारिवैचित्र्याच्चेष्टानिष्टार्थ-क्रियायामनियमेन प्रवृत्तिरात्मनो न विरुध्यते ॥ ३७ ॥

भाष्यका अनुवाद

अपेक्षा होनेपर भी पाचकमें पाककर्तृत्वका व्यवहार होता है। सहकारीके वैचित्र्यसे ही इष्ट, अनिष्टरूप अर्थक्रियामें नियमके बिना आत्माकी प्रवृत्ति अविरुद्ध है ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभा

स्वतन्त्रोऽपि जीवः इष्टसाधनत्वभ्रान्त्या अनिष्टसाधनमपि अनुतिष्ठति इति अनियता प्रवृत्तिः स्वातन्त्र्यं चेति अविरुद्धम् इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव इष्टसाधनत्वकी भ्रान्तिसे अनिष्टसाधनका भी अनुष्ठान करता है, अतः अनियत प्रवृत्ति और स्वातन्त्र्य ये दोनों अविरुद्ध हैं, ऐसा अर्थ है ॥३७॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

पदार्थोक्ति—शक्तिविपर्ययात्—बुद्धेः कर्तृत्वे करणशक्तिविपर्ययात् [करण-शक्तिः हीयेत, अतः आत्मनः कर्तृत्वं सिद्धम् । यदि बुद्धेः कर्तृत्वमभ्युपगम्यते, तर्हि करणान्तरमवश्यं स्वीकार्यं स्यात् इत्यनर्थान्तरम्] ।

भाषार्थ—बुद्धिको कर्त्री माननेमें उसकी करणशक्तिका विपर्यय होता है, उससे करणशक्तिका नाश होगा, अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा कर्ता है। यदि बुद्धिको कर्त्री मानो, तो अन्य करण अवश्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार अर्थमें कोई भेद नहीं है।

---

(१) यद्यपि वेदान्तसिद्धान्तमें अन्तःकरणको कामादिवृत्तिका उपादान मानते हैं, अतः अन्तःकरण कामादिके प्रति आश्रयरूपसे कर्ता होगा, जीवको भी उक्त रीतिसे ही कर्ता मानना होगा, तदनुकूल कृतिके आश्रयरूपसे नहीं, क्योंकि कृतिविषयक अन्य कृति या इच्छाविषयक अन्य इच्छा जीवमें नहीं है, इसलिए बाह्य व्यापारानुकूल कामादिके आश्रयसे स्वीकृत बुद्धिपदवाच्य अन्तःकरणके कर्तृत्वका निरास कैसे होगा ? तथापि सिद्धान्तमें कामादिके प्रति केवल बुद्धिको उपादानत्व नहीं है, परन्तु जैसे आकाश आदिके प्रति माया परिणामिनी है और ब्रह्म विवर्त है, उसी प्रकार कामादिके प्रति बुद्धि परिणामिनी है और जीव चैतन्य विवर्त उपादान है, अतः बुद्धिसे शबलित जीव ही आश्रय है। अहन्त्व भी शबल चैतन्यका ही धर्म है। ऐसा होनेपर 'एष हि द्रष्टा' 'एतत्सर्वं मन एव' इत्यादि शास्त्र उपपन्न हो सकते हैं। इत्यादि ब्रह्मविद्याभरणमें विस्तारसे वर्णित है।

भाष्य

इतश्च विज्ञानव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता भवितुमर्हति । यदि पुनर्विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात्, ततः शक्तिविपर्ययः स्यात्—करणशक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चाऽऽपद्येत । सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाऽहंप्रत्ययविषयत्वमभ्युपगन्तव्यम् । अहङ्कारपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः सर्वत्र दर्शनात्—अहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहं भुञ्जेऽहं पिबामीति च । तस्याश्च कर्तृशक्तियुक्तायाः सर्वार्थकारि करणमन्यत् कल्पयितव्यम्, शक्तोऽपि हि सन् कर्ता करणमुपादाय क्रियासु प्रवर्तमानो दृश्यत इति । ततश्च संज्ञामात्रे विवादः स्यान्न वस्तुभेदः कश्चित्, करणव्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वाभ्युपगमात् ॥ ३८ ॥

भाष्यका अनुवाद

इससे भी विज्ञानसे अतिरिक्त जीव कर्ता हो सकता है। यदि विज्ञानशब्दवाच्य बुद्धिही कर्त्री मानी जाय, तो शक्तिका विपर्यय प्रसक्त होगा—बुद्धिमें करणशक्तिका ह्रास होगा एवं कर्तृशक्ति प्राप्त होगी। और बुद्धिमें कर्तृशक्तिके होनेपर बुद्धिमें ही अहंप्रत्ययविषयता माननी पड़ेगी, क्योंकि सर्वत्र प्रवृत्ति अहंकारपूर्वक ही होती है—'अहं गच्छामि' (मैं जाता हूँ) 'अहम् आगच्छामि' (मैं आता हूँ) 'अहं भुञ्जे' (मैं खाता हूँ) 'अहं पिबामि' (मैं पान करता हूँ) इत्यादि। बुद्धिके कर्तृशक्तियुक्त होनेपर उसके सर्वार्थकारी अन्य करणकी कल्पना करनी होगी, क्योंकि कर्ताके समर्थ होनेपर भी करणको लेकर ही उसकी क्रियामें प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः नाममात्रमें विवाद होगा, अर्थमें कोई भेद नहीं होगा, क्योंकि करणसे व्यतिरिक्तमें कर्तृत्वका स्वीकार है ॥३८॥

रत्नप्रभा

जीवस्य कर्तृत्वे हेत्वन्तरार्थं सूत्रम्—शक्तीति । बुद्धेः करणशक्तिविपरीता कर्तृशक्तिः स्याद् इत्यर्थः। ततः किं? तत्राऽऽह—सत्यां च बुद्धेरिति । योऽहंधीगम्यः, स कर्ता, स एव जीवः, यत् तदपेक्षितं करणम्, तत् मन इति जीवकर्तृत्वसिद्धिः इति भावः ॥ ३८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवके कर्तृत्वमें अन्य हेतुके लिए सूत्र है—"शक्ति" इत्यादि। बुद्धिमें करणशक्तिसे विपरीत कर्तृशक्ति होगी, ऐसा अर्थ है। इससे प्रकृतमें क्या आया? इसपर कहते हैं—"सत्यां च बुद्धेः" इत्यादिसे। जो अहंबुद्धिसे गम्य है, वह कर्ता है, और वही जीव है, उसको अपेक्षित जो करण है, वह मन है, इस प्रकार जीवमें कर्तृत्व सिद्ध हुआ, ऐसा भाव है॥३८॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—समाध्यभावात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, समाध्यभावात्—आत्मनोऽकर्तृत्वे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादौ विहितस्य ब्रह्मसाक्षात्कारसाधनस्य समाधेः अभावप्रसंगात् [आत्मनः कर्तृत्वसिद्धिः] ।

भाषार्थ—आत्माके कर्ता न होनेपर 'आत्मा वा०' (आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) इत्यादि श्रुतिमें विहित ब्रह्मसाक्षात्कारके साधन समाधिका अभाव हो जायगा । अतएव आत्माके कर्तृत्वकी सिद्धि होती है ।

भाष्य

योऽप्ययमौपनिषदात्मप्रतिपत्तिप्रयोजनः समाधिरुपदिष्टो वेदान्तेषु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मु० २।२।६) इत्येवंलक्षणः, सोऽप्यसत्यात्मनः कर्तृत्वे नोपपद्येत, तस्मादप्यस्य कर्तृत्वसिद्धिः ॥ ३९ ॥

भाष्यका अनुवाद

'आत्मा वा अरे०' (अरे मैत्रेयि ! आत्मा दर्शन करने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदिध्यासन करने योग्य है, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए) 'ओमित्येवम्०' (ओम् इस प्रकार तुम आत्माका ध्यान करो) इस प्रकार जो औपनिषद आत्माकी प्रतिपत्तिरूप प्रयोजनके लिए वेदान्तमें समाधि कही गई है, वह भी आत्माके कर्ता न होनेपर उपपन्न नहीं होगी । अतः आत्मा कर्ता है, यह सिद्ध हुआ ॥३९॥

रत्नप्रभा

ज्ञानसाधनविध्यन्यथानुपपत्त्याऽपि आत्मनः कर्तृत्वं वाच्यमित्याह—**समाधीति** । मुक्तिफलभोक्तुरेव तदुपायसमाधिकर्तृत्वं युक्तम्, अन्यथा आत्मनः कर्तृत्वे बुद्धेः अपि अभोक्त्र्याः कर्तृत्वायोगात् समाध्यभावप्रसंग इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञानके साधन विधिकी अन्यथाऽनुपपत्तिसे भी आत्मा कर्ता है यह कहना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"समाधि" इत्यादिसे । मुक्तिरूप फलका भोक्ता ही उसके उपाय-समाधिका कर्ता होता है यह युक्त है, अन्यथा—आत्माको कर्ता न माननेपर भोग न करनेवाली बुद्धि भी कर्त्री नहीं होगी, इससे समाधिका अभाव प्राप्त होगा, ऐसा अर्थ है ॥ ३९ ॥

[१५ तक्षाधिकरण सू० ४०]

कर्तृत्वं वास्तवं किं वा कल्पितं वास्तवं भवेत् ।
यजेतेत्यादिशास्त्रेण सिद्धस्याऽबाधितत्वतः ॥ १ ॥
असंगो हीति तद्बाधात् स्फटिके रक्ततेव तत् ।
अध्यस्तं धीचक्षुरादिकरणोपाधिसान्निधेः ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

संशय—आत्मामें प्रतिपादित कर्तृत्व सत्य है या कल्पित है ?

पूर्वपक्ष—'यजेत' इत्यादि शास्त्रसे सिद्ध कर्तृत्व अबाधित होनेसे वास्तविक है ।

सिद्धान्त—'असङ्गो हि' इस शास्त्रसे कर्तृत्वका बाध होनेसे स्फटिकमें रक्तताके समान बुद्धि, चक्षु आदि करणरूप उपाधिके सन्निधानसे कर्तृत्व आत्मामें अध्यस्त है, अर्थात् सत्य नहीं है ।

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

पदच्छेद—यथा, च, तक्षा, उभयथा ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, यथा—येन प्रकारेण, तक्षा—काष्ठतृट्, उभयथा—करणानि अपेक्ष्य कर्ता सन् दुःखी भवति अनपेक्ष्य तु स्वरूपेण अकर्ता सुखी भवति [तथा आत्मापि बुद्ध्यादिकरणान्यपेक्ष्य कर्ता संसरति, अनपेक्ष्य तु स्वभावतोऽकर्ता परमानन्दघन एव भवति। विधिशास्त्रं हि कर्तृत्वं विना अनुपपन्नं सत् तत् साधयति, न तु तस्य स्वाभाविकत्वमपीति न तेनासङ्गत्वश्रुतेर्विरोध इति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—और जैसे लोकमें बढ़ई बसुला आदि साधनोंकी अपेक्षा करके कर्ता होता हुआ दुःखी होता है और उनकी अपेक्षा न करके स्वरूपतः अकर्ता तथा सुखी होता है वैसे ही आत्मा भी बुद्धि आदि करणोंकी अपेक्षा करके कर्ता एवं संसारी होता है उनकी अपेक्षा न करके स्वभावतः अकर्ता परमानन्दघन ही है । विधिशास्त्र तो कर्तृत्वके बिना उपपन्न न होता हुआ कर्तृत्वको सिद्ध करता है, परन्तु कर्तृत्व की स्वाभाविकता को सिद्ध नहीं करता, इससे सिद्ध हुआ कि आत्माके कर्तृत्वसे असङ्गत्व श्रुतिका विरोध नहीं है ।

---

* सारांश यह है कि पूर्वपक्षी प्रतिपादन करता है—पूर्व अधिकरणमें सिद्ध किया हुआ कर्तृत्व आत्मामें वास्तविक है, कल्पित नहीं है । ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'असङ्गो ह्ययं-पुरुषः' इस श्रुतिसे आत्मामें कर्तृत्व धर्मका सम्बन्ध बाधित ज्ञात होता है । इससे जैसे जपाकुसुमके सान्निध्यसे स्फटिकमें रक्तत्वका अध्यास होता है, वैसे अन्तःकरणकी सन्निधिसे आत्मामें कर्तृत्व अध्यस्त है, वास्तविक नहीं है ।

भाष्य

एवं तावच्छास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः कर्तृत्वं शारीरस्य प्रदर्शितम्, तत् पुनः स्वाभाविकं वा स्यादुपाधिनिमित्तं वेति चिन्त्यते। तत्रतैरेव शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकं कर्तृत्वमपवादहेत्वभावादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। कर्तृत्वस्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वाद् निर्मोक्षः संभवति–अग्नेरिवौ-

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार शास्त्रार्थवत्त्व आदि हेतुओंसे जीव कर्ता है, ऐसा भली भांति दिखलाया जा चुका है, किन्तु वह कर्तृत्व स्वाभाविक है या उपाधिनिमित्त है, ऐसा विचार किया जाता है। उक्त विचारके आरम्भ होनेपर शास्त्रार्थवत्त्व आदि हेतुओंसे ही आत्माका स्वाभाविक कर्तृत्व है, क्योंकि स्वाभाविक कर्तृत्वके अपवादका कोई हेतु नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आत्माका स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे आत्माके मोक्षके अभावका प्रसङ्ग आवेगा, कारण कि आत्माका कर्तृत्वस्वभाव होनेपर जैसे अग्निका

रत्नप्रभा

यथा च तक्षोभयथा। उक्तम् आत्मनः कर्तृत्वम् उपजीव्य संशयपूर्वपक्षौ आह—**एवं तावदित्यादिना**। सांख्यनिरासेनाऽऽत्मनः कर्तृत्वे साधिते बाधकाभावात् तत् सत्यम् इति मीमांसकादिपक्षः प्राप्तः। न च असंगत्वागमेन बाधः, अहं कर्तेति अनुभवसहितकर्तृत्वश्रुतिबलेन तस्याऽऽगमस्य स्तावकत्वाद् इति प्राप्ते उत्सूत्रमेव सिद्धान्तयति—**न स्वाभाविकमिति**। यदुक्तम्—बाधकाभावादिति तदसिद्धमित्याह—**अनिर्मोक्षेति**। ननु कर्तृत्वं नाम क्रियाशक्तिः मुक्तौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यथा च तक्षोभयथा"। पूर्वोक्त आत्माके कर्तृत्वके आधारपर संशय और पूर्वपक्ष कहते हैं—"एवं तावत्" इत्यादिसे। साङ्ख्यमतके निरसनसे आत्मामें कर्तृत्वकी सिद्धि होनेपर बाधके अभावसे वह कर्तृत्व अबाधित है, ऐसा मीमांसक आदिका पक्ष प्राप्त हुआ। असङ्गत्वप्रतिपादक शास्त्रसे उसका बाध होगा, ऐसा कोई कहे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकारके अनुभव सहित कर्तृत्वप्रतिपादक श्रुतिके बलसे वह (असङ्ग) शास्त्र स्तुति करनेवाला है, ऐसा प्राप्त होनेपर सूत्रसे बाहर सिद्धान्त करते हैं—"न स्वाभाविकम्" इत्यादिसे। बाधकका अभाव है, इस प्रकार जो कहा है वह असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"अनिर्मोक्ष" इत्यादिसे। यद्यपि क्रियाशक्तिरूप कर्तृत्व मुक्तिमें भी है, तथापि शक्तिके कार्य—क्रियारूपशक्यके अभावसे मुक्तिमें

भाष्य

ष्ण्यात् । न च कर्तृत्वादनिर्मुक्तस्याऽस्ति पुरुषार्थसिद्धिः, कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात् । ननु स्थितायामपि कर्तृत्वशक्तौ कर्तृत्वकार्यपरिहारात् पुरुषार्थः सेत्स्यति, तत्परिहारश्च निमित्तपरिहारात् । यथाऽग्नेर्दहनशक्तियुक्तस्याऽपि काष्ठवियोगाद् दहनकार्याभावस्तद्वत्, न; निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन सम्बन्धेन सम्बद्धानामत्यन्तपरिहारासम्भवात् । ननु मोक्षसाधनविधानाद् मोक्षः

भाष्यका अनुवाद

उष्णत्वसे निर्मोक्ष नहीं हो सकता, वैसे ही आत्माका कर्तृत्वसे छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। और कर्तृत्वसे छुटकारा न पाये हुएको पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि कर्तृत्व दुःखरूप है। यदि कहो, कर्तृत्वशक्तिके रहनेपर भी कर्तृत्वरूप कार्यके परिहारसे पुरुषार्थ सिद्ध होगा और उसका परिहार निमित्तके परिहारसे होगा। जैसे यद्यपि अग्नि दहनशक्तियुक्त है, तो भी काष्ठके वियोगसे उसमें दहनकार्यका अभाव होता है, वैसेही यहाँ भी समझना चाहिए, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शक्तिरूप सम्बन्धसे सम्बद्ध निमित्तोंका भी अत्यन्त परिहार नहीं हो सकता। यदि कहो कि मोक्षसाधनोंके विधानसे मोक्ष सिद्ध

रत्नप्रभा

अपि अस्ति, तथाऽपि शक्तिकार्यस्य क्रियारूपशक्यस्य अभावाद् मुक्तेः पुरुषार्थत्वसिद्धिरिति शङ्कते—**ननु स्थितायामिति**। सत्यां शक्तौ कथं कार्यपरिहारः? तत्राऽऽह—**तत्परिहारश्चेति**। मुक्तौ शक्तिसत्त्वे कार्यमपि स्याद्, शक्याभावे शक्त्ययोगात्। अस्ति हि प्रलयेऽपि कार्यं पुनरुद्भवयोग्यं सूक्ष्मं शक्यम्, तथा च शक्त्या धर्मादिनिमित्तैः सहितकार्याक्षेपाद् मुक्तिलोप इति परिहरति—**न निमित्तानामपीति**। सनिमित्तस्य कार्यस्य शक्यत्वेन शक्त्या सम्बन्धाद् निमित्तानामपि परम्परया शक्तिसम्बन्धित्वम् उक्तम् मन्तव्यम्। सम्बन्धेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषार्थत्वकी सिद्धि है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु स्थितायाम्" इत्यादिसे। शक्तिके रहते कार्यका परिहार कैसे होगा? उसपर कहते हैं—"तत्परिहारश्च" इत्यादिसे। मुक्तिमें शक्तिके अस्तित्वमें कार्य (शक्य) भी होगा, क्योंकि शक्यके अभावमें शक्ति नहीं रह सकती है। पुनः उत्पत्तिके योग्य शक्य सूक्ष्म कार्य प्रलयमें है, इसलिए शक्तिसे धर्म आदि कारण सहित कार्योंके प्रसङ्गसे मुक्तिका लोप होगा इस प्रकार परिहार करते हैं—"न निमित्तानामपि" इत्यादिसे। निमित्त सहित कार्यके शक्य होनेसे शक्तिके साथ सम्बन्ध है, अतः कारणोंमें भी परम्परासे शक्तिसम्बन्धित्व कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए। सम्बन्धेन—सम्बन्धीसे। अथवा शक्ति—

भाष्य

सेत्स्यति, नः साधनायत्तस्याऽनित्यत्वात् । अपि च नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तात्मप्रतिपादनान्मोक्षसिद्धिरभिमता । तादृगात्मप्रतिपादनं च न स्वाभाविके कर्तृत्वेऽवकल्पेत, तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवाऽऽत्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम् । तथा च श्रुतिः—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इति । 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (क० ३।४) इति

भाष्यका अनुवाद

होगा, सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो साधनके अधीन है, वह अनित्य है। और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्माके प्रतिपादनसे मोक्षसिद्धि कही गई है। और वैसा आत्मज्ञान कर्तृत्वके स्वाभाविक होनेपर नहीं हो सकता, इस-से सिद्ध हुआ कि उपाधिधर्मके अध्याससे ही आत्मामें कर्तृत्व है, स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार श्रुति भी है—'ध्यायतीव०' (मानो ध्यान करता है, चलनक्रिया करता है) और 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्०' (शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्तको विवेकी लोग भोक्ता—संसारी कहते हैं) इस प्रकार दोनों

रत्नप्रभा

सम्बन्धिना इत्यर्थः । यद्वा, शक्तिः लक्षणम् आक्षेपकं यस्य कार्यस्य तेन कार्येण यः सम्बन्धः, तेन इति व्यधिकरणे तृतीये । ननु नरस्य कर्मणा देवत्ववत् शास्त्र-बलात् कर्तुरेवाऽकर्तृतासिद्धिः इति शङ्कते—नन्विति । ज्ञानाद् अकर्तृत्वाख्य-मोक्षश्चेत्, कर्तृत्वम् आविद्यकं स्यात्, यतो ज्ञानम् अज्ञानस्यैव निवर्तकम् । यदि कर्मणा मोक्षः, तत्राऽऽह—नेति । आत्मनः स्वाभाविकं कर्तृत्वम् अभ्युपगम्य अनिर्मोक्ष उक्तः, सम्प्रति असंगनिर्विकारत्वानेकश्रुतिव्याकोपात् तन्न स्वाभाविकम् इत्याह—अपि चेति । न च अभ्यस्तानेकश्रुतीनां स्तावकत्वकल्पनं युक्तम्, न च 'अहं कर्ता' इति अनुभवो विरुध्यते, तस्य सत्यमिथ्योदासीनकर्तृत्वावगाहिनः

रत्नप्रभाका अनुवाद

लक्षण—आक्षेपक है जिस कार्यका, उस कार्यके साथ जो सम्बन्ध, उस सम्बन्धसे, इस प्रकार व्यधिकरणमें तृतीया है। परन्तु जैसे मनुष्य कर्मसे देवता बन जाता है, वैसे ही शास्त्रके बलसे कर्ताके अकर्तृत्वकी सिद्धि होगी ? इस प्रकार शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । यदि ज्ञानसे अकर्तृत्वरूप मोक्ष प्राप्त हो, तो कर्तृत्व अविद्याजन्य होगा, क्योंकि ज्ञान अज्ञानका निवर्तक है। यदि कर्मसे मोक्ष होगा ऐसा कहो, तो उसपर कहते हैं—"न" इत्यादिसे । आत्मामें स्वाभाविक कर्तृत्वका स्वीकार करके अनिर्मोक्ष कहा जा चुका है, अब असङ्गत्व और निर्विकारत्व प्रतिपादक अनेक श्रुतियोंके विरोधसे वह कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । अभ्यस्त अनेक श्रुतियोंको स्तुतिपरक मानना युक्त नहीं है, यद्यपि 'अहं कर्ता' यह अनुभव

भाष्य

चोपाधिसंपृक्तस्यैवाऽऽत्मनो भोक्तृत्वादिविशेषलाभं दर्शयति । नहि विवेकिनां परस्मादन्यो जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिश्रवणात्। पर एव तर्हि संसारी कर्ता भोक्ता च प्रसज्येत, परस्मादन्यश्चेच्चितिमाञ्जीवः कर्ता बुद्ध्यादिसङ्घातव्यतिरिक्तो न स्यात् , नः अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः

भाष्यका अनुवाद

श्रुतियां उपाधिसे सम्पृक्त आत्माके ही भोक्तृत्व आदि विशेषका लाभ होता है ऐसा दिखलाती हैं, क्योंकि विवेकियोंकी दृष्टिमें परसे अन्य जीव नामका कर्ता या भोक्ता कोई नहीं है, कारण कि 'नान्योऽतोऽस्ति०' (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुति है। तब परमात्मा ही संसारी, कर्ता और भोक्ता है, ऐसा प्राप्त होगा। चैतन्ययुक्त कर्ता जीव यदि परमात्मासे अन्य हो, तो बुद्धि आदि संघातसे व्यतिरिक्त न होगा, नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कर्तृत्व और

रत्नप्रभा

अध्यासत्वेनाऽपि उपपत्तेः इत्यर्थः । कर्तृत्वस्याऽध्यस्तत्वे श्रुतिमाह—**तथा चेति** । विद्वदनुभवबाधितं च कर्तृत्वमित्याह—**नहीति** । बुद्ध्यादिसंघाताद् व्यतिरिक्तो यदि परस्माद् अन्यः चेतनो न स्यात् , तदा पर एव संसारी प्रसज्येत, तच्च अनिष्टम् , परस्य नित्यमुक्तत्वव्याघाताद् इति शङ्कते—**पर एवेति** । न वयं शुद्धस्य चिद्धातोः परस्य बन्धं वदामः, किन्तु तस्यैव अविद्याबुद्ध्यादिप्रतिबिम्बितस्य अविद्यया भिन्नस्य जीवत्वं प्राप्तस्य बन्धमोक्षौ इति ब्रूमः । कल्पितभेदोऽपि लोके बिम्बप्रतिबिम्बयोः धर्मव्यवस्थापको दृष्ट इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मामें कर्तृत्व न माननेसे विरुद्ध है, तथापि सत्य, मिथ्या और उदासीन कर्तृत्वावगाही उक्त अनुभवकी अध्याससे भी उपपत्ति हो सकती है, ऐसा अर्थ है। कर्तृत्वके अध्यासमें श्रुति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। विद्वानोंके अनुभवसे भी कर्तृत्व बाधित है ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। बुद्धि आदि संघातसे भिन्न ईश्वरसे अन्य यदि चेतन न हो, तो पर ही संसारी प्रसक्त होगा, वह इष्ट नहीं है, क्योंकि परके नित्यमुक्तत्वका व्याघात होगा, इस प्रकार शङ्का करते हैं—"पर एव" इत्यादिसे । हम शुद्ध चिद्रूप परब्रह्ममें बन्ध है, ऐसा नहीं कहते हैं, किन्तु अविद्या, बुद्धि आदिमें प्रतिबिम्बित और अविद्यासे भिन्न जीवभावको प्राप्त हुएके बन्ध और मोक्ष हैं, ऐसा कहते हैं। लोकमें बिम्ब और प्रतिबिम्बरूपसे कल्पित भेद भी धर्मका व्यवस्थापक है, ऐसा देखा गया है, इस प्रकार परिहार करते हैं—"नाऽविद्या" इत्यादिसे।

भाष्य

तथा च शास्त्रम्—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४) इत्यविद्यावस्थायां कर्तृत्वभोक्तृत्वे दर्शयित्वा विद्यावस्थायां ते एव कर्तृत्वभोक्तृत्वे निवारयति—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४) इति। तथा स्वप्नजागरितयोरात्मन उपाधिसम्पर्ककृतं श्रमं श्येनस्येवाऽऽकाशे विपरिपततः श्रावयित्वा तदभावं सुषुप्तौ प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तस्य श्रावयति—'तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्' (बृ० ४।३।२१)

भाष्यका अनुवाद

भोक्तृत्व ये अविद्यासे कल्पित हैं। और वैसी श्रुति भी है—'यत्र हि द्वैतमिव०' (क्योंकि जहां द्वैत-सा होता है, वहां अन्य अन्यको देखता है) इस प्रकार अविद्याकी स्थितिमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व दिखलाकर 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्०' (परन्तु जहां सब इसकी आत्मा ही हो गई, वहां किस करणसे किसको देखे) इस प्रकार विद्याकी अवस्थामें उन्हीं कर्तृत्व और भोक्तृत्वका श्रुति निवारण करती है। उसी प्रकार स्वप्न और जागरित अवस्थामें आकाशमें उड़नेवाले श्येनके श्रमके समान आत्माका उपाधिके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए श्रमका श्रवण कराके श्रुति सुषुप्तिमें प्राज्ञ आत्माके साथ सम्यक् संयुक्त हुएका श्रमाभाव श्रवण कराती है—'तद्वा अस्यैतदाप्तकाम०' (ज्योतिःस्वरूप आत्माका

रत्नप्रभा

नाऽविद्येति। अविद्योपहिते बन्धः न शुद्धात्मनि इत्यत्र श्रुतिमाह—**तथा चेति**। कर्तृत्वस्य बुद्ध्युपाध्यन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् श्रुतेश्च न स्वाभाविकत्वमित्याह—**तथा स्वप्नेति**। आत्मैव काम्यते आनन्दत्वादिति आत्मकामं स्वरूपं स्वातिरिक्तकाम्यासत्त्वात् अकामम्, आत्मकामत्वात् अकामत्वाच्च आप्तकामम्, विशोकत्वाच्च इत्याह—**शोकेति**। शोकान्तरम्—दुःखास्पृष्टमित्यर्थः। तस्यैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्यासे उपहितमें बन्ध है, न कि विशुद्ध आत्मामें, इसमें श्रुति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। बुद्धिरूप उपाधिके साथ अन्वय-व्यतिरेक होनेसे, श्रुतिसे कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तथा स्वप्न" इत्यादिसे। आनन्दरूप होनेसे आत्मा अभीष्ट है, अतः आत्मकाम स्वरूप है, स्वभिन्न काम्यके न रहनेसे अकाम है, आत्मकाम, अकाम, और विशोक होनेसे आप्तकाम है, ऐसा कहते हैं—"शोक" इत्यादिसे। शोकान्तरम्—दुःखसे अस्पृष्ट, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

इत्यारभ्य 'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः' (बृ० ४।३।३२) इत्युपसंहारात् । तदेतदाहाऽऽचार्यः—'यथा च तक्षोभयथा' इति । त्वर्थे चाऽयं चः पठितः । नैवं मन्तव्यम्—स्वाभाविकमेवाऽऽत्मनः कर्तृत्वमग्नेरिवौष्ण्यम् इति । यथा तु तक्षा लोके वास्यादिकरणहस्तः कर्ता दुःखी भवति स एव स्वगृहं प्राप्तो वियुक्तवास्यादिकरणः स्वस्थो निर्वृतो निर्व्यापारः सुखी भवत्येवमविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतसंपृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयोः कर्ता दुःखी भवति, स

भाष्यका अनुवाद

आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और सर्वशोकशून्य स्वरूप है) ऐसा आरम्भ करके 'एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य०' (यह इसकी परम गति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परम लोक है, यह इसका परम आनन्द है) ऐसा उपसंहार है। इससे आचार्य 'यथा च तक्षोभयथा' ऐसा कहते हैं। यहांपर 'च' परन्तुके अर्थमें है। जैसे अग्निकी उष्णता स्वाभाविक है, वैसे आत्माका कर्तृत्व स्वाभाविक ही है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। परन्तु जैसे बढ़ई लोकमें बसुला आदि साधनोंको हाथमें लेकर कर्ता और दुःखी होता है, वही अपने घर जाकर बसुला आदि साधनोंसे रहित होकर स्वस्थ, शान्त, व्यापारशून्य और सुखी होता है, उसी प्रकार अविद्यासे कल्पित द्वैतसे युक्त हुआ आत्मा स्वप्न और जागरित अवस्थामें कर्ता होकर दुःखी होता है। वह आत्मा उस श्रमको

रत्नप्रभा

सुषुप्तात्मरूपस्य परमपुरुषार्थतामाह—एष इति । गतिः—प्राप्यम्, सम्पत्—ऐश्वर्यम्, लोकः—भोग्यं सुखम् च एतस्मात् अन्यत्राऽस्तीत्यर्थः । आत्मा स्वतोऽकर्ता बुद्ध्याद्युपाधिना तु कर्तेति उभयथा अभावः उक्तः, तत्रार्थे सूत्रं योजयति—**तदेतदाहेत्यादि** । सम्प्रसादः—सुषुप्तिः । यथा स्फटिकस्य लौहित्यं कुसुमाद्युपाधिकम्, तथाऽऽत्मनः कर्तृत्वं बुद्ध्याद्युपाधिकम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धम् । न

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसी सुषुप्त आत्मरूपको परमपुरुषार्थता कहते हैं—"एष" इत्यादिसे। गति—प्राप्य। संपत्—ऐश्वर्य, लोक—भोग्य सुख यह सब इससे अन्यत्र है, ऐसा अर्थ है। आत्मा स्वतः अकर्ता है बुद्धि आदि उपाधिसे तो कर्ता है, इस प्रकार दोनों तरहसे उसमें कर्तृत्वका अभाव कहा गया है। इस अर्थमें सूत्रकी योजना करते हैं—"तदेतदाह" इत्यादिसे। सम्प्रसाद—सुषुप्ति, जैसे कुसुम आदि उपाधिसे स्फटिकमें लौहित्य है वैसे अन्वय—व्यतिरेकसे बुद्धि आदि उपाधिप्रयुक्त आत्मामें कर्तृत्व है परन्तु वे अन्वय—व्यतिरेक करणविषयक हैं उपादानविषयक नहीं हैं, ऐसा कोई कहे, तो यह

भाष्य

तच्छ्रमापनुत्तये स्वमात्मानं परं ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्यकरणसङ्घातोऽकर्ता सुखी भवति सम्प्रसादावस्थायाम्। तथा मुक्त्यवस्थायामप्यविद्याध्वान्तं विद्याप्रदीपेन विधूयाऽऽत्मैव केवलो निर्वृतः सुखी भवति। तक्षदृष्टान्तश्चैतावतांऽशेन द्रष्टव्यः। तक्षा हि विशिष्टेषु तक्षणादिव्यापारेष्वपेक्ष्यैव प्रतिनियतानि करणानि वास्यादीनि कर्ता भवति, स्वशरीरेण त्वकर्तैव। एवमयमात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव मनआदीनि करणानि कर्ता भवति, स्वात्मना त्वकर्तैवेति। न त्वात्मनस्तक्ष्ण इवाऽवयवाः सन्ति यैर्हस्तादि-

भाष्यका अनुवाद

दूर करनेके लिए अपने स्वरूप परब्रह्ममें प्रवेश करके कार्यकरणसंघातसे विमुक्त होकर सुषुप्ति अवस्थामें अकर्ता होकर सुखी होता है। इसी प्रकार मुक्तिकी अवस्थामें भी अविद्यारूपी अन्धकारको विद्यारूपी प्रदीपसे दूर करके आत्मा ही केवल शान्त और सुखी होता है। और बढ़ईका दृष्टान्त इतने अंशमें समझना चाहिए कि बढ़ई छीलना आदि विशेष व्यापारोंमेंसे तत्-तत् व्यापारोंमें नियत बसुला आदि करणोंकी अपेक्षा रखकर ही कर्ता होता है, अपने शरीरसे तो वह अकर्ता ही है। इसी प्रकार यह आत्मा सब व्यापारोंमें मन आदि करणोंकी अपेक्षा रख कर ही कर्ता होता है, अपने स्वरूपसे तो अकर्ता ही है। परन्तु आत्माके बढ़ईके जैसे अवयव नहीं हैं कि

रत्नप्रभा

च तौ बुद्धेः आत्मकर्तृत्वे करणत्वविषयौ, न उपादानत्वविषयौ इति युक्तम्, करणत्वात् कार्यान्वय्युपादानत्वस्य अन्तरङ्गतया चित्संवलितबुद्धेः ताभ्याम् उपादानत्वस्यैव सिद्धेः। एवं चिदभेदेनाऽध्यस्तबुद्ध्याख्याहङ्कारस्य कर्तृत्वोपादानत्वे महावाक्यसम्मतिश्चेति भावः। ननु तक्षा स्वहस्तादिना वास्यादिप्रेरणशक्तत्वात् स्वतः कर्ता, आत्मा तु निरवयवत्वात् अशक्त इति दृष्टान्तवैषम्यमाशङ्क्य औपाधिककर्तृत्वांशेन विवक्षितेन साम्यमाह—**तक्षदृष्टान्तश्चेति**। शास्त्रेण

रत्नप्रभाका अनुवाद

कथन युक्त नहीं है, क्योंकि करणत्वकी अपेक्षा कार्य्यान्वयी उपादानत्वके अन्तरङ्ग होनेसे चिन्मिश्रित बुद्धिका उपादानत्व उन दोनोंसे सिद्ध ही है। इस प्रकार चित्के अभेदसे अध्यस्त बुद्धिरूप अहंकारके कर्तृत्व, उपादानत्वमें महावाक्यकी संमति भी है, ऐसा भाव है। परन्तु तक्षा (बढ़ई) अपने हाथसे वास्यादिकी प्रेरणामें शक्त होनेसे स्वयं कर्ता हो सकता है, लेकिन आत्मा निरवयव होनेसे अशक्त है, इस प्रकार दृष्टान्तवैषम्यकी आशङ्का करके विवक्षित औपाधिक कर्तृत्वके अंशसे साम्य कहते हैं—"तक्षदृष्टान्तश्च" इत्यादिसे। शास्त्रसे अनूदित कर्तृत्व

भाष्य

भिरिव वास्यादीनि तक्षा मनआदीनि करणान्यात्मोपाददीत न्यस्येद्वा। यत्तूक्तम्—शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वम्—इति। तन्न। विधिशास्त्रं तावद् यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति। न च स्वाभाविकमस्य कर्तृत्वमस्ति, ब्रह्मात्मत्वोपदेशादित्यवोचाम। तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते। 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्येवंजातीयकमपि शास्त्रमनुवादरूपत्वाद् यथाप्राप्तमेवाऽविद्याकृतं कर्तृत्वमनुवदिष्यति। एतेन विहारोपादाने परिहृते, तयोरप्यनुवादरूपत्वात्। ननु संध्ये स्थाने प्रसुप्तेषु करणेषु स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते इति

भाष्यका अनुवाद

जिनसे जैसे बढ़ई हाथ आदिसे बसुला आदिका ग्रहण करता है और त्याग करता है वैसे मन आदि करणोंको आत्मा ग्रहण करे या छोड़े। शास्त्रार्थवत्त्व आदि हेतुओंसे आत्माका कर्तृत्व स्वाभाविक है, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है। प्रथमतो विधिशास्त्र यथार्थत्वको लेकर कर्त्तव्यविशेषका उपदेश करता है, आत्माके कर्तृत्वका प्रतिपादन नहीं करता। और आत्मामें स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि उसके ब्रह्मात्मत्वका उपदेश है, ऐसा हमने कहा है। इसलिए अविद्यासे कल्पित कर्तृत्वको लेकर विधिशास्त्र प्रवृत्त होगा। 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (विज्ञातृस्वभाव पुरुष कर्ता है) इस प्रकारका शास्त्र भी अनुवादरूप होनेसे लोकसिद्ध अविद्यासे कल्पित कर्तृत्वका ही अनुवाद करेगा। इससे विहार और उपादानका परिहार हुआ, क्योंकि वे भी अनुवादरूप हैं। परन्तु स्वप्नमें इन्द्रियोंके प्रसुप्त होनेपर अपने शरीरमें इच्छानुसार परिवर्त्तन

रत्नप्रभा

अनूद्यमानं कर्तृत्वं स्वाभाविकमेव किं न स्यात् इत्यत आह—न च स्वाभाविकमिति। उपाध्यभावकाले श्रुतं कर्तृत्वं स्वाभाविकमेव इति शङ्कते—ननु सन्ध्य इति। किञ्च, करणैः विशिष्टस्य कर्तृत्वे तेषां कर्त्रन्तर्भावाद् तेषु अपि कर्तृत्वबुद्धिः स्यात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वाभाविक क्यों नहीं, इसपर कहते हैं—'न च स्वाभाविकम्" इत्यादिसे। उपाधिके अभाव कालमें सुना गया कर्तृत्व स्वाभाविक ही है? ऐसी आशङ्का करते हैं "ननु सन्ध्य" इत्यादिसे। किञ्च, करणोंसे विशिष्टमें कर्तृत्व माननेपर उनसे अन्य कर्ताके अभावसे उनमें भी कर्तृ

भाष्य

विहार उपदिश्यमानः केवलस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वमावहति । तथोपादानेऽपि 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति करणेषु कर्मकरणविभक्ती श्रूयमाणे केवलस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वं गमयत इति । अत्रोच्यते—न तावत् संध्ये स्थानेऽत्यन्तमात्मनः करणविरमणमस्ति, 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' (बृ० ४।३।७) इति तत्राऽपि धीसम्बन्धश्रवणात् । तथा च स्मरन्ति—

'इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि ।
सेवते विषयानेव तद्विद्यात् स्वप्नदर्शनम् ॥' इति ।

'कामादयश्च मनसो वृत्तयः' इति श्रुतिः, ताश्च स्वप्ने दृश्यन्ते, तस्मात् समना एव स्वप्ने विहरति । विहारोऽपि च तत्रत्यो वासनामय

भाष्यका अनुवाद

करता है, इस प्रकार किया हुआ विहारका उपदेश आत्माके कर्तृत्वको सिद्ध करता है । वैसे उपादानमें भी 'तदेषां प्राणानाम्०' (इससे इन इन्द्रियोंकी विज्ञान-शक्तिसे विज्ञानका ग्रहण करके) इस प्रकार करणोंमें श्रूयमाण कर्मविभक्ति और करणविभक्ति केवल आत्माके कर्तृत्वको सूचित करती हैं, इसपर कहते हैं—स्वप्नमें आत्माके करणों—इन्द्रियोंका अत्यन्त विराम नहीं होता, क्योंकि 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं०' (बुद्धिसहित स्वप्न होकर इस लोकका अतिक्रमण करता है) इस प्रकार स्वप्नमें भी बुद्धिके साथ संबन्धका श्रवण है । इसी प्रकार स्मृतिकार भी कहते हैं—'इन्द्रियाणामुपरमे०' (इन्द्रियोंके उपरत होने-पर मन यदि उपरत न हो और विषयोंका ही सेवन करे तो उसको स्वप्नदर्शन समझना चाहिए) 'कामादयश्च मनसो वृत्तयः' (काम आदि मनकी वृत्तियां हैं) ऐसी श्रुति है, और वे वृत्तियां स्वप्नमें दिखाई देती हैं, इसलिए मन

रत्नप्रभा

न चैवमस्ति, ततः केवलात्मनः कर्तृत्वमित्याह—तथेति । स्वप्नविहारे तावद् उपाध्यभावोऽसिद्ध इत्याह—न तावत् सन्ध्य इति । विहारस्य मिथ्यात्वात् तत्कर्तृत्वमपि मिथ्या इत्याह—विहारोऽपीति । जक्षत्—भुञ्जान इव । करणत्वविशि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विभक्ति होगी । परन्तु ऐसा है नहीं इससे केवल आत्मामें कर्तृत्व है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । स्वप्नविहारमें उपाधिका अभाव असिद्ध है, इस प्रकार कहते हैं—"न तावत् सन्ध्य" इत्यादिसे । विहारके मिथ्या होनेसे उसका कर्तृत्व भी मिथ्या है, इस प्रकार कहते हैं—

भाष्य

एव न तु पारमार्थिकोऽस्ति। तथा च श्रुतिः इवकारानुबद्धमेव स्वप्नव्यापारं वर्णयति--'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्' (बृ० ४।३।१३) इति। लौकिका अपि तथैव स्वप्नं कथयन्ति 'आरुक्षमिव गिरिशृङ्गमद्राक्षमिव वनराजिम्' इति। तथोपादानेऽपि यद्यपि करणेषु कर्मकरणविभक्तिनिर्देशस्तथापि तत्संपृक्तस्यैवाऽऽत्मनः कर्तृत्वं द्रष्टव्यम्, केवले कर्तृत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात्। भवति च लोकेऽनेकप्रकारा विवक्षा—'योधा युध्यन्ते योधै राजा युध्यते' इति। अपि

भाष्यका अनुवाद

सहित ही आत्मा स्वप्नमें विहार करता है और उस अवस्थाका विहार भी वासनामय ही है, पारमार्थिक नहीं है। वैसे श्रुति भी 'मानो' के आकारसे युक्त होकर स्वप्नव्यापारका ही वर्णन करती है—'उतेव स्त्रीभिः सह०' (मानो स्त्रियोंके साथ आनन्द पाता हुआ, मानो मित्रोंके साथ हंसता हुआ, मानो सिंहादि भय हेतुओंको देखता हुआ) लौकिक भी उसी प्रकार स्वप्नका वर्णन करते हैं—'मानो मैं गिरिके शिखरपर चढ़ा, मानो मैंने वनपंक्ति देखी।' उसी प्रकार उपादानमें भी यद्यपि करणोंमें कर्मविभक्ति और करणविभक्तिका निर्देश है, तो भी इससे सम्पृक्त आत्मा ही कर्त्ता है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि केवल आत्मामें कर्तृत्वका असम्भव दिखलाया है। और लोकमें अनेक प्रकारकी विवक्षा होती है—योद्धा लड़ते हैं, योद्धाओं द्वारा राजा लड़ता है। और इस उपादानमें करणके व्यापारके विराममात्रकी विवक्षा है,

---

रत्नप्रभा

ष्टस्य कर्तृत्वे करणेषु कर्तृविभक्तिः स्यात् न करणविभक्तिः इत्युक्तं प्रत्याह—**भवति च लोक इति**। कर्तृषु अपि करणविभक्तिः न विरुध्यते दृष्टत्वात्, अस्ति च कर्तृप्रयोगः 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादौ इति भावः। उपादानस्य सकर्तृकत्वम् अङ्गीकृत्य केवलात्मनः कर्तृत्वं निरस्तम्, इदानीं तस्य अक्रियत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"विहारोऽपि" इत्यादिसे। जक्षत् मानो खाता हुआ। करणत्वविशिष्टको कर्ता माननेपर करणोंमें कर्तृविभक्ति होगी, करणविभक्ति नहीं होगी, इस कथनके उत्तरमें कहते हैं—"भवति च लोके" इत्यादिसे। कर्तामें भी करणविभक्ति विरुद्ध नहीं है, क्योंकि लोकमें ऐसा देखा जाता है—'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादिमें ऐसा भाव है। उपादानमें सकर्तृत्वका अङ्गीकारकर केवल आत्माके कर्तृत्वका निरसन किया गया, अब निष्क्रिय होनेसे कर्ताकी अपेक्षा नहीं है,

भाष्य

चाऽस्मिन्नुपादाने करणव्यापारोपरममात्रं विवक्ष्यते न स्वातन्त्र्यं कस्यचिदबुद्धिपूर्वकस्यापि स्वापे करणव्यापारोपरमस्य दृष्टत्वात्। यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शितः—'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इति, स बुद्धेरेव कर्तृत्वं प्रापयति, विज्ञानशब्दस्य तत्र प्रसिद्धत्वात्, मनोऽनन्तरं पाठाच्च। 'तस्य श्रद्धैव शिरः' (तै० २।४) इति च विज्ञानमयस्याऽऽत्मनः श्रद्धाद्यवयवत्वसङ्कीर्तनात् श्रद्धादीनां च बुद्धिधर्मत्वप्रसिद्धेः, 'विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते' (तै० २।५।१) इति च वाक्यशेषात्,

भाष्यका अनुवाद

किसीके स्वातन्त्र्यकी विवक्षा नहीं है, क्योंकि स्वप्नमें अबुद्धिपूर्वक भी करण-व्यापारका विराम देखा जाता है। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (विज्ञान यज्ञ करता है) यह जो व्यपदेश दिखलाया है, वह बुद्धिमें ही कर्तृत्व प्राप्त करता है, क्योंकि विज्ञान उस अर्थमें प्रसिद्ध है और मनके अनन्तर उसका पाठ है। 'तस्य श्रद्धैव०' (उसका श्रद्धा ही शिर है) विज्ञानमय आत्माके श्रद्धा आदि अवयव कहे हैं और श्रद्धा आदि बुद्धिके धर्मरूपसे प्रसिद्ध हैं, इसी प्रकार 'विज्ञानं देवाः' (सब देवता विज्ञानकी ब्रह्मरूपसे ज्येष्ठरूपसे उपासना

रत्नप्रभा

न कर्त्रपेक्षा इत्याह—**अपि चेति**। पूर्वं विज्ञानं जीव इत्यङ्गीकृत्य जीवस्य कर्तृत्वे 'तनुते' इति श्रुतिरुक्ता, सम्प्रति तया श्रुत्या अनुपहितात्मनः कर्तृत्वमिति प्राप्तौ, विज्ञानं बुद्धिरेव, तस्या एवाऽत्र कर्तृत्वमुच्यते, तदुपहितात्मनः कर्तृत्वसिद्धये इत्यभिप्रेत्याऽऽह—**यस्त्विति**। 'योऽयं विज्ञानमयः' (बृ० ४।३।७—४।४।२२) इत्यादिश्रुतिषु विज्ञानशब्दस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वाद् अत्र च मनोमयकोशानन्तरं पठितत्वात् श्रद्धादिलिङ्गाच्च बुद्धिरेव विज्ञानमित्यर्थः। तत्रैव लिङ्गान्तरमाह—**विज्ञानं देवा इति**। 'महद्यक्षं प्रथमजम्' (बृ० ५।४।१) इत्यादिश्रुतौ हिरण्यगर्भ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। पूर्वमें विज्ञान जीव है, ऐसा अङ्गीकार करके जीवके कर्तृत्वमें 'तनुते' इस प्रकार श्रुति कही गई है, अब उस श्रुतिसे उपाधिरहित आत्मामें कर्तृत्व है, इस प्रकारकी प्राप्तिमें विज्ञान बुद्धि ही है, उसीमें यहाँ कर्तृत्व कहा गया है। तदुपहित आत्मामें कर्तृत्वकी सिद्धि है इस अभिप्रायसे कहते हैं—"यस्तु" इत्यादिसे। 'योऽयम्' इत्यादि श्रुतियोंमें विज्ञानशब्दकी बुद्धिमें प्रसिद्धि होनेसे और यहां मनोमय कोशके अनन्तर पाठ होनेसे एवं श्रद्धा आदि लिङ्गसे बुद्धि ही विज्ञान है, ऐसा अर्थ है। उसमें अन्य लिङ्ग कहते

भाष्य

ज्येष्ठत्वस्य च प्रथमजत्वस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वात् । 'स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः' इति च श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य वाग्बुद्धिसाध्यत्वावधारणात् । न च बुद्धेः शक्तिविपर्ययः करणानां कर्तृत्वाभ्युपगमे भवति, सर्वकारकाणामेव स्वस्वव्यापारेषु कर्तृत्वस्याऽवश्यंभावित्वात् । उपलब्ध्य-

भाष्यका अनुवाद

करते हैं) ऐसा वाक्यशेष है और ज्येष्ठत्व अर्थात् प्रथम उत्पन्न होना भी बुद्धिमें प्रसिद्ध है । और 'स एष वा०' (जो वाणी और चित्तका उत्तरोत्तर क्रम है, वही यह यज्ञ है) इस प्रकार अन्य श्रुतिमें वाणी और बुद्धिसे यज्ञ साध्य है, ऐसा अवधारण किया गया है । और करणोंका कर्तृत्व स्वीकार करनेमें बुद्धिकी शक्तिका विपर्यय नहीं होता, क्योंकि सभी कारकोंका अपने-अपने व्यापारोंमें कर्तृत्व अवश्यंभावी है, परन्तु उन करणोंका करणत्व उपलब्धिकी

रत्नप्रभा

ब्रह्मात्मबुद्धेः ज्येष्ठत्वोक्तेः अत्र देवैः—इन्द्रियैः उपास्यमानं ज्येष्ठं ब्रह्म विज्ञानं बुद्धिरेवेत्यर्थः । यक्षम्—पूज्यम् । किञ्च, श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य बुद्धिकार्यत्वोक्तेः अत्राऽपि यज्ञकर्तृविज्ञानं बुद्धिः इत्याह—स एष इति । चित्तेन ध्यात्वा वाचा मन्त्रोक्त्या यज्ञो जायते, ततः चित्तस्य वाचः पूर्वोत्तरभावो यज्ञ इत्यर्थः । यच्चोक्तम्—बुद्धेः कर्तृत्वे शक्तिवैपरीत्यप्रसङ्गः इति, तन्न; विक्लिद्यन्ते तण्डुलाः, ज्वलन्ति काष्ठानि, बिभर्ति स्थालीति स्वस्वव्यापारेषु सर्वकारकाणां कर्तृत्वस्वीकारादित्याह—न चेति । तर्हि बुद्ध्यादीनां कर्तृत्वे करणत्ववार्ता तेषु न स्यात् इत्यत आह—उपलब्धीति । यथा काष्ठानां स्वव्यापारे कर्तृत्वेऽपि पाकापेक्षया

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"विज्ञानं देवा" इत्यादिसे । 'महद् यक्षं प्रथमजम्०' (प्रथम उत्पन्न हुआ महान् यक्ष) इत्यादि श्रुतिमें हिरण्यगर्भात्मक बुद्धिके ज्येष्ठत्वके कथनसे यहाँ देव—इन्द्रियोंसे उपास्यमान ज्येष्ठ ब्रह्म विज्ञान बुद्धि ही है, ऐसा अर्थ है । यक्ष—पूज्य । किञ्च, अन्य श्रुतिमें यज्ञमें बुद्धिके कार्यत्वकी उक्तिसे यहाँ भी यज्ञ करनेवाला विज्ञान बुद्धि ही है, ऐसा कहते हैं—"स एष" इत्यादिसे । चित्तसे ध्यान करके वाचा—मन्त्रोक्तिसे यज्ञ उत्पन्न होता है, उसके अनन्तर चित्त और वाणीका पूर्व और उत्तर भाव यज्ञ है, ऐसा अर्थ है । और यह जो कहा है कि बुद्धिको कर्ता माननेसे उसकी शक्तिका विपर्यय प्रसङ्ग होगा, यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'विक्लिद्यन्ते तण्डुलाः' (चावल पकते हैं) 'ज्वलन्ति काष्ठानि' (लकड़ियाँ जलती हैं) 'बिभर्ति स्थाली' (स्थाली धारण करती है) इत्यादि स्थलोंमें अपने-अपने व्यापारोंमें सभी कारकोंमें कर्तृत्वका स्वीकार है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । यदि बुद्धि आदिमें कर्तृत्व माना जाय, तो

भाष्य

पेक्षं त्वेषां करणानां करणत्वम्, सा चाऽऽत्मनः। न च तस्यामप्यस्य कर्तृत्वमस्ति, नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात्। अहङ्कारपूर्वकमपि कर्तृत्वं

भाष्यका अनुवाद

अपेक्षासे है और वह उपलब्धि आत्माकी है। उसमें भी इसका कर्तृत्व हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि यह नित्य उपलब्धिस्वरूप है। अहङ्कारपूर्वक

रत्नप्रभा

करणत्वम्, तथा बुद्ध्यादीनाम् अध्यवसायसङ्कल्पादिक्रियाकर्तृत्वेऽपि उपलब्ध्यपेक्षया करणत्वमित्यर्थः। ननु तर्हि उपलब्धिः कस्य व्यापारः? इत्यत आह—**सा चेति**। तर्हि तस्याम् आत्मा केवलः कर्ता स्यात् 'यस्य यो व्यापारः स तस्य कर्ता' इति स्थितेरित्यत आह—**न चेति**। उपलब्धेः नित्यत्वे बुद्ध्यादीनां कथं करणत्वम् उक्तमिति चेद् उच्यते—अखण्डसाक्षिचैतन्यं बुद्धिवृत्तिभिः भिन्नं सत् विषयावच्छिन्नत्वेन जायते, तथा च विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य उपलब्धौ बुद्ध्यादीनां करणत्वम्, बुद्ध्याद्युपहितात्मनः कर्तृत्वम्, न केवलस्य। न च बुद्धेरेव तत्कर्तृत्वम्, चैतन्यस्य जडव्यापारत्वायोगादिति भावः। यच्चोक्तम्—बुद्धेः कर्तृत्वे स एवाऽहंधीगम्यो जीव इति, तस्य करणान्तरं कल्पनीयम्। तथा च नाममात्रे विवाद इति। तत्र केवलात्मनः कर्तृत्वम् उक्तमिति भ्रान्तिं निरस्यति—**अहङ्कारेति**। सांख्यनिरा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उनमें करणत्वका कथन न होगा, इसपर कहते हैं—"उपलब्धि" इत्यादिसे। जैसे काष्ठ आदिका अपने व्यापारमें कर्तृत्व होनेपर भी पाककी अपेक्षासे उनमें करणत्व है, वैसे ही बुद्धि आदिमें अध्यवसाय, संकल्प आदि क्रियाके प्रति कर्तृत्व होनेपर भी उपलब्धिकी अपेक्षा वह करण है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि उपलब्धि किसका व्यापार है? इसपर कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे। तब उसका केवल आत्मा ही कर्ता होगा, क्योंकि 'जिसका जो व्यापार होता है, वह उसका कर्ता होता है' ऐसा नियम है, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। उपलब्धि नित्य है, अतः बुद्धि आदिमें करणत्व किस प्रकार कहा गया? ऐसा कहो, तो कहते हैं—अखण्ड साक्षी चैतन्य बुद्धिकी वृत्तियोंसे विशिष्ट होता हुआ विषयावच्छिन्नत्वरूपसे पैदा होता है, इससे विषयावच्छिन्न चैतन्यकी उपलब्धिमें बुद्धि आदिमें करणत्व है और बुद्धिसे उपहित आत्मामें कर्तृत्व है, केवल आत्मामें कर्तृत्व नहीं है। वह कर्तृत्व बुद्धिका नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य जडका व्यापार नहीं हो सकता है, ऐसा भाव है। और यह जो कहा है कि बुद्धिको कर्ता माननेपर वही अहंप्रत्ययसे गम्य जीव होगा, अतः उससे अन्य करणकी कल्पना करनी होगी, इससे नाममात्रमें विवाद होगा। उसमें केवल आत्मामें ही कर्तृत्व कहा गया, इस प्रकारकी भ्रान्तिका निराकरण करते हैं—"अहंकार" इत्यादिसे।

भाष्य

नोपलब्धुर्भवितुमर्हति, अहङ्कारस्याऽप्युपलभ्यमानत्वात्। न चैवं सति करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः, बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात्। समाध्यभावस्तु शास्त्रार्थवत्त्वेनैव परिहृतः, यथाप्राप्तमेव कर्तृत्वमुपादाय समाधिविधानात्। तस्मात् कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति स्थितम् ॥ ४० ॥

भाष्यका अनुवाद

कर्तृत्व उपलब्धाका हो, यह युक्त नहीं है, क्योंकि अहङ्कार भी उपलभ्यमान है। और ऐसा होनेपर अन्य करणकी कल्पनाका प्रसङ्ग आवेगा, ऐसा भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि बुद्धिका करणरूपसे स्वीकार किया गया है। समाधिके अभावका तो शास्त्रार्थवत्त्वसे ही परिहार किया जा चुका है, क्योंकि लोकसिद्ध कर्तृत्वको लेकर ही समाधिका विधान है। इसलिए आत्माका कर्तृत्व भी उपाधिनिमित्तक ही है, ऐसा निश्चय हुआ ॥ ४० ॥

रत्नप्रभा

सार्थं बुद्ध्यभेदेन अध्यस्तचिदात्मकाहङ्कारगतं कर्तृत्वं यदुक्तम्, तदहंधीगम्यस्य बुद्धिविशिष्टात्मन एव, न केवलस्य साक्षिणो भवितुमर्हति, दृश्यधर्मस्य साक्षिस्वभावत्वायोगात्। एवं विशिष्टात्मनः कर्तृत्वे विशेषणीभूताया जडबुद्धेरेव करणत्वोपपत्तेः न करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः। अध्यासं विना केवलबुद्धिकर्तृत्ववादिनस्तु करणान्तरप्रसङ्गो दुर्वार इत्यर्थः। एवं शास्त्रार्थवत्त्वादिहेतूनाम् आत्मनः कर्तृत्वमात्रसाधकत्वेऽपि स्वाभाविककर्तृत्वसाधनसामर्थ्याभावाद् अध्यस्तमेव कर्तृत्वं विध्यादिकर्तृत्वश्रुतीनाम् उपजीव्यम्। तस्मात् असङ्गत्वविध्यादिकर्तृत्वश्रुतीनाम् अविरोध इति सिद्धम् ॥ ४० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

साङ्ख्यमतके निरासार्थ बुद्धिके अभेदसे अध्यस्त चिदात्मक अहंकारगत ही कर्तृत्व जो कहा जा चुका है, वह अहंप्रत्ययगम्य बुद्धिविशिष्ट आत्माका ही है, केवल साक्षीका वह नहीं हो सकता है, क्योंकि दृश्य धर्म साक्षीके स्वभाव नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार विशिष्ट आत्मामें कर्तृत्व माननेसे विशेषणीभूत जड बुद्धिमें ही करणत्वकी उपपत्ति हो सकती है, अतः अन्य करणकी कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। अध्यासके बिना केवल बुद्धिको कर्ता माननेवालेको करणान्तरका प्रसंग दुर्वार है, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार शास्त्रार्थवत्त्वादि हेतुओंके आत्मामें कर्तृत्वमात्रसाधकत्व होनेपर भी उनमें स्वाभाविक कर्तृत्वके साधनकी सामर्थ्य न रहनेसे अध्यस्त ही कर्तृत्व विधि आदिके कर्तृत्वका उपजीव्य है। अतः असंगत्व और विध्यादिकर्तृत्व श्रुतियोंका परस्पर अविरोध है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ४० ॥

[१६ परायत्ताधिकरण सू० ४१—४२]

प्रवर्तकोऽस्य रागादिरीशो वा, रागतः कृषौ ।
दृष्टा प्रवृत्तिर्वैषम्यमीशस्य प्रेरणे भवेत् ॥ १ ॥
सस्येषु वृष्टिवज्जीवेष्वीशस्याविषयत्वतः ।
रागोऽन्तर्याम्यधीनोऽत ईश्वरोऽस्य प्रवर्तकः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीवके प्रवर्तक राग आदि हैं अथवा ईश्वर है ?

पूर्वपक्ष—कृषिमें रागमूलक प्रवृत्ति देखी जाती है, और ईश्वरको प्रवर्तक माननेपर ईश्वरमें वैषम्य प्रसक्त होगा, अतः जीवके प्रवर्तक राग, द्वेष आदि हैं, ईश्वर प्रवर्तक नहीं है ।

सिद्धान्त—सस्योंमें वृष्टिके समान जीवोंमें ईश्वर विषम नहीं है और राग आदि अन्तर्यामीके—ईश्वरके अधीन हैं, अतः जीवका प्रवर्तक ईश्वर ही है ।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है— लोकमें राग-द्वेष ही कृषकोंके प्रवर्तक देखे जाते हैं, उसीके अनुसार धर्म और अधर्मका आचरण करनेवाले जीवोंके भी वे ही प्रवर्तक हैं, ऐसा स्वीकार करना चाहिए । ईश्वर यदि प्रवर्तक माना जाय, तो ईश्वर कुछ जीवोंको धर्ममें प्रवृत्त करता है, कुछ को अधर्ममें प्रवृत्त करता है, इस प्रकार ईश्वरमें विषमताका निवारण नहीं हो सकेगा । इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर प्रवर्तक नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—ईश्वरको विषमता दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह वृष्टिके समान सबके प्रति साधारण निमित्त है । (जैसे सब धान्योंके प्रति वृष्टि साधारण निमित्त है, वैसे ही सब जीवोंकी प्रवृत्तिमें ईश्वर साधारण निमित्त है) जैसे ईश्वर 'यथायोग्य जीव प्रवृत्त हों' इस प्रकारकी अनुज्ञासे साधारण प्रवर्तक है । यदि ईश्वरको असाधारण प्रवर्तक माना जाय, तो भी उसमें विषमता प्राप्त नहीं होगी; क्योंकि पूर्वमें किये हुए कर्म और वासनाएँ वैषम्यके हेतु हैं । यदि ऐसा कोई कहे कि कर्म फलके हेतु हैं, अन्य कर्मके प्रति कारण नहीं हैं, ठीक है, परन्तु सुख-दुःखरूप फलको देनेके लिए जीवकी प्रेरणा करते हुए कर्म अर्थतः कर्मान्तरको उत्पन्न करते हैं, अतः अन्य कर्मके प्रति उनमें कारणत्व दुर्वार है । वासनाएँ साक्षात् कर्मके प्रति कारण हैं । अतः ईश्वरमें वैषम्यका प्रसङ्ग कैसे होगा ? रागके प्रवर्तकत्वका जो दृष्टान्त दिया है, वह वैसा ही रहे, उससे ईश्वरके प्रवर्तकत्वकी कुछ हानि नहीं होती है, क्योंकि सर्वान्तर्यामी ईश्वर द्वारा रागका भी नियमन होता है । इससे ईश्वर जीवका प्रवर्तक है यह सिद्ध हुआ ।

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—परात्, तु, तच्छ्रुतेः ।

पदार्थोक्ति—[न स्वतो जीवस्य कर्तृत्वादिसिद्धिः] तु—किन्तु, परात्—परस्मात् ईश्वरात् कर्माध्यक्षात् [अविद्यातिमिरान्धस्य कर्तृत्वादिसंसारसिद्धिः, तदनुग्रहे तु विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भविष्यति, कुतः] तच्छ्रुतेः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्यादिकायाः श्रुतेः [ईश्वरस्य कर्तृत्वमवसीयते] ।

भाषार्थ—जीवमें कर्तृत्व आदि स्वभावतः सिद्ध नहीं होता, किन्तु कर्माध्यक्ष परमात्मासे अज्ञानसे आच्छन्न जीवमें कर्तृत्व आदि संसारकी सिद्धि होती है; परमात्माका अनुग्रह होनेपर ज्ञानसे मोक्षसिद्धि होती है, क्योंकि 'एष ह्येव०' (यही अच्छे कर्म कराता है) इत्यादि श्रुतिसे ईश्वरके कर्तृत्वकी प्रतीति होती है ।

भाष्य

यदिदमविद्यावस्थायामुपाधिनिबन्धनं कर्तृत्वं जीवस्याऽभिहितम्, तत् किमनपेक्ष्येश्वरं भवत्याहोस्विदीश्वरापेक्षमिति भवति विचारणा । तत्र प्राप्तं तावत्—नेश्वरमपेक्षते जीवः कर्तृत्व इति । कस्मात्? अपेक्षा-

भाष्यका अनुवाद

अविद्यावस्थामें जो यह औपाधिक जीवका कर्तृत्व कहा गया है, वह क्या ईश्वरकी अपेक्षाके बिना होता है अथवा ईश्वरकी अपेक्षासे होता है ? इस प्रकार विचारणा—जिज्ञासा होती है ।

रत्नप्रभा

परात्तु तच्छ्रुतेः । यथा स्फटिके लौहित्याध्यासे लोहितद्रव्यं करणम्, तेनाऽयं स्फटिको लोहित इति अनुभवः, तथा कामादिपरिणामिबुद्धिः आत्मनि कर्तृत्वाद्यध्यासे करणम् इत्युक्तम्, तदध्यस्तं कर्तृत्वम् उपजीव्य जीवस्य कारकसम्पन्नत्वादीश्वरस्य कारयितृत्वश्रुतेश्च संशयमाह—यदिदमिति । अत्र 'एष ह्येव'

रत्नप्रभाका अनुवाद

"परात्तु तच्छ्रुतेः" । जैसे स्फटिकमें रक्तताके अध्यासमें लाल द्रव्य करण है, क्योंकि उससे यह स्फटिक लाल है, ऐसा अनुभव होता है, वैसे ही कामादिरूपसे परिणामिनी बुद्धि आत्मामें कर्तृत्व आदिके अध्यासमें करण है, ऐसा कहा जा चुका है, अब इस अध्यस्त कर्तृत्वके आधारपर जीवके कारक सम्पन्न होनेसे ईश्वरमें और कारयितृत्वश्रुतिमें संशय कहते हैं—"यदिदम्" इत्यादिसे । यहाँ 'एष ह्येव' (यही साधु कर्म कराता है) इत्यादि श्रुतियोंका,

भाष्य

प्रयोजनाभावात् । अयं हि जीवः स्वयमेव रागद्वेषादिदोषप्रयुक्तः कारकान्तर-सामग्रीसम्पन्नः कर्तृत्वम् अनुभवितुं शक्नोति । तस्य किमीश्वरः करिष्यति ? न च लोके प्रसिद्धिरस्ति कृष्यादिकासु क्रियास्वनडुहादिवदीश्वरोऽपेक्षितव्य इति । क्लेशात्मकेन च कर्तृत्वेन जन्तून् संसृजत ईश्वरस्य नैर्घृण्यं प्रसज्येत । विषमफलं चैषां कर्तृत्वं विदधतो वैषम्यम् । ननु 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्ष-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—जीव (अपने) कर्तृत्वमें ईश्वरकी अपेक्षा नहीं करता है । किससे ? अपेक्षाके प्रयोजनका अभाव होनेसे । क्योंकि यह जीव अपने आप ही राग, द्वेष आदि दोषोंसे प्रेरित होता हुआ अन्य कारक सामग्रीसे सम्पन्न होकर कर्तृत्वका अनुभव कर सकता है, उसका ईश्वर क्या करेगा ? और कृषि आदि क्रियामें बैलके समान ईश्वरकी अपेक्षा की जाती हो, ऐसा लोकमें अनुभव नहीं है । और दुःखरूप कर्तृत्वसे जन्तुको उत्पन्न करनेवाले ईश्वरमें नैर्घृण्य दोष प्रसक्त होगा और जिसमें विषम फल है ऐसे कर्तृत्वको उत्पन्न करनेवाले ईश्वरमें विषमता होगी । परन्तु यह कहा जा चुका है कि 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (प्राणियोंके कर्मकी अपेक्षा

रत्नप्रभा

(कौ० ३।८) इत्यादिश्रुतीनां कर्तृस्वातन्त्र्यद्योतकविध्यादिश्रुतिभिः विरोधसमाधानात् पादसंगतिः । कर्ममीमांसकमतेन पूर्वपक्षयति—तत्रेत्यादिना । बुद्ध्यादिकारक-सम्पत्तौ ईश्वरव्यतिरेके कर्तृत्वव्यतिरेकानुपलब्धेः न ईश्वरः प्रयोजकः । किञ्च, प्रयोजकत्वे नैर्घृण्यादिप्रसङ्ग इत्याह—क्लेशात्मकेन चेति । दत्तोत्तरमिदं चोद्य-मिति शङ्कते—नन्विति । पूर्वं जीवस्य धर्माधर्मवत्त्वं सिद्धवत्कृत्य तत्सापेक्षत्वाद् विषमजगत्कर्तृत्वमविरुद्धमित्युक्तम्, सम्प्रति ईश्वराधीनत्वे जीवस्य कर्तृत्वे सिद्धे धर्माधर्मवत्त्वसिद्धिः; तद्वत्त्वसिद्धौ तत्सापेक्षकारयितृत्वसिद्धिः, ईश्वरस्य कारयितृत्वे

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव स्वतन्त्र कर्ता है, ऐसा सूचन करनेवाली विध्यादि श्रुतियोंके साथ विरोधके समाधानसे पादकी संगति है। कर्ममीमांसकोंके मतसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। जीवमें बुद्धि आदि कारकोंकी सम्पत्ति है और ईश्वरके अभावमें जीवके कर्तृत्वके अभावकी अनुपलब्धि होनेसे ईश्वर प्रयोजक नहीं है यदि ईश्वरको प्रयोजक मानो, तो नैर्घृण्य आदि प्रसक्त होते हैं, ऐसा कहते हैं—"क्लेशात्म-केन च" इत्यादिसे । इस शंकाका उत्तर तो दिया जा चुका है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। पूर्वमें जीवके धर्मवत्त्व और अधर्मवत्त्वको सिद्धवत् मानकर उनके सापेक्ष होनेसे ईश्वरका विषम जगत् कर्तृत्व अविरुद्ध है, ऐसा कहा है। अब जीवका कर्तृत्व ईश्वरके अधीन है,

भाष्य

त्वात्, (ब्र० १।४।१७) इत्युक्तम्, सत्यमुक्तम्; सति त्वीश्वरस्य सापेक्षत्वसम्भवे। सापेक्षत्वं चेश्वरस्य सम्भवति सतोर्जन्तूनां धर्माधर्मयोः, तयोश्च सद्भावः सति जीवस्य कर्तृत्वे। तदेव चेत्कर्तृत्वमीश्वरापेक्षं स्यात् किंविषयमीश्वरस्य सापेक्षत्वमुच्येत। अकृताभ्यागमश्चैवं जीवस्य प्रसज्येत। तस्मात् स्वत एवाऽस्य कर्तृत्वमिति। एतां प्राप्तिं तुशब्देन व्यावर्त्य प्रतिज्ञा-

भाष्यका अनुवाद

होनेसे ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं हैं) ठीक है, कहा जा चुका है, परन्तु जब ईश्वरमें सापेक्षत्वका सम्भव हो तब यह उपपन्न होगा, प्राणियोंके धर्म और अधर्मके रहनेपर ईश्वरमें सापेक्षत्व होगा और धर्म और अधर्मका सद्भाव जीवके कर्तृत्वके होनेपर है। वही कर्तृत्व अगर ईश्वर सापेक्ष रहे, तो ईश्वरमें सापेक्षत्व किस प्रकारसे कहा जायगा? जीवमें अकृताभ्यागम प्रसक्त होगा इससे जीवको स्वतः ही कर्तृत्व है। पूर्वपक्षकी इस प्राप्तिका निवारण करके

रत्नप्रभा

सिद्धे जीवस्य कर्तृत्वसिद्धिरिति चक्रकापत्तेः कर्मसापेक्षत्वं न सम्भवतीत्युच्यते इत्याह—सत्यमिति। अस्तु कर्मानपेक्षस्य प्रवर्तकत्वं तत्राह—अकृतेति। अनपेक्षस्य प्रवर्तकत्वे धर्मवतो नरान् दुःखेन अधर्मवतः सुखेन योजयेत्, कारुणिकत्वे वा सर्वे सुखेन एकरूपाः स्युरिति जगद्वैचित्र्यं विध्यादिशास्त्रं च न स्यात्। तस्माद् विध्यादिशास्त्रार्थवत्त्वाय रागद्वेषायत्तं स्वत एव जीवस्य कर्तृत्वं वाच्यम्, तथा च कारयितृत्वश्रुतिविरोधः, ईश्वरस्ताविका वा सा श्रुतिरिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—एतामिति। यथा चन्दनादिसामग्र्यां सत्यां धर्मव्यतिरेके

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा सिद्ध होनेपर जीवका धर्मवत्त्व और अधर्मवत्त्व सिद्ध होता है ऐसा होनेसे उसका सापेक्ष कारयितृत्व सिद्ध होता है और ईश्वरका कारयितृत्व सिद्ध होनेसे जीवका कर्तृत्व सिद्ध होता है, इस प्रकार चक्रकके प्रसक्त होनेसे कहते हैं कि कर्मसापेक्षत्वका सम्भव नहीं है, इसे कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे। ईश्वरका प्रवर्तकत्व कर्मकी अनपेक्षासे हो, इसपर कहते हैं—"अकृत" इत्यादि। धर्म और अधर्मकी अपेक्षाके बिना प्रवर्त्तक हो, तो धर्मवान् नरोंको दुःखी करेगा और अधर्मवान् नरोंको सुखी करेगा, अथवा कारुणिक हो, तो सबको सुखी करेगा अर्थात् सब सुखसे एकरूप होंगे। अतः जगत्‌की विचित्रता या विध्यादिशास्त्रके अर्थवान् होनेके लिए राग-द्वेषके अधीन जीवका स्वतः ही कर्तृत्व कहना चाहिए, और ऐसा होनेसे कारयितृत्व श्रुतिके साथ विरोध आता है, या वे श्रुतियाँ केवल ईश्वरका स्तवन करनेवाली हैं, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"एताम्" इत्यादिसे। जैसे चन्दन आदि सामग्रीके होनेपर

भाष्य

नीते—'परात्' इति । अविद्यावस्थायां कार्यकरणसङ्घाताविवेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात् सर्वभूताधिवासात् साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः, तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति । कुतः ? तच्छ्रुतेः । यद्यपि रागादिदोषप्रयुक्तः सामग्रीसंपन्नश्च जीवः, यद्यपि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु नेश्वरकारणत्वं प्रसिद्धम्, तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिष्वीश्वरो हेतुकर्तेति श्रुतेरवसीयते । तथा हि श्रुतिर्भवति—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ३।८) इति, 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयका ॥ ४१ ॥

भाष्यका अनुवाद

सूत्रकार प्रतिज्ञा करते हैं—'परात्' इत्यादिसे । अविद्यावस्थामें कार्य-करण संघातके साथ अभेद देखनेवाला और अविद्यारूप अन्धकारसे अन्ध जीवके कर्तृत्व भोक्तृत्वरूप संसारकी सिद्धि कर्मोंके अध्यक्ष, सम्पूर्ण भूतोंके अधिष्ठान साक्षीरूप चेतयिता पर आत्मा ईश्वरसे उसकी आज्ञा द्वारा है। और उसके अनुग्रहरूप कारण द्वारा (प्राप्त) विज्ञानसे मोक्षकी सिद्धि हो सकती है । किससे ? उस प्रकार कहनेवाली श्रुतिसे । यद्यपि राग आदि दोषसे प्रेरित एवं सामग्रीसम्पन्न जीव है और यद्यपि लोकमें कृषि आदि कर्मोंमें ईश्वर कारणरूपसे प्रसिद्ध नहीं है, तथापि सब प्रवृत्तियोंमें ईश्वर हेतुकर्ता—प्रयोजककर्ता है, क्योंकि ऐसा श्रुतिसे समझा जाता है । जैसे कि 'एष ह्येव०' (जिसको यह उत्तमलोकमें ले जानेकी इच्छा करता है उससे शुभ कर्म कराता है, और जिसको हीन लोकमें ले जानेकी इच्छा करता है उससे अशुभ कर्म कराता है ।) 'य आत्मनि तिष्ठन्०' (जो आत्मामें रहकर आत्माका नियमन करता है) इत्यादि श्रुतियां हैं ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभा

सुखव्यतिरेकग्रहाभावेऽपि 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' (बृ० ३।२।१३) इत्यादिशास्त्रप्रामाण्यादेव धर्मस्य हेतुत्वसिद्धिः, एवमीश्वरस्याऽपि शास्त्रबलात् कारयितृत्वसिद्धिरिति भावः ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मके अभावमें सुखके अभावका ज्ञान नहीं होता, तो भी "पुण्यो वै०" (पुण्य कर्मसे निश्चय पुण्यशाली होता है) इत्यादि शास्त्रप्रामाण्यसे ही धर्मके हेतुत्वकी सिद्धि है—धर्म हेतुरूपसे सिद्ध होता है, वैसे ईश्वर भी शास्त्रके बलसे कारयिता है, ऐसा सिद्ध होता है, ऐसा भाव है ॥४१॥

भाष्य

नन्वेवमीश्वरस्य कारयितृत्वे सति वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामकृताभ्यागमश्च जीवस्येति। नेत्युच्यते—

भाष्यका अनुवाद

उक्त प्रकारसे ईश्वरको प्रेरक माननेपर उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष प्रसक्त होंगे और जीवको अकृताभ्यागम प्राप्त होगा। नहीं ऐसा कहते हैं—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

पदच्छेद—कृतप्रयत्नापेक्षः, तु, विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः।

पदार्थोक्ति—तुः उक्तपूर्वपक्षनिरासार्थकः, कृतप्रयत्नापेक्षः—जीवेन कृतो यः प्रयत्नः—धर्माधर्मरूपः तदपेक्ष एवेश्वरोऽन्यस्मिन् जन्मन्यपि धर्मादिकं कारयति, तदपेक्षश्च सुखादिरूपं फलं प्रयच्छति [इति न वैषम्यनैर्घृण्ये ईश्वरस्य प्रसज्येते। संसारस्याऽनादित्वात् पूर्वजन्मकृतधर्माद्यपेक्षा युक्तैव। ननु कस्मात् तदपेक्षत्वम् अत आह] विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः—ईश्वरस्य कर्मापेक्षत्वे 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति द्वयोः विहितप्रतिषिद्धयोः सार्थक्यं भवति, अन्यथा विधिनिषेधशास्त्रं निरर्थकमेव स्यात्। [एवं च ईश्वराधीनकर्तृत्वप्रतिपादकविध्यादिशास्त्रेण 'एष ह्येव साधु कर्म' इत्यादिशास्त्रस्य न विरोधः]।

भाषार्थ—जीवसे अनुष्ठित धर्म-अधर्मरूप व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाला ही ईश्वर अन्य जन्ममें भी धर्म आदि कराता है और तदनुसार सुख आदि फल देता है। इसलिए ईश्वरमें वैषम्य और अकारुण्यरूप दोष प्राप्त नहीं होते हैं। संसारके अनादि होनेसे पूर्व जन्ममें किये गये धर्म और अधर्मकी अपेक्षा उचित ही है। ईश्वर धर्म और अधर्मकी अपेक्षा क्यों रखता है? इस प्रश्नपर कहते हैं—ईश्वरके कर्मकी अपेक्षा रखनेवाला होनेमें 'ज्योतिष्टोमेन०' (ज्योतिष्टोमसे यज्ञ करे) ब्राह्मणो न०' (ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिए) इत्यादि विधि और निषेध सार्थक होते हैं। अन्यथा विधिनिषेधशास्त्र अनर्थक हो जायगा। इस प्रकार जीवका कर्तृत्व ईश्वरके अधीन है ऐसा प्रतिपादन करनेवाले विधि आदि शास्त्र से 'एष ह्येव०' (यही साधु कर्म कराता है) इत्यादि शास्त्रका विरोध नहीं है।

भाष्य

तुशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः । कृतो यः प्रयत्नो जीवस्य धर्माधर्मलक्षणस्तदपेक्ष एवैनमीश्वरः कारयति । ततश्चैते चोदिता दोषा न प्रसज्यन्ते । जीवकृतधर्माधर्मवैषम्यापेक्ष एव तत्तत्फलानि विषमं विभजेत् पर्जन्यवदीश्वरो निमित्तत्वमात्रेण । यथा लोके नानाविधानां गुच्छगुल्मादीनां व्रीहियवादीनां चाऽसाधारणेभ्यः स्वस्वबीजेभ्यो जायमानानां साधारणं निमित्तं भवति पर्जन्यः, नह्यसति पर्जन्ये रसपुष्पफलपलाशादिवैषम्यं तेषां जायते, नाऽप्यसत्सु स्वस्वबीजेषु, एवं जीवकृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वरस्तेषां शुभाशुभं विदध्यादिति श्लिष्यते । ननु कृतप्रयत्नापेक्षत्वमेव

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वोक्त दोषकी व्यावृत्तिके लिए है । जीवद्वारा किये गये धर्म और अधर्म रूप प्रयत्न की अपेक्षा रखनेवाला ईश्वर जीवकी प्रेरणा करता है । इससे उक्त दोष प्रसक्त नहीं होते हैं, जीवके किये हुए धर्म और अधर्मके वैषम्यकी अपेक्षा रखनेवाला ही ईश्वर पर्जन्यके समान निमित्तरूपसे ही तत्-तत् फलोंको विषमरूपसे विभक्त करता है । जैसे लोकमें असाधारण अपने अपने बीजोंसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके गुच्छ, गुल्म, व्रीहि, यव आदिके प्रति साधारण कारण पर्जन्य होता है, क्योंकि पर्जन्य न हो, तो रस, पुष्प, फल, पत्र आदिका वैषम्य नहीं होगा, और बीजोंके न रहनेपर भी वैषम्य नहीं होगा । इसी प्रकार जीवके व्यापारोंकी अपेक्षा करनेवाला ईश्वर उनका शुभ और अशुभ करता है यह संगत है ।

रत्नप्रभा

धर्माधर्माभ्यामेव फलवैषम्यसिद्धेरलमीश्वरेणेति आशङ्क्यबीजैरेवाऽङ्कुरवैषम्यसिद्धेः पर्जन्यवैयर्थ्यं स्यात् । यदि विशेषहेतूनां साधारणहेत्वपेक्षत्वान्न वैयर्थ्यम्, तर्हि ईश्वरस्याऽपि साधारणहेतुत्वाद् न वैयर्थ्यमित्याह—पर्जन्यवदिति । दृष्टान्तं विवृणोति—यथेति । अतिदीर्घवल्लीग्रन्थयो गुच्छाः पुष्पस्तवका वा, गुल्मास्तु ह्रस्ववल्ल्य इति भेदः । किमीश्वरस्य कारयितृत्वे जीवस्य कर्तृत्वं न स्यादित्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्म और अधर्मसे ही फलकी विषमता सिद्ध होती है, तो ईश्वरका क्या प्रयोजन है ? ऐसी आशंका करके बीजद्वारा ही अंकुरकी विषमता सिद्ध हो, तो पर्जन्य व्यर्थ होगा । यदि विशेष हेतु साधारण हेतुकी अपेक्षासे व्यर्थ नहीं होता है, तो ईश्वर भी साधारण हेतु होनेसे व्यर्थ नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"पर्जन्यवत्" इत्यादिसे । दृष्टान्तका विवरण करते हैं—"यथा" इत्यादिसे । गुच्छ—लताओंकी बड़ी ग्रन्थियाँ या फूलोंके गुच्छे । गुल्म—छोटी लताएँ, यह भेद है । क्या ईश्वरको प्रेरक माननेमें जीवका कर्तृत्व नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन करते हो या चक्रक दोषकी आपत्ति

भाष्य

जीवस्य परायत्ते कर्तृत्वे नोपपद्यते। नैष दोषः। परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः, कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति। अपि च पूर्वप्रयत्नमपेक्ष्येदानीं कारयति पूर्वतरं च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयदित्यनादित्वात् संसारस्येत्यनवद्यम्। कथं पुनरवगम्यते कृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वर इति? विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य इत्याह। एवं हि 'स्वर्गकामो यजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्येवंजातीयकस्य विहितस्य प्रतिषिद्धस्य चाऽवैयर्थ्यं भवति, अन्यथा तदनर्थकं स्यात्, ईश्वर एव विधिप्रतिषेधयोर्नियुज्येत, अत्यन्त-

भाष्यका अनुवाद

जीवके कर्तृत्वके पराधीन होनेपर ईश्वरका जीवकृतप्रयत्नापेक्षत्व ही नहीं घटता है। यह दोष नहीं है, क्योंकि पराधीन होनेपर भी जीव करता ही है, करते हुए जीवको ईश्वर प्रेरित करता है। और पूर्व प्रयत्नकी अपेक्षा करके इस समय वह जीवकी प्रेरणा करता है और पूर्वतर प्रयत्नकी अपेक्षा करके उसने पूर्वमें उसे प्रेरित किया था, इस प्रकार संसारके अनादि होनेसे बीजाङ्कुरकी भांति अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है, अतः यह दोषरहित है। यह कैसे समझा जाता है कि ईश्वर जीवद्वारा किये गये प्रयत्नकी अपेक्षा रखता है? विधि, प्रतिषेधके सार्थक होनेसे, ऐसा कहते हैं। इसीसे 'स्वर्ग कामो यजेत' (स्वर्गकी इच्छावाला याग करे) (ब्राह्मणो न हन्तव्यः) (ब्राह्मणका हनन नहीं करना चाहिए) इस प्रकारके विधि और निषेध सार्थक होते हैं, यदि ऐसा न माना

रत्नप्रभा

पाद्यते उत चक्रकापत्तिर्वा? नाद्य इत्याह—नैष दोष इति। अध्यापकाधीनस्य बटोः मुख्याध्ययनकर्तृत्वदर्शनादिति भावः। चक्रकं निरस्यति—अपि चेति। अनवद्यं जीवस्य कर्तृत्वं ईश्वरस्य कारयितृत्वं चेति शेषः। ईश्वरस्य सापेक्षत्वे विध्यादिशास्त्रप्रामाण्यान्यथानुपपत्तिं प्रमाणयति—कथमित्यादिना। एवं सापेक्षत्वे सत्यवैयर्थ्यं भवति। अन्यथा—अनपेक्षत्वे। वैयर्थ्यं प्रपञ्चयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है, ऐसा प्रतिपादन करते हो? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। अध्यापकके अधीन जो बटु है वह भी मुख्य अध्ययनका कर्त्ता देखा जाता है, ऐसा भाव है। चक्रकका निरसन करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जीवका कर्तृत्व और ईश्वरका कारयितृत्व दोषरहित है, इतना शेष है। ईश्वरके सापेक्षत्वमें विध्यादिशास्त्रके प्रामाण्यकी अन्यथानुपपत्तिको प्रमाणित करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। इस प्रकार ईश्वरके सापेक्ष होनेपर विधि आदि शास्त्र व्यर्थ नहीं होते हैं, नहीं तो—यदि ईश्वर उनकी अपेक्षावाला न हो, तो—विधि आदि

भाष्य

परतन्त्रत्वाज्जीवस्य। तथा विहितकारिणमप्यनर्थेन संसृजेत् प्रतिषिद्धकारिणमप्यर्थेन, ततश्च प्रामाण्यं वेदस्यास्तमियात्। ईश्वरस्य चात्यन्तानपेक्षत्वे लौकिकस्याऽपि पुरुषकारस्य वैयर्थ्यम्, तथा देशकालनिमित्तानां पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गश्चेत्येवंजातीयकं दोषजातमादिग्रहणेन दर्शयति ॥ ४२ ॥

भाष्यका अनुवाद

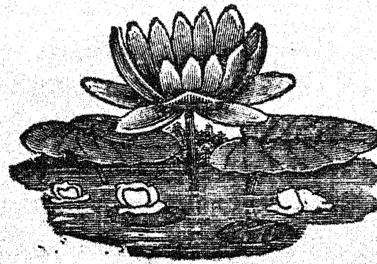
जाय, तो निरर्थक होंगे। विधि और प्रतिषेधका ईश्वर ही नियोक्ता है, क्योंकि जीव अत्यन्त परतन्त्र है। वैसे (वेद) विहित कर्म करनेवालेका अनर्थके साथ और प्रतिषिद्ध कर्म करनेवालेका अर्थके साथ सम्बन्ध करावेगा, इससे वेदका प्रामाण्य अस्त हो जायगा। ईश्वर अत्यन्त अनपेक्ष हो, तो लौकिक पुरुषार्थ व्यर्थ होगा, वैसेही देशकाल और निमित्तोंके पूर्वोक्त दोषप्रसङ्ग इत्यादि दोषसमुदाय आदिके ग्रहणसे दिखलाते हैं ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभा

ईश्वर इति। तयोः स्थाने स एव नियुज्येत अभिषिच्येत, तयोः कार्यं स एव कुर्यादिति यावत्। तथा च जीवस्य निरपेक्षेश्वरपरतन्त्रत्वाद् विध्यादिशास्त्रमकिञ्चित्करम्—अनर्थकं स्यादिति सम्बन्धः। पुरुषकारः—प्रयत्नः। आदिशब्दार्थमाह—तथेति। पूर्वोक्तदोषोऽकृताभ्यागमादिः। तस्मात् कर्मसापेक्षेश्वरस्य कारयितृत्वाद् 'एष ह्येव' (कौ० ३।८) इत्यादिश्रुतेर्विध्यादिश्रुत्यविरोध इति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

शास्त्र व्यर्थ होंगे, ऐसा विवेचन करते हैं—"ईश्वरः" इत्यादिसे। विधि और प्रतिषेधमें ईश्वर ही नियुक्त हो—अभिषिक्त हो, उन दोनोंका कार्य वही करे। जीवके निरपेक्ष ईश्वरके अधीन होनेसे विधि आदि शास्त्र अकिञ्चित्कर—अनर्थक होगा, ऐसा सम्बन्ध है। पुरुषकार—प्रयत्न। आदिशब्दका अर्थ कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। पूर्वोक्त दोष—अकृतकी प्राप्ति। इसलिए कर्मकी अपेक्षा रखनेवाले ईश्वरके कारयिता होनेसे 'एष ह्येव' इत्यादि श्रुतियोंका विधि आदि श्रुतियोंके साथ विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥४२॥



[१७ अंशाधिकरण सू० ४३–५३]

किं जीवेश्वरसांकर्यं व्यवस्था वा श्रुतिद्वयात् ।
अभेदभेदविषयात् सांकर्यं न निवार्यते ॥१॥
अंशोऽवच्छिन्न आभास इत्यौपाधिककल्पनैः ।
जीवेशयोर्व्यवस्था स्याज्जीवानां च परस्परम् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—क्या जीव और ईश्वरका परस्पर साङ्कर्य है या दोनों श्रुतियोंसे कोई व्यवस्था हो सकती है ?

पूर्वपक्ष—अभेदश्रुति और भेदश्रुतिके विषय होनेसे जीव और ईश्वरके साङ्कर्यका निवारण नहीं किया जा सकता है ।

सिद्धान्त—अंश, अवच्छिन्न और आभास इस प्रकार औपाधिक कल्पनाओंसे जीव और ईशकी तथा परस्पर जीवोंकी व्यवस्था हो सकती है, अतः साङ्कर्य नहीं है ।

---

* भाव यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियाँ जीव और ईश्वरका अभेद प्रतिपादन करती हैं और 'आत्मा०' इत्यादि श्रुतियाँ द्रष्टृ-द्रष्टव्यरूपसे उनके भेदका प्रतिपादन करती हैं, इससे भेदश्रुतिके सामर्थ्यसे 'जीव नहीं है' इस प्रकार अपलाप नहीं कर सकते हैं, अभेदश्रुतिसे इससे पृथक् जीवकी व्यवस्था नहीं कर सकते हैं, अतः विद्यमान जीवका ईश्वरके साथ साङ्कर्य दुर्वार है, इससे ब्रह्मवादी जगत्‌की व्यवस्था नहीं कर सकेगा ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि गो और महिषके समान ब्रह्म और जीवका अत्यन्त भेद वास्तविक नहीं है, तथापि व्यवहारदशामें उपाधिसे कल्पित भेदको लेकर शास्त्र तीन प्रकारसे जीवका निरूपण करते हैं—'ममैवांशः' इससे 'जीव ईशका अंश है' ऐसा समझा जाता है 'स समानः सन्०' इस श्रुतिमें विज्ञानमय जीवका विज्ञानशब्दवाच्य बुद्धिके साथ तुल्यपरिमाणके निर्देशसे घटाकाशके समान अवच्छिन्नत्व प्रतीत होता है, 'एक एव तु०' इत्यादि शास्त्रसे आभासत्व प्रतीत होता है । अतः ब्रह्मवादीके मतमें जगत्‌की व्यवस्था सुलभ है; और जीवोंका परस्पर जैसे अनेक जलपात्रोंमें सूर्यके अनेक प्रतिबिम्ब होते हैं, उसके समान व्यवहारकी व्यवस्था सुतरां उपपन्न है, अतः कोई दोष नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—अंशः, नानाव्यपदेशात्, अन्यथा, च, अपि, दाशकितवादित्वम्, अधीयते, एके ।

पदार्थोक्ति—[जीव ईश्वरस्य] अंशः—अंश इवांशः, न तु स्वाभाविकोंऽशः [तस्य 'निष्कलम्' इत्यादिना निरंशत्वश्रवणात, अतः कल्पितांशो जीवः । कुतः पुनर्जीवेश्वरयोरंशांशिभावः, 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिना तयोः] नानाव्यपदेशात्—नानात्वस्य व्यपदेशात्, अन्यथा चापि—अनानात्वस्यापि व्यपदेशात् । [तथाहि ऐके—आथर्वणिकाः, ['ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इति] दाशकितवादित्वम्—ब्रह्मण एव दाशत्वं दासत्वं कितवत्वञ्च, अधीयते पठन्ति, [तत्र भेदवादिश्रुतिजातस्य प्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादेनाऽभेदपरत्वात् कल्पितभेदवानंशो जीव इति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—जीव ईश्वरका कल्पित अंश है स्वाभाविक अंश नहीं है, क्योंकि 'निष्कलम्' इत्यादिसे वह निरवयव कहा गया है, इससे सिद्ध हुआ कि जीव ईश्वरका कल्पित अंश है । जीव और ईश्वरके अंशांशिभाव माननेका क्या कारण है ? 'य आत्मनि तिष्ठन्' (जो आत्मामें रहता हुआ) इत्यादिसे जीव और ब्रह्मका भेद-कथन है और अभेदका भी कथन है, क्योंकि आथर्वण शाखावाले 'ब्रह्म दाशाः' (ब्रह्म ही धीवर हैं ब्रह्म ही भृत्य हैं और ब्रह्म ही ये जुआरी हैं, ऐसा कहते हैं अर्थात् ब्रह्ममें ही धीवरत्व दासत्वका कथन है । इससे भेद और अभेदका व्यपदेश है । यहांपर भेदवादिनी श्रुतियां प्रत्यक्षसिद्ध भेदके अनुवादसे अभेदपरक ही हैं । इससे निर्णय हुआ कि जीव ईश्वरका कल्पितभेदवाला अंश है ।

भाष्य

जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः । स च सम्बद्धयोरेव लोके

भाष्यका अनुवाद

जीव और ईश्वरका (परस्पर) उपकार्य उपकारकभाव कहा गया और वह

रत्नप्रभा

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा० । 'नित्यः स्वप्रकाशो नाणुरकर्ता

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा०' । 'नित्यः स्वप्रकाशो०' (जीव नित्य है, स्वप्रकाश है,

भाष्य

दृष्टो यथा स्वामिभृत्ययोर्यथा वाऽग्निविस्फुलिङ्गयोः। ततश्च जीवेश्वरयोरप्युपकार्योपकारकभावाभ्युपगमात्किं स्वामिभृत्यवत् सम्बन्ध आहोस्विदग्निविस्फुलिङ्गवदित्यस्यां विचिकित्सायामनियमो वा प्राप्नोति। अथवा स्वामिभृत्यप्रकारेष्वेवेशित्रीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात्तद्विध एव सम्बन्ध इति प्राप्नोति। अतो ब्रवीत्यंश इति। जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति,

भाष्यका अनुवाद

(उपकार्य उपकारकभाव) लोकमें सम्बद्धोंका ही देखा जाता है, जैसे स्वामी और सेवकोंका, अग्नि और चिनगारियोंका। इससे जीव और ईश्वरका भी उपकार्य उपकारकभाव स्वामी और सेवककी भांति है या अग्नि और विस्फुलिङ्गके समान है? इस प्रकार संशय होनेपर अनियम प्राप्त होता है अथवा स्वामी और सेवकमें नियम्यनियामकभाव जैसा प्रसिद्ध है, वैसा ही सम्बन्ध है? इससे कहते हैं—'अंशः०' इत्यादिसे। जीव ईश्वरका अंश हो सकता है,

रत्नप्रभा

जीवः' इति शोधितत्वम्पदार्थस्याऽत्र ब्रह्मैक्यसाधनेन भेदाभेदश्रुतीनां विरोधसमाधानात् पादसंगतिः। पूर्वपक्षे प्रत्यगभिन्नब्रह्मासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः। पूर्वोक्तोपकार्योपकारकभावाक्षिप्ते जीवेशयोः सम्बन्धं विषयीकृत्य द्विविधदृष्टान्तदर्शनात् संशयमाह—ततश्चेति। प्रसिद्धस्वस्वामित्वसम्बन्धसम्भवाद् 'यः कश्चित् सम्बन्धः' इत्यनियमो न युक्त इत्यरुचेराह—अथवेति। अनेन 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धभेदकोटिर्दर्शिता। एवं 'तत्त्वमसि' (छा० ६।२।१५) इत्यादिश्रुतिसिद्धाऽभेदकोटिर्द्रष्टव्या। तथा च भेदाभेदश्रुतीनां समबलत्वाद् विरोधे

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनणु है, अकर्त्ता है) इस प्रकार शोधित त्वम्पदार्थके यहाँपर ब्रह्मैक्यके साधन होनेसे भेदाभेद श्रुतियोंके विरोधके समाधानसे पादसङ्गति है। पूर्वपक्षमें प्रत्यक्से अभिन्न ब्रह्म असिद्ध है और सिद्धान्तमें सिद्ध है, ऐसा भेद है। पूर्वोक्त उपकार्योपकारकभावसे आक्षिप्त, जीव और ईश्वरके सम्बन्धको लेकर दो प्रकारके दृष्टान्त देखनेमें आते हैं, इसलिए संशय कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे। प्रसिद्ध स्वस्वामिभाव सम्बन्धके संभव होनेसे 'कोई सम्बन्ध है' ऐसा अनियम युक्त नहीं है, ऐसी अरुचिसे कहते हैं—"अथवा" इत्यादि। इससे 'य आत्मनि तिष्ठन्०' (जो आत्मामें रहकर) इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध भेदकोटि दिखलाई गई है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध अभेदकोटि समझनी चाहिए। इस प्रकार भेदाभेदश्रुतियोंके समबल होनेसे उनमें विरोध होनेपर सम्बन्धका निश्चय न होनेसे सम्बन्धकी अपेक्षासे स्थित पूर्वोक्त उपकार्योपकारकभाव

भाष्य

यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गः। अंश इवांशो नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति। कस्मात् पुनर्निरवयवत्वात् स एव न भवति ? नानाव्यपदेशात्। सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१) 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयको भेदनिर्देशो नाऽसति भेदे युज्यते। ननु चाऽयं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्यसारूप्ये युज्यत इत्यत आह—अन्यथा चाऽपीति। न

भाष्यका अनुवाद

जैसे अग्निका विस्फुलिङ्ग। अंशके समान अंश है, क्योंकि निरवयवका मुख्य अंश नहीं हो सकता है। परन्तु परमात्मा निरवयव है तो वही जीव क्यों नहीं होता है ? भिन्नरूपसे व्यपदेश होनेसे 'सोऽन्वेष्टव्यः' (वह अन्वेषण करने योग्य है और जिज्ञासा करने योग्य है) 'एतमेव विदित्वा०' (इसीको जानकर मुनि होता है) 'य आत्मनि तिष्ठन्०' (जो आत्माके अन्दर रहकर आत्माका नियमन करता है) इस प्रकारका भेदनिर्देश भेदके बिना नहीं घट सकता है। परन्तु यह भिन्नरूपसे व्यपदेश स्वामी और सेवकके सादृश्यसे ठीक ठीक घट सकता है, इसपर कहते हैं—'अन्यथा चापि' (अन्यरीतिसे भी)। केवल भेदव्यपदेशसे ही

रत्नप्रभा

सति सम्बन्धानिश्चयात् सम्बन्धापेक्षस्य पूर्वोक्तोपकार्योपकारकभावस्याऽसिद्धिरित्याक्षेपात् संगतिः। लोकसिद्धानर्थात् प्रसिद्धभेदानुवादित्वेन भेदश्रुतीनां दुर्बलत्वादज्ञातफलवदभेदश्रुत्यनुसारेण प्रकल्पितभेदनिबन्धनोंऽशांशिभावः सम्बन्ध इति सिद्धान्तयति—अत इत्यादिना। अग्नेः सांशत्वेऽपि निष्कलेश्वरस्य कथं सांशत्वमत आह—अंश इवेति। जीव इत्यनुषङ्गः। भेद एव चेत् स्वस्वामिभावो युक्तः, नांशांशिभाव इति शङ्कते—ननु चेति। अभेदस्याऽपि सत्त्वादंशां-

रत्नप्रभाका अनुवाद

असिद्ध है, इस प्रकार आक्षेपसे संगति है। लोकसिद्ध अनर्थात्मक भेदका अनुवाद करनेवाली होनेसे भेदश्रुतियां दुर्बल हैं, इसलिए अज्ञात फलवाली अभेद श्रुतियोंके अनुसार प्रकल्पित भेदके आधारपर स्थित अंशांशिभाव सम्बन्ध है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"अतः" इत्यादिसे। अग्निके सांश होनेपर भी निरवयव ईश्वर किस प्रकार अंशवाला है ? इसपर कहते हैं—"अंश इव" इत्यादिसे। 'जीव' का अनुषङ्ग है। यदि भेद ही हो, तो स्वस्वामिभाव युक्त है, अंशांशिभाव युक्त नहीं है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु च" इत्यादिसे। अभेदके होनेसे भी अंशांशिभाव है, ऐसा कहते हैं—"अतः" इत्यादिसे। वञ्चित—जाता है। जो नामरूपका

भाष्य

च नानाव्यपदेशादेव केवलादंशत्वप्रतिपत्तिः। किं तर्ह्यन्यथा चापि व्यपदेशो भवत्यनानात्वस्य प्रतिपादकः। तथा हि एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इत्यादिना। दाशा य एते कैवर्ताः प्रसिद्धाः, ये चाऽमी दासाः स्वामिष्वात्मानमुपक्षिपन्ति, ये चान्ये कितवा द्यूतकृतस्ते सर्वे ब्रह्मैवेति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसंघातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाह। तथाऽन्यत्रापि ब्रह्मप्रक्रियायामेवाऽयमर्थः प्रपञ्च्यते—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥'

(श्वे० ४।३) इति।

'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते।' इति

भाष्यका अनुवाद

अंशत्वका ज्ञान नहीं होता है, किन्तु, अन्य प्रकारका व्यपदेश भी नानात्वका प्रतिपादक है, जैसे—आथर्वण शाखावाले ब्रह्मसूक्तमें ब्रह्मके दाशभाव—धीवरत्व, कितवभाव आदि भावोंका प्रतिपादन करते हैं—'ब्रह्म दाशाः०' (ब्रह्म दाश हैं, ब्रह्म दास हैं, ब्रह्म ही ये कितव हैं) इत्यादिसे, दाश अर्थात् जो ये कैवर्तरूपसे प्रसिद्ध हैं और ये जो दास हैं—स्वामीके प्रति आत्माका उपक्षय करते हैं और अन्य जो कितव हैं अर्थात् द्यूत खेलनेवाले हैं वे सब ब्रह्म ही हैं, इस प्रकार हीन जन्तुओंके उदाहरणसे नाम और रूपसे किये गये कार्यकरणके सङ्घातमें प्रविष्ट सम्पूर्ण जीव ब्रह्म हैं, ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र ब्रह्मके प्रकरणमें भी इसी अर्थको विस्तृत करते हैं—'त्वं स्त्री त्वं पुमान्०' (तू स्त्री है, तू पुरुष है; तू कुमार है अथवा तू कुमारी है, वृद्धावस्थामें तू दण्ड लेकर चलता है, तू सर्वतोमुख उत्पन्न होता है) 'सर्वाणि रूपाणि' (सब रूपोंका निर्माण करके नाम रखकर अभिवादन करता हुआ रहता है)

रत्नप्रभा

शिभाव इत्याह—अत इति। वञ्चसि—गच्छसि, यदास्ते यो नामरूपे निर्माय प्रविश्य व्यवहरन् वर्तते तं विद्वानमृतो भवतीति श्रुत्यर्थः। श्रुतिसिद्धाभेदे

रत्नप्रभाका अनुवाद

निर्माण करके प्रवेशकर व्यवहार करता हुआ रहता है उसको जाननेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है ऐसा श्रुतिका अर्थ है। श्रुतिसिद्ध अभेदमें युक्ति कहते हैं—"चैतन्य"

भाष्य

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यश्चाऽस्याऽर्थस्य सिद्धिः। चैतन्यं चाऽविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाऽग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्। अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः ॥ ४३ ॥

कुतश्चांऽशत्वावगमः—

भाष्यका अनुवाद

'नान्योऽतोऽस्ति' (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतियोंसे यही अर्थ सिद्ध होता है। जैसे अग्नि और विस्फुलिङ्गकी उष्णतामें कोई विशेषता नहीं है, एवं जीव और ईश्वरका चैतन्य अविशिष्ट है। इससे भेद और अभेदका ज्ञान होनेसे 'जीव अंश है' ऐसा ज्ञान होता है ॥ ४३ ॥

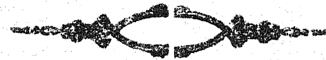
और किससे जीव अंश है ऐसा ज्ञान होता है—

रत्नप्रभा

युक्तिमाह—चैतन्यं चेति। जीवः ब्रह्मैव, चेतनत्वाद्, ब्रह्मवत् इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। जीव ब्रह्म ही है, चेतन होनेसे, ब्रह्मके समान, ऐसा अर्थ है ॥४३॥



मन्त्रवर्णाच्च ॥४४॥

पदच्छेद—मन्त्रवर्णात्, च।

पदार्थोक्ति—च—अपि, मन्त्रवर्णात्—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति श्रुतेः [परमेश्वरस्याऽविद्याकल्पितांशो भूतशब्दवाच्यो जीव इति गम्यते]।

भाषार्थ—और 'पादोऽस्य०' (सब भूत—प्राणी इसके एक पाद हैं) इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि भूतशब्दवाच्य जीव ईश्वरका अविद्याकल्पित अंश है।

भाष्य

मन्त्रवर्णश्चैतमर्थमवगमयति 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इति। अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजङ्गमानि निर्दिशति, 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इति प्रयोगात्। अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरम्। तस्मादप्यंशत्वावगमः ॥४४॥

कुतश्चांऽशत्वावगमः—

भाष्यका अनुवाद

'तावान०' (उतनी इस ब्रह्मकी महिमा है, इससे पुरुष महत्तर है, उसका एक पाद सब भूत हैं, इसके तीन पाद अमृतस्वरूप द्योतनवान् स्वात्मामें हैं) यह मन्त्रवर्ण भी उसी अर्थका बोध कराता है। यहाँपर श्रुति भूतशब्दसे जीवप्रधान स्थावर जङ्गमोंका निर्देश करती है, क्योंकि 'अहिंसन्०' (तीर्थसे अन्यत्र सब प्राणियोंकी अहिंसा करता हुआ) ऐसा प्रयोग है। अंश, पाद, भाग ये एकार्थक ही शब्द हैं। इससे भी जीवके अंशत्वका ज्ञान होता है ॥ ४४ ॥

और जीव अंश है, यह किससे ज्ञात होता है—

रत्नप्रभा

मन्त्रवर्णाच्च। अस्य सहस्रशीर्षपुरुषस्य तावान् प्रपञ्चो महिमा विभूतिः, पुरुषः तस्मात् प्रपञ्चात् ज्यायान् महत्तरः। भूतानि देहिनो जीवा इत्यत्र नियामकमाह—**अहिंसन्निति**। तीर्थानि—शास्त्रोक्तकर्माणि, तेभ्योऽन्यत्र सर्वप्राणिहिंसामकुर्वन् ब्रह्मलोकमाप्नोतीत्यर्थः। अत्र भूतशब्दस्य प्राणिषु प्रयोगात् सूक्तोक्तमन्त्रेऽपि तथेति भावः। भूतानां पादत्वेऽपि अंशत्वं कुतः? तत्राह—**अंशः पाद इति** ॥४४॥

भाष्यका अनुवाद

'मन्त्रवर्णाच्च'। इस सहस्र शिरवाले पुरुषका इतना प्रपञ्च—महिमा अर्थात् विभूति है, उस प्रपञ्चसे पुरुष महत्तर है। भूतानि—देही, जीव। इस विषयमें नियामक कहते हैं—"अहिंसन्" इत्यादिसे। तीर्थ—अर्थात् शास्त्रोक्त कर्म। उनसे अन्यत्र सब प्राणियोंकी हिंसा न करनेवाला ब्रह्मलोक प्राप्त करता है, ऐसा अर्थ है। यहाँ भूतशब्द प्राणीमें प्रयुक्त होनेसे सूत्रोक्त मन्त्रमें भी उसी प्रकार है, ऐसा भाव है। भूतोंके पाद होनेपर भी वे अंश किस प्रकार हैं? इसपर कहते हैं—"अंशः पादः" इत्यादिसे ॥ ४४ ॥

अपि च स्मर्यते ॥४५॥

पदच्छेद—अपि, च, स्मर्यते ।

पदार्थोक्ति—अपि च—किञ्च, 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इति भगवद्गीतासु परमेश्वरस्य अविद्याकल्पितांशो जीव इति स्मर्यते ।

भाषार्थ—और 'ममैवांशः०' (जीवलोकमें अविनाशी जीव मेरा ही अंश है) इस प्रकार भगवद्गीतामें परमेश्वरका अविद्याकल्पित अंश जीव है, ऐसा कहा गया है ।

भाष्य

ईश्वरगीतास्वपि चेश्वरांशत्वं जीवस्य स्मर्यते—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गी० १५।७) इति। तस्मादप्यंशत्वावगमः। यत्तूक्तम्—स्वामिभृत्यादिष्वेवेशित्रीशितव्यभावो लोके प्रसिद्ध इति, यद्यप्येषा लोके प्रसिद्धिस्तथापि शास्त्रात् त्वत्रांशांशित्वमीशित्रीशितव्यभावश्च निश्चीयते ।

भाष्यका अनुवाद

जीव ईश्वरका अंश है, ऐसी स्मृति है—'ममैवांशः०' (संसारमें जीवस्वरूप मेरा ही अंश है, अतः सनातन है), इससे भी अंशत्वका ज्ञान होता है। परन्तु यह जो कहा है कि स्वामी, सेवक आदिमें ईशितृत्व और ईशितव्यत्व लोकमें प्रसिद्ध है । यद्यपि लोकमें ऐसा प्रसिद्ध है तो भी यहां तो शास्त्रसे अंशांशित्व और ईशितृत्व और

रत्नप्रभा

जीवस्य पुरुषसूक्तमन्त्रोक्तभगवदंशत्वे भगद्गीतामुदाहरति सूत्रकारः—**अपि चेति** । अत्यन्तभिन्नेशित्रीशितव्यभावप्रसिद्धेः ईशितव्यजीवस्य कथमीश्वरांशत्वमित्याशङ्क्य कल्पितभेदेनाऽपीशितव्यत्वोपपत्तेः अनन्यथासिद्धाभेदशास्त्रबलादंशत्वमित्याह—**यत्त्वित्यादिना** । औपाधिके ईश्वरस्य नियन्तृत्वे जीव

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषसूक्तके मन्त्रमें जीव भगवान्‌के अंशरूपसे कहा गया है इसमें सूत्रकार भगवद्गीताका उदाहरण देते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । अत्यन्त भिन्न ईशितृभाव और ईशितव्यभावके प्रसिद्ध होनेसे ईशितव्य जो जीव है, वह ईश्वरका अंश किस प्रकार होगा ? ऐसी आशंका करके कल्पित भेदसे भी ईशितव्यत्व उपपन्न हो सकता है, क्योंकि अनन्यथासिद्ध जो अभेद शास्त्र है, उसके बलसे जीवमें अंशत्व प्रतीत होता है । ऐसा कहते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे । परन्तु ईश्वरका नियन्तृत्व औपाधिक है, तो जीव ही

भाष्य

निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो निहीनोपाधिसम्पन्नाञ्जीवान् प्रशास्तीति न किंचिद् विप्रतिषिध्यते ॥४५॥

अत्राह—ननु जीवस्येश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखोपभोगेनांऽशिन ईश्वरस्यापि दुःखित्वं स्यात्, यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमाङ्गगतेन दुःखेनाऽङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वं तद्वत्। ततश्च तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्नुयात्, अतो वरं पूर्वावस्थः संसार एवास्त्विति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः स्यादिति। अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

ईशितव्यभावका निश्चय किया जाता है। निरतिशय उपाधिसे सम्पन्न ईश्वर अत्यन्त हीन उपाधिसे सम्पन्न जीवोंपर शासन करता है, इसमें कुछ विरुद्ध नहीं है ॥ ४५ ॥

यहां कहते हैं—जैसे लोकमें हाथ, पैर आदिमें से किसी एक अङ्गके दुःखसे अंगी देवदत्तको दुःख होता है, वैसे जीवको ईश्वरका अंश माननेपर उसके संसारदुःखके उपभोगसे अंशी ईश्वरको भी दुःख होगा। इससे उस (ब्रह्म) को प्राप्त हुए जनोंको अत्यन्त दुःख प्राप्त होगा, इसलिए पूर्वावस्थावाला संसार ही रहे यह श्रेष्ठ है, इस प्रकार सम्यग्दर्शनके निरर्थक होनेका प्रसङ्ग आवेगा। इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

एव तन्नियन्ता किं न स्यादित्यत आह—**निरतिशयेति**। नितरां हीनः शरीराद्युपाधिः, आज्ञानिकोपाधितारतम्यादीशेशितव्यव्यवस्था, न वस्तुतः। तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—'ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः। सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः' इति ॥ ४५ ॥

उत्तरसूत्रमवतारयति—**अत्राहेति**। ईश्वरः स्वांशदुःखैर्दुःखी, अंशित्वात्, देवदत्तवदित्यर्थः। ततः किं तत्राह—**ततश्चेति**। ज्ञानात् सर्वांशदुःखसमष्टि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका नियन्ता क्यों न हो ? इसपर कहते हैं—"निरतिशय" इत्यादिसे। अत्यन्त हीन शरीर आदि उपाधि है। अज्ञानजन्य तारतम्यसे ईश और ईशितव्यकी व्यवस्था है, वह वस्तुतः नहीं है। सुरेश्वराचार्यने कहा है कि—ईश और ईशितव्यका सम्बन्ध प्रत्यगात्माके अज्ञानरूप हेतुसे होता है, सम्यक् ज्ञान होनेपर, अज्ञानके नष्ट होनेपर वह ईश्वरोंका भी ईश्वर है ॥४५॥

उत्तर सूत्रका अवतरण देते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। ईश्वर अपने अंशके दुःखोंसे दुःखी है, अंशी होनेसे, देवदत्तके समान, ऐसा अर्थ है। इससे प्रकृतमें क्या आया? इसपर कहते हैं—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६॥

पदच्छेद—प्रकाशादिवत्, न, एवम्, परः ।

पदार्थोक्ति—[यथा जीवोऽविद्यावेशवशात् देहाद्यात्मभावमिव गतस्तत्कृतेन दुःखेन 'दुःखी अहम्' इति मन्यते] नैवं परः—ईश्वर एवं न, प्रकाशादिवत्—यथा सौरश्चान्द्रमसो वा प्रकाशो नभो व्याप्य वर्तमानो वक्रकाष्ठाद्युपाधिकृतवक्रभावमिवापन्नोऽपि न वस्तुतः वक्रभावमापद्यते तद्वत् [जीवोऽपि न परमार्थतो दुःखित्वमभिमन्यते ।]

भाषार्थ—जैसे जीव अविद्याके आवेशसे देहात्मभावको प्राप्त होकर देहजनित दुःखसे 'मैं दुःखी हूं' ऐसा मान बैठता है, वैसे परमात्मा दुःखी नहीं होता । जैसे सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश आकाशको व्याप्त करके स्थित भी वक्रकाष्ठ आदि उपाधिसे वक्रता को प्राप्त हुआ जैसा प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः वक्रताको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही जीव भी वस्तुतः दुःखित्वका अभिमानी नहीं होता है ।

भाष्य

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे । जीवो ह्यविद्यावेशवशाद् देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते, नैवं परमेश्वरस्य

भाष्यका अनुवाद

जैसे जीव संसाररूप दुःखका अनुभव करता है, वैसे परमेश्वर दुःखका अनुभव नहीं करता है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं । क्योंकि जीव अविद्याके आवशेके बलसे देहाद्यात्मभावको मानों प्राप्त होकर तत्कृतदुःखसे 'अहं दुःखी' (मैं दुःखी हूँ) इस प्रकार अविद्याकृत दुःखके उपभोगका अभिमानी

रत्नप्रभा

प्राप्त्यपेक्षया संसारो वरम्, तत्र स्वदुःखमात्रानुभवादित्यर्थः । नैवं पर इति प्रतिज्ञां विभजते—**यथा जीव इति** । देवदत्तदृष्टान्ते भ्रान्तिकामकर्मरूपदुःखसामग्रीमत्त्वमुपाधिः तदभावात् नेश्वरस्य दुःखित्वप्राप्तिः । उक्तञ्चैतदभेदेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बयो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"ततश्च" इत्यादिसे । ज्ञानसे सर्वांशदुःख-समष्टिकी प्राप्तिकी अपेक्षासे संसार श्रेष्ठतर है, क्योंकि उसमें स्वदुःखमात्रका अनुभव होता है, ऐसा अर्थ है । 'नैवं परः' इस सूत्रभागसे प्रतिज्ञा करते हैं—"यथा जीवः" इत्यादिसे । देवदत्तके दृष्टान्तमें भ्रान्ति, काम और कर्मरूप दुःखकी सामग्रीका होना, यह उपाधि है । ईश्वरमें उसका अभाव होनेसे दुःखित्वकी प्राप्ति नहीं है ।

भाष्य

देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वाऽस्ति। जीवस्याऽप्यविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो न तु पारमार्थिकोऽस्ति। यथा च स्वदेहगतदाहच्छेदादिनिमित्तं दुःखं तदभिमानभ्रान्त्याऽनुभवति तथा पुत्रमित्रादिगोचरमपि दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवाऽनुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येवं स्नेहवशेन पुत्रमित्रादिष्वभिनिविशमानः। ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते—मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति। व्यतिरेकदर्शनाच्चैवमवगम्यते। तथा हि—पुत्रमित्रादिमत्सु बहुषूपविष्टेषु तत्सम्बन्धाभिमानिष्वितरेषु च पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्घोषिते येषामेव पुत्रमित्रादिमत्त्वाभिमानस्तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्यते,

भाष्यका अनुवाद

होता है, इस प्रकार परमात्माका देहादिमें आत्मभाव या दुःखाभिमान नहीं है। जीवका भी अविद्यासे कल्पित नामरूपसे निर्वृत्त देह, इन्द्रिय उपाधियोंके अविवेकभ्रमसे उत्पन्न हुआ ही दुःखाभिमान है, पारमार्थिक दुःखाभिमान नहीं है, जैसे पुरुष अपने देहको प्राप्त हुए दाह, छेदन आदिसे उत्पन्न दुःखका उस देहके अभिमानकी भ्रान्तिसे अनुभव करता है, वैसे ही स्नेहवश पुत्र, मित्र आदिमें अभिनिवेश करता हुआ 'मैं ही पुत्र हूँ' 'मैं ही मित्र हूँ' इत्यादिरूपसे अनुभव करता है। इससे यह निश्चित समझा जाता है कि मिथ्याभिमानका भ्रम ही दुःखानुभवका निमित्त है। और व्यतिरेकके दर्शनसे भी ऐसा ही समझा जाता है, जैसे पुत्र, मित्र आदि परिवारवाले, उनमें पुत्रत्व आदि सम्बन्धका अभिमान रखते हों और जो उक्त सम्बन्धका अभिमान नहीं रखते ऐसे अनेक लोग बैठे हों, वहांपर 'पुत्र मरा' 'मित्र मरा' इस प्रकारकी घोषणा होनेपर उन्हींको तन्निमित्त दुःख होता है

रत्नप्रभा

धर्मव्यवस्थेति भावः। दुःखस्य भ्रान्तिकृतत्वं प्रपञ्चयति—जीवस्यापीत्यादिना। भ्रान्तौ सत्यां दुःखमित्यन्वयमुक्त्वा भ्रान्त्यभावे दुःखाभावदर्शनाच्च भ्रान्तिकृतं दुःखमिति निश्चीयते इत्याह—व्यतिरेकेति। इतरेषु—अभिमानशून्येषु इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभेद होनेपर भी यह कहा गया है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बमें धर्मकी व्यवस्था है, ऐसा भाव है। दुःख भ्रान्तिकृत है, ऐसा विस्तारसे कहते हैं—"जीवस्यापि" इत्यादिसे। भ्रान्ति होनेपर दुःख होता है, ऐसा अन्वय कहकर भ्रान्तिके अभावमें दुःखके अभावका दर्शन होनेसे दुःख भ्रान्तिकृत है, ऐसा निश्चय होता है, ऐसा कहते हैं—"व्यतिरेक" इत्यादिसे। इतरेषु—

भाष्य

नाभिमानहीनानां परिव्राजकादीनाम् । अतश्च लौकिकस्याऽपि पुंसः सम्यग्दर्शनार्थवत्त्वं दृष्टम्, किमुत विषयशून्यादात्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमपश्यतो नित्यचैतन्यमात्रस्वरूपस्येति । तस्मान्नास्ति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः । प्रकाशादिवदिति निदर्शनोपन्यासः । यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद् व्याप्याऽवतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसम्बन्धात् तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तत्तद्भावमिव प्रतिपद्यमानोऽपि न परमार्थतस्तद्भावं प्रतिपद्यते । यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशरावादिकम्पनात् तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान् सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवा-

भाष्यका अनुवाद

जिनको पुत्र, मित्र आदिका अभिमान है, अभिमानरहित संन्यासियोंको नहीं होता है। इससे लौकिक पुरुषका भी सम्यक्‌दर्शन सार्थक होता दीखता है, तो विषयशून्य आत्मासे अन्य—दूसरी वस्तुको नहीं देखनेवाले, नित्य चैतन्यमात्र स्वरूपका सम्यक् दर्शन सार्थक हो, इसमें कहना ही क्या है ? इससे सम्यक्‌दर्शनकी निरर्थकता नहीं है। 'प्रकाशादिके समान' यह दृष्टान्तका कथन है। जैसे सूर्य या चन्द्रका प्रकाश आकाशको व्याप्तकर स्थित भी अङ्गुली आदि उपाधिके सम्बन्धसे ऋजुभाव, वक्रभाव आदिको प्राप्त होनेपर तद्भावके समान प्राप्त भी परमार्थरूपसे तद्रूप नहीं होता है अथवा जैसे घटादिके जानेपर आकाश जाता हुआ सा ज्ञात होता है, तो भी वस्तुतः वह जाता नहीं है अथवा जैसे जलपात्रके कम्पनसे सूर्य प्रतिबिम्बके कांपनेपर भी सूर्य नहीं कांपता है, इसी प्रकार अविद्यासे उपस्थित बुद्धि आदिसे

रत्नप्रभा

जीवस्याऽपि सम्यग्ज्ञाने दुःखाभावो दृष्टः, किमु वाच्यं नित्यसर्वज्ञेश्वरस्येत्याह—**अतश्चेति** । एवमंशित्वहेतोः सोपाधिकत्वमुक्त्वा योंऽशी स वस्तुतः स्वांशधर्मवानिति व्याप्तिं स्थलत्रये व्यभिचारयति—**प्रकाशादिवदिति** । वस्तुतः स्वांशदुःखि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभिमानशून्योंमें, ऐसा अर्थ है। सम्यग् ज्ञान होनेपर जीवके भी दुःखका अभाव देखनेमें आता है, तो नित्य, सर्वज्ञ ईश्वरके दुःखका अभाव हो, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। इस प्रकार अंशित्व हेतु सोपाधिक है, ऐसा कहकर जो अंशी है, वह अपने अंशके धर्मवाला है, इस व्याप्तिका तीन स्थलोंमें व्यभिचार देते हैं—"प्रकाशा-

भाष्य

रूपेंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते । जीवस्याऽपि तु दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तम् । तथा चाऽविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः 'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः । तस्मान्नास्ति जैवेन दुःखेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गः ॥४६॥

भाष्यका अनुवाद

उपहित जीवरूप अंशके दुःखी होनेपर भी अंशी ईश्वर दुःखी नहीं होता है । और जीवको दुःखकी प्राप्ति अविद्यारूप निमित्तसे ही होती है, ऐसा कहा जा चुका है । इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि वेदान्त अविद्यानिमित्तक जीवभावका निरसन करके जीवके ब्रह्मभावका ही प्रतिपादन करते हैं । इससे जीवके दुःखसे परमात्मामें दुःखित्वका प्रसङ्ग नहीं है ॥ ४६ ॥

रत्नप्रभा

त्वसाध्यस्य देवदत्तदृष्टान्ते वैकल्यमप्याह—जीवस्येति । कल्पितदुःखित्वसाध्यं तु भ्रान्त्याद्यभावादीश्वरे नास्तीत्युक्तम् । किञ्च, जीवस्येश्वरस्य वा वस्तुतो दुःखित्वानुमानं न युक्तम्, आगमबाधादित्याह—तथा चेति । दुःखित्वे तद्भावोपदेशो न स्याद् इत्यर्थः ॥४६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिवत्" इत्यादिसे । वस्तुतः स्वांशदुःखित्वरूप साध्यका देवदत्त-दृष्टान्तमें वैकल्य भी कहते हैं—"जीवस्य" इत्यादिसे । कल्पित दुःखित्व साध्य तो ईश्वरमें नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति आदिका अभाव है, ऐसा कहा गया है । ईश्वरमें या जीवमें वास्तविक दुःखित्वका अनुमान युक्त नहीं है, क्योंकि आगमका बाध है, ऐसा कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे । यदि जीव दुःखी हो तो उसका ब्रह्मभावरूपसे उपदेश नहीं होगा ॥ ४६ ॥

स्मरन्ति च ॥४७॥

पदच्छेद—स्मरन्ति, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, स्मरन्ति—'तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥' इत्यादिना व्यासादय ईश्वरस्य सांसारिकदुःखास्पर्शित्वं प्रतिपादयन्ति ।

भाषार्थ—और 'तत्र यः०' (जीव और परमात्मामेंसे जो यह परमात्मा है वह नित्य और निर्गुण कहा गया है, जैसे कमलका पत्ता जलसे संसृष्ट नहीं होता, वैसे ही वह धर्म-अधर्मरूप कर्म और उनके फलोंसे लिप्त नहीं होता है) इत्यादिसे व्यास आदि ईश्वरमें सांसारिक दुःखोंका स्पर्श नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं ।

भाष्य

स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति—

'तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ।
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ।
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥' इति ।

चशब्दात् समामनन्ति चेति वाक्यशेषः । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व-

भाष्यका अनुवाद

व्यास आदि कहते हैं कि जीवके दुःखसे परमात्मा दुःखी नहीं होता है—'तत्र यः परमात्मा०' (इनमें (जीव और परमात्मामें) जो परमात्मा है वह नित्य निर्गुण कहा गया है वह कर्म फलोंसे लिप्त नहीं होता है जैसे कमलका पत्ता जलसे लिप्त नहीं होता है। और जो कर्मात्मा (कर्माश्रय जीव) अन्य है वह मोक्ष और बन्धसे युक्त होता है। और वह सतरह राशिसे भी जुड़ा हुआ है।) च-शब्दसे 'समामनन्ति' (और श्रुतियां कहती हैं) ऐसा वाक्य शेष है। 'तयोरन्यः०' (इन दोनोंमें से एक स्वादुफल खाता है, दूसरा खाये बिना

रत्नप्रभा

स्मृत्याऽपि अनुमानं बाध्यमित्याह—स्मरन्ति चेति । सूत्रं व्याचष्टे—स्मरन्तीति । तत्र—जीवपरयोर्मध्ये । कर्मात्मा—कर्माश्रयो जीवः । दशेन्द्रियाणि पञ्च प्राणाः मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशसंख्याको राशिः लिङ्गम् । सूत्रे चशब्दः श्रुतिसमुच्चयार्थ इत्याह—चशब्दादिति । यथाऽऽदित्यः प्रकाश्यदोषैर्न लिप्यते, तथेत्यर्थः । यतो बाह्यः असङ्गः, तस्मात् न लिप्यते । एवमंशित्वकृतमीश्वरे दोषं निरस्यांऽश इत्युक्तम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्मृतिसे भी अनुमान बाधित है ऐसा कहते हैं—"स्मरन्ति च" इत्यादिसे। सूत्रकी व्याख्या करते हैं—"स्मरन्ति" इत्यादिसे। तत्र—जीव और परमात्माके बीचमें। कर्माश्रय—जीव। दश इन्द्रियाँ, पांच प्राण, मन, बुद्धि इस प्रकारका सतरह सङ्ख्यावाला राशि लिङ्ग है। सूत्रमें चशब्द श्रुतिके समुच्चयके लिए है, ऐसा कहते हैं—"चशब्दात्" इत्यादिसे। जैसे आदित्य प्रकाश्यके दोषोंसे लिप्त नहीं होता है, वैसे, ऐसा अर्थ है। चूँकि बाह्य असंङ्ग है, अतः लिप्त नहीं होता है। इस प्रकार ईश्वरमें अंशित्वकृत दोषका निराकरण करके 'अंश इव' इससे उक्त जीवका

भाष्य

स्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (श्वे० ४।६) इति । 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (क० ५।११) इति च ॥४७॥

अत्राह—यदि तर्ह्येक एव सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स्यात् कथमनुज्ञापरिहारौ स्यातां लौकिकौ वैदिकौ चेति । ननु चांशो जीव ईश्वरस्येत्युक्तम्, तद्भेदाच्चाऽनुज्ञापरिहारौ तदाश्रयावव्यतिकीर्णावुपपद्येते किमत्र चोद्यत इति । उच्यते नैतदेवम् । अनंशत्वमपि हि जीवस्याऽभेदवादिन्यः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०)

भाष्यका अनुवाद

केवल देखता रहता है) 'एकस्तथा०' (वैसे एक सब भूतोंका अन्तरात्मा असङ्ग ईश्वर लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता है ॥४७॥

यहां पूर्वपक्षी कहता है—यदि सब भूतोंका एक ही अन्तरात्मा हो तो, लौकिक और वैदिक अनुज्ञा और परिहार कैसे होंगे ? परन्तु जीव ईशका अंश है ऐसा कहा जा चुका है, अतः अंशविशेषसे तन्निमित्त अव्यतिकीर्ण अनुज्ञा और परिहार उपपन्न होंगे, (इसलिए) यहां शङ्का किस तरह करते हो ? कहते हैं—यह ऐसा नहीं है, क्योंकि अभेद प्रतिपादक श्रुतियां जीवको अनंश कहती हैं—'तत्सृष्ट्वा०' (उसको उत्पन्न करके उसमें ही अनुप्रवेश किया) 'नान्योऽतोऽस्ति०' (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) 'मृत्योः स०' (जो यहां भेद देखता है वह मृत्यु-परम्पराको प्राप्त होता है) 'तत्त्वमसि' (वह तू है) अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकारकी श्रुतियां हैं । परन्तु

रत्नप्रभा

जीवस्यांशत्वं देहाद्युपाधिकमिति स्फुटयितुमत्यन्तस्वरूपैक्यमादाय आक्षिपति—अत्राहेत्यादिना । कथं तर्हि इत्यन्वयः । तद्भेदाद्—अंशभेदात् । निरवयवब्रह्मणो मुख्यांशो न सम्भवतीति वदता सिद्धान्तिना भेदो नास्तीत्युक्तं भवति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

अंशत्व देहादि उपाधिकृत है, इसका स्पष्टीकरण करनेके लिए अत्यन्त स्वरूपैक्यको लेकर आक्षेप करते हैं—"अत्राह" इत्यादि । तो किस तरह, ऐसा अन्वय है । तद्भेदात्—अंशके भेदसे । निरवयव ब्रह्मका मुख्य अंश नहीं हो सकता है, इस प्रकार कहनेवाले सिद्धान्ती द्वारा भेद नहीं है, ऐसा कहा जायगा, भेदके अभावमें अंशांऽशित्वका अभाव होगा, अतः अनुज्ञा इत्यादि

भाष्य

इत्येवंजातीयकाः। ननु भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वं सिद्धयतीत्युक्तम्। स्यादेतदेवं यद्युभावपि भेदाभेदौ प्रतिपिपादयिषितौ स्याताम्, अभेद एव त्वत्र प्रतिपिपादयिषितो ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ पुरुषार्थसिद्धेः। स्वभावप्राप्तस्तु भेदोऽनूद्यते। न च निरवयवस्य ब्रह्मणो मुख्योंऽशो जीवः संभवतीत्युक्तम्। तस्मात् पर एवैकः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेनाऽवस्थित इत्यतो वक्तव्याऽनुज्ञापरिहारोपपत्तिः। तां ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

भेद और अभेदके अवगमसे अंशत्व सिद्ध होता है, ऐसा कहा गया है। यदि भेद और अभेद दोनोंका प्रतिपादन करना इष्ट होता, तो ऐसा हो सकता, परन्तु अभेदका ही यहां प्रतिपादन करना इष्ट है, क्योंकि ब्रह्मात्मत्वकी प्रतिपत्ति होनेपर पुरुषार्थकी सिद्धि है, भेद तो स्वभावप्राप्त है, अतः अनुवाद किया जाता है। और निरवयव ब्रह्मका मुख्य अंश जीव नहीं हो सकता है ऐसा कहा गया है। इसलिए,एक परमात्मा ही सब भूतोंका अन्तरात्मा जीवभावसे स्थित है। इस कारण अनुज्ञा और परिहारकी उपपत्ति कहनी चाहिए। उसको कहते हैं—

रत्नप्रभा

भेदाभावे चांशांशित्वाभावादनुज्ञादिभेदव्यवहारानुपपत्तिरित्याक्षेपाभिप्रायः ॥४७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

भेदव्यवहार की अनुपपत्ति होगी, ऐसा आक्षेपका अभिप्राय है ॥४७॥

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

पदच्छेद—अनुज्ञापरिहारौ, देहसंबन्धात्, ज्योतिरादिवत्।

पदार्थोक्ति—अनुज्ञापरिहारौ—'मित्रं सेव्यम्' 'शत्रवः परिहर्तव्याः' इति विधिनिषेधौ [सर्वत्रात्मनोऽखण्डैकरसत्वेऽपि] देहसम्बन्धात्—देहतादात्म्य-सम्बन्धात् संगच्छेते, ज्योतिरादिवत्—यथा अग्नेरेकत्वेऽपि श्मशानसम्बन्ध्यग्निः परिहर्तव्यः भवति, नेतरः, तद्वदात्मापि।

भाषार्थ—मित्रका सेवन करना चाहिए, शत्रुओंसे दूर रहना चाहिए इस प्रकारके विधि और निषेध सर्वत्र आत्माके अखण्डैकरस होनेपर भी देहके साथ तादात्म्य सम्बन्धसे संगत होते हैं। जैसे अग्निके एक होनेपर भी श्मशानकी अग्नि परिहरणीय है अन्य अग्नियां परिहरणीय नहीं हैं, वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए।

भाष्य

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' इत्यनुज्ञा। 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' इति परिहारः। तथा 'अग्नीषोमीयं पशुं संज्ञपयेत्' इत्यनुज्ञा। 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति परिहारः। एवं लोकेऽपि 'मित्रमुपसेवितव्यम्' इत्यनुज्ञा। 'शत्रुः परिहर्तव्य' इति परिहारः। एवंप्रकारावनुज्ञापरिहारावेकत्वेऽप्यात्मनो देहसम्बन्धात् स्याताम्। देहैः सम्बन्धो देहसम्बन्धः। कः पुनर्देहसम्बन्धः? देहादिरयं संघातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः। दृष्टा च सा सर्वप्राणिनामहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहमन्धोऽहमनन्धोऽहं मूढोऽहममूढ इतीत्येवमात्मिका। नह्यस्याः सम्यग्दर्शनादन्यन्निवारकमस्ति। प्राक्तु स-

भाष्यका अनुवाद

'ऋतौ भार्यामुपेयात' (ऋतुमें भार्याका प्रसङ्ग करना चाहिए) यह अनुज्ञा है। 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' (गुरुकी स्त्रीके साथ प्रसङ्ग नहीं करना चाहिए) यह परिहार है। 'अग्नीषोमीयं पशुं संज्ञपेत्' (अग्निषोमीय पशुका बध करना चाहिए) यह अनुज्ञा है, 'न हिंस्यान् सर्वा भूतानि' (किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए) यह परिहार है। इस प्रकार लोकमें भी 'मित्रमुपसेवितव्यम्' (मित्रका सेवन करे) यह अनुज्ञा है और 'शत्रुः परिहर्तव्यः' (शत्रु का त्याग करे) यह परिहार है। इस प्रकारके अनुज्ञा और परिहार आत्माके एक होनेपर भी इसके देहसम्बन्धसे होंगे। देहके साथ सम्बन्ध—देहसम्बन्ध है। परन्तु देहसंबन्ध क्या है? यह देहादि सङ्घात 'मैं ही हूँ' इस प्रकार आत्मामें विपरीत प्रत्ययकी उत्पत्ति देहसम्बन्ध है यह सब प्राणियोंको होती है—'मैं जाता हूँ', 'मैं आता हूँ', 'मैं अन्धा हूँ', 'मैं अन्धा नहीं हूँ', 'मैं मूढ़ हूँ', 'मैं अमूढ़ हूँ' इत्यादि रूपसे। इसका निवारक यथार्थ ज्ञानको छोड़कर अन्य नहीं है, सम्यक् दर्शनके पूर्व यह भ्रान्ति सब प्राणियोंमें

रत्नप्रभा

न वयं भेदस्याऽसत्त्वं नरशृङ्गवत् ब्रूमः, किन्तु मिथ्यात्वं वदामः। तथा च देहाद्युपाधिभेदेनांऽशजीवानामाब्रह्मबोधात् कल्पितभेदाद् भेदव्यवहारोपपत्तिरिति सूत्रेण समाधत्ते—**तामित्यादिना**। ननु भ्रान्तेः कुतश्चिन्निवृत्तौ व्यवहारविच्छेदः स्यादित्यत आह—**न ह्यस्या इत्यादिना**। प्रतता—सन्तता, विशेषः—

रत्नप्रभाका अनुवाद

हम नरशृङ्गके समान भेदकी असत्ता नहीं कहते हैं, किन्तु मिथ्यात्व कहते हैं। इसलिए देह आदि उपाधिकेभेदसे अंशरूप जीवोंके ब्रह्मज्ञान होने तक कल्पित भेदसे भेदके व्यवहार की उपपत्ति होगी, ऐसा सूत्रसे समाधान करते हैं—"ताम्" इत्यादिसे। परन्तु भ्रान्तिकी किसी कारणवश निवृत्ति होनेपर व्यवहारका लोप प्रसक्त होगा? इसपर कहते हैं—"नह्यस्याः"

भाष्य

म्यग्दर्शनात् प्रततैषा भ्रान्तिः सर्वजन्तुषु । तदेवमविद्यानिमित्तदेहाद्युपाधिसम्बन्धकृताद्विशेषादैकात्म्याभ्युपगमेऽप्यनुज्ञापरिहाराववकल्प्येते । सम्यग्दर्शिनस्तर्ह्यनुज्ञापरिहारानर्थक्यं प्राप्तम्, न; तस्य कृतार्थत्वान्नियोज्यत्वानुपपत्तेः । हेयोपादेययोर्हि नियोज्यो नियोक्तव्यः स्यात् । आत्मनस्त्वतिरिक्तं हेयमुपादेयं वा वस्त्वपश्यन् कथं नियुज्येत । न चाऽऽत्माऽऽत्मन्येव नियोज्यः स्यात् । शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव नियोज्यत्वमिति चेत्, न; तत्संहतत्वाभिमानात् । सत्यं व्यतिरेकदर्शिनो नियोज्यत्वं तथापि व्योमादिवद् देहाद्यसंहतत्वमपश्यत एवात्मनो नियोज्यत्वाभिमानः । नहि देहा-

भाष्यका अनुवाद

संतत है। इस कारण अविद्यानिमित्त देहादि उपाधिके सम्बन्धसे किये गये विशेष द्वारा एकात्माके स्वीकारमें भी अनुज्ञा और परिहारका सम्भव है। तब सम्यग्दर्शीके अनुज्ञा और परिहार निरर्थक होंगे? नहीं, क्योंकि वह कृतार्थ होनेसे नियोज्य हो यह युक्त नहीं है, इसलिए कि हेय और उपादेयमें नियोज्यका नियोग करना चाहिए, परन्तु आत्मासे भिन्न हेय और उपादेय वस्तुको नहीं देखता हुआ वह किस प्रकारसे नियुक्त होगा? आत्मा आत्मामें ही नियुक्त हो, यह युक्त नहीं है। शरीरसे आत्मा भिन्न है, ऐसे ज्ञानवाला ही नियोज्य होगा, ऐसा कहो तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा देहादिका सङ्घात है, ऐसा अभिमान है। आत्मा देहसे व्यतिरिक्त है ऐसा जाननेवाला नियोज्य है यह ठीक है, तो भी आकाश आदिके समान देहादिसे आत्मा असंहत है, ऐसा जिसको

रत्नप्रभा

भेदः, अनियोज्यत्वाद् ब्रह्मविदः शास्त्रानर्थक्यमिष्टमित्याह—न तस्येति । नियोगविषयद्वैताभावादात्मनि असाध्ये नियोगानुपपत्तेर्न ब्रह्मविन्नियोज्य इत्यर्थः । ननु आमुष्मिकफलहेतुके कर्मणि देहभिन्नात्मविवेकिन एवाधिकारो वाच्यः, तथा च ब्रह्मवित् नियोज्यः, विवेकित्वात्, कर्माधिकारिवदिति शङ्कते—शरीरव्यतिरेकेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । प्रतता—संतत अर्थात् विस्तृत । विशेषः—भेद । ब्रह्मवेत्ताके नियोज्य न होनेसे शास्त्रकी निरर्थकता इष्ट है, ऐसा कहते हैं—"न तस्य" इत्यादिसे । नियोगके विषय द्वैतके अभावसे असाध्य आत्मामें नियोगकी अनुपपत्ति होनेसे ब्रह्मवेत्ता नियोज्य नहीं है, ऐसा अर्थ है । परन्तु आमुष्मिक फलके कारण कर्ममें देह भिन्न आत्माको जाननेवालेका ही अधिकार है, इसलिए ब्रह्मवेत्ता नियोज्य है । विवेकी होनेसे, कर्माधिकारीके समान, ऐसी

भाष्य

ध्यसंहतत्वदर्शिनः कस्यचिदपि नियोगो दृष्टः। किमुतैकात्म्यदर्शिनः। न च नियोगाभावात् सम्यग्दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसङ्गः। सर्वत्राभिमानस्यैव प्रवर्तकत्वादभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः। तस्माद् देहसम्बन्धादेवानुज्ञा-परिहारौ, ज्योतिरादिवत्। यथा ज्योतिष एकत्वेऽप्यग्निः क्रव्यात् परि-ह्रियते नेतरः। यथा च प्रकाश एकस्यापि सवितुरमेध्यदेशसम्बद्धः परि-

भाष्यका अनुवाद

ज्ञान नहीं है, उसको ही नियोज्यत्वका अभिमान है। देह आदिसे आत्मा असंहत है, ऐसे ज्ञानवाले किसीका भी नियोग देखनेमें नहीं आता, तो एकात्मदर्शीका नियोग कैसे हो सकता है? यदि कोई कहे कि नियोगके न रहनेसे सम्यग्दर्शीको यथेष्ट चेष्टाका प्रसङ्ग आवेगा, यह युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वत्र अभिमान ही प्रवर्तक है और सम्यग्दर्शीको अभिमान नहीं है। अतः देहके सम्बन्धसे ही अनुज्ञा और परिहार होते हैं, ज्योति आदिके समान। जैसे ज्योति एक है, तो भी क्रव्याद् अग्निका परिहार होता है, अन्यका

रत्नप्रभा

परोक्षविवेकस्याऽपरोक्षभ्रमाविरोधित्वात् कर्मिणो देहाभेदभ्रमोऽस्ति, तथा च भ्रम उपाधिरिति परिहरति—**नेत्यादिना**। यथा व्योम देहाद् भिन्नं तद्वदहमित्य-पश्यतः भ्रान्तस्येत्यर्थः। ब्रह्मवित् न नियोज्यः, अभ्रान्तत्वात्, सुषुप्तवदित्याह—**नहीति**। देहादिषु असंहतत्वदर्शिनः—संहतत्वदर्शनशून्यस्य—भेदभ्रान्तिरहि-तस्य, सुषुप्तस्येति यावत्। अज्ञस्यापि भ्रान्त्यभावकाले नियोज्यत्वं न दृष्टम्, किमु वाच्यमात्मविद इत्यर्थः। अनियोज्यत्वे बाधकमाशङ्क्य परिहरति—**न चेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शङ्का करते हैं—"शरीरव्यतिरेक" इत्यादिसे। परोक्ष विवेक अपरोक्ष भ्रमका विरोधी नहीं है, अतः कर्मीका देहके साथ अभेद भ्रम है, इसलिए भ्रम उपाधि है, इसका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। जैसे आकाश देहसे भिन्न है तद्वत् 'अहम्' इसको नहीं जाननेवाले भ्रमीको, ऐसा अर्थ है। ब्रह्मवेत्ता नियोज्य नहीं है, अभ्रान्त होनेसे, सुषुप्तके समान, ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। अर्थात् देहादिमें असंहतत्वदर्शी और संहतत्वदर्शनशून्य भेदभ्रान्तिरहित अर्थात् सुषुप्तका, ऐसा निष्कर्ष है। भ्रान्तिके अभावकालमें अज्ञको भी नियोज्यत्व दृष्ट नहीं है तो फिर आत्मवेत्ताके लिए कहना ही क्या है? ऐसा भाव है। अनियोज्यत्वमें बाधककी आशङ्का करके परिहार करते हैं—"न च" इत्यादिसे। विषयके वैराग्यसे ज्ञानके लिए अभ्यस्त-

भाष्य

ह्रियते, नेतरः शुचिभूमिष्ठः। यथा भौमाः प्रदेशा वज्रवैडूर्यादय उपादीयन्ते, भौमा अपि सन्तो नरकलेवरादयः परिह्रियन्ते। यथा मूत्रपुरीषं गवां पवित्रतया परिगृह्यते, तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते, तद्वत् ॥४८॥

भाष्यका अनुवाद

नहीं होता। सूर्य यद्यपि एक है तो भी उसका अपवित्र देशके साथ सम्बद्ध प्रकाश परिहृत होता है, अन्य–पवित्र भूमिमें रहा हुआ परिहरणीय नहीं होता है, इसी प्रकार वज्र, वैदूर्य आदि भूमिके प्रदेशोंका उपादान होता है और नरकलेवर आदि प्रदेश भूमिके ही हैं तो भी उनका परिहार होता है। इसी प्रकार गौके मूत्र और गोबर पवित्र हैं, अतः उनका ग्रहण होता है, अन्य जातिके वे ही मूत्र, पुरीष आदि त्यागे जाते हैं, ऐसा ही यहां भी समझना ॥ ४८ ॥

रत्नप्रभा

विषयवैराग्यस्य ज्ञानार्थमभ्यस्तस्य ज्ञानानन्तरमनुवृत्त्या विषयेषु प्रवर्तकरागनिवृत्तेर्नाऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। तदुक्तं भगवता 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (भ० गी० २। ५९) इति। एवमनुज्ञादिप्रसङ्गेन अनियोज्यत्वं विदुष उक्त्वा प्रकृतमुपसंहरति—**तस्मादिति**। एकस्याप्युपाधिभेदाद् अनुज्ञापरिहारयोः दृष्टान्तमाह—**ज्योतिरिति**। क्रव्यं मांसमत्तीति क्रव्याद् अशुचिः श्मशानाग्निरित्यर्थः ॥ ४८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषको ज्ञानके अनन्तर अनुवृत्तिसे विषयोंमें प्रवर्त्तक रागकी निवृत्तिसे अतिप्रसङ्ग नहीं है, ऐसा अर्थ है। उसीको भगवान्ने कहा है—'रसोऽप्यस्य०' (परको देखकर रसकी निवृत्ति होती है) इस प्रकार अनुज्ञादिके प्रसंगसे विद्वान्को अनियोज्य कहकर प्रकृतका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। एकके भी उपाधिभेदसे अनुज्ञा और परिहारमें दृष्टान्त कहते हैं—"ज्योतिः" इत्यादिसे। क्रव्यम्—मांसको जो खाय वह क्रव्याद—अपवित्र श्मशानकी अग्नि ऐसा अर्थ है ॥४८॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥४९॥

पदच्छेद—असन्ततेः, च, अव्यतिकरः।

पदार्थोक्ति—च—अपि, अव्यतिकरः—कर्मफलसंबन्धस्य असंकरः स्यात्, [कुतः] असन्ततेः—उपाधिपरिच्छिन्नस्य आत्मनः सर्वैः शरीरैः सहासम्बन्धात्।

भावार्थ—और आत्माके एक होनेसे कर्मफलका संबन्ध संकीर्ण नहीं होगा, क्योंकि उपाधिसे परिच्छिन्न आत्माका सब शरीरोंके साथ सम्बन्ध नहीं है।

भाष्य

स्यातां नामानुज्ञापरिहारावेकस्याप्यात्मनो देहविशेषयोगात् । यस्त्वयं कर्मफलसम्बन्धः स चैकात्म्याभ्युपगमे व्यतिकीर्येत, स्वाम्येकत्वादिति चेत् । नैतदेवम् । असन्ततेः । नहि कर्तुर्भोक्तुश्चात्मनः सन्ततः सर्वैः शरीरैः सम्बन्धोऽस्ति । उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम् । उपाध्यसन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तानः । ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ॥४९॥

भाष्यका अनुवाद

आत्मा यद्यपि एक है तो भी देहविशेषके योगसे अनुज्ञा और परिहार होंगे । परन्तु जो यह कर्म-फलका संबन्ध है, वह एक आत्माके स्वीकारमें संकीर्ण हो जायगा, क्योंकि स्वामी एक है, ऐसा कहो; तो यह ऐसा नहीं है । असंततिसे, क्योंकि कर्ता और भोक्ता आत्माका सब शरीरोंके साथ संतत संबन्ध नहीं है । जीव उपाधिके अधीन है, ऐसा कहा जा चुका है, और उपाधिके संतत न होनेसे जीव भी संतत नहीं है । इससे कर्मका या फलका संकर नहीं होगा ॥४९॥

रत्नप्रभा

शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—**स्यातामित्यादिना** । यद्यपि स्थूलदेहसम्बन्धादुपादानपरित्यागौ स्याताम्, तथाऽप्यन्यकृतकर्मफलमितरेणाऽपि भुज्येतेति कर्मफलव्यतिकरः—सांकर्यं स्यात्, इह विशिष्टस्य स्वर्गादिभोगायोगेन अविशिष्टात्मन एकस्यैव भोक्तृत्वात् । तस्मात् स्वर्गी नरकी चेति व्यवस्थासिद्धये आत्मस्वरूपभेदो वाच्य इति शङ्कार्थः । भवेत तदा साङ्कर्यम्, यद्यनुपहितात्मन एव भोक्तृत्वं स्यात्, न त्वेतदस्ति । 'तद्गुणसारत्वात्तु' (ब्र० सू० २ । ३ । ३०) इत्यत्र मोक्षस्यापि, बुद्ध्युपहितस्यैव कर्तृत्वादिस्थापनात्, तथा च बुद्धेः परदेहासम्बन्धात् तदुपहितजीवस्य नास्ति परदेहसम्बन्ध इति बुद्धिभेदेन भोक्तृभेदान्न कर्मादिसाङ्कर्यमिति समाधानार्थः ॥ ४९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

शङ्काके उत्तररूपसे सूत्रकी व्याख्या करते हैं—"स्याताम्" इत्यादिसे । यद्यपि स्थूलदेहके सम्बन्धसे उपादान और परित्याग होंगे, तथापि अन्य द्वारा किये गये कर्मके फलका अन्य भी उपभोग करेगा, अतः कर्मफलका व्यतिकर—साङ्कर्य होगा, क्योंकि देहविशिष्ट आत्मामें स्वर्गादि भोगका योग न होनेसे अविशिष्ट एक ही आत्मा भोक्ता होगा। इससे स्वर्गी और नरकी इस प्रकार-की व्यवस्थासिद्धिके लिए आत्माका स्वरूपभेद कहना चाहिए ऐसा शङ्काका अर्थ है । तब साङ्कर्य होगा जब अनुपहित आत्मा ही भोक्ता होगा, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि 'तद्गुणसारत्वात्' इस सूत्रमें मोक्षका भी बुद्ध्युपहित हीमें कर्तृत्वका स्थापन किया है, इसलिए बुद्धिका परदेहके साथ असम्बन्ध है, अतः तद्विशिष्ट जीवमें परदेहसम्बन्ध नहीं है, इससे बुद्धिके भेदसे भोक्ताका भेद होनेसे कर्मादिके साथ साङ्कर्य नहीं है, ऐसा समाधान का अर्थ है ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥५०॥

पदच्छेद—आभासः, एव, च ।

पदार्थोक्ति—च—किञ्च, आभास एव—एष जीवः परस्यात्मनः प्रतिबिम्ब एव [सूर्यप्रतिबिम्बवत्, ततश्च यथैकस्मिन् सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमाने न प्रतिबिम्बान्तरं कम्पते तथैकस्मिन् जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि सति न जीवान्तरस्य तत्सम्बन्ध इति संकरः सुपरिहरः] ।

भाषार्थ—और सूर्यप्रतिबिम्बकी भांति यह जीव परमात्माका प्रतिबिम्ब ही है । जैसे एक प्रतिबिम्बके कांपनेपर दूसरा प्रतिबिम्ब नहीं कांपता है, वैसे ही एक जीवका कर्मफलके साथ सम्बन्ध होनेपर दूसरे जीवका उसके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इस प्रकार संकरका परिहार होना सरल है ।

भाष्य

आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः । न स एव साक्षात् । नापि वस्त्वन्तरम् । अतश्च यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके

भाष्यका अनुवाद

जलमें पड़े हुए सूर्यप्रतिबिम्ब आदिके समान इस जीवको परमात्माका आभास प्रतिबिम्ब ही समझना युक्त है, वह साक्षात् परत्मा ही नहीं है, उसी

रत्नप्रभा

अंशेत्याद्यसूत्रे जीवस्यांऽशत्वं घटाकाशस्येवोपाध्यवच्छेदबुद्ध्योक्तम्, सम्प्रति एवकारेणाऽवच्छेदपक्षारुचिं सूचयन् 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (बृ० २।५।१९) इत्यादिश्रुतिसिद्धं प्रतिबिम्बपक्षमुपन्यस्यति भगवान् सूत्रकारः—**आभास एव चेति** । स परमात्मैवानुपहितो जीवो न भवति, उपाध्यनुभवात् । नापि ततो भिन्नः, 'स एष इह प्रविष्टः' (बृ० १ । ४ । ७) इत्याद्यभेदश्रुतिस्मृतिविरोधात्, तस्मादविद्यातत्कार्यबुद्ध्यादिप्रतिबिम्ब एव जीव इत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे बुद्धिप्रतिबिम्बभेदात् स्वर्गी नरकीत्यादिव्यवस्था, जीवत्वस्याऽऽविद्यकत्वाद् विद्यया

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अंशः" इत्यादि सूत्रमें 'जीव अंश है' यह घटाकाशके समान उपाधिरूप अवच्छेदक बुद्धिसे कहा गया है, अब एवकारसे अवच्छेदवादमें अरुचि सूचित करते हुए 'रूपं रूपं' इत्यादि श्रुतिसिद्ध प्रतिबिम्बपक्षका उपन्यास भगवान् सूत्रकार करते हैं—"आभास एव च" इत्यादिसे । अनुपहित परमात्मा जीव नहीं हो सकता, उपाधिके अनुभवसे, उस परमात्मासे जीव भिन्न है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि 'स एष इह प्रविष्टः' इत्यादि अभेद प्रतिपादक श्रुतिके साथ विरोध होगा, अतः अविद्या, तत्कार्य बुद्धि आदिमें प्रतिबिम्ब ही जीव है, ऐसा अर्थ है । इस पक्षमें बुद्धि प्रतिबिम्बके भेदसे स्वर्गी,

भाष्य

कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्संबन्धः। एवमप्यव्यतिकर एव कर्मफलयोः। आभासस्य चाविद्याकृतत्वात् तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति, तद्-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार अन्य वस्तु भी नहीं है। इसलिए जैसे एक जलसूर्यकके—जलमें स्थित-सूर्य-प्रतिबिम्बके हिलनेसे अन्य जलसूर्यक नहीं हिलता, वैसे ही एक जीवके कर्मफलसंबन्धी होनेपर अन्य जीवका उसके (कर्मफलके) साथ संबन्ध नहीं होता। इस प्रकार भी कर्म और फलका अव्यतिकर ही है। और आभासके अविद्याजनित होनेसे उसका आश्रित संसार अविद्याजनित है, यह उपपन्न

रत्नप्रभा

मोक्षश्चेत्युपपद्यत इत्याह—**अतश्चेत्यादिना**। यस्त्वयं भास्करस्य प्रलापः—प्रतिबिम्बस्य नोपाधिसंसृष्टतया कल्पितत्वम्, किन्तु स्वरूपेणैव, अतः कल्पितप्रतिबिम्बस्य मुक्तौ स्थित्ययोगात् न जीवत्वम्—इति स सिद्धान्तरहस्याज्ञानकृत इत्युपेक्षणीयः। यदि दर्पणे मुखं शुक्तौ रजतवत् कल्पितं स्यात्, तदा नेदं रजतमिति स्वरूपबाधवन्नेदं मुखमिति बाध्यं स्यात्, अतो नास्ति दर्पणे मुखमिति संसर्गमात्रबाधान्मदीयं मुखमेवेदमित्यबाधितमुखाभेदानुभवात् संसृष्टत्वेनैव कल्पितत्वम्। प्रवेशवाक्यैश्चाऽविकृतब्रह्मण एव प्रतिबिम्बभावाख्यप्रवेशोक्तेर्न स्वरूपकल्पना। पराक्रान्तं चाऽत्र दर्पणटीकायामचार्यैरित्युपरम्यते। एवं स्वमते स्वरूपैक्येऽप्युपहितजीवभेदादसांकर्यमुक्तम्, सम्प्रति सूत्रे चकारसूचितं

रत्नप्रभाका अनुवाद

नरकी इत्यादि व्यवस्था और जीवके आविद्यक होनेसे विद्यासे मोक्ष इत्यादि उपपन्न होते हैं, ऐसा कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। जो कि भास्करका यह प्रलाप है—उपाधिके संसर्गसे प्रतिबिम्ब कल्पित नहीं है, किन्तु स्वरूपसे ही कल्पित है इससे कल्पित प्रतिबिम्बकी मुक्तिमें स्थिति न होनेसे जीवत्व नहीं है इत्यादि, उसका वह प्रलाप सिद्धान्तके रहस्यके अज्ञानसे उत्पन्न है, अतः उपेक्षणीय है। यदि शुक्तिमें रजतके समान दर्पणमें मुख कल्पित हो, तो 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार स्वरूप बाधके समान 'यह मुख नहीं है' ऐसा बाध प्रसक्त होगा। अतः 'दर्पणमें मुख नहीं है' इस प्रकार संसर्गमात्रका बाध होनेसे और 'मेरा मुख है' इस प्रकार अबाधित मुखके साथ अभेदज्ञान होनेसे संसृष्टरूपसे ही कल्पितत्व और प्रवेश-वाक्योंसे अविकृत ब्रह्म ही का प्रवेश कथित है, अतः स्वरूप कल्पना नहीं है। दर्पणटीकामें आचार्यने इस विषयमें अत्यन्त विचार किया है, अतः विराम करते हैं। इस प्रकार अपने मतमें स्वरूपके एक होनेपर भी उपहित जीवके

भाष्य

व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः । येषां तु बहव आत्मानस्ते च सर्वे सर्वगतास्तेषामेवैष व्यतिकरः प्राप्नोति । कथम् ? बहवो विभवश्चात्मानश्चैतन्यमात्रस्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च तदर्थं साधारणं प्रधानं तन्निमित्तैषां भोगापवर्गसिद्धिरिति सांख्याः । सति बहुत्वे विभुत्वे च घटकुड्यादिसमाना द्रव्यमात्रस्वरूपाः स्वतोऽचेतना आत्मानस्तदुपकरणानि चाऽणूनि मनांस्यचेतनानि । तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां च संयोगान्नवेच्छादयो वैशेषिका आत्मगुणा उत्पद्यन्ते । ते चाऽव्यतिकरेण प्रत्येकमात्मसु समवयन्ति स संसारः । तेषां नवानामात्मगुणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति काणादाः । तत्र सांख्यानां तावच्चैतन्यस्वरूपत्वात् सर्वात्मनां संनिधानाद्यविशेषाच्चैकस्य सुखदुःखसम्बन्धे सर्वेषां सुखदुःखसम्बन्धः

भाष्यका अनुवाद

होता है और इसलिए उसके नाशसे पारमार्थिक ब्रह्मात्मभावका उपदेश उपपन्न होता है । परन्तु जिनके मतमें आत्मा बहुत हैं और वे सब सर्वगत हैं, उनके मतमें यह व्यतिकर प्राप्त होता है । किस प्रकार ? आत्मा बहुत और विभु हैं, चैतन्यमात्रस्वरूप हैं, निर्गुण और निरतिशय हैं उनके लिए प्रधान साधारण है और उसके कारणसे उनका भोग और अपवर्ग सिद्ध होता है, ऐसा सांख्य मानते हैं । आत्मा बहुत और विभु होकर घट, कुड्य आदिके सदृश, द्रव्यमात्रस्वरूप, स्वयं अचेतन हैं और उनके उपकरण मन अणु और अचेतन हैं । उनमें आत्मद्रव्य और मनोद्रव्यके संयोगसे इच्छा आदि नौ आत्माके विशेषगुण उत्पन्न होते हैं । और वे व्यतिकरके बिना प्रत्येक आत्मामें समवायसंबन्धसे रहते हैं, वह संसार है, और उन नौ आत्मगुणोंकी अत्यन्त अनुत्पत्ति मोक्ष है, ऐसा कणादानुयायी मानते हैं । उनमें प्रथम सांख्योंके मतमें सब आत्माओंके चैतन्यस्वरूप होनेसे और संनिधान आदिके अविशेषसे

रत्नप्रभा

परेषां सांकर्यं वक्तुमुपक्रमते—येषामित्यादिना । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाः नव आत्मविशेषगुणाः । सन्निधानादीत्यादिपदादौदासीन्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

साथ भेद होनेसे असाङ्कर्य है, ऐसा कहा जा चुका है, अब सूत्रमें चकारसे सूचित अन्योंका साङ्कर्य कहनेके लिए उपक्रम करते हैं—"येषाम्" इत्यादिसे । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना, ये नौ आत्माके विशेषगुण हैं, सन्निधानादि इत्यादि पदसे औदासीन्य कहा गया है ।

भाष्य

प्राप्नोति । स्यादेतत्—प्रधानप्रवृत्तेः पुरुषकैवल्यार्थत्वाद् व्यवस्था भविष्यति । अन्यथा हि स्वविभूतिख्यापनार्था प्रधानप्रवृत्तिः स्यात् । तथा चाऽनिर्मोक्षः प्रसज्येतेति । नैतत्सारम् । नह्यभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम्, उपपत्त्या तु कयाचिद् व्यवस्थोच्येत । असत्यां पुनरुपपत्तौ कामं मा भूदभिलषितं पुरुषकैवल्यम्, प्राप्नोति तु व्यवस्थाहेत्वभावाद् व्यतिकरः ।

भाष्यका अनुवाद

एकके सुख-दुःखके साथ संबन्ध होनेपर सबके सुख-दुःखके साथ संबन्ध प्राप्त होता है । परन्तु (सांख्य शंका करता है) प्रधानकी प्रवृत्ति पुरुषके कैवल्यके लिए होनेसे व्यवस्था होगी, क्योंकि नहीं तो प्रधानकी प्रवृत्ति अपनी विभूति दिखानेके लिए होगी । और इससे अनिर्मोक्ष प्रसक्त होगा । यह युक्त नहीं है, क्योंकि अभिलषितकी सिद्धिके आधारपर व्यवस्था नहीं की जा सकती है, परन्तु किसी उपपत्तिसे व्यवस्था की जा सकती है । उपपत्ति न होनेपर अभिलषित पुरुषकैवल्य नहीं होगा, प्रत्युत व्यवस्थाका

रत्नप्रभा

मुक्तम् । सांख्यः स्वाभिप्रायं शङ्कते—स्यादेतदिति । सर्वेषां पुंसां प्रकृति-सान्निध्याद्यविशेषेऽपि प्रतिपुरुषं नियमेन भोगापवर्गार्थं प्रवर्तते, तथा चोद्दे-श्यपुरुषार्थनियता प्रधानप्रवृत्तिरिति भोगादिव्यवस्था । अन्यथा—नियत-प्रवृत्त्यनङ्गीकारे स्वमाहात्म्यख्यापनार्था प्रधानस्य प्रवृत्तिरित्युद्देश्यविघातः स्यादि-त्यर्थः । जडप्रधानस्योद्देश्यविवेकाभावात् पुरुषार्थस्याऽप्यनागतस्याऽचेतनस्याऽ-नियामकत्वान्न व्यवस्था, मानयुक्तिशून्यत्वादित्याह—नैतदिति । यो हि नियामकाभावेनोद्देश्यविघातमापादयति तं प्रति तस्यैवाऽऽपादनमिष्टमिति भावः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

साङ्ख्य अपने अभिप्रायकी शङ्का करता है—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । सब पुरुषोंका प्रकृतिके साथ सन्निधान समान है, तो भी प्रकृति ही प्रत्येक पुरुषमें नियमसे भोग और अपवर्गके लिए प्रवृत्त होती है । इसलिए उद्देश्य और पुरुषार्थसे प्रधानकी प्रवृत्ति नियत है, अतः भोगादिकी व्यवस्था उपपन्न होती है । यदि नियत प्रवृत्ति न मानी जाय, तो अपने माहात्म्यकी प्रसिद्धिके लिए प्रधानकी प्रवृत्ति है' इस प्रकार उद्देश्यका विघात प्रसक्त होगा, ऐसा अर्थ है । जड़ प्रधानको उद्देश्यका ज्ञान नहीं है और अनागत अचेतन पुरुषार्थ भी नियामक नहीं है, अतः व्यवस्था नहीं होगी, क्योंकि प्रमाण और युक्ति नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—"नैतत्" इत्यादिसे । जो नियामकके अभावसे उद्देश्य विघातका आपादन करता है, उसके प्रति उसीका आपादन इष्ट है, ऐसा भाव है ।

भाष्य

काणादानामपि यदैकेनाऽऽत्मना मनः संयुज्यते तदात्मान्तरैरपि नाऽन्तरीयकः संयोगः स्यात्, संनिधानाद्यविशेषात्। ततश्च हेत्वविशेषात् फलाविशेष इत्येकस्यात्मनः सुखदुःखयोगे सर्वात्मनामपि समानं सुखदुःखित्वं प्रसज्येत ॥५०॥

स्यादेतत्—अदृष्टनिमित्तो नियमो भविष्यतीति, नेत्याह—

भाष्यका अनुवाद

हेतु न होनेसे व्यतिकर प्राप्त होगा। काणादोंके मतमें भी जब एक आत्माके साथ मनका संयोग होता है, तब अन्य आत्माओंके साथ भी अवश्य संयोग होगा, क्योंकि संनिधान आदिका अविशेष है। और हेतुमें विशेष न होनेसे फलमें विशेष नहीं होगा, तो एक आत्मामें सुख और दुःखका सम्बन्ध होनेपर सब आत्माओंमें समान सुख-दुःख प्रसक्त होंगे ॥५०॥

यह शङ्का हो सकती है—अदृष्टके निमित्तसे नियम होगा। इसपर कहते हैं कि नहीं—यह शंका युक्त नहीं है—

रत्नप्रभा

तार्किकमतेऽपि भोगादिसाङ्कर्यमित्याह—**काणादानामिति**। हेतुः—मनःसंयोगः, फलम्—सुखादि ॥ ५० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तार्किक मतमें भी भोग आदिके साथ साङ्कर्य है ऐसा कहते हैं—'काणादानाम्' इत्यादिसे। हेतुः—मनका संयोग, फलम्—सुख आदि ॥५०॥

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

पदार्थोक्ति—अदृष्टानियमात्—सांख्यमते प्रधानसमवेतस्यादृष्टस्य सर्वात्मसाधारणत्वात् [स दोषस्तदवस्थः] न्यायमतेऽपि अदृष्टहेतुमनःसंयोगस्य सर्वात्मसाधारणतया इदमस्याऽदृष्टम्, इदमस्येत्येवंरूपस्यादृष्टनियमस्याभावात् फलानियमः]।

भाषार्थ—सांख्यमतमें प्रधानमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले अदृष्टके सब आत्माओंके प्रति साधारण होनेसे वह दोष ज्योंका त्यों है। न्यायमतमें भी अदृष्टसे उत्पन्न होनेवाले मनःसंयोगके सब आत्माओंके प्रति साधारण होनेसे यह इसका अदृष्ट है और यह इसका, इस प्रकारके अदृष्टनियमका अभाव होनेसे फलसम्बन्धका नियम नहीं है।

भाष्य

बहुष्वात्मस्वाकाशवत् सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण संनिहितेषु मनोवाक्कायैर्धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपार्ज्यते । सांख्यानां तावत्तदनात्मसमवायि प्रधानवर्ति प्रधानसाधारण्यान्न प्रत्यात्मं सुखदुःखोपभोगस्य नियामकमुपपद्यते । काणादानामपि पूर्ववत् साधारणेनात्ममनःसंयोगेन निर्वर्तितस्यादृष्टस्याप्यस्यैवात्मन इदमदृष्टमिति नियमे हेत्वभावादेष एव दोषः ॥ ५१ ॥

स्यादेतत्—अहमिदं फलं प्राप्नवानीदं परिहराणीत्थं प्रयता इत्थं करवाणीत्येवंविधा अभिसंध्यादयः प्रत्यात्मं प्रवर्तमाना अदृष्टस्यात्मनां च स्वस्वामिभावं नियंस्यन्तीति । नेत्याह—

भाष्यका अनुवाद

आकाशके समान सर्वगत और प्रत्येक शरीरमें बाहर और भीतर समान रीतिसे संनिहित अनेक आत्माओंमें मन, वाणी और शरीर द्वारा धर्मलक्षण और अधर्मलक्षण अदृष्टका उपार्जन किया जाता है। और सांख्योंके मतमें वह अदृष्ट आत्मामें समवेत नहीं है, किंतु प्रधानमें रहता है और प्रधानके साधारण होनेसे प्रत्येक आत्मामें वह (अदृष्ट) सुख दुःखके उपभोगका नियामक हो, यह उपपन्न नहीं होता। काणादोंके मतमें भी मनके संयोगके समान साधारण आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न हुए अदृष्टके 'यह अदृष्ट इसी आत्माका है, इस नियममें हेतु न होनेसे यही दोष है ॥५१॥

यह शङ्का हो सकती है कि मैं इस फलको प्राप्त करूं, इस फलका परिहार करूं, इस प्रकार प्रयत्न करूँ और इस प्रकार करूँ, इस प्रकारके संकल्प जो कि प्रत्येक आत्मामें रहते हैं, वे अदृष्ट और आत्माके स्वस्वामिभावका नियमन करेंगे, इसपर नहीं ऐसा कहते हैं—

रत्नप्रभा

यदात्मादृष्टकृतो यो मनःसंयोगः स तदात्मन एव सुखादिहेतुरिति शङ्कते—स्यादेतदिति । सूत्रेण परिहरति—नेत्याहेति । पूर्ववत्—मनःसंयोगवत्, अदृष्टस्याऽपि सर्वात्मसाधारणत्वात् न व्यवस्थेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस आत्माके अदृष्टसे मनका संयोग हो, वह उसी आत्मामें सुख आदिका हेतु है, इस प्रकार व्यवस्थाकी शङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । सूत्रसे परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे । पूर्ववत्—अर्थात् मनके संयोगके समान अदृष्टके भी सर्वात्मसाधारण होनेसे व्यवस्था नहीं है ऐसा अर्थ है ॥ ५१ ॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

पदच्छेद—अभिसन्ध्यादिषु, अपि, च, एवम् ।

पदार्थोक्ति—अभिसन्ध्यादिष्वपि—साधारणमनःसंयोगसाध्येषु संकल्पादिष्वपि, चैवम्—अदृष्टनियमहेतुत्वभावः [इत्युक्तदोषस्तदवस्थः] ।

भाषार्थ—साधारणमनःसंयोगसे होनेवाले संकल्प आदि भी अदृष्ट-नियमके हेतु नहीं हैं, अतः उक्त दोष ज्योंका त्यों है ।

भाष्य

अभिसन्ध्यादीनामपि साधारणेनैवात्ममनःसंयोगेन सर्वात्मसंनिधौ क्रियमाणानां नियमहेतुत्वानुपपत्तेरुक्तदोषानुषङ्ग एव ॥ ५२ ॥

भाष्यका अनुवाद

साधारण आत्ममनःसंयोगसे सब आत्माओंकी सन्निधिमें उत्पन्न किये जानेवाले संकल्प आदि भी नियमके हेतु नहीं हो सकते हैं, इससे उक्त दोषकी प्राप्ति है ही ॥ ५२ ॥

रत्नप्रभा

रागादिनियमात्तज्जादृष्टनियम इत्याशङ्क्य उत्तरत्वेन सूत्रं गृह्णाति—**स्यादेतदित्यादिना** । उक्तदोषः—अनियम ॥ ५२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

राग आदिके नियमसे उससे उत्पन्न हुए अदृष्टका नियम है, ऐसी आशंका करके उत्तररूपसे अग्रिम सूत्रका ग्रहण करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । उक्त दोष अर्थात् अनियम ॥ ५२ ॥



प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

पदच्छेद—प्रदेशात्, इति, चेत्, न, अन्तर्भावात्।

पदार्थोक्ति—प्रदेशात्—आत्मनां विभुत्वेऽपि यादृशयादृशशरीरावच्छिन्ने आत्मप्रदेशे मनःसंयोगस्तादृशात्मप्रदेशात् [अभिसन्ध्यादिनियमः स्यात्] इति चेन्न, अन्तर्भावात्—सर्वेषामात्मनां विभुत्वाविशेषात् कृत्स्नशरीरेष्वन्तर्भावात् [अस्यैतच्छरीरमिति नियमाभावेन पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गस्तदवस्थ एव]।

भाषार्थ—आत्माओंके विभु होनेपर भी जिस शरीरावच्छिन्न आत्मप्रदेशमें मनःसंयोग हो, उसी आत्मप्रदेशसे अभिसन्ध्यादिका नियम होगा, यदि ऐसा कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें विभुत्वके साधारण होनेसे सभी शरीरोंमें उसका अन्तर्भाव है, अतः 'इसका यह शरीर है' इस प्रकार नियमके न रहने के कारण पूर्वोक्त दोषका प्रसङ्ग तदवस्थ ही है।

भाष्य

अथोच्येत—विभुत्वेऽप्यात्मनः शरीरप्रतिष्ठेन मनसा संयोगः शरीरावच्छिन्न एवात्मप्रदेशे भविष्यति, अतः प्रदेशकृता व्यवस्थाऽभिसंध्यादीनामदृष्टस्य सुखदुःखयोश्च भविष्यतीति। तदपि नोपपद्यते। कस्मात्? अन्तर्भावात्। विभुत्वाविशेषाद्धि सर्व एवात्मानः सर्वशरीरेष्वन्तर्भवन्ति।

भाष्यका अनुवाद

यदि ऐसा कहा जाय कि यद्यपि आत्मा विभु है, तो भी शरीरमें स्थित मनके साथ उसका संयोग शरीरमें मर्यादित आत्मप्रदेशमें ही होगा, इसलिए अभिसन्धि आदिकी, अदृष्टकी और सुखदुःखकी प्रदेशकृत व्यवस्था होगी, वह भी उपपन्न नहीं है। किससे? अन्तर्भावसे। क्योंकि सब आत्माओंके

रत्नप्रभा

आत्मान्तरप्रदेशस्य परदेहे अनन्तर्भावात् व्यवस्था इति शङ्कार्थः। किं मनसा संयुक्तात्मैवात्मनः प्रदेशः, उत कल्पितः? आद्ये सर्वात्मनां सर्वदेहेषु अन्तर्भाव

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य आत्माके प्रदेशका परदेहमें अन्तर्भाव नहीं है, अतः व्यवस्था होगी, ऐसा शङ्काका अर्थ—अभिप्राय है। क्या मनके साथ संयुक्त हुआ आत्मा ही आत्माका प्रदेश है या कल्पित है? प्रथम पक्षमें सब आत्माओंका सब देहोंमें अन्तर्भाव होनेसे अव्यवस्था है। द्वितीय पक्षको दूषित करते हैं—

भाष्य

तत्र न वैशेषिकैः शरीरावच्छिन्नोऽप्यात्मनः प्रदेशः कल्पयितुं शक्यः। कल्प्यमानोऽप्ययं निष्प्रदेशस्यात्मनः प्रदेशः काल्पनिकत्वादेव न पारमार्थिकं कार्यं नियन्तुं शक्नोति। शरीरमपि सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानमस्यैवात्मनो नेतरेषामिति न नियन्तुं शक्यम्। प्रदेशविशेषाभ्युपगमेऽपि च

भाष्यका अनुवाद

विभुत्वके समान होनेसे सब आत्माएँ सब शरीरोंमें अन्तर्भूत होंगी। इस प्रकार सब आत्माओंका सब शरीरोंमें अन्तर्भाव होनेपर वैशेषिक लोग आत्माके शरीरावच्छिन्न प्रदेशकी भी कल्पना नहीं कर सकते हैं। निरवयव आत्माके प्रदेशकी किसी प्रकार कल्पना की जाय, तो वह काल्पनिक होनेसे ही पारमार्थिक कार्यका नियन्त्रण नहीं कर सकता। सब आत्माओंकी सन्निधिमें उत्पन्न हुआ शरीर भी इसी आत्माका है अन्य आत्माओंका नहीं, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है। प्रदेशविशेष स्वीकार करनेपर भी समान सुखदुःख भोगनेवाले

रत्नप्रभा

इति अव्यवस्था। द्वितीयं दूषयति—**तत्र न वैशेषिकैरिति**। सर्वात्मसांनिध्ये सति कस्यचिदेव प्रदेशः कल्पयितुमशक्यः, नियमकाभावात् इत्यर्थः। प्रदेशकल्पनामङ्गीकृत्याप्याह—**कल्प्येति**। कार्यम्—अभिसंध्यादिकम्। यस्यात्मनो यच्छरीरं तत्र तस्यैव भोग इति व्यवस्थामाशङ्क्याह—**शरीरमपीति**। प्रदेशपक्षे दोषान्तरमाह—**प्रदेशेति**। यस्मिन्नात्मप्रदेशेऽदृष्टोत्पत्तिः स किं चलः स्थिरो वा? नाद्यः, अचलेंऽशिन्यंशस्य चलनविभागयोरसंभवात् अण्वात्मवादापाताच्च। द्वितीये तस्मिन्नेव प्रदेशे परस्यापि भोगदर्शनात् अदृष्टमस्तीत्येकेनापि शरीरेण द्वयोरात्मनोर्भोगप्रसङ्गः। यद्यात्मभेदात्प्रदेशयोर्भेदस्तदापि तयोरेकदेहान्तर्भावाद् भोगसांकर्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तत्र न वैशेषिकैः" इत्यादिसे। सब आत्माओंके सान्निध्य होनेपर भी किसी एकके ही प्रदेशकी कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि किसकी कल्पना की जाय, इसमें नियामक कोई नहीं है, ऐसा अर्थ है। प्रदेशकी कल्पनाका स्वीकार करके भी कहते हैं—"कल्प्य" इत्यादिसे। कार्य—अभिसंधि आदि। जिस आत्माका जो शरीर है, उसमें उसीका ही भोग है, ऐसी व्यवस्थाकी आशङ्का करके कहते हैं—"शरीरमपि" इत्यादिसे। प्रदेश पक्षमें अन्य दोष कहते हैं—"प्रदेश" इत्यादिसे। जिस आत्मप्रदेशमें अदृष्ट उत्पन्न होता है, वह चल है या स्थिर है? प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि अंशीके अचल होनेपर अंशके चलन और विभागका संभव नहीं है और 'आत्मा अणु है' इस वादका प्रसङ्ग आवेगा।

भाष्य

द्वयोरात्मनोः समानसुखदुःखभाजोः कदाचिदेकेनैव तावच्छरीरेणोपभोगसिद्धिः स्यात्। समानप्रदेशस्यापि द्वयोरात्मनोरदृष्टस्य संभवात्। तथाहि—देवदत्तो यस्मिन्प्रदेशे सुखदुःखमन्वभूत्तस्मात्प्रदेशादपक्रान्ते तच्छरीरे यज्ञदत्त-

भाष्यका अनुवाद

दो आत्माओंका उपभोग कदाचित् एक ही शरीरसे सिद्ध हो जायगा, क्योंकि दो आत्माओंका अदृष्ट एक ही प्रदेशमें हो, ऐसा सम्भव है। जैसे कि जिस प्रदेशमें देवदत्तने सुखदुःखका अनुभव किया, उस प्रदेशसे उसका शरीर दूर जाय और यज्ञदत्तका शरीर उस प्रदेशमें प्राप्त हो, तो उसको भी दूसरे के समान ही सुखदुःखका अनुभव देखा जाता है, वह अनुभव यदि देवदत्त और यज्ञदत्तका अदृष्ट समानप्रदेशवाला न हो, तो नहीं होगा। और प्रदेश-

रत्नप्रभा

तदवस्थं सावयवात्मवादप्रसङ्गश्च। किञ्च यत्र यत्रात्मनः प्रदेशे शरीरादिसंयोगाददृष्टमुत्पन्नं तत्तत्रैवाचलप्रदेशे स्थितमिति स्वर्गादिशरीरावच्छिन्नात्मन्यदृष्टाभावाद् भोगो न स्याद् अतः प्रदेशभेदो न व्यवस्थापकः। यत्त्वत्रोत्पन्नमदृष्टं स्वाश्रये यत्र कचिद् भोगहेतुरिति स्वर्गादिभोगसिद्धिरिति। तन्न। भोगशरीराद् दूरस्थादृष्टे मानाभावादिति भावः। यदपि केचिदाहुः—मनस एकत्वेऽप्यात्मनां भेदेन संयोगव्यक्तीनां भेदात् कयाचित् संयोगव्यक्त्या कस्मिंश्चिदेवात्मन्यदृष्टादिकमिति असाङ्कर्यमिति तन्न। संयोगव्यक्तीनां वैजात्याभावेन सर्वासामेवैकदेहान्तःस्थसर्वात्मस्वदृष्टहेतुत्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्वितीय पक्षमें उसी प्रदेशमें अन्यका भी भोग देखा जाता है, इसलिए अदृष्टके अस्तित्वसे एक शरीरमें दो आत्माओंका भोग प्रसक्त होगा। यदि आत्माके भेदसे प्रदेशका भेद हो, तो भी उन दोनोंका एक देशमें अन्तर्भाव होनेसे भोगका सांकर्य ज्यों-का-त्यों है और आत्मा सावयव है, ऐसे वादका प्रसंग आवेगा। और जिस जिस आत्मप्रदेशमें शरीर आदि संयोगसे अदृष्ट उत्पन्न होता है, वह उसी अचल प्रदेशमें स्थित है, इसलिए स्वर्गादिशरीरावच्छिन्न आत्मामें अदृष्टके न होनेसे भोग न होगा, इससे प्रदेशका भेद व्यवस्थापक नहीं है। और यहां उत्पन्न हुआ अदृष्ट अपने आश्रयमें चाहे जहां भोगका हेतु होनेसे स्वर्गादि भोग सिद्ध होता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि भोगशरीरसे अदृष्ट दूर रहे, इसमें प्रमाण नहीं है, यह भाव है। कितने ही जो ऐसा कहते हैं कि मनके एक होनेपर भी आत्माके भेदसे संयोगव्यक्तियोंका भेद होता है, किसी एक संयोगव्यक्तिसे किसी एक ही आत्मामें अदृष्ट आदि होते हैं, इसलिए सांकर्य नहीं है, यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि संयोग व्यक्तियोंके सजातीय होनेसे सभी व्यक्तियां एक देहके भीतर सब आत्माओंमें अदृष्टका हेतु होंगी, ऐसा प्रसङ्ग आवेगा। इससे सब

भाष्य

शरीरे च तं प्रदेशमनुप्राप्ते तस्यापीतरेण समानः सुखदुःखानुभवो दृश्यते स न स्याद्यदि देवदत्तयज्ञदत्तयोः समानप्रदेशमदृष्टं न स्यात्। स्वर्गाद्यनुपभोगप्रसङ्गश्च प्रदेशवादिनः स्यात्। ब्राह्मणादिशरीरप्रदेशेष्वदृष्टनिष्पत्तेः प्रदेशान्तरवर्तित्वाच्च स्वर्गाद्युपभोगस्य। सर्वगतत्वानुपपत्तिश्च बहूनामात्मनां, दृष्टान्ताभावात्। वद तावत्त्वं के बहवः समानप्रदेशाश्चेति। रूपादय इति चेत्, न; तेषामपि धर्म्यंशेनाभेदाल्लक्षणभेदाच्च। न तु बहूनामात्मनां

भाष्यका अनुवाद

वादीको स्वर्गादिके अनुपभोगका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि ब्राह्मण आदि शरीर-प्रदेशोंमें अदृष्ट निष्पन्न होता है और स्वर्गादिका उपभोग अन्य प्रदेशमें है। और अनेक आत्मा सर्वगत हों, यह युक्त नहीं है, क्योंकि इसमें दृष्टान्तका अभाव है। तुम कहो तो सही कि बहुत और समान प्रदेशवाले कौनसे पदार्थ हैं? अनेक और समान देशवाले रूपादि हैं, यदि ऐसा कहो, तो युक्त नहीं है,

रत्नप्रभा

पत्तेः। तथा च सर्वात्मनामेकस्मिन् देहे भोक्तृत्वं दुर्वारम्। किञ्च बहूनां विभुत्वमङ्गीकृत्य सांकर्यमुक्तं, सम्प्रति कर्तृणां विभुत्वमसिद्धम् 'अहमिहैवास्मि' इत्यल्पत्वानुभवात् मानाभावात् च इत्याह—सर्वगतत्वानुपपत्तिश्चेति। किञ्च बहूनां विभुत्वे समानदेशत्वं वाच्यं, तच्च अयुक्तम्, अदृष्टत्वात्, इत्याह—वदेति। ननु रूपरसादीनाम् एकघटस्थत्वं दृष्टमिति चेत्, नायमस्मत्संमतो दृष्टान्तः, रूपस्य तेजोमात्रत्वाद्रसस्य जलमात्रत्वाद्गन्धस्य पृथ्वीमात्रत्वादित्येवं तत्तद्गुणस्य स्वस्वधर्म्यंशेनाभेदात्तेजआदिधर्म्यतिरिक्तघटाभावात्। किञ्चात्मनां बहुत्वमप्यसिद्धम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माओंका एकही देहमें भोक्तृत्व दुर्वार हो जायगा। अनेक आत्माओंका विभुत्व स्वीकार करके सांकर्य कहा जा चुका है, अब कहते हैं कि कर्ताओंका विभुत्व असिद्ध है, क्योंकि 'मैं यहीं हूँ' ऐसे अल्पत्वका अनुभव होता है और विभुत्वमें प्रमाणका अभाव है, ऐसा कहते हैं—"सर्वगतत्वानुपपत्तिश्च" इत्यादिसे। और अनेक आत्मा विभु हैं, तो वे समान देशमें हैं, ऐसा कहना चाहिए। परन्तु वह अयुक्त है, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता, ऐसा कहते हैं—"वद" इत्यादिसे। परन्तु रूप, रस आदि एक घटमें स्थित देखे जाते हैं, यदि ऐसा कहोगे, तो यह दृष्टान्त हमें सम्मत नहीं है, क्योंकि रूप तेजमात्र है, रस जलमात्र है और गन्ध पृथिवीमात्र है, इस प्रकार तत्-तत् गुण अपने अपने धर्मीके अंशरूपसे धर्मीसे अभिन्न हैं, अतः तेज आदि धर्मीसे भिन्न घटका अभाव है। और आत्मा अनेक हैं, यह भी असिद्ध है, क्योंकि आत्मत्वरूप-

भाष्य

लक्षणभेदोऽस्ति। अन्त्यविशेषवशाद्भेदोपपत्तिरिति चेत्, न; भेदकल्पनाया अन्त्यविशेषकल्पनायाश्चेतरेतराश्रयत्वात्। आकाशादीनामपि विभुत्वं ब्रह्म-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि वे भी समान प्रदेशवाले नहीं हैं, क्योंकि धर्मीके अंशरूपसे अभिन्न हैं और उनके लक्षणमें भेद है, परन्तु बहुत आत्माओंका लक्षणमें भेद नहीं है। अन्त्यविशेषके कारण भेद उपपन्न होगा, यदि ऐसा कहोगे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि भेदकी कल्पना और अन्त्यविशेषकी कल्पनामें अन्योन्याश्रय है। आकाशादिका भी विभुत्व ब्रह्मवादीके मतमें असिद्ध है,

रत्नप्रभा

आत्मत्वरूपलक्षणस्याभेदात्। तथा च देवदत्तात्मा यज्ञदत्तात्मनः न भिन्नः, आत्मत्वात्, यज्ञदत्तात्मवत्। अत्र वैशेषिकः शङ्कते—अन्त्यविशेषेति। नित्यद्रव्यमात्रवृत्तयो विशेषाः, ते च स्वयं स्वाश्रयव्यावर्तका एव न स्वेषां व्यावर्तकमपेक्षन्त इत्यन्त्या उच्यन्ते। तथा च विशेषरूपलक्षणभेदाद् भवत्यात्मभेद इत्यर्थः। न तावदात्मन्यनात्मनः सकाशाद् भेदज्ञानार्था विशेषकल्पना, आत्मत्वादेवानात्मभेदसिद्धेः। नाप्यात्मनां मिथो भेदज्ञानार्थं तत्कल्पना, आत्मभेदस्याद्याप्यसिद्धेः। न च विशेषभेदकल्पनादेवात्मभेदकल्पना युक्ता, आत्मभेदज्ञप्तावात्मसु विशेषभेदसिद्धिस्तत्सिद्धौ तज्ज्ञप्तिरित्यन्योन्याश्रयादिति परिहारार्थः। यस्तु बहूनां विभुत्वे आकाशदिक्कालदृष्टान्त इति सोऽप्यसम्मत इत्याह—आकाशादीनामिति। विभुत्वस्यैकवृत्तित्वे लाघवान्न विभुभेदः। यथैकस्मिन्नाकाशे भेरीवीणादिभेदेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

लक्षण समान है, उस लक्षणमें भेद नहीं है। इसलिए देवदत्तकी आत्मा यज्ञदत्तकी आत्मासे भिन्न नहीं है, आत्मा होनेसे, यज्ञदत्तकी आत्माके समान। यहां वैशेषिक शंका करता है—"अन्त्यविशेष" इत्यादिसे। नित्यद्रव्यमात्रमें जिसकी वृत्ति है वह, विशेष है और वह विशेष अपने आप आश्रयका व्यावर्त्तक है, इसलिए उसको अपने व्यावर्त्तक की अपेक्षा नहीं है, इस कारणसे वह अन्त्य कहलाता है। इसलिए विशेषरूपलक्षणभेदसे आत्माका भेद होता है, ऐसा अर्थ है। आत्माका अनात्मासे भेद जाननेके लिए विशेषकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि वे आत्मा हैं, इसीसे—आत्मस्वरूपसे वे अनात्मासे भिन्न हैं, ऐसा सिद्ध होता है। इसी प्रकार आत्माओंका परस्पर भेद जाननेके लिए विशेषकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि आत्माका भेद अद्यापि असिद्ध है। इसी प्रकार विशेषभेदकी कल्पनासे भी आत्मभेदकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मभेदके ज्ञान होनेपर आत्मामें विशेषभेद सिद्ध होता है और उसके सिद्ध होनेपर आत्मभेदका ज्ञान सिद्ध होता है, ऐसा अन्योन्याश्रय होता है, इस प्रकार शङ्काका परिहार है।

भाष्य

वादिनोऽसिद्धं कार्यत्वाभ्युपगमात् । तस्मादात्मैकत्वपक्ष एव सर्वदोषाभाव इति सिद्धम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि वह कार्य है, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। इसलिए आत्माके एकत्वपक्षमें ही सब दोषोंका अभाव है, ऐसा सिद्ध होता है ॥ ५३ ॥

यतिवर श्री भोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्यभाषानुवादमें द्वितीय अध्यायका तृतीय पाद समाप्त ।

रत्नप्रभा

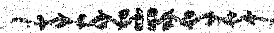
तारमन्द्रादिशब्दव्यवस्था, एवमेकस्मिन्नप्यात्मनि बुद्ध्युपाधिभेदेन सुखादिव्यवस्थोपपत्तेरात्मभेदेऽपि व्यवस्थानुपपत्तेः उक्तत्वात् मुधा भेदकल्पना इत्युपसंहरति—**तस्मादिति**। एवं भूतभोक्तृश्रुतीनां विरोधाभावाद् ब्रह्मण्यद्वये समन्वय इति सिद्धम् ॥५३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य श्रीगोविन्दानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शन भाष्यव्याख्यायां रत्नप्रभायां द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि अनेकोंके विभु होनेमें आकाश, दिक् और कालके दृष्टान्त दिये जांय, तो वे भी असम्मत हैं, ऐसा कहते हैं—"आकाशादीनाम्" इत्यादिसे। विभुत्वकी एकमें वृत्ति होनेपर लाघव है अतः विभुभेद युक्त नहीं है। जैसे एक ही आकाशमें भेरी, वीणा आदिके भेदसे तार, मन्द्र आदि शब्दोंकी व्यवस्था होती है, वैसे एक ही आत्मामें बुद्धिरूप उपाधिके भेदसे सुखादिकी व्यवस्था उपपन्न होने और आत्माओंका भेद माननेमें भी व्यवस्था उपपन्न नहीं होगी, ऐसा पूर्वमें उक्त होनेसे भेदकल्पना व्यर्थ है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। इस प्रकार भूतभोक्तृश्रुतियोंका विरोध न होनेसे अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥५३॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित द्वितीय अध्यायके तृतीयपादके रत्नप्रभाका भाषानुवाद समाप्त ।



द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

[अत्र पादे लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः]

[१ प्राणोत्पत्त्यधिकरण सू० १–४]

किमिन्द्रियाण्यनादीनि सृज्यन्ते वा परात्मना ।
सृष्टेः प्रागृषिनाम्नैषां सद्भावोक्तेरनादिता ॥ १ ॥
एकबुध्या सर्वबुद्धेर्भौतिकत्वाज्जनिश्रुतेः ।
उत्पद्यन्तेऽथ सद्भावः प्रागवान्तरसृष्टितः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—क्या इन्द्रियाँ अनादि हैं या परमात्मासे उत्पन्न होती हैं ?

पूर्वपक्ष—सृष्टिके पूर्वमें ऋषिनामसे इन्द्रियोंका अस्तित्व कहा गया है, अतः अनादि हैं ।

सिद्धान्त—इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान, भूतकार्यत्व और उनके जन्मका श्रवण है। सृष्टिके पूर्वमें उनका सद्भाव अवान्तर सृष्टिके अभिप्रायसे है ।

---

* पूर्वपक्ष होनेका कारण यह है कि 'ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् (तदाहुः) के ते ऋषयः—इति, प्राणा वाव ऋषयः' इस श्रुतिसे जगत्की उत्पत्तिके पूर्वमें इन्द्रियोंके अस्तित्वका ज्ञान होता है, अतः वे अनादि हैं अर्थात् उत्पन्न नहीं होती हैं ।

सिद्धान्ती ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं कि यद्यपि पूर्व कथित शास्त्रसे प्राणोंका—इन्द्रियोंका सद्भाव उत्पत्तिके पहिले ज्ञात होता है, तथापि उनकी उत्पत्ति नहीं माननेसे एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञाका भङ्ग होगा और 'अन्नमयं हि सोम्य! मनः' 'आपोमयः प्राणः' इत्यादि श्रुतियाँ इन्द्रियोंमें भूतकार्यत्वका प्रतिपादन करती हैं। किञ्च, 'एतस्माज्जायते०' इत्यादि श्रुति तो इन्द्रियों की उत्पत्ति स्पष्ट रीतिसे कहती है। और सृष्टिके पूर्वकालमें उनकी सत्ताका बोधक जो शास्त्र है वह अवान्तरसृष्टिपरक है, अतः परमात्मासे इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसा अनवद्य है ।

तथा प्राणाः ॥ १ ॥

पदच्छेद—तथा, प्राणाः ।

पदार्थोक्ति—तथा—'एतस्माज्जायते' इत्यादिश्रुतिवाक्यस्थाकाशादिवत् प्राणाः—इन्द्रियाणि [जायन्ते, उत्पत्तिप्रतिपादिकायाः श्रुतेः सामान्यादित्यर्थः] ।

भाषार्थ—'एतस्माज्जायते' इत्यादि श्रुतिमें आकाशकी उत्पत्ति जिस प्रकार है, उसी प्रकार प्राण—इन्द्रियां भी उत्पन्न होती हैं, क्योंकि उत्पत्तिप्रतिपादिका श्रुति सबके लिए साधारण है ।

भाष्य

वियदादिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधस्तृतीयेन पादेन परिहृतः । चतुर्थेनेदानीं प्राणविषयः परिह्रियते । तत्र तावत् 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१।१) इति चैवमादिषूत्पत्तिप्रकरणेषु प्राणानामुत्पत्तिर्नाऽऽम्नायते । क्वचिच्चाऽनुत्पत्तिरे-

भाष्यका अनुवाद

तृतीय पादमें आकाशादि भूतविषयक श्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया गया है। अब चतुर्थ पादमें प्राणविषयक—प्राणोंकी—इन्द्रियोंकी उत्पत्ति, संख्या, स्वरूप इत्यादिका निरूपण करनेवाली श्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया जाता है । 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया), 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः०' (उस परमात्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि उत्पत्तिप्रकरणोंमें प्राणोंकी उत्पत्ति श्रुतीमें नहीं कही गई है, परन्तु कहींपर इन प्राणोंकी अनुत्पत्ति ही श्रुतिमें कही गई है । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (पूर्वमें यह असत्—अव्याकृत

रत्नप्रभा

पूर्वाधिकरणे कर्तुः स्वरूपं विचार्य तदुपकरणानामिन्द्रियाणाम् उत्पत्तिं साधयति—**तथा प्राणाः** । भूतभोक्तृविचारानन्तरं भौतिकप्राणविचार इति हेतुहेतुमद्भावं पादयोः संगतिमाह—**वियदादीति** । तमेव विप्रतिषेधमाह—**तत्रेत्यादिना** । यद्यपि प्राणानामनुत्पत्तौ एकविज्ञानप्रतिज्ञानुपपत्तेर्वियदधिकरणन्यायात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व अधिकरणमें कर्ताके स्वरूपका विचारकर अब उसके साधनभूत इन्द्रियोंकी उत्पत्ति सिद्ध करते हैं—"तथा प्राणाः" । भूत और भोक्ताके विचारके बाद भौतिक प्राणोंका विचार है, इस प्रकार दोनों पादोंकी हेतुहेतुमद्भावरूप संगति कहते हैं—"वियदादि" इत्यादिसे । उसी विरोधको दिखलाते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । यद्यपि प्राणोंकी उत्पत्ति न माननेमें एक विज्ञानसे

भाष्य

वैषामाम्नायते, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७) 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्, तदाहुः के ते ऋषय इति, प्राणा वाव ऋषयः' इत्यत्र प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणात्। अन्यत्र तु प्राणानामप्युत्पत्तिः पठ्यते—'यथाग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इति, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २।१।८) इति, 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्' (प्र० ६।४) इति चैवमादिप्रदेशेषु ।

भाष्यका अनुवाद

नामरूप ही था) 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयः०' (वे कहते हैं—वह असत् क्या था, इस प्रकार वे वेदवादी ऋषि विचार करने लगे, कि उत्पत्तिके पूर्वमें वे ऋषि ही असत् थे। वे कहते हैं—वे ऋषि कौन ? वे ऋषि प्राण थे) इस श्रुतिमें उत्पत्तिके पूर्व प्राणोंके सद्भाव—अस्तित्वकी श्रुति है। अन्य स्थलोंमें तो प्राणोंकी भी उत्पत्ति श्रुतिमें वर्णित है—'यथाग्नेर्ज्वलतः०' (जैसे जलती हुई अग्निसे छोटी छोटी चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार इस आत्मासे सब प्राण निकलते हैं), 'एतस्माज्जायते०' (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं), 'सप्त प्राणाः' (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं), 'स प्राणमसृजत०' (उसने प्राणको उत्पन्न किया, प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्नको उत्पन्न किया) इत्यादि ।

रत्नप्रभा

तेषामुत्पत्तिः सिध्यति, तथापि प्रलये प्राणसद्भावश्रुतेर्गतिकथनार्थम् एतद् अधिकरणम् इति अपौनरुक्त्यम्। अत्र प्राणा विषयाः। ते किमुत्पद्यन्ते न वा इति श्रुतीनां विप्रतिपत्त्या संशये तासां समबलत्वाद् अनिर्णय इति अप्रामाण्यम् इति पूर्वपक्षफलं, तत्र गौणवादी समाधानमाह—अथ वेति। प्राणानां प्रलये सद्भावश्रुतेर्निरवकाशत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

सब विज्ञानोंकी प्रतिज्ञाकी उपपत्ति नहीं होती है, इसलिए वियदधिकरणन्यायसे प्राणोंकी उत्पत्ति सिद्ध होती है, तो भी प्रलयमें प्राणोंके सद्भावका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिकी गति कहनेके लिए यह अधिकरण है, इस प्रकार पुनरुक्ति नहीं है। यहां प्राण विषय हैं, वे उत्पन्न होते हैं या नहीं? इस प्रकार श्रुतियोंके परस्पर विरोधसे सन्देह होनेपर उनके समानबल होनेसे निर्णय नहीं होता है, इसलिए उक्त श्रुतियोंमें अप्रामाण्य है, यह पूर्वपक्षका फल है। उसपर गौणवादी समाधान कहता

भाष्य

तत्र तत्र श्रुतिविप्रतिषेधादन्यतरनिर्धारणकारणानिरूपणाच्चाऽप्रतिपत्तिः प्राप्नोति। अथवा प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद् गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति प्राप्नोति।

अत उत्तरमिदं पठति—'तथा प्राणाः' इति। कथं पुनरत्र तथेत्यक्षरानुलोम्यम्, प्रकृतोपमानाभावात्। सर्वगतात्मबहुत्ववादिदूषणमतीतानन्तरपादान्ते प्रकृतं; तत्तावन्नोपमानं संभवति, सादृश्याभावात्। सादृश्ये हि सत्युपमानं स्यात्—यथा सिंहस्तथा बलवर्मेति। अदृष्टसाम्यप्रतिपादनार्थ-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—तत्-तत् श्रुतियोंमें परस्पर विरोध होनेसे और उनमें किसी एक पक्षका भी निर्धारण—निश्चय करनेका कारण निरूपित न होनेसे अप्रतिपत्ति प्राप्त होती है अर्थात् इन्द्रियोंकी उत्पत्ति या अनुत्पत्तिके ज्ञानके न होनेसे उक्त विषयमें अनिर्णय प्राप्त होता है। अथवा उत्पत्तिके पूर्वमें प्राणोंके सद्भावकी श्रुति होनेसे उत्पत्तिश्रुति गौणी है, ऐसा प्राप्त होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर कहते हैं—'तथा प्राणाः' परन्तु इस सूत्रमें 'तथा' इन अक्षरोंकी योग्यता किस प्रकार है—तथाशब्द यहांपर कैसे अनुकूल होगा क्योंकि प्रकृत उपमानका अभाव है। सर्वगत आत्मा बहुत हैं, ऐसा माननेवालोंका दूषण अतीत—पिछले पादके अन्तमें प्रकृत है, परन्तु वह परपक्षदूषण प्राणका उपमान नहीं हो सकता, क्योंकि सादृश्यका अभाव है। सादृश्य होनेपर ही उपमान हो सकता है, जैसा सिंह वैसा बलवर्मा, इस प्रकार। अदृष्टके साथ साम्य प्रतिपादन करनेके लिए प्राणका उपमान है। जैसे सब आत्माओंकी

रत्नप्रभा

बलीयस्त्वादुत्पत्तिश्रुतिः जीवोत्पत्तिश्रुतिवद्गौणी इति अविरोध इत्यर्थः। अप्रमाणपक्षवद्गौणपक्षोऽपि मुख्यसिद्धान्तिनः पूर्वपक्ष एव इति ज्ञापनार्थम् 'अथवा' इत्युक्तम्। मुख्यसिद्धान्त्याह—**अत इति**। तथाशब्दमाक्षिपति—**कथमिति**। आनुलोम्यम् आञ्जस्यमित्यर्थः। साम्यम् स्फुटयति—**यथाऽदृष्टस्येति**। दूषणवत्प्राणा

रत्नप्रभाका अनुवाद

है—"अथवा" इत्यादिसे। प्रलयमें प्राणोंके अस्तित्वका बोध करानेवाली श्रुति निरवकाश होनेसे विशेष बलवती है, इसलिए उत्पत्तिश्रुति जीवोत्पत्तिश्रुतिके समान गौणी है, इस प्रकार अविरोध है, ऐसा अर्थ है। श्रुतियाँ अप्रमाण हैं इस पक्षकी भाँति उत्पत्तिश्रुति गौणी है, यह पक्ष भी मुख्य सिद्धान्तीका पूर्वपक्ष ही है, ऐसा ज्ञापन करनेके लिए 'अथवा' यह कहा है। मुख्य सिद्धान्ती कहता है—"अतः" इत्यादिसे। तथाशब्दपर आक्षेप करते हैं—"कथम्"

भाष्य

मिति यद्युच्येत—यथाऽदृष्टस्य सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानस्याऽनियतत्वमेवं प्राणानामपि सर्वात्मनः प्रत्यनियतत्वमिति। तदपि देहानियमेनैवोक्तत्वात् पुनरुक्तं भवेत्। न च जीवेन प्राणा उपमीयेरन्, सिद्धान्तविरोधात्। जीवस्य ह्यनुत्पत्तिराख्याता, प्राणानां तूत्पत्तिर्व्याचिख्यासिता। तस्मात्तथेत्यसंबद्धमिव प्रतिभाति, न; उदाहरणोपात्तेनाऽप्युपमानेन सम्बन्धोपपत्तेः। अत्र प्राणोत्पत्तिवादिवाक्यजातमुदाहरणम्—'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवास्सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' (बृ० २।१।२०) इत्येवंजातीयकम्। तत्र यथा लोकादयः परस्माद् ब्रह्मण उत्पद्यन्ते तथा प्राणा अपीत्यर्थः। तथा—

भाष्यका अनुवाद

सन्निधिमें उत्पन्न होनेवाला अदृष्ट अनियत है, वैसे प्राण भी सब आत्माओंके प्रति अनियत हैं,—ऐसा यदि कहो, तो वह भी देहके अनियमसे ही उक्त होनेके कारण पुनरुक्त हो जायगा। जीवके साथ भी प्राणोंका सादृश्य नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तके साथ विरोध है, कारण कि जीवकी अनुत्पत्ति कही गई है और प्राणोंकी तो उत्पत्ति कहना इष्ट है। इसलिए 'तथा' यह असम्बद्ध-सा प्रतीत होता है। परन्तु यह आक्षेप युक्त नहीं है, क्योंकि उदाहरणमें गृहीत उपमानसे भी सम्बन्ध उपपन्न होते हैं। यहां प्राण उत्पन्न होते हैं, ऐसा माननेवालोंका इस प्रकार वाक्यसमूह उदाहरण है—'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः०' (इस आत्मासे सब प्राण, सब लोक, सब देव और सब भूत निकलते हैं)। उसमें जैसे लोक आदि परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं वैसे प्राण भी परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं,

रत्नप्रभा

इत्यनन्वितम्। यद्यप्यदृष्टवत्प्राणा अप्यनियता इति सूत्रम् अन्वेति तथापि पुनरुक्तम्, जीववत्प्राणा नोत्पद्यन्त इति सूत्रार्थः चेदपसिद्धान्तः इति आक्षेपार्थः। समाधत्ते—न; उदाहरणेति। दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकसंनिहितो वाच्यः इति अङ्गीकृत्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। आनुलोम्य—आञ्जस्य' यह अर्थ है। साम्य स्पष्ट करते हैं—"यथाऽदृष्टस्य" इत्यादिसे। दूषणके समान प्राण, ऐसा अन्वय नहीं होता। यद्यपि अदृष्टके समान प्राण भी अनियत हैं, इस प्रकार सूत्रका अन्वय हो सकता है, तो भी पुनरुक्त है। जीवके समान प्राण उत्पन्न नहीं होते हैं, यदि ऐसा सूत्रार्थ हो, तो सिद्धान्तकी हानि होती है, ऐसा आक्षेपका अर्थ है।

भाष्य

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ (मु० २।१।३)

इत्येवमादिष्वपि खादिवत् प्राणानामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् । अथवा 'पानव्यापच्च

भाष्यका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। उसी प्रकार—'एतस्माज्जायते प्राणो०' (इससे प्राण, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, जल, और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है) इस प्रकारकी श्रुतियोंमें भी आकाश आदिके समान प्राणोंकी उत्पत्ति है, ऐसा समझना चाहिए। अथवा 'पान०व्यापच्च तद्वत्' (और सोमपान करनेसे जो व्यापत्—वमन हो, तो उसके समान) इत्यादिमें व्यवहित उप-

रत्नप्रभा

एकवाक्यस्थत्वेन सांनिध्यम् उक्तम्, संप्रति नायं नियमः, जैमिनिना भगवता व्यवहितदृष्टान्तस्याश्रितत्वादित्याह—**अथ वेति**। अस्ति तृतीयाध्यायेऽश्वप्रतिग्रहेष्ट्यधिकरणं, तस्येदं विषयवाक्यं—'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' इति, तदुत्तराधिकरणे किमियं वारुणीष्टिः दातुः उत प्रतिग्रहीतुः इति विशये 'प्रतिगृह्णीयात्' इति श्रुतेः प्रतिग्रहीतुः इति आशंक्य 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' इत्युपक्रमे दातृकीर्तनाल्लिङ्गादश्वदातुरेवेति स्थास्यति, अतः प्रतिगृह्णीयात् इत्यस्य पदस्याऽश्वान् यः प्रतिग्राहयेदित्यर्थः। दद्यादिति यावत्। 'योऽश्वदाता स वारुणीमिष्टिं कुर्यात्' इति वाक्यार्थे स्थिते चिन्ता अश्वदाननिमित्ता

रत्नप्रभाका अनुवाद

समाधान करते हैं—"न; उदाहरण" इत्यादिसे। दार्ष्टान्तिकका निकटवर्ती दृष्टान्त कहना चाहिए, ऐसा अंगीकार करके एक वाक्यमें स्थित होनेसे सांनिध्य कहा गया है। अब यह नियम नहीं है, क्योंकि भगवान् जैमिनिने व्यवहित दृष्टान्तका आश्रयण किया है, ऐसा कहते हैं—"अथ वा" इत्यादिसे। पूर्वमीमांसाके तृतीय अध्यायमें अश्वप्रतिग्रहेष्टि अधिकरण है। उसका यह विषयवाक्य है—'यावतोऽश्वान्०' (जितने घोड़े दे उतने ही वरुणके लिए चतुष्कपालोंका होम करे) इसके उत्तर अधिकरणमें यह वारुणी इष्टि दाताको करनी चाहिए या प्रतिग्रहीताको करनी चाहिए, ऐसा संशय होनेपर 'प्रतिगृह्णीयात्' इस श्रवणसे प्रतिग्रहीताको करनी चाहिए, ऐसी शंका करके 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' (प्रजापतिने वरुणको अश्व दिया) इस प्रकार उपक्रम करके दातृकीर्तनरूप लिंगसे अश्वदाताको ही वह इष्टि करनी चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है, इसलिए 'प्रतिगृह्णीयात्' इस पदका अर्थ 'अश्वान् यः प्रतिग्राहयेत्' (अश्वोंका जो प्रतिग्रह करावे) ऐसा अर्थ है, अर्थात् 'दद्यात्' (दे) ऐसा अर्थ है। तब जो अश्वदाता है, उसको वारुणी इष्टि करानी चाहिए, ऐसा वाक्यार्थ होनेपर विचार होता है कि

भाष्य

तद्वत्' (जै० ३।४।१५) इत्येवमादिषु व्यवहितोपमानसम्बन्धस्याऽप्याश्रित-त्वात् । यथाऽतीतानन्तरपादादावुक्ता वियदादयः परस्य ब्रह्मणो विकाराः

भाष्यका अनुवाद

मानके साथ सम्बन्धका भी आश्रयण किया गया है, इसलिए अतीत—पिछले पादके आरम्भमें कहे गये आकाश आदि जैसे परब्रह्मके विकार हैं, वैसे

रत्नप्रभा

इयम् इष्टिः किं लौकिके अश्वदाने वैदिके वा इति । तत्र 'न केसरिणो ददाति' इति निषिद्धलौकिकाश्वदाने दोषसंभवात्तन्निरासार्थेयमिष्टिरिति 'दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात्' इति सूत्रेण प्राप्ते सिद्धान्तः—'अत्र हि वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति' इति दातुः दोषं संकीर्त्य इष्टिः विहिता । वरुणशब्दो जलोदराख्यरोगे रूढः । न च लौकिके अश्वदाने अयं रोगो भवति इति प्रसिद्धम् । न च अनेनैव वाक्येन प्रसिद्धिः । 'दाने दोषः तन्निरासार्था चेष्टिः' इति वदतोऽर्थभेदे वाक्य-भेदात् । न च वृणोतीति व्युत्पत्त्या वरुणशब्दो निषेधातिक्रमकृतदोषानुवादकः इति युक्तं, रूढित्यागापातात् । तत्त्यागे च वैदिकेऽपि दाने अश्वत्यागजन्यदुःखं प्राप्तमुक्तव्युत्पत्त्या शक्नोत्यनुवदितुं, तस्मात् प्राप्तानुवादी अर्थवादोऽयमिति यज्ञसं-बन्धिन्यश्वदाने इयमिष्टिरित्येवं विचार्योक्तम्—पानव्यापच्च तद्वदिति । सोमपाने क्रियमाणे व्यापत्—वमनं यदि स्यात् तदा 'एतं सौमेन्द्रं श्यामाकं चरुं निर्वपेत्' इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अश्वदाननिमित्तक यह इष्टि लौकिक दानमें हैं या वैदिक अश्वदानमें ? वहांपर 'न केसरिणो ददाति' (अश्वोंको नहीं देता) इससे निषिद्ध लौकिक अश्वदानमें दोषकी सम्भावना है, अतः उसकी निवृत्तिके लिए यह इष्टि है, ऐसा 'दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात्' इस सूत्रसे प्राप्त हुआ, इसपर सिद्धान्त—'अत्र हि०' (जो अश्वका प्रतिग्रह करेगा उसको वरुण-जलोदररोग आक्रमण करेगा, इस प्रकार दाताके दोषका कथनकर इष्टिका विधान है। वरुणशब्द जलोदरनामक रोगमें रूढ़ है। लौकिक अश्वदानमें यह रोग नहीं होता है, यह प्रसिद्ध है। इसी वाक्यसे वरुणरूप रोग होता है, यह प्रसिद्ध है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अश्वदानमें जलोदरनामका रोगरूप दोष होता है और उसकी निवृत्तिके लिए इष्टि होती है, ऐसा कहनेवालेके मतमें अर्थभेद होनेसे वाक्यभेद होता है। और वरुणशब्द 'वृणोति' इस व्युत्पत्तिसे निषेधके अतिक्रमसे हुए दोषका अनुवादक है, ऐसा कहना संगत नहीं है, क्योंकि ऐसा अर्थ माननेमें रूढ़िका त्याग करना पड़ेगा और उसका त्याग करनेपर वैदिक दानमें भी वरुणशब्द प्राप्त हुए अश्वत्यागजन्यक्लेशका उक्त व्युत्पत्तिसे अनुवाद कर सकता है, इसलिए यह प्राप्त अर्थका अनुवाद करनेवाला अर्थवाद है। अतः यज्ञ सम्बन्धी अश्वके दानमें निमित्त यह इष्टि है, ऐसा विचार करके कहा है—"पानव्यापच्च तद्वत्"

भाष्य

समधिगतास्तथा प्राणा अपि परस्य ब्रह्मणो विकारा इति योजयितव्यम्। कः पुनः प्राणानां विकारत्वे हेतुः ? श्रुतत्वमेव। ननु केषुचित् प्रदेशेषु न प्राणानामुत्पत्तिः श्रूयत इत्युक्तम्। तदयुक्तम्, प्रदेशान्तरेषु श्रवणात्। नहि क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं निवारयितुमुत्सहते। तस्माच्छ्रुतत्वाविशेषादाकाशादिवत् प्राणा अप्युत्पद्यन्त इति सूक्तम् ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्राण भी परब्रह्मके विकार हैं, ऐसी योजना करनी चाहिए। परन्तु प्राण विकार हैं इसमें हेतु क्या है ? श्रुति ही हेतु है। परन्तु कितने ही प्रदेशोंमें प्राणोंकी उत्पत्तिका श्रवण नहीं है, ऐसा कहा गया है। वह अयुक्त है, क्योंकि अन्य प्रदेशोंमें श्रुति है। कहींपर अश्रवण अन्यत्र श्रवणका निवारण नहीं कर सकता है, इसलिए समानरूपसे श्रवण होनेसे आकाश आदिके समान प्राण भी उत्पन्न होते हैं, यह कथन ठीक है ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

श्रूयते। तत्राऽश्वप्रतिग्रहेष्ट्यधिकरणपूर्वपक्षन्यायो बहुसूत्रव्यवहितस्तद्वदिति परामृश्यते, तद्वद् लौकिके धातुसाम्यार्थं पीतसोमस्य वमने अयं चरुः स्यात् वमननिमित्तेन्द्रियशोषाख्यदोषस्य दृष्टस्य 'इन्द्रियेण वीर्येण व्यृध्यते यः सोमं वमति' इत्यनुवादादिति पूर्वपक्षसूत्रार्थः। वैदिके तु सोमपाने शेषप्रतिपत्तेः जातत्वाद्वमने अपि न दोष इति प्राप्ते सिद्धान्तः—लोके वमनकृतेन्द्रियशोषस्य धातुसाम्यकरत्वेन गुणत्वात् न दोषता। वेदे तु 'मा मे वाङ् नाभिमतिगाः' इति सम्यग्जरणार्थमन्त्रलिङ्गाद्वमने कर्मवैगुण्यात्तस्य दोषता। तस्माद्वैदिकसोमवमने सौमेन्द्रश्चरुः इति स्थितम् इत्येवमादिषु सूत्रेषु इत्यर्थः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। सोमपान करनेपर व्यापत्—वमन हो, तो "एतं सौमेन्द्रम्०" ऐसी श्रुति है। उसमें जैसे अनेक सूत्रोंसे व्यवहित अश्वप्रतिग्रहेष्टि अधिकरण पूर्वपक्ष न्यायका परामर्श होता है, वैसे ही यहां भी परामर्श होगा। उसीके समान धातुकी समताके लिए पान किये गये सोमके वमनमें यह चरु होगा, क्योंकि वमननिमित्त इन्द्रियशोषरूप दृष्ट दोष का 'इन्द्रियेण वीर्येण०' यह अनुवाद है, ऐसा पूर्वपक्ष सूत्रका अर्थ है। वैदिक सोमपानमें अवशिष्ट सोमपानकी प्राप्तिके होनेसे वमनमें भी दोष नहीं है ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—लोकमें वमनसे होनेवाला इन्द्रियशोषण धातुओंका साम्य करता है अतः गुण होनेसे उसमें दोषत्व नहीं है। वेदमें तो "मा मे०" (मेरी वाणी नाभिका उल्लंघन कर जानेवाली न हो) इस प्रकार भली भांति पाचनके प्रतिपादक मन्त्ररूप लिंगसे वमन होनेपर कर्ममें वैगण्य आनेसे वह दूषण है। इससे वैदिक सोम वमनमें सौमेन्द्र चरु होता है, ऐसा इस प्रकारके सूत्रोंमें निर्णीत है, यह अर्थ है ॥१॥

गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

पदार्थोक्ति—गौण्या उत्पत्तिप्रतिपादकश्रुतेरसम्भवस्तस्मात् [कुत्रचन प्रदेशे सृष्टेः पूर्वस्मिन् इन्द्रियसद्भावश्रवणेन गौणी प्राणोत्पत्तिश्रुतिरीति न वाच्यम्, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया भङ्गप्रसङ्गेन तस्या असम्भवादित्यभिसन्धिः] ।

भावार्थ—इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाली गौणी श्रुति नहीं है, क्योंकि एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानको कहनेवाली श्रुतिके साथ विरोध होनेसे उसका असम्भव है ।

भाष्य

यत् पुनरुक्तम्—प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद् गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिः इति । तत् प्रत्याह—'गौण्यसम्भवाद्'इति । गौण्या असम्भवो गौण्यसम्भवः । नहि प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी सम्भवति, प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात् । 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इति ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्साधनायेदमाम्नायते—'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २।१।३) इत्यादि । सा च प्रतिज्ञा प्राणादेः समस्तस्य जगतो ब्रह्मविकारत्वे सति प्रकृतिव्यतिरेकेण विकाराभावात् सिद्ध्यति । गौण्यां तु प्राणानामुत्पत्तिश्रुतौ प्रतिज्ञेयं हीयेत । तथा च प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति—

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्तिके पूर्वमें प्राणोंके सद्भावके श्रवणसे प्राणोंकी उत्पत्तिश्रुति गौणी है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—'गौण्यसम्भवात्' । गौणीका जो असंभव वह गौण्यसम्भव है । निस्सन्देह, प्राणोंकी उत्पत्तिश्रुति गौणी नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रतिज्ञाकी हानिका प्रसङ्ग आता है । कारण कि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते०' (हे भगवन् ! किसके ज्ञान होनेपर यह सब विदित होता है) इस प्रकार एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी प्रतिज्ञा करके उसके साधनके लिए यह श्रुति है—'एतस्माज्जायते०' (इससे प्राण उत्पन्न होता है) इत्यादि । प्राणादि समस्त जगत्के ब्रह्मविकार होनेपर वह प्रतिज्ञा सिद्ध होती है, क्योंकि प्रकृतिसे

रत्नप्रभा

ननु प्रतिज्ञापि गौणी किं न स्यात् इत्यत आह—**तथा च प्रतिज्ञातार्थ-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि कोई कहे कि प्रतिज्ञा भी गौणी क्यों न हो, तो इसपर कहते हैं—"तथा च

भाष्य

'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' (मु० २।१।१०) इति, 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मु० २।२।११) इति च। तथा 'आत्मनो वा अरे ! दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इत्येवंजातीयकासु श्रुतिष्वेषैव प्रतिज्ञा योजयितव्या। कथं पुनः प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणम् ? नैतन्मूलप्रकृतिविषयम्, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' (मु० २।१।२) इति मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वाव-

भाष्यका अनुवाद

अतिरिक्त विकार नहीं है। परन्तु प्राणोंकी उत्पत्तिश्रुतिको गौण माननेसे तो इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। इसी प्रकार श्रुति प्रतिज्ञात अर्थका उपसंहार करती है—'पुरुष एवेदं विश्वम्०' (पुरुष ही यह सर्व, कर्म, तप, ब्रह्म और पर अमृत है) और 'ब्रह्मैवेदम्०' (यह सब जगत् वरिष्ठ ब्रह्म ही है)। इसी प्रकार 'आत्मनो वा अरे०' (अरे मैत्रेयि ! आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञानसे यह सब विदित होता है) इस प्रकारकी श्रुतियोंमें इसी प्रतिज्ञाकी योजना करनी चाहिए। परन्तु उत्पत्तिके पूर्व प्राणोंके सद्भावकी श्रुति किस प्रकार है ? यह प्राणके सद्भावका श्रवण मूलप्रकृतिविषयक नहीं है, क्योंकि 'अप्राणोऽह्यमनाः०' (प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध और अविनाशी

रत्नप्रभा

मिति। उपक्रमोपसंहाराभ्यां प्रतिपिपादयिषिताद्वितीयत्वप्रतिज्ञानुरोधेन प्राणोत्पत्तिर्मुख्यैवेति भावः। मुण्डकवत् श्रुत्यन्तरेऽपि प्रतिज्ञादर्शनात् सा मुख्या इत्याह—**तथेति**। एषा प्रतिज्ञा प्राणोत्पत्तिमुख्यत्वे हेतुत्वेन द्रष्टव्या इत्यर्थः। इदानीं प्रलये प्राणसत्त्वश्रुतेर्गतिं प्रश्नपूर्वकमाह—**कथमित्यादिना**। नेदं वाक्यं महाप्रलये परमकारणस्य ब्रह्मणः प्राणवत्त्वपरं, किन्तु अवान्तरप्रलये हिरण्यगर्भाख्यावान्तरप्रकृतिरूपप्राणसद्भावपरम् इत्यर्थः। ननु हिरण्यगर्भरूपविकारस्य सत्त्वे

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिज्ञातार्थम्'' इत्यादिसे। उपक्रम और उपसंहारका आलोचन करनेसे विवक्षित अद्वितीयत्वकी प्रतिज्ञाके अनुसार प्राणोत्पत्ति मुख्य ही है, ऐसा भाव है। मुण्डक उपनिषत्‌के समान अन्य श्रुतिमें भी प्रतिज्ञा देखी जाती है, इसलिए वह प्रतिज्ञा मुख्य है, ऐसा कहते हैं—''तथा'' इत्यादिसे। प्राणोंकी उत्पत्तिको मुख्य माननेमें इस प्रतिज्ञाको हेतुरूपसे समझना चाहिए, ऐसा अर्थ है। अब प्रलयमें प्राणके अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिकी गतिको प्रश्नपूर्वक कहते हैं—''कथम्'' इत्यादिसे। इस वाक्यका महाप्रलयमें परमकारण ब्रह्म प्राणवत् है, ऐसा तात्पर्य नहीं है। किन्तु अवान्तरप्रलयमें हिरण्यगर्भसंज्ञक अवान्तरप्रकृतिक प्राणका

भाष्य

धारणात्। अवान्तरप्रकृतिविषयं त्वेतत् स्वविकारापेक्षं प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावावधारणमिति द्रष्टव्यम्, व्याकृतविषयाणामपि भूयसीनामवस्थानां श्रुतिस्मृत्योः प्रकृतिविकारभावप्रसिद्धेः। वियदधिकरणे हि 'गौण्यसम्भवात्' इति पूर्वपक्षसूत्रत्वाद् गौणी जन्मश्रुतिः असम्भवात्, इति व्याख्यातम्। प्रतिज्ञाहान्या च तत्र सिद्धान्तोऽभिहितः। इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद् गौण्या

भाष्यका अनुवाद

परसे पर) इस प्रकार मूलप्रकृति प्राण आदि समस्त विशेषोंसे रहित है, ऐसा अवधारण—निश्चय है। उत्पत्तिके पूर्व प्राणोंके सद्भावका जो अवधारण है, वह अवान्तर प्रकृतिविषयक और अपने विकारकी अपेक्षासे है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि व्याकृत विषयोंकी भी बहुतसी अवस्थाओंका प्रकृतिविकृतिभाव श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है। वियदधिकरणमें 'गौण्यसंभवात्' इसके पूर्वपक्षसूत्र होनेसे जन्मश्रुति गौणी है, क्योंकि मुख्यका असंभव है, इस प्रकार व्याख्यान किया है और प्रतिज्ञाहानिसे वहाँ सिद्धान्त कहा है, यहां तो सिद्धान्तसूत्र होनेसे 'गौणी जन्मश्रुतिका असम्भव होनेसे' ऐसा व्याख्यान किया है। परन्तु इसके अनुसार यहां भी 'जन्मश्रुति गौणी है, सम्भव

रत्नप्रभा

कथं तदा विकारासत्त्वकथनं, तत्राह—स्वविकारेति। स्वस्य—कार्यब्रह्मणो यत्कार्यं स्थूलं तस्य उत्पत्तिः इत्यर्थः। ननु यथाश्रुति महाप्रलये प्राणसद्भावरूपं लिङ्गं प्राणानुत्पत्तिसाधकं किमिति अवान्तरप्रलयपरतया नीयते? इति चेत्, 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिप्रबलजन्मश्रुतिबलात् इति वदामः। ननु विकारस्य ब्रह्मणः कथं प्रकृतित्वम्? इत्यत आह—व्याकृतेति। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादिश्रुतौ 'आदिकर्ता स भूतानाम्' इत्यादिस्मृतौ च विकारात्मनामपि मूलकारणावस्था-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सद्भाव कहनेमें इस वाक्यका तात्पर्य है। यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भरूप विकारके रहते 'महाप्रलयमें विकार नहीं है' यह कथन कैसे संगत होता है, तो इसपर कहते हैं—"स्वविकार" इत्यादिसे। स्वका—कार्यब्रह्मका जो स्थूल कार्य उसकी उत्पत्ति, ऐसा अर्थ है। परन्तु श्रुतिसम्मत महाप्रलयमें प्राणके सद्भावके बोधक और प्राणकी अनुत्पत्तिके साधक लिंगको अवान्तर प्रलयपरक क्यों मानते हो? 'एतस्माज्जायते प्राणः' (इससे प्राण उत्पन्न होता है) इत्यादि प्रबल श्रुतिवाक्य है, अतः हम ऐसा कहते हैं। परन्तु विकारभूत ब्रह्म प्रकृति कैसे होगा? इसपर कहते हैं—"व्याकृत" इत्यादिसे। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (पूर्वमें हिरण्यगर्भ हुआ) इत्यादि श्रुति और 'आदि कर्ता स भूतानाम्' (वह भूतोंका आदि कर्ता है) इत्यादि

भाष्य

जन्मश्रुतेरसम्भवादिति व्याख्यातम् । तदनुरोधेन त्विहाऽपि गौणी जन्मश्रुतिः असम्भवादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानिरुपेक्षिता स्यात् ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

न होनेसे' ऐसा व्याख्यान करनेवालोंसे प्रतिज्ञाकी हानिकी उपेक्षा की जायगी ॥२॥

रत्नप्रभा

रूपाणां ब्रह्मविराडादीनां प्रकृतिविकारभावेन प्रसिद्धिः अस्ति । पूर्वापेक्षया विकारस्याऽपि उत्तरापेक्षया प्रकृतित्वम् इत्यर्थः । केचिद् वियदधिकरणानुरोधेन इदं सूत्रं व्याचक्षते तान् दूषयति—**वियदिति** ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्मृतिमें विकाररूप मूलकारणके अवस्थाविशेष—ब्रह्म, विराट् आदिकी प्रकृति-विकारभावसे प्रसिद्धि है। पूर्वकी अपेक्षासे जो विकार हो, वह भी उत्तरकी अपेक्षासे प्रकृति हो सकता है, ऐसा अर्थ है। कोई लोग वियदधिकरणके अनुसार इस सूत्रका व्याख्यान करते हैं, उनको दूषित करते हैं—"वियद्" इत्यादिसे ॥२॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

पदच्छेद—तत्प्राक्श्रुतेः, च।

पदार्थोक्ति—तत्प्राक्श्रुतेः—तस्य 'जायते' इति जन्मवाचिपदस्याकाशादिषु मुख्यस्य पाठापेक्षया प्राचीनेषु प्राणादिषु श्रुतेः—श्रवणात् [इन्द्रियोत्पत्तिर्मुख्या]।

भाषार्थ—'जायते' इस प्रकारके जन्मवाची पदका, जो आकाश आदिमें मुख्य है, पाठकी अपेक्षासे पूर्वमें पठित प्राण आदिमें श्रवण होनेसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति मुख्य है।

भाष्य

इतश्चाऽऽकाशादीनामिव प्राणानामपि मुख्यैव जन्मश्रुतिः । यत् 'जायते' इत्येकं जन्मवाचिपदं प्राणेषु प्राक् श्रुतं तदुत्तरेष्वप्याकाशादिष्वनुवर्तते—

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी आकाशादिके समान प्राणोंकी भी जन्मश्रुति मुख्य ही है, क्योंकि 'जायते' ऐसा एक जन्मवाची पद प्राणोंमें पूर्व

रत्नप्रभा

तस्य 'जायते' इति पदस्याकाशादिषु मुख्यस्य पाठापेक्षया प्राचीनेषु प्राणेषु

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसकी अर्थात् 'जायते' इस जन्मवाची पदकी, जो आकाश आदिमें मुख्य है, पाठकी अपेक्षासे

भाष्य

'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २।१।३) इत्यत्र । आकाशादिषु मुख्यं जन्मेति प्रतिष्ठापितम्; तत्सामान्यात् प्राणेष्वपि मुख्यमेव जन्म भवितुमर्हति । नह्येकस्मिन् प्रकरण एकस्मिंश्च वाक्य एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः संबध्यमानः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद् गौण इत्यध्यवसातुं शक्यम्, वैरूप्यप्रसङ्गात् । तथा 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६।४) इत्यत्रापि प्राणेषु श्रुतः सृजतिः परेष्वप्युत्पत्तिमत्सु श्रद्धादिष्वनुषज्यते । यत्रापि पश्चाच्छ्रुत उत्पत्तिवचनः शब्दः पूर्वैः सम्बध्यते तत्राप्येष एव न्यायः । यथा 'सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' इत्ययमन्ते पठितो व्युच्चरन्तिशब्दः पूर्वैरपि प्राणादिभिः सम्बध्यते ॥३॥

भाष्यका अनुवाद

श्रुत है, उसकी उत्तर—आकाशादिमें भी अनुवृत्ति होती है—'एतस्माज्जायते' इत्यादि स्थलमें । आकाश आदिका जन्म मुख्य ही है, ऐसा निर्णय किया जा चुका है। उसके सादृश्यसे प्राणोंका भी जन्म मुख्य ही हो सकता है, क्योंकि एक प्रकरणमें और एक वाक्यमें एकबार उच्चरित तथा बहुतोंके साथ सम्बद्ध होनेवाला एक शब्द कहीं मुख्य है और कहीं गौण है, ऐसा निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे वाक्य विरूप हो जायगा । उसी प्रकार 'स प्राणमसृजत०' (उसने प्राण उत्पन्न किया और प्राणसे श्रद्धा) इसमें भी प्राणोंमें श्रुत सृजति (उत्पत्ति) के अनन्तर उत्पन्न होनेवाले श्रद्धा आदिमें अनुवृत्ति होती है । जहां पीछे सुना गया उत्पत्तिवाचक शब्दका पूर्वके साथ सम्बन्ध होता है, वहां भी यही न्याय है । जैसे 'सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' (सब भूत निकलते हैं) इसमें अन्तमें पठित 'व्युच्चरन्ति' (निकलते हैं) शब्दका पूर्वमें आये हुए प्राण आदि शब्दोंके साथ सम्बन्ध होता है ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

श्रुतेः मुख्यं जन्म इति सूत्रयोजना । **तत्सामान्यादिति** । तेनाकाशादिजन्मना सामान्यम्—एकशब्दोक्तत्वं तस्मात् इत्यर्थः । एकस्मिन्वाक्ये एकस्य शब्दस्य क्वचिन्मुख्यत्वं क्वचिद्गौणत्वमिति वैरूप्यं न युक्तमिति न्यायमन्यत्राप्यतिदिशति— **यत्रापि पश्चाच्छ्रुत इति** ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व पठित प्राणोंमें श्रुति होनेसे प्राण आदिका जन्म मुख्य हैं, ऐसी सूत्रकी योजना है। "तत्सामान्यात्" इत्यादि। उसके साथ अर्थात् आकाशादिके जन्मके साथ सामान्य—सादृश्य—एक शब्दसे उक्तत्व उससे, ऐसा अर्थ है। एक वाक्यमें एक शब्दका कहीं मुख्यत्व हो और कहीं गौणत्व हो इस प्रकार वैरूप्य युक्त नहीं है, इस न्यायका अन्यत्र अतिदेश करते हैं—"यत्रापि पश्चाच्छ्रुत" इत्यादिसे॥३॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

पदच्छेद—तत्पूर्वकत्वात्, वाचः ।

पदार्थोक्ति—वाचः—'अन्नमयं हि सोम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाग्' इति मनःप्राणसहिताया वाचः तत्पूर्वकत्वात्—ब्रह्मप्रकृतिकतेजोबन्नपूर्वकत्वाभिधानात् [अस्ति प्राणोत्पत्तिश्रुतिः] ।

भाषार्थ—'अन्नमयं हि सोम्य ! मन०' इत्यादिसे मन और प्राण सहित वाणीमें ब्रह्मप्रकृतिकतेज, जल और अन्न पूर्वकत्वका कथन है, अतः इन्द्रियोंकी उत्पत्तिश्रुति है।

भाष्य

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येतस्मिन् प्रकरणे प्राणानामुत्पत्तिर्न पठ्यते, तेजोबन्नानामेव च त्रयाणां भूतानामुत्पत्तिश्रवणात् । तथापि ब्रह्मप्रकृतिकतेजोबन्नपूर्वकत्वाभिधानाद् वाक्प्राणमनसां तत्सामान्याच्च सर्वेषामेव प्राणानां ब्रह्मप्रभवत्वं सिद्धं भवति । तथाहि—अस्मिन्नेव प्रकरणे तेजोबन्नपूर्वकत्वं वाक्प्राणमनसामाम्नायते—'अन्नमयं हि सोम्य !

भाष्यका अनुवाद

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजकी सृष्टि की) इस प्रकरणमें प्राणोंकी उत्पत्ति नहीं कही गई है, क्योंकि तेज, जल और अन्न इन तीन भूतोंकी ही उत्पत्तिका श्रवण है, तो भी ब्रह्मप्रकृतिसे उत्पन्न हुए तेज, जल और अन्नपूर्वक, वाक्, प्राण और मनका अभिधान होनेसे और उनके सादृश्यसे सब प्राण ब्रह्मसे उत्पन्न हैं, यह सिद्ध होता है। जैसे कि इसी प्रकरणमें वाक्, प्राण और मन, तेज, जल और अन्नपूर्वक श्रुतिमें कहे गये हैं—'अन्नमयं हि०' (हे सोम्य ! मन

रत्नप्रभा

यच्चोक्तं छान्दोग्येऽपि प्राणानामुत्पत्तिर्न श्रूयत इति, तत्राह—**तत्पूर्वकत्वाद्वाच इति**। अत्र सूत्रे वाक्पदं प्राणमनसोः उपलक्षणम्। वाक्प्राणमनसां तेजोबन्नपूर्वकत्वोक्तेः [उत्पत्तेः] अश्रवणमसिद्धम् इति योजना । तैर्वागादिभिश्चक्षुरादीनां सामान्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

छान्दोग्यमें भी प्राणोंकी उत्पतिका श्रवण नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—"तत्पूर्वकत्वाद्वाचः" इत्यादिसे। इस सूत्रमें वाक्पद प्राण और मनका उपलक्षक है। वाक्, प्राण और मन, तेज, जल और अन्नपूर्वक कहे गये हैं, इसलिए प्राणोंकी उत्पत्तिका अश्रवण असिद्ध है, ऐसी योजना है। उन वाक् आदिके साथ चक्षु आदिका सामान्य—सादृश्य करणत्व है, उस

भाष्य

मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इति। तत्र यदि तावन्मुख्यमेवैषामन्नादिमयत्वं ततो वर्तत एव ब्रह्मप्रभवत्वम्। अथ भाक्तम्, तथापि ब्रह्मकर्तृकायां नामरूपव्याक्रियायां श्रवणात् 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।३) इति चोपक्रमात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) इति चोपसंहाराच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धेश्च ब्रह्मकार्यत्वप्रपञ्चनार्थमेव मनआदीनामन्नादिमयत्ववचनमिति गम्यते। तस्मादपि प्राणानां ब्रह्मविकारत्वसिद्धिः ॥४॥

भाष्यका अनुवाद

अन्नमय है, प्राण जलमय है और तेजोमयी वाणी है) । उसमें यदि उनके अन्नमयत्व आदि मुख्य ही हों, तो उससे इनका ब्रह्मजन्यत्व है ही। मन आदिके अन्नमयत्व आदि यदि गौण हों, तो भी ब्रह्म जिसका कर्ता है, ऐसे नामरूपके व्याकरणमें श्रवण होनेसे, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (जिससे अश्रुत श्रुत होता है) ऐसा उपक्रम होनेसे, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (यह सारा प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप है) इस प्रकार उपसंहार होनेसे, और अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध होनेसे मन आदिका अन्नमयत्व आदि जो कहा गया है, वह वे ब्रह्मकार्य हैं, ऐसा विस्तारसे दिखलानेके लिए ही है, ऐसा ज्ञात होता है। इससे भी प्राण ब्रह्मके विकार हैं, ऐसा सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

करणत्वं तत्सामान्यादित्यर्थः। अत्र 'मयट् विकारे मुख्यः' इति पक्षे वर्तत एव प्राणानां ब्रह्मकार्यत्वम्, तेजोबन्नानां ब्रह्मविकारत्वात्। यदि प्राणस्य वायोर्जलविकारत्वायोगात्तदधीनस्थितिकत्वमात्रेण भाक्तस्तथापि प्राणानां विकारत्वे भूताधीनस्थितिकत्वं लिङ्गं मयटा उक्तम्, इति सिद्धं ब्रह्मकार्यत्वम्, 'स प्राणमसृजत' इत्यादिश्रुत्यन्तरे स्पष्टं ब्रह्मकार्यत्वोक्तेश्च। तस्मात्प्राणानामुत्पत्तिश्रुतीनां सद्भावश्रुत्यविरोधात्कारणे ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम्। लिङ्गशरीरविचारात्मकाधिकरणानां लिङ्गात् त्वंपदार्थभेदधीः फलम् इति द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सादृश्यसे, ऐसा अर्थ है। यहां 'मयट् प्रत्यय विकाररूप अर्थमें मुख्य हैं' इस पक्षमें प्राण ब्रह्मके कार्य हैं ही, क्योंकि तेज, जल और अन्न ब्रह्मके विकार हैं। यदि वायुरूप प्राणमें जलविकारत्वके संभव न होनेसे उसके अधीन स्थितिमात्रसे यहां विकार गौण हो, तो भी प्राणोंके विकार होनेमें भूतके अधीन स्थितिरूप लिंग मयट्प्रत्ययसे कहा गया है। इससे प्राण ब्रह्मके कार्य हैं, यह सिद्ध हुआ। और 'स प्राणमसृजत' इत्यादि अन्य श्रुतियोंमें स्पष्टतया प्राण ब्रह्मके कार्य कहे गये हैं, इससे भी। इससे प्राणोंकी उत्पत्तिश्रुतियोंका सृष्टिके पूर्व प्राणोंके सद्भावका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके साथ विरोध न होनेसे कारणब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा सिद्ध हुआ। लिंगशरीरसे त्वंपदार्थ भिन्न है ऐसा ज्ञान, लिंगशरीरविचारात्मक अधिकरणोंका फल है, ऐसा जानना चाहिए ॥४॥

[२ सप्तगत्यधिकरण सू० ५–६]

सप्तैकादश वाऽक्षाणि सप्त प्राणा इति श्रुतेः ।
सप्त स्युर्मूर्धनिष्ठेषु छिद्रेषु च विशेषणात् ॥१॥
अशीर्षण्यस्य हस्तादेरपि वेदे समीरणात् ।
ज्ञेयान्येकादशाक्षाणि तत्तत्कार्यानुसारतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्राण—इन्द्रियाँ एकादश हैं या सात हैं?

पूर्वपक्ष—इन्द्रियाँ सात हैं, क्योंकि 'सप्त प्राणाः' ऐसी श्रुति है और माथेके सात छिद्रोंके आधारपर वे इन्द्रियाँ विशेषित हैं ।

सिद्धान्त—मस्तकके छिद्रोंके बिना अन्य हस्त आदिका वेदमें कथन है, अतः तत्-तत् कार्य (आलोचन आदि) के अनुसार एकादश इन्द्रियाँ हैं ।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

पदच्छेद—सप्त, गतेः, विशेषितत्वात्, च ।

पदार्थोक्ति—सप्त—सप्तसङ्ख्याकानि [इन्द्रियाणि कुतः,] गतेः—श्रुत्या सप्तत्वावगतेः, विशेषितत्वात्—'सप्त वै शीर्षण्याः' इति शास्त्रेण प्राणानां शीर्षण्यत्वेन विशेषितत्वात्, च ।

भाषार्थ—वे इन्द्रियां सात हैं, क्योंकि श्रुतिसे उनके सप्तत्वका ज्ञान होता है और 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इस शास्त्रसे शीर्षण्यत्वसे वे इन्द्रियां विशेषित हैं ।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—इन्द्रियाँ सात हैं, किससे? 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' इस सामान्य श्रुतिसे और 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इस प्रकार मस्तकके सात छिद्रोंसे प्राणोंके विशेषित होनेसे । इसपर सिद्धान्ती कहता है कि—माथेकी इन्द्रियोंके अतिरिक्त हस्त आदि भी वेदमें कहे गये हैं—'हस्तौ चाऽऽदातव्यम्' 'उपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यम्' इत्यादिसे । इसलिए वेदसे निश्चय होनेपर दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्शन, अभिवदन, आदान, गमन, आनन्द, विसर्ग और ध्यान, इस प्रकारके एकादश व्यापारोंके उपलम्भ होनेसे उनके साधन इन्द्रियाँ भी एकादश माननी चाहिएँ ।

भाष्य

उत्पत्तिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधः प्राणानां परिहृतः । संख्याविषय इदानीं परिह्रियते । तत्र मुख्यं प्राणमुपरिष्टाद् वक्ष्यति । संप्रति तु कतीतरे प्राणा इति संप्रधारयति । श्रुतिविप्रतिपत्तेश्चाऽत्र विशयः । क्वचित् सप्त प्राणाः सङ्कीर्त्यन्ते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २।१।८) इति । क्वचिदष्टौ प्राणा ग्रहत्वेन गुणेन सङ्कीर्त्यन्ते—'अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः' (बृ० ३।२।१) इति । क्वचिन्नव—'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' (तै० सं० ५।१।७।१) इति । क्वचिद्दश—'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इति । क्वचिदेकादश—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः'

भाष्यका अनुवाद

प्राणोंकी उत्पत्ति के विषयमें श्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया जा चुका है। अब संख्याविषयक श्रुतिविरोधका परिहार किया जाता है। उन प्राणोंमें मुख्य प्राणको सूत्रकार आगे कहेंगे। अभी तो अन्य-गौण प्राण कितने हैं, यह निर्णय करते हैं और श्रुतिविरोधसे यहां संशय है। कहींपर सात प्राण कहे जाते हैं—'सप्त प्राणाः' (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं), कहींपर आठ प्राण ग्रहत्वगुणसे कहे जाते हैं—'अष्टौ ग्रहाः०' (आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं), कहीं नव कहे जाते हैं—'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' (निश्चय, सात शीर्षमें स्थित प्राण हैं और दो नीचेके हैं), कहीं दश कहे जाते हैं—'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' (पुरुषमें नव प्राण हैं और दसवीं नाभि है), कहीं ग्यारह—'दशेमे पुरुषे

रत्नप्रभा

एवं जन्मलब्धसत्ताकानां प्राणानामुपजीव्योपजीवकत्वसंगत्या संख्यां निर्णेतुं श्रुतीनां विरोधात् संशये पूर्वपक्षयति—**सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च**। विशयः—संशयः। इन्द्रियाणि अत्र विषयः। पञ्च धीन्द्रियाणि वाङ्मनश्चेति सप्त प्राणाः एत एव हस्तेन सहाष्टौ । ग्रहत्वम्—बन्धकत्वम् । गृह्णन्ति बध्नन्ति इति ग्रहाः—इन्द्रियाणि, तेषां

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार जन्म द्वारा जिन्होंने अस्तित्व प्राप्त किया है उन प्राणोंकी उपजीव्यत्व और उपजीवकत्व संगतिसे संख्याका निश्चय करनेके लिए श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे संशय होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च" इत्यादिसे। विषय—संशय। यहां इन्द्रियां विषय हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां—नेत्र, घ्राण, रसना, श्रोत्र और त्वक् तथा वाक् और मन ये सात प्राण हैं। पूर्वोक्त सात प्राण ही हाथके साथ मिलकर आठ होते हैं। ग्रह—बन्धन

भाष्य

(बृ० ३।९।४) इति । क्वचिद् द्वादश—'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्' (बृ० २।४।११) इत्यत्र । क्वचित् त्रयोदश 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' (प्र० ४।८) इत्यत्र । एवं हि विप्रतिपन्नाः प्राणेयत्तां प्रति श्रुतयः ।

किं तावत्प्राप्तम् ? सप्तैव प्राणा इति । कुतः ? गतेः । यतस्तावन्तोऽवगम्यन्ते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २।१।८) इत्येवंविधासु श्रुतिषु । विशेषिताश्चैते 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इत्यत्र । ननु 'प्राणा

भाष्यका अनुवाद

प्राणा आत्मैकादशः' (पुरुषमें दश प्राण हैं और आत्मा ग्यारहवां है), कहीं बारह—'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्' (सब स्पर्शोंकी त्वचा एक स्थान है) और कहीं तेरह—'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च (नेत्र और द्रष्टव्य) इस प्रकार प्राणोंकी इयत्ताके प्रति श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध हैं ।

पूर्वपक्षी—तब क्या प्राप्त होता है ? प्राण सात ही हैं, किससे ? गतिसे । क्योंकि 'सप्त प्राणाः०' (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं) इस प्रकारकी श्रुतियोंमें सात ही प्राणोंकी अवगति होती है, और 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः'

रत्नप्रभा

बन्धकत्वं विषयाधीनमित्यतिग्रहाः, ग्रहानतिक्रान्ता विषया इत्यर्थः । द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे घ्राणे वाक्चेति सप्त शीर्ष्णि भवाः प्राणाः, द्वौ अवाञ्चौ पायूपस्थौ च इति नव, ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दशेमे पुरुषे—देहे प्राणाः, आत्मा—मन एकादश प्राणा इति सिद्धान्तकोटिरुक्ता । एत एव हृदयाख्यया बुद्ध्या सह द्वादश । अहंकारेण सह त्रयोदश । श्रुतितः सप्तत्वावगतेर्ये शीर्षण्याः सप्त ते प्राणा इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेवाला । इन आठ प्राणोंको 'ग्रह' कहा है, क्योंकि वे पुरुषको बन्धनमें डालते हैं । 'गृह्णन्ति बध्नन्तीति ग्रहा इन्द्रियाणि' (जो ग्रहण करें—बन्धनमें डालें, वे ग्रह—इन्द्रियाँ) इन इन्द्रियोंकी बन्धकता विषयोंके अधीन है, अतएव विषय अतिग्रह कहलाते हैं । विषय ग्रहोंको अतिक्रमण करके स्थित हैं, ऐसा अर्थ है [वे राग उत्पन्न करके इन्द्रियोंका आकर्षण करते हैं, इसलिए ग्रहोंको अतिक्रमण करके स्थित हैं] कहीं प्राण नव गिनाये गये हैं—दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिकाएँ और वाणी ये सात शिरमें रहनेवाले प्राण हैं और पायु और उपस्थ ये दो नीचे रहनेवाले प्राण हैं । ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय ये दश, पुरुषमें—देहमें प्राण हैं और आत्मा—मन ग्यारहवां है—यह सिद्धान्तकोटि कही गई है । ये ही हृदयसंज्ञक बुद्धिके साथ बारह प्राण होते हैं । अहंकारके साथ तेरह होते हैं । श्रुतिसे प्राण सात हैं ऐसा ज्ञान होता है अथवा

भाष्य

गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' (मु० २।१।८) इति वीप्सा श्रूयते, सा सप्तभ्योऽतिरिक्तान् प्राणान् गमयतीति। नैष दोषः, पुरुषभेदाभिप्रायेयं वीप्सा— प्रतिपुरुषं सप्त सप्त प्राणा इति, न तत्त्वभेदाभिप्राया—सप्त सप्तान्येऽन्ये प्राणा इति। नन्वष्टत्वादिकापि संख्या प्राणेषूदाहृता कथं सप्तैव स्युः। सत्यमुदाहृता। विरोधात् त्वन्यतमा संख्याऽध्यवसातव्या। तत्र स्तोक-कल्पनानुरोधात् सप्तसंख्याध्यवसानम्। वृत्तिभेदापेक्षं च संख्यान्तरश्रवण-मिति मन्यते॥ ५॥

अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

(शीर्षमें रहनेवाले सात प्राण हैं) इस श्रुतिमें ये विशेषित हैं। परन्तु 'गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' (गुहाशया—हृदयमें रहनेवाले प्राण अपने स्थानमें सात सात स्थापित हैं) इस प्रकारकी वीप्सा सातसे अधिक प्राणोंका बोध कराती है। यह दोष नहीं है, क्योंकि यह वीप्सा प्रत्येक पुरुषमें सात सात प्राण हैं, इस प्रकार पुरुषभेदके अभिप्रायसे है। सात सात अन्य अन्य प्राण हैं, इस प्रकार तत्त्वभेदके अभिप्रायसे नहीं है। परन्तु अष्टत्व आदि संख्या भी प्राणोंकी कही गई है, फिर सात ही प्राण क्यों ? यह ठीक है, कही गई है, परन्तु विरोध होनेसे सबमेंसे किसी एक संख्याका निश्चय करना चाहिए। उसमें थोड़ी कल्पनाके अनुसार सात संख्याका निश्चय है और अन्य संख्याकी श्रुति (प्राणकी) भिन्नवृत्तिकी अपेक्षासे है, ऐसा समझा जाता है॥ ५॥

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

शीर्षण्योद्देशेन प्राणत्वविशेषणात् वा शीर्षण्यानां प्राणशब्दितेन्द्रियत्वपरिसंख्यया सप्तैव प्राणा इति सूत्रयोजना। सप्तत्वं वीप्साविरुद्धम् इति शङ्कते—**नन्विति**। गुहायां—हृदये शेरत इति गुहाशयाः; स्वस्थानेषु निहिताः—निक्षिप्ताः इत्यर्थः। चित्तेन चतुर्दशत्वं मन्तव्यम्। पूर्वपक्षी परिहरति—**नैष दोष इति**॥ ५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'ये शीर्षण्याः सप्त, ते प्राणाः' इस प्रकार शीर्षण्यको उद्देश करके प्राणत्वके विशेषण होनेसे शीर्षण्योंमें प्राणत्वका कथन है। प्राणशब्दित इन्द्रियत्वकी परिसंख्यासे सात ही प्राण हैं, इस प्रकार सूत्रकी योजना है। परन्तु प्राण सात ही हैं, ऐसा कहना वीप्सासे विरुद्ध है ऐसी शङ्का करते हैं—''ननु'' इत्यादिसे। गुहामें—हृदयमें सोते हैं, अतएव गुहाशय कहलाते हैं। निहिताः—स्वस्थानमें निक्षिप्त, ऐसा अर्थ है। चित्तके साथ चौदह समझना चाहिए। पूर्वपक्षी परिहार करता है—''नैष दोषः'' इत्यादिसे॥५॥

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

पदच्छेद—हस्तादयः, तु, स्थिते, अतः, न, एवम् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः पूर्वमतनिरासार्थः, हस्तादयः—करादयः, [अपि, 'हस्तो वै ग्रहः' इत्यादि श्रुत्या अतिरिक्तेन्द्रियत्वेन श्रूयन्ते] स्थिते—सप्तत्वसंख्यायाम-सम्भावितान्तर्भावे सप्तत्वातिरेके स्थिते, [सप्तत्वसंख्या एकादशसङ्ख्यायामन्तर्भावयितुं शक्यते] अतः—अस्मात्, न एवम्—न तथा [मन्तव्यम्—सप्तैव प्राणा इति]

भाषार्थ—हस्त आदि भी 'हस्तो वै ग्रहः' इत्यादि श्रुतिसे अतिरिक्त प्राण सुने जाते हैं, और सप्तत्व संख्यामें एकादश संख्याका अन्तर्भाव भी नहीं हो सकता है, किन्तु एकादश संख्यामें सप्तत्व संख्याका अन्तर्भाव हो सकता है, अतः 'सात ही इन्द्रियां हैं' यह मानना युक्त नहीं है ।

भाष्य

हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः श्रूयन्ते—'हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति' (बृ० ३।२।८) इत्येवमाद्यासु श्रुतिषु । स्थिते च सप्तत्वातिरेके सप्तत्वमन्तर्भावाच्छक्यते सम्भावयितुम् । हीनाधिकसंख्याविप्रतिपत्तौ ह्यधिका संख्या सङ्ग्राह्या

भाष्यका अनुवाद

परन्तु 'हस्तौ वै ग्रहः' (निश्चय, हाथ ग्रह हैं, वे कर्मरूप अतिग्रहसे गृहीत हैं, क्याकि हाथोंसे काम करते हैं) इत्यादि श्रुतियोंमें अन्य हस्त आदि सातोंसे अतिरिक्त प्राण सुने जाते हैं । इन्द्रियां सातसे अधिक हैं, ऐसी स्थितिमें [अधिक सङ्ख्यामें सातके] अन्तर्भावकी सम्भावना की जा सकती है, क्योंकि न्यून और अधिक संख्याकी

रत्नप्रभा

सिद्धान्तिनाम् अपि एकादशसु मनोवृत्तिभेदात् निश्चयात्मिका बुद्धिः, गर्वात्मकः--अहंकारः, स्मरणात्मकम्—चित्तम् इति द्वादशादिसंख्यान्तर्भावनीया । ततो वरं प्राथमिकसप्तत्वेऽन्तर्भावः, लाधवात्, इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—**अत्रेति** । आदानेन कर्मणा गृहीतः—संबद्धः । संबन्धमेवाह—**हस्ताभ्यामिति** । अतोऽधिक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्तीको भी एकादश संख्यामें मनोवृत्तिके भेदसे निश्चयात्मिका बुद्धि, गर्वात्मक अहंकार, स्मरणात्मक चित्त, इसप्रकार द्वादश आदि संख्याका अन्तर्भाव करना पड़ेगा । अत एव लाघव होनेसे प्राथमिक सप्त संख्यामें अधिक संख्याका अन्तर्भाव ठीक है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते

भाष्य

भवति; तस्यां हीनान्तर्भवति न तु हीनायामधिका। अतश्च नैवं मन्तव्यम् स्तोककल्पनानुरोधात् सप्तैव प्राणाः स्युरिति। उत्तरसंख्यानुरोधात् त्वेकादशैव ते प्राणाः स्युः। तथा चोदाहृता श्रुतिः—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३।९।४) इति। आत्मशब्देन चाऽत्राऽन्तःकरणं परिगृह्यते, करणाधिकारात्। नन्वेकादशत्वादप्यधिके द्वादशत्रयोदशत्वे उदाहृते। सत्यमुदाहृते, नत्वेकादशभ्यः कार्यजातेभ्योऽधिकं कार्यजातमस्ति, यदर्थमधिकं करणं कल्प्येत। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः पञ्च बुद्धिभेदाः,

भाष्यका अनुवाद

विप्रतिपत्तिमें अधिक संख्या ग्राह्य होती है क्योंकि उसमें—अधिक संख्यामें न्यून संख्याका अन्तर्भाव होता है, हीनमें अधिकका अन्तर्भाव नहीं होता। इससे कल्पनालाघवके अनुसार सात ही प्राण हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए। किन्तु उत्तर संख्याके अनुरोधसे ग्यारह ही प्राण हैं। इसी प्रकार श्रुति आगे कहती है—'दशेमे पुरुषे०' (पुरुषमें ये दश प्राण हैं और आत्मा ग्यारहवाँ है) यहां आत्मशब्दसे अन्तःकरणका ग्रहण किया जाता है, क्योंकि करणका अधिकार है। परन्तु ग्यारहसे भी अधिक बारह और तेरह संख्या कही गई है, ठीक है, कही गई है, परन्तु ग्यारह कार्यसे अधिक कार्य नहीं हैं, जिनके लिए अधिक करणकी कल्पना की जाय। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

रत्नप्रभा

संख्यायाः न्यूनायाम् अन्तर्भावायोगात्सप्तैव प्राणाः स्युः लाघवानुरोधादित्येवं न मन्तव्यम् इति अन्वयः। तर्हि कतीन्द्रियाणि ? इति आकांक्षायामाह—**उत्तरेति**। 'श्रुतीनां मिथो विरोधे सति मानान्तरानुगृहीता श्रुतिः बलीयसी' इति न्यायेन कार्यलिङ्गानुमानानुगृहीतैकादशप्राणश्रुत्यनुसारेणान्याः श्रुतयो नेयाः इत्यभिसंधायाह—**सत्यमिति**। एकादशकार्यलिङ्गानि आह—**शब्देति**। त्रयः कालाः

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"अत्र" इत्यादिसे। आदानरूप कर्मसे गृहीत अर्थात् संबद्ध। सम्बन्धको ही कहते हैं—"हस्ताभ्याम्" इत्यादिसे। अधिक संख्याका न्यूनमें अन्तर्भाव न होनेसे सात ही प्राण हैं, लाघवके अनुरोधसे, ऐसा न मानना चाहिए, ऐसा अन्वय है। तब इन्द्रियां कितनी हैं ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—"उत्तर" इत्यादिसे। 'श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेपर अन्य प्रमाणसे अनुगृहीत श्रुति अधिक बलवती है, इस न्यायसे कार्यरूप लिंगानुमानसे अनुगृहीत एकादश प्राणबोधक श्रुतिके अनुसार अन्य श्रुतियोंको गौण मानना चाहिए, इस आशयसे

भाष्य

तदर्थानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च कर्मभेदाः, तदर्थानि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । सर्वार्थविषयं त्रैकाल्यवृत्ति मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम् । तदेव वृत्तिभेदात् क्वचिद् भिन्नवद् व्यपदिश्यते—'मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं च' इति । तथा च श्रुतिः कामाद्या नानाविधा वृत्तीरनुक्रम्याऽऽह—'एतत् सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति । अपि च सप्तैव शीर्षण्यान् प्राणानभिमन्यमानस्य चत्वार एव प्राणा अभिमताः स्युः । स्थानभेदाद् ह्येते चत्वारः सन्तः सप्त गण्यन्ते 'द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके एका वाक्' इति । न च तावतामेव वृत्तिभेदा इतरे प्राणा इति

भाष्यका अनुवाद

गन्ध जिनके विषय हैं, ऐसे पांच बुद्धिके—ज्ञानके भेद हैं और उनके लिए पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। वचन, आदान—ग्रहण, विहरण—चलना, उत्सर्ग—मलका त्याग, आनन्द—सुखानुभव, ये पांच कर्मके भेद हैं और इनके लिए पांच कर्मेन्द्रियां हैं । सब पदार्थ जिसके विषय हैं, ऐसा तीनों कालकी वस्तुओंका ग्रहण करनेवाला मन एक है और उसकी अनेक वृत्तियां हैं । उसीका ही वृत्तिके भेदसे कहींपर भिन्नरूपसे व्यपदेश होता है—'मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं च' (मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त)। उसी प्रकार श्रुति काम आदि अनेक प्रकारकी वृत्तियोंका अनुक्रम करके कहती है—'एतत् सर्वं मन एव' (यह सब मन ही है)। और सात ही शीर्षण्य प्राण हैं, ऐसा माननेवालेको चार ही प्राण अभिमत होंगे, क्योंकि स्थानके भेदसे ये चार होकर सात गिने जाते हैं—'द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी०' (दो कान, दो आखें, दो नासिकाएँ और एक वाणी)। तब अन्य प्राण उन्हींकेही वृत्तिभेद हैं, ऐसा नहीं

रत्नप्रभा

त्रैकाल्यं तद्विषया वृत्तिः यस्य तत् त्रैकाल्यवृत्ति । इन्द्रियान्तराणां वर्तमानमात्रग्राहित्वादतीतादिज्ञानाय मनः अङ्गीकार्यम् इत्यर्थः । विशेषितत्वादित्युक्तं निरस्यति—**अपि च सप्तेति । न च तावतामिति ।** आदानादीनां श्रोत्रादिभ्योऽत्यन्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे । एकादश कार्यलिंगको कहते हैं—"शब्द" इत्यादिसे । तीनों कालोंको त्रैकाल्य कहते हैं—तीन कालमें जिसकी वृत्ति है, वह त्रैकाल्यवृत्ति—त्रिकालवृत्तिवाला कहलाता है । अन्य इन्द्रियां वर्त्तमानका ही ग्रहण करती हैं, अत एव अतीत आदिके ज्ञानके लिए मनका अङ्गीकार करना चाहिए, ऐसा अर्थ है । 'विशेषितत्वात्' ऐसा जो कहा है, उसका

भाष्य

शक्यते वक्तुम्, हस्तादिवृत्तीनामत्यन्तविजातीयत्वात्। तथा 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इत्यत्रापि देहच्छिद्रभेदाभिप्रायेणैव दश प्राणा उच्यन्ते, न प्राणतत्त्वभेदाभिप्रायेण; नाभिर्दशमीति वचनात्। नहि नाभिर्नाम कश्चित् प्राणः प्रसिद्धोऽस्ति। मुख्यस्य तु प्राणस्य भवति नाभिरप्येकं विशेषायतनमित्यतो नाभिर्दशमीत्युच्यते। क्वचिदुपासनार्थं कतिचित्प्राणा गण्यन्ते, क्वचित् प्रदर्शनार्थम्। तदेवं विचित्रे प्राणेयत्ताम्नाने सति क्व किं परमाम्नानमिति विवेक्तव्यम्। कार्यजातवशात् त्वेकादशत्वाम्नानं प्राणविषयं प्रमाणमिति स्थितम्।

भाष्यका अनुवाद

कह सकते, क्योंकि हस्त आदिकी वृत्तियां अत्यन्त विजातीय हैं। इसी प्रकार 'नव वै पुरुषे०' (पुरुषमें नव ही प्राण हैं और नाभी दसवीं है) इस श्रुतिमें भी देहके छिद्रभेदके अभिप्रायसे ही दश प्राण कहे गये हैं, न कि प्राणतत्त्वके भेदके अभिप्रायसे। क्योंकि 'नाभिर्दशमी' (नाभी दसवीं है) ऐसा वचन है। नाभि नामका कोई प्राण प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु मुख्य प्राणका नाभि भी एक विशेष स्थान है, अतः नाभि दसवीं है, ऐसा कहा गया है। कहींपर उपासनाके लिए कितने ही प्राण गिने जाते हैं और कहींपर प्रदर्शनके लिए। इस प्रकार प्राणोंकी संख्याका भिन्न-भिन्नरूपसे कथन होनेके कारण किस वाक्यमें किस अर्थमें यह कथन है, इसका विचार करना चाहिए। ग्यारह कार्य हैं, इससे प्राणविषयक (इन्द्रियविषयक) एकादशत्वका कथन प्रमाण है, ऐसा स्थित है।

रत्नप्रभा

वैजात्यादित्यर्थः। तेषां तद्वृत्तित्वे बधिरादीनामादानादि न स्यादिति भावः। कथं तर्हि छिद्रे प्राणशब्द इति आशंक्य लक्षणया इति आह—**मुख्यस्य त्विति**। 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' इति उपासनार्थम्। 'अष्टौ ग्रहाः' इति श्रुतिस्तु उपलक्षणार्था। पायूपस्थपादानामपि बन्धकत्वाविशेषात् इति विवेक्तव्यम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरण करते हैं—"अपि च सप्त" इत्यादिसे। "न च तावताम्" इत्यादि। आदान आदि श्रोत्र आदिसे अत्यन्त विजातीय हैं, इससे, ऐसा अर्थ है। ये आदान आदि यदि श्रोत्र आदिके वृत्ति हों, तो बधिर आदिसे आदान आदि नहीं होंगे, ऐसा भाव है। तब छिद्रमें प्राणशब्दका प्रयोग किस प्रकार है? ऐसी आशंका करके, लक्षणासे, ऐसा कहते हैं—"मुख्यस्य तु" इत्यादिसे। 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' यह उपासनाके लिए है। 'अष्टौ ग्रहाः' यह श्रुति तो उपलक्षणके लिए है। क्योंकि वायु, उपस्थ, पाद ये भी समानरूपसे ही बन्धक हैं, इस प्रकार क्वचित् उपासनार्थ है और क्वचित् उपलक्षणार्थ है, ऐसा विवेक करना चाहिए। यदि कोइ कहे कि

भाष्य

इयमपरा सूत्रद्वययोजना—सप्तैव प्राणाः स्युः, यतः सप्तानामेव गतिः श्रूयते—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यत्र ।

ननु सर्वशब्दोऽप्यत्र पठ्यते, तत्कथं सप्तानामेव गतिः प्रतिज्ञायत इति; विशेषितत्वादित्याह । सप्तैव हि प्राणाश्चक्षुरादयस्त्वक्पर्यन्ता विशेषिता इह प्रकृताः 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' (बृ० ४।४।१) 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' (बृ० ४।४।२) इत्येवमा-

भाष्यका अनुवाद

दोनों सूत्रोंकी यह दूसरी योजना है—प्राण सात ही हैं, क्योंकि 'तमुत्क्रामन्तम्०' (जीवके उत्क्रमण—शरीरत्यागके अनन्तर सब प्राण—इन्द्रियां उत्क्रमण करती हैं) इस श्रुतिमें सातोंकी ही गति श्रुत है ।

पूर्वपक्षी—इस श्रुतिमें 'सर्व शब्द भी पठित है, तो सातोंकी ही गतिकी किस प्रकार प्रतिज्ञा की जाती है ? विशेषित होनेसे, ऐसा कहते हैं । क्योंकि 'स यत्रैष०' 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' (जिस अवस्थामें वह यह नेत्रका अधिष्ठाता देवता सूर्यका अंशरूप पुरुष बहिर्देशसे स्वस्थानके प्रति आता है, उस समय जीव अरूपज्ञ—बाह्यरूपके ज्ञानसे रहित होता है, हृदयमें चक्षु एक होता है और पास खड़े हुए लोग उसे नहीं दीख पड़ते, ऐसा कहते हैं)

रत्नप्रभा

ननु इदं सूत्रव्याख्यानम् असंगतम्, पञ्चधीन्द्रियवाङ्मनसां सप्तत्वावगतिः शीर्षण्यानां चतुर्णां विशेषितत्वमिति हेतोः वैयधिकरण्यात्, उक्तपरिसंख्यादोषाच्चेत्यरुचेराह—इयमपरेति । इन्द्रियाणि कति ? इति संदेहे पूर्वपक्षसूत्रं योजयति—सप्तेति । तं जीवात्मानं ये प्राणाः सह गच्छन्ति तेषामेव भोगहेतुत्वात् इन्द्रियत्वमित्यर्थः । विपन्नावस्थायामेव चाक्षुषश्चक्षुषि स्थितोऽनुग्राहकसूर्यांशरूपः पुरुषः पराङ् पर्यावर्तते बहिर्देशात्स्वांशिनं सूर्यं प्रतिगच्छ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रका यह व्याख्यान असंगत है, पांच बुद्धीन्द्रिय, वाणी और मन इस प्रकार सप्तत्वकी अवगति, और शीर्षण्य चारके प्राणोंसे विशेषितत्व हेतुके वैयधिकरण्य होनेसे तथा उक्त परिसंख्यामें दोष होनेसे अरुचि है, अतः अन्य अर्थ कहते हैं—"इयमपरा" इत्यादिसे । इन्द्रियां कितनी हैं, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वपक्ष सूत्रकी योजना करते हैं—"सप्त" इत्यादिसे । उस जीवात्माके साथ जो उत्क्रमण करते हैं, वे ही भोगहेतु होनेसे इन्द्रियां हैं, ऐसा अर्थ है । जब विपन्न अवस्थामें यह नेत्रमें स्थित अनुग्राहक सूर्यका अंशरूप पुरुष बाहरसे अपने अंशी सूर्यमें लौटकर जाता है

भाष्य

दिनाऽनुक्रमणेन। प्रकृतगामी च सर्वशब्दो भवति यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इति ये निमन्त्रिताः प्रकृता ब्राह्मणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते नाऽन्ये। एवमिहापि ये प्रकृताः सप्त प्राणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते, नाऽन्य इति। नन्वत्र विज्ञानमष्टममनुक्रान्तम्, कथं सप्तानामेवानुक्रमणम्। नैष दोषः। मनोविज्ञानयोस्तत्त्वाभेदाद् वृत्तिभेदेऽपि सप्तत्वोपपत्तेः। तस्मात् सप्तैव प्राणा इति।

एवंप्राप्ते ब्रूमः—हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः प्रतीयन्ते—

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि अनुक्रमणसे विशेषित नेत्रसे लेकर त्वक्पर्यन्त सात ही प्राण यहां प्रकृत हैं। 'सर्वे प्राणाः' यहांपर सर्वशब्द प्रकृतगामी—प्रकृत होनेसे इन्द्रियोंका विषय करनेवाला है। जैसे 'सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः' (सब ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए) यहांपर जो निमन्त्रित प्रकृत ब्राह्मण हैं, वे ही सर्वशब्दसे कहे जाते हैं, अन्य नहीं। इसी प्रकार यहां भी जो प्रकृत सात प्राण हैं, वे ही सर्वशब्दसे कहे जाते हैं, अन्य नहीं कहे जाते। परन्तु यहां आठवें विज्ञानका अनुक्रमण है, तो सातका ही अनुक्रमण है, यह कैसे कहते हो? यह दोष नहीं है, क्योंकि मन और विज्ञानके स्वरूपमें अभेद है, अतः वृत्ति भिन्न होनेपर भी सप्तत्वकी उपपत्ति होती है, इससे सात ही प्राण हैं।

रत्नप्रभा

ति। अथ तदानीमयं मुमूर्षुररूपज्ञो भवति। देवांशे देवं प्रविष्टे लिङ्गांशश्चक्षुर्हृदये मनसा एकीभवति तदायं न पश्यतीति पार्श्वस्था आहुरित्यर्थः। आदिपदात् 'न जिघ्रति, न वदति, न रसयते, न शृणोति, न मनुते, न स्पृशति, न विजानाति' इति गृह्यते। सप्तानामेव जीवेन सह गतिरित्यसिद्धं, ग्रहत्वश्रुत्या हस्तादीनामपि गतिप्रतीतेः इति सिद्धान्तयति—**एवमित्यादिना**। हस्तादिबन्धस्य प्राङ्

रत्नप्रभाका अनुवाद

तब यह मुमुर्षु अरूपज्ञ होता है। देवांशके देवमें प्रविष्ट होनेपर लिंगांश चक्षु हृदयमें एक होता है तब 'यह नहीं देखता' ऐसा पार्श्व स्थित लोक कहते हैं, ऐसा अर्थ है। आदि पदसे सूंघता नहीं, बोलता नहीं, चखता नहीं, सुनता नहीं, विचार नहीं करता, स्पर्श नहीं करता, नहीं जानता है, इनका ग्रहण होता है। सातकी ही जीवके साथ गति है, यह असिद्ध है, क्योंकि हस्तादि भी ग्रह हैं, ऐसी श्रुति होनेसे उनकी भी गति प्रतीत होती है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। हस्तादि बन्ध मोक्षपर्यन्त आत्माके अनुयायी हैं, इसमें स्मृति

भाष्य

'हस्तो वै ग्रहः' (बृ० ३।२।८) इत्यादिश्रुतिषु। ग्रहत्वं च बन्धनभावो गृह्यते, बध्यते क्षेत्रज्ञोऽनेन ग्रहसंज्ञकेन बन्धनेनेति। स च क्षेत्रज्ञो नैकस्मिन्नेव शरीरे बध्यते, शरीरान्तरेष्वपि तुल्यत्वाद् बन्धनस्य। तस्माच्छरीरान्तरसंचारीदं ग्रहसंज्ञकं बन्धनमित्यर्थादुक्तं भवति। तथाच स्मृतिः—

'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च॥'

इति प्राङ् मोक्षाद् ग्रहसंज्ञकेनानेन बन्धनेनाऽवियोगं दर्शयति। आथर्वणे च विषयेन्द्रियानुक्रमणे 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' इत्यत्र तुल्यवद्धस्तादीनीन्द्रियाणि सविषयाण्यनुक्रामति—'हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च' (प्र० ४।८) इति। तथा दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति' (बृ० ३।९।४)

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परन्तु 'हस्तो वै ग्रहः' (निश्चय हस्त ग्रह है) इत्यादि श्रुतियोंमें दूसरे हस्त आदि सातसे अतिरिक्त प्राण प्रतीत होते हैं। ग्रहत्वसे बन्धन समझा जाता है। क्षेत्रज्ञ इस ग्रहसंज्ञक बन्धनसे बांधा जाता है और क्षेत्रज्ञ एक ही शरीरमें नहीं बँध जाता है, क्योंकि अन्य शरीरोंमें भी बन्धन तुल्य है। इससे यह ग्रहसंज्ञक बन्धन अन्य शरीरोंमें संचरणशील है, ऐसा अर्थ कहा जाता है। इसी प्रकार स्मृति भी है—'पुर्यष्टकेन लिंगेन' (वह प्राणादि पुर्यष्टक लिंगसे युक्त होता है और उससे बद्धका बन्धन होता है और मुक्तका मोक्ष होता है)। यह स्मृति मोक्षके पूर्व ग्रहसंज्ञक इस बन्धनसे अवियोग दिखलाती है। और आथर्वणमें विषय और इन्द्रियोंके अनुक्रमणमें 'चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्च' (नेत्र और द्रष्टव्य) इसमें समान रीतिसे हस्तादि इन्द्रियोंको विषयसहित गिनाते हैं—'हस्तौ चादातव्यं च०' (हाथ और आदातव्य—जिसका उपादान होता

रत्नप्रभा

मोक्षात्सहगतौ स्मृतिमाह—**पुर्यष्टकेनेति**। प्राणादिपञ्चकं भूतसूक्ष्मपञ्चकं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकमन्तःकरणचतुष्टयमविद्या कामः कर्म चेति पुर्यष्टकमा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"पुर्यष्टकेन" इत्यादिसे। पांच प्राणादि, पांच, सूक्ष्म भूत पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, चार अन्तःकरण, अविद्या काम और कर्म, ये पुर्यष्टक हैं,

भाष्य

इत्येकादशानां प्राणानामुत्क्रान्तिं दर्शयति। सर्वशब्दोऽपि च प्राणशब्देन सम्बध्यमानोऽशेषान् प्राणानभिदधानो न प्रकरणवशेन सप्तस्वेवावस्थापयितुं शक्यते, प्रकरणाच्छब्दस्य बलीयस्त्वात्। 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्रापि सर्वेषामेवाऽवनिवर्तिनां ब्राह्मणानां ग्रहणं न्याय्यम्, सर्वशब्दसामर्थ्यात्। सर्वभोजनासम्भवात्तु तत्र निमन्त्रितमात्रविषया सर्वशब्दस्य वृत्तिराश्रिता। इह तु न किञ्चित् सर्वशब्दार्थसंकोचने कारणमस्ति। तस्मात् सर्वशब्देनाऽत्राशेषाणां प्राणानां परिग्रहः। प्रदर्शनार्थं च सप्तानामनुक्रमणमित्यनवद्यम्—तस्मादेकादशैव प्राणाः शब्दतः कार्यतश्चेति सिद्धम्॥६॥

भाष्यका अनुवाद

है, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्ग, दोनों पैर और उनका गन्तव्य)। इसी प्रकार 'दशेमे पुरुषे' (पुरुषमें ये दश प्राण हैं, आत्मा ग्यारहवां है, वे जब इस मर्त्य शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, तब इसके सम्बन्धियोंको रुलाते हैं, इसलिए रुद्र कहलाते हैं) यह श्रुति ग्यारह प्राणोंकी उत्क्रान्ति दिखलाती है। सर्वशब्द भी प्राणशब्दके साथ सम्बन्ध रखता हुआ अशेष प्राणका अभिधान करता हुआ प्रकरणवशात् सातमें अवस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रकरणसे शब्द विशेष बलवान् है। 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः' (सब ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए) इसमें भी पृथिवीपर रहनेवाले सब ब्राह्मणोंका ही ग्रहण न्याय्य है, सर्वशब्दके सामर्थ्यसे। परन्तु सबके भोजनका संभव न होनेसे वहां शब्दकी वृत्ति केवल निमन्त्रित ब्राह्मणोंमें ही मानी जाती है। यहां तो सर्वशब्दके अर्थके संकोचमें कुछ कारण नहीं है। इसलिए सर्वशब्दसे यहां अशेष प्राणोंका परिग्रह है और प्रदर्शनके लिए सातोंका अनुक्रमण है, यह कथन निर्दुष्ट है। इसलिए शब्दसे और कार्यसे ग्यारह ही प्राण हैं, ऐसा सिद्ध हुआ॥ ६॥

रत्नप्रभा

त्मनो ज्ञापकत्वात् लिङ्गं, सति संभवे सर्वश्रुतिसंकोचो न युक्त इत्याह—**सर्वशब्दोऽपीति**। तस्मात्संख्याश्रुतीनाम् अविरोधात् एकादशेन्द्रियकारणे ब्रह्मणि समन्वयः इति सिद्धम्॥ ६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और आत्माके ज्ञापक होनेसे वे लिङ्ग हैं, सम्भव होनेपर सब श्रुतियोंका संकोच करना युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"सर्वशब्दोऽपि" इत्यादिसे। इससे संख्याश्रुतियोंका विरोध न होनेसे एकादश इन्द्रियका कारणब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा सिद्ध हुआ॥ ६॥

[३ प्राणाणुत्वाधिकरण सू० ७]

व्यापीन्यणूनि वाऽक्षाणि सांख्या व्यापित्वमूचिरे ।
वृत्तिलाभस्तत्र तत्र देहे कर्मवशाद् भवेत् ॥ १ ॥
देहस्थवृत्तिमद्भागेष्वेवाक्षत्वं समाप्यताम् ।
*उत्क्रान्त्यादिश्रुतेस्तानि ह्यणूनि स्युरदर्शनात् * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—इन्द्रियाँ व्यापक हैं या अणु हैं ?

पूर्वपक्ष—उन उन देहोंमें कर्मके सामर्थ्यसे वृत्तिके लाभका सम्भव है, इसलिए इन्द्रियाँ व्यापक हैं, ऐसा साङ्ख्य कहते हैं ।

सिद्धान्त—इन्द्रियाँ व्यापक नहीं हैं, अर्थात् देहमें रहनेवाले वृत्तिमद्भागोंमें ही इन्द्रियत्व है, देहसे बाहर नहीं है, इसलिए अणु हैं, क्योंकि उत्क्रान्ति आदिकी श्रुति है और उनका प्रत्यक्ष नहीं है ।

अणवश्च ॥ ७ ॥

पदच्छेद—अणवः, च ।

पदार्थोक्ति—[पूर्वोक्ताः प्राणाः] च, अणवः—परिच्छिन्नपरिमाणाः [सूक्ष्माश्च सन्ति, इन्द्रियाग्राह्यत्वात्] ।

भाषार्थ—और वे प्राण—इन्द्रियां अणु—परिच्छिन्न तथा सूक्ष्म हैं अर्थात् विभु नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके अविषय हैं ।

---

* आशय इस प्रकार है कि सांख्य कहते हैं—सर्वगत इन्द्रियोंको तत्-तत् शरीरावच्छिन्न प्रदेशोंमें तत्-तत् जीवके कर्मफलके उपभोगके लिए वृत्तिलाभ होता है ।

सिद्धान्ती इसपर कहते हैं कि वह अयुक्त है, क्योंकि ऐसी कल्पना करनेसे गौरव है, यदि देहावच्छिन्न वृत्तिमद्भाग द्वारा ही सम्पूर्ण व्यवहार की उपपत्ति हो जाय, तो वृत्तिरहित सर्वगत इन्द्रियोंकी कल्पना करनेसे क्या प्रयोजन ? किञ्च, श्रुति जीवकी उत्क्रान्ति और आगतिका प्रतिपादन करती है, वे (गत्यागती) जीवकी मुख्य नहीं हो सकती है, अतः मुख्यत्वकी सिद्धिके लिए इन्द्रियरूप उपाधि स्वीकृत की गई है यदि वह भी उपाधि व्यापक होगी, तो उत्क्रान्ति आदि मुख्य कैसे होंगे ? इससे असर्वगत इन्द्रियाँ हैं, अर्थात् व्यापक नहीं हैं, मध्यम परिमाणमें ही अणुत्वकी विवक्षासे सूत्रकारने अणुशब्दका प्रयोग किया है ।

भाष्य

अधुना प्राणानामेव स्वभावान्तरमभ्युच्चिनोति । अणवश्चैते प्रकृताः प्राणाः प्रतिपत्तव्याः । अणुत्वं चैषां सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ, न परमाणुतुल्यत्वम्, कृत्स्नदेहव्यापिकार्यानुपपत्तिप्रसंगात् । सूक्ष्मा एते प्राणाः । स्थूलाश्चेत् स्युर्मरणकाले शरीरान्निर्गच्छन्तो बिलादहिरिवोपलभ्येरन् म्रियमाणस्य पार्श्वस्थैः । परिच्छिन्नाश्चैते प्राणाः सर्वगताश्चेत् स्युरुत्क्रान्तिगत्यागति-श्रुतिव्याकोपः स्यात्, तद्गुणसारत्वं च जीवस्य न सिध्येत् । सर्वगताना-

भाष्यका अनुवाद

अब सूत्रकार प्राणोंके—इन्द्रियोंके ही इस सूत्रसे अन्य स्वभावका समुच्चय कहते हैं। ये प्रकृत प्राण अणु हैं, ऐसा समझना चाहिए। इन प्राणोंकी अणुता सूक्ष्मत्व और परिच्छेद है, परमाणुतुल्यता नहीं है, क्योंकि उसे परमाणुतुल्य माननेमें समस्त शरीरमें व्यापक कार्यकी अनुपपत्ति प्राप्त होगी। प्राण सूक्ष्म हैं, क्योंकि यदि स्थूल होते, तो मरणकालमें बिलसे निकलते हुए सर्पके समान मरते हुए पुरुषके शरीरसे निकलते हुए वे समीपस्थ लोगोंको दिखाई देते। और ये प्राण परिच्छिन्न हैं। यदि वे व्यापक हों, तो उत्क्रान्ति, गति और-आगतिश्रुतिका विरोध होगा और जीवका अन्तःकरणगुणप्रधानत्व सिद्ध

रत्नप्रभा

अणवश्च । 'प्राणाः सर्वेऽनन्ताः' इति श्रुतेरिन्द्रियाणां विभुत्वात् तेषाम् उत्क्रान्तिः असिद्धा, किन्तु तत्तद्देहे तेषामभिव्यक्तिरूपाः प्रादेशिक्यो वृत्तयः सन्ति न तासामुत्क्रान्त्यादिरिति सांख्यानामाक्षेपः ; तत्संगत्या प्राणाः किंपरिमाणा इति संदेहे सिद्धान्तयति—**अधुनेत्यादिना** । उत्पत्तिसंख्यानिर्णयानन्तरं परिमाणं निरूप्यत इत्यर्थः । अनुद्भूतरूपस्पर्शत्वं—सूक्ष्मत्वम् । परिच्छेदः—अल्पत्वम् । बुद्ध्यादीनां विभुत्वे तदुपाधिकम् आत्मनः अणुत्वादिकं न सिद्ध्येदित्युक्तन्याय-विरोधमाह—**तद्गुणसारत्वमिति** । उक्ताक्षेपमनूद्य निरस्यति—**सर्वगताना-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अणवश्च"। 'प्राणाः सर्वेऽनन्ताः' (सब प्राण अनन्त हैं) ऐसी श्रुति होनेसे इन्द्रियां विभु हैं, इसलिए उनकी उत्क्रान्ति असिद्ध है, परन्तु तत्-तत् देहमें उनकी अभिव्यक्तिरूप प्रादेशिकी वृत्तियां हैं, उनकी उत्क्रान्ति आदि नहीं होते हैं, ऐसा सांख्योंका आक्षेप है, उसकी संगतिसे प्राणोंका क्या परिमाण है? ऐसा सन्देह होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"अधुना" इत्यादिसे। उत्पत्ति और संख्याका निर्णय करनेके पश्चात् परिमाणोंका निरूपण किया जाता है, ऐसा अर्थ है। अनुद्भूत रूप और स्पर्श जिसमें है, वह सूक्ष्म, परिच्छेद—अल्प। बुद्धि आदि

भाष्य

मपि वृत्तिलाभः शरीरदेशे स्यादिति चेत्, नः वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः। यदेव ह्युपलब्धिसाधनम् वृत्तिः अन्यद्वा, तस्यैव नः करणत्वम्। संज्ञामात्रे विवाद इति करणानां व्यापित्वकल्पना निरर्थिका। तस्मात् सूक्ष्माः परिच्छिन्नाश्च प्राणा इत्यध्यवस्यामः ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

नहीं होगा। परन्तु व्यापक प्राणोंका भी शरीरप्रदेशमें वृत्तिलाभ होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वृत्तिमात्रके करणत्वका सम्भव है, क्योंकि वृत्ति हो, चाहे जो कुछ हो, जो उपलब्धिका साधन है, वही हमारे मतमें करण है। संज्ञामात्रमें विवाद होनेसे करण व्यापी हैं, ऐसी कल्पना निरर्थक है। इसलिए प्राण सूक्ष्म और परिच्छिन्न हैं, ऐसा निश्चय करते हैं ॥७॥

रत्नप्रभा

मिति। आनन्त्यश्रुतेः उपासनार्थत्वात् न उत्क्रान्त्यादिश्रुतीनां तया विरोध इति सिद्धम् ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि विभु हों, तो आत्माका अणुत्व बुद्धिरूप उपाधिसे है, यह सिद्ध नहीं होगा, इस प्रकार उक्त न्यायका विरोध कहते हैं—"तद्गुणसारत्वम्" इत्यादिसे। उक्त आक्षेपका अनुवाद करके उसका निरसन करते हैं—"सर्वगतानाम्" इत्यादिसे। आनन्त्य श्रुतिके उपासनार्थक होनेसे उत्क्रान्ति आदि श्रुतिका उसके साथ विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥



[४ प्राणश्रैष्ठ्याधिकरण सू०-८]

मुख्यः प्राणः स्यादनादिर्जायते वा न जायते ।
आनीदिति प्राणचेष्टा प्राक् सृष्टेः श्रूयते यतः ॥१॥
आनीदिति ब्रह्मसत्त्वं प्रोक्तं वातनिषेधनात् ।
एतस्माज्जायते प्राण इत्युक्तेरेष जायते ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—मुख्य प्राण अनादि है या उत्पन्न होता है ?

पूर्वपक्ष—अनादि है अर्थात् उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि 'आनीत्' इसशब्दस सृष्टिके पूर्वमें प्राणकी चेष्टा सुनी जाती है ।

सिद्धान्त—'आनीत्' शब्दसे ब्रह्मकी सत्ता कही गई है और प्राणके व्यापारका निषेध किया गया है एवं 'एतस्माज्जायते प्राणः' इससे प्राणकी उत्पत्ति स्पष्ट है, इसलिए प्राण अनादि नहीं है, प्रत्युत उत्पन्न होता है ।

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—श्रेष्ठः, च ।

पदार्थोक्ति—श्रेष्ठः—मुख्यः प्राणः, च—अपि [इन्द्रियवत् ब्रह्मणो जायते] ।

भाषार्थ—इन्द्रियोंके समान मुख्य प्राण भी ब्रह्मसे उत्पन्न होता है ।

---

* भाव यह है—मुखविवरसे निकलनेवाला वायु प्राण है, यह उत्पन्न नहीं होता है अथवा होता है ? इस प्रकार संशय होनेपर पूर्वपक्षी कहता है कि उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि उत्पत्तिके पूर्वमें 'आनीदवातम्' इसमें 'आनीत्' शब्दसे सृष्टिके पूर्वमें प्राणका व्यापार देखनेमें आता है अतः प्राण नित्य है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—'आनीत्' शब्द प्राणके व्यापारको नहीं कहता है, क्योंकि 'अवातम्' इस श्रुतिसे उसके व्यापारका निषेध है, किन्तु ब्रह्मकी सत्ताको कहता है, क्योंकि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सृष्टिके पूर्वमें अवस्थाप्रतिपादक अन्य श्रुतियोंके साथ समानार्थक है । 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि श्रुति तो प्रत्यक्ष ही प्राणके जन्मका प्रतिपादन करती है, इससे यह सिद्ध है कि इन्द्रियके समान प्राण भी उत्पन्न होता है ।

भाष्य

मुख्यश्च प्राण इतरप्राणवद् ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति। तच्चाऽविशेषेणैव सर्वप्राणानां ब्रह्मविकारत्वमाख्यातम्, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति सेन्द्रियमनोव्यतिरेकेण प्राणस्योत्पत्तिश्रवणात्, 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इत्यादिश्रवणेभ्यश्च। किमर्थः पुनरतिदेशः ? अधिकाशङ्कापाकरणार्थः। नासदासीये हि ब्रह्मप्रधाने सूक्ते

भाष्यका अनुवाद

मुख्य प्राण भी अन्य प्राणोंके समान ब्रह्मका विकार है, ऐसा सूत्रकार अतिदेश करते हैं। वह ब्रह्मविकारत्व सब प्राणोंका समानरूपसे ही कहा गया है। 'एतस्माज्जायते प्राणः०' (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं) इसमें इन्द्रियसहित मनसे अतिरिक्त प्राणकी उत्पत्तिका श्रवण है और 'स प्राणमसृजत' (उसने प्राणको उत्पन्न किया) इत्यादि पुष्कल श्रुतियाँ हैं। फिर अतिदेशका क्या प्रयोजन है ? अधिक आशंका दूर करनेके लिए यह अतिदेश है, क्योंकि नासदासीय नामके सुप्रसिद्ध ब्रह्म-

---

रत्नप्रभा

श्रेष्ठश्च। अतिदेशत्वात् न संगत्याद्यपेक्षा। 'तथा प्राणाः' इत्युक्तन्यायः अत्रातिदिश्यते। ननु प्राणो जायते न वेति संशयाभावादतिदेशो न युक्त इत्याक्षिपति—किमर्थ इति। निश्चितमहाप्रलये प्राणसद्भावश्रुत्या अधिकां शङ्कामाह—नासदासीये हीति। 'नासदासीत्' इत्यारभ्याधीत इत्यर्थः। तर्हि—तदा प्रलयकाले मृत्युः—मारको मृत्युमत्—कार्यं वा नासीत्—अमृतं च देवभोग्यं नासीत्, राज्याः प्रकेतः चिह्नरूपः चन्द्रः, अह्नः प्रकेतः सूर्यश्च न आस्तां, स्वधया सह इत्यन्वयः। पितृभ्यो देयमन्नं स्वधा। यद्वा स्वेन धृता माया स्वधा, तया सह तदेकं ब्रह्मानीत्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"श्रेष्ठश्च" इत्यादि। अतिदेश होनेसे संगतिकी अपेक्षा नहीं है। 'तथा प्राणाः' इसमें कहे गये न्यायका अतिदेश करते हैं। यदि कोई कहे कि प्राण उत्पन्न होता है या नहीं ? ऐसा संशय न होनेसे अतिदेश युक्त नहीं है, ऐसा आक्षेप करते हैं—"किमर्थः" इत्यादिसे। निश्चित महाप्रलयमें प्राणके सद्भावका श्रवण होनेसे अधिक शंका करते हैं—"नासदासीये हि" इत्यादिसे। 'नासदासीत्' (असत् नहीं था) को आरंभ करके अधीत—पठित, ऐसा अर्थ है। तर्हि—तब प्रलयकालमें, मृत्युः—मारक या मृत्युमत् कार्य, नासीत् अमृतम्—देवभोग्य नहीं था। रात्रिका चिन्हभूत चन्द्रमा और दिवसका चिन्हभूत सूर्य नहीं थे, स्वधया—स्वधाके साथ, ऐसा अन्वय है। पितरोंके लिए देय अन्न स्वधा है। अथवा अपनेसे धारण की गई माया

भाष्य

मन्त्रवर्णो भवति 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' (ऋ० सं० ८।७।१७) इति । आनीदिति प्राणकर्मोपादानात् प्रागुत्पत्तेः सन्तमिव प्राणं सूचयति । तस्मादजः प्राण इति जायते कस्यचिन्मतिः । तामतिदेशेनापनुदति । आनीच्छब्दोऽपि न प्रागुत्पत्तेः प्राणसद्भावं सूचयति अवातमिति विशेषणात्, 'अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः' इति च मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वस्य दर्शितत्वात् । तस्मात् कारणसद्भावप्रदर्शनार्थ एवाऽयमानीच्छब्द इति । श्रेष्ठः इति च मुख्यं प्राणमभिदधाति, 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च (छा० ५।१।१) इति श्रुतिनिर्देशात् । ज्येष्ठश्च प्राणः, शुक्रनिषेककाला-

भाष्यका अनुवाद

प्रधान सूक्तमें ऐसी श्रुति है—'न मृत्युरासीदमृतम्०' (महाप्रलय कालमें मृत्यु नहीं थी, और अमृत भी नहीं था, रात्रि तथा दिवसके चिन्हभूत चन्द्र और सूर्य नहीं थे, स्वधाके साथ अर्थात् पितृदेय भी नहीं था, वह अकेला वातवर्जित [ब्रह्म] था, उससे पर अन्य कुछ नहीं था), 'आनीत्' यह शब्द प्राणकर्मका ग्रहण होनेसे उत्पत्तिके पूर्व प्राणका विद्यमानकी भांति सूचन करता है। इससे प्राण जन्मरहित है, ऐसा किसीका मत हो सकता है। उसको अतिदेशसे दूर करते हैं। 'आनीत्' शब्द भी उत्पत्तिके पूर्व प्राणके सद्भावको सूचित नहीं करता, क्योंकि 'अवातम्' (वातवर्जित) ऐसा विशेषण है और 'अप्राणोऽह्यमना शुभ्रः' (निस्सन्देह, वह प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध है) इस प्रकार मूलप्रकृति प्राण आदि समस्त विशेषोंसे शून्य है, ऐसा दिखलाया है। इसलिए कारणके सद्भावको दिखानेके लिए ही यह 'आनीत्' शब्द है। 'श्रेष्ठः' यह शब्द मुख्य प्राणका अभिधान करता है, क्योंकि 'प्राणो वाव०' (प्राण ही ज्येष्ठ

रत्नप्रभा

आसीदिति परमार्थः । अत्रानीदिति तच्चेष्टां कृतवदिति पूर्वपक्षार्थः । तस्माद्ब्रह्मणः परः परमुत्कृष्टमन्यच्च किमपि न बभूवेत्यर्थः । परिहारः सुबोधः । ननु श्रेष्ठशब्दस्य प्राणे प्रसिद्ध्यभावात्कथं सूत्रमिति, तत्राह—श्रेष्ठ इति चेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वधा है, उसके साथ वही एक ब्रह्म था, ऐसा परमार्थ है। यहांपर 'आनीत्' इसका उसने चेष्टा की, ऐसा पूर्वपक्षका अर्थ है, उस ब्रह्मसे पर अर्थात् उत्कृष्ट और अन्य कुछ नहीं था, ऐसा अर्थ है। परिहार सहजमें जाना जा सकता है। परन्तु श्रेष्ठ शब्दकी प्राणमें प्रसिद्धि न होनेसे

भाष्य

द्दारभ्य तस्य वृत्तिलाभात् । न चेत् तस्य तदानीं वृत्तिलाभः स्याद् योनौ निषिक्तं शुक्रं पूयेत न सम्भवेद् वा । श्रोत्रादीनां तु कर्णशष्कुल्यादिस्थान-विभागनिष्पत्तौ वृत्तिलाभान्न ज्येष्ठत्वम् । श्रेष्ठश्च प्राणो गुणाधिक्यात्—'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' (बृ० ६।१।१३) इति श्रुतेः ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

और श्रेष्ठ है) ऐसा श्रुतिका निर्देश है। प्राण ज्येष्ठ है, क्योंकि वीर्यनिषेक कालसे—गर्भाधान कालसे प्राणकी स्थिति होती है। यदि उस समय उसका अस्तित्व न होता, तो गर्भाशय में स्थापित वीर्य दूषित हो जाता या उसका संभव न होता। श्रोत्र आदि तो ज्येष्ठ नहीं हैं, क्योंकि कर्ण-शष्कुलि आदि स्थान-विभाग होनेपर उनका अस्तित्व होता है। और प्राण श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें गुणोंका आधिक्य है, कारण कि 'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' (तुम्हारे बिना हम नहीं जी सकते) ऐसी श्रुति है ॥८॥

रत्नप्रभा

श्रुतिं व्याचष्टे—**ज्येष्ठश्च प्राण इत्यादिना** । पूयेत—पूयं भवेत् । न संभवेत्तद्गर्भो न भवेदित्यर्थः । वागादिजीवनहेतुत्वं प्राणस्य गुणः । एवमानीच्छ्रुत्यविरोधा-त्प्राणोत्पत्तिश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वय इति सिद्धम् ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्र कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—"श्रेष्ठ इति च" इत्यादिसे। श्रुतिकी व्याख्या करते हैं—"ज्येष्ठश्च प्राणः" इत्यादिसे। पूयेत—दूषित होता। न संभवेत्—उसका गर्भ नहीं होता, ऐसा अर्थ है। वाणी आदिके जीवनका हेतु प्राणका गुण है। इस प्रकार 'आनीत्' इस श्रुतिके साथ विरोध न होनेसे प्राणोत्पत्ति श्रुतिका ब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ८ ॥



[५ वायुक्रियाधिकरण सू० ९–१२]

वायुर्वाऽक्षक्रिया वाऽन्यो वा प्राणः श्रुतितोऽनिलः ।
सामान्येन्द्रियवृत्तिर्वा सांख्यैरेवमुदीरणात् ॥ १ ॥
भाति प्राणो वायुनेति भेदोक्तेरेकताश्रुतिः ।
वायुजत्वेन सामान्यवृत्तिर्नाक्षेष्वतोऽन्यता ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्राण वायु है या इन्द्रियोंका सामान्य व्यापार है अथवा उन दोनोंसे पृथक् है ?

पूर्वपक्ष—'यः प्राणः स वायुः' इस श्रुतिसे प्राण वायु ही है अथवा इन्द्रियोंका सामान्य व्यापार है, क्योंकि सांख्योंने ऐसा कहा है ।

सिद्धान्त—'प्राणो वायुना भाति' (वायुसे प्राण अभिव्यक्त होता है) ऐसा श्रुतिमें वायु और प्राणके भेदका कथन है और एकताकी उपपत्ति कार्यकारणके अभेदसे होगी, वैसे करणोंके सामान्य व्यापारका सम्भव नहीं है, अतः वायु और उक्त व्यापारसे प्राण पृथक् है ।

---

* इसका विस्तृत अर्थ यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि वायु वेणुके छिद्रके समान मुखछिद्रमें प्रवेश कर प्राण नामसे प्रसिद्ध होता है न कि कोई प्राण अन्य पदार्थ है, अतः भगवती श्रुति इसी अर्थको कहती है—'यः प्राणः स वायुः' (जो प्राण है वह वायु ही है) अथवा जैसे पिंजरेमें रहनेवाले अनेक पक्षी अपने व्यापारसे पिंजरेको चलाते हैं, वैसे एकादश इन्द्रियाँ अपने अपने व्यापारसे देहको चलाती हैं, उसमें जो देहका चालनरूप सब इन्द्रियोंका सामान्य व्यापार है वही प्राण है अतः साङ्ख्योंने कहा है—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' (करणोंके सामान्य व्यापार प्राण, अपान आदि पाँच हैं) इससे प्राण अन्य तत्त्व नहीं है ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' इस प्रकारकी अन्य श्रुतिमें चतुष्पाद् ब्रह्मकी उपासनाके प्रसङ्गसे आध्यात्मिक प्राणका और आधिदैविक वायुका परस्पर उपकार्य-उपकारकभावरूपसे भेद स्पष्ट ही बतलाया है, इससे 'यः प्राणः स वायुः' यह अभेदप्रतिपादक श्रुति कार्यकारणके अभेदवृत्तिसे समझनी चाहिए। 'सामान्यकरणवृत्तिः' इससे जो साङ्ख्योंने कहा है वह असङ्गत है, क्योंकि इन्द्रियोंकी सामान्यवृत्ति नहीं हो सकती है । पक्षियोंके तो पिंजरेके चालनके अनुकूल एक प्रकारके चालनरूप व्यापार हो सकते हैं, परन्तु वैसा इन्द्रियोंका व्यापार नहीं हो सकता है, क्योंकि दर्शन, श्रवण और गमन आदि उनके व्यापार पृथक् पृथक् हैं और वे व्यापार चालनके अनुकूल भी नहीं हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राण अन्य वस्तु है ।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—न वायुक्रिये, पृथगुदेशात् ।

पदार्थोक्ति—न वायुक्रिये—मुख्यः प्राणः न वायुः, नापि क्रिया—इन्द्रिय-व्यापारः [किन्तु वायुविशेष एव, कुतः,] पृथगुपदेशात्—'स वायुना ज्योतिषा' इत्यादिना वायोः प्राणस्य च पृथगुपदेशात्, तथा 'एतस्माज्जायते प्राणः' इति श्रुत्या च इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशात् [नहीन्द्रियव्यापारस्य सतः इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो युज्यते, तस्माद् वायुविशेषोऽध्यात्मभावापन्नः पञ्चवृत्तिः प्राणः] ।

भाषार्थ—मुख्य प्राण वायु नहीं है और इन्द्रियव्यापार भी नहीं है, किन्तु वायु विशेष है, क्योंकि 'स वायुना ज्योतिषा' इत्यादि श्रुतिसे तथा 'एतस्माज्जायते प्राणः' इस श्रुतिसे भी वायु और प्राणका पृथक् पृथक् उपदेश है, इन्द्रियव्यापारका इन्द्रियोंसे पृथक् उपदेश नहीं हो सकता है, इसलिए अध्यात्मभावापन्न पञ्चवृत्ति ही प्राण है ।

भाष्य

स पुनः मुख्यः प्राणः किंस्वरूप इतीदानीं जिज्ञास्यते । तत्र प्राप्तं तावच्छ्रुतेर्वायुः प्राण इति । एवं श्रूयते—'यः प्राणः स एष वायुः स एष

भाष्यका अनुवाद

उस मुख्य प्राणका स्वरूप कैसा है, इसकी अब जिज्ञासा होती है ।

पूर्वपक्षी—श्रुतिसे ज्ञात होता है कि प्राण वायु है, क्योंकि ऐसी ही श्रुति है—'यः प्राणः स वायुः०' (जो प्राण है वह वायु है वह वायु पांच प्रकारका

रत्नप्रभा

इन्द्रियाणि विचार्य तद्व्यापारात् प्राणं पृथक्कर्तुमुत्पत्तिः अतिदिष्टा । संप्रति उत्पन्न-प्राणस्वरूपं पृथक्करोति—**न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्** । मुख्यः प्राणः किं वायुमात्रम्, उत करणानां साधारणव्यापारः, आहोस्वित् तत्त्वान्तरम् ? इति वायुप्राणयोर्भेदाभेदश्रुतीनां मिथोविरोधात् संशये पूर्वपक्षमाह—**तत्रेति** । द्वितीयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इन्द्रियोंका विचारकर उनके व्यापारसे प्राणको अलग करनेके लिए प्राणकी उत्पत्तिका अतिदेश किया गया है । अब उत्पन्न हुए प्राणके स्वरूपका पृथक्करण करते हैं—"न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्" इत्यादिसे । मुख्य प्राण क्या वायुमात्र है या इन्द्रियोंका साधारण व्यापार है या अन्यतत्व है ? इस प्रकार वायु और प्राणमें भेदश्रुति और अभेद श्रुतियोंके परस्पर विरोधसे संशय होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । दूसरे अर्थात् सांख्य पूर्वपक्ष

भाष्य

वायुः पञ्चविधः—प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' इति। अथवा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात् समस्तकरणवृत्तिः प्राण इति प्राप्तम्। एवं हि तन्त्रान्तरीया आचक्षते—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इति।

अत्रोच्यते—न वायुः प्राणो नापि करणव्यापारः। कुतः? पृथगुपदेशात्। वायोस्तावत् प्राणस्य पृथगुपदेशो भवति—'प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३।१८।४) इति। नहि वायुरेव सन् वायोः पृथगुपदिश्येत। तथा करणवृत्तेरपि पृथगुपदेशो भवति, वागादीनि करणान्यनुक्रम्य तत्र तत्र पृथक् प्राणस्याऽनुक्रमणात्, वृत्ति-

भाष्यका अनुवाद

है—प्राण, अपान व्यान, उदान और समान)। अथवा अन्य तन्त्रके अभिप्रायसे प्राण समस्त इन्द्रियोंकी वृत्ति है, ऐसा प्राप्त होता है। क्योंकि अन्य तन्त्रवाले ऐसा कहते हैं—इन्द्रियोंकी सामान्यवृत्ति—प्राण आदि पाँच वायु हैं।

सिद्धान्ती—यहांपर कहते हैं—प्राण वायु नहीं है और उसी प्रकार इन्द्रियोंका व्यापार भी नहीं है। किससे? पृथक् उपदेशसे। प्राणोंका वायुसे पृथक् उपदेश है—'प्राण एव०' (प्राण ही ब्रह्मका चौथा पाद है, वह वायुरूप ज्योतिद्वारा अभिव्यक्त होता है और तपता है) यदि प्राण वायुरूप ही होता, तो वायुसे उसका पृथक् उपदेश नहीं किया जाता। इसी प्रकार इन्द्रियोंकी वृत्तिसे भी प्राणका

रत्नप्रभा

सांख्यपूर्वपक्षमाह—**अथ वेति**।

सिद्धान्तत्वेन सूत्रमादत्ते—**अत्रोच्यत इति**। मनोरूपब्रह्मणो वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रैश्चतुष्पात्त्वं श्रुतावुक्तं। तत्र प्राणो वायुनाधिदैविकेन भात्यभिव्यज्यते अभिव्यक्तः संस्तपति—कार्यक्षमो भवतीत्यर्थः। श्रुतिषु तत्र तत्र प्राणस्य वागादीनां च मिथःसंवादलिङ्गेन पृथगुत्पत्तिलिङ्गेन च इन्द्रियतदभिन्नव्यापारेभ्योऽपि भिन्नत्वमित्याह—**तथेति**। प्राणस्येन्द्रियवृत्तित्वं श्रुत्या निरस्य युक्त्यापि निरस्यति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। सिद्धान्तरूपसे सूत्रका ग्रहण करते हैं—"अत्र उच्यते" इत्यादिसे। मनोरूप ब्रह्मके वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये चार पाद श्रुतिमें कहे गये हैं। [जैसे मार्गमें गाय पगसे चलती है, वैसे वाक् आदि द्वारा अपने विषयोंमें मन प्रवृत्त होता है] उसमें प्राण आधिदैविक वायु द्वारा अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्त होकर अपने व्यापारमें प्रवृत्त होता है—कार्यक्षम होता है, ऐसा अर्थ है। श्रुतियोंमें तत्र तत्र प्राण और वागादिके

भाष्य

वृत्तिमतोश्चाऽभेदात् । नहि करणव्यापार एव सन् करणेभ्यः पृथगुपदिश्येत । तथा 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुः' (मु० २।१।३) इत्येवमादयोऽपि वायोः करणेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशा अनुसर्तव्याः । नच समस्तानां करणानामेका वृत्तिः संभवति, प्रत्येकमेकैकवृत्तित्वात्, समुदायस्य चाऽकारकत्वात् । ननु पञ्जरचालनन्यायेनैतद्भविष्यति—यथैकपञ्जरवर्तिन एकादशपक्षिणः प्रत्येकं प्रतिनियतव्यापाराः सन्तः संभूयैकं पञ्जरं चालयन्ति, एवमेकशरीरवर्तिन एकादश प्राणाः प्रत्येकं प्रतिनियतवृत्तयः सन्तः संभूयैकां प्राणाख्यां वृत्तिं प्रतिलप्स्यन्त इति । नेत्युच्यते—युक्तं तत्र

भाष्यका अनुवाद

पृथक् उपदेश है, क्योंकि वाक् आदि इन्द्रियोंका उपक्रम कर तत्-तत् प्रकरणमें पृथक् अनुक्रम है, और वृत्ति और वृत्तिमान्‌का अभेद है। यदि प्राण इन्द्रियोंका व्यापार ही होता, तो उसका इन्द्रियोंसे पृथक् उपदेश नहीं किया जाता। उसी प्रकार 'एतस्माज्जायते प्राणो०' (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियाँ, आकाश और वायु उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियोंका, जिनमें वायुसे और इन्द्रियोंसे प्राणका पृथक् उपदेश है, उनका भी अनुसरण करना चाहिए। और समस्त इन्द्रियोंकी एक वृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रत्येककी पृथक् एक एक वृत्ति है और समुदाय कारक नहीं है। परन्तु पञ्जरचालन न्यायसे ऐसा होगा—जैसे एक पिंजरेमें रहनेवाले ग्यारह पक्षी प्रत्येक पृथक् पृथक् व्यापारवाले हैं, तो भी इकट्ठे होकर पिंजरेको हिलाते हैं; इसी प्रकार एक शरीरमें रहनेवाले ग्यारह प्राण प्रत्येक पृथक् पृथक् व्यापारवाले हैं, तो भी इकट्ठे होकर एक प्राणसंज्ञक व्यापार प्राप्त करेंगे, नहीं, ऐसा हम कहते हैं। प्रत्येकमें रहनेवाले पिंजरा हिलानेके अनुरूप

रत्नप्रभा

न च समस्तानामिति । या चक्षुःसाध्या वृत्तिः सैव न श्रोत्रादिसाध्या, करणानां प्रत्येकमेकैकरूपग्रहादिवृत्तावेव हेतुत्वात् । न च समुदायस्य वृत्तिः संभवति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

परस्पर संवादरूप लिंगसे और पृथक् उत्पत्तिरूप लिंगसे ये प्राण इन्द्रियोंसे और इन्द्रियोंसे अभिन्न व्यापारोंसे भी भिन्न हैं, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। प्राण इन्द्रियोंकी वृत्ति है, इसका श्रुतिसे निरसन करके युक्तिसे भी निरसन करते हैं—"न च समस्तानाम्" इत्यादिसे। जो व्यापार नेत्रेन्द्रियसे साध्य है वही व्यापार श्रोत्र आदिसे साध्य नहीं है, क्योंकि इन्द्रियोंमेंसे प्रत्येक एक एक रूपग्रहण आदि व्यापारका हेतु है और इन्द्रियसमुदायका व्यापार नहीं हो

भाष्य

प्रत्येकवृत्तिभिरवान्तरव्यापारैः पञ्जरचालनानुरूपैरेवोपेताः पक्षिणः संभूयैकं पञ्जरं चालयेयुरिति, तथा दृष्टत्वात्। इह तु श्रवणाद्यवान्तरव्यापारोपेताः प्राणा न संभूय प्राण्युरिति युक्तम्, प्रमाणाभावात्, अत्यन्तविजातीयत्वाच्च श्रवणादिभ्यः प्राणनस्य। तथा प्राणस्य श्रेष्ठत्वाद्युद्घोषणम्, गुणभावोपगमश्च तं प्रति वागादीनाम्, न करणवृत्तिमात्रे प्राणेऽवकल्पते, तस्मादन्यो वायुक्रियाभ्यां प्राणः। कथं तर्हीयं श्रुतिः—'यः प्राणः स वायुः' इति। उच्यते—वायुरेवाऽयमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनाऽवतिष्ठमानः

भाष्यका अनुवाद

अवान्तर व्यापारोंसे युक्त पक्षी इकट्ठे होकर एक पिंजरेको हिलावें यह युक्त है, क्योंकि वैसा देखा जाता है। यहां तो श्रवण आदि अवान्तर व्यापारोंसे युक्त प्राण इकट्ठे होकर प्राणन व्यापार करें, यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण नहीं है और श्रवण आदिसे प्राणन व्यापार अत्यन्त विजातीय है, इसी प्रकार प्राणको श्रेष्ठ कहना और वाक् आदि इन्द्रियोंको उसका अंग मानना यह प्राणके इन्द्रिय व्यापारमात्र होनेपर नहीं घट सकता, इससे सिद्ध हुआ कि वायु और क्रियासे प्राण अन्य है। तब 'यः प्राणः स वायुः' (जो प्राण है, वह वायु है) इस श्रुतिकी क्या व्यवस्था होगी? कहते हैं—यह वायु ही अध्यात्मभावको प्राप्त

रत्नप्रभा

तस्यासत्त्वादित्यर्थः। **प्रमाणाभावादिति**। श्रोत्रादीनामेकप्राणनाख्यवृत्त्यनुकूलपरिस्पन्देषु मानाभावात्, श्रवणादीनामपरिस्पन्दत्वेन विजातीयानां, परिस्पन्दरूपप्राणनाननुकूलत्वादवान्तरव्यापाराभावाच्च समस्तकरणवृत्तिः प्राण इत्यर्थः। किञ्च प्राणस्य करणवृत्तित्वे वागादीनामेव प्राधान्यं वाच्यं, नैतदस्तीत्याह—**तथा प्राणस्येति**। यथा मृदो घटो न वस्त्वन्तरं नापि मृन्मात्रं तद्विकारत्वात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकता, क्योंकि वह नहीं है, ऐसा अर्थ है। "प्रमाणाभावात्" इत्यादि। श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके एक प्राणनसंज्ञक व्यापारके अनुकूल परिस्पन्दमें चलनादि व्यापारोंमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि परिस्पन्दनरूप न होनेसे प्राणनसे विजातीय श्रवण आदिका प्राणनरूप प्रधान व्यापारके अनुरूप न होनेके कारण अवान्तर व्यापार नहीं है, इसलिए प्राणन समस्त इन्द्रियोंका व्यापार नहीं है, ऐसा अर्थ है। और यदि प्राण इन्द्रियका व्यापार माना जाय, तो वाक् आदिका ही प्राधान्य कहना पड़ेगा, परन्तु वह संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तथा प्राणस्य" इत्यादिसे। जैसे

भाष्य

प्राणो नाम भण्यते, न तत्त्वान्तरं नापि वायुमात्रम्, अतश्चोभे अपि भेदाभेद-श्रुती न विरुध्येते ॥ ९ ॥

स्यादेतत्—प्राणोऽपि तर्हि जीववदस्मिन् शरीरे स्वातन्त्र्यं प्राप्नोति, श्रेष्ठत्वाद् गुणभावोपगमाच्च तं प्रति वागादीनामिन्द्रियाणाम्। तथा ह्यनेक-विधा विभूतिः प्राणस्य श्राव्यते—'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एवैको हि जागर्ति प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः प्राणः संवर्गो वागादीन् संवृङ्क्ते प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्' इति। तस्मात् प्राणस्यापि जीववत् स्वातन्त्र्य-प्रसङ्गः। तं परिहरति—

भाष्यका अनुवाद

होकर पांच अवस्थावाला होकर विशेष स्वरूपसे स्थित हुआ प्राण कहा जाता है, वह अन्य तत्त्व नहीं है और वायुमात्र भी नहीं है। इससे भेद श्रुति और अभेद श्रुति दोनों विरुद्ध नहीं हैं ॥ ९ ॥

परन्तु तब प्राण भी इस शरीरमें जीवके समान स्वतन्त्र है, क्योंकि वह श्रेष्ठ है और वाक् आदि इन्द्रियां उसके अंग हैं। क्योंकि प्राणकी अनेक प्रकारकी विभूतियां श्रुतिमें प्रतिपादित हैं—'सुप्तेषु वागादिषु०' (निश्चय, वागादि इन्द्रियोंके लीन होनेपर प्राण अकेला जागता है, प्राण ही अकेला मृत्युसे आप्त नहीं होता, वाग् आदिका संहरण करता है अतः प्राण संवर्ग है, जैसे माता पुत्रोंका रक्षण करती है वैसे प्राण अन्य प्राणोंका रक्षण करता है, इसलिए प्राण जीवके समान स्वतन्त्र है ऐसा प्रसक्त होता है, उसका परिहार करते हैं—

रत्नप्रभा

तथा वायोर्विकारः प्राण इत्यभेदश्रुतेर्गतिमाह—उच्यत इति। देहं प्राप्तः पञ्चावस्थो विकारात्मना स्थितो वायुरेव प्राण इत्यर्थः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मृत्तिकासे घट अन्य वस्तु नहीं है, और मृत्तिकामात्र भी नहीं है, क्योंकि उसका विकार है वैसे ही प्राण वायुका विकार है, इस अभेद श्रुतिकी व्यवस्था कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। देहमें प्राप्त अपान आदि पांच अवस्थावाला विकाररूपसे स्थित वायु ही प्राण है, ऐसा अर्थ है ॥ ९ ॥

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

पदच्छेद—चक्षुरादिवत्, तु, तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—तु-शब्दः उक्तशङ्कानिरासार्थः । [प्राणो न जीववत्स्वतन्त्रः किन्तु] चक्षुरादिवत्—यथा चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि करणत्वेन परतन्त्राणि तद्वत् [अयमपि प्राणः पराधीन एव, कुतः ?] प्राणसंवादप्रकरणे तैः चक्षुरादिभिः सहाऽस्य शिष्टेः—अनुशासनात्, तदादिभ्यः—अचेतनत्वादिभ्यो हेतुभ्यः ।

भाषार्थ—प्राण जीवात्माके समान स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु चक्षु आदि करणके समान पराधीन है, क्योंकि प्राणोंके संवादके प्रकरणमें चक्षु आदिके साथ प्राणका कथन है और प्राणमें अचेतनत्व आदिका प्रतिपादन है ।

भाष्य

तुशब्दः प्राणस्य जीववत् स्वातन्त्र्यं व्यावर्तयति । यथा चक्षुरादीनि राजप्रकृतिवज्जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रत्युपकरणानि न स्वतन्त्राणि, तथा मुख्योऽपि प्राणो राजमन्त्रिवज्जीवस्य सर्वार्थकरत्वेनोपकरणभूतो न स्वतन्त्रः । कुतः ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । तैश्चक्षुरादिभिः सहैव प्राणः

भाष्यका अनुवाद

'तु' शब्द जीवके समान प्राणकी स्वतन्त्रताकी व्यावृत्ति करता है । राजसेवकके समान चक्षु आदि इन्द्रियां जैसे जीवके कर्तृत्व और भोक्तृत्वके प्रति उपकरण हैं, स्वतन्त्र नहीं, वैसे ही मुख्य प्राण भी राजाके मंत्रीके समान जीवका सर्वार्थ साधक होनेसे उपकरण भूत है, स्वतन्त्र नहीं है । किससे ? उसके साथ इसका शासन आदि होनेसे । प्राण संवाद आदिमें उनके-चक्षु आदिके साथ

रत्नप्रभा

प्राणस्य करणवृत्तित्वाभावे जीववद्भोक्तृत्वं स्यादिति शङ्कते—**स्यादेतदिति** । प्राणो न भोक्ता, भोगोपकरणत्वात्, चक्षुरादिवत्, इतिसूत्रार्थमाह—**तुशब्द इत्यादिना** । यथा बृहद्रथन्तरयोः सर्वत्र सहप्रयुज्यमानत्वेन सामत्वेन वा साम्यात्सह-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि प्राण इन्द्रियोंका व्यापार नहीं माना जाय, तो वह जीवके समान भोक्ता होगा, ऐसी शंका करते है—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । प्राण भोक्ता नहीं है, भोगका साधन होनेसे, चक्षु आदिके समान, ऐसा सूत्रका अर्थ कहते हैं—"तुशब्दः" इत्यादिसे । जैसे बृहत् और रथन्तरका सर्वत्र साथ प्रयोग और साम होनेके कारण दोनोंके सादृश्य होनेसे साथ पाठ होता है, वैसे ही

भाष्य

शिष्यते प्राणसंवादादिषु, समानधर्माणां च सह शासनं युक्तं बृहद्रथन्तरादिवत्। आदिशब्देन संहतत्वाचेतनत्वादीन् प्राणस्य स्वातन्त्र्यनिराकरणहेतून् दर्शयति ॥ १० ॥

स्यादेतत्—यदि चक्षुरादिवत् प्राणस्य जीवं प्रति करणभावोऽभ्युपगम्येत, विषयान्तरं रूपादिवत् प्रसज्येत—रूपाद्यालोचनादिभिर्वृत्तिभिर्यथास्वं चक्षुरादीनां जीवं प्रति करणभावो भवति। अपि चैकादशैव कार्यजातानि रूपालोचनादीनि परिगणितानि, यदर्थमेकादश प्राणाः संगृहीताः। नतु द्वादशमपरं कार्यजातमवगम्यते, यदर्थमयं द्वादशः प्राणः प्रतिज्ञायेतेति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

ही प्राणका शासन है और समान धर्मवालोंका ही एक साथ शासन होना युक्त है, बृहत् और रथन्तर आदिके समान। आदिशब्दसे संहतत्व, अचेतनत्व आदि प्राणके स्वातन्त्र्यका निराकरण करनेवाले हेतु दिखलाते हैं ॥१०॥

यदि चक्षु आदिके समान प्राणका भी जीवके प्रति करणभाव स्वीकार किया जाय, तो रूपादिके समान उसके भी अन्य विषयकी प्राप्ति होगी। रूपादिके आलोचनादि अपनी वृत्तियों द्वारा चक्षु आदिके जीवके प्रति करणभावकी प्राप्ति होती है। और रूपके आलोचन आदि ग्यारह कार्यसमूहोंकी ही गणना की गई है (जिनके लिए ग्यारह प्राणोंका संग्रह किया गया है। किन्तु बारहवां दूसरा कार्य ज्ञात नहीं होता, जिसके लिए इस बारहवें प्राणकी प्रतिज्ञा की जाय, ऐसी शंका होनेपर सूत्रकार 'अकरणत्वाच्च' इत्यादि सूत्रसे उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

पाठः तथा करणैः सह उपकरणत्वेन साम्यात् प्राणस्य पाठः इति न हेत्वसिद्धिरित्यर्थः। किञ्च प्राणो न भोक्ता, सावयवत्वात्, जडत्वात्, भौतिकत्वात् च, देहवत् ॥१०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपकरण होनेके कारण इन्द्रियोंके साथ प्राणका सादृश्य होनेसे प्राणका इन्द्रियोंके साथ पाठ है, इसलिए हेतु असिद्ध नहीं है, ऐसा अर्थ है। और प्राण भोक्ता नहीं है, सावयव जड़ और भौतिक होनेसे, देह के समान ॥१०॥

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ॥११॥

पदच्छेद—अकरणत्वात्, च, न, दोषः, तथा, हि, दर्शयति ।

पदार्थोक्ति—अकरणत्वात्—प्राणस्य ज्ञानकरणत्वरहितत्वात्, न दोषः—चक्षुरादिवद्विषयान्तरप्रसङ्गलक्षणदोषो न [भवति, न च तावता प्राणस्य कार्याभाव इति शङ्क्यम्] हि—यतः तथा—शरीरेन्द्रियस्थितिलक्षणं कार्यम् 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच' इत्यादिश्रुतिः दर्शयति—प्रतिपादयति ।

भाषार्थ—प्राणके ज्ञानमें करण न होनेसे चक्षु आदिके समान अन्य विषयके प्रसङ्गका दोष नहीं है, प्राणका कोई कार्य नहीं है, ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'तान् वरिष्ठः०' इत्यादिश्रुति शरीर और इन्द्रियके धारणरूप कार्यको बतलाती है ।

भाष्य

न तावद् विषयान्तरप्रसङ्गो दोषः, अकरणत्वात् प्राणस्य । नहि चक्षुरादिवत् प्राणस्य विषयपरिच्छेदेन करणत्वमभ्युपगम्यते । न चाऽस्यैतावता

भाष्यका अनुवाद

अन्य विषयकी प्राप्ति होना दोष नहीं है, क्योंकि प्राण अकरण हैं, चक्षु आदिके समान विषयके परिच्छेदसे—विषयके निश्चयसे प्राणमें करणत्व नहीं माना जा सकता । इतनेसे—विषयपरिच्छेदके अभाव होनेके कारण

रत्नप्रभा

ननु यद्भोगोपकरणं तत् सविषयं दृष्टं यथा चक्षुरादिकं, प्राणस्य तु निर्विषयत्वादसाधारणकार्याभावाच्च नोपकरणत्वमिति शङ्कते—**स्यादेतदिति** । उक्तव्याप्तेः शरीरे व्यभिचाराद्देहेन्द्रियधारणोत्क्रान्त्याद्यसाधारणकार्यसत्त्वाच्च निर्विषयस्यापि प्राणस्य शरीरवद्भोगोपकरणत्वमक्षतम्, न तु चक्षुरादिवज्ज्ञानकर्मकरणत्वमस्ति येन सविषयत्वं स्यादिति परिहरति—**न तावदित्यादिना** । अहं श्रेयसि—स्वस्य श्रेष्ठतानिमित्तम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो भोगका उपकरण है वह लोकमें चक्षु आदिके समान सविषय देखा जाता है, प्राण तो निर्विषय है और उसका कोई असाधारण कार्य नहीं है, अतः वह उपकरण नहीं हो सकता, ऐसी शङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । उक्त व्याप्तिका शरीरमें व्यभिचार है और प्राणके असाधारणकार्य—देह और इन्द्रियका धारण, उत्क्रमण आदि हैं, अतः प्राणके निर्विषय होनेपर भी शरीरकी भांति उसमें भोगोपकरणता अक्षत है, परन्तु चक्षु आदिके समान प्राणमें ज्ञानरूप कर्मकी करणता नहीं है

भाष्य

कार्याभाव एव। कस्मात्? तथा हि श्रुतिः प्राणान्तरेष्वसंभाव्यमानं मुख्य-प्राणस्य वैशेषिकं कार्यं दर्शयति प्राणसंवादादिषु। 'अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे' इत्युपक्रम्य 'यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः' (छा० ५।१।६-७) इति चोपन्यस्य प्रत्येकं वागाद्युत्क्रमणेन तद्वृत्तिमात्रहीनं यथापूर्वं जीवनं दर्शयित्वा प्राणोच्चिक्रमिषायां वागादिशैथिल्यापत्तिं शरीरपातप्रसङ्गं च दर्शयन्ती श्रुतिः प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियस्थितिं दर्शयति। 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति च एतमेवार्थं श्रुतिराह। 'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' (बृ० ४।३।१२) इति च सुप्तेषु चक्षुरादिषु प्राण-

भाष्यका अनुवाद

कार्यका अभाव नहीं हो सकता। किससे? क्योंकि श्रुति अन्य प्राणोंमें न होनेवाला मुख्य प्राणका विशिष्ट कार्य प्राणसंवाद आदिमें दिखलाती है। 'अथ ह प्राणाः०' (अनन्तर प्राणोंने अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद किया) इसका उपक्रम करके 'यस्मिन् वा०' (तुममेंसे जिसका उत्क्रमण होनेपर शरीर पापिष्ठतर-सा दीखे वह तुममें श्रेष्ठ है) ऐसा उपन्यास करके प्रत्येक वाक् आदिके उत्क्रमणसे केवल उसकी वृत्तिमात्रहीन पूर्वकी तरह जीवन दिखलाकर प्राणके उत्क्रमण करनेकी इच्छा करनेपर वाक् आदिकी शिथिलताका और शरीरपातका प्रसंग दिखलाती हुई श्रुति शरीर और इन्द्रियोंकी स्थिति प्राणनिमित्त ही है, ऐसा दिखलाती है। 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच०' (उनसे मुख्य प्राणने कहा—अविवेकसे अभिमान मत करो, मैं ही अपने स्वरूपके पांच विभाग करके इस कार्यकरणसंघातरूप शरीरको अवलम्बन करके धारण करता हूँ) यह श्रुति भी इसी अर्थको कहती है। 'प्राणेन रक्षन्नवरं०' (प्राण द्वारा निकृष्ट शरीरका रक्षण करता हुआ) इस प्रकार श्रुति चक्षु आदिके लीन

रत्नप्रभा

व्यूदिरे—विवादं चक्रिरे। तद्वृत्तिमात्रहीनमिति। मूकादिभावेन स्थितमित्यर्थः। अवरम्—नीचं, कुलायम्—देहाख्यं गृहम्, प्राणेन रक्षन् जीवः स्वपितीत्यर्थः। तदैव—

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिससे प्राण सविषय हो, इस प्रकार परिहार करते हैं—"न तावत्" इत्यादिसे। अहं श्रेयसि—अपनी श्रेष्ठताके लिए। व्यूदिरे—विवाद किया। "तद्वृत्तिमात्रहीनम्" इत्यादि। मूकादि-भावसे स्थित, ऐसा अर्थ है। अवर—नीच। कुलाय—देहसंज्ञक घर। प्राणसे रक्षा करता

भाष्य

निमित्तां शरीररक्षां दर्शयति । 'यस्मात् कस्माच्चाऽङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति' (बृ० १।३।१९)। 'तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति' इति च प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियपुष्टिं दर्शयति। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' इति, 'स प्राणमसृजत' इति च प्राणनिमित्ते जीवस्योत्क्रान्तिप्रतिष्ठे दर्शयति ॥११॥

भाष्यका अनुवाद

होनेपर प्राणसे शरीरकी रक्षा दिखलाती है। 'यस्मात् कस्माच्चाङ्गात्०' (जिस किसी अंगसे प्राण उत्क्रमण करता है, उसी समय वह अंग शुष्क—नीरस हो जाता है), और 'तेन यदश्नाति०' (उस प्राणद्वारा जीव जो खाता है और जो पीता है उससे अन्य प्राणोंका रक्षण करता है) इस प्रकार श्रुति प्राणनिमित्त शरीरकी और इन्द्रियोंकी पुष्टि दिखलाती है। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त०' (किसके देहसे उत्क्रान्त होनेपर मैं उत्क्रान्त होऊँगा और किसके देहमें प्रतिष्ठित होनेपर मैं प्रतिष्ठित होऊँगा) यह विचार कर 'स प्राणमसृजत०' (उसने प्राणको उत्पन्न किया) यह श्रुति जीवकी उत्क्रान्ति और प्रतिष्ठा प्राणनिमित्तक है, ऐसा दिखलाती है ॥११॥

रत्नप्रभा

तदानीमेव। तेन प्राणेन यदश्नाति जीवस्तेन प्राणकृताशनेनेति यावत् ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हुआ जीव सोता है, ऐसा अर्थ है। तदेव—तभी। तेन यदश्नाति—उस प्राणसे जीव जो भोजन करता है उस प्राणकृत भोजन द्वारा, ऐसा अर्थ है ॥११॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥१२॥

पदच्छेद—पञ्चवृत्तिः, मनोवत्, व्यपदिश्यते।

पदार्थोक्ति—मनोवत्—यथा मनसः श्रोत्रादिनिमित्ताः शब्दादिविषयाः पञ्चवृत्तयः तद्वत् [प्राणोऽपि] पञ्चवृत्तिः—प्राणादिपञ्चवृत्तिः ['प्राणोऽपानो०' इत्यादिश्रुतिषु] व्यपदिश्यते—उपदिश्यते।

भाषार्थ—जिस प्रकार श्रोत्र आदिके निमित्तसे अन्तःकरणकी शब्द आदि विषयक पांच वृत्तियाँ होती हैं, उसी प्रकार 'प्राणोऽपानो०' इत्यादि श्रुतिमें प्राणकी भी प्राण आदिके भेदसे पांच वृत्तियां कही गई हैं।

भाष्य

इतश्चाऽस्ति मुख्यस्य प्राणस्य वैशेषिकं कार्यम्, यत्कारणं पञ्चवृत्तिरयं व्यपदिश्यते श्रुतिषु—'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' (बृ० १।५।३) इति। वृत्तिभेदश्चायं कार्यभेदापेक्षः—प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा, अपानोऽवाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा, व्यानस्तयोः संधौ वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतुः, उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः, समानः समं सर्वेष्वङ्गेषु योऽन्नरसान्नयतीति। एवं पञ्चवृत्तिः प्राणो मनोवत्—यथा मनसः पञ्चवृत्तय एवं प्राणस्याऽपीत्यर्थः। श्रोत्रादिनिमित्ताः शब्दादिविषया मनसः पञ्च वृत्तयः प्रसिद्धाः, न तु कामः संकल्प इत्याद्याः परिपठिताः परिगृह्येरन्, पञ्चसंख्या-

भाष्यका अनुवाद

और इस कारणसे भी मुख्य प्राणका विशेष कार्य है, क्योंकि श्रुतियोंमें प्राण पांच वृत्तिवाला कहा जाता है—'प्राणोऽपानो०' (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) इस भेदसे। और यह वृत्तिभेद कार्यभेदकी अपेक्षासे है। प्राण प्राग्वृत्ति—जिसका व्यापार नासिकासे बाहर निकलता है और उच्छ्वास आदि कर्म करनेवाला है। अपान अवाग्वृत्ति—जिसका व्यापार भीतर आकर्षण है और निश्वास आदि कर्म करता है। व्यान इन दोनोंकी सन्धिमें रहता हुआ और वीर्यवान् कर्मका हेतु है। उदान ऊर्ध्व वृत्तिवाला है और उत्क्रान्ति आदिका हेतु है। जो सब अवयवोंमें अन्नरसोंको ले जाता है, वह समान है। इस प्रकार मनके समान प्राण भी पांच वृत्तिवाला है। जैसे मनकी पांच वृत्तियां हैं वैसे प्राणकी भी पांच वृत्तियां हैं, ऐसा अर्थ है। श्रोत्रादिनिमित्तक शब्दादिविषयक मनकी, पांच वृत्तियां प्रसिद्ध हैं, परन्तु काम, संकल्प आदि 'कामः' इत्यादि श्रुतिमें पठित मनकी वृत्तियोंका यहां ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि काम आदि वृत्तिकी संख्या

रत्नप्रभा

एवं श्रुतेः प्राणस्यासाधारणं कार्यमस्ति इति उक्तम् तत्रैव हेत्वन्तरार्थं सूत्रं व्याचष्टे—इतश्चेत्यादिना। वृत्तिः—अवस्था। अग्निमन्थनादिकम्—वीर्यवत्कर्म। कामादिवृत्तिवत् ज्ञानेऽपि पञ्चत्वनियमो नास्तीत्यरुचिं स्वयमेवोद्भाव्य पक्षान्तरं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार श्रुतिसे प्राणका असाधारण कार्य है, ऐसा कहा है। अब इसमें अन्य हेतुके लिए सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"इतश्च" इत्यादिसे। वृत्ति—अवस्था। अग्निमन्थन आदि वीर्यवत् कार्य हैं। काम आदि वृत्तिके समान ज्ञानमें भी पंचत्व नियम नहीं है, इस प्रकार अरुचि दिखलाकर अन्य पक्षका ग्रहण करते हैं—"नन्वत्रापि" इत्यादिसे।

भाष्य

तिरेकात् । नन्वत्रापि श्रोत्रादिनिरपेक्षा भूतभविष्यदादिविषयाऽपरा मनसो वृत्तिरस्तीति समानः पञ्चसंख्यातिरेकः । एवं तर्हि 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इति न्यायादिहापि योगशास्त्रप्रसिद्धा मनसः पञ्चवृत्तयः परिगृह्यन्ते—'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' (पा० यो० सू० १।१।६) नाम । बहुवृत्तित्वमात्रेण वा मनः प्राणस्य निदर्शनमिति द्रष्टव्यम् । जीवोपकरणत्वमपि प्राणस्य पञ्चवृत्तित्वान्मनोवदिति वा योजयितव्यम् ॥१२॥

भाष्यका अनुवाद

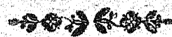
पांचसे अधिक हो जायगी । परन्तु ज्ञानमें भी श्रोत्रादिकी जिनको अपेक्षा नहीं है और भूत, भविष्यत् आदि जिनके विषय हैं, ऐसी मनकी दूसरी वृत्तियां हैं, इस प्रकार पांचकी संख्यामें अधिकता समान है । यदि ऐसा हो, तो 'परमतमप्रतिषिद्ध०' (यदि परमत प्रतिषिद्ध न हो, तो वह अनुमत होता है) इस न्यायसे यहां भी योगशास्त्रमें प्रसिद्ध मनकी पांच वृत्तियोंका परिग्रहण होता है—'प्रमाणविपर्ययविकल्प०' (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति) । अथवा अनेक वृत्तिवाला होनेसे ही मन प्राणका दृष्टान्त है, ऐसा समझना चाहिए । प्राण भी जीवका उपकरण है, पांचवृत्तिवाला होनेसे, मनके समान, ऐसी योजना करनी चाहिए ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

गृह्णाति—**नन्वत्रापीत्यादिना** । प्रमाणं—प्रमितिः, विपर्ययः—भ्रमः, शशविषाणादिज्ञानम्—विकल्पः, तामसी वृत्तिः—निद्रा, स्मृतिः प्रसिद्धा । भ्रमनिद्रयोरविद्यावृत्तित्वात् न मनोवृत्तित्वमित्यरुच्या स्वमतमाह—**बह्विति** । सूत्रस्यार्थान्तरमाह—**जीवेति** । तदेवं प्राणवाय्वोः भेदाभेदश्रुत्योः अविरोध इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रमाण—प्रमिति । विपर्यय—भ्रम । शशविषाण आदिका ज्ञान विकल्प है । तामसी वृत्ति निद्रा है । स्मृति प्रसिद्ध है । भ्रम और निद्रा ये अविद्यावृत्ति होनेसे मनोवृत्ति नहीं हैं, ऐसी अरुचिसे अपना मत कहते हैं—"बहु" इत्यादिसे । सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"जीव" इत्यादिसे । इस प्रकार प्राण और वायुकी भेदाभेदश्रुतियोंमें विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥१२॥



[६ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण सू० १३]

प्राणोऽयं विभुरल्पो वा विभुः स्यात् प्लुष्युपक्रमे ।
हिरण्यगर्भपर्यन्ते सर्वदेहे समोक्तितः ॥ १ ॥
समष्टिव्यष्टिरूपेण विभुरेवाधिदैविकः ।
आध्यात्मिकोऽल्पः प्राणः स्याददृश्यश्च यथेन्द्रियम् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—यह प्राण विभु है या परिच्छिन्न है ?

पूर्वपक्ष—व्यापक है, क्योंकि प्लुषी और मशकसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्य्यन्त सब देहोंमें समानताका कथन है ।

सिद्धान्त—आधिदैविक प्राण भले ही समष्टिरूपसे व्यापक हो, परन्तु आध्यात्मिक प्राण तो इन्द्रियोंके समान परिच्छिन्न और अदृश्य है ।

अणुश्च ॥ १३ ॥

पदच्छेद—अणुः, च ।

पदार्थोक्ति—[पूर्वोक्तो मुख्यः प्राणः] अणुः—परिच्छिन्नः, च—अपि, सूक्ष्मः इत्यर्थः ।

भाषार्थ—पूर्व अधिकरणमें उक्त मुख्य प्राण अणु है अर्थात् परिच्छिन्न और सूक्ष्म है ।

---

* भाव यह है कि प्लुषि—मशकसे भी छोटा पुत्तिका नामवाला जीव, उससे लेकर हिरण्यगर्भपर्य्यन्त सब शरीरोंमें उन उन देहोंके साथ प्राणके तुल्यत्वका श्रवण होता है, जैसे 'समः प्लुषिणा समो मशकेन' इत्यादिसे । इसलिए प्राण व्यापक है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं कि आधिदैविक हिरण्यगर्भके प्राणकी व्यष्टि और समष्टिरूपसे अवस्थिति होनेके कारण वह भले ही व्यापक रहे, क्योंकि 'वायुरेव व्यष्टिः वायुरेव समष्टिः' ऐसी श्रुति है, वही विभुत्व 'समः प्लुषिणा' इत्यादि श्रुतिमें प्रपञ्चित है, परन्तु आध्यात्मिक प्राण तो इन्द्रियोंके समान अदृश्य और परिच्छिन्न है ।

भाष्य

अणुश्चाऽयं मुख्यः प्राणः प्रत्येतव्यः, इतरप्राणवत् । अणुत्वं चेहाऽपि सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ, न परमाणुतुल्यत्वम् । पञ्चभिर्वृत्तिभिः कृत्स्नशरीरव्यापित्वात्—सूक्ष्मः प्राण उत्क्रान्तौ पार्श्वस्थेनानुपलभ्यमानत्वात् । परिच्छिन्नश्च, उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिभ्यः ।

ननु विभुत्वमपि प्राणस्य समाम्नायते—'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण' (बृ० १।३।२२) इत्येवमादिप्रदेशेषु ।

भाष्यका अनुवाद

अन्य प्राणोंके समान मुख्य प्राण भी अणु है, ऐसा जानना चाहिए। यहां भी अणुत्व सूक्ष्मत्व और परिच्छेद है, परमाणुतुल्यत्व नहीं है। क्योंकि मुख्य पांच वृत्तियों द्वारा समस्त शरीरमें व्याप्त है, प्राण सूक्ष्म है, क्योंकि उत्क्रान्तिके समय समीप स्थित लोगोंसे उपलब्ध नहीं होता। परिच्छिन्न भी है, क्योंकि उत्क्रान्ति, गति और आगतिकी श्रुतियां हैं।

पूर्वपक्षी—श्रुतिमें प्राणका विभुत्व भी कहा जाता है—'समः प्लुषिणा०' (पुत्तिकाके समान, मच्छड़के समान, हाथीके समान, इन तीनों लोकोंके समान, इन सबके समान) इत्यादि प्रदेशोंमें।

रत्नप्रभा

एवं मुख्यप्राणस्य उत्पत्तिं स्वरूपं च उक्त्वा परिमाणसंदेहे अणुत्वम् उपदिशति—**अणुश्चेति** । अधिकाशङ्कामाह—**ननु विभुत्वमपीति** । प्लुषिः—मशकादपि सूक्ष्मो जन्तुः पुत्तिकेत्युच्यते । नागः—हस्ती । 'प्राण उत्क्रामति' इति श्रुत्या अल्पत्वं प्राणस्य भाति, 'समोऽनेन सर्वेण'इति श्रुत्या विभुत्वम् इति विरोधे आध्यात्मिकप्राणस्य अल्पत्वम्, आधिदैविकस्य विभुत्वम्, इति विषयभेदात् श्रुत्योः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार मुख्य प्राणकी उत्पत्ति और स्वरूप कहकर परिमाणमें सन्देह होनेपर अणुत्वका उपदेश करते हैं—"अणुश्च" इत्यादिसे। अधिककी आशङ्का करते हैं—"ननु विभुत्वम्" इत्यादिसे। प्लुषि—मशकसे भी छोटा जन्तु जो पुत्तिका नामसे कहा जाता है। नाग—हाथी। 'प्राण उत्क्रामति' (प्राण उत्क्रमण करता है) इस श्रुतिसे प्राण अल्प है, ऐसा समझा जाता है। 'समोऽनेन सर्वेण' (इन सबके समान) इस श्रुतिसे प्राण विभु है, इस प्रकार विषयके भेदसे श्रुतियां अविरुद्ध हैं, ऐसा समाधान करते हैं—"तदुच्यते" इत्यादिसे। किंच, उपक्रममें भी प्राण पुत्तिका

भाष्य

तदुच्यते—आधिदैविकेन समष्टिव्यष्टिरूपेण हैरण्यगर्भेण प्राणात्मनैवैतद् विभुत्वमाम्नायते नाऽऽध्यात्मिकेन। अपि च समः प्लुषिणेत्यादिना साम्यवचनेन प्रतिप्राणिवर्तिनः प्राणस्य परिच्छेद एव प्रदर्श्यते तस्माददोषः ॥१३॥

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती उसपर कहते हैं—आधिदैविक समष्टिरूप और व्यष्टिरूप, हिरण्यगर्भके प्राणस्वरूपसे ही यह विभुत्व श्रुतिमें कहा है, आध्यात्मिक स्वरूपसे नहीं। और 'पुत्तिकाके समान है'—इत्यादि तुल्यताके वचनसे प्रत्येक प्राणीमें रहनेवाले प्राणका परिच्छेद ही दिखलाया है इसलिए दोष नहीं है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

अविरोध इति समाधत्ते—तदुच्यत इति। किंच उपक्रमे प्राणस्य प्लुष्यादिसमत्वेनाल्पत्वोक्तेः सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः इति विराड्देहसाम्यम्, समोऽनेनेति सूत्रात्मत्वम् इति विषयव्यवस्था सुस्थेत्याह—अपि चेति। अणवश्चेत्यत्र 'सर्वेऽनन्ता' इति इन्द्रियानन्त्यम् उपासनार्थम् इति समाहितम्, अत्र तु प्राणविभुत्वम् आधिदैविकम् इति समाधानान्तरोक्तेः अपौनरुक्त्यम्। अन्ये तु प्रसङ्गात् तत्र सांख्याक्षेपो निरस्तः, अत्र तु श्रुतिविरोधो निरस्त इत्यपौनरुक्त्यमाहुः ॥१३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिके समान है, इस प्रकार उसके अल्पत्वके कथनसे 'इन तीनों लोकोंके समान' इस प्रकार विराडात्मा देहके समान कही गई है। 'इन सबके समान' इस प्रकार सूत्रात्मा कही गई है, इस तरह विषयव्यवस्था युक्त है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। 'अणवश्च' इस सूत्रमें 'प्राणाः सर्वेऽनन्ताः' इस श्रुतिमें इन्द्रियोंकी जो अनन्तता कही गई है, वह उपासनाके लिए है, ऐसा समाधान किया है। यहां तो प्राणका विभुत्व आधिदैविक है, इस प्रकार अन्य समाधान कहा है, इससे पुनरुक्ति नहीं है। दूसरे टीकाकार कहते हैं कि वहां प्रसंगसे सांख्यके आक्षेपका निराकरण किया है और यहां श्रुतिके विरोधका निरसन किया है, इस प्रकार पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥१३॥



[७ ज्योतिराद्यधिकरण सू० १४–१६]

स्वतन्त्रा देवतन्त्रा वा वागाद्याः स्युः स्वतन्त्रता ।
नोचेद्वागादिजो भोगो देवानां स्यान्न चात्मनः ॥ १ ॥
श्रुतमग्न्यादितन्त्रत्वं भोगोऽग्न्यादेस्तु नोचितः ।
देवदेहेषु सिद्धत्वाज्जीवो भुङ्क्ते स्वकर्मणा ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—वाक् आदि इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हैं या देवके अधीन ?

पूर्वपक्ष—स्वतन्त्र हैं, यदि स्वतन्त्र नहीं होवें, तो वागादिजन्य भोग देवोंको ही होगा जीवात्माको नहीं होगा ।

सिद्धान्त—वागादि परतन्त्र हैं, क्योंकि श्रुतिमें अग्नि आदि देवताओंके अधीन वे कहे गये हैं, अग्नि आदिको भोगका प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि देवदेहोंमें उनका भोग सिद्ध है, अतः जीव ही अपने कर्मके अनुसार भोग करता है ।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

पदच्छेद—ज्योतिराद्यधिष्ठानम्, तु, तदामननात् ।

पदार्थोक्ति—ज्योतिराद्यधिष्ठानम्—ज्योतिरादिभिः—आदित्यादिदेवताभिः अधिष्ठीयते—प्रेर्य्यत इति, आदित्यादिदेवताधिष्ठितमेव [चक्षुरादीन्द्रियजातं चेष्टते, कुतः ?] तदामननात्—तस्य देवताधिष्ठितत्वस्य 'आदित्यश्चक्षुः' इत्यादि श्रुत्याऽभिधानात् ।

भाषार्थ—चक्षु आदि इन्द्रियोंकी आदित्यादि देवताओंके अधीन चेष्टा होती है, क्योंकि 'आदित्यश्चक्षुः' इत्यादि श्रुतिसे उसका प्रतिपादन है ।

---

* सारांश यह है कि वागादि इन्द्रियाँ अपने अपने विषयमें स्वातन्त्र्यसे प्रवृत्त होती हैं अर्थात् देवपरतन्त्र नहीं हैं, अन्यथा वागादिजन्य भोग देवोंको ही प्रसक्त होगा और जीवात्मामें भोक्तृत्व नहीं होगा, ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादि श्रुतियोंमें वागादि अग्नि आदिसे अनुगृहीत हैं, ऐसा प्रतीत होता है, इससे ज्ञात होता है कि देवतापरतन्त्र ही इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति है। इससे देवोंमें भोक्तृत्वका प्रसङ्ग आवेगा, यह नहीं कह सकते, क्योंकि बड़े पुण्यसे देवत्वको जो प्राप्त हुए हैं, उनकी अधम भोगमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती और देवताओंके शरीरमें उच्च भोग सिद्ध है। मनुष्य आदि जीव तो देवताओं द्वारा प्रेरित इन्द्रियोंसे सम्पादित अपने कर्मके फलका भोग करते हैं, अतः यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियाँ देवपरतन्त्र हैं ।

भाष्य

ते पुनः प्रकृताः प्राणाः किं स्वमहिम्नैव स्वस्मै स्वस्मै कार्याय प्रभवन्ति आहोस्विद् देवताधिष्ठिताः प्रभवन्तीति विचार्यते ।

तत्र प्राप्तं तावद्—यथास्वं स्वकार्यशक्तियोगात् स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति । अपि च देवताधिष्ठितानां प्राणानां प्रवृत्तावभ्युपगम्य-

भाष्यका अनुवाद

क्या वे प्रकृत प्राण अपनी महिमासे ही अपने अपने कार्यके लिए शक्तिमान् होते हैं या देवतासे अधिष्ठित होकर शक्तिमान् होते हैं ? इसका विचार किया जाता है ।

पूर्वपक्षी—अपनी कार्यशक्तिके योगसे अपनी महिमासे ही अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं । और देवतासे अधिष्ठित होकर प्राणोंकी प्रवृत्ति स्वीकार करनेपर उस

रत्नप्रभा

पूर्वं प्राणस्य आध्यात्मिकाधिदैविकविभागेनापि अणुत्वविभुत्वव्यवस्था उक्ता, तत्प्रसङ्गेन आध्यात्मिकानां प्राणानाम् आधिदैविकाधीनत्वमाह—**ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्** । 'वाचा हि नामान्यभिवदति चक्षुषा रूपाणि पश्यति' इति तृतीया-श्रुत्या अन्वयव्यतिरेकवत्या वागादीनां निरपेक्षसाधनत्वोक्तिविरोधात् 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्यादिश्रुतिः तेषाम् अचेतनाग्न्याद्युपादानकत्वपरा, न तु तेषाम् अधिष्ठातृदेवतापरा । न च स्वकार्ये शक्तानापि वागादीनामचेतनत्वात् अधिष्ठात्रपेक्षा न विरुध्यत इति वाच्यम्, जीवस्य अधिष्ठातृत्वात् । किञ्च देवतानामधिष्ठातृत्वे जीववद्भोक्तृत्वम् अस्मिन् देहे स्यात्, तथा च एकत्र अनेकभोक्तॄणां विरोधाद् दुर्बलस्य जीवस्य भोक्तृत्वं न स्यात् इति पूर्वपक्षार्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वमें प्राणके आध्यात्मिक और आधिदैविक विभागसे अणुत्व-विभुत्वकी व्यवस्था कही गई है । अब उसके प्रसंगसे आध्यात्मिक प्राण आधिदैविकके अधीन हैं, ऐसा कहते हैं—"ज्योतिराद्य-धिष्ठानम्" इत्यादिसे । 'वाचा हि नामानि०' (वाणीसे नामोंका उच्चारण करता है और नेत्रसे रूप देखता है) इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकयुक्त तृतीया श्रुतिसे वाक् आदिके निरपेक्ष साधनत्वके कथनका विरोध है, इसलिए 'अग्निर्वाग्भूत्वा' (अग्नि वाणी होकर) इत्यादि श्रुति अग्नि आदि अचेतन उनके उपादान हैं, ऐसा प्रतिपादन करती है, अधिष्ठाता देवता है, ऐसा प्रतिपादन नहीं करती, ऐसा समझना चाहिए । और अपने कार्यमें समर्थ होनेपर भी वाक् आदि अचेतन होनेसे अधिष्ठाताकी अपेक्षा रखते हैं, इससे विरोध नहीं है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जीव अधिष्ठाता है । और देवताओंके अधिष्ठाता होनेपर जीवके समान वे इस देहमें भोक्ता

भाष्य

मानायां तासामेवाऽधिष्ठात्रीणां देवतानां भोक्तृत्वप्रसङ्गाच्छारीरस्य भोक्तृत्वं प्रलीयेत, अतः स्वमहिम्नैवैषां प्रवृत्तिरिति ।

एवं प्राप्त इदमुच्यते—'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु' इति । तुशब्देन पूर्वपक्षो व्यावर्त्यते । ज्योतिरादिभिरग्न्याद्यभिमानिनीभिर्देवताभिरधिष्ठितं वागादिकरणजातं स्वकार्येषु प्रवर्तत इति प्रतिजानीते । हेतुं च व्याचष्टे—तदामननादिति । तथा ह्यामनन्ति—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्यादि । अग्नेश्चायं वाग्भावो मुखप्रवेशश्च देवतात्मनाऽधिष्ठातृत्वमङ्गीकृत्योच्यते, नहि देवतासम्बन्धं प्रत्याख्याय अग्नेः वाचि मुखे वा कश्चित् विशेष-

भाष्यका अनुवाद

अधिष्ठात्री देवताको ही भोक्तृत्व प्राप्त होनेसे शारीरका भोक्तृत्व जाता रहेगा, इसलिए अपनी महिमासे ही ये प्रवृत्त होते हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु' । तुशब्दसे पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति की जाती है । ज्योति आदिसे–अग्नि आदि अभिमानिनी देवताओंसे अधिष्ठित वाक् आदि इन्द्रियाँ अपने कार्यमें प्रवृत्त होती हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं । हेतुका व्याख्यान करते हैं—'तदामननात्' । क्योंकि श्रुतियां कहती हैं—'अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्नि वाक् होकर मुखमें प्रविष्ट हुई) इत्यादि । अग्निका वाक् होना और मुखमें प्रवेश होना, यह देवतास्वरूपसे अधिष्ठातृत्वका अंगीकार करके कहा जाता है, क्योंकि देवतासंबन्धका

रत्नप्रभा

सिद्धान्तयति—**एवं प्राप्त इत्यादिना** । अग्निर्वाग्भूत्वादित्यश्चक्षुर्भूत्वेति च तद्भावः अत्र अग्न्यादिदेवताधिष्ठेयत्वरूप एव सम्बन्धो न तदुपादानकत्वरूपः, दूरस्थादित्यमण्डलादेः मुखस्थचक्षुराद्युपादानत्वासंभवात्, इत्याह—**अग्नेश्चायमिति** । वायुः

रत्नप्रभाका अनुवाद

होंगे, इसलिए एक स्थानमें अनेक भोक्ताओंके विरोधसे दुर्बल जीव भोक्ता नहीं होगा, ऐसा पूर्वपक्षका अर्थ है । सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्त" इत्यादिसे । "अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्नि वाणी होकर, आदित्य चक्षु होकर) ऐसा जो तद्भाव है, वह प्रकृतमें अग्नि आदि अधिष्ठाता हैं, ऐसा सम्बन्ध ही विवक्षित है, उनका उपादानकत्वरूप सम्बन्ध विवक्षित नहीं है, क्योंकि दूरस्थ आदित्यमण्डल आदि मुखस्थ चक्षु आदिके उपादान हों, यह संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अग्नेश्चायम्" इत्यादिसे । वायु प्राणका अधिष्ठाता होकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ, इस प्रकार व्याख्यान

भाष्य

सम्बन्धो दृश्यते । तथा 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्येवमाद्यपि योजयितव्यम् । तथान्यत्रापि 'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३।१८।३) इत्येवमादिना वागादीनामग्न्यादिज्योतिष्ट्वादिवचनेनैतमेवार्थं द्रढयति । 'स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्' (बृ० १।३।१२) इति चैवमादिना वागादीनामग्न्यादिभावापत्तिवचनेनैतमेवार्थं द्योतयति । सर्वत्र चाऽध्यात्माधिदैवतविभागेन वागाद्यग्न्याद्यनुक्रमणमनयैव प्रत्यासत्त्या भवति । स्मृतावपि—

भाष्यका अनुवाद

प्रत्याख्यान करके अग्निका वाणी या मुखमें कोई विशेष सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार 'वायुः प्राणो भूत्वा' (वायु प्राण होकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ) इत्यादिकी भी योजना करनी चाहिए। इसी प्रकार अन्यत्र भी 'वागेव ब्रह्मण-श्चतुर्थः०' (वाणी ही ब्रह्मका चौथा पाद है, वह अग्निरूप ज्योतिसे भासता है और स्वकार्य करता है) इत्यादिसे वाक् आदिका अग्नि आदि ज्योति हैं, इत्यादि वचनसे इसी अर्थको श्रुति दृढ़ करती है। 'स वै वाचमेव०' (वह प्राण उद्गीथ कर्ममें प्रधानभूत वाणीको मृत्युसे छुड़ाकर ले गया, वह वाणी जब मृत्युसे मुक्त हुई, तब अग्नि हो गई) इत्यादि श्रुति वाक् आदिमें अग्नि आदि भावके बोधक वचनसे इसी अर्थको सूचित करती है। और सर्वत्र अध्यात्म और अधिदैवत विभाग द्वारा वाक् आदि और अग्नि आदिका अनुक्रमण इसी प्रत्या-

रत्नप्रभा

प्राणाधिष्ठाता भूत्वा नासापुटे प्राविशत् इति व्याख्येयम् इति आह—**तथेति** । भाति—दीप्यते, तपति—स्वकार्यं करोतीत्यर्थः। एतस्मिन् अधिष्ठात्रधिष्ठेयत्वरूपार्थे लिङ्गान्तर-माह—**स वै वाचमिति** । स प्राणः वाचं प्रथमाम्—उद्गीथकर्मणि प्रधानाम् अनृतादिपाप्मरूपं मृत्युमतीत्य अवहत्—मृत्युना मुक्तां कृत्वा अग्निदेवतात्मत्वं प्रापितवान् इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

करना चाहिए ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। भाति प्रकाशित होता है, तपति—अपना कार्य करता है, ऐसा अर्थ है। अग्नि आदि अधिष्ठाता हैं और वाक् आदि अधिष्ठेय हैं, इस अर्थमें अन्य लिंग कहते हैं—"स वै वाचम्" इत्यादिसे। वह प्राण प्रथम वाणीको अर्थात् उद्गीथ कर्ममें जो प्रधान है, उसको अनृतादि पापरूप मृत्युसे छुड़ाकर ले गया अर्थात् मृत्युसे मुक्त करके अग्निदेवतात्मरूपमें पहुँचा दिया, ऐसा अर्थ है। किंच 'मृतस्याग्नि०'

भाष्य

'वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥'

इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं सप्रपञ्चं दर्शितम् । यदुक्तम्—स्वकार्यशक्तियोगात् स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति, तदयुक्तम्, शक्तानामपि शकटादीनामनड्हा[दा]द्यधिष्ठितानां प्रवृत्तिदर्शनात् । उभयथोपपत्तौ चाऽऽगमाद् वागादीनां देवताधिष्ठितत्वमेव निश्चीयते ॥ १४ ॥

यदप्युक्तम्—देवतानामेवाधिष्ठात्रीणां भोक्तृत्वप्रसङ्गो न शारीरस्येति तत् परिह्रियते—

भाष्यका अनुवाद

सत्ति—सान्निध्यसे होता है । स्मृतिमें भी 'वागध्यात्ममिति०' (तत्त्वदर्शी ब्राह्मण वाणीको अध्यात्म कहते हैं, वक्तव्यको अधिभूत कहते हैं और इसमें वह्निको अधिदैवत कहते हैं) इत्यादिसे वाक् आदि अग्नि आदि देवताओंसे अधिष्ठित हैं, ऐसा सविस्तर दिखलाया गया है । अपनी कार्यशक्तिके योगसे अपनी ही महिमासे प्राण प्रवृत्त होंगे, ऐसा जो कहा गया है, वह अयुक्त है, क्योंकि शकट आदि यद्यपि शक्त हैं, तो भी बैल आदिसे अधिष्ठित होनेपर ही उनमें प्रवृत्ति देखी जाती है । और दोनों प्रकारसे उपपत्ति होनेपर भी आगमसे वाक् आदिमें देवताधिष्ठितत्वका निश्चय होता है ॥ १४ ॥

और जो ऐसा कहा गया है कि अधिष्ठात्री देवताओंमें ही भोक्तृत्वका प्रसङ्ग होगा, शारीर—जीवको नहीं होगा, उसका परिहार करते हैं—

रत्नप्रभा

किञ्च 'मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः, चक्षुरादित्यम्' इत्यादिश्रुतिरपि अधिष्ठात्रधिष्ठेयत्वसंबन्धं द्योतयति इत्याह—**सर्वत्रेति** । ननु शकटादीनां बलीवर्दादिप्रेरितानां प्रवृत्तिः दृष्टा, क्षीरादीनां त्वनधिष्ठितानामपि दध्यादिप्रवृत्तिर्दृश्यते, तथा च उभयथा संभवे कथं निश्चयः, तत्राह—**उभयथोपपत्तौ चेति** ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

(मृत पुरुषकी वाणी अग्निमें, प्राण वायुमें और चक्षु आदित्यमें प्रलीन होता है) इत्यादि श्रुति भी अधिष्ठाता और अधिष्ठेयका सम्बन्ध ही दिखलाती है, ऐसा कहते हैं—"सर्वत्र" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि शकट आदिकी बैल आदि द्वारा प्रवृत्ति देखी जाती है और क्षीर आदि तो अधिष्ठित नहीं हैं, तो भी दधि आदिमें उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है, इसप्रकार उभयथा संभव होनेसे निश्चय किस प्रकार होगा? इसपर कहते हैं—"उभयथोपपत्तौ च" इत्यादिसे । अन्य दोष जो कहा है उसका निरसन करनेके लिए सूत्रका अवतरण करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे ॥१४॥

प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

पदच्छेद—प्राणवता, शब्दात् ।

पदार्थोक्ति—प्राणवता—जीवेन [सह इन्द्रियाणां स्वस्वामिभावसम्बन्धो वर्तते, अतश्चेन्द्रियसाध्यभोगभागित्वं जीवस्यैव, नेन्द्रियाधिष्ठातृदेवतानाम्, कुतः ?] शब्दात्—'स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः' इत्यादि श्रुतेः ।

भाषार्थ—प्राणवान् जीवके साथ इन्द्रियोंका स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है, अतः इन्द्रियोंसे होने वाला भोगका भागी जीव है, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देव नहीं हैं, क्योंकि 'स चाक्षुषः पुरुषो०' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

भाष्य

सतीष्वपि प्राणानामधिष्ठात्रीषु देवतासु प्राणवता कार्यकरणसंघातस्वामिना शारीरेणैवैषां प्राणानां सम्बन्धः श्रुतेरवगम्यते। तथा हि श्रुतिः—'अथ यत्रै-तदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्' (छा० ८।१२।४) इत्येवंजातीयका

भाष्यका अनुवाद

प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवताओंके रहनेपर भी प्राणवाले कार्यकरणसंघातके स्वामी शारीर—जीवसे ही प्राणोंका सम्बन्ध श्रुतिसे ज्ञात होता है। जैसे कि 'अथ यत्रैतादाकाश०' (देहमें प्राणके प्रवेश होनेके अनन्तर जिस [कृष्ण तारासे उप-लक्षित] देहच्छिद्रमें चक्षु-इन्द्रिय प्रविष्ट होता है, उस चक्षुमें अभिमानी वह आत्मा चाक्षुष है, उसको रूपकी उपलब्धि होनेके लिए चक्षु करण है । मैं यह सूंघता हूँ, ऐसा जो जाने, वह आत्मा है, उसको गन्धका ज्ञान होनेके लिए नासिका है) इस

रत्नप्रभा

उक्तदोषान्तरनिरासाय सूत्रम् अवतारयति—**यद्पीति** । **शारीरेणैवेति** । भोक्त्रेति शेषः । संबन्धो भोक्तृभोग्यभावः । अथ देहे प्राणप्रवेशानन्तरं यत्र गोलके एतच्छिद्रमनुप्रविष्टं चक्षुरिन्द्रियम्, तत्र चक्षुषि अभिमानी स आत्मा चाक्षुषः तस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त अन्य दोषके वारणके लिए सूत्रका अवतरण करते हैं "यद्यपि" इत्यादिसे । "शारीरेणैव" इत्यादि । शारीर जो भोक्ता है, उससे, इतना शेष समझना चाहिए । सम्बन्ध—भोक्तृभोग्यभाव । देहमें प्राणप्रवेशके अनन्तर जिस गोलकगत छिद्रमें चक्षुरिन्द्रिय प्रविष्ट है उस चक्षुमें अभिमानी जो आत्मा है वह चाक्षुष है उसको रूपदर्शनके लिए चक्षु है । यद्यपि

भाष्य

शारीरेणैव प्राणानां सम्बन्धं श्रावयति । अपि चाऽनेकत्वात् प्रतिकरणमधिष्ठात्रीणां देवतानां न भोक्तृत्वमस्मिञ्शरीरेऽवकल्पते । एको ह्ययमस्मिन् शरीरे शारीरो भोक्ता प्रतिसंधानादिसंभवादवगम्यते ॥१५॥

भाष्यका अनुवाद

प्रकारकी श्रुति शारीरसे ही प्राणोंका संबन्ध है, ऐसा श्रवण कराती है और प्रत्येक करणमें अधिष्ठात्री देवताओंके अनेक होनेसे उनका भोक्तृत्व इस शरीरमें नहीं हो सकता, क्योंकि इस शरीरमें एक ही शारीर भोक्ता है, ऐसा प्रतिसंधान आदिके सम्भवसे समझा जाता है ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

रूपदर्शनाय चक्षुः । यद्यपि आत्मा करणानि अपेक्षते, तथापि ज्ञेयज्ञानतदाश्रयाहंकारान् यो वेद स आत्मा चिद्रूप एव, करणानि तु गन्धादिप्रवृत्तये अपेक्ष्यन्ते, न चैतन्याय इति श्रुत्यर्थः । किञ्च 'योऽहं रूपमद्राक्षं स एवाहं शृणोमि' इति प्रतिसंधानात् एकः शारीर एव भोक्ता, न बहवो देवा इत्याह—**अपिचेति** ॥१५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मा इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखता है, तो भी ज्ञेय, ज्ञान और तदाश्रय अहंकारको जो जानता है वह आत्मा चिद्रूप ही है, करणोंकी गन्धादि प्रवृत्तिके लिए अपेक्षा है, चैतन्यके लिए नहीं है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है । और 'जिस मैंने रूपको देखा है, वही मैं श्रवण करता हूँ' ऐसा प्रतिसन्धान होनेसे एक शारीर ही भोक्ता है, अनेक देवता भोक्ता नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥ १५ ॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥१६॥

पदच्छेद—तस्य, च, नित्यत्त्वात् ।

पदार्थोक्ति—च, अपि, तस्य—जीवस्य [स्वधर्मार्जिते काये कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च] नित्यत्वात्—सदातनत्वात् [नास्मिन् शरीरे देवतानां भोक्तृत्वम्]

भाषार्थ—और जीवके अपने धर्मोपार्जित शरीरमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व द्वारा नित्य—सदा होनेसे इस शरीरमें देवताओंका भोक्तृत्व नहीं है

भाष्य

तस्य च शारीरस्याऽस्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वेन नित्यत्वम्—पुण्यपापोपलेपसंभवात् सुखदुःखोपभोगसंभवाच्च, न देवतानाम्। ता हि परस्मिन्नैश्वर्ये पदेऽवतिष्ठमाना न हीनेऽस्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वं प्रतिलब्धुमर्हन्ति। श्रुतिश्च भवति—'पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति' (बृ० १।५।२) इति। शारीरेणैव च नित्यः प्राणानां सम्बन्धः, उत्क्रान्त्यादिषु तदनुवृत्ति-

भाष्यका अनुवाद

और वह अर्थात् शारीर इस शरीरमें भोक्तारूपसे नित्य है, क्योंकि उसमें पुण्य और पापके लेपका संभव है, और सुख और दुःखके उपभोगका संभव है, देवताओंका शरीरके साथ नित्य संबन्ध नहीं है, क्योंकि परम ऐश्वर्य पदमें रहनेवाले हीन शरीरमें भोक्तृत्व प्राप्त करें, यह युक्त नहीं है। श्रुति भी है—'पुण्यमेवामुं गच्छति०' (प्राजापत्य पदमें स्थित देवताओंको पुण्य ही प्राप्त होता है, पाप प्राप्त नहीं होता) इत्यादि। और शारीरसे ही प्राणोंका नित्य संबन्ध है, क्योंकि 'तमुत्क्रान्तं०' (उसके उत्क्रमण करनेके अनन्तर प्राण उत्क्रमण करता है और प्राणके उत्क्रमणके

रत्नप्रभा

कदाचित् देवानामत्र भोक्तृत्वम्, कदाचित् जीवस्य इति अनियमः अस्तु इत्याशङ्क्य स्वकर्मार्जिते देहे जीवस्य भोक्तृत्वनियमात् मा एवम् इत्याह सूत्रकारः—**तस्य चेति**। उत्क्रमणादिषु जीवस्य प्राणाव्यभिचारात् तस्यैव प्राणस्वामित्वं, देवतानां तु परस्वामिकरथसारथिवत् अधिष्ठातृत्वमात्रम् इति व्याख्यान्तरम् आह—**शारीरेणैव च नित्य इति**। यथा प्रदीपादिः करणोपकारकतया करणपक्षस्यान्तर्गतः तथा देवाः करणोपकारिण एव न भोक्तार इत्यर्थः। जीवस्य अदृष्टद्वारा करणाधिष्ठातृत्वात् रथस्वामिवद् भोक्तृत्वम्, देवानां तु करणोपकाराभिज्ञतया सारथिवत् अधिष्ठा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस शरीरमें कभी देवताओंका भोक्तृत्व और कभी जीवका, इस प्रकार अनियम प्राप्त होगा, ऐसी आशंका करके स्वकर्मोंसे उपार्जित देहमें जीव भोक्ता है, ऐसा नियम होनेसे अनियम नहीं है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"तस्य च" इत्यादिसे। उत्क्रमण आदिमें जीव प्राणसे व्यभिचरित नहीं होता है, इसलिए वही प्राणोंका स्वामी है, देवता तो दूसरेके सारथिके समान केवल अधिष्ठाता हैं, ऐसा दूसरा व्याख्यान करते हैं—"शारीरेणैव च नित्यः" इत्यादिसे। जैसे प्रदीप आदि करणोंके उपकारक होनेसे करणपक्षमें अन्तर्गत हैं, वैसे ही देवता करणोंके उपकारक ही हैं, भोक्ता नहीं हैं, ऐसा अर्थ है। अदृष्ट द्वारा जीव इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है,

भाष्य

दर्शनात् । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्मात् सतीष्वपि करणानां नियन्त्रीषु देवतासु न शारीरस्य भोक्तृत्वमपगच्छति । करणपक्षस्यैव हि वता न भोक्तृपक्षस्येति ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

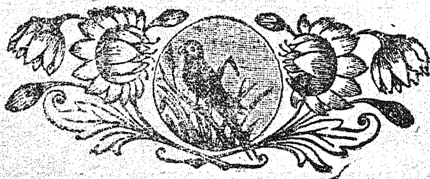
पश्चात् सब प्राण—इन्द्रियां उत्क्रमण करती हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे उत्क्रान्ति आदिमें उनकी अनुवृत्ति देखी जाती है । इसलिए यद्यपि इन्द्रियोंके नियामक देवता हैं, तो भी शारीरका भोक्तृत्व नहीं जाता है, क्योंकि करणपक्षके ही देवता हैं, भोक्तृपक्षके नहीं हैं ॥ १६ ॥

रत्नप्रभा

तृत्वमिति न जीवेन अन्यथासिद्धिः । देवानामधिष्ठातृत्वेन अस्मिन्देहे भोक्तृत्वानुमानं तु 'न ह वै देवान् पापं गच्छति' इत्युक्तश्रुतिबाधितम् । तस्मात् 'चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति' इति श्रुतेः साधनत्वमात्रबोधित्वात् 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्याद्यधिष्ठातृदेवतापेक्षाबोधकश्रुतिभिरविरोध इति सिद्धम् ॥ १६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए रथस्वामीके समान भोक्ता है, देवता तो प्रकाशके समान इन्द्रियोंके उपकारक होनेसे सारथीके समान अधिष्ठाता हैं, इस प्रकार जीवसे देवता अन्यथासिद्ध नहीं हैं। देवताओंके अधिष्ठातृत्व होनेसे इस देहमें वे भोक्ता हैं, यह अनुमान तो 'न ह वै देवान्०' इस उक्त श्रुतिसे बाधित है, इसलिए 'चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति' (नेत्रसे रूप देखता है) यह श्रुति साधनमात्रका बोध कराती है, इससे 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्यादि अधिष्ठातृदेवताकी अपेक्षाका बोध करानेवाली श्रुतियोंसे विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है ॥ १६ ॥



[८ इन्द्रियाधिकरण सू० १७-१९]

प्राणस्य वृत्तयोऽक्षाणि प्राणात्तत्त्वान्तराणि वा ।
तद्रूपत्वश्रुतेः प्राणनाम्नोक्तत्वाच्च वृत्तयः ॥ १ ॥
श्रमाश्रमादिभेदोक्तेर्गौणे तद्रूपनामनी ।
आलोचकत्वेनान्यानि प्राणो नेताऽक्षदेहयोः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—इन्द्रियाँ प्राणकी वृत्तियाँ हैं या प्राणसे अन्य तत्व हैं ?

पूर्वपक्ष—इन्द्रियाँ प्राणकी वृत्तियाँ हैं, क्योंकि तद्रूपताकी श्रुति है और प्राण-शब्दसे उनका—इन्द्रियोंका व्यवहार होता है ।

सिद्धान्त—प्राणसे इन्द्रियाँ पृथक् हैं, क्योंकि श्रम और अश्रम आदिके भेदसे कथन है, अत एव प्राणरूपता और प्राणनाम जो इन्द्रियोंका कहा गया है वह उपचारमात्र समझना चाहिए, और इन्द्रियाँ आलोचक हैं और प्राण देह एवं इन्द्रियोंका नेता है ।

---

* भाव इस प्रकार है—वागादि इन्द्रियाँ मुख्य प्राणकी वृत्तियाँ हो सकती हैं, क्योंकि उनमें प्राणरूपताकी श्रुति है—'हन्ताऽस्यैव सर्वे रूपमसाम' (हर्ष ! हम सब इन्द्रियाँ इसी प्राणके रूप हों) इत्यादि । किञ्च, लोकमें प्राणशब्दसे इन्हीं इन्द्रियोंका व्यवहार होता है । और श्रुति भी इन्द्रियोंको प्राणनामसे कहती है—'न वै वाचः, न चक्षूंषि, न श्रोत्राणि, न मनांसि, इत्याचक्षते, प्राणा इत्येवाचक्षते' इत्यादि । इसलिए प्राणसे अन्य इन्द्रियाँ नहीं हैं ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त—'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे । तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्' इत्यादि श्रुतियोंसे वाक् आदि इन्द्रियोंके अपने अपने विषयमें श्रमको कहकर 'अथेममेव नाऽऽप्नोत् योऽयं मध्यमः प्राणः यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथते' यह श्रुति प्राणमें श्रमके अभावको कहती है, यह एक भेद है । इसी प्रकार प्राणसंवादमें वागादिके निर्गमन और प्रवेशमें देहके मरण और उत्थानका अभाव कहकर प्राणके निर्गमन और प्रवेशमें देहका मरण और उत्थान कहा है, इसलिए ऐसे भेदोंके कथनसे वागादिमें प्राणरूपता और प्राणशब्दका व्यवहार गौण है । और इन्द्रियाँ सेवकन्यायसे प्राणका अनुवर्तन करती हैं और व्यवहारमें प्राण और इन्द्रियोंका बहुतसा भेद उपलब्ध होता है । अपने अपने विषयोंके परिच्छेदद्वारा इन्द्रियाँ आलोचक हैं और प्राण तो इन्द्रियोंका और देहका नेता है, इससे—अत्यन्त वैलक्षण्यसे प्राणसे इन्द्रियाँ भिन्न हैं ।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥

पदच्छेद—ते, इन्द्रियाणि, तद्व्यपदेशात्, अन्यत्र, श्रेष्ठात् ।

पदार्थोक्ति—श्रेष्ठात्—मुख्यात्प्राणात् अन्यत्र—अन्ये [अपि प्रकृताः] ते—वागादयः, इन्द्रियाणि—इन्द्रियशब्दवाच्यानीत्युच्यन्ते [न प्राणः कुतः ?] 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिषु प्राणस्य इन्द्रियेभ्यो भेदेन व्यपदेशात् ।

भाषार्थ—मुख्य प्राणसे अन्य वागादि इन्द्रियशब्दसे कहे जाते हैं, प्राण-शब्दसे नहीं, क्योंकि 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि श्रुतिमें उस प्राणका भेदसे व्यपदेश है ।

भाष्य

मुख्यश्चैक इतरे चैकादश प्राणा अनुक्रान्ताः । तत्रेदमपरं संदिह्यते—किं मुख्यस्यैव प्राणस्य वृत्तिभेदा इतरे प्राणा आहोस्वित् तत्त्वान्तराणीति ।

किं तावत्प्राप्तम्? मुख्यस्यैवेतरे वृत्तिभेदा इति । कुतः ? श्रुतेः । तथाहि श्रुतिर्मुख्यमितरांश्च प्राणान् संनिधाप्य मुख्यात्मतामितरेषां ख्यापयति—'हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ०

भाष्यका अनुवाद

और मुख्य प्राण एक और अमुख्य ग्यारह प्राण अनुक्रान्त हैं । उन ग्यारह प्राणोंके विषयमें यह दूसरा सन्देह किया जाता है—क्या अन्य प्राण मुख्य प्राणकी ही वृत्तियां हैं या अन्यतत्त्व हैं ?

पूर्वपक्षी—अन्य प्राण मुख्य प्राणकी ही वृत्तियाँ हैं, ऐसा प्राप्त होता है । किससे ? श्रुतिसे । क्योंकि 'हन्तास्यैव सर्वे०' (हर्ष है कि अब इसी प्राणके हम सब रूप

रत्नप्रभा

सत्सु इन्द्रियेषु तदधिष्ठातृदेवताचिन्ता, तान्येव प्राणवृत्तिव्यतिरेकेण न सन्ति इत्याक्षेपं प्रत्याह—**त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्** । प्राणादिन्द्रियाणां भेदाभेदश्रुतिभ्यां संशयं वदन् पूर्वपक्षयति—**मुख्यश्चेत्यादिना** । हन्त इदानीम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इन्द्रियोंके अस्तित्वमें उनकी अधिष्ठात्री देवताओंका विचार हो सकता है, परन्तु इन्द्रियाँ ही प्राणवृत्तिसे भिन्न नहीं हैं, ऐसे आक्षेपका परिहार करते हैं—"त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशाद०" इत्यादिसे । प्राणसे इन्द्रियाँ भिन्न हैं या नहीं? ऐसा भेदाभेदप्रतिपादक श्रुतियोंसे संशय कहकर पूर्वपक्ष करते हैं—"मुख्यश्च" इत्यादिसे । हर्षकी बात है कि अब हम सब इसी मुख्यप्राणके स्वरूप हो जाँय,

भाष्य

१।५।२१) इति । प्राणैकशब्दत्वाच्चैकत्वाध्यवसायः । इतरथा ह्यन्याय्यमनेकार्थत्वं प्राणशब्दस्य प्रसज्येत एकत्र वा मुख्यत्वमितरत्र वा लाक्षणिकत्वमापद्येत । तस्माद् यथैकस्यैव प्राणस्य प्राणाद्याः पञ्च वृत्तय एवं वागाद्या अप्येकादशेति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्त्वान्तराण्येव प्राणाद् वागादीनीति । कुतः ? व्यपदेशभेदात् । कोऽयं व्यपदेशभेदः ? ते प्रकृताः प्राणाः श्रेष्ठं वर्जयित्वा-

भाष्यका अनुवाद

हो जाँय, ऐसा निश्चय करके वे वाग् आदि सब उसके ही रूप हो गये) यह श्रुति मुख्य और अन्य प्राणोंको एकको दूसरेके समीप स्थापित करके अमुख्य प्राण मुख्यप्राणरूप हैं, ऐसा कहती है । उसी प्रकार उन सबका उद्देश कर 'प्राण' इस एक शब्दका प्रयोग होनेसे उनके एकत्वका निश्चय होता है । प्राणशब्दको एकार्थ न माननेपर प्राणशब्दका अनेकार्थत्व जो अन्याय्य है, वह प्राप्त होगा । अथवा एक स्थलमें मुख्यत्व और अन्य स्थलमें लाक्षणिकत्व प्रसक्त होगा । इसलिए जैसे एक ही प्राणकी प्राण, अपान आदि पांच वृत्तियां हैं, वैसे ही वाक् आदि ग्यारह भी एकही प्राणकी भिन्न-भिन्न वृत्तियां हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वाक् आदि प्राणसे अन्य ही

रत्नप्रभा

अस्यैव मुख्यप्राणस्य, 'सर्वे वयं स्वरूपं भवाम' इति संकल्प्य ते वागादयः तथा अभवन् इत्यभेदश्रुत्यर्थः । ते प्राणात् अभिन्नाः, प्राणपदवाच्यत्वात्, प्राणवत्, इत्याह—**प्राणेति** ।

ते प्राणाः श्रेष्ठादन्यत्र अन्ये इति प्रतिज्ञार्थत्वेन पदत्रयं व्याचष्टे—**तत्त्वान्तराण्येवेति** । तद्व्यपदेशादित्यत्र तच्छब्दः प्रतिज्ञातान्यत्वं परामृशति । प्राणा इन्द्रियाणि इत्यपर्यायशब्दाभ्यामन्यत्वोक्तेरिति हेतूपपादनार्थत्वेन पुनस्तानि सूत्रपदानि योजयति—**क इत्यादिना** । सूत्रस्य विश्वतोमुखत्वात् उभयार्थत्वम् अलंकार

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा संकल्प करके वे वाक् आदि प्राणके स्वरूप ही हो गये, यह अभेद श्रुतिका अर्थ है, वे प्राणसे अभिन्न हैं, प्राणपदसे वाच्य होनेसे, प्राणके समान, ऐसा कहते हैं—"प्राण" इत्यादिसे । ते-प्राण, श्रेष्ठादन्यत्र—श्रेष्ठसे अन्य, इस प्रतिज्ञाके अर्थरूपसे तीन पदोंका व्याख्यान करते हैं—"तत्त्वान्तराण्येव" इत्यादिसे । "तद्व्यपदेशात्" इसमें तत्-शब्द प्रतिज्ञातसे अन्यका परामर्श करता है । प्राण इन्द्रियाँ हैं, ऐसे अपर्य्याय शब्दोंसे अन्यत्व कहा है, अतः हेतुका उपपादन

भाष्य

ऽवशिष्टा एकादशेन्द्रियाणीत्युच्यन्ते, श्रुतावेवं व्यपदेशभेददर्शनात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति ह्येवंजातीयकेषु प्रदेशेषु पृथक्प्राणो व्यपदिश्यते पृथक्चेन्द्रियाणि । ननु मनसोऽप्येवं सति वर्जनमिन्द्रियत्वेन प्राणवत् स्यात्, 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति पृथग्व्यपदेशदर्शनात् । सत्यमेतत् , स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपी-

भाष्यका अनुवाद

तत्त्व हैं, किससे ? निर्देशके भेदसे । यह निर्देशभेद क्या है ? श्रेष्ठको—प्राणको छोड़कर वे अवशिष्ट प्रकृत प्राण ग्यारह इन्द्रियां हैं, ऐसे कहे जाते हैं। क्योंकि श्रुतिमें ऐसा व्यपदेशभेद देखा जाता है। 'एतस्माज्जायते प्राणो०' (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं) इस प्रकारके प्रदेशोंमें प्राणका पृथक् निर्देश है और इन्द्रियोंका पृथक् निर्देश है। परन्तु उक्त हेतुसे वाग् आदि मुख्य प्राणसे पृथक् तत्त्व हैं, ऐसा माननेपर प्राणकी भाँति मन भी इन्द्रिय नहीं है, ऐसा प्राप्त होगा। क्योंकि 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मन और सब इन्द्रियां) इस प्रकार पृथक् व्यपदेश देखा जाता है। यह ठीक है, स्मृतिमें तो 'एकादशेन्द्रियाणि' (ग्यारह इन्द्रियां हैं) इससे मनका भी

रत्नप्रभा

एव न दूषणम् । एतेन प्रतिज्ञाध्याहारः तच्छब्दस्य अप्रकृतभेदपरामर्शित्वं च इति दोषद्वयम् अपास्तम् । शब्दभेदाद् वस्तुभेदसाधने अतिप्रसङ्गं शङ्कते—**नन्विति** । प्राणवत् मनसोऽपि इन्द्रियेभ्यो भेदः स्यादित्यर्थः । अपर्यायसंज्ञाभेदात् स्वतन्त्रसंज्ञिवस्तुभेद इति उत्सर्गः । स च 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' इत्यादिस्मृतिबाधात् मनसि अपोद्यते, प्राणे तु बाधकाभावात् उत्सर्गसिद्धिः इति समाधत्ते—**सत्यमित्यादिना** । मन

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेके लिए पुनः उन सूत्रपदोंकी योजना करते हैं—"कः" इत्यादिसे। सूत्रके विश्वतोमुख होनेसे उसका उभयार्थ होना अलङ्कार ही है, दूषण नहीं है। इससे प्रतिज्ञाका अध्याहार और तत्शब्दसे होनेवाला अप्रकृत भेदका परामर्श, ये दोनों दोषोंका निराकरण हुआ। शब्दभेदसे वस्तुभेद सिद्ध करनेमें अतिप्रसङ्गकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। प्राणके समान मनका भी इन्द्रियोंसे भेद होगा, ऐसा अर्थ है। पर्य्यायभिन्न संज्ञाके भेदसे स्वतन्त्रसंज्ञीरूप वस्तुका भेद होता है, यह उत्सर्ग है। और यह उत्सर्ग 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इत्यादि स्मृतिके वचनोंसे बाधित है, अतः मनमें उसका निराकरण है, प्राणमें तो कोई बाधक नहीं है, इससे उत्सर्गकी सिद्धि है, इस प्रकार समाधान करते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे। मन

भाष्य

न्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत् संगृह्यते, प्राणस्य त्विन्द्रियत्वं न श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धमस्ति। व्यपदेशभेदश्चाऽयं तत्त्वभेदपक्ष उपपद्यते। तत्त्वैकत्वे तु 'स एवैकः सन्प्राण इन्द्रियव्यपदेशं लभते न लभते च' इति विप्रतिषिद्धम्। तस्मात् तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥ १७ ॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः मुख्यादितरे—

भाष्यका अनुवाद

श्रोत्रादिके समान इन्द्रियरूपसे ग्रहण किया जाता है, परन्तु प्राण इन्द्रिय है, ऐसी श्रुति या स्मृतिमें प्रसिद्धि नहीं है। यह व्यपदेशका भेद तत्त्वके भेदपक्षमें उपपन्न होता है। तत्त्वके एक होनेपर तो वह प्राण एक ही होकर इन्द्रियत्वको प्राप्त करता है और नहीं करता है, ऐसा विरोध होता है, इससे सिद्ध हुआ कि मुख्य प्राणसे अमुख्य प्राण अन्य तत्त्व हैं ॥ १७ ॥

और किस हेतुसे मुख्य प्राणसे भिन्न अमुख्य प्राण अन्य तत्त्व हैं ?—

रत्नप्रभा

इन्द्रियाणि च इति भेदोक्तिः गोबलीवर्दन्यायेन नेया। सिद्धान्ते मनसः प्रमोपादानत्वात् आत्मवत् अनिन्द्रियत्वमिष्टं ततो न उत्सर्गबाध इति केचित्। किञ्च 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति पृथग्जन्मव्यपदेशात् स्वतन्त्रवस्तुभेद इत्याह—व्यपदेशभेदश्चायमिति। एकस्मिन् वाक्ये प्राण इन्द्रियशब्दमैक्याल्लभते पुनरुक्तिभयान्न लभते चेति व्याघात इत्यर्थः ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और इन्द्रिय, इस प्रकारकी भेदोक्ति 'गोबलीवर्द' न्यायसे समझनी चाहिए। सिद्धान्तमें मन प्रमाका उपादान है अतः आत्माके समान उसमें इन्द्रियत्वका न होना इष्ट है, इसलिए उत्सर्गका बाध नहीं है, ऐसा कोई कहते हैं। किञ्च 'एतस्माजायते प्राणो०' इत्यादिसे मनके व्यपदेशसे स्वतन्त्र वस्तुभेद है, ऐसा कहते हैं—"व्यपदेशभेदश्चाऽयम्" इत्यादिसे। एक वाक्यमें प्राण इन्द्रियशब्दको एकतासे प्राप्त करता है और पुनरुक्तिके भयसे प्राप्त नहीं करता है, इस प्रकार व्याघात है, ऐसा अर्थ है ॥ १७ ॥



भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

पदार्थोक्ति—[वागादीन्द्रियप्रकरणमुपसंहृत्य 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' इति भिन्नप्रकरणे] भेदश्रुतेः—प्राणस्य इन्द्रियेभ्यो भेदेन श्रवणात् [न प्राणव्यापारत्वमिन्द्रियाणाम्, किन्तु तत्त्वान्तरत्वमित्यर्थः] ।

भाषार्थ—वाक् आदि इन्द्रियके प्रकरणका उपसंहार करके 'अथ हेममासन्यं, इस श्रुतिसे भिन्न प्रकरणमें इन्द्रियोंसे प्राणका पृथक् श्रवण होनेसे इन्द्रियाँ प्राणका व्यापार नहीं हैं, किन्तु अन्य तत्त्व हैं ।

भाष्य

भेदेन वागादिभ्यः प्राणः सर्वत्र श्रूयते–'ते ह वाचमूचुः' (बृ० १।२।३) इत्युपक्रम्य वागादीनसुरपाप्मविध्वस्तानुपन्यस्योपसंहृत्य वागादिप्रकरणम् 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' इत्यसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य पृथगुप-

भाष्यका अनुवाद

श्रुतिमें सर्वत्र प्राणका वाक् आदिसे भेद सुना जाता है—'ते ह वाचमूचुः' (देवताओंने वाणीसे कहा) ऐसा उपक्रम करके वाक् आदि इन्द्रियोंको असुरोंके पापोंसे विद्ध कहकर और वाक् आदिके प्रकरणका उपसंहार कर 'अथ हेममासन्यं०' (पीछे उन्होंने मुखमें रहनेवाले प्राणसे कहा) इस प्रकार असुरोंका विध्वंस करनेवाले मुख्य प्राणका पृथक् उपक्रम होनेसे भेद कहा है । उसी

रत्नप्रभा

एवं भेदेनापर्यायसंज्ञाभ्यामुक्तेः पृथग्जन्मोक्तेश्चेति तद्व्यपदेशादिति हेतुः व्याख्यातः । भेदश्रुतेरिति सूत्रेण प्रकरणभेदो हेतुरुक्त इति न पौनरुक्त्यम् । ते देवाः शास्त्रीयेन्द्रियमनोवृत्तिरूपा असुराणां पापवृत्तिरूपाणां जयार्थम् उद्गीथकर्मणि प्रथमं व्यापृतां वाचम् ऊचुः तन्न उद्गायासुरनाशार्थमिति तथास्तु इत्यङ्गीकृत्य उद्गायन्तीं वाचमनृतादिदोषेण विध्वंसितवन्तोऽसुराः इत्येवं क्रमेण सर्वेष्विन्द्रियेषु पापग्रस्तेषु पश्चात् अथेति प्रकरणं विच्छिद्य 'प्रसिद्धमास्ये भवमासन्यं मुख्यं प्राणमूचुः तन्न

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार भेदसे अपर्य्याय संज्ञाओंके कथन और पृथक् जन्मकी उक्तिसे 'तद्व्यपदेशात्' इस हेतुका व्याख्यान किया है, और 'भेदश्रुतेः' इस सूत्रसे प्रकरणभेदरूप हेतु कहा है, इससे पुनरुक्ति नहीं है । 'तेह वाचमूचुः—इन शास्त्रीय-इन्द्रिय-मनोवृत्तिरूप देवताओंने पापवृत्तिरूप असुरोंकी पराजयके लिए उद्गीथ कर्ममें प्रथम उद्युक्त हुई वाणीसे कहा कि असुरोंके नाशके लिए तू हमारे लिए उद्गान कर, उनके कथनका अङ्गीकार करके वाणीने उद्गान किया,

भाष्य

क्रमणात् । तथा 'मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत' इत्येवमाद्या अपि भेदश्रुतय उदाहर्तव्याः । तस्मादपि तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥१८॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः मुख्यादितरे—

भाष्यका अनुवाद

प्रकार 'मनो वाचं०' (मन, वाक् और प्राण, उनको प्रजापतिने अपने लिए किया) इस प्रकारकी भी भेद श्रुतियां उद्धृत करनी चाहिएँ। इससे सिद्ध होता है कि अमुख्य अन्य प्राण मुख्यप्राणसे भिन्न तत्त्व हैं ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

उद्गायेति तेन प्राणेनोद्गात्रा निर्विषयतया सङ्गदोषशून्येनासुरा नष्टाः' इत्यसुराणां विध्वंसिनो मुख्यप्राणस्योक्तेर्भेदसिद्धिः इत्याह—ते हेति । तानि—त्रीणि अन्यानि आत्मने—स्वार्थं प्रजापतिः कृतवानित्यर्थः ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु असुरोंने उनको अनृतादि दोषोंसे विद्ध कर दिया, इस प्रकार सब इन्द्रियोंके पापग्रस्त होने पर 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः०' (अनन्तर प्रसिद्ध मुखमें रहनेवाले प्राणसे उन्होंने कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान करो) इस प्रकार असुरोंके नाशकरूपसे मुख्य प्राण कहा गया है, इससे भेद सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"ते ह" इत्यादिसे । उन अन्य तीनोंको प्रजापतिने अपने लिए किया, ऐसा अर्थ है ॥ १८ ॥

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

पदच्छेद—वैलक्षण्यात्, च ।

पदार्थोक्ति—च-अपि, वैलक्षण्यात्—सुषुप्तौ प्राणस्य स्थितिर्नेन्द्रियाणामित्यादिरूपात् वैलक्षण्यात्, [तत्त्वान्तरत्वमिन्द्रियाणामिति भावः] ।

भाषार्थ—और 'सुषुप्तिमें प्राणकी स्थिति है, इन्द्रियोंकी नहीं' इस प्रकार अत्यन्त वैलक्षण्य होनेसे इन्द्रियां अन्य तत्त्व हैं ।

भाष्य

वैलक्षण्यं च भवति मुख्यस्येतरेषां च। सुप्तेषु वागादिषु मुख्य एको जागर्ति स एव चैको मृत्युनाऽनाप्त आप्तास्त्वितरे। तस्यैव च स्थित्युत्क्रान्तिभ्यां देहधारणपतनहेतुत्वम्, नेन्द्रियाणाम्। विषयालोचनहेतुत्वं चेन्द्रियाणां न प्राणस्येत्येवंजातीयको भूयाँल्लक्षणभेदः प्राणेन्द्रियाणाम्। तस्मादप्येषां तत्त्वान्तरभावसिद्धिः। यदुक्तम्—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ० १।५।२१) इति श्रुतेः प्राण एवेन्द्रियाणि—इति, तदयुक्तम्, तत्रापि पौर्वापर्यालोचनाद् भेदप्रतीतेः। तथाहि—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे (बृ० १।५।२१) इति वागादीनीन्द्रियाण्यनुक्रम्य 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्' इति च श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्तत्वं वागादीनामभिधाय 'अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः

भाष्यका अनुवाद

मुख्य प्राण और अन्य प्राणोंमें वैलक्षण्य भी है। वाक् आदिके लीन होनेपर अकेला मुख्य प्राण जागता है और वही अकेला मृत्युसे आक्रान्त नहीं होता, अन्य प्राण तो आक्रान्त होते हैं। वही स्थितिसे देह धारणका और उत्क्रान्तिसे देह पतनका हेतु है, इन्द्रियां स्थिति और उत्क्रान्ति द्वारा देह धारण और पतनके हेतु नहीं हैं। इन्द्रियां विषयके ज्ञानमें निमित्त हैं, प्राण विषयज्ञानमें निमित्त नहीं हैं, इस प्रकार इन्द्रिय और प्राणका महान् स्वरूपभेद है। इससे भी ये अन्य तत्त्व हैं, ऐसा सिद्ध होता है। 'त एतस्यैव०' (वे सब इसीके रूप हुए) इस श्रुतिसे इन्द्रियां प्राण ही हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह अयुक्त है, क्योंकि उनमें भी पूर्वापर सम्बन्धका आलोचन करनेसे भेद प्रतीत होता है, क्योंकि 'वदिष्याम्येवाहमिति०' (बोलूंगी ही—वदनरूप अपने व्यापारसे मैं उपरत न होऊँगी—ऐसा वाणीने व्रतधारण किया) इस प्रकार वाक् आदि इन्द्रियोंका अनुक्रम करके 'तानि मृत्युः श्रमो०' (मृत्युने श्रम होकर उनका ग्रहण किया, इसलिए वाणी श्रान्त होती ही है) इस प्रकार श्रमरूप मृत्युसे वाक् आदि ग्रस्त होते हैं, ऐसा कहकर 'अथेममेव नाप्नोद्यो०'

रत्नप्रभा

विरुद्धधर्मवत्त्वाच्च भेद इत्याह—वैलक्षण्याच्चेति। मृत्युः—आसङ्गदोषः। वाग्दध्रे—व्रतं धृतवतीत्यर्थः। बहुभिर्भेदलिङ्गैर्विरोधाद् वागादीनां प्राणरूपभवनं प्राणाधीनस्थि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विरुद्ध धर्मोंसे भी (मुख्य प्राण और इन्द्रियोंका) भेद, है, ऐसा कहते हैं—"वैलक्षण्याच्च"

भाष्य

प्राणः' (बृ० १।५।२१) इति पृथक्प्राणं मृत्युनाऽनभिभूतं तमनुक्रामति। 'अयं वै नः श्रेष्ठः' (बृ० १।५।२१) इति च श्रेष्ठतामस्यऽवधारयति। तस्मात् तदविरोधेन वागादिषु परिस्पन्दलाभस्य प्राणायत्तत्वं तद्रूपभवनं वागादीनामिति मन्तव्यम्, न तादात्म्यम्। अत एव च प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकत्वसिद्धिः। तथा च श्रुतिः—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्, तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः' (बृ० २।५।२१) इति मुख्यप्राणविषयस्यैव प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकीं वृत्तिं दर्शयति। तस्मात् तत्त्वान्तराणि प्राणाद् वागादीनीन्द्रियाणीति ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

(जो यह मध्यम प्राण है, उसीको मृत्युने आक्रान्त नहीं किया) इस प्रकार श्रुति मृत्युद्वारा अनभिभूत प्राणका पृथक् अनुक्रम करती है। 'अयं वै नः श्रेष्ठः' (निस्सन्देह, यह हममें श्रेष्ठ है) इस प्रकार उसकी श्रेष्ठताका अवधारण करती है। इसलिए उसके साथ विरोध न होनेसे इस प्रकार वाक् आदिमें परिस्पन्द—चेष्टाकी प्राप्ति प्राणके अधीन है, ऐसा वाक् आदिके प्राणरूप होनेका अर्थ समझना चाहिए, तादात्म्य नहीं समझना चाहिए। इसीलिए ही प्राणशब्द इन्द्रियोंमें लाक्षणिक है, ऐसा सिद्ध होता है, क्योंकि 'त एतस्यैव०' (वे सब इसीके रूप हुए, इसलिए ये वाक् आदि इस प्राणाभिधानसे 'प्राण' कहलाते हैं) यह श्रुति मुख्य प्राणविषयक जो प्राणशब्द है उसकी इन्द्रियोंमें लाक्षणिक वृत्ति दिखलाती है, इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियां प्राण से भिन्न तत्त्व हैं ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

तिकत्वरूपं व्याख्येयम्। एतदेव प्राणशब्दस्य इन्द्रियेषु लक्षणाबीजं श्रुतौ 'तस्मादेत एतेनाख्यायन्त' इति परामृष्टम्, इति न भेदाभेदश्रुत्योर्विरोध इति सिद्धम् ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। मृत्यु—आसङ्गदोष। वाग्दध्रे—वाणीने व्रत धारण किया, ऐसा अर्थ है। अनेक भेदबोधक लिङ्गोंके साथ विरोध होनेसे वाक् आदि प्राणरूप हैं, इसकी 'प्राणके अधीन 'वागादिकी स्थिति है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। यही प्राण शब्दकी इन्द्रियमें लक्षणा माननेमें बीज है और उसका 'तस्मादेत एतेन०' इत्यादि श्रुतिमें परामर्श किया है, अतः भेदाभेद श्रुतियोंका विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १९ ॥



[९ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण सू० २०—२२]

नामरूपव्याकरणे जीवः कर्ताऽथवेश्वरः ।
अनेन जीवेनेत्युक्तेर्व्याकर्ता जीव इष्यते ॥ १ ॥
जीवान्वयः प्रवेशेन सन्निधेः सर्वसर्जने ।
जीवोऽशक्तः शक्त ईश उत्तमोक्तिस्तथोक्षितुः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—नाम और रूपके व्याकरणमें (उत्पत्तिमें) जीव कर्ता है अथवा ईश्वर कर्ता है ?

पूर्वपक्ष—व्याकर्ता जीव ही है, क्योंकि 'अनेन जीवेन' ऐसी श्रुति है ।

सिद्धान्त—नाम और रूपका व्याकर्ता ईश्वर ही है, क्योंकि सब वस्तुके निर्माणमें जीवका सामर्थ्य नहीं हो सकता है और 'अनेन जीवेन' इत्यादि श्रुतिमें उत्तमपुरुषकी उक्ति ईश्वरके कर्तृत्वमें घटती है, जीवका अन्वय संनिधिसे केवल प्रवेशके साथ ही है ।

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

पदच्छेद—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः, तु, त्रिवृत्कुर्वतः, उपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दस्त्वत्रसूत्रे वादिसिद्धान्तभञ्जनप्रयोजनकः । त्रिवृत्कुर्वतः—'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इति त्रिवृत्कुर्वतः परमेश्वरस्य [एव] संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः—नामरूपयोर्व्याक्रिया—पृथक्करणम् [न जीवस्याल्पमेधसो महीधरादिव्याकरणासमर्थस्य, कुतः ?] उपदेशात्—'सेयं देवता' इत्युपक्रम्य 'व्याकरवाणि' इत्युपसंहारे परदेवताकर्तृकस्य व्याकरणस्य शासनात् ।

भाषार्थ—'तासां त्रिवृतम्' इस श्रुतिमें कहा गया त्रिवृत् करनेवाला परमेश्वर ही नाम और रूपका व्याकर्ता—पृथक् कर्ता है, जीव नहीं, क्योंकि 'सेयं देवता' इसका आरम्भ करके 'व्याकरवाणि' इस प्रकारके उपसंहारमें व्याक्रियाका कर्ता परमेश्वर ही प्रतिपादित है ।

---

* ईश्वर द्वारा पञ्चभूतोंके उत्पन्न होनेपर दृश्यमान भौतिक—महीधरादि नाम रूपका व्याकर्ता-स्रष्टा जीव है, क्योंकि 'अनेन जीवेन' इत्यादिसे सृष्टिमें जीवके ही अन्वयका श्रवण है ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'जीवेनाऽनुप्रविश्य' इसमें प्रवेशके साथ ही जीवका संनिधानसे अन्वय होता है, 'जीवेन व्याकरवाणि' ऐसा कहनेमें व्यवहित अन्वय होगा, और जीवकी गिरि,

भाष्य

सत्प्रक्रियायां तेजोबन्नानां सृष्टिमभिधायोपदिश्यते—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति, तासां त्रिवृतमेकैकां करवाणीति' (छा० ६ । ३ । २) । तत्र संशयः—किं जीवकर्तृकमिदं नामरूपव्याकरणम् आहोस्वित् परमेश्वरकर्तृकमिति।

तत्र प्राप्तं तावत्—जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणमिति । कुतः ? 'अनेन

भाष्यका अनुवाद

सत्के प्रकरणमें तेज, जल और अन्नकी सृष्टि कहकर ऐसा उपदेश किया है—'सेयं देवतैक्षत०' (इस प्रकृत सदात्मक देवताने विचार किया कि अब मैं इन तीन देवताओंमें इस जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके नाम और रूपका स्पष्टीकरण करूं, उन तीन देवताओंमेंसे प्रत्येकको तीन तीन भागोंमें विभक्त करूं) यहांपर संशय होता है कि नाम और रूपका यह व्याकरण जीवने किया है या परमेश्वरने किया है ?

पूर्वपक्षी—नाम और रूपका यह व्याकरण जीवने किया है, ऐसा प्राप्त होता

रत्नप्रभा

उत्पत्तिः उत्पादना इति च कार्यकर्त्रोर्व्यापारौ प्रसिद्धौ । तत्र जगदुत्पत्तिश्रुतिविरोधः अतीतेन पादद्वयेन निरस्तः, संप्रति उत्पादनश्रुतिविरोधो निरस्यते । तत्रापि सूक्ष्मभूतोत्पादनम् पारमेश्वरम् एवेति श्रुतिष्वविप्रतिपन्नं, स्थूलभूतोत्पादने त्वस्ति श्रुतिविप्रतिपत्तिरिति तन्निरासार्थमाह—**संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्** । नामरूपभेदात् करणभिन्नः प्राण इत्युक्तं, तत् प्रसङ्गेन स्थूलनामरूपक्लृप्तिः किंकर्तृका

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्ति—उत्पन्न होना और उत्पादना—उत्पन्न करना, ये दोनों क्रमसे कार्य और कर्ताके व्यापार रूपसे प्रसिद्ध हैं । उसमें पिछले दो पादोंसे जगत् की उत्पत्तिका प्रतिपादन करने वाली श्रुतियोंके विरोधका निरसन किया जा चुका है, अब उत्पादनाविषयक श्रुतियोंके विरोधका निराकरण किया जाता है । उसमें भी सूक्ष्मभूतोंका उत्पादन तो परमेश्वर कृत ही है, ऐसा सब श्रुतियोंको सम्मत है, स्थूल भूतोंके उत्पादनके विषयमें तो श्रुतियोंमें परस्पर विरोध है उसके निराकरणके लिए कहते हैं—"संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु" । नाम और रूपके भेदसे

नदी आदिके निर्माणमें शक्ति नहीं हो सकती । ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है, क्योंकि 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' ऐसा श्रवण है, किञ्च, 'व्याकरवाणि' यह उत्तम पुरुष ईश्वर पक्षमें ही अन्वित होता है, इसलिए नाम और रूपका स्रष्टा ईश्वर ही है—जीव नहीं, घट आदिमें ईश्वरकी प्रेरणासे कुलालादिमें कर्तृत्व है । इससे ईश्वर ही सबका कर्ता है, यह सिद्ध हुआ ।

भाष्य

जीवेनात्मना' इति विशेषणात् । यथा लोके चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य संकलयानीत्येवंजातीयके प्रयोगे चारकर्तृकमेव सत् सैन्यसंकलनं हेतुकर्तृत्वात् राजा आत्मन्यध्यारोपयति संकलयानीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण । एवं

भाष्यका अनुवाद

है। किससे ? इससे कि 'अनेन जीवेनात्मना' (इस जीवात्मा द्वारा) ऐसा विशेषण है। जैसे लोकमें 'चार द्वारा परसैन्यमें प्रवेश करके मैं गणना करूं' इस प्रकारके प्रयोगमें यद्यपि सैन्यगणना चारने ही की है, तो भी प्रयोजक कर्ता

रत्नप्रभा

इति चिन्त्यत इति अवान्तरसंगतिः। प्रक्रिया—प्रकरणम्। ईक्षणमेवाह—**हन्तेत्यादिना**। हन्त इदानीं देवताः सूक्ष्मा अनुप्रविश्य इति संबन्धः। तासां तिसृणां देवतानामेकैकां देवतां तेजोबन्नात्मना त्र्यात्मिकां करिष्यामि इति श्रुतिः पञ्चीकरणोपलक्षणार्था। छान्दोग्ये अपि आकाशवाय्वोरुपसंहारस्य उक्तत्वात्। एवं स्थूलीकृतेषु भूतेषु प्राणिनां व्यवहारः सेत्स्यति इति परदेवतायाः तात्पर्यम्। जीवेनेतिपदस्य व्याकरवाणीत्यनेन संबन्धसंभवासंभवाभ्यां संशयमाह—**तत्रेति**। पूर्वपक्षे जीवस्यैव भौतिकस्रष्टृत्वाद् ब्रह्मणः सर्वस्रष्टृत्वासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम्। जीवेनेत्यस्य व्याकरवाणीतिप्रधानक्रियापदेन संबन्ध इति पूर्वपक्षमाह—**तत्र प्राप्तमिति**। परदेवताया अकर्तृत्वे कथम् उत्तमपुरुषप्रयोग इत्याशङ्क्य प्रयोजकत्वात्कर्तृत्वोपचार इत्याह—**यथा लोक इति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इन्द्रियोंसे प्राण भिन्न है, ऐसा कहा गया है, उसके प्रसङ्गसे स्थूल नाम और रूपकी रचनाका कर्ता कौन है ? इस विषयपर विचार किया जाता है ऐसी अवान्तर सङ्गति है। प्रक्रिया—प्रकरण। ईक्षणको ही कहते हैं—"हन्त" इत्यादिसे। हर्ष है कि इस समय सूक्ष्म देवता प्रवेश करके, ऐसा सम्बन्ध है। उन तीन देवताओंमेंसे प्रत्येक देवताको तेज, जल और अन्नके आत्मासे त्र्यात्मक करूँगा, यह श्रुति पञ्चीकरणके उपलक्षणके लिए है। क्योंकि छान्दोग्यमें भी आकाश और वायुके उपसंहारका कथन है, इस प्रकार स्थूल किये गये भूतोंमें प्राणियोंका व्यवहार सिद्ध होगा, ऐसा परदेवताका तात्पर्य है। 'जीवेन' इस पदका 'व्याकरवाणि' इस पदके साथ सम्बन्धके सम्भव और असम्भव होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें जीव ही भूतोंका स्रष्टा है अतः ब्रह्म सबका उत्पादक है यह असिद्ध है, सिद्धान्तमें ब्रह्म सबका स्रष्टा है यह सिद्ध है। 'जीवेन' इसका 'व्याकरवाणि' इस प्रधान क्रियापदके साथ सम्बन्ध है, ऐसा पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र प्राप्तम्" इत्यादिसे। परदेवता यदि कर्ता न हो,

भाष्य

जीवकर्तृकमेव सन्नामरूपव्याकरणं हेतुकर्तृत्वाद् देवता आत्मन्यध्यारोपयति व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण। अपि च डित्थडवित्थादिषु नामसु घटशरावादिषु च रूपेषु जीवस्यैव व्याकर्तृत्वं दृष्टम्। तस्माज्जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणम्।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधत्ते—'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु' इति। तुशब्देन पक्षं व्यावर्तयति। संज्ञामूर्तिक्लृप्तिरिति नामरूपव्याक्रियेत्येतत् त्रिवृत्कुर्वत इति परमेश्वरं लक्षयति, त्रिवृत्करणे तस्य निरपवादकर्तृत्वनिर्देशात्—येयं संज्ञा-

भाष्यका अनुवाद

होनेसे राजा 'मैं गणना करूँ' इस प्रकार उत्तम पुरुषके प्रयोगसे अपनेमें उसका—सैन्य-संकलनका अध्यारोप करता है, इस प्रकार यद्यपि नाम और रूपका स्पष्टीकरण जीवने ही किया है, तो भी प्रयोजक कर्त्ता होनेसे देवता 'व्याकरवाणि' (व्याकार करूँ) इस प्रकार उत्तम पुरुषके प्रयोगसे उसका अपनेमें अध्यारोप करता है और डित्थ, डवित्थ आदि नामोंमें और घट, शराव आदि रूपोंमें जीव ही व्याकरण करनेवाला है, ऐसा देखा जाता है, इसलिए नाम और रूपका यह व्याकरण जीवकर्तृक ही है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु'। तुशब्दसे पूर्वपक्षकी निवृत्ति करते हैं। संज्ञामूर्तिक्लृप्ति अर्थात् नाम और रूपका व्याकरण। 'त्रिवृत्कुर्वतः' यह परमेश्वरको सूचित करता है, क्योंकि त्रिवृत्करणमें वही बे-रोक-टोक कर्तारूपसे निर्दिष्ट है। अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत्, इसप्रकार

रत्नप्रभा

सिद्धान्तयति—**तु शब्देनेत्यादिना**। प्रत्याकृति—प्रतिजाति इत्यर्थः। अनेन स्थूलसर्वसर्गे जीवस्य असामर्थ्यं द्योतितम्। तथा च पदान्वयस्य पदार्थयोग्यताधीनत्वात् जीवरूपेण प्रविश्य अहमेव व्याकरवाणि इत्यन्वयः, न तु जीवेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो उत्तम पुरुषका प्रयोग किस प्रकार होगा, ऐसी शङ्का करके प्रयोजक होनेसे परदेवतामें कर्तृत्व गौण है, ऐसा कहते हैं—"यथा लोके" इत्यादिसे। सिद्धान्त करते हैं—"तु शब्देन" इत्यादिसे। प्रत्येक आकृतिमें—प्रत्येक जातिमें, ऐसा अर्थ है। इससे सम्पूर्ण स्थूलकी सृष्टि करनेमें जीवका असामर्थ्य सूचित किया गया है, पदका अन्वय पदार्थकी योग्यताके अधीन होता है, अतः जीवरूपसे प्रवेश करके मैंही (पर देवता ही) व्याकृत करूंगा, ऐसा अन्वय है, जीव द्वारा व्याकृत करूंगा, ऐसा अन्वय नहीं है।

भाष्य

क्लृप्तिर्मूर्तिक्लृप्तिश्चाग्निरादित्यश्चन्द्रमा विद्युदिति, तथा कुशकाशपलाशादिषु पशुमृगमनुष्यादिषु च प्रत्याकृति प्रतिव्यक्ति चानेकप्रकारा, सा खलु परमेश्वरस्यैव तेजोबन्नानां निर्मातुः कृतिर्भवितुमर्हति । कुतः ? उपदेशात् । तथा हि—'सेयं देवतैक्षत' इत्युपक्रम्य 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण परस्यैव ब्रह्मणो व्याकर्तृत्वमिहोपदिश्यते । ननु जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकत्वं व्याकरणस्याऽध्यवसितम् । नैतदेवम्, जीवेनेत्येतदनुप्रविश्येत्यनेन संबध्यते, आनन्तर्यात्; न व्याकरवाणीत्यनेन । तेन हि संबन्धे व्याकरवाणीत्ययं देवताविषय उत्तमपुरुष औपचारिकः कल्प्येत । न च गिरिनदीसमुद्रादिषु नानाविधेषु नामरूपेष्वनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरणसामर्थ्यमस्ति । येष्वपि चाऽस्ति सामर्थ्यम्, तेष्वपि परमेश्वरायत्तमेव तत् । न च जीवो नाम परमेश्वरादत्यन्तभिन्नश्चार इव राज्ञः, आत्मनेति

भाष्यका अनुवाद

जो नामका व्याकरण है, तथा कुश, काश, पलाश आदिमें और पशु, मृग, मनुष्य आदिमें प्रत्येक जाति और प्रत्येक व्यक्तिमें अनेक प्रकारके रूपका जो व्याकरण है, वह तेज, जल और अन्नके निर्माता परमेश्वरकी ही कृति हो सकती है। किससे ? उपदेशसे। क्योंकि 'सेयं देवतैक्षत०' (उस देवताने विचार किया) इस प्रकार उपक्रम करके 'व्याकरवाणि' (मैं स्पष्टीकरण करूँ) इस प्रकार उत्तम पुरुषके प्रयोगसे पर ब्रह्म ही व्याकरणकर्ता है, ऐसा यहां उपदेश किया जाता है। परन्तु 'जीवेन' (जीवद्वारा) इस विशेषणसे व्याकरणकर्ता जीव है, ऐसा निश्चय किया जाता है। यह ऐसा नहीं है, 'जीवेन' (जीवद्वारा) इसका 'अनुप्रविश्य' (प्रवेश करके) इसके साथ संबन्ध है, आनन्तर्य होनेके कारण, 'व्याकरणवाणि' इसके साथ नहीं। क्योंकि यदि उसके साथ संबन्ध माना जाय, तो 'व्याकरवाणि' इस प्रकारका

रत्नप्रभा

व्याकरवाणीति । ननु तर्हि प्रवेशक्रिया जीवकर्तृका, व्याकरणम् ईश्वरकर्तृकम् इति कर्तृभेदात् क्त्वाप्रत्ययो न स्यादित्यत आह—**न च जीवो नामेति** । वस्तुतस्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु ऐसा है, तो अनुप्रवेशक्रिया जीवकर्तृक है और व्याकरणक्रिया ईश्वरकर्तृक है, इस प्रकार कर्ताके भेद होनेसे क्त्वा प्रत्यय (अनुप्रविश्यमें जो क्त्वा प्रत्ययका ल्यप् हुआ है, वह) नहीं होगा ? इसपर कहते हैं—"नच जीवो नाम" इत्यादिसे। वास्तवमें तो 'सूर्यो जले प्रविष्टः'

भाष्य

विशेषणात्, उपाधिमात्रनिबन्धनत्वाच्च जीवभावस्य। तेन तत्कृतमपि नामरूपव्याकरणं परमेश्वरकृतमेव भवति, परमेश्वर एव च नामरूपयोर्व्याकर्तेति सर्वोपनिषत्सिद्धान्तः, 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८। १४। १) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात् परमेश्वरस्यैव त्रिवृत्कुर्वतः कर्म नामरूपयोर्व्याकरणम्। त्रिवृत्करणपूर्वकमेवेदमिह

भाष्यका अनुवाद

देवताविषयक यह उत्तम पुरुष औपचारिक है, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। और गिरि, नदी, समुद्र आदि नाना प्रकारके नाम और रूपोंके व्याकरण करनेकी सामर्थ्य ईश्वरसे भिन्न जीवमें नहीं है, और जिनमें सामर्थ्य है उनमें भी वह सामर्थ्य परमेश्वरके अधीन ही है। और जैसे चार राजासे अत्यन्त भिन्न है, वैसे जीव परमेश्वरसे अत्यन्त भिन्न नहीं है, क्योंकि 'आत्मना' (आत्मा द्वारा) यह विशेषण है, और (आत्माका) जीवभाव उपाधिमात्रके आधारपर है। इसलिए उससे (जीवसे) किया गया भी नाम और रूपका व्याकरण परमेश्वरकृत ही होता है, और परमेश्वर ही नाम और रूपका व्याकरणकर्ता है, ऐसा सब उपनिषदोंका सिद्धान्त है—'आकाशो हि नाम०' (आकाश श्रुतियोंमें प्रसिद्ध आत्मा है और वह नाम और रूपका व्याकरणकर्ता है) इत्यादि। इसलिए नाम और रूपका व्याकरण इस त्रिवृत्करनेवाले परमेश्वरका ही काम है। यह नामरूपव्याकरण यहां त्रिवृत्करणपूर्वक ही विवक्षित है, क्योंकि प्रत्येक नाम और रूपका व्याकरण

रत्नप्रभा

'सूर्यो जले प्रविष्टः' इति प्रतिबिम्बभावाख्यप्रवेशो सूर्यस्य एव कर्तृत्वप्रयोगात् जीवात्मना प्रवेशोऽपीश्वर एव कर्ता इति क्त्वाश्रुतिर्युक्तेति बोध्यम्। नन्वभेदश्चेज्जीव एव व्याकर्ता किं न स्यात्? इत्याशङ्क्य कल्पनया भिन्नस्य तस्य अशक्यत्वाच्छ्रुतिविरोधात् च मैवमित्याह—**परमेश्वरे इति**। प्रत्येकं महाभूतसर्गस्य प्राक् उक्तत्वात् इह व्याकरणवाक्ये यत्नपूर्वकं स्थूलभौतिकसर्ग उच्यत इति पाठव्यत्ययेन सूत्रसूचितं श्रुत्यर्थमाह—**त्रिवृत्करणपूर्वकमिति**। ईश्वरकृतं

रत्नप्रभाका अनुवाद

(सूर्य जलमें प्रविष्ट हुआ) इस प्रकार सूर्यके प्रतिबिम्बभावका प्रवेश होनेपर भी सूर्यका ही कर्तारूपसे प्रयोग होनेसे जीवात्मा द्वारा प्रवेशमें भी ईश्वर ही कर्ता है, इस प्रकार क्त्वाकी श्रुति युक्त है, ऐसा समझना चाहिए। परन्तु अभेद है, तो जीव ही व्याकर्ता क्यों न हो, ऐसी आशङ्का करके कल्पनासे भिन्न जो जीव है उसके अशक्य होने और श्रुतिका विरोध होनेसे, ऐसा नहीं है,

भाष्य

नामरूपव्याकरणं विवक्ष्यते, प्रत्येकं नामरूपव्याकरणस्य तेजोबन्नोत्पत्तिवचनेनैवोक्तत्वात्। तच्च त्रिवृत्करणमग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु श्रुतिर्दर्शयति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छा० ६।४।१) इत्यादिना। तत्राऽग्निरितीदं रूपं व्याक्रियते, सति च रूपव्याकरणे विषयप्रतिलम्भादग्निरितीदं नाम व्याक्रियते। एवमेवादित्यचन्द्रविद्युत्स्वपि द्रष्टव्यम्। अनेन चाग्न्याद्युदाहरणेन भौमाम्भसतैजसेषु त्रिष्वपि द्रव्येष्वविशेषेण त्रिवृत्करणमुक्तं भवति, उपक्रमोपसंहारयोः साधारणत्वात्। तथा ह्यविशेषेणैवोपक्रमः—'इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका

भाष्यका अनुवाद

तेज, जल और अन्नकी उत्पत्तिके कथनसे ही कहा गया है। और उस त्रिवृत्करणको अग्नि, आदित्य, चन्द्र और विद्युत्में 'यदग्नेरोहितं रूपं०' (अग्निका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है) इत्यादिसे श्रुति दिखलाती है, उसमें अग्नि यह रूपका व्याकरण है और रूपका व्याकरण होनेपर विषयका लाभ होनेसे अग्नि यह नामका व्याकरण है। इसी प्रकार आदित्य, चन्द्र और विद्युत्में समझना चाहिए। और इन अग्नि आदि उदाहरणोंसे पार्थिव, जलीय और तैजस तीनों द्रव्योंमें समान रीतिसे त्रिवृत्करण कहा जाता है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार उन तीनोंमें साधारण है। क्योंकि समान रीतिसे उपक्रम है—'इमास्तिस्रो देवता-

रत्नप्रभा

व्यात्मत्वम् इति क दृष्टम्? इत्यत आह—तच्चेति। इदानीं नामरूपव्याकरणे क्रममाह—तत्राग्निरिति। यद्यपि 'अतः प्रभवात्' इत्यत्र वेदशब्दपूर्विका अर्थसृष्टिरुक्ता, तथाप्यव्यक्तात् स्मृतात् शब्दात् अर्थसृष्टौ सत्यां स्फुटनामसंबन्धाभिव्यक्तिरत्रोक्तेत्यविरोधः। नन्वग्न्यादीनां तैजसानामेव श्रुतावुदाहरणाद् भूजलयोः त्र्यात्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह कहते हैं—"परमेश्वर" इत्यादिसे। प्रत्येक महाभूतकी सृष्टि पूर्वमें कही गई है, यहां व्याकरण वाक्यमें यत्नपूर्वक स्थूल भौतिक सृष्टि कही जाती है, इस प्रकार पाठव्यत्ययसे सूत्रसूचित श्रुतिका अर्थ कहते हैं—"त्रिवृत्करणपूर्वकम्" इत्यादिसे। ईश्वरकृत त्रिवृत्करण कहाँ देखा गया है, इसपर कहते हैं—"तच्च" इत्यादिसे। अब नामरूपके व्याकरणमें क्रम कहते हैं—"तत्राग्निः" इत्यादिसे। यद्यपि 'अतः प्रभवात्' इस सूत्रमें वेदशब्द पूर्वक अर्थकी सृष्टि कही गई है, तथापि अव्यक्त स्मृत शब्दसे अर्थकी सृष्टि होनेपर स्पष्ट नाम सम्बन्धकी अभिव्यक्ति यहां कही गई है, अतः विरोध नहीं है, परन्तु अग्नि आदि तेजके

भाष्य

भवति' (छा० ६ । ३ । ४) इति । अविशेषेणैव चोपसंहारः—'यदु रोहित-मिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपम्' इत्येवमादिः, 'यदविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति (छा० ६ । ४ । ६, ७) एवमन्तः ॥ २० ॥

तासां तिसृणां देवतानां बहिस्त्रिवृत्कृतानां सतीनामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमुक्तम्—'इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६ । ४ । ७) इति । तदिदानीमाचार्यो यथाश्रुत्येवोपदर्शयत्याशङ्कितं कंचिद् दोषं परिहरिष्यन्—

भाष्यका अनुवाद

त्रिवृत्०' (ये तीन देवता प्रत्येक त्रिवृत् त्रिवृत् होते हैं), और उपसंहार भी समान रीतिसे है—'यदुरोहितमिवाभूत्०' (अनेकरूप होनेसे कपोतादिरूपसे जो संदिह्यमान दिखाई देता है, उसमें) (जो कुछ रोहितसा [पूर्व ब्रह्म-वेत्ताओंसे गृहीत] हुआ, वह तेजका रूप है [ऐसा उन्होंने जाना]) यह आदिमें है और 'यदविज्ञातमिवाभूत्०' (जो अविज्ञात-सा [विशेषतः अगृह्यमान-सा] हुआ, वह भी इन तीन देवताओंका ही समुदाय है [ऐसा उन्होंने जाना), यह अन्तमें है ॥२०॥

बाह्य पदार्थ में त्रिवृत्कृत उन तीन देवताओंका दूसरा आध्यात्मिक त्रिवृत्करण कहा गया है—'इमास्तिस्रो देवताः०' (ये तीन देवता पुरुषको प्राप्तकर प्रत्येक त्र्यात्मक त्र्यामक होती हैं)। अब आचार्य आशंकित किसी एक दोषका परिहार करनेकी इच्छा से उसको श्रुतिके अनुसार ही दिखलाते हैं—

रत्नप्रभा

कत्वं न विवक्षितम् इत्यत आह—**अनेन चेति** । उपक्रमे तासां मध्य इति शेषः । यत्कपोतरूपादिकं कृष्णत्वादिविशेषाकारेण अविज्ञातम् इव भवति तत् देवतानां समुदायरूपमित्यर्थः ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विकारोंका ही श्रुतिमें उदाहृण होनेसे पृथ्वी और जलमें त्र्यात्मकत्व विवक्षित नहीं है, इसपर कहते हैं—"अनेन च" इत्यादिसे । उपक्रममें, उनके मध्यमें इतना शेष है । जो कपोतरूपादि कृष्णत्व आदि विशेष आकारसे अविज्ञात-सा होता है वह देवताओंका समुदायरूप है, ऐसा अर्थ है ॥ २० ॥

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

पदच्छेद—मांसादि, भौमम्, यथाशब्दम् इतरयोः, च ।

पदार्थोक्ति—[मांसादीत्यत्रादिशब्दः 'अन्नमशितं त्रेधाभवति' इति श्रुत्या पुरीषमनसोरुपलक्षकस्तथाच] मांसादि—मांसपुरीषप्रभृति, भौमम्—त्रिवृत्कृताया अन्नात्मिकाया भूमेः कार्यम् । [एवम्] इतरयोश्च—अप्तेजसोरपि यथाशब्दम्—'मूत्रं लोहितं प्राणश्चापां कार्यम्' इत्यादिशास्त्रमनुसृत्य [मूत्रादिकं कार्यं बोध्यम्] ।

भाषार्थ—मांस, पुरीष आदि त्रिवृत्कृत अन्नात्मक भूमिके कार्य हैं और इसी प्रकार 'मूत्रं लोहितम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार मूत्र, रुधिर आदि जल आदिके कार्य हैं ।

भाष्य

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः पुरुषेणोपभुज्यमानाया मांसादिकार्यं यथाशब्दं निष्पद्यते । तथा हि श्रुतिः—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः' (छा० ६ । ५ । १) इति । त्रिवृत्कृता भूमिरेवैषा व्रीहियवाद्यन्नरूपेणाद्यत इत्यभि-

भाष्यका अनुवाद

त्रिवृत्कृत पुरुषसे उपभोग की गई भूमिका मांसादि कार्य श्रुतिके अनुसार निष्पन्न होता है, क्योंकि—'अन्नमशितं त्रेधा०' (खाये गये अन्नका तीन विभाग होता है उसका जो स्थूलतम धातु है, वह पुरीष है, जो मध्यम धातु है वह मांस है, जो सबसे अणु धातु है वह मन है) ऐसी श्रुति है। यह त्रिवृत्कृत भूमि ही व्रीहि, यव आदि अन्नरूपसे खाई जाती है, ऐसा अभिप्राय है । और

रत्नप्रभा

बाह्यं त्रिवृत्करणम् उक्त्वाऽऽध्यात्मिकम् अपरं पूर्वोक्तविलक्षणं वदन् उत्तर-सूत्रमवतारयति—**तासामित्यादिना** । पुरुषशरीरं प्राप्यैकैका त्रिवृद्भवति—कार्य-त्रयात्मना भवतीत्यर्थः । उत्तरसूत्रेणाशंकितं दोषं निरसितुमादौ शङ्काविषयमा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाह्य त्रिवृत्करण कहकर पूर्वोक्तसे विलक्षण दूसरे आध्यात्मिकको कहते हुए सूत्रकी अवतरणिका देते हैं—"तासाम्" इत्यादिसे । पुरुष शरीरको प्राप्त कर प्रत्येक त्रिवृत् होता है—कायत्रयात्मक होता है, ऐसा अर्थ है । उत्तर सूत्रमें जिसकी शंका की गई है, उस दोषका निरसन

भाष्य

प्रायः। तस्याश्च स्थविष्ठं रूपं पुरीषभावेन बहिर्निर्गच्छति, मध्यममध्यात्मं मांसं वर्धयति, अणिष्ठं तु मनः। एवमितरयोरप्तेजसोर्यथाशब्दं कार्यमवगन्तव्यम्। एवं मूत्रं लोहितं प्राणश्चापां कार्यम्। अस्थि मज्जा वाक् तेजस इति ॥ २१ ॥

अत्राह—यदि सर्वमेव त्रिवृत्कृतं भूतभौतिकम् अविशेषश्रुतेः—'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' इति। किंकृतस्तर्ह्ययं विशेषव्यपदेशः—'इदं तेज इमा आप इदमन्नम्' इति। तथा 'अध्यात्ममिदमन्नस्याऽशितस्य कार्यं मांसादि, इदमपां पीतानां कार्यं लोहितादि, इदं तेजसोऽशितस्य कार्यमस्थ्यादि' इति। अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

उसका स्थूलतमरूप पुरीषभावसे बाहर निकलता है, मध्यमरूप अध्यात्म मांस बढ़ाता है और सबसे अणुरूप मनकी वृद्धि करता है। इसी प्रकार दूसरे दो—जल और तेजका भी श्रुतिके अनुसार कार्य समझना चाहिए। इस प्रकार मूत्र, रक्त और प्राण, ये जलके कार्य हैं और हड्डी, मज्जा और वाणी, ये तेजके कार्य हैं ॥२१॥

यहां कहते हैं—यदि भूत, भौतिक सभी ही त्रिवृत्कृत हैं, क्योंकि 'तासां त्रिवृतम्०' (देवताओंमेंसे प्रत्येक को त्र्यात्मक त्र्यात्मक किया) ऐसी सामान्य श्रुति है, तो 'इदं तेजः०' (यह तेज, यह जल और यह अन्न) और 'अध्यात्ममिदमन्न०' (शरीरमें जो मांसादि हैं, ये खाये गये अन्नके कार्य हैं, जो लोहितादि हैं ये पिये गये जलके कार्य हैं और जो अस्थि आदि हैं, ये खाये गये तेजके कार्य हैं) इस श्रुतिमें ऐसा विशेषव्यपदेश क्यों किया है? इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

ध्यात्मिकत्रिवृत्करणं दर्शयति इति भाष्यार्थः। नन्वन्नमयं मांसादि कथं भौमम् इत्यत आह—**त्रिवृत्कृता भूमिरेवेति**। प्राणस्य वायोः अप्कार्यत्वम् औपचारिकं द्रष्टव्यम् ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

करने के लिया प्रथम शंका के विषयीभूत आध्यात्मिक त्रिवृत्करण को दिखलाते हैं, ऐसा भाष्यका अर्थ है। यदि कोई कहे कि अन्नमय मांसादि भूमिके कार्य किस प्रकार हैं? इसपर कहते हैं—"त्रिवृत्कृता भूमिरेव" इत्यादिसे। वायुरूप प्राण जलका कार्य है, ऐसा जो कहा है वह औपचारिक है, ऐसा समझना चाहिए ॥ २१ ॥

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

पदच्छेद—वैशेष्यात्, तु, तद्वादः, तद्वादः ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः शङ्काविनाशाय । [सर्वेषां पृथ्व्यादीनां त्रिवृत्करणाविशेषेऽपि] वैशेष्यात्—स्वभागस्य प्रचुरत्वात् तद्वादः—पृथ्व्यादिशब्देन प्रसिद्धिः—व्यवहारः । द्वितीयस्तद्वादशब्दोऽस्याऽध्यायस्य परिसमाप्तिसूचकः ।

भाषार्थ—पृथ्वी आदिके त्रिवृत्करणके सामान्य होने पर भी पृथ्वी आदिके आधिक्यसे 'यह पृथ्वी' 'यह जल' इत्यादि व्यवहार होता है । सूत्रमें द्वितीय 'तद्वाद' शब्द अध्यायकी समाप्तिके सूचनके लिए है ।

भाष्य

तुशब्देन चोदितं दोषमपनुदति । विशेषस्य भावो वैशेष्यम्, भूयस्त्वमिति यावत् । सत्यपि त्रिवृत्करणे क्वचित् कस्यचित् भूतधातोर्भूयस्त्वमुपलभ्यते—'अग्नेस्तेजोभूयस्त्वम्, उदकस्याब्भूयस्त्वम्, पृथिव्या अन्नभूयस्त्वम्' इति । व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं चेदं त्रिवृत्करणम् । व्यवहारश्च त्रिवृत्कृतरज्जुवदेकत्वापत्तौ सत्यां न भेदेन भूतत्रयगोचरो लोकस्य

भाष्यका अनुवाद

तुशब्दसे उक्त दोषका निराकरण करते हैं । विशेषका भाव वैशेष्य है अर्थात् भूयस्त्व । यद्यपि त्रिवृत्करण है, तो भी क्वचित् किसी एक धातुका आधिक्य उपलब्ध होता है—'अग्नेस्तेजोभूयस्त्वम्०' (अग्निमें तेजका आधिक्य है, उदकमें जलका और पृथिवीमें अन्नका आधिक्य है) और व्यवहारकी प्रसिद्धिके लिए यह त्रिवृत्करण है । त्रिवृत् की गई रज्जुके समान एकत्वका प्रसंग होनेपर लोकमें तीन भूतसम्बन्धी भेदव्यवहार प्रसिद्ध न होगा ।

रत्नप्रभा

एवं विषयम् उक्त्वा दोषं शङ्कते—**अत्राहेति** । तदुत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—**तुशब्देनेति** । स्वभागाधिक्यं वैशेष्यं किमर्थं कृतम् इत्यत आह—**व्यवहार-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार विषय कहकर दोषकी शङ्का करते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे । शङ्काके उत्तररूपसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तु-शब्देन" इत्यादिसे । अपने भागका आधिक्य, ऐसा वैशेष्य किसलिए किया है, इसपर कहते हैं—"व्यवहार प्रसिद्ध्यर्थम्" इत्यादिसे । इस प्रकार ब्रह्ममें जो

भाष्य

प्रसिद्ध्येत्। तस्मात् सत्यपि त्रिवृत्करणे वैशेष्यादेव तेजोबन्नविशेषवादो भूतभौतिकविषय उपपद्यते। तद्वादस्तद्वाद इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥४॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्येऽविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

इसलिए त्रिवृत्करण है, तो भी भूतभौतिकमें तेज, जल और अन्न, ऐसा विशेषवाद वैशेष्यसे ही उपपन्न होता है। 'तद्वादस्तद्वादः' इस पदकी पुनरुक्ति अध्यायकी परिसमाप्तिको सूचित करती है ॥२२॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्य भाषानुवादमें द्वितीय अध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त।

रत्नप्रभा

प्रसिद्ध्यर्थमिति। एवं स्मृतिन्यायमतान्तरश्रुतिभिरविरोधः ब्रह्मणि वेदान्ततात्पर्यस्य इति सिद्धम् ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-श्रीरामानन्दकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनभाष्य-व्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ २ ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेदान्ततात्पर्य्य है, उसका स्मृति, न्याय, मतान्तर और श्रुतियोंके साथ विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २२ ॥

यतिवर भोलेबाबा विरचित द्वितीय अध्यायके चतुर्थ पादका भाषानुवाद समाप्त।



अथ तृतीयोऽध्यायः ।

[तृतीयसाधनाख्याध्याये प्रथमपादे गत्यागतिचिन्ता—वैराग्यनिरूपणविचारश्च]

[१ तदनन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् सू० १-७]

अवेष्टितो वेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान् व्रजेत् ।
भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः । १ ॥
बीजानां दुर्लभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः ।
पञ्चमाहुतियुक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—जीव मरनेके अनन्तर सूक्ष्मभूतोंसे अवेष्टित जाता है या वेष्टित जाता है ?

पूर्वपक्ष—अवेष्टित जाता है, क्योंकि भूत सर्वत्र सुलभ हैं ।

सिद्धान्त—जीव सूक्ष्मभूतोंसे युक्त जाता है, क्योंकि भूतके सुलभ होनेपर भी देहके बीज भूत सर्वत्र सुलभ नहीं हैं और निराधार इन्द्रियोंकी गति नहीं हो सकती और पञ्चम आहुतिका कथन है ।

---

* इस अधिकरणका मतलब यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—पूर्वपादमें प्रतिपादित प्राणोपाधिक जीव अन्य शरीरकी प्राप्तिके समयमें पूर्व शरीरसे भावी शरीरके बीजभूत सूक्ष्मभूतोंसे वेष्टित नहीं जाता है, क्योंकि पञ्चभूत सर्वत्र सुलभ हैं, इसलिए उनको साथमें ले जाना निरर्थक है ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि सामान्य भूत सर्वत्र सुलभ हैं, तथापि देहके कारण भूत सर्वत्र सुलभ नहीं है, इससे यहींसे भूत जाते हैं । किञ्च जीवके उपाधिभूत इन्द्रियोंका भूतके आधार बिना परलोकगमन नहीं हो सकता है, क्योंकि जीवनकी दशामें ऐसा देखा नहीं जाता है । श्रुति भी इसी अर्थको कहती है—'पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति' अर्थात् स्वर्गलोक, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री ये पांच पदार्थ उपासनामें अग्निरूपसे स्वीकृत हैं । उन अग्नियोंमें स्वर्गके प्रति आता और जाता हुआ जीव आहुतिरूपसे परिकल्पित है, इष्टापूर्तकारी जीव स्वर्गमें जाकर वहांसे उपभोग द्वारा पुण्य कर्मोंके क्षीण होनेपर मेघमें जाकर फिर वृष्टिरूपसे पृथिवीमें आता है और अन्नरूपसे पुरुषको प्राप्तकर फिर रेतोद्वारा स्त्रीमें प्रवेश करके शरीरका ग्रहण करता है । इसलिए अप्शब्दसे उपलक्षित देहके बीजभूत पांचों भूत जीवके साथ स्वर्ग आदि पांच स्थानोंमें पहुँचकर पांचवें स्थानमें शरीर भाव प्राप्त करके पुरुष शब्दसे वाच्य होते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि—बीजोंसे वेष्टित ही जीव परलोकमें जाता है ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननि-रूपणाभ्याम् ॥१॥

पदच्छेद—तदन्तरप्रतिपत्तौ, रंहति, सम्परिष्वक्तः, प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।

पदार्थोक्ति—तदन्तरप्रतिपत्तौ—देहान्तरप्राप्तौ, [भाविशरीरारम्भकभूत-सूक्ष्मैः] सम्परिष्वक्तः—परिवेष्टितः, [सन् धूमादिमार्गेण स्वर्गलोकं] रंहति—गच्छति, [कुतः ?] प्रश्ननिरूपणाभ्याम्—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषपचसो भवन्ति' इति प्रश्नः, तथा 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति प्रतिवचनम्, ताभ्याम् हेतुभ्यामित्यर्थः ।

भाषार्थ—अन्य देहकी प्राप्तिमें देहके बीजभूत भूतसूक्ष्मोंसे परिवेष्टित ही जीव धूमादि मार्गद्वारा स्वर्गलोकमें गमन करता है, क्योंकि 'वेत्थ यथा०' (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है, क्या तू उसे जानता है ?) यह प्रश्न और 'इति तु पञ्चाम्यामाहुता०' (इस प्रकार पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है) यह निरूपण—प्रतिवचन है ।

भाष्य

द्वितीयेऽध्याये स्मृतिन्यायविरोधो वेदान्तविहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः । परपक्षाणां चानपेक्षत्वं प्रपञ्चितम् । श्रुतिविप्रतिषेधश्च परिहृतः । तत्र च

भाष्यका अनुवाद

द्वितीय अध्यायमें वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्मज्ञानमें श्रुति और न्यायके विरोधका परिहार किया गया है । एवं परपक्ष अपेक्षित नहीं है इसका विस्तारपूर्वक वर्णन तथा श्रुतियोंके विरोधका निराकरण किया गया है । और उनमें जीवसे

रत्नप्रभा

ॐ ब्रह्मणे नमः ।

यं हि वैराग्यसम्पन्नास्तत्त्वमर्थविवेकिनः ।
लभन्ते साधनैर्दान्तास्तं सीतानायकं भजे ॥ १ ॥

वृत्तम् अनूद्य तृतीयाध्यायार्थमाह—**द्वितीय इत्यादिना** । अविरुद्धे वेदान्तार्थे

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैराग्यसे युक्त, अर्थ-अनर्थके विवेकी तथा दान्त—जितेन्द्रिय लोग जिस तत्त्वको अनेक साधनोंसे प्राप्त करते हैं, उस तत्त्व, सीताके नायक श्रीरामचन्द्रका मैं भजन करता हूँ ॥ १ ॥

'तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' । वृत्तका अनुवाद करके तृतीय अध्यायका अर्थ—विषय कहते हैं—"द्वितीय" इत्यादिसे । वेदान्तार्थके अविरुद्ध सिद्ध

भाष्य

जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि जीवोपकरणानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तम्। अथेदानीमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगतिप्रकारस्तदवस्थान्तराणि ब्रह्मसतत्त्वं विद्याभेदाभेदौ गुणोपसंहारानुपसंहारौ सम्यग्दर्शनात्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्दर्शनोपायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये निरूपयिष्यते प्रसङ्गागतं च किमप्यन्यत्। तत्र प्रथमे तावत्पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते वैराग्यहेतोः, 'तस्माज्जुगु-

भाष्यका अनुवाद

अतिरिक्त जो जीवके उपकरण हैं, वे ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, यह कहा गया है। अब उपकरणोंसे सहित जीवकी संसारगतिका प्रकार, उसकी अन्य अवस्थाएँ, ब्रह्मका तत्त्व, विद्याका भेद और अभेद, गुणोंका उपसंहार और अनुपसंहार, सम्यग्ज्ञानसे पुरुषार्थकी सिद्धि, सम्यग्ज्ञानके उपायकी भिन्न-भिन्न विधियोंका भेद और मुक्तिफलका अनियम—इन विषयोंका तृतीय अध्यायमें निरूपण किया जायगा, और प्रसंगसे आया हुआ कुछ और भी कहा जायगा। वहां प्रथम पादमें पंचाग्नि विद्याका आश्रयण करके संसारगतिका प्रभेद वैराग्यके लिए दिखलाया जाता है, क्योंकि 'तस्माज्जुगुप्सेत' (इससे—आवागमनमें

रत्नप्रभा

तज्ज्ञानसाधनचिन्तावसर इत्यनयोर्हेतुहेतुमद्भावः। लिङ्गोपाधिसिद्धौ तदुपहितजीवसंसारचिन्ता इति पादयोरपि तद्भावसंगतिः। अत्र प्रथमपादे वैराग्यं, द्वितीये स्वप्नाद्यवस्थोक्त्या त्वम्पदार्थो ब्रह्मतत्त्वं च उच्यते। तृतीये वाक्यार्थः, तदर्थमुपासनाश्च विचार्यन्ते। चतुर्थपादार्थम् आह—**सम्यग्दर्शनादिति**। दर्शनोपायाः—संन्यासादयः। मुक्तिरूपफलस्य स्वर्गवत् तारतम्यनियमाभावः, एकरूपत्वम् इति यावत्। प्रसंगागतम्—देहात्मदूषणम्। पञ्चसु द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु अग्नित्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर उसके ज्ञानसाधनकी चिन्ताका अवसर उपस्थित होता है, इससे दूसरे और तीसरे अध्यायके अर्थमें हेतुहेतुमद्भाव संगति—संबन्ध है। लिंगोपाधि—जीवके उपकरण सिद्ध होनेपर उस उपाधिवाले जीवकी संसारगतिका चिन्ता-विचार होता है, इससे पिछले पाद और इस पादमें भी हेतुहेतुमद्भाव—कार्यकारणभाव ही संबन्ध है। यहां प्रथम पादमें वैराग्यका निरूपण है। द्वितीय पादमें स्वप्नादि अवस्थाओंकी उक्तिसे त्वंपदका अर्थ और ब्रह्मतत्त्व कहा गया है। तृतीयमें वाक्यार्थ—तत्-त्वंका ऐक्य और उसके लिए उपासनाका विचार किया गया है। चतुर्थपादका अर्थ कहते हैं—"सम्यग्दर्शनात्" इत्यादिसे। दर्शनोपाय—सम्यग्ज्ञानके उपाय

भाष्य

प्सेत्' इति चान्ते श्रवणात् । जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्कोऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत इत्येतदवगतम्, अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति' इत्येवमादेः 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते' (बृ० ४।४।१,४) इत्येवमन्तात् संसारप्रकरणस्थाच्छब्दात्, धर्माधर्मफलोपभोगसंभवाच्च । स किं देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो गच्छत्याहोस्वित्संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? असंपरिष्वक्त

भाष्यका अनुवाद

दुःख होनेसे स्वर्गादिसे विरक्त होवे) ऐसी अन्तमें श्रुति है। मुख्य प्राण, इन्द्रिय, मन, अविद्या, कर्म और जन्मान्तरके संस्कारोंके साथ जीव पूर्वदेहका त्याग कर दूसरा देह प्राप्त करता है, ऐसा समझा गया है, क्योंकि 'अथैवमेते प्राणा०' (मरणकालमें ये वाक् आदि इन्द्रियां जीवके साथ हृदयमें एकत्रित हो जाती हैं) यहांसे लेकर 'अन्यन्नवतरम्०' (दूसरा, अधिक नवीन और कल्याणतर रूप-देहान्तरका ग्रहण करता है) यहां तक संसारप्रकरणमें शब्द-श्रुति है। और धर्म और अधर्मके फलके उपभोगका संभव भी है। वह जीव क्या देहके बीज भूतोंके सूक्ष्म भागोंके साथ असम्बद्ध जाता है या संबद्ध ? इसका विचार किया जाता है। तब क्या प्राप्त होता है ? असम्बद्ध जाता है,

रत्नप्रभा

ध्यानं—पञ्चाग्निविद्या । यस्मात् कर्मणा गत्यागतिरूपः अनर्थः, तस्मात् कर्मफले जुगुप्सां घृणां विरक्तिं कुर्वीत इति पञ्चाग्निविद्योपसंहारे श्रवणात् वैराग्यार्थं प्रदर्श्यते इत्यन्वयः । शास्त्रादिसूत्रे नित्यानित्यविवेककृतं वैराग्यम् उक्तम्, इह तद्दार्ढ्याय गत्यागतिक्लेशभावनाकृतं तदुच्यते इत्यपौनरुक्त्यम् । अधिकरणविषयमाह—जीव इति । अविद्या प्रसिद्धा । विद्येति पाठे उपासना ग्राह्या । कर्म—धर्माधर्माख्यम् । पूर्वप्रज्ञा—जन्मान्तरसंस्कारः । अथ मरणकाले प्राणा हृदये जीवेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

संन्यास आदि हैं। मुक्तिरूप फलका स्वर्गके समान तारतम्यरूप नियमका अभाव है अर्थात् एक रूप है। प्रसङ्गसे आया हुआ कुछ अन्य अर्थात् देहात्मदूषण। स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री इन पांचोंमें अग्निदृष्टि रखना अर्थात् अग्निरूपसे ध्यान करना, पंचाग्निविद्या है। जिससे कर्मद्वारा संसारमें गमन और आगमनरूप अनर्थ होता है, उससे कर्मफलमें जुगुप्सा-घृणा-विरक्ति करनी चाहिए, ऐसी पंचाग्निविद्याके उपसंहारमें श्रुति है, इससे [संसारगतिका प्रभेद—पुण्य-पापरूप फलकी गतिका प्रकार] वैराग्यके अर्थ दिखलाये गये हैं, ऐसा अन्वय है। शास्त्रके

भाष्य

इति। कुतः? करणोपादानवद् भूतोपादानस्याश्रुतत्वात्। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानः' (बृ० ४।४।१) इति ह्यत्र तेजोमात्राशब्देन करणानामुपादानं संकीर्तयति, वाक्यशेषे चक्षुरादिसंकीर्तनात्। नैवं भूतमात्रोपादानसंकीर्तनमस्ति, सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्राः, यत्रैव देह आरब्धव्यस्तत्रैव सन्ति ततश्च तासां नयनं निष्प्रयोजनम्, तस्मादसंपरिष्वक्तो यातीति।

भाष्यका अनुवाद

ऐसा। किससे? इससे कि इन्द्रियोंके उपादानके समान भूतोंका उपादान श्रुतिमें नहीं कहा गया है। 'स एतास्तेजोमात्राः०' (वह आत्मा इन तेजके अवयवोंको साथ लेकर) इसमें 'तेजोमात्राः' शब्दसे श्रुति करणोंका उपादान कहती है, क्योंकि वाक्यशेषमें चक्षु आदिका कथन है। इस प्रकार भूतमात्राके उपादानका कथन नहीं है। और भूतोंके अवयव सर्वत्र सुलभ हैं। जहां देहका आरम्भ होगा, वहीं वे वर्तमान हैं, इसलिए उनको—भूतमात्राओंको साथ ले जाना, निष्प्रयोजन है। इससे जीव असम्बद्ध ही जाता है।

रत्नप्रभा

एकीभवन्तीत्यर्थः। रूपं—शरीरम्। पञ्चीकृतभूतभागाः उत्तरदेहपरिणामिनः—भूतसूक्ष्माः। वेदान्तार्थज्ञानसाधनविचारत्वात् सर्वाधिकरणानां श्रुतिशास्त्राध्यायसङ्गतयः। वैराग्यफलकत्वादेतत्पादसंगतिः। पूर्वाधिकरणे व्यवहारार्थं पञ्चीकरणमुक्तम्। स व्यवहारोऽत्र निरूप्यत इति फलफलिभावोऽवान्तरसंगतिः। अत्र पूर्वपक्षे निराश्रयप्राणगत्यभावात् न वैराग्यम्, सिद्धान्ते भूताश्रयप्राणगतेः वैराग्यमिति फलभेदः। तेजोमात्राः—चक्षुरादयः। पश्यति जिघ्रतीति वाक्यशेषात्। आपः पञ्चस्वग्निषु हुताः पञ्चम्याम् आहुतौ हुतायां यथा पुरुषशब्दवाच्याः पुरुषात्मना

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिके सूत्रमें नित्यानित्यविवेकरूप वैराग्य कहा गया है, और यहां संसारमें गमनागमन क्लेशकी भावनासे उत्पन्न वैराग्यकी दृढ़ता कही गई है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। अधिकरणका विषय कहते हैं—"जीव" इत्यादिसे। अविद्या प्रसिद्ध है। [अनादि, अनिर्वाच्य, चित्प्रतिबिम्बका निमित्त होनेसे जो जीवत्वका कारण है, वह अविद्या है] यदि 'विद्या' पाठ हो, तो उपासनारूप अर्थ लेना चाहिए। कर्म—धर्म-अधर्म संज्ञक। पूर्वप्रज्ञा—जन्मान्तरीय संस्कार। मरणकालमें प्राण हृदयमें जीवके साथ एक हो जाते हैं, ऐसा अर्थ है। रूप—शरीर। उत्तर देहमें परिणामी पंचीकृत भूतोंके भाग 'भूतसूक्ष्म' है। सब अधिकरणोंमें वेदान्तके अर्थ–

भाष्य

एवं प्राप्ते पठत्याचार्यः—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति। तदन्तरप्रतिपत्तौ देहात् देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम्। कुतः? प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। तथाहि प्रश्नः—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति। निरूपणं च प्रतिवचनं द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्टयन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा 'इति तु पञ्च-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा प्राप्त होनेपर आचार्य कहते हैं—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्त' इति। उस देहसे अन्य देहकी प्राप्तिमें देहके बीजभूत भूतोंके सूक्ष्म-मात्राओंके साथ सम्बद्ध (जीव) रंहति—जाता है, ऐसा समझना चाहिए। किससे? प्रश्न और उसके निरूपणसे। क्योंकि 'वेत्थ यथा०' (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है, यह तू जानता है?) ऐसा प्रश्न है। और स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री इन पांच अग्नियोंमें श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और रेत ये पांच आहुतियां हैं, ऐसा दिखलाकर 'इति तु पञ्चम्या०' (इस प्रकार पांचवीं आहुतिके प्रक्षेप होनेपर जल पुरुषसंज्ञक होता है) ऐसा निरूपण

रत्नप्रभा

परिणमन्ते तथा किं त्वं वेत्थेति श्वेतकेतुं प्रति राज्ञः प्रवाहणस्य प्रश्नः। तस्य चोत्तराज्ञाने तत्पितरं प्रति राजोवाच [छा० ११४११ (बृ० ६।२।९)]—'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' तत्र श्रद्धाख्याः आपः आहुतिः, पर्जन्याग्नौ सोमरूपाः इह खल्वग्निहोत्रे श्रद्धया हुताः दध्यादिरूपा आपो यजमानसंलग्नाः स्वर्गं लोकं प्राप्य सोमाख्यदिव्यदेहात्मना स्थिताः कर्मान्ते द्रुताः पर्जन्ये हूयन्ते, ततो वृष्टिरूपाः पृथिव्याम्, अन्नरूपाः पुरुषे, रेतोरूपाः योषिति हुताः आपः पुरुष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मका जो ज्ञान है, उसके साधनोंका विचार किया गया है, इसलिए श्रुति, शास्त्र और अध्यायोंकी संगति है, वैराग्य इसका फल है, इससे इस पादकी संगति है। पूर्व अधिकरणमें व्यवहारके लिए पंचीकरण कहा गया है, उस व्यवहारका यहां निरूपण किया गया है, इससे फलफलिभाव—कार्य्यकारणभाव अवान्तर संगति है। पूर्वपक्षमें निराश्रय प्राणकी गति न होनेसे वैराग्य सिद्ध नहीं होता है, और सिद्धान्तमें तो भूताश्रय प्राणोंकी गति होनेसे वैराग्य सिद्ध होता है, ऐसा फलभेद है। तेजोमात्रा—चक्षु आदि इन्द्रियां, क्योंकि पश्यति—देखता है, जिघ्रति—सूंघता है, ऐसा वाक्यशेष है। पांच अग्नियोंमें आहुति—हवन किया गया जल

भाष्य

स्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।९।१) इति। तस्मादद्भिः परिवेष्टितो जीवो रंहति व्रजतीति गम्यते। नन्वन्या श्रुतिर्जलूकावत्पूर्वदेहं न मुञ्चति यावन्न देहान्तरमाक्रमतीति दर्शयति—'तद्यथा तृणजलायुका' (बृ० ४।४।३) इति। तत्राप्यप्परिवेष्टितस्यैव जीवस्य कर्मोपस्थापित-

भाष्यका अनुवाद

है। इसलिए जलसे परिवेष्टित ही जीव जाता है, ऐसा समझा जाता है। परन्तु 'तद्यथा तृणजलायुका' (उसमें—देहान्तरसंचारमें जैसे तृणजलायुक—कीट विशेष) इस प्रकारकी अन्य श्रुति कीटके समान जबतक अन्य देहमें जीव नहीं जाता, तबतक पूर्वदेहका त्याग नहीं करता, ऐसा दिखलाती है। उसमें भी अप्-जलसे परिवेष्टित ही जो जीव है, उसके कर्मसे उपस्थापित प्राप्त करनेके योग्य

रत्नप्रभा

शब्दवाच्याः—पुमात्मका भवन्ति' इति निरूपणं कृतम्। ननु एतद्देहं त्यक्त्वा अद्भिः सह गतस्य पश्चाद् देहान्तरप्राप्तिः, इति अयुक्तम्। यथा तृणजलायुका तृणान्तरं गृहीत्वा पूर्वतृणं त्यजति, तथा जीवो देहान्तरं गृहीत्वा पूर्वदेहं त्यजतीति श्रुतिविरोधादिति शङ्कते—नन्वन्येति। इहैव कर्मायत्तभाविदेहं देवोऽहमित्यादिभावनया गृहीत्वा पूर्वदेहं त्यजतीति श्रुत्यर्थः। अतो न विरोधः इति समाधत्ते—तत्रापीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पांचवीं आहुति होनेपर जैसे पुरुषशब्दवाच्य होता हुआ पुरुष (मनुष्य) शरीररूपमें परिणत होता है, उसे क्या तू जानता है? ऐसा श्वेतकेतुसे प्रवाहण राजाका प्रश्न है। उसके उत्तरका ज्ञान न होनेपर उसके पितासे राजाने कहा—'असौ वाव लोको०' (हे गौतम! वह स्वर्गलोक अग्नि है, उसमें श्रद्धानामक जल आहुति है, पर्जन्यरूप अग्निमें सोमरूप आहुति है, यहां अग्निहोत्रमें श्रद्धासे हवन किया गया दधि आदिरूप जल यजमानके साथ संलग्न होकर स्वर्गलोक प्राप्त करके सोमसंज्ञक दिव्य देहस्वरूपसे स्थित कर्मके अन्तमें पिघलकर (द्रवीभूत होकर) पर्जन्यमें आहुत होता है, पीछे यही हवन किया गया जल पृथिवीमें वृष्टिरूप, पुरुषमें अन्नरूप और स्त्रीमें रेतोरूप, पुरुषशब्दवाच्य—पुमात्मक होता है) ऐसा निरूपण किया है। परन्तु इस देहका त्याग करके जलके साथ गया हुआ जीव पीछे देहान्तर प्राप्त करता है, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे तृणजलायुका-कीट अन्य तृणका ग्रहण करके पूर्व तृणका त्याग करता है, वैसे ही जीव भी अन्य देहका ग्रहण करके पूर्व देहका त्याग करता है, इस श्रुतिसे विरोध है, ऐसी शंका करते हैं—"नन्वन्या" इत्यादिसे। यहींपर कर्मसे उपस्थापित जो प्राप्तव्य देह है उसे 'मैं देव हूँ' इत्यादि भावना द्वारा प्राप्त कर (जीव) पूर्वदेहका त्याग करता है, ऐसा श्रुत्यर्थ है। इससे विरोध नहीं है, ऐसा समाधान करते हैं—"तत्रापि"

भाष्य

प्रतिपत्तव्यदेहविषयभावनादीर्घीभावमात्रं जलूकयोपमीयत इत्यविरोधः। एवं श्रुत्युक्ते देहान्तरप्रतिपत्तिप्रकारे सति याः पुरुषमतिप्रभवाः कल्पनाः— व्यापिनां करणानामात्मनश्च देहान्तरप्रतिपत्तौ कर्मवशाद् वृत्तिलाभस्तत्र भवति, केवलस्यैवात्मनो वृत्तिलाभस्तत्र भवति, इन्द्रियाणि तु देहवदभिनवान्येव तत्र तत्र भोगस्थान उत्पद्यन्ते, मन एव वा केवलं भोगस्थानमभिप्रतिष्ठते, जीव एव वोत्प्लुत्य देहाद्देहान्तरं प्रतिपद्यते शुक इव वृक्षाद् वृक्षान्तरम्—

भाष्यका अनुवाद

जो देह है, तद्विषयकभावनादीर्घीभावमात्र ही जलूका-कीटसे उपमित है, अतः विरोध नहीं है। उक्त रीतिसे अन्य देहकी प्राप्तिका प्रकार श्रुतिमें कहा गया है। इसलिए पुरुषबुद्धिसे उत्पन्न हुई जो कल्पनाएँ हैं—'आत्मा और इन्द्रियां व्यापक हैं जब वे अन्य देह प्राप्त करते हैं तब कर्मवशसे उस देहमें वृत्तिलाभ होता है, केवल आत्माका ही उसमें वृत्तिलाभ होता है, इन्द्रियां तो देहके समान नयी-नयी ही उन-उन भोगस्थानोंमें उत्पन्न होती हैं। अथवा केवल मन ही भोगस्थानके प्रति जाता है, जैसे शुक एक वृक्षसे कूदकर दूसरे वृक्षपर जा बैठता है, वैसे

रत्नप्रभा

भावनाया दीर्घीभावः—भाविदेहविषयत्वम्। घटाकाशवदुपहितो जीवः सूक्ष्मोपाधिगत्या लोकान्तरं गच्छतीति पञ्चाग्निश्रुत्युक्तः प्रकारः, तद्विरोधात् अन्याः कल्पनाः सर्वा अनादर्तव्या इत्यन्वयः। साङ्ख्यकल्पनामाह—**व्यापिनामिति**। सुगतकल्पनामाह—**केवलस्येति**। निर्विकल्पकज्ञानसन्तानरूपस्य आत्मनः देहान्तरे शब्दादिसविकल्पकज्ञानाख्यवृत्तिलाभो भवतीत्यर्थः। काणादकल्पनामाह—**मन इति**। देहान्तरं प्रति मनोमात्रं गच्छति। इन्द्रियाणि तु नूतनान्येवा

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। भावनाका दीर्घीभाव—भाविदेहविषयत्व। घटाकाशके समान उपाधिवाला जीव सूक्ष्म उपाधिकी गतिसे अन्य लोकमें जाता है, यह पंचाग्निश्रुतिमें कहा गया प्रकार है, उससे विरोध होनेके कारण अन्य कल्पनाएँ सबके सब अनादरणीय है, ऐसा अन्वय है। सांख्योंकी कल्पना कहते हैं—"व्यापिनाम्" इत्यादिसे। सुगतोंकी कल्पना कहते हैं—"केवलस्य" इत्यादिसे। निर्विकल्पकज्ञानका सन्तानरूप जो आत्मा है, उसका अन्य शरीरमें शब्दादिसविकल्पक ज्ञानसंज्ञक वृत्तिलाभ होता है, ऐसा अर्थ है। काणादोंकी कल्पना कहते हैं—"मन" इत्यादिसे।

भाष्य

इत्येवमाद्याः ताः सर्वा एवानादर्त्तव्याः, श्रुतिविरोधात् ॥ १ ॥

ननूदाहृताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां केवलाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो रंहतीति प्राप्नोति, अप्शब्दश्रवणसामर्थ्यात् । तत्र कथं सामान्येन प्रतिज्ञायते सर्वैरेव भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहतीति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

जीव ही एक देहसे कूदकर अन्य देह प्राप्त करता है,—इत्यादि सभी अनादरणीय हैं, क्योंकि श्रुतियोंके साथ उनका विरोध है ॥१॥

परन्तु निर्दिष्ट किये गये प्रश्न और प्रतिवचनसे जीव जलसे परिवेष्टित हो जाता है, क्योंकि अप् (जल) शब्दके श्रवणका सामर्थ्य है, तो सभी भूतसूक्ष्मोंसे संलग्न जीव जाता है, ऐसी सामान्य प्रतिज्ञा कैसे की है ? इससे उत्तर पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

आरभ्यन्ते । दिगम्बरकल्पनामाह—जीव इति ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य देहके प्रति केवल मन ही जाता है, इन्द्रियां तो नूतन ही उत्पन्न होती हैं । दिगम्बरोंकी कल्पना कहते हैं—"जीव" इत्यादिसे ॥१॥

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

पदच्छेद—त्र्यात्मकत्वात्, तु, भूयस्त्वात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः आशङ्कानिवृत्त्यर्थः, [त्रिवृत्करणश्रुत्या अपाम् इतरभूतद्वयमेलनेन] त्र्यात्मकत्वात्—भूतत्रयात्मकत्वात् [जलेतरभूतपरिष्वङ्गस्यापि सिद्धिः, ननु श्रुतौ जलभूयस्त्वं कथं सयुक्तिकमिति चेत्, न;] भूयस्त्वात्—तेज आद्यपेक्षया शरीरे जलभागस्याधिक्यात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—त्रिवृत्करण श्रुतिसे अन्य दो भूतोंके मेलनसे जल त्र्यात्मक है, अतः जलसे इतर भूतोंका परिष्वङ्ग सिद्ध है, यदि कोई कहे कि श्रुतिमें जल-भूयस्त्व अनुपपन्न है, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि तेज आदिकी अपेक्षासे शरीरमें जलका आधिक्य है ।

भाष्य

तुशब्देन चोदितामाशङ्कामुच्छिनत्ति । त्र्यात्मिका ह्यापः, त्रिवृत्करण-श्रुतेः । तास्वारम्भिकास्वभ्युपगतास्वितरदपि भूतद्वयमवश्यमभ्युपगन्तव्यं भवति । त्र्यात्मकश्च देहः, त्रयाणामपि तेजोबन्नानां तस्मिन्कार्योपलब्धेः; पुनश्च त्र्यात्मकः, त्रिधातुत्वात्—त्रिभिर्वातपित्तश्लेष्मभिः । न भूतान्तराणि स प्रत्याख्याय केवलाभिरद्भिरारब्धुं शक्यते । तस्माद्भूयस्त्वापेक्षोऽयमापः पुरुषवचस इति प्रश्नप्रतिवचनयोरप्शब्दो न कैवल्यापेक्षः, सर्वदेहेषु हि रसलोहितादिद्रवद्रव्यभूयस्त्वं दृश्यते । ननु पार्थिवो धातुर्भूयिष्ठो देहेषूपलक्ष्यते । नैष दोषः । इतरापेक्षयाप्यपां बाहुल्यं भविष्यति । दृश्यते च शुक्रशोणितलक्षणेऽपि देहबीजे द्रवबाहुल्यम् । कर्म च निमित्तकारणं देहा-

भाष्यका अनुवाद

अवतरणमें की गई आशंकाका तुशब्दसे उच्छेद करते हैं । जल त्र्यात्मक है, क्योंकि त्रिवृत्करण की श्रुति है । उस जलको, देहका आरम्भक स्वीकार करनेपर दूसरे दो भूत—तेज और पृथिवीमें भी आरम्भकत्व अवश्य स्वीकार करना योग्य है । और देह त्र्यात्मक है, क्योंकि तेज, जल और अन्न इन तीनोंका कार्य उसमें उपलब्ध होता है । फिर भी देह त्र्यात्मक है, क्योंकि वात, पित्त और श्लेष्म होनेसे उसमें तीन धातु हैं । अन्य भूतोंका प्रत्याख्यान कर केवल जलसे वह उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए 'जल पुरुषात्मक होता है' ऐसा जो प्रश्न और प्रतिवचनमें जल शब्द है, वह जलके कैवल्यकी अपेक्षासे नहीं है, किन्तु भूयस्त्वकी अपेक्षासे है । क्योंकि सब देहोंमें रस, लोहित आदि द्रवद्रव्यत्वका बाहुल्य देखनेमें आता है । परन्तु पार्थिव धातु भी देहोंमें भूयिष्ठ—अधिकतर देखा जाता है । यह दोष नहीं है, क्योंकि दूसरे—तेज और वायुकी अपेक्षासे जलका

रत्नप्रभा

ननु पाकस्वेदगन्धरूपकार्यत्रयोपलब्धेः त्र्यात्मको देह इति अयुक्तम्, प्राणावकाशयोरप्युपलब्ध्या देहस्य पञ्चभूतात्मत्वात्, इत्यरुच्या व्याख्यान्तरमाह—**पुनश्चेति** । देहधारकत्वात् धातवो वातादयः, तैः त्रिधातुत्वात् त्र्यात्मक इत्यन्वयः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु भुक्त अन्नके पाक, स्वेद और गन्ध ये तीन कार्य देहमें उपलब्ध होते हैं, अतः देह त्र्यात्मक है, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि प्राण और अवकाशरूप कार्योंकी भी उपलब्धिसे देह पञ्चभूतात्मक है, इस अरुचिसे अन्य व्याख्या करते हैं—"पुनश्च" इत्यादिसे । वात, पित्त और कफ ये तीन देहके धारक होनेसे धातु हैं । इनसे तीन धातुवाला होनेके कारण देह त्र्यात्मक है, ऐसा अन्वय है । देह केवल जलसे उत्पन्न है, ऐसा माननेपर, वात

भाष्य

न्तरारम्भे। कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्रवद्रव्यव्यपाश्रयाणि। कर्मसमवायिन्यश्चापः श्रद्धाशब्दोदिताः सह कर्मभिर्द्युलोकाख्येऽग्नौ हूयन्ते इति वक्ष्यति, तस्मादप्यपां बाहुल्यप्रसिद्धिः। बाहुल्याच्चाप्शब्देन सर्वेषामेव देहबीजानां भूतसूक्ष्माणामुपादानमिति निरवद्यम् ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

बाहुल्य होगा। और शुक्र, शोणितरूप देहबीजमें भी द्रवका बाहुल्य देखनेमें आता है। और अन्य (स्वर्गीय) देहकी उत्पत्तिमें कर्म निमित्तकारण है। अग्निहोत्र आदि कर्म सोम, आज्य, पय आदि द्रवद्रव्यके आश्रित होते हैं। और कर्ममें स्थित जो जल श्रद्धाशब्दसे कहा गया है, वह कर्मोंके साथ द्युलोकसंज्ञक अग्निमें प्रक्षिप्त किया जाता है, ऐसा आगे कहेंगे। इससे भी जलकी अधिकता सिद्ध है। और आधिक्य होनेके कारण जल शब्दसे सभी देहके बीज भूतसूक्ष्मोंका ग्रहण है, यह निरवद्य है ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

देहस्य केवलाब्जत्वे वातं पित्तं च वायव्यं तैजसं न स्याताम् इति भावः। पृथिवीतरभूतापेक्षया अपां बाहुल्यम्। किञ्च देहनिमित्तानां कर्मणाम् अब्बाहुल्यात् ताभिर्भूतान्तराणि उपलक्ष्यन्त इत्याह—कर्म चेत्यादिना ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और पित्त जो वायव्य और तैजस हैं, वे उसमें नहीं होंगे, ऐसा भाव है। पृथिवीसे भिन्न भूतोंकी अपेक्षा देहमें जलका आधिक्य है। किंच, देहके निमित्त कर्मोंमें जलका बाहुल्य होनेसे जलसे अन्य भूत उपलक्षित होते हैं, ऐसा कहते हैं—"कर्म च" इत्यादिसे ॥२॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

पदच्छेद—प्राणगतेः, च।

पदार्थोक्ति—च—अपि, प्राणगतेः—['तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति इति श्रुतौ] प्राणानाम्—इन्द्रियाणाम्, गतेः—[जीवेन सह धूमादिमार्गेण] स्वर्गलोकगमनश्रवणात्, [तत्परिष्वङ्गसिद्धिः]

भाषार्थ—और 'तमुत्क्रामन्तम्०' इस श्रुतिमें इन्द्रियोंका जीवके साथ धूमादि मार्ग द्वारा स्वर्गलोकमें गमन कहा गया है, इससे भी परिष्वङ्ग सिद्ध है।

भाष्य

प्राणानां च देहान्तरप्रतिपत्तौ गतिः श्राव्यते—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभिः । सा च प्राणानां गतिर्नाश्रयमन्तरेण संभवतीत्यतः प्राणगतिप्रयुक्ता तदाश्रयभूतानामपामपि भूतान्तरोपसृष्टानां गतिरर्थात् अवगम्यते । नहि निराश्रयाः प्राणाः क्वचिद्गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा, जीवतो दर्शनात् ॥३॥

भाष्यका अनुवाद

अन्य देहकी प्राप्तिमें 'तमुत्क्रामन्तम्०' (उसके—जीवके उत्क्रमण करनेपर प्राण उत्क्रमण करता है और प्राणके उत्क्रमण करनेपर सब प्राण उत्क्रमण करते हैं) इत्यादि श्रुतियां प्राणोंकी गतिका श्रवण कराती हैं । और प्राणोंकी वह गति आश्रयके बिना उपपन्न नहीं हो सकती है, इससे प्राणगतिमूलक प्राणके आश्रयभूत अन्य भूतोंसे संबद्ध जलकी भी गति अर्थतः समझी जाती है; क्योंकि निराश्रय प्राण कहीं जाते या रहते नहीं हैं, क्योंकि जीते हुए देहमें प्राण साश्रय देख पड़ते हैं [इसलिए उत्क्रमणमें भी उन जीवोंके गति आदि साश्रय प्राणके साथ ही होंगे] ॥३॥

रत्नप्रभा

उत्क्रान्तौ प्राणाः देहबीजपञ्चभूताश्रयाः, प्राणत्वात्, जीवद्देहस्थप्राणवत्, इत्याह—**प्राणगतेश्चेति** ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्क्रमणमें प्राण देहके बीजरूप पंचभूतोंमें आश्रित हैं, प्राण होनेसे, जीते हुए देहमें स्थित प्राणके समान, ऐसा कहते हैं—"प्राणगतेश्च" इत्यादिसे ॥३॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥४॥

पदच्छेद—अग्न्यादिगतिश्रुतेः, इति, चेत्, न, भाक्तत्वात् ।

पदार्थोक्ति—अग्न्यादिगतिश्रुतेः—['अग्निं वागप्येति सूर्यं चक्षुरप्येति मनश्चन्द्रमप्येति' इत्यादि श्रुतौ मरणकाले इन्द्रियाणां तदभिमानिदेवतासु] अग्न्यादिषु गमनश्रवणात्, [इन्द्रियाणां जीवेन सह स्वर्गलोकप्राप्तिरनुपपन्ना] इति चेत्, न; भाक्तत्वात्—['तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति' इत्याद्यनेकश्रुतिविरोधेन अग्न्यादिषु गमनश्रुतेः] गौणत्वात् ।

भाषार्थ—'अग्निं वागप्येति' इत्यादि श्रुतिमें मरणकालमें इन्द्रियोंका अग्नि आदिमें गमनश्रवण होनेसे जीवके साथ इन्द्रियां स्वर्गमें जाती हैं, यह कथन युक्त नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो नहीं कह सकते, क्योंकि 'तमुत्क्रामन्तम्०, इत्यादि अनेक श्रुतियोंके साथ विरोध होनेसे अग्नि आदिमें गतिप्रतिपादक श्रुति गौण है ।

भाष्य

स्यादेतत्—नैव प्राणा देहान्तरप्रतिपत्तौ सह जीवेन गच्छन्ति, अग्न्यादिगतिश्रुतेः। तथाहि श्रुतिर्मरणकाले वागादयः प्राणा अग्न्यादीन्देवान्गच्छन्तीति दर्शयति—'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः' (बृ० ३।२।१३) इत्यादिनेति चेत्, न; भाक्तत्वात्। वागादीनामग्न्यादिगतिश्रुतिर्गौणी, लोमसु केशेषु चादर्शनात्। 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः' (बृ० ३।२।१३) इति हि तत्राम्नायते। नहि लोमानि केशाश्चोत्प्लुत्यौषधीर्वनस्पतींश्च गच्छन्तीति संभवति। नच जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्याने गमनमवकल्प्यते। नापि प्राणैर्विना देहान्तर उपभोग उपपद्यते, विस्पष्टं च प्राणानां सह जीवेन गमनमन्यत्र श्रावितम्, अतो

भाष्यका अनुवाद

परन्तु हो सकता है—अन्य देहकी प्राप्तिमें प्राण जीवके साथ नहीं जाते, कारण, अग्नि आदिमें गतिका श्रवण है। क्योंकि 'यत्रास्य०' (जहां इस मृत पुरुषकी वाणी अग्निमें प्रलीन होती है और प्राण वायुमें लीन होते हैं) इत्यादिसे मरण कालमें वाणी आदि प्राण, अग्नि आदि देवोंमें जाते हैं, ऐसा श्रुति दिखलाती है—यदि ऐसी शंका करो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वह भाक्त—गौण है। वाक् आदिका अग्नि आदिमें गमन दिखलानेवाली श्रुति गौणी है, क्योंकि लोम और केशमें वह देखनेमें नहीं आता। 'ओषधीर्लोमानि०' (लोम औषधियोंमें और केश वनस्पतियोंमें प्रलीन होते हैं) ऐसी वहाँ श्रुति है। लोम और केश कूदकर औषधि और वनस्पतिमें जाते हैं, ऐसा सम्भव नहीं है। इसी प्रकार प्राणरूप उपाधिके परित्याग करनेपर जीवका गमन नहीं हो सकता। और प्राणोंके बिना देहान्तरमें उपभोग भी नहीं हो सकता है और प्राणोंका जीवके

रत्नप्रभा

प्राणानां गतिः असिद्धा इत्याशङ्क्य निषेधति—अग्न्यादीति। अदर्शनात् ओषधिवनस्पतिगमनस्य इति शेषः। लोमानि अपियन्तीत्यर्थः। प्राणानामग्न्यादिषु

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि प्राण साश्रय हैं, तो भी उनकी गति सिद्ध नहीं है, ऐसी आशंका कर इसका निषेध करते हैं—"अग्न्यादि" इत्यादिसे। लोम और केशोंमें उसका दर्शन नहीं है, उसका अर्थात् औषधि और वनस्पतियोंमें गमनका, इतना शेष है। लोम अपियन्ति—लीन होते हैं, ऐसा अर्थ है। प्राणोंका अग्नि आदिमें लय मुख्यार्थमें लेनेसे जीवकी गति और भोग

भाष्य

वागाद्यधिष्ठात्रीणामग्न्यादिदेवतानां वागाद्युपकारिणीनां मरणकाले उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन्गच्छन्तीत्युपचर्यते ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

साथ गमन श्रुतिमें अन्यत्र विस्पष्ट सुनाया गया है। इस कारणसे वाक् आदिकी अधिष्ठात्री अग्नि आदि देवता वाक् आदिके उपकारक हैं और मरणकालमें उनके उपकारकी केवल निवृत्तिकी अपेक्षासे वाक् आदि अग्नि आदिमें जाते हैं, ऐसा उपचार किया गया है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

लयस्य मुख्यत्वे जीवस्य गतिभोगयोः अयोगात् 'सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इति विस्पष्टश्रुतेः लोमादिगौणलयपाठात् च गौणत्वम् इत्यर्थः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अयुक्त होते हैं, अतः 'सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' ऐसी स्पष्ट श्रुति होनेसे, और लोमादिमें गौण लय है, ऐसा पाठ होनेसे अग्न्यादि गति श्रुति गौणी है, ऐसा अभिप्राय है ॥४॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

पदच्छेद—प्रथमे, अश्रवणात्, इति, चेत्, न, ताः, एव, हि, उपपत्तेः।

पदार्थोक्ति—[द्युलोकादिषु पञ्चाग्निषु] प्रथमे—आद्ये द्युलोकाख्ये अग्नौ ['तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ' देवाः श्रद्धां जुह्वति' इति श्रद्धाया एव आहुतित्वश्रुतेः अपाम्] अश्रवणात्—श्रवणाभावात् [कथं पुरुषवचस्त्वम्] इति चेत्, न, हि—यतः ['आपो हास्मै श्रद्धां सन्नमन्ते' इति श्रद्धाशब्देन तद्धेतवः] ता एव—आप एव [लक्ष्यन्ते, कुतः ?] उपपत्तेः—प्रश्नप्रतिवचनयोरुपपत्तेः।

भाषार्थ—द्युलोक आदि पांच अग्निओंमें प्रथम—द्युलोकनामक अग्निमें 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ' इत्यादि श्रुतिसे श्रद्धामें ही आहुतित्वका श्रवण है जलमें नहीं है, अतः जलके पुरुषवचस्त्वकी अनुपपत्ति है, ऐसा यदि कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि 'आपो हास्मै' इत्यादि श्रुतिसे जल ही लक्षित होता है, किससे ? प्रश्न और प्रतिवचनकी उपपत्तिसे।

भाष्य

स्यादेतत्—कथं पुनः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते, यावता नैव प्रथमेऽग्नावपां श्रवणमस्ति। इह हि द्युलोकप्रभृतयः पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः, तेषां च प्रमुखे 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' (छा० ५।४।१) इत्युपन्यस्य 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' (छा० ४।४।२) इति श्रद्धा हौम्यद्रव्यत्वेनावेदिता। न तत्रापो हौम्यद्रव्यतया श्रुताः। यदि नाम पर्जन्यादिषूत्तरेषु चतुर्ष्वग्निष्वपां हौम्यद्रव्यता परिकल्प्येत, परिकल्प्यतां नाम। तेषु होतव्यतयोपात्तानां सोमादीनामब्बहुलत्वोपपत्तेः। प्रथमे त्वग्नौ श्रुतां श्रद्धां परित्यज्याश्रुता आपः परिकल्प्यन्त इति साहसमेतत्। श्रद्धा च नाम प्रत्ययविशेषः, प्रसिद्धिसामर्थ्यात्। तस्मादयुक्तः पञ्चम्या-

भाष्यका अनुवाद

यहां शंका होती है—प्रथम अग्निमें जलका श्रवण नहीं है। इससे 'पञ्चम्यामा०' (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषात्मक होता है) ऐसा निर्धारण करना किस प्रकार शक्य है ? क्योंकि यहांपर द्युलोक आदि पांच अग्नियां पांच आहुतियोंके आधाररूपसे अधीत—श्रुत हैं। उनमेंसे प्रथममें 'असौ वाव०' (निश्चय, गौतम ! वह (स्वर्ग) लोक अग्नि है) ऐसा उपन्यास करके 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ०' (इस अग्निमें देव श्रद्धाका हवन करते हैं) इस प्रकार श्रद्धा होम करनेके लिए योग्य द्रव्यरूपसे बताई गई है। वहां होमके योग्य द्रव्यरूपसे जलका श्रवण नहीं है। यदि उत्तरके पर्जन्य आदि चार अग्नियोंमें जल हौम्यद्रव्य है, ऐसी कल्पना की जाय, तो आनन्दसे इसकी कल्पना कर सकते हो, क्योंकि उन अग्नियोंमें हवनीयरूपसे गृहीत सोम आदिमें जलके आधिक्यकी उपपत्ति है। परन्तु प्रथम अग्निमें श्रुत श्रद्धाका परित्याग करके अश्रुत जलकी कल्पना करते

रत्नप्रभा

भूतान्तरयुक्तानाम् अपां गतिम् उक्त्वा पुरुषवचस्त्वं तासाम् आक्षिप्य समाधत्ते—**प्रथम इति**। ननु प्रथमपदं व्यर्थम्, उत्तराग्निष्वपि अपाम् अश्रवणात् इत्याशङ्क्य सोमवृष्ट्यन्नरेतसाम् अब्रूपत्वात् उत्तरत्र तासां श्रवणमस्ति न प्रथम इत्याह—**यदि नामेति**। पञ्चाग्निष्वपि अपामाहुतित्वे सिद्धे तासां पञ्चम्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य भूतोंसे युक्त जलकी गति कहकर वह पुरुषात्मक किस प्रकार होता है, ऐसा आक्षेप कर समाधान करते हैं—"प्रथम" इत्यादिसे। परन्तु प्रथमपद व्यर्थ है, क्योंकि उत्तर

भाष्य

माहुतावपां पुरुषभाव इति चेत्, नैष दोषः; हि—यतः तत्रापि प्रथमेऽग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनाभिप्रेयन्ते। कुतः? उपपत्तेः। एवं ह्यादिमध्यावसानसंगानादनाकुलमेतदेकवाक्यमुपपद्यते, इतरथा पुनः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्टे प्रतिवचनावसरे प्रथमाहुतिस्थाने यद्यनपो हौम्यद्रव्यं श्रद्धां नामावतारयेत्ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्येकवाक्यता न स्यात्। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'

भाष्यका अनुवाद

हो, यह साहस है। इसी प्रकार प्रसिद्धिके सामर्थ्यसे श्रद्धा—प्रत्यय—विश्वासविशेष है। इससे पांचवीं आहुतिमें जलका पुरुषभाव युक्त नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है; क्योंकि वहां भी प्रथम अग्निमें श्रद्धाशब्दसे वही जल अभिप्रेत है। किससे? उपपत्तिसे। क्योंकि इस प्रकार आदि, मध्य और अन्तमें संगान—एकार्थता होनेसे बिना आयासके ही एक वाक्य उपपन्न होता है। अन्यथा पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषात्मक किस प्रकार होता है? ऐसा प्रश्न होनेपर प्रतिवचनके अवसरमें यदि प्रथम आहुतिके स्थानमें जलसे अन्य हौम्यद्रव्यरूपसे श्रद्धाको कहो, तो प्रश्न एक प्रकारका और प्रतिवचन दूसरे प्रकारका, इस रीतिसे

रत्नप्रभा

माहुतौ पुरुषवचस्त्वं भवेत्, न तत्सिद्धम्, प्रथमाग्नौ तासाम् अनाहुतित्वात्, इति शङ्कार्थः। एवं हि श्रद्धाशब्देन अपां ग्रहे सति प्रश्नोत्तरोपसंहाराणां संगानाद्—एकार्थत्वात् एकवाक्यता उपपद्यते। अग्रहे तु चतुर्ष्वग्निष्वेव अपामाहुतित्वात् च चतुर्थ्यामाहुतौ इति वाच्यम्, अतः प्रश्नोपसंहारयोः पञ्चम्यामिति श्रवणात् प्रथमाग्नावपि आप एव ग्राह्या इति समाधानार्थः। अनपः—अद्भ्योऽन्यतः। **एतदेवेति**। श्रद्धाशब्दस्यापि अप्त्वं दर्शयतीत्यर्थः। उपपत्तेरित्यस्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्नियोंमें भी जलका श्रवण नहीं है, ऐसी आशंका करके कहते हैं कि सोम, वृष्टि, अन्न और रेत ये चार आहुतियां जलरूप हैं, अतः उत्तर अग्नियोंमें तो जलका श्रवण है, परन्तु प्रथममें नहीं है, यह कहते हैं—"यदि नाम" इत्यादिसे। पांचों अग्नियोंमें जल आहुति है, ऐसा सिद्ध होनेपर जल पांचवीं आहुतिमें पुरुषात्मक हो, परन्तु वही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रथम अग्निमें जलकी आहुति नहीं है, ऐसा शंकाका अर्थ है। इस प्रकार श्रद्धाशब्दसे जलका ग्रहण होनेपर प्रश्न, उत्तर और उपसंहारके एकार्थ होनेसे एकवाक्यता उपपन्न होती है, यदि श्रद्धाशब्दसे जलका ग्रहण न हो, तो चार अग्नियोंमें ही जल आहुतिरूप होनेसे 'चतुर्थ्यामाहुतौ'

भाष्य

इति चोपसंहरन्नेतदेव दर्शयति । श्रद्धाकार्यं च सोमवृष्ट्यादि स्थूलीभवदब्बहुलं लक्ष्यते । सा च श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिः । कारणानुरूपं हि कार्यं भवति । नच श्रद्धाख्यः प्रत्ययो मनसो जीवस्य वा धर्मः सन् धर्मिणो निष्कृष्य होमायोपादातुं शक्यते पश्वादिभ्य इव हृदयादीनीत्याप एव श्रद्धाशब्दा भवेयुः । श्रद्धाशब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिकप्रयोगदर्शनात् 'श्रद्धा वा आपः' इति । तनुत्वं च श्रद्धासारूप्यं गच्छन्त्य आपो देहबीजभूता इत्यतः श्रद्धाशब्दाः स्युः, यथा सिंहपराक्रमो नरः सिंहशब्दो भवति ।

भाष्यका अनुवाद

एकवाक्यता नहीं होगी । 'इति तु पञ्चम्या०' (ऐसे पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषात्मक होता है) ऐसा उपसंहार कर श्रुति यही दिखलाती है । और सोम, वृष्टि आदि श्रद्धाके कार्य उत्तरोत्तर स्थूल होते हुए जलप्रचुर दिखाई देते हैं । यही श्रद्धाको जल माननेमें युक्ति है । क्योंकि कारणके अनुरूप ही कार्य होता है । जैसे पशु आदिसे हृदय आदि पृथक् कर हवनके लिए ग्रहण किये जाते हैं वैसे श्रद्धानामक प्रत्यय—विश्वास मन या जीवका धर्म होनेसे धर्मीसे पृथक् कर होमके लिए नहीं ग्रहण किया जा सकता, इसलिए श्रद्धाशब्द जलमें उपपन्न होता है, क्योंकि 'श्रद्धा वा आपः' (निश्चय, श्रद्धा जल है) ऐसा वैदिकप्रयोग देखनेमें आता है । श्रद्धाका तनुत्वरूप सादृश्य देहके बीजभूत जलमें है, इससे श्रद्धाशब्द उसमें प्रयुक्त होता है । जैसे सिंहके समान पराक्रमवाले पुरुषके लिए सिंहशब्द प्रयुक्त

रत्नप्रभा

र्थान्तरमाह—श्रद्धाकार्यमिति । तस्याः श्रद्धाहुतेः सोमः सम्भवतीत्यादिना श्रद्धासोमादीनां पूर्वपूर्वपरिणामत्वं श्रुतम्, ततो द्रवपरिणामत्वात् श्रद्धाया अप्त्वम्, प्रत्ययात्मकमुख्यश्रद्धाया आहुतित्वायोगाच्चेत्यर्थः । श्रद्धाशब्दस्याऽप्सु सूक्ष्मत्वगुणेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

(चौथी आहुतिमें) ऐसा कहना युक्त हो, अतः प्रश्न और उपसंहार इन दोनोंमें 'पञ्चम्यामाहुतौ' (पांचवीं आहुतिमें) ऐसा श्रवण होनेसे प्रथम अग्निमें भी जल ही ग्राह्य है, ऐसा समाधानका अभिप्राय है । अनपः—जलभिन्नसे । एतदेवेति—यही, अर्थात् श्रद्धाशब्दका अर्थ जल है, यही, [श्रुति] दिखलाती है, ऐसा अर्थ है । 'उपपत्तेः' इसका अन्य अर्थ कहते हैं—"श्रद्धाकार्यम्" इत्यादिसे । 'तस्या श्रद्धाहुतेः०' (उस श्रद्धारूप आहुतिसे सोम उत्पन्न होता है) इत्यादिसे श्रद्धा, सोम आदि पूर्व-पूर्वके परिणाम हैं, ऐसा श्रुतिमें कहा गया है, इसलिए द्रवपरिणाम होनेसे श्रद्धा जल है, क्योंकि प्रत्ययात्मक जो मुख्यार्थमें श्रद्धा है, उसकी आहुति नहीं,

भाष्य

श्रद्धापूर्वककर्मसमवायाच्चाप्सु श्रद्धाशब्द उपपद्यते, मञ्चशब्द इव पुरुषेषु। श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दोपपत्तिः 'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' इति श्रुतेः ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता है। श्रद्धापूर्वक कर्ममें जलका सम्बन्ध होनेसे भी श्रद्धाशब्द जलमें उपपन्न होता है। जैसे पुरुषमें मञ्चशब्द उपपन्न होता है, वैसे ही। और श्रद्धाका हेतु होनेसे भी श्रद्धाशब्दकी उपपत्ति (जलमें) होती है, क्योंकि 'आपो हास्मै०' (निश्चय, इस यजमानके स्नान आदि पुण्य कर्मके लिए जल श्रद्धा उत्पन्न करता है) ऐसी श्रुति है ॥ ५ ॥

रत्नप्रभा

वृत्तिमुक्त्वा लक्षणां वक्तुं श्रद्धाया अद्भिरेककर्मयोगित्वं हेतुत्वं वा सम्बन्धमाह— श्रद्धापूर्वकेति। अस्मै—यजमानाय स्नानाद्यर्थमापः श्रद्धां सन्नमन्ते जनयन्तीति श्रुत्यर्थः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो सकती है, ऐसा अर्थ है। श्रद्धाशब्दकी जलमें सूक्ष्मत्वरूप गुण द्वारा वृत्ति कहकर लक्षणा कहनेके लिए जलके साथ श्रद्धाका एककर्मयोगित्व अथवा हेतुत्वरूप संबन्ध कहते हैं— "श्रद्धापूर्वक" इत्यादिसे। अस्मै—यजमानके लिए—अधिकारी पुरुषके लिए। स्नान आदिके लिए जल श्रद्धा उत्पन्न करता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—अश्रुतत्वात्, इति, चेत्, न, इष्टादिकारिणाम्, प्रतीतेः।

पदार्थोक्ति—[श्रद्धाशब्दितानामपां पुरुषवचस्त्वेऽपि न तद्वेष्टितत्वं जीवस्य] अश्रुतत्वात्—श्रुतिरहितत्वात्, इति चेन्न, [कुतः ? 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते इत्यादिना वाक्यशेषेण] इष्टादिकारिणाम्—इष्टापूर्तकर्मकारिणाम् प्रतीतेः— प्रत्ययात्।

भाषार्थ—श्रद्धाशब्दित जलके पुरुषवचस्त्व होनेपर भी जलसे वेष्टित जीव जाता है यह युक्त नहीं है, क्योंकि अप्—जल आदिके समान जीव श्रुत नहीं है ऐसा यदि कहो, तो युक्त नहीं है, किससे ? 'अथ य इमे' इत्यादि वाक्य शेषसे इष्टापूर्तकर्मकारियों की प्रतीति है।

भाष्य

अथापि स्यात् प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां नामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाकारं प्रतिपद्येरन्, न तु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रंहेयुः, अश्रुतत्वात्। न ह्यत्रापामिव जीवानां श्रावयिता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इत्ययुक्तमिति चेत्, नैष दोषः; कुतः ? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (छा० ५।१०।३) इत्युपक्रम्येष्टादिकारिणां धूमादिना पितृयानेन यथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति—'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा' (छा० ५।१०।४) इति,

भाष्यका अनुवाद

प्रश्न और प्रतिवचनसे पांचवीं आहुतिमें श्रद्धा आदिके क्रमसे जल पुरुषाकार प्राप्त करे, यह हो सकता है, परन्तु उस जलसे परिवेष्टित जीवोंका गमन प्रश्न और प्रतिवचनसे सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि यहां जलके समान जीवोंका श्रवण करानेवाला कोई शब्द नहीं है। इसलिए जीव संपरिष्वक्त—जलसे वेष्टित ही जाता है, यह युक्त नहीं है। यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है। किससे ? इष्ट आदि कर्म करनेवालोंकी प्रतीति होनेसे। 'अथ य इमे०' (अब जो ये गृहस्थ ग्राममें इष्ट—अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म, पूर्त, दत्त और इस प्रकारके अन्य धर्म्म करते हैं, वे धूमकी अभिमानी देवताको प्राप्त करते हैं) ऐसा उपक्रम करके 'आकाशाच्च चन्द्रमसमेष०' (वे आकाशसे चन्द्रलोकमें जाते हैं, यह सोम राजा हैं) इत्यादिसे श्रुति इष्टादि करनेवालोंकी धूमादि पितृयाण मार्ग

रत्नप्रभा

अपां गतिमुपेत्य अद्भिः सह जीवानां गतिम् आक्षिप्य समाधत्ते—**अथापीत्यादिना**। द्युलोकाग्नौ श्रद्धाहुतेः सोमो राजा सम्भवतीत्युक्त्वा वाक्यशेषे धूमादिमार्गेण आकाशात् चन्द्रमसं प्राप्ता इष्टादिकारिणः 'एष सोमो राजा' इत्युक्ताः, अतः सोमराजशब्दसामान्यात् इष्टादिकारिणां जीवानां श्रद्धाशब्दिता अद्भिः सह गतिः इह श्रद्धाहुतिवाक्ये प्रतीयत इत्यर्थः। तेषां सूक्ष्माभिर्द्रव्यापूर्वरूपाभिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जलकी गतिका स्वीकारकर जलके साथ जीवोंकी गतिका आक्षेप करके सामाधान करते हैं—"अथापि" इत्यादिसे। द्युलोक अग्निमें श्रद्धारूप आहुतिसे सोम राजा होता है, ऐसा कहकर वाक्यशेषमें धूमादि मार्गके द्वारा आकाशसे चन्द्रलोकमें जो जाते हैं, उन इष्ट आदि करने वालोंको ही 'सोम राजा' कहा गया है। इसलिए 'सोम राजा' यह शब्द समान होनेसे इष्टादि करनेवाले जीवोंकी श्रद्धाशब्दसे सूचित जलके साथ गति यहां श्रद्धाहुतिके वाक्यमें प्रतीत

भाष्य

त एवेहापि प्रतीयन्ते 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' (छा० ५।४।२) इति श्रुतिसामान्यात्। तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात् प्रत्यक्षमेवापः सन्ति। ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुत्योऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिण आश्रयन्ति। तेषां च शरीरं नैधनेन विधानेनान्त्येऽग्नावृत्विजो जुह्वति 'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' इति। ततस्ताः श्रद्धापूर्वककर्मसमवायिन्य आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिणो जीवान्परिवेष्ट्यामुं लोकं फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोतिनाऽभिधीयते—'श्रद्धां जुह्वति' (बृ० ६।२।९) इति। तथा चाग्नि-

भाष्यका अनुवाद

से चन्द्रप्राप्ति कहती है। वे ही यहां भी प्रतीत होते हैं, क्योंकि 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ०' (इस अग्निमें देव श्रद्धाकी आहुति देते हैं और उस आहुतिसे सोम राजा उत्पन्न होता है। ऐसी सामान्य श्रुति है। और उन जीवोंके अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि कर्मोंके साधनभूत दधि, पय आदि प्रत्यक्ष ही जल है, क्योंकि उनमें द्रवद्रव्यका आधिक्य है। आहवनीयमें हवन की गई वे सूक्ष्म आहुतियां अपूर्वरूप होकर उन इष्टादि करनेवालोंका आश्रयण करती हैं। ऋत्विज उनके शरीरको मरणके विधानसे अन्त्य अग्निमें 'असौ स्वर्गाय०' (यह स्वर्गलोक प्राप्त करे,) ऐसा कहकर हवन करते हैं। फिर, इसके बाद श्रद्धापूर्वक कर्मके साथ सम्बद्ध आहुतिमय वे जल अपूर्वरूप होकर उन इष्टादि करनेवाले जीवोंको परिवेष्टित करके फल देनेके लिए स्वर्गलोकमें ले जाते हैं, जो वे जाते हैं, उसी–लेजाने

रत्नप्रभा

पञ्चीकृताभिः अद्भिः सम्बन्धं वदन् सहगतिं विवृणोति—तेषाञ्चाग्निहोत्रेति। निधनं—मरणम्। तन्निमित्तकम् अन्त्येष्टिविधानम्। असौ—यजमानः, स्वर्गाय गच्छतु इति मन्त्रार्थः। हुतद्रव्यरूपाणाम् अपां गमने श्रुत्यन्तरमाह—तथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है, ऐसा अर्थ है। सूक्ष्म एवं अपूर्व द्रव्यरूप पंचीकृत जलके साथ उनके सम्बन्ध कहते हुए सहगतिका विवरण करते हैं—"तेषां चाग्निहोत्र" इत्यादिसे। निधन—मरण और तन्निमित्तक अन्त्येष्टिका विधान। असौ—यजमान स्वर्गमें जावे, ऐसा मन्त्रका अर्थ है। हवन किये गये द्रव्यरूप जलके गमनमें अन्य श्रुति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे।

भाष्य

होत्रे षट्प्रश्नीनिर्वचनरूपेण वाक्यशेषेण 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः' इत्येवमादिनाग्निहोत्राहुत्योः फलारम्भाय लोकान्तरप्राप्तिः प्रदर्शिता । तस्मादाहुतीमयीभिरद्भिः संपरिष्वक्ता जीवा रंहन्ति स्वकर्मफलोपभोगायेति श्लिष्यते ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

का 'श्रद्धां जुह्वति' (श्रद्धाकी आहुति देते हैं) इस श्रुतिमें 'जुहोति' (हवन करता है) शब्दसे अभिधान है इत्यादि । इसी प्रकार अग्निहोत्रमें छः प्रश्नोंके निर्वचनरूप वाक्यशेषमें 'ते वा एते' (वे ये दो आहुतियां हवनकी गई उत्क्रमण करती हैं) इत्यादिसे अग्निहोत्रकी दो आहुतियां फलारंभके लिए अन्य लोक प्राप्त करती हैं ऐसा दिखलाया गया है । इसलिए आहुतिमय जलसे परिवेष्टित जीव अपने कर्म फलके उपभोगके लिए जाते हैं, यह युक्त है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

चेति । अग्निहोत्रप्रकरणे जनकेन याज्ञवल्क्यं प्रति 'नत्वेवैनयोः सायंप्रातराहुत्यो-स्त्वमुत्क्रान्तिं न गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकं प्रत्युत्थायिनं वेत्थ' इति षट् प्रश्नाः कृताः, तेषां निर्वचनमपि 'राज्ञैव ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः । तेऽन्तरिक्षद्वारा दिवं गच्छतः ते दिवमेव आहवनीयप्रतिष्ठां कुर्वाते ते दिवं तर्पयतः ते ततः पुनरावर्तेते ततः पृथिव्यां पुरुषे योषिति च पुरुषरूपे-णोत्तिष्ठतः' इति वाक्यशेषेण कृतम् ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्निहोत्र प्रकरणमें जनकने याज्ञवल्क्यसे ६ प्रश्न किये हैं कि—'इन सायं और प्रातःकालकी आहुतियोंमें उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरावृत्ति और उत्पन्न होनेवाला लोक क्या तुम नहीं जानते ?' राजाने उन प्रश्नोंका निर्वचन भी—'ये हवन की गईं आहुतियां उत्क्रमण करती हैं, वे अन्तरिक्ष द्वारा आकाशमें जाती हैं, वे आहवनीय जो द्युलोक है, उसमें ही प्रतिष्ठा करती हैं, द्युलोकको तृप्त करती हैं, वहांसे पीछे लौटती हैं और पीछे फिर पृथिवीमें पुरुष या स्त्रीमें आहुत हुई पुरुषरूपसे उत्थान करती हैं, ऐसे वाक्यशेषसे—कर दिया है ॥ ६ ॥

भाष्य

कथं पुनरिदमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं प्रतिज्ञायते, यावता तेषां धूमप्रतीकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावं दर्शयति— 'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' (छा० ५।१०।४) इति। 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेतांस्तत्र भक्षयन्ति' (बृ० ६।२।१६) इति च समानविषयं श्रुत्यन्तरम्। नच व्याघ्रादिभिरिव देवैर्भक्ष्यमाणानामुपभोगः संभवतीति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

परन्तु इष्टादि करनेवालोंका गमन अपने कर्मफलके उपभोगके लिए है, इस भांतिकी प्रतिज्ञा कैसे की जाती है ? क्योंकि धूमलक्षण मार्गसे चन्द्रमें जो आरूढ़ होते हैं, उनका अन्नभाव श्रुति दिखलाती है—'एष सोमो राजा०' (यह सोम राजा है, वह देवताओंका अन्न है उस चद्ररूप अन्नको देवता भक्षण करते हैं) इत्यादिसे। और 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति०' (वे चन्द्रको प्राप्त कर अन्न होते हैं जैसे यज्ञमें पुनः पुनः वृद्धि और क्षय करके सोमरूप (लता) राजाका ऋत्विज भक्षण करते हैं, वैसे ही इनका—इष्टादि करनेवालोंका वहां देवता भक्षण करते हैं) इस प्रकारकी समानविषयक अन्य श्रुति है। और व्याघ्र आदिके समान जो देवोंसे भक्ष्य हों, उनका उपभोग हो नहीं सकता। इसलिए उत्तर कहते हैं—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

पदच्छेद—भाक्तम्, वा, अनात्मवित्त्वात्, तथा, हि, दर्शयति।

पदार्थोक्ति—अस्मिन्सूत्रे वाशब्दः शङ्कानिरासार्थकः। [तेषामिष्टादिकारिणाम् अन्नत्वम्] भाक्तम्—गौणम् [न मुख्यम् अन्यथा 'स्वर्गकामो यजेत इति श्रुतिव्याकोपः स्यात् अतः] अनात्मवित्त्वात्—आत्मज्ञानशून्यत्वात् [तेषां देवोपभोग्यत्वरूपमन्नत्वं वाच्यम्] हि—यतः तथा—तेन प्रकारेण ['अथ योऽन्याम्' इत्यादि श्रुतिः] दर्शयति—कथयति।

भाषार्थ—इष्टादिकारियोंमें अन्नत्व अप्रधान है, मुख्य नहीं है, क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इस श्रुतिका विरोध होगा। इसलिए आत्मज्ञान न होनेसे देवोपभोग्यरूप अन्नत्व ही विवक्षित है, क्योंकि उसी प्रकार 'अथ योऽन्याम्' इत्यादि श्रुति कहती है।

भाष्य

वाशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। भाक्तमेषामन्नत्वं न मुख्यम्, मुख्ये ह्यन्नत्वे स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्येत। चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिकारिणामुपभोगो न स्यात्किमर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः। अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्वसामान्यादनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते, यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति। तस्मादिष्टस्त्रीपुत्रमित्रभृत्यादिभिरिव

भाष्यका अनुवाद

वाशब्द कथित दोषकी व्यावृत्तिके लिए है। इनका—इष्टादि करनेवालोंका अन्नत्व गौण है, मुख्य हो, तो 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गप्राप्ति चाहनेवाला यज्ञ करे) इस प्रकारकी अधिकारश्रुति उपरुद्ध हो जायगी। यदि इष्टादि करनेवालोंका चन्द्रमण्डलमें उपभोग न हो, तो अधिकारी जिनमें अधिक श्रम है, ऐसे इष्ट आदि कर्म ही क्यों करें! और अन्नशब्द 'उपभोगहेतुत्व' इस सामान्य धर्मसे अनन्न—अन्नभिन्न वस्तुमें भी उपचरित देखनेमें आता है। जैसे वैश्य राजाके अन्न हैं, पशु वैश्यके अन्न हैं, ऐसा कहते हैं। इसलिए इष्ट स्त्री,

---

रत्नप्रभा

सम्प्रति उत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते—कथमित्यादिना। अत्र सोमाख्यचन्द्रस्यान्नत्वम् उक्तं नेष्टादिकारिणाम् इति भ्रान्तिनिरासार्थं श्रुत्यन्तरमाह—ते चन्द्रमिति। यथा यज्ञे चमसस्थं सोमम् ऋत्विजः आप्यायस्व इति क्रियावृत्तौ लोट्, पुनःपुनः आप्याय्य पुनः पुनः अपक्षय्य भक्षयन्ति, एवमेतान् इष्टादिकारिणः अन्नरूपान् भक्षयन्ति, देवा इत्यर्थः। अधिक्रियते पुरुषो विधिना सम्बध्यतेऽनेनेति अधिकारः—फलकामना। शास्त्रानर्थक्यवारणाय अन्नत्वं गौणमिति भावः। केन दोषेण तेषां देवभोग्यता इत्यत आह—अनात्मवित्त्वाच्चेति। यथा पशुर्भोग्यः, एवमज्ञः स भेदधीमान् देवानां भोग्य इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब उत्तर सूत्रमें निराकरणीय वस्तुकी शंका करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। यहां सोम संज्ञक चन्द्र अन्न है, ऐसा कहा गया है, इष्टादि करनेवाले अन्नरूप हैं, ऐसा नहीं कहा गया है, इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिए अन्य श्रुति कहते हैं—"ते चन्द्रम्" इत्यादिसे। जैसे यज्ञमें चमसमें स्थित सोमका ['आप्यायस्व' यह क्रियाव्यापारमें लोट् लकार है] ऋत्विज बार बार वृद्धि और क्षय करके भक्षण करते हैं, वैसे ही इष्टादि करनेवाले अन्नरूप हैं, उनका देव भक्षण करते हैं, ऐसा अर्थ है। जिसके द्वारा पुरुष विधिसे अधिकृत अर्थात् संबद्ध होता

भाष्य

गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां तदेवैषां भक्षणमभिप्रेतं न मोदकादिवच्चर्वणं निगरणं वा। 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ३।६।१) इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं वारयति। तेषां चेष्टादिकारिणां देवान्प्रति गुणभावोपगतानामप्युपभोग उपपद्यते राजोपजीविनामिव परिजनानाम्, अनात्मवित्त्वाच्चेष्टादिकारिणां देवोपभोग्यभाव उपपद्यते। तथाहि श्रुतिरनात्मविदां देवोपभोग्यतां दर्शयति- 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृ० १।४।१०) इति। स चास्मिन्नपि लोक इष्टादिभिः कर्मभिः प्रीणयन्पशुवद्देवानामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी तदादिष्टं फलमुपभुञ्जानः पशुवद्देवानामुपकरोतीति गम्यते।

भाष्यका अनुवाद

पुत्र, मित्र आदिके समान गुणभावको प्राप्त हुए इष्ट आदि करनेवालोंके द्वारा जो देवताओंका सुखविहरण है, वही इनका भक्षण यहां अभिप्रेत है, मोदक आदिके समान चर्वण—चबाना, या निगरण—निगल जाना अभिप्रेत नहीं है। 'न ह वै देवाः०' (निश्चय, देव कुछ खाते और पीते नहीं हैं, इसी सूर्यमण्डलमें रोहितरूप अमृतको देखकर वे तृप्त हो जाते हैं) यह श्रुति देवोंके चर्वण आदि व्यापारका निषेध करती है। और देवोंके प्रति गुणभावको प्राप्त हुए इन इष्टादि करनेवालोंका भी राजाके उपजीवी परिजनोंके समान उपभोग उपपन्न होता है और आत्मज्ञान न होनेसे इष्टादि करनेवाले देवताओंके उपभोग्यरूप हैं, यह उपपन्न भी है। क्योंकि—'अथ योऽन्यां देवता०' (जो कोई [अब्रह्मवित्] अपनेसे अन्य देवताकी उपासना करता है—'वह (देव) अन्य है, मैं अन्य हूँ ऐसा' वह तत्त्वको नहीं जानता, जैसे पशु [वाहन, दोहन आदि उपकरणोंसे उपभुक्त होता है] वैसे ही वह देवोंका [उपभोग्य होता है]) यह श्रुति अनात्मवेत्ताओंकी देवोपभोग्यता दिखलाती है। इस लोकमें इष्टादि कर्मोंसे देवोंको प्रसन्न करता हुआ वह पशुके समान देवोंका उपकारक होता है, और परलोकमें भी उनका

रत्नप्रभा

आत्मशब्दस्य मुख्यत्वबलेन सूत्रांशं व्याख्याय प्रकृतपञ्चाग्नयः सूत्रकृता

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, वह अधिकार—फलकामना है। शास्त्रकी अनर्थकता निवारण करनेके लिए अन्नत्व गौण

भाष्य

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयतीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो ह्येते केवलकर्मिण इष्टादिकारिणो न ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनः। पञ्चाग्निविद्यामिहात्मविद्येत्युपचरन्ति प्रकरणात्, पञ्चाग्निविज्ञानविहीनत्वाच्चेदमिष्टादिकारिणां गुणवादेनान्नत्वमुद्भाव्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रशंसायै। पञ्चाग्निविद्या हीह विधित्सिता, वाक्यतात्पर्यावगमात्। तथाहि श्रुत्यन्तरं चन्द्रमण्डले भोगसद्भावं दर्शयति—'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' (प्र०५।४) इति। तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम् 'अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्व लोके आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः

भाष्यका अनुवाद

उपजीवी होकर उनसे आदिष्ट फलका उपभोग करता हुआ पशुवत् देवोंका उपकारक होता है, ऐसा समझा जाता है।

'अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति' इसकी दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—केवल कर्म—इष्टादि करनेवाले वे निश्चय, अनात्मवेत्ता हैं। ज्ञान और कर्मका समुच्चय करनेवाले अनात्मवेत्ता नहीं हैं। प्रकरणसे पञ्चाग्निविद्या ही यहां उपचार से आत्मविद्यारूपसे कही गई है। पंचाग्निविज्ञानसे रहित होनेके कारण इष्टादि करनेवाले देवोंके अन्न हैं, ऐसा पञ्चाग्निविद्याकी प्रशंसाके लिए ही गुणवादसे कहा गया है। निश्चय यहां पंचाग्निविद्याका ही विधान करना अभीष्ट है, क्योंकि वाक्यका तात्पर्य ऐसा समझा जाता है, अन्य श्रुति भी 'स सोमलोके०' (वह सोम लोकमें विभूतिका अनुभव करके फिर लौट आता है) इत्यादिसे चन्द्रमण्डलमें भोगका सद्भाव दिखलाती है। उसी प्रकार 'अथ ये०' (लोकविजयी पितरोंका जो शतगुण—सौ गुना आनन्द है वह गन्धर्वलोकके एक आनन्दके बराबर है, और जो गन्धर्वलोकमें सौ गुना आनन्द है वह

रत्नप्रभा

आत्मत्वेन उपचरिता इति व्याख्यान्तरमाह—अनात्मेत्यादिना। विद्यास्तुत्यर्थम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा भाव है। किस दोषसे वे देवोंके भोग्य हैं, इसे कहते हैं—"अनात्मवित्त्वाच्च" इत्यादिसे। अनात्मवित्—आत्मज्ञानरहित होनेसे ही वह अज्ञ भेदबुद्धिवाला पशुके समान देवोंका भोग्य है, ऐसा अभिप्राय है। आत्म शब्दकी मुख्यताके बलसे सूत्रांशकी व्याख्या करके—प्रकृत पांच अग्नियां सूत्रमें पठित आत्मत्वसे उपचरित हैं, ऐसी दूसरी व्याख्या कहते

भाष्य

कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते' (बृ० ४।३।३३) इतीष्टादिकारिणां देवैः सह संवसतां भोगप्राप्तिं दर्शयति। एवं भाक्तत्वादन्नभाववचनस्येष्टादिकारिणोऽत्र जीवा रंहन्तीति प्रतीयते। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इति युक्तमेवोक्तम् ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

कर्मदेवोंके एक आनन्दके बराबर है, जो कर्मसे देवपदवीको प्राप्त होते हैं) यह दूसरी श्रुति भी इष्टादि करनेवाले जो देवोंके साथ बसते हैं उनकी भोगप्राप्ति दिखलाती है। इस प्रकार अन्नभाववचनके गौण होनेसे इष्टादि करनेवाले जीव वहां जाते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए 'रंहति संपरिष्वक्तः' (जीव परिवेष्टित जाता है) यह ठीक ही कहा गया है ॥७॥

रत्नप्रभा

अन्नत्वं न मुख्यम् इत्यत्र श्रुत्यन्तरार्थं सूत्रशेषं व्याचष्टे—**तथाहीति**। एवं गतिपर्यालोचनया वैराग्यमिति सिद्धम् ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"अनात्म" इत्यादिसे। विद्याकी स्तुतिके लिए अन्नत्व मुख्य नहीं है, इसमें अन्य श्रुतिके अर्थरूपसे सूत्रके अन्तिम अंशका व्याख्यान करते हैं—"तथाहि" इत्यादिसे। इस प्रकार गतिके पर्यालोचनसे वैराग्य होता है, यह सिद्ध है ॥७॥



[२ कृतात्ययाधिकरण सू० ८-११]

स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽथवा ।
यावत्संपातवचनात् क्षीणानुशय इष्यते ॥ १ ॥
जातमात्रस्य भोगित्वादैकभव्ये विरोधतः ।
चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरैरयम्* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वर्गमें गया हुआ जीव निरनुशय आता है अथवा सानुशय आता है ?

पूर्वपक्ष—निरनुशय आता है, क्योंकि यावत्सम्पातका वचन है ।

सिद्धान्त—सानुशय जीव आता है, क्योंकि जन्म लेते ही बालकको सुख-दुःखका अनुभव होता है और 'एक ही जन्ममें सब कर्मानुशय का भोग होता है', इस मतमें विरोध है एवं चरणकी श्रुति है ।

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—कृतात्यये, अनुशयवान्, दृष्टस्मृतिभ्याम्, यथेतम्, अनेवम्, च ।

पदार्थोक्ति—कृतात्यये—कृतस्य स्वर्गप्रापककर्मसमूहस्य [भोगेन] अत्यये—विनाशे, सति अनुशयवान्—आमुष्मिकफलप्रापककर्मातिरिक्तकर्मवान् [अवरोहति, कुतः ?] दृष्टस्मृतिभ्याम्—दृष्टम्—'तद्य इह रमणीयचरणा' इत्यादिकं श्रुतिरूपं प्रत्यक्षं शास्त्रम्, तथा 'प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्ट-देशकाल०'इत्यादि स्मृतिः, ताभ्यां हेतुभ्याम् । [ते च येन मार्गेण चन्द्रलोकमारूढा-स्तेनैवावरोहन्ति आहोस्वित्तद्विपरीतेनेत्याकाङ्क्षायामाह—] यथेतम् अनेवं च—यथा इतम् येन क्रमेण धूमादिमार्गद्वारा गतं तद्विपरीतेम कथयिष्यमाणाभ्रादिमार्गेण च अवरोहन्ति इति सूत्रतात्पर्य्यम् ।

भाषार्थ—स्वर्गके लिए किये हुए कर्मोंके उपभोगके अनन्तर उस कर्मसे अतिरिक्त कर्म युक्त ही जीव इस लोकमें आता है, क्योंकि 'तद्य इह रमणीयचरणा' और 'प्रेत्य कर्मफलमनुभूय' इत्यादि श्रुति और स्मृति प्रमाणभूत हैं । और जिस धूमादि मार्गसे वे गये हों उससे और उससे विपरीत वक्ष्यमाण अभ्रादि मार्गद्वारा इस लोकमें आते हैं ।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—स्वर्गका उपभोग करके आनेवाला जीव निरनुशय ही इस संसारमें आता है । अनुशय शब्दका अर्थ 'जीवमनुशेते' इस प्रकार की व्युत्पत्तिसे कर्मका बचा हुआ

भाष्य

इष्टादिकारिणां धूमादिना वर्त्मना चन्द्रमण्डलमधिरूढानां भुक्तभोगानां ततः प्रत्यवरोह आम्नायते—'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' (छा० ५।१०।५) इत्यारभ्य यावत् 'रमणीयचरणा ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनिम्' इति। तत्रेदं विचार्यते—

भाष्यका अनुवाद

धूमादि मार्गसे चन्द्रमण्डलमें आरूढ़ इष्ट आदि करनेवाले मुक्तभोगियोंका वहांसे प्रत्यवरोहण (चन्द्रमण्डलसे पीछे लौटना), श्रुतिमें कहा गया है—'तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वा०' (उसमें संपातपर्यन्त रहकर जिस मार्गसे वहां गया है, उसी मार्गसे पुनः निवृत्त होता है) यहांसे प्रारम्भ करके 'रमणीयचरणा०' (जिनका रमणीय आचरण है, वे ब्राह्मण आदि योनि प्राप्त करते हैं और जिनका आचरण निकृष्ट है, वे श्वान आदि योनि प्राप्त करते हैं) यहां तक। उसमें यह

रत्नप्रभा

इदानीं गत्यन्तरभाविनीमागतिं निरूपयति—**कृतात्यय इति**। भोक्तव्यकर्मसमाप्त्यानन्तर्यम् अथशब्दार्थः। यथेतमित्यारभ्य श्वादियोनिमित्यन्तं वाक्यं यावत्तावदाम्नायत इति योजना। अत्र यावत्सम्पातमितिविशेषणात् रमणीयचरणा इति वाक्याच्च संशयमाह—**तत्रेति**। अनुशयः—कर्म। अत्र पूर्वपक्षे कर्माभावेना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब गतिके अनन्तर होनेवाली आगतिका निरूपण करते हैं—"कृतात्यये" इत्यादिसे। भोक्तव्य कर्मकी समाप्तिके अनन्तर—यह श्रुतिके एकदेश अथशब्दका अर्थ है। 'यथेतम्' यहांसे लेकर 'श्वादियोनिम्' इस वाक्यतक प्रत्यवरोह—स्वर्गसे आना कहा गया है, यह योजना है। यहांपर 'यावत्संपातम्' (कृत कर्मकी समाप्ति पर्यन्त स्वर्गलोकमें रहकर) इस विशेषणसे और

कुछ भाग, इसलिए उक्त अर्थकी (जीव निरनुशय आता है) संग्राहिका श्रुति भी है—'यावत्सम्पातम्' इत्यादि। इससे कर्मके शेषसे रहित ही जीव आता है, यह सिद्ध है।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त—स्वर्गके लिए अनुष्ठित कर्मोंका सर्वथा उपभोग होनेपर भी संचित कर्म जो कि अनुपभुक्त हैं, वे रहते हैं, अन्यथा तत्क्षणमें उत्पन्न बालकको इस जन्ममें धर्माधर्मके अनुष्ठान न होनेसे सुख-दुःखका अनुभव नहीं होगा। किसीका मत है—एक जन्ममें अनुष्ठित कर्मसमूह आगेके जन्ममें उपभोगसे क्षीण होता है, यह युक्त नहीं है, क्योंकि इन्द्र आदि पदके प्रापक अश्वमेध आदि और वराह आदिके प्रापक पापकर्मोंके एक क्षणमें उपभोगका असम्भव होनेसे 'ऐकभविकः कर्मानुशयः' इस मतमें विरोध है। यावत्सम्पातशब्द तो केवल स्वर्गको देनेवाले कर्मका वाचक है, अन्यका नहीं है, श्रुति भी स्वर्गसे आनेके बाद पञ्चमी आहुतिमें शरीरग्रहण करनेवाले जीवोंके पुण्य और पापका सद्भाव प्रतिपादन करती है—'तद्य इह रमणीयचरणा' इत्यादिसे।

भाष्य

किं निरनुशया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्सानुशया इति ?

किं तावत्प्राप्तम् ? निरनुशया इति । कुतः ? यावत्संपातमिति विशेषणात् । संपातशब्देनात्र कर्माशय उच्यते—संपतन्त्यनेनास्माल्लोकादमुं लोकं फलोपभोगायेति, यावत्संपातमुषित्वेति च कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य तत्रैव भुक्ततां दर्शयति । 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' (बृ० ६।२।१६) इति च श्रुत्यन्तरेणैष एवार्थः प्रदर्श्यते । स्यादेतत्—यावदमुष्मिंल्लोक उपभोक्तव्यं कर्म तावदु-

भाष्यका अनुवाद

विचार किया जाता है कि—जिन्होंने सब कर्मोंका उपभोग कर लिया है, वे अनुशयरहित अवरोहण करते हैं या अनुशयसहित ?

पूर्वपक्षी—तब क्या प्राप्त होता है ? अनुशयरहित अवरोहण करते हैं। किससे ? 'यावत् संपातम्' (संपातपर्यन्त) ऐसा विशेषण होनेसे । संपातशब्दसे यहां कर्माशय कहा गया है—क्योंकि इस लोकसे परलोकमें फलके उपभोगके लिए जीव इसकी (कर्मकी) सहायतासे संपतन्ति—गमन करते हैं। और 'यावत्संपातमुषित्वा'(संपातपर्यन्त रहकर) यह श्रुति किये गये उसके सब कर्मोंका वहीं उपभोग होता है, ऐसा दिखलाती है । और 'तेषां यदा पर्यवैति' (जब उन कर्म करनेवालोंका वह [यज्ञ, दानादिलक्षण सोमलोकप्रापक कर्म] परिक्षीण हो जाता है) इस दूसरी श्रुतिसे भी यही अर्थ दिखलाया गया है । यदि कहो कि जब

रत्नप्रभा

गतेः अनियमात् वैराग्यादार्ढ्यं, सिद्धान्ते कर्मसत्त्वेनागतिनियमाद् वैराग्यदार्ढ्यमिति भेदः । तेषाम् इष्टादिकारिणां यदा तत् कर्म पर्यवैति—विपरिक्षीणं भवति, तदा पुनरावर्तन्त इति श्रुत्यन्तरेणापि कृत्स्नकर्मणः चन्द्रलोके भुक्तत्वमुच्यते इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'रमणीयचरणाः' इत्यादि वाक्यसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । अनुशय—कर्म । यहां पूर्वपक्षमें कर्मका अभाव होनेसे आगतिमें अनियम है, इसलिए वैराग्यका शैथिल्य है, सिद्धान्तमें कर्मकी सत्ता होनेसे आगतिमें नियम है, इसलिए वैराग्यकी दृढ़ता है, ऐसा फलभेद है। उनका अर्थात् इष्टादि कर्म करनेवालोंका जब वह कर्म पर्यवैति—विपरिक्षीण होता है तब वे पीछे लौटते हैं, इस प्रकार अन्य श्रुतिसे भी सब कर्मका चन्द्रलोकमें भोग होता है, ऐसा कहा गया है, यह अर्थ है । यावत्पदका संकोच, ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरी श्रुतिसे विरोध होता है,

भाष्य

पभुक्तमिति कल्पयिष्यामीति । नैवं कल्पयितुं शक्यते, यत्किंचेत्यन्यत्र परामर्शात् । 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति ह्यपरा श्रुतिर्यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शेन कृत्स्नस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयिततां दर्शयति । अपि च प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम्, प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेः । तच्चाविशेषाद्यावत्किंचिदनारब्धफलं तस्य सर्वस्याभिव्यञ्जकम्, नहि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति । न ह्यविशिष्टे प्रदीपसंनिधौ घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युपपद्यते । तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीति ।

भाष्यका अनुवाद

तक इस लोकमें उपभोग करनेके योग्य कर्म हैं तबतक जीव उनका उपभोग करता है, ऐसी मैं कल्पना करूंगा, तो ऐसी कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि 'यत्किंच' (जो कुछ) ऐसा अन्यत्र परामर्श है । क्योंकि 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य०' (यह नर इस लोकमें जो कुछ कर्म करता है उसका अन्त–फल परलोकमें प्राप्त करके उस लोकसे यहांपर फिर कर्म करनेके लिए लौट आता है) यह दूसरी श्रुति 'यत्किंच' (जो कुछ) ऐसे अविशेषके परामर्शसे यहां किये गये सब कर्मोंका वहां क्षय होता है, ऐसा दिखलाती है । और मरण भी अनारब्ध फलवाले कर्मोंका अभिव्यञ्जक है (जिसका फल आरब्ध नहीं हुआ है, ऐसे कर्मका अभिव्यंजक है), क्योंकि मरणसे पहले जिसका फल आरब्ध हुआ है, ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध हुए की अभिव्यक्ति उपपन्न नहीं है । और विशेष न होनेसे वह मरण जिस किसी कर्मका फल आरब्ध नहीं हुआ है, उस सबका अभिव्यञ्जक है, क्योंकि साधारण निमित्त रहने पर नैमित्तिक असाधारण हो, यह नहीं हो सकता । निश्चय, प्रदीपकी अविशिष्ट संनिधिमें घट अभिव्यक्त होता है, पट अभिव्यक्त नहीं होता, यह उपपन्न नहीं है । इससे जीव अनुशयरहित ही अवरोहण करते हैं ।

रत्नप्रभा

यावत्पदसङ्कोचो न युक्तः, श्रुत्यन्तरविरोधात् इत्याह—**नैवमिति** । अयं नरः यत्किञ्चित् इह लोके कर्म करोति तस्य अन्तं फलं--परलोके प्राप्य कर्मार्थं पुनराया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"नैवम्" इत्यादिसे । यह नर जो कुछ कर्म इस लोकमें करता है, उसका अन्त—फल परलोकमें प्राप्तकर कर्मके लिए फिर इस लोकमें पुनरागमन करता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है ।

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—कृतात्ययेऽनुशयवानिति । येन कर्मवृन्देन चन्द्रमसमारूढाः फलोपभोगाय तस्मिन्नुपभोगेन क्षयिते तेषां यदम्मयं शरीरं चन्द्रमस्युपभोगायारब्धं तदुपभोगक्षयदर्शनशोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते सवितृकिरणसंपर्कादिव हिमकरकाः हुतभुगर्चिःसंपर्कादिव च घृतकाठिन्यम् । ततः कृतात्यये—कृतस्येष्टादेः कर्मणः फलोपभोगेनोपक्षये सति सानुशया एवेममवरोहन्ति । केन हेतुना ? दृष्टस्मृतिभ्यामित्याह । तथाहि प्रत्यक्षा श्रुतिः सानुशयानामवरोहं दर्शयति—'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'कृतात्ययेऽनुशयवान्०' (कर्मके क्षय होनेपर अनुशयवाला) । जिस कर्मसमूहसे फलके उपभोगके लिए चन्द्रमें आरूढ हुए हैं, उस कर्मसमूहके उपभोगसे क्षय होनेपर उनका जो जलमय शरीर चन्द्रलोकमें उपभोगके लिए आरब्ध हुआ है, वह उपभोगके क्षयदर्शनसे उत्पन्न शोकाग्निके सम्पर्कसे विलीन हो जाता है । जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे हिम और करक विलीन हो जाते हैं और अग्निकी ज्वालाके सम्पर्कसे घृतका काठिन्य विलीन हो जाता है, उसी प्रकार । इसलिए कृतात्यये—अर्थात् किये गये इष्ट आदि कर्मके फलोपभोगसे उपक्षय होनेपर अनुशयसहित ही जीव इस लोकमें अवरोहण करते हैं । किस हेतुसे ? दृष्ट—श्रुति

रत्नप्रभा

तीति श्रुत्यर्थः । कर्माभावे श्रुतिमुक्त्वा युक्तिमाह—अपि चेति । अभिव्यक्तिः—फलोन्मुखता । मरणेनाभिव्यक्तस्य सर्वस्य कर्मणः परलोकभोगस्य अवश्यम्भावात् कर्माभाव इत्यर्थः । चरणाख्यशीलमात्रात् अवरोह इति प्राप्ते सिद्धान्तप्रतिज्ञां व्याचष्टे—येनेत्यादिना । 'तत्' तत्राऽवरोहतां जीवानां मध्ये ये केचिद् इह कर्मभूमौ रमणीयचरणाः पुण्यकर्माणः पुण्ययोनिभाज इति यद् तत् अभ्याशो ह—अवश्यं हीत्यर्थः । कपूयम्—पापम् । दृष्टशब्दस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मके अभावमें श्रुति कहकर युक्ति कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । अभिव्यक्तिः—फलोन्मुखता । मरणसे अभिव्यक्त सब कर्मोंका परलोकमें भोग होना अनिवार्य है, इसलिए कर्मका अभाव है, ऐसा अर्थ है । चरण—शीलमात्रसे अवरोह होता है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्तप्रतिज्ञाका

भाष्य

वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा' (छा० ५।१०।७) इति । चरणशब्देनानुशयः सूच्यत इति वर्णयिष्यति । दृष्टश्चायं जन्मनैव प्रतिप्राण्युच्चावचरूप उपभोगः प्रविभज्यमान आकस्मिकत्वासम्भवादनुशयसद्भावं सूचयति, अभ्युदयप्रत्यवाययोः सुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः शास्त्रेणावगमितत्वात् । स्मृतिरपि—'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुख-

भाष्यका अनुवाद

और स्मृतिसे, ऐसा कहते हैं। क्योंकि श्रुति प्रत्यक्ष अनुशयसहित जीवोंका अवरोहण दिखलाती है—'तद्य इह रमणीयचरणा' (इनमें जो यहां पुण्य कर्म करनेवाले हैं; वे अवश्य ही रमणीययोनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि या वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं और जो पाप करनेवाले हैं वे अवश्य ही पापयोनि—श्वयोनि, सूकरयोनि या चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं) इस प्रकार । चरणशब्दसे अनुशय सूचित होता है, ऐसा वर्णन करेंगे । और जन्मसे ही प्रत्येक प्राणीमें भिन्न-भिन्न प्रकारका उपभोग विभक्त हुआ देखनेमें आता है । वह आकस्मिकत्वके असंभवसे अनुशयके सद्भाव—अस्तित्वका सूचन करता है, क्योंकि अभ्युदय और दुःखका सुकृत और दुष्कृत हेतु है, ऐसा सामान्य रीतिसे शास्त्रद्वारा समझा जाता है। 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः०' (वर्ण और आश्रमवाले मरणके पीछे अपने

रत्नप्रभा

श्रुतमर्थमुक्त्वा अर्थान्तरमाह—दृष्टश्चेति । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादिशास्त्रेण सुखदुःखयोधर्माधर्म हेतुकत्वमवगतम् । ततश्च जन्मारभ्य दृष्टो भोगः कर्महेतुकः, भोगत्वात्, स्वर्गभोगवत्, इति अनुशयसिद्धिः । विपक्षे च हेत्वभावाद् भोगस्य आक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्याख्यान करते हैं—"येन" इत्यादिसे । तत्—वहां अवरोहण करनेवाले जीवोंमें जो कोई यहां कर्मभूमिमें पुण्य कर्मवाले आते हैं वे रमणीययोनि प्राप्त करते हैं, यह जो (रमणीय योनि) प्राप्त करना है वह अवश्य ही प्राप्त होता है । कपूय—पाप । दृष्ट शब्दका दृष्ट—श्रुत, ऐसा अर्थ कहकर अन्य अर्थ कहते हैं—"दृष्टश्च" इत्यादिसे । 'पुण्यो वै०' (निश्चय, पुण्यकर्मसे सुखशाली और पाप कर्मसे पापः—दुःखी होता है) इत्यादि शास्त्रसे सुख और दुःखके धर्म और अधर्म हेतु हैं, ऐसा अवगत होता है । इसलिए जन्मसे लेकर देखा गया भोग कर्महेतुक—कर्म जिसका

भाष्य

मेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' इति सानुशयानामेवावरोहं दर्शयति। कः पुनरनुशयो नामेति—केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुशयो नाम भाण्डानुसारिस्नेहवत्—यथाहि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्येव कश्चित्स्नेहशेषोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽ-

भाष्यका अनुवाद

कर्ममें स्थित हुए कर्मफलका अनुभव करके उससे शेषकर्म द्वारा—अनुशयसंज्ञक कर्म द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, ज्ञान, आचार, वित्त, सुख और मेधावाले होकर जन्म प्राप्त करते हैं) यह स्मृति भी अनुशयसहित जीवोंका ही अवरोहण दिखलाती है। परन्तु वह अनुशय क्या है ? कितने तो 'भाण्डके अनुसारी स्नेह–तैलके समान स्वर्गके लिए किया गया कर्म जिसका

रत्नप्रभा

स्मिकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। स्मृतौ आश्रमाः—आश्रमिणः, प्रेत्य—मृत्वा लोकान्तरे कर्मफलं भुक्त्वा ततः शेषेण—भुक्तादन्येन कर्मणा अनुशयाख्येन पुनः जन्म प्रतिपद्यन्ते इति सम्बन्धः। विशिष्टाः देशादयो मेधान्ताः दश गुणाः येषु ते तथोक्ताः। श्रुतं—ज्ञानम्। वृत्तम्—आचारः। स्वाभिमतानुशयं वक्तुं पृच्छति—**कः पुनरिति**। कृतस्य कर्मणः स्वर्गे भोगे सति भुक्तस्य कर्मणो लेशोऽनुशयः, तद्वानवरोहति, भाण्डे स्नेहलेशस्य दृष्टत्वात्। ततः शेषेणेति स्मृतेश्च इति एकदेशिव्याख्याम् आह—**केचिदित्यादिना**। रिच्यमानं—स्नेहेन वियुज्यमानम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतु है, ऐसा है, भोग होनेसे, स्वर्गभोगके समान, इस प्रकार अनुशय सिद्ध होता है, और विपक्षमें कर्मके अभावमें भोग होनेपर हेतु—कर्म्म न होनेसे भोगके आकस्मिक होनेका प्रसंग आता है, ऐसा अर्थ है। स्मृतिमें आश्रमाः—आश्रममें रहनेवाले। प्रेत्य—मरण पाकर, ततः शेषेण—भुक्तसे अन्य अनुशयसंज्ञक कर्म द्वारा वर्ण और आश्रमवाले मरण पाकर लोकान्तरमें कर्मफलका उपभोग कर भुक्तसे अन्य अनुशयनामक कर्म द्वारा पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं, ऐसा सम्बन्ध है। विशिष्ट देश आदि मेधान्त दश गुण जिनमें हैं, वे तथोक्त—'विशिष्ट देश ...... मेधसः' हैं। श्रुत—ज्ञान, वृत्त—आचार। स्वाभिमत अनुशयका अर्थ करनेके लिए पूछते हैं—"कः पुनः" इत्यादिसे। किये गये कर्मका स्वर्गमें भोग होनेपर भुक्त कर्मका जो लेश वह अनुशय है और उस अनुशयसे युक्त जीव पृथिवीपर अवरोहण करता है, क्योंकि भाण्डमें स्नेहलेश देखनेमें आता है और 'ततःशेषेण' ऐसी स्मृति है, इस प्रकार एकदेशीकी व्याख्या कहते हैं—"केचित्" इत्यादिसे। रिच्यमान—तैलसे वियुज्यमान। परन्तु कर्म तो भोगसे

भाष्य

पीति । ननु कार्यविरोधित्वाददृष्टस्य न भुक्तफलस्यावशेषावस्थानं न्याय्यम् । नायं दोषः । नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्वं कर्मणः प्रतिजानीमहे । ननु निरवशेषकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमारूढः ? बाढम् ; तथापि स्वल्पकर्मावशेषमात्रेण तत्रावस्थातुं न लभ्यते । यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणै राजकुलमुपसृप्तश्चिरप्रवासात्परिक्षीणबहूपकरणश्छत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थातुं शक्नोति, एवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्र-

भाष्यका अनुवाद

फलभोग किया गया है, उसका जो कुछ अवशेष रहता है, वह अनुशय है । जैसे तेलसे भरे हुए भाण्डको खाली करनेपर भी सर्वात्मना वह खाली नहीं होता, भाण्डका अनुसारी कुछ स्नेह अवश्य ही अवशिष्ट रह जाता है, वैसे अनुशय भी जीवके साथ रह जाता है'—इस प्रकार कहते हैं । परन्तु अदृष्टके कार्य-फल विरोधी होनेसे जिसका फलभोग किया गया है उस कर्मका अवशेष रहना, युक्त नहीं है, यह दोष नहीं है, क्योंकि कर्म सब तरहसे भुक्तफल हैं, ऐसी प्रतीज्ञा हम नहीं करते । परन्तु निरवशेष कर्मके फलोपभोगके लिए जीव चन्द्रमण्डलमें आरूढ हुआ है ? सत्य है, तो भी कर्मके केवल स्वल्प अवशेषसे वहां अवस्थिति प्राप्त नहीं कर सकता है । जिस प्रकार कोई एक सेवक

रत्नप्रभा

ननु भोगनाश्यत्वात् कर्मणो लेशो न युक्त इति शङ्कते—नन्विति । कृत्स्नकर्मणः भोगे जाते नाशः स्यात्, न तु भोगो जातः इति परिहारार्थः । भोगः न जायत इति अयुक्तम् इति शङ्कते—नन्विति । भोगः सावशेषो जात इति समाधत्ते—बाढमित्यादिना । इदम् एकदेशिव्याख्यानं दूषयति—न चेति । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्रेण स्वर्गभोगार्थं कर्म चोदितम्, तच्छेषस्य मर्त्यभोगहेतुत्वे शास्त्रविरोध इत्यर्थः । किञ्च स्वर्गहेतुकर्मशेषात् अवरोहे कपूययो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नाश्य होनेके कारण उसका लेश युक्त नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । भोग हो जानेपर सब कर्मोंका नाश होगा, परन्तु भोग तो हुआ ही नहीं है, ऐसा परिहारका अर्थ है । भोग नहीं हुआ, यह अयुक्त है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । भोग सावशेष ही होता है, ऐसा समाधान करते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे । इस एकदेशीके व्याख्यानको दूषित करते हैं—"न च" इत्यादिसे । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि शास्त्रसे स्वर्गभोगके लिए कर्मका विधान है, यदि उस कर्मका शेषभाग मर्त्यभोगका हेतु हो, तो शास्त्रविरोध होगा,

भाष्य

मण्डलेऽवस्थातुं शक्नोतीति। न चैतद्युक्तमिव, नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषानुवृत्तिरुपपद्यते कार्यविरोधित्वादित्युक्तम्। नन्वेतदप्युक्तम्—न स्वर्गफलस्य कर्मणो निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यति—इति। तदेतद-पेशलम्—स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति, न शब्दप्रमाणकानामीदृशी कल्पनाऽवकल्पते। स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्टत्वादुपपद्यते। तथा सेवकस्योपकरणलेशानुवृत्तिश्च दृश्यते, न त्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेशानुवृत्तिर्दृश्यते; नापि कल्पयितुं शक्यते, स्वर्गफलत्वशास्त्रविरोधात्। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्—न स्वर्गफलस्येष्टादेः कर्मणो भाण्डानुसारिस्नेह-वदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय इति। यदि हि येन सुकृतेन कर्मणेष्टादिना

भाष्यका अनुवाद

सेवाके सब उपकरणोंके साथ राजकुलमें जाय, वहां उसके बहुतसे उपकरण चिरप्रवाससे परिक्षीण हो जांय और छत्र, पादुका आदि अवशेष रह जांय, तो वह राजकुलमें अवस्थान नहीं कर सकता, उसी प्रकार अनुशयमात्र जिसका परिग्रह है, ऐसा जीव चन्द्रमण्डलमें अवस्थान नहीं कर सकता। परन्तु यह युक्त ही नहीं है, क्योंकि स्वर्गके लिए किया हुआ कर्म जो भुक्तफल है, उसके अवशेषकी अनुवृत्ति कार्य–फलके विरोधी होनेसे उपपन्न नहीं होती, ऐसा कहा गया है। परन्तु यह भी कहा गया है कि—जिसका फल स्वर्ग है, ऐसा निखिल कर्म भुक्तफल नहीं होता, यह युक्त नहीं है, क्योंकि स्वर्गार्थ कर्म स्वर्गमें रहनेवालेको ही निखिल स्वर्गफल उत्पन्न नहीं करता, किन्तु स्वर्गसे गिरे हुए को भी कुछ एक फललेश उत्पन्न करता है। यह कल्पना जिनको शब्द प्रमाण है उनको नहीं घटती। स्नेह भाण्डमें तो स्नेहलेशकी अनुवृत्ति देखनेमें आनेसे उपपन्न होती है, उसी प्रकार सेवकके उपकरणलेशकी अनुवृत्ति भी देखनेमें आती है। परन्तु इस प्रकार यहां जिसका फल स्वर्ग है, ऐसे कर्मके लेशकी अनु-

रत्नप्रभा

न्यापत्तिश्रुतिविरोध इत्याह—अवश्यञ्चेति। स्वाभिमतम् अनुशयम् आह—तस्मा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। और स्वर्गके लिए किये गये कर्मोंका जो शेष अनुशय है, उससे अवरोहण माननेपर कर्म्मशेषसे कपूययोनिकी प्राप्ति होती है। यह जो श्रुति कहती है, उसका विरोध होगा, ऐसा कहते हैं—'अवश्यं च' इत्यादिसे। स्वाभिमत अनुशय कहते हैं—'तस्मात्'

भाष्य

स्वर्गमन्वभूवंस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशयः कल्प्येत ततो रमणीय एवैकोऽनुशयः स्यान्न विपरीतः। तत्रेयमनुशयविभागश्रुतिरुपरुध्येत—'तद्य इह रमणीयचरणा, अथ य इह कपूयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इति। तस्मादामुष्मिकफले कर्मजात उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति। यदुक्तं—यत्किञ्चेत्यविशेषपरामर्शात्सर्वस्येह कृतस्य कर्मणः फलोपभोगेनान्तं प्राप्य निरनुशया अवरोहन्ति इति। नैतदेवम्। अनुशयसद्भावस्यावगमितत्वात्, यत्किंचिदिह कृतमामुष्मिकफलं कर्मारब्ध-

भाष्यका अनुवाद

वृत्ति नहीं दिखाई देती, तथा उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि जो शास्त्र स्वर्गरूप फल कहता है, उसका विरोध है। और अवश्य ही यह इसी प्रकार समझना चाहिए—इष्ट आदि कर्म जिसका फल स्वर्ग है, उसीका भाण्डानुसारी स्नेहके समान अनुवर्तमान जो एकदेश है, वह अनुशय नहीं है, क्योंकि इष्ट आदि सुकृत कर्म द्वारा जीवोंने स्वर्गका अनुभव किया है, उसका ही कोई एक देश अनुशय है, ऐसी यदि कल्पना की जाय, तब तो अकेला रमणीय ही अनुशय होगा, उससे विपरीत नहीं होगा। तब इस अनुशयका विभाग दिखलानेवाली श्रुतिका बाध होगा—'तद्य इह रमणीयचरणा०' (उनमें जो यहां पुण्य कर्म करनेवाले हैं और जो यहां पाप करनेवाले हैं) इस प्रकारकी। इसलिए परलोकमें फल देनेवाले सब कर्मोंके उपभुक्त हो जानेपर बचे हुए इस लोकमें फल देनेवाले दूसरे जो कर्म हैं वे अनुशय हैं और उनके साथ ही (जीव) अवरोहण करते हैं। 'यत् किंच' (जो कुछ) इस प्रकार अविशेषके परामर्शसे यहां किये गये सब कर्मोंके फलोप-

रत्नप्रभा

दिति। पूर्वपक्षबीजम् अनूद्य दूषयति—यदित्यादिना। क्षपयित्वा पुनरागच्छतीति प्राप्यान्तमिति वाक्येन गम्यत इति योजना। जन्मारभ्य दृष्टभोगलिङ्गानुगृहीतया रमणीयकपूयचरणश्रुत्या ऐहिकानुशयाख्यकर्मविशेषपरया विरोधाद् यत्किञ्चेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। पूर्वपक्ष बीजका अनुवाद कर उसे दूषित करते हैं—"यत्" इत्यादिसे। क्षपयित्वा—क्षय कर फिर लौट आते हैं, यह 'प्राप्यान्तं' इस वाक्यसे समझा जाता है, ऐसी योजना है।

भाष्य

भोगं तत्सर्वं फलोपभोगेन क्षपयित्वेति गम्यते। यदप्युक्तं—प्रायणमविशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्माभिव्यनक्ति, तत्र केनचित्कर्मणाऽमुष्मिंल्लोके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न सम्भवति इति। तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम्। अपि च केन हेतुना प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायते इति वक्तव्यम्। आरब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपशमात् प्रायणकाले

भाष्यका अनुवाद

भोगसे अन्त प्राप्त करके अनुशयरहित ही जीव अवरोहण करते हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह ऐसा नहीं है, क्योंकि अनुशयका सद्भाव अवगमित है। जो कुछ यहां आमुष्मिक फलवाला कर्म किया गया है वह सब जिसका भोग आरब्ध है, उसका फलके उपभोगसे क्षय करके—ऐसा अर्थ समझा जाता है। और मरण अविशेषसे अनारब्ध फलवाले सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति करता है, इसलिए किसी एक कर्मसे परलोकमें फल उत्पन्न होता है और किसी एकसे इस लोक में, यह विभाग नहीं हो सकता, ऐसा जो कहा गया है, उसका भी अनुशयके सद्भावको प्रतिपादन करनेसे ही निराकरण किया गया है। इसी प्रकार

रत्नप्रभा

यावत्सम्पातमिति च सामान्यशब्दयोः आमुष्मिकविषयत्वेन सङ्कोचः न्याय्य इति भावः। मरणं कृत्स्नकर्माभिव्यञ्जकम् इति अयुक्तम्, उक्तानुशयश्रुतिविरोधादित्याह—**तदपीति**। बलवदनारब्धकर्मप्रतिबन्धात् च न कृत्स्नकर्माभिव्यक्तिः इत्याह—**अपि चेत्यादिना**। तस्य कृत्स्नकर्मव्यञ्जकत्वे हेतुर्नास्तीति भावः। प्रश्नं मत्वोत्तरं शङ्कते—**आरब्धेति**। आरब्धवत् अनारब्धस्यापि बलवतः प्रतिबन्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जन्मके आरम्भसे ही भोग देखनेमें आता है, इस लिंगसे अनुगृहीत और ऐहिक अनुशयसंज्ञक कर्मविशेषका प्रतिपादन करनेवाली 'रमणीयकपूयचरण' श्रुतिके साथ विरोध होनेसे 'यत्किंच' और 'यावत्संपातम्' इन सामान्य शब्दों आमुष्मिक कर्मविषयक हैं, ऐसा संकोच करना युक्त है, ऐसा भाव है। मरण सब कर्मोंका अभिव्यञ्जक है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि उक्त 'रमणीयचरण' इत्यादि अनुशयश्रुतिका विरोध है, ऐसा कहते हैं—"तदपि" इत्यादिसे। मरण सब कर्मोंका अभिव्यञ्जक नहीं है, क्योंकि बलवत् अनारब्धकर्म प्रतिबन्धक हैं, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। मरण सब कर्मोंका अभिव्यंजक है, इसमें कोई कारण नहीं है, ऐसा भाव

भाष्य

वृत्त्युद्भवो भवतीति यद्युच्येत । तत्र वक्तव्यम् । यथैव तर्हि प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरित्येवं प्रायणकालेपि विरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासम्भवाद्बलवता प्रतिबद्धस्य दुर्बलस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरिति । न ह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोपभोग्यफलमप्यनेकं कर्मैकस्मिन् प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभत इति शक्यं वक्तुं, प्रतिनियतफलत्वविरोधात्, नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणेऽभिव्यक्तिः कस्यचिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम् । ऐकान्तिकफलत्वविरोधात् ।

भाष्यका अनुवाद

जिसका फल आरब्ध नहीं हुआ है ऐसे सब कर्मका मरण अभिव्यञ्जक है, ऐसी प्रतिज्ञा किस हेतुसे की गई है, यह कहना चाहिए। जिसका फल आरब्ध हो गया है ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध अन्य फलके व्यापारका उद्भव अनुपपन्न है, अतः उस प्रतिबन्धके शान्त होनेसे मरणकालमें व्यापारका उद्भव होगा, ऐसा यदि कहे, तो उस पर कहना चाहिए—जैसे जिसका फल आरब्ध हुआ है, ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध दूसरे कर्मके व्यापारकी मरणके पूर्व अनुपपत्ति है, वैसे ही मरणकालमें भी विरुद्ध फलवाले अनेक कर्म एक ही समयमें फलको उत्पन्न करें यह असंभव है, अतः बलवत् कर्मसे प्रतिबद्ध दुर्बल कर्मके व्यापारका उद्भव अनुपपन्न है, जिनके फल अन्य जातिमें

रत्नप्रभा

कत्वात् न सर्वकर्मणः फलदानाय अभिव्यक्तिः इति समाधत्ते—यथेति । अनारब्धफलत्वाविशेषात् सर्वकर्मणाम् अभिव्यक्तिम् आशङ्क्य मिथोविरुद्धस्वर्गनरकादिदेहफलानामेकदेहारम्भकत्वासम्भवः उक्तः, तं विवृणोति—न हीति । अस्तु तर्हि दुर्बलस्य कर्मणो नाश इत्यत आह—नापीति । 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इति एकान्तः उत्सर्गः, स च प्रायश्चित्तब्रह्मज्ञानध्यानैर्बाध्यते, न मरणमात्रेणेत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। पूर्ववादी प्रश्न मानकर उत्तरकी आशंका करता है—'अनारब्ध कर्मके समान यदि आरब्ध भी बलवत् हो, तो दुर्बलका प्रतिबन्ध होनेसे सब कर्म फलदानके लिए अभिव्यक्त नहीं होंगे, ऐसा समाधान करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। अनारब्धफलत्वके विशेष न होनेसे सब कर्मोंकी अभिव्यक्तिकी आशंका करके परस्पर-विरुद्ध स्वर्ग, नरक आदि देहके फल एक देहके आरम्भक नहीं हो सकते, ऐसा कहा गया है, उसका विवरण करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। ठीक है, तब तो दुर्बल कर्मका नाश हो सकता है, इसपर कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे। अभुक्त कर्मका क्षय नहीं होता, यह एकान्त अर्थात् उत्सर्ग है, उस एकान्तका प्रायश्चित, ब्रह्मज्ञान और ध्यानसे बाध होता

भाष्य

नहि प्रायश्चित्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते। स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्य कर्मान्तरस्य चिरमवस्थानं दर्शयति—

कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति।
मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्विमुच्यते॥

इत्येवंजातीयका। यदि च कृत्स्नमनारब्धफलं कर्मैकस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभेत, ततः स्वर्गनरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानवग-

भाष्यका अनुवाद

उपभोग्य हैं, ऐसे अनेक भी कर्म एक मरणमें एक ही समय अभिव्यक्त होकर अनारब्धफलत्वरूप सामान्य धर्मसे एक जाति आरंभ करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिनियतफलत्वका विरोध है। और किसी एक कर्मकी मरणकालमें अभिव्यक्ति हो और किसीका उच्छेद हो, ऐसा कहना शक्य नहीं है, क्योंकि कर्मका ऐकान्तिक फल होता है, उसका विरोध होगा। निश्चय, प्रायश्चित आदि हेतुओंके बिना कर्मोंका उच्छेद नहीं हो सकता। विरुद्ध फलवाले कर्मसे प्रतिबद्ध अन्य कर्मकी चिरस्थिति स्मृति भी दिखलाती है—'कदाचित् सुकृतं कर्म०' (किसी समय संसारमें मग्न हुए पुरुषका सुकृत कर्म यहां कूटस्थ रहता है, जहां तक वह दुःखसे विमुक्त होता है वहां तक) इस प्रकार। यदि अनारब्ध फलवाले सब कर्म एक मरणसमयमें अभिव्यक्त

रत्नप्रभा

मरणेन दुर्बलकर्माविनाशे मानम् आह—स्मृतिरिति। कर्मनाशपक्षं निरस्य प्रकृतकृत्स्नकर्माभिव्यक्तिपक्षे दोषान्तरम् आह—यदि चेति। कृत्स्नकर्मणाम् एकस्मिन् देवादिजन्मनि भोगेन क्षयात् न जन्मान्तरं स्यात्, ज्ञानाभावात् न मुक्तिः इति अज्ञदेवस्य कष्टान्तरालदशा स्यात् इति अर्थः।

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम्।
चण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, मरणमात्रसे कर्मका नाश नहीं होता, ऐसा अर्थ है। मरणसे दुर्बल कर्मका नाश नहीं होता, इसमें प्रमाण कहते हैं—"स्मृतिः" इत्यादिसे। कर्मका नाश होता है, इस पक्षका निरसन करके प्रकृत सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति-पक्षमें अन्य दोष कहते हैं—"यदि च" इत्यादिसे। सब कर्मका एक देवादि जन्ममें भोगद्वारा क्षय होनेके कारण दूसरा जन्म और ज्ञानके अभावसे मुक्ति भी नहीं होगी। इस प्रकार अज्ञ देवकी कष्टसे भरी हुई] दशा होगी, ऐसा तात्पर्य है।

भाष्य

माद्धर्माधर्मानुत्पत्तौ निमित्ताभावान्नोत्तरा जातिरुपपद्येत। ब्रह्महत्यादीनां चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्मर्यमाणमुपरुध्येत। नच धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिसमधिगमे शास्त्रादतिरिक्तं कारणं शक्यं सम्भावयितुम्। नच दृष्टफलस्य कर्मणः कारीर्यादेः प्रायणमभिव्यञ्जकं सम्भवतीति, अव्यापिकाऽपीयं प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना। प्रदीपोपन्यासोऽपि कर्मबलाबलप्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः। स्थूलसूक्ष्मरूपाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथाहि प्रदीपः समानेऽपि संनिधाने स्थूलं रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम्, एवं

भाष्यका अनुवाद

होकर एक जाति उत्पन्न करें, तो स्वर्ग, नरक और पशु योनियोंमें अधिकार की अप्राप्तिसे धर्म और अधर्मकी अनुपपत्ति होनेपर उत्तर जन्म उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि निमित्तका अभाव है। और ब्रह्महत्या आदि एक एक कर्म अनेक जन्मोंका निमित्त है, यह जो स्मृति कहती है, उसका बाध होगा और धर्म और अधर्मके स्वरूप, फल, साधन आदिके ज्ञानके लिए शास्त्रसे अन्य कारणकी संभावना नहीं कर सकते। और मरण, कारीर्यादि कर्म जिनका फल इस जन्ममें देखनेमें आता है, उनका अभिव्यञ्जक नहीं हो सकता, इसलिए मरण अभिव्यञ्जक है, यह कल्पना व्यापक नहीं है। प्रदीपके उपन्यासका भी कर्मके बलाबलके प्रदर्शनसे ही निराकरण किया गया है

रत्नप्रभा

इत्यादिस्मृतिविरोधाच्च न सर्वकर्मणाम् एकजन्मारम्भकत्वम् इत्याह—**ब्रह्मेति**। ननु एकस्य कर्मणः कथमनेकजन्मफलकत्वम्, अदृष्टत्वात्, इत्यत आह—**न चेति**। किञ्च व्यञ्जकत्वेपि मरणस्य किं सर्वकर्मव्यञ्जकत्वं कल्प्यते उत यत्किंचित्कर्मव्यञ्जकत्वम्? नाद्यः इह कृतकारीर्यादेः अत्रैव फलहेतोर्मरणव्यज्यत्वासंभवात् इत्याह—**नचेति**। द्वितीयं निरस्यन् परोक्तं दृष्टान्तम् विघटयति—**प्रदीपेति**। रूपाणां प्रदीपवत् मरणं न कस्यचिद् अपि कर्मणो व्यञ्जकम्, किन्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

और 'श्वसूकरखरोष्ट्राणां०' (ब्रह्महत्या करनेवाला, कुत्ता, सूअर, गदहा, ऊँट, बैल, बकरी, भेड़, मृग, पक्षी, चण्डाल और पुक्कसकी योनिको प्राप्त करता है) इत्यादि स्मृतिसे विरोध होनेके कारण सब कर्म एक जन्म उत्पन्न नहीं करते, ऐसा कहते हैं—"ब्रह्म" इत्यादिसे। परन्तु एक कर्म अनेक जन्मरूप फलका उत्पादक किस प्रकार होता है, क्योंकि देखनेमें नहीं आता, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। और मरण कर्मका व्यञ्जक होनेपर भी क्या वह सब कर्मोंका

भाष्य

प्रायणं समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजातस्य प्राप्तावसरत्वे बलवतः कर्मणो वृत्तिमुद्भावयति न दुर्बलस्येति। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादश्लिष्टोऽयमशेषकर्माभिव्यक्त्यभ्युपगमः। शेषकर्मसद्भावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने संभ्रमः, सम्यग्दर्शनादशेषकर्मक्षयश्रुतेः। तस्मात्स्थितमेतदेवानुशयवन्तोऽ-

भाष्यका अनुवाद

और स्थूल और सूक्ष्म रूपकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिके समान इसे जानना चाहिए। क्योंकि जैसे सन्निधिके समान होनेपर भी प्रदीप स्थूलरूप अभिव्यक्त करता है, सूक्ष्म नहीं, वैसे जिस कर्मवृन्दका फल अनारब्ध है, ऐसे कर्मवृन्दका प्राप्त हुआ अवसर समान है, तो भी मरण बलवत् कर्मका व्यापार उत्पन्न करता है, दुर्बलका नहीं करता। इसलिए श्रुति, स्मृति और न्यायके विरोधसे अशेष कर्मकी अभिव्यक्तिका यह स्वीकार युक्त नहीं है। शेष कर्मके सद्भावसे अनिर्मोक्षका प्रसंग होगा, यह भी संभ्रम स्थानमें नहीं है,

---

रत्नप्रभा

प्रबलकर्मप्रतिबन्धाभावे दुर्बलं व्यज्यत इत्यर्थः। एवं मरणस्य व्यञ्जकत्वानङ्गीकारेण प्रदीपदृष्टान्तो निरस्तः, अङ्गीकारे अपि अनुकूलो दृष्टान्त इत्याह— **स्थूलेति**। सूक्ष्मम् अनुद्भूतरूपमिति, मरणे सर्वकर्माभिव्यक्त्यसिद्धिरिति शेषः। एवं सर्वकर्मसंघः एकजन्मारम्भकः इत्यैकभविकः कर्माशय इति मतनिरासमुपसंहरति—**तस्मादिति**। चरणश्रुत्या ततः शेषेणेत्यादिस्मृत्या 'प्रबलप्रतिबन्धात्' इति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभिव्यञ्जक है, ऐसी कल्पना करते हो अथवा यत्किंचित् कर्मका अभिव्यञ्जक है, ऐसी? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि कारीर्यादि इष्टि जो मेघके लिए की जाती है, उसका फल यहीं होता है, इसलिए मरण उसका व्यञ्जक है, ऐसा संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। द्वितीयका निरसन करते हुए परोक्त दृष्टान्तका निराकरण करते हैं—"प्रदीप" इत्यादिसे। जैसा दीप रूपोंका व्यञ्जक है, वैसा मरण किसी भी कर्मका व्यञ्जक नहीं है, किंतु प्रबल कर्मके प्रतिबन्धके अभावमें दुर्बल कर्म व्यक्त होता है, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार मरणके व्यञ्जकत्वका न स्वीकार करनेसे प्रदीपका दृष्टान्त निरस्त है, और मरणके व्यंजकत्वका स्वीकार करनेपर भी प्रदीपका दृष्टान्त अनुकूल है, ऐसा कहते हैं—"स्थूल" इत्यादिसे। सूक्ष्म—अनुद्भूत रूपवाला, इस प्रकार मरणमें सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति असिद्ध है, इतना शेष है। इस प्रकार सब कर्म एक जन्मके उत्पादक हैं, इससे कर्माशय 'ऐकभविक है' इस मतके निरासका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। चरणश्रुतिसे 'ततः शेषेण'

भाष्य

वरोहन्तीति । ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति । यथेतमिति यथागत-मित्यर्थः । अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः । धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्वन्यु-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि सम्यग् दर्शनसे अशेष कर्मका क्षय होता है, इसप्रकार श्रुति कहती है, इसलिए अनुशयसहित जीव अवरोहण करते हैं, ऐसा सिद्ध है। और वे अवरोहण करनेवाले जिस मार्गसे गये थे उस मार्गसे और अन्य मार्गसे भी अवरोहण करते हैं। 'यथेतम्' अर्थात् जैसे गये थे, वैसे ही, ऐसा अर्थ है। 'अनेवम्' अर्थात्

रत्नप्रभा

न्यायेन च अनभिव्यक्तकर्मसद्भावाद् इत्यर्थः । ननु मुक्त्यनुपपत्त्याऽङ्गीकार्यः ऐकभविकः ? इत्यत आह—**शेषेति** । सूत्रशेषं व्याचष्टे—**ते चेत्यादिना** । अवरोहमार्गः इत्थं श्रूयते—'तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमोभूत्वाऽभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह व्रीहियवा, ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते, अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं योयो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते' इति । धूमाद्यध्वना यथेतं—यथागतं तथैतमध्वानं पुनरायान्तीत्युक्त्वा धूमादिरूपपितृमार्गस्थरात्र्यादिकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि स्मृतिसे और 'प्रबलप्रतिबन्धात्' इस न्यायसे अनभिव्यक्त कर्मका सद्भाव है, अतः ऐसा अर्थ है। परन्तु मुक्तिकी अनुपपत्तिसे ऐकभविक सब कर्मोंका स्वीकार करना चाहिए, इसपर कहते हैं—"शेष" इत्यादिसे। सूत्रशेषका व्याख्यान करते हैं—"ते च" इत्यादिसे। अवरोह मार्ग इस प्रकार सुना जाता है—'तस्मिन् यावत्०' (वह चन्द्रमण्डलमें जबतक कर्मका क्षय नहीं होता तबतक रहकर फिर इसी मार्गसे पीछे लौटता है—प्रथम आकाशमें, आकाशसे वायुमें, वायु होकर धूम होता है, धूम होकर अभ्र होता है, अभ्र होकर मेघ होता है, और मेघ होकर जलरूपसे पृथिवीपर गिरता है, वे यहां, व्रीहि यव, औषधि, वनस्पति, तिल और माष आदि होते हैं, उससे अनुशयीका निस्सरण दुष्कर है, जो जो अन्न खाता है और जो रेतका सिंचन करता है, वह तदाकृति होता है और वे यहां पर जो रमणीय आचरणवाले होते हैं वे रमणीय योनि पाते हैं)। धूमादिमार्गसे जैसे गया था वैसे ही फिर लौटता है, यह कहकर धूमादिरूप पितृमार्गमें स्थित रात्रि आदि नहीं कहे गये हैं, और अभ्र आदि अधिक कहे गये हैं, ऐसा

भाष्य

पात्तयोरवरोहे संकीर्तनाद्यथेतंशब्दाच्च यथागतमिति प्रतीयते। रात्र्याद्यसंकीर्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयते ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

उससे विपरीत प्रकारसे, ऐसा अर्थ है। धूम और आकाश जो पितृतार्गमें कहे गये हैं, उनका अवरोहणमें संकीर्तन होनेसे और 'यथेतम्' इस शब्दसे 'जैसे गया वैसे' ऐसी प्रतीति होती है। रात्रि आदिका संकीर्तन नहीं है और अभ्र आदिका उपसंख्यान है, इससे विपरीतकी भी प्रतीति होती है ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

नोक्तम् अधिकं चाऽभ्रादिकमुक्तम् इति मत्वा सूत्रकृतोक्तं—**यथेतमनेवञ्चेति**। अवशिष्टश्रुत्यर्थोऽग्रे स्फुटीभविष्यति ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विचारकर सूत्रकारने—'यथेतमनेवं च' (जैसे गया था वैसे ही नहीं) ऐसा कहा है। अवशिष्ट श्रुतिका अर्थ आगे स्पष्ट हो जायगा ॥८॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—चरणात्, इति, चेत्, न, उपलक्षणार्था, इति, कार्ष्णाजिनिः।

पदार्थोक्ति—[ननु] चरणात्—चारित्र्यात् [एव 'रमणीयचरणा' इत्यादि श्रुतिः योन्यापत्तिं दर्शयति, न अनुशयात्, चरणानुशयौ च परस्परं भिन्नौ] इति चेन्न, [यतः] कार्ष्णाजिनिः—तन्नामकः कश्चनाचार्यः [इयं चरणश्रुतिः] उपलक्षणार्था—स्वप्रतिपादकत्वविशिष्टस्वेतरप्रतिपादिका इति [मन्यते]।

भावार्थ—'रमणीयचरणा' इत्यादि श्रुति चरण—चारित्र्यसे ही योन्यापत्तिको कहती है, अनुशयसे नहीं, अनुशय और चरण परस्पर विलक्षण हैं, यदि ऐसी शङ्का करो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि कार्ष्णाजिनि नामके आचार्य चरणश्रुतिको उपलक्षणार्थ मानते हैं अर्थात् चरणशब्दसे अनुशय भी लिया जाता है।

भाष्य

अथापि स्यात्—या श्रुतिरनुशयसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता—'तद्य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इति—सा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति, नानुशयात् । अन्यच्चरणमन्योऽनुशयः, चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम् । अनुशयस्तु भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्तं कर्माभिप्रेतम् । श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' (बृ० ४।४।५) इति, 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' (तै०१।११।२)

भाष्यका अनुवाद

हो सकता है—'तद्य इह रमणीयचरणाः०' (उनमें जो यहां पुण्य कर्मवाले हैं) यह जो श्रुति अनुशयके सद्भावके प्रतिपादनके लिए कही गई है, वह चरणसे योनिकी आपत्ति—प्राप्ति दिखलाती है, अनुशयसे नहीं । चरण भिन्न है और अनुशय भिन्न है । चरण, चारित्र, आचार और शील ये पर्यायशब्द हैं । अनुशय तो जिस कर्मका फलभोग किया गया है, ऐसे कर्मसे अतिरिक्त कर्म है, यह अभिप्राय है । और श्रुति भेदसे कर्म और चरणको कहती है—'यथाकारी यथाचारी०' (जैसा कर्म और जैसा आचरण करता है, वैसा ही वह होता है) इस प्रकार । और 'यान्यनवद्यानि० कर्माणि०' (जो अनिन्दित कर्म हैं, वे तुम्हें करने चाहिए अन्य नहीं, जो हम आचार्योंके सुचरित हैं वे ही तुम्हें करने चाहिएँ) इसप्रकार । इसलिए चरणसे योनिकी आपत्ति

रत्नप्रभा

सम्प्रति श्रुतिस्थचरणशब्दम् आक्षेपपूर्वकं सूत्रकृद् व्याचष्टे—**चरणादिति चेदिति** ।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः ॥

इति स्मृतावुक्ताः अद्रोहादयः । शास्त्रार्थज्ञानरूपं शीलं सर्वकर्माङ्गमुक्तम् । तद्बोधकं चरणपदम् अङ्गिनः श्रौतादिकर्मणो लक्षकम् । 'कर्मण एवोत्तरावस्था

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब श्रुतिस्थ चरणशब्दका सूत्रकार आक्षेपपूर्वक व्याख्यान करते हैं—"चरणादिति चेन्न" इत्यादिसे । 'अद्रोहः सर्वभूतेषु०' (सब भूतोंमें कर्म, मन और वाणीसे अद्रोह–द्रोह न रखना अनुग्रह और ज्ञानको पण्डित लोग शील जानते हैं) इस प्रकार स्मृतिमें भी अद्रोह आदि कहा गया

भाष्य

इति च । तस्माच्चरणाद्योन्यापत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरिति चेत्; नैष दोषः; यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैवैषा चरणश्रुतिरिति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥९॥

भाष्यका अनुवाद

कहनेवाली श्रुतिसे अनुशय सिद्ध नहीं होता, यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि यह चरणश्रुति अनुशयके उपलक्षणके लिए ही है, ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते हैं ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

धर्माधर्माख्याऽपूर्वम्' इति कर्मलक्षणयैव तदभिन्नाऽपूर्वाख्यानुशयसिद्धिः इति कार्ष्णाजिनिमतम् ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है । शास्त्रार्थज्ञानरूप शील सब कर्मोंका अंग कहा गया है । उसका बोधक चरणपद अंगी जो श्रौतादि कर्म है, उसका लक्षक है । कर्मकी ही उत्तर अवस्था—धर्म और अधर्मरूप अपूर्व है, इस प्रकार कर्ममें लक्षणासे ही तदभिन्न अपूर्वनामक अनुशयकी सिद्धि है, ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्यका मत है ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

पदच्छेद—आनर्थक्यम्, इति, चेत्, न, तदपेक्षत्वात् ।

पदार्थोक्ति—[ननु चरणश्रुतेर्मुख्यार्थपरित्यागेनानुशयार्थकत्वे] आनर्थक्यमिति चेन्न, तदपेक्षत्वात्—इष्टादिकर्मणामाचारनिर्वर्त्यत्वेन चरणापेक्षत्वात् [चरणश्रुतेः सार्थकत्वम् इत्यर्थः]

भाषार्थ—यदि चरणश्रुति अपने मुख्य अर्थको छोड़कर अनुशयरूप अर्थका बोधन करावे, तो उसमें—चरणश्रुतिमें आनर्थक्य प्रसक्त होगा, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इष्ट आदि कर्मोंकी सत्ता आचारके अधीन होनेसे चरणापेक्ष है, अतः नैरर्थक्य नहीं है ।

भाष्य

स्यादेतत्—कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लाक्षणिकः अनुशयः प्रत्याय्यते ? ननु शीलस्यैव श्रौतस्य विहितप्रतिषिद्धस्य साध्वसाधुरूपस्य शुभाशुभयोन्यापत्तिः फलं भविष्यति, अवश्यं च शीलस्यापि किंचित्फलमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा ह्यानर्थक्यमेव शीलस्य प्रसज्येत–इति चेत्, नैष दोषः; कुतः ? तदपेक्षत्वात्। इष्टादि हि कर्मजातं चरणापेक्षम्। नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्, 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादिस्मृतिभ्यः। पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम्। इष्टादौ हि कर्मजाते

भाष्यका अनुवाद

परन्तु चरणशब्दसे श्रुतिमें कहे गये शीलका त्याग करके लाक्षणिक अनुशयकी प्रतीति किस प्रकार की जाती है ? श्रुतिमें कहा गया विहित या प्रतिषिद्ध, साधु या असाधुरूप शीलका ही शुभ अथवा अशुभ जन्मप्राप्तिरूप फल होगा और शीलका भी कुछ फल अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, नहीं तो शीलमें आनर्थक्य ही प्रसक्त होगा। यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है। किससे ? उस चरणकी अपेक्षा होनेसे। क्योंकि इष्ट आदि कर्मसमूह चरणकी अपेक्षा रखते हैं। निश्चय, सदाचारसे हीन पुरुष यज्ञमें अधिकृत नहीं होता, क्योंकि 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः, (आचारहीनको वेद पवित्र नहीं करते) इत्यादि स्मृतियां हैं। पुरुषार्थ—पुरुषसंस्कारक होनेपर भी आचारमें

रत्नप्रभा

तदेव शङ्कासमाधानाभ्याम् आह—आनर्थक्यमिति चेदित्यादिना सूत्रेण। चरणशब्दवाच्यस्यैव ग्रहणसम्भवात् न लक्षणा युक्ता इति शङ्किता एव ब्रूते—**नन्विति**। प्रतिषिद्धं शीलं क्रोधानृतादिरूपम्। किञ्च शीलस्य विफलत्वायोगात् श्रुतयोन्यापत्तिः तस्यैव फलं, नानुशयस्य इत्याह—**अवश्यं चेति**। 'वेदास्तदर्थकर्माण्याचारं विना न फलन्ति' इति स्मृत्या शीलस्य कर्माङ्गत्वात् न पृथक्फलापेक्षा, अङ्गिफलेन अर्थवत्त्वात्। न च अङ्गमात्रात् योन्यापत्तिः फलम् इति वाच्यम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसे ही शंका और समाधानसे कहते हैं—"आनर्थक्यमिति चेन्न" इत्यादिसे। चरणशब्दके वाच्यार्थका ही ग्रहणसम्भव होनेसे लक्षणा युक्त नहीं है, ऐसी शंका करनेवाला ही कहता है—"ननु" इत्यादिसे। प्रतिषिद्ध शील, क्रोध, अनृतादिरूप है। और शीलमें निष्फलत्वके अयोगसे श्रुतिमें कहा गया जन्मप्रसंग उसका ही फल है, अनुशयका नहीं, ऐसा कहते हैं—"अवश्यं च" इत्यादिसे। वेद अर्थात् वेदार्थ कर्म आचारके बिना फल नहीं देते, ऐसी स्मृति होनेसे शील

भाष्य

फलमारभमाणे तदपेक्ष एवाचारस्तत्रैव कंचिदतिशयमारप्स्यते। कर्म च सर्वार्थकारि—इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः' तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति कार्ष्णाजिनेर्मतम्। नहि कर्मणि सम्भवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता। नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

आनर्थक्य नहीं है, क्योंकि इष्ट आदि कर्मसमूह जब फल उत्पन्न करने लगेंगे। तब उनकी अपेक्षा रखनेवाला आचार उनमें ही कुछ अतिशय उत्पन्न करेगा। और कर्म सर्वार्थकारी है, ऐसी श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्धि है। इसलिए कर्म ही शीलसे उपलक्षित अनुशयरूप होकर जन्मप्रसंगमें कारण है, ऐसा कार्ष्णाजिनिका मत है। यह निश्चित है कि जब कर्मका संभव है तब शीलसे जन्मप्रसंग युक्त नहीं है, क्योंकि पैरसे पलायन करनेमें समर्थ कोई भी घुटनोंसे पलायन नहीं करता ॥ १० ॥

रत्नप्रभा

अङ्गस्य फलासम्भवेन मुख्यार्थस्याऽऽचारस्य ग्रहणायोगात् लक्षणा युक्ता इति समाधानार्थः। यदि आचारस्य स्नानादिवत् पुरुषसंस्कारतया पुरुषार्थत्वं तदापि अविरोध इत्याह—**पुरुषार्थत्वेऽपीति**। अङ्गावबद्धोपास्तिवदाचारोऽर्थवानित्यर्थः। अस्तु तर्हि शीलाख्याचारादेव योन्यापत्तिरित्याशङ्क्य 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा' इत्यादिश्रुत्या विरोधात् न एवम् इति आह—**कर्म चेति**। पारयमाणः—शक्तः ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मका अंग है, इसलिए उसको अलग फलकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अंगी जो कर्म है उसके फलसे अङ्ग जो शील है वह अर्थवत्–फलवाला होता है। और अङ्गमात्रसे योनिकी आपत्तिरूप—जन्मप्रसङ्गरूप फल होता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अङ्गमें फलका सम्भव नहीं है, इससे मुख्य अर्थमें आचारका ग्रहण करना युक्त नहीं है, अतः लक्षणा युक्त है, ऐसा समाधानका अर्थ है। यदि आचारमें स्नानादिके समान पुरुषसंस्कार द्वारा पुरुषार्थत्व माना जाय, तो भी कोई विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं—"पुरुषार्थत्वेऽपि" इत्यादिसे। अङ्गके साथ जुटी हुई उपासनाके समान आचार भी फलवान् है, ऐसा अर्थ है। तब शीलनामक आचारसे ही जन्मप्रसंग हो, ऐसी आशंका करके 'पुण्यो वै पुण्येन०' इत्यादि श्रुतिका विरोध होनेसे, ऐसा नहीं हो सकता, इस प्रकार कहते हैं—"कर्म च" इत्यादिसे। पारयमाण—शक्त अर्थात् समर्थ ॥१०॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

पदच्छेद—सुकृतदुष्कृते, एव, इति, तु, बादरिः ।

पदार्थोक्ति—बादरिः—तन्नामकः आचार्यवर्य्यस्तु [चरणशब्देन] सुकृत-दुष्कृते—पुण्यपापे एव [गृह्येते] इति [मन्यते, कुतः ? लोके 'धर्मं चरति' इति प्रतीत्या कर्मचरणयोः परस्परमभेदेन प्रयोगदर्शनात्, अतः इष्टादिकर्मकारिणां चन्द्रलोकं गतानाम् पुनरवरोहार्थमनुशयोऽस्तीति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—बादरि नामके आचार्यप्रवर तो 'चरण शब्दसे पुण्यपापरूप कर्म गृहीत होता है' ऐसा मानते हैं, क्योंकि लोकमें 'धर्मं चरति' इस प्रकारकी प्रतीतिसे कर्म और चरणका परस्पर अभेद प्रतीत होता है, अतः चन्द्रलोकमें गये हुए इष्टादिकारियोंका अनुशय है, यह सिद्ध हुआ ।

भाष्य

बादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याय्येते इति मन्यते । चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम् । तथाहि—अविशेषेण कर्ममात्रे चरतिः प्रयुज्यमानो दृश्यते—यो हीष्टादिलक्षणं पुण्यं कर्म करोति तं लौकिका आचक्षते—धर्मं चरत्येष महात्मेति । आचारोऽपि च धर्मविशेष

भाष्यका अनुवाद

परन्तु चरणशब्दसे सुकृत और दुष्कृतकी ही प्रतीति होती हैं, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं। चरण, अनुष्ठान और कर्म ये अनर्थान्तर—पर्याय वाचक शब्द हैं। क्योंकि 'चर्' धातु अविशेषसे कर्ममात्रमें प्रयुक्त देखनेमें आता है। इसीलिए जो इष्ट आदि लक्षण पुण्यकर्म करता है, उसको, यह

रत्नप्रभा

यद्यपि अक्रोधादिरूपं शीलं साधारणधर्मात्मकं विशेषरूपात् कर्मणो भिन्नम्, तथापि चरणाचारशब्दौ कर्मवाचिनौ एव न शीलवाचकौ इति न लक्षणावसर इति बादरिमतम् मुख्यसिद्धान्तम् आह—**सुकृतेति** । चरणशब्दार्थम् उपसंहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि अक्रोध आदिरूप शील जो साधारण धर्मात्मक है, वह विशेषरूपकर्मसे भिन्न है, तो भी चरण और आचारशब्द कर्मवाची है, शीलवाचक नहीं है, इससे लक्षणाका अवसर नहीं है, ऐसा जो बादरिका मत है, वही मुख्य सिद्धान्त है, ऐसा कहते हैं—"सुकृतदुष्कृते"

भाष्य

एव । भेदव्यपदेशस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते । तस्माद्रमणीयचरणाः—प्रशस्तकर्माणः, कपूयचरणाः—निन्दितकर्माण इति निर्णयः ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

महात्मा धर्मका आचरण करता है' ऐसा लोकमें सब कहते हैं। आचार भी धर्म विशेष ही है। कर्म और चरणका भेदव्यपदेश तो 'ब्राह्मणपरिव्राजक'[1] न्यायसे भी उपपन्न होता है। इसलिए 'रमणीयचरणाः—प्रशस्तकर्मवाले और कपूयचरणाः—निन्दित कर्मवाले, ऐसा निर्णय है ॥ ११ ॥

रत्नप्रभा

आचारोऽपीति । कर्मण एव आचारत्वे 'यथाकारी' इत्यादिभेदोक्तिः कथमित्यत आह—**भेदव्यपदेश इति** । निरुपपदाचारशब्दात् सदाचाररूपो विशेषो भाति, अतस्तत्समभिव्याहृतः कर्मसामान्यवाचको यथाकारीति शब्दस्तदितरविशेषपरः, एवम् 'अनवद्यानि कर्माणि' इति सामान्यतः, अस्माकं सुचरितानि' इति विशेष इति विवेकः । तस्मात् अनुशयबलादागत्यवश्यम्भावानुसन्धानाद्वैराग्यमिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। चरणशब्दके अर्थका उपसंहार करते हैं—"आचारोऽपि" इत्यादिसे। यदि कर्म ही आचार हो, तो 'यथाकारी' इत्यादि भेदोक्ति किस प्रकार सिद्ध होगी, इसपर कहते हैं—"भेदव्यपदेश" इत्यादिसे। उपपदरहित आचारशब्दसे सदाचाररूप विशेष समझा जाता है, इसलिए उसके पास आया हुआ कर्मसामान्यवाचक यथाकारीशब्द उससे (सदाचारसे) अन्य विशेष अर्थका प्रतिपादन करता है। इस प्रकार 'यान्यनवद्यानि' इस श्रुतिमें 'अनवद्यानि कर्माणि' यह सामान्य रीतिसे कहा गया है, 'अस्माकं सुचरितानि, यह विशेष है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए अनुशयके बलसे आगति अवश्य होनेवाली है, इस अनुसन्धानसे वैराग्य सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

१—जहां सामान्यवाची शब्दका विशेषार्थक पदके सान्निध्य होनेसे अन्य अर्थ प्राप्त होता है, वहीं यह न्याय प्राप्त होता है। जैसे ब्राह्मणों और परिव्राजकोंको भोजन करावो, इस वाक्यमें परिव्राजकके ब्राह्मण होनेपर भी ब्राह्मण शब्द परिव्राजकसे इतर ब्राह्मणपरक है वैसे प्रकृतमें कर्म और चरणका परस्पर अभेद होनेपर भी इस न्यायसे कथञ्चित् भेदव्यपदेश होता है—यहां सामान्यवाची यथाकारीशब्द है और निरुपपद आचारशब्दसे विशेष—सदाचार भासता है। अतः उक्त न्यायकी संगति है।

[३ अनिष्टादिकार्यधिकरण सू० १२–२१]

चन्द्रं याति न वा पापी 'ते सर्वं' इति वाक्यतः ।
पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेऽपि यात्यसौ ॥१॥
भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी ।
सर्वश्रुतिः सुकृतिनां याम्ये पापिगतिः श्रुता ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—पाप कर्म करनेवाला चन्द्रलोकमें जाता है, या नहीं ?

पूर्वपक्ष—जाता है, क्योंकि 'ते सर्वे' इत्यादि वाक्य है, यद्यपि वहाँ भोगका अभाव है तथापि पञ्चम आहुतिरूप प्रयोजनके लिए गति माननी पड़ेगी ।

सिद्धान्त—भोगके लिए ही स्वर्गमें गमन है और पञ्चम आहुतिमें व्यभिचार है, अतः 'ते सर्वे' यह श्रुति सुकृतिपुरुषोंके लिए है, इससे पापी यमलोकमें जाता है, स्वर्गलोकमें नहीं ।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—अनिष्टादिकारिणाम्, अपि, च, श्रुतम् ।

पदार्थोक्ति—[इदं पूर्वपक्षसूत्रम्] अनिष्टादिकारिणाम्—इष्टादिकर्मशून्यानाम् , अपि श्रुतम्—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति' इत्यादिश्रुत्या चन्द्रलोकगमनं प्रतिपादितम्, च—अतः [इष्टादिकर्मकारिणो धार्मिका एव चन्द्रलोकं गच्छन्ति इत्येतदसङ्गतमिति सूत्रस्याभिप्रायः] ।

भाषार्थ—यह पूर्वपक्षसूत्र है, 'ये वै के च' इत्यादि श्रुतिसे इष्ट आदि कर्म नहीं करनेवालोंका भी चन्द्रलोकमें गमन श्रुत है, अतः धार्मिक पुरुष ही स्वर्गलोकमें जाते हैं, यह कथन असङ्गत है ।

---

* भाव यह है कि 'ये वै के चास्माल्लोकात्' इत्यादि श्रुतिसे ज्ञात होता है—चन्द्रलोक नामके स्वर्गमें पापकर्म करनेवाले भी जाते हैं । यद्यपि स्वर्गलोकमें पापी पुरुषोंका भोग नहीं है, तथापि पुनः शरीर-ग्रहणके लिए पञ्चम आहुतिके लाभार्थ स्वर्गगमन नितान्त अपेक्षित है ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—स्वर्गमें जानेका मुख्य प्रयोजन भोग ही है, पञ्चमाहुतिका लाभ नहीं, क्योंकि द्रोण आदिमें उसका व्यभिचार है । 'ते सर्वे' इत्यादि श्रुति सुकृतिजनको विषय करती है और पापी जनोंकी गति यमलोकमें श्रुत है—'वैवस्वतं संगमनम्' इत्यादिसे । इसलिए पापकर्म करनेवालेकी स्वर्गलोकमें गति नहीं है ।

भाष्य

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तम् । ये त्वितरेऽनिष्टादिकारिणस्तेऽपि किं चन्द्रमसं गच्छन्त्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते । तत्र तावदाहुः— इष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीत्येतत् न, कस्मात् ? यतोऽनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रुतम् । तथा ह्यविशेषेण कौषीतकिनः समामनन्ति—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'

भाष्यका अनुवाद

इष्ट आदि कर्म करनेवाले चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा कहा गया है। परन्तु दूसरे जो इष्टादि कर्म नहीं करनेवाले हैं, वे भी चन्द्रलोकमें जाते हैं या नहीं जाते, इसका विचार किया जाता है।

पूर्वपक्षी—इष्ट आदि करनेवाले ही चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, किससे ? इससे कि इष्ट आदि न करनेवालोंके भी गन्तव्यरूपसे चन्द्रमण्डलको श्रुति कहती है, क्योंकि कौषीतकी—कौषीतकी शाखावाले बिना विशेषके पढ़ते हैं—'ये वै के च०' (जो कोई इस लोकसे प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रमण्डलमें ही जाते हैं) इस प्रकार। पुनर्जन्म पानेवालोंकी

रत्नप्रभा

एवं पुण्यात्मनां गत्यागतिचिन्तया वैराग्यं निरूप्य पापिनां तच्चिन्तया तन्निरूपयति—**अनिष्टादिकारिणामपि** चेति । 'ये वै के च' इत्यविशेषश्रुतेः 'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्' इति श्रुतेश्च संशये प्रथमाधिकरणेन सिद्धनियमाक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—**तत्रेत्यादिना** । यमराजं पापिजनानां सम्यग्गम्यं, हविषा प्रीणयतेति श्रुत्यर्थः । पूर्वपक्षे पुण्यवतामेव चन्द्रगतिरिति नियमाभावात् पुण्यवैयर्थ्यं पापात् वैराग्यादार्ढ्यम् च इति फलम्, सिद्धान्ते पापिनां

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार पुण्यात्माओंकी गति और आगतिके विचारसे वैराग्यका निरूपण करके पापियोंकी गति और आगतिके विचारसे वैराग्यका निरूपण करते हैं—"अनिष्टादिकारिणामपि" इत्यादिसे । 'ये वै के च' इस अविशेष श्रुति तथा 'वैवस्वतम् संगमनं जनानाम्' इस श्रुतिसे भी संशय होनेपर प्रथम अधिकरणसे सिद्ध नियमके आक्षेपरूप संगतिसे पूर्वपक्षसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । पापियोंके सम्यग्गम्य यमराजको हविषसे प्रसन्न करो, यह श्रुतिका अर्थ है। पूर्वपक्षमें पुण्यवान्‌की ही चन्द्रगति है, यह नियम न होनेसे पुण्य व्यर्थ है और पापसे वैराग्यका अदृढ़त्व फल है। सिद्धान्तमें पापियोंको चन्द्रलोकका दर्शन भी नहीं होता है, अतः

भाष्य

(कौषी० १ । २) इति । देहारम्भोपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात् , तस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदेयुः । इष्टादिकारिणामितरेषां च समानगतित्वं न युक्तमिति चेत् , नः इतरेषां चन्द्रमण्डले भोगाभावात् ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

देहोत्पत्ति भी चन्द्रप्राप्तिके बिना नहीं हो सकती, क्योंकि 'पंचम्यामाहुतौ' (पांचवी आहुतिमें) इस प्रकार आहुतिसंख्याका नियम है, इसलिए सभी चन्द्रलोकमें जाते हैं । इष्ट आदि कर्म करनेवाले की और नहीं करनेवाले की भी एकसी गति हो, यह ठीक नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि अन्यके चन्द्रमण्डलमें भोगका अभाव है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

चन्द्रलोकदर्शनम् अपि नास्ति इति पुण्यार्थवत्त्वं वैराग्यदार्ढ्यञ्चेति फलम् , पञ्चमाग्नौ देहारम्भ इति नियमात् पापिनामपि प्रथमद्युलोकाग्निप्राप्तिः वाच्या इत्याह— देहारम्भ इति । पापिनां स्वर्गभोगाभावेपि मार्गान्तराभावात् चन्द्रगतिः इति भावः ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुण्यका अर्थवत्त्व और वैराग्यका दृढत्व फल है। पांचवीं अग्निमें देहारम्भ हैं, ऐसा नियम होनेसे पापियोंकी प्रथम द्युलोकाग्निकी प्राप्ति है, ऐसा कहना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"देहारम्भ" इत्यादिसे । पापियोंको स्वर्गका भोग नहीं होता, तो भी अन्य मार्गके न होनेसे चन्द्रमें गति है, ऐसा भाव है ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

पदच्छेद—संयमने, तु, अनुभूय, इतरेषाम् , आरोहावरोहौ, तद्गतिदर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दप्रयोजनम्—पूर्वोक्तशङ्काविनाशः । संयमने—यमगृहे [स्वकीयदुष्कृत्यनुरूपा यामी यातनाः] अनुभूय—उपभुज्य [एव] इतरेषाम्—निषिद्धानुष्ठातॄणाम्—आरोहावरोहौ—गत्यागती भवतः, कुतः ?] तद्गतिदर्शनात्—'अयं लोको नास्ति' इत्यादिश्रुतौ यमाधीनत्वलक्षणतद्गतेः दर्शनात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—पूर्वपक्षका निवारण करना इस सूत्रमें पठित तुशब्दका प्रयोजन है । यमगृहमें यमकी यातनाका अनुभव करके ही पापी जन गमनागमन करते हैं, क्योंकि 'अयं लोको नास्ति' इत्यादि श्रुतिमें यमाधीनत्वरूप तद्गतिका दर्शन है ।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति । एतत्कस्मात् ? यतो भोगायैव हि चन्द्रारोहणं न निष्प्रयोजनम् । नापि प्रत्यवरोहायैव—यथा कश्चिद् वृक्षमारोहति पुष्पफलोपादानायैव न निष्प्रयोजनं नापि पतनायैव । भोगश्चानिष्टादिकारिणां चन्द्रमसि नास्तीत्युक्तम्, तस्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रमसमारोहन्ति नेतरे । ते तु संयमनं—यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति । एवंभूतौ तेषामारोहावरोहौ भवतः । कुतः ? तद्गतिदर्शनात् । तथाहि—यमवचनसरूपा श्रुतिः प्रयतामनिष्टादिकारिणां यमवश्यतां दर्शयति—

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है, सब चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है। यह किससे ? इससे कि भोगके लिए ही चन्द्रमें आरोहण होता है, निष्प्रयोजन नहीं होता है, और केवल प्रत्यवरोहके लिए भी नहीं होता है। जैसे कोई पुरुष वृक्षपर आरोहण करता है—चढ़ता है, तो वह आरोहण पुष्प और फलके लानेके लिए ही है, निष्प्रयोजन नहीं है और गिरनेके लिए भी नहीं है। और भोग भी इष्ट आदि न करनेवालोंका चन्द्रलोकमें नहीं है, ऐसा कहा गया है, इसलिए इष्ट आदि करनेवाले ही चन्द्रमें आरोहण करते हैं, दूसरे नहीं। वे तो संयमन—यमालयमें प्रवेशकर अपने दुष्कृतोंके अनुसार यमयातनाका अनुभव करके फिर इस लोकमें प्रत्यवरोहण करते हैं—लौट आते हैं। इस प्रकार उनका आरोह और अवरोह होता है। किससे ? उनकी गतिके दर्शन होनेसे। क्योंकि यमवचनरूप श्रुति मरकर जानेवाले, इष्टादि न करनेवाले यमके अधीन हैं ऐसा दिखलाती है—'न सांपरायः प्रतिभाति०' (अज्ञ वित्तसे मूढ़, प्रमाद करनेवालेको परलोकका

रत्नप्रभा

सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्द इत्यादिना । संयमने—यमलोके यमकृताः यातनाः अनुभूय अवरोहन्तीत्येवमारोहावरोहाविति योजना सूत्रस्य ज्ञेया । प्रयताम्—

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्तसूत्रकी व्याख्या करते हैं—"तुशब्दः" इत्यादिसे । संयमनमें—यमलोकमें यमकृत यातनाका अनुभव करके अवरोहण करते हैं, ऐसा आरोह और अवरोह होता है, ऐसी

भाष्य

(कठ० २।६) इति । 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' इत्येवंजातीयकं च बह्वेव यमवश्यताप्राप्तिलिङ्गं भवति ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

उपाय नहीं सूझता, यह स्त्री, अन्न, पान आदि विशिष्ट लोक है, परलोक नहीं है, ऐसा मनन करनेवाला मेरे वशमें बार-बार आता है) इस प्रकारकी। और 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' (जिन लोगोंका यमालय संगमन-स्थान है) इस प्रकारके भी बहुतसे यमकी अधीनताकी प्राप्तिके लिंग हैं ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

मृत्वा गच्छताम् । सम्यक् परस्तात् प्राप्यत इति संपरायः—परलोकः, तदुपायः साम्परायः, बालम्—अज्ञम्, विशेषतो वित्तरागेण मूढं मोहात् प्रमादं कुर्वन्तं प्रति न भाति । स च बालोऽयं स्त्रीवित्तादिलोकोऽस्ति न परलोकोऽस्तीति मानी, स मे—मम यमस्य वशमाप्नोतीत्यर्थः । पापिनां यमवश्यतावादिविशेषश्रुतिस्मृतिबलाद् 'ये वै के च' [कौषी० १।२] इत्यविशेषश्रुतिरिष्टादिकारिविषयत्वेन व्याख्येयेति भावः ॥१३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रकी योजना समझनी चाहिए । प्रयताम्—मरकर जानेवाले । सम्पराय—परलोक, साम्पराय—परलोकका उपाय, बाल—अज्ञ, विशेषतः वित्तरागसे मूढ़, प्रमाद करनेवालेको नहीं सूझता । और वह अज्ञ, 'यह स्त्री, वित्त आदि लोक है, परलोक नहीं है' ऐसा माननेवाला मेरे (यमके) वशमें आता है, ऐसा अर्थ है । 'पापी यमके वशमें हैं, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली विशेषश्रुति और स्मृतिके बलसे 'ये वै के च' यह अविशेषश्रुति इष्ट आदि कर्म करनेवालेके लिए ही है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, यह भाव है ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥१४॥

पदच्छेद—स्मरन्ति, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि [मन्वादयः शिष्टाः स्मृतिकारा दुष्कृतिजनिजुषां नरकभोगम्] स्मरन्ति—स्वीयस्मृतिग्रन्थैः स्पष्टं कथयन्ति, [अतः इष्टादिकारिणः एव चन्द्रलोकं गन्तारः नान्ये इतिगूढाभिप्रायः] ।

भाषार्थ—और मनु प्रभृति प्रमुख स्मृतिकारोंने दुष्कृतिनरोंके नरकभोगका अपने स्मृतिग्रन्थ द्वारा प्रतिपादन किया है । अतः इष्टादिकारी ही चन्द्रलोकमें जाते हैं अन्य—पापी नहीं जाते, ऐसा सूत्रका अभिप्राय है ।

भाष्य

अपिच मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः संयमने पुरे यमायत्तं कपूयकर्मविपाकं स्मरन्ति नाचिकेतोपाख्यानादिषु ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

और मनु, व्यास आदि शिष्टोंने संयमन—यमके नगरमें पापकर्मोंका विपाक—यमके अधीन है, इस प्रकार नाचिकेत आदिके उपाख्यानोंमें स्मरण किया है ॥१४॥

अपि च सप्त ॥१५॥

पदच्छेद—अपि, च, सप्त ।

पदार्थोक्ति—अपि च—अन्यदपि सप्त—रौरवप्रमुखाः सप्तसङ्ख्यकाः नरकाः [पापफलभूमित्वेन स्मर्य्यन्ते पौराणिकैः, अतः सुकृतिन एव चन्द्रलोकाख्य-पुण्यफलभूमेरधिकारिणः न दुर्मेधसो दुष्कृतिन इति भगवतः सूत्रकृतोऽभिप्रायः]

भाषार्थ—और भी पौराणिक लोग रौरव आदि सात नरक पापफलके उपभोगकी भूमि कहते हैं, अतः पुण्यजन ही चन्द्रलोकके अधिकारी हैं, अन्य नहीं ।

भाष्य

अपिच सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः,ताननिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति । कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुः इत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

और रौरव आदि[1] सात नरकोंका दुष्कृतफलके उपभोगकी भूमिके रूपसे पौराणिक स्मरण करते हैं। उन नरकोंको इष्टादि न करनेवाले प्राप्त करते हैं, वे चन्द्रलोकको कैसे प्राप्त करें ? ऐसा अभिप्राय है ॥१५॥

---

१ रौरवादिमें आदिशब्दसे महारौरव, वह्नि, वैतरणी, कुम्भी, तामिस्रा और अन्धतामिस्राका ग्रहण करना चाहिए। अनिष्टादिकारी लोग इन्हीं सात नरकोंमें जाते हैं, चन्द्रलोकमें नहीं जाते हैं इसीलिए मनु आदि स्मृतिकारोंने अनिष्टादि कर्म करनेवालोंके नरकमें ही गमनका यत्र तत्र प्रतिपादन किया है, तथा पुराणोंमें भी उपलब्ध होता है, जैसे—कूट साक्षी तथाऽसम्यक् पक्षपातेन यो वदेत् । यश्चान्यदनृतं वक्ति स नरो याति रौरवम् ॥ भ्रूणहा पुरहर्ता च गोघ्नश्च मुनिसत्तमाः !, यान्ति ते नरके घोरे यश्चोच्छ्वासनिरोधकः ॥ इत्यादि ।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥१६॥

पदच्छेद—तत्र, अपि, च, तद्व्यापारात्, अविरोधः ।

पदार्थोक्ति—[ननु एतदयुक्तमिव—पापभाजो यामीर्यातना उपभुञ्जते इति, रौरवप्रभृतिषु नरकेषु चित्रगुप्तादीनामधिष्ठातृत्वस्य शास्त्रेषु प्रसिद्धत्वादिति चेन्न] तत्र अपि—रौरवादिष्वपि [चित्रगुप्तादीनां यमायत्तत्वेन] तद्व्यापारात्—यमाधिष्ठातृत्वव्यापारात्, च—अतः, अविरोधः—न यामीयातनाविरोध इति ।

भाषार्थ—पापी लोग यमकी यातना भोगते हैं, यह अयुक्त है, क्योंकि 'चित्रगुप्त आदिका ही रौरव आदिमें शासन है, यह शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है, यदि ऐसा कहा जाय, तो युक्त नहीं है, इसलिए कि वहाँ रौरव आदिमें भी यमप्रयुक्त ही चित्रगुप्त आदिका शासन है, अतः विरोध नहीं है ।

भाष्य

ननु विरुद्धमिदं—यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्ति-इति । यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठातारः स्मर्यन्त इति । नेत्याह—

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापाराभ्युपगमादविरोधः । यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

परन्तु यमके अधीन यातनाका पाप करनेवाले अनुभव करते हैं, यह विरुद्ध है, क्योंकि उन रौरव आदि नरकोंमें अन्य चित्रगुप्त आदि भिन्न-भिन्न अधिष्ठाता कहे गये हैं । नहीं, ऐसा कहते हैं—

उन सात नरकोंमें भी उस यमके ही अधिष्ठातृत्वरूपसे व्यापारका अभ्युपगम है, अतः विरोध नहीं है । क्योंकि यमसे प्रयुक्त ही वे चित्रगुप्त आदि अधिष्ठातृत्व-रूपसे स्मरण किये गये हैं ॥१६॥

रत्नप्रभा

सूत्रत्रयस्य भाष्यं सुबोधम् ॥१४॥१५॥१६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तीन ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ सूत्रोंका भाष्य सुबोध—स्पष्ट है ।

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

पदच्छेद—विद्याकर्मणोः, इति, तु, प्रकृतत्वात् ।

पदार्थोक्ति—['अथैतयोः पथोर्न' इत्यादि श्रुतौ 'एतयोः' शब्देन] विद्याकर्मणोरिति [गृह्यते कुतः ?] प्रकृतत्वात्—तयोर्विद्याकर्मणोरेव देवयान-पितृयाणात्मकमार्गद्वयसाधनत्वेन प्रकृतत्वात् । तुशब्दो ह्यत्र 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' इति श्रुतिसंजातशङ्कां विच्छिनत्ति ।

भाषार्थ—'अथैतयोः पथोर्न' इत्यादि श्रुतिमें 'एतयोः' शब्दसे विद्या और कर्म इन दोनोंका ही ग्रहण होता है, क्योंकि उन्हींका, देवयानपितृयाणरूप दो मार्गके साधनरूपसे कथन है। तु-शब्दसे 'चन्द्रमसमेव' इत्यादिशास्त्रसे प्राप्त शङ्काका निरास होता है ।

भाष्य

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।३।३) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे श्रूयते—अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्ये-तत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति ।

भाष्यका अनुवाद

पञ्चाग्निविद्यामें 'वेत्थ यथाऽसौ लोको०' (यह लोक जिस कारण नहीं भरता, क्या वह तू जानता है ?) इस प्रश्नके प्रतिवचन—उत्तरके अवसरमें—'अथैतयोः पथोर्न०' (पीछे, इन दोनों विद्या और कर्मके मार्गोंके साधनोंमें किसी एक भी साधनसे जो नर युक्त नहीं हैं, वे ये क्षुद्र जीव [दंश, मशक,

---

रत्नप्रभा

यदुक्तं मार्गान्तराभावात् पापिनाम् अपि चन्द्रगतिः इति । तन्न । तृतीयमार्गश्रुतेः इत्याह—**विद्याकर्मणोरिति** । मार्गद्वितयोक्त्यनन्तरं तृतीयमार्गोक्तिसमारम्भार्थं श्रुतौ अथशब्दः । एतयोर्विद्याकर्मणोः पथिद्वयसाधनयोः अन्यतरेणापि साधनेन ये नरा न युक्ताः, ते जन्ममरणावृत्तिरूपतृतीयमार्गस्थानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य मार्ग न होनेके कारण, पापी भी चन्द्रलोकमें ही जाते हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि तृतीय मार्गकी श्रुति है [श्रुतिमें तृतीय मार्ग है], ऐसा कहते हैं—"विद्याकर्मणोः" इत्यादिसे । दो मार्गोंके कथनके अनन्तर, तृतीय मार्गकी उक्तिके प्रारम्भके लिए श्रुतिमें अथशब्द है । विद्या और कर्म वे दो मार्गके (उत्तर और दक्षिण मार्गके)

भाष्य

तत्रैतयोः पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत् । कस्मात् ? प्रकृतत्वात् । विद्याकर्मणी हि देवयानपितृयाणोः पथोः प्रतिपत्तौ प्रकृते—'तद्य इत्थं विदुः' इति विद्या तया प्रतिपत्तव्यो देवयानः पन्थाः प्रकीर्तितः । 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (छा० ५।१०।१,३) इति कर्म तेन प्रतिपत्तव्यः पितृयाणः पन्थाः प्रकीर्तितः । तत्प्रक्रियायाम्—'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' इति श्रुतम् । एतदुक्तं भवति–ये च न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृता नापि कर्मणा पितृयाणे तेषामेष क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्ती तृतीयः पन्था भवतीति ।

भाष्यका अनुवाद

कीट आदि] बार-बार आवर्तन करनेवाले होते हैं—जन्म लेते और मरते रहते हैं, वह यह तीसरा स्थान है, इसलिए यह लोक नहीं भरता) इस प्रकारकी श्रुति है। उसमें उन दोनों मार्गोंके अर्थात् विद्या और कर्मके। किससे ? प्रकृत होनेसे। क्योंकि विद्या और कर्म ये देवयान और पितृयानकी प्राप्तिके साधनमें प्रकृत हैं। 'तद्य इत्थं विदुः' (इनमें जो इस प्रकार जानते हैं) यह विद्या है उससे प्राप्तव्य देवयान मार्ग कहा गया है। 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (इष्ट, पूर्त, और दत्त) अर्थात् कर्म, उससे प्राप्तव्य पितृयान मार्ग कहा गया है। उसके प्रकरणमें 'अथैतयोः पथोर्न०' (और इन दोनों मार्गोंमें किसी एक भी मार्गसे) इस प्रकार श्रुतिमें कहा गया है। तात्पर्य यह है कि—जो विद्यासाधन द्वारा देवयान मार्गमें अधिकृत नहीं हैं, और कर्म द्वारा पितृयानमें भी अधिकृत नहीं हैं, उनका ही क्षुद्रजन्तुरूप जिसमें बार-बार आवर्तन करना पड़ता है यह तीसरा मार्ग होता है।

रत्नप्रभा

भूतानि भवन्ति । क्रियावृत्तौ लोट्, तेन पापिनां चन्द्रगत्यभावात् चन्द्रलोकः न संपूर्यत इति श्रुत्यर्थः । प्रतिपत्ताविति । प्राप्तिसाधने इत्यर्थः । अपि च पापिनां चन्द्रगतौ 'असौ लोकः सम्पूर्येत, अतश्च न सम्पूर्यते' इत्येतत्प्रतिवचनं विरुद्धं प्रसज्येत इति अन्वयः । अवरोहात् असम्पूरणम् अश्रुतं न कल्प्यम्, श्रुतहान्यापत्तेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

साधन हैं, इन दोनोंमेंसे अगर एक साधनसे भी जो युक्त नहीं, हैं, वे सर्प, कीट आदि जन्ममरणकी आवृत्तिरूप जो तृतीय मार्ग है उसमें रहनेवाले भूत होते हैं तथा पुनः पुनः जन्म लेते और मरते रहते हैं। 'जायस्व म्रियस्व' इसमें लोट्लकार क्रियाकी आवृत्तिमें है, इसलिए पापियोंकी चन्द्रगतिके अभावसे चन्द्रलोक नहीं भरता, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। "प्रतिपत्तौ" इत्यादि। प्राप्तिके साधन हैं, यह अर्थ है। और पापियोंकी भी चन्द्रलोकमें गति

भाष्य

तस्मादपि नानिष्टादिकारिभिश्चन्द्रमाः प्राप्यते। स्यादेतत्—तेऽपि चन्द्रबिम्बमारुह्य ततोऽवरुह्य क्षुद्रजन्तुत्वं प्रतिपत्स्यन्त इति। तदपि नास्ति। आरोहानर्थक्यात्। अपि च सर्वेषु प्रयत्सु चन्द्रलोकं प्राप्नुवत्स्वसौ लोकः प्रयद्भिः संपूर्येतेत्यतः प्रश्नविरुद्धं प्रतिवचनं प्रसज्येत। तथाहि प्रतिवचनं दातव्यम्, यथाऽसौ लोको न संपूर्यते। अवरोहाभ्युपगमादसंपूर्णोपपत्तिरिति चेत्, न; अश्रुतत्वात्। सत्यम्, अवरोहादप्यसंपूरणमुपपद्यते। श्रुतिस्तु तृतीयस्थानसंकीर्तनेनासंपूरणं दर्शयति—'एतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति। तेनानारोहादेवासंपूरणमिति युक्तम्। अवरोहस्येष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात्।

भाष्यका अनुवाद

इससे भी इष्ट आदि न करनेवालोंसे चन्द्र प्राप्त नहीं होता। परन्तु वे भी चन्द्रबिम्बमें आरूढ होकर उससे अवरोहण करके क्षुद्रजन्तुत्व प्राप्त करेंगे। वह भी नहीं है, क्योंकि इसमें आरोहका आनर्थक्य है। और सब प्रयाण करनेवाले—मरकर जानेवाले यदि चन्द्रलोक ही प्राप्त करें, तो यह चन्द्रलोक प्रयाण करनेवालोंसे भर जायगा, अतः प्रश्नविरुद्ध प्रतिवचन प्रसक्त होगा। क्योंकि 'जिस प्रकार यह लोक नहीं भरता' इस प्रकार प्रतिवचन दातव्य है। अवरोह स्वीकार करनेसे असंपूर्णताकी उपपत्ति होगी, यदि ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुतिमें नहीं है। सच्ची बात यह है कि—अवरोहसे भी असंपूर्णता उपपन्न होती है। परन्तु श्रुति तो तृतीय स्थानके संकीर्तनसे असंपूर्णता दिखलाती है—'एतत् तृतीयं स्थानम्०' (यह तीसरा स्थान है, इसलिए यह लोक नहीं भरता)

रत्नप्रभा

इत्याह—**नाश्रुतत्वादिति**। अवरोह एव तृतीयं स्थानं श्रुत्युक्तम् इत्यत आह—**अवरोहस्येति**। इममध्वानं पुनर्निवर्तन्त इति इष्टादिकारिणाम् अवरोहोक्तेः अनिष्टादिकारिणाम् अपि अवरोहस्य अर्थसिद्धत्वात् पुनरुक्तिः व्यर्थेत्यर्थः 'अथैतयोः'

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर वह चन्द्रलोक बिल्कुल भर जायगा, अतः 'वह चन्द्रलोक नहीं भरता' यह प्रतिवचन भी विरुद्ध प्रसक्त होगा, ऐसा अन्वय है। अवरोह ही तृतीय स्थान श्रुतिमें कहा गया है, इसपर कहते हैं—"अवरोहस्य" इत्यादि। इस मार्गसे फिर पीछे लौटते हैं, ऐसा इष्ट आदि कर्म करनेवालोंके लिए अवरोह कहा गया है, इससे इष्ट आदि न करनेवालोंका भी अवरोह

भाष्य

तुशब्दस्तु शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामशेषगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति, एवं सत्यधिकृतापेक्षः शाखान्तरीये वाक्ये सर्वशब्दोऽवतिष्ठते—ये वै केचिदधिकृता अस्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति—इति ॥१७॥

यत्पुनरुक्तम्—देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्—इति, तत्प्रत्युच्यते—

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार। इसलिए अनारोहसे ही असंपूर्ण है, यह युक्त है। क्योंकि इष्ट आदि करनेवालों में भी अवरोह अविशिष्ट होनेसे तृतीय स्थानकी उक्तिके अनर्थक होनेका प्रसंग आवेगा। तुशब्द तो अन्य शाखाके वाक्यसे उत्पन्न हुई सबके गमनकी आशंकाका उच्छेद करता है। ऐसा प्राप्त होनेपर अन्य शाखाके वाक्यमें सर्वशब्द अधिकारीकी अपेक्षा रखता है—'जो कोई अधिकृत हुए इसलोकसे प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्रमें ही जाते हैं, इस प्रकार ॥१७॥

और देहलाभकी उपपत्तिके लिए सब चन्द्रलोकमें जा सकते हैं, क्योंकि 'पंचम्यामाहुतौ' (पांचवीं आहुतिमें) ऐसा आहुतिसंख्याका नियम है, ऐसा जो कहा गया है, उसके प्रति कहते हैं—

रत्नप्रभा

इति मार्गान्तरोपक्रमबाधः तृतीयशब्दबाधश्चेत्यतः स्थानशब्दो मार्गलक्षक इति द्रष्टव्यम् ॥१७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ सिद्ध होनेसे [तृतीय स्थानरूपसे अवरोहकी] पुनरुक्ति व्यर्थ है, ऐसा अर्थ है। 'अथैतयोः' इसमें अन्य मार्गके उपक्रमका बाध है, अतः स्थानशब्द यहाँ मार्गलक्षक है, ऐसा समझना चाहिए ॥१७॥

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥१८॥

पदच्छेद—न, तृतीये, तथा, उपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—तृतीये—तृतीयमार्गे [प्रविष्टानां पापिनां देहप्राप्त्यर्थम् आहुतिसंख्यानियमः] न—न भवति, [कुतः ?] तथोपलब्धेः—'जायस्व म्रियस्व' इत्यादिश्रुतौ संख्यानियमं विनैव तृतीये मार्गे देहप्राप्तेरुपलब्धेः [इत्यर्थः, अतश्चेष्टादिकारिणामेवायं संख्यानियम इति भावः]

भाषार्थ—तृतीय मार्गमें प्रविष्ट पापी लोग देह प्राप्तिके लिए आहुतिसङ्ख्याके नियमसे बद्ध नहीं हैं, क्योंकि 'जायस्व म्रियस्व' इत्यादि श्रुतिमें संख्या नियमके बिना ही देहप्राप्ति की उपलब्धि है। अतः आहुतिसंख्याका नियम इष्ट आदि करनेवालोंके लिए ही है, ऐसा भाव है।

भाष्य

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादर्तव्यः। कुतः ? तथोपलब्धेः। तथाहि अन्तरेणैवाहुतिसंख्यानियमं वर्णितेन प्रकारेण तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते 'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' (छा० ५।१०।८) इति। अपिच 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिसंख्या कीर्त्यते, न कीटपतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन, पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात्। अपिच पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं प्रति-

भाष्यका अनुवाद

तृतीय स्थानमें देहलाभके लिए आहुतिकी पंचसंख्याके नियमका आदर करना ठीक नहीं है। किससे ? वैसा उपलब्ध होनेसे। क्योंकि आहुतिसंख्याके नियमके बिना भी वर्णन किये गये प्रकारसे तृतीय स्थानकी प्राप्ति उपलब्ध होती है—'जायस्व म्रियस्व०' (पुनः पुनः जन्म लो और मरा करो, यह तृतीय स्थान है) इस प्रकार। और 'पंचम्यामाहुतौ०' (पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है) इस प्रकार मनुष्यशरीरके हेतुरूपसे आहुतिकी संख्या कही गई है कीट, पतंग आदि शरीरोंके हेतुरूपसे नहीं, क्योंकि पुरुषशब्द मनुष्यजातिवाचक है। उसी प्रकार 'पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषसंज्ञक होता है' ऐसा उपदेश किया जाता है 'पांचवीं आहुति नहीं होनेपर जल पुरुषसंज्ञक नहीं होता, ऐसा

रत्नप्रभा

एवम् अविशेषश्रुतेर्मार्गान्तराभावात् चेति पूर्वपक्षबीजद्वयं निरस्य तृतीयबीजनिरासार्थं सूत्रमादत्ते—**यत्पुनरित्यादिना**। विद्याकर्मशून्यानां कृमिकीटादिभावेन 'जायस्व' [छा० ५। १०। ८] इत्यादिश्रुत्या निरन्तरजन्ममरणोपलब्धेर्नाहुतिसङ्ख्यादर इत्यर्थः। पुरुषशब्दाच्चैवमित्याह—**अपि चेति**। मनुष्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार 'अविशेषश्रुतिसे' और अन्य मार्गके अभावसे इन दो पूर्वपक्षबीजोंका निरसन कर तृतीय बीजका निरसन करनेके लिए सूत्रकी अवतरणिका देते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे। विद्या और कर्मसे शून्यवालोंका कृमि कीटादिभावसे पुनः पुनः जन्म-मरण होता है, क्योंकि 'जायस्व' इत्यादि श्रुतिसे निरन्तर 'जन्म और मरणकी उपलब्धि होती है, अतः आहुति संख्यामें आदर नहीं है, ऐसा अर्थ है। पुरुषशब्दसे भी ऐसा है—इसे कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। मनुष्य देहमें आहुतिसंख्याका नियम नहीं है ऐसा कहते हैं—

भाष्य

षिध्यते, वाक्यस्य द्व्यर्थतादोषात् । तत्र येषामारोहावरोहौ संभवतस्तेषां पञ्चम्यामाहुतौ देह उद्भविष्यति, अन्येषां तु विनैवाहुतिसंख्यया भूतान्तरोपसृष्टाभिरद्भिर्देह आरप्स्यते ॥१८॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषेध नहीं किया जाता, क्योंकि वाक्यमें द्व्यर्थ होनेका दोष आवेगा। उसमें जिनका आरोह और अवरोह हो सकता है, उनका देह पांचवीं आहुतिमें उत्पन्न होगा, और दूसरोंका देह तो आहुतिसंख्याके बिना ही अन्य भूतोंसे उपसृष्ट जलसे उत्पन्न होगा ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

देहस्याऽपि नाहुतिसंख्यानियम इत्याह—अपि चेत्यादिना । विधिनिषेधरूपार्थद्वये वाक्यभेदः स्यात् इत्यर्थः ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अपि च" इत्यादिसे । विधि और निषेधरूप दो अर्थ लेनेमें वाक्यभेद होगा, ऐसा अर्थ है ॥१८॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

पदच्छेद—स्मर्यते, अपि, च, लोके ।

पदार्थोक्ति—अपिच लोके—भारतादौ* द्रोणधृष्टद्युम्नादीनामयोनिजत्वम्—स्मर्यते—स्मृतिपथं भवति [तत्र द्रोणादेः योषिदाहुतिर्न धृष्टद्युम्नादीनाञ्च योषित्पुरुषविषये द्वे आहुती न भवतः, अतः आहुतिसंख्यानियमव्यभिचारः, तथान्यत्रापीति भावः ।

भाषार्थ—भारत आदि ग्रन्थोंमें द्रोण, धृष्टद्युम्न आदि अयोनिज हैं, ऐसा प्रसिद्ध है, उसमें द्रोणादिकी योषित् में आहुति नहीं है और धृष्टद्युम्न आदिकी स्त्रीपुरुषविषयक दो आहुतियाँ नहीं हैं अतः आहुतिसंख्याका नियम नहीं है ।

---

* द्रोणकी उत्पत्ति कलशसे—यज्ञपात्रविशेषसे हुई है, क्योंकि द्रोण-कलश उत्पत्ति स्थान है जिसका, इस अर्थमें अच् प्रत्यय है—इसका महाभारतमें यों स्मरण है—व्यपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे ततः, तत्र संयुक्तमनसो भारद्वाजस्य धीमतः, ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे । ततः समभवद्द्रोणः कलशे तस्य धीमतः । तथा धृष्टद्युम्नके बारेमें भी—तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः, वैताने कर्मणि तात ! पावकात् समजायत । इत्यादि महाभारतमें उपलब्ध होता है ।

भाष्य

अपिच स्मर्यते लोके द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायोनिजत्वम्। तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयकाहुतिर्नास्ति। धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्तः। यथा च तत्राहुतिसंख्या नियमानादरो भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति। बलाकाप्यन्तरेणैव रेतःसेकं गर्भं धत्त इति लोकरूढिः ॥१९॥

भाष्यका अनुवाद

और द्रोण, धृष्टद्युम्न आदि तथा सीता, द्रौपदी आदि अयोनिज ही हैं, ऐसा लोकमें स्मरण है। वहां द्रोणादिमें स्त्रीविषयिका एक आहुति नहीं है, धृष्टद्युम्न आदिमें तो स्त्रीविषयक और पुरुषविषयक ये दोनों आहुतियां नहीं हैं। जिस प्रकार वहां आहुतिसंख्याका अनादर है, उसी प्रकार अन्यत्र भी होगा। बलाका भी बिना रेतःसेकके ही गर्भ धारण करती है, ऐसी लोकरूढि है ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

अनियमे स्मृतिसंवादार्थं सूत्रम्—स्मर्यतेऽपीति। लोक्यतेऽनेनेति लोकः भारतादिरुक्तः। मुख्यार्थम् अपि आह—बलाकेति ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनियम—मनुष्यदेहकी उत्पत्तिमें आहुतिसंवादका कोई नियम नहीं है, ऐसी स्थितिमें स्मृतिसंवादके लिए सूत्र दिखलाते हैं—"स्मर्य्यतेऽपि" इत्यादि। जिससे देखा जाता है वह लोक अर्थात् महाभारत आदि इतिहास [लोक शब्दसे] कहा गया है। लोक शब्दका मुख्य अर्थ भी कहते हैं—"बलाका" इत्यादिसे ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥२०॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च।

पदार्थोक्ति—च—अपि [लोके जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेषु चतुर्विधेषु देहेषु स्वेदजोद्भिज्जयोः स्त्रीपुंसव्यक्तिसंयोगं विना एवोत्पत्तिदर्शनान्नाहुतिसंख्यानियम इत्यर्थः]

भाषार्थ—लोकमें जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज, इस प्रकारके चतुर्विध देहोंमें स्वेदज और उद्भिज्जकी स्त्री और पुरुषके संयोगके बिना ही उत्पत्ति देखनेमें आती है, अतः आहुतिसंख्याका नियम नहीं है,

भाष्य

अपिच चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्भिज्जयोरन्तरेणैव ग्राम्यधर्ममुत्पत्तिदर्शनादाहुतिसंख्यानादरो भवति । एवमन्यत्रापि भविष्यति ॥२०॥

ननु 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इत्यत्र त्रिविध एव भूतग्रामः श्रूयते; इत्यत्र कथं चतुर्विधत्वे भूतग्रामस्य प्रतिज्ञातमिति । अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

और चार प्रकारके भूतसमूहमें—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज-रूपमें, स्वेदज और उद्भिज्जमें ग्राम्यधर्मके बिना ही उत्पत्ति देखनेमें आती है, इसलिए आहुतिसंख्याका आदर नहीं है, इसी प्रकार अन्यत्र भी होगा ॥ २० ॥

परन्तु 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति० (निश्चय, उन भूतोंके तीन ही बीज होते हैं—अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज) ऐसा यहां तीन प्रकारके ही भूतसमूह श्रुतिमें हैं (सुने जाते हैं), फिर भूतसमूह चार प्रकारके हैं, ऐसी प्रतिज्ञा किस प्रकार की गई है ? इसलिए कहते हैं—

रत्नप्रभा

'अण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च' [ऐत० ३ । १ । ३] इतिश्रुत्यवष्टम्भेन सूत्रं व्याचष्टे—अपि चेति । अन्यत्रापि अनिष्टादिकारिष्वित्यर्थः ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अण्डजानि च जरायुजानि च०' (*अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार प्रकारके भूतसमूह हैं) श्रुतिके अवलम्बनसे सूत्रकी व्याख्या करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । अन्यत्र—इष्ट आदि न करनेवालोंमें, ऐसा अर्थ है ॥ २०॥

---

* जरायु—गर्भका वेष्टनचर्म, उसमें उत्पन्न हुए भूत जरायुज—नामसे कहे जाते हैं, जैसे मनुष्य आदि । अण्डज—अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले भूत,—पक्षी आदि । स्वेदज—पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले मत्कुण आदि । उद्भिज्ज—भूमिका भेदन करके उत्पन्न होनेवाले वृक्ष आदि ।

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥२१॥

पदच्छेद—तृतीयशब्दावरोधः, संशोकजस्य ।

पदार्थोक्ति—संशोकजस्य—स्वेदजस्य, तृतीयशब्दावरोधः—तृतीयशब्देन 'आण्डजं जीवजम्' इत्यत्र श्रुतेनोद्भिज्जेन अवरोधः—सङ्ग्रहः [वृक्षादिकं पृथ्वीमुद्भिद्य जायते स्वेदजन्तु जलमिति उभयोरवयवार्थत्वाविशेषात्, तथाच 'आण्डजम्' इत्यादि श्रुतौ शरीरत्रैविध्यश्रवणेऽपि न लोकप्रसिद्धशरीरचातुर्विध्यप्रसिद्धिभङ्ग इति भावः]।

भाषार्थ—स्वेदज शरीरका 'आण्डजम्' इत्यादि श्रुतिमें पठित उद्भिज्जरूप तृतीय-शब्दसे ग्रहण होता है क्योंकि अवयवार्थसे वृक्षादिका जैसा ग्रहण होता है वैसे स्वेदजका भी संग्रह हो सकता है, कारण कि स्वेदज भी जलका भेदन करके ही उत्पन्न होता है ।

भाष्य

'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्ज-शब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येतव्यः । उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भू-म्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात् । स्थावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इत्यन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जयोर्भेदवाद इत्यविरोधः ॥२१॥

भाष्यका अनुवाद

'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज) इसमें तृतीय उद्भिज्जशब्दसे ही स्वेदजका उपसंग्रह किया गया है, ऐसा जानना चाहिए । क्योंकि स्वेदज और उद्भिज्ज ये दोनों ही भूमि और उदकका उद्भेद करके उत्पन्न होते हैं, अतः तुल्य हैं । स्थावरोद्भेदसे जंगमोद्भेद विलक्षण है, इस प्रकार स्वेदज और उद्भिज्जका भेदवाद अन्यत्र [वर्णित] है, इससे विरोध नहीं है ॥ २१ ॥

रत्नप्रभा

अनया श्रुत्या चातुर्विध्यं कथमुक्तम्, श्रुत्यन्तरे त्रीण्येवेत्यवधारणविरोधादिति शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रमादत्ते—**नन्वित्यादिना** । जीवजं जरायुजं मनुष्यादि, भूमिमुद्भिद्य जायते वृक्षादिकम्, उदकं भित्वा जायते यूकादिजङ्गममिति भेदः । संशोकः—स्वेदः ॥२१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस श्रुतिसे भूतसमूह चार प्रकारके कैसे कहे गये हैं, जबकि अन्य श्रुतिमें तीन ही निश्चित किये गये हैं, उस अवधारणसे विरोध होता है इस शंकाके उत्तररूपसे सूत्रका ग्रहण करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । जीवज—जीव जरायुसे उत्पन्न हुआ, जरायुज—मनुष्य, पशु आदि । भूमिका उद्भेदकर वृक्षादि उत्पन्न होते हैं, और उदकका भेदकर यूकादि जंगम उत्पन्न होते हैं, ऐसा भेद है । संशोक—स्वेद ॥ २१ ॥

[४ साभाव्यापत्त्यधिकरण सू० २२]

वियदादिस्वरूपत्वं तत्साम्यं वावरोहिणः ।
वायुर्भूत्वेत्यादिवाक्यात् तत्तद्भावं प्रपद्यते ॥१॥
खवत्सूक्ष्मो वायुवशो युक्तो धूमादिभिर्भवेत् ।
अन्यस्यान्यस्वरूपत्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वर्गसे अवरोह करनेवाले जीव वियदादिके स्वरूपको प्राप्त होते हैं अथवा उनकी साम्यताको ?

पूर्वपक्ष—वायुर्भूत्वा इत्यादि वाक्यसे वियदादिस्वरूप होते हैं ।

सिद्धान्त—अन्य अन्यका स्वरूप नहीं हो सकता है, अतः आकाशादिकी प्रतिपत्तिसे आकाशके समान सूक्ष्म, वायुवश और धूम आदिसे सम्बद्ध ही विवक्षित है ।

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

पदच्छेद—साभाव्यापत्तिः, उपपत्तेः ।

पदार्थोक्ति—[जीवानाम्] साभाव्यापत्तिः—[तैः आकाशादिभिः] साभाव्यापत्तिः—समानः भावः—रूपं येषां ते सभावाः, तेषां भावः साभाव्यं-सादृश्यम्—तस्य आपत्तिः प्राप्तिः, [कुतः ?] उपपत्तेः—चन्द्रलोकं गतानामनुशयिनां प्रवृत्तफलकर्मक्षयदर्शनजनितशोकाग्निना दह्यमानमिदं शरीरं करकादिवत् विलीयमानमाकाशसमं भवतीति—एतदुपपद्यते, [नहि अन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते, तस्मात् सादृश्यमेव प्रतिपद्यन्त इति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—जीवोंका उन आकाश आदिके साथ साभाव्यापत्ति—सादृश्य ही है, क्योंकि उपपत्ति है—चन्द्रलोकमें गये हुए अनुशयी जीवोंके फलोपभोगके अनन्तर कर्मक्षयके दर्शनसे उत्पन्न शोकाग्नि द्वारा दह्यमान शरीर बरफके समान गलता हुआ आकाशके समान होता है, अन्यका अन्यभाव मुख्य नहीं हो सकता है, इससे सादृश्यको ही प्राप्त होते हैं, ऐसा सिद्ध हुआ ।

---

*भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—स्वर्गसे अवरोहका क्रम इस प्रकार सुना जाता है—'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशम्' इत्यादिसे । यहाँ स्वर्गसे उतरनेवाला जीव आकाशादि रूप ही हो जाता है, क्योंकि 'वायुर्भूत्वा' इत्यादि वाक्य तद्भाव—तद्रूपताका ही बोधन करते हैं, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—अन्यमें अन्यकी स्वरूपताके सम्भव न होनेसे आकाश-प्रतिपत्तिसे आकाशके समान सूक्ष्म, ऐसा अर्थ विवक्षित है, वायुभावसे वायुवशता, और धूमादिभाव माने धूमादिसे सम्पर्क, ऐसा निर्णय है, अतः पूर्वपक्ष असङ्गत है ।

भाष्य

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसमारुह्य तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ततः सानुशया अवरोहन्तीत्युक्तम् । अथावरोहप्रकारः परीक्ष्यते । तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति— 'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा अभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति'

भाष्यका अनुवाद

इष्ट आदि करनेवाले चन्द्रमें समारोहण करके उसमें कर्मफल स्वर्गसुखभोग पर्यन्त रहकर वहांसे अनुशयसहित अवरोहण करते हैं, ऐसा कहा गया है। अब अवरोहप्रकारकी परीक्षा की जाती है। वहां यह अवरोह श्रुति है— 'अथैतमेवाध्वानम्०' (पीछे इसी मार्गसे फिर लौटता है, जैसे गया था वैसे ही

रत्नप्रभा

एवं पापिनां गत्यागती विचार्य सम्प्रतीष्टादिकारिणामवरोहे विशेषमाह— **साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः** । 'यथेतमनेवं च' इत्युक्तरीत्या यथागतं धूमाद्यध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, निवृत्ताश्चानुशयिनः कर्मान्ते द्रुतदेहाः आकाशं गताः आकाशसदृशा भवन्ति । आकाशसादृश्यानन्तरं पिण्डीकृतातिसूक्ष्मलिङ्गोपहिताः वायुना इतस्ततश्च नीयमाना वायुसमा भवन्ति । सानुशयः सद्यो वायुसमो भूत्वा धूमं गतः तत्समो भवति, धूमसमो भूत्वा अभ्रसमो भवति । अपो बिभ्रतीत्यभ्रम् । मेहति— सिञ्चतीति वृष्टिकर्ता मेघः तत्समो भूत्वा वर्षधाराद्वारा पृथिवीमुपविश्य व्रीहियवादिरूपो भवतीति सिद्धान्तगत्या श्रुत्यर्थः । पूर्वोत्तरयुक्तिद्वयं संशयबीजं मन्तव्यम् । पूर्वत्र मार्गद्वयमुक्त्वा तृतीयत्वोक्तेर्युक्तं स्थानशब्दस्य मार्गलक्षकत्वम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार पापियोंकी गति और आगतिका विचार करके इष्ट आदि करनेवालोंके अवरोहमें विशेष कहते हैं—"साभाव्यापत्तिरुपपतेः" । 'यथेतमनेवं च' (जैसे गया था वैसे नहीं—विपरीत ढंगसे) इस उक्त रीतिसे जैसे गये थे वैसे ही धूमादि मार्गसे पीछे लौटते हैं और निवृत्त—लौटे हुए अनुशयी जीव कर्मके अन्तमें द्रवीभूत—पिघले हुए देहवाले आकाशमें जाकर तत्सदृश हो जाते हैं। आकाशसादृश्यके अनन्तर पिण्डीकृत होकर अतिसूक्ष्म लिंगसे उपहित वायुद्वारा इधर उधर नीयमान होनेसे वायुसम होते हैं। वह अनुशयी जीव तत्क्षण वायुसम होता हुआ धूमको प्राप्तकर तत्सदृश होता है। धूमतुल्य होकर अभ्रतुल्य होता है। अप अर्थात् जलको जो धारण करे, वह अभ्र, 'मेहति' अर्थात् जो सिंचन करता है, वह वृष्टिकर्त्ता मेघ, तत्सम होकर वृष्टिधाराद्वारा पृथिवीमें प्रवेश करके व्रीहियवादिरूप होता है, इस प्रकार सिद्धान्तकी गतिके अनुसार श्रुतिका अर्थ है। पूर्वोत्तर दो युक्तियोंको संशयका बीज समझना

भाष्य

(छा० ५।१०।५) इति। तत्र संशयः—किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिपद्यन्ते किंवाऽऽकाशादिसाम्यमिति। तत्र प्राप्तं तावत्—आकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति। कुतः? एवं हि श्रुतिर्भवति। इतरथा लक्षणा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा। तथा च वायुर्भूत्वा धूमो भवतीत्येवमादीन्यक्षराणि तत्तत्स्वरूपोपपत्तावाञ्जस्येनावकल्पन्ते। तस्मादाकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तिरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशादिसाम्यं प्रतिपद्यन्त इति। चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति ततो वायोर्वशमेति ततो धूमा-

भाष्यका अनुवाद

आकाशमें लौटता है, आकाशसे वायुमें, वायु होकर धूम होता है, धूम होकर अभ्र होता है, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर जलरूपमें पृथिवीपर गिरता है) उसमें संशय है कि अवरोहण करनेवाला क्या आकाशादिस्वरूप ही प्राप्त करता है, या आकाशादिसाम्य? उसमें आकादिस्वरूप ही प्राप्त करता है, ऐसा प्राप्त होता है। किससे? इससे कि इसी प्रकारकी श्रुति है, नहीं तो लक्षणा होगी। श्रुति और लक्षणाके संशयमें श्रुति न्याय्य है, लक्षणा नहीं। उसी प्रकार 'वायुर्भूत्वा धूमो भवति (वायु होकर धूम होता है) इत्यादि अक्षर तत्-तत्स्वरूपकी उपपत्तिमें अनायास उपपन्न होते हैं, इसलिए आकाशादिस्वरूपकी प्रतिपत्ति है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'आकाशादिके साम्यको प्राप्त करते हैं'। चन्द्रमण्डलमें जो जलमय शरीर उपभोगके लिए उत्पन्न हुआ है, वह उपभोगके क्षय

रत्नप्रभा

इह तु दुग्धं दधि भवतीत्यादिप्रयोगे भवतिश्रुतेर्विकारस्वरूपापत्तौ मुख्यत्वात् सादृश्यापत्तिलक्षणाबीजं नास्तीति प्रत्युदाहरणसङ्गतिः। श्रुतिमुख्यत्वं फलमिति पूर्वपक्षः। अनुशयिनां पूर्वसिद्धाकाशादिस्वरूपापत्त्ययोगात् लक्षणेति सिद्धान्तयति—**एवमित्यादिना**। समानो भावो धर्मो यस्य तद्भावः—**साभाव्यम्**, साम्यमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए। पूर्वमें दो मार्ग कहकर तृतीयत्व कहा गया है, इसलिए स्थानशब्द मार्गलक्षक है, यह युक्त है, यहां तो 'दुग्धं दधि भवति' (दूध दही होता है) इत्यादि प्रयोगमें 'भवति' श्रुतिका विकारस्वरूपप्राप्ति मुख्य अर्थ होनेसे सादृश्यापत्तिमें लक्षणाबीज नहीं है, ऐसी प्रत्युदाहरणसंगति है। यह पूर्वपक्ष है। अनुशयी-जीवोंकी पूर्वसिद्ध आकाशादिस्वरूप प्राप्तिके अयुक्त होनेसे लक्षणा है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। समान—एकसा, भाव—धर्म है

भाष्य

दिभिः संपृच्यत इति । तदेतदुच्यते—'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' (छा० ५।१०।५) इत्येवमादिना । कुतः एतत् ? उपपत्तेः । एवं ह्येतदुपपद्यते । नह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते । आकाशस्वरूपप्रतिपत्तौ च वाय्वादिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते । विभुत्वाच्चाकाशेन नित्यसम्बद्धत्वान्न तत्सादृश्यापत्तेरन्यस्तत्सम्बन्धो घटते । श्रुत्यसम्भवे च लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव । अत आकाशादितुल्यतापत्तिरेवात्राकाशादिभाव इत्युपचर्यते ॥२२॥

भाष्यका अनुवाद

होने पर प्रविलीन होकर सूक्ष्म आकाशके समान होता है, पीछे वायुके वशमें होता है, फिर उसके बाद धूमादिके साथ संपृक्त होता है। वह 'यथेतमाकाशम्०' (जैसे गया था वैसे ही आकाशमें पीछे लौटता है, आकाशसे वायुमें) इत्यादिसे कहा गया है। यह किससे ? उपपत्तिसे। क्योंकि इस प्रकार यह उपपन्न होता है, क्योंकि एक वस्तुका अन्यभाव मुख्य अर्थमें उपपन्न नहीं होता। आकाशस्वरूपकी प्रतिपत्ति माननेपर वायु आदिमें क्रमसे अवरोह उपपन्न नहीं होगा और आकाशके विभु होनेसे तथा उसके साथ नित्य संबन्ध होनेसे आकाशादि-तुल्यताप्राप्तिसे भिन्न उसका संबन्ध नहीं घटता। और श्रुतिके असंभवमें लक्षणाका आश्रयण करना ठीक ही है। इसलिए यहां आकाशादितुल्यताप्राप्ति ही आकाशादिभाव है ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

सूत्रपदार्थः । एवं ह्येतदिति । एतद्—भवनम्, एवं—सादृश्यरूपमेवोपपद्यते इत्यर्थः । अनुशयिनामाकाशादिभ्यो निर्गमनान्यथानुपपत्त्यापि सादृश्यलक्षणा इत्याह—आकाशस्वरूपेति । संयोगलक्षणाम् आशङ्क्याह—विभुत्वादिति । भवतिश्रुत्या संयोगलक्षणायाम् अनुवादः स्यात् इत्यर्थः । विविधभूतसाम्यमवरोहे भवतीत्यनुसन्धानाद्वैराग्यमुपसंहरति—अत इति ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिसका वह सभाव, उसका जो भाव वह साभाव्य—साम्य है, ऐसा सूत्रपदका अर्थ है। "एवं ह्येतत्" इत्यादि । एतत्—यह आकाशादि भवन, एवम्—सादृश्यरूप ही उपपन्न होता है, ऐसा अर्थ है। अनुशयी (जीवों) के आकाश आदिसे निर्गमनकी अन्यथानुपपत्ति होनेसे भी सादृश्यलक्षणा है, ऐसा कहते हैं—"आकाशस्वरूप" इत्यादिसे। परन्तु भवतिश्रुतिसे आकाश आदिके संयोगमात्रमें लक्षणा करो, सादृश्यमें लक्षणाका क्या प्रयोजन है ? ऐसी आशंका करके कहते है—"विभुत्वात्" इत्यादिसे। भवतिश्रुतिसे संयोगमें लक्षणा माननेपर अनुवाद होगा, ऐसा अर्थ है। अवरोहमें विविध भूतसाम्य होता है, ऐसे अनुसन्धानसे वैराग्य होता है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं—"अतः" इत्यादिसे ॥ २२ ॥

[५ नातिचिराधिकरण सू० २३]

व्रीह्यादेः प्राग्विलम्बेन त्वरया वाऽवरोहति ।
तत्रानियम एव स्यान्नियामकविवर्जनात् ॥१॥
दुःखं व्रीह्यादिनिर्याणमिति तत्र विशेषितः ।
विलम्बस्तेन पूर्वत्र त्वराऽर्थादवसीयते ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—व्रीह्यादिभावके पूर्व अनुशयी आकाशादिमेंसे विलम्बसे अवरोह करता है अथवा त्वरासे ?

पूर्वपक्ष—किसी नियामकके न रहनेसे अनियम है ।

सिद्धान्त—व्रीह्यादिभावसे निकलना कठिन है, क्योंकि श्रुतिमें विलम्ब विशेषित है, अतः आकाश आदिसे शीघ्र उतरता है, ऐसा अर्थात् ज्ञात होता है ।

नातिचिरेण विशेषात् २३

पदच्छेद—न, अतिचिरेण, विशेषात् ।

पदार्थोक्ति—[जीवः] न अतिचिरेण—अल्पकालमेव [आकाशादिवर्षान्तैः सादृश्येनावस्थाय वर्षणधाराद्वारा पृथिवीं प्रविशति, कुतः ?] विशेषात्—व्रीह्यादि-भावापत्त्यनन्तरम् 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' इत्येवं रूपेण विशेषात् [ततः पूर्वं सुनिष्प्रपतरत्वं ज्ञायते इति भावः] ।

भाषार्थ—जीव स्वल्पकाल ही आकाश आदिके साथ समानरूपसे रहकर वर्षाकी धारा द्वारा पृथ्वीमें प्रवेश करता है, क्योंकि व्रीह्यादि भावकी प्राप्तिके अनन्तर ही 'अतो वै' इत्यादि श्रुतिसे दुर्निष्प्रपतरत्वका कथन है, उसके पूर्व नहीं, ऐसा ज्ञात होता है ।

---

* वर्षणके बाद व्रीह्यादिभाव श्रुतिमें कहा गया है—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयास्तिलमाषा इति जायन्ते' इत्यादि, इससे व्रीह्यादिभावसे पूर्व आकाश आदिभावसे जीव शीघ्र अवरोह करता है या विलम्बसे ? उसमें नियमाकके अभाव होनेसे अनिर्णय है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—व्रीह्यादिभावको कहकर 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' इत्यादि श्रुति 'व्रीह्यादिभावसे निकलना अति कठिन है' इस प्रकार कहती हुई व्रीहि आदिमें विलम्बका कथन करती है, इसलिए पूर्व आकाश आदिमें त्वरा है, ऐसा अवगम होता है ।

भाष्य

तत्राकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग्व्रीह्यादिभावापत्तेर्भवति विशयः—किं दीर्घं दीर्घं कालं पूर्वपूर्वसादृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्यं गच्छन्त्युताल्पमल्पमिति। तत्रानियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादिति। एवं प्राप्त इदमाह—नातिचिरेणेति। अल्पमल्पं कालमाकाशादिभावेनावस्थाय वर्षधाराभिः सहेमां भुवमापतन्ति। कुत एतत्? विशेषदर्शनात्। तथाहि व्रीह्यादि-भावापत्तेरनन्तरं विशिनष्टि—'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (छा० ५। १०।६) इति। तकार एकश्छान्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः। दुर्नि-ष्प्रपततरं दुर्निष्क्रमतरम्—दुःखतरमस्माद् व्रीह्यादिभावान्निःसरणं भवतीत्यर्थः। तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतनं दर्शयति। सुख-

भाष्यका अनुवाद

वहां व्रीहि आदिकी प्राप्तिके पहले आकाशादिकी प्राप्तिमें संशय होता है—क्या दीर्घ-दीर्घ कालतक पूर्व-पूर्वसादृश्यसे अवस्थित होकर उत्तरोत्तर सादृश्य पाते हैं या अल्प-अल्प कालतक अवस्थित होकर? उसमें अनियम है, क्योंकि नियम करनेवाला शास्त्र नहीं है। ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—'नातिचिरेण' इत्यादि। अल्प अल्प काल आकाशादिभावसे अवस्थित होकर वृष्टिधाराओंके साथ इस पृथिवी पर पड़ते हैं। यह किससे? विशेषका दर्शन होनेसे। क्योंकि व्रीहि आदिभावकी प्राप्तिके पीछे विशेष कहते हैं—'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (निश्चय, इससे निष्क्रमण विशेष कष्टदायक है) इस प्रकार एक तकार छान्दस प्रक्रियामें लुप्त समझना चाहिए। दुर्निष्प्रपततर—दुर्निष्क्रमतर, इस व्रीहि आदि-भावसे निःसरण दुःखतर है, ऐसा अर्थ है। वह वचन यहां दुःखयुक्त निष्क्रमण दिखलाता हुआ पूर्वभावोंमें सुखसे निष्क्रमण दिखलाता है। और निष्क्रमणमें

रत्नप्रभा

नातिचिरेणेति। उक्तं सादृश्यमुपजीव्य लोके गन्तॄणां चिराचिरगति-दर्शनात् संशयं वदन् पूर्वपक्षयति—**तत्रेत्यादिना**। अनियमात् कदाचिद्विलम्बेन योन्यापत्तिरिति पूर्वपक्षफलम्। सिद्धान्ते तु व्रीहियवादिभावादनुशयिनां विलम्बेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नातिचिरेण" इत्यादि। सादृश्यका उपजीवन—अवलम्बनकर चिर और अचिर गतिके प्रदर्शनके संशयको कहते हुए पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। अनियम होनेसे कदाचित् विलम्बसे जन्मप्रसंग होता है, ऐसा पूर्वपक्षमें फल है। सिद्धान्तमें तो व्रीहियवादिभावसे

भाष्य

दुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः। तस्मिन्नवधौ शरीरानिष्पत्तेरुपभोगासम्भवात्। तस्माद् व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोहः स्यादिति ॥२३॥

भाष्यका अनुवाद

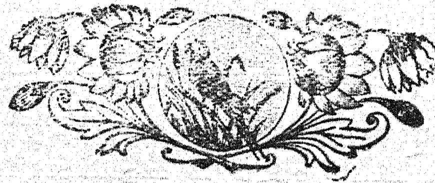
सुख और दुःखकी स्थितिका जो विशेष है उसके निमित्त कालका अल्पत्व और दीर्घत्व है। क्योंकि उस अवधि-कालमें शरीरकी अनिष्पत्तिसे उपभोगका असंभव है। इसलिए व्रीहि आदिकी प्राप्तिके पूर्व अल्पकालमें ही अवरोह होता है ॥२३॥

रत्नप्रभा

निर्गमनमिति विशेषात् आकाशादिभावात् शीघ्रं निर्गम इति अविलम्बेन योन्यापत्तिरित्यनुसन्धानात् वैराग्यदार्ढ्यमिति विवेकः। नन्वाकाशादिष्वनुशयिनां सुखं, व्रीहियवादिषु दुःखमिति दुःखशब्दाद्भाति, न चिराचिरनिर्गमनमित्यत आह—**सुखदुःखताविशेषश्चायमिति**। अवधिः—कालः ॥ २३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुशयिओंका (जीवोंका) विलम्बसे निर्गमन होता है, ऐसा विशेष होनेसे आकाशादिभावसे शीघ्र ही निर्गमन होता है अर्थात् अविलम्बसे जन्मप्राप्ति है, इस अनुसन्धानसे वैराग्यकी दृढ़ता है, ऐसा विवेक है। परन्तु आकाशादिमें अनुशयिओंको (जीवोंको) सुख और व्रीह्यादिमें दुःख है, यह दुःखशब्दसे समझमें आता है, चिर या अचिरकालमें निर्गमन समझमें नहीं आता, इसलिए कहते हैं—"सुखदुःखताविशेषश्चायम्" इत्यादिसे। अवधि—काल ॥ २३ ॥



[६ अन्याधिष्ठिताधिकरण । सू०—२४-२७]

व्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत् ।
'जायन्त' इति मुख्यत्वात्पशुहिंसादिपापतः ॥१॥
वैधान्न पापसंश्लेषः कर्मव्यापृत्यनुक्तितः ।
श्वविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृतिः श्रुता ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—व्रीहि आदिमें जीवोंका संसर्गमात्र है अथवा मुख्य जन्म है ?

पूर्वपक्ष—मुख्य जन्म है, क्योंकि 'जायन्ते' इसका श्रवण है और पशु हिंसादि पापका योग है ।

सिद्धान्त—वैध होनेसे पशुहिंसा पाप नहीं है और कर्मके व्यापारका कथन नहीं है, अतः व्रीह्यादिमें संसर्गमात्र है, जन्म नहीं है ।

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

पदच्छेद—अन्याधिष्ठितेषु, पूर्ववदभिलापात् ।

पदार्थोक्ति—अन्याधिष्ठितेषु—अन्यैः जीवैः अधिष्ठितेषु [व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनां भवति, कुतः ?] पूर्ववदभिलापात्—यथा आकाशादिवर्षान्तेषु कर्मपरामर्शमन्तरेणैव प्रवेश उक्तः, तथा व्रीह्यादिष्वपि कर्मपरामर्शं विनैव प्रवेशाभिलापात्, [अतः कर्मपरामर्शाभावान्न व्रीह्यादिष्वनुशयिनां सुखादिभोगः] ।

भाषार्थ—जीवोंसे अधिष्ठित व्रीहि आदिमें अनुशयी जीवोंका संसर्गमात्र ही है, क्योंकि जैसे आकाश आदिसे वर्षा पर्य्यन्त कर्म परामर्शके बिना प्रवेश कहा गया है, वैसे व्रीहि आदिमें भी कर्म परामर्शके बिना ही प्रवेशका कथन है। इससे कर्मके परामर्श के न होनेसे व्रीह्यादिमें अनुशयियोंका सुखादिसाक्षात्कार नहीं है ।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—आकाश आदिके समान व्रीहि आदिमें संसर्गमात्र नहीं है, किन्तु व्रीहि आदिके रूपसे मुख्य जन्म है, कारण कि 'जायन्ते' यह श्रुति है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए—'स्वर्गमें पुण्यफलका भोगकर पापफलरूप स्थावर जन्मका सम्भव हो सकता है' क्योंकि स्थावर जन्मका कारण पशुहिंसादि वर्तमान है, अतः मुख्य ही जन्म है, ऐसा प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—विधिशास्त्रलभ्य होनेसे यज्ञमें पशुहिंसा पाप नहीं हो सकता, इसलिए 'जायन्ते' इस शब्दसे संश्लेषमात्र विवक्षित है मुख्य जन्म नहीं, क्योंकि कर्मके व्यापारका अभिधान नहीं है, जहां मुख्य जन्म विवक्षित होता है वहां कर्मके व्यापारका अभिधान होता है—जैसे 'रमणीयचरणाः' इत्यादि । अतः स्वर्गसे अवरोह करनेवालोंका व्रीह्यादिमें संश्लेषमात्र है ।

भाष्य

तस्मिन्नववरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' (छा० ५।१०।६)। तत्र संशयः—किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्वित् क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति। किं तावत्प्राप्तम्? स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति। कुत एतत्? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः, स्थावरभावस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्र-

भाष्यका अनुवाद

उसी अवरोहमें प्रवर्षणके अनन्तर ऐसा पढ़ा गया है—'त इह व्रीहियवा०' (वे यहां व्रीहि और यव, ओषधि और वनस्पति, तिल तथा उड़दरूपसे उत्पन्न होते हैं) उसमें संशय होता है कि—इस अवधि—कालमें स्थावरजाति प्राप्त हुए अनुशयी स्थावरके सुख-दुःख भोगनेवाले होते हैं या अन्य आत्मासे अधिष्ठित स्थावर शरीरोंमें संश्लेशमात्र पाते हैं? तब क्या प्राप्त होता है? स्थावरजाति प्राप्त हुए अनुशयी उसके सुख-दुःख भोगनेवाले होते हैं। यह किससे? इससे कि इसमें 'जन्' धातुका मुख्य अर्थ उपपन्न होता है। स्थावरभाव श्रुति और

रत्नप्रभा

अन्याधिष्ठितेष्विति। श्रुतिक्रमाद् अर्थक्रमात् च अधिकरणानां क्रमो बोध्यः। इह भूमौ वर्षधाराद्वारा पतिताः ते—अनुशयिनो व्रीह्यादिसाम्येन जायन्ते इति श्रुत्यर्थः। अत्र जायन्त इति श्रुतेः पूर्वत्राकाशादिवर्षान्तसादृश्योक्तेः च संशयमाह—**तत्रेति**। अस्मिन्नवधौ वर्षसादृश्यानन्तरमित्यर्थः। दुर्निष्प्रपतरशब्देन चिरनिर्गमनलक्षणा उक्ता न युक्ता, दुःखेन निर्गमनमिति मुख्यसम्भवात् इत्याक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—**किन्तावदित्यादिना**। अत्र पूर्वपक्षे स्थावरत्वनिवृत्तयेऽधिकारिणां यत्नगौरवम्। सिद्धान्ते व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं परिहर्तुं यत्नलाघवं वैराग्यध्रौव्यञ्चेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्"। श्रुति और अर्थके क्रमसे अधिकरणोंका क्रम समझना चाहिए। यहां भूमिपर वृष्टिधारा द्वारा पड़े हुए वे अनुशयी जीव व्रीहि आदिके सदृश होकर जन्म लेते हैं, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। यहां 'जायन्ते' (जन्म लेते हैं) ऐसी श्रुति होनेसे, और पूर्व अधिकरणमें आकाश आदिसे वृष्टिपर्यन्तमें सादृश्य कहा गया है इससे, संशय होता है, ऐसा कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। अस्मिन् अवधौ—(इस अवधिमें) वृष्टिसादृश्यके अनन्तर, ऐसा अर्थ है। दुर्निष्प्रपतरशब्दसे चिरकालके बाद निर्गमन होता है, ऐसी जो लक्षणा कही गई है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि दुःखसे निर्गमन होता है, इस मुख्य अर्थका संभव है, इस

भाष्य

सिद्धेः, पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः । तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म, श्वादिजन्मवत् । यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति, एवं व्रीह्यादिजन्मापीति ।

भाष्यका अनुवाद

स्मृतिमें उपभोगस्थानरूपसे प्रसिद्ध है और पशुहिंसा आदिके योगसे इष्ट आदि कर्मसमूह अनिष्ट फलको देनेवाले हैं, ऐसा उपपन्न होता है । इसलिए अनुशयिओंका व्रीहि आदिरूपसे जन्म मुख्यार्थमें ही है, कुत्ते आदिरूपसे जन्मके समान । जैसे श्वयोनि, सूकरयोनि, या चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं, ऐसा कहनेसे अनुशयिओंका श्वादिजन्म मुख्य ही है, और वे उसके सुखदुःखसे युक्त होते हैं, वैसे ही व्रीहि आदि जन्म भी ।

रत्नप्रभा

विवेकः । ननु देहोत्पत्त्या जीवानां जन्म स्यात्, न स्वतः, व्रीह्यादेस्तु न देहत्वमित्यत आह—**स्थावरभावस्येति** । 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति' इत्याद्या श्रुतिः । 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' इत्याद्या स्मृतिः । ननु स्वर्गिणां पापाभावात् कथं स्थावरत्वं तत्राह—**पश्विति** । सोमाद्युच्छिष्टभक्षणसुराग्रहौ—आदिशब्दार्थः । क्रत्वर्थहिंसादेरपि हिंसात्वादिसामान्येन प्रवृत्तेः 'न हिंस्यात्' इत्यादिशास्त्रनिषिद्धत्वाकारेण दुरितापूर्वकारित्वम् अविरुद्धमिति सांख्या आहुः ।

श्रुतोऽत्र व्रीह्यादिभावोऽनुशयिनां न जन्मरूपः कर्मविशेषपरामर्शं विना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार आक्षेपसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"किं तावत्" इत्यादिसे । यहां पूर्वपक्षमें अधिकारियोंकी स्थावरत्वनिवृत्तिके लिए यत्नगौरव है, सिद्धान्तमें व्रीह्यादि संश्लेषमात्रका परिहार करनेके लिए यत्नलाघव और वैराग्यदार्ढ्य है, ऐसा विवेक है । देहकी उत्पत्तिसे जीवोंका जन्म हो सकता है, स्वतः—अपने आप नहीं, व्रीहि आदि तो देह ही नहीं है, इसलिए कहते हैं—"स्थावरभावस्य" इत्यादि । 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति' (अन्य स्थाणुभाव प्राप्त करते हैं) इत्यादि श्रुति है । 'शरीरजैः कर्मदोषैः०' (शरीरसे उत्पन्न कर्मदोषसे मनुष्य स्थावरता प्राप्त करता है) इत्यादि स्मृति है । परन्तु स्वर्ग जानेवालोंमें पापका अभाव है, अतः वे स्थावरत्व कैसे प्राप्त कर सकते हैं, इसपर कहते हैं—"पशु" इत्यादि । सोमादि पानके अवसरमें परस्पर उच्छिष्ट भक्षण और सुराग्रह, यह आदि शब्दका अर्थ है। यज्ञके लिए हिंसा आदि भी हिंसात्वसामान्यधर्मसे ही प्रवृत्त है, इसलिए 'न हिंस्यात्' (हिंसा न करे) इत्यादि शास्त्रसे निषिद्ध किये गये स्वरूपसे हिंसामें पापरूप अपूर्वकारिता अविरुद्ध है, ऐसा सांख्योंने कहा है । यहां शास्त्रसे कहे गये

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति, पूर्ववत्। यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम्, एवं व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम्। कुत एतत् ? तद्वदेवेहाप्यभिलापात्। कोऽभिलापस्य तद्भावः ? कर्मव्यापारमन्तरेण संकीर्तनम्, यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृशत्येवं व्रीह्यादिजन्मन्यपि। तस्मान्नास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम्। यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिप्रैति, परामृशति तत्र

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होने पर—हम कहते हैं—अन्यजीवोंसे अधिष्ठित व्रीहि आदिमें अनुशयी संसर्गमात्र प्राप्त करते हैं, उनके सुख या दुःखके भागी नहीं होते, पूर्वके समान। जैसे अनुशयिओंका वायु, धूमादि होना, उनके साथ संश्लेषमात्र है, वैसे ही व्रीहि आदि होना, भी स्थावर जातिके साथ संश्लेषमात्र है। यह किससे ? उसके ही समान यहां भी उपदेश होनेसे। उसीके समान व्यपदेश होना किस प्रकार है ? कर्म-- पुण्य-पापके व्यापारके बिना संकीर्तन है। जैसे आकाशसे लेकर प्रवर्षण तक श्रुति किसी भी कर्मव्यापारका परामर्श नहीं करती, वैसे व्रीहि आदिरूपसे

रत्नप्रभा

अत्रोक्तत्वात् पूर्वोक्ताकाशादिभाववत्, इति सिद्धान्तयति—**एवं प्राप्त इत्यादिना**। पूर्ववत् इतिपदं दृष्टान्तत्वेन हेत्वंशत्वेन च व्याख्यातम्। यदत्र प्रकरणे कर्मविशेषपरामर्शपूर्वकमुच्यते, तज्जन्मेति व्यतिरेकदृष्टान्तमप्याह—**अत्र त्विति**। अपि च 'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' इति वाक्यशेषे व्रीह्यादिषु प्रविष्टस्यानुशयसंघस्यान्नद्वारा रेतःसिक्पुरुषयोगः श्रुतः, तदन्यथानुपपत्त्यापि जन्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुशयी जीवोंका व्रीह्यादिभाव जन्मरूप नहीं है, कर्म—पुण्यपापविशेषके परामर्शके बिना उक्त होनेसे, पूर्वोक्त 'आकाशादि भावके समान' ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। 'पूर्ववत्' इस पदका दृष्टान्तरूपसे और हेत्वंशरूपसे व्याख्यान किया है, जो इस प्रकरणमें कर्म। पुण्यपापविशेषके परामर्शसे कहा गया है, वह जन्म है, ऐसा व्यतिरेकदृष्टान्तसे भी कहते हैं— 'यत्र तु' इत्यादिसे। और 'यो यो ह्यन्नमत्ति०' (जो जो अनुशयीसे संश्लिष्ट अन्न खाता है और ऋतुकालमें स्त्रीमें रेतः—वीर्यका सिंचन करता है, वह तदाकृति ही होता है) इस वाक्य

भाष्य

कर्मव्यापारम्—रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति च। अपिच मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमानेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः। यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम्। तत्र व्रीह्यादिभावाद्रेतःसिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलप्येत। अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु भवति। एतेन जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूयादुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य। न च वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावरभावस्यावजानीमहे। भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुप-

भाष्यका अनुवाद

जन्ममें भी। इसलिए यहां अनुशयी जीव सुखदुःखके भागी ही नहीं है। जहां पर सुखदुःखका भागी होना, श्रुतिका उद्देश होता है, वहांपर कर्मव्यापारका श्रुति परामर्श करती है, जैसे कि 'रमणीय चरणाः (शुभ शीलवाले), 'कपूयचरणाः' निन्दित शीलवाले)। और यदि अनुशयी जीवोंका व्रीहि आदिरूपसे जन्म मुख्यार्थमें हो, तो जब व्रीहि आदि काटे जांय, कूटे जांय, रांधे जांय या खाये जांय, तब उनके अभिमानी अनुशयी जीव प्रवास करें, क्योंकि जो जीव जिस शरीरका अभिमानी होता है, वह उस शरीरके पीडित होनेपर प्रवास करता है, यह प्रसिद्ध है। अनुशयी जीवोंका व्रीह्यादिभावसे रेतःसिग्भावका—पुरुषयोगका जो श्रुतिमें कथन है, वह नहीं होता। इसलिए अन्यसे अधिष्ठित व्रीह्यादिमें अनुशयी जीवोंका संसर्गमात्र होता है। इससे 'जन्' धातुके मुख्यार्थत्वका और स्थावरभावके उपभोगस्थानत्वका निराकरण करना

रत्नप्रभा

श्रुतिर्न मुख्येत्याह—**अपि चेत्यादिना**। व्रीह्यादिरूपदेहनाशे देहिनामुत्क्रान्तेरवश्यम्भावाद्रेतःसिग्योगो न स्यादित्यर्थः। **एतेनेति**। उक्तानुमानार्थापत्तिभ्यां जायत इति श्रुतेर्मुख्यार्थत्वमनुशयिभोगायतनत्वं च व्रीह्यादेः प्रतिब्रूयादित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शेषमें व्रीहि आदिमें प्रविष्ट अनुशयिओंका अन्न द्वारा वीर्यके आधानकर्ता पुरुषसे जो योग कहा गया है, उसकी अन्यथा अनुपपत्तिसे भी जन्मश्रुति मुख्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। व्रीहि आदिरूप देहका नाश होनेपर देहीकी उत्क्रान्ति अवश्य होनेसे रेतःसिक् (पुरुष) योग नहीं होगा, ऐसा अर्थ है। एतेन—इससे अर्थात् उक्त अनुमान और अर्थापत्तिसे जन् धातुके मुख्यार्थ-

भाष्य

गतानामेतदुपभोगस्थानम्। चन्द्रमसस्त्ववरोहन्तोऽनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे ॥२४॥

भाष्यका अनुवाद

चाहिए। और स्थावरभाव उपभोगका स्थान है, इसकी हम अवज्ञा नहीं करते। अन्य जन्तु जो पापके सामर्थ्यसे स्थावरभाव प्राप्त कर चुके हैं, उनका यह उपभोगस्थान हो, परन्तु चन्द्रसे अवरोह करनेवाले अनुशयी स्थावरभावका उपभोग नहीं करते, ऐसा हम कहते हैं ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

ननु व्रीह्यादेर्भोगायतनत्वानङ्गीकारे पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिप्रवृत्तिबाध इत्यत आह—न चेति ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्वका और व्रीह्यादि स्थावरभाव अनुशयीका भोग स्थान है—इसका खण्डन करना चाहिए, यह अर्थ है। परन्तु व्रीहि आदि भोगस्थान नहीं है, ऐसा स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त श्रुति, स्मृति और प्रसिद्धिका बाध होगा, इससे कहते हैं—"न च" इत्यादिसे ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—अशुद्धम्, इति, चेत्, न, शब्दात्।

पदार्थोक्ति—[ननु ज्योतिष्टोमादिकं कर्म पशुहिंसादियोगात्] अशुद्धम्, [अतस्तत्कारिणामनुशयिनां व्रीह्यादिस्थावरेषु दुःखानुभवार्थं मुख्यमेव जन्माऽस्तु] इति चेन्न, शब्दात्—विधिरूपात् शास्त्रात् [अग्निष्टोमादीनां धर्मतयावगमान्न तत्र दुःखजनकता इति भावः]।

भाषार्थ—अग्निष्टोम आदि याग पशुहिंसाके योगसे अशुद्ध हैं, अतः उनके करनेवाले अनुशयी व्रीहि आदि स्थावरोंमें दुःखके लिए मुख्य ही जन्म प्राप्त करते हैं, ऐसा यदि कहो, तो युक्त नहीं है, क्योंकि विधिशास्त्र अग्निष्टोम आदिका धर्मरूपसे ज्ञान कराता है, अतः उनमें दुःखहेतुता नहीं है।

भाष्य

यत्पुनरुक्तम्—पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म, तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मास्तु, तत्र गौणी कल्पनानर्थिका—इति, तत्परिह्रियते—न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य। अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम्, अतीन्द्रियत्वात्तयोः। अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च, यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति, तेन न शास्त्रादृते धर्माधर्मविषयं विज्ञानं कस्यचिदस्ति। शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो

भाष्यका अनुवाद

पशु-हिंसा आदिके योगसे यज्ञकर्म अशुद्ध है, उसका फल—अनिष्ट भी हो सकता है, इसलिए अनुशयी जीवोंका व्रीहि आदिरूपसे जन्म यदि मुख्यार्थमें हो सकता है तो उसमें गौणी कल्पना अर्थ (प्रयोजन) रहित होगी, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार किया जाता है—नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि धर्म और अधर्मके विज्ञानका हेतु शास्त्र है, यह धर्म है और यह अधर्म है, इसके विज्ञानमें शास्त्र ही कारण है, क्योंकि वे दोनों धर्म और अधर्म अतीन्द्रिय हैं और उनका देश, काल और निमित्त अनियत है जिस देश, काल और निमित्तमें जिस धर्मका अनुष्ठान होता है वही धर्म अन्य देश, अन्य काल और अन्य निमित्तमें अधर्म हो जाता है इसलिए शास्त्रके विना धर्म और अधर्मका ज्ञान किसीको भी नहीं होता। हिंसानुग्रह आदि जिसका स्वरूप

रत्नप्रभा

वैदिकं कर्म अशुद्धं न भवति, शास्त्रविहितत्वात्, इति सूत्रार्थं प्रपञ्चयति—**अयं धर्म इत्यादिना**। शुचौ देशे प्रातः सायङ्काले जीवनादिनिमित्तकृतमग्निहोत्रं धर्मो भवति, स एवाशुचिदेशे मध्यरात्रे मरणादिनिमित्ते कृतः सन्नधर्मो भवतीति निर्णयः शास्त्रैकसाध्य इत्यर्थः। ततः किं? तत्राह—**शास्त्राच्चेति**। ननु या हिंसा

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैदिक कर्म अशुद्ध नहीं होता, क्योंकि वह शास्त्रसे विहित है, इस प्रकार सूत्रका अर्थ विस्तारसे समझाते हैं—"अयं धर्म" इत्यादिसे। पवित्र देशमें प्रातः तथा सायंकालमें जीवन आदि निमित्तसे किया गया अग्निहोत्र धर्म है, किन्तु वही अग्निहोत्र अपवित्र देशमें मध्यरात्रिमें मरणादि निमित्तसे किया गया अधर्म होता है, ऐसा निर्णय केवल शास्त्रसे ही किया जा सकता है ऐसा अर्थ है। इससे क्या? इसपर कहते हैं—"शास्त्राच्च" इत्यादिसे। परन्तु जो हिंसा है

भाष्य

धर्म इत्यवधारितं स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम्। ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इत्यवगमयति। बाढम्। उत्सर्गस्तु सः। अयश्चापवादः 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इति। उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम्। तस्माद्विशुद्धं कर्म वैदिकं, शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनिन्द्यमानत्वाच्च। तेन न तस्य प्रतिरूपं फलं जातिस्थावरत्वम्। न च श्वादिजन्मवदपि व्रीह्यादिजन्म भवितुमर्हति। तद्धि कपूयचरणा-

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा ज्योतिष्टोम धर्मरूपसे शास्त्रद्वारा निश्चित हुआ है, वह अशुद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? परन्तु 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' (सब भूतोंकी—किसी भी जीवकी हिंसा न करो) यह शास्त्र ही भूतविषयक हिंसा अधर्म है, ऐसा बतलाता है। सत्य है, वह तो उत्सर्ग है। और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (अग्नि और सोमके लिए पशुका बध करे) यह अपवाद है। उत्सर्ग और अपवादका विषय व्यवस्थित है। इसलिए वैदिक कर्म विशुद्ध है, क्योंकि शिष्ट उसका अनुष्ठान करते हैं और वह निन्दा करनेके योग्य नहीं है। इसलिए स्थावररूपसे जन्म जो प्रतिकूल है, वह उसका फल नहीं है। श्वादिजन्मके

रत्नप्रभा

सोऽधर्म इत्युत्सर्गस्य विशेषविधिना बाधोऽत्र न युक्तः, 'नाभिचरेत्' इति निषिद्धश्येनस्य पुरुषार्थत्ववत् निषिद्धहिंसादेरपि क्रतूपकारकत्वाविरोधादिति, तत्राह—उत्सर्गापवादयोरिति। अयमर्थः—काम्ये कर्मणि सर्वत्र करणांशे रागतः प्रवृत्तिः, अङ्गेषु विधित इति स्थितिः। तथा च श्येनाख्ये कर्मणि निषेधेपि रागप्राबल्यात् प्रवृत्तिः स्यात्। क्रत्वङ्गहिंसादौ तु विधित एव प्रवृत्तिर्वाच्या। स च विधिर्यदि उत्सर्गप्राप्तमनर्थहेतुत्वं न बाधेत, तर्हि प्रवर्तको न स्यात्। प्रवर्तकत्वे वा विधि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वह अधर्म है, इस उत्सर्गका विशेषविधिसे बाध यहां युक्त नहीं है, 'नाभिचरेत्' (श्येन याग न करे) इसमें निषिद्ध किया गया श्येनयाग जैसे पुरुषार्थ है, वैसे निषिद्ध हिंसादिको भी यज्ञका उपकारक होनेमें विरोध नहीं है, ऐसी शंकाका निराकरण करते हैं—"उत्सर्गापवादयोः" इत्यादिसे। यह अभिप्राय है—काम्य कर्ममें सर्वत्र करणअंशमें रागसे प्रवृत्ति होती है और अंगोंमें विधिसे प्रवृति होती है, ऐसी स्थिति है। इसलिए श्येननामक कर्मके निषेध होनेपर भी रागके प्राबल्यसे प्रवृति होगी, क्रतुके अंग जो हिंसादि हैं उनमें तो विधिसे ही प्रवृति होती है, ऐसा कहना चाहिए। और वह विधि यदि उत्सर्गसे प्राप्त हुए अनर्थहेतुत्वका बाध न करे,

भाष्य

नधिकृत्योच्यते, नैवमिह वैशेषिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति। अतश्चन्द्रस्थल-स्खलितानामनुशयिनां व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भाव इत्युपचर्यते ॥२५॥

भाष्यका अनुवाद

समान व्रीहि आदिरूपसे जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि, जैसे श्वादिरूपसे जन्म कपूयचरणोंका अधिकार करके कहा गया है, वैसे यहां—व्रीहि आदिरूपसे जन्ममें कोई विशेष अधिकार नहीं है। इसलिए चन्द्रमण्डलसे स्खलित अनुशयी जीवोंका व्रीह्यादिभाव—व्रीह्यादिसंश्लेशमात्र है, ऐसा उपचार है॥ २५॥

रत्नप्रभा

रनर्थाय स्यात्। अतो निरवकाशो विधिः सावकाशमुत्सर्गमविहितहिंसादिषु स्थापयतीति। इदञ्च निषेधशास्त्रस्य हिंसात्वादिसामान्येन प्रवृत्तिम् अङ्गीकृत्योक्तम्। वस्तुतस्तस्य रागप्राप्तहिंसाविषयत्वाद्वैधहिंसायामप्रवृत्तेर्नाशुद्धत्वशङ्कावसर इति द्रष्टव्यम्। प्रतिरूपं दुःखरूपं तस्य फलं नेति योजना। इह व्रीह्यादिभावे कश्चिद्-धिकारः कर्मपरामर्शी नास्तीत्युक्तम्॥ २५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो वह विधि प्रवर्तक न हो, या प्रवर्त्तक हो, तो केवल अनर्थके लिए होगी। इससे निरवकाश विधि सावकाश उत्सर्गको अविहित हिंसा आदिमें स्थापन करती है, यह जो कहा गया है, वह हिंसात्वादि सामान्यसे—सब हिंसाओंमें हिंसात्वजाति जो समान धर्म है, उससे निषेधशास्त्र प्रवृत्त हुआ है, ऐसा स्वीकार करके कहा गया है। वस्तुतः निषेधशास्त्र रागप्राप्तहिंसाके लिए है, अतः वैधहिंसामें उसकी प्रवृति न होनेसे वैदिक कर्म अशुद्ध है, इस शंकाका अवसर नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। प्रतिरूप—दुःखरूप, वह उसका फल नहीं है, ऐसी योजना है। यहां व्रीह्यादिभावमें कर्मका परामर्श करनेवाला कोई अधिकार नहीं है, ऐसा कहा गया है॥२५॥

रेतःसिग्योगोऽथ॥ २६॥

पदच्छेद—रेतस्सिग्योगः, अथ।

पदार्थोक्ति—अथ—व्रीह्यादिभावानन्तरम् [अनुशयिनाम्] रेतस्सिग्योगः—रेतः सिञ्चतीति रेतस्सिक् तद्योगः—तद्भावः ['यो रेतः सिञ्चति' इत्यादि श्रुतौ आम्नायते।]

भाषार्थ—व्रीह्यादिभावके अनन्तर अनुशयियोंका रेतसिग्भाव होता है, क्योंकि 'यो रेतः सिञ्चति' इत्यादि श्रुतिमें सुना जाता है।

भाष्य

इतश्च व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावो यत्कारणं व्रीह्यादिभावस्यानन्तरमनुशयिनां रेतःसिग्भाव आम्नायते—'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' (छा० ५।१०।६) इति । नचात्र मुख्यो रेतःसिग्भावः सम्भवति । चिरजातो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्भवति । कथमिवानुपचरिततद्भावमद्यमानान्नानुगतोऽनुशयी प्रतिपद्यते । तत्र तावदवश्यं रेतःसिग्योग एव रेतःसिग्भावोऽभ्युपगन्तव्यः । तद्वद् व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादियोग एवेत्यविरोधः ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

इस कारणसे भी व्रीह्यादिभाव व्रीह्यादिसंश्लेशमात्र है, क्योंकि व्रीह्यादिभावके पीछे श्रुतिमें अनुशयी जीवोंका रेतःसिग्भाव—वीर्यके आधानका कर्तृभाव कहा गया है—'यो यो ह्यन्नमत्ति०' (जो जो अन्न खाता है, जो वीर्य्यका आधान करता है, उसीके भाव को वह अनुशयी जीव प्राप्त होता है) इस प्रकार । यहां आधान करनेवालेका भाव मुख्यार्थमें नहीं घट सकता, क्योंकि चिरकालसे उत्पन्न हुआ प्राप्तयौवनवाला ही आधान करनेवाला है तो खाये गये अन्नके साथ अनुगत हुआ अनुशयी जीव आधानक्रिया करनेवालेका भाव उपचारके विना किस प्रकार प्राप्त करेगा ? रेतःसिग्योग—आधानक्रिया करनेवालेके साथ योग ही रेतःसिग्भाव—आधानक्रिया करनेवाला होना है, ऐसा अवश्य स्वीकार करना चाहिए । इसी प्रकार व्रीह्यादिभाव भी व्रीह्यादि योग ही विवक्षित है, इस लिए विरोध नहीं है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

अथ व्रीह्यादिभावानन्तरं रेतःसिग्भावः श्रुतः । तत्रान्नस्थानुशयिनो रेतःसेककर्तृत्वयोगाद्योगमात्रं वाच्यम्, तद्वदुपक्रमेऽपि योग एवास्थेयः, अन्यथोपक्रमोपसंहारयोः विरोधः स्यात्, इति मत्वोक्तम्—इत्यविरोध इति ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्रीह्यादिभावके अनन्तर रेतःसिग्भाव—श्रुतिमें कहा गया है । उसमें रेतःसिक्कर्तृभाव अन्नस्थ अनुशयी जीवका हो, यह युक्त न होनेसे रेतःसिग्भावको संयोगमात्र कहना चाहिए । इसी प्रकार उपक्रम और उपसंहारमें विरोध होगा, ऐसा विचारकर कहते हैं—"इत्यविरोध" इत्यादिसे ॥ २६ ॥

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—योनेः, शरीरम् ।

पदार्थोक्ति—[योनौ रेतसि निषिक्ते सति ततः] योनेः—शरीरम्—सुख-दुःखोपभोगयोग्यं कर्मोपार्जितम् शरीरम् [जायते, इति 'रमणीयचरणा' इत्यादि शास्त्रं कथयति, तस्माद् ब्राह्मणादियोनावेवानुशयिनां मुख्यं जन्म नान्यत्र व्रीह्याद‍ाविति भावः] ।

भावार्थ—योनिमें वीर्यके सेचनके बाद उस योनिसे सुखदुःखरूप फलके उपभोगके लिए योग्य शरीर उत्पन्न होता है, क्योंकि 'रमणीयचरणा' इत्यादि शास्त्र कहता है, अतः ब्राह्मण आदि योनिमें ही अनुशयियोंका मुख्य जन्म है, अन्यत्र नहीं, ऐसा सूत्रका तात्पर्य है ।

भाष्य

अथ रेतःसिग्भावस्यानन्तरं योनौ निषिक्ते रेतसि योनेरधिशरीरमनुश-यिनामनुशयफलोपभोगाय जायत इत्याह शास्त्रम्—'तद्य इह रमणीय-चरणाः' (छा० ५।१०।७) इत्यादि । तस्मादप्यवगम्यते नावरोहे व्रीह्या-दिभावावसरे तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति । तस्माद्व्रीह्यादिसंश्ले-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आधानक्रिया करनेवालेके साथ योग होनेके अनन्तर योनिमें रेतःसेक होनेपर अनुशयी जीवोंका अनुशयका फल भोगनेके लिए शरीर उत्पन्न होता है, ऐसा शास्त्र कहता है—'तद्य इह रमणीयचरणा०' (उनमें जो यहां रमणीय शीलवाले हैं) इत्यादिसे । इससे भी ऐसा समझा जाता है कि अवरोहमें व्रीह्यादिभावके अवसरमें अनुशयी जीवका सुखदुःखयुक्त व्रीह्यादि शरीर ही नहीं

रत्नप्रभा

योनेः शरीरश्रुतेर्न व्रीह्यादिशरीरत्वमनुशयिनामिति सूत्रार्थः । एवं कर्मिणां गत्यागतिसंसारो दुर्वार इत्यनुसन्धानात् कर्मफलाद्वैराग्यं तत्त्वज्ञानसाधनं सिद्धमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

योनिसे शरीरकी श्रुति है, इसलिए अनुशयी जीव व्रीह्यादि शरीरको नहीं प्राप्त करते, ऐसा सूत्रका अर्थ है । इस प्रकार कर्म करनेवालोंका गति और आगतिरूप संसार दुर्वार है, ऐसे अनुसन्धानसे कर्मफलसे वैराग्य जो तत्वज्ञानका साधन है, वह सिद्ध होता है, ऐसा पादके

भाष्य

षमात्रमनुशयिनां तज्जन्मेति सिद्धम् ॥२७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता । इसलिए अनुशयी जीवोंका व्रीह्यादिजन्म व्रीह्यादिसंश्लेशमात्र है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २७ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्यके भाषानुवादमें
तृतीय अध्यायका प्रथम पाद समाप्त ।

रत्नप्रभा

पादार्थमुपसंहरति—इति सिद्धमिति ॥ २७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपाद-
शिष्यश्रीरामानन्दकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनभाष्य-
व्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां तृतीयाध्यायस्य
प्रथमः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थका उपसंहार करते हैं—"इति सिद्धम्" इत्यादिसे ॥ २७ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित तृतीय अध्यायके प्रथमपादका रत्नप्रभाभाषानुवाद समाप्त ।



तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्र पादे तत्त्वंपदार्थपरिशोधनविचारः]

[१ संध्याधिकरण सू–१–६]

सत्या मिथ्याऽथवा स्वप्नसृष्टिः सत्या श्रुतीरणात् ।
जाग्रद्देशाविशिष्टत्वादीश्वरेणैव निर्मिता ॥१॥
देशकालाद्यनौचित्याद्बाधितत्वाच्च सा मृषा ।
अभावोक्तेर्द्वैतमात्रसाम्याज्जीवानुवादतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वप्नसृष्टि सत्य है अथवा मिथ्या है ?

पूर्वपक्ष—सत्य है, क्योंकि श्रुति कहती है, और जागरितके समान स्वप्नसृष्टि ईश्वर द्वारा ही की गई है ।

सिद्धान्त—स्वप्नसृष्टि मिथ्या है, क्योंकि देश और कालका औचित्य नहीं है और इसका बाध होता है एवं अभावका कथन है, तथा द्वैतकी साम्यतामात्रसे जीवका अनुवाद 'य एव' इत्यादिसे होता है ।

---

* भाव यह है कि 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इत्यादि श्रुतिसे स्वप्नमें रथादिकी सृष्टि प्रतिपादन की है । वह वियदादि सृष्टिके समान व्यावहारिक है, क्योंकि जाग्रद्देश और स्वप्नदेशमें कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती, इसलिए स्वप्नसृष्टि सत्य है, ईश्वरकर्तृक होनेसे, वियदादिके समान, इस प्रकार पूर्वपक्ष होनेपर—

सिद्धान्ती—स्वप्नसृष्टि मिथ्या है, किससे ? इससे कि उसके उचित देशकालका सम्भव नहीं है, अतिसूक्ष्म नाडीके मध्यमें गिरि, नदी आदिका समुचित देश नहीं हो सकता है, किञ्च, स्वप्नमें उपलब्ध पदार्थका स्वप्न ही में बाध होता है, क्योंकि जिस पदार्थका तरुत्वेन ग्रहण हुआ हो उसीका गिरित्वेन अवगाहन होता है, स्वप्नसृष्टिको जो श्रुति कहती है वह अभावपूर्वक कहती है—'न तत्र रथः' इत्यादिसे । अतः वस्तुतः रथादिके न होनेपर भी शुक्तिकारजतके समान वे भासमान होते हैं, ऐसा श्रुतिका तात्पर्य्य है । जाग्रत्साम्य भी उसमें नहीं है, क्योंकि अनुचित देशका प्रतीत होता है, ऐसा कहा जा चुका है । यह जो कहा है कि स्वप्नसृष्टि ईश्वर निर्मित है, वह भी असत् है, 'य एव सुप्तो जागर्ति' इत्यादिसे जीव ही स्वप्नका निर्मातारूपसे अनुदित है, इसलिए स्वप्नसृष्टि मिथ्या है ।

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

पदच्छेद—सन्ध्ये, सृष्टिः, आह, हि ।

पदार्थोक्ति—सन्ध्ये—जाग्रत्सुषुप्त्योः सन्धौ भवे स्वप्ने, सृष्टिः—तत्र स्वप्ने दृश्यमानं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् [व्यावहारिकमेव भवितुमर्हति, कुतः ?] हि—यतः [तथा भगवती श्रुतिः] आह—'अथ रथान्' इत्यादिना कथयति ।

भाषार्थ—जाग्रत् और सुषुप्तिकी सन्धिमें होनेवाली स्वप्नावस्था व्यावहारिक है, क्योंकि 'अथ रथान्' इत्यादिसे भगवती श्रुति उसी अर्थका प्रतिपादन करती है ।

भाष्य

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः । इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते । इदमामनन्ति—'स यत्र प्रस्वपिति' (बृ० ४।३।९) इत्युपक्रम्य 'न तत्र रथा न रथयोगा

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपादमें पञ्चाग्नि विद्याके दृष्टान्तसे जीवकी संसारगतिका प्रभेद विस्तारसे कहा गया है, परन्तु अब उसीकी भिन्न भिन्न अवस्थायें सविस्तर कही जाती हैं । 'स यत्र प्रस्वपिति०' (वह जहां सोता है) ऐसा उपक्रम करके 'न तत्र' (वहां

रत्नप्रभा

संध्ये सृष्टिराह हि—उक्तवैराग्यसाध्यः तत्त्वम्पदार्थविवेको वाक्यार्थज्ञानसाधनमस्मिन् पादे निरूप्यत इति पादयोः हेतुसाध्यभावसङ्गतिमाह—**अतिक्रान्त इति ।** साधनविचारत्वादेवास्य पादस्यास्मिन्नध्याये संगतिः । अस्मिन् पादे 'न स्थानतोऽपि' इत्यतः प्रागुद्देश्यत्वेन प्रथमं जिज्ञासित-त्वम्पदार्थोऽवस्थाद्वारा विविच्यते । तदारभ्यापादसमाप्तेर्विधेयतत्पदार्थविवेकः । तत्र पूर्वं गत्यागति-चिन्तया जाग्रदवस्था निरूपिता, तदनन्तरभाविनीं स्वप्नावस्थां श्रुत्युक्तां विषयी-

रत्नप्रभाका अनुवाद

'सन्ध्ये सृष्टिराह हि'। पूर्वमें उक्त वैराग्यसे साध्य तत्त्वंपदार्थका विवेक जो वाक्यार्थज्ञानका साधन है, उसका इस पादमें निरूपण होता है, अतः दो पादोंकी हेतुसाध्यभाव संगति है, इसको कहते हैं, "अतिक्रान्त" इत्यादिसे । इस पादमें साधनका विचार है, इसीलिए इस पादकी इस अध्यायमें संगति है, इस पादमें 'न स्थानतोऽपि' इसके पहिले उद्देशरूपसे प्रथम जिज्ञासित त्वं पदार्थका अवस्था द्वारा विवेचन होता है। उससे लेकर पाद पर्यन्त विधेय जो तत्पदार्थका विवेक है, उसका निरूपण होता है । उसमें पूर्वमें जीवकी गति और आगतिके विचारसे जाग्रदवस्थाका निरूपण

भाष्य

न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि। तत्र संशयः—किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिका सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति। तत्र तावत्प्रतिपद्यते—संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति। संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे, वेदे प्रयोगदर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ० ४।३।९) इति द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ

भाष्यका अनुवाद

रथ नहीं, रथके घोड़े नहीं, या मार्ग नहीं, वह रथ रथके घोड़े और मार्ग उत्पन्न करता है) इत्यादि श्रुति कहती है, उसमें संशय होता है—प्रबोधके समान स्वप्नमें भी पारमार्थिक सृष्टि है, या मायामयी सृष्टि है, इस प्रकारके संशयमें 'पूर्वपक्षी—स्वप्नमें सत्यरूप सृष्टि है, ऐसा मानता है। संध्य स्वप्नस्थानको कहते हैं, क्योंकि वेदमें प्रयोग देखने आता है—'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (संध्य तृतीय स्वप्नस्थान है) इस प्रकार दो लोकस्थान प्रबोधस्थान और संप्रसादस्थानकी संधि-

रत्नप्रभा

कृत्य तत्र स्वप्ने रथादिसृष्ट्युक्तेः तदभावोक्तेश्च संशयं वदन् पूर्वपक्षसूत्रं योजयति—तत्र संशय इत्यादिना। स्वप्नरथादयो जाग्रद्रथादिवत् व्यावहारिकसत्ताका—उत शुक्तिरजतवत् प्रातीतिका इति संशयार्थः। आरम्भणाधिकरणे प्रपञ्चस्य परमार्थिकत्वनिषेधादिति मन्तव्यम्। अत्र पूर्वपक्षे जाग्रद्वत् स्वप्नाज्जीवस्य विवेकासिद्धिः, सिद्धान्ते प्रातीतिकदृश्यसाक्षितया विवेकात् स्वयंज्योतिष्ट्वसिद्धिरिति फलम्। मुमूर्षोः सर्वेन्द्रियोपसंहारादेतल्लोकाननुभवे सति वासनामात्रेण इमं लोकं स्मरतः कर्मबलाद्धृदये मनसा परलोकस्फूर्तिरूपः स्वप्नोभवति। सोऽयं लोकद्वयसन्धौ भवतीति सन्ध्यः स्वप्नः। तथा च श्रुतिः—'तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने

रत्नप्रभाका अनुवाद

किया गया है, उस अवस्थाके पीछे होनेवाली स्वप्नावस्था श्रुतिमें कही गई है, उसका विषय करके (उद्देशकर) स्वप्नमें रथ आदिकी सृष्टि कही गई है, और इसका अभाव भी कहा गया है, इसलिए संशय दिखलाकर पूर्वपक्ष सूत्रकी योजना करते हैं—"तत्र संशय" इत्यादिसे। स्वप्नमें दृष्ट रथ आदि जाग्रदवस्थामें दृष्ट रथ आदिके समान व्यावहारिक अस्तित्ववाले हैं या शुक्तिरजतके समान केवल प्रातिभासिक—प्रतीतिके विषय हैं, ऐसा संशयका अर्थ है, क्योंकि आरंभण अधिकरणमें प्रपञ्चके पारमार्थिकत्वका निषेध किया है, ऐसा समझना चाहिए। यहां पूर्वपक्षमें जाग्रदवस्थाके समान जीवके स्वप्नसे विवेककी असिद्धि है। सिद्धान्तमें प्रतीतिके विषय जो दृश्य है उसके

भाष्य

भवतीति संध्यम्, तस्मिन्संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति। कुतः? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह 'अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि। स हि कर्तेति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥१॥

भाष्यका अनुवाद

में होता है, अतः सन्ध्य कहलाता है। उस सन्ध्यस्थानमें सत्यरूप ही सृष्टि हो सकती है, किससे ? क्योंकि प्रमाणभूत सृष्टि ऐसा ही कहती है—'अथ रथान् रथयोगान्' (रथ रथके घोड़े और मार्ग उत्पन्न करता है। 'स हि कर्ता' (क्योंकि वह कर्ता है) ऐसा उपसंहार होनेसे ऐसा ही है, ऐसा समझा जाता है ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च' [बृ० ४।३।९] इति। अयं स्वप्नः कादाचित्क इत्यरुच्या नित्यस्वप्नस्य प्रबोधसम्प्रसादसन्धिभवत्वमुक्तम्। अन्ये तु मर्त्यचक्षुराद्यजन्यरूपादिसाक्षात्कारवत्त्वं परलोकलक्षणं, दैवचक्षुराद्यजन्यतद्वत्त्वं मर्त्यलोकलक्षणं च स्वप्नेऽस्तीति लक्षणतो लोकद्वयस्पर्शित्वात् नित्यस्वप्नस्यैव लोकद्वयसन्ध्यत्वं ग्रामद्वयस्पर्शिमार्गस्य तत्सन्ध्यत्ववदिति व्याचक्षते। न केवलं श्रुत्या स्वप्नार्थानां व्यवहारारिकसत्यत्वं, किन्तु सकर्तृकत्वादपीत्याह—**सहि कर्तेति** ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

साक्षीरूपसे जीवका विवेक होनेसे उसके स्वयं प्रकाशकी सिद्धि है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भिन्न फल है। मुमुर्षुकी—मुक्ति चाहनेवालेकी सब इन्द्रियोंके उपसंहारसे इस लोकका अनुभव नहीं होता अर्थात् वासनामात्रसे इस लोकका स्मरण होता है, उसके कर्मबलसे हृदयमें मानसिक परलोककी स्फूर्तिरूप स्वप्न होता है, वह स्वप्न इस लोक और परलोक दोनोंकी सन्धिमें होता है, इसलिए सन्ध्य–स्वप्न कहा गया है, क्योंकि—'तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने०' (उस सन्ध्य स्थानमें रहकर यह दोनों स्थान यह लोकस्थान और परलोक स्थान देखता है) इस प्रकारकी श्रुति है। परन्तु यह स्वप्न कादाचित्क है, इस अरुचिसे नित्य स्वप्न प्रबोध और सम्प्रसादकी सन्धिमें होता है, ऐसा कहा गया है। अन्य तो मर्त्य चक्षु आदिसे अजन्य रूपादिसाक्षात्कार जिसमें है, वह परलोकका लक्षण है और दैव चक्षु आदिसे अजन्य रूपादिसाक्षात्कार जिसमें है वह मर्त्यलोकका लक्षण है, स्वप्नमें दोनों लक्षण होनेसे लक्षणसे नित्य स्वप्न दोनों लोकोंका स्पर्श करता है, इसलिए वह सन्ध्य है, जैसे दो ग्रामोंके बीचमें स्थित मार्ग उनकी सन्धिमें स्थित हुआ कहलाता है, वैसे, इस प्रकार व्याख्यान करते हैं। केवल श्रुतिसे स्वाप्निक पदार्थोंमें व्यावहारिक सत्यत्व नहीं है, किन्तु सकर्तृकत्व हेतु होनेसे भी व्यावहारिक सत्यत्व है, ऐसा कहते हैं—"स हि कर्त्ता" इत्यादिसे ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

पदच्छेद—निर्मातारम्, च, एके, पुत्रादयः, च ।

पदार्थोक्ति—एके–केचन शाखिनः [अस्मिंश्च स्वप्ने कामानाम्] निर्मातारम्—उत्पादकम् [ईश्वरम् आमनन्ति, 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' इतिश्रुतेः तत्र श्रुतौ 'कामाः' इत्यनेन] पुत्रादयश्च—तनुजादयश्च [अभिधीयन्ते, काम्यन्त इति व्युत्पत्तेः, एवञ्च स्वप्नसृष्टिः व्यावहारिकसत्ववती ईश्वरकर्तृकत्वात्, क्षित्यादिवत्, इत्यनुमानं सूत्रेणानेन प्रत्यर्पितमिति श्रुत्यानुमानेन च स्वप्नप्रपञ्चस्य व्यावहारिकत्वं सिद्धम्] ।

भाषार्थ—कोई शाखावाले—स्वप्नमें कामोंका निर्माता ईश्वर है, ऐसा मानते हैं, और कामशब्दसे पुत्रादि लिए जाते हैं, इसलिए स्वप्नसृष्टि ईश्वरकर्तृक होनेसे क्षिति आदिके समान व्यावहारिक है, यह तर्क हो सकता है, अतः पूर्वोक्त श्रुति और इस तर्कसे स्वाप्नप्रपञ्चमें व्यावहारिकत्व सिद्ध हुआ ।

भाष्य

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां निर्मातारमात्मानमामनन्ति—'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' (क० ५।८) इति । पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रेयन्ते काम्यन्त इति । ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येरन् । न । 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व'

भाष्यका अनुवाद

और एक शाखावाले इसी सन्ध्यस्थानमें आत्मा कामोंका निर्माता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'य एष सुप्तेषु जागर्ति०' (जो यह पुरुष इनके सोनेपर जागता, है तो इष्ट—स्त्री आदि अर्थोंका निर्माण करता हुआ जागता है) इत्यादिसे । उसमें पुत्र आदि काम हैं, ऐसा अभिप्राय है, क्योंकि उनकी कामना की जाती है । परन्तु कामशब्दका अर्थ इच्छाविशेष ही है, ऐसा

रत्नप्रभा

किञ्च स्वप्नार्थाः सत्याः प्राज्ञनिर्मितत्वाद् आकाशादिवदिति सूत्रार्थमाह—**अपि चेत्यादिना** । रूढिमाशंक्य प्रकरणान्निरस्यति—**नन्वित्यादिना** । यः सुप्तेषु

रत्नप्रभाका अनुवाद

किंच, स्वप्नके पदार्थ सत्य हैं, प्राज्ञसे निर्मित होनेसे, आकाशादिके समान, ऐसा सूत्रार्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । रूढिकी आशंका करके प्रकरणका विरोध होनेसे उसका

भाष्य

(क० १।२३) इति प्रकृत्यान्ते 'कामानां त्वा कामभाजं करोमि' (क० १।२४) इति प्रकृतेषु तत्र तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात् । प्राज्ञं चैनं निर्मातारं प्रकरणवाक्यशेषाभ्यां प्रतीमः । प्राज्ञस्य हीदं प्रकरणम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्यादि, तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ (क०५।८) इति ।

प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया, तथा स्वप्नाश्रयापि सृष्टिर्भवितुमर्हति । तथाच श्रुतिः—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' (बृ० ४।३।१४)

भाष्यका अनुवाद

यदि कहो तो, नहीं, क्योंकि 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्०' (सौ वर्षकी आयुवाले पुत्र और पौत्रोंके लिए वर मांग) ऐसा प्रस्ताव करके अन्तमें 'कामानां त्वा०' (सब कामोंका तुझे कामभाजन बनाता हूँ) इस प्रकार प्रकृत पुत्रादिमें कामशब्दका प्रयोग किया गया है । और यह निर्माता प्राज्ञ है, ऐसा प्रकरण और वाक्यशेषसे हम प्रतीत करते हैं, क्योंकि यह प्राज्ञका प्रकरण है—'अन्यत्र धर्माद०' (धर्मसे—और अधर्मसे अन्य है) इत्यादि । वाक्यशेष भी तद्विषयक ही है—'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म०' (वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही अमृत कहलाता है, उसमें सब लोक आश्रित हैं, उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं करता) इस प्रकारका। प्राज्ञ जिसका कर्ता है, ऐसी जाग्रदवस्थाकी सृष्टि जब सत्यस्वरूप समझी गई है, तो स्वप्नाश्रया—स्वप्नावस्थाकी सृष्टि भी वैसी ही हो सकती है, क्योंकि 'अथो खल्वाहुर्जागरित०' (और दूसरे कहते हैं कि उसका यह [जो स्वप्न है, वह] जागरित देश ही है, क्योंकि जागता हुआ जो पदार्थ देखता है, वही सोता हुआ देखता

रत्नप्रभा

निर्व्यापारेषु करणेषु जागर्ति, तदेव शुक्रं स्वप्रकाशं ब्रह्म इत्यर्थः । स्वप्नस्य जाग्रदर्थैः

रत्नप्रभाका अनुवाद

निरसन करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । स्वप्नमें इन्द्रियोंके व्यापारशून्य हो जानेपर जो जागता है, वही शुक्र—स्वप्रकाश ब्रह्म है, ऐसा अर्थ है । जाग्रदवस्थाके पदार्थोंके साथ स्वप्नके

भाष्य

इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति। तस्मात्तथ्यरूपैव संध्ये सृष्टिरिति ॥ २ ॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह—

भाष्यका अनुवाद

है) इस प्रकार श्रुति स्वप्न और जाग्रदवस्थाकी समान रीतिका श्रवण कराती है। इसलिए स्वप्नमें सत्यरूप ही सृष्टि है ॥ २ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण करते हैं—

रत्नप्रभा

समानदेशत्वश्रुतेरभेदश्रुतेश्च सत्यत्वे तात्पर्यमित्याह—अथो खल्वाहुरिति ॥२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदार्थोंकी जो समानदेशताकी तथा अभेदकी श्रुति है, उसका स्वाप्निक पदार्थोंके सत्यत्वमें तात्पर्य है, ऐसा कहते हैं—"अथो खल्वाहुः" इत्यादिसे ॥२॥

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—मायामात्रम्, तु, कार्त्स्न्येन, अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। [स्वप्नसृष्टिः शुक्तिरूप्यवन्मायामात्रम्, कुतः ?] कार्त्स्न्येन—देशकालादिसम्पत्त्यबाधरूपपरमार्थवस्तुधर्मेण अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्—अभिव्यक्तिशून्यस्वरूपत्वात्, [अतः प्रातिभासिक एव स्वप्नः न व्यावहारिकः इति सिद्धम्]।

भाषार्थ—सूत्रमें तुशब्द पूर्वपक्षका निवारण करता है स्वप्नकी सृष्टि शुक्तिरूप्यके समान मायामात्र है, क्योंकि देश, काल आदि सम्पूर्ण धर्मोंसे अभिव्यक्त स्वरूप नहीं है, अतः स्वप्नप्रपञ्च प्रातिभासिक—मायामात्र है।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति—यदुक्तं सन्ध्ये सृष्टिः पारमा-

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है। सन्ध्य—स्वप्नमें सृष्टि पारमार्थिक

रत्नप्रभा

स्वप्नरथादयः प्रातीतिकाः, जाग्रद्रथादौ क्लृप्तसामग्रीं विना दृष्टत्वात्, शुक्ति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वप्नमें रथ आदि पदार्थ जो दिखाई पड़ते हैं, वे प्रातिभासिक हैं, जाग्रदवस्थामें वर्तमान

भाष्य

र्थिकीति । मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति । कुतः ? कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् । नहि कात्स्न्र्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः । किं पुनरत्र कात्स्न्र्यमभिप्रेतं देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च । नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते । न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति । नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽ-

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा जो कहा गया है, वह नहीं है । सन्ध्य-सृष्टि माया ही है, उसमें परमार्थका गन्ध भी नहीं है । किससे ? सर्वात्मना उसका स्वरूप अभिव्यक्त न होनेसे । क्योंकि स्वप्न ऐसा नहीं है कि जिसका स्वरूप समस्त परमार्थवस्तुके धर्मसे अभिव्यक्त हो । परन्तु यहां कात्स्न्र्यका अर्थ क्या अभिप्रेत है ? देश, काल, निमित्तकी सम्पत्ति और अबाध अभिप्रेत है । देश, काल, निमित्त और अबाध जो पारमार्थिक वस्तुके विषय हैं, उनका स्वप्नमें संभव नहीं है । स्वप्नमें रथादिका

रत्नप्रभा

रूप्यादिवदिति सिद्धान्तयति—**तुशब्द इत्यादिना** । चिन्मात्रनिष्ठाऽविद्या चित्त्वावच्छेदेन जीवेऽपि स्थिता रथाद्याकारा मायेति सूत्रभाष्ययोरुक्ता मायाऽविद्ययोरभेदज्ञापनाय, मात्रपदेन तु सति प्रमातर्यबाध्यत्वरूपस्य व्यावहारिकसत्यत्वस्य निरास उक्तः । कात्स्न्र्यमत्र जाग्रति या क्लृप्तसामग्री, तज्जन्यत्वं परमार्थवस्तुनो जाग्रदर्थस्य कार्यस्य धर्मः सत्यत्वव्यापकः तदभावं स्वप्ने विवृणोति—**न तावदित्यादिना** । संवृते सङ्कीर्णे, पर्येतुम्—गन्तुम्, विपर्येतुम्—आगन्तुम् । श्रावयति

रत्नप्रभाका अनुवाद

रथ आदिमें कल्पित सामग्रीके बिना दृष्ट होनेसे, शुक्तिरजत आदिके समान, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"तुशब्दः" इत्यादिसे । चिन्मात्रनिष्ठ अविद्या जो चित्वावच्छेदसे जीवमें भी स्थित है वही रथ आदि आकारवाली माया है, इस प्रकार माया और अविद्यामें कोई भेद नहीं है, ऐसा कहनेके लिए सूत्र और भाष्यमें माया कही गई है । सूत्रमें मात्रपदसे तो सद्रूप प्रमातामें अबाध्यत्वरूप व्यावहारिक सत्यताका निरास कहा गया है । जाग्रदवस्थामें निश्चित जो सामग्री है, तज्जन्यत्व ही यहां कात्स्न्र्य है, वह परमार्थवस्तु—सत्य जाग्रदर्थरूप कार्यका धर्म, सत्यत्वव्यापक है, स्वप्नमें उसके अभावका विवरण करते हैं—"न तावत्" इत्यादिसे । संवृतमें—संकीर्णमें, पर्येतुं—जानेके लिए, विपर्येतुम्—आनेके लिए ।

भाष्य

वकाशं लभेरन्। स्यादेतत्। बहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति, देशान्तरितद्रव्यग्रहणात्। दर्शयति च श्रुतिर्बहिर्देहात्स्वप्नं—'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा, स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१२) इति। स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च नानिष्क्रान्ते जन्तौ सामञ्जस्यमश्नुवीतेति। नेत्युच्यते। नहि सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितं देशं पर्येतुं विपर्येतुं च ततः सामर्थ्यं संभाव्यते, क्वचिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति 'कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रयाऽभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्चे'ति। देहाच्चेदपेयात्पञ्चालेष्वेव प्रतिबुध्येत तानसावभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते। येन चायं

भाष्यका अनुवाद

उचित देश नहीं हो सकता, क्योंकि संवृत देहदेशमें रथ आदि अवकाश प्राप्त नहीं कर सकेंगे। परन्तु देहसे बाहर विषयोंका स्वप्नमें प्रत्यक्ष होगा, क्योंकि देशान्तरित द्रव्योंका (जिनमें देशका व्यवधान है, ऐसे द्रव्योंका) स्वप्नमें ग्रहण होता है। श्रुति भी देहसे बाहर विषयोंमें स्वप्न दिखलाती है—'बहिष्कुलायादमृतः०' (कुलायसे—देहसे बाहर अमृत—जीव घूम-फिरकर जहाँ इच्छा होती है, वहाँ विहार करता है) इस प्रकारकी। और ऐसी स्थिति और गतिकी भिन्नप्रतीति जन्तुकी अनिष्क्रान्तिमें नहीं घट सकती। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि सोये हुए जन्तुमें सैकड़ों योजनोंसे व्यवहित देशमें क्षणमात्रमें ही जाने या आनेके सामर्थ्यकी सम्भावना नहीं की जा सकती। और कहीं, [प्रबुद्ध पुरुष] प्रत्यागमनके बिना ही स्वप्न [समीपमें स्थित लोगोंको] सुनाता है—'मैं इसी कुरुदेशमें सोता हुआ निद्रासे अभिभूत होकर स्वप्नमें पंचालदेशमें चला गया था और फिर यहींपर जाग गया'। यदि देहसे दूर गया होता, तो पंचालदेशमें जागता, क्योंकि वह वहां गया है, किन्तु कुरुदेशमें ही जागृत होता है। और जिस देहसे यह अपनेको अन्य देशव्याप्त हुआ मानता

रत्नप्रभा

प्रबुद्धो जनः पार्श्वस्थान् प्रतीतिशेषः। एतत्—स्वप्नं यथा स्यात् तथा यत्र काले स्वप्नया वृत्त्या चरति तदा यथेष्टं स्वशरीरे चरतीत्यर्थः। बहिरिवेति। कुला-

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रावयति—सुनाता है, प्रबुद्ध जन, पार्श्वमें स्थित लोगोंको, इतना शेष है। एतत्–जबतक स्वप्न है तबतक, जिस स्वप्नकालमें अन्तःकरणकी वृत्तिसे जो व्यवहार करता है, वह यथेष्ट

भाष्य

देहेन देशान्तरमश्नुवानो मन्यते तमन्ये पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति। यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति। परिधावंश्चेत्पश्येज्जाग्रद्वद्वस्तुभूतमर्थमाकलयेत्। दर्शयति च श्रुतिरन्तरेव देहे स्वप्नम्—'स यत्रैतत्स्वप्नया चरति' इत्युपक्रम्य 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २।१।१८) इति। अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिर्गौणी व्याख्यातव्या—बहिरिव कुलायादमृतश्चरित्वेति। यो हि वसन्नपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव शरीराद्भवतीति। स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवंसति विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः। कालवि-

भाष्यका अनुवाद

है, उस देहको अन्य पास रहनेवाले शयनदेशमें ही है, ऐसा देखते हैं। इसी प्रकार यह जैसे देशान्तर स्वप्नमें देखता है, वे वैसे ही नहीं होते। यदि दौड़ता हुआ [पदार्थ] देखे, तो वह वे जाग्रतके समान सत्य पदार्थ हैं, ऐसी कल्पना करे। श्रुति भी देहके भीतर ही स्वप्न दिखलाती है—'स यत्रैतत्०' (यह स्वप्न जैसा हो, वैसा जिस कालमें वह [अमृत-आत्मा] स्वप्नवृत्तिसे व्यवहार करता है) ऐसा उपक्रम करके 'स्वे शरीरे यथा काम०' (अपने ही शरीरमें जैसा चाहता है वैसा फिरता है) इस प्रकार। इससे, श्रुति और उपपत्तिके विरोध होनेसे 'बहिष्कुलाय' (कुलायसे—देहसे बाहर) यह श्रुति गौणी है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, अर्थात्, मानो देहके बाहर अमृत—आत्मा घूम-फिरकर [जहाँ चाहता है वहां यथेष्ट विहार करता है] इस प्रकार। निश्चय, जो शरीरमें रहता हुआ भी उससे प्रयोजन नहीं रखता, वह शरीरसे बाहर-सा होता है। स्थिति और गतिकी भिन्नप्रतीति भी ऐसा होनेपर विप्रलम्भ ही है, ऐसा

रत्नप्रभा

थाद्—देहात् बहिरिव अमृतः—आत्मा चरित्वा यथा कामं यथेष्टम् ईयते—विहरतीत्यर्थः। गुणमाह—यो हीति। देहाभिमानहीनत्वगुणेन बहिष्ठवद्देहस्थोऽपि बहिरित्युक्त इत्यर्थः। एवं सति—श्रुतियुक्तिभ्यां अंतरेव स्वप्ने सतीत्यर्थः। विप्र-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अपने शरीरमें ही व्यवहार करता है, ऐसा अर्थ है। "बहिरिव" इत्यादि। देहके बाहर जैसा अमृत—आत्मा घूम-फिरकर यथेष्ट विहार करता है, यह अर्थ है। गुण कहते हैं—"यो हि" इत्यादिसे। देहस्थ है, तो भी देहाभिमानरहितत्व गुणसे बहिष्ठके समान है, अतः बहिः, यह कहा है, ऐसा अर्थ है। ऐसा होनेपर—श्रुति और युक्तिसे देहके भीतरके ही प्रदेशमें स्वप्न

भाष्य

संवादोऽपि च स्वप्ने भवति रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते। तथा मुहूर्तमात्रवर्तिनि स्वप्ने कदाचिद्बहुवर्षपूगानतिवाहयति। निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्धये कर्मणे वोचितानि विद्यन्ते। करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति। रथादिनिर्वर्तनेऽपि कुतोऽस्य निमेषमात्रेण सामर्थ्यं दारूणि वा। बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे। स्वप्न एव चैते सुलभबाधा भवन्ति, आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात्। रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः संपद्यते, मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः। स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति

भाष्यका अनुवाद

स्वीकार करना युक्त है। स्वप्नमें कालविरोध भी होता है, रात्रिमें सोया हुआ भारतवर्षमें दिवस है, ऐसा मानता है तथा मुहूर्तमात्र रहनेवाले स्वप्नमें कदाचित् बहुवर्ष समुदाय निर्गमन करता है। और स्वप्नमें विचार या कर्मके लिए योग्य निमित्त भी नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियोंका उपसंहार होनेसे रथादिके ग्रहण करनेके लिए चक्षु आदि नहीं हैं। इसी प्रकार निमेषमात्रमें रथादिके निर्माणमें इसे सामर्थ्य और भी लकड़ी कहाँ है? अथवा और स्वप्नमें देखे गये ये रथ आदि पदार्थ जाग्रदवस्थामें बाधित होते हैं और इनका बाध स्वप्नमें भी सुलभ होता है, क्योंकि स्वप्नके आदि और अन्तमें व्यभिचार देखनेमें आता है। निश्चय, कदाचित्, यह रथ है, ऐसा स्वप्नमें निर्धारित हुआ पदार्थ क्षणमें मनुष्य हो जाता है और यह मनुष्य है, ऐसा निश्चय किया गया क्षणमें वृक्ष हो जाता है। शास्त्र भी स्वप्नमें रथ आदिके अभावका स्पष्ट श्रवण कराता है—'न तत्र

रत्नप्रभा

लम्भः—विभ्रमः। योग्यदेशाभावमुक्त्वा कालाभावमाह—**कालेति**। अत्र रात्रिसमयेऽपि केतुमालादिवर्षान्तरे वासरो भवतीति भारते इत्युक्तम्। पूर्वपक्षानुमानानां

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर, ऐसा अर्थ है। विप्रलम्भ—विभ्रम, योग्य देशका अभाव कहकर कालका अभाव कहते हैं—"काल" इत्यादिसे। यहां रात्रि समयमें भी केतुमाल आदिके दूसरे वर्षमें दिन होता है, ऐसा महाभारतमें कहा गया है। पूर्वपक्षके अनुमानोंमें जो जाग्रदर्थके दृष्टान्त हैं,

भाष्य

शास्त्रम्—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

रथा न रथयोगा०' (वहां रथ नहीं, रथके घोड़े नहीं और मार्ग नहीं हैं) इत्यादि । इसलिए स्वप्नदर्शन मायामात्र है ॥३॥

रत्नप्रभा

जाग्रदर्थदृष्टान्ते क्लृप्तसामग्रीजन्यत्वमबाधयोग्यत्वं वोपाधिरिति सूत्रतात्पर्यम् ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उनमें क्लृप्तसामग्रीजन्यत्व और अबाधयोग्यत्व उपाधि है, ऐसा सूत्रका तात्पर्य है ॥३॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥

पदच्छेद—सूचकः, च, हि, श्रुतेः, आचक्षते, हि, तद्विदः ।

पदार्थोक्ति—[स्वप्ने जायमानः स्त्रीदर्शनादिः सत्य एव, स च सत्यस्य साध्वसाधुवस्तुनः] सूचकः—हेतुः, हि—यतः [तथा] श्रुतेः—'यदा कर्मसु काम्येषु' इति श्रुतेः [अवगम्यते] तद्विदः—स्वप्नाध्यायविदो हि आचक्षते च—शुभाशुभसूचकत्वं कथयन्ति च [स्वप्नदर्शनस्य, [वस्तुतस्तु दर्शनस्य स्त्र्याद्यर्थरूषितत्वेनासत्यत्वेऽपि शुक्तिरूप्यविज्ञानस्य तथ्यहर्षादिजनकत्ववत् सत्यशुभादिसूचकत्वमविरुद्धम्, इति भावः] ।

भाषार्थ—स्वप्नमें जायमान स्त्री दर्शनादि सत्य हैं, क्योंकि शुभाशुभ फलके वे सूचक हैं । स्वप्नावस्थाके जाननेवाले भी स्वप्नदर्शनको शुभाशुभफलसूचकत्व कहते हैं, वस्तुतस्तु स्त्री आदिका दर्शन स्त्री आदि अर्थसे रूषित होनेके कारण असत्य होनेपर भी शुक्तिरूप्यका विज्ञान जैसे हर्षादिका जनक है, वैसे स्वप्न-दर्शनके शुभ और अशुभादि सूचकत्व माननेमें कोई बाधा नहीं है, ऐसा भाव है ।

भाष्य

मायामात्रत्वात्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽस्तीति। नेत्युच्यते। सूचकश्च हि स्वप्नो भवति भविष्यतोः साध्वसाधुनोः। तथा हि श्रूयते—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने' (छा० ५।२।९)। तथा 'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्येवमादिभिः स्वप्नैरचिरजीवित्वमावेद्यते इति श्रावयति। आचक्षते च स्वप्नाध्यायविदः—'कुञ्जरारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि खरयानादीन्यधन्यानि' इति। मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित् स्वप्नाः सत्यार्थगन्धिनो भवन्तीति मन्यन्ते। तत्रापि भवतु नाम सूच्यमानस्य

भाष्यका अनुवाद

स्वप्नके मायामात्र होनेसे उसमें परमार्थका लेशमात्र भी नहीं है। नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि स्वप्न भविष्यके भले और बुरेका सूचक होता है। इसी प्रकार श्रुति भी कहती है—'यदा कर्मसु काम्येषु०' (पुरुष काम्य कर्मोंमें जब स्वप्नमें स्त्रीको देखता है, तब उस स्वप्नका दर्शन होनेपर कार्यसिद्धि जाननी चाहिए)। तथा 'पुरुषं कृष्णम्०' (कालेदांतवाले कृष्ण पुरुषको स्वप्नमें देखता है, तो वह (स्वप्नदृष्ट) इस (स्वप्नद्रष्टा) को मार डालता है) इत्यादि स्वप्न अल्पजीवित्वको सूचित करते हैं, ऐसा श्रुति श्रवण कराती है। और स्वप्नाध्यायको जाननेवाले कहते हैं—स्वप्नमें हाथीपर चढ़ना आदि धन्य—शुभ है और गदहापर चढ़ना अधन्य—अशुभ है। और मन्त्र, देवता, द्रव्यविशेष निमित्तसे उत्पन्न हुए कोई-कोई स्वप्न सत्य अर्थसे युक्त होते हैं, यह मानते हैं। स्वप्नमें सूचित वस्तु भलेही सत्य हो,

रत्नप्रभा

स्वप्नस्य भ्रान्तिमात्रत्वे तत्सूचितोऽप्यर्थः सत्यो न स्यादिति शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रान्तरं व्याचष्टे—**मायेत्यादिना**। मन्त्रेण देवतानुग्रहेणौषधिसेवया वा स्वप्नाः सत्यसूचकाश्चेत् सत्याः स्युरित्यत आह—**तत्रापि भवतु नामेति**। सत्यहर्षहेतोरपि शुक्तिरूप्यस्य सत्यत्वादर्शनादिति भावः। यथा कृषिद्वारा लाङ्गलस्य गवादिजीवननिमित्तत्वम्, तथा स्वप्नभोक्तुरदृष्टद्वारा स्वप्नसृष्टिनिमित्तत्वम्, न तु कुम्भं प्रति

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वप्नके भ्रान्तिमात्र होनेसे उससे सूचित अर्थ भी सत्य नहीं होगा, इस शंकाके उत्तररूपसे अन्य सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"माया" इत्यादिसे। मन्त्रसे, देवताके अनुग्रहसे या ओषधिके सेवनसे यदि स्वप्न सत्यसूचक हों, तो वे सत्य होंगे इसपर कहते हैं—"तत्रापि भवतु नाम" इत्यादिसे। यद्यपि शुक्तिरजत सत्यहर्षका हेतु है, तो भी उसका सत्यत्व दिखाई नहीं देता, ऐसा

भाष्य

वस्तुनः सत्यत्वम्, सूचकस्य तु स्त्रीदर्शनादेर्भवत्येव वैतथ्यम्, बाध्यमानत्वादित्यभिप्रायः। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम्। यदुक्तम् 'आह हि' इति, तदेवं सति भाक्तं व्याख्यातव्यम्। यथा लाङ्गलं गवादीनुद्वहतीति निमित्तमात्रत्वादेवमुच्यते, न तु प्रत्यक्षमेव लाङ्गलं गवादीनुद्वहति, एवं निमित्तमात्रत्वात् सुप्तो रथादीन् सृजते स हि कर्तेति चोच्यते, न तु प्रत्यक्षमेव सुप्तो रथादीन् सृजति। निमित्तत्वं त्वस्य रथादिप्रतिभाननिमित्तमोदत्रासादिदर्शनात् तन्निमित्तभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोः कर्तृत्वेनेति वक्तव्यम्। अपि च जागरिते विषयेन्द्रियसंयोगादादित्यादिज्योतिर्व्यतिकराच्चाऽऽत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं दुर्वि-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु स्त्रीदर्शन आदि सूचक असत्य होंगे, क्योंकि उनका बाध होता है, यह अभिप्राय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वप्न मायामात्र—प्रातिभासिकमात्र है। 'आह हि' (क्योंकि श्रुति कहती है) ऐसा जो कहा गया है, उसका पूर्वोक्त रीतिसे स्वप्नके मायामात्र सिद्ध होनेपर वह अमुख्य है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। जैसे 'हल बैल आदिका उद्वहन करता है' यह निमित्तमात्रसे कहा जाता है, परन्तु हल प्रत्यक्ष बैल आदिका उद्वहन नहीं करता, वैसे ही निमित्तमात्रसे सोया हुआ रथादिका प्रत्यक्ष निर्माण नहीं करता है, और वह कर्ता है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु सोया हुआ रथादिका प्रत्यक्ष निर्माण नहीं करता, इसका निमित्तत्व तो रथादिके प्रतिभाससे उत्पन्न हर्ष, त्रास आदिके दर्शनसे उनके निमित्तभूत सुकृत और दुष्कृतके कर्तृत्वरूपसे है, ऐसा कहना चाहिए। और जागरितमें विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे और आदित्य आदि ज्योतिके व्यतिकर

रत्नप्रभा

कुम्भकारस्येव साक्षात् स्वप्नकर्तृत्वम्, सामग्र्यभावबाधयोरुक्तत्वादित्याह—यदुक्तमित्यादिना। तथा च स्वप्नस्य सकर्तृकत्वं मुख्यं नास्तीति हेत्वसिद्धिरिति भावः। श्रुतितात्पर्यविरोधाच्च न स्वप्नसत्यतेत्याह—अपि चेति। व्यतिकरः—सङ्करः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भाव है। जैसे हल कृषिद्वारा बैल आदिके जीवनका निमित्त है, वैसे स्वप्नका भोक्ता अदृष्टद्वारा स्वप्नसृष्टिका निमित्त है, किन्तु जैसे कुम्हार घड़ेका साक्षात् निर्माता है, वैसे स्वप्नभोक्ता स्वप्नका साक्षात् कर्ता नहीं है, क्योंकि उसमें सामग्रीका अभाव है और बाध है, ऐसा पूर्वमें कहा गया है, ऐसा कहते हैं—"यदुक्तम्" इत्यादिसे। इस प्रकार स्वप्नका सकर्तृकत्व मुख्य नहीं है, अतः हेतुकी असिद्धि है यह भाव है। श्रुतितात्पर्यके विरोधसे भी स्वप्न सत्य नहीं है, ऐसा कहते है—

भाष्य

वेचनमिति तद्विवेचनाय स्वप्न उपन्यस्तः। तत्र यदि रथादिसृष्टिवचनं श्रुत्या नीयेत, तदा स्वयंज्योतिष्ट्वं न निर्णीतं स्यात्। तस्माद्रथाद्यभाव-वचनं श्रुत्या रथादिसृष्टिवचनं तु भक्त्येति व्याख्येयम्। एतेन निर्माणश्रवणं व्याख्यातम्। यदप्युक्तम्—'प्राज्ञमेनं निर्मातारमामनन्ति' इति, तदप्यसत्; श्रुत्यन्तरे 'स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति'

भाष्यका अनुवाद

—संमिश्रणसे आत्माके स्वयंज्योतिष्ट्वका निर्वचन दुष्कर है, अतः उसके निर्वचनके लिए स्वप्नका उपन्यास किया है। उसमें रथादिसृष्टिके वचनका यदि श्रुतिके आधारपर निर्णय किया जाय, तो आत्माका स्वयंज्योतिष्ट्व निर्णीत नहीं होगा। इससे रथादिके अभावका वचन मुख्य अर्थमें है, और रथादि-सृष्टिका वचन गौण है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। इससे निर्माणश्रुतिका व्याख्यान हुआ। और ऐसा जो पूर्वमें कहा गया है कि प्राज्ञको स्वप्नप्रपञ्चका निर्माता कहते हैं, वह उपेक्षणीय है, क्योंकि अन्य श्रुतिमें 'स्वयं विहत्य' (अपने जाग्रत् शरीरको निश्चेष्ट कर, स्वयं वासनासे शरीरका निर्माण करके अपने अन्तःकरणवृत्ति प्रकाशसे और स्वरूपचैतन्यसे स्वप्नका अनुभव करता है) इस प्रकार जीवके

रत्नप्रभा

श्रुत्या तत्परयेत्यर्थः। जागरितादविशेषादिति भावः। फलितमाह—**तस्मादिति**। **एतेनेति**। भाक्तत्वेनेत्यर्थः। द्वितीयसूत्रोक्तप्राज्ञकर्तृकत्वहेतुरपि स्वप्नस्य किं श्रुति-सिद्धः, उत प्राज्ञस्य सर्वेश्वरत्वात् सिद्धः? नाद्यः इत्याह—**यदप्युक्तमित्यादिना**। स्वयं विहत्य—जाग्रद्देहं निश्चेष्टं कृत्वा, स्वयं वासनया देहं निर्माय, स्वेन भासा—स्वीयबुद्धिवृत्त्या, स्वेन ज्योतिषा—स्वरूपचैतन्येन च स्वप्नमनुभवतीत्यर्थः। न केवलं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अपि च" इत्यादिसे। व्यतिकर—सङ्कर। श्रुत्या—रथादिसृष्टिपरक श्रुतिसे, यह अर्थ है। जाग्रदवस्थासे स्वप्नावस्थामें कुछ विशेष नहीं है, ऐसा भाव है। फलित कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। "एतेन" इत्यादि। गौण होनेसे, ऐसा अर्थ है। द्वितीय सूत्रमें स्वप्नका कर्ता जो प्राज्ञ कहा गया है, वह क्या श्रुतिसिद्ध है या प्राज्ञके सर्वेश्वर होनेसे सिद्ध है? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"यदुक्तम्" इत्यादिसे। स्वयं विहत्य—आप ही मारकर—जाग्रत् देहको निश्चेष्ट करके, स्वयं वासनासे देहका निर्माणकर, स्वेन भासा—अपने प्रकाशसे—अपनी बुद्धिवृत्तिसे, स्वेन ज्योतिषा—अपनी ज्योतिसे—स्वरूप चैतन्यसे स्वप्नका अनुभव करता है,

भाष्य

(बृ० ४।३।९) इति जीवव्यापारश्रवणात् । इहापि 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' (क० ५।८) इति प्रसिद्धानुवादाज्जीव एवायं कामानां निर्माता संकीर्त्यते । तस्य तु वाक्यशेषेण 'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म' इति जीवभावं व्यावर्त्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते 'तत्त्वमसि' (छा० ६।९।४) इत्यादिवदिति न ब्रह्मप्रकरणं विरुध्यते । न चाऽस्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यवहारः प्रतिषिध्यते, तस्य सर्वेश्वरत्वात् सर्वास्वप्यवस्थास्वधिष्ठातृत्वोपपत्तेः । पारमार्थिकस्तु नायं

भाष्यका अनुवाद

व्यापारका श्रवण है । 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' (जो यह इन्द्रियोंके निर्व्यापार होनेपर जागता है) यहाँ भी प्रसिद्धका अनुवाद होनेसे जीव ही इन कामनाओंका निर्माता कहा गया है । परन्तु जो 'तदेव शुक्रम्०' (वही शुद्ध—स्वप्रकाश ब्रह्म है) इस वाक्यशेषसे उसके जीवभावकी व्यावृत्ति करके ब्रह्मभावका उपदेश किया है, वह 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यके समान है, अतः ब्रह्मप्रकरणका विरोध नहीं है । स्वप्नमें भी प्राज्ञके व्यवहारका हम प्रतिषेध नहीं करते हैं, क्योंकि वह सर्वथा ईश्वर होनेसे सभी अवस्थाओंमें अधिष्ठाता है । परन्तु वियद्–

रत्नप्रभा

बृहदारण्यके जीवस्य स्वप्नकर्तृत्वं श्रुतम्, किन्तु काठकेऽपीत्याह—इहापीति । जीवोक्तौ ब्रह्मप्रकरणविरोध इत्यत आह—तस्य त्विति । एवं हेतोः श्रुतिसिद्धत्वं निरस्य द्वितीयमङ्गीकरोति—न चाऽस्माभिरिति । तर्हि हेतुसिद्धेः स्वप्नस्य सत्यत्वमित्याशङ्क्य सत्यत्वं व्यावहारिकं पारमार्थिकं वेति विकल्प्य व्यवहारकाले बाधदर्शनात् नाद्यः इत्याह—पारमार्थिकस्त्विति । द्वितीये दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है । केवल बृहदारण्यकमें ही जीवमें स्वप्नकर्तृत्व कहा गया है, ऐसा नहीं है, किन्तु काठकमें भी कहा गया है, ऐसा कहते हैं—"इहापि" इत्यादिसे । जीव कहनेसे ब्रह्म प्रकरणका विरोध होगा, इसलिए कहते हैं—"तस्य तु" इत्यादिसे । इस प्रकार स्वप्नका कर्ता प्राज्ञ है, इस हेतुके श्रुतिसिद्धत्वका निरसन करके दूसरे पक्षका—प्राज्ञ सर्वेश्वर होनेसे स्वप्नका कर्त्ता है, इस पक्षका अङ्गीकार करते हैं—"न चास्माभिः" इत्यादिसे । तब प्राज्ञकर्तृत्वरूप हेतुके सिद्ध होनेसे अनुमानसे स्वप्न सत्य है, ऐसी शंका करके, क्या स्वप्नका व्यावहारिक सत्यत्व साध्य है, या पारमार्थिक ? ऐसा विकल्पकर प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि व्यवहारकालमें बाध देखा जाता है, ऐसा कहते हैं—"पारमार्थिकस्तु" इत्यादिसे । द्वितीय पक्षमें दृष्टान्त साध्यविकल है,

भाष्य

संध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवदित्येतावत् प्रतिपाद्यते। न च वियदादिसर्गस्याऽप्यात्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति, प्रतिपादितं हि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम्। प्राक्तु ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद् वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति। संध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं बाध्यत इति, अतो वैशेषिकमिदं संध्यस्य मायामात्रत्वमुदितम् ॥४॥

भाष्यका अनुवाद

आकाश आदिके समान स्वाप्न प्रपञ्च पारमार्थिक नहीं है, इतना ही प्रतिपादन करते हैं, और आकाशादिकी सृष्टि भी आत्यन्तिक सत्य नहीं है, क्योंकि 'तदनन्यत्व' इत्यादि सूत्रमें सम्पूर्ण प्रपञ्च मायामात्र है, ऐसा प्रतिपादन किया जा चुका है। ब्रह्मात्मत्वज्ञानके पूर्वमें आकाश आदि प्रपञ्च व्यवस्थितरूपवाला है, परन्तु स्वाप्न प्रपञ्चका प्रतिदिन बाध होता है, अतः स्वाप्नके मायामात्रत्वका यही विशेष हेतु कहा गया है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

मित्याह—**न चेति**। कस्तर्हि स्वप्नस्य जाग्रतो विशेषोऽत्र कथ्यत इत्याङ्शक्य प्रातिभासिकत्वमित्याह—**प्रागिति** ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। ऐसी स्थितिमें स्वप्नका जाग्रदवस्थासे क्या विशेष है? ऐसी आशंका करके प्रतिभासिकत्व—मिथ्यात्व विशेष है, ऐसा कहते हैं—"प्राग्" इत्यादिसे ॥४॥

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥

पदच्छेद—पराभिध्यानात्, तु, तिरोहितम्, ततः, हि, अस्य, बन्धविपर्ययौ।

पदार्थोक्ति—अस्य—जीवस्य, तिरोहितम्—आवृतम् [ऐश्वर्यम्] पराभिध्यानात्—ईश्वरस्य आभिमुख्येन ध्यानात् [अभिव्यक्तं भवति, कुतः?] ततः बन्धविपर्ययौ—तस्मादज्ञातादीश्वरात् बन्धः ज्ञाताद्धि तस्मात् विपर्ययः—मोक्षः [इति 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' इति श्रुतिर्दर्शयति। एवञ्च जीवेश्वरयोरभेदेऽप्यैश्वर्यस्य तिरोहितत्वात् न जीवस्य सङ्कल्पमात्रेण स्रष्टृत्वम्]।

भाषार्थ—जीवका अविद्या आदिसे व्यवहित ऐश्वर्य परमात्माके ध्यानसे अभिव्यक्त होता है, क्योंकि ईश्वरका ज्ञान न होनेसे जीवका बन्ध और ज्ञान होनेसे मोक्ष होता है, ऐसा 'ज्ञात्वा देवम्०' (ईश्वरको जानकर जीवके सब बन्धनोंका नाश हो जाता है) यह श्रुति दिखलाती है। इस प्रकार जीव और ईश्वरके एक होनेपर भी ऐश्वर्यके व्यवहित होनेसे जीव सङ्कल्पमात्रसे स्रष्टा नहीं हो सकता है।

भाष्य

अथापि स्यात्—परस्यैव तावदात्मनोंऽशो जीवोऽग्नेरिव विस्फुलिङ्गः, तत्रैवं सति यथाऽग्निविस्फुलिङ्गयोः समाने दहनप्रकाशनशक्ती भवतः; एवं जीवेश्वरयोरपि ज्ञानैश्वर्यशक्ती, ततश्च जीवस्य ज्ञानैश्वर्यवशात् सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिर्भविष्यतीति। अत्रोच्यते—सत्यपि जीवेश्वरयोरंशांशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्येश्वरविपरीतधर्मत्वम्। किं पुनर्जीवस्येश्वरसमानधर्मत्वं नास्त्येव? न नास्त्येव। विद्यमानमपि तत् तिरोहितमविद्यादिव्यवधानात्। तत् पुनस्तिरोहितं सत् परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य

भाष्यका अनुवाद

परन्तु जैसे विस्फुलिंग अग्निका अंश है, वैसे ही जीव आत्माका अंश है, ऐसा होनेपर जैसे अग्नि और विस्फुलिंगमें जलाने और प्रकाश करनेकी शक्ति समान है, वैसे जीव और ईश्वरमें ज्ञानशक्ति और ऐश्वर्य्यशक्ति समान होगी, इसलिए जीवके ऐश्वर्य्यसे स्वप्नमें रथादिकी सृष्टि होगी। इसपर कहते हैं—यद्यपि जीव और ईश्वरका अंशांशिभाव है, तो भी जीव ईश्वरसे विपरीत धर्मवाला है, यह प्रत्यक्ष है। तब क्या ईश्वरके समान धर्म जीवमें नहीं है? नहीं है, ऐसा नहीं, क्योंकि समानधर्मत्व विद्यमान है, तो भी अविद्या आदिके व्यवधानसे वह तिरोहित है।

रत्नप्रभा

पूर्वं क्लृप्तसामग्र्यभावात् स्वप्नो माया इति उक्तम् अयुक्तम्, सत्यसङ्कल्पमात्रेणापि सत्यसृष्टिसम्भवात् इति शङ्कां कृत्वा परिहरन् सूत्रं व्याचष्टे—**अथापि स्यादित्यादिना**। सत्यसङ्कल्पस्य हि सङ्कल्पात् सृष्टिः सत्या भवति। जीवस्य तु असत्यसङ्कल्पत्वं प्रत्यक्षम् इति परिहारार्थः। तर्हि विरुद्धधर्मवत्त्वात् जीवस्य ईश्वरत्वं नास्त्येव इति शङ्कते—**किमिति**। नास्तीति न, किन्तु आवृतमस्ति, तत् पुनः ईश्वरप्रसादात् कस्यचित् व्यज्यते इत्याह—**न नास्तीति**। विधूतध्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्लृप्त सामग्रीके न होनेसे स्वप्न माया है, यह जो पूर्वमें कहा गया है वह असङ्गत है, क्योंकि सत्यसंकल्पमात्रसे भी सत्य सृष्टि हो सकती है, इस प्रकार शङ्का करके परिहाररूपसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अथापि स्यात्" इत्यादिसे। जिसका संकल्प सत्य है, उसके संकल्पसे सत्य सृष्टि हो परन्तु जीवका संकल्प तो असत्य है, यह प्रत्यक्ष है, यह परिहारका अर्थ है। तो विरुद्ध धर्मके होनेसे क्या जीवमें ईश्वरत्व नहीं है, ऐसी शङ्का करते हैं—"किम्" इत्यादिसे। जीवमें ईश्वरका समानधर्म नहीं है, ऐसा नहीं है, किन्तु आवृत है, अतः ईश्वरके प्रसादसे किसी एकको ही व्यक्त होता है, ऐसा कहते हैं—"न नास्ति" इत्यादिसे।

भाष्य

तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात् संसिद्धस्य कस्यचिदेवाऽऽविर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम् । कुतः ? ततो हीश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः । ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद् बन्धस्तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः । तथा च श्रुतिः—

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।

भाष्यका अनुवाद

यद्यपि वह तिरोहित है, तो भी परमेश्वरका ध्यान करनेवाले यत्नवान् विनष्टाज्ञान किसी एक सिद्ध पुरुषमें उस तिरोहित ज्ञान ऐश्वर्य्यका ईश्वरके प्रसादसे आविर्भाव होता है, जैसे औषधके बलसे किसी एक जन्तुको रतौंधीसे तिरस्कृत दृक्शक्ति प्राप्त होती है, स्वभावतः सब प्राणियोंको उत्पन्न नहीं होती। किससे ? इससे कि ईश्वरसे जीवके बन्ध और मोक्ष होते हैं, ईश्वरके स्वरूपका परिज्ञान न होनेसे बन्ध होता है और उसके स्वरूपके परिज्ञानसे मोक्ष होता है, क्योंकि 'ज्ञात्वा देवम्०' ('यह मैं हूँ' इस प्रकार देवके ज्ञानसे अविद्यारूप सब पाशका क्षय होता है, अविद्यादि क्लेशोंके क्षीण होनेपर

रत्नप्रभा

न्तस्य—निष्पापस्य, संसिद्धस्य—अणिमादिविशिष्टस्य इत्यर्थः । ब्रह्मैवाऽहमिति देवं ज्ञात्वा—साक्षात्कृत्य सर्वपाशानाम्—अविद्यादिक्लेशानामपहानिः—अपक्षयः तद्रूपो भवति । क्षीणैश्च क्लेशैस्तत्कार्यजन्ममरणात्मकबन्धध्वंस इति निर्गुणविद्याफलमाह—**तस्येति** । परस्य आभिमुख्येनाऽहंग्रहेण ध्यानाद् बन्धमोक्षापेक्षया मन्त्रोक्तहानिद्वयापेक्षया वा, तृतीयं विश्वैश्वर्यमणिमादिरूपं मर्त्यदेहपाते सति सिद्धे

रत्नप्रभाका अनुवाद

विधूतध्वान्त—निष्पाप, संसिद्ध—अणिमादि सिद्धियोंसे युक्त ऐसा अर्थ है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह जानकर—साक्षात्कार करके सर्वपाशोंकी—अविद्यादि क्लेशोंकी अपहानि—नाश होता है, क्लेशोंके क्षीण होनेपर उनका जो कार्य—जन्ममरणात्मक बन्ध है, उसका ध्वंस होता है, ऐसा निर्गुण विद्याका फल कहा है। सगुण विद्याका फल कहते हैं—"तस्य" इत्यादिसे। परमात्माके आभिमुख्य अहंग्रहसे—मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकारके—ध्यानसे बन्धमोक्षकी अपेक्षासे या मन्त्रोक्त दो हानियोंकी—पाश हानि और जन्मादि हानिरूप पुरुष सिद्धिकी अपेक्षासे तीसरा विश्वैश्वर्य अर्थात् निरतिशय ऐश्वर्य, अणिमादिरूप मर्त्य देहके पात होनेपर—सिद्ध देह होनेपर होता है, और

भाष्य

तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥' (श्वे० १।११) इत्येवमाद्या ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

जनन-मरणादि दुःखहेतुका विनाश होता है, उस परमेश्वरके अभिध्यानसे शरीरपात होनेपर तृतीय विश्वैश्वर्यलक्षण फल होता है, वह अनुभवी उसका त्याग करके केवल पूर्णानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूप होता है) इत्यादि श्रुति है ॥५॥

रत्नप्रभा

देहे भवति तद्भोगानन्तरम् आत्मज्ञानात् केवलः—द्वैतशून्यः आप्तकामः—प्राप्तस्वयञ्ज्योतिरानन्दो भवति इति क्रममुक्तिः इत्यर्थः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका भोग करनेपर निर्गुण ज्ञानका उदय होनेसे—आत्मज्ञान होनेसे केवल द्वैतशून्य आप्तकाम—स्वयंज्योतिरूप आनन्द जिसने प्राप्त किया है, ऐसा होता है, यह क्रममुक्ति है, ऐसा अर्थ है ॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

पदच्छेद—देहयोगाद्, वा, सः, अपि ।

पदार्थोक्ति—सोऽपि—जीवैश्वर्यतिरोभावोऽपि, देहयोगात्—देहादावात्मत्वाभिमानलक्षणाविद्यावशात् [भवति] ।

भाषार्थ—जीवके ऐश्वर्यका तिरोभाव भी देह आदिमें आत्मत्वाभिमानरूप अविद्यासे होता है ।

भाष्य

कस्मात् पुनर्जीवः परमात्मांश एव संस्तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति, युक्तं तु

भाष्यका अनुवाद

यदि जीव परमात्माका अंश ही है, तो उसका ज्ञान और ऐश्वर्य्य तिरस्कृत

रत्नप्रभा

उक्तैश्वर्यतिरोभावे देहाभिमानो हेतुरिति कथनार्थं सूत्रम् , तन्निरस्याऽऽशङ्काम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त ऐश्वर्यके तिरोभावमें देहाभिमान कारण है, यह कहनेके लिए सूत्र है, उस सूत्रके

भाष्य

ज्ञानैश्वर्ययोरतिरस्कृतत्वं विस्फुलिङ्गस्येव दहनप्रकाशनयोरिति। उच्यते—सत्यमेवैतत्, सोऽपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद् भवति। अस्ति चात्रोपमा—यथाऽग्नेर्दहनप्रकाशनसम्पन्नस्याप्यरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतः, यथा वा भस्मच्छन्नस्य, एवमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतदेहाद्युपाधियोगात् तदविवेकभ्रमकृतो जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावः। वाशब्दो जीवस्य ईश्वरादन्यत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। नन्वन्य एव जीव ईश्वरादस्तु, तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यत्वात्; किं देहयोगकल्पनया? नेत्युच्यते—नह्यन्यत्वं जीवस्येश्वरादुपपद्यते, 'सेयं देवतैक्षत' (छा० ६।३।२) इत्युपक्रम्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इत्या-

भाष्यका अनुवाद

किस हेतुसे होता है? प्रत्युत जैसे विस्फुलिङ्गके दहन और प्रकाश अतिरस्कृत हैं, वैसे ईश्वरांश जीवका ज्ञान और ऐश्वर्य्य अतिरस्कृत होना चाहिए। कहते हैं—यह सत्य है, तथापि जीवके ज्ञान और ऐश्वर्य्यका तिरोभाव देहके योगसे—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषयवेदना आदिके योगसे होता है। यहाँ दृष्टान्त भी है जैसे अग्निमें यद्यपि दाह और प्रकाश है, तो भी अरणिगत अग्निमें दहन और प्रकाशन तिरोहित होते हैं अथवा जैसे भस्मच्छन्न अग्निके दहन और प्रकाशन तिरोहित होते हैं, इसी प्रकार अविद्यासे प्रत्युपस्थापित नाम और रूपसे सम्पादित देह आदि उपाधियोंके योगसे उसके अविवेकरूप भ्रमसे जीवके ज्ञान और ऐश्वर्य्यका तिरोभाव है। वाशब्द जीव और ईश्वरकी अन्यत्वशङ्काकी निवृत्तिके लिए है। जीवको ईश्वरसे अन्य ही मानो, क्योंकि उसका ज्ञान और ऐश्वर्य्य तिरस्कृत है, अतः देहयोगकी कल्पनासे क्या प्रयोजन है? नहीं, ऐसा कहते हैं—जीवका ईश्वरसे अन्य होना उपपन्न नहीं होता, क्योंकि 'सेयं देवतैक्षत' (उस देवताने विचार किया) ऐसा उपक्रम करके 'अनेन

रत्नप्रभा

आह—**कस्मादिति**। सत्यावरणं नास्ति इति अङ्गीकृत्य कल्पितावरणं साधयति—**उच्यते इत्यादिना**। जीवस्य ईश्वरत्वमङ्गीकृत्याऽऽवरणकल्पनातो वरमन्यत्वकल्पना इत्याशङ्कामुद्भाव्य श्रुत्या निरस्यति—**नन्वित्यादिना**। स्वप्नेऽपि आलोकादेः सत्यत्वे

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्वारा निराकार्य शङ्का कहते हैं—"कस्मात्" इत्यादिसे। सत्य आवरण नहीं है, ऐसा अङ्गीकार करके कल्पित आवरणको सिद्ध करते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। जीवको ईश्वर मानकर आवरणकी कल्पना करनेकी अपेक्षा जीव ईश्वरसे अन्य है, यह कल्पना अधिक श्रेष्ठ है, ऐसी आशंका करके श्रुतिसे

भाष्य

त्मशब्देन जीवस्य परामर्शात्। 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।९।४) इति च जीवायोपदिशतीश्वरात्मत्वम्, अतोऽनन्य एवेश्वराज्जीवः सन् देहयोगात् तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति, अतश्च न सांकल्पिकी जीवस्य स्वप्ने रथादिसृष्टिर्घटते। यदि च सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिः स्यान्नैवानिष्टं कश्चित् स्वप्नं पश्येत्। नहि कश्चिदनिष्टं संकल्पयते। यत्पुनरुक्तम्—जागरितदेशश्रुतिः स्वप्नस्य सत्यत्वं ख्यापयतीति, न तत्साम्यवचनं सत्यत्वाभिप्रायं स्वयंज्योतिष्ट्वविरोधात्। श्रुत्यैव च स्वप्ने रथाद्यभावस्य दर्शितत्वात्, जागरितप्रभववासनानिर्मितत्वात्तु स्वप्नस्य तत्तुल्यनिर्भासत्वाभिप्रायं तत्। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

जीवेन०' (इस जीवरूप आत्मा द्वारा अनुप्रवेश करके) इस प्रकार आत्म शब्दसे जीवका परामर्श है। उसी प्रकार 'तत्सत्यम्०' (वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वतकेतो! वह तू है) इस प्रकार श्रुति जीवको ईश्वर रूपताका उपदेश करती है, इससे सिद्ध हुआ कि जीव ईश्वरसे अनन्य ही है, किन्तु देहयोगसे उसके ज्ञानैश्वर्य्यका तिरोभाव होता है, इसलिए स्वप्न में रथादिसृष्टि जीवके संकल्पसे बनी है, यह नहीं घटता है। यदि स्वप्नमें संकल्पजन्य रथादिसृष्टि होती, तो कोई भी अनिष्ट स्वप्न नहीं देखता। क्योंकि कोई जीव अनिष्टका चिन्तन नहीं करता है। और यह जो कहा गया है कि जागरित-देशश्रुति स्वप्नसृष्टिके सत्यत्वका ख्यापन करती है, [यह अयुक्त है] क्योंकि उस साम्यवचनका अभिप्राय सत्यत्व दिखलानेके लिए नहीं है, कारण कि आत्मा स्वयंप्रकाश है, इसके साथ विरोध है। और श्रुतिने ही स्वप्नमें रथादिका अभाव बतलाया है। जाग्रदवस्थामें उत्पन्न हुई वासनासे स्वप्न निर्मित है अतः स्वप्नका उस जाग्रदवस्थाके समान भान होता है, ऐसा इस श्रुतिका अभिप्राय है। इससे सिद्ध हुआ कि स्वप्न मायामात्र है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

जाग्रतीव आत्मनः स्वप्रकाशत्वमस्फुटं स्यात्, प्रातिभासिकत्वे तु आलोकेन्द्रियासत्त्वेऽपि अर्थापरोक्ष्यमात्मज्योतिष एवेति स्फुटं सिध्यति। तस्मात् देशादिसाम्यवचनं स्वप्नस्य जाग्रत्तुल्यभानाभिप्रायम् इत्यर्थः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका निरसन करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। स्वप्नमें भी आलोक आदि सत्य हों, तो जाग्रदवस्थाके समान आत्माका स्वप्रकाश अस्फुट हो, प्रातिभासिक माननेपर तो आलोक, इन्द्रिय आदिके नहीं रहनेपर भी अर्थका जो प्रत्यक्ष हो जाता है, वह आत्माके प्रकाशसे ही है, ऐसा स्पष्टरूपसे सिद्ध होता है। इसलिए स्वप्न जाग्रत्के समान है ऐसा श्रुतिमें जो कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि जाग्रदवस्थाके समान स्वप्नमें भान होता है ॥ ६ ॥

[२ तदभावाधिकरण सू०—७—८]

नाडीपुरीतद्ब्रह्माणि विकल्प्यन्ते सुषुप्तये ।
समुच्चितानि वैकार्थ्याद्विकल्प्यन्ते यवादिवत् ॥१॥
समुच्चितानि नाडीभिरुपसृप्य पुरीतति ।
*हृत्स्थे ब्रह्माणि यात्यैक्यं विकल्पे त्वष्टदोषता * ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म ये तीन सुषुप्तिके लिए विकल्पित हैं या समुच्चित हैं ?

पूर्वपक्ष—यव आदिके समान वे विकाल्पित हैं, क्योंकि नाडी आदिका एक ही प्रयोजन है।

सिद्धान्त—नाडी आदि सुषुप्तिके लिए समुच्चित हैं, क्योंकि नाडी द्वारा जीव गमन करके पुरीततसे वेष्टित हृदयमें स्थित ब्रह्ममें ऐक्यको प्राप्त होता है। और विकल्प माननेपर अष्टदोष प्रसक्त होंगे।

---

* इस अधिकरणका सार यह है कि 'आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' इस श्रुतिमें जीवका सुषुप्ति कालमें नाडीप्रवेश ज्ञात होता है, और 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' इस श्रुतिसे पुरीततमें प्रवेश प्रतीत होता है, 'य एषोऽन्तर्हृदये' इत्यादि श्रुतिसे आकाशशब्दवाच्य ब्रह्माश्रितत्व अवगत होता है। अतः वे सब नाडी आदि स्थान एक ही प्रयोजन होनेसे विकल्पित होंगे, क्योंकि जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्वा' इत्यादि स्थलमें पुरोडाशरूप प्रयोजनके एक होनेसे विकल्प माना गया है, वैसे ही प्रकृत स्थलमें भी सुषुप्तिरूप प्रयोजन एक ही है, इससे किसी समय नाडीमें, तो कभी पुरीततमें, तो कदाचित् ब्रह्ममें इस प्रकार नाडी आदिका विकल्प होगा।

उक्त पूर्वपक्षके प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—यदि एक ही प्रयोजन हो, तो पूर्वपक्ष ठीक होगा, परन्तु यही असिद्ध है, क्योंकि उनका पृथक् प्रयोजन सुवच है—नाडियाँ तो चक्षु आदिमें संचरण-शील जीवके हृदयनिष्ठ ब्रह्मके प्रति गमनके लिए मार्गभूत हैं, इसलिए 'ताभिः प्रत्यवसृप्य' इत्यादि अन्य श्रुतिमें तृतीयासे नाडियोंमें साधनत्व कहा गया है। हृदयके वेष्टनरूप पुरीतत् तो महलके समान आवरक होगा और ब्रह्म खटियाकी नाईं आधार होगा, इससे जैसे द्वारसे प्रवेश करके प्रासादमें पर्यङ्कपर सोता है, वैसे नाडी द्वारा गमन करके पुरीततमें ब्रह्ममें सोवेगा, इस प्रकार उपकारके भेदसे नाडी आदिका समुच्चय है। सुषुप्तिमें यदि ब्रह्ममें जीवकी अवस्थिति है, तो आधारा-धेयेभाव क्यों नहीं भासता है ? यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उस दशामें एकीभाव है, ऐसा कहते है। जैसे तालाबमें प्रक्षिप्त उदकसे भरा हुआ कुम्भ डूबनेपर अलग नहीं होता है, वैसे ही अन्तःकरणरूप उपाधिसे युक्त जीव आवरक अज्ञानसहित ब्रह्ममें मग्न होनेपर पृथक् भासित नहीं होता है। इसीलिए अन्य श्रुतिमें सुषुप्तिकालमें जीवका ब्रह्मके साथ तादात्म्य कहा गया है—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'। और विकल्प जो पूर्वपक्षी द्वारा कहा गया है, वह तो आठ दोषोंसे दुष्ट होनेके कारण अत्यन्त

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

पदच्छेद—तदभावः, नाडीषु, तच्छ्रुतेः, आत्मनि, च ।

पदार्थोक्ति—तदभावः—तस्य प्रकृतस्य स्वप्नदर्शनस्य अभावः अर्थात् सुषुप्तम्, नाडीषु—सिरासु, आत्मनि—प्राज्ञे च [भवति अत्र नाडीष्वात्मनि चेति समुच्चयेन विकल्पो निरस्तः, स च समुच्चयः परमात्मनः प्राधान्येन इतरयोश्च नाडीपुरीततोर्गुणभूततया ज्ञेयः, कुतः ?] तच्छ्रुतेः—तेषां नाड्यादीनां सर्वेषां समुच्चयतः एव तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वस्य श्रवणात् [विकल्पे तु तेषां पक्षे बाधः स्यादिति भावः] ।

भाषार्थ—नाडी और आत्मामें सुषुप्ति होती है अर्थात् नाडी आदि सभी समुच्चयरूपसे सुषुप्तिके स्थान हैं, विकल्परूपसे नहीं, और वह समुच्चय परमात्मामें प्रधानतया है और इतर—नाडी और पुरीतत्में गौण है। क्योंकि तत्र तत्र श्रुतियोंमें नाडी आदि सब समुच्चयसे ही सुषुप्ति स्थान कहे गये हैं ?

भाष्य

स्वप्नावस्था परीक्षिता, सुषुप्तावस्थेदानीं परीक्ष्यते । तत्रैताः सुषुप्तिविषयाः श्रुतयो भवन्ति । क्वचिच्छ्रूयते—'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः

भाष्यका अनुवाद

स्वप्नावस्थाकी परीक्षा हो चुकी, अब सुषुप्ति-अवस्था की परीक्षा की जाती है, वहाँ सुषुप्तिविषयक ये श्रुतियां हैं—'तद्यत्रैतत्सुप्तः०' (जिस कालमें सम्पूर्ण करणवृत्तिका

रत्नप्रभा

एवं बाह्यकरणोपरमे सति मनोवासनोद्दीपिताविद्याविलासात्मकं स्वप्नमात्मनः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार बाह्य करणों—इन्द्रियोंके उपरम होनेपर मनकी वासनासे उद्दीप्त हुई अविद्याका

उपक्षेणीय है। वे आठ दोष इस प्रकारसे होंगे—जीव जब नाडीमें सोवेगा तब पुरीतत् और ब्रह्म-वाक्यमें प्राप्त प्रामाण्यका परित्याग करना होगा और अप्राप्त अप्रामाण्य मानना पड़ेगा और जब पुरीतत् और ब्रह्ममें शयन करेगा तब पुरीतत् और ब्रह्मवाक्यमें पूर्वमें त्यक्त प्रामाण्यका स्वीकार करना होगा तथा पूर्वमें स्वीकृत अप्रामाण्य परित्यक्त होगा, इस प्रकार प्राप्तका परित्याग, अप्राप्तका स्वीकार, त्यक्तका स्वीकार और स्वीकृतका परित्याग—ये चार दोष पुरीतत् और ब्रह्मवाक्यकी कोटिमें होंगे। इसी प्रकार नाडीवाक्यकी कोटिमें भी चार दोषोंकी योजना करनेपर आठ दोष प्रसक्त होते हैं। इससे समुच्चय ही ग्राह्य है, विकल्प ग्राह्य नहीं है।

भाष्य

स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इति। अन्यत्र तु नाडीरेवानुक्रम्य श्रूयते—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति। तथान्यत्र नाडीरेवानुक्रम्य 'तासु तदा भवति

भाष्यका अनुवाद

उपसंहारकर जीव सोता है, उस कालमें [बाह्यविषयसम्पर्कजनित कालुष्यके न रहनेसे] सम्प्रसन्न होता हुआ स्वप्नको नहीं जानता है, क्योंकि उस अवस्थामें यह नाडियोंमें प्रविष्ट होता है) अन्यत्र तो नाडीका ही अनुक्रमण करके सुना जाता है 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (उन नाड़ियों द्वारा पुरीततमें जाकर हृदयके अन्दर ब्रह्ममें सोता है) उसी प्रकार अन्यत्र नाडीका ही अनुक्रमण करके 'तासु तदा भवति०' (उन नाडियोंमें तब होता है जब कि कुछ स्वप्न नहीं देखता, पीछे

रत्नप्रभा

साक्षिणः स्वयञ्ज्योतिष्ट्वार्थं विचार्य प्रतियोग्यनुयोगिभावसङ्गत्या स्वप्नावस्थमनोलयात्मिकां सुषुप्तिं विचारयति—**तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च**। तदेतत् स्वपनं यथा स्यात् तथा यत्र काले सुप्तः—सुषुप्तः समस्तः—निरस्तबाह्यकरणो मनोलयात् सम्यक् प्रसन्न इत्यर्थः। स्वापे नाडीस्थानमुक्त्वा नाडीपुरीततोः नाडीपरमात्मनोः च समुच्चयश्रुती आह—**अन्यत्रेति**। परमात्ममात्रश्रुतीराह—**तथान्यत्रेत्यादिना**। नाडीपुरीतद्ब्रह्मसु सप्तमीश्रुतेः समुच्चयश्रुतेश्च संशयमाह—**तत्रेति**। पूर्वपक्षे स्थानविकल्पात् जीवस्य ब्रह्मैक्यानिर्णयः, सिद्धान्ते नाडीभिः पुरीततं गत्वा अन्तर्हृदि ब्रह्मणि एव शेते इति समुच्चयात् तन्निर्णय इति विवेकः। एकपुरोडा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विलास स्वप्न है, उस स्वप्नके साक्षीभूत आत्माके स्वयंप्रकाशके लिए विचारकर प्रतियोग्यनुयोगिभाव सङ्गतिसे स्वप्नावस्थामें जब मनका लय होता है, तब सुषुप्ति होती है, उस सुषुप्तिका विचार करते हैं—"तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च"। जिस कालमें सुप्त—सुषुप्त पुरुष समस्त—बाह्य इन्द्रियोंके व्यापारसे शून्य होता है, तब वह अन्तःकरणके लयसे सम्यक् प्रसन्न होता है, ऐसा अर्थ है। सुषुप्तिमें जीवका स्थान नाडी है, ऐसा कहकर नाडी और पुरीतत् एवं नाडी और परमात्माकी समुच्चयश्रुति कहते हैं—"अन्यत्र" इत्यादिसे। केवल परमात्मामें लागू होनेवाली श्रुतियां कहते हैं—"तथाऽन्यत्र" इत्यादिसे। नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म इन तीनों शब्दोंमें सप्तमीश्रुति और समुच्चयश्रुतिसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें जीवके सुषुप्तिस्थानका विकल्प होनेसे ब्रह्मैक्यका अनिर्णय फल है। सिद्धान्तमें नाडी द्वारा पुरीततमें जाकर हृदयके भीतर ब्रह्ममें ही शयन करता है, इस प्रकारके स्थानसमुच्चयसे

भाष्य

यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४।१९) इति। तथान्यत्र 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते' इति। तथान्यत्र 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति। तथा 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इति च। तत्र संशयः—किमेतानि नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षतया भिन्नानि सुषुप्तिस्थानान्याहोस्वित् परस्परापेक्षतयैकं सुषुप्तिस्थानमिति।

किं तावत् प्राप्तम् ? भिन्नानीति। कुतः ? एकार्थत्वात्। नह्येकार्थानां क्वचित् परस्परापेक्षत्वं दृश्यते व्रीहियवादीनाम्। नाड्यादीनां चैकार्थता सुषुप्तौ दृश्यते—'नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) 'पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति च तत्र तत्र सप्तमीनिर्देशस्य तुल्य-

भाष्यका अनुवाद

इस प्राणमें ही वह एक होता है) इस प्रकार कहा गया है। उसी प्रकार अन्य जगहमें सुना जाता है 'य एषोन्तर्हृदय०' (जो यह हृदयमें आकाश है उसमें सोता है) इस प्रकार अन्यत्र भी श्रुति है 'सता सोम्य ! तदा' (हे सोम्य ! उस कालमें सत्के साथ एकीभूत होता है, स्वमें—सद्रूपमें प्रलीन होता है)। और 'प्राज्ञेनात्मना०' (प्राज्ञ आत्माके साथ एकीभूत हुआ कुछ बाह्य या अन्तर नहीं जानता। उसमें संशय होता है—क्या ये नाडी आदि परस्पर निरपेक्ष होकर सुषुप्तिमें भिन्न भिन्नस्थान हैं अथवा परस्पर अपेक्षासे एक स्थान हैं ?

पूर्वपक्षी—यह प्राप्त हुआ कि भिन्नस्थान हैं। किससे ? इससे कि एकार्थत्व है, एकार्थक व्रीहि, यव आदिका परस्पर सापेक्षत्व नहीं देखा जाता है। नाडी आदिकी एकार्थता तो सुषुप्तिमें देखी जाती है—'नाडीषु सृप्तो भवति०' 'पुरी-

रत्नप्रभा

शार्थत्वं व्रीहियवयोः दृष्टं नाड्यादीनामेकस्मिन् स्वापरूपार्थे निरपेक्षस्थानवत्त्वं तु कुतः ? इत्यत आह—**नाड्यादीनां चेति**। सति—ब्रह्मणि, तृतीयाश्रुतेः न सप्तमीति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मैक्यका निर्णय फल है, ऐसा विवेक है। जैसे व्रीहि और यवका एक पुरोडाश प्रयोजन है, वैसे एक स्वापरूप प्रयोजनमें नाडियोंका निरपेक्षस्थानत्व किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—"नाड्यादीनां च" इत्यादिसे। 'सति—ब्रह्मणि' यहांपर तृतीयाका श्रवण होनेसे सप्तमी नहीं है, ऐसा शंकाका अभिप्राय है। वाक्यशेषमें आयतनशब्द होनेसे आधारत्व समझा जाता है, ऐसा

भाष्य

त्वात्। ननु नैवं सति सप्तमीनिर्देशो दृश्यते—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।१।८।१) इति। नैष दोषः, तत्रापि सप्तम्यर्थस्य गम्यमानत्वात्। वाक्यशेषो हि 'तत्रायतनैषी जीवः सदुपसर्पति'इत्याह। अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते' (छा० ६।८।२) इति प्राणशब्देन तत्र प्रकृतस्य सत उपादानात्। आयतनं च सप्तम्यर्थः। सप्तमीनिर्देशोऽपि तत्र वाक्यशेषे दृश्यते—'सति संपद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे' (छा० ६।९।२) इति। सर्वत्र च विशेषविज्ञानोपरमलक्षणं सुषुप्तं न विशिष्यते। तस्मादेकार्थत्वान्नाड्यादीनां विकल्पेन कदाचित् किंचित् स्थानं स्वापायोपसर्पतीति।

भाष्यका अनुवाद

तति शेते' इत्यादि स्थलोंमें सप्तमीका निर्देश तुल्य है। परन्तु 'सता सोम्य तदा०' इत्यादिमें सत्में सप्तमीका निर्देश नहीं देखा जाता है। यह दोष नहीं है, क्योंकि वहाँपर भी सप्तम्यर्थ गम्यमान है। क्योंकि उसमें वाक्यशेष ऐसा कहता है कि आयतनाभिलाषी जीव सत्में उपसर्पण करता है, 'अन्यत्रायतनमलब्ध्वा०' (अन्यत्र स्थान न पाकर प्राणमें ही आश्रय लेता है) इस प्रकार प्राण शब्दसे उसमें प्रकृतसत्का ग्रहण होनेसे। और सप्तमीका अर्थ आयतन है, इसी प्रकार सप्तमीका निर्देश भी उसी वाक्यशेषमें देखा जाता है—'सति सम्पद्य० (सत्में एकीभूत होकर वे नहीं जानते की हम सत्में एकीभूत हुए हैं)। विशेष विज्ञानका उपरमरूप जो सुषुप्त है, वह सर्वत्र समान है, इसलिए नाडी आदि एकार्थ होनेसे जीव विकल्पसे कभी किसी स्थानमें सोनेके लिए जाता है,

---

रत्नप्रभा

शङ्कार्थः। आयतनशब्दात् सप्तम्यर्थः आधारत्वं गम्यते इत्याह—**नैष दोष इति**। अन्यत्र अवस्थाद्वये श्रान्तो जीवो विश्रान्तिस्थानं प्राणाख्यं सद् ब्रह्म उपसर्पति सुषुप्तौ इत्यर्थः। सप्तमीश्रुत्या निरपेक्षाधारत्वभानाद् विकल्प आस्थेयः। कदाचित् समुच्चित्याऽपि नाड्यादीनां स्थानत्वम् इति न समुच्चयश्रुतिविरोध इति पूर्वपक्षार्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। अन्यत्र—दूसरी स्वप्न और जाग्रत् दो अवस्थाओंमें श्रान्त जीव सुषुप्तिमें विश्रान्तिस्थान प्राणाख्य सत् ब्रह्ममें जाता है, ऐसा अर्थ है। सप्तमीश्रुतिसे निरपेक्ष आधारका भान होनेसे विकल्प स्वीकार्य है, किसी समय समुच्चयसे नाडियाँ सुषुप्तिस्थान हैं, अतः समुच्चयश्रुतिसे विरोध नहीं है, इस प्रकार पूर्वपक्षका अर्थ है।

भाष्य

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—तदभावो नाडीष्वात्मनि चेति। तदभाव इति तस्य प्रकृतस्य स्वप्नदर्शनस्याभावः सुषुप्तमित्यर्थः। नाडीष्वात्मनि चेति समुच्चयेनैतानि नाड्यादीनि स्वापायोपसर्पति न विकल्पेनेत्यर्थः। कुतः ? तच्छ्रुतेः। तथाहि—सर्वेषामेव नाड्यादीनां तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वं श्रूयते। तच्च समुच्चये संगृहीतं भवति, विकल्पे ह्येषां पक्षे बाधः स्यात्। नन्वेकार्थत्वाद् विकल्पो नाड्यादीनां व्रीहियवादिवदित्युक्तम्। नेत्युच्यते—नह्येक-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—उनका अभाव नाड़ियोंमें और आत्मामें होता है। उनका अभाव—उस प्रकृत स्वप्नदर्शनका अभाव, अर्थात् सुषुप्ति। नाड़ियोंमें और आत्मामें अर्थात् इन नाड़ी आदिमें जीव सुषुप्तिके लिए समुच्चयसे जाता है विकल्पसे नहीं, ऐसा अर्थ है। किससे ? उसकी श्रुति होनेसे। क्योंकि श्रुतिमें सब नाड़ी आदिका उस उस स्थलपर सुषुप्तिस्थानत्व कहा है और समुच्चय होनेपर वह संगृहीत होता है और विकल्प होनेपर पक्षमें बाध होगा। परन्तु एकार्थक होनेसे व्रीहि, यव आदिके समान उनका विकल्प है,

रत्नप्रभा

सिद्धान्तयति—**एवं प्राप्त इति**। सूत्रे चकारः पुरीतत्समुच्चयार्थः। यदा नाड्यः सुषुप्तिस्थानम्, तदा पुरीतत्स्थानं न भवतीति श्रुतस्थानत्वस्य पक्षे बाधः स्यात्, स न युक्त इत्याह—**विकल्पे ह्येषामिति**। व्रीहियवयोस्त्वगत्या विकल्प इति भावः। यत्तु सप्तमीश्रुत्या नाड्यादीनाम् एकफलकत्वम् इति, तन्नेत्याह—**नह्येकेति**। प्रासादस्य पर्यङ्कधारणमर्थः, पर्यङ्कस्य तु शयनमिति फलभेदेऽप्येकविभक्तिः दृश्यते, व्यवधानाव्यवधानाभ्यां शयनसाधनत्वात् समुच्चयश्च, तथा इहापि नाडीपुरीततोर्जीवस्य सञ्चारद्वारा ब्रह्मणि एव सुप्तिः इति समुच्चय इत्यर्थः। नाडीनां

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। सूत्रमें चकार पुरीतत्‌के समुच्चयके लिए है, जिस समय सुषुप्तिस्थान नाडियाँ होंगी, तब सुषुप्तिस्थान परीतत् नहीं होगा, इसलिए श्रुतस्थानत्वका पक्षमें बाध होगा, वह योग्य नहीं है इसपर कहते हैं—"विकल्पे ह्येषाम्" इत्यादिसे। व्रीहि और यवका तो अगत्या विकल्प होता है, यह भाव है। सप्तमीश्रुतिसे नाडियोंमें एक फलकत्व जो कहा गया है, वह नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"नह्येक" इत्यादिसे। पलङ्गका धारण ही प्रासादका अर्थ है और पलङ्गका तो प्रयोजन शयन है, अतः फलके भेद होनेपर भी एक विभक्ति देखी जाती है और साक्षात्परम्परया शयनके साधन होनेसे समुच्चय भी है,

भाष्य

विभक्तिनिर्देशमात्रेणैकार्थत्वं विकल्पश्चापतति। नानार्थत्वसमुच्चययोरप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात् प्रासादे शेते पर्यङ्के शेते इत्येवमादिषु, तथेहापि नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च स्वपितीत्येतदुपपद्यते समुच्चयः। तथा च श्रुतिः—'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४।१९) इति समुच्चयं नाडीनां प्राणस्य च सुषुप्तौ श्रावयति, एकवाक्योपादानात्। प्राणस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र०सू० १।१।२८) इत्यत्र। यत्रापि निरपेक्षा इव नाडीः सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति—'आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा०८।६।३) इति, तत्रापि प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्य ब्रह्मणोऽप्रतिषेधान्नाडीद्वारेण ब्रह्मण्येवावतिष्ठत इति प्रतीयते। न चैवमपि नाडीषु सप्तमी विरुध्यते, नाडीभिरपि

भाष्यका अनुवाद

यह कहा है, नहीं ऐसा कहते हैं, क्योंकि एक विभक्तिके निर्देशमात्रसे एकार्थत्व और विकल्प नहीं होते हैं, कारण कि जिनमें प्रयोजन भिन्न है उनमें और समुच्चयमें भी एक विभक्तिका निर्देश देखनेमें आता है—प्रासादे शेते, पर्यङ्के शेते, (महलमें शयन करता है, पलङ्गपर सोता है) इत्यादिमें। वैसे यहां भी नाडियोंमें, पुरीतत्में और ब्रह्ममें सोता है, ऐसा समुच्चय उपपन्न होता है, क्योंकि 'तासु तदा भवति यदा०' (उन नाडियोंमें जीव उस दशामें रहता है, जब सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है, पीछे उस प्राणमें ही एकधा होता है) यह श्रुति सुषुप्तिमें नाडी और प्राणके समुच्चयका श्रवण कराती है, क्योंकि एक वाक्यसे उपादान है और 'प्राणस्तथानुगमात्' इत्यादि स्थलमें प्राण ब्रह्म है, ऐसा समधिगत है। 'आसु तदा नाडीषु' (तब यह नाडियोंमें प्रविष्ट होता है) ऐसी श्रुति जहां निरपेक्षसी नाडियोंका श्रवण कराती है, वहां भी अन्य प्रदेशमें प्रसिद्ध ब्रह्मका प्रतिषेध न होनेसे नाडी द्वारा ही ब्रह्ममें जीव अवस्थित होता है, ऐसा प्रतीत होता

रत्नप्रभा

प्राणस्य च—एकेन वाक्येन उपादानात् मिथः समुच्चय इत्याह—**एकवाक्येति**। आधारत्वमात्रं सप्तम्यर्थः, न निरपेक्षत्वम् अतो न समुच्चयस्य सप्तम्या बाधः

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैसे यहाँ भी नाडी और पुरीतत्में जीवके संचार द्वारा ब्रह्म ही में सुप्ति है, इसलिए समुच्चय है, ऐसा अर्थ है। प्राण और नाडियोंका एक वाक्यसे कथन है, अतः परस्पर समुच्चय है, ऐसा कहते हैं—"एकवाक्य" इत्यादिसे। सप्तमीका अर्थ आधारत्व ही है, निरपेक्षत्व नहीं, इससे

भाष्य

ब्रह्मोपसर्पन् सृप्त एव नाडीषु भवति। यो हि गङ्गया सागरं गच्छति गत एव स गङ्गायां भवति। भवति चात्र रश्मिनाडीद्वारात्मकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्य विवक्षितत्वान्नाडीस्तुत्यर्थं सृप्तिसंकीर्तनम्। 'नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इत्युक्त्वा 'तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति' (छा० ८।६।३) इति ब्रुवन्नाडीः प्रशंसति। ब्रवीति च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुम्—'तेजसा हि तदा संपन्नो भवति' (छा० ८।६।३) इति। तेजसा नाडीगतेन पित्ताख्येनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान् विषयानीक्षत इत्यर्थः। अथवा तेजसेति ब्रह्मण एवायं निर्देशः श्रुत्यन्तरे—ब्रह्मैव तेज एव' (बृ० ४।४।७) इति तेजःशब्दस्य

भाष्यका अनुवाद

है। और ऐसे भी नाडीषु' (नाडियोंमें) यह सप्तमी विरुद्ध नहीं होती, क्योंकि नाडी द्वारा भी ब्रह्ममें जाता हुआ जीव नाडीमें ही प्रविष्ट होता है। क्योंकि जो गङ्गा द्वारा सागरमें जाता है, वह गङ्गामें गया हुआ होता ही है। इसी प्रकार यहाँ रश्मि—नाडी द्वारात्मक ब्रह्मलोक मार्ग विवक्षित होनेसे नाडीकी स्तुतिके लिए प्रवेश कहा है—'नाडीषु सृप्तो भवति' (नाडियोंमें प्रविष्ट होता है) ऐसा कहकर ' न कश्चन पाप्मा स्पृशति' (उसको कोई पाप स्पर्श नहीं करता) इस प्रकार कहता हुआ वेद नाडीकी प्रशंसा करता है। और पाप स्पर्शके अभावमें 'तेजसा हि तदा' (क्योंकि तब तेजके साथ एकीभूत होता है) ऐसा हेतु कहता है। तेज अर्थात् नाडीगत पित्तसंज्ञक तेज द्वारा उसकी इन्द्रियाँ अभिव्याप्त होनेसे बाह्य विषयोंको वह नहीं देखता, ऐसा अर्थ है। अथवा 'तेजसा' (तेज द्वारा) यह ब्रह्मका ही निर्देश है, क्योंकि अन्य श्रुतिमें 'ब्रह्मैव तेज एव' (ब्रह्म ही है तेज ही है) इस प्रकार तेजशब्द ब्रह्मके लिए प्रयुक्त है,

रत्नप्रभा

इत्याह—**न चैवमपीति**। समुच्चयेऽपीत्यर्थः। अत्र नाडीश्रुतौ नाडीषु भोक्तुः सुप्तिः न विवक्षिता, रश्मिसम्बन्धनाडीरूपमार्गस्तुत्यर्थत्वात् इत्याह—**अपि चेति**। पित्तेन विषयेक्षणाभावे सुखदुःखयोः अभावात् तद्धेतुधर्माधर्मात्मकपाप्मास्पर्शः

रत्नप्रभाका अनुवाद

समुच्चयका सप्तमीश्रुतिसे बाध नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चैवमपि" इत्यादिसे। समुच्चय होनेपर भी ऐसा अर्थ है। यहाँ नाडीश्रुतिमें भोक्ताकी नाडियोंमें सुषुप्ति विवक्षित नहीं है, क्योंकि रश्मिसम्बन्धनाडीरूपमार्गकी स्तुति विवक्षित है। ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। पित्तसे विषयोंका ईक्षण न होनेपर सुखदुःखके अभावसे उसके हेतु धर्म या

भाष्य

ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात् । ब्रह्मणा हि तदा संपन्नो भवति नाडीद्वारेणातस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशतीत्यर्थः । ब्रह्मसंपत्तिश्च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुः समधिगतः, 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः' (छा०८।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवञ्च सति प्रदेशान्तरप्रसिद्धेन ब्रह्मणा सुषुप्तिस्थानेनाऽनुगतो नाडीनां समुच्चयः समधिगतो भवति । तथा पुरीततोऽपि ब्रह्मप्रक्रियायां संकीर्तनात्तदनुगुणमेव सुषुप्तिस्थानत्वं ज्ञायते—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २।१।१७) इति हृदयाकाशे सुषुप्तिस्थाने प्रकृते

भाष्यका अनुवाद

नाडी द्वारा जीव ब्रह्मके साथ एकीभूत होता है, अतः कोई भी पाप उसको स्पर्श नहीं करता, ऐसा अर्थ है । और 'सर्वे पाप्मानो०' (सब पाप इससे निवृत्त होते हैं, क्योंकि जिसमें पापका नाश हुआ है, ऐसा यह ब्रह्मलोक है) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मके साथ एकत्व पापके स्पर्शके अभावमें हेतु समझा जाता है । ऐसा होनेसे अन्य प्रदेशमें सुषुप्तिस्थानरूपसे प्रसिद्ध ब्रह्मके साथ अनुगत नाडियोंका समुच्चय अधिगत होता है । इसी प्रकार पुरीतत्का भी ब्रह्मके प्रकरणमें संकीर्तन होनेसे वह भी ब्रह्मके अनुगुण ही सुप्तिस्थानरूपसे ज्ञात होता है—'एषो ऽन्तर्हृदय०' (जो यह हृदयके भीतर आकाश है उसमें सोता है) इस प्रकार

रत्नप्रभा

इत्यर्थः, अपहतपाप्मब्रह्मसम्पत्त्या वा पाप्मास्पर्शः इत्याह—अथवेति । अस्मिन् व्याख्याने लाभम् आह—एवञ्च सतीति । 'तासु तदा भवत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इति श्रुतेः समुच्चय आश्रितो भवतीत्यर्थः । नाडीब्रह्मणोः गुणप्रधानभावेन सुप्तौ समुच्चयवत् पुरीतद्ब्रह्मणोः अपि इत्याह—तथेत्यादिना । 'आकाशे ब्रह्मणि शेते' इति उपक्रम्य 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' इत्युक्तम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

अधर्मरूप पापका स्पर्श नहीं होता, ऐसा अर्थ है । अथवा जिसके पापका नाश हो गया है ऐसे ब्रह्मकी सम्पत्तिसे पापका स्पर्श नहीं होता, ऐसा कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे । इस व्याख्यानमें लाभ कहते हैं—"एवं च सति" इत्यादिसे । 'तासु तदा०' (तब उन नाडियोंमें होता है, बादमें इस प्राणके साथ एकीभूत होता है) इस श्रुतिसे प्रतिपादित समुच्चय आश्रित होता है, ऐसा अर्थ है । जैसे नाडी और ब्रह्मका सुप्तिमें गुणप्रधानभावसे समुच्चय होता है, वैसे पुरीतत् और ब्रह्मका भी होता है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । आकाशमें अर्थात् ब्रह्ममें शयन करता है, ऐसा उपक्रम करके 'ताभिः प्रत्यवसृप्य०' (नाडी द्वारा गमन करके

भाष्य

इदमुच्यते—'पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति। पुरीतदिति हृदयपरिवेष्टनमुच्यते। तदन्तर्वर्तिन्यपि हृदयाकाशे शयानः शक्यते पुरीतति शेत इति वक्तुम्। प्राकारपरिक्षिप्तेऽपि हि पुरे वर्तमानः प्राकारे वर्तते इत्युच्यते। हृदयाकाशस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्, 'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र०सू०१।३।१४) इत्यत्र। तथा नाडीपुरीतत्समुच्चयोऽपि 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इत्येकवाक्योपादानादवगम्यते। सत्प्राज्ञयोश्च प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वम्। एवम् एतासु श्रुतिषु त्रीण्येव सुषुप्तिस्थानानि संकीर्तितानि—नाड्यः, पुरीतद्, ब्रह्म चेति। तत्रापि च द्वारमात्रं नाड्यः पुरीतच्च, ब्रह्मैव त्वेकम् अनपायि सुषुप्तिस्थानम्। अपि च नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति—

भाष्यका अनुवाद

हृदयाकाशका सुषुप्तिस्थानरूपसे उपक्रम करके 'पुरीतति शेते' (पुरीततमें शयन करता है) ऐसा कहा है। हृदयके परिवेष्टनको 'पुरीतत्' कहते हैं। उसके भीतर स्थित भी हृदयाकाशमें शयन करता हुआ जीव पुरीततमें शयन करता है, ऐसा कहा जा सकता है। कोटसे घिरे हुए शहरमें रहनेवालेको कोटमें रहता है, ऐसा कहा जाता है, हृदयाकाश ब्रह्म है, यह 'दहर उत्तरेभ्यः' इस सूत्रमें समझाया गया है। उसी प्रकार नाडी और पुरीततका समुच्चय भी 'ताभिः प्रत्यवसृप्य' (नाडियों द्वारा गमन करके पुरीततमें शयन करता है) इस प्रकार एक वाक्यके उपादानसे समझा जाता है। सत् और प्राज्ञ ब्रह्म हैं, यह प्रसिद्ध है। इस प्रकार इन श्रुतियोंमें तीनोंको ही सुषुप्तिस्थान कहा है—नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म। उसमें भी नाडी और पुरीतत् द्वारमात्र हैं, ब्रह्म ही अकेला सुषुप्तिस्थान है। और नाडियाँ या पुरीतत् जीवकी उपाधिका आधार

रत्नप्रभा

तथा च नाडीद्वारा पुरीततं गत्वा ब्रह्मणि शेते इति समुच्चयः सिद्ध इत्याह—**तथा नाडीति**। सता सम्पन्नो भवति, प्राज्ञेन सम्परिष्वक्तः, इति सत्प्राज्ञयोः श्रुतेः पञ्च सुषुप्तिस्थानानि इत्यत आह—**सत्प्राज्ञयोरिति**। किञ्च, प्रकृतदर्शादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरीततमें शयन करता है) ऐसा कहा गया है, इसलिए नाडी द्वारा पुरीततमें जाकर ब्रह्ममें शयन करता है, इस प्रकार समुच्चय सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"तथा नाडी" इत्यादिसे। परन्तु 'सता सम्पन्नो०' (जीव सत्के साथ एकीभूत होता है), 'प्राज्ञेन सम्परिष्वक्तः' (प्राज्ञसे जुटा हुआ) इस प्रकार श्रुतिमें सत् और प्राज्ञ कहा गया है, इससे जीवके सुषुप्तिस्थान पांच

भाष्य

तत्राऽस्य करणानि वर्तन्त इति। नह्युपाधिसम्बन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्याऽऽधारः कश्चित् सम्भवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वात्। ब्रह्माधारत्वमप्यस्य सुषुप्ते नैवाधाराधेयभेदाभिप्रायेणोच्यते, कथं तर्हि? तादात्म्याभिप्रायेण। यत आह—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति। स्वशब्देनात्माभिलप्यते, स्वरूपमापन्नः सुषुप्तो भवतीत्यर्थः। अपि च न कदाचित् जीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिर्नास्ति, स्वरूपस्याऽनपायित्वात्।

भाष्यका अनुवाद

ही होता है, क्योंकि उनमें इसकी इन्द्रियाँ रहती हैं। और उपाधि-संबन्धके बिना जीवका स्वतः कोई आधार ही नहीं हो सकता, क्योंकि जीव ब्रह्मसे अभिन्न होता हुआ अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है। अतः सुषुप्तिमें जीवका आधार ब्रह्म हैं, यह भी आधार और आधेयके भेदके अभिप्रायसे नहीं कहा गया है, किन्तु तादात्म्यके अभिप्रायसे कहा गया है, क्योंकि श्रुति कहती है कि 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति०' (हे सोम्य तब सत्‌के साथ जीव एकीभूत होता है, अपनेमें प्रलीन होता है) स्वशब्दसे आत्मा कहा जाता है। सोया हुआ अपने स्वरूपको प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ है। और ब्रह्मके साथ कदाचित् भी जीवकी सम्पत्ति न हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि उसका स्वरूप विनाशशील नहीं

रत्नप्रभा

साधनैकपुरोडाशनिष्पत्तौ मिथोऽनपेक्षतया समर्थत्वात् युक्तो व्रीहियवयोः विकल्पः, नाड्यादीनां तु ब्रह्मनिरपेक्षतया सुषुप्तजीवाधारत्वासामर्थ्यात् न विकल्प इत्याह—**अपि च नाड्य इति।** उपाधिलिङ्गाश्रयनाडीपुरीततोः उपहितजीवाश्रयत्वं परम्परया वाच्यम्, तदपि सुषुप्तौ न सम्भवति, उपाधिलयात् इत्यर्थः। ननु ब्रह्मापि जीवस्य न मुख्यं स्थानम्, अभेदात्, इत्यत आह—**ब्रह्माधारत्वमिति।**

रत्नप्रभाका अनुवाद

होते हैं, ऐसा कहते हैं—"सत्प्राज्ञयोः" इत्यादिसे। किंच, प्रकृत दर्श आदिका साधन जो एक पुरोडाश है, उसकी निष्पत्तिमें परस्पर अनपेक्ष होनेके कारण व्रीहि और यव इन दोनोंका विकल्प युक्त है; परन्तु ब्रह्मसे निरपेक्ष नाडी आदिका तो सुषुप्त जीवके आधारत्वमें असामर्थ्य है, इससे उनका विकल्प युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च नाड्य" इत्यादिसे। उपाधिलिंगके आश्रय जो नाड़ी और पुरीतत् हैं, वे उपाधिवाले जीवके परम्परासे आश्रय होते हैं, ऐसा कहना चाहिए। परन्तु परम्परासे भी नाडी और पुरीतत् सुषुप्तिमें जीवके

भाष्य

स्वप्नजागरितयोस्तूपाधिसंपर्कवशात् पररूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात् सुषुप्ते स्वरूपापत्तिर्विवक्ष्यते—स्वमपीतो भवति इति। अतश्च सुषुप्तावस्थायां कदाचित् सता संपद्यते कदाचिन्न सम्पद्यत इत्ययुक्तम्। अपि च स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणं तावत् सुषुप्तं न क्वचिद्विशिष्यते, तत्र सति सम्पन्न-स्तावत्तदेकत्वान्न विजानातीति युक्तम् । 'तत् केन कं विजानीयात्'

भाष्यका अनुवाद

है। स्वप्न और जागरितमें तो उपाधिके सम्पर्कसे [जागरितमें स्थूल और सूक्ष्म शरीर और स्वप्नमें सूक्ष्म शरीररूप उपाधिके सम्पर्कसे] भिन्नरूपकी प्राप्ति-सी होती है और उसकी अपेक्षासे सुषुप्तिमें उपाधिके शान्त होनेसे स्वरूपकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहा जायगा–स्वमपीतो भवति इत्यादि। इससे सुषुप्ति अवस्थामें कभी स्वरूपापत्ति होती है और कभी नहीं होती है, यह कथन अयुक्त है। यदि स्थानका विकल्प किया जाय तो भी विशेष विज्ञानका अभावलक्षण जो सुषुप्त है उसका भेद कहीं नहीं होता है, उसमें सत्के साथ स्वरूपापन्नके एक होनेसे नहीं जानता है, यह युक्त है, क्योंकि 'तत्केन कं विजानीयात्' (किस करणसे

रत्नप्रभा

जीवस्य ब्रह्मणि अभेदेन अवस्थानम्, नाडीपुरीततोः तु लीनोपाधेः जीवस्य स्थितिः एव न सम्भवति इति एकार्थसामर्थ्याभावात् न विकल्पः इत्यर्थः। सुषुप्तौ जीवस्य भेद-कोपाधिलयात् च औत्सर्गिकब्रह्माभेदस्य विकल्पो न युक्त इत्याह—अपि चेति। किञ्च, नाड्यादीनामन्यतमस्थाने क्वचित् सुप्तित्वादिनापि सुषुप्तं न विशिष्यत इति वक्तव्यम्, तच्च वक्तुं न शक्यत इत्याह—अपि च स्थानेति। भेदाभावो हि भेदज्ञानाभावे हेतुः, नाडीपुरीतद्गतस्य तु जीवस्य भेदस्थवत्त्वात् भेदाविज्ञाने

रत्नप्रभाका अनुवाद

आश्रय नहीं हो सकते, क्योंकि सुषुप्तिमें उपाधिका लय होता है, ऐसा अर्थ है। इसी प्रकार ब्रह्म भी जीवका मुख्य स्थान नहीं है, क्योंकि जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, इसपर कहते हैं—"ब्रह्माधारत्वम्" इत्यादिसे। जीवकी ब्रह्ममें अभेदसे अवस्थिति है, नाडी और पुरीतत्में तो लीन उपाधिवाले जीवकी स्थिति ही नहीं हो सकती, इसलिए एकार्थमें सामर्थ्य न होनेसे विकल्प नहीं है, ऐसा अर्थ है। सुषुप्तिमें जीवकी भेदक उपाधिका लय होनेसे औत्सर्गिक ब्रह्माभिन्न जीवका विकल्प युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। किंच, नाडी आदिके किसी एक स्थानमें सुषुप्ति कहनेवालेको भी सुषुप्ति भिन्नरूप नहीं है ऐसा कहना होगा, परन्तु वह कह नहीं सकते, ऐसा कहते हैं—"अपि च स्थान" इत्यादिसे। भेदका अभाव

भाष्य

(बृ० २।४।१४) इति श्रुतेः। नाडीषु पुरीतति च शयानस्य न किंचिद्-विज्ञाने कारणं शक्यं विज्ञातुम्, भेदविषयत्वात्, 'यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रा-न्योऽन्यत् पश्येत्' (बृ० ४।३।३१) इति श्रुतेः। ननु भेदविषयस्याप्यति-दूरादिकारणमविज्ञाने स्यात्। बाढम् एवं स्यात्, यदि जीवः स्वतः परि-च्छिन्नोऽभ्युपगम्येत, यथा विष्णुमित्रः प्रवासी स्वगृहं न पश्यतीति, न तु जीवस्योपाधिव्यतिरेकेण परिच्छेदो विद्यते। उपाधिगतमेवातिदूरादि कारणमविज्ञाने इति यद्युच्येत, तथाप्युपाधेरुपशान्तत्वात् सत्येव सम्पन्नो न

भाष्यका अनुवाद

किसको जाने) ऐसी श्रुति है। नाडी और पुरीततमें सोनेवाले जीवके अज्ञानमें किसी कारणको नहीं जान सकते हैं, क्योंकि 'यत्र वाऽन्यदिव०' (जहाँ अन्यसा होता है वहीं अन्य अन्यको देखता है) इस श्रुतिसे भेद उसका विषय है। परन्तु भेदविषयके भी अज्ञानमें अतिदूरादि कारण होंगे ? सत्य है, यदि जीव स्वतः परिच्छिन्न माना जाय, जैसे प्रवासी विष्णुमित्र अपने घरको नहीं देखता, परन्तु जीवका तो उपाधिसे भिन्न परिच्छेद नहीं है। उपाधिगत अतिदूरादि अज्ञानमें कारण हैं, ऐसा यदि कहो, तो भी उपाधिका उपशम होनेसे सत्के साथ ही

रत्नप्रभा

कारणं नास्तीत्यर्थः। द्वैतावस्थस्यापि द्वैताज्ञाने हेतुं शङ्कते—**ननु भेदेति**। द्रष्टुः दृश्याद् दूरस्थत्वं स्वाभाविकम् औपाधिकं वा ? तत्र आद्यं सदृष्टान्तम् अनूद्य प्रत्याह—**बाढमित्यादिना**। द्वितीयम् अनूद्य दूषयति—**उपाधिगतमेवेति**। उपाधिसंभिन्नस्यैव नाड्यादौ स्वापे कतिपयसन्निकृष्टार्थज्ञानप्रसङ्गात् सुषुप्तिव्याघातः स्यात्। उपाधिलये तु अन्यत्र जीवस्य स्थित्ययोगात् ब्रह्मणि एव स्वापः

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही भेदज्ञानके अभावमें हेतु है, परन्तु नाडी और पुरीततमें गये हुए जीवकी तो भेदावस्था है, अतः भेदके अविज्ञानमें कोई कारण नहीं है, ऐसा अर्थ है। यदि द्वैतावस्थामें जीव हो, तो भी द्वैतके अज्ञानमें हेतु है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु भेद" इत्यादिसे। यदि द्रष्टा दृश्य पदार्थसे दूर हो, तो वह दूरस्थिति स्वाभाविक है या औपाधिक ? उसमें प्रथम पक्षका दृष्टान्तपूर्वक अनुवाद करके निराकरण करते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षका अनुवाद करके उसका निराकरण करते हैं—"उपाधिगतमेव" इत्यादिसे। यदि उपाधिसे संभिन्न ही जीवका नाड़ी आदिमें स्वाप हो, तो कतिपय सन्निकृष्ट पदार्थोंके ज्ञानका प्रसंग आनेसे सुषुप्तिका व्याघात होगा। परन्तु उपाधिका लय होनेपर जीवकी अन्यत्र स्थिति अयुक्त है,

भाष्य

विजानातीति युक्तम् । न च वयमिह तुल्यवन्नाड्यादिसमुच्चयं प्रतिपादयामः । नहि नाड्यः सुप्तिस्थानं पुरीतच्चेत्यनेन विज्ञानेन किंचित् प्रयोजनमस्ति, नह्येतद्विज्ञानप्रतिबद्धं किंचित् फलं श्रूयते । नाप्येतद्विज्ञानं फलवतः कस्यचिदङ्गमुपदिश्यते । ब्रह्म त्वनपायि सुप्तिस्थानमित्येतत् प्रतिपादयामः । तेन तु विज्ञानेन प्रयोजनमस्ति जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावधारणं स्वप्नजागरितव्यवहारविमुक्तत्वावधारणं च । तस्मादात्मैव सुप्तिस्थानम् ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

एकीभूत होता हुआ नहीं जानता यह युक्त है । और हम यहाँ ब्रह्मके तुल्य नाडी आदिके समुच्चयका प्रतिपादन नहीं करते हैं । क्योंकि नाडियाँ और पुरीतत् सुप्तिस्थान हैं, इस विज्ञानका कोई प्रयोजन नहीं है, और इस विज्ञानसे कोई फल भी नहीं सुना जाता है । इसी प्रकार यह विज्ञान किसी फलवान्का अङ्ग भी उपदिष्ट नहीं है, ब्रह्म तो अनपायि सुप्तिका स्थान है, यह प्रतिपादन करते हैं । और इस विज्ञानका तो प्रयोजन—जीव ब्रह्म है, और वह जागरित और स्वप्नके व्यवहारसे मुक्त है, इस प्रकारका अवधारण है । इससे आत्मा ही सुषुप्तिका स्थान है ॥७॥

रत्नप्रभा

आस्थेय इत्यर्थः । एवं विकल्पं निरस्य नाडीपुरीततोः ब्रह्मणा सह तुल्यवत्समुच्चयम् अफलत्वेन दूषयन् गुणप्रधानत्वेन समुच्चयम् उपसंहरति—**न च वयमित्यादिना** ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अतः ब्रह्ममें ही जीवका स्वाप होता है ऐसा मानना चाहिए, ऐसा अर्थ है । इस प्रकार विकल्पका निरसन करके नाडी और पुरीतत्का ब्रह्मके साथ समुच्चय तुल्य हो, वह भी नहीं है, क्योंकि उसमें फल नहीं है, इस प्रकार समुच्चयको दूषित करते हुए गुणप्रधानभावसे समुच्चयका उपसंहार करते हैं—"न च वयम्" इत्यादिसे ॥ ७ ॥



अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—अतः, प्रबोधः, अस्मात् ।

पदार्थोक्ति—[यतः परमात्मैव प्रधानतया सुषुप्तिस्थानम्] अतः—एतत्-कारणात्, अस्मात्—परमात्मनः [जीवस्य] प्रबोधः—उत्थानम् [स्वापाधिकारे] 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' इत्यादिना उपदिश्यते ।

भाषार्थ—प्रधानतया परमात्मा ही सुषुप्तिस्थान है, इसी कारणसे परमात्मासे जीवके प्रबोधका उपदेश स्वापाधिकारमें 'सत आगम्य' इत्यादि श्रुतिसे किया गया है।

भाष्य

यस्माच्चात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणान्नित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते—'कुत एतदागात्' (बृ० २।१।१६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मा-दात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २।१।२०) इत्यादिना। 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' (छा० ६।१०।२) इति च। विकल्प्यमानेषु तु

भाष्यका अनुवाद

आत्मा ही सुप्तिस्थान है, इसी कारणसे स्वापके प्रकरणमें 'कुत एतत्०' (यह कहाँसे आया) इस प्रश्नके प्रतिवचनके अवसरमें 'यथाग्नेः०' (जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस आत्मासे सब प्राण उत्थान करते हैं) इत्यादि श्रुति। और 'सत आगम्य०' (सत्से आकर वे नहीं जानते कि हम सत्से आये हैं) यह श्रुति भी उस आत्मासे जीवके नित्य (प्रतिदिन)

रत्नप्रभा

किञ्च, ब्रह्मणः सकाशात् जीवस्य उत्थानश्रुतेः ब्रह्मैव सुषुप्तिस्थानम् इत्याह सूत्रकारः—**अतः प्रबोध इति**। नाडीपुरीततोः क्वाप्युत्थानापादानत्वाश्रवणात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

किञ्च ब्रह्मसे जीवका उत्थान होता है, ऐसी श्रुति होनेसे ब्रह्म ही सुषुप्तिस्थान है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"अतः प्रबोधः" इत्यादिसे। कहीं पर भी नाड़ी या पुरीततमें उत्थानकी अपादानताका

भाष्य

सुषुप्तिस्थानेषु कदाचिन्नाडीभ्यः प्रतिबुध्यते कदाचित् पुरीततः कदाचिदात्मन इत्यशासिष्यत् । तस्मादप्यात्मैव सुप्तिस्थानमिति ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रबोधका उपदेश करती है। यदि सुषुप्तिस्थानोंका विकल्प होता तो कदाचित् नाडियोंसे कदाचित् पुरीतत्से और कदाचित् आत्मासे जीवका प्रतिबोध होता है, ऐसा उपदेश करती। इससे भी सिद्ध हुआ कि आत्मा ही सुप्तिस्थान है ॥८॥

रत्नप्रभा

न सुषुप्तिस्थानत्वमित्यर्थः। तस्मात् उपाधिलये जीवस्य ब्रह्माभेदात् औपाधिक एव भेद इति विवेकात् वाक्यार्थाभेदसिद्धिः इति स्थितम् ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रवण नहीं है, इससे वे (नाड़ी आदि) सुप्तिस्थान नहीं हैं, ऐसा अर्थ है। इस कारणसे उपाधिका लय होनेपर जीव और ब्रह्मका अभेद होता है, अतः उनका भेद औपाधिक ही है, इस प्रकारके विवेकसे वाक्यार्थका अभेद सिद्ध होता है, ऐसी स्थिति है ॥ ८ ॥



[३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण सू० ९]

यः कोऽप्यानियमेनात्र बुध्यते सुप्त एव वा ।
उदबिन्दुरिवाशक्तेर्नियन्तुं कोऽपि बुध्यते ॥१॥
कर्माविद्यापरिच्छेदादुदबिन्दुविलक्षणः ।
स एव बुध्यते शास्त्रात्तदुपाधेः पुनर्भवात्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—सुषुप्तिके अनन्तर कोई अन्य जीव जागता है अथवा वही जागता है ?

पूर्वपक्ष—जैसे समुद्रमें प्रक्षिप्त जलबिन्दुका फिर उद्धरण नहीं हो सकता है, वैसे ही ब्रह्ममें लीन जीवका पुनः उठना सम्भव नहीं है, अतः कोई अन्य ही जीव उठता है ।

सिद्धान्त—कर्म और अविद्याके परिच्छेदसे जलबिन्दुका दृष्टान्त विषम है, अतः वही जीव जागता है, क्योंकि 'त इह व्याघ्रो वा०' इत्यादि शास्त्रसे जिस उपाधिसे युक्त जीव सुषुप्तिमें जाता है उस उपाधिसे विशिष्ट ही जीवका उसी शरीरमें पुनर्भव सिद्ध है ।

---

* तात्पर्य यह है—जैसे जिस जल-बिन्दुका समुद्रमें प्रक्षेप किया गया हो, उसीका पुनः नियमसे उद्धरण नहीं किया जा सकता, वैसे ही सुषुप्तिमें जो जीव ब्रह्मको प्राप्त हुआ है, वही पुनः उठता है यह कहना अत्यन्त अशक्य है, इसलिए कोई नवीन ही जीव जागता है। इस प्रकारका पूर्वपक्ष होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं कि पूर्वपक्षीका उपन्यास विषम है अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें अत्यन्त भेद है, क्योंकि कर्म और अविद्यासे वेष्टित चिद्रूप जीव ब्रह्ममें लीन होता है और जलबिन्दु तो किसीसे वेष्टित समुद्रमें लीन नहीं होता है। और सुनो, जैसे गङ्गाजलसे पूर्ण पिहितद्वार काञ्चनकुम्भ यदि समुद्रमें फेककर पुनः निकाला जाय तो घटस्थित वही गंगाजल पृथक् हो सकता है, वैसे अविद्यादिसे वेष्टित वही जीव उठे तो क्या हानि है ? अतएव भगवती श्रुति भी कहती है—'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' इस श्रुतिका अर्थ है कि व्याघ्रादि जो जीव सुषुप्तिके पूर्वमें जिस शरीरको प्राप्तकर रहते हैं, वे ही जीव सुषुप्तिके बाद जागनेपर उसी व्याघ्रादि शरीरको प्राप्त करते हैं। यदि यह शंका हो कि सुषुप्तिमें ब्रह्मीभूत जीवका मुक्तके समान पुनः उद्भव नहीं हो सकता है, तो वह असङ्गत है; क्योंकि अवच्छेदक उपाधिके रहनेपर उस जीवके उद्भवमें कोई हानि नहीं है। अतः जो सोया है वही जीव जागता है यह सिद्ध हुआ।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—स, एव, तु, कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—[यः सुप्तः—स्वाप्यं गतो जीवः] स एव तु [जीवः प्रतिबुध्यते, नान्यः, कुतः ?] कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः—कर्मादिभ्यः पञ्चभ्यो हेतुभ्यः । [दिनद्वयसाध्यं कर्म सामि कृत्वा सुप्तो भूय उत्थाय शिष्टं तत्करोति, अत्र अनु प्रत्यभिज्ञां सूचयति, सा च—'योऽहं गतदिने घटमद्राक्षं स एवैतर्हि स्पृशामि' इत्येवंरूपा, अनुभवानन्तरं संस्कारमात्रेण जायमानं 'स घटः' इत्यादिकं ज्ञानं स्मृतिपदवाच्यम्, 'पुनः प्रतिन्यायम्' इत्यादिः शब्दः । विधिशब्देन कर्मविद्याविधय उच्यन्ते । यदि सुप्तस्य भूय उत्थानं न स्यात्, तदा उक्ता इमे हेतवो बाध्येरन्; अतः सुप्त एवोत्तिष्ठति इति भावः] ।

भाषार्थ—जो जीव सोता है, वही जीव जागता है, क्योंकि कर्म, अनु, स्मृति, शब्द और विधि ये पाँच कारण हैं । दो दिनमें पूर्ण होनेवाले कार्यको आधा करके सोया हुआ फिर दूसरे दिन उठकर उसी अवशिष्ट कार्यको करता है । अनु-शब्दसे यहाँ प्रत्यभिज्ञा विवक्षित है—'जिस घटको मैंने कल देखा था उसीका स्पर्श आज करता हूँ' इत्यादि । अनुभवके बाद होनेवाला संस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मरण है—'वही घट' इत्यादि, 'पुनः प्रतिन्यायम्' इत्यादि श्रुतियाँ शब्द हैं । विधिशब्द कर्मविधि और विद्याविधिका कथन करता है । अगर सुप्त पुरुषका उत्थान न माना जाय, तो कहे गये ये पांच हेतु बाधित होंगे; अतः सोया हुआ जीव ही उठता है यह निर्विवाद है ।

भाष्य

तस्याः पुनः सत्संपत्तेः प्रतिबुध्यमानः किं य एव सत्संपन्नः स एव

भाष्यका अनुवाद

उस सत्सम्पत्तिसे जागनेवाला कौन है ? क्या जो सत्सम्पन्न हुआ है वही जागता है,

---

रत्नप्रभा

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । सुषुप्तौ उपाधिनाशात् कर्मानुस्मृ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः" । सुषुप्तिमें उपाधिके नाशसे कर्म की, अनुस्मृति आदिके

भाष्य

प्रतिबुध्यते उत स वा अन्यो वा इति चिन्त्यते।

तत्र प्राप्तं तावत्—अनियम इति। कुतः? यदा हि जलराशौ कश्चिज्जल-बिन्दुः प्रक्षिप्यते जलराशिरेव स तदा भवति, पुनरुद्धरणे च स एव जलबिन्दु-र्भवतीति दुःसंपादम्, तद्वत् सुप्तः परेणैकत्वमापन्नः सम्प्रसीदतीति न स एव पुनरुत्थातुमर्हति, तस्मात् स एवेश्वरो वाऽन्यो वा जीवः प्रतिबुध्यत इति।

भाष्यका अनुवाद

या उससे अन्य ही कोई जागता है? ऐसा विचार किया जाता है।

पूर्वपक्षी—उसमें अनियम है, ऐसा प्रथम प्राप्त होता है। किससे? इससे कि जब जलराशिमें किसी एक जलबिन्दुका प्रक्षेप होता है तब वह जलराशि ही हो जाता है, फिर उद्धरण करनेपर वही जलबिन्दु निकल आवे, यह असम्भव है, उसी प्रकार सोया हुआ—परमात्माके साथ एकीभूत हुआ संप्रसाद प्राप्त करता है, अतः वही अनन्तर उठे यह युक्त नहीं है, इसलिए वही ईश्वर या अन्य जीव प्रतिबुद्ध होता है।

रत्नप्रभा

त्यादेः दर्शनात् च संशये सति अस्माद् ब्रह्मणः जीवस्य उत्थानश्रुतेः ब्रह्मैव सुषुप्ति-स्थानम् इति उक्तम् अयुक्तम्। सुप्तात् अन्यस्य अपि उत्थानसम्भवेन सुषुप्तस्य नाड्यादिस्थानत्वसम्भवादित्याक्षेपसङ्गत्या नियामकाभावात् अनियम इति पूर्व-पक्षमाह—**तस्याः पुनरित्यादिना**। पूर्वपक्षे ज्ञानवैयर्थ्यम्, सुषुप्त्यैवापुनरावृत्तिरूप-मुक्तिसिद्धेः, सिद्धान्ते तु अज्ञातब्रह्मात्मना स्थितस्य अज्ञानबलेन पुनः तस्यैव उत्था-नावश्यम्भावाद् अज्ञाननाशाय ज्ञानापेक्षेति फलम्। 'ईश्वरो वा' इत्यनियमदार्ढ्यायोक्तम् 'स वान्यो वा' इत्येव पूर्वपक्षः। ज्ञानं विना बुद्ध्याद्युपाधेरत्यन्तनाशाभावात् यया बुद्ध्या उपहितो जीवः सुषुप्तौ कारणात्मना स्थितः तयैव नानाकर्मानुभव-

रत्नप्रभाका अनुवाद

दर्शनसे संशय होनेपर इस ब्रह्मसे जीवके उत्थानका श्रवण है, अतः ब्रह्म ही सुषुप्तिस्थान है, यह कथन सङ्गत नहीं है। सुप्तसे अन्यके भी उत्थानका सम्भव है, इससे नाडी आदि सुषुप्तके स्थान हो सकते हैं, इस प्रकार आक्षेपसङ्गतिसे नियामकके न रहनेपर अनियम है, ऐसा पूर्वपक्ष कहते हैं—"तस्याः पुनः" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें ज्ञानका वैयर्थ्य है, क्योंकि सुषुप्तिसे अपुनरावृत्तिरूप मुक्तिकी सिद्धि हो सकती है। सिद्धान्तमें तो अज्ञात ब्रह्मरूपसे स्थितका अज्ञानके बलसे फिर उसीका उत्थान अवश्यभावी होनेसे अज्ञानके नाशके लिए ज्ञानकी अपेक्षा है, यह फल है। 'ईश्वरो वा' यह तो अनियमकी दृढताके लिए कहा गया है। 'स वान्यो वा' यही पूर्वपक्ष है। ज्ञानके बिना बुद्धि आदि उपाधिके अत्यन्त नाशका अभाव है, अतः जिस बुद्धिसे

भाष्य

एवं प्राप्ते, इदमाह—स एव तु जीवः सुप्तः—स्वास्थ्यं गतः पुनरुत्तिष्ठति नान्यः। कस्मात्? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः। विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि। कर्मशेषानुष्ठानदर्शनात् तावत् स एवोत्थातुमर्हति नान्यः। तथा हि—पूर्वेद्युरनुष्ठितस्य कर्मणोऽपरेद्युः शेषमनुतिष्ठन् दृश्यते, न चान्येन सामिकृतस्य कर्मणोऽन्यः शेषक्रियायां प्रवर्तितुमुत्सहते, अतिप्रसङ्गात्। तस्मादेक एव पूर्वेद्युरपरेद्युश्चैकस्य कर्मणः कर्तेति गम्यते। इतश्च स एवोत्तिष्ठति यत्कारणमतीतेऽहन्यहमदोऽद्राक्षमिति पूर्वानुभूतस्य पश्चात् स्मरणमन्यस्योत्थाने नोपपद्यते, नह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति। सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरणमात्मान्तरोत्थाने नाव-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—वही जीव सोनेसे स्वास्थ्यको प्राप्त हुआ—पुनः जागता है, अन्य नहीं। किससे? कर्म, अनु, स्मृति, शब्द और विधिसे। विभागकर हेतुको दिखलाऊँगा। अवशिष्ट कार्यके अनुष्ठानके दर्शनसे वही जीव उठता है, अन्य नहीं। प्रथम दिनमें आरब्ध कर्मके अवशिष्ट अंशको दूसरे दिन पूर्ण करता हुआ देखा जाता है, एकके आधे किए गये कार्यकी शेषक्रियामें अन्य प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि अतिप्रसङ्ग होगा। इसलिए एक ही जीव पहले और दूसरे दिनमें एक कार्यका कर्ता है, ऐसा जाना जाता है। और वही जीव निद्रासे उठता है, क्योंकि पूर्व दिनमें 'इसको देखा था' इस प्रकार पूर्वानुभूतके अनन्तर होनेवाले स्मरणकी अन्यके उठनेपर उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि अन्यसे देखी गई वस्तुका अनुस्मर्ता अन्य नहीं हो सकता है। इसी प्रकार 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) इस प्रकारका

रत्नप्रभा

संस्कारवत्योपहित उत्तिष्ठति इति सिद्धान्तयति—स एव त्वित्यादिना। सामिकृतस्य अर्धकृतस्य एकस्य एव ज्योतिष्टोमादेः अनेकयजमानकत्वापातः—अतिप्रसङ्गः। स्मृतिम् उक्त्वा अनुशब्दसूचितां प्रत्यभिज्ञाम् आह—सोऽहमिति। अयनम्—गमनम्—आयः। योनिः तत्तदिन्द्रियस्थानम्, प्रतिनियतं गमनं यथा भवति, तथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपहित जीव सुषुप्तिमें कारणरूपसे स्थित है, उसी अनेक कर्मानुभवसंस्कारवती बुद्धिसे उपहित वह उठता है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"स एव तु" इत्यादिसे। सामिकृत—अर्थात् अर्धकृत एक ही ज्योतिष्टोम आदिमें अनेक यजमानकत्वकी प्राप्तिरूप अतिप्रसङ्ग है। स्मृति कहकर अनुशब्दसे सूचित प्रत्यभिज्ञा कहते हैं—"सोऽहम्" इत्यादिसे। अयन—गमन—

भाष्य

कल्पते। शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते। तथा हि—'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव' (बृ० ४।३।१६) 'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' (छा० ८।३।२) 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति' (छा० ६।९।३) इत्येवमादयः शब्दाः स्वापप्रबोधाधिकारे पठिता नात्मान्तरोत्थाने सामञ्जस्यमीयुः। कर्मविद्याविधिभ्यश्चैवमेवावगम्यते, अन्यथा हि कर्मविद्याविधयोऽनर्थकाः स्युः। अन्योत्थानपक्षे हि सुप्तमात्रो मुच्यत इत्यापद्येत। एवं चेत्स्यात्, वद किं

भाष्यका अनुवाद

अनुसन्धान अन्यके जागनेपर नहीं हो सकता है। श्रुतिके शब्दोंसे भी वही जीव जागता है, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि 'पुनः प्रतिन्यायम्०' (प्रतिनियत गमन जैसे होता है, वैसे प्रतियोनि जीव जागरणके लिए आता है) 'सर्वाः प्रजा०' (सब प्रजा प्रतिदिन [सुषुप्तिकालमें] जाती हैं, तो भी इस ब्रह्मलोकको नहीं जानतीं) 'त इस व्याघ्रो वा०' (इस लोकमें वे व्याघ्र या सिंह, भेडिया या वराह, कीट या पतंग, दंश या मशक जो जो हुए होते हैं, वे ही होते हैं) इत्यादि स्वप्न और प्रबोधके अधिकारमें पढ़े हुए शब्द अन्य आत्माके उत्थानमें समंजस नहीं होंगे। कर्मविधि और विद्याविधिसे भी ऐसा ही समझा जाता है, अन्यथा कर्मविधि और विद्याविधि निरर्थक हो जायँगी। अन्यके उत्थानपक्षमें सोये हुए सभी मुक्त हो जायँगे, ऐसी आपत्ति प्रसक्त होगी। यदि ऐसा हो, तो इसका उत्तर दो कि जिसका फल

रत्नप्रभा

प्रतियोनि-आगच्छति जागरणाय इति श्रुत्यर्थः। न विन्दन्तीति अज्ञानसत्त्वात् सुप्तस्योत्थाननियम उक्तः, इह पूर्वप्रबोधे ये भवन्ति ते एव तदा उत्तरप्रबोधे भवन्तीत्यर्थः। विधिं व्याचष्टे—कर्मेति। स एवोत्तिष्ठतीति निश्चीयते इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

आय। योनि—तत् तत् इन्द्रियोंका स्थान प्रतिनियत गमन जिस प्रकार होता है, वैसे प्रतियोनि जागरणके लिए आता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। 'न विन्दन्ति' इससे अज्ञानकी सत्ता होनेसे सुप्तके उत्थानका नियम कहा गया। इसमें पूर्वप्रबोधमें जो होते हैं, वे ही उसके उत्तरके प्रबोधमें होते हैं, ऐसा अर्थ है। विधिकी व्याख्या करते हैं—"कर्म" इत्यादिसे। वही उठता है,

भाष्य

कालान्तरफलेन कर्मणा विद्यया वा कृतं स्यात्। अपि चान्योत्थानपक्षे यदि तावच्छरीरान्तरे व्यवहरमाणो जीव उत्तिष्ठेत्तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात्। अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेत् कल्पनानर्थक्यं स्यात्। यो हि यस्मिञ्शरीरे सुप्तः स तस्मिन्नोत्तिष्ठत्यन्यस्मिञ्शरीरे सुप्तोऽन्यस्मिन्नुत्तिष्ठतीति कोऽस्यां कल्पनायां लाभः स्यात्। अथ मुक्त उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष आपद्येत। निवृत्ताविद्यस्य च पुनरुत्थानमनुपपन्नम्। एतेनेश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम्, नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्। अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ च दुर्निवारावन्योत्थानपक्षे स्याताम्। तस्मात् स एवोत्तिष्ठति नान्य इति। यत् पुनरुक्तम् यथा जलराशौ प्रक्षिप्तो जलबिन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यत एवं सति सम्पन्नो जीवो

भाष्यका अनुवाद

कालान्तरमें होनेवाला है, उस कर्म और विद्याका फल क्या होगा? अन्यके उत्थानपक्षमें अन्य शरीरमें व्यवहारको करने वाला जीव उठे, तो उसके व्यवहारका लोपप्रसङ्ग होगा। यदि सुप्त ही उठे तो कल्पना निरर्थक होगी। क्योंकि जो जिस शरीरमें सोता है वह उस शरीरमें नहीं उठता परन्तु एक शरीरमें सोता है और अन्य शरीरमें उठता है, इस प्रकारकी कल्पनामें लाभ क्या होगा? यदि मुक्त पुरुष उठे, तो मोक्ष नाशवान् होगा जिसकी अविद्या निवृत्त हुई है उसका पुनरुत्थान नहीं हो सकता है, इससे ईश्वरका उत्थान होता है, इस पक्षका निराकरण हुआ, क्योंकि वह सदा अविद्यासे निवृत्त है, अन्यके उत्थानमें अकृतका अभ्यागम और कृतकी हानि दुर्वार होगी, अतः वही उठता है, अन्य नहीं। और जो कहा था कि जैसे जलराशिमें प्रक्षिप्त जलबिन्दु नहीं निकलता, उसी प्रकार ब्रह्मके

रत्नप्रभा

अत्रैवोत्सूत्रं युक्त्यन्तरमाह—अपि चेत्यादिना। अन्योत्थाने सुखादेर्न पूर्वकर्मकार्यतेत्यकृतसुखाद्यागमः पूर्वसुप्तजीवकृतकर्मनाशश्चेत्यर्थः। पूर्वपक्ष्युक्तं दृष्टान्तं वैषम्येण दूषयति—यत्पुनरित्यादिना। अस्मदाद्यशक्यमपि विवेचनं

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा निश्चय किया जाता है, ऐसा अर्थ है। यहीं अन्य युक्ति कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अन्यके उत्थानमें सुखादि पूर्वकर्मके कार्य नहीं होंगे, इसलिए अकृत सुखादिका अभ्यागम होगा, प्रथम सुप्तजीवके किये हुए कर्मोंका विनाश प्राप्त होगा, ऐसा अर्थ है। पूर्वपक्षी द्वारा कहे गये दृष्टान्तको विषमतासे दूषित करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे। हम लोगोंसे अशक्य भी

भाष्य

नोत्पतितुमर्हतीति, तत्परिह्रियते—युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जल-बिन्दोरनुद्धरणम्, इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैषम्यम्। दृश्यते च दुर्विवेचनयोरप्यस्मज्जातीयैः क्षीरोदकयोः संसृष्टयोर्हंसेन विवेचनम्। अपि च न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्यो विद्यते यो जलबिन्दुरिव जलराशेः सतो विविच्येत, सदेव तूपाधिसम्पर्काज्जीव इत्युपचर्यत इत्यसकृत्प्रपञ्चितम्। एवं सति यावदेकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्तावदेकजीवव्यवहारः, उपाध्यन्तरगतायां तु बन्धानुवृत्तौ जीवान्तरव्यवहारः। स एवायमुपाधिः स्वापप्रबोधयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः प्रतिबुध्यत इति युक्तम् ॥९॥

भाष्यका अनुवाद

साथ संपन्न जीव उठ नहीं सकता है, इसका परिहार किया जाता है—विवेक-कारणके अभावसे वहाँ जलबिन्दुका अनुद्धरण युक्त है, यहाँ तो विवेक-कारण अविद्या और कर्म हैं, अतः वैषम्य है। संसृष्ट जल और क्षीरका विवेचन यद्यपि हम लोग नहीं कर सकते हैं, तथापि हँस द्वारा जल और क्षीरका विवेचन होता है, यह देखा जाता है। और दूसरी बात यह भी है कि जीव परमात्मासे अन्य नहीं है, जो जल-राशिमें जलबिन्दुके समान विविक्त हो, परन्तु ब्रह्म ही उपाधिके सम्पर्कसे जीव रूपसे उपचरित होता है, यह वारंवार कहा जा चुका है। ऐसा होनेपर जबतक एक उपाधिगत बन्धकी अनुवृत्ति है तबतक एक जीवका व्यवहार होता है, बन्धकी अनुवृत्ति अन्य उपाधिगत होगी, तब अन्य जीवका व्यवहार होता है, सुषुप्तिमें और प्रबोधमें वही उपाधि बीजांकुरन्यायसे है, अतः वही जीव प्रबुद्ध होता है॥९॥

रत्नप्रभा

प्राण्यदृष्टापेक्ष ईश्वरः करोतीति मत्वा दृष्टान्तमाह—**दृश्यते चेति**। ब्रह्माभेदात् च जीवस्य जलबिन्दुवैषम्यमित्याह—**अपि चेति**। अभेदे 'स वान्यो वोत्तिष्ठतीति चिन्तानवकाश इत्याशङ्क्य बुद्धिभेदेन जीवभेदात् च चन्तेत्याह—**एवं सतीति**। सुषुप्तौ बुद्धिनाशेन प्रत्यहं बुद्ध्युपाधिभेदादेकजीवव्यवहारो न स्यादित्यत आह—**स एवायमिति**। स्थूलसूक्ष्मात्मना तिष्ठत्येकोपाधिः इत्यर्थः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विवेचन प्राणीके अदृष्टसे ईश्वर करता है, इस प्रकार मानकर दृष्टान्त कहते हैं—"दृश्यते च" इत्यादिसे। ब्रह्मके साथ अभेद होनेसे जीव जलके बिन्दुसे विलक्षण है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अभेद होनेपर वह उठता है या अन्य उठता है, इस प्रकारके विचारका अवकाश नहीं है, ऐसी आशङ्का करके बुद्धिके भेदसे जीव-भेद होनेसे विचार होता है, ऐसा कहते हैं—"एवं सति" इत्यादिसे। सुषुप्तिमें बुद्धिका नाश होनेसे प्रतिदिन बुद्धिरूप उपाधिके भेदसे एक जीवका व्यवहार नहीं होगा, इसपर कहते हैं—"स एवायम्" इत्यादिसे। स्थूल और सूक्ष्मरूपसे एक उपाधि रहती है, ऐसा अर्थ है ॥ ९ ॥

[४ मुग्धेऽर्धसंपत्त्यधिकरण सू० १०]

किं मूर्छैका जाग्रदादौ किं वाऽवस्थान्तरं भवेत् ।
अन्यावस्था न प्रसिद्धा तेनैका जाग्रदादिषु ॥१॥
न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभावान्न सुप्तता ।
मुखादिविकृतेस्तेनाऽवस्थाऽन्या लोकसम्मता ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—मूर्च्छा अवस्था क्या जाग्रद् आदि अवस्थाओंमें अन्तर्भूत है अथवा उनसे अलग है ?

पूर्वपक्ष—संसारमें जाग्रद् इत्यादिसे दूसरी अलग अवस्था कोई प्रसिद्ध नहीं है, अतः उन्हींमें मूर्च्छाका समावेश है ।

सिद्धान्त—मूर्च्छा जाग्रत् या स्वप्नरूप नहीं हो सकती है, क्योंकि उस अवस्थामें द्वैत नहीं है । सुप्तावस्था भी नहीं है, कारण कि मुख आदिमें विकार भासता है; अतः मूर्च्छा नामकी लोकप्रसिद्ध अवस्था अन्य ही है ।

---

* यहां पूर्वपक्षीका मनोगत भाव यह है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे अन्य कोई अवस्था जगत्प्रसिद्ध न होनेके कारण मूर्च्छा उन तीनोंमेंसे किसी एकमें अन्तर्भूत है, पृथक् नहीं है ।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि आपाततः पूर्वपक्षीका मत संगतसा प्रतीत हो रहा है, परन्तु कुछ अधिक विचार करनेसे वह मत बालुकाप्रासादसा ज्ञात होगा, क्योंकि यह साधारण मतिमान् भी जान सकता है कि जाग्रत् और स्वप्नमें द्वैत प्रतीत होता है, लेकिन मुग्ध अवस्थामें द्वैतकी प्रतीति नहीं होती, अतः पूर्वपक्षीको जबर्दस्ती स्वीकार करना होगा कि मूर्च्छा अवस्थाका उन दोनोंमें अन्तर्भाव नहीं है । और सुषुप्तिमें तो उसका अन्तर्भाव कह ही नहीं सकते, क्योंकि सोया हुआ प्राणी अत्यन्त स्वस्थ और अविकृत रहता है, किन्तु मूर्च्छित जनमें वह बात नहीं है प्रत्युत मुखमें मालिन्य और विकृतभाव दिखता है अतः परिशेषसे यह स्वीकार करना होगा कि मूर्छा अवस्था पृथक् है । लोकमें इस अवस्थाका व्यवहार तो अवश्य ही होता है परन्तु वह कदाचित् दुर्दैव-विपाकसे प्राप्त होती है, अतः नित्य व्यवहारमें उसकी गणना नहीं है, इसीलिए ज्ञानवृद्ध व्यास प्रभृति आचार्य उसका विचार करनेमें उपेक्षा नहीं करते हैं ।

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

पदच्छेद—मुग्धे, अर्धसम्पत्तिः, परिशेषात् ।

पदार्थोक्ति—[मूर्च्छावस्थाया न स्वप्नजागरितयोर्मरणे वाऽन्तर्भावः, तत्र ज्ञानाभावस्य प्राणोष्मणोश्च सत्त्वात्, नापि सुप्तिः, भयानकवदनत्वादिना तस्या वैलक्षण्यात्, किन्तु परिशेषात्—प्राप्तस्य प्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे वस्तुनि यः सम्प्रत्ययः सः परिशेषः तस्मात् मुग्धे—मूर्च्छावस्थायाम्, [हृत्पुण्डरीकावच्छिन्ने ब्रह्मणि देहाद्यभिमानविशिष्टस्य जीवस्य] अर्धसम्पत्तिः अर्धलयः [भवति, अतः उक्तावस्थात्रयवैलक्षण्यात् मूर्च्छावस्था ततो भिन्नेति भावः]

भाषार्थ—स्वप्न और जागरित अवस्थाको मूर्च्छा नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें विशेष ज्ञान नहीं रहता, मरण भी नहीं कह सकते, क्योंकि मूर्च्छामें प्राण और उष्णता रहती है, भयानकवदन आदि होनेसे मूर्च्छा सुषुप्ति नहीं है। किन्तु परिशेषसे मूर्च्छावस्थामें हृत्पुण्डरीकावच्छिन्न ब्रह्ममें देहाद्यभिमानविशिष्ट जीवका अर्धलय होता है, अतः उक्त तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण होनेके कारण मुग्धावस्था पृथक् है ।

भाष्य

अस्ति मुग्धो नाम यं मूर्च्छित इति लौकिकाः कथयन्ति, स तु किमवस्थ इति परीक्षायामुच्यते—तिस्रस्तावदवस्थाः शरीरस्थस्य जीवस्य

भाष्यका अनुवाद

मुग्ध वह है, जिसे लोग मूर्छित कहते हैं। उसकी अवस्था कौनसी है ? ऐसा विचार—प्रश्न उपस्थित होनेपर—

रत्नप्रभा

अवस्थात्रयादात्मानं विविच्य मूर्च्छातो विवेचयति—**मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्** । मूर्च्छा प्रसिद्धाऽवस्थान्तर्गता वा पञ्चमावस्था वा इति अवस्थाचतुष्टयप्रसिद्धेर्मुग्धस्य तद्वैलक्षण्याच्च संशये सति सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञयोत्थितस्य सुप्तभेदवद्विशेषज्ञानाभावाविशेषेण लिङ्गेन सुषुप्तिरेव मूर्च्छेति प्रत्यभिज्ञानात् सुषुप्त्यन्तर्गता

रत्नप्रभाका अनुवाद

तीन अवस्थाओंसे आत्माका विवेचन करके अब मूर्च्छासे उसका विवेचन करते हैं—"मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्"। मूर्च्छा प्रसिद्ध अवस्थाओंके अन्तर्गत है या पांचवीं अवस्था है? चार अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं और मुग्धावस्था उनसे एक विलक्षण अवस्था है, इससे संशय होनेपर उत्थित पुरुषमें 'वही मैं हूँ' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञासे सुषुप्तिमें जैसे भेदवत् विशेषज्ञानका

भाष्य

प्रसिद्धाः—जागरितं स्वप्नः सुषुप्तमिति। चतुर्थी शरीरादपसृप्तिः, न तु पञ्चमी काचिदवस्था जीवस्य श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धाऽस्ति तस्माच्चतसृणामेवावस्थानामन्यतमावस्था मूर्च्छेति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावन्मुग्धो जागरितावस्थो भवितुमर्हति। नह्ययमिन्द्रियैर्विषयानीक्षते। स्यादेतत्—इषुकारन्यायेन मुग्धो भविष्यति यथेषुकारो जाग्रदपीष्वासक्तमनस्तया नान्यान् विषयानीक्षत एवं मुग्धो मुसलसंपातादिजनितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान् विषयानीक्षत

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—कहता है—शरीरमें रहनेवाले जीवकी तीन अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं—जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति। चौथी अवस्था है शरीरसे उत्क्रान्ति। जीवकी इससे अतिरिक्त कोई पांचवीं अवस्था श्रुति या स्मृतिमें प्रसिद्ध नहीं है। इससे मूर्च्छा चार अवस्थाओंके अन्तर्गत ही एक अवस्था है।

सिद्धान्ती—हम कहते हैं—मुग्ध जागरित अवस्थावाला हो, यह संभव नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियोंसे विषयोंका ईक्षण नहीं करता। यहाँपर शंका होती है कि मुग्ध इषुकार (बाण बनानेवाले) के न्यायसे होगा। जैसे बाण बनानेवाला यद्यपि जागता रहता है, तो भी बाणमें मनके आसक्त होनेसे अन्य विषयोंको नहीं देखता, वैसे ही मूसलप्रहार आदिसे उत्पन्न हुए दुःखानुभवसे मनके व्यग्र होनेके कारण जागता हुआ भी वह (मुग्ध) अन्य विषयोंको नहीं देखता है।

रत्नप्रभा

मूर्च्छेति दृष्टान्तसङ्गत्या पूर्वपक्षमाह—तिस्रस्तावदिति। पूर्वपक्षे प्रसिद्धावस्थातः पृथगात्मनो मूर्च्छातो विवेकार्थं यत्नासिद्धिः फलं, सिद्धान्ते पृथग्यत्नध्रौव्यमिति भेदः। परिशेषं दर्शयन् सिद्धान्तयति—न तावदित्यादिना। जाग्रदपि—जागरावस्थोऽपीत्यर्थः। ऐन्द्रियकमर्थज्ञानं देहधारणं च तस्यास्ति, च मुग्धस्येति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभाव है, वैसे मूर्च्छामें भी भेदवत् विशेषज्ञानका अभाव है इस समान लिंगसे मूर्च्छा सुषुप्ति ही है, इस प्रकारके प्रत्यभिज्ञानसे—मूर्च्छा सुषुप्तिके अन्तर्गत है, इस दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"तिस्रस्तावत्" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें प्रसिद्ध अवस्थाओंसे पृथक् आत्माका मूर्च्छासे विवेक करनेके लिए यत्नकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें पृथक् यत्न निश्चित है, इस प्रकार दोनोंमें भेद है। परिशेष दिखलाते हुए सिद्धान्त कहते हैं—"न तावत्" इत्यादिसे। जाग्रत् भी—

भाष्य

इति । न अचेतयमानत्वात् । इषुकारो हि व्यापृतमना ब्रवीति—इषुमेवाहमेतावन्तं कालमुपलभमानोऽभूवमिति । मुग्धस्तु लब्धसंज्ञो ब्रवीति—अन्धे तमस्यहमेतावन्तं कालं प्रक्षिप्तोऽभूवं न किंचिन्मया चेतितमिति । जाग्रतश्चैकविषयविषक्तचेतसोऽपि देहो विध्रियते, मुग्धस्य तु देहो धरण्यां पतति । तस्मान्न जागर्ति, नापि स्वप्नान् पश्यति, निःसंज्ञकत्वात् । नापि मृतः, प्राणोष्मणोर्भावात् । मुग्धे हि जन्तौ मृतोऽयं स्यान्न वा मृत इति संशयाना ऊष्मास्ति नास्तीति हृदयदेशमालभन्ते निश्चयार्थम्, प्राणोऽस्ति नास्तीति च नासिकादेशम् । यदि प्राणोष्मणोरस्तित्वं नावगच्छन्ति ततो मृतोऽयमित्य-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा नहीं होता है, कारण कि मुग्धमें चेतना नहीं रहती है अर्थात् उतने कालतक उसे किसीका भान नहीं होता। बाण बनानेवाला बाणमें आसक्तचित्त होनेसे कहता हैं कि मैं इतने समयतक बाणकी ही उपलब्धि करता था। मुग्ध तो चेतना प्राप्तकर कहता है कि मैं इतने समयतक अन्धकारमें प्रक्षिप्त हुआ था, मैंने कुछ भी नहीं जाना। एक विषयमें आसक्तचित्तवाले जाग्रत् पुरुषका देह खड़ा रहता है, परन्तु मुग्धका देह पृथिवीपर गिर जाता है। इसलिए मुग्ध जीव जागता नहीं है। स्वप्न भी नहीं देखता, क्योंकि वह बेहोश रहता है। और मरा हुआ भी नहीं है, क्योंकि उसमें प्राण और गर्मी रहती है। मुग्ध जन्तुके विषयमें यह मर गया है या नहीं मरा, ऐसा संशय करते हुए पुरुष इसमें गर्मी है या नहीं, यह निश्चय करनेके लिए हृदयका स्पर्श करते हैं और प्राण है या नहीं यह निश्चय करनेके लिए उसकी नासिकाके अग्रभागका स्पर्श करते हैं। यदि प्राण और गर्मी नहीं पाते, तो यह मर गया है, ऐसा निश्चय करके उसे जलानेके लिए जंगलमें ले

रत्नप्रभा

वैषम्योक्त्या दूषयति—**नेत्यादिना**। मूर्च्छाया जागराद् भेदमुक्त्वा स्वप्नमृतिभ्यां भेदमाह—**नापीत्यादिना**। आलभन्ते—स्पृशन्ति। दिष्टम्—मरणम् । सुषुप्तिमूर्च्छयोः किंचित् सारूप्येऽपि बहुवैलक्षण्याद् भेद इत्याह—**नेति** । लक्षणभेदमुक्त्वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

जागरणावस्था युक्त भी, यह अर्थ है। इन्द्रियोंसे होनेवाला अर्थज्ञान और देहधारण उसमें—बाण बनानेवालेमें है, मुग्धमें नहीं है, इस प्रकार वैषम्यके कथनसे शंकाको दूषित करते हैं—"न" इत्यादिसे। मूर्च्छाका जागरणसे भेद कहकर स्वप्न और मरणसे भेद कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे। आलभन्ते—स्पर्श करते हैं। दिष्ट—मरण। सुषुप्ति और मूर्च्छा इन दोनोंमें कुछ

भाष्य

ध्यवसाय दहनायारण्यं नयन्ति। अथ तु प्राणमूष्माणं वा प्रतिपद्यन्ते, ततो नायं मृत इत्यध्यवसाय संज्ञालाभाय भिषज्यन्ति। पुनरुत्थानाच्च न दिष्टं गतः, नहि यमं गतः यमराष्ट्रात् प्रत्यागच्छति। अस्तु तर्हि सुषुप्तः, निःसंज्ञत्वादमृतत्वाच्च। न, वैलक्षण्यात्। मुग्धः कदाचिच्चिरमपि नोच्छ्वसिति, सवेपथुरस्य देहो भवति, भयानकं च वदनम्, विस्फारिते नेत्रे। सुषुप्तस्तु प्रसन्नवदनस्तुल्यकालं पुनः पुनरुच्छ्वसिति निमीलिते अस्य नेत्रे भवतः, न चास्य देहो वेपते, पाणिपेषणमात्रेण च सुषुप्तमुत्थापयन्ति, न तु मुग्धं मुद्गरघातेनापि। निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः। मुसलसंपातादि-

भाष्यका अनुवाद

जाते हैं। और यदि उसमें प्राण और गर्मी पाते हैं, तो यह मरा नहीं है, ऐसा निश्चय करके चेतनाप्राप्तिके लिए उसकी चिकित्सा करते हैं। पुनरुत्थान होनेसे भी मुग्ध मृत नहीं है, क्योंकि यमके राज्यसे कोई लौटकर नहीं आता। तब मुग्धको सुषुप्त मानो, क्योंकि वह बेहोश रहता है और मरा नहीं है। नहीं, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि दोनोंमें विलक्षणता है। कदाचित् मुग्ध चिरकालतक उच्छ्वास नहीं लेता, उसका शरीर कांपता है, मुख भयानक और आँखे विशेष रूपसे विस्फारित रहती हैं। परन्तु सुषुप्त प्रसन्नवदन रहता है, समकालमें बारम्बार उच्छ्वास लेता है, उसकी आँखे बन्द रहती हैं और देह नहीं कांपती। केवल हाथ फेरनेसे ही लोग सुषुप्त पुरुषको उठाते हैं, परन्तु मुग्धको तो मुंगरीके

रत्नप्रभा

निमित्तभेदमाह—**निमित्तेति**। प्रत्यभिज्ञापि असिद्धेत्याह—**न चेति**। उक्तसारूप्यवैरूप्याभ्यामर्धसम्पत्तिः सर्वैः सुषुप्तिधर्मैरसम्पन्नः मुग्धः सुषुप्तो न भवति, सर्वैर्मरणावस्थाधर्मैरसम्पत्तेर्मृतोऽपि न, किन्तु अवस्थान्तरम् गत इति सूत्रार्थः। अत्र सूत्रे

रत्नप्रभाका अनुवाद

सादृश्य होनेपर भी अधिक विलक्षणता होनेसे भेद है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। सुषुप्ति और मूर्च्छा इन दोनोंके लक्षणमें भेद कहकर दोनोंके निमित्तमें भेद कहते हैं—"निमित्त" इत्यादिसे। प्रत्यभिज्ञा भी असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। उक्त सारूप्य और वैरूप्यसे अर्धसम्पत्ति है, सुषुप्तिके सब धर्मोंसे असम्पन्न होनेसे वह (मुग्ध) सुषुप्त नहीं है, उसी प्रकार मरण अवस्थाके सब धर्मोंसे असम्पन्न होनेसे मुग्ध मृत भी नहीं है, किन्तु एक दूसरी अवस्थामें

भाष्य

निमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य। न च लोकेऽस्ति प्रसिद्धिः मुग्धः सुप्त इति। परिशेषादर्धसंपत्तिर्मुग्धतेत्यवगच्छामः। निःसंज्ञत्वात् संपन्न इतरस्माच्च वैलक्षण्यादसंपन्न इति। कथं पुनरर्धसंपत्तिर्मुग्धतेति शक्यते वक्तुम्, यावता सुप्तं प्रति तावदुक्तं श्रुत्या—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति, 'अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति' (बृ० ४।३।२२) 'नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्' (छा० ८।४।१) इत्यादि। जीवे हि सुकृतदुष्कृतयोः प्राप्तिः सुखित्वदुःखित्वप्रत्ययोत्पादनेन भवति। न च सुखित्वप्रत्ययो दुःखितत्वप्रत्ययो वा सुषुप्ते विद्यते, मुग्धेऽपि तौ प्रत्ययौ नैव विद्येते। तस्मादुपाध्यु-

भाष्यका अनुवाद

आघातसे भी नहीं उठा सकते। और दूसरी बात यह भी है कि मोह और स्वापका निमित्त भिन्न है, क्योंकि मुसलसंपात आदि मोहका निमित्त है और श्रम आदि स्वापका निमित्त है। मुग्ध पुरुष सुप्त है, ऐसी लोकमें प्रसिद्धि नहीं है। परिशेषसे मुग्धता अर्धसम्पत्ति है, ऐसा हम समझते हैं। चेतनाके न रहनेसे वह सम्पन्न है और अन्य सुप्तसे विलक्षणता होनेसे असम्पन्न है। परन्तु मुग्धता अर्धसम्पत्ति है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि सुप्तके प्रति श्रुतिने कहा है—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो०' (हे सोम्य! तब वह ब्रह्मके साथ सम्पन्न होता है), 'अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति' (यहां चोर अचोर हो जाता है), 'नैतं सेतुमहोरात्रे०' (इस सेतुरूप आत्माका परिच्छेद दिन और रात नहीं करते, अत एव जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत या दुष्कृत प्राप्त नहीं होते) इत्यादि। जीवमें

रत्नप्रभा

जीवस्य ब्रह्मणाऽर्धसम्पत्तिरुक्तेति भ्रान्तः शङ्कते—**कथमिति**। यत्सुषुप्तं प्रति सत्सम्पन्नत्वं श्रुतं तदुपाध्यभावाभिप्रायम्। उपाध्यभावश्च मुग्धस्यापि सम इति, तस्मात् कृत्स्नसम्पत्तिरेवेत्यर्थः। सुषुप्तकाले कर्मासम्बन्धे पुनरुत्थानं कथम्? इत्याशङ्क्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राप्त है, ऐसा सूत्रार्थ है। परन्तु इस सूत्रमें जीवकी ब्रह्मके साथ अर्धसम्पत्ति कही गई है, इस प्रकार भ्रान्त शंका करता है—"कथम्" इत्यादिसे। श्रुतिमें सुषुप्तिमें जीवकी जो ब्रह्म सम्पत्ति कही गई है, उसका अभिप्राय—उपाधिके अभावमें है, और उपाधिका अभाव मुग्धावस्थामें भी समान है, इससे अर्द्धसम्पत्ति नहीं है, किन्तु सम्पूर्णसम्पत्ति ही है, यह अर्थ है। सुषुप्त कालमें कर्मका संबन्ध नहीं रहता, ऐसी स्थितिमें पुनरुत्थान किस प्रकार हो सकता है?

भाष्य

पशमात् सुषुप्तवन्मुग्धेऽपि कृत्स्नसंपत्तिरेव भवितुमर्हति, नार्धसम्पत्तिरिति। अत्रोच्यते—न ब्रूमो मुग्धेऽर्धसंपत्तिर्जीवस्य ब्रह्मणा भवतीति । किं तर्ह्यर्धेन सुषुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वमर्धेनावस्थान्तरपक्षस्येति ब्रूमः । दर्शिते च मोहस्य स्वापेन साम्यवैषम्ये। द्वारं चैतन्मरणस्य। यदाऽस्य सावशेषं कर्म भवति तदा वाङ्मनसे प्रत्यागच्छतः, यदा तु निरवशेषं कर्म भवति तदा प्राणोष्माणावपगच्छतः, तस्मादर्धसंपत्तिं ब्रह्मविद इच्छन्ति। यत्तूक्तम्—न पञ्चमी काचिदवस्था प्रसिद्धाऽस्ति—इति। नैष दोषः। कादाचित्कीयम-

भाष्यका अनुवाद

सुखित्व और दुःखित्वप्रतीतिकी उपपत्ति होनेसे सुकृत और दुष्कृतकी प्राप्ति होती है। और सुखित्व या दुःखित्वकी प्रतीति सुषुप्त पुरुषको नहीं है और मुग्धको भी नहीं है। इसलिए सुषुप्तके समान मुग्धमें भी उपाधिकी उपशान्तिसे सम्पूर्ण सम्पत्ति ही होनी चाहिए, आधी नहीं। इसपर कहते हैं—मुग्धावस्थामें जीवकी ब्रह्मके साथ अर्धसम्पत्ति होती है, ऐसा हम नहीं कहते। तब क्या कहते हैं ? मुग्धत्व आधा सुषुप्त पक्षमें और आधा अन्य अवस्थाके पक्षमें होता है—ऐसा हम कहते हैं। और स्वापसे मोहका साम्य और वैषम्य दिखलाया गया है। यह मरणका द्वार है। जब जीवका कर्म सावशेष रहता है तब वाणी और मन लौट आते हैं और जब कर्म निरवशेष हो जाता है तब प्राण और गर्मी चली जाती है, इसलिए ब्रह्मवेत्ता मुग्धताको अर्धसम्पत्ति मानते हैं। और

रत्नप्रभा

तत्कार्याभावात् असम्बन्धोक्तिरित्याह—जीवे हीति। ब्रह्मणा कृत्स्नसम्पत्तिमङ्गीकृत्य परिहरति—न ब्रूम इति। मुग्धत्वं हि सुषुप्तस्य अर्धेन निःसंज्ञत्वादिधर्मेण साम्येन सम्पन्नं भवति, मरणस्यार्धेन कम्पादिना सम्पन्नमित्यर्धसम्पत्तिरित्यर्थः। इतोऽस्ति सुषुप्तिवैषम्यमित्याह—द्वारश्चेति। अप्रसिद्धिमङ्गीकृत्योक्तम्, प्रसिद्धिरप्यस्तीत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी आशंका करके—उसके कार्योंके अभावसे उसके असम्बन्धका कथन है, ऐसा कहते हैं—"जीवे हि" इत्यादिसे। ब्रह्मके साथ जीवकी सम्पूर्ण सम्पत्तिका अंगीकार कर परिहार करते हैं—"न ब्रूमः" इत्यादिसे। निःसंज्ञत्व आदि सुषुप्तके अर्ध धर्मोंके साथ साम्य होनेसे सुषुप्तके अर्द्ध धर्मोंके साथ मुग्धत्व सम्पन्न होता है और अर्द्ध कम्प आदि धर्मोंके साम्यसे मरणके धर्मोंके साथ सम्पन्न होता है, इस प्रकार अर्ध-सम्पत्ति है, ऐसा अर्थ है। और इससे भी मुग्धत्व सुषुप्तिसे विषम-भिन्न है, ऐसा कहते हैं—"द्वारं च" इत्यादिसे। अप्रसिद्धिका

भाष्य

वस्थेति न प्रसिद्धा स्यात् प्रसिद्धा चैषा लोकायुर्वेदयोः। अर्धसम्पत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इत्यनवद्यम् ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

पांचवी कोई अवस्था प्रसिद्ध नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, वह दोष नहीं है, क्योंकि यह अवस्था कादाचित्क होनेसे प्रसिद्ध भले ही न हो, परन्तु लोक और आयुर्वेद में यह प्रसिद्ध है और अर्धसम्पत्तिका स्वीकार किया गया है, इसलिए पाँचवीं अवस्था गिनी नहीं जाता। इस प्रकार कोई दोष नहीं है ॥ १० ॥

रत्नप्रभा

प्रसिद्धा चेति। आयुर्वेदः—वैद्यशास्त्रम्। प्रसिद्धौ कथं विवादः? इत्याशङ्क्य पञ्चमत्वेनाऽप्रसिद्धेरित्याह—**अर्धेति**। सुषुप्तिमृतिधर्मार्धसम्पत्त्या तदन्तर्भावबुद्धिर्लोकानामित्यर्थः ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अङ्गीकार करके यह कहा गया है, अब प्रसिद्धि भी है, ऐसा कहते हैं—"प्रसिद्धा च" इत्यादिसे। आयुर्वेद—वैद्यशास्त्र। प्रसिद्धिमें विवाद किस प्रकार हो सकता है? [जब मुग्धावस्था लोकमें प्रसिद्ध है, तो उसमें विवाद ही कैसा?] ऐसी आशंका करके पांचवीं अवस्थारूपसे अप्रसिद्ध होनेसे [विवाद है] ऐसा कहते हैं—"अर्ध" इत्यादिसे। सुषुप्ति और मरणके धर्मोंके साथ मूर्च्छाकी अर्धसम्पत्ति होनेसे उनमें मूर्च्छाका अन्तर्भाव है, ऐसी लोगोंकी बुद्धि है, ऐसा अर्थ है ॥ १० ॥



[५ उभयलिङ्गाधिकरण सू० ११–२१]

ब्रह्म किं रूपि वाऽरूपि भवेन्नीरूपमेव वा ।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद् ब्रह्म स्यादुभयात्मकम् ॥१॥
नीरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः ।
रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तमुभयत्वं विरुध्यते ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—क्या परब्रह्म परमात्मा रूपवान् और रूपरहित—उभयात्मक है या अरूपवान् ही है ?

पूर्वपक्ष—दोनों प्रकारकी श्रुतियोंका सद्भाव होनेसे रूपवान् और रूपरहित है ।

सिद्धान्त—वेदान्तोंसे नीरूप ही ब्रह्म प्रतिपादित है, क्योंकि वही अपूर्व—मानान्तरागम्य है, उभयात्मकत्वमें विरोध भी होगा, और कहींपर रूपवत्ताका जो श्रवण है वह तात्पर्य वृत्त्या नहीं है, परन्तु अनुवादसे है, अतः ब्रह्ममें रूपवत्त्वका भ्रम ही है अर्थात् ब्रह्म रूपवत् नहीं है ।

---

* तात्पर्य यह है—'तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म' इत्यादि अनेक श्रुतियां यत्र तत्र उपासना काण्डमें सविशेष—सशरीर ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती हैं, एवम् 'अस्थूलमनणु' इत्यादि निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं, अतः परस्पर विरुद्ध श्रुतिवाक्योंसे पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि ब्रह्म उभयात्मक है ।

उक्त पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—वेदान्तशास्त्रसे नीरूप ही ब्रह्म प्रतिपिपादयिषित है, क्योंकि वही किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे गम्य नहीं है, जगत्कारणत्वादिरूप विशिष्ट ब्रह्मतो 'क्षित्यादिकं सकर्तृकम् कार्यत्वात्' इत्यादि अनुमानसे ज्ञात हो सकता है, इसीलिए उपासनामें यह रूप अनुवादित है, न कि उसका रूपवत्त्वके प्रतिपादनमें तात्पर्य्य है। अनुमान और शास्त्रसे सिद्ध उभयात्मकता सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि सरूपत्व और नीरूपत्व ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं । इससे तात्पर्यका विषय न होनेसे सरूपत्वके भ्रान्त होनेपर वस्तुतः ब्रह्म नीरूप ही है ।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

पदच्छेद—न, स्थानतः, अपि, परस्य, उभयलिङ्गम्, सर्वत्र, हि ।

पदार्थोक्ति—परस्य—ब्रह्मणः उभयलिङ्गम्—सविशेषनिर्विशेषरूपोभयस्वभावकत्वं न [सम्भवति, सत्यस्य वस्तुनो द्वैरूप्यायोगात्] नापि स्थानतः—उपाधितः [उक्तोभयरूपत्वम् सत्यम्, अग्निसम्बन्धमात्रेण जलस्योष्णस्य तत्स्वभावत्वादर्शनात्, अतो ब्रह्मण एकरूपत्वमेव वाच्यम्] हि—यतः सर्वत्र—सर्वेषु वेदान्तवाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्' इत्यादिब्रह्मपरेषु [सविशेषत्वनिरसनेन निर्विशेषमेवैकरूपं ब्रह्मतत्त्वमुपदिश्यते इत्यर्थः] ।

भाषार्थ—परब्रह्म परमात्मामें निर्विशेष और सविशेषरूप दो स्वभाव नहीं हो सकते हैं, क्योंकि जो सत्य वस्तु है, उसमें विरुद्ध दो धर्म नहीं रह सकते, यदि कदाचित् उपाधिके योगसे दो स्वभाव कहो, तो वे सत्य नहीं माने जा सकते, कारण कि अग्निसम्बन्धमात्रसे उष्ण जलमें अग्निका स्वभाव नहीं माना जा सकता है, इसलिए 'अशब्दम्' इत्यादि ब्रह्मपरक जो अनेक वेदान्त वाक्य हैं, उनमें निर्विशेष एकरूप ही ब्रह्म उपदिष्ट है ।

भाष्य

येन ब्रह्मणा सुषुप्त्यादिषु जीव उपाध्युपशमात् संपद्यते, तस्येदानीं स्व-

भाष्यका अनुवाद

सुषुप्ति आदिमें उपाधिका उपशम होनेसे जीव जिस ब्रह्मके साथ सम्पन्न

रत्नप्रभा

सर्वाभिः अवस्थाभिः अलिप्तः त्वमर्थः, इति विचार्य आपादसमाप्तेः तत्पदार्थं निरूपितुकामः प्रथमं तस्य निर्विशेषत्वमाह—**न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।** उद्देश्य—त्वंपदार्थजिज्ञासोपरमानन्तरं तत्स्वरूपब्रह्मविचारस्याऽवसरसंगतिमाह—**येनेति । सविशेषत्वं निर्विशेषत्वं चेत्युभयं लिङ्ग्यते**—ज्ञाप्यते याभिः ता उभय-

रत्नप्रभाका अनुवाद

'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें त्वम्पदार्थ—जीव सब अवस्थाओंसे अलिप्त है, ऐसा विचार करके पादकी समाप्ति तक तत्पदार्थ-ब्रह्मके निरूपण करनेकी इच्छासे सूत्रकार प्रथम उसका निर्विशेष स्वरूप कहते हैं—"न स्थानतोऽपि परस्य उभयलिङ्गं सर्वत्र हि" । उद्देश्य त्वम्पदार्थकी जिज्ञासाके शान्त होनेके अनन्तर उसके स्वरूपभूत ब्रह्मके विचारकी अवसरसंगति कहते हैं—"येन" इत्यादिसे । निर्विशेषत्व और सविशेषत्व ये दोनों जिनसे समझे जायँ, ऐसा

भाष्य

रूपं श्रुतिवशेन निर्धार्यते । सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३।१४।२) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः, 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः। किमासु श्रुतिषूभयलिङ्गं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम्? यदाप्यन्यतरलिङ्गं तदापि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति मीमांस्यते। तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते। नह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधा-

भाष्यका अनुवाद

होता है, उसके स्वरूपका श्रुतिसामर्थ्यसे निर्धारण किया जाता है। ब्रह्मविषयक श्रुतियाँ दो लिंगवाली हैं। 'सर्वकर्मा सर्वकामः०' (सब विश्व जिसका कर्म है, सब दोषोंसे रहित जिसका काम है, सर्वसुखकर जिसका गन्ध है और सर्वसुखकर जिसका रस है) इत्यादि श्रुतियाँ सविशेष लिंगवाली हैं। 'अस्थूलमनणु०' (वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है और दीर्घ नहीं है) इत्यादि श्रुतियाँ निर्विशेष लिंगवाली हैं। इन श्रुतियोंमें दोनों लिंगवाला ब्रह्म समझना चाहिए या दोनोंमें एक लिंगवाला ? यदि अन्यतर लिंगवाला समझा जाय, तो वह सविशेष है या निर्विशेष ? ऐसा विचार किया जाता है।

पूर्वपक्षी—दोनों लिंगवाली श्रुतियोंके अनुग्रहसे दोनों लिंगवाला ही ब्रह्म समझना चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परब्रह्मके स्वतः ही दो लिंग उपपन्न नहीं होते, क्योंकि एक ही वस्तु स्वभावतः रूपादिविशेषसे युक्त हो और

रत्नप्रभा

लिङ्गाः श्रुतयः संशयबीजत्वेन सन्तीत्यर्थः। यथा विरुद्धसुषुप्तिमरणोभयरूपत्वं मुग्धत्वम्, तथा श्रुतिप्रामाण्यादुभयरूपं ब्रह्म ध्येयमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः। निर्विशेषमेकरूपमेव ज्ञेयमिति सिद्धान्तयति—**एवमिति**। किमुभयरूपत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

उभयलिंग श्रुतियाँ संशयके बीजरूपसे वर्तमान हैं। जैसे सुषुप्ति और मरण जो विरुद्ध हैं, उन दोनोंके स्वरूपवाला मुग्धत्व है, वैसे श्रुतिप्रामाण्यसे दोनों रूपवाला ब्रह्म ध्येय है, ऐसा दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष है। निर्विशेष एकरूपवाला ही ब्रह्म ज्ञेय है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। क्या उभयरूपत्व—ब्रह्मका दोनों रूप होना—स्वतः है या स्वतः

भाष्य

रयितुं शक्यं विरोधात् । अस्तु तर्हि स्थानतः—पृथिव्याद्युपाधियोगादिति । तदपि नोपपद्यते । नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति । नहि स्वच्छः सन् स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् । अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्, न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दम-

भाष्यका अनुवाद

रूपादिविशेष रहित हो, इस प्रकार विरोध होनेके कारण अवधारण नहीं किया जा सकता। यदि कहो कि स्थानसे अर्थात् पृथिवी आदि उपाधिके योगसे ऐसा होगा, सो भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि उपाधियोगसे भी अन्य प्रकारकी वस्तुका स्वभाव दूसरे प्रकारका स्वभाव नहीं हो सकता। स्वभावतः स्वच्छ स्फटिक अलक्तक (लाख) आदि उपाधिके योगसे अस्वच्छ नहीं हो जाता, अस्वच्छताका अभिनिवेश स्फटिकमें भ्रममात्र है। और उपाधियाँ अविद्यासे उपस्थापित होती हैं, इसलिए अन्यतर लिंगका परिग्रह करें, तो भी समस्त विशेषसे रहित निर्विकल्पक ही ब्रह्म समझना चाहिए। उससे विपरीत नहीं समझना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादक 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्

रत्नप्रभा

स्वतः—उत स्वतो निर्गुणस्य सर्वगन्धत्वादिविशेषः उपाधितः सत्यः, आहोस्वित् स्वतः सविशेषमेव ब्रह्मेति । तत्र आद्यं निरस्य द्वितीयम् अनूद्य दूषयति—**अस्तु तर्हीति ।** स्थानम्—उपाधिः । ब्रह्मणि विशेषः कल्पितः, औपाधिकत्वात्, स्फटिकलौहित्यवत्, इत्यर्थः । उपाधेः सत्यत्वेऽपि तत्कृतं मिथ्येति दृष्टम्, ब्रह्मणि तूपाधीनां मिथ्यात्वात् तत्कृतो विशेषो मिथ्येति किमु वाच्यमित्याह—**उपाधीनामिति ।** तृतीयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो निर्गुण ब्रह्म है उसका सर्वगन्धत्व आदि विशेष उपाधिसे सत्य है या स्वतः ही सविशेष ब्रह्म है ? उसमें प्रथम पक्षका निरसन करके द्वितीय पक्षका अनुवादकर उसे दूषित करते हैं—"अस्तु तर्हि" इत्यादिसे । स्थान—उपाधि । ब्रह्ममें विशेष कल्पित है, औपाधिक होनेसे, स्फटिककी रक्तताके समान, ऐसा अर्थ है । उपाधिके सत्य होनेपर भी उससे किया गया मिथ्या होता है, ऐसा देखा गया है, परन्तु ब्रह्ममें तो उपाधियोंके मिथ्या होनेसे तत्कृत विशेष भी मिथ्या है, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं—"उपाधीनाम्" इत्यादिसे ।

भाष्य

स्पर्शमरूपमव्ययम्' (क० १।३।१५, मुक्तिको० २।७२) इत्येवमादिष्वपास्त-समस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

व्ययम्' (शब्दरहित, स्पर्शरहित, और रूपरहित, अव्यय—नित्य) इत्यादि वाक्योंमें सर्वत्र समस्तविशेषशून्य ब्रह्म ही उपदिष्ट है ॥ ११ ॥

रत्नप्रभा

निरस्यति—अतश्चेति । सर्वस्य विशेषस्य कल्पितत्वादेवेत्यर्थः । निषेधश्रुतेश्चैव-मित्याह—सर्वत्रहीति ॥११॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तृतीयका निरास करते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे । सब विशेषोंके कल्पित होनेसे ही, ऐसा अर्थ है । निषेधश्रुतिसे भी ऐसा ही है, ऐसा कहते हैं—"सर्वत्र हि" इत्यादिसे ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—न, भेदात्, इति, चेत्, न, प्रत्येकम्, अतद्वचनात् ।

पदार्थोक्ति—[ननु सर्वत्र वेदान्तेषु निर्विशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते, इति युक्तम्] न [कुतः ?] भेदात्—प्रतिविद्यं परस्य चतुष्पादाद्याकारभेदेन भेदात् [सविशेषमपि श्रुतिबलादङ्गीकर्तव्यम् ?] इति चेन्न, प्रत्येकम्—प्रत्युपाधि, अतद्वचनात्—'यश्चायमस्याम्' इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मणः सर्वत्रोपाधौ अभेदस्य श्रवणात्' ।

भाषार्थ—यदि कोई ऐसी शङ्का करे कि सभी वेदान्तोंमें निर्विशेष ही ब्रह्म कहा है, यह बात नहीं है, क्योंकि प्रत्येक विद्यामें चतुष्पाद् आदि आकारके भेदसे उसका भेद है । तो वह युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रत्येक उपाधिमें 'यश्चाय-मस्यां पृथिव्याम्' इत्यादि श्रुतिमें जलादिरूप सभी उपाधियोंमें अभेदका श्रवण है ।

भाष्य

अथापि स्याद्यदुक्तं निर्विकल्पमेव ब्रह्म नास्य स्वतः स्थानतो वोभयलिङ्गत्वमिति। तन्नोपपद्यते। कस्मात्? भेदात्। भिन्ना हि प्रतिविद्यं ब्रह्मण आकारा उपदिश्यन्ते। चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्म वामनीत्वादिलक्षणं ब्रह्म त्रैलोक्यशरीरवैश्वानरशब्दोदितं ब्रह्मेत्येवंजातीयकाः, तस्मात् सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम्। ननूक्तं नोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः संभवतीति। अयमप्यविरोधः। उपाधिकृतत्वादाकारभेदस्य। अन्यथा हि निर्विषयमेव भेदशास्त्रं प्रसज्येतेति चेत्। नेति ब्रूमः। कस्मात्? प्रत्येकमतद्वचनात्। प्रत्युपाधिभेदं ह्यभेदमेव ब्रह्मणः श्रावयति शास्त्रम्—'यश्चाय-

भाष्यका अनुवाद

भले ही ऐसा हो, परन्तु ब्रह्म निर्विकल्पक एक लिंग ही है, और स्वतः या उपाधिसे उभयलिंग नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, वह उपपन्न नहीं होता। किससे? भेदसे, क्योंकि प्रत्येक विद्यामें ब्रह्मके आकार भिन्न २ हैं, ऐसा उपदिष्ट है। 'चतुष्पाद् ब्रह्म' (ब्रह्मके चार पाद हैं), 'षोडशकलं ब्रह्म' (ब्रह्मकी सोलह कलाएँ हैं), 'वामनीत्वादिलक्षणं ब्रह्म' (ब्रह्म वामनीत्व आदि लक्षणवाला है), 'त्रैलोक्यशरीर०' (त्रैलोक्य जिसका शरीर है, ऐसा ब्रह्म है, और यह वैश्वानरशब्दसे कहा जाता है) इस प्रकारके ब्रह्मके आकार उपदिष्ट हैं, इसलिए ब्रह्म सविशेष है, ऐसा भी स्वीकार करना युक्त है। परन्तु ऐसा जो कहा गया है कि ब्रह्म उभयलिंगवाला है, यह नहीं हो सकता? यह भी विरोध नहीं है, क्योंकि आकारभेद उपाधिकृत है, अन्यथा भेदशास्त्र निर्विषय हो जायगा, यदि ऐसा [पूर्वपक्षी] कहे, तो वह युक्त नहीं है, ऐसा हम कहते हैं। किससे? प्रत्येकमें 'ऐसा नहीं' ऐसा वचन होनेसे। प्रत्येक उपाधिभेदमें 'यश्चायमस्याँ

रत्नप्रभा

न भेदादिति। भिद्यत इति भेदः—विशेषः। निर्विशेषश्रुतावपि विशेषस्यापि श्रुतेः उभयरूपत्वं स्याद् इति शङ्कां व्याचष्टे—अथापि स्यादिति। पूर्वोक्तं विरोधं स्मारयति—ननूक्तमिति। भेदश्रुतिप्रामाण्यार्थमौपाधिकरूपभेदस्वीकाराद-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न भेदात्" इत्यादि। भेद—विशेष। निर्विशेष श्रुतिके रहनेपर भी विशेषकी भी श्रुति होनेसे ब्रह्म उभयरूपवाला हो, इस प्रकार शंकाका व्याख्यान करते हैं—"अथापि स्यात्" इत्यादिसे। पूर्वोक्त विरोधका स्मरण कराते हैं—"ननूक्तम्" इत्यादिसे। भेदश्रुतिके—ब्रह्मका सविशेषरूप दिखलानेवाली श्रुतिके प्रामाण्यके लिए औपाधिकरूप भेदको स्वीकार करनेसे

भाष्य

मस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' (बृ० २।५।१) इत्यादि। अतश्च न भिन्नाकारयोगो ब्रह्मणः शास्त्रीय इति शक्यते वक्तुम्। भेदस्योपासनार्थत्वादभेदे तात्पर्यात् ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

पृथिव्यां०' (और इस पृथिवीमें जो यह तेजोमय और अमृतमय पुरुष है, और शरीरमें जो यह तेजोमय और अमृतमय पुरुष है, वह यही है, जो कि यह आत्मा है) इत्यादिशास्त्र ब्रह्मके अभेदका ही श्रवण कराते हैं; इसलिए ब्रह्मका भिन्न आकारके साथ योग शास्त्रीय है, ऐसा कहना शक्य नहीं है, क्योंकि भेद उपासनाके लिए है, इसलिए अभेदमें तात्पर्य है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

विरोध इति समाध्यर्थः। किमुपाधिगत एव रूपभेदो ब्रह्मण्युपचर्यते ध्यानार्थम् उत उपाधियोगात् सत्यविरुद्धरूपवत्तया ब्रह्मणो भेदो भवतीति। आद्येऽस्मदिष्टसिद्धिः। द्वितीयम् अभेदश्रुत्या दूषयति—**नेति ब्रूम इति** ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कोई विरोध नहीं है, ऐसा समाधानका अर्थ है। क्या उपाधिमें स्थित ही रूपभेद ब्रह्ममें ध्यानके लिए उपचरित होता है या उपाधिके योगसे जो ब्रह्मका सत्य विरुद्धरूप है, उससे यह भेद होता है? प्रथम पक्षमें हमारे अभीष्टकी सिद्धि है। द्वितीय पक्षको अभेद श्रुतिसे दूषित करते हैं—"नेति ब्रूमः" इत्यादिसे ॥ १२ ॥

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

पदच्छेद—अपि, च, एवम्, एके।

पदार्थोक्ति—अपि च—एके शाखिनः 'मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्येवंरूपेण श्रुतिवाक्येन भेदनिन्दापूर्वकमभेदमेव परस्य ब्रह्मणः समामनन्ति, इति सूत्रार्थः।

भाषार्थ—और कोई शाखाध्यायी लोग 'मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे भेदकी निन्दा करके परमात्माके अभेदका ही प्रतिपादन करते हैं।

भाष्य

अपि चैवं भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेददर्शनमेवैके शाखिनः समामनन्ति—

'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' ॥ (क० ४।११) इति। तथाऽन्येऽपि 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत्'–(श्वे० १।१२) इति समस्तस्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावतामधीयते ॥ १३ ॥

कथं पुनराकारवदुपदेशिनीष्वनाकारोपदेशिनीषु च ब्रह्मविषयासु श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्माऽवधार्यते न पुनर्विपरीतमिति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

और भेददर्शनकी निन्दा करके अभेददर्शनका ही एक शाखावाले श्रवण कराते हैं—'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह०' (मनसे ही ब्रह्मको प्राप्त करना चाहिए, ब्रह्मके सिवाय यहां कुछ नहीं है, जो यहां भेद-सा देखते हैं, वे मृत्युपरम्पराको प्राप्त होते हैं)। उसी प्रकार अन्य शाखावाले भी 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च०' (भोक्ता—जीव, भोग्य—अन्य सब और प्रेरिता—अन्तर्यामी परमेश्वरका विचार कर जो कुछ मैंने कहा है, वह सब त्रिविध ब्रह्म ही है) इस प्रकार भोग्य, भोक्ता और नियन्ताके स्वरूपमें सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप ही है, ऐसा कहते हैं ॥ १३ ॥

परन्तु साकार ब्रह्मका उपदेश करनेवाली और निराकार ब्रह्मका उपदेश करनेवाली श्रुतियोंके रहते निराकार ब्रह्मका अवधारण किस प्रकार किया जाता है, साकार ब्रह्मका अवधारण क्यों नहीं किया जाता ? ऐसी शंका होनेपर सूत्रकार उत्तर सूत्र पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

द्वैतनिन्दापूर्वकम् अद्वैतोक्तेः च निर्विशेषं तत्त्वमिति सूत्रार्थमाह—अपि चेति। भोक्ता—जीवः, भोग्यम्—शब्दादि, तयोः प्रेरितारम्—ईश्वरम् च मत्वा विचार्य मे मम प्रोक्तं तत्सर्वं त्रिविधं ब्रह्मैवेति जानीयादित्यर्थः ॥ १३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्वैतकी निन्दाकर अद्वैतका कथन है, अतः ब्रह्मतत्त्व निर्विशेष ही है, इस प्रकार सूत्रका अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। भोक्ता–जीव, भोग्य–शब्द आदि और उन दोनोंके प्रेरक ईश्वरका विचारकर जो कुछ मैंने कहा है वह सब त्रिविधि ब्रह्म ही है, इस प्रकार समझना चाहिए, ऐसा अर्थ है ॥ १३ ॥

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

पदच्छेद—अरूपवत्, एव, हि, तत्प्रधानत्वात् ।

पदार्थोक्ति—अरूपवत्—न रूपवत् अरूपवत् इति व्युत्पत्त्या रूपहीनं निर्विशेषमेव [ब्रह्म अवधारयितव्यम्, न सविशेषम्, कुतो ह्येवम् ?] हि—यतः, तत्प्रधानत्वात्—'अस्थूलम्' इत्यादिनिषेधशास्त्रस्य निर्गुणब्रह्मप्रधानत्वादित्यर्थः ।

भाषार्थ—'अस्थूलम्' इत्यादि निषेधशास्त्र निर्गुणब्रह्मप्रधान ही हैं, इसलिए ब्रह्मका निर्धारण निर्विशेषरूपसे ही करना चाहिए, सविशेषरूपसे नहीं करना चाहिये, ऐसा इस सूत्रका भाव है ।

भाष्य

रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्म अवधारयितव्यं न रूपादिमत् । कस्मात् ? तत्प्रधानत्वात् । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३।१५ मुक्ति० २।७२) 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुण्ड० २।१।२), 'तदेतद् ब्रह्मा-

भाष्यका अनुवाद

रूपादि आकारसे रहित ही ब्रह्म है, ऐसा अवधारण करना चाहिए, ब्रह्म रूपादियुक्त है, ऐसा अवधारण नहीं करना चाहिए। किससे ? इससे कि श्रुतिवाक्योंमें निराकार ब्रह्म ही प्रधानरूपसे वर्णित है—'अस्थूलमनण्वह्रस्व०' (स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है), 'अशब्दमस्पर्शम०' (वह शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और अविनाशी है), 'आकाशो वै०' वह (आकाश, नाम और रूपका स्पष्टीकरण करनेवाला है, वे नाम और रूप जिसके भीतर हैं वह ब्रह्म है), 'दिव्यो ह्यमूर्तः०' (स्वयंप्रकाश, सर्वमूर्त्तिवर्जित, बाह्य

रत्नप्रभा

द्विविधश्रुतिषु सतीषु निर्विशेषत्वे किं नियामकमिति शङ्कते—**कथं पुनरिति**। "तत्पराऽतत्परविरोधे तत्परं बलवत्" इति न्यायो नियामक इत्याह—**अरूपवदे-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

जब दोनों प्रकारकी श्रुतियाँ हैं, तो निर्विशेषत्वमें नियामक क्या है, ऐसी शंका करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। 'तत्परातत्पर०' (तत्पर और अतत्पर इन दोनों वाक्योंके विरोधमें तत्पर अधिक बलवान् है) यह न्याय नियामक है, ऐसा कहते हैं—"अरूपवदेव" इत्यादिसे।

भाष्य

पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९) इत्येवमादीनि वाक्यानि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तरप्रधानानीत्येतत् प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र । तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्माऽवधारयितव्यम् । इतराणि त्वाकारवद्ब्रह्मविषयाणि वाक्यानि न तत्प्रधानानि । उपासनाविधिप्रधानानि हि तानि, तेष्वसति विरोधे यथाश्रुतमाश्रयितव्यम् । सति तु विरोधे तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्तीति । एष विनिगमनायां हेतुः, येनोभयीष्वपि श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनर्विपरीतमिति ॥ १४ ॥

का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिरित्यत आह—

भाष्यका अनुवाद

और भीतररहित एवं जन्मरहित पुरुष है), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वं०' (वह ब्रह्म कारण तथा कार्य नहीं है, अन्तर तथा बाह्य नहीं है, यह आत्मा ब्रह्म है, सबका अनुभव करता है) इत्यादि वाक्योंमें निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मतत्त्व प्रधान है, अन्य अर्थ प्रधान नहीं है, ऐसा 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्रमें प्रतिष्ठापन किया गया है। इसलिए इस प्रकारके वाक्योंमें यथाश्रुत निराकार ब्रह्मका ही अवधारण करना चाहिए। और अन्य वाक्य जो साकार ब्रह्मविषयक हैं, वे साकारब्रह्मप्रधान नहीं हैं, उपासनाविधिप्रधान हैं। उनमें विरोध न हो, तो यथाश्रुत (जैसे श्रुतिमें है, वैसे) का आश्रय करना चाहिए। विरोध हो, तो जिनमें निराकार ब्रह्मप्रधान है, वे वाक्य, जिनमें वह प्रधान नहीं है, ऐसे वाक्योंकी अपेक्षासे विशेष बलवान् हैं। यही विनिगमनमें हेतु है। जिससे दोनों प्रकारके श्रुतिवाक्योंके रहते निराकार ब्रह्मका ही अवधारण होता है, साकारका अवधारण नहीं होता ॥ १४ ॥

तब जो श्रुतिवाक्य साकार ब्रह्मविषयक हैं, उनकी क्या गति होगी ? इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

वेति । उपासनापरवाक्येषु आकारे तात्पर्याभावेऽपि देवताविग्रहादिवदाकारसिद्धिमाशङ्क्य निष्प्रपञ्चपरश्रुतिविरोधात् नैवमित्याह—तेष्वसतीति ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि जिन वाक्योंका तात्पर्य उपासनामें है, उन वाक्योंका आकारमें तात्पर्य नहीं है, तो भी देवताके विग्रह आदिके समान आकारकी सिद्धि होगी, इस प्रकार आशंका करके, निष्प्रपञ्च श्रुतिके साथ विरोध होनेसे ऐसा नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—"तेष्वसति" इत्यादिसे ॥ १४ ॥

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ॥ १५ ॥

पदच्छेद—प्रकाशवत्, च, अवैयर्थ्यम् ।

पदार्थोक्ति—प्रकाशवत्—यथा सवितृप्रभृतीनां प्रकाशो वक्रवंशाद्युपाधीनुपलभ्य वक्र इव ऋजुरिव भवति तद्वत् [ब्रह्म], च—अपि [पृथ्व्यादिभूतोपाधिवशात्तत्तदाकारमिव भवति, न वस्तुतः, अत उपासनाकाण्डपठितानां सविशेषब्रह्मप्रतिपादकश्रुतीनां तादृशौपाधिकाकार एव गतिरिति तासाम्] अवैयर्थ्यम्—नास्ति नैरर्थक्यम् ।

भाषार्थ—सूर्य आदिका प्रकाश बाँस आदि वक्र, ऋजु उपाधिको प्राप्तकर वक्राकार-सा और ऋजु आकार-सा होता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी तत्तत् पृथिवी आदि उपाधि प्राप्त करके पृथ्व्यादि आकार हो जाता है, अतः उपासनाप्रकरणमें पठित श्रुतियां उसी सोपाधिक ब्रह्मको विषय करती हैं, इसलिए वे श्रुतियां व्यर्थ नहीं हैं ।

भाष्य

यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्याऽवतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते, एवं ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसंबन्धात्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तदालम्बनो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते । एवमवैयर्थ्यमाकारवद्ब्रह्म-

भाष्यका अनुवाद

जैसे आकाशको व्याप्त करके रहनेवाला सूर्य या चन्द्रमाका प्रकाश अङ्गुलि आदि उपाधिके सम्बन्धसे अङ्गुलि आदिके सीधे या टेढ़े होनेपर टेढ़ा या सीधा-सा प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म भी पृथिवी आदि उपाधिके सम्बन्धसे उनके आकारको प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होता है । उनके आधारपर ब्रह्मके आकारविशेषका उपदेश जो उपासनाके लिए है, वह विरुद्ध नहीं होता । इस प्रकार आकारवद्ब्रह्मविषयक वाक्य भी सफल होंगे, निष्प्रयोजन नहीं होंगे,

---

रत्नप्रभा

कल्पितद्वैते सावकाशत्वात् च सप्रपञ्चत्वश्रुतयो दुर्बला इत्याह—**प्रकाशवच्चेति** । ननु आकारवाक्यानाम् उपाधिकल्पितसर्वगन्धत्वादिना अर्थवत्त्वं किमिति वर्ण्यते, वैयर्थ्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सविशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ कल्पित द्वैतमें सावकाश होनेसे दुर्बल हैं, ऐसा कहते हैं—"प्रकाशवच्च" इत्यादिसे । परन्तु उपाधिमें कल्पित सर्वगन्धत्व आदिसे

भाष्य

विषयाणामपि वाक्यानां भविष्यति, नहि वेदवाक्यानां कस्यचिदर्थवत्त्वं कस्यचिदनर्थवत्त्वमिति युक्तं प्रतिपत्तुं, प्रमाणत्वाविशेषात् । नन्वेवमपि यत्पुरस्तात् प्रतिज्ञातम्—नोपाधियोगादप्युभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणोऽस्तीति—तद्विरुध्यते, नेति ब्रूमः । उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः । उपाधीनां चाऽविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् । सत्यामेव च नैसर्गिक्यामविद्यायां लोकवेदव्यवहारावतार इति तत्र तत्रावोचाम ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि वेदवाक्योंमें कोई वाक्य सार्थक है और कोई निरर्थक है, ऐसा समझना युक्त नहीं है, क्योंकि दोनोंमें प्रमाणत्व समान है । परन्तु ऐसा माननेपर पूर्वमें जो यह प्रतिज्ञा की गई है कि उपाधिके योगसे ब्रह्म उभयलिंगवाला नहीं है, उसका विरोध होगा । हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि जिसका निमित्त उपाधि है, वह वस्तुधर्म हो, यह युक्त नहीं है, क्योंकि उपाधियां अविद्यासे खड़ी की गई हैं । नैसर्गिक अविद्याके होनेपर ही लौकिक या वैदिक व्यवहारका अवतार होता है—ऐसा हमने जगह-जगहपर कहा है ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

मेवोच्यताम्, तत्राह—**नहि वेदवाक्यानामिति** । **नन्वेवमपीति** । उक्तरीत्योभयरूपत्वाङ्गीकारेण श्रुतीनां व्यवस्थितत्वेऽपीत्यर्थः । उपाधीनां कल्पितत्वादौपाधिकस्य सत्यत्वानुपपत्तेर्न सत्यमुभयरूपत्वमिति पूर्वमुक्तम्, सम्प्रति सत्यं विर्विशेषत्वं मिथ्या सविशेषत्वमित्युच्यत इत्युभयरूपत्वाङ्गीकारेऽपि न पूर्वापरविरोध इत्याह—**नेति ब्रूम इति** । द्वैतस्य मिथ्यात्वे ज्ञानेन बाधादुपासनादिव्यवहारो न स्यात् इत्याशङ्क्य बाधात् प्रागेव स इत्याह—**सत्यमिति** ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आकारवाक्य अर्थवान् हैं, ऐसा क्यों कहते हो, ये वाक्य व्यर्थ हैं, ऐसा ही कहो ? उसपर कहते हैं—"नहि वेदवाक्यानाम्" इत्यादिसे । "नन्वेवमपि" इत्यादि । उक्त रीतिसे उभयलिंगका स्वीकार करनेसे यद्यपि श्रुतिवाक्य व्यवस्थित होते हैं, तो भी, ऐसा अर्थ है । पहले कहा गया है कि उपाधियोंके कल्पित होनेसे औपाधिकरूपमें सत्यत्वकी अनुपपत्ति है अर्थात् औपाधिकरूप सत्य नहीं है, इसलिए ब्रह्मका उभयरूपत्व असत्य है । अब ऐसा कहते हैं कि निर्विशेषत्व सत्य है, और सविशेषत्व मिथ्या है, इस प्रकार उभयरूपत्वका स्वीकार करनेमें भी पूर्वापर विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नेति ब्रूमः" इत्यादिसे । द्वैतके मिथ्या होनेसे ज्ञानसे उसका बाध होता है, इसलिए उपासना आदिका व्यवहार नहीं होगा, ऐसी आशंका करके बाधके पूर्व ही वह व्यवहार है, ऐसा कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

पदच्छेद—आह, च, तन्मात्रम् ।

पदार्थोक्ति—च—अतः [एव, 'स यथा सैन्धवघनः' इत्यादिश्रुतिः] तन्मात्रम्—चैतन्यमात्रं स्वप्रकाशचिदेकरसं निर्विशेषम्, आह—कथयति ।

भाषार्थ—इसीलिए भगवती श्रुति 'स यथा सैन्धवघनः' इत्यादिसे निर्विशेष चैतन्यमात्रका बोधन करती है ।

भाष्य

आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म—'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इति। एतदुक्तं भवति । नाऽस्याऽऽत्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपम्, यथा सैन्धवघनस्याऽन्तर्बहिश्च लवणरस एव निरन्तरो भवति न रसान्तरं तथैवेति ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

और ब्रह्म चैतन्यमात्र, विलक्षणरूपान्तरसे रहित और निर्विशेष है, ऐसा श्रुति कहती है—'स यथा सैन्धवघनो०' (जैसे लवणपिण्ड अन्दर और बाहर अन्य रससे रहित है, समस्त लवण एक रस ही है, वैसे ही हे मैत्रेयि ! यह आत्मा अन्दर और बाहर अन्यरूपसे रहित है सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है) तात्पर्य यह है कि इस आत्माका अन्दर और बाहर चैतन्यसे अन्य रूप नहीं है, किन्तु चैतन्य ही उसका निरन्तरस्वरूप है । जैसे कि सैन्धवपिण्डके अन्दर और बाहर लवणरस ही निरन्तर है, अन्य रस नहीं है ॥ १६ ॥

रत्नप्रभा

यतः श्रुतिश्चिन्मात्रमाह, अतश्च विशेषो मिथ्या इति सूत्रार्थमाह—**आह चेति** । सैन्धवघनः—लवणपिण्डः ॥ १६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

चूंकि श्रुति आत्माको चिन्मात्र कहती है, अतः विशेष मिथ्या है, ऐसा सूत्रका अर्थ कहते हैं—"आह च" इत्यादिसे । सैन्धवघन—लवणपिण्ड ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

पदच्छेद—दर्शयति, च, अथो, अपि, स्मर्यते ।

पदार्थोक्ति—['अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादिश्रुतिः निषेधमुखेनैव ब्रह्म] दर्शयति—कथयति, च—अतः, अथो—तथा, स्मर्यतेऽपि—'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते' इत्यादिभगवद्गीतावचनेन निषेधमुखतो ब्रह्म स्मृतमपि भवति ।

भाषार्थ—'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुति निषेधमुखसे ही ब्रह्मका प्रतिपादन करती है, तथा भगवद्गीतामें 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्यादिसे निषेधमुखसे ब्रह्मका स्मरण भी किया गया है ।

भाष्य

दर्शयति च श्रुतिः पररूपप्रतिषेधेनैव ब्रह्म निर्विशेषत्वात्—'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (के० १।३) इति, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) इत्येवमाद्या । वाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म

भाष्यका अनुवाद

और 'अथात आदेशो० (दोनों रूपोंके व्याख्यानके अनन्तर उसके ब्रह्मज्ञानके हेतु होनेसे ब्रह्म मूर्त्त नहीं है और अमूर्त्त भी नहीं है यह उपदेश है) 'अन्यदेव०' वह विदित—व्यक्त कार्य और अविदित—अव्यक्त कारण इन दोनोंसे ही विलक्षण है), 'यतो वाचो०' (जहांसे वाणी मनके साथ पहुँचे विना ही लौट आती है) इत्यादि श्रुतियां पररूपके—अनात्मरूपके प्रतिषेधसे ही ब्रह्मको दिखलाती हैं, निर्विशेष होनेसे । वाष्कलिसे पूछे गये बाध्वने अवचनसे

रत्नप्रभा

किञ्च, श्रुतिस्मृत्योः परप्रतिषेधेन ब्रह्मोपदेशात् निष्प्रपञ्चं ब्रह्मेत्याह—**दर्शयति चेति** । अथ द्वैतोक्त्यनन्तरं ज्ञानहेतुत्वात् "नेति नेति" उपदेशः क्रियते इत्यर्थः । अधि—अन्यत् । पुनः पुनरधीहि भो इति निर्बन्धकरिणं तं द्वितीये तृतीये च प्रश्ने तूष्णींभावं त्यक्त्वा उवाच । उपशान्तः—निरस्तद्वैतः । अतस्तस्य तूष्णींभाव एवोत्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

किंच, श्रुति और स्मृति इन दोनोंमें परके निषेधसे ब्रह्मका उपदेश किया गया है, इससे ब्रह्म निष्प्रपञ्च है, ऐसा कहते हैं—"दर्शयति च" इत्यादिसे । अथ—द्वैतके कथनके अनन्तर ब्रह्मज्ञानका हेतु होनेसे "नेति नेति" ऐसा उपदेश किया है, यह अर्थ है । अधि—अन्यत् । मुझे उपदेश करो, ऐसा पुनः पुनः आग्रह करनेवालेसे उसके दूसरे या तीसरे प्रश्नपर तूष्णींभाव—मौनभाव को छोड़कर कहा । उपशान्त—जिससे द्वैत निरस्त हो गया है । इससे उसका

भाष्य

प्रोवाचेति श्रूयते—'स होवाचाधीहि भगवो ब्रह्म इति स तूर्ष्णींबभूव तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि, उपशान्तोऽयमात्मा' इति। तथा स्मृतिष्वपि परप्रतिषधेनैवोपदिश्यते—

'ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।' (गी० १३।१२) इत्येवमाद्यासु।

तथा विश्वरूपधरो नारायणो नारदमुवाचेति स्मर्यते—

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद!।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि॥' इति॥ १७॥

भाष्यका अनुवाद

ही ब्रह्मस्वरूप कहा, ऐसा सुना जाता है—'स होवाच०' (उसने कहा—हे भगवन् बाध्व! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिए, ऐसा पूछनेपर भी वह चुप रहा, दूसरी या तीसरी बार पूछनेपर उसने उससे कहा—हम कह रहे हैं, परन्तु तुम उसे नहीं समझ रहे हो यह आत्मा उपशान्त है। इसी प्रकार स्मृतियोंमें भी अन्यके प्रतिषेधसे ही उसका उपदेश किया गया है—'ज्ञेयं यत्तत्' (जो ज्ञेय है उसे यथावत् कहूँगा, जिसे जानकर पुरुष मोक्षका उपभोग करता है—पुनः मरण नहीं पाता, वह परब्रह्म अनादि है, वह सत् या असत् नहीं कहा जाता) इत्यादिमें। और विश्वरूपधारण करनेवाले नारायणने नारदसे कहा—'माया ह्येषा मया सृष्टा०' (हे नारद! मैंने यह माया रची है, जो कि तुम मुझे सर्वभूतगुणोंसे युक्त देखते हो, इसको मेरा यह वास्तविक रूप समझना, तुम्हारे लिए उचित नहीं है) ऐसी स्मृति है॥ १७॥

रत्नप्रभा

रमिति। सौत्रश्चाथोशब्दः—तथार्थकः। आदिमत्कार्यं तन्न भवतीति अनादिमत्। सद् इन्द्रियवेद्यम्। असत् परोक्षं च न, स्वप्रकाशत्वादित्यर्थः। सर्वभूतगुणैर्दिव्यगन्धादिभिर्युक्तं मां मूर्तिमन्तं पश्यसीति यत्, सा माया। अत एव सद्वैतो भगवानिति मां द्रष्टुं नार्हसि। वस्तुतो द्वैतातीतत्वादित्यर्थः॥ १७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तूर्ष्णींभाव ही उत्तर है। सूत्रमें अथशब्द तथाके अर्थमें है। आदिमत्—जिसका आदि हो वह कार्य है, ब्रह्म अनादिमत् है कार्य नहीं है। सत्—इन्द्रियवेद्य। असत्—परोक्ष भी ब्रह्म नहीं है, क्योंकि स्वयंप्रकाश है, ऐसा अर्थ है। सब भूतगुणोंसे—दिव्यगन्ध आदिसे युक्त मूर्तिमान् मुझे जो तुम देखते हो, वह माया है। उसीसे द्वैतसहित भगवान् हैं, ऐसा मुझको जानना, तुम्हारे लिए युक्त नहीं है, क्योंकि मैं वस्तुतः द्वैतातीत हूँ, ऐसा अर्थ है॥१७॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, उपमा, सूर्यकादिवत् ।

पदार्थोक्ति—[यत एवायमात्मा चैतन्यैकरसः परप्रतिषेधोपदेश्यो निर्विशेषः] अत एव—अस्मादेव हेतोः ['यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा' इत्यादिषु शास्त्रेषूपाधिकृतं सविशेषत्वमादाय] सूर्यकादिवत्—जलगतसूर्यप्रतिबिम्बवत् उपमा—सादृश्यम्—[दीयते न तु वस्तुगत्या ब्रह्म सविशेषमिति सूत्रस्यास्याऽभिप्रायः] ।

भाषार्थ—जिस कारणसे यह आत्मा चैतन्यैकरस परप्रतिषेधसे उपदेष्टव्य है, उसीसे 'यथा ह्ययम्' इत्यादि शास्त्रोंमें उपाधिकृत सविशेषत्वको लेकर ही जलगत सूर्य-प्रतिबिम्बके समान यह जीव है—यह उपमा दी गई है, वस्तुतः ब्रह्म सविशेष नहीं है, ऐसा इस सूत्रका भाव है ।

भाष्य

यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव चाऽस्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु—

'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।

भाष्यका अनुवाद

जिस कारणसे यह आत्मा चैतन्यरूप, निर्विशेष, वाणी और मनका अविषय और अन्य अर्थात् अनात्मस्वरूपके प्रतिषेधसे उपदेश करने योग्य है, उसी कारणसे इसके उपाधिजन्य, अपारमार्थिक सविशेषरूपका उपदेशकर मोक्षशास्त्रोंमें जलमें सूर्यके प्रतिबिम्बके समान, उपमाका ग्रहण किया जाता है—'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा०' (जैसे यह ज्योतिःस्वरूप सूर्य स्वतः एक होनेपर भी भिन्न भिन्न जलोंमें भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब होनेसे अनेक प्रकारका किया

रत्नप्रभा

किञ्च, यथा जलाद्युपाधिकल्पितः सूर्यचन्द्रादेर्भेदचलनादिः धर्मः, एवमात्मन इति दृष्टान्तश्रुतेश्च निर्विशेषं तत्त्वमित्याह—**अत एव चोपमेति** । जलस्थप्रतिबिम्बत्वाकारेण सूर्यस्याऽऽभासत्वद्योतनाय सूर्यकेति कप्रत्ययः । यथा अयं ज्योतिर्मयो

रत्नप्रभाका अनुवाद

और जैसे सूर्य, चन्द्र आदिके भेद और कम्प आदि धर्म जल आदि उपाधियोंसे कल्पित हैं, उसी प्रकार आत्माके भेद आदि धर्म उपाधिकल्पित हैं, इस दृष्टान्तश्रुतिसे ब्रह्म निर्विशेष तत्त्व है, ऐसा कहते हैं—"अत एव चोपमा" इत्यादिसे । जलमें स्थित प्रतिबिम्बके आकारसे सूर्यका आभास

भाष्य

उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥' इति ।

'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥' (ब्र० बिं० १२) इत्येवमादिषु ॥ १८ ॥

अत्र प्रत्यवस्थीयते—

भाष्यका अनुवाद

जाता है, वैसे ही यह जन्मरहित, स्वप्रकाश आत्मा उपाधिसे भिन्न क्षेत्रोंमें अनुवृत्त होनेसे अनेक प्रकारका किया जाता है) इसमें और 'एक एव हि भूतात्मा०' (एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूतमें विशेषरूपसे अवस्थित है, जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रप्रतिबिम्बके समान एकधा और बहुधा दीखता है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें ॥ १८ ॥

यहांपर शंका की जाती है—

रत्नप्रभा

विवस्वान् स्वत एकोऽपि घटभेदेन भिन्नाः अपोऽनुगच्छन् बहुधा क्रियते, एवमजोऽयमात्मा देवः स्वप्रकाश एकोऽप्युपाधिना मायया क्षेत्रेष्वनुगच्छन् भेदरूपः क्रियत इति योजना ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा सूचित करनेके लिए 'सूर्यक' शब्दमें 'क' प्रत्यय है । जैसे यह ज्योतिर्मय सूर्य स्वतः एक होनेपर भी घटभेदसे भिन्न दिखनेवाले जलमें अनुगत हुआ अनेक रूपवाला होता है, वैसे ही यह अज, स्वयंप्रकाश आत्मा एक होनेपर भी उपाधिसे—मायासे क्षेत्रोंमें अनुगत हुआ भेदरूप किया जाता है, इस प्रकार श्रुतिवाक्योंकी योजना करनी चाहिए ॥१८॥

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

पदच्छेद—अम्बुवत्, अग्रहणात्, तु न, तथात्वम् ।

पदार्थोक्ति—अम्बुवत्—यथा जलम् सूर्यरूपान्मूर्तान् भिन्नं दूरस्थं मूर्तं च गृह्यते, तद्वत् [अमूर्तात् सर्वात्मकात्मनो भिन्नदूरस्थोपाधेः] अग्रहणात्—ग्रहणाभावात् न तथात्वम्—न सूर्यतुल्यत्वमिति शङ्कार्थः ।

भाषार्थ—जैसे जल सूर्यरूप मूर्तसे पृथक् दूरस्थ और मूर्त गृहीत होता है, वैसे अमूर्त सर्वात्मक ब्रह्मसे पृथक् और दूरस्थ कोई उपाधि गृहीत नहीं होती है, अतः सूर्यका सादृश्य नहीं हो सकता है, यह शङ्काका तात्पर्य है ।

भाष्य

न जलसूर्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते तद्वद्ग्रहणात्। सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते। तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः। न त्वात्मा मूर्तो न चाऽस्मात् पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः, सर्वगतत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च। तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति ॥ १९ ॥

अत्र प्रतिविधीयते—

भाष्यका अनुवाद

यहांपर जलसूर्य आदिके साथ समानता उपपन्न नहीं होती, क्योंकि आत्माका उसके समान ग्रहण नहीं होता है। कारण कि साकार सूर्यादिसे पृथग्भूत, दूरदेशमें स्थित साकार जलका सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसलिए उसमें सूर्यादिके प्रतिबिम्बका उदय युक्त है। परन्तु आत्मा साकार नहीं है और उपाधियां इससे पृथग्भूत और दूरदेशस्थ नहीं हैं; क्योंकि वह सर्वगत और सबसे अभिन्न है। इसलिए यह दृष्टान्त अयुक्त है[1] ॥ १९ ॥

इस शङ्काका समाधान किया जाता है—

रत्नप्रभा

इहात्मनि उक्तदृष्टान्तवैषम्यशङ्कासूत्रम्—अम्बुवदिति। आत्मनो नीरूपत्वाद् दूरस्थोपाध्यभावाच्च, मायया बुद्ध्यादिषु प्रतिबिम्बभेदो न युक्त इत्यर्थः ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यहांपर आत्मामें उक्त दृष्टान्तकी विषमताका प्रतिपादक यह शङ्कासूत्र है—"अम्बुवत्" इत्यादि। आत्माके रूपरहित होनेसे तथा दूरस्थ उपाधिके अभावसे मायाद्वारा बुद्धि आदिमें प्रतिबिम्बका भेद हो, यह कथन ठीक नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥१९॥

(१) दृष्टान्त वही हो सकता है, जो भिन्नतया पृथक् देशमें गृहीत होता हुआ समानधर्मा हो जैसे मुखमें अत्यन्तआह्लादजनकत्वका सूचन करनेके लिए चन्द्रका दृष्टान्त है, वह (चन्द्र) मुखदेशसे पृथक्तया भिन्नदेशमें गृहीत भी होता है और समानता भी आनन्दजनकत्वेन है। ठीक वैसे ही प्रकृतमें घटे तो जलसूर्यकादि दृष्टान्त हो, परन्तु वैसा घटता नहीं है, क्योंकि, आत्मा मूर्त–परिच्छिन्न-परिमाण या भिन्नतया पृथक् देशमें गृहीत नहीं है क्योंकि 'दिव्यो ह्यमूर्तः' 'यश्चायं पृथिव्याम्' इत्यादिश्रुतिसे आत्माके मूर्तत्व और भिन्नत्वका खण्डन किया गया है, अतः आत्मा न समानधर्मा है और न भिन्नतया पृथक् देशमें गृहीत है, इसलिए जलसूर्यकका दृष्टान्त सर्वथा अनुपपन्न है, ऐसा समझकर पूर्वपक्षी पूर्वपक्ष करता है।

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

पदच्छेद—वृद्धिह्रासभाक्त्वम्, अन्तर्भावात्, उभयसामञ्जस्यात्, एवम्।

पदार्थोक्ति—[यथा सूर्यप्रतिबिम्बस्य जलान्तर्वर्तिनो जलगतवृद्धिह्रासभाक्त्वं न स्वाभाविकम्] एवम्—तथा [निर्विशेषस्य परमात्मनो देहाद्युपाधिषु] अन्तर्भावात्—अन्तर्गतत्वात् वृद्धिह्रासभाक्त्वम्—देहादिगतवृद्धिह्रासभाक्त्वम् [न वास्तविकम्, इत्येतावतांशेन उभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः] सामञ्जस्यात्—संगतत्वात् [भवति सूर्यादिदृष्टान्तः, नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वांशेन समत्वं ब्रह्मणापि चतुर्मुखेन वक्तुं शक्यम्, तथात्वे तदुच्छेदापातात्]।

भाषार्थ—जैसे जलान्तर्गत सूर्यबिम्ब जलगत वृद्धि और ह्रासका भागी वस्तुतः नहीं होता, वैसे ही निर्विशेष परमात्माका देहादि उपाधिके अन्तर्भावसे देहादिगत वृद्धि और ह्रासका भाजन होना वास्तविक नहीं है, इसी अंशको लेकर दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका परस्पर सादृश्य ठीक है, अतः सूर्यादि दृष्टान्त हो सकता है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका सर्वांशमें सादृश्य तो ब्रह्मा भी नहीं कह सकते, यदि सर्वांशमें साम्य हो, तो उसीका—दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभावका ही उच्छेद हो जायगा।

भाष्य

युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो विवक्षितांशसंभवात्, नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित्कंचिद्विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात्। न चेदं स्वमनीषया जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम्। शास्त्रप्रणीतस्य त्वस्य प्रयोजनमात्रमुपन्य-

भाष्यका अनुवाद

यह दृष्टान्त युक्त ही है, क्योंकि इसमें विवक्षित अंशका संभव है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें क्वचित् एक-आध विवक्षित अंशको छोड़कर सर्वसारूप्य कोई नहीं दिखा सकता, क्योंकि सर्वथा यदि समानता हो, तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकभावका उच्छेद ही हो जायगा। और जलसूर्यकादि

रत्नप्रभा

उपाध्यन्तर्भावेण तत्कल्पितधर्मवत्त्वम् अत्र विवक्षितांशः, तेन साम्येन समाधानसूत्रम्—**वृद्धिह्रासेति**। दृष्टान्तसाम्येऽपि नीरूपात्मनः प्रतिबिम्बः स्वबुद्ध्या कथं

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपाधियोंमें अन्तर्भाव होनेसे उपाधियोंसे कल्पित धर्मवाला होना ही यहां विवक्षित अंश है, उस साम्यसे समाधानसूत्र कहते हैं—"वृद्धिह्रास" इत्यादि। दृष्टान्तसाम्य होनेपर भी अपनी

भाष्य

स्यते। किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति। तदुच्यते—वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति। जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति, न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति। एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद् ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत इवोपाधिधर्मान् वृद्धिह्रासादीन्, एवमुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यादविरोधः॥२०॥

भाष्यका अनुवाद

दृष्टान्त अपनी बुद्धिसे नहीं रचे गये हैं। शास्त्रसे रचे गये इन दृष्टान्तोंके प्रयोजनमात्रका उपन्यास किया गया है। यहां विवक्षित सारूप्य क्या है? उसे कहते हैं—वृद्धि-क्षयशाली होना ही सारूप्य है। जलमें स्थित सूर्यप्रतिबिम्ब जलकी वृद्धि होनेपर बढ़ता है और जलके क्षीण होनेपर क्षीण होता है, जलके हिलनेपर हिलता है और जलभेद होनेपर भिन्न होता है, इस प्रकार जलके धर्मोंका अनुसरण करता है, परन्तु परमार्थतः सूर्य वैसा नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म परमार्थसे अविकृत, एकरूप है, तो भी देहादि उपाधिके अन्तर्भावसे वृद्धि, क्षय आदि उपाधिके धर्मोंको मानो प्राप्त होता है। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनोंके सामञ्जस्यसे अविरोध है॥ २०॥

रत्नप्रभा

कल्प्यत इत्याह—**न चेदमिति**। श्रूयते, न कल्प्यत इत्यर्थः। श्रुतदृष्टान्तस्य "सूर्यकादिवद्" (ब्र० सू० ३। २। १८) इत्युपन्यासेन किं फलमित्यत आह—**शास्त्रेति**। आत्मनो निर्विशेषत्वं फलमित्यर्थः। **अविरोध इति**। न वैषम्यमित्यर्थः। आत्मा प्रतिबिम्बशून्यः, नीरूपद्रव्यत्वाद्, वायुवदित्यनुमाने आकाशे व्यभिचारः। अल्पजले विदूराकाशप्रतिबिम्बदर्शनादुपाधिदूरस्थत्वमपि क्वचिदनपेक्षितमिति भावः॥ २०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बुद्धिसे रूपरहित आत्माके प्रतिबिम्बकी कल्पना कैसे करते हो? इसपर कहते हैं—"न चेदम्" इत्यादिसे। अपनी बुद्धिसे कल्पना नहीं करते, किन्तु सुनते हैं (श्रुतिमें ऐसा है) ऐसा अर्थ है। श्रुतिमें कहे गये दृष्टान्तका 'सूर्यकादिवत्' इसमें उपन्यास करनेसे क्या फल है, इसपर कहते हैं—"शास्त्र" इत्यादिसे। आत्मा निर्विशेष है, यह ज्ञान प्रयोजन है, यह अर्थ है। विरोध नहीं है अर्थात् वैषम्य नहीं है, ऐसा अर्थ है। आत्मा प्रतिबिम्बशून्य है, रूपशून्यद्रव्य होनेसे, वायुके समान, इस अनुमानमें आकाशमें हेतुका व्यभिचार होता है, क्योंकि अल्प जलमें विदूर आकाशका प्रतिबिम्ब देखनेमें आता है, इस प्रकार उपाधिका दूरमें होना भी कहीं अपेक्षित नहीं है, ऐसा भाव है॥२०॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च ।

पदार्थोक्ति—[परस्य ब्रह्मणः देहान्तरनुप्रवेशस्य प्रतिबिम्बभावरूपस्य 'पुरश्चक्रे द्विपदः' इत्यादिश्रुतौ] दर्शनात्—दृष्टत्वात् च [निर्विशेषमेव ब्रह्म सिद्धम् ।

भाषार्थ—प्रतिबिम्बभावरूप देहान्तरनुप्रवेश परब्रह्मका 'पुरश्चक्रे द्विपदः' इत्यादि श्रुतिमें देखा जाता है, अतः निर्विशेषरूप ब्रह्म सिद्ध है ।

भाष्य

दर्शयति च श्रुतिः परस्यैव ब्रह्मणो देहादिषूपाधिष्वन्तरनुप्रवेशम्—
'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ॥' (बृ० २।५।१८) इति ।
'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इति च । तस्माद् युक्त-

भाष्यका अनुवाद

'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे०' (परमेश्वरने दो पैरोंसे युक्त पुर—मनुष्यशरीर और पक्षिशरीर बनाये, चार पैरोंसे युक्त पुर—पशुशरीर बनाये, प्रथम वह परमेश्वर पक्षी—लिङ्गशरीरवाला होकर शरीरमें प्रविष्ट हुआ ।) 'अनेन जीवेन०' (इस जीवरूपसे प्रवेशकर) ये श्रुतियां परब्रह्मका ही देहादि उपाधियोंमें अनुप्रवेश

रत्नप्रभा

प्रवेशश्रुतेश्चोक्तानुमानबाध इत्याह सूत्रकारः—**दर्शनाच्चेति** । द्विपदः पुरः मनुष्यादिदेहांश्चक्रे । चतुष्पदः पुरः पशून् कृत्वा पुरः चक्षुराद्यभिव्यक्तेः पुरस्तात् सः ईश्वरः पक्षी लिङ्गशरीरी भूत्वा पुर उक्तानि शरीराणि आविशत्, स च प्रविष्टोऽपि पुरुषः पूर्ण एवेत्यर्थः । तैत्तिरीयके लिङ्गस्य पक्षाद्युक्तेः पक्षित्वं मन्तव्यम् । एवं प्रतिबिम्बभावेन भेदादेः कल्पितत्वात् निर्विशेषं ब्रह्मेति स्वमतमुपसंहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रवेशश्रुतिसे उक्त अनुमानका बाध है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"दर्शनाच्च" इत्यादिसे । उसने दो पैरवाले शरीर अर्थात् मनुष्य आदि शरीर बनाये, चार पैरवाले अर्थात् पशु-शरीर बनाकर प्रथम अर्थात् चक्षु आदिकी अभिव्यक्तिके पहले ही वह ईश्वर पक्षी अर्थात् लिंगशरीरवाला होकर उक्त शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ वह प्रविष्ट होता हुआ भी पुरुष—पूर्ण ही है, ऐसा अर्थ है । तैत्तिरीयकमें लिंगशरीरकी पक्षी आदि रूपसे उक्ति है, अतः उसमें-ईश्वरमें पक्षित्व मानना

भाष्य

मेतत्—'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र० सू० ३।२।१८) इति। तस्मान्निर्विकल्पकैकलिङ्गमेव ब्रह्म नोभयलिङ्गं विपरीतलिङ्गं चेति सिद्धम्।

अत्र केचिद् द्वे अधिकरणे कल्पयन्ति। प्रथमं तावत्—किं प्रत्यस्तमिताशेषप्रपञ्चमेकाकारं ब्रह्म, उत प्रपञ्चवदनेकाकारोपेतमिति? द्वितीयं तु—स्थिते प्रत्यस्तमितप्रपञ्चत्वे किं सल्लक्षणम् ब्रह्म, उत बोधलक्ष-

भाष्यका अनुवाद

दिखलाती हैं। इसलिए 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' यह युक्त है। इससे सिद्ध हुआ कि निर्विशेष एक लिङ्गवाला ही ब्रह्म है, दो लिङ्गवाला या विपरीत लिङ्गवाला नहीं है।

यहांपर कुछ लोग दो अधिकरणोंकी कल्पना करते हैं। पहला यह कि सम्पूर्ण प्रपञ्चसे शून्य एक आकारवाला ब्रह्म है, अथवा प्रपञ्चसे युक्त अनेक आकारवाला है? दूसरा—वह सर्वप्रपञ्चशून्य है, ऐसा सिद्ध होनेपर वह सद्रूप है

रत्नप्रभा

तस्मादिति। एकदेशिव्याख्याम् उत्थापयति—अत्रेति। "न स्थानतोऽपि" (ब्र० सू० ३।२।११) इत्यादि एकमधिकरणम्। तत्र ब्रह्मणो निष्प्रपञ्चत्वे स्थिते किंलक्षणं ब्रह्मेति सन्देहे "प्रकाशवच्च" (ब्र० सू० ३।२।१५) इत्यादि द्वितीयमधिकरणं प्रवृत्तम्। न सद्रूपमेव ब्रह्म, किन्तु प्रकाशवच्च—चिद्रूपं च। कुतः? अवैयर्थ्यात्। "सत्यं ज्ञानम्" (तै० २।१।१) "सदेव सोम्य" इत्युभयश्रुतेर्द्विरूपे ब्रह्मणि अर्थवत्त्वादिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तः—'आह च तन्मात्रम्' (ब्र० सू० ३।२।१६) सन्मात्रं ब्रह्म श्रुतिराह, ज्ञानस्य सत्तान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए। इस प्रकार भेदादि प्रतिबिम्बभावसे कल्पित होनेसे ब्रह्म निर्विशेष है, ऐसे अपने मतका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। एकदेशीकी व्याख्याका उत्थान करते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। 'न स्थानतोऽपि' इत्यादि एक अधिकरण है। उसमें ब्रह्म निष्प्रपञ्च है, ऐसा सिद्ध होनेपर 'ब्रह्मका क्या लक्षण है?' ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर 'प्रकाशवच्च' इत्यादि दूसरा अधिकरण प्रवृत्त हुआ। ब्रह्म सद्रूप ही नहीं है, किन्तु प्रकाशवत्—चिद्रूप भी है। किससे? व्यर्थ न होनेसे अर्थात् 'सत्यं ज्ञानम्', 'सदेव सोम्य' इन दोनों श्रुतियोंको द्विरूप ब्रह्ममें सार्थक होनेसे ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्त—'आह च तन्मात्रम्' ब्रह्म सन्मात्र—सद्रूप है, ऐसा श्रुति कहती है, क्योंकि ज्ञान सत्तासे भिन्न नहीं है। इस दूसरे अधिकरणको दूषित

भाष्य

णम्, उतोभयलक्षणमिति। अत्र वयं वदामः—सर्वथाऽप्यानर्थक्यमधिकरणान्तरारम्भस्येति। यदि तावदनेकलिङ्गत्वं परस्य ब्रह्मणो निराकर्तव्यमित्ययं प्रयासस्तत्पूर्वेणैव 'न स्थानतोऽपि' इत्यनेनाधिकरणेन निराकृतमित्युत्तरमधिकरणं 'प्रकाशवच्च' एतद् व्यर्थमेव भवेत्। न च सल्लक्षणमेव ब्रह्म न बोधलक्षणमिति शक्यं वक्तुम्, 'विज्ञानघन एव' इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कथं वा निरस्तचैतन्यं ब्रह्म चेतनस्य जीवस्यात्मत्वेनोपदिश्येत। नापि बोधलक्षणमेव ब्रह्म न सल्लक्षणमिति शक्यं वक्तुम्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (क० ६।१३) इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कथं वा निरस्तसत्ताको बोधोऽभ्युपगम्येत।

भाष्यका अनुवाद

या ज्ञानरूप है या उभयरूप है? इसपर हम कहते हैं—अन्य अधिकरणका आरंभ करना सर्वथा अनर्थक है। यदि परब्रह्म अनेकलिंगवाला है, इसके निराकरणके लिए यह प्रयास हो, तो इसका 'न स्थानतोऽपि' इस पूर्व अधिकरणसे ही निराकरण हो गया है, इसलिए अग्रिम 'प्रकाशवच्च' यह अधिकरण व्यर्थ ही होगा। और ब्रह्म सद्रूप ही है, ज्ञानरूप नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'ज्ञानघनः' (विज्ञानरूप ही है) इत्यादि श्रुतियोंके व्यर्थ होनेकी नौबत आवेगी। और चैतन्यरहित ब्रह्मका चेतन जीवके आत्मरूपसे किस प्रकार उपदेश किया जायगा? उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानरूप ही है, सद्रूप नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः ('है' इस प्रकार इसकी उपलब्धि करनी चाहिए) इत्यादि श्रुति व्यर्थ हो जायगी। और दूसरी बात यह है कि जिसका अस्तित्व

रत्नप्रभा

तिरेकादिति। इदं द्वितीयाधिकरणं दूषयति—अत्र **वयमिति**। द्वितीयाधिकरणस्य किं ब्रह्मणोऽनेकरूपत्वनिरासः फलम्, उत बोधरूपत्वनिरासः, आहोस्वित् सत्तानिरास इति विकल्प्य सर्वथाऽप्यानर्थक्यं प्रपञ्चयन् आद्ये गतार्थतामाह—**यदि तावदिति**। न द्वितीयः इत्याह—**न चेति**। ब्रह्मणो बोधरूपत्वनिरासे जडत्वाज्जीवाभेदश्रुतिबाधश्च स्यादित्याह—**कथं वेति**। न तृतीय इत्याह—**नापीति**। सत्ता-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"अत्र वयम्" इत्यादिसे। द्वितीय अधिकरणका क्या फल है, क्या ब्रह्मके अनेक रूपका निरसन करना फल है या ब्रह्मके ज्ञानरूपका निरसन करना अथवा सत्तारूपका निरसन करना फल है, ऐसा विकल्प करके सर्वथा आनर्थक्यका विस्तार दिखलाते हुए प्रथम विकल्पमें गतार्थता कहते हैं—"न तावत्" इत्यादिसे। दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। और ब्रह्मके ज्ञानरूपत्वका खण्डन करनेपर उसके जड होनेसे 'जीवसे

भाष्य

नाप्युभयलक्षणमेव ब्रह्मेति शक्यं वक्तुम्, पूर्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्—सत्ताव्यावृत्तेन च बोधेन बोधव्यावृत्तया च सत्तयोपेतं ब्रह्म प्रतिजानानस्य तदेव पूर्वाधिकरणप्रतिषिद्धं सप्रपञ्चत्वं ब्रह्मणः प्रसज्येत। श्रुतत्वाददोष इति चेत्, न; एकस्याऽनेकस्वभावत्वानुपपत्तेः। अथ—सत्तैव बोधः, बोध एव च

भाष्यका अनुवाद

नहीं है, उसका ज्ञान किस प्रकार किया जा सकता है? इसी प्रकार ब्रह्म उभयरूप ही है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्वमें जिस सिद्धान्तका स्वीकार किया गया है, उसके साथ विरोध होगा—सत्तासे भिन्न जो ज्ञान है उस ज्ञानसे युक्त और ज्ञानसे भिन्न जो सत्ता है, उस सत्तासे युक्त ब्रह्म है, ऐसी प्रतिज्ञा करनेवालेको पूर्व अधिकरणमें जिसका प्रतिषेध किया है, उस प्रपञ्चयुक्त ब्रह्मकी प्राप्ति होगी। श्रुतिप्रतिपादित होनेसे यह दोष नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि जो एक है वह अनेक स्वभाववाला नहीं हो सकता है। सत्ता ही ज्ञान

रत्नप्रभा

निरासे बोधस्य तुच्छत्वं च स्यादित्याह—**कथमिति**। न च बोधस्य सत्तानतिरेकान्न तुच्छतेति वाच्यम्, सद्बोधपदयोर्वाच्यानतिरेके पर्यायत्वप्रसङ्गात्। एवं सिद्धान्तं फलाभावेन दूषयित्वा पूर्वपक्षं दूषयति—**नापीति**। प्रसङ्गमेवाह—**सत्तेति**। व्यावृत्तत्वम्—भिन्नत्वम्। निष्प्रपञ्चैकरूपत्वसिद्धान्तविरोधात् भिन्नोभयरूपत्वपूर्वपक्षानुत्थानमित्यर्थः। उभयश्रुतिबलादुत्थानमिति शङ्कते—**श्रुतत्वादिति**। मेरुविन्ध्यवद् परस्परं भिन्नसत्ताबोधयोरेकब्रह्माभेदशङ्का श्रुतिशतेनापि न युक्ता इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म अभिन्न है, इस श्रुतिका बाध होगा, ऐसा कहते हैं—"कथं वा" इत्यादिसे। तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे। सत्ताका निरास—खण्डन हो जानेपर ज्ञान तुच्छ हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। ज्ञान सत्तासे अभिन्न होनेके कारण तुच्छ नहीं होगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत् और ज्ञान ये दोनों पद एक ही अर्थके वाचक हों, तो इन दोनोंके पर्याय होनेका प्रसंग आवेगा। इस प्रकार फलके अभावसे सिद्धान्तको दूषित करके पूर्वपक्षको दूषित करते हैं—"नापि" इत्यादिसे। प्रसङ्गको ही कहते हैं—"सत्ता" इत्यादिसे। व्यावृत्तत्व–भिन्नत्व। ब्रह्म निष्प्रपञ्च एकरूप है, इस सिद्धान्तके साथ विरोध होनेसे 'भिन्न उभयरूप है' इस पूर्वपक्षका उत्थान नहीं हो सकता, ऐसा अर्थ है। परन्तु दो प्रकारकी श्रुतियाँ हैं, उनके बलसे पूर्वपक्ष उठ सकेगा, ऐसी शंका करते हैं—"श्रुतत्वात्" इत्यादिसे। मेरु और विन्ध्यके समान परस्पर भिन्न सत्ता और ज्ञान ये

भाष्य

सत्ता, नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्तीति—यद्युच्येत, तथापि किं सल्लक्षणं ब्रह्म उत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमित्ययं विकल्पो निरालम्बन एव स्यात्। सूत्राणि त्वेकाधिकरणत्वेनैवास्माभिर्नीतानि। अपि च ब्रह्मविषयासु श्रुतिष्वाकारवदनाकारप्रतिपादनेन विप्रतिपन्नास्वनाकारे ब्रह्मणि परिगृहीतेऽवश्यं

भाष्यका अनुवाद

है और ज्ञान ही सत्ता है, इन दोनोंकी परस्पर भिन्नता नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो भी वह ब्रह्म सद्रूप है, या ज्ञानरूप है, या उभयरूप है? यह विकल्प निर्विषयक हो जायगा। सूत्रोंकी योजना तो हमने एक अधिकरणमें ही की है। ब्रह्मविषयक श्रुतियोंके साकार और निराकार ब्रह्मका प्रतिपादन करनेसे परस्पर विरोध होनेपर निकार ब्रह्मका स्वीकार किया गया है, ऐसी दशामें

रत्नप्रभा

नेति। सद्बोधयोरभेदोऽस्ति न वा? आद्ये श्रुतेरपि विरुद्धार्थत्वानुपपत्तेर्न पूर्वपक्षोत्थानम् इत्युक्तम्। सम्प्रति द्वितीयम् शङ्कते—**अथ सत्तैवेति**। सद्बोधपदयोर्वाच्यभेदेऽपि लक्ष्यैक्योपपत्तिः, अखण्डार्थस्वीकारादित्यर्थः। अखण्डार्थस्य पूर्वपक्षत्वं न स्यात्, सिद्धान्तत्वात्। किञ्चात्र संशयोऽपि, अयुक्त इत्याह—**तथापीति**। एकाधिकरणपक्षे सूत्राणि कथं नेयानीत्यत आह—**सूत्राणीति**। स्वपक्षे सूत्रसामञ्जस्यं चेत्याह—**अपि चेति**। अवश्यापेक्षितगत्यर्थत्वेनोत्तरसूत्राणां पूर्वैकवाक्यत्वान्नाऽधिकरणभेद इति भावः। आकारश्रुतीनां कल्पिताकारो गतिरिति स्वमतमुक्तम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

दोनों एक ब्रह्मसे अभिन्न हैं, ऐसी शंका सैकड़ों श्रुतियोंके अवलम्बनसे भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। सत् और ज्ञानमें भेद है अथवा नहीं? प्रथम पक्षमें श्रुति भी विरुद्ध अर्थको कहे, इसकी अनुपपत्ति है अतः पूर्वपक्षका उत्थान नहीं हो सकता, ऐसा कहा गया है। अब द्वितीय पक्षकी शंका करते हैं—"अथ सत्तैव" इत्यादिसे। सत्ता और ज्ञान इन दोनों पदोंका वाच्य अर्थ भिन्न है, तो भी लक्ष्य अर्थमें ऐक्यकी उपपत्ति है, क्योंकि अखण्डार्थका स्वीकार है, यह अभिप्राय है। अखण्ड अर्थ पूर्वपक्ष नहीं होगा, क्योंकि यही सिद्धान्त है। किंच, यहां संशय भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। एक अधिकरण है, इस पक्षमें सूत्रोंका अर्थ किस प्रकार समझना चाहिए, इसपर कहते हैं—"सूत्राणि" इत्यादिसे। और अपने पक्षमें सूत्रोंका सामञ्जस्य है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अवश्य अपेक्षित ज्ञानरूप प्रयोजन होनेसे उत्तर सूत्रोंकी पूर्वके साथ एकवाक्यता होनेसे अधिकरणका भेद नहीं है यह भाव है। कल्पित आकार ही आकार-प्रतिपादक श्रुतियोंकी गति है, ऐसा अपना मत कहा।

भाष्य

वक्तव्येतरासां श्रुतीनां गतिः। तादर्थ्येन प्रकाशवच्चेत्यादीनि सूत्राण्यर्थवत्तराणि संपद्यन्ते। यदप्याहुराकारवादिन्योऽपि श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुखेनानाकारप्रतिपत्त्यर्था एव न पृथगर्था इति, तदपि न समीचीनमिव लक्ष्यते। कथम्? ये हि परविद्याधिकारे केचित् प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा—'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च'

भाष्यका अनुवाद

अन्य श्रुतियोंकी गति अवश्य कहनी चाहिए। और उस गतिको कहनेके लिए 'प्रकाशवच्च' इत्यादि सूत्रोंका अत्यन्त उपयोग होता है। ब्रह्मके आकारका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ भी प्रपञ्चप्रविलय द्वारा अनाकार ब्रह्मका ही ज्ञान कराती हैं, उनका पृथक् प्रयोजन नहीं है, ऐसा जो कहते हैं वह भी समीचीन-सा नहीं जान पड़ता। वह असमीचीन किस प्रकार है? इस प्रकार कि पर विद्याके अधिकारमें 'युक्ता ह्यस्य०' (जैसे रथमें जुटे घोड़े हैं, वैसे ही इस आत्मामें जुटी हुई इन्द्रियां सौ और दश हैं, यह आत्मा ही इन्द्रियां है, यही दश, सहस्र, बहु और अनन्त

रत्नप्रभा

प्रपञ्चविलयवादिनस्तु 'मनोमयः प्राणशरीरः सत्यकामः' (छा० ३।१४।२) इत्याद्याकारश्रुतीनां तदितराकारप्रविलयो गतिरित्याहुः। मनोमय इति—कोऽर्थः, मनोऽतिरिक्तोपाधिशून्य इत्यर्थः। एवं प्राणशरीरपदेन प्राणातिरिक्तोपाधिनिषेधान्मनसोऽप्यभावसिद्धिः। एवं सर्वे शब्दा अनाकारब्रह्मपरा एवेति तन्मतम् अनूद्य दूषयति—**यदपीत्यादिना**। किं ज्ञेयब्रह्मप्रकरणस्थानाम् आकारशब्दानां निषेधपरत्वम् उत उपासनाप्रकरणस्थानामपि। तत्र आद्यम् अङ्गीकरोति—**ये हीति**। अस्य जीवभावं प्राप्तस्य ईश्वरस्य। दश हरयः विषयाहरणाद् दशेन्द्रियाणि, प्राणिभेदापेक्षया शतानि सहस्राणि च, तेषामीश्वराद् भेदमाशङ्क्याह—**अयमिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रपञ्चका विलय कहनेवाले तो 'मनोमयः प्राणशरीरः०' इत्यादि आकार-प्रतिपादक श्रुतियोंकी गति—उससे अन्य आकारका प्रविलय है, ऐसा कहते हैं। 'मनोमयः' इसका क्या अर्थ है? मनसे अन्य उपाधिसे रहित, यह अर्थ है। इसी प्रकार 'प्राणशरीरः' (प्राणसे अन्य उपाधिसे शून्य) इस पदसे प्राणसे अन्य उपाधिका निषेध होनेसे मनका भी अभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार सब शब्द अनाकार ब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं, ऐसा प्रपञ्चविलयवादीके मतका अनुवाद करके उसको दूषित करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। क्या ज्ञेय ब्रह्मके प्रकरणमें आये हुए आकारशब्द निषेधपरक हैं या उपासनाप्रकरणमें आये हुए शब्द भी? उसमें प्रथम पक्षका स्वीकार करते हैं—"ये हि" इत्यादिसे। अस्य—जीवभावको प्राप्त

भाष्य

(बृ० २।५।१९) इत्येवमादयस्ते भवन्ति प्रविलयार्थाः 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१९) इत्युपसंहारात्। ये पुनरुपासनाविधानाधिकारे प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा—'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्येवमादयो न तेषां प्रविलयार्थत्वं न्याय्यम्, 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३।१४।१) इत्येवंजातीयकेन प्रकृतेनैवोपासनविधिना तेषां संबन्धात्। श्रुत्या चैवंजातीयकानां गुणानामुपासनार्थत्वेऽवकल्प्यमाने न लक्षणया

भाष्यका अनुवाद

है) इत्यादि प्रपञ्च—विस्तारसे कहा गया है वह प्रविलयात्मक हो, क्योंकि 'तदेतद् ब्रह्मापूर्व०' (वह ब्रह्म है जिसका पूर्व—कारण नहीं, पर—कार्य नहीं, अन्तर नहीं) ऐसा उपसंहार है। परन्तु 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (आत्मा मनोमय, प्राणशरीर और चैतन्यरूप है) इत्यादि प्रपञ्च जो उपासनाविधानके अधिकारमें कहा गया है, वह प्रविलयार्थक है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'स क्रतुं कुर्वीत' (वह क्रतु—अध्यवसाय करे) इस प्रकार प्रकृत उपासनाविधिके साथ उस प्रपञ्च का सम्बन्ध है। श्रुतिसे—अभिधावृत्तिसे इस प्रकारके गुण उपासनार्थक हैं, ऐसा संभव होनेसे लक्षणवृत्तिसे उनका प्रविलय अर्थ नहीं हो सकता। और सब प्रपञ्चोंका प्रविलय ऐसा साधारण अर्थ हो तो

रत्नप्रभा

ईश्वर एव हरय इत्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—ये पुनरिति। मनोमयादिशब्दानां मुख्यवृत्त्या गुणपरत्वसम्भवे निषेधलक्षणापि न युक्ता इत्याह—श्रुत्या चेति। किञ्चाकारानाकारश्रुतिद्वैविध्ये सति ब्रह्म अनाकारमेव इत्यत्र किं विनिगमकमिति शङ्कोत्थानाद् अस्थूलादिश्रुतीनां निराकारतात्पर्यं नियामकमिति कथनार्थमिदं सूत्रमर्थवद् भवति। सर्वश्रुतीनां निषेधार्थत्वे तु शङ्कानुत्थानात् नियामकसूत्रं व्यर्थं

रत्नप्रभाका अनुवाद

हुए ईश्वरके दश हरि—इन्द्रियाँ हैं। विषयोंका आहरण करती हैं, इसलिए इन्द्रियोंको हरि कहा है। [यद्यपि इन्द्रियाँ दस हैं, तथापि] प्राणियोंके भेदकी अपेक्षासे सौ और हजार हैं। उनका आत्मासे भेद है, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"अयम्" इत्यादिसे। ईश्वर ही इन्द्रियाँ हैं, यह अर्थ है। अब द्वितीय पक्षको दूषित करते हैं—"ये पुनः" इत्यादिसे। मुख्य वृत्तिसे मनोमय आदि शब्दोंके गुणपरत्वका संभव होनेसे निषेधमें लक्षणा भी युक्त नहीं है ऐसा कहते हैं—"श्रुत्या च" इत्यादिसे। किंच, आकार और अनाकारके भेदसे श्रुतिका द्वैविध्य होनेपर ब्रह्म अनाकार ही है, उसमें विनिगमक क्या है इस प्रकार शंकाके उद्भवसे 'अस्थूलम्०' इत्यादि श्रुतियोंका निराकारतात्पर्य नियामक है, ऐसा कहनेके लिए

भाष्य

प्रविलयार्थत्वमवकल्पते । सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सति 'अरूपव-देव हि तत्प्रधानत्वात्' (ब्र० सू०३।२।१४) इति विनिगमनकारणवचन-मनवकाशं स्यात् । फलमप्येषां यथोपदेशं क्वचिद् दुरितक्षयः क्वचिदैश्वर्य-प्राप्तिः क्वचित् क्रममुक्तिरित्यवगम्यत एवेत्यतः पार्थगर्थ्यमेव उपासनावाक्या-नां ब्रह्मवाक्यानां च न्याय्यं नैकवाक्यत्वम् । कथं चैषामेकवाक्यतोत्प्रेक्ष्यत इति वक्तव्यम् । एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवदिति चेत्,

भाष्यका अनुवाद

'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' ऐसा जो विनिगमनाका कारण कहा गया है, वह निरवकाश हो जायगा। और उसका फल भी उपदेशके अनुसार कहींपर पापका क्षय, कहींपर ऐश्वर्यकी प्राप्ति और कहींपर क्रममुक्ति, ऐसा समझा जाता है। उससे उपासनावाक्य और ब्रह्मवाक्योंकी पृथगर्थता मानना ही ठीक है, एकवाक्यता मानना ठीक नहीं है। और इन वाक्योंकी एकवाक्यता किस प्रकार हो सकती है, वह कहना चाहिए। प्रयाज और दर्शपूर्णमासके वाक्योंके समान एक नियोग प्रतीत होता है, उससे इनकी एकवाक्यता है, यदि ऐसा कहो, तो यह कथन युक्त नहीं है,

रत्नप्रभा

स्यादित्याह—**सर्वेषाञ्चेति** । ननु उपासनार्थवाक्यानां स्वार्थे फलाभावात् सफल-निषेधवाक्यशेषत्वम् इत्याशङ्क्य तस्य श्रुतत्वात् नान्यशेषता इत्याह—**फलमपीति** । अर्थै-क्याभावाच्च नैकवाक्यता इत्याह—**कथञ्चेति** । अर्थैक्यं शङ्कते—**एकेति** । यथा फल-वत्परमापूर्वाख्यनियोगैक्यात् अङ्गप्रधानवाक्यानाम् एकवाक्यता, तथा तत्त्वावबोधकाम-स्य प्रपञ्चप्रविलयविषयक एको नियोगरूपोऽर्थोऽस्ति इत्याकारानाकारवाक्यानां सर्वेषा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह सूत्र सप्रयोजन है। परन्तु सब श्रुतियाँ निषेधार्थक हों, तो शंका नहीं होती, इसलिए नियामक सूत्र व्यर्थ होगा, ऐसा कहते हैं—"सर्वेषाम्" इत्यादिसे। परन्तु उपासनावाक्योंके स्वार्थमें फलका अभाव होनेसे वे फलयुक्त निषेधवाक्योंके अंग हैं, ऐसी आशंका करके उनके फलका श्रुतिमें श्रवण होनेसे अन्य वाक्योंके अंग नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—"फलमपि" इत्यादिसे। एक अर्थके अभाव होनेसे भी एकवाक्यता नहीं है, ऐसा कहते हैं—"कथञ्च" इत्यादिसे। एकार्थत्वकी शंका करते हैं—"एक" इत्यादिसे। जैसे परम अपूर्वरूप फलवान् नियोगके एक होनेसे अंगवाक्य और प्रधानवाक्योंकी एकवाक्यता है, वैसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवालेको प्रपञ्चका प्रविलयविषयक एक नियोगरूप अर्थ है, अतः आकारवाक्य और अनाकारवाक्य

भाष्य

नः ब्रह्मवाक्येषु नियोगाभावात्। वस्तुमात्रपर्यवसायीनि हि ब्रह्मवाक्यानि न नियोगोपदेशीनीत्येतद्विस्तरेण प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र। किंविषयश्चात्र नियोगोऽभिप्रेयत इति वक्तव्यम्। पुरुषो हि नियुज्यमानः कुरु इति स्वव्यापारे कस्मिंश्चिन्नियुज्यते। ननु द्वैतप्रपञ्चप्रविलयो नियोगविषयो भविष्यति। अप्रविलापिते हि द्वैतप्रपञ्चे ब्रह्मतत्त्वावबोधो न भवत्यतो ब्रह्मतत्त्वावबोधप्रत्यनीकभूतो द्वैतप्रपञ्चः प्रविलाप्यः, यथा स्वर्गकामस्य यागोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यते एवमपवर्गकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः, यथा च तमसि व्यवस्थितं घटादितत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतं तमः प्रविलाप्यते, एवं ब्रह्मतत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतः प्रपञ्चः प्रविलापयितव्यः। ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावं

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि ब्रह्मवाक्योंमें नियोगका अभाव है। ब्रह्मवाक्योंका वस्तुमात्रमें पर्यवसान होता है, वे नियोगका उपदेश नहीं करते, ऐसा 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्रमें विस्तारसे सिद्ध किया जा चुका है। और यहां नियोगका विषय क्या अभिप्रेत है, उसे कहना चाहिए, क्योंकि जो पुरुष नियुक्त होता है वह 'करो' ऐसे किसी एक अपने व्यापारमें नियुक्त किया जाता है। परन्तु (यहां शंका होती है) द्वैतप्रपञ्च का प्रविलय जबतक नहीं किया जाय, तबतक ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानका प्रतिबन्धक जो द्वैतप्रपञ्च है, उसका प्रविलय करना चाहिए। जैसे स्वर्गकी इच्छा करनेवालेको यागका अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा उपदेश किया जाता है, वैसे ही मुमुक्षुके लिए प्रपञ्चके प्रविलयका उपदेश किया जाता है। और जैसे अन्धकार में स्थित घटादि तत्त्वको जाननेकी इच्छा करनेवाला उस तत्त्वके प्रतिबन्धक अन्धकार का प्रविलय करता है, उसी प्रकार ब्रह्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा करनेवालेको उस तत्त्वके प्रतिबन्धक प्रपञ्चका प्रविलय

रत्नप्रभा

मेकवाक्यतेत्यर्थः। नियोगासिद्ध्या दूषयति—**नेति**। विषयं शङ्कते—**ननु द्वैतेति** प्रत्यनीकम्—प्रतिबन्धकम्। ननु प्रपञ्चविलये ब्रह्मलयः स्याद्, अभेदादित्यत आह—**ब्रह्मस्वभावो**

रत्नप्रभाका अनुवाद

इन सबकी एकवाक्यता है, ऐसा अर्थ है। नियोगकी असिद्धिसे दूषित करते हैं—"न" इत्यादिसे। विषयकी शंका करते हैं—"ननु द्वैत" इत्यादिसे। प्रत्यनीक—प्रतिबन्धक। प्रपञ्च और ब्रह्मका अभेद होनेसे प्रपञ्चका लय होनेपर ब्रह्मका भी लय हो, इसपर कहते हैं—"ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चः" इत्यादि। कार्यका स्वरूप कारण है, इससे कार्यका नाश होता है,

भाष्य

ब्रह्म, तेन नामरूपप्रपञ्चप्रविलापनेन ब्रह्मतत्त्वावबोधो भवतीति। अत्र वयं पृच्छामः—कोऽयं प्रपञ्चप्रविलयो नाम। किमग्निप्रतापसंपर्काद् घृतकाठिन्यप्रविलय इव प्रपञ्चप्रविलयः कर्तव्य आहोस्विदेकस्मिश्चन्द्रे तिमिरकृतानेकचन्द्रप्रपञ्चवदविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापयितव्य इति? तत्र यदि तावद्विद्यमानोऽयं प्रपञ्चो देहादिलक्षण आध्यात्मिको बाह्यश्च पृथिव्यादिलक्षणः प्रविलापयितव्य इत्युच्येत स पुरुषमात्रेणाशक्यः प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयोपदेशोऽशक्यविषय एव स्यात्। एकेन चादिमुक्तेन

भाष्यका अनुवाद

करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म जिसका स्वभाव है, ऐसा प्रपञ्च है, प्रपञ्च जिसका स्वभाव है, ऐसा ब्रह्म नहीं है, ऐसी शंका होनेपर हम पूछते हैं—यह प्रपञ्चका प्रविलय क्या है? क्या जैसे अग्निके सम्पर्कसे घृतकी कठिनता का प्रविलय होता है, वैसे प्रपञ्चका प्रविलय करना चाहिए या एक चन्द्रमें नेत्रदोषसे किये गये अनेक चन्द्रोंके प्रपञ्चके समान ब्रह्ममें अविद्याकृत नाम-रूपप्रपञ्चका विद्यासे प्रविलय करना। उनमें यदि विद्यमान (सत्य) देहादिरूप आध्यात्मिक और पृथ्वी आदि बाह्य प्रपञ्चका प्रविलय करना चाहिए यह कहो, तो यह विद्यमान प्रपञ्चका प्रविलय पुरुषमात्रसे शक्य न होनेसे उसके प्रविलय का उपदेश अशक्य-

---

रत्नप्रभा

हि प्रपञ्च इति। कारणं हि कार्यस्य स्वरूपम्, अतः कार्यनाशेऽपि कारणस्य न लयः घटनाशेऽपि मृद्दर्शनादित्यर्थः। प्रपञ्चस्य सत्यस्य कल्पितस्य वा लये विधिरिति विकल्प्य आद्यं दूषयति—**तत्र यदि तावदिति**। सत्यस्य ज्ञानादध्वस्तेः मुसलादिना च कृत्स्नद्वैतध्वंसायोगात् नभोग्रसनविधिवत् अशक्यविषयोऽयं विधिः। किञ्च, शुकादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो भी कारणका नाश नहीं होता, क्योंकि घटका नाश होता है, तो भी मृत्तिका देखनेमें आती है, ऐसा अर्थ है। सत्य प्रपञ्चके या कल्पित प्रपञ्चके लयका विधान है, ऐसा विकल्प करके प्रथम पक्षको दूषित करते हैं—"तत्र यदि तावत्" इत्यादिसे। सत्य वस्तुका ज्ञानसे ध्वंस नहीं होता है और समस्त द्वैतका मुसल आदिसे ध्वंस नहीं हो सकता है, अतः आकाशकी ग्रसनविधिके समान यह प्रपञ्चध्वंस अशक्य है, ऐसा अर्थ है। और शुक आदिकी मुक्तिसे सभीकी मुक्ति होगी, यह अभिप्राय है। द्वितीय पक्षका अनुवाद करके उसे दूषित

भाष्य

पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगदभविष्यत् । अथाऽविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं प्रपञ्चो विद्यया प्रविलाप्यत इति ब्रूयात्, ततो ब्रह्मैवाविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनाऽऽवेदयितव्यम् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति । तस्मिन्नावेदिते विद्या स्वयमेवोत्पद्यते तया चाऽविद्या बाध्यते, ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत् प्रविलीयते । अनावेदिते तु ब्रह्मणि ब्रह्मविज्ञानं कुरु प्रपञ्चप्रविलयं चेति शतकृत्वोऽप्युक्ते, न ब्रह्मविज्ञानं प्रपञ्चप्रविलयो वा जायते । नन्वावेदिते ब्रह्मणि तद्विज्ञानविषयः प्रपञ्चविलयविषयो वा नियोगः

भाष्यका अनुवाद

विषयवाला ही होगा, और एक आदि मुक्त पुरुषसे पृथ्वी आदिका प्रविलय किया गया होता तो आज जगत् पृथ्वी आदिसे रहित होता। एक ब्रह्ममें अविद्यासे अध्यस्त हुए इस प्रपञ्चका विद्यासे प्रविलय किया जाता है, ऐसा यदि कहो, तो अविद्यासे अध्यस्त हुए प्रपञ्चके निराकरणसे ब्रह्म ही जानना युक्त है—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (एक ही अद्वितीय ब्रह्म), 'तत्सत्यं स आत्मा०' (वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है) । उस ब्रह्मके ज्ञात होनेपर विद्या आप ही आप उत्पन्न होती है और उस विद्यासे अविद्याका बाध होता है । और तदनन्तर अविद्यासे अध्यस्त हुए इस सकल नामरूपप्रपञ्चका स्वप्नप्रपञ्चके समान प्रविलय होता है । परन्तु ब्रह्मके ज्ञात न होनेपर 'ब्रह्मका विज्ञान करो' 'प्रपञ्चका प्रविलय करो' ऐसा सैकड़ों वार कहनेपर भी ब्रह्मका विज्ञान या प्रपञ्चका प्रविलय नहीं हो

रत्नप्रभा

मुक्त्या सर्वमुक्तिः स्यादित्यर्थः । द्वितीयम् अनूद्य दूषयति—**अथेत्यादिना**। उपदेशजन्यज्ञानादेव अविद्यातज्जन्यप्रपञ्चलयसिद्धेर्नियोगो वृथेत्यर्थः । किञ्च, ब्रह्मज्ञानादौ विधिः किं ब्रह्मण्यज्ञाते ज्ञाते वा ? नाद्यः अशक्यत्वादित्याह—**अनावेदिते त्विति** । द्वितीयं शङ्कते—**नन्विति** । उपदेशादेव ज्ञाते ब्रह्मणि साक्षात्कारद्वैतबाधयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"अथ" इत्यादिसे । उपदेशजन्य ज्ञानसे ही अविद्या और तज्जन्य प्रपञ्चका लय सिद्ध होगा, अतः नियोग वृथा ही है, ऐसा अर्थ है । और ब्रह्मज्ञान आदिमें जो विधि कहते हो, वह अज्ञात ब्रह्ममें है या ज्ञात ब्रह्ममें ? अशक्य होनेसे प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अनावेदिते तु" इत्यादि । दूसरे पक्षकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । उपदेशजन्य ब्रह्मज्ञानसे साक्षात्कार और द्वैतबाध

भाष्य

स्यात्। न, निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वावेदनेनैवोभयसिद्धेः। रज्जुस्वरूप-प्रकाशनेनैव हि तत्स्वरूपविज्ञानमविद्याध्यस्तसर्पादिप्रपञ्चप्रविलयश्च भवति। न च कृतमेव पुनः क्रियते। नियोज्योऽपि च प्रपञ्चावस्थायां योऽवगम्यते जीवो नाम स प्रपञ्चपक्षस्यैव वा स्याद् ब्रह्मपक्षस्यैव वा? प्रथमे विकल्पे निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनेन पृथिव्यादिवज्जीवस्यापि प्रविलापितत्वात् कस्य प्रपञ्चप्रविलये नियोग उच्येत कस्य वा नियोगनिष्ठतया मोक्षोऽवाप्तव्य उच्येत। द्वितीयेऽपि ब्रह्मैवानियोज्यस्वभावं जीवस्य स्वरूपं जीवत्वं त्वविद्याकृतमेवेति प्रतिपादिते ब्रह्मणि नियोज्याभावान्नियोगाभाव एव।

भाष्यका अनुवाद

सकता। परन्तु ब्रह्मके ज्ञात होनेपर उसके विज्ञानके लिए या प्रपञ्चके विलयके लिए नियोग होगा। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रपञ्चरहित ब्रह्मस्वरूपके आवेदनसे ही दोनों सिद्ध होते हैं। रज्जुके स्वरूपके प्रकाशसे ही उसके स्वरूप-का विज्ञान और अविद्यासे अध्यस्त हुए सर्पादि प्रपञ्चका प्रविलय होता है। और जो किया गया हो, वही फिर नहीं किया जाता। प्रपञ्चकी अवस्थामें जो जीव नियोज्य समझा जाता है वह प्रपञ्चपक्षका ही है या ब्रह्मपक्षका? प्रथम विकल्पमें प्रपञ्चरहित ब्रह्मत्वका प्रतिपादन होनेसे पृथिवी आदिके समान जीवका भी प्रविलय हो गया है, अतः प्रपञ्चके प्रविलयमें किसका नियोग कहा जाय, नियोगनिष्ठ होनेसे किसको मोक्ष प्राप्तव्य है, ऐसा कहा जाय? दूसरे विकल्पमें भी ब्रह्म ही अनियोज्य जीवका स्वरूप है और जीवत्व तो अविद्यासे ही हुआ है,

रत्नप्रभा

सिद्धेर्विधिवैयर्थ्यम्, सिद्धस्य विधिना कर्तुमयोगादित्याह—**नेति**। एवं विषया-भावात् नियोगाभावमुक्त्वा नियोज्याभावात् तदभावमाह—**नियोज्योऽपि चेति**। प्रपञ्चान्तर्भूतो, ब्रह्म वेत्यर्थः। आद्ये जीवनाशाद् विध्ययोगः, द्वितीये नियोज्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्ध है, इससे विधि व्यर्थ है, क्योंकि जो सिद्ध है, उसमें विधि व्यर्थ है, जो सिद्ध है, उसको विधि नहीं कर सकती है ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। इस प्रकार विषयके अभावसे नियोगका अभाव कहकर नियोज्यके अभावसे उसका अभाव कहते हैं—"नियोज्योऽपि च" इत्यादिसे। प्रपञ्चान्तर्भूत जीव है अथवा ब्रह्म ही जीव है, ऐसा अर्थ है। प्रथम पक्षमें जीवका नाश होनेसे विधिका अयोग है, द्वितीय पक्षमें

भाष्य

द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधिप्रधाना भवन्ति। लोकेऽपीदं पश्येदमाकर्णयेति चैवंजातीयकेषु निर्देशेषु प्रणिधानमात्रं कुर्वित्युच्यते न साक्षाज्ज्ञानमेव कुर्विति। ज्ञेयाभिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचिज्जायते कदाचिन्न जायते। तस्मात्तं प्रति ज्ञानविषय एव दर्शयितव्यो ज्ञापयितुकामेन। तस्मिन् दर्शिते स्वयमेव यथाविषयं यथाप्रमाणं च ज्ञानमुत्पद्यते। न च प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽ-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा प्रतिपादन हुआ। इससे ब्रह्म नियोज्य नहीं हो सकता, इसलिए उसमें नियोगका अभाव ही है। और परविद्याके अधिकारमें पठित 'द्रष्टव्य' आदि शब्दोंका भी तात्पर्य तत्त्वके अभिमुख करनेमें ही है, तत्त्वज्ञानका विधान करनेमें नहीं है। लोकमें (व्यवहारमें) भी 'यह देखो' 'यह सुनो' इस प्रकारकी आज्ञाओंमें 'एकाग्र मन करो' ऐसा कहा जाता है, 'साक्षात् ज्ञान ही करो' ऐसा नहीं कहा जाता। जो ज्ञेयके अभिमुख होता है, उस पुरुषको भी कदाचित् ज्ञान होता है और कदाचित् नहीं होता है। इसलिए जो ज्ञान कराना चाहता है, उसे उसको ज्ञानका विषय ही दिखलाना पड़ता है, उसको दिखलानेसे विषय और प्रमाणके

रत्नप्रभा

सिद्धिः। तर्हि ज्ञाने विधिप्रत्ययानां का गतिरित्यत आह—**द्रष्टव्यादिशब्दा इति**। ननु श्रुतं ज्ञानं त्यक्त्वा तत्साधनव्यापारविधिः किमिति कल्प्यत इत्याशङ्क्य ज्ञानस्य पुरुषकृत्यसाध्यत्वादित्याह—**ज्ञेयाभिमुखस्यापीति**। किञ्च, ज्ञानविधिवादिना ज्ञेयं ब्रह्माऽवश्यं वेदान्तैर्ज्ञापनीयम्, विषयानवबोधे विधिबोधायोगात्। तथा च वेदान्तैरेव ज्ञानोत्पत्तेर्विध्यानर्थक्यमित्याह—**तस्मादिति**। तं ज्ञानार्थिनं प्रतीत्यर्थः। ननु उत्पन्नं ज्ञानम् अन्यथाकर्तुं विधिरर्थवानिति, नेत्याह—**न चेति**। ननु

रत्नप्रभाका अनुवाद

नियोज्याभाव की सिद्धि होगी। तब जो ज्ञानवाक्योंमें विधिप्रत्यय हैं उनकी क्या गति होगी? इसपर कहते हैं—"द्रष्टव्यादिशब्दाः" इत्यादिसे। श्रुत ज्ञानको छोड़कर उसके साधन-व्यापार-विधिकी कल्पना क्यों करते हो? ऐसी आशङ्का करके ज्ञानके पुरुषकृतिसाध्य न होनेसे, ऐसा कहते हैं—"ज्ञेयाभिमुखस्य" इत्यादिसे। किञ्च, ज्ञानविधिवादीको ज्ञेय ब्रह्मका वेदान्तोंसे अवश्य ज्ञान कराना होगा, क्योंकि विषयका अवबोध न होनेपर विधिका बोध नहीं होता है। एवञ्च वेदान्तोंसे ही ज्ञान उत्पन्न होगा, तो विधि व्यर्थ है, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। उस ज्ञानार्थीके प्रति, ऐसा अर्थ है। उत्पन्न ज्ञानके अन्यथाकरणके लिए विधि है? नहीं ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। परन्तु योषित्

भाष्य

र्थेऽन्यथाज्ञानं नियुक्तस्याप्युपपद्यते । यदि पुनर्नियुक्तोऽहमित्यन्यथाज्ञानं कुर्यान्न तु तज्ज्ञानं किं तर्हि मानसी सा क्रिया। स्वयमेव चेदन्यथोत्पद्येत भ्रान्तिरेव स्यात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते। न च प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते। नहि तत्पुरुषतन्त्रम्, वस्तुतन्त्रमेव हि तत्। अतोऽपि नियोगाभावः, किञ्चाऽन्यत्, नियोगनिष्ठतयैव पर्यवस्यत्याम्नाये यदभ्युपगतमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं

भाष्यका अनुवाद

अनुसार अपने आप ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। और अन्य प्रमाणोंसे अन्य प्रकारसे प्रसिद्ध अर्थमें अन्य प्रकारसे नियुक्तको भी ज्ञान नहीं होता। परन्तु जो 'मैं नियुक्त हूँ' ऐसा समझकर अन्यथा ज्ञान करे, तो वह ज्ञान नहीं है। तब क्या है? वह मानसी क्रिया है और आप ही जो अन्यथा उत्पन्न हो, तो भ्रान्ति ही है। ज्ञान तो प्रमाणजन्य है और विषयके अनुसार है, वह सौ नियोगोंसे भी नहीं कराया जा सकता है, या सौ प्रतिषेधसे भी उसका निवारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह पुरुषके अधीन नहीं है, किन्तु वह तो वस्तुके अधीन है, इससे भी नियोगका अभाव है। और दूसरी बात है कि यदि वेदवाक्योंका नियोग निष्ठतामें ही पर्यवसान हो, तो अनियोज्य ब्रह्म जीवका स्वरूप है, ऐसा जो स्वीकार किया

रत्नप्रभा

'अनग्निर्योषिद्' इति प्रत्यक्षप्रमाणात् उत्पन्नमपि ज्ञानं 'तामग्निं ध्यायेद्' इति विधिना अन्यथाकृतं दृश्यते इत्यत आह—**यदीति**। अन्यथाधीः कृतिसाध्या चेत् क्रियैव, कृतिं विनैव चेद् भ्रान्तिरेव, अतो मानं विना विधितो ज्ञानासिद्धेर्मानवस्तुतन्त्रे ज्ञाने विधिः मृषेत्यर्थः। वेदान्तेषु विधिवादिनोऽन्यच्च दूषणमस्तीत्याह—**किञ्चान्यदिति**। ब्रह्मात्मैक्ये नियोगे च वेदान्तवाक्यस्य प्रामाण्यम् आशङ्क्य अर्थभेदाद् वाक्यभेदो

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्नि नहीं है' इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणसे उत्पन्न हुआ ज्ञान 'उसका अग्निरूपसे ध्यान करो' इस विधिसे अन्यथाकृत देखा जाता है, इसपर कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे। अन्यथाबुद्धि यदि कृतिसाध्य है, तो वह क्रिया ही है, और यदि कृतिके बिना हुई है तो भ्रान्ति ही है, अतः प्रमाणके बिना विधिसे ज्ञान नहीं होता, इसलिए प्रमाण और वस्तुके अधीन होनेसे ज्ञानका विधान व्यर्थ ही है। और वेदान्तोंमें विधि कहनेवालोंके मतमें अन्य भी दूषण है, ऐसा कहते हैं—"किञ्चान्यत्" इत्यादिसे। ब्रह्मात्मैक्यमें और नियोगमें वेदान्तवाक्यके प्रामाण्यकी आशङ्का करके

भाष्य

जीवस्य तदप्रमाणकमेव स्यात्। अथ शास्त्रमेवाऽनियोज्यब्रह्मात्मत्वमप्याचक्षीत तदवबोधे च पुरुषं नियुञ्जीत ततो ब्रह्मशास्त्रस्यैकस्य द्व्यर्थपरता विरुद्धार्थपरता च प्रसज्येयाताम्। नियोगपरतायां च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना कर्मफलवन्मोक्षफलस्याऽदृष्टफलत्वमनित्यत्वं चेत्येवमादयो दोषा न केनचित् परिहर्तुं शक्याः। तस्मादवगतिनिष्ठान्येव ब्रह्मवाक्यानि न नियोगनिष्ठानि। अतश्चैकनियोगप्रतीतेरेकवाक्यतेत्ययुक्तम्। अभ्युपगम्यमानेऽपि च ब्रह्मवाक्येषु नियोगसद्भावे तदेकत्वं निष्प्रपञ्चोपदेशेषु सप्रपञ्चोपदेशेषु चाऽसिद्धम्।

भाष्यका अनुवाद

गया है, वह प्रमाणरहित ही हो जायगा। यदि शास्त्र ही अनियोज्य ब्रह्म जीवका आत्मा है, ऐसा कहे और उसके बोधमें पुरुषको नियुक्त करे, तो एक ब्रह्मशास्त्र दो अर्थ प्रतिपादन करनेवाला तथा विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाला है, ऐसा प्राप्त होगा। वेदवाक्योंका तात्पर्य नियोगमें हो, तो श्रुतकी हानि और अश्रुतकी कल्पना, कर्मफलके समान मोक्षफलका अदृष्टफलत्व होना, तथा अनित्य होना, इत्यादि दोषोंका किसीसे भी परिहार नहीं हो सकेगा। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मवाक्य ज्ञाननिष्ठ ही हैं, नियोगनिष्ठ नहीं हैं, इसलिए एक नियोगकी प्रतीति होनेसे उनकी एकवाक्यता है, ऐसा कहना उचित नहीं है। और ब्रह्मवाक्योंमें नियोगका सद्भाव है, ऐसा स्वीकार करनेपर भी निष्प्रपञ्च उपदेशोंमें और सप्रपञ्च

रत्नप्रभा

विरुद्धार्थत्वादप्रामाण्यं चेति दूषयति—अथेत्यादिना। किञ्च, श्रुतं ब्रह्म, न श्रुतो विधिर्वेदान्तेषु तत्कल्पने च कर्मजन्यत्वान्मोक्षस्याऽनित्यत्वसातिशयत्वादिप्रसङ्ग इत्याह—**नियोगपरतायां चेति**। फलितमाह—**अतश्चेति**। इदानीं प्रौढवादेन नियोगम् अङ्गीकृत्य तदेकत्वं खण्डयति—**अभ्युपगम्यमानेऽपीति**। भिन्नक्रियावाचिशब्दः शब्दान्तरं यथा यजति ददातीति, तथेहापि वेद उपासीतेति शब्दभेदः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थके भेदसे वाक्यभेद और विरुद्धार्थत्व होनेसे अप्रामाण्य है, ऐसा दूषित करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। किञ्च, ब्रह्म तो श्रुतिप्रतिपादित है, परन्तु विधि श्रुत नहीं है, यदि वेदान्तमें उसकी कल्पना की जाय, तो कर्मजन्य होनेसे मोक्ष अनित्य और सातिशय हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"नियोगपरतायाञ्च" इत्यादिसे। फलित कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। अब प्रौढिवादसे नियोगका अङ्गीकार करके उसके एकत्वका खण्डन करते हैं—"अभ्युपगम्यमानेपि" इत्यादिसे। शब्दान्तर वह होता है जो भिन्न क्रियाका वाचक हो, जैसे यजति, ददाति, इत्यादि वैसे प्रकृतमें

भाष्य

नहि शब्दान्तरादिभिः प्रमाणैर्नियोगभेदेऽवगम्यमाने सर्वत्रैको नियोग इति शक्यमाश्रयितुम्। प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येषु त्वधिकारांशेनाभेदाद् युक्तमेकत्वम्। न त्विह सगुणनिर्गुणचोदनासु कश्चिदेकत्वाधिकारांशोऽस्ति। नहि भारूपत्वा-

भाष्यका अनुवाद

उपदेशोंमें एक ही नियोग है, यह असिद्ध है, क्योंकि अन्य शब्द आदि प्रमाणोंसे नियोगका भेदज्ञान होनेपर भी सर्वत्र एक नियोग है, ऐसा आश्रय नहीं किया जा सकता है, प्रयाज और दर्शपूर्णमास वाक्योंमें तो अधिकाररूप अंशमें अभेद होनेसे एकत्व युक्त है। परन्तु यहां सगुण और निर्गुणके विधिवाक्योंमें कोई

रत्नप्रभा

निर्गुणसगुणरूपभेदः, प्रकरणभेदः, मुक्त्यभ्युदयफलभेदः, इत्येतैः प्रमाणैर्निर्गुण-ज्ञानसगुणोपासनाविषयकनियोगभेद इत्यर्थः। कथं तर्हि अङ्गाङ्गिवाक्येषु नियोगैक्यम्? तत्राह—**प्रयाजेति**। एकस्यैव स्वर्गकामस्य साङ्गप्रधानाधिकारात् तत्साध्यफलापूर्वै-क्यात् एकवाक्यता इत्यर्थः। इहापि निर्गुणसगुणविद्ययोः एकाधिकारात् नियोगैक्यमस्तु, नेत्याह—**न त्विहेति**। मुक्त्यभ्युदयार्थिभेदात् मिथो विरुद्धार्थविद्ययोः अङ्गाङ्गित्व-योगाच्च न नियोगैक्यम्। न च निर्गुणविद्यानियोग एक एव सगुणविद्यानङ्गीकारा-दिति वाच्यम्। अहो विपरीतं पाण्डित्यमायुष्मतः, विध्ययोग्यविद्यायां विधि-र्योग्यायामविधिरिति। तस्मात् साकारवाक्यानाम् आकारलयद्वारा निर्गुणवाक्यैकवाक्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेद और उपासीत, इस प्रकार शब्दका भेद होगा, निर्गुण और सगुण रूपका भेद, प्रकरणभेद, मुक्ति और अभ्युदयरूप फलभेद, इत्यादि प्रमाणोंसे निर्गुण ज्ञान और सगुण उपासनाविषयक नियोगका भेद होगा ऐसा अर्थ है। तो अङ्गवाक्य और अङ्गिवाक्योंमें एक नियोग कैसे होगा? इसपर कहते हैं—"प्रयाज" इत्यादिसे। स्वर्गाभिलाषी एक ही पुरुषका साङ्ग प्रधानमें अधिकार होनेसे साध्य फल-पूर्वक होनेसे एकवाक्यता है, ऐसा अर्थ है। यहाँ भी निर्गुण और सगुण विद्याके एक होनेसे एक ही नियोग हो? नहीं, ऐसा कहते हैं—"न त्विह" इत्यादिसे। मुक्त्यर्थी और अभ्युदयार्थीके पृथक् होनेसे परस्पर विरुद्ध प्रयोजनवाली विद्याका अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता है, अतः नियोगका अभेद नहीं है। निर्गुण विद्याका नियोग एक ही है, क्योंकि सगुण विद्याका स्वीकार नहीं है, ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो, उससे कहिए कि वाह रे, आपका विपरीत पाण्डित्य, क्योंकि विधिके सर्वथा अयोग्य विद्यामें विधिका स्वीकार करते हो और विधिके योग्य सगुण विद्यामें विधिका स्वीकार नहीं करते हो। इससे साकार ब्रह्म प्रतिपादक श्रुतिवाक्योंकी आकारके लयद्वारा निर्गुण वाक्योंके साथ एकवाक्यताकी

भाष्य

दयो गुणाः प्रपञ्चप्रविलयोपकारिणः, नापि प्रपञ्चप्रविलयो भारूपत्वादि-गुणोपकारी, परस्परविरोधित्वात् । नहि कृत्स्नप्रपञ्चप्रविलापनं प्रपञ्चैक-देशापेक्षणम् चैकस्मिन् धर्मिणि युक्तं समावेशयितुम् । तस्मादस्मदुक्त एव विभाग आकारवदनाकारोपदेशानां युक्ततर इति ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

एकत्व प्रतिपादन करनेवाला अधिकारांश नहीं है, क्योंकि भारूपत्व आदि गुण प्रपञ्चके प्रविलय करनेमें उपकारी नहीं है, उसी प्रकार प्रपञ्चका प्रविलय भारूपत्व आदि गुणोंका उपकारी नहीं है, क्योंकि वे परस्पर विरोधी हैं । एक ही धर्मीमें सकल प्रपञ्चका प्रविलय और प्रपञ्चके एक देशकी अपेक्षा इन दोनोंका समावेश नहीं किया जा सकता है । इससे सिद्ध हुआ कि साकार और अनाकार ब्रह्मका उपदेश करनेवाले वाक्योंका हमसे कहा गया विभाग ही अधिक श्रेष्ठ है ॥२१॥

रत्नप्रभा

तागतिः असद्गतिरेव, किन्तु तेषां कल्पिताकारो गतिस्तदुपासनयाभ्युदयसिद्धेः । निर्गुणवाक्यानां तु परमार्थालम्बनत्वमित्यस्मदुक्त एव विभागः साधीयान् इत्युपसंह-रति—तस्मादिति ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवगति असद्गति है, किन्तु उसका तात्पर्य कल्पित आकारमें है और उसकी उपासनासे अभ्यु-दयकी सिद्धि होती है निर्गुण वाक्योंकी तो परमार्थ वस्तुके अवलम्बनमें गति है, ऐसा हमारा कहा हुआ विभाग ही सर्वश्रेष्ठ है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥२१॥



[६ प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण सू० २२-३०]

ब्रह्मापि नेति नेतीति निषिद्धमथवा नहि ।
द्विरुक्त्या ब्रह्मजगती निषिध्येते उभे अपि ॥१॥
वीप्सेयमितिशब्दोक्ता सर्वदृश्यनिषिद्धये ।
अनिदं सत्यसत्यञ्च ब्रह्मैकं शिष्यतेऽवधिः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'नेति नेति' इस वाक्यसे ब्रह्मका भी निषेध होता है अथवा नहीं होता है?

पूर्वपक्ष—'नेति नेति' इस प्रकार द्विरुक्ति होनेसे ब्रह्म और जगत् दोनोंका निषेध होता है।

सिद्धान्त—सब दृश्योंके निषेधके लिए यह इति शब्दसे कथित वीप्सा अर्थात् दो बार कथन है, इसलिए इदंशब्दके लिए अयोग्य सत्यका भी सत्य अवधिरूप एक ब्रह्म अवशिष्ट रहता है, अर्थात् उसका 'नेति' इत्यादिसे निषेध नहीं होता है।

---

* इस अधिकरणमें यह तत्त्व है—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' इस ब्राह्मणमें बड़े विस्तृत प्रबन्धसे पृथिव्यादिरूप मूर्तस्वरूप और वाय्वाकाशरूप अमूर्तस्वरूपका विचारकर अनन्तर ब्रह्मके उपदेशके लिए यह कहा गया है 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि। इस श्रुतिका अर्थ यों है—दो रूपोंके कथनके बाद रूपरहित ब्रह्मके वक्तव्य कोटिमें पतित होनेसे 'नेति नेति' यह ब्रह्मोपदेश है। इसमें पूर्वपक्षकर्ता यह कहता है कि प्रथम नेतिशब्दसे यदि एक ही जगत्का निषेध किया जाय, तो द्वितीय नेतिशब्द निरर्थक हो जायगा, इसलिए द्वितीय नेतिशब्दसे ब्रह्मका भी निषेध होता है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—द्वितीय निषेध व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उसका प्रयोजन वीप्सा है, वीप्साके होनेपर जो दृश्य है और इतिशब्दनिर्देशार्ह है, वह सब 'ब्रह्म नहीं हो सकता है' इस प्रकार निषिद्ध होगा। यदि वीप्सा नहीं होगी तो एक नकारसे प्रकृतसे प्राप्त इतिशब्दसे निर्दिष्ट मूर्त और अमूर्तका निषेध होगा और मूर्ताद्यभाव तथा मूलाविद्याका निषेध नहीं होगा, एवञ्च उन दोनोंमें (मूर्ताद्यभाव और मूलाविद्यामें) ब्रह्मत्व प्रसक्त होगा। वीप्साके निरङ्कुश होनेसे ब्रह्मका निषेध क्यों न करे! यदि इस प्रकार कोई दोषका उद्भावन करे, तो कहो कि उसका निषेध कथमपि नहीं कर सकते, क्योंकि ब्रह्म इतिशब्दके लिए योग्य नहीं है, और 'अथात आदेशो०' इत्यादिसे बड़े समारोहसे ब्रह्मके उपदेशकी प्रतिज्ञाकर श्रुति यदि उसी ब्रह्मका निषेध करे, तो अपने ही स्वार्थका विनाश करेगी, इसी तरह ब्रह्मका निषेध करनेपर वाक्यशेष भी असङ्गत होगा, कारण कि वाक्यशेषमें 'अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्' इत्यादिसे विवक्षित ब्रह्मके गिरि, नदी आदि लौकिक सत्यकी अपेक्षासे आत्यन्तिक अधिक सत्यका सूचन करनेके लिए नामका निर्देश किया गया है। सबका निषेध माननेपर यह सब कदर्थित होगा, अतः ब्रह्मका 'नेति' इत्यादिसे निषेध नहीं होता है।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

पदच्छेद—प्रकृतैतावत्त्वम्, हि, प्रतिषेधति, ततो, ब्रवीति, च, भूयः ।

पदार्थोक्ति—प्रकृतैतावत्त्वम्—प्रकृते प्रधानतया उपन्यस्तं यत् इयत्तापरिच्छिन्नं ब्रह्मणो रूपद्वयं [तदेव] प्रतिषेधति—निषेधति ['नेति नेति' इत्यादिश्रुतिः, इतिशब्दस्य प्रधानत्वेन प्रकृतपरामर्शित्वात्, ब्रह्मणश्च न प्रधानत्वेन प्रकृतत्वम्, 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इति रूपद्वयात्मकजगदुपसर्जनेत्वेनैव तस्याभिहितत्वात्, इतश्च ब्रह्मणो न निषेधः] हि—यस्मात् ततः—प्रपञ्चनिषेधानन्तरम् भूयः—पुनः 'नह्येतस्मात्' इत्यादिनिर्वचनवाक्यं ब्रह्म ब्रवीति, यद्वा प्रपञ्चनिषेधानन्तरम् 'अथ नामधेयम्' इत्यादिवाक्यम् ब्रह्म ब्रवीति, [न च प्रपञ्चस्य निषेधे प्रत्यक्षविरोधः, तस्य व्यावहारिकप्रामाण्यादित्यनवद्यम्] ।

भाषार्थ—'नेति नेति' इत्यादि श्रुति प्रकृतमें प्रधानतया उपन्यस्त ब्रह्मके मूर्त और अमूर्तरूप दो रूपोंका ही निषेध करती है, क्योंकि इति शब्द प्रधानरूपसे प्रकृतका परामर्श करता है। वे ही प्रधानतया प्रकृत हैं, ब्रह्म प्रधानतया प्रकृत नहीं हैं, परन्तु रूपद्वयात्मकजगत्के उपसर्जनरूपसे निर्दिष्ट है, अतः उसका निषेध नहीं होता है, और प्रपञ्च निषेधके पीछे भी 'न ह्येतस्मात्' इत्यादिनिर्वचनवाक्य ब्रह्मको कहता है अथवा 'अथ नामधेयम्' इत्यादिवाक्य ब्रह्मको कहता है, अतः उसका निषेध नहीं है, यह निर्विवाद है। प्रत्यक्ष विरोध होनेसे प्रपञ्चका निषेध नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसमें व्यावहारिक प्रामाण्य है, अतः दोष नहीं है।

भाष्य

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' मर्त्यं चामर्त्यं च स्थितं च यच्च त्यच्च (बृ० २।३।१) इत्युपक्रम्य पञ्चमहाभूतानि द्वैराश्येन प्रवि-

भाष्यका अनुवाद

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तम्०' (ब्रह्मके दो ही रूप हैं, मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत) ऐसा उपक्रम करके पांच महाभूतोंका दो राशिसे

रत्नप्रभा

ब्रह्मणो निर्विशेषचिन्मात्रत्वमुक्त्वा सर्वनिषेधावधित्वेन सद्रूपत्वमाह—प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय इति। पृथिव्यप्तेजोभूतत्रयं मूर्तम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मका निर्विशेष चिन्मात्र स्वरूप कहकर सब निषेधोंकी अवधिरूपसे सद्रूपत्व कहते हैं—"प्रकृतैतावत्त्वम्" इत्यादि। पृथिवी, जल और तेज ये तीन भूत मूर्त्त हैं, वायु और आकाश

भाष्य

भज्यामूर्तरसस्य च पुरुषशब्दोदितस्य माहारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वा पुनः पठ्यते—'अथात आदेशो नेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति' (बृ० २।३।६) इति। तत्र कोऽस्य प्रतिषेधस्य विषय इति जिज्ञासामहे। नह्यत्रेदं तदिति विशेषितं किंचित् प्रतिषेध्यमुपलभ्यते। इतिशब्देन त्वत्र

भाष्यका अनुवाद

विभागकर पुरुषशब्दसे उक्त अमूर्तसारके माहारजन आदि रूप दिखलाकर श्रुतिमें पुनः कहा गया है—'अथात आदेशो नेति नेति०' (सत्य और त्यत् स्वरूपके निर्देशके अनन्तर इससे—उक्त आरोपके निषेधार्थक होनेसे नहीं, नहीं, ऐसा ब्रह्मका निर्देश है, इस आत्मासे अन्य नहीं है, इससे 'न' कहते है, किन्तु परब्रह्म है) । यहांपर इस प्रतिषेधसे किसका निषेध किया जाता है ? यह हम जानना चाहते हैं, क्योंकि

रत्नप्रभा

वाय्वाकाशद्वयममूर्तमिति राशिद्वयमुक्त्वा भूतद्वयस्यामूर्तस्य सारः—'करणात्मा हिरण्यगर्भो य एष एतस्मिन् सूर्यमण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षिणि पुरुषः' इत्युक्तः। तस्य वासनामयानि स्वप्नरूपाणि 'तद्यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वादिकं यथेन्द्रगोपः' (बृ० २।३।६) इत्युपमाभिरुक्तानि विचित्राणि। तत्र महाराजनम्—हरिद्रा, तया लिप्तं वस्त्रं माहाराजनम्। पाण्ड्वादिकमिति धवलं कम्बलादि। केचित्तु श्रुतिमुपलक्षणं कृत्वा सूक्ष्मपञ्चभूतान्यमूर्तानि, पञ्चीकृतानि मूर्तानि, ततश्चामूर्तरसत्वोक्त्या करणानां पाञ्चभौतिकत्वसिद्धिरिति व्याचक्षते। अथ—सत्त्यत्पदात्मकप्रपञ्चोक्त्यनन्तरम्, अतः—उक्तारोपस्य निषेधार्थत्वात्, नेति नेतीति निषेधेनोपदेशः क्रियते इत्यर्थः। नेतिशब्दार्थमाह—**नहीति**। एतस्मादात्मनोऽन्यन्नास्तीति नेती-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ये अमूर्त हैं। इस प्रकार दो राशियोंको कहकर दो अमूर्त भूतोंका सार—'करणात्मा हिरण्यगर्भो य एष०' (इस सूर्यमण्डलमें जो यह इन्द्रियस्वरूप हिरण्यगर्भ पुरुष है और दक्षिण नेत्रमें जो यह पुरुष है) इस प्रकार पुरुषरूपसे कहा गया है। उसके वासनामय, विचित्र स्वरूप 'तद् यथा माहारजनं०' ऐसी उपमाओंसे कहे गये हैं। उसमें महारजन अर्थात् हरिद्रा, उससे रँगा गया वस्त्र माहारजन कहलाता है। अवि अर्थात् भेड़ी, उसका आविक—ऊर्ण—ऊन आदि, जो पाण्डुर—धवल होता है, ऐसा सफेद कम्बल आदि—पाण्ड्वाविक है। कोई लोग श्रुतिको उपलक्षण मानकर सूक्ष्म पांच भूत अमूर्त हैं और पञ्चीकृत पांच भूत मूर्त हैं। इससे अमूर्तोंके रस कहनेसे करणोंमें पाञ्चभौतिकत्वकी सिद्धि होती है ऐसा व्याख्यान करते हैं। अथ—सत् त्यदात्मककी उक्तिके अनन्तर। अतः—उक्त आरोपके निषेधार्थक होनेसे। 'नेति' 'नेति' इस प्रकार निषेधसे उपदेश किया जाता है, यह अभिप्राय है। 'नेति' शब्दका

भाष्य

प्रतिषेध्यं किमपि समर्प्यते नेति नेतीतिपरत्वान्नञ्प्रयोगस्य । इतिशब्दश्चायं संनिहितालम्बन एवंशब्दसमानवृत्तिः प्रयुज्यमानो दृश्यते 'इति ह स्मोपाध्यायः कथयति' इत्येवमादिषु । संनिहितं चात्र प्रकरणसामर्थ्याद्रूपद्वयं सप्रपञ्चं ब्रह्मणः, तच्च ब्रह्म यस्यैते द्वे रूपे । तत्र नः संशय उपजायते—किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयमपि प्रतिषेधति, आहोस्विदेकतरम् । यदाप्येकतरं तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति, रूपे परिशिनष्टि; आहोस्विद्रूपे प्रतिषेधति, ब्रह्म परिशिनष्टीति । तत्र प्रकृतत्वाविशेषादुभयमपि प्रतिषेधतीत्याशङ्कामहे । द्वौ

भाष्यका अनुवाद

यहांपर 'यह' वह है, ऐसा विशेषित कोई निषेध्य उपलब्ध नहीं होता है । इतिशब्द तो यहां किसी एक प्रतिषेध्यका समर्पण करता है, क्योंकि 'नेति' 'नेति' इसमें 'नञ्' (न) के प्रयोगके पीछे 'इति' शब्द है, और सन्निहितका अवलम्बन करनेवाला यह 'इति' शब्द 'एवं' शब्दका तुल्यार्थक प्रयुक्त हुआ दीखता है—'इति ह स्मोपाध्यायः कथयति' (ऐसा उपाध्यायने कहा) इत्यादिमें । और यहां सन्निहित तो प्रकरणके सामर्थ्यसे ब्रह्मके प्रपञ्चयुक्त दो रूप हैं और जिसके ये दो रूप हैं, वह ब्रह्म है । यहां पर हमको संशय होता है कि क्या वह प्रतिषेध दो रूपों और रूपवत् इन दोनोंका निषेध करता है, या दोमें से एकका ? यदि एकका करता है, तो भी क्या ब्रह्मका निषेध करता है और दो रूपोंको अवशिष्ट रखता है, या दो रूपोंका प्रतिषेध करता है और ब्रह्मको अवशिष्ट रखता है ?

रत्नप्रभा

त्युच्यत इत्यर्थः । शून्यतानिरासार्थं परं ब्रह्मास्तीति उक्तम् इति सिद्धान्तरीत्या श्रुत्यर्थः । अत्र निषेध्यविशेषानुपलम्भात् संशयमाह—तत्र कोऽस्येत्यादिना । नञ्प्रयोगस्य नकारस्येतिशब्दोपस्थापितवस्तुनिषेधकत्वात् इत्यर्थः । इतिशब्दात् निषेध्यसामान्यसमर्पणे विशेषाकाङ्क्षायां प्रकरणाद्रूपद्वयस्य रूपिब्रह्मणश्च निषेध्यत्वभानात् संशयमुक्त्वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे । इस आत्मासे अन्य नहीं है, ऐसा 'नेति' से कहा जाता है, ऐसा अर्थ है । शून्यताका निरास करनेके लिए 'परं ब्रह्मास्ति' (पर ब्रह्म है) ऐसा कहा है, यह सिद्धान्तरीतिसे श्रुतिका अर्थ है । यहाँ निषेध्यविशेषकी उपलब्धि न होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र कोऽस्य" इत्यादिसे । 'नञ्' का प्रयोग जो नकार उसके इतिशब्दसे उपस्थापित वस्तुका निषेधक होनेसे, ऐसा अर्थ है । इति शब्द निषेध्य सामान्यका बोध कराता है, इससे

भाष्य

चैतौ प्रतिषेधौ द्विर्नेतिशब्दप्रयोगात्। तयोरेकेन सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं प्रतिषिध्यतेऽपरेण रूपवद् ब्रह्मेति भवति मतिः। अथवा ब्रह्मैव रूपवत् प्रतिषिध्यते, तद्धि वाङ्मनसातीतत्वादसंभाव्यमानसद्भावं प्रतिषेधार्हम्, न तु रूपप्रपञ्चः प्रत्यक्षादिगोचरत्वात् प्रतिषेधार्हः। अभ्यासस्त्वादरार्थ इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात्।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—प्रकृतत्वके समान होनेसे दोनोंका प्रतिषेध करता है, ऐसी हम आशंका करते हैं। ये दो प्रतिषेध हैं, क्योंकि 'नेति' शब्दका दो बार प्रयोग है। उन दो शब्दोंमें से एकसे सप्रपञ्च ब्रह्मके रूपका प्रतिषेध होता है, और दूसरेसे रूपवद् ब्रह्मका प्रतिषेध होता है, इस प्रकार मति हो सकती है। अथवा रूपवद् ब्रह्मका ही प्रतिषेध होता है, क्योंकि वाणी और मनसे अतिक्रान्त होनेसे उसका सद्भाव—अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः प्रतिषेधके योग्य है। किन्तु रूपप्रपञ्च प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय होनेसे प्रतिषेधके योग्य नहीं है, अभ्यास तो आदरके लिए है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—दोनोंका प्रतिषेध उपपन्न नहीं

रत्नप्रभा

पूर्वोक्तं निर्विशेषं ब्रह्म नास्तीत्याक्षेपसंगत्या पूर्वपक्षयति—**तत्र प्रकृतत्वेति**। पूर्वपक्षे तत्पदार्थाभावाद् वाक्यार्थाभेदासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम्। निरधिष्ठाननिषेधादर्शनात् सर्वनिषेधो न युक्त इत्यरुच्या प्रपञ्चे ब्रह्मनिषेधः इत्याह—**अथवेति**। एकब्रह्मण एव निषेधे नकारद्वयस्य पौनरुक्त्यम् इत्यत आह—**अभ्यासस्त्विति**।

उत्सूत्रमेव तावत् सिद्धान्तमुपक्रमते—**एवमिति**। शून्यप्रसङ्ग इष्ट इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेषकी आकांक्षा होनेपर प्रकरणसे रूपद्वय और रूपी ब्रह्म दोनों निषेध्य हैं, ऐसा भान होनेसे संशय कहकर पूर्वोक्त निर्विशेष ब्रह्म नहीं है, इस प्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र प्रकृतत्व" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें तत्पदार्थके अभावसे वाक्यार्थके अभेदकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है। निरधिष्ठान निषेध नहीं देखा जाता, इससे सबका निषेध युक्त नहीं है, इस अरुचिसे प्रपञ्चमें ब्रह्मका निषेध है, ऐसा कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। एक ब्रह्मका ही निषेध हो, तो दो नकारोंकी पुनरुक्ति होगी, इसपर कहते हैं—"अभ्यासस्तु" इत्यादिसे। सूत्रके बाहर ही सिद्धान्तका उपक्रम करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे।

भाष्य

कंचिद्धि परमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते, यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः। तच्च परिशिष्यमाणे कस्मिंश्चिद्भावेऽवकल्पते। कृत्स्नप्रतिषेधे तु कोऽन्यो भावः परिशिष्येत। अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन् य इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः। नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २।१।१) इत्याद्युपक्रमविरोधात्। 'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' (तैत्ति० २।६।१)

भाष्यका अनुवाद

होता, क्योंकि शून्यवादका प्रसंग आवेगा, क्योंकि किसी एक परमार्थके आधारपर अपरमार्थका प्रतिषेध होता है। जैसे रज्जु आदिमें सर्प आदिका। यदि कोई एक भाव परिशिष्ट रहता हो, तो वह संभावित है। परन्तु सबका प्रतिषेध करनेपर कौन अन्य पदार्थ अवशिष्ट रहेगा? अन्य भावके अवशिष्ट न रहनेसे जिस अन्य भावके प्रतिषेधका आरम्भ किया जाता है, उसका प्रतिषेध न हो सकनेसे, उसीके परमार्थ होनेका प्रसंग आनेसे प्रतिषेध अनुपपन्न होता है। और ब्रह्मका प्रतिषेध भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (मैं तुमसे ब्रह्म कहूँ) इत्यादि उपक्रमका विरोध होता है, 'असन्नेव स भवति' (ब्रह्म अविद्यमान है, ऐसा जो जानता है वह स्वयं अविद्यमान ही हो जाता है) ऐसी निन्दासे विरोध

रत्नप्रभा

वदन्तं प्रत्याह—कंचिद्धीति। तच्चेति। प्रतिषेधनमित्यर्थः। अधिष्ठानानवशेषे तत्प्रमारूपहेत्वभावात् निषेधवाक्यार्थप्रमा न स्यात्। इदमत्र नास्तीति लोके निषेधस्य साधिष्ठानस्यैव प्रमितिदर्शनादित्यर्थः। किं च यद्भाति तत्सदित्युत्सर्गस्य भानार्थाभावाधिष्ठानप्रमितिः अपवादः। तया पूर्वभानस्य भ्रमत्वनिश्चयेनार्थसत्त्वापलापात्। अपवादानङ्गीकारे तूत्सर्गतः प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्तेः निषेधानुपपत्तिरित्याह—अपरि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

शून्यका प्रसङ्ग होना इष्ट है, ऐसा कहनेवालेके प्रति कहते हैं—"कंचिद्धि" इत्यादिसे। तच्च—अर्थात् निषेध, यह अर्थ है। अधिष्ठानका अवशेष न हो, तो प्रमारूपके हेतु न होनेसे निषेध वाक्यार्थ प्रमा नहीं होगा, क्योंकि 'इदमत्र नास्ति' (यहाँ यह नहीं है) ऐसी लोकमें अधिष्ठान युक्त निषेधकी ही प्रमिति देखी जाती है, ऐसा अर्थ है। और जिसका भान होता है—जो दिखाई देता है, वह सत् है, इस उत्सर्गका अपवाद भानका विषय जो पदार्थ है उसके अभावके अधिष्ठानमें प्रमिति है। इस प्रमितिसे पूर्वभान भ्रम है, ऐसा निश्चय होनेसे अर्थके सत्त्वका निषेध होता है। यदि अपवादका अंगीकार न करें, तो उत्सर्गसे प्रपञ्चके सत्य

भाष्य

इत्यादिनिन्दाविरोधात्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठ० ६।१३) इत्याद्यवधारणविरोधात्, सर्ववेदान्तव्याकोपप्रसङ्गाच्च । वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते, नहि महता परिकरबन्धेन 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवमादिना वेदान्तेषु ब्रह्म प्रतिपाद्य तस्यैव पुनरभावोऽभिलप्येत । 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति हि न्यायः । प्रतिपादनप्रक्रिया त्वेषा 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) इति । एतदुक्तं भवति—

भाष्यका अनुवाद

होता है और 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' ('है' इसी प्रकार उसकी उपलब्धि करनी चाहिए) इस अवधारणका विरोध होता है, और सब वेदान्तोंके विरोधका प्रसंग आता है । और ब्रह्म वाणी और मनका अविषय है, यह ब्रह्मके अभावके अभिप्रायसे नहीं कहा जाता है, क्योंकि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (ब्रह्मको जाननेवाला पर पदको प्राप्त करता है), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म, सत्य, ज्ञान और अनन्त है) इत्यादि वाक्योंसे वेदान्तोंमें बड़े प्रयत्नसे ब्रह्मका प्रतिपादन करके फिर उसीका अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य०' (कीचड़को अंगमें लगाकर धोनेकी अपेक्षा उससे दूर रहना, उसका स्पर्श नहीं करना अधिक श्रेष्ठ है) ऐसा न्याय है । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (जहांसे मनके साथ वाणी पहुँचे बिना

रत्नप्रभा

शिष्यमाणे चेति । अधिष्ठानसत्त्वं विना भ्रान्तिनिषेधयोः अयोगात् शून्यवादो न युक्त इत्युक्त्वा पूर्ववादिनः पक्षान्तरं दूषयति—**नापीति** । देहात्माभिमानवल्लौकिकमानप्राप्तद्वैतस्य निषेधो युक्तः, न वेदान्तप्रमितब्रह्मण इति भावः । यदुक्तं वाङ्मनसातीतत्वात् निषेधार्हं ब्रह्मेति, तत्राह—**वाङ्मनसेति** । ब्रह्मणो वागाद्यतीतत्वं निषेधार्थं न चेत् किमर्थं तदुक्तिरित्यत आह—**प्रतिपादनेति** । उक्तार्थे सूत्रं योजयति—**तदेत-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे निषेध अनुपपन्न होगा, ऐसा कहते हैं—"अपरिशिष्यमाणे च" इत्यादिसे । अधिष्ठानसत्त्वके बिना भ्रान्ति या निषेधके युक्त न होनेसे शून्यवाद ठीक नहीं है, ऐसा कहकर पूर्ववादीके अन्य पक्षको दूषित करते हैं—"नापि" इत्यादिसे । देहात्माभिमानके समान लौकिक प्रमाणसे प्राप्त हुए द्वैतका निषेध युक्त है, और वेदान्तसे प्रमित ब्रह्मका निषेध युक्त नहीं है, ऐसा भाव है । वाणी और मनका विषय न होनेसे ब्रह्म निषेधके योग्य है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—"वाङ्मनसा" इत्यादिसे । यदि ब्रह्मका वाणी

भाष्य

वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति । तस्माद् ब्रह्मणो रूपप्रपञ्चं प्रतिषेधति, परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यम् । तदेतदुच्यते—प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति । प्रकृतं यदेतावत्—इयत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेष शब्दः प्रतिषेधति । तद्धि प्रकृतं प्रपञ्चितं च पूर्वस्मिन् ग्रन्थेऽधिदैवतमध्यात्मं च, तज्जनितमेव च वासनालक्षणमपरं रूपममूर्तरसभूतं पुरुषशब्दोदितं लिङ्गात्मव्यपाश्रयं महारजनाद्यु-

भाष्यका अनुवाद

ही लौट आती है) यह तो (ब्रह्मका) प्रतिपादन करनेकी प्रक्रिया है । तात्पर्य इस प्रकार है—ब्रह्म वाणी और मनसे अतीत है, उसका विषयोंके मध्यमें अन्तर्भाव नहीं होता, वह प्रत्यगात्मरूप है और नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव है । इसलिए श्रुति ब्रह्मके रूपप्रपञ्चका प्रतिषेध करती है और ब्रह्मका शेष रखती है, ऐसा समझना चाहिए । इसलिए कहते हैं—'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति' । प्रकृत ब्रह्मके 'एतावत्' अर्थात् इयत्तासे परिच्छिन्न मूर्तलक्षण और अमूर्तलक्षण रूपका यह श्रुति प्रतिषेध करती है और इस प्रकृतका—अधिदैवत और अध्यात्मका—पूर्व ग्रन्थमें विस्तारसे वर्णन किया गया है। और उससे उत्पन्न हुआ ही वासनालक्षण दूसरा रूप है, जो अमूर्तका सारभूत है और पुरुषशब्दसे कहा गया है लिङ्ग आत्मामें रहनेवाला है और महार-

रत्नप्रभा

दित्यादिना । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इति रूपद्वयस्यैव प्राधान्येन प्रकृतत्वान्नेतीति निषेध इत्यर्थः । ननु आदित्यमण्डले पुरुष इति ब्रह्मापि अत्र प्राधान्येन उक्तमित्याशङ्क्य पुरुषो लिङ्गात्मा, अमूर्तरसत्वश्रुत्या भूतजनितत्वभानात्, स्वप्नरूपवत्त्वश्रुतेश्चेत्याह—तज्जनितमेवेति । रूपरूपिणोः अभेद उक्तः । ननु वासनामयं रूपमेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिका अविषय होना निषेधके लिए नहीं है, तो किसके लिए उसका कथन है, इसपर कहते हैं,—"प्रतिपादन" इत्यादिसे । उक्त अर्थमें सूत्रकी योजना करते हैं—"तदेतत्" इत्यादिसे । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे०' (ब्रह्मके दो ही रूप हैं) इस प्रकार दो रूपोंके ही प्रधानतासे प्रकृत होनेसे 'नेति' ऐसा निषेध है, यह अर्थ है । परन्तु 'आदित्यमण्डले पुरुष०:' (आदित्यमण्डलमें पुरुष है) इस प्रकार ब्रह्म भी यहां प्रधानरूपसे कहा गया है, ऐसी आशंका करके, 'पुरुष' लिंगात्मा है, क्योंकि अमूर्तरसत्वश्रुतिसे वह भूतजनित है, ऐसा उसका भान होता है, और स्वप्नरूपत्व श्रुति है, ऐसा कहते हैं—"तज्जनितमेव" इत्यादिसे । रूप और रूपीका

भाष्य

पमाभिर्दर्शितम् । अमूर्तरसस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोगित्वानुपपत्तेः । तदेतत् सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं संनिहितालम्बनेनेतिकरणेन प्रतिषेधकं नञं प्रत्युपनीयत इति गम्यते । ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन षष्ठ्या निर्दिष्टं पूर्वस्मिन् ग्रन्थे, न स्वप्रधानत्वेन । प्रपञ्चिते च तदीये रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम् 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति । तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निर्णीयते । तदास्पदं

भाष्यका अनुवाद

जन आदि उपमाओंसे दिखलाया गया है, क्योंकि अमूर्त्तका सारभूत जो पुरुष है उसका चक्षुसे ग्राह्य रूपसे सम्बन्ध नहीं हो सकता। वह इस सप्रपञ्च ब्रह्मरूप सन्निहितके आलम्बन इतिकरणसे प्रतिषेधक नञ् (न) के पास लाता है, ऐसा समझा जाता है। पूर्व ग्रन्थमें ब्रह्म तो रूपके विशेषणरूपसे षष्ठीसे निर्दिष्ट है, स्वप्रधानरूपसे निर्दिष्ट नहीं है। और उसके दो रूपोंका प्रपञ्च होनेपर रूपवान्के स्वरूपकी जिज्ञासा होनेपर 'अथात आदेशो नेति नेति' (अनन्तर इससे 'नहीं, 'नहीं' ऐसा निर्देश है) ऐसा उपक्रम किया है। यहांपर ब्रह्मके कल्पित रूपका प्रत्याख्यान करके स्वरूपका यह आवेदन है, ऐसा निर्णय

रत्नप्रभा

किम् इत्युपमीयते, प्रसिद्धरूपमेव किं न स्यादित्यत आह —**अमूर्तरसस्येति** । रूपद्वयस्यैव प्राधान्येन प्रकृतत्वे फलितमाह—**तदिति** । प्रतियोगित्वेन समर्प्यत इत्यर्थः । न चार्थतः प्राधान्याद् ब्रह्मणो निषेधः, राज्ञो भृत्यो नास्तीत्यत्र राजनिषेधप्रसङ्गादिति भावः । किञ्चात्र ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वात् न निषेध इत्याह—**प्रपञ्चिते चेति** । ननु ब्रह्मणि निषिद्धस्याप्यन्यत्र स्थितिसम्भवात् कथं कल्पितत्वमित्यत आह—**तदास्पदमिति** । उपादाने निषिद्धस्यान्यत्र न स्थितिरित्यर्थः । यत्तु द्वैतनिषेधे

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभेद कहा गया है, तो वासनारूपकी ही क्यों उपमा होती है, प्रसिद्धरूपकी क्यों नहीं होती, इसपर कहते हैं—"अमूर्तरसस्य" इत्यादिसे । दोनों रूपोंके ही प्राधान्यरूपसे प्रकृत होनेके कारण फलित कहते हैं—"तद्" इत्यादिसे । प्रतियोगी रूपसे बोध कराता है, ऐसा अर्थ है । अर्थतः प्राधान्य होनेसे ब्रह्मका निषेध नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'राजाका सेवक नहीं है' यहांपर राजाके निषेध होनेका प्रसङ्ग आवेगा, यह भाव है । और यहांपर ब्रह्मके प्रतिपाद्य होनेसे उसका निषेध नहीं है, ऐसा कहते हैं—"प्रपञ्चिते च" इत्यादिसे । यद्यपि ब्रह्ममें निषिद्ध है, फिर भी अन्यत्र उसकी स्थितिका संभव होनेसे कल्पितत्व किस प्रकार

भाष्य

हीदं समस्तकार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धम् । युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भण-शब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनं न तु ब्रह्मणः, सर्वकल्पना-मूलत्वात् । न चात्रेयमाशङ्का कर्तव्या—कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति, यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति, लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्ध-

भाष्यका अनुवाद

होता है, क्योंकि तद्विषयक इस समस्त कार्यका 'नेति' 'नेति' इस प्रकार प्रतिषेध किया है । और वाचारम्भण०' (वाणी ही जिसकी आरम्भक है), आदि शब्दोंसे कार्यकी असत्ता उचित है, अतः उसका प्रतिषेध हो सकता है, परन्तु ब्रह्मका प्रतिषेध नहीं हो सकता, क्योंकि वह सब कल्पनाओंका मूल है । और शास्त्र ही ब्रह्मके दो रूप दिखलाकर आप ही पीछे उनका प्रतिषेध कैसे करता है, क्योंकि 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य०' (कीचड़को शरीरमें लगाकर धोनेकी अपेक्षा उससे दूर रहना—उसका स्पर्श न करना ही अधिक श्रेष्ठ है) यहांपर ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह शास्त्र ब्रह्मके दो रूपोंका प्रतिपाद्यरूपसे निर्देश नहीं करता, किन्तु लोकप्रसिद्ध जो ये दो रूप ब्रह्ममें कल्पित हैं उनका

रत्नप्रभा

प्रत्यक्षादिविरोध इति, तत्राह—युक्तं चेति । स्थापितं हि आरम्भणाधिकरणे प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यम्, न तत्त्वावेदकमिति, अतस्तत्त्वतो निषेधान्न विरोध इति भावः । ननु वस्तुत्वाद् द्वैतवद् ब्रह्मणोऽपि निषेधोऽस्तु, नेत्याह—न त्विति । द्वैतभावाभावसाक्षित्वादशक्यो निषेध इत्यर्थः । न चेत्यादि स्पष्टार्थम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इसपर कहते हैं—"तदास्पदम्" इत्यादिसे । उपादानमें जिसका निषेध हुआ है उसकी अन्यत्र स्थिति नहीं है, ऐसा भाव है । परन्तु द्वैतका निषेध करनेपर प्रत्यक्ष आदिका विरोध होता है, ऐसा जो कहा गया है उसपर कहते हैं—"युक्तं च" इत्यादिसे । आरंभाधिकरणमें प्रत्यक्ष आदिका व्यावहारिक प्रामाण्य स्थापित किया गया है, परन्तु वह तत्त्वका आवेदन करनेवाला नहीं है, इसलिए तत्त्वतः निषेध करनेमें कोई विरोध नहीं है, ऐसा भाव है । यदि कोई कहे कि द्वैतके समान ब्रह्म भी वस्तु है अतः ब्रह्मका भी निषेध हो, उस शंकाका निराकरण करते हैं—"न तु" इत्यादिसे । द्वैतभावके अभावका साक्षी होनेसे ब्रह्मका निषेध

भाष्य

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवद्यम् । द्वौ चेतौ प्रतिषेधौ यथासंख्यन्यायेन द्वे अपि मूर्तामूर्ते प्रतिषेधतः । यद्वा पूर्वः प्रतिषेधो भूतराशिं प्रतिषेधत्युत्तरो वासनाराशिम् प्रतिषेधति । अथवा 'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति वीप्सेयमितीति यावत्किंचिदुत्प्रेक्ष्यते तत्सर्वं न भवतीत्यर्थः । परिगणितप्रतिषेधे हि क्रियमाणे यदि नैतद् ब्रह्म किमन्यद् ब्रह्म भवेदिति जिज्ञासा स्यात्। वीप्सायां तु सत्यां समस्तस्य विषयजातस्य प्रतिषेधादविषयः प्रत्यगात्मा

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषेध है, ऐसा दिखलानेके लिए और शुद्ध ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए परामर्श करता है, इस प्रकार कोई दोष नहीं है। और ये दो प्रतिषेध यथासंख्यन्यायसे दो मूर्त्त और अमूर्त्त रूपोंका प्रतिषेध करते हैं अथवा पूर्व-प्रतिषेध भूतराशिका प्रतिषेध करता है और उत्तरप्रतिषेध वासनाराशिका प्रतिषेध करता है। अथवा 'नेति' 'नेति' यह वीप्सा है, अतः जिस किसीकी उत्प्रेक्षा की जा सकती है। वह सब ब्रह्म नहीं है, ऐसा अर्थ है, क्योंकि परि-गणितका प्रतिषेध करनेपर यदि यह ब्रह्म नहीं है, तो क्या अन्य ब्रह्म है, ऐसी जिज्ञासा होगी। और वीप्सा होनेपर तो समस्त विषय-समूहका प्रतिषेध होनेसे अविषय प्रत्यगात्मा ब्रह्म है, ऐसा बोध होनेपर

रत्नप्रभा

यच्चोक्तं निषेधाभ्यां रूपं रूपि ब्रह्म च निषिध्यते इति, तत्राह—**द्वौ चैताविति** । उद्देश्यविधेयार्थानां संख्यासाम्ये यथाक्रमं सम्बन्ध इति न्यायः—'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (१।२।१०) इति पाणिनिसूत्रसिद्धः, तेनात्र रूपद्वयोद्देशेन निषेधद्वय-विधिरित्यर्थः । वीप्सापक्षे सर्वदृश्यनिषेधात् जिज्ञासाशान्तिरिति विशेषमाह—**परि-गणितेति** । मूर्तं न अमूर्तं न इत्येवं विशिष्य निषेधे जिज्ञासा न शाम्यतीत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं हो सकता है, ऐसा अर्थ है। 'न च' इत्यादि भाष्यका अर्थ स्पष्ट है। दो निषेधोंसे रूप और रूपी ब्रह्मका निषेध होता है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—"द्वौ चेतौ" इत्यादिसे। उद्देश्य और विधेय अर्थोंकी संख्या समान हो तो यथाक्रम सम्बन्ध लेना चाहिए, ऐसा न्याय 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इस पाणिनिसूत्रसे सिद्ध है, इससे प्रतीत होता है कि यहांपर दो रूपोंके उद्देश्यसे दो निषेधोंका विधान है, ऐसा अर्थ है। वीप्सापक्षमें—'नेति नेति' इस वीप्सा पक्षमें सब दृश्यका निषेध होनेसे जिज्ञासा शान्त होती है, ऐसा विशेष है, ऐसा कहते हैं—"परिगणित" इत्यादिसे। मूर्त नहीं है, अमूर्त नहीं है, ऐसा

भाष्य

ब्रह्मेति जिज्ञासा निवर्तते । तस्मात् प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि कल्पितं प्रतिषेधति, परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णयः । इतश्चैष एव निर्णयः । यतस्ततः प्रतिषेधाद् भूयो ब्रवीति 'अन्यत् परमस्ति' (बृ० २३।६) इति । अभावावसाने हि प्रतिषेधे क्रियमाणे किमन्यत् परमस्तीति ब्रूयात् । तत्रैषाऽक्षरयोजना—नेति नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति । नेति नेतीत्यस्य कोऽर्थः ? नह्येतस्माद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेति नेतीत्युच्यते, न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः । तच्च दर्शयति 'अन्यत्परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्ति' इति । यदा पुनरेवमक्षराणि योज्यन्ते—नह्येतस्मादिति नेति नेति, नहि प्रपञ्चप्रतिषेध-

भाष्यका अनुवाद

जिज्ञासा निवृत्त होती है । इसलिए ये दो निषेध ब्रह्ममें कल्पित जो प्रपञ्च है उसका प्रतिषेध करते हैं, और ब्रह्मका परिशेष करते हैं, ऐसा निर्णय है । और इससे भी यही निर्णय है, क्योंकि उस प्रतिषेधसे पृथक् ब्रह्म है, ऐसा 'अन्यत् परमस्ति' यह श्रुति कहती है । निषेधका अभावमें ही पर्यवसान करनेपर तो श्रुति 'अन्यत् परमस्ति' ऐसा क्यों कहती । यहांपर इस प्रकार अक्षरकी योजना है—'नेति' 'नेति' इस प्रकार ब्रह्मका निर्देश करके पुनः निर्वचन करती है । 'नेति' 'नेति' इसका क्या अर्थ है ? इस ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ नहीं है, अतः 'नेति' 'नेति' ऐसा कहा जाता है, ब्रह्म स्वयं ही नहीं है ऐसा अर्थ नहीं है । और वह अवशिष्ट ब्रह्म अन्यसे पर अप्रतिषिद्ध है, ऐसा दिखलाता है । यदि अक्षरोंकी ऐसी योजना की जाय कि 'नह्येतस्मादिति 'नेति' 'नेति' ('नहीं' 'नहीं' इस निर्देशसे परब्रह्मनिर्देश नहीं है) प्रपञ्चप्रति-

रत्नप्रभा

सूत्रशेषं व्याचष्टे—इतश्चेति । प्रतिषेधानुपपत्त्या ब्रह्मास्तीत्यवगतम्, भूयः—पुनः, 'परमस्ति' इति श्रुतिः साक्षादपि ब्रवीतीत्यर्थः । तच्चेति । अवशिष्टं ब्रह्मेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेष करके निषेध करनेमें जिज्ञासा शान्त नहीं होती, ऐसा अर्थ है । सूत्रशेषका व्याख्यान करते हैं—"इतश्च" इत्यादिसे । प्रतिषेधकी अनुपपत्तिसे ब्रह्म है, ऐसा ज्ञात हुआ, भूयः—पुनः 'परमस्ति' यह श्रुति 'ब्रह्म है' ऐसा साक्षात् भी कहती है, ऐसा अर्थ है । "तच्च" इत्यादि । अवशिष्ट—ब्रह्म, यह अर्थ है । शेष सब स्पष्ट है ॥२२॥

भाष्य

रूपादादेशनादन्यत्परमादेशनं ब्रह्मणोऽस्तीति । तदा ततो ब्रवीति च भूय इत्येतन्नामधेयविषयं योजयितव्यम् । अथ नामधेयम्—'सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' (बृ० २।१।२०) इति हि ब्रवीति इति । तच्च ब्रह्मावसाने प्रतिषेधे समञ्जसं भवति, अभावावसाने तु प्रतिषेधे किं सत्यस्य सत्यमित्युच्येत । तस्माद् ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसान इत्यध्यवस्यामः ॥२२॥

भाष्यका अनुवाद

रूप निर्देशसे अन्य ब्रह्मका निर्देश नहीं है, तो 'ब्रवीति च भूयः' इस सूत्रांशकी योजना 'नामधेय' इस अर्थमें करनी चाहिए । नामधेयका, निर्देश करते हैं—'सत्यस्य सत्यमिति' (सत्यका सत्य अर्थात् प्राण सत्य हैं और उनका यह सत्य है) ऐसा श्रुति कहती है । और वह नामधेय, यदि प्रतिषेधका ब्रह्ममें पर्यवसान हो, तो उपपन्न होता है, और यदि अभावमें प्रतिषेधका पर्यवसान हो, तो सत्यका सत्य कौन कहा जायगा । इससे इस प्रतिषेधका ब्रह्ममें पर्यवसान है, अभावमें नहीं, ऐसा हम निश्चय करते हैं ॥ २२ ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥२३॥

पदच्छेद—तत्, अव्यक्तम्, आह, हि ।

पदार्थोक्ति—तद् ब्रह्म अव्यक्तम्—न व्यज्यते इति अव्यक्तम् इन्द्रियग्राह्यं न [भवति] हि–यतः ['न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा इत्यादिश्रुतिः] आह—ब्रह्मणः तादृशमव्यक्तरूपं कथयति इति ।

भापार्थ—ब्रह्म इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्योंकि 'न चक्षुषा गृह्यते' इत्यादि श्रुति ब्रह्मका अव्यक्त[1] रूप कहती है ।

---

(१) यद्यपि 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीतिसे ब्रह्मका घटादि प्रपञ्चसम्बद्धतया भान होता है, अतः सर्वप्रपञ्चसे रहित ब्रह्म अव्यक्त है यह कहना अत्यन्त असङ्गत है, तथापि ब्रह्मका सप्रपञ्चतया भान वास्तविक नहीं है, परन्तु अविद्यादिदोषप्रयुक्त है, निष्प्रपञ्च ब्रह्मका स्वरूप अविद्यादिदोषतमस्काण्डरहित अन्तःकरणसे ज्ञेय है, इसलिए ब्रह्म व्यक्त है तथापि अविद्यादिदोषदुष्ट पुरुषोंके लिए वह अव्यक्त है, ऐसा इस सूत्रका रहस्यार्थ है, इसी कारणसे उत्तर सूत्रमें—'अपि च संराधने' इत्यादिमें संराधनसमयमें उसका—ब्रह्मका रूप व्यक्त कहा गया है संराधनशब्दका अर्थ है—भक्ति और ध्यान द्वारा परमात्मामें चित्तका प्रणिधान—स्थापन, भक्ति माने महात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहाख्य अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष, और ध्यानका अर्थ है—अवधानसे प्रत्ययकी आवृत्ति, अतः 'काश्चिद्धीरः' इत्यादि श्रुति शुद्धसत्त्व पुरुषको निष्प्रपञ्च ब्रह्मका व्यक्तरूप ज्ञात होता है, यह स्पष्ट रीत्या कहती है ।

भाष्य

यत्प्रतिषिद्धात् प्रपञ्चजातादन्यत्परं ब्रह्म तदस्ति चेत् कस्मान्न गृह्यत इति । उच्यते—तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात् । आह ह्येवं श्रुतिः—'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' (मुण्ड० ३।१।८) 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ३।९।२६) 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (मुण्ड० १।१।६) 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' (तै० २।७।१) इत्याद्या । स्मृतिरपि—'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (भ० गी० २।२५) इत्याद्या ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषिद्ध प्रपञ्चसमूहसे अन्य जो पर ब्रह्म है वह यदि विद्यमान है, तो उसका ग्रहण क्यों नहीं किया जाता ? कहते हैं—वह अव्यक्त है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह सब दृश्यका साक्षी है और उस अर्थको श्रुति भी कहती है—'न चक्षुषा गृह्यते०' (ब्रह्मका नेत्रसे ग्रहण नहीं किया जाता, वाणीसे भी उसका ग्रहण नहीं होता है, अन्य देवोंसे—इन्द्रियोंसे वह गृहीत नहीं होता, तप या कर्मसे उसका ग्रहण नहीं होता), 'स एष नेति०' (वह यह 'नहीं' 'नहीं' इस प्रकार मधुकाण्डमें निर्दिष्ट आत्मा अग्राह्य है, क्योंकि उसका ग्रहण नहीं किया जाता), 'यत्तदद्रेश्यम०' (जो अदृश्य—सब बुद्धीन्द्रियोंसे अगम्य है, वह अग्राह्य—कर्मेन्द्रियोंका अविषय है), 'यदा ह्येवैष०' (जब यह साधक अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय, अविकार, निराधार, ब्रह्ममें आत्मभावको प्राप्त होता है तब अभय प्राप्त करता है) इत्यादि । 'अव्यक्तोऽयम०' (यह अव्यक्त कहलाता है, अचिन्त्य कहलाता है, यह अविकार्य कहलाता है) इत्यादि स्मृति भी ऐसा ही कहती है ॥ २३ ॥

रत्नप्रभा

ननु अग्राह्यत्वाद् ब्रह्म नास्तीति शङ्कानिरासार्थं सूत्रं व्याचष्टे—यत्प्रतिषिद्धादिति । रूपाद्यभावादव्यक्तमिन्द्रियाग्राह्यम्, न त्वसत्त्वादित्यर्थः । अन्यैर्देवैः—इन्द्रियान्तरैः न गृह्यत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्राह्य होनेसे ब्रह्म नहीं है, इस शंकाका निराकरण करनेके लिए सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"यत्प्रतिषिद्धात्" इत्यादिसे । रूपादिके अभावसे ब्रह्म अव्यक्त—इन्द्रियोंसे अग्राह्य है, असत्तासे नहीं—उसका अभाव होनेसे नहीं, ऐसा अर्थ है । अन्य देवताओंसे—अन्य इन्द्रियोंसे उसका ग्रहण नहीं किया जाता, ऐसा अन्वय है ॥ २३ ॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥

पदच्छेद—अपि, च, संराधने, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

पदार्थोक्ति—अपि च, [एनं परमात्मानम्] संराधने—समाध्यवस्थायाम् [कृतार्थः कश्चन पुरुषः पश्यति, इति] प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्—'कश्चिद्धीरः' 'यं विनिद्रा जितश्वासाः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्याम् [ज्ञातं भवति] ।

भाषार्थ—उक्त परमात्माको कोई धीर पुरुष समाधि दशामें जान सकता है, यह 'कश्चिद्धीरः' यं विनिद्रा जितश्वासाः' इत्यादि श्रुति और स्मृति से जाना जाता है ।

भाष्य

अपि चैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः । संराधनं च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम् । कथं पुनरवगम्यते संराधनकाले पश्यन्तीति । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्—श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । तथाहि श्रुतिः—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

भाष्यका अनुवाद

समस्त प्रपञ्चसे शून्य और अव्यक्त इस आत्माको योगी लोग संराधनसमयमें देखते हैं । संराधन—भक्ति, ध्यान, प्रणिधान आदिका अनुष्ठान । संराधनसमयमें योगी लोग परमात्माको देखते हैं, यह कैसे समझा जाता है ? प्रत्यक्ष और अनुमानसे—श्रुति और स्मृतिसे [जाना जाता है] ऐसा अर्थ है, क्योंकि 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्०' (स्वयंभूने छिद्रोपलक्षित इन्द्रियोंकी हिंसा की अर्थात्

रत्नप्रभा

अपि च संराधने । तर्हि कदा ग्राह्यम्? इति शङ्कोत्तरं सूत्रं व्याख्याति—**अपि चैनमिति** । चः त्वर्थः । इन्द्रियैर्न गृह्यते, अपि तु संराधनेन शास्त्रसंस्कृतमनसेत्यर्थः । भक्तिध्यानाभ्यां प्रत्यगात्मनश्चित्ते प्रकर्षेण निधानं स्थापनम्—प्रणि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अपि संराधने" । तो वह कब ग्राह्य होता है, इस शंकाके उत्तरभूत सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अपि चैनम्" इत्यादिसे । 'च' का अर्थ 'तु' (परन्तु) है । इन्द्रियोंसे उसका ग्रहण नहीं किया जाता, परन्तु संराधनसे—शास्त्रसंस्कृत मनसे उसका ग्रहण किया जाता है, ऐसा अर्थ है । प्रणिधान—भक्ति और ध्यानसे प्रत्यगात्माका चित्तमें विशेषरूपसे निधान—

भाष्य

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' (क० ४।१) इति । 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मु० ३।१।८) इति चैवमाद्या । स्मृतिरपि—

'यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥

भाष्यका अनुवाद

अनात्मपदार्थोंमें उनका समर्पण किया, इससे जीव बाह्य अर्थको ही देखता है, अन्तरात्माको नहीं देखता, जिसकी नेत्रादि इन्द्रियां विषयोंसे व्यावृत्त हो गई हैं, ऐसा अमृतको चाहनेवाला कोई विवेकी पुरुष प्रत्यगात्माको देखता है) 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व०' (ज्ञानकी निर्मलतासे जिसका अन्तःकरण विशुद्ध हुआ है वह ध्यान करता हुआ सब अवयवभेदसे वर्जित आत्माको देखता है) इत्यादि श्रुतियां हैं । उसी प्रकार 'यं विनिद्रा जितश्वासाः०' (निद्रारहित, श्वासको जीते हुए मनुष्य, जिनकी इन्द्रियां संयममें हैं ध्यान करते हुए जिस ज्योतिको देखते हैं, उस

रत्नप्रभा

धानम् । जपनमस्कारादिः आदिशब्दार्थः । स्वयम्भूः—ईश्वरः । खानि—इन्द्रियाणि । पराञ्चि—अनात्मग्राहकाणि कृत्वा व्यतृणत्—नाशितवान् । स हि तेषां नाशः यदसदर्थग्राहितया सर्जनम्, तस्मात् तेषां तथा सृष्टत्वात् सर्वो लोकः परागर्थमेव पश्यति, नान्तरात्मानम् । कश्चित् धीरः—धीमान् आवृत्तचक्षुः—निरुद्धेन्द्रियः शुद्धे चेतसि प्रत्यगात्मानं शास्त्रेण पश्यति मोक्षार्थीत्यर्थः । ततः कर्मणा विशुद्धचित्तो ज्ञानाख्यसत्त्वोत्कर्षेण ध्यायन् तं निष्कलं पश्यतीत्यर्थः । विनिद्राः—वितमस्काः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्थापन आदिशब्दसे जप, नमस्कार आदिका ग्रहण होता है । स्वयम्भूः—ईश्वर । खानि-इन्द्रियाँ पराञ्चि—अर्थात् ईश्वरने इन्द्रियोंको अनात्माका ग्रहण करनेवाली बनाकर उनका नाश किया, असत् अर्थ ग्रहण करनेवाली बनाना ही इन्द्रियोंका नाश है, ऐसा समझना चाहिए । इससे—अर्थात् इन्द्रियोंको बाह्यार्थग्राही बनानेसे सब लोग पराक्—बाह्य अर्थको ही देखते हैं, अन्तरात्माको नहीं देखते । परन्तु कोई धीर—धीमान् मोक्षार्थी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर शुद्धचित्तमें प्रत्यगात्माको शास्त्रानुसार देखता है, ऐसा अर्थ है । तदनन्तर कर्मसे शुद्धचित्त होकर ज्ञानरूप सत्त्वके उत्कर्षसे ध्यान करता हुआ सब अवयवोंसे शून्य उस ब्रह्मको देखता है ।

भाष्य

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्' इति चैवमाद्या ॥२४॥

ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमात् परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति, नेत्युच्यते—

भाष्यका अनुवाद

योगलभ्य आत्माको नमस्कार है, उस सनातन भगवान्‌को योगी सम्यक् रूपसे देखते हैं) इस प्रकारकी स्मृतियां भी हैं ॥ २४ ॥

परन्तु पर और अपर आत्मामें क्रमशः संराध्य और संराधकभाव माननेसे उन दोनोंमें भेद होगा, ऐसी शंका होनेपर नहीं ऐसा कहते हैं—

रत्नप्रभा

तत्र हेतुर्जितश्वासत्वम्—प्राणायामनिष्ठत्वम्, युञ्जानाः—ध्यायिनः। योगलभ्यः आत्मा—योगात्मा ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विनिद्र—तमोगुण-रहित। इसमें हेतु है—जितश्वास होना अर्थात् प्राणायाममें संलग्न होना। युञ्जानाः—ध्यान करनेवाले। योगात्मा—योगसे प्राप्त होनेवाला आत्मा ॥ २४ ॥

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥२५॥

पदच्छेद—प्रकाशादिवत्, च, अवैशेष्यम्, प्रकाशः, च, कर्मणि, अभ्यासात्।

पदार्थोक्ति—प्रकाशादिवत्–यथा सूर्यस्य प्रकाशोऽङ्गुल्याद्युपाधौ कर्मणि भिन्न इव प्रतिभाति, वस्तुतस्तु एकरूप एव, तद्वत्, प्रकाशः—परमात्मा च—कर्मणि—ध्यानाद्युपाधौ भिन्न इव भाति, [वस्तुतस्तु] अवैशेष्यम्—एकरूपत्वमेव तस्य। [कुतः ?] अभ्यासात्–'तत्त्वमसि' इत्याद्यभेदश्रुत्यभ्यासात् इत्यर्थः।

भाषार्थ—जैसे सूर्यका प्रकाश अङ्गुल्यादि उपाधिमें भिन्नसा भासता है वस्तुतः तो वह एक ही है, वैसे परमात्मा भी ध्यानादिमें भिन्नसा भासता है—वस्तुतः वह एकरूप ही है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेदश्रुतिका अभ्यास है।

भाष्य

यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मस्वुपाधिभूतेषु सविशेषा इवाऽवभासन्ते, न च स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति, एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः, स्वतस्त्वैकात्म्यमेव। तथा हि—वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते ॥ २५ ॥

भाष्यका अनुवाद

जैसे प्रकाश, आकाश, सविता आदि अंगुलि, कमण्डलु, जल आदि उपाधिभूत कर्मोंमें—सविशेषसे भासते हैं परन्तु अपने स्वाभाविक साधारण रूपको नहीं छोड़ते, इसी प्रकार आत्मभेद उपाधिनिमित्त ही है, स्वतः तो एकात्मा ही है, क्योंकि वेदान्तोंमें अभ्याससे—बारंबार जीव और प्राज्ञके अभेदका प्रतिपादन किया जाता है ॥ २५ ॥

रत्नप्रभा

प्रकाशादिवच्चेति। यथा प्रकाशादयः उपाधिषु भिद्यन्ते, न स्वतः, एवं स्वप्रकाशः चिदात्मापि ध्यानादिकर्मण्युपाधौ भिद्यते। स्वतस्त्वस्य अवैशेष्यम्—एकरसत्वमेव। 'तत्त्वमसि' इत्यभ्यासादिति सूत्रयोजना ॥२५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"प्रकाशादिवच्च" इत्यादि। जैसे प्रकाश आदि उपाधियोंमें भिन्न हैं, स्वतः भिन्न नहीं हैं वैसे ही स्वप्रकाश अर्थात् चिदात्मा भी ध्यानादि कर्मरूप उपाधियोंमें भिन्न है, स्वतः तो वह अविशिष्ट—अभिन्न—एकरस ही है। क्योंकि 'तत्त्वमसि'—(वह तू है) इस प्रकार श्रुतिने बारंबार अभेद कहा है। इस प्रकार सूत्रकी योजना करनी चाहिए ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—अतः, अनन्तेन, तथा, हि, लिङ्गम्।

पदार्थोक्ति—अतः—भेदस्यौपाधिकत्वात् [विद्यया भेदं विधूय जीवः] अनन्तेन—परमात्मना [एकतां गच्छति] हि—यतः तथा—तादृशार्थज्ञापकं लिङ्गम् 'स यो ह वै तत्परमम्' इत्यादिश्रुतिरूपम् प्रमाणं [वर्तते, इत्यर्थः]।

भाषार्थ—भेदके उपाधिप्रयुक्त होनेसे विद्या द्वारा भेदका विनाश करके जीव परमात्माके साथ एकरूपताको प्राप्त होता है, क्योंकि उस अर्थका ज्ञापक 'स यो ह वै' इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

भाष्य

अतश्च स्वाभाविकत्वादभेदस्याऽविद्याकृतत्वाच्च भेदस्य विद्ययाऽविद्यां विधूय जीवः परेणानन्तेन प्राज्ञेनाऽऽत्मनैकतां गच्छति । तथाहि लिङ्गम्—'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इत्यादि ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

और इससे अर्थात् अभेदके स्वाभाविक होनेसे तथा भेदके अविद्याकृत होनेसे विद्यासे अविद्या का विधूनन—नाश करके जीव अविनाशी परमात्माके साथ एकता प्राप्त करता है, क्योंकि 'स यो ह वै०' (जो उस परब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है), 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म होकर ही ब्रह्मको प्राप्त होता है) इत्यादि प्रमाण है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

ब्रह्मात्मकत्वफलश्रुतिरूपलिङ्गाद् अपि भेद औपाधिक एव इत्याह सूत्रकारः—अतोऽनन्तेनेति ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो श्रुति जीवका ब्रह्मत्व फल दिखलाती है, उस श्रुतिरूप लिंगसे भी भेद औपाधिक ही है, इस प्रकार सूत्रकार कहते हैं—"अतोऽनन्तेन" इत्यादिसे ॥२६॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—उभयव्यपदेशात्, तु, अहिकुण्डलवत् ।

पदार्थोक्ति—उभयव्यपदेशात्—उभययोः—ध्यातृध्येयभावादिना भेदाभेदयोः [श्रुतौ] व्यपदेशात्—कथनात् [जीवेश्वरयोर्भेदाभेदौ भवतः] सौत्रस्तुशब्दः सिद्धान्तगतवैषम्यपरिस्फोटार्थः । [जीवेश्वरभेदाभेदयोर्दृष्टान्तमाह—] अहिकुण्डलवत्—अहिः—सर्पः, कुण्डलम्—संस्थानविशेषः तयोः परस्परं कुण्डलत्वेनाहित्वेन च यथा भेदाभेदौ, तद्वत् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—जैसे सर्प और उसके कुण्डलका परस्पर सर्परूपसे और कुण्डलरूपसे भेद और अभेद है, उसी तरह जीव और ईश्वरका ध्यातृभाव और ध्येयभावादिसे भेदाभेद है, क्योंकि श्रुतिमें उस प्रकार उपन्यास—कथन है । सूत्रस्थ तुशब्द सिद्धान्तकी विलक्षणताका सूचक है ।

भाष्य

तस्मिन्नेव संराध्यसंराधकभावे मतान्तरमुपन्यस्यति स्वमतविशुद्धये। क्वचिज्जीवप्राज्ञयोर्भेदो व्यपदिश्यते—'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मु० ३।१।८) इति ध्यातृध्यातव्यत्वेन द्रष्टृद्रष्टव्यत्वेन च, 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३।२।८) इति गन्तृगन्तव्यत्वेन, 'यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' इति नियन्तृनियन्तव्यत्वेन च। क्वचित्तु तयोरेवाऽभेदो व्यपदिश्यते—'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि (बृ०१।४।१०), 'एष त आत्मा सर्वान्तरः (बृ० ३।४।१), 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।३) इति। तत्रैवमुभयव्यपदेशे सति यद्यभेद एवैकान्ततो गृह्यते

भाष्यका अनुवाद

उसी संराध्यसंराधकभावमें अपने मतकी निर्दुष्टताके लिए अन्य मतका उपन्यास करते हैं। 'ततस्तु तं पश्यते०' (उससे ध्यान करता हुआ सब अवयवोंसे वर्जित अर्थात् निरवयव आत्माको देखता है) इस प्रकार कहींपर ध्यातृध्यातव्यभावसे और द्रष्टृद्रष्टव्यत्वरूपसे, और 'परात्परं पुरुषमुपैति०' (परसे पर दिव्य पुरुषको प्राप्त करता है) इस प्रकार कहींपर गन्तृगन्तव्यत्वरूपसे, और 'यः सर्वाणि भूतानि०' (जो सब भूतोंके अभ्यन्तर—अन्दर रहकर नियमन करता है) इस प्रकार नियन्तृनियन्तव्यत्वरूपसे कहींपर जीव और प्राज्ञके भेदका कथन है। और कहीं तो उन दोनोंमें अभेदका ही व्यपदेश है। जैसे कि—'तत्त्वमसि' (वह तू है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (यह तुम्हारी आत्मा सबके अभ्यन्तर है), 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (यह तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी अमृत है)। वहां इस प्रकार दोनोंके—भेद और अभेदका व्यपदेश दिखाई देता है। ऐसी परिस्थितिमें यदि सर्वथा अभेदका ही

रत्नप्रभा

उभयव्यपदेशात्त्विति। भेदाभेदपूर्वपक्षसूत्रद्वयस्य सङ्गतिमाह—तस्मिन्नेवेति। यथा अहित्वेनाभेदः, कुण्डलाख्यस्य सर्पावस्थाविशेषस्य कुण्डलत्वेन भेदः, तथा जीवस्य ब्रह्मत्वेन अभेदः, जीवत्वेन भेदः। यद्वा, सूर्यप्रकाशयोरेकतेजस्त्वधर्मावच्छेदेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"उभयव्यपदेशात्त्विति।" भेदाभेदप्रतिपादक पूर्वपक्षके दो सूत्रोंकी संगति कहते हैं—"तस्मिन्नेव" इत्यादिसे। जैसे सर्पका सर्पत्वरूपसे अभेद है, और कुण्डलाख्य सर्पकी अवस्थाका कुण्डलत्वरूपसे भेद है, वैसे ही जीवका ब्रह्मत्वरूपसे अभेद और जीवत्वरूपसे भेद है। अथवा जैसे सूर्य और प्रकाश इन दोनोंमें एक तेजस्त्व धर्मके अवच्छेदसे भेदाभेद है, वैसे ही जीव और परब्रह्ममें

भाष्य

भेदव्यपदेशो निरालम्बन एव स्यात्, अत उभयव्यपदेशदर्शनादहिकुण्डलवदत्र तत्त्वं भवितुमर्हति, यथाहिरित्यभेदः, कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनीति तु भेद एवमिहापीति ॥ २७ ॥

भाष्यका अनुवाद

ग्रहण किया जाय तो भेदका कथन निराधार हो जायगा। इससे उभयव्यपदेश होनेके कारण सर्प और कुण्डलके समान यहांपर तत्त्वका होना युक्त है। जैसे सर्प, ऐसा तो अभेद है, और कुण्डलाकार, वक्राकार, दीर्घ दण्डाकार इत्यादि होना तो भेद ही है, वैसे ही यहां भी दोनोंमें अभेद और भेद है ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

भेदाभेदवज्जीवपरयोः अपि एकेनैवात्मधर्मेण भेदाभेदौ श्रुतिबलात् स्वीकार्यौ इति सूत्रद्वयार्थः। कुण्डलत्वम्—वलयाकारत्वम्। आभोगत्वम्—वक्राकारत्वम्। प्रांशुत्वम्—दीर्घदण्डाकारत्वम्, उद्गतमुखत्वम् आदिशब्दार्थः ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी एक ही आत्मस्वरूप धर्मसे भेदाभेदका स्वीकार श्रुतिके बलसे करना चाहिए, ऐसा दो सूत्रोंका अर्थ है। कुण्डलत्व—वलयाकारत्व। आभोगत्व—वक्राकारत्व अर्थात् टेढ़ापन। प्रांशुत्व—दीर्घदण्डाकारत्व अर्थात् लम्बे दण्डके आकारका होना। आदि शब्दका अर्थ है उद्गतमुखत्व—ऊपर मुखका होना ॥२७॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

पदच्छेद—प्रकाशाश्रयवत्, वा, तेजस्त्वात्।

पदार्थोक्ति—वा—अथवा, प्रकाशाश्रयवत्—यथा प्रकाशतदाश्रययोः तेजस्त्वात्—तेजस्त्वाविशेषात् [अभेदेऽपि व्यापकत्वपरिच्छिन्नत्वाभ्यां परस्परं भेदः] तद्वत्—जीवेश्वरयोर्भेदाभेदव्यपदेशः।

भाषार्थ—अथवा जैसे प्रकाश और तदाश्रयका तेजस्त्वके सामान्यसे अभेद होनेपर भी व्यापकत्व और परिच्छिन्नत्वसे भेदाभेदका व्यपदेश होता है, वैसे ही जीव और ईश्वरका भेदाभेद व्यपदिष्ट है।

भाष्य

अथवा प्रकाशाश्रयवदेतत् प्रतिपत्तव्यम् । यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता नात्यन्तभिन्नावुभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात् । अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवतः, एवमिहापीति ॥ २८ ॥

भाष्यका अनुवाद

अथवा प्रकाश और उसके आश्रयके समान इसे समझना चाहिए। जैसे सूर्यका प्रकाश और उसका आश्रय सूर्य अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, क्योंकि उन दोनोंमें तेजस्त्व समान है। और भेद-व्यपदेशके भाजन दोनों ही होते हैं, वैसे ही यहां भी जानना चाहिए ॥ २८ ॥

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

पदच्छेद—पूर्ववद्, वा।

पदार्थोक्ति—वा—अथवा, पूर्ववत्—'प्रकाशवच्चावैशेष्यम्' इत्यत्र पूर्वं भेदः काल्पनिकः, अभेदः पारमार्थिकः इति यदुक्तं तद्वत् [अत्रापि स एव सिद्धान्तोऽभ्युपेयः]।

भाषार्थ—अथवा 'प्रकाशवच्चावैशेष्यम्' इस सूत्रमें पहले भेद काल्पनिक है और अभेद पारमार्थिक है, ऐसा जो कहा गया है, उसके समान यहाँ भी उसी सिद्धान्तका स्वीकार करना चाहिए।

भाष्य

यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमिति तथैवैतद्भवितुमर्हति। तथाह्यविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते। यदि पुनः परमार्थत एव बद्धः कश्चिदात्माऽहिकुण्डलन्यायेन परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशा-

भाष्यका अनुवाद

अथवा प्रकाशादिके समान जीव और परमात्माका अभेद पूर्वमें जैसे उपन्यस्त है, वैसे ही यह हो सकता है, क्योंकि बन्धके अविद्याकृत होनेसे विद्यासे मोक्ष उपपन्न होता है। यदि परमार्थरूपसे ही सर्पकुण्डलन्यायसे पर आत्माका

रत्नप्रभा

सिद्धान्तसूत्रम्—पूर्ववद्वेति। धर्मभेदेन एकधर्मेण वा भेदाभेदस्वीकारे भेदस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"पूर्ववद्वा" यह सिद्धान्तसूत्र है। धर्मभेदसे या एकधर्मसे भेद और अभेदका

भाष्य

श्रयन्यायेन चैकदेशभूतोऽभ्युपगम्येत ततः पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत, न चात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्यवद्व्यपदिशति। अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति भेदं तु पूर्वप्रसिद्धमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षया। तस्मात् प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमित्येष एव सिद्धान्तः ॥ २९ ॥

भाष्यका अनुवाद

संस्थानभूत या प्रकाशाश्रयन्यायसे एकदेशभूत कोई बद्ध आत्मा—जीव माना जाय, तो पारमार्थिक बन्धका तिरस्कार न हो सकनेसे मोक्षशास्त्र व्यर्थ हो जायगा। और भेद और अभेद इन दोनोंका कथन श्रुति समानरूपसे नहीं करती है, श्रुति अभेदका ही प्रतिपाद्यरूपसे निर्देश करती है, भेदका, तो उपासनाकी विवक्षासे अज्ञानावस्थामें जो प्रसिद्ध है, अनुवाद ही करती है। इसलिए प्रकाशादिके समान अभेद है—यही सिद्धान्त है ॥ २९ ॥

रत्नप्रभा

सत्यत्वादभेदवदनिवृत्तिः स्यात्। एकत्रैव भेदाभेदस्वीकारे लोके विरोधकथोच्छेदः इत्यपि द्रष्टव्यम्। तस्मात् निष्प्रपञ्चं चिदेकरसं ब्रह्म तत्पदलक्ष्यमस्तीति सिद्धम् ॥ २९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वीकार करनेपर भेदके सत्य होनेसे अभेदके समान उसकी निवृत्ति नहीं होगी। एक स्थलमें ही भेद और अभेद, इन दोनोंके स्वीकार करनेसे लोकमें उनकी विरोध-कथाका उच्छेद हो जायगा—यह भी समझना चाहिए। इससे निष्प्रपञ्च चिदेकरस ब्रह्म तत्पदसे लक्ष्य है, ऐसा सिद्ध होता है ॥२९॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

पदच्छेद—प्रतिषेधात्, च।

पदार्थोक्ति—['नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुत्या परमार्थव्यतिरिक्तचेतनस्य तथा 'नेति नेति' इत्यादिशास्त्रेण परितो दृश्यमानस्य प्रपञ्चस्य च] प्रतिषेधात्—निषेधात् च [अद्वितीयं ब्रह्मेत्ययं सिद्धान्तः]।

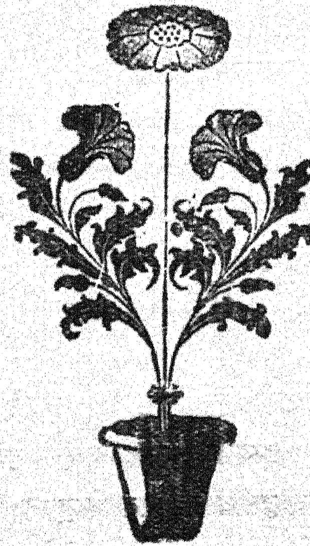
भाषार्थ—'न्यान्योतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिसे और 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्म व्यतिरिक्त चेतन और दृश्यमान प्रपञ्चका निषेध होनेसे 'अद्वितीय ब्रह्म है' यह सिद्धान्त है।

भाष्य

इतश्चैष एव सिद्धान्तः। यत्कारणं परस्मादात्मनोऽन्यं चेतनं प्रतिषेधति शास्त्रम्—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्येवमादि। 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१९) इति च ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चनिराकरणाद् ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्चैष एव सिद्धान्त इति गम्यते ॥ ३० ॥

भाष्यका अनुवाद

इससे भी यही सिद्धान्त है, क्योंकि पर आत्मासे अन्य चेतनका शास्त्र निषेध करता है—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा०' (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि। 'अथात आदेशो नेति नेति' (सत्य स्वरूपके निर्देशके अनन्तर, इससे—जो सत्यका सत्य है उसीके अवशिष्ट रहनेसे, नहीं, नहीं, ऐसा ब्रह्मका निर्देश है), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वं०' (वह ब्रह्म कारण नहीं है, कार्य नहीं है, अन्तर नहीं है और बाह्य नहीं है) इस प्रकार ब्रह्मसे अतिरिक्त प्रपञ्चका निराकरण होनेसे और ब्रह्ममात्रका परिशेष रहनेसे यही सिद्धान्त है, ऐसा समझा जाता है ॥ ३० ॥



[७ पराधिकरण सू० ३१–३७]

अस्त्यन्यद् ब्रह्मणो नो वा विद्यते ब्रह्मणोऽधिकम् ।
सेतुत्वोन्मानवत्त्वाच्च सम्बन्धाद्भेदवत्त्वतः ॥१॥
धारणात् सेतुतोन्मानमुपास्त्यै भेदसंगतिः ।
*उपाध्युद्भवनाशाभ्यां नान्यदन्यनिषेधतः * ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मसे अन्य वस्तु है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मसे अन्य वस्तु है, क्योंकि ब्रह्ममें सेतुत्व, उन्मानत्व, सम्बन्ध और भेदवत्त्वका व्यपदेश है ।

सिद्धान्त—जगद्धारणसे सेतुत्व और उपासनाके लिए उन्मानका कथन है, वैसे उपाधिके उद्भवसे भेदका और उपाधिके विनाशसे सम्बन्धका व्यपदेश है, अतः ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तु नहीं है ।

---

* भाव यह है—यद्यपि 'नेति नेति' इस प्रकारके दृश्यप्रतिषेधसे ब्रह्मकी व्यवस्थिति की गई, तथापि ब्रह्मसे अन्य वस्तु है, क्योंकि सेतुत्वादिका व्यपदेश है । 'अथ य आत्मा स सेतुः' इस श्रुतिसे सेतुत्वका व्यपदेश है । लोकमें जैसे जलके पूर्वापरका विधारक सेतु होता है, और उसको पार करके पारके दूसरे देशको प्राप्त करता है वैसे ब्रह्मके सेतु होनेसे उसके द्वारा जगत्को पारकर अन्य किसी देशको प्राप्त करेगा । इसी प्रकार उन्मानका भी व्यपदेश है—'चतुष्पाद् ब्रह्म' । वह उन्मान सद्वितीय गो आदिमें दृष्ट है अद्वितीय वस्तुमें नहीं । वैसे सम्बन्धका व्यपदेश भी 'सता सोम्य' इत्यादिमें दृष्ट है, वह सम्बन्ध तभी उपपन्न हो सकता है जब सद्रूप ब्रह्मसे भिन्न वस्तु हो, इसी तरह 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतिसे द्रष्टृद्रष्टव्यरूपसे भेदका व्यपदेश है, इससे ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुका होना सिद्ध है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—ब्रह्मका सेतुत्व जो श्रुत है वह मुख्य नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा यदि माना जाय, तो ब्रह्ममें मृद्दार्वादिमयत्व प्रसक्त होगा, इससे किसी सादृश्यसे वह विवक्षित है, ऐसा मानना होगा, वह सादृश्य विधारकत्वमात्रसे विवक्षित है। सद्वितीयत्वरूपसे नहीं, क्योंकि 'सेतुर्विधृतिः' ऐसा श्रवण है । इसी प्रकार उपासना काण्डमें पठित होनेसे उन्मान उपासनाके लिए है, तत्त्वावबोधके लिए नहीं है, भेदका भी व्यपदेश उपाधि प्रयुक्त होगा, जैसे घटाकाश और महाकाशका होता है, और सम्बन्धका व्यपदेश उपाधिके नाशकी अपेक्षासे होगा, जैसे घटका नाश होनेपर घटाकाश महाकाशके समान उपचार होता है, इससे—ब्रह्म व्यतिरिक्तवस्तुसाधकहेतुओंके अन्यथासिद्ध होनेसे, और 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादिसे अन्य वस्तुके निषधसे एक अद्वितीय ही ब्रह्म है, यह सिद्ध है, इससे पूर्वपक्षीका मत असङ्गत है ।

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१॥

पदच्छेद—परम्, अतः, सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।

पदार्थोक्ति—अतः—अस्मात् ब्रह्मणः सकाशात्, परम्—अन्यत् [वस्तु अस्ति, कुतः ?] सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः—'अथ य आत्मा स सेतुः' 'ब्रह्म चतुष्पात्' 'प्राज्ञेनात्मनासम्परिष्वक्तः' 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि' इत्यासु श्रुतिषु ब्रह्मणि सेतुत्वस्य परिच्छिन्नत्वस्य सम्परिष्वक्तत्वस्य भिन्नत्वस्य च व्यपदेशेभ्यः । [तस्मात् सद्वितीयं ब्रह्म इति सिद्धम्, पूर्वपक्षसूत्रमिदम्] ।

भाषार्थ—इस ब्रह्मसे अन्य वस्तु है, क्योंकि ब्रह्ममें सेतुत्व, उन्मानत्व, परिच्छिन्नत्व, सम्परिष्वक्तत्व और भेदका 'अथ य आत्मा स सेतुः' 'ब्रह्म चतुष्पात्' 'प्राज्ञेनात्मना' 'य ऐषोन्तरक्षिणि' इत्यादि श्रुतियोंमें कथन है, इसलिए ब्रह्मसे अतिरिक्त-वस्तु सिद्ध है, यह पूर्वपक्षसूत्र है ।

भाष्य

यदेतन्निरस्तसमस्तप्रपञ्चं ब्रह्म निर्धारितमस्मात् परमन्यत्तत्त्वमस्ति नास्तीति श्रुतिविप्रतिपत्तेः संशयः । कानिचिद्धि वाक्यान्यापातेनैव प्रतिभासमानानि ब्रह्मणोऽपि परमन्यत्तत्त्वं प्रतिपादयन्तीव तेषां हि परिहारमभिधातुमयमुपक्रमः क्रियते । परमतो ब्रह्मणोऽन्यत्तत्त्वं भवितुमर्हति । कुतः ?

भाष्यका अनुवाद

समस्त प्रपञ्चसे रहित इस ब्रह्मका जो निर्धारण किया गया है, इससे पर—भिन्न अन्य तत्त्व है या नहीं ? इस प्रकार श्रुतियोंकी विप्रतिपत्तिसे संशय होता है । आपाततः प्रतिभासमान कोई वाक्य ब्रह्मसे भी पर—भिन्न अन्यतत्त्वका प्रतिपादन-सा करते हैं, उनका परिहार करनेके लिए यह उपक्रम किया जाता है ।

पूर्वपक्षी—इससे पर अर्थात् ब्रह्मसे अन्य तत्त्व हो सकता है । किससे ?

रत्नप्रभा

यदुक्तम्—'नेति नेति' इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मातिरिक्तं वस्तु निषिध्यते इति, तदयुक्तम्, सेत्वादिश्रुतिभिर्वस्त्वन्तरास्तित्वभानादित्याक्षिपति—**परमत इति** । यद्यपि द्युभ्वाद्यधिकरणे सेतुशब्दो विधारकत्वेन गौणो व्याख्यातः, तथाप्युन्माना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुका निषेध किया जाता है, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि सेतु आदिकी श्रुतियोंसे अन्य वस्तुके अस्तित्वका भान होता है, ऐसा आक्षेप करते हैं—"परमतः" इत्यादिसे । यद्यपि द्युभ्वाद्यधिकरणमें सेतुशब्दको गौण

भाष्य

सेतुव्यपदेशादुन्मानव्यपदेशात् संबन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्चेति। सेतुव्यपदेशस्तावत्—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' (छा० ८।४।१) इत्यात्मशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणः सेतुत्वं संकीर्तयति। सेतुशब्दश्च हि लोके जलसंतानविच्छेदकरे मृद्दार्वादिप्रचये प्रसिद्धः। इह तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति लौकिकसेतोरिवात्मसेतोरन्यस्य वस्तुनोऽस्तित्वं गमयति। 'सेतुं तीर्त्वा' (छा० ८।४।२) इति च तरतिशब्दप्रयोगात्। यथा लौकिकं सेतुं तीर्त्वा

भाष्यका अनुवाद

सेतुके व्यपदेशसे, उन्मान के व्यपदेशसे, सम्बन्धके व्यपदेशसे और भेदके व्यपदेशसे। 'अथ य आत्मा स सेतुः०' (अब जो यह यथोक्तलक्षण आत्मा है, वह सेतु-सा विधारक है) इस प्रकार सेतुव्यपदेश आत्मशब्दसे अभिहित ब्रह्म सेतु है, ऐसा कहता है और सेतुशब्द लोकमें जलसन्तानका विच्छेद करनेवाले मिट्टी, लकड़ी आदिके ढेरमें प्रसिद्ध है। यहां तो सेतुशब्द आत्मामें प्रयुक्त है, इसलिए लौकिक सेतुके समान आत्मरूपसेतुसे अन्य वस्तुका अस्तित्व बतलाता है। और 'सेतुं तीर्त्वा' (सेतुको तैरकर) इस प्रकार तरतिशब्दका प्रयोग है। जैसे लौकिक

रत्नप्रभा

दिश्रुतीनां गतिमजानतोऽयं पूर्वपक्षः। तत्रोन्मानादिश्रुतीनां मुख्यत्वात् सद्वयं ब्रह्मेति फलम्, सिद्धान्ते तूक्ताद्वितीयतत्पदलक्ष्यसिद्धिरिति विवेकः। ब्रह्म सद्वयम्, सेतुत्वात्, लौकिकसेतुवत्, तीर्णत्वश्रुतेश्चेत्याह—सेतुं तीर्त्वेति। 'जाङ्गलं वातभूयिष्ठम्' इति वैद्योक्तेः वातप्रचुरो देशः जाङ्गलम्, इह तु देशमात्रं ग्राह्यम्। दिशश्चतस्रः कलाः प्रकाशवान्नाम पादः, पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः समुद्र इत्यनन्तवान्नाम पादः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

मानकर विधारकरूपसे उसका व्याख्यान किया गया है, तो भी उन्मान आदि श्रुतियोंके तात्पर्यको नहीं जाननेवालेका यह पूर्वपक्ष है। उसमें उन्मान आदि श्रुतियोंके मुख्य होनेसे वह सद्वितीय है, ऐसा पूर्वपक्षका फल है। सिद्धान्तमें तो उक्त अद्वितीय तत्पदलक्ष्य जो ब्रह्म है उसकी सिद्धि फल है, ऐसा विवेक है। ब्रह्म सद्वितीय है, सेतु होनेसे, लौकिक सेतुके समान। और तीर्णत्वश्रुतिसे भी [ऐसा ही है] इसे कहते हैं—"सेतुं तीर्त्वा" इत्यादिसे। वायुप्रचुर प्रदेशका नाम जांगल है, क्योंकि 'जाङ्गलं वातभूयिष्ठम्' ऐसा वैद्यकमें कहा गया है। यहां तो देशमात्रका ग्रहण करना चाहिए। [प्रकाशवत्, अनन्तवत्, ज्योतिष्मत् और आयतनवत् ये चार ब्रह्मके पाद हैं] चार दिशाएँ—कलायें, यह प्रकाशवान् नामक पाद है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिव् और समुद्र, यह

भाष्य

जाङ्गलमसेतुं प्राप्नोतीत्येवमात्मानं सेतुं तीर्त्वाऽनात्मानमसेतुं प्राप्नोतीति गम्यते। उन्मानव्यपदेशश्च भवति 'तदेतद् ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलम्' इति। यच्च लोक उन्मितमेतावदिदमिति परिच्छिन्नं कार्षापणादि ततोऽन्यद्वस्त्वस्तीति प्रसिद्धम्, तथा ब्रह्मणोऽप्युन्मानात्ततोऽन्येन वस्तुना भवितव्यमिति गम्यते। तथा सम्बन्धव्यपदेशोऽपि भवति—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति, 'शारीर आत्मा' (तै०२।३।१) 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' (बृ० ४।३।२१) इति च। मितानां च मितेन

भाष्यका अनुवाद

सेतु तैरकर असेतु जांगलस्थल प्राप्त करता है, वैसे ही आत्मरूप सेतुको पारकर अनात्मरूप असेतु प्राप्त करता है, ऐसा समझा जाता है। और उन्मानका भी व्यपदेश है—'तदेतद् ब्रह्म०' (वह ब्रह्म चार पादवाला, आठ खुरवाला और सोलह अवयववाला है)। लोकमें जो उन्मित है—यह इतना है, इस प्रकार परिच्छिन्न जो कर्षापणादि है, उससे अन्य वस्तु है, ऐसा प्रसिद्ध है। उसी प्रकार ब्रह्मके उन्मानसे भी, उससे अन्य वस्तु होनी चाहिए, ऐसा समझा जाता है। वैसा ही सम्बन्धका व्यपदेश भी है—'सता सोम्य०' (हे सोम्य, जब यह आत्मा शयन करता है, तब सत्के साथ एकीभूत हो जाता है), 'शारीर आत्मा' (शरीरमें—अन्नमयमें स्थित यह आत्मा है) और 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' (प्राज्ञ आत्माके

रत्नप्रभा

अग्निः सूर्यश्चन्द्रो विद्युदिति ज्योतिष्मान्नाम पादः, चक्षुः श्रोत्रं वाङ् मन इत्यायतनवान्नाम पाद इति—चतुष्पाद् ब्रह्मेति, पादानामर्धानि अष्टौ शफाः अस्येति अष्टाशफम्। पादेषु चतुर्षु प्रत्येकं चतस्रः कला इति षोडशकलम् इत्यर्थः। षोडशपणपरिमितं ताम्रं कार्षापणसंज्ञं भवति, तद्वत् सद्वयं ब्रह्म, परिमितत्वात्, इत्यर्थः। सम्बन्धित्वात् च नगरवत् इत्याह—**तथा सम्बन्धेति**। **अन्यदमितमिति**। असङ्ख्यात-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनन्तवान् नामक पाद है। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत्, यह ज्योतिष्मान् पाद है। चक्षु, श्रोत्र, वाक् और मन, यह आयतन नामक पाद है, इस प्रकार ब्रह्म चतुष्पाद—चार पैरवाला है। पादोंका अर्ध अर्थात् आठ इसके शफ—खुर हैं और चारों पादमें प्रत्येकके चार चार अवयव हैं अर्थात् सोलह अवयव हैं, ऐसा अभिप्राय है। सोलह पणोंसे परिमित ताम्र कर्षापणसंज्ञाको प्राप्त होता है अर्थात् सोलह पणोंका एक कार्षापण होता है। उसी प्रकार परिमित होनेसे ब्रह्म सद्वितीय है, ऐसा अर्थ है। और नगरके समान सम्बन्धी होनेसे भी ब्रह्म सद्वितीय है, ऐसा कहते हैं—"तथा सम्बन्ध" इत्यादिसे। "अन्यदमितम्" इसका अमित—असंख्यात—संख्या

भाष्य

संबन्धो दृष्टो यथा नराणां नगरेण। जीवानां च ब्रह्मणा सम्बन्धं व्यपदिशति सुषुप्तौ। अतस्ततः परमन्यदमितमस्तीति गम्यते। भेदव्यपदेशश्चैतमेवार्थं गमयति। तथाहि—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६) इत्यादित्याधारमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्ष्याधारमीश्वरं व्यपदिशति—'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १।७।५) इति। अतिदेशं चास्यामुना रूपादिषु करोति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १।७।५) इति। सावधिकं चेश्वरत्वमुभयोर्व्यपदिशति—'ये चामुष्मात् पराञ्चो लोका-

भाष्यका अनुवाद

साथ संसृष्ट हुआ है)। और मितोंका—परिच्छिन्नोंका मितोंके—परिच्छिन्नोंके साथ सम्बन्ध देखा जाता है, जैसे मनुष्योंका नगरके साथ। और जीवोंका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध श्रुति सुषुप्तिमें कहती है। इसलिए उससे पर-दूसरा अमित—अपरिच्छिन्न है, यह ज्ञात होता है। भेदव्यपदेश भी इसी अर्थका सूचन कराता है, क्योंकि 'अथ य एषो०' (आदित्यके मध्यमें जो यह सुवर्णमय-सा ज्योतिर्मय पुरुष दिखाई देता है) इत्यादिसे आदित्य जिसका आधार है, उस ईश्वरका व्यपदेश करके अनन्तर चक्षु जिसका आधार है, उस ईश्वरका भेदसे श्रुति कथन करती है—'अथ य०' (आँखोंके भीतर जो यह पुरुष दिखाई देता है) इस प्रकार। और इस अक्षिस्थ पुरुषका इस आदित्यस्थ पुरुषके साथ रूप आदिमें अतिदेश करती है—'तस्यैतस्य०' (इस नेत्रस्थ पुरुषका वही रूप है जो कि इस आदित्यस्थ पुरुषका है, जो उसके पर्व हैं वे ही इसके पर्व हैं, जो उसका नाम है वही इसका भी नाम है) और दोनोंका ईश्वरत्व मर्यादित है, ऐसा व्यपदेश करती है—'ये चामुष्मात्०'

रत्नप्रभा

मित्यर्थः। अन्यस्पर्शे अल्पत्वेन मितत्वनियमात् इति मन्तव्यम्। भेदेनोक्तत्वाच्च घटवत् इत्याह—भेदव्यपदेशश्चेति। अस्य अक्षिस्थस्य अमुना आदित्यस्थेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

परिच्छेदसे रहित, ऐसा अर्थ है, क्योंकि अन्यके स्पर्शसे अल्पत्व होनेसे मितत्व है, इस प्रकार नियम है, ऐसा मानना चाहिए। और घटके समान भेदसे कथन होनेके कारण भी ब्रह्म सद्वितीय है, ऐसा कहते हैं—"भेदव्यपदेशश्च" इत्यादिसे। अस्य—आँखोंमें स्थित पुरुषका, अमुना—जो

भाष्य

स्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १।६।८) इत्येकस्य, 'ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १।७।६) इत्येकस्य। यथेदं मागधस्य राज्यमिदं वैदेहस्येति एवमेतेभ्यः सेत्वादिव्यपदेशेभ्यो ब्रह्मणः परमस्ति ॥ ३१ ॥

इत्येवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—

भाष्यका अनुवाद

(उस आदित्यसे ऊपर जो लोक हैं, उनपर और देवोंकी कामनाओंपर वह ईश्वरत्व प्राप्त करता है) इस प्रकार एकका, और 'ये चैतस्मात्०' (इससे नीचे के जो लोक हैं उनपर और मनुष्योंकी कामनाओंपर वह ईश्वरत्व प्राप्त करता है) इस प्रकार दूसरेका। जैसे—यह मगधका राज्य है और यह वैदेहका है। इसी प्रकार इन सेत्वादिके व्यपदेशोंसे ब्रह्मसे पर वस्तु है ॥ ३१ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर प्रतिपादन किया जाता है—

रत्नप्रभा

सह इति यावत्। आधारतोऽतिदेशतश्च भेदमुक्त्वाऽवधितोऽपि तमाह—सावधिकं चेति ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूर्यमें स्थित है उसके साथ। आधार और अतिदेशसे भेद कहकर अवधिसे भी भेद कहते हैं—"सावधिकं च" इत्यादिसे ॥३१॥

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—सामान्यात्, तु।

पदार्थोक्ति—अत्र सूत्रे तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। सामान्यात्—मृद्दार्वादिमये हि सेतुशब्दो रूढो लोके, न तथा ब्रह्मणः सेतुत्वम्, एवञ्च सेतोर्जल-व्यवस्थापकत्वं यथा तथास्य ब्रह्मणो जगन्मर्यादाव्यवस्थापकत्वेन लोकप्रसिद्ध-सेतुसाम्यात् [सेतुत्वव्यपदेशो न तु वस्तुत इति नोक्तसेतुत्वनिबन्धनदोष इत्यर्थः]।

भाषार्थ—इस सूत्रमें तुशब्द पूर्वपक्षका निरसन करता है। जैसे मृद्दार्वादि-मय वस्तुमें सेतु—पुल शब्द रूढ है, वैसे ब्रह्ममें रूढ नहीं है, परन्तु जैसे लौकिक सेतु जलका व्यवस्थापक है, वैसे ही परब्रह्म जगन्मर्यादाका व्यवस्थापक है, इस प्रकार सादृश्यसे ब्रह्ममें सेतुत्व व्यपदेश है, वस्तुतः नहीं, अतः उक्त पूर्वपक्षका अवकाश नहीं है।

भाष्य

तुशब्देन प्रदर्शितां प्राप्तिं निरुणद्धि। न ब्रह्मणोऽन्यत्किंचिद्भवितुमर्हति, प्रमाणाभावात्, नह्यन्यस्यास्तित्वे किंचित् प्रमाणमुपलभामहे। सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य जन्मादि ब्रह्मणो भवतीति निर्धारितम्, अनन्यत्वं च कारणात् कार्यस्य। न च ब्रह्मव्यतिरिक्तं किंचिदजं संभवति 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यवधारणात्। एकविज्ञानेन च सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानान्न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वमवकल्पते। ननु सेत्वादिव्यपदेशाः ब्रह्मव्यतिरिक्तं तत्त्वं सूचयन्तीत्युक्तम्। नेत्युच्यते।

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—तुशब्दसे प्रदर्शित प्राप्तिका निवारण करते हैं—प्रमाणका अभाव होनेसे ब्रह्मसे अन्य कुछ नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्यके अस्तित्वमें हमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। उत्पत्तिवाले सम्पूर्ण वस्तुसमूहके जन्म आदि ब्रह्मसे होते हैं, ऐसा निर्धारण किया गया है तथा कारणसे कार्य अन्य नहीं है, ऐसा भी निर्धारण किया जा चुका है। उसी प्रकार ब्रह्मसे पृथक् कोई भी जन्मरहित वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य, इस जगत्की उत्पत्तिके पूर्व केवल एक अद्वितीय सत् ही था) इस प्रकार अवधारण है और एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा होनेके कारण ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुका अस्तित्व नहीं हो सकता। परन्तु सेतु आदिका व्यपदेश ब्रह्मसे अतिरिक्त तत्त्वको सूचित करते हैं, ऐसा कहा गया है? 'नहीं' ऐसा हम कहते हैं।

रत्नप्रभा

सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—**तुशब्देनेत्यादिना**। यदन्यत्, तत् किं सादि, अनादि वा? नाद्यः, मानाभावात्, कार्यस्य ब्रह्मानन्यत्वनिर्णयाच्चेत्युक्त्वा न द्वितीयः, प्रागुत्पत्तेरद्वयत्वावधारणात् इत्याह—**न च ब्रह्मव्यतिरिक्तमिति**। उक्तानुमानानामागमबाध इति भावः। उक्तं स्मारयित्वा हेतूनामसिद्धिमाह—**ननु सेत्वित्यादिना**। किं सेतुश्रुत्या परसिद्धिरर्थाद्वा? नाद्यः इत्युक्त्वा,

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तुशब्देन" इत्यादिसे। जो अन्य है वह क्या सादि है या अनादि है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणका अभाव है, और कार्य ब्रह्मसे अनन्य है, ऐसा निर्णय किया जा चुका है—ऐसा कहकर दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्व ब्रह्म अकेला ही अद्वितीय था, इस प्रकार अवधारण है, ऐसा कहते हैं—"न च ब्रह्मव्यतिरिक्तम्" इत्यादिसे। कथित अनुमानोंमें आगमका बाध है, ऐसा अभिप्राय है। जो

भाष्य

सेतुव्यपदेशस्तावन्न ब्रह्मणो बाह्यस्य सद्भावं प्रतिपादयितुं क्षमते 'सेतुरात्मा' इति ह्याह, न पुनः 'ततः परमस्ति' इति । तत्र परस्मिन्नसति सेतुत्वं नावकल्पत इति परं किमपि कल्प्येत, न चैतन्न्याय्यम्, हठो ह्यप्रसिद्धकल्पना। अपि च सेतुव्यपदेशादात्मनो लौकिकसेतुनिदर्शनेन सेतुबाह्यवस्तुतां प्रसञ्जयता मृद्दारुमयतापि प्रासङ्क्ष्यत, न चैतन्न्याय्यम्, अजत्वादिश्रुतिविरोधात् । सेतुसामान्यात्तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति श्लिष्यते, जगतस्तन्मर्यादानां च विधारकत्वं सेतुसामान्यमात्मनः, अतः सेतुरिव सेतुरिति प्रकृत आत्मा स्तूयते ।

भाष्यका अनुवाद

सेतुका व्यपदेश ब्रह्मसे अन्य वस्तुके सद्भावके प्रतिपादनमें समर्थ नहीं है, क्योंकि 'सेतुरात्मा' (आत्मा सेतु है) ऐसा कहा गया है, लेकिन 'ततः परमस्ति' ऐसा नहीं कहा गया है । वहां यदि पर—अन्य न हो, तो सेतुत्वका संभव नहीं होता, इससे किसी एक परकी कल्पना की जाती है, परन्तु यह न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि अप्रसिद्धकी कल्पना—यह एक हठ—दुराग्रह है । और सेतुका व्यपदेश है, अतः लौकिक सेतुके दृष्टान्तसे आत्मरूप सेतुसे बाह्य वस्तु है, इस प्रकार प्रसंग लानेवाला आत्मामें मृण्मयता तथा काष्ठमयताका भी प्रसंग उपस्थित करेगा । और यह न्याय्य नहीं है, क्योंकि 'आत्मा अज है' इत्यादि प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध होगा । सेतुके सादृश्यसे आत्मामें सेतुशब्द प्रयुक्त है, यह घटता है । जगत् और उसकी मर्यादाओंका विधारक आत्मा है, इस प्रकार आत्माका सेतुके साथ सादृश्य है । इससे सेतु-सा सेतु, ऐसी प्रकृत आत्माकी

रत्नप्रभा

द्वितीयं शङ्कते—तत्र परस्मिन्निति । सेतुत्वलिङ्गेनाद्वितीयत्वश्रुतिबाधनमन्याय्य-मित्याह—न चेति। लिङ्गं चासिद्धमित्याह—अपि चेति । विधारकत्वं तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वमें कहा गया है उसका स्मरण करके हेतु असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"ननु सेतु" इत्यादिसे। क्या सेतुश्रुतिसे पर-अन्य वस्तुकी सिद्धि है या अर्थतः है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहकर द्वितीय पक्षकी शंका करते हैं—"तत्र परस्मिन्" इत्यादिसे । सेतुत्वलिंगसे अद्वितीयत्व श्रुतिका बाध न्यायसंगत नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । और लिंग भी सिद्ध नहीं है,

भाष्य

सेतुं तीर्त्वेत्यपि तरतिः अतिक्रमासम्भवात् प्राप्नोत्यर्थ एव वर्तते, यथा व्याकरणं तीर्ण इति प्राप्त इत्युच्यते, नातिक्रान्तः, तद्वत् ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

स्तुति है। 'सेतुं तीर्त्वा' (सेतुको तैरकर) इसमें भी तॄधातु अतिक्रमणरूप अर्थके संभव न होनेसे प्राप्तकरणरूप अर्थमें ही है। जैसे 'व्याकरणं तीर्णः' (व्याकरणको तैर गया है) अर्थात् व्याकरणको प्राप्त हुआ है, ऐसा कहा जाता है, अतिक्रान्त हुआ, ऐसा नहीं कहा जाता, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभा

कल्पितद्वितीयापेक्षयापि युज्यत इति भावः। तीर्णत्वहेतुः अपि असिद्धः इत्याह—**सेतुं तीर्त्वेति** ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। विधारकत्व जो सेतुका गौण अर्थ है वह तो कल्पित द्वितीयकी अपेक्षासे भी उपपन्न हो सकता है, ऐसा अभिप्राय है। तीर्णत्व हेतु भी असिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं—"सेतुं तीर्त्वा" इत्यादिसे ॥३२॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—बुद्ध्यर्थः, पादवत्।

पदार्थोक्ति—['चतुष्पाद् ब्रह्म' इत्यादिश्रुतौ उन्मानव्यपदेशः] बुद्ध्यर्थः—उपासनार्थः [निर्विशेषस्य बुद्धिस्थत्वायोगादुपाधिकल्पनद्वारा बुद्धिस्थत्वादस्योन्मानव्यपदेशो न मुख्यो भवितुमर्हति] पादवत्—यथा ब्रह्मप्रतीकस्य मनसो वाग्घ्राणचक्षुश्श्रोत्राणामुपासनार्थं पादत्वेन व्यपदेशस्तद्वदित्यर्थः।

भाषार्थ—जैसे ब्रह्मप्रतीक मनकी उपासनाके लिए वागादिकोंकी पादत्वेन कल्पना की गई है, वैसे 'चतुष्पाद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिमें उन्मान—परिच्छिन्नत्वकी उपासनाके लिए कल्पना की गई है, वस्तुतः नहीं, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्मका उपाधिके बिना बुद्धिस्थत्व होना सम्भव नहीं है, अतः उन्मान मुख्य नहीं है।

भाष्य

यदप्युक्तम्—उन्मानव्यपदेशादस्ति परमिति, तत्राभिधीयते—उन्मानव्यपदेशोऽपि न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वप्रतिपत्त्यर्थः । किमर्थस्तर्हि ? बुद्ध्यर्थः, उपासनार्थ इति यावत् । चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमित्येवंरूपा बुद्धिः कथं नु नाम ब्रह्मणि स्थिरा स्यादिति—विकारद्वारेण ब्रह्मण उन्मानकल्पनेव क्रियते । नह्यविकारेऽनन्ते ब्रह्मणि सर्वैः पुंभिः शक्या बुद्धिः स्थापयितुम्, मन्दमध्यमोत्तमबुद्धित्वात् पुंसामिति । पादवत् । यथा मन आकाशयोरध्यात्ममधिदैवतं च ब्रह्मप्रतीकयोराम्नातयोश्चत्वारो वागादयो मनःसंबन्धिनः पादाःकल्प्यन्ते, चत्वारश्चाग्न्यादय आकाशसम्बन्धिनः आध्यानाय तद्वत् । अथवा पादवदिति, यथा कार्षापणे पादविभागो व्यवहारप्राचुर्याय

भाष्यका अनुवाद

यह भी जो कहा गया है कि उन्मानके व्यपदेशसे ब्रह्मसे पर–अन्य है, उसपर कहते हैं—उन्मानका व्यपदेश भी ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुके अस्तित्वका ज्ञापक नहीं है। तब किस लिए है ? बुद्धिके लिए है अर्थात् उपासनाके लिए है। चार पैरवाला, आठ खुरवाला, सोलह अवयववाला इस प्रकारकी बुद्धि है। यह ब्रह्ममें किस प्रकार स्थिर होगी, इसलिए विकार द्वारा ब्रह्मके उन्मानकी कल्पना की जाती है, क्योंकि अविकार अनन्त ब्रह्ममें सब पुरुष बुद्धिका स्थापन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पुरुष मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धिवाले हैं। पादके समान। जैसे कि मन और आकाश जो अध्यात्म और अधिदैवत ब्रह्मप्रतीकरूपसे श्रुतिमें प्रतिपादित हैं उसमें मनसम्बन्धी वाक् आदि चार पाद और आकाशसम्बन्धी अग्नि आदि चार पाद आध्यानके लिए कल्पित हैं, वैसे। अथवा पादवत् (पादके समान) अर्थात् जैसे कार्षापणमें पादविभाग

रत्नप्रभा

परिमितत्वमप्यसिद्धमित्याह—बुद्ध्यर्थ इति । वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्राणि मनसः पादाः, अग्निवाय्वादित्यदिशः आकाशस्य पादाः ध्यानार्थं कल्पिताः, तद्वद् ब्रह्मणः उन्मानम् इत्यर्थः । लौकिकं दृष्टान्तम् आह—अथवेति । पादकल्पनां विनापि

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म परिमित है, यह भी असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"बुद्ध्यर्थ" इत्यादिसे। जैसे वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र ये मनके पाद; अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएँ ये आकाशके पाद; ध्यानके लिए कल्पित हैं, वैसे ही ब्रह्मका उन्मान कल्पित है, ऐसा अर्थ है। लौकिक दृष्टान्त

भाष्य

कल्प्यते, नहि सकलेनैव कार्षापणेन सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीशते, क्रयविक्रये परिमाणानियमात्, तद्वादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

व्यवहारके प्राचुर्यके लिए कल्पित होता है, क्योंकि समस्त कार्षापणसे ही सभी मनुष्य सर्वदा व्यवहार नहीं कर सकते हैं, कारण कि क्रय और विक्रयमें परिमाणका नियम नहीं है, वैसे ही, ऐसा अर्थ है ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभा

व्यवहारः किं न स्यात्? इत्यत आह—**नहीति**। कार्षापणस्य व्यवहाराय पादकल्पनावत् मन्दधियां ध्यानव्यवहाराय ब्रह्मण उन्मानकल्पना इत्यर्थः ॥३३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। पादकल्पनाके बिना भी व्यवहार क्यों नहीं होता? इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। कार्षापणके व्यवहारके लिए जैसे पादकी कल्पना है वैसे ही मन्दबुद्धिवालोंके ध्यानके व्यवहारके लिए ब्रह्मके उन्मानकी कल्पना है ॥३३॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—स्थानविशेषात्, प्रकाशादिवत्।

पदार्थोक्ति—प्रकाशादिवत्—यथा सौरालोकादेरङ्गुल्याद्युपाधियोगादुपजात-भेदस्योपशमात् सम्बन्धव्यपदेश उपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशस्तद्वत् स्थानविशेषात्—स्थानमुपाधिबुद्ध्यादिः, तद्विशेषात् [प्राप्तस्य भेदस्योपाध्युपशमाद् य उपशमः, स एव प्राज्ञेन आत्मना जीवस्य सुषुप्तौ सम्बन्धः, इत्युपाध्यपेक्षयोपचर्यते। अक्ष्यादित्य-पुरुषयोर्भेदव्यपदेशोऽप्यक्ष्यादित्यरूपस्थानविशेषापेक्षयोपचर्यते, न मुख्यतः, इत्यर्थः]।

भाषार्थ—बुद्धि आदि उपाधिके योगसे प्राप्तभेदका उपाधिके उपशमसे जो उपशम है, वही प्राज्ञ आत्माके साथ जीवका सुषुप्तिमें सम्बन्ध है, अतः उपाधिकी अपेक्षासे सम्बन्धव्यपदेश उपचरित है, चक्षु और आदित्यके पुरुषका भेदव्यपदेश भी अक्षि और आदित्यरूप उपाधिविशेषसे उपचरित है। जैसे उपाधिके योगसे भिन्न सूर्यके आलोक आदिका उपाधिके उपशमसे सम्बन्धव्यपदेश होता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए।

भाष्य

इह सूत्रे द्वयोरपि सम्बन्धभेदव्यपदेशयोः परिहारो विधीयते। यदप्युक्तम्—सम्बन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्च परमतः स्यात्—इति, तदप्यसत्। यत एकस्यापि स्थानविशेषापेक्षयैतौ व्यपदेशावुपपद्येते। संम्बन्धव्यपदेशे तावदयमर्थः—बुद्ध्याद्युपाधिस्थानविशेषयोगादुद्भूतस्य विशेषविज्ञानस्योपाध्युपशमे य उपशमः स परमात्मना सम्बन्ध इत्युपाध्यपेक्षयैवोपचर्यते, न परिमितत्वापेक्षया। तथा भेदव्यपदेशोऽपि ब्रह्मण उपाधिभेदापेक्षयोपचर्यते, न स्वरूपभेदापेक्षया। प्रकाशादिवदित्युपमोपादानम्। यथैकस्य प्रकाशस्य सौर्यस्य चान्द्रमसस्य वोपाधियोगादुपजातविशेषस्योपाध्युपशमात् सम्बन्धव्यप-

भाष्यका अनुवाद

इस सूत्रमें दोनोंका—सम्बन्ध-व्यपदेश और भेद-व्यपदेशका परिहार किया जाता है। सम्बन्ध-व्यपदेश और भेद-व्यपदेशसे ब्रह्मसे पर—अन्य वस्तु है, ऐसा जो कहा गया है, वह भी असङ्गत ही है, क्योंकि स्थानविशेषकी अपेक्षासे एकके भी ये व्यपदेश हो सकते हैं। सम्बन्धव्यपदेशमें यह अर्थ—अभिप्राय है—बुद्धि आदि उपाधिरूप स्थानविशेषके योगसे प्रादुर्भूत विशेषविज्ञानका उपाधिके उपशम होनेपर जो उपशम होता है वह परमात्माके साथ सम्बन्ध है, इस प्रकार उपाधिकी अपेक्षासे उपचार है, परिमितत्वकी अपेक्षासे नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मका भेदव्यपदेश भी उपाधिके भेदकी अपेक्षासे उपचरित है, स्वरूपके भेदकी अपेक्षासे नहीं है। प्रकाशादिवत्—प्रकाश आदिके समान, यह उपमाका कथन है, जैसे सूर्य या चन्द्रके एक प्रकाशमें उपाधिके योगसे उत्पन्न विशेषका उपाधिके उपशमसे सम्बन्धव्यपदेश होता है, और उपाधिके

रत्नप्रभा

सम्बन्धभेदौ कल्पितौ न सत्यद्वितीयसाधकौ इत्याह—**स्थानेति**। स्थानम्—उपाधिबुद्ध्यादिः। एकस्यैवोपाधिना भिन्नस्योपाधिशान्तौ सत्यां सम्बन्ध उपचर्यते। यथा सौरालोकादेः अङ्गुल्याद्युपाधिना भिन्नस्य उपाधिवियोगे महा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्बन्ध और भेद कल्पित हैं, अतः वे सत्य द्वितीयके साधक नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—"स्थान" इत्यादिसे। स्थान—उपाधि अर्थात् बुद्धि आदि। उपाधि द्वारा भिन्न एक ही वस्तुका उपाधिके शान्त होनेपर सम्बन्ध उपचरित होता है। जैसे आदित्यका तेज अङ्गुलिरूप उपाधिसे भिन्न हुआ दीखता है, उसकी उपाधिके वियोग होनेपर महातेज आदि स्वरूपके साथ

भाष्य

देशो भवत्युपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशः। यथा वा सूचीपाशाकाशादिषूपाध्य-पेक्षयैवैतौ सम्बन्धभेदव्यपदेशौ भवतः, तद्वत् ॥ ३४ ॥

भाष्यका अनुवाद

भेदसे भेदव्यपदेश होता है। अथवा जैसे सुईके छिद्र, पाश, आकाश आदिमें उपाधिकी अपेक्षासे ही यह सम्बन्धव्यपदेश और भेदव्यपदेश होता है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभा

लोकाद्यात्मना सम्बन्धोपचारः, तद्वत्—तथाऽऽदित्यचक्षुषोः स्थानयोर्भेदाद्धिरणमय-पुरुषभेदकल्पना इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्बन्धका उपचार होता है, वैसे ही आदित्य और चक्षुरूप स्थान—उपाधिके भेदसे हिरण्मय-पुरुषकी भेदकल्पना होती है, ऐसा अर्थ है ॥३४॥

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—उपपत्तेः, च।

पदार्थोक्ति—[न वास्तविको जीवपरयोः सम्बन्धः सुषुप्तौ भवति, कुतः ?] उपपत्तेः—'स्वमपीतो भवति' इति स्वरूपस्यैव सम्बन्धत्वव्यपदेशोपपत्तेः, च—एवम् [भेदोऽपि न मुख्यः, श्रुतिसहस्रविरोधादित्यर्थः]।

भाषार्थ—सुषुप्तिमें जीव और परका सम्बन्ध मुख्य नहीं हो सकता है, क्योंकि 'स्वमपीतो भवति' इत्यादिसे स्वरूपका ही सम्बन्धरूपसे व्यपदेश युक्त है। उसी प्रकार सैकड़ों श्रुतियोंके साथ विरोध होनेसे भेद भी मुख्य नहीं है।

भाष्य

उपपद्यते चात्रेदृश एव सम्बन्धो नान्यादृशः। यथा 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति हि स्वरूपसम्बन्धमेनमामनन्ति। स्वरूपस्य चानपा-यित्वात् न नरनगरन्यायेन सम्बन्धो घटते। उपाधिकृतस्वरूपतिरोभा-

भाष्यका अनुवाद

और यहांपर ऐसा ही सम्बन्ध उपपन्न भी होता है, दूसरे प्रकारका नहीं, क्योंकि 'स्वमपीतो भवति' (अपना सद्रूप प्राप्त करता है) इस प्रकारका श्रुतिवाक्य स्वरूपसम्बन्धको कहता है। और स्वरूपके अपायरहित होनेसे

भाष्य

वात्तु—'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इत्युपपद्यते। तथा भेदोऽपि नान्यादृशः सम्भवति, बहुतरश्रुतिप्रसिद्धैकेश्वरत्वविरोधात्। तथा च श्रुतिरेकस्याप्याकाशस्य स्थानकृतं भेदव्यपदेशमुपपादयति—'योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशः' (छा० ३।१२।७), 'योऽयमन्तः पुरुष आकाशः' (छा० ३।१२।८), 'योऽयमन्तर्हृदय आकाशः' (छा० ३।१२।९) इति च ॥३५॥

भाष्यका अनुवाद

नरनगरन्यायसे सम्बन्ध नहीं घटता। परन्तु उपाधिप्रयुक्त स्वरूपके तिरोभावसे 'स्वमपीतो भवति' ऐसा उपपन्न होता है। उसी प्रकार भेद भी अन्य प्रकारका नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक श्रुतियोंसे प्रसिद्ध एक—अद्वितीय ईश्वरत्वका विरोध होगा। इसलिए श्रुति एक ही आकाशके स्थानकृतभेदके व्यपदेशका उपपादन करती है—'योऽयं बहिर्धा०' (पुरुषके बाहर जो यह—भौतिक आकाश है), 'योऽयमन्तः०' (जो यह पुरुषके अन्दर आकाश है) 'योऽयमन्तर्हृदय आकाशः' (जो यह हृदयके अन्दर आकाश है) इत्यादि ॥३५॥

रत्नप्रभा

मुख्यावेव सम्बन्धभेदौ किं न स्याताम्? इत्यत्र सूत्रम्—उपपत्तेश्चेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्बन्ध और भेद मुख्य अर्थमें ही क्यों नहीं गृहीत किये जांय? इसपर सूत्र है—

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—तथा, अन्यप्रतिषेधात्।

पदार्थोक्ति—[यथा सेतुत्वादिहेतुभ्यो नान्यवस्तुविज्ञानम्] तथा—तेन प्रकारेण ['आत्मैवाधस्तात्' इत्यादिवाक्यैः] अन्यप्रतिषेधात्—अन्यस्य वस्तुनो निषेधात् [अद्वितीयमेव ब्रह्म, इत्यर्थः]

भाषार्थ—जैसे सेतुत्वादिके व्यपदेशसे अन्य वस्तुकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है, वैसे ही 'आत्मैवाधस्तात्, इत्यादि वाक्योंसे अन्य वस्तुका निषेध होनेसे अद्वितीय ही ब्रह्म है, यह अर्थ है।

भाष्य

एवं सेत्वादिव्यपदेशान् परपक्षहेतूनुन्मथ्य सम्प्रति स्वपक्षं हेत्वन्तरेणोपसंहरति। तथान्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते। तथाहि—'स एवाधस्तात्' (छा० ७।२५।२), 'अहमेवाधस्तात्' (छा० ७।२५।१), 'आत्मैवाधस्तात्' (छा० ७।२५।२), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४।४।१९), यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्' (श्वे० ३।९), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्०' (बृ० २।५।१९) इत्येवमादिवाक्यानि स्वप्रकरणस्थान्यन्यार्थत्वेन परिणेतुमशक्यानि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं वारयन्ति। सर्वान्तरश्रुतेश्च न परमात्मनोऽन्योऽन्तरात्मास्तीत्यवधार्यते ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

उक्त प्रकारसे परपक्षके हेतुभूत सेतु आदि व्यपदेशोंका निरसन करके अब अन्य हेतुसे स्वपक्षका उपसंहार करते हैं। उसी प्रकार अन्यके प्रतिषेधसे भी ब्रह्मसे पर—अन्य वस्तु नहीं है, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि 'स एवाधस्तात्' (वही नीचे है), 'अहमेवाधस्तात्' (मैं ही नीचे हूँ), 'आत्मैवाधस्तात्' (आत्मा ही नीचे है) सर्वं तं परादाद्यो०' (जो आत्म-स्वरूपसे व्यतिरिक्त सबको जानता है उसको सब पराकरण—त्याग करते हैं) 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (ब्रह्म ही यह सब है), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (आत्मा ही यह सब है), 'नेह नानास्ति किञ्चन' (यहां कुछ भिन्न नहीं है), यस्मात् परं ना०' (जिस पुरुषसे पर—उत्कृष्ट दूसरा कुछ भी नहीं है),'तदेतद्ब्रह्मापूर्वं०' (यह ब्रह्म कारणरहित, कार्यरहित, अन्तररहित और बाह्यरहित है) इत्यादि वाक्य जो ब्रह्मके प्रकरणमें हैं और जिनका अन्यार्थरूपसे ग्रहण करना अशक्य है, वे ब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य वस्तुका निषेध करते हैं, इसी प्रकार सर्वान्तरश्रुतिसे भी ऐसा अवधारण होता है कि परमात्मासे अन्य अन्तरात्मा नहीं है ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभा

स्वरूपेण ब्रह्मणा जीवस्य सम्बन्धो भेदनिवृत्तिरूपो युज्यते, न मुख्यः संयोगादिः, वस्तुद्वयासत्त्वात्। तथा भेदोऽपि न स्वतः, एकत्वश्रुतेरित्यर्थः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

''उपपत्तेश्च'' इति। ब्रह्मका जीवके साथ स्वरूपसम्बन्ध जो भेदकी निवृत्ति करता है वही युक्त है, मुख्य संयोगादि सम्बन्ध युक्त नहीं हैं, क्योंकि दो वस्तुओंका अभाव है। उसी प्रकार भेद भी स्वतः नहीं है, क्योंकि एकत्वश्रुति है, यह अर्थ है ॥३५॥३६॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—अनेन, सर्वगतत्वम्, आयामशब्दादिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—अनेन—सेतुत्वादिव्यपदेशेषु मुख्यत्वस्य वस्त्वन्तरस्य च प्रतिषेधेन [ब्रह्मणः सर्वगतत्वं सिद्धम्, तथा] आयामशब्दादिभ्यः—'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादिव्यापकत्ववाचकशब्दादिभ्यः [अपि, सर्वगतत्वं सिद्धम्, आदिशब्देन 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इत्यादिः ग्राह्यः]।

भाषार्थ—सेतुत्वादिव्यपदेशोंमें मुख्यत्व और वस्त्वन्तरत्वके निषेधसे ब्रह्म सर्वगत है, यह सिद्ध हुआ और 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि व्यापकत्ववाचकशब्दादि हेतुओंसे भी ब्रह्म सर्वगत सिद्ध होता है। शब्दादिमें आदिशब्दसे 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इत्यादिका ग्रहण करना चाहिए ।

भाष्य

अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च सर्वगतत्वमप्यात्मनः सिद्धं भवति। अन्यथा हि तन्न सिद्ध्येत्। सेत्वादिव्यपदेशेषु हि मुख्येष्वङ्गीक्रियमाणेषु परिच्छेद आत्मनः प्रसज्येत, सेत्वादीनामेवमात्मकत्वात्। तथान्यप्रतिषेधेऽप्यसति वस्तु वस्त्वन्तराद् व्यावर्तत इति परिच्छेद एवात्मनः प्रसज्येत। सर्वगतत्वं चास्यायामशब्दादिभ्यो विज्ञा-

भाष्यका अनुवाद

इससे अर्थात् सेतु आदिके व्यपदेशके निराकरणसे और अन्य प्रतिषेधके समाश्रयणसे आत्मा सर्वगत है यह भी सिद्ध होता है, अन्यथा उसकी सिद्धि नहीं होगी, कारण कि सेतु आदि व्यपदेश मुख्य अर्थमें यदि लिए जायं, तो आत्मामें परिच्छिन्नत्व प्रसक्त होगा, क्योंकि सेतु आदि ऐसे स्वरूपात्मक—परिच्छिन्न स्वरूपात्मक हैं, उसी प्रकार अन्य प्रतिषेध भी यदि न हो, तो एक वस्तु अन्य वस्तुसे व्यावृत्त होती है, इसलिए आत्माका परिच्छेद (पुनः) प्राप्त ही होगा। आत्मा सर्वगत है, ऐसा तो आयामशब्द आदिसे समझा जाता है।

रत्नप्रभा

ननु द्वितीयाभावे सर्वगतत्वश्रुतिविरोध इत्यत आह—**अनेन सर्वगतत्वमिति**। द्वितीयं सत्यं चेत्, सेत्वादिवद् ब्रह्मणोऽल्पता स्यात्, 'यत्रान्यत् पश्यति तदल्पम्'

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु यदि द्वितीयका अभाव हो, तो सर्वगतत्व श्रुतिका विरोध होगा, इसपर कहते हैं—"अनेन सर्वगतत्वम्" इत्यादिसे। यदि द्वितीय वस्तु सत्य हो, तो सेतु आदिके समान ब्रह्ममें

भाष्य

यते। आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः। 'यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाशः' (छा० ८।१।३), 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान्दिवः' (छा० ३।१४।३), 'ज्यायानाकाशात्', 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (भ. गी. २।२४) इत्येवमाद्यो हि श्रुतिस्मृतिन्यायाः सर्वगतत्वमात्मनोऽवबोधयन्ति ॥ ३७ ॥

भाष्यका अनुवाद

आयाम शब्द व्याप्ति वाचक है—'यावान्वा०' (जितना यह भौतिक आकाश है, उतना यह हृदयमें आकाश है), 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (आकाशके समान आत्मा सर्वगत और नित्य है), 'ज्यायान्दिवः' (आत्मा दिव्से बहुत बड़ी है), 'ज्यायानाकाशात्' (आत्मा आकाशसे बड़ी है), 'नित्यः सर्वगतः०' (यह नित्य, सर्वगत और स्थाणु, अचल और सनातन है) इस प्रकारके श्रुति, स्मृति और न्याय, आत्मामें सर्वगतत्वका अवबोधन कराते हैं ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभा

(छा० ७।२४।१) इति श्रुतेः। किञ्च निरवयवासङ्गब्रह्मणः सत्यप्रपञ्चसम्बन्धायोगात् तवैव सर्वगतत्वश्रुतिविरोध इति भावः। अधिष्ठानेनाध्यस्तं जगत् व्याप्तम्, अध्यस्तत्वात्, रज्ज्वा व्याप्तसर्पवत्, इति न्यायः ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अल्पता होगी, क्योंकि 'यत्रान्यत् पश्यति०' (जिस कालमें अन्य देखता है, वह अल्प है) ऐसी श्रुति है। और निरवयव और असङ्ग ब्रह्मका सत्यप्रपञ्चके साथ सम्बन्ध अयुक्त होनेसे तुम्हें ही सर्वगतत्व श्रुतिका विरोध प्रसक्त होगा, ऐसा भाव है। अधिष्ठानसे अध्यस्त जगत् व्याप्त है, अध्यस्त होनेसे, रज्जुसे व्याप्त सर्पके समान, ऐसा न्याय—अनुमान है ॥ ३७ ॥



[८ फलाधिकरण सू० ३८-४१]

कर्मैव फलदं यद्वा कर्माराधित ईश्वरः ।
अपूर्वावान्तरद्वारा कर्मणः फलदातृता ॥ १ ॥
अचेतनात् फलासूतेः शास्त्रीयात् पूजितेश्वरात् ।
कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नाऽपूर्वपरिकल्पना ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—फलका देनेवाला कर्म है अथवा ईश्वर है ?

पूर्वपक्ष—अपूर्व द्वारा कर्म ही फलका दाता है, ईश्वर नहीं है ।

सिद्धान्त—लोकमें अचेतन कर्म फलदाता नहीं देखा जाता है, अतः कर्म द्वारा आराधित शास्त्रप्रमाणसिद्ध ईश्वर ही कालान्तरमें फलका दाता होगा, इसलिए अपूर्वकी कल्पना अयुक्त है ।

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—फलम्, अतः, उपपत्तेः ।

पदार्थोक्ति—अतः—अस्मात् परमेश्वरात् फलम् [सर्वस्य जन्तोर्भवितुमर्हति, कुतः ?] उपपत्तेः—क्षणिकात् कर्मणः फलासम्भवेनेश्वरस्यैव फलदातृत्वसम्भवात् ।

भाषार्थ—इसी ईश्वरसे सब प्राणियोंको फल प्राप्त होता है, क्योंकि कर्मके क्षणिक होनेसे उससे फलका असम्भव है, अतः ईश्वरमें ही फलदातृत्व युक्त है ।

---

* अभिप्राय यह है कि यद्यपि कर्म क्षणिक है, तो भी अपूर्व द्वारा कालान्तरभावी फलका देनेवाला वह कर्म होगा, अतः ईश्वरकी कल्पना व्यर्थ है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती—अचेतन कर्म या अपूर्वमें तारतम्यसे नियतरूपतः फल देनेकी सामर्थ्य नहीं हो सकती है, क्योंकि लोकमें सेवा आदि कार्यमें वैसा देखा नहीं जाता है । इससे सेवित राजाके समान सेवित ईश्वरसे फलकी सिद्धि माननी होगी । और ईश्वरके कल्पनमें गौरव भी नहीं है, क्योंकि शास्त्रसिद्ध होनेसे उसकी कल्पना नहीं करनी है । 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति, एष उ एवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इत्यादि श्रुति ईश्वरमें ही धर्माधर्मफलदातृत्व और कर्मकारयितृत्व कहती है । यदि ईश्वर प्रामाणिक हुआ अर्थात् श्रुति सिद्ध है, तो तुम्हीको अश्रुत अपूर्वकी कल्पनामें गौरव है । इससे ईश्वर ही फलदाता है, यह सिद्ध हुआ ।

भाष्य

तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यविभागावस्थायामयमन्यः स्वभावो वर्ण्यते। यदेतदिष्टानिष्टव्यामिश्रलक्षणं कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनां किमेतत् कर्मणो भवत्याहोस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा। तत्र तावत् प्रतिपाद्यते—फलमत ईश्वराद् भवितुमर्हति। कुतः ? उपपत्तेः। स

भाष्यका अनुवाद

उसी ब्रह्मकी ईशितृ-ईशितव्यरूप जो व्यावहारिक विभागावस्था है, उसी अवस्थामें इस अन्य स्वभावका—फलहेतुत्वका विचार किया जाता है। जन्तुओंका इष्ट, अनिष्ट और व्यामिश्ररूप त्रिविध जो यह कर्मफल संसारमें प्रसिद्ध है, वह क्या कर्मसे होता है या ईश्वरसे ? ऐसा विचार उपस्थित होता है।

उसपर सिद्धान्ती प्रतिपादन करते हैं—फल इससे अर्थात् ईश्वरसे प्राप्त होता है, किससे ? उपपत्तिसे, क्योंकि वह ईश्वर सबका अध्यक्ष, विचित्र

रत्नप्रभा

एवं तत्पदलक्ष्यं संशोध्य वाच्यार्थमाह—**फलमत उपपत्तेः**। निर्विशेषत्वाद् अन्यः स्वभावः फलहेतुत्वाख्यः। इष्टम्—सुखं देवादीनाम्। अनिष्टम्—दुःखं नारकिणाम्। व्यामिश्रं मनुष्याणाम्। संसारः—जन्ममृतिप्रवाहः गोचरः आश्रयो यस्य तत् संसारगोचरम्। अत्र कर्मेश्वरयोः फलहेतुत्वश्रुतेः संशयमाह—**किमिति**। अत्र पूर्वपक्षे फलदातुरीश्वरस्य तत्पदवाच्यस्यासिद्धेः लक्ष्यासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलभेदः। पूर्वोक्तनिर्विशेषत्वमुपजीव्य फलदातृत्वमपीश्वरस्य नास्तीति पूर्वपक्षोत्थानात् संगतिः। यद्यपि सर्वगतत्ववत् फलदातृत्वं व्यवहारदशायां सिध्यति, तथापि कर्मण एव फलदातृत्वमिति शङ्कानिरासेनोक्तलक्ष्यार्थनिर्वाहकवाच्यार्थनिर्णयार्थमस्याधि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार तत्पदके लक्ष्य अर्थका संशोधन करके वाच्य अर्थ कहते हैं—"फलमत उपपत्तेः" इति। ब्रह्मका निर्विशेषत्वसे अन्य स्वभाव फलहेतुत्व है। इष्ट—सुख जो देवादिकोंको होता है, अनिष्ट दुःख जो नरकवासियोंका होता है। सुख और दुःख दोनों व्यामिश्र है, और वह मनुष्योंको होता है। संसार—जन्म और मरणका प्रवाह, वह गोचर—आश्रय है जिसका वह संसारगोचर है। यहां कर्म और ईश्वरमें फलहेतुत्वकी श्रुति होनेसे संशय कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। यहाँपर पूर्वपक्षमें तत्पदका वाच्य जो फलदाता ईश्वर है उसकी असिद्धि होनेसे तत्पदके लक्ष्यकी भी असिद्धि है, और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि है, इस प्रकार फलभेद है। पूर्वोक्त निर्विशेषत्वका आश्रयण कर ईश्वरमें फलदातृत्व भी नहीं हो सकता है, इस प्रकार पूर्वपक्षका उत्थान होनेसे सङ्गति है। यद्यपि सर्वगतत्वके समान फलदातृत्व भी व्यवहारदशामें सिद्ध होता है, तथापि कर्ममें ही फलदातृत्व

भाष्य

हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान्विचित्रान्विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञत्वात् कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयतीत्युपपद्यते, कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः कालान्तरभाविफलं भवतीत्यनुपपन्नम्, अभावाद्भावानुत्पत्तेः। स्यादेतत्—कर्म विनश्यत् स्वकालमेव स्वानुरूपं फलं जनयित्वा विनश्यति तत्फलं कालान्तरितं कर्त्रा भोक्ष्यत इति। तदपि न परिशुध्यति, प्राग्भोक्तृसम्बन्धात् फलत्वानुपपत्तेः। यत्कालं हि यत् सुखं दुःखं वात्मना भुज्येत तस्यैव लोके फलत्वं प्रसिद्धम्। नह्यसम्बद्धस्यात्मना सुखस्य दुःखस्य वा फलत्वं

भाष्यका अनुवाद

सृष्टि, स्थिति और संहारका कर्त्ता, देशविशेष और कालविशेषका अभिज्ञाता है, अतः कर्मवालोंके कर्मके अनुरूप ही वह फलका सम्पादन करता है, उपपन्न है। उत्तर क्षणमें विनाशशील कर्मसे कालान्तरभावी फल हो यह अनुपपन्न है, क्योंकि अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यहांपर यह शङ्का हो सकती है कि विनाशोन्मुख कर्म अपने कालमें ही अपने अनुरूप फलोत्पत्ति करके विनष्ट हो जायगा, और कुछ कालके बाद कर्ता उसका उपभोग करेगा। यह भी परिशुद्ध—निर्दुष्ट नहीं है, क्योंकि भोक्ताके साथ सबन्धके बिना फलत्वकी उपपत्ति नहीं होती है, क्योंकि जिस कालमें जो सुख या दुःख आत्मासे उपभुक्त

रत्नप्रभा

करणस्यारम्भ इति मत्वा सिद्धान्तं तावद् आह—तत्र तावदिति। स्वर्गादिकं विशिष्टदेशकालकर्माभिज्ञदातृकम्, कर्मफलत्वात्, सेवाफलवत्, इत्युपपत्तिः। यागादिक्रियाख्यं कर्म तावत् क्षणिकम्, तत् किं स्वनाशात् फलं जनयति, उत्पाद्य नश्यति, आहोस्विद् अपूर्वात् फलसिद्धिः। नाद्यः इत्याह—अभावादिति। द्वितीयं शङ्कते—स्यादिति। कर्मनाशक्षणमारभ्य अनभिव्यक्तस्वर्गसुखादिसत्त्वे मानं नास्तीति दूषयति—तदपी-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है इस प्रकारकी शङ्काके निराससे कथित लक्षणागम्य अर्थके निर्वाहक वाच्यार्थके निर्णयके लिए इस अधिकरणका आरम्भ है, ऐसा मानकर सिद्धान्त कहते हैं—"तत्र तावत्" इत्यादिसे। स्वर्गादि विशिष्टदेश, विशिष्टकाल और विशिष्टकर्मके अभिज्ञ द्वारा प्राप्त होता है, कर्मफल होनेसे, सेवाफलके समान, यह उपपत्ति—अनुमान है। यागादि क्रियारूप जो क्षणिक कर्म है, वह अपने नाशके बाद फलका उत्पादन करता है अथवा अपने फलको उत्पन्नकर नष्ट होता है, अथवा अपूर्वसे फलकी सिद्धि होती है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अभावात्" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षकी आशंका करते हैं—"स्यात्" इत्यादिसे। कर्मनाशक्षणसे लेकर अभिव्यक्त स्वर्ग सुखादिकी सत्तामें प्रमाण नहीं है, इस प्रकार दूषित करते हैं—"तदपि" इत्यादिसे। तृतीय पक्षकी शंका करते हैं—"अथ"

भाष्य

प्रतियन्ति लौकिकाः। अथोच्यते—मा भूत् कर्मानन्तरं फलोत्पादः, कर्मकार्या-दपूर्वात् फलमुत्पस्यत इति। तदपि नोपपद्यते, अपूर्वस्याचेतनस्य काष्ठलोष्ट-समस्य चेतनेनाप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदस्तित्वे च प्रमाणाभावात्। अर्थापत्तिः प्रमाणमिति चेत्, न; ईश्वरसिद्धेरर्थापत्तिक्षयात् ॥ ३८ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता है, वही लोकमें फलरूपसे प्रसिद्ध है, आत्माके साथ असम्बद्ध सुख या दुःखको फलरूपसे लोग नहीं जानते हैं। यदि ऐसा कहा जाय कि कर्मके अनन्तर ही फलकी उत्पत्ति भले ही न हो, परन्तु कर्मजन्य अपूर्वसे फलकी उत्पत्ति होगी? तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि चेतन द्वारा अप्रवर्तित काष्ठ और लोष्टके समान अचेतन अपूर्वकी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं है और उसके—अपूर्वके अस्तित्वमें प्रमाण भी नहीं है। अर्थापत्ति प्रमाण है, यदि ऐसा कहो, तो यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि ईश्वरसिद्धिसे अर्थापत्तिका क्षय हो जायगा ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभा

त्यादिना। तृतीयं शङ्कते—अथेति। अपूर्वं किं स्वतन्त्रमेव फलदानाय प्रवर्तते चेतनाधिष्ठितं वा? नाद्यः इत्याह—तदपीति। द्वितीये त्वदृष्टानभिज्ञजीवस्या-धिष्ठातृत्वायोगाद् ईश्वरस्याधिष्ठातृत्वसिद्धिरिति भावः। प्रौढवादेनापूर्वं नास्तीत्याह—तदस्तित्व इति। क्षणिकयागादेः श्रुतस्वर्गादिहेतुत्वानुपपत्त्या स्थाय्यपूर्वसिद्धिरिति चेत्, न; कर्मभिराराधितादीश्वरादेव स्थायिनः फलसिद्धेः इत्यर्थः। न केवलतर्केण अपूर्वं सिध्यतीति भावः ॥ ३८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। अपूर्व क्या स्वतन्त्र ही फलदानके लिए प्रवृत्त होता है या चेतनसे अधिष्ठित प्रवृत्त होता है? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तदपि" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षमें तो अदृष्टको न जाननेवाला जो जीव है वह अधिष्ठाता हो, यह युक्त नहीं है, इससे ईश्वर अधिष्ठाता है, यह सिद्ध होता है, ऐसा अभिप्राय है। प्रौढवादसे, अपूर्व नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तदस्तित्वे" इत्यादिसे। क्षणिक यागादि श्रुतिप्रतिपादित स्वर्गादिके हेतु हों, यह उपपन्न न होनेसे स्थायी अपूर्व सिद्ध होता है, यदि ऐसा कहो, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मसे आराधित स्थायी ईश्वरसे फलकी सिद्धि हो सकती है, ऐसा अर्थ है। केवल तर्कसे अपूर्वकी सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा भाव है ॥३८॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—श्रुतत्वात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, श्रुतत्वात्—'स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः' इत्यादिनेश्वरस्यैव फलहेतुत्वस्य श्रुतत्वात् [ईश्वरः फलदाता इत्यर्थः] ।

भाषार्थ—और 'स वा एष महानज' इत्यादिसे ईश्वरमें ही फलदातृत्वका श्रवण होनेसे 'ईश्वर फलदाता है' यह अर्थ है ।

भाष्य

न केवलमुपपत्तेरेवेश्वरं फलहेतुं कल्पयामः, किं तर्हि ? श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे । तथा च श्रुतिर्भवति—'स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः' (बृ० ४।४।२४) इत्येवंजातीयका ॥ ३९ ॥

भाष्यका अनुवाद

हम केवल युक्तिसे ही ईश्वरको फलहेतु नहीं कहते, अपि तु श्रुतिप्रतिपादित होनेसे भी ईश्वरको ही फलहेतु मानते हैं, क्योंकि 'स वा एष महानज०' (यह महान् अज आत्मा है प्राणियोंको सर्वत्र अन्न और धन देनेवाला है) इस प्रकारकी श्रुति है ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभा

'कृतात्ययेऽनुशयवान्' (ब्र० सू० ३।१।८) इत्यत्रोदाहृताभिः 'य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५।१।१०।६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिरपूर्वसिद्धिश्चेत्, ताभिरीश्वरस्यापि फलदातृत्वं स्वीकार्यमित्याह सूत्रकारः—**श्रुतत्वाच्चेति** । अन्नम् आसमन्तात् प्राणिभ्यो ददातीति अन्नादः । वसुदानः—धनदाता । कर्मणोऽपूर्वस्य वा जडत्वेनोपकरणमात्रत्वात् स्वतन्त्र ईश्वर एव फलदातेति सिद्धान्तो दर्शितः ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'कृतात्ययेऽनुशयवान्' इत्यादि सूत्रमें उदाहृत 'इह रमणीयचरणाः' इत्यादि श्रुतिवाक्य और स्मृतिवाक्योंसे यदि अपूर्व सिद्ध होता है, तो उन वाक्योंसे ईश्वर भी फलदाता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"श्रुतत्वाच्च" इति । अन्नाद—प्राणियोंको परिपूर्णरूपसे अन्न देनेवाला, वसुदानः—धनदाता । कर्म और अपूर्व दोनों जड हैं, अतः उनके उपकरणमात्र होनेसे स्वतन्त्र ईश्वर ही फलदाता है, ऐसा सिद्धान्त दिखलाया गया है ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

पदच्छेद—धर्मम्, जैमिनिः, अतः, एव ।

पदार्थोक्ति—[यतः—श्रुत्युपपत्तिभ्यामीश्वरं फलदातारं मन्यते सिद्धान्ती] अत एव—आभ्यामेव श्रुत्युपपत्तिभ्याम्, धर्मम्—यागादिकम्, [फलदातारम्] जैमिनिः—तन्नामकाचार्यो [मन्यते] ।

भाषार्थ—जिस श्रुति और उपपत्तिसे सिद्धान्ती ईश्वरको फलदाता मानते हैं, उसी श्रुति और उपपत्तिसे जैमिनि आचार्य धर्मको—यागादिकको फलदाता मानते हैं ।

भाष्य

जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते, अत एव हेतोः श्रुतेरुपपत्तेश्च । श्रूयते तावदयमर्थः 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवमादिषु वाक्येषु । तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते, अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत, तत्रास्योपदेशवैयर्थ्यं स्यात् । नन्वनुक्षणविनाशिनः कर्मणः फलं नोपपद्यत इति परित्यक्तोऽयं पक्षः । नैष

भाष्यका अनुवाद

जैमिनि आचार्य तो इसी हेतुसे अर्थात् श्रुति और उपपत्तिसे धर्मको ही फलका देनेवाला मानते हैं, क्योंकि यह अभिप्राय 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गकी इच्छा रखनेवाला याग करे) इत्यादि वाक्योंमें सुननेमें आता है। उसमें विधिश्रुति अर्थात् विध्यर्थके विषयभावके अवगमसे 'याग स्वर्गका उत्पादक है' ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि यदि ऐसा न हो, तो यज्ञके अनुष्ठाताके अभावकी प्रसक्ति होगी और ऐसा होनेपर इसका कथन व्यर्थ हो जायगा। परन्तु अनुक्षण विनाशी कर्मका फल नहीं हो सकता है, इसलिए इस पक्षका परित्याग किया

रत्नप्रभा

इदानीं पूर्वपक्षयति—**धर्ममिति** । विधिश्रुतिः—विध्यर्थः । तस्य लिङर्थस्य प्रेरणात्मनो यागो विषयः । तद्भावावगमात् यागः स्वर्गसाधनमिति गम्यते । याग-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब पूर्वपक्ष करते हैं—"धर्मम्" इत्यादिसे । विधिश्रुति—विध्यर्थ । उस प्रेरणात्मक लिङर्थका याग विषय है उसके भावावगमसे याग स्वर्गका साधन है, ऐसा समझा जाता है,

भाष्य

दोषः, श्रुतिप्रामाण्यात् । श्रुतिश्चेत् प्रमाणं यथाऽयं कर्मफलसम्बन्धः श्रुत उपपद्यते तथा कल्पयितव्यः, न चानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति । अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते । उपपद्यते चायमर्थ उक्तेन प्रकारेण । ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम् । अविचित्रस्य कारणस्य विचित्र-कार्यानुपपत्तेर्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गादनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्माद्धर्मादेव फल-मिति ॥ ४० ॥

भाष्यका अनुवाद

गया है । यह दोष नहीं है, क्योंकि श्रुति प्रमाण है, यदि श्रुति प्रमाण हो, तो जिस तरह यह श्रुतिप्रतिपादित कर्मफलसम्बन्ध उपपन्न हो, उसी तरह कल्पना करनी चाहिए, और किसी अपूर्वको बिना उत्पन्न किये विनाशकालमें कर्म कालान्तरित फलके देनेमें समर्थ नहीं है, इससे कर्मकी कोई एक सूक्ष्म उत्तरावस्था या फलकी पूर्वावस्था अपूर्व नामकी है, ऐसा तर्क किया जा सकता है, और यह अर्थ उक्त प्रकारसे उपपन्न होता है । ईश्वर फलका दाता है, यह, तो युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अविचित्र कारणका विचित्र कार्य अनुपपन्न है, वैषम्य और नैर्घृण्यका प्रसङ्ग भी आवेगा, और अनुष्ठानके वैयर्थ्य होनेका प्रसङ्ग आता है, इसलिए धर्मसे ही फल है, ऐसा जैमिनि महर्षि मानते हैं ॥ ४० ॥

रत्नप्रभा

स्येष्टसाधनत्वाभावे प्रेरणानुपपत्तेरित्यर्थः । अपूर्वद्वारा कर्मणः फलमुपपद्यते इत्युक्त्वा सिद्धान्तं दूषयति—**ईश्वरस्त्विति** । ईश्वरः किं कर्मानपेक्षः फलं ददाति तत्सापेक्षो वा ? आद्ये आह—**अविचित्रस्येत्यादिना** । द्वितीये संवेष्टनसंस्कार-मात्रात् कटादौ वेष्टनवत् कर्मापूर्वादेव फलसिद्धेः किमीश्वरेणेति भावः ॥ ४० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्योंकि याग यदि पुरुषके इष्ट—स्वर्गका साधन न हो, तो प्रेरणा उपपन्न नहीं होगी, ऐसा अर्थ है । अपूर्वद्वारा कर्मसे फल उत्पन्न होता है, ऐसा कहकर सिद्धान्तको दूषित करते हैं—"ईश्वरस्तु" इत्यादिसे । क्या ईश्वर कर्मकी अपेक्षाके बिना ही फल देता है या किसीकी अपेक्षासे ? प्रथम पक्षमें कहते हैं—"अविचित्रस्य" इत्यादिसे । द्वितीय पक्षमें जैसे संवेष्टन—स्थितिस्थापक संस्कारमात्रसे चटाईमें वेष्टन होता है, वैसे ही कर्मजन्य अपूर्वसे फल सिद्ध होता है, तो ईश्वरका क्या प्रयोजन है ? ऐसा भाव है ॥४०॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४१॥

पदच्छेद—पूर्वम्, तु, बादरायणः, हेतुव्यपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः शङ्कानिवर्तकः । पूर्वम्—पूर्वोक्तम् [ईश्वरं फलदातारम्] बादरायणः—एतन्नामकाचार्यः [मन्यते, कुतः ?] हेतुव्यपदेशात्—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' 'अन्नादो वसुदानः' इति श्रुत्या 'लभते च ततः कामान्' इत्यादिस्मृत्या चेश्वरस्य धर्माधर्मयोस्तत्फले च हेतुत्वेन कथनात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—तुशब्द शङ्काका निवर्तक है । बादरायण नामके आचार्य पूर्वोक्त ईश्वरको ही फलदाता मानते हैं, क्योंकि 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' 'अन्नादो वसुदानः' 'लभते च ततः कामान्' इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे ईश्वरका धर्म, अधर्म और उनके फलमें साधनत्वरूपसे कथन है ।

भाष्य

बादरायणस्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते । केवलात् कर्मणोऽपूर्वाद्वा केवलात् फलमित्ययं पक्षस्तुशब्देन व्यावर्त्यते । कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा यथा तथास्त्वीश्वरात् फलमिति सिद्धान्तः । कुतः ? हेतुव्यपदेशात् । धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यपदिश्यते फलस्य च दातृत्वेन 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष उ

भाष्यका अनुवाद

बादरायण आचार्य तो पूर्वोक्त ईश्वरको ही फलका हेतु मानते हैं, केवल कर्मसे या केवल अपूर्वसे फल होता है, इस पक्षकी तुशब्द व्यावृत्ति करता है, कर्मकी अपेक्षावाले ईश्वरसे या अपूर्वकी अपेक्षावाले ईश्वरसे फल होता है, ऐसा सिद्धान्त है । किससे ? हेतुरूपसे ईश्वरका व्यपदेश होनेसे, क्योंकि धर्म और अधर्मके कारयितारूपसे या फलके दातृत्वरूपसे ईश्वर हेतु कहा गया है—'एष ह्येव साधु कर्म०' (यही उससे साधु कर्म कराता है जिसको लोकोंसे ऊपर

रत्नप्रभा

अत्र वयं वदामः—चन्दनकण्टकादिदृष्टसम्पत्त्यैव सुखादिसम्भवे कृतं धर्माधर्माभ्यामिति ? श्रुतिस्मृतिबलात् तदपेक्षायामीश्वरेण किमपराद्धम् । अतः ईश्वरानपेक्षात् केवलात् कर्मणः फलमित्ययुक्तमिति सिद्धान्तयति—**पूर्वं त्विति** । अचेतन-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस पूर्वपक्षमें हम कहते हैं—यदि चन्दन, कंटक आदि दृष्ट सम्पत्ति-कारणसे ही सुखादिका संभव है, तो धर्म और अधर्मका क्या प्रयोजन है ? परन्तु श्रुति और स्मृतिके बलसे यदि धर्म और अधर्मकी अपेक्षा है, तो ईश्वरने क्या अपराध किया है, इसलिए ईश्वरकी अपेक्षाके बिना केवल कर्मसे फल हो, यह युक्त नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"पूर्वं तु" इत्यादिसे ।

भाष्य

एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति। स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—

"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥" (७।२१) इति।

सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते । तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत् स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति। विचित्रकार्यानुपपत्त्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते ॥ ४१ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

ले जाना चाहता है, यही उससे असाधु कर्म भी कराता है जिसको नीचे ले जाना चाहता है) और यह अर्थ भगद्गीतामें भी कथित है—'यो यो'० (जो भक्त जिस मूर्तिकी श्रद्धासे पूजा करना चाहता है, उस भक्तकी उसीमें मैं अचल श्रद्धा कराता हूँ, वह उस श्रद्धासे युक्त होकर उसका आराधन चाहता है और मुझसे ही सम्पादित उन कामोंको (मनोरथोंको) जिन्हें अपना हितकारक मानता है, प्राप्त करता है) और सब वेदान्तोंमें ईश्वरहेतुक सृष्टियोंका व्यपदेश है, ईश्वर प्रजाओंको उनके कर्मके अनुरूप उत्पन्न करता है, यही ईश्वरका फलहेतुत्व है। ईश्वरसे जीवको किये गये प्रयत्नकी अपेक्षा होनेसे विचित्र कार्यकी अनुपपत्ति आदि दोष प्रसक्त नहीं होते हैं ॥ ४१ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबाकृत तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके भाष्यका अनुवाद समाप्त ।

रत्नप्रभा

स्य कर्मणः स्वतः प्रवृत्त्ययोगात् सेवादिदृष्टान्तानुसारिश्रुतेर्बलीयस्त्वात् सर्ववेदान्तेष्वीश्वरस्य जगद्धेतुत्वश्रुतेश्च ईश्वराधिष्ठितात् कर्मणो जगदन्तःपातिफलसिद्धिरिति समुदायार्थः ॥ ३ ॥ २ ॥ ४१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य श्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनरत्नप्रभायां भाष्यव्याख्यायां तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अचेतन कर्ममें स्वतः प्रवृत्तिके अयोग होनेसे सेवा आदि दृष्टान्तका अनुसरण करनेवाली श्रुति अधिक बलवती है, इससे और सब वेदान्तोंमें ईश्वर जगत्का हेतु है, ऐसी श्रुति होनेसे ईश्वराधिष्ठित कर्मसे जगत्के अन्तःपाती फलकी सिद्धि है, ऐसा समुदायार्थ है ॥ ४१ ॥

यतिवर श्रीभोले बाबा कृत तृतीय अध्यायके द्वितीयपादकी रत्नप्रभाका अनुवाद समाप्त ।